

KÂVYÂMÂLÂ. 67.



THE
HÎRASAUBHÂGYA
OF
DEVAVIMALAGANI

with his own gloss

EDITED BY

MAHÂMAHOPÂDHYÂYA PANDIT S'IVADATTA

Head Pandit and Superintendent, Sanskrit Department,
Oriental College, Lahore,

AND

KÂSHÎNÂTH PÂNDURANG PARAB.

PRINTED AND PUBLISHED

BY

TUKÂRÂM JÂVAJÎ,

PROPRIETOR OF JÂVAJÎ DÂDÂJÎ'S "NIRNAYA SÂGARA" PRESS

BOMBAY

1900

Price 5½ Rupees

(Registered according to act XXV of 1867)

काव्यमाला. ६७.

श्रीदेवविमलगणिविरचितं

हीरसौभाग्यम् ।

स्वोपज्ञया व्याख्यया समलंकृतम् ।



जयपुरमहाराजाश्रितमहामहोपाध्यायपण्डितदुर्गाप्रसाददारक-
केदारनाथकृपाङ्गीकृतशोधनकर्मणा महामहोपाध्याय-
पण्डितशिवदत्तशर्मणा, मुम्बापुरवासिपद्मबोपाह्व-
पाण्डुरङ्गात्मजकाशीनाथशर्मणा च
संशोधितम् ।

तच्च

मुम्बय्या निर्णयसागराख्ययन्त्रालये तदधिपतिना मुद्राक्षरैरङ्कयित्वा
प्राकाश्यं नीतम् ।

१९००

(अस्य ग्रन्थस्य पुनर्मुद्रणादिविषये सर्वथा निर्णयसागरमुद्रायन्त्रालयाधिपते-
रेवाधिकारः ।)

मूल्यं सार्धं रूपायकपञ्चकम् ।

भूमिका ।



अस्य हि सटीकस्य हीरसौभाग्यनामकमहाकाव्यस्य कविता देवविमलगणिः कस्मिन्काले कस्मिन्देशे क ग्राममलचकारेति सम्यक्तया न निश्चितम्, तथापि ग्रन्थप्रशस्ति-लेखतः श्वेताम्बरजैनत्वमस्य प्रतीयते प्रतिसर्गसमाप्तिश्लोकतस्तु 'अस्य पिता शिवसाधुः, माता सौभाग्यदेवी, गुरुः सीहविमलगणिः,' इति व्यक्तमेव प्रतीयते.

ग्रन्थनिर्माणसमयस्तु वर्णनीयस्य हीरविजयगणेर्मरणस्य १६५२ विक्रमसंवत्सरे (1595 A. D) भाद्रपदशुक्लैकादश्या वर्णितत्वेन षोडशशतकादुपरितन एव सभाव्यते.

अनेन प्रायः सर्वेऽपि कविवर्णनीया पदार्था वर्णिता . तेषामनुक्रमण्यपि प्रतिसर्ग-समाप्तिटीकाया ग्रन्थकर्त्रैव प्रकाशिता अस्माभिरपि विषयानुक्रमणिका स्थूलतया पृथग्मुद्रापिता ततश्च सर्वेऽपि विषया द्रष्टव्या

अस्य च पुस्तकमेकमेव प्राप्तम्, तदाधारेणैव शोधनं कृतम्. तथा चात्रास्मद्दोषादक्ष-रयोजकदोषाद्वा यत्र कचनाशुद्धिः स्थिता जाता वा, ता सहृदया दयार्द्रचित्ततया शोधयिष्यन्ति इति संभावयामः यतः—

गच्छतः स्खलनं कापि भवत्येव प्रमादतः ।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

इति प्रार्थयतः

पण्डितशिवदत्त-काशीनाथौ ।



विषयानुक्रमणिका ।



| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|--------------------------------|----------|------------------------------------|----------|
| मङ्गलाचरणम् ... | १ | वसन्तर्तुवर्णनम् | २८ |
| वाग्देवीनमस्कारोक्तिः ... | २ | ग्रीष्मर्तुवर्णनम् ... | २९ |
| प्रसत्तिस्पृहा | ३ | वर्षावर्णनम् | २९ |
| अनुकूलत्वदर्शना .. | ३ | शरद्वर्णनम् ... | २९ |
| प्रस्तुताभिधेयत्वम् | ३ | हेमन्तवर्णनम् | ३० |
| खानौद्वत्यप्रकटनम् .. | ४ | शिशिरवर्णनम् | ३० |
| स्वेतरायोग्यत्वम् . | ४ | प्राकारवर्णनम् ... | ३३ |
| स्त्रीययोग्यताप्रदर्शना | ४ | हृदावर्णनम् ... | ३४ |
| रचनासामर्थ्यदर्शना | ५ | गृहवर्णनम् | ३५ |
| पीठिकासमाप्ति | ५ | नागरवर्णनम् ... | ३९ |
| वर्णनारम्भ . | ५ | नागरीवर्णनम्, प्रह्लादपुरवर्णनसमा- | |
| जम्बुद्वीपवर्णनम् | ७ | प्तिश्च | ४० |
| मेरुवर्णनम् ... | ७ | मुहमन्दपातिसाहिवर्णनम् ... | ४० |
| भरतक्षेत्रवर्णन तद्भागश्च .. | ८-९ | प्रथमसर्गसमाप्ति | ४३ |
| तदन्त पातिगङ्गावर्णनम् . | ९ | | |
| आनन्दपुरवर्णनम् | ११ | द्वितीयसर्गारम्भ | ४४ |
| शङ्खेश्वरनाथवर्णनम् | १२ | कुरासाहवर्णनम् | ४४ |
| स्तम्भननाथवर्णनम् | १६ | नाथीवर्णनम् ... | ४८ |
| सरस्वतीवर्णनम् | १७ | दम्पत्योर्वनक्रीडा . | ४९ |
| साभ्रमतीवर्णनम् .. | १८ | गजखप्तादिकम् | ६४ |
| केलिशैलवर्णनम् ... | १९ | गजखप्ताविचारकथनखशयनसन्निगम- | |
| केदारवर्णनम् ... | २० | नम् | ६५ |
| गोधेनुवर्णनम् | २१ | खप्ताजागरिकाया भरतदिग्विजयो- | |
| देशवर्णनम् | २२ | द्वारप्रतिमाप्रासादकारादिवर्णनम् | ७० |
| प्रह्लादनपुरवर्णनम् | २३ | सख्युक्तरात्रिविरामादिकथनम् ... | ८० |
| प्रह्लादनपार्श्वनाथवर्णनम् | २५ | द्वितीयसर्गसमाप्ति | ८७ |
| नररत्नखनिर्नगरम् ... | २५ | | |
| नगरोपवनवर्णना | २७ | तृतीयसर्गारम्भ | ८७ |
| वने षड्रतूनां सत्तादर्शनम् . | २८ | नाथीगर्भधारणादिकम् | ८७ |

| विषयः । | पृष्ठे । |
|---------------------------------|----------|
| कपोलस्तनादिपाण्डित्यं स्तनयोः | |
| पयःपूर्णत्व च | ... ९२ |
| हीरजन्मसमयादिकम् | ... ९७ |
| हीरजन्ममाहात्म्यम् | .. १०१ |
| पुत्रवर्धापनिकादानादि | .. १०५ |
| पुत्रोत्सवनामकरणादि | ... १०७ |
| धात्रीपरिपालनशृङ्गारकरणादिकम् | ११० |
| बालक्रीडा | ... ११६ |
| हीरकुमारसर्वाङ्गवर्णनम् | ... १२० |
| कुमारगुणलक्षणभूषणादिवर्णनम् | ... १३५ |
| तृतीयसर्गसमाप्तिः | १४१ |
| चतुर्थसर्गारम्भ | ... १४२ |
| महावीरपट्टपरम्परावर्णनारम्भः | १४३ |
| महावीरवर्णनम् | ... १४३ |
| गौतमस्वामिवर्णनम् | ... १४३ |
| सुधर्मास्वामिवर्णनम् | १४५ |
| जम्बूस्वामिवर्णनम् | १४६ |
| प्रभवस्वामिवर्णनम् | ... १४८ |
| शय्यभवस्वामिवर्णनम् | १४८ |
| यशोभद्रस्वामिवर्णनम् | .. १४९ |
| सभूतिविजयस्वामिवर्णनम् | .. १५० |
| भद्रबाहुसूरिवर्णनम् | १५० |
| स्थूलभद्रवर्णनम् | १५१ |
| आर्यमहागिरि-आर्यसुहृस्तिवर्णनम् | १५३ |
| सुस्थितसुप्रतिबद्धयोर्वर्णनम् | १५५ |
| इन्द्रदिनसूरिवर्णनम् | ... १५५ |
| दिनसूरिवर्णनम् | १५६ |
| सीहगिरिसूरिवर्णनम् | ... १५६ |
| वज्रस्वामिवर्णनम् | १५७ |
| वज्रसेनसूरिवर्णनम् | १५९ |
| चन्द्रसूरिवर्णनम् | ... १६० |

| विषयः । | पृष्ठे । |
|-------------------------------|----------|
| सामन्तभद्रवर्णनम् | ... १६१ |
| वृद्धदेवसूरिवर्णनम् | ... १६१ |
| प्रद्योतनसूरिवर्णनम् | १६२ |
| मानदेवसूरिवर्णनम् | ... १६२ |
| मानतुङ्गसूरिवर्णनम् | १६४ |
| वीराचार्यवर्णनम् | १६५ |
| जयदेवसूरिवर्णनम् | ... १६५ |
| देवानन्दवर्णनम् | .. १६५ |
| विक्रमसूरिवर्णनम् | ... १६६ |
| नरसिंहसूरिवर्णनम् | .. १६६ |
| समुद्रसूरिवर्णनम् | ... १६६ |
| द्वितीय-मानदेवसूरिवर्णनम् | ... १६७ |
| विबुधप्रभसूरिवर्णनम् | १६७ |
| जयानन्दसूरिवर्णनम् | ... १६७ |
| रविप्रभसूरिवर्णनम् | ... १६७ |
| यशोदेवसूरिवर्णनम् | १६८ |
| प्रद्युम्नदेवसूरिवर्णनम् | ... १६८ |
| तृतीय-मानदेवसूरिवर्णनम् | १६८ |
| विमलचन्द्रसूरिवर्णनम् | १६९ |
| उदयोत्तसूरिवर्णनम् | १६९ |
| सर्वदेवसूरिवर्णनम् | .. १६९ |
| देवसूरिवर्णनम् | १७० |
| द्वितीय-सर्वदेवसूरिवर्णनम् | ... १७१ |
| यशोभद्र-नेमीचन्द्रसूरिवर्णनम् | १७१ |
| मुनिचन्द्रसूरिवर्णनम् | .. १७१ |
| अजितदेवसूरिवर्णनम् | १७२ |
| सोमप्रभ मणिरत्नसूरिवर्णनम् | १७२ |
| जगच्चन्द्रसूरिवर्णनम् | .. १७३ |
| देवेन्द्रसूरिवर्णनम् | .. १७४ |
| वर्मघोषसूरिवर्णनम् | ... १७४ |
| सोमप्रभसूरिवर्णनम् | .. १७७ |
| सोमतिलकसूरिवर्णनम् | ... १७७ |

| विषय । | पृष्ठे । | विषय । | पृष्ठे । |
|-------------------------------------|----------|-------------------------------------|----------|
| देवसुन्दरसूरिवर्णनम् ... | १७७ | विमलायास्तृतीयवार वाक्यम् | २०८ |
| सोमसुन्दरसूरिवर्णनम् .. | १७८ | विमला स्वसार प्रति कुमारस्यापि | |
| मुनिसुन्दरसूरिवर्णनम् | १७८ | तृतीयवार प्रतिवचः ... | २१० |
| रत्नशेखरसूरिवर्णनम् ... | १८० | विमलाया दीक्षादेशप्रदानम् . | २१० |
| लक्ष्मीसागरसूरिवर्णनम् | १८० | दीक्षानुज्ञादानानन्तर धर्मकारकत्वेन | |
| सुमतिसाधुसूरिवर्णनम् | १८० | भगिनीस्तुति | २१०. |
| हेमविमलसूरिवर्णनम् . | १८१ | भगिनीवचनानन्तर स्वजनवर्गादेश | |
| आनन्दविमलसूरिवर्णनम् | १८१ | ग्रहणम् | २१२ |
| विजयदानसूरिवर्णनम् | १८७ | दीक्षाग्रहणप्रस्थानसमये कुमारपुरो | २१३ |
| चतुर्थसर्गसमाप्ति | १८९ | दीक्षासमये कुमारशृङ्गारवर्णनम् . | २१४ |
| पञ्चमसर्गारम्भ . | १८९ | दीक्षासमये हीरस्यारोहणार्थ तुरगा- | |
| हीरकुमारागमन-गुरुवन्दने | १८९ | द्यानयनम् | २२४ |
| गुरुदेशना | १९२ | दीक्षाग्रहणप्रस्थानसमये कुमारपुरो | |
| हीरकुमारस्य वैराग्योत्पत्ति | १९५ | गीतनृत्यवादित्रादिकथनम् . | २२४ |
| हीरकुमार प्रति गुरुवाक्यानि | १९५ | तत्समयानीतगजाश्वरथलोकभारबा- | |
| विजयदानसूरिपुरो हीरकुमारस्य | | हुल्यम् ... | २३० |
| दीक्षाग्रहणनिश्चय ... | १९८ | पौराङ्गनाविविधविचेष्टितवर्णनम् ... | २३१ |
| विमलाभगिनी प्रति हीरकुमारस्य | | कुमाररूपदर्शनादिविचार ... | २३७ |
| दीक्षादेशमार्गणवचनम् | १९९ | पौराङ्गनाना हीरकुमारदर्शनोद्भूत- | |
| विमलाया प्रथमोक्ति | २०१ | मिथ कथाप्रथा ... | २३९ |
| प्रव्रज्यादृढताया भगिनी प्रति कु | | हीरकुमारस्योपवनप्रवेश ... | २४१ |
| मारवच ... | २०३ | दीक्षाग्रहणयोग्यवटद्रुमवर्णनम् | २४३ |
| शीतकालकाव्यम् .. | २०४ | हीरकुमारस्य दीक्षाग्रहणम् | २४४ |
| ग्रीष्मसमयकाव्यम् | २०५ | पञ्चमसर्गसमाप्ति ... | २४९ |
| वर्षर्तुकाव्यम् ... | २०६ | षष्ठसर्गारम्भ ... | २४९ |
| विमलाया द्वितीयवार वाक्यानि | २०६ | हीरहर्षगणे पठनसमयगुणवत्त्वम् | २४९ |
| कुमारोक्त यत्तिसातकृच्छीतकाल- | | मलयाचलवर्णनम् .. | २५३ |
| काव्यम् ... | २०७ | माणिक्यस्वामिवर्णनम् ... | २५५ |
| कुमारोक्तमुनिमन सुखकृद्ग्रीष्मर्तु- | | अन्तरीक्षपार्श्वनाथवर्णनम् ... | २५५ |
| काव्यम् . | २०७ | करहेटकपार्श्वनाथवर्णनम् . | २५६ |
| कुमारोक्तश्रमणस्वान्तविश्रामकारि- | | जीवत्स्वामिवर्णनम् . | २५६ |
| वर्षर्तुकाव्यम् .. | २०७ | गिरिवननद्य. | २५६ |

| विषय । | पृष्ठे । | विषय । | पृष्ठे । |
|--|----------|--|----------|
| देवगिरिवर्णनम् | २५७ | कमावर्णनम् | २९१ |
| देवगिरिनागरवर्णनम् ... | २५८ | कोडिमदेवीवर्णनम् | २९२ |
| देवगिरिनगराङ्गनावर्णनम् | २५८ | कोडिमदेव्याः सिंहस्वप्नदर्शनम् ... | २९३ |
| देवगिरिनिजामसाहिवर्णनम् ... | २६० | विजयसेनसूरेर्जन्मदीक्षादिवर्णनम् | २९५ |
| देवसीव्यवहारिवर्णनम् ... | २६१ | हीरविजयसूरे पट्टधरत्ववर्णनम् | ३०० |
| • जसमादेवीवर्णनम् | २६२ | डीसानगरवर्णनम् | ३०१ |
| पण्डितद्विजवर्णनम् ... | २६४ | चतुर्मासागमनम् | ३०२ |
| हीरहर्षगणेर्द्विजपण्डितपार्श्वे पठन- वर्णनम् ... | २६५ | षष्ठसर्गसमाप्ति | ३०३ |
| हीरहर्षगणे स्वपरशास्त्रपरिज्ञानम् | २६७ | सप्तमसर्गारम्भ | ३०३ |
| विहारमार्गवर्णनम् .. | २६८ | वर्षावर्णनम् | ३०३ |
| हीरहर्षगणेर्गुरुपार्श्वगमनम् | २७० | हीरविजयसूरे सूरिमन्त्रस्य ध्यान- विधानारम्भ | ३०५ |
| हीरहर्षगणेर्वाचकपदस्थापनासमय | २७१ | शरद्वर्णनम् | ३०५ |
| स्वाभाविकदानम् | २७२ | सूर्यास्तवर्णनम् | ३०८ |
| विजयदानसूरेर्ध्यानम् ... | २७३ | सध्यावन्दनाविकारे सर्वपक्षिरवादि- वर्णनम् | ३११ |
| विजयदानसूरिपुरोद्धानप्रत्यक्षीकृत- शासनदेवताप्रोक्ताचार्यपदोचि- तकथनम् ... | २७४ | सन्ध्यारागवर्णनम् | ३१४ |
| विजयदानसूरिध्यानविधानानन्तरं वहिरागमनम् | २७६ | सन्ध्यारागतमित्थवर्णनम् | ३१७ |
| शकुनविलोकनम् | २७७ | अन्वकाराविर्भवनम् | ३१८ |
| हीरविजयसूरेराचार्यपदस्थापनाकाल | २७८ | तारकाणामुदय | ३२० |
| आचार्यपदमहोत्सव | २८० | चन्द्रोदयवर्णनम् | ३२४ |
| सूरीन्द्रद्वयस्य पत्तनप्रवेश | २८१ | चन्द्रिकाप्रचारवर्णनम् | ३२७ |
| समरथभणशालीकृतमहोत्सवपूर्वक- हीरविजयसूरिपुरदराचार्यपदन- न्दिवन्दनकप्रदानवर्णनम् | २८२ | सप्तमसर्गसमाप्ति | ३३३ |
| हीरविजयसूरेस्तपागच्छसाम्राज्य- प्राप्ति | २८४ | अष्टमसर्गारम्भ | ३३४ |
| हीरविजयसूरिगुणा ... | २८६ | सूरेर्व्यानविधानम् | ३३४ |
| मेदपादमण्डलवर्णनम् ... | २८७ | सूरिपुरो निशीथे शासनदेवागमनम् | ३३५ |
| नारदपुरीवर्णनम् ... | २८९ | शासनदेवतावर्णनारम्भ | ३३७ |
| उदयोसिंहराणिकवर्णनम् ... | २९० | अङ्गवर्णनारम्भ | ३३९ |
| | | पादतलरक्तिमवर्णनम् ... | ३३९ |
| | | पदनखा. ... | ३३९ |
| | | पादाः ... | ३४१ |

| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|----------------------------------|----------|----------------------------------|----------|
| पार्श्विण | ३४३ | कर्णकुण्डलवर्णनम् . . . | ३८० |
| चरणनूपुरवर्णनम् | ३४३ | कर्णोत्पलवर्णनम् . . . | ३८० |
| जङ्घावर्णनम् | ३४४ | भ्रूयुगलवर्णनम् | ३८१ |
| जानुवर्णनम् | ३४६ | देवीललाटस्थलवर्णनम् | ३८२ |
| जघनवर्णनम् | ३४६ | देवीवदनवर्णनम् | ३८३ |
| नितम्बवर्णनम् | ३४८ | केशपाशवर्णनम् | ३८४ |
| कटिवर्णनम् ... | ३४९ | सीमन्तवर्णनम् | ३८५ |
| पृष्ठदेशवर्णनम् | ३४९ | केशपाशे कुसुमरचनावर्णनम् | ३८६ |
| नाभिवर्णनम् | ३५० | अष्टमसर्गसमाप्ति | ३८८ |
| मध्यवर्णनम् .. | ३५१ | | |
| त्रिवलीवर्णनम् ... | ३५२ | नवमसर्गारम्भ | ३८९ |
| रोमराजीवर्णनम् | ३५४ | गुर्वभिप्रायजिज्ञासया देवीप्रश्न | ३८९ |
| चक्रवाकदम्पत्योर्विरहवर्णनम् ... | ३५५ | गुरोर्देवीप्रश्न | ३९१ |
| स्तनवर्णनम् | ३५६ | देवतया पट्टधुरधरत्वकथनम् | ३९२ |
| पाणिनखा | ३५७ | गुरोर्हृदये विमर्श | ३९३ |
| कराङ्गुलिवर्णनम् | ३५८ | शासनदेवतागमनम् | ३९४ |
| पाणिवर्णनम् | ३५९ | चन्द्रस्यास्ताचलगमनम् | ३९८ |
| भुजावर्णनम् | ३५९ | चन्द्रस्यास्तमयनम् | ३९९ |
| स्कन्धवर्णनम् | ३६१ | शुक्रादिमहत्तारास्त | ३९९ |
| कण्ठपीठवर्णनम् | ३६२ | अन्वकारगमनम् | ४०१ |
| मुखवर्णनम् | ३६३ | रात्रिगमनम् | ४०१ |
| देवीचिबुकवर्णनम् | ३६४ | प्रातः सध्यावर्णनम् | ४०३ |
| अवरवर्णनम् | ३६५ | सूर्योदयवर्णनम् | ४०५ |
| सस्मितदन्तकान्तिवर्णनम् | ३६६ | अरुणतरुणप्रभावर्णनम् | ४०६ |
| दन्तवर्णनम् | ३६८ | सूर्यप्रभाप्रस्तार | ४०७ |
| वाणीवर्णनम् | ३७० | व्यानोत्थानाकमिपुरागमनाचार्यपद- | |
| अधरोष्ठमध्यरेखावर्णनम् | ३७३ | स्थापनम् | ४०८ |
| देवीवक्त्रपरिमलवर्णनम् | ३७३ | मेघजीमुनेर्लुम्पाकमतल्याग. | ४१६ |
| नासिकावर्णनम् | ३७४ | हीरविजयसूरेरकमिपुरागमनम् | ४१८ |
| कपोलवर्णनम् | ३७५ | अकब्बरागमनम् | ४२० |
| लोचनवर्णनम् | ३७६ | प्राचीनश्राद्धकरणम् | ४२१ |
| कर्णवर्णनम् | ३७८ | वाद्यानयनम् | ४२१ |
| कर्णान्तर्गतनवसख्याङ्गवर्णनम् | ३७९ | मेघजीकृषिमह. .. | ४२२ |

| विषय । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|----------------------------------|----------|------------------------------------|----------|
| विजयसेनसूरिनन्दि | ४२३ | श्राद्धानामाकरण तत्प्रश्नश्च . . | ४९४ |
| हीरविजयसूरिधर्मकृत्यानि महिम- | | राजनगरश्राद्धाना खानदत्तहीरविज- | |
| सपदश्च | ४२४ | यसूरीश्वराकारणादेश . | ४९६ |
| गान्धारवर्णनम् | ४२६ | अकमिपुरश्राद्धाना गुरुवन्दनालोच. | ४९७ |
| गान्धारनगरे हीरसूरिस्थिति | ४२७ | गन्धारे श्राद्धाना गमनम् | ४९८ |
| नवमसर्गसमाप्ति | ४२८ | श्राद्धानामकब्बरसाहिसाहिबखानयो- | |
| | | रुदन्तकथनपूर्व गुरुणा तत्स्फुर- | |
| दशमसर्गारम्भ | ४२९ | न्मानार्पणम् ... | ४९९ |
| दिल्लीदेशवर्णनम् | ४२९ | उपकारकरणकथनम् | ५०२ |
| दिल्लीपुरवर्णनम् | ४३२ | सतामपकारकारिण्युपकारकरणवि- | |
| हमौउपातिसाहिवर्णनम् | ४३३ | ज्ञप्ति | ५०४ |
| अकब्बरवर्णनम् | ४३४ | प्रभो साहिसमीपे गमनार्थ श्राद्धाना | |
| श्रीकरीवर्णनम् | ४५५ | विज्ञप्ति | ५०५ |
| तस्या प्राकारवर्णनम् | ४५९ | हीरसूरिप्रतिवचनम् ... | ५०६ |
| हट्टावलीवर्णनम् | ४६० | हीरगुरो श्राद्धकृतस्तुति . | ५१० |
| नगरनृपगृहवर्णनम् | ४६० | हीरविजयसूरे प्राची दिश प्रति | |
| नरनारीवर्णनम् | ४६२ | प्रस्थितौ शुभशकुनानि | ५१२ |
| अकब्बरवासितफतेपुरवर्णनम् | ४६२ | गन्धाराकमिपुरमध्यमार्गवर्णनम् | ५१६ |
| अकब्बरसभावर्णनम् | ४६३ | सूरेरकमिपुरसमुखीकरणम् . | ५१९ |
| साहिप्रश्ना | ४६९ | सूरेर्भूपगृहागमनोपवेशने | ५२३ |
| हीरविजयसूरिगुणा | ४७२ | साहिबखानस्य सूरिपुरो वस्तुग्रहण- | |
| दशमसर्गसमाप्ति | ४८४ | विषया विज्ञप्ति | ५२५ |
| | | खानस्य तुरङ्गादिप्रदानाग्रहे गुरो | |
| एकादशसर्गारम्भ | ४८५ | प्रतिवचनानि | ५२८ |
| दूताह्वानवचनानि | ४८५ | स्वसयमसमृद्धिनिरूपणम् | ५३१ |
| दूतप्रोक्तलोकपालादिषु कृत्याभाव- | | सूरिणा तस्य स्वामिभक्तता प्रका- | |
| कथनम् ... | ४८८ | शिता ... | ५३४ |
| दूतयो साहेः सूरिसमाकारणादेश | ४८९ | एकादशसर्गसमाप्ति | ५३६ |
| अकमिपुरे दूतगमनम् ... | ४९० | | |
| साहिस्फुरन्मानस्यार्पण वाचन च | ४९१ | द्वादशसर्गारम्भ | ५३६ |
| साहिबखानकृतसाहिपरिवारादीना | | हीरसूरे. पत्तने समागमनम् | ५३६ |
| कुशलप्रश्न | ४९२ | पुरकृतानुसारेण समवसरणवर्णनम् | ५४० |
| दूतप्रोक्तसाहिप्रमुखकुशलोक्ति .. | ४९४ | पत्तनात् शिरोत्तरम्यावन्मार्ग | ५४४ |

| विषयः । | पृष्ठे । | विषयः । | पृष्ठे । |
|--------------------------------------|----------|---|----------|
| अर्जुनपत्नीपतिगृहागमनम् | ५४५ | साहिसदिष्टवचनश्रवणपूर्व शेषगृह- | |
| अर्जुनकिरातपतिप्रमदाना विविधवि- | | गमनम् | ६१५ |
| लासे चेष्टास्वरूपवर्णनम् | ५४७ | स्वमतानुशिष्टिपृच्छा | ६१८ |
| अर्जुनपत्नीपतितत्सेवकाना नियम- | | कर्मणो जगत्कर्तृत्वस्थापने सूरिप्रत्यु- | |
| दानम् | ५५३ | त्तरम् | ६२० |
| अर्बुदाचलवर्णनम् | ५५४ | हीरविजयसूरिवर्णनम् | ६२१ |
| अर्बुदाचलकौतुकानि | ५६० | शारीरकसुखप्रश्न. | ६३० |
| अर्बुदाचलसर्वप्रासादवर्णनम् | ५६३ | साध्वाचारादिकुशलप्रश्न | ६३० |
| विमलवसतिवर्णनम् | ५६५ | साहिकृतकुशलालापप्रश्न | ६३८ |
| विमलवसतिमध्यवर्णनम् | ५६७ | साहिकृतकुशलागमादिप्रश्नप्रत्युत्तराणि | ६३१ |
| ऋषभदेवस्तुति | ५७१ | आक्षेपप्रश्नवाक्यम् | ६३३ |
| वस्तुपालवसतिवर्णनम् | ५७४ | आकारणाद्यपराधोद्भावनम् | ६३५ |
| द्वादशसर्गसमाप्ते | ५७८ | स्थानस्य साहेः प्रश्नोत्तरम् | ६३५ |
| | | मौन्दीकमालमेवाडावर्णितसूरिगुणा | ६३७ |
| त्रयोदशसर्गारम्भ | ५७८ | दूतौ प्रति साहेः सूरैराकारणागमन- | |
| शिवपुर्या प्रभो पादावधारणवर्णन | | हेतूक्ति | ६४२ |
| तन्महवर्णन च | ५७८ | सूरिकथितानि तीर्थानि | ६४३ |
| वरणविहारवर्णनम् | ५८२ | साहिजातानामाशीर्वाददानम् | ६४६ |
| राणपुरयात्रा | ५८५ | त्रयोदशसर्गसमाप्तिः | ६४७ |
| मेदिनीपुरागमनफलपार्श्वनाथयात्रा | | चतुर्दशसर्गारम्भः | ६४८ |
| वाचकप्रस्थापन च | ५८६ | सूरिन्द्रकृपालुताजैनशासनयो प्रशसा | ६४८ |
| विमलहर्षोपाध्यायस्य साहिना मिल- | | चित्रशालिकायामागत्य सूरिनृपावुप- | |
| नगोष्ठीपश्चादागमनानि | ५८८ | विष्टौ | ६५१ |
| फतेपुरसमीपे प्रभोरागमः | ५९० | वर्मकारम्भ | ६५२ |
| सूरे प्रवेशोत्सवकरणार्थ साहेर्विज्ञ- | | साहेर्देवगुरुन्प्रति देवगुरुधर्माणा | |
| प्तिस्तदादेशप्राप्तिश्च | ५९१ | प्रश्न | ६५५ |
| फतेपुरसधस्य समुखगमनारम्भ | ५९२ | देवस्वरूपम् | ६५६ |
| पुरसधकृतहीरसूरिसमुखकरणोत्सव | ५९२ | गुरुस्वरूपम् | ६५७ |
| गुरुवन्दनाविकार | ६०२ | धर्मस्वरूपम् | ६५७ |
| सूरिदेशनानन्तर श्राद्धदानम् | ६०४ | सुधर्मदेवगुरुनिरूपणम् | ६५८ |
| वर्षागमनारम्भ | ६०६ | साहे पुर सूरिभि स्वस्य तत्त्वत्र- | |
| सूरिसमागमस्य साहेर्निवेदनम् | ६११ | याराधन प्रोक्तम् | ६५८ |

| विषय । | पृष्ठे । | विषय । | पृष्ठे |
|--|----------|-------------------------------|--------|
| सूरीणा कियद्व्रतधारणविषये साहे | | गुरोर्दानाय पुनराग्रह | ७०२ |
| प्रश्न | ६५८ | गुरोर्बन्दिमोचनार्थ याचना | ७०३ |
| प्रथम व्रतम् | ६५९ | सूरिवाक्याद्बन्दिमोचनम् | ७०३ |
| द्वितीय व्रतम् | ६६० | पञ्जरपक्षिमोचनमार्गणम् . | ७०४ |
| तृतीय व्रतम् | ६६१ | मनसा साहिप्रशसा | ७०६ |
| चतुर्थ ब्रह्मव्रतम् | ६६१ | डामरतटाकार्पणम् | ७१० |
| पञ्चम व्रतम् | ६६५ | सर्वजगज्जन्तुकृपाविषयप्रश्न | ७११ |
| षष्ठ रात्रिभोजनम् | ६६६ | नवरोजनामामारिप्रदान गुरो | ७११ |
| सप्तम निमित्ताद्यभाषणव्रतम् | ६६७ | जगद्गुरुविरुदम् | ७१३ |
| स्वस्य व्रतपालनसामर्थ्यकथनम् | ६६७ | बन्दीमोचनम् | ७१३ |
| परीक्षार्थ साहिप्रश्ने गुरोर्निषेधवाक् | ६६८ | पक्षिमोचनम् | ७१४ |
| शेखपुर साहिवर्णिता गुरोर्गुणा | ६६९ | अमारिप्रवर्त्तनम् | ७१५ |
| साहे गुरुन्प्रति शिष्यप्रश्न | ६७३ | वनचारिणा वार्त्ता | ७१६ |
| साहिना स्वयमेवोक्तसूरिशिष्यसख्या | ६७४ | गजमिथुनालाप | ७१६ |
| यतिना परस्पराभिधाननिवेदनम् | ६७४ | महिषमिथुनालाप | ७१७ |
| यतिप्रोक्तपुस्तकरहस्यावबोध | ६७५ | व्याघ्रमिथुनालाप | ७१७ |
| पुस्तकोत्पत्तितत्प्रदानकथनम् | ६७७ | वराहमिथुनालाप | ७१९ |
| साहे पुस्तकदानाग्रह सूरिनिषेधवचश्च | ६७८ | मृगमिथुनालाप | ७२० |
| शेखनाथसिंहविज्ञापनात्साहिपुस्तक- | | इति वनचरा | ७२० |
| ग्रहणम् | ६८१ | मयूरमिथुनालाप | ७२० |
| सूरे समह वसतावागमनम् | ६८४ | कोकिलमिथुनालाप | ७२१ |
| यानसिंहकृतसूरिसमागममहोत्सव | ६८८ | कुक्कुटमिथुनालाप | ७२१ |
| पुस्तककोश | ६८९ | हसमिथुनालाप | ७२२ |
| आगरानगरे गमनम् | ६८९ | चक्रवाकमिथुनालाप | ७२२ |
| आगरानगरे चातुर्मासकरणम् | ६८९ | इति खचरा | ७२३ |
| सूरे शौर्यपुरागमनम् | ६९० | मत्स्यमिथुनालाप | ७२३ |
| नेमिनाथवर्णनम् | ६९३ | वादलमिथुनालाप | ७२४ |
| फतेपुरागमनम् | ६९४ | नकादिजलजन्तुमिथुनालाप | ७२४ |
| पुनर्गुरो शेखगृहागमनम् | ६९७ | इति जलचरा | ७२४ |
| सूरीणा सम साहेद्वितीयवार गोष्ठी | ६९७ | इति श्रीहीरविजयसूरिवचनादकब्ब- | |
| सूरीणा गजाश्वादिप्रदाने साहिविज्ञप्ति | ६९८ | रसाहिना निखिलमण्डलेष्वमारिः | |
| साहिदीयमानवस्त्वनुपादाने सूरिप्र- | | प्रवर्त्तिता | ७२७ |
| त्युत्तरवच | ७०० | | |

| विषय । | पृष्ठे । | विषय । | पृष्ठे । |
|---|----------|---|----------|
| थानसिंहप्रतिष्ठाया शान्तिचन्द्रस्यो- पाध्यायपदम् | ७२८ | पद्यया प्रथममेखलारोहणम् | ७९७ |
| मथुरायात्रा | ७२८ | गुरोर्विमलाचलपट्यारोहणे गिरिमेख- लावर्णनम् | ७९८ |
| गोपगिरियात्रा | ७२९ | शत्रुजयतीर्थे प्रथमप्राकारे प्रवेशः | ८०३ |
| श्रीहीरविजयसूरिश्राद्धदानम् | ७३० | मरुदेवीशिखरवर्णनम् | ८०४ |
| मेवातमण्डलादागत्य नागपुरे चतु- र्मासकरणम् | ७३० | द्वितीयप्राकारप्रासादेषु देववन्दनम् | ८०६ |
| विराटनगरप्रतिष्ठा | ७३२ | सर्वाभ्यन्तरप्राकारप्रतौलीसोपानानि | ८०८ |
| शिवपुर्या देवप्रतिष्ठाद्वयपूर्वक चतु- र्मासकरणम् | ७३४ | मूलप्रासादवर्णनम् | ८१० |
| गुर्जरदेशागमनम् | ७३५ | तोरणवर्णनम् | ८१२ |
| शान्तिचन्द्रोपाध्यायगुर्जरागमन पुरमानदान च | ७३६ | चैत्यकधरामृगेन्द्रा | ८१४ |
| अमारिदिनव्यक्ति | ७३७ | चैत्यकलश. | ८१७ |
| जेजीयाकरविमुक्ति | ७३८ | चैत्यशृङ्गदण्ड. | ८१७ |
| गुरोर्विमलाचलार्पणम् | ७३८ | पताका | ८१८ |
| भानुचन्द्रस्योपाध्यायपदम् | ७४१ | पताकापञ्चानन | ८१९ |
| विजयसेनसूरेर्वादे विजया सवाई- बिरुद च | ७४२ | शिखरपार्श्वप्रदेशा | ८२१ |
| सूरिकीर्तिवर्णनम् | ७४४ | मण्डपमध्यचित्राणि | ८२२ |
| चतुर्दशसर्गसमाप्ति | ७४८ | प्रासादमध्यस्तम्भा | ८२३ |
| पञ्चदशसर्गारम्भ | ७४९ | गजस्कन्वाधिरूढा मरुदेवी | ८२४ |
| शत्रुजयदर्शनम् | ७४९ | गर्भागार | ८२५ |
| सिद्धिशैल विशिनष्टि | ७५० | ऋषभप्रतिमा | ८२६ |
| त्रिवेणीसगम | ७६० | राजादनी | ८२७ |
| पञ्चदशसर्गसमाप्ति | ७८५ | हीरसूरिकृता ऋषभदेवस्तुति | ८३० |
| षोडशसर्गारम्भ | ७८५ | शत्रुजयाद्रिमाहात्म्यवर्णनम् | ८३६ |
| पादलिप्तपुरम् | ७८५ | षोडशसर्गसमाप्ति | ८४८ |
| सधागमनम् | ७८८ | सप्तदशसर्गारम्भ | ८४८ |
| ललितसरोवरे यात्रिकजनविधिक्रीडा | ७९२ | पादलिप्तपुराद्वीपवन्दिर प्रति प्रस्थानम् | ८४८ |
| शत्रुजयान्तिकशिवप्रासादे वासका- वस्थानम् | ७९४ | मार्गोलङ्घनम् | ८५० |
| | | जलदोदय | ८५८ |
| | | सागरस्य सागरे पिपतिषा | ८६० |
| | | पद्मावत्यादेशः | ८६१ |
| | | अजयराजस्य रागोपशम... | ८६२ |

| विषय । | पृष्ठे । | विषय* । | पृष्ठे । |
|---|----------|--|----------|
| अजयराजरोगापहारका जयपार्श्वना- थप्रस्तावनम् | ८६५ | सर्वनियमविरोधनालोचनम् | ८९३ |
| द्वीपबन्दिरे सघागमनम् | ८६६ | आराधनाविधानम् | ८९३ |
| द्वीपोन्नतपुरसमुखागमनवर्णनम् | ८६७ | उन्नतपुरपार्श्वग्रामस्य भट्टस्य दिव्य- विमानदर्शनम् | ८९७ |
| उपाश्रयागमनम् | ८७२ | मण्डपिकाकरणसूरिशरीरशायनम् | ९०१ |
| उन्नतनगरे चतुर्मास्यवस्थानम् | ८७२ | सूरिशरीरसंस्कारकरणम् | ९०४ |
| अभिग्रहध्यानस्वाध्यायादि | ८७३ | सूरिनिर्वाणप्रस्तावनम् | ९०५ |
| सूरेरातपस्यासमय तप क्रियानुष्ठाना- दिवर्णनम् | ८७५ | पातिसाहे स्वप्ने स्वस्य स्वर्लोकगमन- कथनम् | ९०६ |
| परिवारकथनम् | ८८२ | नागरनैगमस्य नक्त नाटकदर्शनम् | ९०७ |
| माहात्म्यकथनम् | ८८४ | विमानदर्शनवार्ताकथनम् | ९०७ |
| सलेखनादर्शनम् | ८८६ | माकन्दफलस्य पातिसाहिसमीपे प्रे- षणम् | ९०७ |
| अर्हत्सिद्धसाधुवर्माणा चतुर्णां शरणम् | ८८७ | स्तूपकरण तन्माहात्म्य च | ९०८ |
| पञ्चज्ञानाचारादिपञ्चाचारातीचारा- लोचनम् | ८८८ | विजयसेनसूरिविजय | ९१० |
| प्रथमव्रते प्राकृतजीवहिसालोचनम् | ८८९ | विजयसेनसूरेर्गुरौ स्वर्गते खेदवा- क्यानि | ९११ |
| द्वितीयव्रते मृपावादालोचनम् | ८९१ | आशीर्वाद | ९१४ |
| तृतीयव्रते अदत्तादानालोचनम् | ८९१ | ग्रन्थान्तमङ्गलकरणम् | ९१६ |
| चतुर्थव्रते भैरुनालोचनम् | ८९१ | ग्रन्थममामि | ९१६ |
| पञ्चमव्रते परिग्रहालोचनम् | ८९२ | ग्रन्थप्रशस्ति | ९१७ |
| पञ्चव्रतावारणलोचनम् | ८९२ | | |
| षष्ठव्रते रात्रिभोजनक्रियाशैथिल्या- लोचनम् | ८९२ | | |

काव्यमाला ।

देवविमलगणिविरचितं
हीरसौभाग्यम् ।

स्वोपज्ञया व्याख्यया समलकृतम् ।

प्रथम सर्ग ।

श्रेयः श्रीजयमङ्गलैकानिलयः सकल्पकल्पद्रुमो
भूयाद्भूरिविभूतये स भगवाञ्श्रीपार्श्वचिन्तामणिः ।
भव्याना दशदिग्भुवा प्रणमता मन्ये निहन्तु तमो
बिभ्राणा दशता बभु क्रमनखा यस्यार्भभास्वत्विषः ॥
श्रीचिन्तामणिपार्श्वमोहितकर चिन्तामणीवनृणा
सिद्धिश्रीपरिरम्भेण प्रणिदधे विश्वत्रयीनायकम् ।
सान्द्रानन्दमरन्दसुन्दरहृदम्भोजन्मलीलालसा
हंसीवद्विधिना पुनः प्रवि(णि)दधे वाग्वादिनीं देवताम् ॥
स्वोपज्ञहीरसौभाग्यकाव्यस्याव्यासशालिनीम् ।
कुर्वे वृत्तिं विदग्धाना जगित्यर्थविबोधिकाम् ॥

इह हि ग्रन्थारम्भे ग्रन्थकर्ता स्वाभिमतार्थसिद्धये शिष्टाचारपरिपालनाय च सकलवि-
घ्नविघातकारक विशिष्टेष्टदेवतानमस्कारलक्षण मङ्गलमाचरति । तदेव सूत्रमुच्यते—

श्रियं स पार्श्वाधिपतिः प्रदिश्यात्सुधाशनाधीशवतंसिताहिः ।

जगन्निदिध्यासुरिव त्रिमूर्तिर्यत्कीर्तिरासीन्निदशस्रवन्ती ॥ १ ॥

स त्रिजगदद्वैतमहिमा श्रिया त्रैलोक्याधिपत्यलक्षणया चतुस्त्रि[श]दतिशयरूपया ल-
क्ष्म्या वा युक्तः पार्श्व एवाधिपतिः स्वामी जगदीश्वरः । यद्वा—अष्टचत्वारिंशत्सहस्रयक्ष-
नायकः पार्श्वनामा यक्षस्तस्याधिपतिः प्रभुः । सकलसुरासुराधिपत्येऽपि पार्श्वनाथशासनाधि-
ष्ठातृतया सर्वदा पार्श्वनाथसमीप एव वर्तितया च । भद्रबाहुस्वामिनापि तथैवोक्तम् ।
'उवसग्गहर पासम्' इति तस्योपादानम् । श्रियं लक्ष्मीं प्रदिश्यात्प्रदेयादित्याशी प्र-
योगः । किलक्षणः पार्श्वाधिपतिः । सुधाममृतमश्नन्तीति सुधा अमृतमशनः येषां वा ।
सुधा पीयूषमश्नते एभिरिति भावे(?) वा । सुधाशना देवास्तेषामधीशा नायका । द्वात्रिं-
शद्यन्तरिन्द्रा, विंशतिर्भुवनेन्द्राः, दश कल्पेन्द्राः, द्वौ सूर्याचन्द्रमूयौ इति चतुःषष्टि-
रिन्द्रास्तैर्वतसितौ । 'तत्करोति तदाचष्टे' इतीनक्तप्रत्यये 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपस-

र्गयो' इत्यकारलोपे च वतसिताविति सिद्धौ । अवतसौ कुर्वन्तीति अवतंसयन्ति, अव-
तस्येते स्म इत्यवतसितौ । अथवा सुधाशनाधीशानामवतसः । 'सजातोऽनयोः । इतो जा-
तार्थे' इतीत प्रत्ययः । तादृशावह्री चरणौ यस्य । अथ यत्तदोर्नित्याभिसबन्धात्स कः ।
यत्कीर्तिं यस्य पार्श्वनाथस्य समाज्ञा । 'श्लोक कीर्तिर्यशोऽभिव्या समाज्ञा' इति हेमचन्द्र-
नाममालायाम् । जगन्ति त्रीणि भुवनानि निदिध्यासुर्निध्यातुमिच्छुरिव । 'निध्यानम-
वलोकनम्' इति हैम्याम् । तथा—'पश्यति विभावयत्यपि विलोकते वीक्षते गवेषयति ।
निध्यायत्यन्विषति' इति क्रियाकलापे । द्रष्टुकामेव । तिस्रो मूर्तयस्तनवो यस्या सा त्रिमू-
र्तिस्त्रिदशस्रवन्ती सुरनदी गङ्गा आसीज्जाता । गङ्गारूपा जातेत्यर्थः । गङ्गा हि त्रिष्वपि
लोकेषु प्रवहतीति कविसमयः । तथा [हि]—'विबुधानन्दमन्दिर विबुधाना देवाना जल-
क्रीडादिभिरानन्दमन्दिर प्रमोदसदनम् । अर्थात्स्वर्गमार्गप्रवृत्तम् । पुनः—रसान्तरप्रौढ
रसाया पृथिव्यामन्तरे स्वप्ने अर्थात्पाताले प्रवहति स्मेति प्रौढम्' इति चम्पूकथाया
तद्विप्पनकेऽर्थश्च । इति गङ्गा त्रिपथगा । तेन त्रिलोकीं स्वैर दिदक्षोर्यत्कीर्तेस्त्रिपथगारू-
पमूर्तिनिर्माण युक्तमेवेति ॥

सम्यगुपासिता हि वाग्देवता कवितृणामसाधारणीं कवित्वशक्तिं विश्राणयति, अतो
वाग्वादिनीं नमस्कुर्वन्कविराह—

प्रीणाति या प्राज्ञदृशश्चकोरीर्विभावरीवल्लभमण्डलीव ।

तमस्तिरस्कारकरी सुरी तां भक्तेर्नतेर्गोचरयामि वाचम् ॥ २ ॥

अहं तां प्रसिद्धा विद्यासिद्धये सकलकविकुलैः समाराध्यमाना वाचं सुरीं सरस्वतीं
देवता भक्तेः सेवासत्क्रियावशान्नते. प्रणामस्य गोचरीकरोमि । गोचरा करोमीति गोच-
रयामि । 'त्रिदित्करणे' इति जि । प्रणमामीत्यर्थः । 'गोचरयन्ति न वाचो यच्चरित च-
न्द्रचर्न्द्रिकासुचिरम् । वाचस्पतेर्वचस्वी को वान्यो वर्णस्य जगति ॥' इति हस्तिमतीचैत्य-
प्रशस्तौ । कीदृशीं वाचम् । तमसोऽज्ञानस्य पापस्य वा । तस्या पापक्षयकारिता शा-
स्त्रेऽपि दृश्यते । यथा—'सुअदेवया भगवईनाणावरणीयकम्मसघाय । ते सिखवे उमययन्ति ।'
तथा—'भवविरहवर देहि मे देवि सारम्' इति ससारदावास्तुतो । भवविरहस्तु कर्मक्षय-
जनित एव स्यात् । तथा—'जीसेरिव ते सा हता देवी हरतु दुरियाइ' । यद्यपरा क्षेत्र-
देवी दुरितहन्त्री तर्हि श्रुतदेवी पातकघातुका कथं न । तिरस्कारो विनाशस्तस्य करीं
कारिका अज्ञानहन्त्रीम् । सा का । या वाग्देवी प्राज्ञाना विदग्धाना दृशो दृष्टीः प्रीणा-
त्यानन्दयति । केव । विभा० ५ । यथा विभावरी रात्रिस्तस्या वल्लभो भर्ता चन्द्रस्तस्य म-
ण्डली सपूर्णबिम्बम् । मण्डलशब्दस्य त्रिलिङ्गत्वेन मण्डली । यथा—'शुद्धा सुधादीधिति-
मण्डलीयम्' इति । चकोरीश्चकोराङ्गनाः प्रीणयति । विभावरीवल्लभमण्डल्यपि कीदृग्वि-
धा । तमसो ध्वान्तस्य तिरस्कारकरी निर्नाशिका ॥

अथ गुरोरेषु भावदे देवादीनां सम्यक्स्वरूपावगमो वाग्देवतासमाराधनमन्त्रागुपा-
याधिगमश्च भवेत्, ततस्तत्प्रसक्तिं स्पृहयन्कविराह—

यच्चक्षुषा मातृमुखोऽप्यशेषविशेषविच्छेखरतानुषङ्गी ।

गुरुं सुराणामधरीकरोति भवन्तु ते श्रीगुरवः प्रसन्नाः ॥ ३ ॥

ते विश्वविख्याताः श्रिया शोभया युक्ता गुरवोऽर्थान्मयि विषये प्रसत्तिभाजः प्रसाद-
भाजन भवन्तु । ते के । यच्च० । येषां गुरुणा चक्षुषा दशा प्रसन्ननयनावलोकनेन कृत्वा ।
'यदृष्टिपातसामर्थ्यान्मूको वाचस्पतिर्भवेत्' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । मातृमुखो जडोऽपे
अशेषाः समस्ता ये विशेषा वाङ्मयरहस्यानि विदन्ति जानन्तीति अशेषविशेषविदो
विशारदास्तेषां शेखरताया उत्तसभावस्यानुषङ्गः प्रसङ्गोऽस्यास्तीति तादृशः सन् सुराणां
गुरुं बृहस्पतिमधरीकरोति हीनीकरोति स्वप्रतिभाप्रागल्भ्येन पराजयते ॥

विशदहृदयात्मदर्शप्रतिबिम्बितसमस्तभुवनपदार्थसार्थान्सदसद्विवेचनचातुर्याचार्यान्महा-
त्मनो निजविनिर्मितवृत्तविशुद्धिहेतवे अनुकूलयन्कविराह—

कवित्वनिष्कं कषितुं कवीनां येषां मनीषा कषपट्टिकेव ।

सन्तः प्रसन्ना मयि सन्तु शुद्धाशयाः प्रवाहा इव जाह्नवीयाः ॥ ४ ॥

ते सन्तो महात्मानो मयि विषये प्रसन्ना प्रसादोपेताः प्रज्ञाप्राग्भारावगताशेषवि-
शेषोपनिषत्तया वृत्तशुद्धिविधानविधिना मय्यनुग्रहपरायणा सन्तु भवन्तु । कि[विधाः]
सन्तः । शुद्धो मात्सर्यरहित आशयोऽभिप्रायो मनो वा येषां ते । आशयशब्देन चित्त-
मपि प्रोच्यते । यथा नैषधे—'दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार' इति । तद्वृत्ति —त-
दाशये नलचित्ते । शुद्धाशयाः क इव । प्रवाहा इव । यथा जाह्नवीया जाह्नव्या गङ्गाया
इमे जाह्नवीयाः । प्रवाहा ओघा निर्मलमध्या स्युः । ते के सन्त । येषां सता मनीषा
बुद्धिः कवीनां काव्यकर्तृणां कवित्वं काव्यम् । जातावेकवचनम् । तदेव निष्कं सुवर्णं क
षितुं सम्यक्परीक्षितुं कषपट्टिकेव कषः स्वर्णपरीक्षणपाषाणविशेषस्तस्य पट्टिका शिला
तद्वद्वर्तते । यथा कषोपलेन स्वर्णं परीक्ष्यते तथा यत्प्रतिभाप्रागल्भ्येन काव्यमपि वि-
शुद्धं विधीयते ॥

अथ प्रस्तुताभिधेयमाह—

अमन्दगन्धैरिव गन्धसारो दिशो यशोभिः सुरभीकरोति ।

वृत्तं व्रतीन्द्रस्य तनोमि तस्य कुरान्ववायाम्बरपद्मबन्धोः ॥ ५ ॥

अहं तस्य साहि श्रीमदकब्बरनरपतिप्रदत्तजगद्गुरुविरुदतया जगति विख्यातिभाजो
व्रतिना साधूनामिन्द्रस्य श्रीहीरविजयसूरीश्वरस्य वृत्तं काव्यं चरितं वा तनोमि
विस्तारयामि । करोमीत्यर्थः । 'कथिताः करणे तनने प्रथने चोत्पादने च ये पू-
र्वम् । ते धातवः स्पृशन्ति प्रायस्तुल्यार्थतामेव ॥' इति क्रियाकलापोक्तेः । किं च वृत्त-
नायकाश्चतुर्विधा वर्ण्यन्ते । धीरोदात्ताः, धीरोद्धताः, धीरललिताः, धीरप्रशान्ताश्च । तत्र
धीरोदात्ता रामचन्द्रादयः, धीरोद्धता दुर्योधनादयः, धीरललिताः, धीरप्रशान्ता
जीमूतवाहनप्रमुखाः । तेषु तेष्वपि नायकेषु श्रीहीरविजयसूरेर्धीरप्रशान्तत्वेन वृत्तकरण

युक्तिमदेव । कि० । कुरा इति नामा व्यवहारी तस्य योऽन्ववायो वश । ‘गोत्र तु संतानोऽन्ववायोऽभिजन. कुलम्’ इति हैम । स एवाम्बरमाकाश तत्र प्रकाशकत्वात्पद्मानां बन्धुरिव पद्मबन्धुर्भास्वान् । यत्तदोऽसबन्धात्तस्य । कस्य । यो व्रतीन्द्रो यशोभिः स्वकीर्तिभिः कृत्वा दिशः सर्वा अप्याशा. सुरभीकरोति वासयति । चित्रास्पदीकरोतीत्यर्थः । क इव । गन्धसार इव । यथा चन्दनद्रुमः अमन्दैरतिबहुलैर्गन्धैः परिमलैर्दिशः सुरभयति समस्तहरितः सुरभीकुरुते ॥

वर्णनीयस्योत्कर्षाविष्करणद्वारेण आत्मनोऽनौद्धत्य प्रतिपादयन्कविराह—

पारे गिरा वृत्तमिदं क सूरैस्तनुप्रकाशा क च शेमुषी मे ।

प्रक्रम्य मोहादहमङ्गुलीस्तत्प्रमातुमीहे चरणं मुरारेः ॥ ६ ॥

सूरेः श्रीहीरविजयतीन्द्रस्य गिरा पारे वाचामगोचरः । ‘गिरा हि पारे निषधेन्द्रवृत्तम्’ इति नैषधे । वक्तुमशक्यमिदमिदानीं तनसर्वजनप्रतीत वृत्त कास्ते । च पुन. तनुः स्तोके प्रकाशो विषयो यस्या एतादृशी मे मम शेमुषी बुद्धिः क । तत्तस्मात्कारणादहं मोहान्मौढ्यादज्ञानाद्वा । ‘सोऽहं हसायितुं मोहाद्वक्. पद्भुर्यथेच्छति’ इति चम्पूकथायाम् । मोहोऽज्ञानमिति तद्वृत्तिः । अङ्गुलीः करशाखा प्रक्रम्य प्रारभ्य । ‘प्रारम्भ प्रोपतः क्रमः’ इति हैम्याम् । स्थापयित्वा । मुरारेर्नारायणस्य चरण पदम् । आकाशमित्यर्थः । प्रमातुमीहे प्रमाणविषय नेतुमिच्छामि । यथा कश्चिदज्ञानवान्पुमान्स्वाङ्गुलीर्मण्डयित्वा अनन्तनभः प्रमातुमारभते, न पुनः प्रभवति, तथा वाचा गोचरातीतं गुरुवृत्तं कर्तुं प्रारब्धवानप्यहं न सम्यक्तया पूर्णं प्रणेतुं प्रभविष्णुरिति तत्त्वम् ॥

न तु कश्चिदपि प्रभुवृत्तं भाषितुं प्रभुर्भवेत्तदेवाह—

यो वालुका हैमवतीप्रतीरे प्रमाति सख्याति च विप्लुषोऽब्धे. ।

ताराः पुनः पारयति प्रमातुं गुणान्गणेन्दोर्गणयेन्न सोऽपि ॥ ७ ॥

यो जनो हैमवत्या मन्दाकिन्या । ‘गङ्गा त्रिपथगा ऋषिकुत्या हैमवती’ इति हैम्याम् । प्रतीरे तटे । ‘तटं तीरं प्रतीरं च’ इति हैम्याम् । वालुकाः सिकताः कणान्प्रमाति प्रमाणयति च । पुनः — यो अब्धे समुद्रस्य विप्लुषो जलविन्दन्सख्याति सख्यागोचरीकरोति । पुनः — यस्तारास्तारकाः प्रमातुं प्रमाणीकर्तुं पारयति समर्थीभवति । सोऽपि प्रज्ञाप्रकर्षपराभूतः पुरुषूतसूरिरपि गणस्तपागच्छस्तत्र इन्दुरिव सर्वेषामाह्लादकत्वेन इन्दुस्तस्य गच्छनायकस्य हीरविजयसूरेर्गुणाञ्ज्ञानदर्शनचारित्र्यशमदमादिकान्न न गणयेद्गणयितुं न शक्नुयात् ॥

प्रागुक्तं पुनरपि द्रढयन्स्वकीयसामर्थ्यं वक्ति—

वृत्तं विभोर्भाषितुमप्रभुर्यज्जम्भारिसूरिस्तदहं किमीशे ।

यः शृङ्गिशृङ्गाग्रगतैर्दुरापः किं भूमिगस्तं विधुमाददीत ॥ ८ ॥

विभोर्हीरविजयसूरीश्वरस्य यद्वृत्तं चरित्रं भाषितुं वक्तुं जम्भारेः शक्तस्य सूरि-

राचार्यः । ‘प्रज्ञाप्राग्भारपराङ्मुखीकृतपुरदरगुरु’ इति चम्पूकथायाम् । सोऽप्रभुरसमर्थः । तद्रुत वक्तुमह कविः किं कथम् । अथ वा किमिति प्रश्ने वितर्के ईशे समर्थोभवामि । अपि तु नेत्यर्थः । उक्तमर्थमर्थान्तरेण द्रढयति—यश्चन्द्र शृङ्गिणः शिखरिणः शैलस्य शृङ्ग शिखर तस्य यदग्र सर्वोपरितनभूमिभागः तत्र गतैः प्राप्तैः पुरुषैः । दुःखेन कष्टेन आप्यते लभ्यते इति दुरापः । सर्वथापि प्राप्तु न शक्यः । त विधुं चन्द्रमस भूमिगो भूमौ स्थित पुमान्किमिति प्रश्ने आददीत गृहीयात्स्वपाणिना ॥

यद्येव तर्हि वृत्त न कर्तव्यम् । नहि, कर्तव्यं त्ववश्यमेव । तर्हि कथं करिष्यतेऽतः करणसामर्थ्यमाह—

प्रभोः प्रभावादथ वा कथं न प्रभुर्भवामि प्रविधातुमेतत् ।

स्वःसत्प्रसादात्रिदशाचलस्य शिखासु खेलायति किं न खञ्जः ॥ ९ ॥

अथ वेति स्मरणगर्भे पक्षान्तरे वा । अत्रान्तरे मम गुरुभक्तिप्राग्भारवशाविर्भूतभाग्योदयात्स्मृतिविषयमायातम्, तदेव काव्ये प्रोच्यते । प्रभोर्हीरविजयसूरेः प्रभावान्माहात्म्यादेतत्काव्यं प्रविधातु निर्मातुमह प्रभुः समर्थः कथं न भवामि । अपि तु प्रभुर्भवाम्येव । उक्तमर्थमर्थान्तरेण समर्थयति—खञ्जश्चरणविकलः पुमान् स्व स्वर्गे सीदति तिष्ठतीति स्व सदैवस्तस्य प्रसादादनुग्रहात्रिदशाचलस्य मेरो शिखासु अग्रभागभूमीषु किं न खेलायति क्रीडति । अपि तु खेलतीत्यर्थः । यथा खञ्जो दिव्यानुभावात्सुरशिखरिशिखरे खेलति, तथाहमपि हीरसूरिमाहात्म्यादेतत्काव्यं कर्तुं समर्थोभवाम्येव । ‘क्रीडति विहरति रमते खेलति खेलायतीति खेलार्थाः’ इति क्रियाकलापे ॥

इति पीठिकापद्धतिः ।

अथ वर्णनप्रारम्भः—

सुपर्वभिर्भोगिभिरङ्गिसंघैर्लीलां स्वयं बिभ्रदिव त्रिलोक्याः ।

प्रेयानिव स्त्रीभिरिहास्ति जम्बूद्वीपोऽब्धिवेलाभिरुपास्यमानः ॥ १० ॥

इह जगति भूमण्डलरूपमध्यमलोके पार्थिवो रजतहेमरत्नमयोऽनादृताभिधानस्य द्वीपाधिदेवस्यावासभूत उत्तरकुरुवर्ती जम्बूद्वीपस्तेनोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपोऽस्ति वर्तते । जम्बूद्वीपः किं क्रियमाणः । उपास्यमानः सेव्यमानः । काभिः । अब्धेः समुद्रस्य वेलाभिर्जलवृद्धिभिः । कः काभिरिव । प्रेयान् स्त्रीभिरिव । यथा अतिशयेन प्रियः । मातृपितृभ्रातृपुत्रादिसर्वस्वजनेभ्योऽपि पतिव्रतानां स्त्रीणां प्रेमाधिक्यं भर्तार्येव तेन प्रेयानिति पदोपादानम् । कान्तः स्त्रीभिर्निषेव्यते । जम्बूद्वीपः किं कुर्वन् । उत्प्रेक्ष्यते—बिभ्रदिव धारयन्निव । काम् । लीला शोभा विलासः वा । कस्याः । त्रिलोक्या जगत्रयस्य । कथम् । स्वयमात्मना । कैः । क्रीडार्थमागतैर्हिमवद्भिरिसुरसरित्पद्महृदादिनिवासिभिर्वा सुपर्वभिर्देवैः । तथा—भोगिभिर्नागकुमारैः । तथा—अमृतैर्देवैर्देविसार्थैः । ‘सद्यः सार्थस्तु देहिना समूहे’ । अथवाङ्गिविशेषणान्यपि । अङ्गिसघैः । किं । सुशोभनानि

पर्वाणि पर्युषणादीपालिकादीनि येषां ते तथा । पुनः किं० । भोगो राज्यादिसुखमस्त्येषामिति मत्वर्थीयप्रत्यये भोगिनस्तैः । विलासम् । 'लस श्लेषणक्रीडनयोः' इति धात्वर्थत्वादाश्लेषणं मिलनं कलयन् ॥

नीराजयन्तीष्विव चित्रभानुमादाय दिग्दारविलासिनीषु ।

संवर्धयन्तीषु पयःपृषद्भिर्वेलासु कान्तास्त्रिव मुक्तिकाभिः ॥ ११ ॥

यं शंभुशैलच्छविरोमगुच्छचन्द्रातपत्रोद्धतवाहिनीकम् ।

वार्धेस्तरङ्गा मगधा इवोर्वीधवं स्तुवन्तीव गभीररावैः ॥ १२ ॥

यं जम्बूद्वीप वार्धेः समुद्रस्य तरङ्गा कल्लोलाः । उत्प्रेक्ष्यते—गभीररावैर्मन्दस्वरैः स्तुवन्तीव स्तुतिं कुर्वन्तीव । के इव । मगधा इव । यथा मगधा वशादिस्तुतिकारिण उर्वीधव पृथ्वीपतिं स्तुवन्ति । किं० जम्बू । शंभुशैलः कैलासस्तस्य च्छवय स्फटिकरत्ननिर्यद्घुतय एव रोमगुच्छाश्चामराणि यस्य तथा चन्द्रो विधुमण्डल एवातपत्र छत्रं यस्य । पुनः किं० । उद्धता रङ्गतरङ्गैरुत्कटा वाहिन्यो नद्यो यस्य । पश्चात्कर्मधारय । उर्वीधवमपि शंभुशैलच्छविवदुज्ज्वला रोमगुच्छा यस्य । तथा—चन्द्रतुल्यमातपवारण यस्य । तथा—उद्धता. स्वच्छोत्कर्षाद्वैरिवार तृणमन्यमाना वाहिन्य. सेना यस्य । अत्रापि कर्मधारय. । कासु सतीषु । दिग्दारविलासिनीषु सतीषु दिश एव वाराङ्गनास्तासु । उत्प्रेक्ष्यते—नीराजयन्तीष्विव । नीराजनामारात्रिका कुर्वतीषु । नीराजना कुर्वन्ति इति नीराजयन्ति । करणे निप्रत्यय. । नीराजयन्तीति नीराजयन्त्यस्तासु । 'प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्ट्या रराज नीराजनया स राजघ.' इति नैषधे । 'नीराजनया आरात्रिकविधानेन' इति तद्वृत्तिः । किं कृत्वा । चित्रभानु सूर्यमादाय गृहीत्वा । अन्या अपि दारविलासिन्यश्चित्रभानु वह्निमादाय राजानं नीराजयन्ति । 'ब्रध्नो हसश्चित्रभानुर्विवस्वान्' । तथा—'वृषाकपि पावकश्चित्रभानु' इति सूर्यवह्निनाम्नी हेम्वाम् । पुनः कासु सतीषु । वेलासु समुद्रजलवृद्धिषु सतीषु । किं कुर्वतीषु । संवर्धयन्तीषु अवकिरन्तीषु । उत्प्रेक्ष्यते—वर्धयन्तीष्विव । वर्धयन्तीति प्रयोगः कल्पकिरणावत्त्वाम् । कै । पयना पानीयानां पृषद्भिर्विन्दुभिः । कास्त्रिव । कान्तास्त्रिव । यथा कामिन्यः क्षमाकान्तं मुक्तिकाभिर्मुक्ताफलैरुपलक्षणांल्लजैरपि वर्धयन्ति । 'अवाकिरन्वयोवृद्धास्त लज्जैः पौरयोषितः' इति रघुवशेऽपि । 'सिता वमन्तः खलु कीर्तिमुक्तिका.' इति नैषधे ॥ युग्मम् ॥

चन्द्रार्कचक्रद्वयभृलभूतक्षेत्रप्रभू रत्ननिधानवार्धिः ।

यः कोऽपि चक्रीव चकास्त्यसख्यद्वीपावनीपैः समुपास्यमानः ॥ १३ ॥

यो जम्बूद्वीपः कोऽप्यद्भुतवैभवः । 'जयति मधुसहायः सर्वससारवल्लीजननजरठकन्दः कोऽपि कन्दर्पदेवः' इति चम्पूकथायाम् । 'कोऽप्यद्भुतवैभवः' इति तद्विष्णुनके । चक्रीव सार्वभौम इव चकोस्ति शोभते । किंविशिष्टो यः । चन्द्रो विधुरर्कः सूर्यस्तावेव

चक्रे रथाङ्गे तयोर्द्वयं विभर्तीति चक्रद्वयभृत् । पुनः किभूतः । प्रभूतानां क्षेत्राणाम् । १ भरत
२ हिमवत् ३ हरिवर्ष ४ महाविदेह ५ देवकुरु ६ उत्तरकुरु ७ रम्यक ८ ऐरण्यवत ९
ऐरावताभिधानानां नवसख्याकानां वर्षाणां प्रकर्षेण भूरुत्पत्तिस्थानम् । पुनः किभूतः ।
रत्नानां मणीनां निधानानां च वार्धिर्वार्धिनामधेया सख्या यत्र । 'शत सहस्रमयुतं लक्ष-
प्रयुतकोटयः । अर्बुदमब्ज खर्वं च निखर्वं च महाम्बुजम् । शङ्खुर्वार्धिरन्त्य मध्य परार्ध्यं
चेति नामतः ॥' इति हैममालायाम् । लौकिका सख्या । यद्वा रत्नैरुपलक्षितानि संपूर्णानि
वा निधानानि निधयः वार्धिश्च । सगरचक्रवर्तिवचसा सुस्थितसुरानीतः शत्रुजयशैला-
द्वादशक्रोशदूरमुक्त समुद्रो यत्र । पुनः किभूतः । असख्या. सख्यातीता ये द्वीपाः । १ धातु-
कीखण्ड २ पुष्कर ३ वारुणी ४ क्षीर ५ घृत ६ इक्षु ७ नन्दीश्वर ८ अरुण ९ अरुण-
वर १० अरुणवरावभास एव त्रिप्रत्ययावतारकुण्डल-शङ्ख-रुचक-भुजग-कुश क्रौञ्चप्रमुखा
असख्याता द्वीपास्त एवावर्णी पृथ्वीं पान्ति रक्षन्ति इति कृत्वा भूपास्तैरुपास्यमानः ससे-
व्यमान । चक्री तु एकचक्रभृत्तथा एकस्य भरतादे क्षेत्रस्य प्रभु स्वामी । तथा चतु-
र्दशनवनिधानवानेव, द्वात्रिंशत्सहस्रसख्याकैरेव भूपै राजभिः सेव्यः ॥ इति जम्बूद्वीपः ॥

अन्तःस्फुरन्मौक्तिकरत्नराजीविराजिकुल्येशदुकूलभाजः ।

भास्वज्जगत्यर्जुनमेखलाया निशावशाहर्मणिकर्णिकायाः ॥ १४ ॥

संध्यारुचीकुङ्कुमपङ्किलाङ्गप्राचीप्रतीचीक्षितिभृत्कुचायाः ।

द्वीपश्रियास्तारकतारहारे किनायको राजति रत्नसानुः ॥ १५ ॥

यत्र जम्बूद्वीपे रत्नसानुर्मेरु राजति शोभते । किं० । उत्प्रेक्ष्यते—द्वीपश्रिया जम्बूद्वीपल-
क्ष्म्यास्तारका ज्योतींषि ता एव तारा निर्मलमौक्तिकानि । 'तारो निर्मलमौक्तिके' इत्यने-
कार्थः । तेषां हारस्तत्र किनायको मध्यमणिः । किभूताया द्वीपश्रियाः । अन्तर्मध्ये
स्फुरता द्योतमानानां मौक्तिकानां मुक्ताफलानां रत्नानां मणीनां राजी श्रेणी तथा विरा-
जते इत्येवशीलो यः कुल्यानां नदीनाम् । 'कुल्या तु सारिणी नद्यो' इत्यनेकार्थः । ईश-
स्वामी । 'याद स्रोतोवार्नदीशः' इति हैमीवचनात् । स[मुद्र] एव दुकूल क्षौमवस्त्रं भ-
जत्याश्रयते सा तस्या । 'सागराच्चाग्रे स्युर्नेमी मेखलाम्बरा' इति हैमीवचनात् । समुद्रस्य
वस्त्रत्वेनोपादानम् । पुनः किभूतायाः । भास्वन्ती दीप्यमाना या जगती । कपिशिर्षिकव-
र्जितप्रकारभित्तिः । सैवार्जुनस्य सुवर्णस्य मेखला काञ्ची यस्या सा तस्याः । पुनः किभू-
ताया । निशा रात्रिर्वशा प्रिया यस्य स निशापतिश्चन्द्रस्तथाहर्मणिर्भास्करस्तावेव कर्णिके
कर्णभूषणे यस्याः सा तस्या । पुनः किभूतायाः । सध्ये दिनाद्यवसाज्जभवे तयो रुची कान्तिः ।
रुचीशब्दो दीर्घकारान्तोऽप्यस्ति । यथा—'रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनाभिः' इति नैषधे ।
सैव कुङ्कुम केसर तेन पङ्किलौ व्याप्तावङ्गावुत्सङ्गौ ययोस्तथाविधौ यौ प्राची पूर्वा प्रतीची
पश्चिमा तयोः क्षितिभृतौ पर्वतावुदयास्ताचलनामानौ तावेव कुचौ स्तनौ यस्यास्तस्याः ॥
युग्मम् ॥

यत्रोल्लसद्गौरिमतुङ्गिमश्रीर्झरप्रवृत्तिः स्फुटभद्रशाली ।

करीव हेम्नः शिखरी विभाति रवीन्दुघण्टाग्रहघर्घरीमान् ॥ १६ ॥

यत्र द्वीपे हेम्नः स्वर्णस्य शिखरी पर्वतो मेरुर्विभाति । क इव । करीव हस्तीव । किभूतो मेरु करी च । उल्लसन्ती प्रोल्लास प्राप्नुवन्ती स्फुरन्ती गौरिन्नः । 'गौरस्तु श्वेतपीतयो' इत्यनेकार्थः । पीतत्वस्य श्वेततायाश्च । तथा—तुङ्गिन्न उन्नतत्वस्य श्रीः शोभा यस्मिन् सः । समासान्तविधेरनित्यत्वाद्भवस्थितविभाषयात्र समासान्तः कप्रत्ययो नागात् नैषधेऽप्येव दृश्यते । यथा—'उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीताशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार' इति । गजविशेषणेऽप्येवमेव । पुनः किभूतः । झराणा निर्झराणा प्रवृत्तिः प्रवर्तन प्रसरण यस्माद्यस्मिन्वा मेरौ । करिणि तु निर्झरप्रचारवत्सप्तधाप्रवृत्तिर्मदप्रवाहो यस्मिन् । 'मदो दानं प्रवृत्तिश्च' इति हैम्याम् । पुनः किभूतः । स्फुट विनिद्रमुन्मिषित विकसितम् । 'दलित स्फुटित स्फुटम्' इति हैम्याम् । भद्रशालाख्य वनं यत्र । करी तु स्फुटप्रकट भद्रजातित्वेन शालते शोभते इति सः । 'शाल प्रशसायाम्' इति कल्पद्रुमे । पुनः किभूतः । रवीन्दू सूर्याचन्द्रमसौ तावेव घण्टे तथा ग्रहा मङ्गलाद्या उपलक्षणान्नक्षत्रतारकास्त एव घर्घर्यः क्षुद्रघण्टिका यस्मिन्सः । गजोऽपि रवीन्दुवद्वृत्तघण्टाभ्या ग्रहसदृक्किङ्किणीभिश्च युक्तो भवति ॥

यत्रार्थिनोऽर्थेशमिव प्रसार्य करान्सुवर्णं विवरीषवः किम् ।

प्रदक्षिणागोचरता नयन्ति ज्योतिर्गणा गैरिकसानुमन्तम् ॥ १७ ॥

यत्र जम्बूद्वीपे ज्योतिर्गणा ग्रहनक्षत्रतारासमूहा गैरिकस्य । 'गैरिक स्वर्णधात्वोः' इत्यनेकार्थः । सानुमन्त पर्वत सुमेरुम् । प्रदक्षिणाया दक्षिणावर्तभ्रमिक्रियाया गोचरता नयन्ति प्रापयन्ति । 'मन्ये न मे श्रवणगोचरता गतोऽसि' इति कल्याणमन्दिरस्तवे । तथा—'द्वीपाधिपान्नयनयोर्नय गोचरत्वम्' इति नैषधे । किं० । उत्प्रेक्ष्यते—करान्किरणान्पाणीन्प्रसार्य विस्तार्य विवरीषवः । 'वृञ् याचने' । वरीतुमिच्छवो याचितुकामा किम् । के इव । अर्थिन इव । यथा याचका करान्प्रसार्य सरलीकृत्य स्वर्णमभ्यर्थयितुकामा अर्थेशधनपतिः प्रदक्षिणयन्त्यनुकूलीकुर्वन्ति ॥ इति मेरुः ॥

सवेशकैश्यायितकूलिनीशो ललामलीलायितसिद्धशैलः ।

द्वीपेन्दिराया इव भालपट्टो यस्मिन्व्यभाद्भारतनाम वर्षम् ॥ १८ ॥

यस्मिञ्जम्बूद्वीपे भारतमिति नाम यस्य तादृश वर्ष क्षेत्र व्यभाद्भासे । यादृक् प्रथमाद्यरकेष्वभूत् तादृक्पञ्चमारके नास्ते । अवसर्पिणीकालानुभावात्सर्वेऽपि पदार्था अनन्तगुणपर्यादिभिर्हीयमानाः सन्त्यत एव भूतकालः । उत्प्रेक्ष्यते—द्वीपेन्दिराया जम्बूद्वीपलक्ष्म्या भालपट्टो लण्डमिव । किंभूतः । सवेशे सनिधौ श्यामत्वात्कैश्यायितः केशसमूहः

१. 'द्वीपावनीन्दोरिव' इति पाठः.

इवाचरितः । 'केशाना कैश्यकेशिके' इति हम्भ्याम् । कूलिनीशो लवणाम्बुराशिर्यस्य । पुनः किंभूतः । ललाम्नस्तिलकस्य लीला विलासस्तद्वदाचरितः सिद्धशैलः शत्रुजयाद्रिर्यस्मिन् यस्य वा । ललामशब्दो नकारान्ताकारान्तोऽप्यस्ति लिङ्गानुशासनावचूर्णौ ॥

पराजितद्वीपततिप्रतीष्टचिरत्नरत्नाद्युपदागणेन ।

द्वीपेन पृथ्वीपतिनेव वर्षं व्यधायि धामोपनिधेरिवैतत् ॥ १९ ॥

द्वीपेन जम्बूनाम्ना एतद्वर्षं भारत क्षेत्रमुपनिधेः । उत्प्रेक्ष्यते—न्यासस्य धाम गृहं व्यधायि चक्रे । केनेव । पृथ्वीपतिनेव । यथा राज्ञा निक्षेपस्य निकेतनं क्रियते । किंभूतेन द्वीपेन पृथ्वीपतिना च । पराजिता निजौजोविभवैः पराभूता स्वायत्तीकृता च । 'ओजो बले प्रतापे च' इत्यनेकार्थः । या द्वीपानां तति श्रेणी तस्याः सकाशात्प्रतीष्टो गृहीतश्चिरत्नानि चिरकालोत्पन्नानि रत्नानि मणयस्तदादिरुपदागणः प्राभृतप्रकरो येन स तेन । 'प्रतीष्टकामज्वलदलजालकम्', तथा 'चिरत्नरत्नाचितमुच्चितं चिरात्' इति नैषधे ॥ इति भरतक्षेत्रम् ॥

वैताढ्यशैलो विपुलां द्विफाला विनिर्मिमीते स्म निजेन यस्य ।

यमीभ्रमीभङ्गिविभूष्यमाणा स्त्रैणस्य सीमन्त इव प्रवेणीम् ॥ २० ॥

वैताढ्यनामा शैलः यस्य भरतक्षेत्रस्य भूमी द्विफाला द्विभागा निर्मिमीते स्म कृतवान् । 'द्विफालवद्धाश्चिकुरा शिरस्थितम्' इति नैषधे । केन । निजेन आत्मना । 'श्रुत्वा निजभीमजया निरस्तम्' इति नैषधे । 'निजमात्मानम्' इति तद्वृत्तिः । क इव । सीमन्त इव । यथा स्त्रैणस्य स्त्रीणां समूहस्य सीमन्तः केशवर्त्मं प्रवेणीं कबरीं द्विफाला कुरुते । किंभूताम् । भूमीं प्रवेणीं च । यमी यमुना तस्या भ्रमी भ्रमणमावर्तकृज्जलपरिभ्रान्तस्तस्या भङ्गयो विलासा । 'शृङ्गारभङ्गिरुचिरेऽपि' इति नैषधे । 'शृङ्गारविलासयोग्येऽपि' इति नद्वृत्तिः । रचनाश्च । ताभिर्विभूष्यमाणामलक्रियमाणाम् ॥

वैताढ्यशैलेन विभज्यमानावुभौ विभागौ भरतस्य भातः ।

द्वीपावनीपं किमुपेत्य भूत्या जितौ भजन्तौ फणिनाकिलोकौ ॥ २१ ॥

भरतक्षेत्रस्य वैताढ्यनाम्ना शैलेन विभज्यमानौ विभागीक्रियमाणौ द्वौ विभागौ वशौ भातौ राजतः । किमुत्प्रेक्ष्यते । भूत्या स्वलक्ष्म्या जितौ पराभूतौ सन्तौ उपेत्य समीपमागत्य द्वीपमेवावनीपं भूप सेवमानौ भजन्तौ फणिना नागानां नाकिना देवानां लोकौ भुवनौ । पातालस्वर्गलोकावित्यर्थः ॥ इति भरतक्षेत्रस्य द्वौ विभागौ ॥

स्वच्छन्दकेलीतरलीभवन्त्याः स्रस्तं शिरस्तो भुवि वर्षलक्ष्म्याः ।

किमुत्तरीयं मरुतोत्तरङ्गीकृतं सितं यत्र बभस्ति गङ्गा ॥ २२ ॥

यत्र भरतक्षेत्रे गङ्गा बभस्ति भासते । 'निशानभ सदृशे रजनीगुणतुल्ये' । तथा निशानैस्तेजस्विभिर्बभस्तीति । तथा सदृश इ' कामो यस्य' इति चम्पूटिप्पनके । उत्प्रे-

क्षयते—स्वच्छन्द स्वेच्छया केली क्रीडा । 'केलीभिरुद्धर कृशोदरि' इति नैषधे । तथा तरलीभवन्त्याश्चञ्चलाजायमानाया वर्षलक्ष्म्या भरतक्षेत्रश्रिया शिरस्तो मस्तकाद्भुवि भूमौ स्रस्त पतितमुत्तरीयमुपर्याच्छादनवस्त्र प्रावरणमिव । किंभूतम् । मरुता वायुना उत्प्राबल्येन तरङ्गयुक्त कृतम् । पुनः किंभूतम् । सितमुज्ज्वलम् ॥ इति गङ्गा ॥ इति भरतक्षेत्रम् ॥

तदक्षिणार्धे सुरगेहगर्वसर्वकषो गूर्जरनीवृदास्ते ।

श्रियेव रन्तुं पुरुषोत्तमेन जगत्कृताकारि विलासवेश्म ॥ २३ ॥

तस्य भरतक्षेत्रस्य दक्षिणदिक्पार्श्ववर्तिनि अर्धे सामिभागे खण्डे सुरगेहस्य स्वर्गस्य यो गर्वः स्ववैभवाहकारस्तस्य सर्वकषः सर्वापह्वरी गूर्जर इति नामा नीवृद्देश आस्ते वर्तते । उत्प्रेक्ष्यते—पुरुषोत्तमेन नरश्रेष्ठेन । जातावेकवचनम् । विष्णुना च सार्धं रन्तुं क्रीडितु श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या जगत्कृता सर्वसृष्टिविधायिना विधात्रा विलासवेश्म केलिनिकेतनमकारि कारितमिव । प्यन्तप्रयोगः ॥

अशेषदेशेषु विशेषितश्रीर्यो मञ्जिमानं वहते स्म देशः ।

आक्रान्तदिक्चक्र इवाखिलेषु वसुंधराभर्तृषु सार्वभौमः ॥ २४ ॥

यो देशो गूर्जरमण्डलो मञ्जुनो भावो मञ्जिमा त चारुता वहते स्म दधौ । किंभूतो देशः । विशेषः सर्वातिशायिता सजातोऽस्यामिति विशेषिता श्रीर्धनधान्यादिका सर्वापि सपत्तिरूपा लक्ष्मीः शोभा वा यस्य । अत्र समासान्तविधेरनित्यत्वात्कप्रत्ययाभावः । केषु । अशेषेषु समस्तेषु देशेषु जनपदेषु । पुनः किंभूतम् । आक्रान्त महत्त्वादात्मना व्याप्त दिशा चतसृणामुपलक्षणाद्विदिशामपि एतावता अष्टाना हरिता चक्र मण्डल येन । क इव । सार्वभौम इव । यथा सर्वभूमेरीश्वरश्चक्रवर्ती अखिलेषु सर्वेषु वसुधराभर्तृषु भूपालेषु विशेषितश्रीर्भवति । किंभूतः । आक्रान्त स्वभुजबलेन विजित दिक्चक्र येन ॥

सुस्वामिभाजो विबुधाभिरामाः सजिष्णवो यत्र पुरः स्फुरन्ति ।

धृता दधानेन दिवाभ्यसूया येनामरावत्य इवाप्रमेया ॥ २५ ॥

यत्र देशे पुरो नगर्य स्फुरन्ति । किंभूता । सुशोभन नीतिमन्त स्वामिन राजान भजन्ति इति सुस्वामिभाज । पुन किंभूता । विशेषेण बुधाश्चतुर्दशविद्यावेदिनः पण्डितास्तैरभिरामा मनोज्ञा । पुन किंभूता । सह जिष्णुभिर्जयनशीलैः सुभटादिभिर्वर्तन्ते यास्ताः । उत्प्रेक्ष्यते—दिवा देवलोकेन सहाभ्यसूयामीर्ष्या दधानेन वहता येन देशेन अप्रमेयाः प्रमातुमशक्या गणनातीता अमरावत्य इन्द्रपुर्य इव धृता । किंभूता अमरावत्यः । सुस्वामिन सहस्राक्षत्वात्सर्वप्रकृतिभाववेदिन पुरदर स्वामिकार्तिक वा भजन्तीति । पुनः किंभूताः । विबुधैर्देवै रम्याः । पुनः किंभूताः । सह जिष्णुना शक्रेण कृष्णेन वा वर्तन्ते यास्ताः । सश्रीका हरय इति चम्पूकथायाम् । अथ वा जिष्णुश्च जिष्णुश्च जिष्णू कृष्णेन्द्रौ ताभ्यां सह । सख्याणामेकशेषे ॥

अथ कानिचित्तीर्थानि प्रतिपाद्यन्ते—

शत्रुजयाद्रेस्तलहट्टिकायां यदार्षभिर्वासयति स्म पूर्वम् ।

द्विषन्निव क्षोणिभृता विनीतां यस्मिंस्तदानन्दपुरं समस्ति ॥ २६ ॥

यन्नगर पूर्वं प्रथमयात्राकरणसमये शत्रुजयाद्रेदर्शनादुत्पन्नामन्दानन्दात् शत्रुजयाद्रेः सिद्धावलयस्य तलहट्टिकाया सीमभूमौ । 'सम्मेतशैलतलहट्टिकायां ग्रामसत्तमे । क्षेमकरः सार्थनामा ग्रामाध्यक्षो भवानभूत् ॥' इति प्रतिक्रमणसूत्रबृहद्वृत्तौ । ऋषभस्यापत्यमार्षभिर्भरतचक्री वासयति स्म निवेशितवान् । वार्धकिरत्नेनेति शेषः । क इव । क्षोणिभृता द्विषन्निव । यथा पर्वताना शत्रुरिन्द्रः पूर्वं प्रथम श्रीऋषभस्वामिराज्यावसरे सर्वनगर-पुरग्रामादिनिवेशनप्रथमप्रारम्भे विनीता नाम्नीं नगरीं वासितवान् । धनदेनेति शेषः । यस्मिन्देशे तदानन्दपुरमधुना नु बृहन्नगरापराभिधानं पुरं विभाति ॥ इत्यानन्दपुरम् ॥

यत्तुङ्गतारङ्गगिरौ गिरीशशैलोपमे कोटिशिला समस्ति ।

स्वयंवरोर्वीं शिवाम्बुजाक्षीपाणिग्रहे कोटिमुनीश्वराणाम् ॥ २७ ॥

यस्मिन्देशे तुङ्गेऽभ्रलिहे तारङ्गनाम्नि पर्वते कोटिशिला समस्ति विद्यते । किभूते तारङ्गगिरौ । गिरीशस्य शिवस्य शैलः कैलाशस्तस्योपमा सादृश्यं यस्य स तस्मिन् । उत्प्रेक्ष्यते—कोटिसख्याकानां मुनीश्वराणां शिवसिद्धिः सैवाम्बुजाक्षी वधूस्तस्याः पाणिग्रहे विवाहे स्वयंवरोर्वीं स्वयवरमण्डपमेदिनीव ॥

यत्पर्वते कल्पितसप्तभूमी राजर्षिणाकार्यत जैनगेहः ।

इवाधिरोढुं शिवचन्द्रशाला निःश्रेणिकारोहणसप्तकाङ्का ॥ २८ ॥

यस्मिस्तारङ्गशैले राजर्षिणा कुमारपालेन कल्पिता रचिताः सप्तसख्याका भूमयः । पिष्टाणिका । उपर्युपरि स्थितिस्थानकानि यत्र स कल्पितसप्तभूमिजैनगेहः प्रासादः शिल्पिभिरकार्यत निर्मापितः । उत्प्रेक्ष्यते—शिवमोक्षस्तदेव चन्द्रशाला शिरोगृहं तामधिरोढुमुपरि चटितुम् । चटतिप्रयोगः ऋषिमण्डलवृत्तौ । यथा—'चटिष्यति कथं प्रौढदेहोऽयं गजराजवत्' इति । आरोहणानां सोपानानां सप्तकमङ्के उत्सङ्गे यस्यास्तादृशी निःश्रेणिका अधिरोहणी कारितेव ॥

गभीरताधःकृतवार्धिनेवोपदीकृतं दन्तिनमुद्वहन्तम् ।

राजर्षिरस्मिन्विजयाङ्गजातं तीर्थाधिपं स्थापयति स्म चैत्ये ॥ २९ ॥

अस्मिस्तारङ्गगिरौ चैत्ये स्वकारिताप्रासादे राजर्षिः कुमारपालभूपालो विजयाया जितशत्रुनृपपत्न्या अङ्गजातं नन्दनमजितनामानं द्वितीयतीर्थं स्थापयति स्म निवेशयामास । किं कुर्वन्तम् । उद्वहन्तं दधन्तम् । क कर्मतापन्नम् । दन्तिनमर्थाञ्छान्छनरूपं गजम् । उत्प्रेक्ष्यते—गभीरतया गाम्भीर्येणाधःकृतेन अलब्धमध्यत्वेन पराभूतेन वार्धिना समुद्रेण उपदीकृतं ढौकितमिव । वार्धो जलकरिणा सद्भाव[स]त्वादैरावणस्याप्यर्णवे समुत्पन्नत्वा-

चैयमुत्प्रेक्षा । अथ वा 'विन्ध्येन धैर्यैरिव धिकृतेन' इति पाठः । तत्र धैर्यैर्मन्दरादिभ्योऽप्यतिशायिस्वधीरताभिधिकृतेनातिभूतेन विन्ध्येन विन्ध्याचलेनोपदीकृतमिव । विन्ध्याचले हि करिणा सद्भाव । 'रोहणाचले रत्नानि । मलयाद्रौ चन्दनानि । विन्ध्याचले गजाः' इत्यादि काव्यकल्पलतायाम् । तथा—'स्वस्थानात्पदमात्रमप्यचलतो विन्ध्यस्य चानेकशो जायन्ते मदपालिपालितयशःश्रीलम्भिनः कुम्भिनः' इति सूक्तेऽपि ॥

चैत्येन चूडामणिनेव शीर्षं विभूष्य राजर्षिरमुष्य शृङ्गम् ।

सिद्धाचलस्येव सुमङ्गलाभूस्तीर्थत्वमुर्व्या प्रथयाचकार ॥ ३० ॥

कुमारपालोऽमुष्य तारणगिरेः । तारण इत्यभिधानं सामसौभाग्यकाव्ये । तीर्थत्व च सकलकर्मक्षयकरणविधिना मोक्षगमनस्थानकतामुर्व्या पृथिव्या प्रथयाचकार विस्तारयामास । क इव । सुमङ्गला भूरिव । यथा सुमङ्गला ऋषभदेवपत्नी तस्या तस्या वा भवतीति सुमङ्गलाभूर्भरच(त)क्ती सिद्धाचलस्य शत्रुजयाद्रेस्तीर्थता प्रथयति सा । किं कृत्वा । विभूष्य विभूषा शोभा लम्भयित्वा । कम् । शृङ्ग शिखरम् । अर्थात्तारणगिरेरेव । केन । चैत्येन स्वकारितविहारेण । किं केनेव । शीर्षं चूडामणिनेव । यथा कश्चित्पुमान् मस्तकं चूडामणिना विभूषयति ॥

देशे पुनस्तत्र समस्ति शङ्खेश्वरोऽन्तिकस्थायुकनागनाथः ।

धात्रा धरित्र्यां जगदिष्टसिद्धौ मेरोरिवादाय सुरद्रुस्तः ॥ ३१ ॥

अपरतीर्थवर्णनाधिकारे तत्र गुर्जरदेशे पुनरन्यत् श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथः तीर्थं समस्ति जागर्ति । किं शङ्खेश्वरः । अन्तिके समीपे स्थायुक सेवाहेवाकितया नित्यं तिष्ठत्येवशीलः नागानां नाथः प्रभुर्धरणेन्द्रो यस्य । अथ वा । षष्ठाशीतिसहस्रनागनायकप्राग्जन्मवर्धमानाचार्याभिधानशङ्खेश्वराधिष्ठायकनागेन्द्रो यस्य । अथ वा पुरुषादेयनामकर्माणं श्रीपार्श्वनाथं विमुच्य अन्येषां देवानां समीपे अविष्ठातृत्वेन । अमानोना प्रतिषेधे । ना कदाचिदपि न गच्छन्तीति नागाः अष्टाचत्वारिंशसहस्रयक्षास्तेषां नायकपार्श्वयक्षो यस्य स । उत्प्रेक्ष्यते—जगदिष्टसिद्धौ । 'तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः' इति न्यायाज्जगज्जनानामिष्टस्याभिलषितस्य सिद्धौ पूर्तये मेरोः सुरतरुनिवासभूमेरादाय गृहीत्वार्थात्कल्पद्रुमं धात्रा ब्रह्मणा धरित्र्या गुर्जरमण्डलमेदिन्याम् । धरित्रीति गुर्जराभिधानम् । अथवा केवलं भूमावेव सुरद्रुः कल्पवृक्ष उप्तः प्ररोपित इव ॥

विद्याधरेन्द्रौ विनमिर्नमिश्च यद्विम्बमभ्यर्चयतः स पूर्वम् ।

स्वर्गे ततोऽपूजि विडौजसा यत्स्वधाम्न एव स्पृहयेव सिद्धेः ॥ ३२ ॥

नमिश्च पुनर्विनमिर्नाम विद्याधरेन्द्रौ छद्मस्थश्रीऋषभदेवसेवासतुष्टधरणेन्द्रप्रदत्तवैताल्यदक्षिणोत्तरश्रेणिद्वयज्याष्टाचत्वारिंशद्विद्यालकृतौ पूर्वं प्रथममस्याश्चतुर्विंशत्यादिसमये श्रीमद्युगादिदेवे विद्यमाने सति नमिविनमिनामानौ खेचरेन्द्रौ यस्य श्रीशङ्खेश्वरपार्श्व-

नाथस्य बिम्ब प्रतिमामभ्यर्चयतः स्म पूजयतः स्म । बिम्बशब्दः पुनपुसके । ततस्तदन-
न्तरं यद्विम्बं विडौजसा शक्रेणापूजि पूजितम् । उत्प्रेक्ष्यते—स्वर्गे देवलोके मनुष्या-
वतारं विनैव देवसबन्धिवैक्रियशरीरेणैव सिद्धेर्मुक्तेः स्पृहया वाञ्छयेव ॥

तेनाथ मुक्तं गिरिनारिशृङ्गेऽधिगम्य माणिक्यमिवामराणाम् ।

नीत्वात्मधाम्नोर्विधुपद्मपाणी यदार्चता निर्वृतिमीहमानौ ॥ ३३ ॥

विधुपद्मपाणी चन्द्रार्कौ यत् श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वबिम्बमात्मधाम्नोः स्वगृहयोर्निजविमान-
योर्वा नीत्वा आनीय आर्चता पूजयतः स्म । किं कृत्वा । अथ कियत्कालं पूजनात्त-
तेन शक्रेण सौवर्मेन्द्रेण गिरिनारिशृङ्गे रैवताद्रेः काञ्चनबलानकाख्यशिखरे मुक्तं स्थापि-
तम् अर्थाद्यत्पार्श्वबिम्बं सुराणां माणिक्यमिव चिन्तारत्नमिवाधिगम्य संप्राप्य । विधुपद्म-
पाणी किं कुर्वाणौ । ईहमानौ काङ्क्षन्तौ । काम् । निर्वृतिं मुक्तिं सुखं च ॥

ताभ्यां ततः स्थापितमुज्जयन्ते पार्श्वं स्वसर्वस्वमिवावसाय ।

आखण्डलः कुण्डलिनां क्रमेण सभाजनायानयदात्मधाम्नि ॥ ३४ ॥

कुण्डलिनां भुजगानामाखण्डलः पुरदरो नागेन्द्रः क्रमेण कियता कालेन श्रीपार्श्वबिम्बं
सभाजनाय पूजनार्थम् । ‘सभाजनं तत्र ससर्जं तेषां सभाजने पश्यति विस्मिते सा’ इति
नैषधे । ‘सभाजनं पूजनम्’ इति तद्वृत्तिः । आत्मधाम्नि स्वमन्दिरे आनयदानयति स्म ।
किं कृत्वा । अवसायं ज्ञात्वा । काम् । पार्श्वनाथम् । पुनः पूर्ववदेव ताभ्यां चन्द्रार्कौ-
भ्यामुज्जयन्ते रैवताचले स्थापितं न्यासीकृतम् । किमिव । स्वसर्वस्वमिव स्वस्यात्मनः
सर्वद्रव्यनिधिमिव ॥

गिराथ नेमेररविन्दनाभिरुपास्य पद्माप्रियमष्टमेन ।

आनाययत्तेन जितं तमात्मद्विषज्जयं मूर्तिमिवाश्रयन्तम् ॥ ३५ ॥

अथ कियत्कालं पूजनानन्तरं मरविन्दनाभिर्नारायणो नेमेः श्रीनेमिनाथस्य गिरा वाचा-
ष्टमेनाष्टमभक्तेन पद्माप्रियं पद्मावत्यां प्राणनाथं धरणेन्द्रमुपास्य आराध्य तेन धरणेन्द्रेण
तं पूर्वव्यावर्णितस्वरूपं जितं पार्श्वनाथमानाययत् । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिं शरीरमाश्रयन्तमा-
त्मनः स्वस्य द्विषता वैरिणा विजयमिव । ‘अरविन्दनाभिः’ इति माघकाव्ये । तथा ‘अर-
विन्दनाभिर्भाललोचनश्चक्रपाणिरित्यादयः शिष्टप्रयोगाः समता एव’ इति कातन्त्रव्याक-
रणवार्तिकेऽपि ॥

ततो जरा येन यदूद्धहाना न्यवारि वारा स्नपनोद्भवेन ।

षाणस्य कुष्ठं वपुषस्त्विषेव राजीविनीजीवितवल्लभेन ॥ ३६ ॥

ततोऽत्रागमनानन्तरं येन श्रीपार्श्वनाथेन स्नपनोद्भवेन निजस्नानसमुत्पन्नेन वारा स-
लिलेन कृत्वा यदूद्धहाना यदुनन्दनानां समस्तयादवानां जरां प्रतिवापुःपुत्रजरासंघविद्या-
शस्त्रसमुद्भूतविस्त्रसा । ‘विस्त्रसा जरा’ इति हैम्याम् । न्यवारिं निवारिता । केनेव । राजी-

विनीजीवितवल्लभेनेव । यथा पद्मिनीप्राणनाथेन भानुना त्विषा स्वकिरणेन कृत्वा बाणस्य बाणनाम्नः कवेर्वपुषः शरीरात्कुष्टं दुष्टरोगविशेषो निराकृतः । एतद्व्यतिकरविस्तरभक्ता-
मरस्तववृत्तेरवसेयः ॥

यत्रार्हताध्मायि निजध्वजिन्यास्त्राणाय कम्बुभ्रमता समन्तात् ।

तत्राच्युतेनारिजयप्रशस्तिरिवात्मनः शङ्खपुरं न्यधायि ॥ ३७ ॥

यत्र स्थाने निजस्या(जाया) आत्मीयाया निजस्य स्वस्य वा ध्वजिन्याः सेनायास्त्रा-
णाय रक्षणाय समन्तात्सेनासर्वतो भ्रमता भ्रमणीं कुर्वता सता अर्हता श्रीनेमिनाथेन
कम्बुः शक्रशङ्खोऽध्मायि वादितः पूर्यते स्म । तत्र तस्मिन्स्थाने अच्युतेन विष्णुना श-
ङ्खपुरं नाम नगरं न्यधायि स्थापितम् । वासितमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मनो निजस्य
शत्रूणामरीणां जयप्रशस्तिः सग्रामे जरासधादिद्वेषिनिषूदनाद्यक्षरमालिकेव ॥

वसुंधराया इव वैजयन्तं निर्माप्य चैत्यं सुरगोत्रमित्रम् ।

निवेशयामास सुवर्णविन्दुरानन्दसान्द्रोऽत्र जिनेन्द्रबिम्बम् ॥ ३८ ॥

सुवर्णविन्दुर्नारायणोऽत्र चैत्ये जिनेन्द्रबिम्बं श्रीपार्श्वनाथप्रतिमां निवेशयामास स्थापि-
तवान् । किं कारयित्वा । निर्माप्य विधापयित्वा । किम् । चैत्यं प्रासादम् । किंभूतम् ।
सुराणां गोत्रस्य गिरेर्मैरो । 'शैलोऽद्रिः शिखरी शिलोच्चयगिरी गोत्रोऽचलः सानुमान्'
इति हैम्याम् । मित्रं सुराद्रिवत्तुङ्गमित्यर्थः । किं० सुवर्णविन्दुः । आनन्दसान्द्रः प्रमो-
दमेदुरः । उत्प्रेक्ष्यते—वसुंधराया पृथिव्या वैजयन्तमिन्द्रप्रासादमिव ॥

स्वकारितेशाचलचारुचैत्ये निवेशितः सज्जनमन्त्रिणा यः ।

स रोपितः स्वःशिखरीव सौधाङ्गणेऽस्य जज्ञेऽखिलसिद्धिदायी ॥ ३९ ॥

स शङ्खेश्वरपार्श्वनाथोऽस्य सज्जनमन्त्रिणोऽखिला समस्ता अष्टसख्याका अणिमाद्या
अन्या वा मन्त्रतन्त्रस्वर्णरूप्यादिका हृदयाभिलाषिता सिद्धीर्ददानीत्येवशीलो दायी दा-
यको जज्ञे जातः । क इव । स्वः शिखरीव । यथा सौधस्य निजमन्दिरस्याङ्गणे रोपितः
उप्तः सुरद्रुमो निखिलार्थसिद्धिदः स्यात् । स कः । यः प्रभुः स्वेनैवात्मनैव कारितः शि-
ल्पिभिर्निर्मापितम्, तथा—ईशाचलः कैलाशस्तद्वचारु तुङ्ग सुवाधवल च यच्चैत्यं प्रासा-
दस्तस्मिन् सज्जननाम्ना मन्त्रिणा निवेशितः स्थापितः । अथ वा सज्जनमन्त्रिणा स्वकारि-
तोत्तुङ्गचैत्ये निवेशितस्तस्मिन् सौधाङ्गणे प्ररोपितसुरतरुरिव सकलार्थसिद्धिदातासीत् ।
अत्र च 'प्ररोपितः' इति पाठः ॥

निःस्वादिवैश्वर्यमनाप्य झञ्झुपुरार्कतो दुर्जनशल्यभूमान् ।

रूपं यतः स्मारमिवाप्य देवसन्नेव यच्चैत्यमचीकरच्च ॥ ४० ॥

च पुनः—किञ्चित् काले व्यतीते सति दुर्जनशल्यनामा भूमान् राजा यच्चैत्यं यस्य
भगवतः प्रासादमचीकरत् शिल्पिभिः कारयामास । उत्प्रेक्ष्यते—देवसन्नेव सुपर्वविमान-

मिव । किं कृत्वा । यतः श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथात् रूपं दुष्टरोगापगमात्सर्वाङ्गसुभगतामाप्य लब्ध्वा । उत्प्रेक्ष्यते—स्मार स्मरसबन्धि रूपं संप्राप्य । पुनः किं कृत्वा । अनाप्य अनासाद्य । कुतः—झङ्गपुरे झङ्गवाडाख्यग्रामे । योऽर्कः साधिष्ठायकसूर्यप्रतिमा ततः । प्रथमं हि दुर्जनशल्यभूमीपतिः सूर्यपुरं उपविष्टः । ततस्तदधिष्ठायकेन प्रोक्तं यत्—‘तवाङ्गकुष्ठादिरोगामयो मयापनेतुं न शक्यते । ततस्त्व शङ्खेश्वरपार्श्वनाथपार्श्वे प्रयाहि । स एव तव सर्वाङ्गीणान् रोगानपनेष्यति ।’ तदनु शङ्खेश्वरपार्श्वनाथमाराध्य सम्यग् रूपवानासीदिति संप्रदायः । अतो झङ्गपुरस्थभास्करात्सम्यक् रूपं न प्राप्तम् । कस्मादिव । निःस्वादिव । यथा दरिद्रपुरुषादैश्वर्यं नाप्यते । अत्र पूर्वाचार्यप्रणीतस्तुतिकाव्यानि यथा—‘अपूपुजत्वा विनमिर्नमिश्च वैताड्यशैले वृषभेशकाले । सौधर्मकल्पे सुरनायकेन त्वं पूजितो भूरितरं च कालम् ॥ १ ॥ आराधितस्त्वं समयं कियन्तं चान्द्रे विमाने किल भानवेऽपि । पद्मावतीदेवतया च नागाधिपेन देवावसरेऽर्चितस्त्वम् ॥ २ ॥ यदा जरासधप्रयुक्तविद्याबलेन जातं स्वबलं जरार्तम् । तदा मुदा नेमिगिरा मुरारि पातालतस्त्वा तपसा निनाय ॥ ३ ॥ तव प्रभोस्तान्त्रजलेन सिक्तं रोगैर्विमुक्तं कटकं बभूव । सस्थापितं तीर्थमिदं तदानीं शङ्खेश्वराख्यं यदुपगवेन ॥ ४ ॥ तथा कथंचित्तव चैत्यमत्र श्रीकृष्णराजो रचयाचकार । स द्वारकास्थोऽपि यथा भवन्तं ननाम नित्यं किल संप्रभावम् ॥ ५ ॥ श्रीविक्रमान्मन्मथबाणमेरुमहेशतुल्ये समये व्यतीते । त्वं श्रेष्ठिना सज्जननामकेन निवेशितः सर्वसमृद्धिदोऽभूः ॥ ६ ॥ झङ्गपुरे सूर्यपुरोऽनवाप्तं त्वतोऽधिगम्याङ्गमनङ्गरूपम् । अचीकर दुर्जनशल्यभूपो विमानतुल्यं तव देवचैत्यम् ॥ ७ ॥’ इति ॥

पद्मावतीप्राणपतिः प्रसूनाशनी भविष्णुश्चरणारविन्दे ।

तन्तन्यते यन्महिमानमुर्व्यां सरोजसौरभ्यमिवाहिकान्तः ॥ ४१ ॥

पद्मावत्या वैरोध्यापरनामधेयाया प्राणपतिर्भर्ता वरणोरगेन्द्रो यन्महिमानं यस्य श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथस्य माहात्म्यमुर्व्यां धरित्र्या तन्तन्यते अद्यापि यावदतिशयेन विस्तारयति । पद्मापतिः किंभूतः । प्रसूनं पुष्पं तदेवाशनमाहारो यस्य स प्रसूनाशनो भृङ्गः । ‘भोज्यं तु पुष्पमधुनी’ इति हैमीवचनात् । स भविष्णुर्भवनशीलः । कस्मिन् । अर्थाद्यद्भगवत्-श्चरणारविन्दे पादपद्मे । क इव । अहिकान्त इव । यथा अहिकान्तो वायुः । ‘वातोऽहिकान्तपवमानमरुत्’ इति हैम्याम् । सरोजसौरभ्यं कमलपरिमलं क्षितौ तन्तनोति ॥

यो ध्वंसतेऽष्टापि दरान्नराणां व्यालान्ववायानिव वैनतेयः ।

शयेशयालूः पुनरष्टसिद्धीः प्रणेमुषा यः कुरुते कृंपालुः ॥ ४२ ॥

यो भगवान्नराणामर्थादात्माश्रितमानवानां दरान् मनुष्यादुत्पन्नं इह लोकभयम्, सिंहसर्पाद्युत्पन्नपरलोकभयम्, चौरराजाद्युत्पन्नादानभयम्, अग्निविद्युदाद्यकस्माद्भयम्, दुःकालजातजीविकाभयम्, मरणभयम्, अयशोभयम्, नरकतिर्यग्गत्यादिदुःखजसम्भयमेतान्यष्टौ । अथ वा मत्तेभमृगेन्द्रदवाग्निभुजगसग्रासमुद्ररोगचौराभिधानानि महाभयानि विध्वंसते ना-

शयति । क इव । वैनतेय इव । यथा वैनतेयोऽष्टसख्यान् व्यालाना सर्पाणामन्ववायान् कुलानि वासुक्यनन्ततक्षकककोलपद्ममहापद्मशङ्खकुलीशशिनामानि विध्वसते । पुनर्य कृपालुर्दयावान् प्रणेमुषा निजपादाम्बुजयोर्नम्रीभूताना जनाना लघिमा वशिता ईशत्व प्राकाम्य महिमा अणिमा यत्र कामावसायित्व प्राप्तिरित्यष्टसंख्याका अष्टनाम्न्यो वा सिद्धयः ताः शये हस्ते शयालः शयनशीला हस्तस्थिता कुरुते सपादयति ॥

ऊर्जस्वलत्वं कलयन्कलौ यो निधिर्महिम्नां महसामिवांशुः ।

जागर्ति शङ्खेश्वरपार्श्वनाथः श्रेयःपुरीप्रस्थितपान्थसार्थः ॥ ४३ ॥

यः श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथो जागर्ति स्फूर्जति । किं कुर्वन् । कलौ कलिकालेऽपि युगे ऊर्जस्वलत्व स्फूर्तिमत्ता कलेयन् धारयन् । किंभूत । महिम्ना माहात्म्याना प्रभावाना निधिराश्रयस्थानम् । क इव । अशुरिव । यथा सूर्यो महसा तेजसा प्रतापाना वा निधानम् । पुन किंभूत । श्रेय सिद्धिरेव पुरी नगरी तत्र प्रस्थिताश्चलिता ये पान्था भव्याध्वगास्तेषा सार्थ इव सार्थः ॥ इति श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथः ॥

तत्रापि च स्फूर्तिमियत्यपूर्वा श्रीस्थम्भने स्थम्भनपार्श्वदेवः ।

व्यध्वंसि धन्वन्तरिणेव येन कुष्ठोपतापोऽभयदेवसूरेः ॥ ४४ ॥

अपि च—पुनरन्यद्वर्णनप्रस्तावे तत्र गुर्जरमण्डले श्रिया लक्ष्म्या युक्त यत्स्थम्भन स्थम्भतीर्थपुर तत्र स्थम्भननामा पार्श्वदेवोऽपूर्वामसाधारणी स्फूर्तिमियति गच्छति । प्राप्नोतीत्यर्थः । येन श्रीस्थम्भनपार्श्वदेवेन नवाङ्गीवृत्तिविधोऽभयदेवसूरेः कुष्ठोपतापः । अर्थात् शरीरात्कुष्ठनामा उपतापो रोगः । 'रोगो रुजा रुगातङ्को० आम आमय आकल्यमुपतापो गद सम' इति हैम्याम् । व्यध्वंसि निरस्त । केनेव । धन्वन्तरिणेव । कविसमयानुसारेण नागयणासुरमथितक्षीरसमुद्रसमुद्भूतचतुर्दशरत्नमध्ये धन्वन्तरिनाम वैद्यरत्नमजायत । यथा धन्वन्तरिरत्नेन धन्वन्तरिनाम्ना वैद्यराजेन कुष्ठादिसर्वरोगो विध्वस्यते ॥

स्वक्षारता सूनुकलङ्किता च मार्ष्टु क्रमाम्भोजरजोमृतेन ।

वेलाछलाद्यं जलधिर्द्विवेलमुत्कण्ठितो नन्तुमिवाभ्युपैति ॥ ४५ ॥

जलधि समुद्रो द्विवेल द्वे वेले वारौ यत्रेति क्रियाविशेषणम् । वारद्वय वेलाछलाद्वारिवृद्धिव्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—य स्थम्भनपार्श्वदेव नन्तु नमस्कर्तुमिवाभ्युपैति अभिमुख समेति । किंभूतो जलधिः । उत्कण्ठित कण्ठाद्ध्वमुत्कण्ठ उत्कण्ठत्व सजातमस्येति भावप्रधानो निर्देशः । अन्योऽप्युत्कण्ठित औत्सुक्यकलितो जिन नन्तुमायाति । किं कर्तुम् । मार्ष्टुमपनेतुम् । काम् । स्वस्यात्मन क्षारता लवणता द्रोहन्तशक्रोद्धता च । च पुन सूनोश्चन्द्रमसः । विधो समुत्पन्नत्वात् । कलङ्को गुरुदाराधिगमनात्परस्त्रीलाम्पव्यापवादोऽस्यास्तीति कलङ्की तस्य भावः कलङ्किता ताम् । 'कलङ्कोऽङ्गापवादयोः' इत्यनेकार्थः । केन । क्रमादुत्थाद्भगवत्पादावेवाम्भोजे कमले तयो रजो रेणुस्तदेवामृत पीयूष तेन । 'त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा' इति भक्तामरस्तोत्रे ॥ इति स्थम्भनपार्श्वनाथः ॥

तीर्थानि तीर्थाधिपपावितानि परस्सहस्राण्यपराण्यपीह ।

स्फूर्तिं परा विभ्रति पूर्वदेशे जिनेशकल्याणकशालिनीव ॥ ४६ ॥

अपि पुन , इह देशे लाडणचारूपप्रमुखानि अन्यान्यपराणि परस्सहस्राणि सहस्रात्पराणि सहस्रशः अनेकसहस्रसख्यानि तीर्थानि पुण्यस्थानानि परा प्रकृष्टा स्फूर्तिं विभ्रति कलयन्ति । कि० । तीर्थाधिपैर्जिनेन्द्रैरर्थात् जिनप्रतिमाभिः पावितानि पावनीकृतानि । पवित्रितानीत्यर्थः । कस्मिन्निव । पूर्वदेश इव । यथा पूर्वदेशे सहस्रसख्याकानि तीर्थानि स्फुरन्ति । किभूते पूर्वदेशे । जिनेशास्तीर्थकरास्तेषां कल्याणकानि व्यवनजन्मदीक्षाज्ञानमोक्षगमनस्थानानि तैः शालन्ते शोभन्ते इत्येवशीलस्तस्मिन् ॥ इति पुण्यस्थानानि ॥

अथ क्रीडास्थानकानि—

नवोदयं हीरकुमारचन्द्रं निरीक्षितुं कौतुकिनीसमेता ।

स्वयं स्वयंभूतनया किमेषा सरस्वती यत्र विभाति सिन्धुः ॥ ४७ ॥

यत्र देशे सरस्वतीनामा सिन्धुर्नदी विभाति शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—नवो नूतनो भाविनि भूतोपचारादुदयो यस्य त तथोक्तम् । हीरनामा कुमारेषु कुमाराणां वा मध्ये चन्द्र इव दीप्यमानत्वात् विविधनादहासवाग्विलासविश्राणनादिभिराह्लादकत्वाद्वा कुमारचन्द्रस्तं निरीक्षितुं द्रष्टुं कौतुकं विद्यते यस्याः सा कौतुकिनी कुतूहलाकलिता । एषा किं स्वयंभुवो धातुस्तनया पुत्री भारती स्वयमात्मना नदीरूपेणेत्यर्थः । 'ब्रह्मपुत्री सरस्वती नदी' इति हैमीवचनात् । समेता समागतेव । अन्यापि वशा कौतुकान्नवोदय चन्द्रं प्रेक्षितुं समेति ॥

कपोलपालीमृगनाभिपत्रलताङ्कितैश्च द्विजचन्द्रिकाङ्कैः ।

क्रीडन्मृगाक्षीवदनैर्बभौ या सहस्रचन्द्रेव विरञ्चिपुत्री ॥ ४८ ॥

या विरञ्चिपुत्री सरस्वती सरित् क्रीडन्त्यो जलविलास सृजन्त्यो या मृगाक्ष्य सारङ्गनयनास्तरुण्यस्तासां वदनैर्मुखैः सहस्रचन्द्रेव दशशतमृगाङ्केव बभौ भाति स्म । किभूतैर्वदनैः । कपोलपालीषु गण्डस्थलेषु । पालीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । 'कपोलपाली जनितानुबिम्बयो' इति नैषधे । या मृगनाभे कस्तूरिकायाः पत्रलता पत्रवलय ताभिरङ्कितैः कलितैः । पुनः किभूतैः । द्विजानां दन्तानां चन्द्रिका ज्योत्स्ना । कान्तिरित्यर्थः । ता अङ्के क्रोडे येषां तैः । 'दशनचन्द्रिकया व्यवभासितम्' इति रघुवशे ॥

यूनो रिरसोपगतान्सकान्तान्हंसस्वनैः स्वागतमुच्चरन्ती ।

तरङ्गहस्तस्थितपङ्कजैर्या विश्राणयामास किमर्घमर्घ्यान् ॥ ४९ ॥

या सरस्वती नदी यूनस्तरुणान् । तरङ्गाः स्वकल्लोला एव हस्तास्तेषु स्थितैः पङ्कजैः कमलैः कृत्वा । किम् । उत्प्रेक्ष्यते—अर्घ्यं पूजाविधिम् । 'अर्घ्यं पूजाधिधौ मूल्ये द्रव्ये' इत्यनेकार्थः । विश्राणयामास । 'दत्ते ददाति विश्राणयति प्रयच्छति च' इति क्रियाकलापे । प्र-

दत्ते स्म । या किं कुर्वती । उच्चरन्ती कथयन्ती । पृच्छन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—उच्चरन्तीव । गर्भितोत्प्रेक्षा । किम् । स्वागत सुखेनागत कुशलप्रश्न वा । कैः । हसस्वनैर्मङ्गलरावैः । कान्प्रति । यूनस्तरुणान् । किभूतान् । रिरसया जलक्रीडा कर्तुमिच्छया उपगतान् स्वस्मिन् विषये समागतान् । पुन किभूतान् । सकान्तान्सहकान्ताभिर्वर्तन्ते ये प्रियायुक्तान् । पुनः किभूतान् । अर्घ्यान् पूजायोग्यान् ॥

विधोर्विधायामन्दमरन्दलीनशिलीमुखोन्मीलितपुण्डरीकम् ।

वीक्ष्याभितो यत्र चकोरिकाभिरभ्रामि पीयूषरसाभिकाभिः ॥ ९० ॥

यत्र सरस्वत्या सरिति अमन्दमरन्दार्थं प्रचुरमकरन्दपानकृते लीना अन्तर्निर्लीय स्थिता शिलीमुखा भ्रमरा. यत्र एवविवम् । तथा—उन्मीलित विकसित पुण्डरीक सिताम्भोज वीक्ष्य विलोक्य पीयूषस्यामृतस्य रसो निःस्यन्दस्तस्याभिकाभिः कामयित्रीभिः । 'कामुकः कामिता कम्रोऽनुक कामयिताभिकः' इति हैम्याम् । चकोरिकाभिर्ज्योत्स्नाप्रियजायाभिविधोर्विधा चन्द्रबुद्ध्या अभित समन्तादभ्रामि भ्राम्यते स्म । चकोरिकानाममृतपानमग्रे वक्ष्यते ॥ इति सरस्वती ॥

मुक्तालताङ्गेव निजोपकण्ठश्रेणीभवलक्ष्मणपक्षिलक्षैः ।

शिञ्जानमञ्जीरवतीव कूलानुकूलकूजत्कलहंसिकाभिः ॥ ९१ ॥

शिलीमुखाश्लेषिसरोरुहेव सनेत्रवक्त्रश्रियमाश्रयन्ती ।

रथाङ्गनामद्वितयेन तुङ्गपीनस्तनद्वन्द्वमिवोद्वहन्ती ॥ ९२ ॥

रोमावलीं शैवलवल्लरीभिरिवादधानापि च यत्र देशे ।

स्वकेलिलोलान्वरवर्णिनीव युवत्रजान्साभ्रमती तनोति ॥ ९३ ॥

अपि च पुन —यत्र देशे साभ्रमती नाम नदी वरवर्णिनीव प्रधानस्त्रीव युवत्रजास्तरुणगणान् स्वस्यात्मनि विषये केलिपु जलक्रीडासु कामकेलिविलासेषु वा लोलाश्रपलानत्युत्सुकास्तनोति । करोतीत्यर्थः । किभूता साभ्रमती । निजस्यात्मन स्वकीयस्य वोपकण्ठे समीपे तटपार्श्वे । 'काठा' इति लोकप्रसिद्ध्या । श्रेणीभवता पङ्क्त्या वितिष्ठमानानां लक्ष्मणपक्षिणा सारसविहगमानाम् । 'सारसस्तु लक्ष्मण स्यात्' इति हैम्याम् । लक्षैः मुक्तालताङ्गेव मुक्ताफलहारोऽङ्गे । 'पूर्वभागे उपस्थोऽङ्ग' इति हैम्याम् । कटेरूर्ध्वं पूर्वकाय । कण्ठादिपुण्याः । अथवा अङ्गो भूषणं यस्यास्तादृशीव । 'अङ्गो भूषारूपकलक्ष्मसु' इत्यनेकार्थः । पुनः किभूता । कूले तटेऽनुकूल कर्णयोरमृतायमान कूजन्तीभिः शब्दायमानाभिः कलहंसिकाभिः कृत्वा शिञ्जानमञ्जीरवतीव रणभणिति निक्रणायमाननूपुरमण्डितेव । पुन किभूता । सह नेत्रेण नयनेन वर्तते यत्तत्सनेत्र यद्वक्त्रं तस्य श्रियं लक्ष्मीमाश्रयन्तीवेत्युत्प्रेक्ष्यते । केन । शिलीमुखं भ्रमरमाश्लिषत्यालिङ्गतीत्येवशील यत्सरोरुट् पद्म तेन । 'तजलात्सरसः पङ्कात् परै रुद्ररुहजन्मजैः' इति हैम्याम् । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—उद्वहन्तीव दधतीव ।

किम् । तुङ्गमुच्च पीन पुष्ट यस्तनद्वन्द्वं कुचयुग्मं तत् । केन । रथाङ्गनाम्नोश्चक्रवाकयो-
द्वितयेन युगलेन । पुनस्तुप्रेक्ष्यते—आदधाना आ ईषत्कलयन्तीव । काम् । रोमावलीं लो-
मलेखाम् । काभिः । शैवलवल्लीभिः शैवालमञ्जरीभिः । ‘घञ्चुच्युता शैवलमञ्जरीव’ इति
कुमारसम्भवे । स्त्रीणां प्रायो लोमलेखा स्वल्पैव प्रशस्यते । ‘बहुलोमा दरिद्रा स्यात्’ इति
वचनात्ततोऽत्रादधानेत्युपादानम् । किं च स्त्रीणामुदरे रोमराजी वर्ण्यमाना दृश्यते । तथा—
‘घणपव्वयरोमरायवणगहण’ इति । तथा—‘वयसी शिशुता तदुत्तरे सुदृशी स्वाभिविधिं
विधित्सुनी । विधिनापि न लोमलेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यत ॥’ इति नैषधेऽपि ।
तथा—‘वरवाणिन्यप्युक्तविशेषणविशिष्टैव स्यात्’ इति ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥ इति साभ्रमती ॥

यत्रोन्नमद्वारिदवर्मिताङ्गास्तडिल्लतोपात्तनिशातशस्त्राः ।

आखण्डलेन द्विषतेव रोषाद्योद्धु व्यवस्यन्ति विलासशैलाः ॥ ९४ ॥

यत्र देशे कुत्राप्येकस्मिन्पार्श्वे इलादुर्गपुरसवेशप्रदेशे विलासशैलाः क्रीडापर्वता रो-
षात् स्ववश्यलक्षपक्षच्छेदोद्धूतात्कोपाद्विषता वैरिणा आखण्डलेन शक्रेण साकं योद्धुं स-
ग्रामं कर्तुं व्यवस्यन्ति प्रगल्भन्ते प्रयतन्ते इव । किभूता शैलाः । उन्नमन्त उत्प्राब-
ल्येन जलभरेण नम्रीभवन्तो वारिदा मेघास्तैर्वर्मितं वर्मं सनाह । स सजातोऽस्मिन्निति
वर्मितं सनाहयुक्तं जातमङ्गं वपुर्येषां ते । सनाहाना तु जात्यलोहत्वेन श्यामत्वात् । घनोऽपि
श्यामस्तत एकवर्णत्वेन तदुपमानमिति । पुनः किभूताः । तडिल्लता विद्युद्वितानान्येव उपा-
त्तानि गृहीतानि शाणोत्तेजितानि शस्त्राणि प्रहरणानि यैः । विद्युता निकषनिर्मलीकृतानां
सायुगीनानां शस्त्राणां झगब्भिति दीप्तित्वात्तुल्यता । तथा—करवालउलालइकरीषीजझब-
झबझबूकइजिसीवीज’ इति पूर्वाचार्यकृतजीरापल्लीपार्श्वनाथप्राकृतस्तोत्रे सग्रामाधिकारे ॥

इयत्तयानन्तमपि प्रमातुं प्रगल्भमाना इव कौतुकेन ।

शैलाः कृतव्योमवहावगाहा जगाहिरे निर्जरराजमार्गम् ॥ ९५ ॥

क्वापि यत्र देशे शैलाः पर्वता निर्जराणां राजा निर्जरराजः शक्रस्तस्य मार्गं पन्थानमे-
तावता गगनं यथा सुराणां मार्गस्तथा सुरेन्द्रस्यापि मार्गः । ‘येनामुना बहुविगाढसुरेश्वराध्व-’
इत्यादि नैषधे । जगाहिरे अवगाहन्ते स्म । व्याप्नुवन्ति स्मेत्यर्थः । किभूताः शैलाः । कृतो
निमित्तोऽत्युन्नततया व्योमवहायामाकाशगङ्गायामवगाहो जले प्रवेशो यैस्ते इवेत्युत्प्रेक्ष्यते ।
कौतुकेन कुतूहलेन । अनन्तमपि पाररहितमपि निर्जरनभ इयत्तया एतावत्प्रमाणत्वेन
प्रमातुं प्रमाणविषयीकर्तुं प्रगल्भमाना उद्यमं कुर्वाणा इव । कौतुकिनो हि निर्विचारम-
त्यौत्सुक्याद्यत्र तत्राप्युत्सहन्ते ॥

सवाहिनीकाः सितनूत(ल)चूतच्छत्रा झरन्निर्जररोमगुच्छाः ।

अनिहुवाना धरणीधरत्वमिवात्मना यत्र बभुर्गिरीन्द्राः ॥ ९६ ॥

यत्र देशे कुत्रापि प्रदेशे गिरीन्द्रास्तुङ्गशैलाः बभुर्बभूवुः इवेत्युत्प्रेक्ष्यते । आत्मना स्वेषां
धरणीधरत्वं भूभृद्भावं गिरित्वेन राजता चेत्यर्थः । अनिहुवानाः प्रकटीकुर्वाणा इव । ‘स्फुट

च लब्ध्वामरयुग्मचिह्ननैरनिङ्गवान निजवाजिराजताम्' इति नैषधे । किभूता गिरीन्द्राः । सह वाहिनीभिर्नदीभिः सेनाभिश्च वर्तन्ते ये । अत्र समासान्त क । पुनः किभूताः । स्मिता विकसिता मञ्जरीपिञ्जरीकृतास्थिता नूता(त्ता) नवीना ये चूताः सहकारास्त एव च्छत्राणि आतपत्राणि येषाम् । पुनः किभूताः । झरन्तो वहन्तो ये निर्झरास्त एव रोमगुच्छाश्चामराणि येषाम् । राजानोऽपि छत्रचामरसेनासयुताः स्युः ॥

विद्युन्मणीभूषणभूष्यमाणा मिलद्वलाकाघनपुष्पनद्धा ।

कादम्बिनी बद्धशिखानुषङ्गा यद्गोत्रलक्ष्म्याः कबरीव रेजे ॥ ५७ ॥

यत्र देशे शैलोपरि कादम्बिनी मेघमाला रेजे । प्रायो मेघा गिरौ भवन्त्येवेति 'गिरौ वर्षन्ति वारिदाः' इति सूक्तेऽपि । भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—यद्गोत्राणा गुर्जरभूधराणा लक्ष्म्याः श्रिय कबरी वेणीव । किभूता कादम्बिनी कबरी च । बद्धो रचितः शिखायामधित्यकाया शृङ्गाग्रे मस्तकोपरि वा अनुषङ्ग प्रसङ्गो यया सा । पुनः किभूता । विद्युदेव विद्योतमानानि वा । 'विद्युन्मणिमेखलालकारधारिण्य' इति चम्पूकथायाम् । 'विद्योतमानरत्नकाञ्ची' इति तट्टिप्पनके । मणीना भूषणान्याभरणानि तैर्भूष्यमाणा अलक्रियमाणा । पुनः किभूता । मिलन्तीभिः सङ्ग कुर्वन्तीभिर्बलाकाभिर्बककान्ताभिः । तथा घनपुष्पैर्जलैर्नद्धा युक्ता । 'क्षीर पुष्करमेघपुष्पकमलान्यापः पय पाथसी' इति हैम्याम् । द्व्यर्थत्वात् घनपुष्पमिति पक्षे मिलद्वलाकातुल्यै शुभ्रत्वाद्धनैः सान्द्रैः पुष्पैः कुसुमैर्नद्धा गुम्फिता ॥

नित्यातिवाहाद्विगतावलम्बेऽम्बरेऽम्बरद्वीपवती विखिन्ना ।

प्रोत्तुङ्गयद्भूधरनिर्झराणा निभेन भूभागमिवाभ्युपैति ॥ ५८ ॥

अम्बरद्वीपवती गगनापगा आकाशगङ्गा भूभाग पृथ्वीदेशमभि लक्ष्मीकृत्याभ्युपैति अवतरति । पृथिव्यामवतरतीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—प्रोत्तुङ्गा अत्रलिहा ये भूवरा गुर्जरगिरयस्तेषा निर्झराणा निभेन कपटेनेव भूभागमभ्युपैतीति शेषः । किभूता अम्बरद्वीपवती । विखिन्ना प्राप्तखेदेव । कस्मात् । नित्यातिवाहान्निरन्तरातिशयेन वहनात् । क । अम्बरे आकाशे । किभूते अम्बरे । विगतावलम्बे सर्वथापि सर्वत्राप्यपगत आश्रयो यस्माद्यस्य वा ॥ इति केलिशैला ॥

कैदार्यमुज्जृम्भितशालि यस्मिन्विहंगवृन्दैर्व्यरुचच्चरद्भिः ।

महीन्दिराया मणिगुम्फगर्भो नीलीविनीलः किमयं निचोलः ॥ ५९ ॥

यस्मिन् देशे । कचिदपीत्यध्याहार्यम् । कापि प्रदेशे उज्जृम्भिता निर्यदङ्कुराः शालयः कलमाया यत्र तत्तथेष्कम् । कैदार्यः केदारसमूहः । चरद्भिर्भक्षयद्भिश्चूर्णि कर्तुमितस्ततो विचरद्भिर्वा विहंगवृन्दैः खगणैर्व्यरुचद्भाति स्म । किमुत्प्रेक्ष्यते—महीन्दिराया भूमिलक्ष्म्या

मणीना विविधरत्नाना गुम्फो रचना गर्भे मध्ये यस्य । तथा नीली । लोके 'गुली' इति प्रसिद्धा । तद्वनीलो हरितवर्णो निचोलः । असौ कञ्चुक इव ॥

कैदारिकं क्वापि समञ्जरीकशालि व्यलासीन्नदसनिधाने ।

रोमावली नाभिविभासिमध्यदेशे किमेषा विषयेन्दिरायाः ॥ ६० ॥

यत्र क्वापि कस्मिन्नपि प्रदेशे समञ्जरीकाः कलिकाकलिता शालयो यत्र तत्तथोक्त कैदारिक केदारवारो नदसनिधाने ब्रह्म(हृद)सनिधाने व्यलासीद्विलसति स्म । किमुत्प्रेक्ष्यते—विषयेन्दिराया देशश्रियाः नाभिना तुन्दकूपिकया । नाभिश्चब्द. पुच्छियोः । विभासिनि शोभनशीले मध्यदेशे उदरे । एषा प्रत्यक्षलक्षा रोमावली लोमलेखेव ॥

उत्तालतालं करतालिकाभिः सृजन्ति गीतीरिह शालिगोप्यः ।

श्रिया समग्रान्विषयान्विजित्य कीर्तीः स्थितानामिह गुर्जराणाम् ॥ ६१ ॥

इह गुर्जरदेशे उत्तालतालमुत्तालास्त्वरितवादिनस्ताला यत्रैवं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । करतालिकाभिर्हस्ततालाहतिध्वनितै । शालीना कमलक्षेत्राणा गोप्यो रक्षिका गीतीर्मधुरध्वनितालापगानानि सृजन्ति कुर्वन्ति । इवोत्प्रेक्ष्यते—श्रिया सर्वातिशयिलक्ष्म्या समग्रान् भूमीमण्डलवतिसमस्तान् विषयान् मण्डलान् विजित्य स्थितानामेकस्थानस्थायुकाना गुर्जराणा गुर्जरनामदेशानाम् । देशानामग्रे बहुत्वमेव वाच्यम् । कीर्तीर्यशासीव गायन्ति ॥ इति केदाराः ॥

कुत्रापि दम्यैरनुगम्यमानाः सरिद्वरायाः सखितां दधानाः ।

यद्गोचरद्रोणदुधाश्चरन्ति मूर्ताः समाज्ञा इव मण्डलस्य ॥ ६२ ॥

कुत्रापि कस्मिन्नपि स्थाने क्वचन गुर्जरदेशप्रदेशे यस्य देशस्य गोचरे गवा चरणस्थाने । द्रोणपरिमाण दुग्धमासामिति द्रोणदुधा गावश्चरन्ति । 'चर गतिभक्षणयो.' अय प्रयोगः । सृणादि भक्षयन्ति । गाव. कि क्रियमाणा । दम्यैर्वत्सतरैरनुगम्यमानाः । स्वप्रौढवत्ससहिता इत्यर्थः । पुनः कि कुर्वाणाः । सरिद्वराया गङ्गायाः सखिता श्वैत्यात्सादृश्यं दधाना बिभ्रत्य. । इवोत्प्रेक्ष्यते—मण्डलस्य गुर्जरदेशस्य मूर्ता शरीरसयुक्ताः समाज्ञाः कीर्तय इव ॥

गावः क्वचिद्भ्रान्ति सुधामुधाकृत्पयःस्रवन्त्यः प्रविभाव्य वत्सान् ।

यदीर्ष्यया निष्ठितनाकभाग्यैरिवावतीर्णा भुवि देवगावः ॥ ६३ ॥

क्वचित् प्रदेशे गावो धेनवो भ्रान्ति । कि कुर्वन्त्य. । सुधा पीयूष सुधा स्वमाधुर्यातिशयान्निष्फला करोति तादृश पयो दुग्ध स्रवन्त्य । कि कृत्वा । वत्सास्तर्णकानात्मनीयवत्सरूपाणि प्रविभाव्य दृष्ट्वा । इवोत्प्रेक्ष्यते—यदीर्ष्यया गुर्जरदेशेन सममरूपया । ईर्ष्योद्भूतपापेनेति शेषः । निष्ठितैः समग्रभुक्त्या अतिदुरितोदयेन वा क्षीणैर्नाकस्य स्वर्लोकस्य भाग्यैः पुण्यैः भुवि क्षोण्यामुर्व्यामदतीर्णाः समागता देवगावः कामधेनव इव ॥

ब्रह्माण्डभाण्डोपरिभित्तिभागप्रोत्तानयानोद्भवदतिभाजः ।

सातं चरन्त्यः किमुपेत्य धात्र्यां स्वर्धेनवो यत्र विभान्ति गावः ॥६४॥

यत्र देशे गावो भान्ति । किमुत्प्रेक्ष्यते—ब्रह्माण्डभाण्डस्य भुवनगोलकस्योपरितनभि-
त्तिभागे ऊर्ध्वकुब्जप्रदेशे प्रोत्तानयानमम्बुप्रतिबिम्बवदूर्ध्वपादमधोवपुरेवविध यद्गमन ते-
नोद्भवन्ती प्रादुर्भवन्तीमर्ति पीडाम् । ‘पीडा बाधातिराभीलम्’ इति हैम्याम् । चिन्ता
वा भजन्तीति तादृशः सत्यः धात्र्या भूमौ उपेत्यागत्य सात सुख यथा स्यात्तथा चरन्त्य
स्वैर गच्छन्त्यः । अथ वा । स्वेच्छया तृणाद्याहरन्त्यः । ‘चर गतिभक्षणयो’ इति धा-
तोर्गमनभक्षणार्थत्वात् । स्वर्धेनव कामगव्य इव । प्रोत्तानयान नैषधे यथा—‘वैदर्भाकेलि-
शोभे मरकतशिखरादुज्जितैरशुदर्भे ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया हीधृतावाङ्मुखत्वे ।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशे गताग्रैर्यद्गोप्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृ-
म्भते स्म ॥’ इति ॥ इति गोधेनव ॥

यस्मिश्च राजर्षियशोमरन्दवृन्दारविन्दैः पुटभेदनान्तः ।

द्वात्रिंशता श्रीऋषभादिसार्वचैत्यैर्विलेसे दशनैरिवास्ये ॥ ६५ ॥

यस्मिन्देसे च पुन पुटभेदनान्तः । अणहिलपटकनामपत्तनमध्ये । किं च सामान्य-
तौऽपि पुटभेदनशब्देन नगरमुच्यते । नैषधे यथा कुण्डिनपुरम्—‘द्वीपान्तरेभ्यः पुटभेदन
तत्क्षणादवापे सुरभूमिभूपै’ इति । विशेषस्तु ‘पत्तन रत्नयोनिस्तत्पत्तन पुटभेदनम्’ ।
द्वात्रिंशता द्वात्रिंशत्सख्याकैः श्रिया युक्तानाम् ऋषभादीनां सार्वानां जिनानां चैत्यैर्दन्त-
पङ्क्तयेव एकैव श्रेण्या स्थापितैः एकस्मिन्नेव प्रासादे । द्वात्रिंशत्प्रासादा दन्तद्वात्रिंशिका-
विहारः । तैर्द्वात्रिंशद्विहारैर्विलेसे शुशुभे । कैः । राजर्षेः कुमारभूपालस्य यशासि कीर्तयस्ता-
न्येव मरन्दानां मकरन्दानां वृन्दानि पटलानि तेषामरविन्दानि कमलानि तैः । के क-
स्मिन्निव । दशनैरास्य इव । यथा वक्त्रे दन्तैर्विलस्यते ॥

श्रीस्तम्भतीर्थं पुटभेदनं च यत्रोभयत्र स्फुरतः पुरे द्वे ।

अहम्मदाबादपुराननाया किं कुण्डले गूर्जरदेशलक्ष्म्याः ॥ ६६ ॥

यत्र देशे उभयत्र द्वयोः पार्श्वयोः द्वे पुरे नगरे विभातः शोभेते । द्वे के । एकः श्रिया
जलविनन्दनया युक्तः स्तम्भतीर्थं च पुनर्द्वितीयः पुटभेदनं बृहत्पत्तनम् । इवोत्प्रेक्ष्यते—अह-
म्मदाबादपुरं साप्रतीनसमये राजधानी राजनगरमेवाननं वदनं यस्यास्तादृश्या गूर्जरदेश-
लक्ष्म्या द्वे कुण्डले कर्णाभरणे इव ॥

विभूतिभाक्कालभिदङ्कदुर्गं क्रीडत्कुमारः सकलाधरश्च ।

अहीनभूषः सवृषः सुपर्वसरस्वतीभृद्भववद्धभौ यः ॥ ६७ ॥

यो देशो भववदीश्वर इव बभौ भाति स्म । किंभूतो देशो भवश्च । विशिष्टा भूति
लक्ष्मी विभूति सपदं वा भस्म च भजतीति । ‘भूतिस्तु भस्मनि । मासपाकविशेषे च स-

पदुत्पादयोरपि' इत्यनेकार्थः । पुनः किभूतः । काल कलिकालं सर्वदापि सर्वसुखानुभवन-
त्वाद्यन्मण्डले कलियुगस्य प्रवेशमात्रमपि नास्तीति । तथा—दैत्य कालनामान भिनत्तीति
कालभित् । पुनः किभूत । अङ्गे क्रोडे दुर्गा कोट्या. पार्वती च यस्य सोऽङ्गदुर्गः । पुनः
किभूत । क्रीडन्तो विविधबालावस्थोचितकेलिपरायणा रममाणा कुमारा बालका । तथा
क्रीडन् बालवयोयोग्या यौवनसमययोग्या वा क्रीडा विलास कुर्वन्कुमार. स्वामिकार्तिको
यस्य यत्र वा स क्रीडत्कुमार । पूर्व हि तारकासुराभिभूता पुरदरप्रमुखा. सर्वे सुराः
विधातु पार्श्वे गत्वा स्वदेवीरत्नमञ्जूषाग्रहणसुरद्रुमोन्मूलनादिममात्मपराभव निवेदयामासुः ।
तदनु ब्रह्मणोक्तम्—'प्राग्नेन दुस्तपस्तप्त्वा मामति प्रसन्न प्रणीय सप्तवासराशिशु मुक्त्वा
पर कश्चित्सुरो नरो वा मा हन्तु न शक्नुयादिति मत्तो वर जग्राह । ततः स्वयमुत्तवि-
ष्वक्षोऽपि स्वेनैव छेत्तुमसाप्रतम् । तस्मान्ममैवाय हन्तुमनुचित । ततो यदा ईश्वर पा-
र्वतीं परिणेष्यति तत्सुतः सप्तमे दिने युष्माक सेनानीत्वमङ्गीकृत्य तारक हनिष्यति' ।
ततो मुदिता देवाः । स्वस्थानमागत्य काम प्रेषितः । स शम्भुना भस्मीकृतः । ततो गौ-
रीतपसा प्रीत ईश्वर परिणिनाय । तत्पुत्रः स्वामिकार्तिको जात —इति कुमारसम्भवे ।
पुनः किभूत । कलाश्चतु षष्टिर्द्वासप्ततिश्च धरन्तीति तादृशैः स्त्रीपुरुषैः सह वर्तते यः ।
पक्षे कला षोडशांशः षोडश कला बिभर्तीति तादृशेन शशिना सह वर्तते यः । पुनः
किभूतः । अहीना सपूर्णम् । तथा अहीना सर्पाणामिनः स्वामी तेन भूषा शोभा यस्य । पुनः
किभूत । वृषेण धर्मेण वृषभेन वर्तते यः । पुनः किभूतः । सुशोभनानि पर्वाण्यक्षततृती-
यादीनि सरस्वती नाम्नी नदी सुरसरित वा बिभर्तीति ॥

यत्रैकदेशे वपुषीव वक्रः श्रीधानधाराभिधमण्डलोऽस्ति ।

स्वर्लोकजैत्रैर्विभवैरिव स्वैरधःकृतो येन भुजंगलोकः ॥ ६८ ॥

त(य)त्र गुर्जरदेशे एकदेशे एकस्मिन् भूभागे स प्रसिद्धो धानधाराभिधमण्डलोऽस्ति ।
क इव । वक्र इव । यथा वपुषि शरीरे एकदेशे मुखमास्ति । वक्रशब्दः पुनपुसकलिङ्गयोः ।
येन धानधारदेशेन स्वर्लोकस्य जैत्रैर्जयनशीलैः स्वैर्विभवैः स्वश्रियामतिशयैर्भुजगलोको नाग-
लोको बलिवेश्म अधः कृतो हीनीकृतस्तिरस्कृतः स्वाधो विहितः ॥ इति देशवर्णनम् ॥

अथ प्रह्लादनपुरवर्णनावसर —

सवाडवे श्रीपुरुषोत्तमाङ्गे नाथे नदीनामिव तत्र देशे ।

प्रह्लादन नाम पुर चकास्ति पुरः प्रतिच्छन्द इवाद्रिदस्योः ॥ ६९ ॥

प्रह्लादन नाम पुर नगर चकास्ति दीप्यते । कुत्र । देशे । किभूते । तत्र—गुर्जर-
मण्डलस्यैकपार्श्ववतिनि धाराधराख्यमण्डले । उत्प्रेक्ष्यते—नदीनां नाथे इव समुद्रे ।
किभूते देशे समुद्रे च । सह वाडवैर्विप्रैर्वाडवेन वाडवानलेन च वर्तते यः स सवाडवस्तस्मिन् ।
पुनः किभूते । श्रिया विविधविभवेन शोभया वा युक्ता । पुरुषोत्तमा प्रकृष्टनरा व्यवहारि-
प्रमुखा, लक्ष्मीकृष्णौ च, अङ्गे उत्सङ्गे पथ्ये यस्य स श्रीपुरुषोत्तमाङ्गस्तस्मिन् । पुरमुत्प्रे-

क्ष्यते—अद्रिदस्योरिन्द्रस्य पुरो नगर्या अमरावत्याः प्रतिच्छन्दः प्रतिबिम्बमिव । समुद्र-
जले प्रतिबिम्बमुचितमेव ॥

इदं पुरा सारदलैः प्रणीय त्वष्ट्रावशिष्टैरिव तदलांशैः ।

दृक्कर्णगीर्वाणपुरे प्रणीते न चेत्किमाभ्यामतिरिच्यते तत् ॥ ७० ॥

त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा दृक्कर्णानां नागानां गीर्वाणानां देवानां पुरे नगरे प्रणीते निर्मिते
इवोत्प्रेक्ष्यते । किंभूते । अवशिष्टैः शेषैरुद्धतैस्तस्य सारस्य दलानि तेषामशैर्लवैरिव
कृते । किं कृत्वा । पुरा पूर्वं सारदलैः प्रधानद्रव्यैरिदं प्रह्लादनाहं पुरं प्रणीय निष्पाद्य ।
एव चेन्न तर्हि प्रह्लादनपुरमाभ्यां नाकिनागपुराभ्यां कथं केन प्रकारेण अतिरिच्यते अ-
धिकीभवति । श्रियेति शेषः ॥

रघूद्वहोपक्रममब्धिमध्यस्थायीव सेतुः शशिकान्तकृतः ।

चन्द्रार्चिराश्लेषविनिर्यदर्णःपूर्णान्तिकः कापि चकास्ति यस्मिन् ॥ ७१ ॥

यस्मिन् प्रह्लादनपुरे कापि कुत्रापि स्थाने शशिकान्तैश्चन्द्रोपलैः कृतो रचितः सेतुः
पथा चकास्ति । नगरवर्णने च चन्द्रकान्तसूर्यकान्तमया सेतवो वर्ण्यमाना दृश्यन्ते ।
यथा नैषधे—‘रविकान्तमयेन सेतुना सकलाहर्ज्वलनोहितोष्मणा’ इति । किंभूतः ।
चन्द्रस्यार्चिषः कान्तेराश्लेषेण सपर्केण विनिर्यद्भिर्गच्छद्भिरर्णोभिः पानीयैः पूर्णे पूरिते भ-
रिते अन्तिके समीपे द्वे पार्श्वे यस्य स । क इव भाति । रघूद्वहोपक्रमसेतुरिव । यथा रघू-
द्वहेन नन्दनेन रामेण आदावुपक्रान्तः मन्दोदरीप्रमुखसपादलक्षान्तपुरीपतित्वेऽपि
परदारातिलम्पटतया स्वभगिनीशूर्पनखाव्यावर्णिताद्वैतरूप[प]लक्ष्मीसमाकर्णनतत्सद्गमो-
त्सुकितदशमस्तकापहतस्वकान्तासीतानयनाय लङ्कागमनावसरे रघुनन्दनेन समुद्रोपक-
ण्ठादारभ्य लङ्का यावन्निबद्ध इत्यर्थः । तादृशः सेतुश्चकास्ति । किंभूतः । अब्धेर्दक्षिण-
समुद्रस्य मध्ये विचाले तिष्ठतीत्येवशीलः ॥

क्वचित्पुरं प्रत्यफलत्तटाकोदरे जगत्पत्तनजित्वरश्चि ।

येनाभिभूतिगमिता महेन्द्रपुरीव दुःखादिह दत्तज्ञम्पा ॥ ७२ ॥

जगता त्रयाणां भुवनानां पत्तनानां यावन्नगराणाम् । अत्र पत्तनशब्दः सामान्यतः पु-
रनगरवाची । न विशेषद्योतकः । जित्वरी जयनशीला पुनर्द्वावे ईकारो गतः । श्री सपत्न्य
शोभा वा यस्य तत्तथोक्तं पुरं नगरम् । क्वचित्कुत्रापि समीपभूभागभाजि तटाकोदरे सरो-
मध्ये प्रत्यफलत्प्रतिबिम्बति स्म । नैषधेऽपि नगरस्य जलाशये प्रतिफलनं दृश्यते । यथा—
‘विललास जलाशयोदरे क्वचन द्यौरनुबिम्बितेव या’ इति । इवोत्प्रेक्ष्यते—येन प्रह्लाद-
पुरेण अभिभूतिं स्वाद्वैतश्रिया पराभवगमिता प्रापिता सती दुःखाज्जगत्समक्षस्वविजयकर-
णजाता सा तादृशे तटाकोदरे दत्ता ज्ञम्पा अगाधतलमध्ये सपातपाटवयया तादृशी
महेन्द्रपुरिन्द्रनगरीव अमरावतीव ॥

कपालिमित्रं त्रिशिराः कुबेरः पिशाचकी पुण्यजनः पतिर्मे ।

तन्नाभिगम्यः किमितीत्वंरीव त्यक्त्वा तमागादलकेयमुर्व्याम् ॥ ७३ ॥

यत्पुर भातीति सबन्धः । किमुत्प्रेक्ष्यते—इय प्रत्यक्षलक्ष्या अलका धनदपुरी उर्व्या भूमण्डले आगादायाता । कि कृत्वा । त्यक्त्वा मुक्त्वा । कम् । त धनदपतिम् । केव । इत्वं-रीव । यथा पाशुला धनदमपि स्वकान्त विहाय स्वाभिमतोऽन्यपुंसि रता परपृथिव्यामा-गच्छति । किमिति हेतोः । त हेतु दर्शयति—यस्मान्मे मम पतिरेवविधः कपालिनो रुद्रस्य रुण्डमालिनो योगिनो वा मित्र सुहृद् एतावता भिक्षुकः । पुन किभूत । त्रीणि शिरासि मस्तकानि यस्य इति बीभत्स । पुन किभूत । कुत्सित निकृष्ट बेर शरीर यस्येति कुरूप । पिशाचाश्छलकारिणो देवविशेषा यस्येति छलावेशादिदोषभीति । पुन किभूत । पुण्यजनो राक्षसः इति क्रूर । ‘यक्षो नृधर्मधनदौ नरवाहनश्च’ इति यक्षापरा-भिधानम्, तथा ‘यक्ष पुण्यजनो राजा’ इति द्वयमपि हैम्याम् । तत्त्वतस्तु सर्वाण्यपि धनद-नामानि । तत्तस्मात्कारणान्नाभिगम्यः न सेव्य ॥

रामायुतैस्ताक्षर्यशतै रमाभिः प्रद्युम्नकोट्या शतशूरवंशैः ।

जितेन कृष्णेन पुरी स्वकीयोपदीकृतेयं किमु मण्डलस्य ॥ ७४ ॥

पुर भातीति सबन्धः । किमुत्प्रेक्ष्यते—कृष्णेन नारायणेन मण्डलस्य देशस्योपदीकृता दौकिता इय प्रह्लादनपुरलक्षणा स्वकीया पुरी द्वारकेव । किभूतेन कृष्णेन । जितेनार्था-द्गूर्जरदेशेन । कै । रामाणामयुतै । अयुत दशसहस्री स्यात् । बहुवचनत्वाल्लक्षसख्यैः । रामो बलभद्र, रामा. स्त्रिय । समासान्तपदेन कोऽपि भेद । ताक्षर्याणां शतै शतसख्यैः । उपलक्षणत्वात्सहस्रलक्षसख्यैः । ताक्षर्यो गरुडो वाजी च । पुन काभि । रमाभिर्विविध-प्रकाराभिर्धनधान्यरूपाभिर्लक्ष्मीभिः सपद्भिः । पुन कै । प्रद्युम्नानां न्यायमार्गोपाजि-ताना बहुसततिस्थायिना वा युम्नानां द्रव्याणां कोट्या शतलक्ष्या । प्रद्युम्नो मदन । पुन कै । शतसहस्रसख्यै शूराणां सुभटानां वशैरन्वयैः कुलैः । शूरनामा यादवपूर्वजहरिव-श्यनृप । कृष्णस्य तु एतत्सर्वेऽप्येकैका इति पराजयः ॥ इति समुदायेन प्रह्लादनपुरवर्णनम् ॥

अथ पृथक्पृथक्वर्णनेषु प्रथम प्रह्लादनपार्श्वनाथवर्णनप्रस्ताव —

प्रह्लादनाच्चन्द्र इवाङ्गभाजामन्वर्थनामाजनि यो जगत्याम् ।

प्रह्लादनः पार्श्वपतिः स तत्र प्रह्लादनाद्दे व्यलसद्विहारे ॥ ७५ ॥

तत्र प्रह्लादनपुरे प्रह्लादन इत्याह्वा नाम यस्य तस्मिन्विहारे चैत्ये । पालहविहार इति लोके प्रसिद्धे । स जाग्रन्महिमा प्रह्लादनो नाम पार्श्वपतिर्व्यलसद्विलसति स्म । स क । य. पार्श्वनाथोऽङ्गभाजा प्राणिना प्रह्लादनादानन्दोत्पादनाजगत्या क्षितौ विश्वे वा । ‘स्याल्लोको विष्टप विश्व भुवन जगती जगत्’ इति हैमीवचनात् । अन्वर्थमनुगतार्थ सत्यार्थ नाम यस्य स तथोक्त । अजनि सजातः । क इव । चन्द्र इव । यथा चन्द्रो-ऽङ्गिनामाह्लादनादनुगतार्थो जायते । ‘चदि आह्लादे’ । चन्दत्याह्लादयति जनानिति चन्द्र ॥

यदीयमूर्तिर्निरमापि भक्त्या प्रह्लादनान्ना पुरि राणकेण ।

तस्याजयस्येव नृपस्य पार्श्वोऽप्यामापहः स्नानजलेन जज्ञे ॥ ७६ ॥

प्रह्लादनान्ना राणकेन पुरि स्वनगरे भक्त्या सेवासक्त्या । अर्बुदशैलाचलदुर्गशिखर-
स्थचतुर्वदनप्रासादमध्यगतैकपित्तलमयप्रतिमागालनादुत्पन्नकुष्ठादिमहामयेन निजरोगाप-
गमनचिकित्साप्रश्नादनु नवीनश्रीपार्श्वनाथप्रतिमाप्रासादनिर्माणत्तवाङ्गात्समग्ररोगाः
शान्तिं यास्यन्तीति सातिशयज्ञानवत्साधुसिन्धुरवचसा यदीया श्रीप्रह्लादनपार्श्वनाथसब-
न्धिनी मूर्तिः प्रतिमा निरमापि कारिता । अपि पुन स पार्श्वनाथस्तस्य प्रह्लादनराणकस्य
स्नानजलेन आमान् रोगान् कुष्ठादीनपहन्तीति आमापहस्तादृशो जज्ञे जातः । कस्येव ।
अजयस्येव । यथा पद्मावतीवचनात् जलदगजिततडित्प्रचण्डपवनादिविघ्नोपशान्तिकृते स-
मुद्रसलिलान्तरालाकर्षणस्वयानपात्रे निवेशनान्निविघ्नद्वीपवन्दिरागतरत्नसारव्यवहारिसमा-
नीतार्पिताजयपार्श्वनाथो दशरथपितुरजयनाम्नो नृपस्य राज्ञ सप्तोत्तरशतरोगापहन्ता जातः ।
एतद्विस्तरस्त्वग्रे वक्ष्यते ॥

प्रदेहि नः साक्षरतामबाह्यां बाह्यामिवाख्यातुमितीव पार्श्वः ।

भोगैर्निजैः पञ्चशतीमिताभिर्यः सेव्यते विश्वलयुक्पुरीभिः ॥ ७७ ॥

पञ्चशतीमिताभिरर्धसहस्रप्रमाणाभि विश्वल इति पूर्वप्रयुक्तेन शब्देन युञ्जन्ति योग
प्राप्नुवन्तीति ताश्च ताः पुर्यश्च ताभिः । वीसलपुरीनामनाणकविशेषैरित्यर्थः । कर्त्रीभिर्नि-
जैरात्मीयैर्भोगैः पूजादिप्रकारैर्यः पार्श्वनाथः सेव्यते उपास्यते । इत्याख्यातुं वक्तुमिव ।
इति किम् । यन्नोऽस्माकमबाह्यामन्तरङ्गा साक्षरता प्रदेहि प्रयच्छ । कामिव । बाह्यामि-
व । यथास्माक बाह्या साक्षरता अक्षरयुक्ततास्ते । एतावता प्रत्यह पञ्चशतीवीसलपुरी-
णां श्रीपार्श्वनाथस्य भोगो जायते ॥

स्वचोक्षभावेन जिता जिनेन निर्मातुकामा इव तत्प्रसत्तिम् ।

यत्राक्षता मूढकसमिता यच्चैत्येऽनिश प्रागुपजग्मिवास ॥ ७८ ॥

यत्र नगरे यस्मिन्प्रह्लादनविहारे अनिश निरन्तरं प्रतिदिनं मूढकसमिता मूढकप्र-
माणा अक्षता निस्तुषा कलमा प्राक् पूर्वं श्रीमज्जगच्चन्द्रसूरिवारके उपजग्मिवास आग-
च्छन्तोऽभूवन् । उत्प्रेक्ष्यते—जिनेन श्रीपार्श्वनाथेन स्वस्यात्मनश्चोक्षभावेन निर्मलाशयत्वेन
जिता अभिभूताः सन्तस्तस्य श्रीप्रह्लादनपार्श्वस्य प्रसत्तिं प्रसादना निर्मातुकामा कर्तुमि-
च्छन्त इवागताः । एतावता प्रह्लादनविहारे नित्यमेकमूढकमाना अक्षता आयान्ति स्मे-
त्यर्थः ॥

उद्वेगभावं स्वमिवापकर्तुं श्रीपार्श्वभर्तुः परिशीलनाभिः ।

नित्यं कलासंख्यमणप्रमाणान्यस्मिन्पुनः पूगफलान्युपेयुः ॥ ७९ ॥

अस्मिन्चैत्ये प्रह्लादनविहारे नित्यं प्रत्यहं कलाः षोडश तत्सख्यानां मणानां चत्वारिंश-

त्सेरमितानां प्रमाण येषा तानि पूगफलानि क्रमुकीसस्यानि । 'पूगे क्रमुकगीवाकू तस्यो-
द्वेग पुनः फलम्' इति हैम्याम् । उपेयुः पुरा आगच्छन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—श्रीपार्श्वभर्तुः
परिशीलनाभिः सेवाभिः कृत्वा स्व स्वकीयमुद्वेगभाव निर्वेदत्वमपकर्तुं हन्तुमिव । एता-
वता चैत्ये प्रत्यह षोडशमणपूगीफलान्यागच्छन्ति स्म ॥

अशीतिरस्मिन्नधिकाश्चतुर्भिर्महेभ्यमुख्याः श्रितशीकरीकाः ।

सुरा विमानैरिव याप्यमानैः सागत्य शृण्वन्ति गिरं गुरूणाम् ॥८०॥

अस्मिन् प्रह्लादनपुरे चतुर्भिरधिका अशीति । चतुरशीतिरित्यर्थः । महेभ्यमुख्याः प्रकृष्ट-
व्यवहारिणोऽर्थात् प्रह्लादनपार्श्वनाथ प्रणम्य गुरूणा धर्माचार्याणा गिर वार्णीं देशना शृ-
ण्वन्ति स्म शुश्रुवुः । किभूता । श्रिताः शीकर्यो महेभ्यताया राजमान्यताया वा चिह्न-
विशेषा यैः आसन्नविशेषा वा छत्राकृतयो वा । फिरङ्गदेशप्रसिद्धाः । कि कृत्वा । आगत्य ।
कैः । याप्यमानैः शिबिकाभिः । कैरिव । विमानैरिव । यथा देवा विमानैरागच्छन्ति ॥

अथ रत्नपुरुषोत्पत्तिस्थानकता कविर्दर्शयति—

वपुःश्रिया भर्त्सितमच्छकेतुरद्वैतवैराग्यरसाम्बुराशिः ।

लब्धीर्दधानो विविधाश्च वज्रस्वामीव विश्वागमपारदृश्वा ॥ ८१ ॥

सोमादिमः सुन्दरसूरिसिंहः प्राग्वाटवंश्यो निजजन्मना यत् ।

साकेतमिक्ष्वाकुकुलावतंसो महोक्षलक्ष्मेव पुरापुनीत ॥ ८२ ॥

प्राग्वाटाना वंशे भवः प्राग्वाटवंश्यः । सोम इति शब्द आदिमः प्रथमो यस्य स सु-
न्दरनामा सूरिष्वाचार्येषु सिंहो मुख्यः । 'सिंहशार्दूलनागाद्याः प्रशस्यार्थप्रकाशकाः' इति
हैमीवचनात् । एतावता श्रीसोमसुन्दरसुरीन्द्र निजस्यात्मन उत्पत्त्या कृत्वा यत्प्रह्लाद-
नपुर पुरा पूर्वमपुनीत पवित्रीचकार । क इव । महोक्षलक्ष्मेव । यथा इक्ष्वाकूणा कुलस्य
वंशस्य अवतसः शेखरः श्रीवृषभलाञ्छनो जिनो भाविनि भूतोपचारात् । साकेत को-
शला नगरीं स्वजन्मना पावनीकरोति स्म । सूरिः किविशिष्टः । वपुषः शरीरस्य श्रिया
शोभया भर्त्सितो न्यकृतो मच्छकेतुर्मानध्वजो मदनो येन । पुनः किभूतः । अद्वैतोऽसा-
धारणो यो वैराग्यरसः ससारविरक्तताशान्ततादिरूपः तस्याम्बुराशिः समुद्रः । पुनः कि
कुर्वाणः । दधानो विभ्राणः । काः । विविधा नानाप्रकारा लब्धीः सामर्थ्यविशेषान् । च
पुनः किभूतः । विश्वे समस्ताः स्वदर्शनपरदर्शनसक्ता ये आगमाः शास्त्राणि तेषां पार-
दृष्टवानिति पारदृश्वाः । स्वसमयपरसमयपारगामी । क इव । वज्रस्वामीव यथा वज्रस्वामी
पूर्वोक्ताविशेषणविशिष्टोऽजनिष्टः ॥ युग्मम् ॥ इति नररत्नखनिर्नगरम् ।

अथ मुख्यतो नगरवर्णनम् । तत्रादावुपवनं वर्ण्यते—

विभाति यत्रोपवनं विनिद्रत्सान्द्रद्रुमद्रोणिमिलद्विहङ्गम् ।

भूवास्तुपौलस्त्यपुरीभ्रमेण तामन्वितं चित्ररथं किमेतत् ॥ ८३ ॥

यत्र प्रह्लादनपुरे उपवन समीपोद्यान विभाति शोभते । किभूतम् । विनिद्रन्तो विक-
स्वरीभवन्तस्तथा सान्द्रा सच्छाया घनपत्रच्छन्ना वा ये द्रुमा वृक्षास्तेषां द्रोणिः श्रेणिः ।
'भिल्ली पल्लवशङ्कया विचिनुते सान्द्रद्रुमद्रोणिषु' इति चम्पूकथायाम् । द्रोणिः श्रेणिरिति
तद्विप्पनके । तथा 'द्रोणी तु नीवृतिः । नौभेदे शैलसधौ वा' इत्यनेकार्थः । 'द्रोणी द्रोणिरि-
दन्तः श्रेण्यामपि' इत्यनेकार्थावचूरिः । तत्र मिलन्तो विहङ्गा पक्षिणो यत्र तत् । किमु-
त्प्रेक्ष्यते—भुवि पृथिव्या वास्तु गृहं यस्याः । वास्तुशब्देन गृहमपि । यथा नैषधे—'याव-
त्पौलस्त्यवास्तूभवदुभयहरिल्लोमलेखोत्तरीये' इति । सा पौलस्त्यपुरी घनदनगरी तस्या भ्र-
मेण शङ्कया तामन्वितमनुपृष्टे समेत तच्चक्षुर्गोचरतामगच्छत् । चैत्ररथ वैश्रवणोद्यानमिव ॥

आमुष्मिकामैहिकवत्समीहां निर्माहि नः पूरयितुं प्रभूष्णून् ।

विज्ञीप्सवः पार्श्वमितीव यत्र प्राप्ता द्रुमाङ्गा इव कल्पवृक्षाः ॥ ८४ ॥

यत्रोपवने द्रुमा वृक्षास्त एवाङ्गं शरीरं येषां ते कल्पवृक्षाः प्राप्ताः समेताः । उत्प्रेक्ष्यते—
पार्श्वं प्रह्लादनपार्श्वनाथमित्यमुना प्रकारेण विज्ञीप्सवो विज्ञापितुं विज्ञप्तिकां कर्तुमिच्छन्
इव । इति किम् । हे पार्श्वप्रभो, त्वं नोऽस्मानैहिकवत् इहलोकसबन्धिनीमिव आमु-
ष्मिका परलोकसबन्धिनीमपि समीहा वाञ्छां पूरयितुं प्रदातुमर्थात्सुरासुरनराणां प्रभू-
ष्णून् समर्थान् निर्माहि ॥

अथ वने षडृतूनां सत्तां दर्शयति—

श्रीनन्दन हीरकुमाररूपं यस्या भविष्यन्तमवेत्य मन्ये ।

साहायकायास्य समं समेत्य सर्वतवस्तद्विपिनं भजन्ते ॥ ८५ ॥

सर्वे वसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्तशिशिरनामान् ऋतवः समयविशेषाः समः समकालः
समेत्यागत्य तस्यां पुर्यास्तदेव वा विपिनं वनं भजन्ते सेवन्ते । तत्राहमेव मन्ये जानामि
विचारयामि वा । हीरकुमारस्य रूपं स्वरूपं यस्य तादृशं श्रीनन्दनं कामं यस्यां पुर्यां
भविष्यन्तं भावितमवेत्य ज्ञात्वा अस्य स्मरस्य प्राग्वत्साहायकाय सहायककार्यायेव वनं
श्रयन्ते ॥ इति समुदायेन सर्वतव ॥

अथ प्रथमं वसन्तऋतु —

यत्र भ्रमद्भृङ्गरसालमाला विलोक्य कूजत्कलकण्ठबालाः ।

रतीशवीरस्तृणवत्रिलोकीमजीगणन्निस्तुलशस्त्रलाभात् ॥ ८६ ॥

यत्र वने भ्रमन्तो मकरन्दपानार्थमितस्ततः पर्यटन्तो भृङ्गा मधुकरा यासु तादृश्यो
रसालमाला सहकारपङ्क्तिर्विलोक्य निस्तुलानामसाधारणानां प्रतिभटकोटीभिरप्यभिभ-
वितुमशक्यानां शस्त्राणामायुधानां लाभात्प्राप्ते । रतीशवीरः स्मरसुभटत्रिलोकीं जगत्रयीं
तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशान्नाकिनागनागरान् तृणवत्तृणमिव अजीगणत् गणयति स्म मन्यते
स्म वा न किभूता रसालमाला । कूजन्त्यः पञ्चमध्वनिमुद्गावयन्त्यः कलकण्ठानां कोकि-
लानां बालाः स्त्रियो यासु ताः ॥

चूतप्ररोहायुधकिशुकार्धचन्द्राशुगाना दलवर्मितानाम् ।

यद्भूरुहां स्वर्दुजयोद्यतानामदुन्दुभीयन्त पिकाः कणन्तः ॥ ८७ ॥

स्वर्भूरुहा कल्पवृक्षाणा जयाय पराभवायोद्यताना प्रगल्भमानाना कृतोद्यमाना यस्य वनस्य भूरुहा तरूणा कणन्त कूजन्त पिकाः कलकण्ठा अदुन्दुभीयन्त दुन्दुभय इवाचरन्ति स्म । किभूताना भूरुहाम् । चूताना माकन्दाना प्ररोहा अङ्कुरास्त एवायुधानि प्रहरणानि येषा ते तथा किशुकानि पलाशकुसुमानि तान्येवार्धचन्द्राकारा आशुगा बाणा येषा पश्चात्कर्मधारयः । पुनः किभूतानाम् । दलैः पत्रैः कृत्वा वर्मिताना सनाहिताना कवचयुक्तीभूताना तथा दलानि सैन्यानि कर्माणि कवचास्तानि सजातानि एषामिति वा ॥

अथ ग्रीष्म —

बभे नभस्याम्बुधरायमाणतमालधारागृहधोरणीभिः ।

तपर्तुताम्यत्तनुकुञ्जलक्ष्म्याः सुसीमतायै किमनुष्ठिताभिः ॥ ८८ ॥

नभस्यस्य भाद्रपदस्य अम्बुधरो मेघस्तद्वदाचरन्तीभिस्तमालाना तापिच्छतरूणा धाराभिर्यन्त्रविशेषकृतजलधाराभिरुपलक्षिताना गृहाणा सौधाना धोरणीभिः श्रेणीभिर्बभे रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—तपर्तुना ग्रीष्मसमयेन ताम्यन्ती ग्लानि खेद वा गच्छन्ती तनुः शरीर यस्यास्तादृश्या कुञ्जलक्ष्म्या वनश्रिया सुसीमतायै शीतलताकृते । ‘शीते तुषारः शिशिरः सुसीमः शीतलो जडः । हिमः’ इति हैम्याम् । किभूताभिः । अनुष्ठिताभिः कृताभिर्यज्जनैस्तया वा ॥

अथ वर्षा—

श्रीहीरवीक्षोत्सुकिता इवान्तर्नेत्राणि विस्मेरमणीचकानि ।

धाराकदम्बा दधतेऽत्र सत्रा सान्द्रापनिद्रत्कुटजावनीजैः ॥ ८९ ॥

अत्रोपवने वाराभिर्मेघवृष्टिभिराहता आच्छोदिता कदम्बा नीपद्रुमास्ते विस्मेराणि विकचानि मणीचकानि कुसुमानि दधते धारयन्ति । कथम् । सत्रा सार्धम् । कैः । सान्द्रा स्निग्धा अपनिद्रन्तो विकसन्तो ये कुटजा गिरिमल्लिका एवावनीजा द्रुमास्ते । इवोत्प्रेक्ष्यते । अन्तश्चित्ते श्रीभिर्युक्तस्य हीरकुमारस्य वीक्षाया दर्शने उत्सुकिता उत्कण्ठिता सन्तो विनिद्रनेत्राणीव दधते ॥

अथ शरत्—

सप्तच्छदान्स्पर्धितदानगन्धीन्रोलम्बरावाकुलितान्विलोक्य ।

विरोधिकुम्भिभ्रममादधाना धावन्ति मुग्धा इह सिन्धुरेन्द्राः ॥ ९० ॥

इह वने मुग्धा मूर्खा मदोद्धततया किमप्यविदन्तो वा सिन्धुरेन्द्रा गजराजा अभिमुखा धावन्त्यभिमुख गच्छन्ति । कि कुर्वाणा । विरोधिकुम्भिना प्रतिभटगजानां भ्रम आन्ति आदधाना बिभ्रते । कि कृत्वा । सप्तच्छदान् सप्तपर्णद्रुमान् विलोक्य । किभूतान् ।

स्पर्धितः स्पर्धाविषयीकृतो दानस्य निजमदाम्बुनो गन्धो यैस्तान् । पुनः किभूतान् ।
रोलम्बाना भ्रमराणा रावैर्गुञ्जितैराकुलितान् सशब्दान्सजातान् ॥

अथ हेमन्तः—

शाखाविशेषोन्मिषितप्रसूनान्शार्दूलबालानिव लोद्रसालात् ।

दृष्ट्वा हृदुत्पिञ्जलितैर्निकुञ्जे ललङ्घिरे तत्ककुभः कुरङ्गैः ॥ ९१ ॥

निकुञ्जे उपवने नगरोद्याने कुरङ्गैर्मृगैस्तेषा लोद्रद्रुमाणा ककुभो दिशो ललङ्घिरे उल्लङ्घिताः । पलायितैरित्यर्थः । किभूतैः । हृदि मनसि विषये उत्पिञ्जलत्व भृशमाकुलत्व जात येषा तै । कि कृत्वा । दृष्ट्वा । कान् । शाखाविशेषेषु शिखाग्रेषु उन्मिषितानि विकसितानि प्रसूनानि पुष्पाणि एषा तथोक्तान् । लोद्रा जातिविशेषा गान्धिकापणेषु प्रसिद्धा । साला. पादपास्तान् । कानिव । शार्दूलाना व्याघ्राणाम् । 'शार्दूलो राक्षसान्तरे । व्याघ्रेऽत्र पशुभेदे च सत्तमे तूत्तरस्थित' इत्यनेकार्थः । बालान् डिम्भानिव ॥

अथ शिशिरः—

पङ्क्तिप्ररूढैः प्रचलत्पतङ्गपोतैः प्रियङ्गुप्रकरैर्बभेऽस्मिन् ।

वनश्रियाः प्रावरणैरिवान्तर्विच्छित्तिमद्भिस्तुहिनद्विषद्भिः ॥ ९२ ॥

अस्मिन् पुरो वने प्रियङ्गुप्रकरैः फलिनीपटलैः बभे । किभूतैः । पङ्क्त्या श्रेण्या प्ररूढैरुद्भूतैः । पुन किभूतैः । प्रचलन्तोऽन्तः सचन्तः पतङ्गाना विहङ्गाना पोता शिशवो येषु ते तै । उत्प्रेक्ष्यते—वनश्रिया उद्यानलक्ष्म्या प्रावरणैरिव प्रच्छादनैरिव । पुन किभूतैः । विच्छित्तिमद्भि रचनाञ्चितैः । पुन किभूतैः । तुहिनस्य हिमस्य । शीतस्येत्यर्थः । द्विषद्भिः शत्रुभिर्निवारकैः ॥

दृग्दानदासीकृतदेववन्याः प्रगल्भसे त्वं पुरतः कियन्मे ।

वनश्रियाश्चैत्ररथं किमित्थ दन्ता हसन्त्या इव भान्ति कुन्दाः ॥ ९३ ॥

कुन्दा मुचकुन्दतरवो भान्ति शोभन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—इत्थममुना प्रकारेण चैत्ररथमलकाकानन प्रति हसन्त्या पराभूतिगर्भ हास्य सृजन्त्या वनश्रिया प्रह्लादनगरोपकाननलक्ष्म्या दन्ता दशना इव । इत्थं कथम् । हे चैत्ररथ, दृग्दानेनैव समुखावलोकनेनैव दासीकृता किकर्यो देवाना वन्यो यावत्काननानि यया । 'स्ववनीसप्रवदत्पिकापिका' इति नैषधे । तादृश्या मे मम पुरोऽग्रे त्वं कियत् प्रगल्भसे कियन्तमुत्साह वहसे । मत्पुरस्त्व न किमपीत्यर्थः ॥

इति षट्पदम् ।

क्रीडत्तुरङ्गद्विपपद्मनेत्राः क्रीडासरस्यो विपिने विरेजुः ।

उच्चैःश्रवःस्वर्द्धिरदाप्सरस्काः सुधापयोधे, प्रतिमा इवैताः ॥ ९४ ॥

यस्येति सबन्धः । विपिने क्रीडार्थं सरस्यो महान्ति सरांसि विरेजुर्भान्ति स्म । कि-
भूताः । क्रीडन्तो जलकेलि कुर्वन्तस्तुरङ्गा अश्वा द्विपा हस्तिन पद्मनेत्रा विलासवत्यश्च
यासु ताः । इवोत्प्रेक्ष्यते—सुधापयोधेः क्षीरसमुद्रस्यैताः क्रीडासरस्यः प्रतिमाः प्रतिबि-
म्बानीव । किभूताः । उच्चैःश्रवा इन्द्राश्च, स्वर्द्धिरद ऐरावतः, अप्सरसः उर्वश्यादयो यासु
ता । सर्वेषा क्षीरसमुद्रसमुत्पन्नत्वेन ॥

मधुप्रधावन्मधुकृन्निरुद्धैर्जाम्बूनदैर्यत्र बभेऽरविन्दैः ।

सरःश्रियामाभरणैरिवान्तःसंदर्भगर्भीभवदश्मगर्भैः ॥ ९५ ॥

यत्र वने जाम्बूनदैः सौवर्णैररविन्दैः कमलैर्बभे बभासे । 'विकसितकनककमलकुवलयो-
च्छलितरजःपुञ्जपिञ्जरितराजहसावतसया' इति चम्पूकथाया स्वर्णकमलसद्भावः । किभूतैः ।
मध्वर्थं मकरन्दकृते प्रधावन्तो दूरादाग्राय त्वरितमागच्छन्तो मधुकृतो भ्रमरास्तैर्निरुद्धै-
र्व्याप्तैः । उत्प्रेक्ष्यते—सरःश्रिया तटाकलक्ष्मीणामाभरणैर्भूषणैरिव । किभूतैः । अन्तर्मध्ये
सदर्भो विविधरचना येषां तादृशा गर्भीभवन्त कुक्षौ सपद्यमाना अश्मगर्भा मरकतम-
णयो येषु तैः ॥

पत्रान्तराजज्जलबिन्दुवृन्दैः सरःसु यस्मिन्स्मितपुण्डरीकैः ।

अदीपि मुक्ताकलितातपत्रैर्नन्दीसरःश्रीजयिनामिवैषाम् ॥ ९६ ॥

यस्मिन् वने सरःसु अर्थादुपवनमध्यस्थक्रीडातडाकेषु स्मितैर्विकसितैः पुण्डरीकैः श्वेत-
कमलैरदीपि व्यराजि । किभूतैः । पत्रान्तेषु पलाशप्रान्तेषु राजन्तो जगन्भागिति कान्त्या
दीप्यमाना ये बिन्दवः सलिलकणास्तेषां वृन्दानि येषु तैः । इवोत्प्रेक्ष्यते—नन्दीसरःश्रीज-
यिना शक्रसरसीलक्ष्मीजित्वराणाम् । 'मघवास्य तु । (अस्येन्द्रस्य) द्विषः पत्नी सुतः' इ-
त्याद्यारभ्य 'हाहादयस्तु गन्धर्वा' इति यावत्सर्वेऽप्यस्य हरेरिति व्याख्येयमिति हेमचन्द्र-
हार्दम् । तेनेन्द्रसर इति । एषा सरसा मुक्ताकलितातपत्रैर्मुक्ताजालकयुक्तच्छत्रैरिव ॥
इति वनक्रीडातडाकाः ॥

दृक्कर्णवेणी कलकण्ठकण्ठी बिम्बाधरा सिन्धुरराजयाना ।

प्रसूननेत्रा स्तवकस्तनी च भुक्ता वनश्रीरिह गन्धवाहैः ॥ ९७ ॥

इह स्थाने पुरीबहिःपरिसरे वनश्रीरुद्यानलक्ष्मीर्गन्धवाहैर्भुक्ता विलसिता । अन्यापि
स्त्री वने गन्धस्य मृगनाभिचन्दनादिसौरभस्य वाहैर्धारकैर्युवभिर्भुज्यते । किभूता वनश्री-
स्त्री च । दृक्कर्णा भुजङ्गा एव तत्तुल्या च वेणी कबरी यस्या सा । पुनः किभूता । ए-
कोऽपि चकारः सर्वत्रापि योज्यः । कलकण्ठानां कोकिलानां कण्ठो ध्वनिर्यस्या तत्तु-
ल्यश्च ध्वनिर्यस्याः सा । 'कण्ठो ध्वनौ सनिधाने ग्रीवाया मदनद्रुमे' इत्यनेकार्थः । च पुनः
किभूता । बिम्ब बिन्व गोहूक वा तदेव तत्सदृशश्च अधर ओष्ठो यस्याः । पुनः किभूता ।

सिन्धुराजाना गजेन्द्राणां यान गमन तद्वद्वा गतिर्यस्याः । च पुनः किभूता । प्रसून पुष्प-
मेव तत्समान नेत्र नयन यस्या । च पुनः किभूता । स्तबकौ कुसुमगुच्छौ एव तत्स्वरूपौ
स्तनौ कुचौ यस्याः सा ॥ इति प्रह्लादनपुरोपवनवर्णनम् ॥

कम्प्रेण वप्रेण वसुप्रभेणासतीव यूना सह संसिस्तक्षुः ।

दूतीं चिकीर्षुः परिखामिवास्य स्थितानुबिम्बेन निकुञ्जलक्ष्मीः ॥ ९८ ॥

निकुञ्जलक्ष्मीर्वनश्रीरनुबिम्बेन प्रतिबिम्बितेन कृत्वा स्थिता । अर्थात् परिखापयसि
तिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अस्य पुरस्य परिखा दूती सदेशहारिका स्वेच्छया परदारपुरुषेषु
सचारभाजोरभिसारिकयोः पुरुषयोषितोर्मिथः सदेशादीनुक्त्वा दत्त्वा च मिथः सगमकारि-
कावार्ता चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुरिव स्थिता । दूतीकरणे हेतुमाह—वनश्रीः किं कर्तुमिच्छुः ।
संसिस्तक्षुः । सङ्गः कर्तुमिच्छुः । ‘निर्वापयिष्यन्निव संसिस्तक्षुः’ इति नैषधे । केन । वप्रेण
प्राकारेण । ‘वप्रत्रय चारुचतुर्मुखाङ्गता’ इति हैम्याम् । तथा ‘वप्र प्राकाररोधयोः । क्षेत्रे
तते चये रेणौ’ इत्यनेकार्थः । किभूतेन । कम्प्रेण मनोज्ञेन । ‘काम्य कम्प कम्पनीयम्’ इति
हैम्याम् । वसूना मणीना प्रभा कान्तिर्यत्र । केव । असतीव । यथा पासुला स्त्री केनापि
यूना सङ्गः कर्तुकामा कामपि समीपवर्तिनीं दूती कर्तुमिच्छन्ती तद्रूपे उपेत्य तिष्ठति । कि-
भूतेन यूना । कम्प्रेण स्वकामुकेन । ‘कामुकः कामिता कम्पः’ इति हैम्याम् । पुनः किभूतेन ।
वसुभिर्द्रव्यैः प्रकर्षेण भातीति । ‘वसुः स्वादौ रत्ने कृद्बौषधे धने’ इत्यनेकार्थः ॥

स्वर्जिष्णुपुर्याः परिखाप्लवङ्गरावैरुदस्यात्मतरङ्गहस्तान् ।

अदःपुरस्ते कियती विभूतिर्वस्वोकसारामिति गर्हतीव ॥ ९९ ॥

स्वः स्वर्गस्य जिष्णोर्जयनशीलाया पुर्याः प्रह्लादननगर्याः परिखा स्वनिका । उत्प्रे-
क्ष्यते—आत्मनस्तरङ्गानेव हस्तानुद्यम्य ऊर्ध्वोऽकृत्य प्लवङ्गरावैर्मण्डूकशब्दैर्वस्वोकसारामि-
नदनगरीम् । इत्यमुना प्रकारेण गर्हति निन्दतीव । यददः पुरः अस्याः नगर्याः अग्रे ते
विभूतिः समृद्धिः कियती कियत्प्रमाणा । न किमपीत्यर्थः । इहाखिलेऽपि काव्ये केवल-
मुत्प्रेक्षैव । अन्यत्र ग्रन्थादावप्येव कापि दृश्यते । यथा नैषधे—‘सिन्दूरद्युति मुग्धम्-
र्धनि वृतस्कन्धावधिश्यामिके व्योमान्तःस्पृशि सिन्धुरेऽस्य समरागम्भोज्जुरे धावति । जा-
नीमो नु यदि प्रदोषतिमिरव्यामिश्रसव्याधियेवास्त यान्ति समस्तबाहुजभुजातेजः सहस्रा-
शवः’ ॥, ‘अविरलमिदमम्भः स्वच्छयोच्छालयन्त्या विकचकमलकान्तोत्तानहस्तद्वयेन ।
परिकलित इवार्थः कामबाणातिथिभ्यः सलिलमिव वितीर्ण बाल्यलीलासुखाय ॥’ इति
चम्पूकथायाम् । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥

पिपासितं रोचकितं च रङ्गं वाः पायितुं चारयितुं च शष्पान् ।

चन्द्रः किमागात्परिखेन्दुबिम्बपश्यैर्व्यमशीति जनै रजन्याम् ॥ १०० ॥

परिखायां खातिकाजले इन्दोश्चन्द्रस्य बिम्बः प्रतिबिम्बं पश्यन्तीति परिखेन्दुबिम्ब-

पश्यास्तैर्जनैर्लोकै रजन्या रात्रौ इत्यमुना प्रकारेण व्यमर्शि वितर्क्यते स्म । इति किम् । पिपासितं तृषितम् । च पुनः रोचकितं बुभुक्षितम् । 'बुभुक्षायामशनाया जिघत्सा रोचको रुचिः' इति हैम्याम् । रोचकः संजातोऽस्येति रोचकितस्त रङ्गमुत्सङ्गमृगं वा पानीयं पायितुं च पुनः शष्पात्रीलतृणाश्चारयितुम् । किमुत्प्रेक्ष्यते—इह परिखायां चन्द्र आगादिव ॥ इति पुरपरिखा ॥

नमःपरीरम्भणलोलुभैर्यद्वप्रो मणिश्रेणिमहःप्ररोहैः ।

घनान्विनाखण्डलधन्वदण्डमकाण्डमाडम्बरयन्निवास्ते ॥ १०१ ॥

यद्वप्रो यस्य प्रह्लादनपुरस्य वप्रः प्राकारास्ते वर्तते । उत्प्रेक्ष्यते—मणिश्रेणीनां रत्नराजीनां महःप्ररोहै रोचिरङ्कुरैर्घनान् मेघान्विना । अन्येष्वपि ऋतुषु मेघागमः कालानुभावेन भवत्येव । माघेऽपि मेघस्य दृश्यमानत्वात् । तथा प्रावृट्कालेऽपि कदाचिज्जलधारा भवन्ति न भवन्ति चेति कलियुगे नियमो न दृश्यते, अतः प्रोक्तं प्रावृषविना मेघानपि विना चेति । अकाण्डः प्रावृषमन्तरेण आखण्डलधन्वदण्डमिन्द्रधनुर्यष्टीमाडम्बरयन् प्रकटयन्निवास्ते । रत्नकान्तिरिन्द्रधनुकारा निर्यान्ति । किभूतैः प्ररोहैः । नभस आकाशस्य परीरम्भणमालिङ्गनं तत्र लोलुभैर्लालसैः ॥

सालोऽदसीयः ससनातनश्रीः कपाटपक्षश्च सुवर्णकायः ।

विगाहमानो गगनं कथं न लभेत ताक्ष्येण सदृक्षभावम् ॥ १०२ ॥

अस्याः पुर्या अयमदसीयः । 'नासादसीया तिलपुष्पतूणम्' इति नैषधे । सालः प्राकारः ताक्ष्येण गरुडेन सदृक्षभावः सादृश्यं कथं केन प्रकारेण न लभेत प्राप्नुयात् । अपि तु प्राप्नोत्येवेति । किभूतः सालो गरुडश्च । सह सनातनया अनश्वरया नित्यस्थायुकया । 'सदा सनानिश्च शश्वत्' इति हैमीवचनात् । श्रिया अद्वैतशोभया विष्णुलक्ष्मीभ्यां च वर्तते यः । 'दामोदर शौरिसनातनौ विधुः' इति हैम्याम् । स च पुनः किभूतः । कपाटावेव तत्तुल्यौ पक्षौ यस्य सः । स च पुनः किभूतः । सुवर्णस्य हेम्नः कायोऽङ्गः यस्य स हिरण्यमयः । पुनः किं कुर्वाणः । गगनमाकाशमुच्चैस्त्वेन भ्रमणेन च विगाहमानः स्वगोचरीकुर्वाणः ॥

मणीघृणिश्रेणिधुतान्धकारैरभ्रकषैर्यत्कपिशिर्षिकौघैः ।

यानश्वरोदित्वरकर्मसाक्षिलक्षेव पूर्वदक्षजनैरलक्षि ॥ १०३ ॥

दक्षजनैर्विदग्धलोकैर्यां प्रह्लादनपुरी अनश्वराः शाश्वता उदित्वरा उदयशीलाः कर्मसाक्षिणो भास्करास्तेषां लक्षाः शतसहस्राणि यस्यामेवविधेः वालक्षि दृश्यते स्म । कैः । अभ्रकषैर्गगनोल्लेखिभिर्यत्कपिशिर्षिकाणामटालकानामोघैः समूहैः । किभूतैः । मणीघृणीनां रत्नकान्तीनां श्रेणीभी राजीभिर्धुतानि दलितान्यन्धकाराणि यैः ॥

चन्द्राश्मवेश्मसितमुद्रहन्ती कटाक्षयन्ती सितकेतनैश्च ।

युवेव जायां नगरीमिवैतां क्रोडीकरोति प्रणयेन वप्रः ॥ १०४ ॥

वप्रः प्राकारः प्रणयेन स्नेहेन । 'प्रणयः स्नेहयाञ्जयोः । विस्त्रम्भे प्रसरेऽपि च' इत्यनेकार्थः । उत्प्रेक्ष्यते—एता नगरीं क्रोडीकरोति आलिङ्गतीवेत्युत्प्रेक्षा । 'आलिङ्गन परिष्वङ्गपरी-
रम्भ क्रोडीकृतिः' इति हैम्याम् । वास्तवार्थे तु मध्येकरोति इत्यर्थः । क इव । युवेव ।
यथा युवा तरुणः स्नेहेन जाया पत्नी क्रोडीकरोति परिरम्भते । किभूतां पुरीं जाया
च । चन्द्राश्मवेश्मानि विधुकान्तरत्नघटितगृहाणि तान्येव तत्तुल्य च स्मित हसित-
मुद्रहन्तीं बिभ्रतीम् । पुन किभूताम् । सितकेतनैरुज्ज्वलपताकाभि कृत्वा कटाक्षयन्ती
कटाक्षान्सृजन्ती मुञ्चन्तीम् । 'कटाक्षाः कृष्णाः श्वेताश्च' वर्ण्यः । इति काव्यकल्पलता-
याम् ॥ इति प्राकारः ॥

स्वर्वालवेश्मावनिवास्तुशस्तवस्तुव्रजात्मंभरिगर्भगेहैः ।

यत्रापणैः कुत्रितयापणानां वंश्यैरिवावाप्यत कापि लक्ष्मीः ॥ १०५ ॥

यत्र पुर्यामापणैर्हृदैः काप्यनिर्वचनीया लक्ष्मीः शोभा अवाप्यत प्राप्ता । उत्प्रेक्ष्यते—
कुत्रितयापणानां कूना स्वर्गनागलोकभूलोकनाम्ना भूमीना त्रितय त्रिकम् । त्रैलोक्यमित्यर्थः ।
तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशात्त्रिभुवने विद्यमानसकलपदार्थसार्थास्ते मन्त्रतन्त्रादिविधिनाराध्यमानैः
पूर्वमित्रैर्वा देवैः संपूर्यते (पण्यन्ते) एष्विति ते कुत्रिकापणास्तेषां वंश्यैः कुलेषूद्भवैरिव ।
किभूतैरापणैः । स्व स्वलोके, व्यालवेश्मनि नागलोके पाताले, अवनौ भूमण्डले च
वास्तु स्थान येषां तादृशा शस्ता सर्वोत्कृष्टा प्रशस्या वस्तुव्रजा धनधान्यवस्त्रादिपदा-
र्थसार्थास्तैरात्मभरयो भृतमध्या गर्भगेहा गर्भागाराणि अपवरकादिस्थानानि येषां ते ।
'कुमुदमकरन्दौघैः कुक्षिभरिर्भ्रमरोत्कर' इति नैषधे । कुक्षिभरिर्भृतमध्य इति तद्वृत्तौ ॥

बाह्लीककालागुरुगन्धसारसारङ्गनाभीहिमवालुकाभिः ।

सद्भिः समाज्ञाभिरिवादसीयापणैरवास्यन्त दिशोऽप्यशेषाः ॥ १०६ ॥

अदसीयापणैः पुरीसबन्धिभिर्हृदैरशेषाः समस्ता अपि दिशोऽवास्यन्त सुरभी-
क्रियन्ते । काभिः । बाह्लिकानि कुङ्कुमानि कालागुरव काकतुण्डा, गन्धसाराश्चन्दना
सारङ्गनाभ्य कस्तूरिका । कस्तूरीवाच्यपि नाभिःशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । यथा नैषधे—
'गोरोचनाकुङ्कुमचन्दनैर्गन्धनाभीविलेपान्पुनरुक्तयन्ति' इति । हिमवालुका कर्पूरास्ताभिः ।
काभिरिव । समाज्ञाभिरिव । यथा—सद्भिरुत्तमैः समाज्ञाभिः स्वकीर्तिभिर्दिशो वास्यन्ते ॥

यदापणश्रेणिषु सान्द्रचान्द्रक्षोदेषु गाङ्गास्त्रिव वालुकासु ।

मौग्ध्येन नीलैरिव काचगोलैः क्रीडन्ति डिम्भाः स्फुरदिन्द्रनीलैः ॥ १०७ ॥

यदापणश्रेणिषु पुरीविपणिपङ्क्तिषु डिम्भा महेभ्यबालकाः क्रीडन्ति रमन्ते । केषु ।

सान्द्रचान्द्रक्षोदेषु स्निग्धेषु निविडेषु वा कर्पूराणां चूर्णेषु । केन । मौग्ध्येन ज्ञानेन । कास्विव । वालुकास्विव । यथा गाङ्गासु गङ्गासबन्धिनीषु पुलिनसिकतासु कुमाराः क्रीडन्ति, तथैव घनसारचूर्णेषु रमन्ते इति कर्पूरपारीप्राचुर्यात्तत्क्षोदास्तु बहिः क्षिप्यन्ते । कैः । स्फुरन्तो दीप्यमाना ये इन्द्रनीला नीलमणयो मरकतरत्नानि तैः । कैरिव । काचगोलैरिव । यथा—शिशवः काचानां क्षारमृद्विकाराणां गोलैर्गुटकैः शङ्खा इति प्रसिद्धैः खेलन्ति । किमूतैः । नीलैर्हरिद्वर्णैः । अनेन विशेषणेन मणिरत्नबाहुल्यमपि प्रतिपादितम् ॥ इति हृदाः ॥

यच्चान्द्रचामीकरवेश्मचन्द्रचण्डार्चिषौ गर्भगताङ्गिरावैः ।

मिथः किमित्युन्नयतोऽभियातिर्जेयः कथं राहुरजय्यवीर्यः ॥ १०८ ॥

यस्याः पुर्याश्चान्द्राणां चन्द्रकान्तमणीनां (चान्द्राणां सौवर्णानाम्?) । 'चन्द्रोऽम्बु-
काम्ययोः । स्वर्णे सुधाशौ कर्पूरे कम्पिल्ले मेचकेऽपि च' इत्यनेकार्थः । (चामीकराणां सौवर्णानाम्) चन्द्रोपलैः स्वर्णैश्च घटिते कापि वेश्मनि गृहे एव चन्द्रचण्डार्चिषौ विद्यु-
भास्करो तौ गर्भे गृहमध्ये गतानां प्राप्तानामङ्गिना मनुष्याणां रावैर्मिथोवार्तादिशब्दैः
मिथः परस्परमित्यमुना प्रकारेण । किमुत्प्रेक्ष्यते—उन्नयतः किम् । विचारयत इव । 'वितर्क-
स्यादुन्नयन परामर्शो विमर्शनम्' इति हैम्याम् । इति किम् । यत् अजय्य जेतुम-
शक्यं वीर्यं पराक्रमो यस्य तादृशो राहुरभियातिः शत्रुः । कथं केन प्रकारेण आत्मभ्या-
मावाभ्या वा जेतो जेतव्यः । पराभवगोचरीकर्तव्य इति ॥

शशाङ्कबिम्बं कुलिशाङ्गणान्तर्दृष्ट्वा वृणानानिह मुग्धडिम्भान् ।

विलोभ्य केलीकलहंसबालैराश्वासयन्ति स्म कथंचिदम्बाः ॥ १०९ ॥

इह पुरि मुग्धानविदग्धान् डिम्भान् बालकान् केलीकृते क्रीडार्थम् । 'नित्योद्द्योतपद-
समस्तकमलाकेलीगृहं राजते' इति पूर्वाचार्यप्रणीतचिन्तामणिपार्श्वनाथस्तोत्रे । रक्षिता
ये राजहंसबालकास्तैर्विलोभ्य लोभयित्वा अम्बा जनन्य कथंचिन्महता कष्टेन आश्वास-
यन्ति । किङ्कुर्वाणान्बालान् । वृणानान् याचमानान् । किं कृत्वा । दृष्ट्वा प्रेक्ष्य । किम् ।
शशाङ्कबिम्बं चन्द्रबिम्बम् । क । कुलिशैर्हीरकैर्बद्धानाम् । 'शुचीमुखं तु हीरकं । वरा-
टकं रत्नमुख्यं वज्रपर्यायनाम च' इति हैम्याम् । बद्धानां निमित्तानामङ्गणानां गृहाजिरा-
णामन्तर्मध्ये ॥

चन्द्रोदये चन्द्रिकान्तगर्भसंदर्भशृङ्गस्त्रवदम्बुपूरैः ।

शिरःस्फुरत्सिद्धधुनी धरेन्द्रो यत्रानुचक्रे कलधौतसौधैः ॥ ११० ॥

यत्र पुरे चन्द्रोदये विधोरभ्युद्गमकाले कलधौतसौधैः रूप्यमन्दिरैः शिरसि मस्तके स्फु-
रन्ती प्रसरन्ती वहन्ती वा सिद्धधुनी गङ्गा यस्य तादृशो धराणां पर्वतानामिन्द्रो राजा

हिमाचलः । 'अद्रिराण्मेनकाप्राणेशो हिमवान्' इति हैम्याम् । अनुचके सदृशीकृतः । किभूतैः सौधैः । चन्दिरकान्तानां चन्द्रोपलानाम् । चन्दिर इति चन्द्रमा शेषनाममालायाम्, अन्येष्वपि ग्रन्थेषु दृश्यते । गर्भे मध्ये सदर्भो रचना येषां तादृशेभ्यः शृङ्गेभ्यः स्रवन्तो नि सरन्तोऽम्बुपूराः पयः प्रवाहा येषु तैः ॥

वातातिवेल्लङ्घजपल्लवाग्रकरेण रावेण च किङ्किणीनाम् ।

या वैभवस्पर्धितया मघोनः पुरी सयादाह्वयतीव योद्धुम् ॥ १११ ॥

या नगरी वैभवेन स्वलक्ष्म्या सार्धं स्पर्धितया सहर्षभावेन मघोनः शक्रस्य पुरीममरावती स्मयादहकाराद्योद्धुः सग्रामं कर्तुम् । उत्प्रेक्ष्यते—आह्वयत्याकारयतीव । केन । वातेन वायुना अत्यतिशयेन वेल्लन्तश्चञ्चलीभवन्तो ये ध्वजपल्लवा पताकावस्त्राणि तेषामग्रं स एव करो हस्तस्तेन । च पुनः केन । किङ्किणीनां क्षुद्रघण्टिकानां रावेण शब्देन ॥

श्रीवत्सरामाङ्गजकम्बुताक्ष्यचक्राङ्कितैर्मारकितैर्निकेतैः ।

जज्ञे मुकुन्दैरिव यत्र चित्रमेतत्परं धेनुकमद्विषद्भिः ॥ ११२ ॥

यत्र मरकतानामिमानि मारकतानि अश्मगर्भसबन्धीनि तैर्निकेतैर्गृहे । 'शङ्के स्वसकेतनिकेतमाप्ता' इति नैषधे । मुकुन्दैः कृष्णैरिव जज्ञे जातम् । अत्र बहुवचनं बहुवासुदेवापेक्षया, महत्त्वख्यापनार्थं वा । यथा च जिनशतके—'यत्क्रमाश्चक्रिणो वा' इति । किभूतैर्गृहे, कृष्णैश्च । श्रीलक्ष्मी, वत्सास्तर्णकाः, श्रीवत्सो हृदयचिह्नम् । उत्तमपुरुषाणां वक्षसि लक्षणविशेषः । रामा स्त्रियः, रामो बलभद्रश्च । अङ्गजा नन्दना, अङ्गजः कामश्च । कम्बवः शङ्खा, कम्बु पाञ्चजन्यः । गृहेषु कम्बवो दृश्यन्ते । यथा नैषधे—'बहुकम्बुमणिर्वराटिका—' इति । ताक्ष्या अश्वाः, ताक्ष्यो गरुडश्च । तेषां चक्राणि समूहा, चक्रं सुदर्शनं च । तैरङ्कितैः सहितैः । परं केवलमिदं चित्रमाश्चर्यम् । यन्निकेतैर्वेतुक्रं धेनुसमहो गोकुलमद्विषद्भिः पालयद्भिः । 'धेनूनां धेनुकं येन्वन्तानां गोधेनुकादयः' इति हैम्याम् । कृष्णैस्तु धेनुकनामा असुरस्त द्विषद्भिर्द्रुह्यद्भिस्तस्य द्विषद्भिः शत्रुभिर्वा घातुकैः ॥

एतज्जगज्जित्वरलक्ष्मिवीक्षाक्षणोदिताद्वै(द्भू)तकुतूहलेन ।

शङ्के त्रिदश्यः स्तिमितीभवन्त्यो विभान्ति यद्वेश्मसु शालभङ्ग्यः ॥ ११३ ॥

यद्वेश्मसु पुरीमन्दिरेषु शालभङ्ग्यः पुत्रिका विभान्ति । तत्रैव शङ्के मन्ये । एतस्यां पुर्यां जगता त्रिभुवनपुरीणां जित्वर्यां जयनशीलायां लक्ष्म्यां वीक्षां विलोकनं स एव क्षणं उत्सवस्तेनोदितमुद्भूतं यत्कुतूहलं कौतुकं तेन स्तिमितीभवन्त्यो निश्चला जायमानास्त्रिदश्यो देव्य इव । लक्ष्मीशब्दः समासमध्ये ह्रस्वोऽप्यायाति । यथा ऋषभनम्रस्तवे—'वरणलक्ष्मिकरग्रहणोत्सवे' इति ॥

विष्णोर्निहन्तुं नरकं गतस्यौत्सुक्यात्क्रमान्निर्गलितेव गङ्गा ।

ज्यौत्स्नीषु यच्चान्द्रगृहच्युताम्भोधारा भुवं भूषयति स्म यस्मिन् ॥ ११४ ॥

यस्मिन् पुरे ज्यौत्स्नीषु पूर्णिमारात्रिषु यस्य पुरस्य चान्द्रगृहेभ्य चन्द्रकान्तमणिनिर्मित-
मन्दिरेभ्यश्च्युताना चन्द्रकिरणसपर्केण नि सृतानामम्भसा पानीयाना धारा प्रवाहः । 'प्र-
वाह पुनरोघ स्याद्वेणी धारा रयश्च स' इति हैम्याम् । भुव भूमी भूषयति स्म अलंकुरुते
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—औत्सुक्याद्वाभस्यान्नरक नरकनामान दैत्यमसुर निहन्तु गतस्य विष्णो
कृष्णस्य क्रमाच्चरणात् निर्गलिता निर्गत्य पतिता । 'विदत्यसव्ये मकरन्दलीला मन्दाकिनी
यच्चरणारविन्दे' इति नैषधे । गङ्गा भूमीमभ्येतीव ॥

ज्योतिस्तरङ्गीकृतयन्त्रिकेतहरिन्मणीशालिशिखा चकासे ।

इदंपदव्येव पतङ्गपुत्री नभः प्रयान्ती मिलितुं स्वतातम् ॥ ११५ ॥

ज्योतिर्भि कान्तिभिस्तरङ्गीकृताना कल्लोलयुक्तीकृताना यन्त्रिकेताना नगरीगृहाणा
हरिन्मणीभिर्नीलरत्नै शालते शोभते इत्येवशीला शालिनी शिखा उपरितनप्रदेश चकासे
शुशुभे दिदीपे वा । उत्प्रेक्ष्यते—इदंपदव्या एतन्नगर मन्दिरशिखरमार्गेण । 'इदयशासि
द्विषत सुधामुचे' इति नैषधे । 'अस्य कीर्तय' इति तद्वृत्तौ । समासान्त एव इदशब्दः ।
स्वतात भास्करम् । 'सूर्यजा यमी' इति हैम्याम् । तथा 'यावद्गङ्गा तपनतनयाभारतीना
समाजे' इति पूर्वकविकृतौ । मिलितु प्रयान्ती गच्छन्ती पतङ्गपुत्री यमुनेव ॥

गाङ्गेयगारुत्मतपद्मरागचन्द्राश्मवेश्मावलिरुल्लासः ।

प्रेयासमुद्दिश्य महीमहेन्द्रं पुरश्रिया क्लृप्त इवाङ्गरागः ॥ ११६ ॥

गाङ्गेयानि सुवर्णानि, गारुत्मतानि हिरण्मणयः, पद्मरागा रक्तोपला, चन्द्राश्मान श-
शिकान्तमणयः । तैर्निबद्धा घटिता वेश्मावलि सौधश्रेणिरुल्लास स्फुरति स्म । उत्प्रे-
क्ष्यते—महीमहेन्द्र भूमीवासव राजान स्वप्रेयास निजकान्त प्रत्युद्दिश्य पुरश्रिया नगर-
लक्ष्म्या अङ्गरागो विलेपन क्लृप्तो रचितः । अन्यापि स्त्री भर्त्रा सङ्ग चिकीर्षुर्वपुष्यङ्गराग
कुरुते ॥

वेश्माश्मगर्भाङ्कसिताश्मकुम्भं निभाल्य मुग्धाभ्रधुनीरथाङ्गयः ।

शशी स विश्लेषयिता द्विषन्नः क्रुधेति तं घ्नन्ति किमद्भिघातैः ॥ ११७ ॥

यस्येति सबन्धात् । वेश्मनि कापि नगरीगृहे अश्मगर्भाणा मरकतमणिनामङ्को मध्यो
यस्य तादृश सिताश्मना स्फटिकरत्नाना कुम्भ कलश निभाल्य दृष्ट्वा मुग्धा अचतुरा
अभ्रधुन्या गगनापगाया आकाशगङ्गाया रथाङ्गयश्चक्रवाक्योऽङ्घ्रीणा पदाना घातैः प्रहारैः
घ्नन्ति प्रहरन्ति । किमुत्प्रेक्ष्यते—इति क्रुधा घ्नन्ति । इति किम्—यत् नोऽस्माक द्विष-
न्नहित अत एव विश्लेषयिता वियोगकारकः स प्रसिद्धः शशी मृगाङ्क इति रुषा ॥

अर्काशुसपर्कचयार्ककान्तोद्भूतानलोमावनसनिभस्य ।

गेह्वाग्रशृङ्गस्थगजद्विषद्भिर्द्वैष्यैरघृष्यस्य कथंचनापि ॥ ११८ ॥

भियाभ्रमूवल्लभवाहनारेः प्रणश्य शङ्के शरणं श्रयन्तः ।

लघूभवन्मन्दरमुख्यशैलाः पुरस्य रेजुर्मणिहेमगेहाः ॥ ११९ ॥

पुरस्य मणिहेममया गेहा सौधा रेजुर्भान्ति स्म । तत्रैवमह शङ्के विचार-
यामि । अभ्रमूनामा हस्तिनी । अभ्रमूशब्दो दीर्घोकारान्तोऽप्यस्ति । ‘गजानामभ्रमू-
पतिः’ इति काव्यकल्पलतायाम् । तथा ‘अभ्रमूवल्लभारूढम्’ इति पाण्डवचरित्रेऽपि ।
तस्या वल्लभो भर्ता ऐरावणः स एव वाहन यान यस्येन्द्रस्य स एवारि शत्रुस्तस्य भिया
भयेन प्रणश्य स्वस्थानान्नष्टा पुरस्य शरणमाश्रयन्तो भजन्तस्तथा लघूभवन्तः स्वल्पतनवः
सपद्यमाना मन्दरमुख्याः । मन्दरो जैनमते मेरुः । शैवशासने तु मन्दरोऽन्य इन्द्रकील-
नामा मन्था नगः स एव प्रधान येषु ते शैलाः पर्वता इव । इह पुरे शत्रुप्रवेशाभावे कारण-
द्वयमाह—किभूतस्य पुरस्य । अर्कस्य भानोरश्वः किरणास्तेषां सपर्कः सगमस्तेन च-
यस्य वप्रस्य प्राकारपीठभूमिकासदृब्धेभ्योऽर्ककान्तेभ्यः सूर्यकान्तमणिभ्य उद्भूतः प्रकटी-
भूतो योऽनलो वह्निस्तेनोमावनसनिभस्य बाणासुरपुरसदृशस्य । तत्र हि वह्निप्राकारो-
ऽस्तीति ख्यातिः । तथा ‘यथोद्यमानः खलु भोगिभोजिना प्रसह्य वैरोचनिपुत्रपत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्ध वयसैव वेशितः ॥’ इति नैषधे । एतत्काव्यो-
परि पुरावृत्तमुच्यते—पूर्वं हि स्त्रीकार्यादन्यत्राजेयो भावीत्याराद्धगौरीपतिसुपर्वदत्तवरस्य
बाणासुरस्य उषानाम्या कन्यया गौरी कुलदेवीमाराध्य मम को भर्ता भविष्यतीति प्रश्ने
कृते प्रद्युम्ननन्दनोऽनिरुद्धो भावीति गौर्यां प्रोक्ते कथचित्कुमारिकया स आनाय्य परिणी-
तः । तामादाय गच्छन्तः ज्ञातव्यतिकरो बाणस्त निजित्य नागपाशैर्वद्धवान् । तत उषया कृष्ण-
प्रद्युम्नादयः तद्वाचिकं विज्ञापिताः । ततः कृष्णरामप्रद्युम्ना गरुडमारुह्य पावकप्राकारेऽपि
बाणपुरे गत्वा हरिर्बाणासुरः शतखण्डीकृत्योषायुक्तमनिरुद्धमादाय द्वारिकायामगादिति ।
पुनः किभूतस्य । गेहाना पुरसौधानामग्रशृङ्गाणि उपरितनशिखगणि तेषु तिष्ठन्तीति
तत्स्था गजद्विषन्तः सिंहास्तैः । पुरमन्दिरेष्वपि केसरिणा सद्भावो यथा—‘यदनेककमौ-
धकधरा हरिभिः कुक्षिगतीकृता इव’ इति नैषधे । कथचनापि महता प्रयासेनापि
द्वेष्यैर्वैरिभिरवृष्यस्यानाकलनीयस्य । गजयानस्य हि सिंहाङ्कितमार्गं समागमनमशक्यम् ।
कृशानौ तु सर्वथा प्रवेशोऽपि न स्यादत एतत्पुराश्रयणं शत्रुभयाभावात् ॥ युग्मम् ॥

बालारुणज्योतिरखर्वगर्वनिर्वासिमाणिक्यनिकाय्यकोटिः ।

व्यक्तीभवन्भात्यनुभूपकान्तं पुरश्रियोद्गीर्णं इवानुरागः ॥ १२० ॥

बालारुणस्याभ्युदयद्धानोज्योतिषा कान्तीनामखर्वमतिशयितं गर्वमहकारं निर्वास-
यन्ति निष्कासयन्ति निर्नाशयन्तीत्येवशीलानि यानि माणिक्यानि पद्मरागमणयः । निष्का-
य्यानां तन्मयानां गृहाणां कोटिर्विभाति शोभते । कापि माणिक्यशब्देन केवलरत्नमेव ।
कुत्रापि माणिक्यशब्देन पद्मरागमणयः । ‘रत्नं वसु मणिर्माणिक्यमपि’ इति हैमीवृत्तौ ।
‘आघ्रातं परिचुम्बितं परिमुहुर्लीढं च यच्चर्वितं यदूरं निहितं च नीरसतया तत्र व्यथा

मा कृथाः । अन्तस्तत्त्वविचारणान्धबधिरे तद्वानरेणाधुना रे माणिक्य तदेतदेव सुकृत
यच्चूर्णित नाश्मना ॥' इत्यत्र केवलमाणिक्यमेव । 'शिशुतरमहोमाणिक्यानामहर्मणिमण्डली'
इति नैषधे । प्रत्यग्रकिरणपद्मरागणामिति तद्वृत्तिः । उत्प्रेक्ष्यते—भूप नृपतिं भर्तारमनु-
लक्ष्यकृत्य पुरश्रिया उद्गीर्णा अत एव प्रकटीभवन् प्रकटो जायमानः अनुराग इव ॥

प्रीतादुपास्त्याधिगता गिरीशान्निरङ्कनैकाङ्गविधानविद्या ।

प्रपञ्चिता कौतुकिना किमेषा चन्द्रेण यच्चान्द्रगृहच्छलेन ॥ १२१ ॥

कौतुकिना कुतूहलाकलितेन चन्द्रेण एषा प्रत्यक्षलक्ष्या । निर्गतोऽङ्को लक्ष्म येभ्यस्तानि
नैकानि बहूनि यान्यङ्गानि शरीराणि तेषां विधान निर्माणं यस्यां तादृशी विद्या । यस्यां
नगर्याश्चान्द्रगृहाणां चन्द्रकान्तमणिमयमन्दिराणां छलेन कपटेन । किमुत्प्रेक्ष्यते—प्रप-
ञ्चिता विस्तारिता । किंभूता विद्या । अधिगता प्राप्ता । कस्मात् । गिरीशादीश्वरात् ।
किंभूतात् । उपास्त्या नित्यसेवया प्रीतात् । प्रसन्नीभूतादित्यर्थः । सतुष्टात् ॥ इति गृहाः ॥

यस्मिन्दिदीपे मधुदीपरूपश्रीगर्वनिर्वासिविलासिवृन्दैः ।

रूपस्मयं वीक्ष्य जयस्य तस्य मदच्छिदे किं विधिना प्रणीतैः ॥ १२२ ॥

यस्मिन् पुरे मधुदीपस्य मदनस्य रूपश्रिया शरीरसौन्दर्यलक्ष्म्या गर्वमभिमानं निर्वास-
यन्ति निर्दलयन्तीत्येवशीला ये विलासिनो भोगिनस्तेषां वृन्दानि तैर्दिदीपे चकासे ।
'मधुदीपमारौ मधुसारथिस्मरौ' इति हैम्याम् । किमुत्प्रेक्ष्यते—जयस्येन्द्रपुत्रस्य रूपस्मय
निजाङ्गचङ्गिमगर्वं वीक्ष्य दृष्ट्वा तस्य जयन्तस्य मदच्छिदे उन्मत्ततोच्छित्यै विधिना
धात्रा कृतैः प्रणीतैरिव ॥

मेरोः शिखाग्रावसथव्यथाभिरुत्तीर्य सातस्थितिमीहमानाः ।

यस्मिन्समेताः किमु नाकिशाखिव्रजा वदान्या व्यलसन्युवानः ॥ १२३ ॥

यस्मिन् युवानस्तरुणा व्यलसन् शुशुभिरे । किंभूताः । वदान्या दानशीला दान-
शौण्डा वा । किमुत्प्रेक्ष्यते—शिखाग्रे शिखरोपरि य आवसथो वसतिः स्थानं वासस्तेनो-
द्भवन्तीभिः प्रकटाभिर्जायमानाभिर्व्यथाभिरर्तिभिः कृत्वा मेरोः काञ्चनाचलादवतीर्य
भूमीमण्डले समेत्य सातस्थितिं सुखनिवासमीहमाना इच्छन्तो नाकिना शाखिनो देवतरवः
कल्पद्रुमास्तेषां व्रजा गणा यस्मिन् समेता इव सगता इव ॥

जितस्सरान्पौरजनान्निपीय मा तद्वृषस्यन्त्यसती सती स्तात् ।

इतीव योषावपुषा स्ववर्ष्म द्विषा मखस्य व्यतिसीव्यते स्म ॥ १२४ ॥

मखनाम्नो दैत्यस्य द्विषा वैरिणा शम्भुना । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोर्योषावपुषा पार्वती-
शरीरेण समं स्ववर्ष्म निजशरीरं व्यतिसीव्यते स्म परस्परं स्यूतं योज्यते स्म । इति किम् ।
यत् जितो रूपाभिभूतः स्मरः कामो यैस्तादृशान् पौरजनान् नगरतरुणान् निपीय सादर-
मवलोक्य सती पार्वती तद्वृषस्यन्ती रागोद्रेकात् कामातुरा तेषां कामुकी भवन्ती सती
सती अमती व्यभिचारिणी मा स्तात् भवतात् ॥ इति नागराः ॥

यस्मिन्विभान्ति स्म विलासवत्यः स्मरावरोधभ्रममुद्वहन्त्यः ।

किं शक्तयो मन्मथमेदिनीन्दोरमूरमोघास्त्रिजगद्विजेतुः ॥ १२५ ॥

यस्मिन् पुरे विलासवत्यः प्रमदा विभान्ति । किं कुर्वन्त्यः । स्मरावरोध कन्दर्पान्तः-
पुर रतिस्तस्य भ्रम भ्रान्तिम् । 'स्मरावरोधभ्रममावहन्ती' इति नैषधे दमयन्तीवर्णने । उद्व-
हन्त्यो विभ्रत्यः । किमुत्प्रेक्ष्यते—मन्मथमेदिनीन्दोर्मदननरेन्द्रस्य अमू प्रत्यक्षाश्चक्षुर्लक्ष्या
अमोघा अवन्ध्याः सफलाः शक्तयः प्रहरणविशेषाः । किंभूतस्य मन्मथस्य । त्रिजगतस्त्रि-
भुवनस्यापि विजेतु पराभवशीलस्य ॥

त्यक्ताश्रवःकञ्चुकिकामुकाभिः सकर्णयन्नागररागिणीभिः ।

स्वमन्दिरात्कुण्डलिनीभिरसिन्किमीयुषीभिः शुशुभेऽङ्गनाभिः ॥ १२६ ॥

अस्मिन् नगरे अङ्गनाभिः शुशुभे । किमुत्प्रेक्ष्यते—स्वमन्दिरान्निजनिकेतनान्नागलो-
कादीयुषीभिरागताभिः कुण्डलिनीभिर्नागाङ्गनाभिरिव । किंभूताभिः । त्यक्ता उज्झिता
अश्रवसः । अकर्णावधिरा इत्यर्थः । कञ्चुकिनः सौविदल्ला । कुब्जवामना इत्यर्थः । अथवा
कृत्रिमक्लीबाः कामुका कामयितारः कान्ता याभिस्ताभिः । पुनः किंभूताभिः । सकर्णाः
प्राज्ञा श्रोतारो वा यस्याः पुर्याः नागराश्छेकास्तेषु रागः स्नेहातिशयो विद्यते यासा
तास्ताभिः । तेष्वनुरागयुक्ताभिरित्यर्थः ॥

भान्ति स्म यस्मिन्सुमनोभिरामा रामा रमाधःकृतकामरामाः ।

स्वस्पर्धिनं येन रुषेव देवगृहं निगृह्याप्सरसो गृहीताः ॥ १२७ ॥

यस्मिन् नगरे रामा नागर्यो भान्ति स्म । किंभूताः । सुमनोभिः कुसुममालिकाभिः ,
अथवा सुमनस्त्वेन सतीत्वेन निष्पापत्वेन वा अभिरामा मनोहरा । पुनः किंभूता । रमाभिः
वपुः प्रियरूपकसुषमाभिरधः कृते ह्रीने विहिते तिरस्कृते कामस्य मदनस्य रामे रतिप्रीती
याभिस्ताः । इवोत्प्रेक्ष्यते—येन प्रल्हादपुरेण रुषा क्रुधा स्वस्पर्धिनः निजसमृद्ध्या सार्व-
स्पर्धाविधायिनः देवगृहं स्वर्गं निगृह्य पराजित्य वन्दीकृत्य गृहीता अप्सरसः स्वर्गवत् इव ॥

किमग्रदूत्यो मदनावनीन्दोः सख्योऽयं वा स्वर्वरवर्णिनीनाम् ।

भुजगमीना किमुतानुवादा यत्राब्जनेत्रा मदयन्ति चेतः ॥ १२८ ॥

यत्र पुरे अब्जनेत्रा कमललोचना सुदृशः चेतः अर्थाद्यन्ता मनः मदयन्ति उन्मा-
दयुक्तः कुर्वन्ति । किमुत्प्रेक्ष्यते—मदनावनीन्दोः स्मरराजस्य किम् अग्रदूत्यः प्रयमसदेश-
हारिका इव । अथ वा स्वः स्वर्गस्य वरवर्णिनीनां प्रधानस्त्रीणां रम्भाघृताचीतिलोत्तमा-
प्रमुखाणाम् अथवा पौलोमीप्रभृतीनां सख्यो वयस्यः किमु । उत पुनः । भुजगमीना
नागाङ्गनानामनुवादा अनुकारा इव ॥ इति नागर्यः ॥

इति प्रल्हादपुरवर्णनम् ।

तत्रास्ति भूमान्महमुन्दनामा स्थामैकभूर्भूवल्यैकवीरः ।

वधूर्नवोदेव दिने दिने भूः श्रियं दधौ यत्करपीडितापि ॥ १२९ ॥

तत्र देशे महमुन्द इति नामाभिधान यस्य तादृशो भूमान् पातिसाहिरिति म्लेच्छवश-
प्रसिद्धमधिपतिनाम । सोऽस्ति तत्समयानुसारेण बभूव । किभूतः । स्थान्नां पराक्रमा-
णामेकाद्वितीया भूः स्थानम् । पुन किभूत । भूवलयस्य भूमण्डले वा एकोऽसाधा-
रणो वीर सुभटः । स क । यस्य करेण राजदेयाशेन पीडिता सयुक्ता जाता भूर्वसुधा दिने
दिने श्रिय लक्ष्मीं धनधान्यादिका दधौ धारयति स्म अनेकलक्ष्मीवती भवति स्म ।
केव । वधूरिव । यथा नवोढा नवपरिणीता वधूर्वशा करेण पीडिता आश्लेषणादिक नीता
सती दिने दिने श्रिय शरीरोपचयलक्षणा शोभां धत्ते ॥

प्रजां द्विजिह्वैरिव पीड्यमानां कलेर्विलासैरवसाय विश्वाम् ।

तां शासितुं दाशरथिः किमात्तजन्मा स्वयं साहिरसौ बभासे ॥१३०॥

असौ महमुन्दनामा साहि पातिसाहिः बभासे राजते स्म । किमुत्प्रेक्ष्यते—ता
विश्वा वसुधा शासितु पालयितु स्वयमात्मना पुनर्द्वितीयवारमात्तजन्मा गृहीतावतारो
दाशरथी राम इव । कि कृत्वा । अवसाय विज्ञाय । काम् । विश्वा पृथ्वीम् । कि क्रियमा-
णाम् । कले कलियुगस्य विलासैर्विलसितैः पीड्यमाना सताप्यमानाम् । कामिव । प्रजा-
मिव । यथा प्रजा प्रकृति पुरदेशलोका द्विजिह्वैः पिशुनैः पीड्यमाना कश्चित्प्रशास्ति ॥

निस्त्रिशमन्थानगमथ्यमानमहाहवक्षीरधिजन्मना यः ।

वत्रे बलिध्वंसविधानधुर्यो जयश्रिया शत्रुरिवासुराणाम् ॥ १३१ ॥

य साहिर्जयश्रिया विजयलक्ष्म्या वत्रे वृत । क इव । असुराणां शत्रुरिव । यथा कृष्णो
जयेनोपलक्षितया श्रिया त्रियते । किभूत । यः बलिना बलवताम् । बल सैन्ये पराक्रमे च ।
रिपुनृपाणां बलेर्देत्यस्य ध्वंसविधानं वधकरणं तत्र धुर्यं समर्थं शत्रुवधविधायिना धुरि-
गण्यं । किभूतया जयश्रिया । निस्त्रिशं खड्गं स एव मन्थानगं मन्दराद्रिः । ‘मन्था-
नगं स भुजगप्रभुवेष्टिघृष्टिलेखाचलद्ववलनिर्झरवारिधारः’ इति नैषधे । वासुकेर्वैष्टन-
घर्षणजातासु लेखासु भ्रमन्त्यो धवला निर्झरवारिधारा यस्य स मन्थाः । मथिन्शब्दस्य
‘पथिमथ्यभुक्षामात्’ इत्यात्वे थेर्न्यादेशे रूपम् । नगं शैलं मन्दराद्रि—इति तद्वृत्तिः ।
तेन मथ्यमानो विलोड्यमानो यो महाहवो महासग्रामः स एव क्षीरधि दुग्धसमुद्रः तस्मा-
न्नन्मोत्पत्तिर्यस्याः सा तया ॥

अश्यामितास्यं कमलातिदानैर्जितैः प्रसत्तिप्रणिनीषयास्य ।

अभ्रैरिवाभ्राद्भुवमभ्युपेतैर्यद्भूभुजो गन्धगजैर्विरेजे ॥ १३२ ॥

यस्य भूभुजः साहेर्गन्धगजैः गन्धोपलक्षितैः सिन्धुरैः विरेजे शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—अभ्रादा-
काशाद्भुवः भूमीमभ्युपेतैः समागतैर्भूमीमभिलक्षीकृत्य । ‘अभिरभागे’ भागवर्वाजितेऽर्थेऽभि

१ ‘मन्थानग’ इत्यस्य समासघटकत्वेन सुपरत्वाभावादात्त्वानुपपत्तेश्चिन्त्यमेतत्
नैषधे तु समासाभावान्न कोऽपि दोषः ।

कर्मप्रवचनीय. स्यात्तत्र द्वितीया । हरिमभीति प्रक्रियायाम् । पृथिव्यामायातैरभ्रैर्मघैरिव । कया । अस्य भूभुजः प्रसत्ते प्रसादस्य प्रणिनीषया कर्तुमिच्छया । किमभ्रैः । जितैरभिभूतैः । कैः । कमलानां लक्ष्मीनामुत्सर्गपयसा च दानैर्विश्राणनैः । कथम् । अश्यामितास्यमुज्ज्वलीकृत वक्त्र यत्रैवविध यथा स्यात्तथा ॥

अजय्यवीर्यं निजनिर्जयायोद्यतं यमालोक्य विपक्षलक्षैः ।

स्वक्षत्रवृत्तीरपहाय भेजे क्षेत्रस्य वृत्तिः कृषिकैरिवात्र ॥ १३३ ॥

अत्र भुवि विपक्षाणां साहिशत्रूणां लक्षैः स्वस्यात्मनः क्षत्रवृत्ती क्षत्रियत्वेन या आजीविका । 'क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा' इति हैम्याम् । ता अपहाय साहित स्वमारणभीतेस्त्यक्त्वा क्षेत्रस्य केदारस्य वृत्तिर्जीवनं भेजे सिषेवे । कैरिव । कृषिकैरिव । यथा कृषिकारकैः क्षेत्रवृत्तिर्विधीयते । किं कृत्वा । निजस्यात्मनो निर्जयायाभिभवायोद्यतं प्रगल्भीभूतम्, तथा अजय्य जेतुमशक्यं वीर्यं पराक्रमो यस्य तादृशं पातिसाहिमालोक्य दृष्ट्वा ॥

जम्बालयद्भिर्जलदैरिवोर्वीं मदाम्बुभिर्यस्य बभे द्विपेन्द्रैः ।

दिग्जैत्रयात्रासु जितैर्दिगीशैर्दिग्गवारणेन्द्रैरुपदीकृतैः किम् ॥ १३४ ॥

यस्य साहेद्विपेन्द्रैर्गजराजैर्बभे व्यराजि । किं कुर्वद्भिः । जम्बालान्कुर्वन्तीति जम्बालयन्ति, जम्बालयन्तीति जम्बालयन्त, तैर्जम्बालयुक्ता विदधद्भिः । काम् । उर्वी पृथ्वीम् । कैः । मदाम्बुभिः दानवारिभिः । कैरिव । जलदैरिव । यथा मेघैर्भूर्जम्बालकलिता क्रियते । किमुत्प्रेक्ष्यते—दिशा हरिता जैत्रीषु जयनशीलासु यात्रासु अभिषेणनेषु । सेनासमुदायेन रिपून् प्रत्यभिगमनेष्वित्यर्थः । जितैः स्ववशीकृतैर्दिगीशैर्दिग्यतिभिरुपदीकृतैर्दौकितैर्दिग्गवारणेन्द्रैर्दिग्गजैरिव ॥

विश्वैकधन्वी शरसानृपोऽसौ मा कापि कुर्यात्परराजवन्माम् ।

जिजीविषुर्भीत इतीव राजा नभो भ्रमीगोचरयाचकार ॥ १३५ ॥

राजा चन्द्रो नभो गगन भ्रमण्या भ्रान्ते । 'अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गम्' इति नैषधे । गोचरीकरोति स्म गोचरयाचकार । नभसि बभ्रामेत्यर्थः । राजा किं कर्तुमिच्छुः । जीजीविषुः साहे सकाशाजीवितुमिच्छुः । इवोत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण भीतश्चकित इव । इति किम् । विश्वे जगति पार्थ इवैकोऽद्वितीयो धन्वी धनुर्धरोऽसौ नृपः, परे शत्रवः, अन्ये च ये राजानस्तानिव मा राजानं शरसाद्वाणविद्धम् । 'प्रसूनधन्वा शरसात्करोति माम्' इति नैषधे । मा कुर्यात् । यथा साहि विपक्षक्षितिपान्बाणैर्विध्यति तथा मामपि बाणैर्मा हतादित्यर्थः ॥

यस्य द्वेषिनिषूदनव्रतजुषः प्रत्यर्थिपृथ्वीभुजा

संत्रासेन कलिन्दभूधरगुहागर्भं किमासेदुषाम् ।

स्त्रैणस्याञ्जननीलिमाङ्कितपतद्बाष्पाम्बुपूरैरिव

क्षमापीठे प्रसरद्भिराविरभवत्पाथोजबन्धोः सुता ॥ १३६ ॥

यस्य साहे प्रत्यर्धिपृथ्वीभुजा वैरिणृपाणा स्त्रैणस्य स्त्रीणा समूहस्य अञ्जनाना नयनक-
जलाना नीलिम्ना श्यामत्वेनाङ्कितैर्युक्तै तथा पतद्भि दु खमराल्लोचनेभ्यो नि.सरद्भि बाष्पा-
म्बुपूरै रोदनजलप्लवै । इवोत्प्रेक्षते—पाथोजबन्धोर्भानो सुता पुत्री यमुना आविरभव-
त्प्रकटीभूता । किं वा—‘अये यदि समीहसे परनृपावरोधं तदा त्वमाकलय मद्रुच किमपि
रूपनारायण । प्रतीपनृपनागरीनयननीरकल्लोलिनीसमुत्तरणचातुरीं तुरगराजमध्यापय ॥’ इति
कविकृतकाव्यादौ बाष्पजलेभ्यो नदीप्रादुर्भावः । तथा—‘राम त्वत्तरुणप्रतापदहनज्वालाव-
लीशोषिता सर्वे वारिधयस्तवारिवनितानेत्राम्बुभि पूरिता ’ इति खण्डप्रशस्तौ बाष्पजलै
समुद्रसद्भावोऽपि वर्णित । किंभूतै पूरै । क्षमापीठे भूमण्डले प्रसरद्भिः पयःप्रवाहतया
विस्तार गच्छद्भि । किंभूतस्य यस्य । द्वेषिणा निषेदने मूलादुन्मूलने व्रत सर्वेऽपि
शत्रवो मयावश्यमुच्छेदनीया इति रूप नियम जुषते सेवते तस्य । किंभूताना प्रत्यर्धि-
पृथ्वीभुजाम् । सत्रासेनास्याकस्मिकभयेन कलिन्दनाम्नो भूधरस्य शैलस्य गुहाना कन्द-
राणा गर्भो मध्यभागस्तस्याङ्गमुत्सङ्गमासेदुषा प्राप्तवताम् । कलिन्दाद्रिकन्दरामध्यप्रविष्टा-
नामित्यर्थः ॥

सुत्रामाम्बुधिधामदिगिरिकुचद्वन्द्वविधनेमीधवः

पृथ्वीपालललाटचुम्बितपदप्रोद्दामकामाङ्कुशः ।

द्या स्वर्णाचलसार्वभौम इव यो निःशेषविश्वभरा

शासच्छात्रवगोत्रजिद्विजयते श्रीगुर्जरोर्वीपतिः ॥ १३७ ॥

श्रिया सप्ताङ्गलक्ष्म्या ऐश्वर्यशोभया वा युतो गुर्जराणा गुर्जरभूमेर्नायक उर्वीपति
पातिसाहिर्विजयते सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तते । किंभूत । सुत्रामा शक्र अम्बुधिधामा वरुण-
स्तयोर्दिशो प्राचीप्रतीच्योगिरी पर्वतौ उदयास्ताचलाभिधानौ तावेव कुचद्वन्द्व स्तनयु-
गलमस्यास्तादृश्या अब्धनेमे. समुद्रमेखलाया भूमेर्धवो भर्ता । पुन किंभूत । पृथ्वी-
पालाना राज्ञा ललाटैर्भालैश्चुम्बिता स्पृष्टा पदयोश्चरणयोः प्रोद्दामा प्रकृष्टाः कामाङ्कुश
नखा यस्य । किं कुर्वन् । शासत् पालयन् । काम् । नि शेषा समग्रा विश्वभरा पृथ्वीम् ।
कामिव । द्यामिव । यथा स्वर्णाचलस्य मेरो सार्वभौमश्चक्रवर्ती दिव शास्ति । ‘जाम्ब-
नदोर्वीधरसार्वभौमः’ इति नैषधे । यथा भूसार्वभौमस्तथैवेति यत परसमये मेरोरुपरि
स्वर्लोके । नैषधे यथा—‘दिवमङ्गादमराद्रिरागताम्’ इति । मेरुर्भूमी(?)स्तत्रामरावती
नगरी तस्या पतिरिन्द्रः इति तत्त्वम् । किंभूतो राजा इन्द्रश्च । शात्रवाणामात्मवैरिणा
गोत्राणि वशान् । शात्रवा रिपव एव गोत्रा पर्वतास्तान् जयतीति ॥ इति नृपवर्णनम् ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमथवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिहसीहविमलान्तेवासिवास्तोष्पतिम् ।

तद्ब्राह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गोऽयमाद्योऽभवत् ॥ १३८ ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये प्रथमप्रारम्भे जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्र-गुर्जरदेश-प्रह्लादनपुर-महमुन्दपातिसाहि-वर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

हीर इति शब्देन युनक्ति योग प्राप्नोतीति हीरयुक् तादृश सौभाग्यमिति अभिधा नाम यस्य । एतावता हीरसौभाग्यकाव्यम् । तच्च तद्धीरसूरेहीरविजयसूरीश्वरस्य चरित वृत्त च । पश्चात्कर्मधारय । तत्र तस्मिन् हीरसौभाग्यकाव्ये अयं प्रत्यक्षलक्षो वर्णनागोचरीकृतः । तथा आद्यः प्रथमः सर्वसर्गाणां धुरिः अभिहितः सर्गः अधिकारविशेषः अभवत् बभूव । किंभूतः । स पूर्वोक्तश्चासौ ब्राह्म्या वाग्देवतायाः क्रमौ चरणौ सेवते आराधयतीत्येव-शीलश्च तादृशेन देवविमलेन व्यावर्णिते । विशेषवर्णनागोचरता प्रापिते इत्यर्थः । यत्तदोर्नि-त्याभिसम्बन्धात् स कः । यः देवविमलः शिवा इत्याह्ला नाम यस्य तादृशः साधुः साहेषु-मथवा प्रधानत्वादिन्द्रः साधुरिति वणिजा नाम प्राकृते तु अमुकसाह इत्युच्यते । तथा श्रीसुमतिसाधुसूरिकृतसोमसौभाग्यकाव्ये वणिजः साहस्य साधुरिति सज्ञा दृश्यते । सात्रापि । तथा—‘अपलपति रहसि दत्तं प्रकटितदत्तेऽपि सशयं कुरुते । क्रयविक्रये च लुण्ठति तथा लोके वणिक्साधुः ॥’ इति सुभाषिते । पुनः शिवासाहपत्नी नाम्ना सौभा-ग्यदेवी यः प्रासूतं जनयामास । यः किंभूतम् । श्रीमन्तो विद्वद्वृन्दारकत्वेन शोभाभाजो ये कोविदाः पण्डितास्तेषु सिंह इव सिंहः परवादिपुञ्जकुजरेन्द्रैरप्यजेयः कथमप्यना-कलनीयश्च । मुख्य इत्यर्थः । सीहविमलनामा प्रज्ञाशः । तस्यान्तेवासिना शिष्याणां मध्ये वास्तोष्पतिरग्रणीः प्रथमशिष्यत्वेन प्रधानः ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते स्वोपज्ञहीरसौभाग्य-काव्यवृत्तौ प्रथमप्रारम्भे जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्र-सतीर्थसरिद्विरिकेदारगोधनबन्धुरगुर्जरदेश-प्रह्लादनपार्श्वनाथोपवनपरिखाप्राकारगृहहृदययुवतीयुक्तप्रह्लादनपुर-महमुन्दपातिसाहिव-र्णनो नाम प्रथमः सर्गः ॥

द्वितीयः सर्गः ।

पुरेऽथ तस्मिन्व्यूवहारिपुंगवो बभूव कुंरा इति नाम धामवान् ।

महीरुहा स्वःशिखरीव विश्रुतो रसास्पृशा न्यकृतविश्वनिःस्वतः ॥ १ ॥

अथ देशग्रामादिवर्णनानन्तरं मातृपितृमातृस्वप्रादिवर्णनादि प्रारम्भे । तस्मिन्पूर्ववर्णित-प्रह्लादनपुरे कुंरा इति नाम व्यवहारिषु महेभ्येषु पुंगवः श्रेष्ठो बभूव सजातः । ‘पुंगवो गवि भैषज्ये प्रधाने चोत्तरस्थिते’ इत्यनेकार्थः । किंभूतः । धामवान् गृहमेधी । अथवा तेजस्वी प्रभाववान् । ‘धाम स्थाने गृहे गेहे प्रभावे जन्मतेर्जसो’ इत्यनेकार्थतिलकः । पुनः

किभूतः । विश्रुतो विख्यातः । केषा मध्ये । रसास्पृशा पुरुषाणाम् । क इव । स्वशि-
खरीव । यथा महीरुहाणा वृक्षाणा मध्ये कल्पवृक्षो विख्यातोऽस्ति । अतएव किभूत
कल्पद्रुः स च । न्यकृता निवारिता जगन्नाना समस्तार्थिना नि स्वता दारिद्र्य येन ॥

अरिष्टकेतुं नवभोगसङ्गिनं त्रिरेखपाणि पुरुषोत्तमं पुनः ।

भ्रमाद्विवोदुर्जलधेरिवोद्वहा महेभ्यमभ्येत्य बभाज यं मुदा ॥ २ ॥

जलधेरुद्वहा समुद्रपुत्री लक्ष्मीर्यं महेभ्य व्यवहारिणमभ्येत्य समागत्य मुदा प्रीत्या बभाज
समाश्रिता । उत्प्रेक्ष्यते—विवोदुः स्वभर्तु कृष्णस्य भ्रमात् भ्रान्तेरिव । किभूत महेभ्यम् ।
अरिष्टेषूपद्रवेषु अरिष्टनाम्नि वृषभरूपे दैत्ये च केतु धूमकेतुनामग्रहस्य सदृक्षम् । तद्विध्वंसक-
त्वात् । पुन किभूतम् । नवाना नूतनाना स्तुतिसयुक्ताना वा भोगाना सुखाना सङ्ग-
सगमोऽनुभव प्राप्तिरस्येति । पक्षे—भोग सर्पकाय अर्थात् शेषनागशरीर तस्य सङ्गिन
तच्छयनत्वात् । पुन किभूतः । त्रिरेख आकृत्या शङ्ख पाञ्चजन्यश्च पाणौ हस्ते यस्य ।
पुन किभूत । पुरुषेषु समस्तेषु मानवेषु उत्तम श्रेष्ठ नाम च ॥

कुबेर इत्यात्मजनावमानना व्यपोहितुं किपुरुषेश्वरः स्वयम् ।

वितीर्णसौवर्णमणीगणोऽर्थिना प्रणीय यन्मूर्तिमिवावतीर्णवान् ॥ ३ ॥

कुराख्यो महेभ्यो भातीति सबन्ध । उत्प्रेक्ष्यते—किपुरुषेश्वरो धनद. यस्य कुरासाधोः
मूर्तिं शरीर प्रणीय निर्माय स्वयमात्मना अवतीर्णवान् प्रह्लादपुरे । अवतार गृहीतवानिव ।
कि कर्तुम् । व्यपोहितुमपकर्तुम् । काम् । अय कुबेर. कुत्सितशरीर । कुरूप इत्यर्थः ।
तथा—‘जातौ न वित्ते न गुणे च कामः सौन्दर्य एव प्रवणः स वामः । स्वच्छे स्वशैले-
क्षितकुत्सवेरस्ता प्रत्यगान्न स्त्रितरा कुबेरः ॥’ इति नैषधे । स वामो वक्रः । जातावत्तम-
वशे प्रवणो न, नापि वित्ते धने, न च गुणे त्यागशौर्यादौ, किं तु स कुटिलः कामः सौन्दर्य
एव तात्पर्यवान् । अत एव स्वच्छे निर्मले स्वशैले कैलाशे ईक्षितः दृष्टः कुत्सित वेर वपु-
र्येन ईदृशः कुबेरस्ता स्त्रितरा नारीश्रेष्ठा दमयन्तीं प्रति नागात् । ‘घरूपकल्पः चेलङ्—’
इत्यत्र ‘स्त्रियोऽन्यतरस्याम्’ इति ह्रस्वः । कलेवरशब्दे त्वक्षरद्वयलोपे मात्राविपर्यये बेर इति
प्रयोगः । सत्यभामा भामेतिवत्—इति वृत्तिः । इत्यात्मनः स्वस्य लोके जनेऽवमानना-
मवगणनाम् । निन्दामित्यर्थः । किभूतः । अर्थिना याचकाना वितीर्णः विश्राणितः प्रदत्तः
सौवर्णः सुवर्णाना समूहः । तथा मणीना रत्नाना गणो व्रजो येन । एतावता वदान्यता
सूचिता ॥

तमःसपत्नः श्रितशंभुशीलनः कुमुद्विकाशी वचनामृतं किरन् ।

शशीव योऽशीलि कलाभिरिभ्यराट् विमुक्तदोषः स तदत्र कौतुकम् ॥ ४ ॥

य इभ्यराट् व्यवहारिवासवः कलाभिर्द्वासप्ततिलक्षणाभिः शिल्परूपाभिर्वा अशीलि से-
वितः । क इव । शशीव । यथा चन्द्रः षोडशसख्याभिः कलाभिः शील्यते । किभूतो यः शशी

च । तमसामज्ञानानां दुष्कृतकर्मणां वा ध्वान्तानां च सपत्न उच्छेदकृत् । पुन किंभूत । श्रितमर्थान्निर्मित शमोजिनेन्द्रस्य जैनश्रावकत्वात्, शिवस्य च शिर स्थायुकत्वात्, शील-
नमाराधन सेवा येन स । पुन किंभूत । कौ पृथिव्या मुद प्रीति प्रमोद कैरवाणि
कुमुन्दि विकाशयति प्रकटीकरोति विदधाति प्रबोधयतीत्येवशील । पुन किंभूत ।
वचनमेव वाणीतुल्य च अमृत सुधा किरन् विस्तारयन् वर्षन् पर तदत्र व्यवहारिणि
चित्रमाश्चर्यमस्ति । यत्स महेभ्यो मुक्तास्त्यक्ता दोषा अपगुणा येन । शशी तु सह दोषया
रात्र्या वर्तते य स सदोषः ॥

अलम्भि दम्भोलिशयेभशालिनी न कीर्तिरेतस्य परश्शतैः परैः ।

शरत्प्रसन्नीकृतचन्द्रगोलिका सुधामरीचेर्ग्रहतारकैरिव ॥ ५ ॥

तस्य कुराव्यवहारिण दम्भोलिर्वज्र शये यस्य स शक्र तस्य य इभ ऐरावणस्तद्वत्
शालिनी श्वेत्यात् शोभमाना कीर्तिः परश्शतैः शतात्परैः परश्शतैः सहस्रलक्षकोटिमत्यैरन्यै
परैरिभ्यैर्नालम्भि न प्राप्ता । कैरिव । ग्रहतारकैरिव । यथा सुधामरीचेरमृतकिरणस्य
चन्द्रस्य शरदा घनात्ययेन प्रसन्नीकृता जलधररोधापसारणाद्विमलीकृता चन्द्रगोलिका
चन्द्रिका ग्रहा मङ्गलादयः, तारका नक्षत्रतारास्तैर्न लभ्यते नैव प्राप्यते ॥

वहन्सुपर्वद्रुमरामणीयक सनन्दनो गोत्रपराध्यता दधत् ।

सुजातरूपः सुमनोमनोरमोऽनुयाति यः स्वेन सुपर्वपर्वतम् ॥ ६ ॥

यो महेभ्यः स्वेनात्मना सुपर्वपर्वत सुरगिरिं मेरुमनुयाति अनुकरोति । मेरुणा
सदृशीभवतीत्यर्थः । किं कुर्वन् । वहन् कलयन् । किम् । सुपर्वद्रुमा कल्पवृक्षा
दानरूपभूषणसुषमाभिस्तद्वत्तैश्च रामणीयक मनोहरताम् । पुन किंभूत । सहनन्दनाभ्या
हीरकुमारश्रीपालाभिधाभ्या वर्तते यः । भाविनि भूतोपचारात् । पक्षे—नन्दनवनेनान्वि-
त । पुन किंभूत । गोत्रे स्ववशे, गोत्रेषु सर्वशैलेषु हीरसूरिपुरदरपितृत्वेन लक्षयोज-
नप्रमाणतया सर्वोन्नतत्वेन च पराध्यता प्रकृष्टता महिमान दधत् बिभ्रत् । पुन कि-
भूत । सुशोभन जातमुत्पन्न रूप वपुः सुभगता यस्य । मेरौ तु सुष्ठु जातरूप स्वर्ण
यत्र । पुन किंभूत । सुमनोभिर्हारादि कुसुमैर्मनो हरती(?)त्येवशील । सुष्ठु निष्पाप
मनो येषां साधूनां तेषां मनसि सुगुणधामित्वेन रमते इति वा । सुमनसा महात्मना मन्ये
अभिरामो वा । सुमनस्त्वेन मनोज्ञो वा । मेरुस्तु सुमनोभिर्देवैः सुन्दर ॥

जगज्जनावाङ्मनसावगाहिना गम्भीरभावेन जितेन साधुना ।

सुधास्रवन्तीपतिना हृदा दधे किमेष रोषो वडवार्चिषो मिषात् ॥ ७ ॥

येन साधुना कुरासाहेन गम्भीरभावेन स्वगाम्भीर्येण जितेनाभिभूतेन सुधास्रवन्ती-
पतिना °क्षीरसमुद्रेण । किमुत्प्रेक्ष्यते—हृदा हृदयेन कृत्वा वडवार्चिषो वडवानलस्य
मिषात् कपटात् रोषः कोपः एष प्रत्यक्षः किं दधे धृत इव । किंभूतेन गम्भीरभावेन ।

जगता पातालभूमिस्वलोकानां जनानामसुरनरसुराणां न वाङ्मनसौ वचनचित्ते अवगा-
हते गोचरयतीत्येवशीलस्तेन । वक्तुमशक्येनेत्यर्थः ॥

समाप्य कामान्मरुतां स्वदारुतां निरस्य तेषां च वरात्प्रसेदुषाम् ।

मिषादमुष्येप्सितदित्सया विशामिवावनौ स्वःफलदोऽवतीर्णवान् ॥ ८ ॥

इभ्यो भातीति सबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—अमुष्य व्यवहारिणो मिषादम्भादवनौ पृथि-
व्यामवतीर्णवानागतः स्वफलदः कल्पवृक्ष इव । कया । विशा नरेन्द्राणामीप्सितानां
कामितानां मनोभिलाषाणां दित्सया दातुमिच्छया । किं कृत्वा । मरुता देवानां का-
मान्सर्वाभिलाषान्समाप्य सपूर्णकृत्य । दत्त्वेत्यर्थः । पुनः किं कृत्वा । प्रसेदुषा स्वाभिल-
षितसकलार्थाभिगमेन प्रसन्नीभूतानां तेषां देवानां वरादिष्टप्रदानवचनात्स्वस्यात्मनो दारुता
काष्ठभावनिगस्यापाकृत्य ॥

अतिस्मरैतत्तनुकामनीयकैः सहाभ्यसूयां दधतौ निजश्रिया ।

अनौचितीक्रुद्धजगत्कृतार्कजावकारिषाता वडवासुताविव ॥ ९ ॥

निजश्रिया स्वरूपसौन्दर्यलक्ष्म्या अतिक्रान्तोऽर्थान्निर्जितः स्मरकामो यैस्तादृशै-
रेतस्य कुराव्यवहारिणस्तनो शरीरस्य कामनीयकैः रमणीयताभिः । ‘कामनीयकमध-
कृतकामम्’ इति नैषधे । सह सार्धमभ्यसूयामीर्ध्यादधतौ बिभ्राणौ अर्कजौ अश्विनीपुत्रौ ।
उत्प्रेक्ष्यते—अनौचित्या अयुक्ततया क्रुद्धेन कुपितेन जगत्कृता ब्रह्मणा वडवासुतावश्वा-
विवाकारिषाता कृतौ ॥

मिथः परिस्पर्धितया वदान्यतागुणैर्विजित्य व्यवहारिणामुना ।

इमा अरक्ष्यन्त सुधाशधेनवः स्वगोधनस्योपधिनेव धामनि ॥ १० ॥

अमुना कुरासाहनान्ना महेभ्येन स्वगोधनस्य निजगोकुलस्योपधिना कपटेन धामनि
अर्थादात्ममन्दिरे इमा सकलजगज्जनदृग्गोचरा सुधाशधेनवः कामगव्य इव अर-
क्ष्यन्त रक्षिताः । किं कृत्वा । वदान्यता दानशीलत्वं तस्या गुणैरुत्कर्षैः स्फूर्तिभिर्वा
मिथः परस्परपरिस्पर्धितया समन्तात्स्पर्धनशीलत्वेन विजित्य पराभूय गृहे रक्षिताः ॥

सुपात्रसस्नेहगुणाग्र्यवृत्तिभृत्तमःप्रतीपः स्वकुलप्रकाशकृत् ।

प्रदीपदेश्योऽपि परं न धूमभाक्कुलं न चाध्यामलयत्कदापि यः ॥ ११ ॥

यो महेभ्यः प्रदीपस्य देश्योऽपि सदृशोऽपि सन् । ‘देवदेवेन्द्रदेशीयन्’ इति पाण्डवचरित्रे ।
परं केवलं कदापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे न धूमभाक् न निषेधे कोपयुक्तो बभूव ।
धूमशब्देन कोपः । यथा भक्तामरस्तोत्रे—‘निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः’ इति । दी-
परतु धूमयुक्तः । च पुनः कदाचिदपि कुलं वशमपवादादिना नाध्यामलयन्न मलिनी-
चकार । दीपस्तु यत्र रक्ष्यते तद्गृहस्थानं वा श्यामलयति । ‘कुलं कुन्यगणे
गेहे देहे जनपदेऽन्वये’ इत्यनेकार्थः । किंभूत इभ्यः । सुशोभनानि पात्राणि

महाव्रताणुव्रतधारकादिसद्यो यस्य, तथा सहस्रेहेन देवे गुरौ स्वजनादिषु प्रीत्या वर्तते य सः, तथा गुणैरौदार्यादिभिरग्न्या मुख्या वृत्तिं वाणिज्यादिकामाजीविका वा बिभर्तीति । 'वृत्तिस्तु वर्तने । केशिक्यादौ जीवने च' इत्यनेकार्थः । सर्वेष्वप्यग्रेसरो वा । पश्चात्कर्मधारयः । पुनः किंभूतः । तमसामज्ञानानां पापानां वा प्रतीपः शत्रुः स्वयं पुण्यकर्माण्याचरन् परानपि धर्मे दृढीकरोति । पुनः किंभूतः । स्वस्यात्मनः कुलमौकेशवंशस्तत्र प्रकाशकृत् उद्योतकर्ता । स्वेन सूरिसिंहेन सूनुना वा । दीपोऽपि पात्रकलितः, स्नेहेन तैलेन युक्तः । 'तैलं स्नेहोऽभ्यञ्जनं च' इति हैम्याम् । तन्तुप्रधानदशावारकः । 'वृत्तिर्वर्तिश्च तदशा' इति हैम्याम् । तथा ध्वान्तोच्छेत्ता, यस्मिन् गृहे येन वा प्रबोधितस्तदेव तस्य वा गेहं तत्रोद्योतकारकः ॥

धुनीधवं येन गभीरनिःस्वनैर्विजित्य मुक्तामणिविद्रुमावलिः ।

ततः समग्रा जगृहे तदाद्यसौ बभूव किं निःस्वतया जडाशयः ॥ १२ ॥

येन कुराव्यवहारिणा गभीरैः सजलजलधरगर्जितसान्द्रमधुरैर्निःस्वनैः स्वशब्दैर्धुनीधवं नदीपतिः समुद्रं विजित्य ततः समुद्रात् मुक्ताफलानि मुक्तामणयो रत्नानि विविधजातीनि विद्रुमाः प्रवालानि तेषामावलिः श्रेणिः समग्रा समस्तापि जगृहे गृहीता । किमुत्प्रेक्ष्यते—असौ समुद्रस्तदादि तं दिनमारभ्य निर्गतं स्वं समग्रद्रव्यं यस्मात्सं निःस्वस्तस्य भावस्तया निःस्वतया दरिद्रत्वेन जडं किं कर्तव्यतामूढ आशयश्चित्तं यस्य । अथ किं करिष्यते, क्व गमिष्यते, कस्य पुनः पूत्करिष्यते, कथं वा स्वं प्रत्यानेष्यते इति विमर्शानभिज्ञो बभूव । डलयोरैक्यादियं घटना ॥

व्यमोचि नामुष्य कदाचिदन्तिकं रथाङ्गपाणेऱिव पद्मसद्मना ।

गुणव्रजेनेव नियन्त्र्य मुक्तया वितीर्णवाचेव यदृच्छयाथ वा ॥ १३ ॥

पद्मे कमले सद्मं गृहं यस्यां सा तथा पद्मसद्मना लक्ष्म्या अमुष्य कुरासाधो कदाचिदपि कस्मिन्नपि समये अन्तिकं समीपं न व्यमोचि न मुक्तम् । कस्येव । रथाङ्गपाणेऱिव । यथा रथाङ्गं चक्रं पाणौ हस्ते यस्य तस्य कृष्णस्य स्वभर्तृत्वेन कदाचिदपि काले पतिव्रतया श्रिया पार्श्वं न विमुच्यते नैव त्यज्यते । उत्प्रेक्ष्यते—अनेन व्यवहारिणा गुणानामौदार्यधैर्यगाम्भीर्यादीनां रश्मीनां वा व्रजेन समूहेन । 'गुणो भीमे हृषीके ज्यारज्जुशौर्यादितन्तुषु । सूदेऽप्रधाने सध्यादौ निर्दोषे रूपसत्त्वयोः ॥' इत्यनेकार्थतिलकः । नियन्त्र्य निर्वध्येव मुक्तया रक्षितया । अथ वेति पक्षान्तरे । उत्प्रेक्ष्यते—यदृच्छया तन्महेभ्यभूरिभाग्यप्राग्भारप्रेरितस्वच्छया वितीर्णा विश्राणिता दत्ता वाक् वाग्वधो यया तादृशयेव । वाचं दत्त्वा स्थितयेत्यर्थः ॥ इति कुरासाहः ॥

मनः समुत्कण्ठयतस्तनूमता पयःप्लवः शैवलिनीपतेरिव ।

अमुष्य नाथी सुमुखी बभूवुषी कुमुद्वतीव द्विजचक्रवर्तिनः ॥ १४ ॥

अमुष्य कुरासाहस्य नाथीति नाम्ना सुमुखी प्रसन्नवदना पत्नी बभूवुषी तज्जाता ।

केव । कुमुद्वतीव । यथा द्विजचक्रवर्तिनश्चन्द्रस्य । 'कन्दर्पेऽनल्पदर्पे विकिरति किरणाञ्जर्वरीसार्वभौम' इति नाटकग्रन्थे । यथा शर्वरीसार्वभौमस्तथा द्विज-चक्रवर्तीति । कुमुदिनी नाम प्रिया वर्तते । अमुष्य किं कुर्वत । तनूमता मनश्चित्त स-मुत्कण्ठयत सम्यगुत्कण्ठया स्वदर्शनात्मगुणगणाकर्णनविधावत्यौत्सुक्येन कलितं कुर्वत । कमिव । पद्मप्लवमिव । यथा विधु शैवलिनीना नदीना पत्युर्भर्तु समुद्रस्य पानीयपूरं कण्ठात्कूलादूर्ध्वं नयति । वृद्धिमन्तं करोतीत्यर्थः । कण्ठादूर्ध्वं करोतीत्युत्कण्ठयति । 'त-त्करोति तदाचष्टे' इति णिजिति पाणिनि । सारस्वते तु 'जिडित्करणे' इति । 'उत्कण्ठयति मा भक्तिरिन्दुलेखेव सागरम्' इति वाग्भटालकारे ॥

चलेति विश्वे वचनीयताश्रुतेः प्रियेण बाणद्विषता तिरस्कृता ।

उदीतदुःखादिदमात्मना जनुः पर प्रपेदे किमु पद्ममन्दिरा ॥ १५ ॥

नाथी भातीति सबन्धः । किमुत्प्रेक्ष्यते—पद्ममन्दिरा लक्ष्मीरिदमात्मना एतत्स्व-रूपेण । नाथीवपुषा इत्यर्थः । परमन्यज्जनुर्जन्म प्रपेदे प्रतिपन्नवतीव । कस्मात् । उ-दीतदुःखात्प्रकटीभूतासातात् । 'उदीतमातङ्कितवानशङ्कित—'इति नैषधे । किभूता । बाण-नाम्नो दैत्यस्य द्विषता वैरिणा कृष्णेन प्रियेण भर्त्रा तिरस्कृता धिक्कृता । कस्या । इयं श्रीश्वलास्थिरातिचपला इत्यमुना प्रकारेण विश्वे लोके जगति वचनीयताया अर्थाल्ल-क्ष्म्या अपवादस्य श्रुते श्रवणात् ॥

ततं वचो यत्र घनं पदाङ्गदध्वनिश्च काञ्च्याः सुषिरं स्वनः पुनः ।

तया बभे जङ्गमरङ्गशालया किमत्र शृङ्गारनटस्य नृत्यतः ॥ १६ ॥

तया मृगदृशा नाथीदेव्या बभे शुशुभे । अत्र जगति । नृत्यतस्ताण्डवः कुर्वत शृङ्गा-रनाम्नो नवरसेष्वादिभूतस्य रसस्यैव । नटस्य नर्तकस्य जङ्गमया चलन्त्या रङ्गशालया नर्त-नभवनभुवेव । यत्र रङ्गशालाया वचः अर्थात्तस्या वचनं ततः वीणाप्रभृतिकं विस्तीर्णं च । च पुनर्यत्र पदाङ्गदाना नूपुराणाम् । 'नूपुरं तु तुलाकोटिं पादतः कटकाङ्गदे' इति हैम्याम् । ध्वनी रावः । घनं तालप्रभृतिकं बहलं चास्ति । पुनर्यत्र काञ्च्या मेखलायाः स्वनः शब्दः सुषिरं वशादिकं किकप्यादिजं च वर्तते । 'ततः वीणाप्रभृतिकं तालप्रभृतिकं घनम् । वशा-दिकं तु सुषिरम्' इति हैम्याम् ॥ इति नाथीवर्णनम् ॥

जगत्रयीजन्मजुषा मृगीदृशा विजित्य राजीर्निजजित्त्वरत्रिया ।

अधारि किं मूर्धनि पद्मचक्षुषा जयाङ्कबालव्यजनं कचच्छटा ॥ १७ ॥

यया पद्मचक्षुषा कमललोचनया नाथीदेव्या मूर्धनि स्वमस्तके कचच्छटा केशपाशः । 'बाला स्युस्तत्परा पाशो रचना भार उच्चयः । हस्तः पक्षः कलापश्च केशभूयस्त्ववा-चका ॥' इति हैम्याम् । तथा छटाशब्दः समूहवाचकश्च । 'तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा' इति नैषधे । किमुत्प्रेक्ष्यते—जयाङ्कबालव्यजनं वैरिविजयसूचकचिह्नचामरं किं धृतमिव । अर्थात्स्वमस्तके । जयचिह्नं हि जयामराङ्गशदिकं मौलावेव ध्रियते । गारुडिकादीनाम-

द्यापि तथैव दर्शनात् । किं कृत्वा । विजित्य परिभूय । कया । निजस्यात्मनो जित्वर्या
जयनशीलया श्रिया शोभया पुवद्भावे ईकारलोप । काः । राजीः श्रेणी । कासाम् ।
मृगीदृशा हरिणनयनाना स्त्रीणाम् । किंभूतानाम् । जगता नागलोकस्वर्लोकभूलोकाना
त्रयी त्रिक तत्र जन्मावतार जुषन्ते भजन्ते तादृशीनाम् । त्रिभुवनोद्भवानामित्यर्थः । एतावता
सुरासुरनररमणीश्रेणीनिर्जित्य जयचामर बिभर्तीत्यर्थः ॥

विधुं द्विधाकृत्य विधिव्यधत्त यल्लाटमर्धेन शिवे न्यधात्परम् ।

न चेन्मृगाङ्गार्धधरः कथं हरः किमर्धचन्द्रोपमितं च तद्वहेत् ॥ १८ ॥

विधिविधाता विधुमर्थादीश्वरमस्तकस्थसपूर्णचन्द्रमादाय द्विधाकृत्य द्वौ खण्डौ विधाय
अर्धेन विधोस्तदेकभागेन यस्या ललाट भाल व्यधत्त चक्रे । अत्र गर्भितोत्प्रेक्षा । कृतवा-
वानिव । पुनः परं द्वितीयमर्धं शिवे ईश्वरे न्यधात्स्थापयामास । एव चेन्न स्यात्तदा हरः
शिवो मृगाङ्गार्धधरो अर्धचन्द्रभृत् । ‘लब्धार्धचन्द्र ईश’ इति चम्पूकथायाम् । कथं
केन प्रकारेण । च पुनस्तद्भाल तस्या ललाटमर्धचन्द्रोपम(मित)मष्टमीमृगाङ्गोपमानं च
कथं कया रीत्या वहेद्वरेत् ॥

मृगीदृशो हेलितकेलतीश्रियो ललाटपट्टे कुरलेन निर्वभे ।

स्मितारविन्दस्य धियेव तस्थुषा यदानने पौष्पपिपासयालिना ॥ १९ ॥

तस्या मृगीदृशो नाथीदेव्या ललाटपट्टे भालस्थले कुरलेन भ्रमरालकेन निर्वभे ब-
भासे । ‘अक्षबाजवलयेन निर्वभे’ इति रघुवशे । किंभूताया मृगीदृशः । हेलिता अप-
गणिता केलत्या कन्दर्पपत्न्या रत्या श्री शोभा यया । ‘केलतीमदनयोरुपाश्रये’ इति
नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—स्मितस्य विकसितस्यारविन्दस्य पद्मस्य धिया बुद्ध्या यदानने नाथी-
मुखे पौष्पस्य पुष्पानामयः पौष्पो रसः यथा पुष्पोद्भवः रजस्तथा पुष्पोद्भवो मकरन्दोऽपि
तस्य पिपासया पातुमिच्छया तस्थुषा स्थितवता अलिना भ्रमरेण च । किं च पौष्प मक-
रन्द इति भोजप्रबन्धादिककाव्येषु दृश्यते । तथापि सति परः पाठः—‘स्मितारविन्दस्य
धिया यदानने स्थितः रसस्येव पिपासयालिना’ । उत्प्रेक्ष्यते—स्मितारविन्दस्येव प्रोज्जृ-
म्भिताम्भोजस्य धिया यदानने नाथीवदने रसस्य मकरन्दस्य । ‘रसो मधु मकरन्दो मर-
न्दश्च’ इति हैम्याम् । पिपासया पानस्याभिलाषेण स्थितमर्थादागत्य अलिना भृङ्गेण
स्थीयत इव ॥

अमूदृशाम्भोजदृशा स्म भूयते न जातुचिद्यौवतनिर्मितौ मम ।

इतीव रेखेयमिदंमुखे मषेर्मिषाद्भुवोर्नाभिभुवा व्यधीयत ॥ २० ॥

नाभिभुवा घात्रा इदमुखे अस्या नाथीदेव्या वदने । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोर्भुवोर्मि-
षाद्भुवोर्नाभिभुवा व्यधीयत कृतेव । इति किम् । यन्मम यौवत-
निर्मितौ त्रिभुवनस्त्रीसमूहनिर्माणे अमूदृशा एतत्सदृक्ष्या अम्भोजदृशा पद्मलोचनया

स्त्रिया जातुचित्कदाचिदपि न भूयते स्म न जाता । त्रैलोक्येऽप्येवविधा मया कापि युवती
निर्मिता नास्तीत्यर्थः ॥

स्वकामिनीकैरविणीतनूभवे विरञ्चिना लोचनतामवापिते ।

विधातुमङ्गे किमु लोलकैरवे यदास्यभावः शरदिन्दुना दधे ॥ २१ ॥

शरदिन्दुना घनात्ययसमयसबन्धिना चन्द्रेण यदास्यभावो नाथीवदनता दधे अङ्गी-
कृता । उत्प्रेक्ष्यते—लोले चपले कैरवे कुमुदे अङ्गे उत्सङ्गे विधातु कर्तुमिव । उत्सङ्गग्रहणे
हेतुमाह—स्वस्यात्मन कामिन्याः प्रियायाः कैरविण्या कुमुद्वत्यास्तनूभवे अङ्गजाते ।
स्वसुतयोरुत्सङ्गे करण तु न्याय्यमेव । पुनः किंभूते कैरवे । अवापिते नीते । काम् ।
लोचनताम् । अर्थान्नाथीदेव्या नेत्रत्वम् । केन । विरञ्चिना वेधसा ॥

विभाति यद्भूयुगभासिनासिका विजित्य विश्वत्रितयं मनोभुवा ।

यदङ्गरुक्पुञ्जपयोधिसनिधौ कृतो यशःस्तम्भ इव ध्वजाङ्कितः ॥ २२ ॥

यस्या भ्रुवोर्युगेन भासते दीप्यते इत्येवशीला नासिका विभाति । उत्प्रेक्ष्यते—मनो-
भुवा स्मरेण यशःस्तम्भ कृत कीर्तिस्तम्भ आरोपित इव । किंभूतः । ध्वजाङ्कितः
पताकाकलितः । कस्मिन्नोपितः । यस्या नाथीदेव्या अङ्ग शरीर तस्य रुचा का-
न्तीना पुञ्जः समूहः स एव पयोविरतिबहुलत्वात्समुद्रस्तस्य सनिधौ पार्श्वे । किं कृत्वा ।
विश्वाना स्वर्भूमीपाताललक्षणानां जगता त्रयं विजित्य निजौजसा स्वाज्ञावशवद् विधाय ।
अपरोऽपि विजयी राजा जगज्जित्वा समुद्रतटे कीर्तिस्तम्भानारोपयतीति स्थितिः ॥

विडम्बिताखण्डमृगाङ्गमण्डले कपोलपाली स्फुरतस्तदानने ।

मणीमये दर्पणिके यदोकसोरिमे रतिप्रीतिमृगीदृशोरिव ॥ २३ ॥

तस्या देव्या आनने मुखे विडम्बित निजश्रिया पराभवन विडम्बना प्रापितमनुकृत
वा अखण्ड सपूर्ण मृगाङ्गस्य चन्द्रमसो मण्डल बिम्ब याभ्यां तादृशे कपोलपाली गण्डस्थले
स्फुरतो लसतः । उत्प्रेक्ष्यते—यदोकसोर्या नाथी एवौको गृहययोस्तादृशो रतिप्रीत्योरेव
मृगीदृशो कामस्य कान्तयो । एतावता या नाथी निभात्य(ल्य)रतिश्चित्तनिर्वृतिः, प्रीति
स्नेहः प्रमोदश्च, सपद्यत इत्यर्थः । इमे दृग्लक्ष्ये मणीमये रत्नरचिते दर्पणिके आदर्शिके
इव । 'यन्मतौ विमलदर्पणिकायाम्' इति नैषधे ॥

किमिच्छता पाशयितुं जगत्रयीयुवत्रजान्वागुरिकेन(ण) रङ्गवत् ।

स्मरेण यादःपतिपाशजित्वरी दधे द्विपाशी सुदृशः श्रुतिद्वयी ॥ २४ ॥

सुदृशो नाथीदेव्याः श्रुतिद्वयी श्रवणयुगली । भातीति सबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—स्मरेण
मदनेन द्वयोः पाशयोः समाहारो द्विपाशी बन्धनग्रन्थी किं दधे धृतेव । अन्योऽप्यर्थो
यथा—स्मरेण किं द्विपाशी बन्धनग्रन्थिद्वितयी किं दधे । सा का । सुदृशो नाथी-
देव्या श्रुतिद्वयी । 'ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य यः शतमभ्यासत तत्सखीजनः' इति नैषधे । ध्रु-

वमुत्प्रेक्ष्यते—अप्सरसोऽवतीर्य या कुण्डिनपुरीमध्यासत । क । तत्सखीजन —इति तद्वृत्तिः । स्मरेण किं कुर्वता । इच्छता वाञ्छता । किं कर्तुम् । पाशयितु पाशे पतितान् पाशेन बद्धान् वा कर्तुम् । कान् । जगन्नयीयुवजान् त्रिभुवनतरुणगणान् । किवत् । रङ्गवत् । यथा वागुरिकेण जालिकेन रङ्गन् जातिविशेषमृगान् । ‘मृगभेदा रुरुन्यङ्कुरङ्कुगोकर्ण-शम्बरा ’ इति हैम्याम् । पाशयितु काङ्क्षता पाशो ध्रियते । किंभूता द्विपाशी । याद पते-र्वरुणस्य पाशस्य जित्वरी जयनशीला ॥

वियोगवत्यौषधियोषया यदाननीभवत्कान्तसितद्युति प्रति ।

स्थितस्तदङ्गे प्रहितस्तनूजवत्प्रवाल आह्लातुमिवाधरोपधेः ॥ २५ ॥

वियोगो विरहो वीना भृङ्गप्रमुखखगाना योगः सवन्धो यस्यास्तादृश्या, औषधिरेव योषा स्त्री तथा । यदाननीभवन्त नार्थीवक्रसपद्यमान कान्त स्वभर्तार सितद्युतिं चन्द्र प्रति आह्लातुमाकारयितु प्रहित प्रेषितस्तनूजवत् पुत्रवत् । प्रवालः प्रकृष्टो दक्ष । श्लेषे वयोरैक्यात् बालः शिशुः, पल्लवश्च । उत्प्रेक्ष्यते—अधरोपधेरोष्ठकपटात् तदान्तिके चन्द्रोत्सङ्गे स्थित इव । बाल सुत पितुरुत्सङ्गे तिष्ठतीति स्थितिरेव ॥

निपातुकेन द्विजकान्तिमिश्रितस्मितेन यस्या रदनच्छदे बभे ।

जलेन वातूलतरङ्गितात्मना सुधापयोधेरिव हेमकन्दले ॥ २६ ॥

यस्या रदनच्छदेऽधरे निपातुकेन निपतनशीलेन द्विजाना दन्ताना कान्त्या मिश्रितेन खचितेन स्मितेनेषद्वस्मितेन । ‘ताम्रोष्ठपर्यस्तरुच स्मितस्य’ इति रघौ । बभे शुशुभे । केनेव । जलेनेव । यथा सुधापयोधे क्षीरार्णवस्य पयसा हेमकन्दले विद्रुमे दीप्यते । किंभूतेन । वातूलेन वातव्रजेन तरङ्गित कल्लोलयुक्तीभूत आत्मा स्वरूप यस्य ॥

स्वकान्तवक्त्रामृतकान्तिदर्शनाद्धदन्तरुद्धेलितरागसागरात् ।

निरित्वरी विद्रुमकन्दली च यद्विलासवत्या दशनच्छदो बभौ ॥ २७ ॥

यस्या । ‘विलासो हावे लीलायाम्’ इत्यनेकार्थः । तत्र ‘हाव शृङ्गारभावाप्तौ रम्योक्त-स्मितवीक्षितम् । प्रियस्यानुकृतिर्लीला श्लिष्टावाग्वेषचेष्टितैः ॥’ इति तदवचूरि । स वि-द्यते यस्या सा तस्या विलासवत्या दशनच्छदोऽधरो बभौ भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्या-त्मन कान्तस्य भर्तुं कुरासाधोर्वक्त्रामृतकान्तेर्मुखेन्दोर्दर्शनादवलोकनात् हृदन्तर्मनोमय्ये उद्धेलिताद्धेलामतिक्रान्त उद्धेल उद्धेलत्व सजातमस्मिन्निति भावप्रधानो निर्देशः । तस्मादुत्क-ष्ठितात् कण्ठादूर्ध्वमागतात् रागसारात् निरित्वरी निर्गमनशीला विद्रुमकन्दली प्रवा-लाङ्कुर इव । कन्दलशब्दस्त्रिलिङ्गः ॥

द्विजाधिपत्यं मुख एव मुख्यतो मृगीदृशोऽस्या न कुमुद्वतीपतौ ।

द्विजैरमीभिर्यदसौ दिवानिशं निषेवणाया विषयं स नीयते ॥ २८ ॥

अस्या मृगीदृश सारङ्गलोचनाया मुखे वदने एव मुख्यतः प्राधान्याद् द्विजानामाधि-
पत्यमैश्वर्यमास्ते । पर कुमुद्वतीपतौ कुमुदिनीवल्लभे चन्द्रे न, यद्यस्मात्कारणात् असौ
मुख एव । मुखशब्द पुनपुसके । दिवानिशम् अहोरात्रम् अमीभिश्चक्षुर्लक्ष्यैर्द्विजैर्दन्तैर्नि-
षेवणाया सेवाया. विषय गोचर नीयते स्म प्रापितः । चन्द्रस्य तु नक्षत्रताराग्रहा यथा
प्रत्यक्षा दृश्यन्ते, तथा न द्विजा इति ॥

यदाननान्तर्वसतेः सुधारसादिवोद्गतः पाटल एष कन्दलः ।

विलासदोलेव निखेलितुं गिरोऽथ वा मृगाक्षीरसना स्म शोभते ॥२९॥

मृगाक्ष्या नाथीदेव्या रसना जिह्वा शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—यस्या आनन मुख त-
स्यान्तर्मध्ये वसतिर्वासो यस्य तादृशात् सुधारसादमृतनिस्यन्दादुद्गत प्ररूढ प्रकटीभूतो
वा पाटलो रक्त एष जिह्वालक्षण कन्दलो नवाङ्कुर इव । अथ वा पक्षान्तरे यद्वदनमध्य-
सौधाया गिरो वाग्देवताया निखेलितुमान्दोलितु दोलान्दोलनलीना निर्मातु विलासदो-
लेव क्रीडाप्रेङ्खेव ॥

यदीयवाचं विधिना विधित्सुना सुधामुपात्तामधिगम्य निस्तुषाम् ।

सुधाशना अध्वरभोजिनस्तदादितो बभूवुस्तदभावतः किमु ॥ ३० ॥

सुधाशना पीयूषभोजना देवास्तदादितस्तद्विवसप्रारम्भात् । यस्मिन्नहनि सुधा निष्ठिता
तद्दिनमादौ कृत्वेत्यर्थः । किमुत्प्रेक्ष्यते—तस्या सुधाया अभावात्क्षयादध्वरमर्थाद्यज्ञाश
भुञ्जन्तीत्येवशीला अध्वरभोजिनो यज्ञाहारा बभूवु सजाता इव । कि कृत्वा । अधिगम्य
ज्ञात्वा । काम् । सुधाम् । किभूता सुधाम् । उपात्ता गृहीताम् । पुनः किंभूताम् ।
निर्गतस्तुषो अवशिष्टो बुशमात्रो यस्या सा । ‘तुषो बुशे’ इति हैम्याम् । केन । विधिना
सृष्टिकर्त्रा । विधिना कि चिकीर्षुणा । विधित्सुना कर्तुं काङ्क्षता । काम् । यदीया ना-
थीसबन्धिनीं वाच वाणीम् । नाथीवचनचातुरीमित्यर्थः ॥

कुशेशयादर्शसुधाशुजित्वरं विधाय वेधाः इदमीयमाननम् ।

इदं दृशा मा कुदृशा प्रदुष्यतादितीव चक्रे चिबुकेन दन्तुरम् ॥३१॥

वेधा विधाता अस्या इदम् इदमीयमानन वदन विधाय निर्माय । उत्प्रेक्ष्यते—इति
हेतो चिबुकेन असिकाध प्रदेशेन कृत्वा । ‘दन्तवस्त्र च तत्प्रान्तौ सृक्कणी असिक त्वधः ।
असिकाधस्तु चिबुकम्’ इति हैम्याम् । दन्तुर विषमोन्नत चक्रे कृतवानिव । किभूतमान-
नम् । कुशेशयानि पद्मानि, आदर्शा दर्पणा, सुधाशवश्चन्द्रा, तेषां जित्वर जयनशीलम् ।
यथा द्वादशसूर्यास्तथा चन्द्रा अपि बहव सन्ति । ‘स्फुरदम्भ सरोदम्भात्सैहिकेयमया-
दिव । राकामृगाङ्गा. सभूय विभान्ति शरणागता. ॥’ इति राघवपाण्डवीयचरित्रे । तथा—
‘विद्योर्विधिर्विम्बशतानि लोप लोप कुह्रात्रिषु मासि मासि । अभङ्गुरश्रीकमिम किमस्या मु-
खेन्दुमस्थापयदेकशेषम् ॥’ इति नैषधे । तत्र चन्द्राणां बहुत्वोक्तेर्न दोषः । इति किम् ।
यदिदमानन कुदृशा दुष्टानां दृशां दृग्दोषेण मा दुष्यताद्विकृतिं मा गच्छतादिति हेतुः ॥

विजित्य कान्त्या जगृहे क्रुधा यदाननेन लक्ष्मीः क्षणदापतेस्तथा ।

हृदस्फुटच्चेन्न कुतस्ततः सुधा निरित्वरी क्षुद्रतदङ्करन्ध्रतः ॥ ३२ ॥

यदाननेन नाथीमुखेन कान्त्या स्वशोभया । ‘आभा राढाविभूषा श्रीरभिख्याकान्ति-
विभ्रमा’ इति हैम्याम् । तथा—‘कान्ति शोभाकामनयो’ इत्यनेकार्थः । कामना इच्छा ।
‘प्रभाया काव्यगुणे च कान्ति’ इति तदवचूरि । विजित्य क्षणदापतेर्निशापतेश्चन्द्रस्य
तथा तेन प्रकारेण क्रुधा स्वस्पर्धिभावोद्भूतकोपेन लक्ष्मीर्जगृहे आदत्ता । तथा कथम् ।
यथा येन स्ववैभवादानाविर्भूताद्वैतदुःखातिरेकेण तस्य चन्द्रस्य हृत् हृदयमस्फुटत् स्फु-
टितम् इति चेन्न भवेत्तदा कुतः कारणात् क्षुद्रो लघुर्यस्तस्य चन्द्रस्याङ्गः कलङ्कः स एव
रन्ध्रं छिद्रं ततस्तस्मात्ततश्चन्द्रात्सुधा निरित्वरी निर्गमनशीला स्यात् ॥

समं यदास्येन मृधे महौजसा निरोजसाभाजि किमेणलक्ष्मणा ।

यतोऽमुनाद्यापि तदङ्कबोधिका व्यमोचि नाभ्रभ्रमणी कदाचन ॥ ३३ ॥

महौजसा महाकान्तिना महाबलेन वा महाप्रतापेन वा । ‘ओजो दीप्तिप्रकाशयो ।
अवष्टम्भे बले धातुतेजसो’ इत्यनेकार्थः । ‘प्राण स्थामतर पराक्रमबलयुन्नानि शौर्यो-
जसी’ इति हैम्याम् । ओजः शब्देन प्रतापोऽप्युच्यते । यथा नैषधे—‘तदोजसस्तयशसः
स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा । तनोति भानो परिवेषकैतवात्तदा विधिः
कुण्डलना विधोरपि ॥’ इति । यदास्येन नाथीमुखेन समं सार्वं मृधे सग्रामे निरोजसा
निर्बलेन एणलक्ष्मणा मृगलाञ्छनेन चन्द्रेण अभाजि भग्नम् । पलायितमित्यर्थः । यतो यस्मा-
त्कारणात् अमुना विधुना तस्य भङ्गस्य अङ्कश्चिह्नं तस्य बोधिका ज्ञापयित्री कथयित्री वा ।
‘निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिका’ इति नैषधे । कदाचनापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे । अद्ययाव-
दित्यर्थः । अभ्रे आकाशे भ्रमणी पर्यटनम् । ‘विवे कदाचिद्भ्रमणी विलासे’ इति नैषधे ।
नभसि भ्रान्तिर्न व्यमोचि न मुक्ता । नेत्यव्यय निषेधे ॥

त्रिनेत्रनेत्रानलभस्मितात्मभूप्रभोर्जगन्निर्जयवादनोचितः ।

जगत्कृतादाय यदङ्गनिर्मितौ किमेष कम्बुर्गलकन्दलीकृतः ॥ ३४ ॥

जगत्कृता विश्वविधायिना धात्रा यदङ्गनिर्मितौ नाथीदेहनिर्माणे । किमुत्प्रेक्ष्यते—एष
प्रत्यक्षः कम्बुः शङ्खो गलकन्दलीकृतः कण्ठपीठतां प्रापित इव । किं कृत्वा । आदाय
गृहीत्वा अर्थात् कम्बुम् । कस्य । त्रिनेत्रः शिवस्तस्य नेत्रं तृतीयलोचनं तस्यानलेन
कोपवह्निना भस्मितस्य ज्वलितस्य आत्मभूप्रभोः स्मरराजस्य । ‘आत्मभूः स्मरवेधसोः’
इत्यनेकार्थः । किंभूतः कम्बुम् । जगता सुरासुरनराणां निर्जये वादनस्योचितो योग्यः ॥

अनन्यलावण्यतरङ्गचङ्कतां नितम्बलीलापुलिनं च विभ्रती ।

धुनीव-रोधोविहसन्मृणालिका भुजाद्वयी या विभराबभूवुषी ॥ ३५ ॥

या नाथी भुजाद्वयीं बाहुयुगलीम् । ‘अस्त यान्ति सर्वस्तबाहुजभुजातेजःसहस्राशवः’

इति नैषधे । बिभराबभ्रुषी बिभर्ति स्म । केव । धुनीव । यथा सरित् रोधसि तटे विहसन्तीमुन्मिषन्तीं मृणालिका विसलता धत्ते । या कि कुर्वती । अनन्यस्यासाधारणस्य लावण्यस्य रूपातिशयस्य तरङ्गाणा चङ्गता चारुताम् । 'राजते जिनवचनपद्धतिरुक्तिचङ्गिममालिनी' इति पद्मसुन्दरकविकृतसंस्कृते चङ्गशब्देन मनोज्ञ । पुनः कि कुर्वती । नितम्ब आरोह स्त्रीकट्या पश्चाद्भाग । 'नितम्बारोहौ स्त्रीकट्या. पश्चाज्जघनमग्रतः' इति हैम्याम् । स एव लीलाकारि विलासविधायकमर्थान्मध्यपदलोपाद्वा पुलिन तट बिभ्रती धारयन्ती ॥

सकुङ्कुमैतद्वदनेन निर्जितं जिगीषया तच्छलदर्शनोत्सुकम् ।

किमागत कोकनदं तदन्तिके चकास्ति तस्या नवपाणिपल्लवः ॥ ३६ ॥

तस्या नाथीदेव्या नवन नव स्तुति । 'णु स्तुतौ' । सलक्षणतया दातृतया वा स्तुति-युक्तो यः पाणिपल्लव करकिसलय स चकास्ति । किमुत्प्रेक्ष्यते—कोकनद रक्तोत्पल तस्य मुखस्य समीपे पार्श्वे आगत समेतमिव । किभूतम् । सह कुङ्कुमेन घुसृणेन वर्तते तादृशा । रक्तीभूतेनेत्यर्थ । एतस्या कुराकान्ताया वदनेन मुखेन निर्जित पराभूतम् । 'अयमुदयति घुसृणारुणतरुणीवदनोपमश्चन्द्र' इति विदग्धमुखमण्डनकाव्ये । तथा—'स्पर्धामिलत्कुङ्कुमरोषभासा' इति नैषधेऽपि । अत एव । पुन किभूतम् । तस्य मुखस्य च्छलस्य स्खलितस्य दर्शने अवलोकने उत्सुकमुत्सुकीभूतम् । कया । जिगीषया अर्था-त्स्वशत्रोस्तन्मुखस्यैव जेतुमिच्छया । प्रतिपक्षो हि छले प्राप्ते परिभूयते ॥

पृथक्पृथक्पञ्चमुखद्विषन्मुखान्निहन्तुकामेन रुषा मनोभुवा ।

शराश्रये यत्करनाम्नि कल्पिता अमी शराः पञ्च किमङ्गुलीमयाः ॥ ३७ ॥

मनोभुवा चेतोजन्मना स्मरेण यस्या हीरजनन्या कर पाणिरेव नाम यस्य तादृशे तस्मिन्वा शराश्रये तूणीरे । किमुत्प्रेक्ष्यते—अङ्गुलीमया करशाखारूपा पञ्च कल्पद्रुमसख्याका अमी जनदृग्गोचरा कल्पिता रचिता इव । स्मरेण कि कर्तुकामेन । रुषा स्वव्यापादनापादनोदितद्वेषाकोपेन पञ्चमुख शत्रुरेव द्विषन् वैरी तस्य मुखान् पञ्चसख्याकानि वक्राणि । मुखशब्द पुनपुनरे । पृथक् पृथक् भिन्नानि भिन्नानि कृत्वा निहन्तुकामेन छेत्तुमिच्छता । एतावता पञ्च शिरासि छेत्तुमित्यर्थ । मुखशब्देन शिरसमेतमेव । यथा दशमुखस्य । 'हरिहरि हरिणीदृशो निमित्त दश दशकधरमौलयो लुठन्ति' इति खण्डप्रशस्तौ । यथा तत्र दश मौलयस्तथात्रापि पञ्चापि मस्तकानि इति ॥

यदीयपृष्ठे कनकत्विषि सितप्रसूनशून्येतरकुन्तलच्छटा ।

शिलातले स्वर्गिगिरेरिव ग्रहाङ्किताभ्रवीथी प्रतिबिम्बिता व्यभात् ॥ ३८ ॥

कनकत्विषि काञ्चनकान्तिनि यस्या इदं यदीय नाथीसबन्धि तच्च तत्पृष्ठं च तन्नोश्चरमः प्रदेष्टा । 'पृष्ठं तु चरमं तनो.' इति हैम्याम् । तत्र स्मितैर्विकसितैः प्रसूनैः पुष्पैः

शून्येतरा निर्भरभृता कुन्तलच्छटा केशश्रेणिर्व्याभाद्वभासे । केव । अभ्रवीथीव । ...
 ... यथा स्वर्गिगिरेर्मैरो काञ्चनेन स्वर्णत्वेन त्विषते दीप्यते इति काञ्चनत्विट
 तस्मिन् तादृशे शिलातले प्रतिबिम्बिता । 'तत्कम्बुप्रतिबिम्बित किमु शरत्पर्जन्यराजि-
 श्रिय' इति नैषधे । अभ्रवीथी गमनपद्धतिर्विभाति । 'वीथी वर्त्मनि पङ्क्तौ च गृहाङ्गे ना-
 द्यरूपके' इत्यनेकार्थः । किभूता अभ्रवीथी । ग्रहरूपलक्षणान्नक्षत्रताराग्रहैः अङ्किता
 सहिता ॥

परानवाप्यान्निजवासपत्तनान्मनोभिधानान्मदनावनीभुजः ।

जगद्विजेतुं चलितस्य हृत्सुमस्रजा पुरो वन्दनमालिकायितम् ॥ ३९ ॥

यस्या नार्थदेव्या हृत् हृदय तत्र वक्षसि सुमस्रजा पुष्पमालया मदनावनीभुजः स्मर-
 राजस्य पुरोऽग्रे पुरस्ताद्वन्दनमालिकायितः मङ्गल्यदामवदाचरितम् । मङ्गलाय जातमि-
 त्यर्थः । किंभूतस्य मदनस्य । चलितस्य प्रस्थितस्य । कुत । परैरन्यराजन्यजनेरवाप्तु
 योग्यमवाप्य न अवाप्यमनवाप्य तस्मात्प्राप्तुमशक्यात् मनोभिधानादर्थ्यात् नार्थचित्त-
 नान्न निजस्यात्मीयस्य पत्तनादधिष्ठाननगरात् । राजधान्या इत्यर्थः । एतावता स्वभर्तार
 विना परेण केनापि पुसा तन्मनः सर्वथापि ग्रहीतुमशक्यम् । एतेन विशेषणेन तस्याः स-
 तीत्वमसूचि । चलितस्य किं कर्तुम् । विजेतुं स्ववशीकर्तुम् । किम् । जगत् त्रिभुवनम् ॥

यदीयहृत्केलिनिकेतखेलिनं झषाङ्कमाकारयितुं सुहृत्तया ।

सिताशुनेव प्रहितोऽमुमण्डली विभाति यद्वक्षसि मौक्तिकावली ॥ ४० ॥

यस्या वक्षसि हृदये मौक्तिकावली हारलता हारमौक्तिकपङ्क्तिर्विभाति । उत्प्रेक्ष्यते—
 सिताशुना चन्द्रेण सुहृत्तया स्वमित्रत्वेन झषाङ्क मच्छलाञ्छनः काममाकारयितुं स्वपार्श्वं
 आह्वातुं प्रहिता प्रेषितोऽमुमण्डली तारकश्रेणिरिव । किंभूतः झषाङ्कम् । यदीयः नार्थीस-
 बन्धि हन्मन एव केलिनिकेतः क्रीडागृहं तत्र खेलतीत्येवशीलम् । 'भीमः कृत्वाङ्कखे-
 लिनम्' इति पाण्डवचरित्रे ॥

रथाङ्गलीला दधतौ प्रभाम्भसि स्तनौ तदीयौ स्फुरतः सचूचुकौ ।

मरन्दलुभ्यद्भ्रमरानुषङ्गिनौ(णौ) सुवर्णपङ्केरुहकुञ्जलाविव ॥ ४१ ॥

प्रभाम्भसि यत्कायकान्तिनीरपूरे रथाङ्गयोश्चक्रवाकयोर्लीला शोभा दधतौ धारयन्तौ
 तस्या इमौ तदीयौ नार्थीसबन्धिनौ कुचौ स्फुरतः । किंभूतौ । सह चूचुकाभ्यां स्तनवृ-
 न्ताभ्यां वर्तन्ते यौ । उत्प्रेक्ष्यते—सुवर्णपङ्केरुहयोः कनककमलयोः कुड्मलौ कोशाविव । कु-
 ञ्जलौ पुष्पीबलिङ्गे । किंभूतौ । मरन्देषु मधुषु लुभ्यता लोलुपीभवता भ्रमराणामनुषङ्गः
 सङ्गो ययोः । उपरिभ्रमरपरीरम्भितावित्यर्थः ॥

तनूलतागाधतरङ्गितप्रभाप्रतानपाथोधिपयस्तितीर्षया ।

हरिन्मणीसेतुरिवात्मजन्मना व्यधायि रोमावलिरेणचक्षुषः ॥ ४२ ॥

यस्या एणचक्षुषो मृगेक्षणाया रोमावलिलोमलेखा । इवोत्प्रेक्ष्यते—आत्मजन्मना स्मरेण हरिन्मणीना मरकतरत्नानाम् । नीलरत्नघटित इत्यर्थः । सेतु पद्येव व्यधायि निष्पादित । कया । तनूलता नार्थीकाययष्टिः तस्या अगाधमतिशायि अलब्धमध्य तथा तरङ्गित कलोलित यत् प्रभाणा कान्तीना प्रतान वृन्द स एव पाथोधि समुद्र तस्य पानीयाना तितीर्षया तरीतुमिच्छया । अथ वा 'रिरसया' इति पाठे तु समुद्रजले सहावरोधेन खेलितुमिच्छया । श्रूयते हि 'स्तम्भतीर्थे खासमोहल इति नाम्न स्वमन्दिराजलधिजले खेलनार्थी केनापि पातिसाहिना सेतु कारितोऽभूत्तदाकृतिरधुनापि किञ्चित् दृश्यते श्रूयते च' इति । अत्रोत्प्रेक्षार्थे स्मरेण, वास्तवार्थे त्वात्मजन्मना धात्रा । 'मन शृङ्गारसकल्पात्मनो योनि' इति स्मराभिधानम् । तथा 'नाभिपद्मात्मभूरपि' इति धातुरभिधा । इदं द्वयमपि हैम्याम् ॥

द्रवीभवद्भूरिसिताभ्रचन्दनप्रगल्भवालहीककुरङ्गनाभिभिः ।

विलिप्य काचित्कुतुकात्पृथग्वलीः कदाचिदेतामिदमूचुषी सखी ॥ ४३ ॥

काचित्सखी कदाचित्प्रसाधनसमये एता नार्थीदेवीमिदमग्रे वक्ष्यमाणमूचुषी कथितवती । किं कृत्वा । कुतुकात्कौतूहलाद्वलीरुदरवातिमाससकोचलक्षणा रेखा विलिप्य लिप्त्वा । काभि । द्रवीभवन्त्य सपङ्कजलभाव भजन्त्यो या भूरि प्रचुर, सिताभ्र कर्पूरो यत्र तादृक्चन्दन श्रीखण्डम्, तथा प्रगल्भ मनोज वालहीक कुङ्कुमम्, तथा कुरङ्गनाभिः कस्तूरिका, ताभि । कथम् । पृथक् एका वलीं चन्दनेन, द्वितीया वलीं कुङ्कुमेन, तृतीया वलि कस्तूरिकयेत्यर्थः । इदं किमुवाच तदेवोच्यते ॥

त्वया स्वकीर्त्या सुमनस्तरङ्गिणी वचोविलासेन पुनः सरस्वती ।

यमस्वसा कुन्तलभङ्गिभिर्जिता भजन्त्युपेत्य त्रिवलीच्छलादिव ॥ ४४ ॥

हे सखि, त्वया भवत्या स्वकीर्त्या अद्वैतपतिव्रताव्रतोद्भूतात्मयशसा सुमनस्तरङ्गिणी सुरसरिद्वजा । पुनर्वचोविलासेन वचनचातुर्येण सरस्वती ब्रह्मपुत्री । पुन कुन्तलाना केशाना भङ्गिभी रचनाभिर्यमस्वसायमुना तिष्ठोऽपि नद्यो जिता सन्त्य उपेत्य पार्श्वे आगत्य त्रिवलिच्छलादुदरस्यवलित्रिकपटाद्भजन्तीव सेवन्ते इव । इत्यनयासाधारणयोत्प्रेक्षया तत्तनूलताया त्रिवेणीसगमोऽपि सूचितस्तेन च सा तीर्थभूतापि प्रतिपादिता । तीर्थे च महापुरुषागमनं संभवत्येव । तेन महापुरुषस्य हीरविजयसूरेत्रावतरणं युक्तमेवेति ॥ युग्मम् ॥

निरीक्ष्य लक्ष्मीं निजभर्तृमातरं स्थिता सदाध्यास्य विजृम्भि पङ्कजम् ।

इवानुकर्तुं रतिरात्मनापि ता यदीयनाभीनलिने निषेदुषी ॥ ४५ ॥

रति कन्दर्पपत्नी यदीयनाभीनलिने नाभीतुन्दकूपिणाकमले । 'नाभि स्यात्तुन्दकूपिका' इति हैम्याम् । 'नाभीविलेपात्पुनरुक्तयन्तीम्' इति नैषधे । निषेदुषी स्थितवती । इवोत्प्रेक्ष्यते—आत्मना स्वेन स्वयमपि लक्ष्मीमनुकर्तुं कमलायाः सदृशी भवितुमिव ।

किं कृत्वा । निरीक्ष्य दृष्ट्वा । अर्थात् काम् । ता लक्ष्मीम् । किंभूताम् । निजस्या-
त्मनो भर्तुं कन्दर्पस्य मातरं जननीं स्वश्वश्रुम् । पुनः किंभूताम् । स्थिता वसन्तीम् ।
किं कृत्वा । विजृम्भि पङ्कज स्मेरारविन्द सदा नित्यमध्यास्य आश्रित्य ॥

अगण्यलावण्यतरङ्गचङ्गिमानुषङ्गिशोचिः सुरसिन्धुसनिधौ ।

निखेलितुं किं पुलिनं सराभ्रमूप्रियस्य यस्या जघनं विधिव्यधात् ॥ ४६ ॥

विधिर्ब्रह्मा यस्या जघनं स्त्रीकट्या अग्रेतनप्रदेशः । 'पेट्' इति जने प्रसिद्धम् । तद्व्य-
धात् चकार । किमुत्प्रेक्ष्यते—स्मरं काम एवाभ्रमूप्रिय ऐरावणस्तस्य । अभ्रमूशब्दो दी-
र्घोकारान्तः । तस्य शास्त्रोक्तानि प्रागुक्तानि सन्ति । खेलितुं क्रीडितुं पुलिनं जलोज्झितं
तटमिव । कुत्र । अगण्य प्रमातुमशक्यमेतावत्तया सम्यङ्निश्चेतुमशक्यं वा यलावण्यं य-
द्यपि 'सद्वनसन्निरीक्षणसज्जल्पनमिति वदन्ति लावण्यम् । स्पृहणीयो रतिसुभगः स्पर्श-
गुणो भवति सौभाग्यम् ॥' एव प्रतिपादितमस्ति, तथाप्यत्र तु कोऽप्यद्वैतरूपातिशयः
एव लावण्यमुच्यते न प्राक्तनः । वपुः सुभगता । तस्य तरङ्गाणां लहरीणाम् । 'रूपचतुर-
पणविभवघणयौवनलहरइ जाइ । एणइ अवसरि रडापणु पणिपणि पटकइ माइ ॥' इति
दोधकेऽप्युक्तम् । चङ्गिन्नाश्वासस्वस्यानुषङ्गोऽस्त्यस्य चङ्गिन्नास्तु प्रागुक्तम् । अत्रेमन्प्रत्ययः ।
तादृक् । शोचिरेव कान्तिरूपा सुरसिन्धुर्गङ्गा तस्याः सनिधौ पार्श्वे ॥

अजय्यवीर्यं मृडमन्यहेतिभिर्विजित्वरीभिर्जगतोऽपि जानता ।

स्मरेण धात्रा किमु कार्यते स्म यन्नितम्बचक्रं युवयोगिधैर्यजित् ॥ ४७ ॥

स्मरेण कामेन कर्त्रा धात्रा विश्वसृष्टिकृता पार्श्वे । किमुत्प्रेक्ष्यते—यस्या नितम्बः कटी-
पश्चाद्भाग आरोहः एव चक्रं कार्यते स्म । कारितम् । स्मरेण किं कुर्वता । जानता अ-
वधारयता । किं कर्मतापन्नम् । मृडमंश्वरम् । किलक्षणम् । अजय्य जेतुमशक्यं वीर्यं
विक्रमो यस्य तम् । काभिः । अन्याभिरपराभिर्हेतिभिर्धनुर्बाणकृपाणकुन्तशक्तिप्रमुख-
प्रहरणैः । किंभूताभिः । जगतः समस्तस्य विश्वजनस्य विजित्वरीभिर्जयनशीलाभिः ।
तर्हि चक्रेणापि किं भाविः । अतः एव किं चक्रं युवानो यावन्निजगत्तरुणा योगिनः समाधि-
भाजः तेषां धैर्यं सत्त्वमतिशयवद्दीर्यमवष्टम्भयतीति । शत्रुरपि योगी । अतस्तद्वैर्यवि-
भवमकारकं चक्रं कारितमिति ॥

करीन्द्रहस्तात्कदलीपकाण्डतो निरस्य कार्कश्यमसारता पुनः ।

इमौ किमादाय परस्परोपमं यदूरुयुग्मं विविना विनिर्ममे ॥ ४८ ॥

विधिना विधात्रा यस्या ऊरुयुग्मं विनिर्ममे कृतम् । किंभूतम् । परस्परमन्योन्यमे-
वोपमा सादृश्यं यस्य तत् । किमुत्प्रेक्ष्यते—इमौ करीन्द्रहस्तकदलीप्रकाण्डौ आदाय गृह्य-
त्वा किमु चक्रे । किं कृत्वा । निरस्य अपाकृत्य कर्षयित्वा । किम् । कार्कश्यं कठि-
नताम् । कस्मात् । करीन्द्रः प्रधानहस्ती भद्रजातीयगन्धसिन्धुरसतस्य हरतः शृण्वादण्ड-

स्तस्मात् । पुन कि कृत्वा । निरस्य अपास्य । काम् । असारताम् । कुत । कदली-
प्रकाण्डत रम्भाद्रुमस्य मूलशाखावधिप्रदेशस्यान्तरालभागात् ॥

यदूरुजङ्घायुगयोर्विवृत्सतोः परस्पराद्वैतविरोधिताजुषोः ।

द्विराजताया भयतस्तदन्तरानिवासिजानू किमलक्ष्यता गतौ ॥ ४९ ॥

यस्या ऊरुजङ्घायुगयोरन्तराले मध्ये निवासिनौ नितरा वसनशीलौ जानू ऊरुपर्वणी
अलक्ष्यतामदृश्यभाव गतौ प्राप्तौ । कि कर्तुमिच्छतो । विवृत्सतो वधितुमिच्छतो ।
किमतयोर्यदूरुयुगयो — परस्परमन्योन्य या अद्वैतता असाधारणत्व तथा विरोधितावै-
रिभाव । ऊरु जङ्घे आक्रम्य तदुपरिस्थिते । इदमेव परमविद्वेषिताम्लम् । ता जुषेते
सेवेते । किमुत्प्रेक्ष्यते—द्वौ राजानौ यत्र तद्विराज द्विराजस्य भावो द्विराजता द्वेराज्यस्य
भयतो भयात् किमदृश्यता याताविव ॥

रतीशगेहेऽजनि यत्र जङ्घयोर्गृहाश्रयस्थूणिकयोरिव द्वयम् ।

यदीयगुल्फावपि गुप्तता गताविवाङ्मिशोचिः सलिले निमज्जनात् ॥ ५० ॥

यत्र देहे जङ्घयोर्द्वयमजनि । उत्प्रेक्ष्यते—रतीशस्य स्मरस्य गेहे मन्दिरे गृहाश्रययो
सौधाधारभूतयो स्थूणिकयोः स्तम्भयोर्द्वयमिव । अपि पुनर्यदीयगुल्फौ नाथीचरणग्रन्थी
गुप्तता प्रच्छन्नता प्राप्तौ । स्त्रीणा गुल्फावदृश्यावेव वर्ण्येते । यथा नैषधे—‘अरुन्धती का-
मपुरन्ध्रलक्ष्मीजम्भद्विषदारनवाम्बिकानाम् । चतुर्दशीय तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता
यददृश्यसिद्धि ॥’ एतद्वृत्ति —‘वसिष्ठपत्नी च, रतिश्च, लक्ष्मीश्च, जम्भद्विषद्वारा शची
सा च, नवाम्बिकानवदुर्गास्ताश्च, एतासामिय भैमी चतुर्दशी चतुर्दशसख्यापूरिकापि
चतुर्दशी तियिश्च तत्तुल्येत्यर्थ । तदिहास्या भैम्यामुचितैव यतो हेतोरदृश्यसिद्धिरदृश्यत-
यावस्थानम् अन्तर्धानविविधविद्या गुल्फद्वयेनाप्ता । अरुन्धत्यादिसन्निधाने अदृश्यसिद्धि-
र्युक्तैव । चतुर्दशीतिथौ चादृश्यसिद्धिर्जायते इत्यागमशास्त्रसप्रदाय । गुल्फयोश्चानभिव्य-
क्तत्व सुलक्षणम्’ इति । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—अङ्गयोश्चरणयो शोचि कान्तिरेव सलिल पा-
नीय तस्मिन्निमज्जनाद्ब्रूनादिव । जले निमग्न न दृश्यते इति प्रसिद्धि ॥

पदारविन्दोन्नतताभिरात्मनः पराजितैः कुञ्जरराजयानया ।

अगोपि मन्दाक्षविलक्षितात्मभिर्वने वसद्भिः कमठैरिवाननम् ॥ ५१ ॥

कमठै कच्छपैरानन स्वमुखमगोपि गुप्तीकृतम् । क्रोटिक्षेपणादिति शेष । कि कुर्वद्भि ।
वने जले विपिनेवावसद्भिस्तिष्ठद्भि । ‘वन प्रस्रवणे गेहे प्रवासेऽम्भसि कानने । समूहे पर्वते-
ऽपि स्यात् (प्रस्रवणे निर्झरे)’ इत्यनेकार्थ । किमुत्प्रेक्ष्यते—कुञ्जरराजयानया गजेन्द्रगमनया
यया आत्मन स्वस्य पदारविन्दयोश्चरणकमलयोरुन्नतताभि पराजितै सद्भिः मन्दाक्षेण
लज्जया विलक्षितो विमनीभूत आत्मा चित्त यस्य तादृशै किमास्यमगोपि । ‘आत्मा
चित्ते वृतो यत्ने विषणाया कलेवरे । परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः ॥ स्वभावे,
इत्यनेकार्थ ॥

यदीयपादौ सरलाङ्गुली द्युता करम्बितौ आकृतिकारिनूपुरौ ।

श्रियानुयातः कमले दलदले मरन्दनिःस्यन्दिनदत्तिसतच्छदे ॥ ९२ ॥

यदीयौ पादौ नाथीसबन्धिनौ चरणौ श्रिया शोभया कमले पद्मे अनुयात अनुकुरुत । सदृशौ भवत इत्यर्थः । किभूतौ पादौ । सरला अकुटिला अङ्गुलयः पदशाखा ययोः । पुनः किभूतौ । द्युता कान्त्या करम्बितौ व्याप्तौ । पुनः किभूतौ । आकृति रणज्ञाणिति-शब्द कुरुत इत्येवशीलौ नूपुरौ मञ्जीरौ ययोः । कमले किभूते । दलन्ति विजृम्भमाणानि दलानि पत्राणि ययोः । पुनः किभूते । मरन्द मधु नि स्यन्देते क्षरत इत्येवशीले । तथा—नदन्तः शब्दायमानाः सितच्छदा हसा ययोस्तौ पश्चात्कर्मधारयः ॥

प्रभाप्रथातैलकरम्बितान्तरे यदङ्घ्रिपात्रेऽङ्गुलिवर्तिवर्तिनः ।

नखाः प्रदीपा इव विस्फुरन्निषोऽपुषन्विभूषामभिभूततामसाः ॥ ९३ ॥

नखा अर्थान्नाथीकामाङ्कुशाः प्रदीपा इव विभूषा शोभामपुषन् पुष्टामकार्भुः । क । यदङ्घ्रिपात्रे यस्याश्चरणनाम्नि अमत्रे भाजने । किभूते । प्रभाना कान्तीना प्रथा विस्तार एव तैल स्नेहस्तेन करम्बितमर्थात्सपूर्णमन्तर मध्य यस्य तस्मिन् । नखाः किभूता । अङ्गुलय एव वर्तयो दशास्तासु वर्तन्ते तिष्ठन्तीत्येवशीलाः । पुनः किभूता । विस्फुरन्ती विद्योतमाना त्विट् ज्योतिर्येषा ते । पुनः किभूता । अभिभूता ध्वस्तास्तामसास्तमसा ध्वान्ताना समूहा यैस्ते । 'तामसास्तिग्मरोचिषः' इति वीतरागस्तवे ॥

व्यलीलसत्पाटलिमा पदाम्बुजद्वयस्य यस्याः सरसीजचक्षुषः ।

स्वमार्दवेनाभिभवं विधित्सतः प्रवालपुञ्जैरुपदीकृतः किमु ॥ ९४ ॥

सरसीज कमल तद्वच्चक्षुर्लोचन यस्यास्तादृश्या यस्याः पदाम्बुजयोश्चरणकमलयोर्द्वयस्य युगलस्य पाटलिमा रक्तता व्यलीलसद्भासते स्म । किमुत्प्रेक्ष्यते—स्वमार्दवेन निजसुकुमारतया अभिभव पराभूति विधित्सतो विधातुमिच्छत चरणारविन्दद्वन्द्वस्य प्रवालपुञ्जैः पल्लवपटलैः उपदीकृत किमु । ढौकित इव ॥

असौ जयन्ती जलज स्वपाणिना रदैश्च तारश्रियमात्मना रमाम् ।

मृगाङ्गमास्येन रुचा च चम्पकं स्मरस्य हेतिः किमु विश्वजित्वरी ९५

असौ नाथीदेवी । किमुत्प्रेक्ष्यते—विश्वजित्वरी जगज्जयनशीला स्मरस्य कामस्य हेति किमु शस्त्रमिव । जगज्जिष्णुता दर्शयति—असौ किं कुर्वती । जयन्ती पराभवन्ती । किम् । जलज कमलम् । केन । स्वपाणिना निजहस्तेन । पुनः काम् । तारश्रिय तारकाणा निर्मलमौक्तिकाना वा । 'तारो निर्मलमौक्तिके' इत्यनेकार्थवचनात् । यद्वा रजतानां श्रिय शोभाम् । नक्षत्रवाची तारशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । 'प्रथममुपहृत्यार्थं तारेखण्डिततण्डुलैः' इति नैषधे । कै. । रदैर्दन्तैः । पुनः काम् । रमा लक्ष्मीम् ।

केन । आत्मना स्वरूपेण शरीरेण वा आत्मशब्देन च वपु । प्राग्नेकार्थोक्तेन दाशतम-
स्तीति । पुनः कम् । मृगाङ्ग चन्द्रम् । केन । आस्येन वदनेन । अपि पुनः किम् ।
चम्पक हेमपुष्पकम् । चम्पककुसुममित्यर्थः । जातावेकवचनम् । कया । रुचा कान्त्या ॥
इति नाथीसर्वाद्वर्णनम् ॥

अथो मिथः प्रीतिपरीतदम्पती इमौ कलाकेलिविलासशीलिनौ ।

विलेसतुः केलिसरः सरिद्वनीगिरीन्द्रभूमीषु रतिस्मराविव ॥ ९६ ॥

अथो कुरानाथीदेव्योर्गुणरूपवर्णनानन्तरं तयोर्विविधक्रीडावर्णनारम्भः । मिथः परस्परं
प्रीत्या स्नेहेन प्रमोदेन वा परीतौ व्याप्तौ दम्पती स्त्रीभर्तारौ इमौ नाथीकुराख्यमहेभ्यो
अथवा इमौ पूर्वं व्यावर्णितस्वरूपौ दम्पती नाथीकुराव्यवहारिणौ केलये क्रीडार्थं ये
सरासि पद्माकराः सरितो नद्यः वन्य उद्यानानि गिरीन्द्राः सर्वक्रीडास्पदोपेता पर्वता
तेषां भूमीषु स्थानकेषु विलेसतुः विविधक्रीडा चक्रतुः । इमौ किभूतौ । कलाकेले कामस्य
विलास लीला शीलतो भजत इत्येवशीलौ । इवोत्प्रेक्ष्यते—इमौ रतिस्मरौ केलती-
कामाविव ॥

सकाकतुण्डैणमदद्रवाङ्कितोरसोः परिक्षालनतः कदापि तौ ।

सुतामिवार्कस्य विहारवाहिनी विनिर्मिमाते जलकेलिलालसौ ॥ ९७ ॥

कदापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे दम्पती नाथीकुराख्यौ सह काकतुण्डेन कृष्णागुरुणा
वर्तते तादृशस्यैणमदस्य कस्तूरिकाया द्रवः पङ्कस्तेनाङ्कितयोर्व्याप्तयोरुरसोर्वक्षःस्थलयो
परिक्षालनतो धावनतः विहारवाहिनी विलासनदीम् । ‘विहारस्तु जिनालये । लीलाया
भ्रमरे स्कन्धे’ इत्यनेकार्थः । ‘निद्रा विहारार्धपये गतानाम्’ इति रघौ । अर्कस्य सुता-
मिव यमुनामिव कस्तूरीद्रवैः श्यामलीकृतजलाम् अतः एव यमुनोपमा निर्ममाते कुर्वाते ।
किभूतौ । जलकेलौ सलिलक्रीडाया लालसौ लोलौ । ‘लालसा लोलयाञ्जयोः । तृष्णाति-
रेके औत्सुक्ये’ इत्यनेकार्थः ॥

कुमुत्सिता षट्पदपङ्क्तिकुन्तला सितोत्पलाक्षी कजकुङ्कुलस्तनी ।

प्रियेव पाथःप्लवने सहसिका तरङ्गबाहुः सरिदालिलिङ्ग तम् ॥ ९८ ॥

सरित् क्रीडानदी पाथःप्लवने जलकेलिसमये स्नानविधाने त महेभ्यः कुरासाधुमालिलिङ्गः ।
केव । प्रियेव । यथा पाणिगृहीती पत्नी स्वगतिमाश्लिष्यति । किभूता नदी प्रिया च ।
कुमुत्कैरवम् । जातावेकवचनम् । तदेव तद्वद्वा स्मितमीषद्वसित यस्याः सा । भर्त्रा श्लेष-
णसमये स्त्रिया किचित्स्मितं जायते । पुनः किभूता । षट्पदानां भ्रमराणां पङ्क्तयः त्रेणयस्ता
एव तद्वच्च श्यामाः कुन्तलाः केशा यस्याः । पुनः किभूता । स्मितं विकसितं यदुत्पलं
तदेव तद्वद्वा अक्षिणी चक्षुषी यस्याः । ‘किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्यस्त्रिदशप-
तिरहल्या तापसी यत्सिषेवे’ इति चम्पूकथायाम् । पुनः किभूता । कजकुङ्कुलोः कमल-
मुकुलौ तावेव तद्वद्वा स्तनौ कुचौ यस्याः । पुनः किभूता । हस एव हसकः । ‘हसको

हसन्पुरयो ' । सह हसकेर्मरालहसकाम्या नूपुराम्या वा वर्तते या । पुन किभूता । तरङ्गो
अर्थादुभयपार्श्ववर्तिनौ कल्लोलौ तावेव च तत्तुल्यौ बाहू भुजौ यस्याः ॥

विजृम्भिजाम्बूनदपद्मनिष्पतत्परागपिङ्गीकृतवारिशालिनि ।

समं करिण्या करिणेव पङ्कजाकरेऽमुनाक्रीडि कुरङ्गचक्षुषा ॥ ५९ ॥

अमुना कुरामहेभ्येन कुरङ्गचक्षुषा स्वमृगलोचनया आत्मस्त्रिया सम कदाचित्पङ्कजा-
करे कमलकलिततटाके अक्रीडि क्रीडा चक्रे । किभूते पङ्कजाकरे । विजृम्भीणि विस्मे-
राणि जाग्बूनदानि सौवर्णानि यानि पद्मानि तेभ्यो निष्पतद्भिर्नि सरद्भिर्विगल्भि परागै
रजोभि पिङ्गीकृतेन पीतता प्रापितेन वारिणा जलेन शालते शोभते इत्येवशीलस्तस्मिन् ।
कनककमलसद्भावश्चम्पूकथोक्तेन प्राग्दर्शितोऽस्तीति । केनेव । करिणेव । यथा करिणा
हस्तिना करिण्या स्वहस्तिन्या सम विन्ध्याचलजलाशये क्रीड्यते ॥

स्मितारविन्दोदयदिन्दुविभ्रमादिवाम्बुलीलासमये तयोर्मुखे ।

विमुग्धसारङ्गचकोरशावका मरन्दपीयूषपिपासयाभजन् ॥ ६० ॥

विमुग्धा अचतुरा सारङ्गाणा भृङ्गाणाम् । 'सारङ्गो हरिणे शैले कुञ्जरे चातके खगे ।
शबले चिञ्चिरीके च' इत्यनेकार्थतिलके । चकोराणा ज्योत्स्नाप्रियाणा शावका बाला अम्बु-
लीलासमये जलक्रीलाकरणव्यतिकरे तयोर्नाथीकुरामहेभ्ययोर्मुखे वक्त्रे अभजन् सेवन्ते
स्म । कया । मरन्दाना मयूना पीयूषाणाममृताना च पिपासया पातुमिच्छया । इवोत्तो-
क्ष्यते—स्मितारविन्दस्य विकसितकमलस्य तथा उदयत उदय गच्छत इन्दोश्चन्द्रस्य च
भ्रमाद्भ्रान्ते । 'कणे हत्य चकोरीणा गण पीत्वा सुधासवम् । अजायत मदेनेव गुञ्जापुञ्जा-
रुणक्षणे ॥' इति चकोराणा सुधापान वस्तुपालकीर्तिकौमुद्याम् ॥

प्रफुल्लकङ्कलिरसालमल्लिकाकदम्बजम्बूनिकुरम्बचुम्बिते ।

अलीव साक सुदृशा स निष्कुटे कदापि रेमे श्रितसूनशीलनः ॥ ६१ ॥

स महेभ्य कदापि कस्मिन्नपि समये सुदृशा स्वस्त्रिया साक सार्ध निष्कुटे गृहारामे
रेमे कीडति स्म । क इव । अलीव । यथा भ्रमरो भ्रमर्या सममारामे रमते । किमत । श्रित
निमित्त सूनाना कुसुमाना शीलनमवचयमालाग्रन्यनप्रियावतसीकरणादि येन । भृङ्गोऽपि
पुष्पसेवी । किभूते निष्कुटे । प्रफुल्ल कुसुमिता ये कङ्कलयोऽङ्गोका , रसाला सहकारा ,
मल्लिका विचकिला , कदम्बा नीपाः धाराकदम्बाश्च, जम्ब्व श्यामफला प्रसिद्धा
तेषा निकुरम्ब वृन्द तेन चुम्बिते कलिते ॥

रसालसालस्य तले विलासिना प्रणीय वीणा कणनानुवादिनीम् ।

अगीयत श्रोत्रसुधारसोपम क्वचिन्मृगाक्ष्या सह किनरेन्द्रवत् ॥ ६२ ॥

विलासिना क्रीडाशीलेन कुरासाधुना मृगाक्ष्या स्वप्रियया नाथीदेव्या सह कुत्रापि
कस्मिन्नपि वनप्रदेशे रसालसालस्य सहकारतरोस्तले अंधोभूमौ श्रोत्रयोः कर्णयोः सुधा-

रसस्य अमृतनिस्यन्दस्य उपमा साम्य यत्रैवविधमगीयत गीतम् । किं कृत्वा । कणन निजध्वनिमनुवदतीति अनुकरोतीत्येवशीला वीणा प्रणीय सजीकृत्य । किवत् । किनो-
न्द्रवत् । यथा किपुरुषेश्वरेण स्वरसेन स्त्रिया सह गीयते ॥

कदापि मन्दार इव स्मितद्रुमे विलासदोलामवलम्ब्य लीलया ।

न्यखेलि तेनोपवने मृगीदृशा समं स्वदेव्या द्युसदेव नन्दने ॥ ६३ ॥

कस्मिन्नप्यवसरे तेन व्यवहारिणा मृगीदृशा स्वदयितया सह उपवने पुंस्य वा स्वगृ-
हस्य समीपारामे लीलया शृङ्गारभावजक्रियया न्यखेलि क्रीडितम् । 'लीला केलिविलासश्च
शृङ्गारभावजा क्रिया' इत्यनेकार्थः । अत्र विलास स्थानादीना वैशद्यमित्यवच्छेदः । किं कृत्वा ।
मन्दारे कल्पद्रुमे इव । कस्मिन्नपि स्मितद्रुमे विकसिततरौ । तरुशाखायामियर्थः । विलासार्थं
दोला क्रीडाकृते प्रेङ्खोलनमवलम्ब्याश्रित्य । केनेव । द्युसदेव । यथा देवेन स्वदेव्या सम
मन्दारे मन्दारगन्धे कल्पवृक्षे दोला बद्धा नन्दनवने क्रीड्यते ॥

कदाचिदिग्यः कलधौतभूधरे चिखेल सार्धं परमाणुमध्यया ।

मृगाङ्गचूडामणिरद्विचक्रिणस्तनूजयेवाद्भुतभूतिभासुरः ॥ ६४ ॥

इग्यो व्यवहारी कदाचित्कस्मिन्नपि वासरे कलधौतभूधरे क्रीडार्थनिर्मितरजतपर्वते
परमाणुमध्यया स्वकृशोदर्या नाथीदेव्या समम् । 'अध्यापयाम परमाणुमध्या' इति ने-
षधे । चिखेल खेलति स्म । श्वेत्याद्रूपतुल्योरूपमयो वा । तथा चम्पूकथायाम्—'राजते
राजतेनाय सानुना सानुनायक' इति । यथा शृङ्ग तथा सर्वोऽप्यद्वि । क इव । मृगाङ्ग-
चूडामणिरिव । 'मृगाङ्गचूडामणिवर्जनार्जितम्' इति नैषधे । यथा—ईश्वरोऽद्विच
क्रिणो हिमाद्रेस्तनूजया पुत्र्या पार्वत्या सम रूप्याचले कैलाशे खेलति । इभ्यः किम् ।
अद्भुतया विद्वच्चेतश्चमत्कारकारिण्या भूत्या सपदा भासुरो नागरिकेषु दीप्यमानः । शिवस्तु
भस्मना शुभ्रः । 'भूतिस्तु भस्मनि । मासपाकविशेषे च सपदुत्पादयोरपि' इत्यनेकार्थः ॥

विनोदमेव सृजतोरहर्निश तयोः स्मरज्ञैकवशवदात्मनोः ।

दिनानि दोगुन्दकदेवयोरिव प्रमोदभाजोरतिचक्रमुः क्रमात् ॥ ६५ ॥

तयोर्नाथीकुराव्यवहारिणो क्रमाद्विविधविलासकरणपरिपाठ्या दिनानि वासरा अति-
चक्रमुरतिक्रामन्ति स्म । तयोः किम्भूतयोः । प्रमोदभाजोगनन्दमेदुरयोः । पुनः किम्भू-
तयोः । स्मरस्य मदनस्याशा आदेशः तस्या एकोऽद्वितीयो वशवद आयत्त आत्मा चित्तं
च ययोस्तौ । पुनः किं कुर्वतो । एव पूर्वोक्तप्रकारेण अहर्निश निरन्तरं विनोदक्रीडा
सृजतोः । कयोरिव । दोगुन्दकदेवयोरिव । यथा दोगुन्दकदेवयोर्विविधक्रीडाकुर्वतोर्वा-
सरा अतिक्रामन्ति ॥ इति दम्पत्योर्वनादिक्रीडाकरणादि ॥

कदाचिदम्भोरुहिणीव निद्रया सुखं प्रसुप्ता प्रहरेऽन्तिमे निशः ।

तदङ्गनाम्वक्षसरोवगाहिनं न्यभालयज्जम्भनिशुम्भकुम्भिनम् ॥ ६६ ॥

कदाचिदाधानकाले तदङ्गना कुरापत्नी नाथी निशो रात्रेरन्तिमे पश्चिमे चतुर्थे प्रहरे
यामे जम्भनाम्नो दैत्यस्य निशुम्भो हिसन यस्य यस्माद्वा । स इन्द्रस्तस्य कुम्भिनमैरावण
न्यभालयत्पश्यति स्म । किभूतम् । स्वप्न एव सरस्तटाकस्तमवगाहते भजते इत्येव-
शील । ऐरावणोऽपि तदङ्गना इत्यतोऽकारपृथक्करणेन अस्वप्नाना सरो नन्दीसरोनामान
पद्माकरमवगाहते मध्ये प्रविश्य क्रीडया इतस्तत स्वेच्छया गच्छतीत्येवशील स्यात् ।
किभूता तदङ्गना । निद्रया निरर्तिस्वापेन । अतएव सुखं यथा स्यात्तथा । सातेनेत्यर्थः ।
प्रसुप्ता शय्याया शयाना । केव । अम्लुरुहिणीव । यथा पद्मिनी रात्रौ रवपिति ॥

अथ चतुर्भिर्गज विशिनष्टि—

श्रियेव निर्जित्य समग्रदिग्गजान्धृतेर्जयाङ्कैश्चमरैर्विराजितम् ।

प्रभु धराणामिव धात्वधित्यका स्वमूर्ध्नि सिन्दूररुचि च बिभ्रतम् ॥ ६७ ॥

किलक्षण गजम् । चमरै रोमगुच्छैर्विराजित शोभितम् । इवोत्प्रेक्ष्यते—श्रिया
शौण्डीरिमतुङ्गिमश्चेतिमलक्षणागणितगुणगणादिमस्वलक्ष्म्या समग्रान् सर्वान् । पुण्डरीक-
वामन कुमुद-अञ्जन-पुष्पदन्त-सार्वभौम सुप्रतीकाख्यान् सप्त दिग्गजान्निर्जित्य जित्वा
जयाङ्कैस्ताद्विजयसूचकैर्वृतैरिव । पुन कि कुर्वन्तम् । बिभ्रत धारयन्तम् । काम् । सि-
न्दूरस्य शृङ्गारभूषणस्य रुचि कान्तितम् । रक्तिमानमित्यर्थः । कस्मिन् । स्वमूर्ध्नि निजमस्तके ।
कमिव । धराणा प्रभुमिव । यथा गिरिराजो हिमाद्रिर्धातोर्गैरिकस्य अधिन्यकामर्ध्व-
भूमौ धत्ते ॥

अखण्डचण्डेतरधाममण्डलान्तरालतो निर्गतमङ्गवर्त्मना ।

महीतले स्त्यानतया कथचनावतिष्ठमानं किमु वा सुधारसम् ॥ ६८ ॥

वा अथवा । गज किमुत्प्रेक्ष्यते—महीतले भूमण्डले स्त्यानतया स्तिमितत्वेन कथंचन
केनापि प्रकारेण अवतिष्ठमान स्थिति कुर्वाण सुधारसमिन् । किमुत्प्रेक्षायाम् । किमत
सुधारसम् । अखण्डस्य सपूर्णस्य चण्डाक्षणादितर गिशिर धाम तेनो यस्यैतावता
चन्द्रस्य मण्डल बिम्ब तस्यान्तरालतो मध्यान्निर्गत नि स्रतम् । केन । अङ्गवर्त्मना ला-
ञ्छनमार्गेण ॥

सृजन्तमुच्चैः स्वकर मदोदयात्कुलाद्रिसान्द्रप्रतिनादमन्दुरै ।

स्वगर्जितैः स्पर्धितया पयोमुचा चमू विगायन्तमिवातिकोपतः ॥ ६९ ॥

गज कि कुर्वन्तम् । मदरयोन्मत्तताया उदयादाविर्भावात्स्वकर निजशुण्डादण्डमुच्च-
हर्ध्व सृजन्त कुर्वन्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—स्वगर्जितैरात्मगर्जारावै सार्ध स्पर्धितया दृग्गपित्वेन
अतिकोपतोऽधिकक्रोधात् पयोमुचा मेघाना चमू मनीकम् । वृन्दमित्यर्थः । विगायन्त-
मवगणयन्तमिव । ‘नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने’ इति रघुवशे । अनीकवच्चम् । किभूतै-
र्गर्जितैः । कुलाद्रिषु मन्दरप्रमुखकुलशैलेषु सान्द्रेण बहुलेन प्रतिनादेन प्रतिराज्ये
मेदुरै पुष्टै ॥

कुतूहलेनेव महीविहारिणं महीधरं कैरवबन्धुधारिणः ।

किमेतयोर्भाग्यनभोमणेरहः शरद्विधोर्वा किमु पिण्डितं महः ॥ ७० ॥

अथ वा उत्प्रेक्ष्यते—कुतूहलेन कौतुकेन मह्या पृथिव्या विहरति खेलति इत्येव-
शील कैरवबन्धु चन्द्र धरतीत्येवशीलस्तस्य शभोर्महीधर शैल कैलासमिव । अथ वा
किम् । उत्प्रेक्ष्यते । एतयोर्नाथीकुराव्यवहारिणोर्भाग्य पुण्य तदेव नभोमणिः सूर्यस्तस्याहर्दि-
नमिव । अहो भानोरुदयः । तथा एतस्मात्स्वप्नात्तयोर्भाग्याभ्युदयो भविष्यति । अथ वा
शरद्विधोर्मेघात्ययोदितचन्द्रस्य पिण्डित पिण्डीभूत महः कान्तिरिव ॥ आदितः पञ्चभिः
कुलकम् ॥ इति गजस्वप्नः ॥

व्यमोचि तं स्वप्नमवेक्ष्य संलये विलोचनाम्भोरुहमुद्रणानया ।

पयोरुहिण्येव पयोजबान्धवोदये शचीकान्तहरिन्महीधरे ॥ ७१ ॥

अनया नाथीदेव्या संलये निद्रायाम् । ‘निद्रा प्रमीला शयन सवेशः स्वापसलयौ’
इति हैम्याम् । त पूर्वोक्त गजस्वप्नमवेक्ष्य दृष्ट्वा विलोचनाम्भोरुहयोर्नयनकमलयोर्मुद्रणा निमी-
लन व्यमोचि मुक्तम् । निद्रा त्यक्तेत्यर्थः । कथं । पयोरुहिण्येव । यथा शच्या इन्द्राण्या
कान्तः शक्रस्तस्य हरित् दिक् पूर्वा तस्या महीधर उदयशैलस्तत्र पयोजबान्धवस्य
भास्करस्य अभ्युदय विभाव्य पयोजिन्या पद्मिन्या नेत्रतुल्यपयोरुहयोर्मुद्रणा मुकुलन
विमोच्यते ॥

सुखं शयाना निशि निद्रयाङ्गना निभाल्य तं स्वप्नमवाप समदम् ।

यथा परब्रह्म समीररुन्ध(रोध)नैर्निबद्धपद्मासनयोगिमण्डली ॥ ७२ ॥

अङ्गना नाथी समद हर्षमवाप लेभे । किं कृत्वा । निभाल्य दृष्ट्वा । कम् । त पूर्व-
व्यावर्णितस्वरूप हस्तिस्वप्नम् । किंभूता नाथी । निशि रात्रौ निद्रया सुख सातेन शयाना
स्वपन्ती । सुप्ता सतीत्यर्थः । केव । निबद्धेति । यथा निबद्ध रचित पद्मासनमासनविशेषो
यैस्तादृशाना योगिना योगमार्गसाधकाना मण्डली श्रेणी समीराणा प्राणापानादीना
पवनाना रुन्ध(रोध)नै रोधे परब्रह्म परमात्मानमालोक्य परम समद प्राप्नोति । योगिनो
हि पद्मासनेनोपविश्य वातरुन्ध(रोध)नपूर्वकमेकताना योगध्यान कुर्वन्तः परमात्मानमा-
त्मनि हृदयकमलकर्णिकाया वीक्ष्य । ‘त्वा योगिनो जिन सदा परमात्मरूपमन्वेषयन्ति
हृदयाम्बुजकोशदेशे’ इति कल्याणमन्दिरस्तवेऽपि । ‘परमानन्दभाज सन्तो ध्याना-
द्विरमन्ते’ इत्येष व्यतिकरः कुमारसभवे ॥

गभीरिमाणं दधतः सपल्लवस्मितप्रसूनव्रजराजितान्तरात् ।

स्वहंसतूलीशयनोदरादसौ क्षणादुदस्थात्करिणीव सैकतात् ॥ ७३ ॥

असौ नाथी स्वस्य हंसतूलीनाम्न शयनस्य । यद्वा आत्मनो हंसाना पक्षरौमभिर्भृता
तूली । अथवा हसनामलक्षणकेन पट्टशाटकेन । ‘स्वयमेवाभरणालकार मुयइ’ इति कल्पसू-

त्रे । 'भगवान्स्वयमेवाभरणालकारान्मुञ्चति । तान्याभरणानि कुलमहतरिका हसलक्षणेन पटशाटकेन प्रतीच्छति । तथा 'पञ्च मुढिय लोय करेइ ।' शक्रोऽपि हसलक्षणेन पटशाटकेन केशान्प्रतीक्ष्य क्षीरसमुद्रे वाहयति ।—इति कल्पवृत्तिः । निमिता तूली प्रस्तर-
णोपकरणविशेषः । लोके 'तुलाइ' इति प्रसिद्धा । तत्सयुक्तस्य शयनस्य वा शय्याया उदरान्मध्यात्क्षणात्तत्कालमुदस्थादुत्थिता । किं कुर्वत स्वहसेत्यादि । दधतो धारयत* ।
कम् । गभीरिमाण मध्ये निम्नता 'मज्झन्ने गम्भीरे' इति कल्पादिमसूत्रवचनात् । पुन*
किभूतात् । सपल्लवा. किसलयकलिताः स्मिता विकसिता ये प्रसूनव्रजा* कुसुमसमू-
हास्तै राजित शोभितमन्तर मध्य यस्य । केव । करिणीव । यथा हस्तिनी उभयपक्षपराव-
र्तनादिना । कथचिन्निम्नीभूतात् । 'शय्या त्यजन्त्युभयपक्षविनीतनिद्रा' इति रघौ । उभ-
याभ्या पक्षाभ्या पार्श्वाभ्या परावर्तनेन लोठनेन विनीता अपाकृता निद्रा यैः—इति तद्वृत्तिः ।
तथा समीपतरुनिष्पतत्पल्लवपुष्पोपचितात्सैकताजलोज्झिततटादुत्तिष्ठते ॥

मरालबालेव विलासगामिनी क्षितौ क्षिपन्ती पदपद्मयामलम् ।

ततः ससुहृश्य पति पतिव्रता महेभ्यपत्नी पदवीं व्यभूषयत् ॥ ७४ ॥

शय्याया उत्थानानन्तर महेभ्यपत्नी नाथी पति स्वभर्तारमुद्दिश्य । पतिपार्श्वे गन्तुकामे-
त्यर्थः । पदवीं मार्गं व्यभूषयदलकृतवती । किभूता । पतिरेव स्वभर्तैव व्रत सतीत्वेन यस्या
स्वपाणिग्रहीतार विना स्वप्नेऽपि त्रिवापि नान्य पुमास कामयते सा पतिव्रता । प्रथमं तु
सतीत्वसूचनमुक्तम् । अत्र काव्ये तु प्रकटत्वेन सतीत्व प्रतिपादितम् । किं कुर्वन्ती ।
क्षितौ पृथिव्या पदपद्मयोर्यामल युग्मं क्षिपन्ती स्थापयन्ती । पुन किभूता । विलासेन
लीलया मन्थर गच्छतीत्येवशीला । केव । मरालबालेव । यथा हसस्य पत्नी हसी
विलासगामिनी भवेत् ॥

क्षणादथोर्वीवलथोर्वसी मणीविभूषणध्वसितरोदसीतमाः ।

असौ पुरस्तात्प्रकटीबभूवुषी प्रियस्य मूर्तेव कुलाधिदेवता ॥ ७५ ॥

अथ स्वप्रदर्शनोत्थाननिर्गमनानन्तरमसौ नाथी क्षणात्प्रतोककालादेव प्रियस्य कुरा-
साधो. स्वभर्तु पुरस्तादग्रे प्रकटीबभूवुषी व्यक्ता जाता समेत्याग्रे तस्थौ । किमता । उ-
र्वीवलथस्य भूमण्डलस्य उर्वसी नामाप्सरा । 'विशति विशति वेदीमुर्वसी सेयमुर्व्या'
इति नैषधे । पुन. किभूता । मणीभूषणे रत्नाभरणैर्ध्वसित निर्दलित रोदस्योर्द्यावाम्म्यो-
स्तमो ध्वान्त यया सा । उत्प्रेक्ष्यते । तस्येत्यस्य मूर्ता तनुमती कुलाधिदेवता गोत्राधि-
ष्ठात्री देवीव । साप्यप्सरा भूषणमाणिक्यकान्तिविध्वस्ततमा स्यात् ॥

तथा क्रमादिभ्यविभावरीवरो विमुद्रणाया गमितः स गोचरम् ।

वचोविलासैररुणांशुभिर्यथारविन्दवृन्दं दिवसाननश्रिया ॥ ७६ ॥

तथा नाथीदेव्या क्रमादागमनानुक्रमेण वचोविलासैः स्ववचनचातुर्यातिशयैः स कुरा-

ह इभ्येषु लक्ष्मीवत्सु विभावरीवरश्चन्द्रो मुख्यो विमुद्रणाया जागरणस्य गोचर विषय गमित प्रापितः । प्रबोधित इत्यर्थः । कथेव । दिवसाननश्रियेव । यथा प्रभातलक्ष्म्यारुणा-
शुभिर्भानुकिरणैररविन्दाना पद्माना वृन्द विमुद्रणाया गोचर गम्यते । विकाशयते इत्यर्थः ॥

सुमध्वजोर्वीधरजैत्रशस्त्रया रहस्यवत्स्वप्न उदात्तनेत्रया ।

विनिद्रता लोचनयोर्वितन्वते न्यवेदि तस्मै व्यवहारिभास्वते ॥ ७७ ॥

उदात्ते स्फारे कुमुदकमलकुवलयचकोरहरिणखञ्जनजयनशीले नेत्रे नयने यस्यास्तया तस्मै स्वकान्ताय स्वप्नो निद्रावस्थाया गजेन्द्रदर्शन न्यवेदि कथित । किवत् । रहस्य-
वत् । यथा रहस्य स्वप्रियाय निवेद्यते । तस्मै किभूताय । व्यवहारिषु दीप्यमानत्वा-
द्भास्वते सूर्याय । पुन कि कुर्वते । विलोचनयोर्नेत्रयोर्विनिद्रता निद्राभावात्स्मेरता त-
न्वते विस्तारयते । कुर्वत इत्यर्थः । तथा किभूतया । सुमध्वजोर्वीधरः स्मरराजस्तस्य
जैत्र जगज्जयनशील यत् शस्त्रमायुध तद्रूपया ॥

किमावयोरेष फलं प्रदास्यति स्वपाणिसिक्तस्मयमानशाखिवत् ।

इद निगद्य प्रमदाद्वसुधराप्सरा व्यरसीद्व्यवहारिवर्णिनी ॥ ७८ ॥

व्यवहारिण कुरासाधोर्वर्णिनी स्त्री नाथी प्रमदादानन्दात् इदमेतदुच्यमान निगद्य क-
थयित्वा अर्थाद्भर्तु पुर । व्यरसीद्विरमति स्म । किभूता । वसुधराया भूमेर्दिव्यरूपत्वाद-
प्सरा । 'वातु जलौकोऽप्सरस । 'सिक्ता' सुमन समा ' । एतेषा शब्दाना बहुत्व वा स्यात् ।
इति लिङ्गानुशासने । इद किम् । यदेष गजस्वप्न आवयोर्दम्पत्योः किं फल प्रदास्यति ।
किवत् । स्वपाणिना निजहस्तेन सिक्तो जलेनाभिषिक्तोऽत एव स्मयमान शाखाप्रशा-
खापत्रपल्लवपुष्पोपचितो जायमानः शाखिवदृक्ष इव ॥

तदाननेन्दोरमृतोर्मिमालिनो गिर सुधाया भगिनीमिवोद्धताम् ।

निपीय कर्णैः पुटकैरिवान्तरा स कूणिताक्षः परमा मुदं दधौ ॥ ७९ ॥

स महेभ्यः कुराख्योऽन्तरा हृदयमध्ये परमामुत्कृष्टा मुद प्रीतिमानन्द दधौ धारयति
स्म । कि कृत्वा । निपीय पीत्वा । सादर श्रुत्वेत्यर्थः । काम् । गिर वाणीम् । कैः ।
कर्णैः श्रवणैः । तादृक् शुभस्वप्नश्रवणोत्कण्ठया वारवारप्रश्ने मुहुर्मुहुः कर्णदानाद्बहुत्वम् ।
उत्प्रेक्ष्यते । पुटकैरिव । अन्योऽपि रस पुटकैः पियते । किभूत स । विकूणिते निमी-
लिते अक्षिणी दृशौ येन । 'उत्कल्लोला दिशि दिशि जनाः कीर्तिपीर्यूषसिन्धु यस्याद्यापि
श्रवणपुटकैः कूणिकाक्षा पिबन्ति' इति चम्पूकथायाम् । किभूता गिरम् । उद्धता प्र-
कटीभूताम् । कस्मात् । तदाननेन्दोर्नाथीवदनचन्द्रात् । उत्प्रेक्ष्यते । सुधाया अमृतस्य
भगिनी जामिमिव । भगिनी किभूताम् । अमृतोर्मिमालिन सुधासमुद्रात्प्रादुर्भूताम् । 'ल-
क्ष्मीकौस्तुभपारिजातसहजः सूनुः सुधाम्भोनिधेर्देवेन प्रणयप्रसारविधिना मूर्ध्ना धृतः
शम्भुना । अद्याप्युज्जति नैव दैवविहित क्षीण क्षपावल्लभ केनान्येन विलङ्घ्यते विविगतिः

पाषाणरेखासखी ॥' इति भोजप्रबन्धे क्षीरसमुद्रस्य सुधासमुद्रत्व प्रतिपादितमस्ति ।
तथान्यत्रापि काव्यकल्पलताग्रन्थादिष्वपि विद्यते च । अथ वा वदनेन्दो कथभूतात् ।
अमृतोर्मिमालिन सुधासमुद्रात् । 'तदेव गत्वा पतित सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कता
विधौ' इति नैषधे । अथवा 'तदानेन्दोरमृताब्धिजन्मन ' इति पाठ । सुधाया. किभू-
ताया । तदानेन्दोर्वा किभूताम् । अमृताब्धि समुद्रस्तस्माज्जन्मोत्पत्तिर्यस्या यस्य वा ॥

द्विजावलीचन्द्रिकयानुविद्धया स्मितश्रिया श्वेतितसृक्कदेशया ।

भुजान्तराभोगविलासिनीरिवोपचिन्वता चञ्चुरमौक्तिकावलीः ॥ ८० ॥

निगद्यते स्म व्यवहारिणा क्षणं विमृश्य सा तेन सुकेशमानिनी ।

रथाङ्गनाम्नेव रथाङ्गबान्धवोदये रथाङ्गी सविधे समीयुषी ॥ ८१ ॥

(युग्मम्)

तेन व्यवहारिणा कुरासाधुना क्षण स्वल्पकाल विमृश्य विचार्य स्वबुद्ध्या सु शोभना
केशा कुन्तला यस्याः सा सुकेशी । सुकेशी स्वा मन्यते इति सुकेशमानिनी । 'क्यङ्
मानिनोश्च' एतयो. परयोः पुवद्भावः स्यात् । सा नाथी निगद्यते स्म भाषिता । केनेव ।
रथाङ्गनाम्नेव । यथा रथाङ्गबान्धवस्य भानोरुदये सविधे आत्मन पार्श्वे समीयुषी समागता
रथाङ्गी चक्रवाकी रथाङ्गेन चक्रवाकेन वाद्यते । तेन कि कुर्वता । चञ्चुरा प्रधाना मौ-
क्तिकावलीर्हारानिव उपचिन्वता पुष्णता । किभूता । भुजान्तरस्य हृदयस्याभोगो वि-
स्तारस्तत्र विलसन्तीत्येवशीलास्ता । तथा [स्मितश्रिया ईषद्वसितलक्ष्म्या ।] किभूतया
[स्मितश्रिया ।] द्विजावलीचन्द्रिकया दन्तपङ्क्तिज्योत्स्नया । 'दशनचन्द्रिकया व्यव-
भासितम्' इति रघौ । अनुविद्धया व्याप्तया । पुन किभूतया । श्वेतितो धवलीकृत
सृक्कदेश औष्ठप्रान्तदेशो यया । 'दन्तवस्त्र च तत्प्रान्तौ सृक्कणी' इति हैम्याम् ॥ युग्मम् ॥

अनेकपस्वप्ननिरीक्षणादवाप्स्यते तदन्वर्थसुतोऽचिरात्त्वया ।

महोदयः केवललम्भतो मुनीसमज्ययेवाम्बुजमञ्जुलोचने ॥ ८२ ॥

हे अम्बुज कमल तद्वन्मञ्जुनी मनोज्ञे लोचने नयने यस्यास्तस्या सबोधनमम्बुजमञ्जु-
लोचने हे प्रिये, अनेकपस्य गजस्य स्वप्नस्य निरीक्षणादर्शनात् अचिरात्स्तोककालादेव
तस्यानेकपस्यान्वर्थोऽनेकान् बहून् पाति रक्षति स्वामितया ससाराद्धर्मोपदेशमहाव्रताणुव्रता-
दिप्रदानेन तारयतीत्यनुगतार्थो यस्य तादृश सुत पुत्रस्त्वया भवत्या अवाप्स्यते । कयेव ।
मुनीसमज्ययेव । यथा मुनीना साधूनाम् । मुनीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । यथा लिङ्गानुशासने—
'यानीमुन्यौ स्वातिगव्यूतिवस्त्य ' इति । भावचारित्र विना केवलज्ञान न स्यादिति मुनीपदो-
पादानम् । समज्यया सभया अर्थाद्विन्द्वेन केवलस्य एकागाकारस्य पञ्चमज्ञानस्य केवलज्ञानस्य
आस्यदनात्तृप्तेर्महोदयो मोक्षोऽवाप्यते । य उदय आगत कदापि न याति स एव महोदय ॥

जयन्तवज्जम्भनिशुम्भभामिनी पति चमूनामिव सर्वमङ्गला ।

वशेव शौरेः सुमनःशरासनं क्रमाच्च पुत्रं प्रसविष्यसि प्रिये ॥ ८३ ॥

हे प्रिये, गर्भत्वेन प्राप्त च पुनः क्रमात्पूर्णसमयपरिपाक्या पुत्र नन्दन प्रसविष्यसि जन-
यिष्यसि । का किवत् । जम्भनिशुम्भस्य इन्द्रस्य भामिनी प्रिया इन्द्राणी जयन्तवत् ज-
यदत्तमिव । पुनः का कमिव । सर्वमङ्गला पार्वती चमूपति स्वामिकार्तिकमिव । पुनः
का कमिव । शौरेर्विष्णोर्वशा लक्ष्मीः सुमना. सुमनसो वा पुष्प शरासन धनुर्यस्य । सुमन-
शब्दस्य वा बहुत्वमिति लिङ्गानुशासने । 'पुष्पाण्यस्येषुचापास्त्राणि' इति हैम्याम् । कन्दर्पमिव ॥

इति प्रणीय श्रुतिगोचरं वचः प्रियस्य दध्रे पुलकोद्गमस्तया ।

तड्ढिद्वतामुर्वरयेव जीवनं निपीय सस्याङ्कुरराजिराजिता ॥ ८४ ॥

तया नाथीदेव्या पुलकोद्गमो रोमाञ्चाविर्भावो दध्रे धृतः । किं कृत्वा । इति पूर्वोक्त-
प्रकारेण प्रियस्य स्वभर्तुर्वच वचन श्रुतिगोचर श्रवणगत प्रणीय कृत्वा । श्रुत्वेत्यर्थः ।
कयेव । उर्वरयेव । यथा सर्वसस्यया भुवा तड्ढिद्वता मेघानां जीवनं जलं निपीय पीत्वा स-
स्यानां सर्वधान्याङ्कुराणां प्ररोहाणां राजिभी राजते इत्येवशीला तस्याभावो राजिता
सस्याङ्कुरराजिराजिता । सर्वधान्यप्ररोहश्रेणिशोभनशीलत्वं ध्रियते । 'उर्वरा सर्वसस्या भूः'
इति हैम्याम् ॥

धवः सुधाधामसगोत्रवक्रयेत्यवादि बद्धाञ्जलिपाणिपद्मया ।

वरे सुरेन्दोरिव कान्तं तावके वचःप्रपञ्चेऽव्यभिचारितास्तु मे ॥ ८५ ॥

सुधाधाम्नोऽमृतकिरणस्य चन्द्रस्य सगोत्र स्वजनो बान्धवः । तुल्यमिति यावत् । वक्र-
मुख यस्यास्तया चन्द्रवदनया धवः स्वभर्ता इत्यमुना प्रकारेण अवादि भाषितः । तया
किम्भूतया । बद्धो रचितोऽञ्जलिर्योजनं याभ्यां तादृशौ पाणिपद्मौ करकमलौ यस्याः । क-
मल(१)शब्दः पुष्पीबलिङ्गयोः । इति किम् । हे कान्त, तावके त्वदीये वचःप्रपञ्चे वचन-
विस्तारे वाग्वैभवे वा मे मम व्यभिचरति मृषा भवतीत्येवशीलं व्यभिचारि न व्यभिचारि
अव्यभिचारि तस्य भावः अव्यभिचारिता सत्यता अस्तु भवतात् । कस्मिन्निव । वरे
इव । यथा सुरेन्दोरिन्द्रस्य प्रधानदेवस्य वा वरे अभीष्टवाक्प्रदाने अव्यभिचारिता भवेत् ॥

मिथः प्रथाभिर्वचसा वचस्विनौ कियच्चिरं तस्थतुरत्र दम्पती ।

वसन्तफुल्लसहकारकानने पिकाविवोदीरितपञ्चमस्वनौ ॥ ८६ ॥

अत्र इभ्यश्च्युतागृहे वचस्विनौ विशिष्टवाग्विलासशालिनौ दम्पती स्त्रीभर्तारौ मिथः
परस्परं वचसा निजनिजवचनानां प्रथाभिर्विस्तारैः । वार्ताविनोदैरित्यर्थः । कियच्चिरं कियन्ती
वैला यावत्तस्थतुः स्थितौ । काविव । पिकाविव । यथा वसन्तेन मधुमासेन फुल्लता विक-
सताम् । मञ्जरीपिञ्जरीभवतामित्यर्थः । सहकाराणाम् आम्राणां कानने उदीरितः प्रकटीकृतः

पञ्चमनाम्नो रागस्य स्वनो ध्वनिर्याभ्या तौ । पिकी च पिकश्च पिकौ । 'पुमान् स्त्रिया त-
ल्लक्षणश्चेदेवविशेष । स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते न स्त्री, स्त्रीपुसलक्षणश्चेदेव विशेष ।
ब्राह्मणी च ब्राह्मणश्च ब्राह्मणौ तल्लक्षण. किम् । कुकुटमयूयौ' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ।
तेन पिकीशब्दस्य लोपे पिकाविति । किचिच्चिर तिष्ठतः ॥

मुदाथ नाथी शयनीयमन्दिरं क्रमेण सक्रन्दनसद्मसुन्दरम् ।

व्यभूषयत्किपुरुषप्रभोरिवारविन्ददृङ्गान्दिरकन्दरोदरम् ॥ ८७ ॥

अथ स्वप्नार्थकथनतत्तद्वातानन्तर नाथी मुदा प्रमोदेन क्रमेण भर्तृविसर्जननृह-
मार्गागमनपरिपाठ्या शयनीयमन्दिर स्वशय्यागृह व्यभूषयदलकरोति स्म । किभूतम् ।
सक्रन्दन. शक्रस्तस्य सद्म मन्दिर तत्सबन्धि वा वैजयन्तप्रासादस्तद्वत्सुन्दर रमणीय-
मिति गर्भितोपमा । केव । अरविन्ददृगिव । यथा किपुरुषाणा किनराणा प्रभोरिन्द्रस्य प्र-
कृष्टकिनरस्य कस्यचिद्वा पत्नी मन्दरस्य मेरोरिन्द्रकीलशैलस्य वा कन्दराया गुहाया
उदर मध्य विभूषयति । किनराणामवस्थान मन्दरकन्दरासु वर्ण्यते । यथा चम्पूकथायाम्—
'मन्द मन्दरकन्दरासु शयितानुत्थापयन्किनरान्' इति ॥ इति गजस्वप्नविचारकथनस्व-
शयनसद्मगमनम् ॥

सुखं स्वकीये सद्ने निषेदुषी मुद महास्वप्नजुषं प्रपेदुषी ।

इद कलाकेलिमरालमानसे व्यचिन्तयत्सा विदुषीव मानसे ॥ ८८ ॥

सा नाथी मानसे स्वचित्ते इद वक्ष्यमाण व्यचिन्तयद् विमृशति स्म । केव । विदु-
षीव । यथा पण्डिता हृदये शास्त्रार्थादि विचिन्तयति । किभूते मानसे । कलाकेलि
काम स एव मरालो राजहसस्तस्य क्रीडार्थ वासार्थ वा । 'मानसौका' इति हर्षविच-
नात् मानसनाम्नि सरसि । सा किभूता । सुख निराधिव्याधिक यथा स्यात्तथा स्वकीये निजे
शयनीयसद्ने मन्दिरे निषेदुषी उपविष्टा । पुन किभूता । महानद्भुत आश्चर्यकारी य
स्वप्न स्वापावस्थायामैरावणवारणविलोकन त जुषते सेवते तादृशी महास्वप्नसजाता मुद
प्राप्तिमानन्द प्रपेदुषी ॥

पुनः सृजन्त्या मयि मुद्रणा दृशोः परैरपस्वप्नविजृम्भितैरसौ ।

निहन्यता मासहजैरिव ग्रहैस्त्रिकोणकेन्द्रोपगत. शुभग्रह. ॥ ८९ ॥

पुनद्वितीयवार दृशोर्लोचनयोर्मुद्रणा निमीलनम् । निद्रामित्यर्थ । सृजन्त्या कुर्वत्या मयि
परैरन्यैरपस्वप्नविजृम्भितैर्दुष्टस्वप्नदर्शनविलसितैरसौ गजदर्शनलक्षण. शुभ स्वप्नो मा नि-
हन्यता मा व्यर्थीक्रियताम् । क इव । शुभग्रह इव । यथा असहजै शत्रुभूतैर्भौममन्दा-
दिभिर्ग्रहै. खेटैर्नवपञ्चम त्रिकोण प्रथमचतु.सप्तमदशमाख्यानि केन्द्राणि तेषु भवनेषु गत.
प्राप्त. शुभो गुरुबुधादि प्रशस्यग्रहो निहन्यते निर्बलीक्रियते ॥

इदं विमृश्येयमजूहवत्ततः सखीरशेषाः स्वकपारिपार्थिकाः ।

द्विरेफगुञ्जारवमञ्जुवादिनी वसन्तलक्ष्मीः पिककामिनीरिव ॥ ९० ॥

इदं पूर्वोक्तं विमृश्य विचार्य । इयं नाथी मुदा हर्षेण स्वकपारिपाश्विका निजसमीप-
वर्तिनीरशेषा समस्ता अपि सखीर्वियसी(१)रजूहवदाकारयामास । केव । वसन्तलक्ष्मी-
रिव । यथा द्विरेफाणा भ्रमराणा गुञ्जारवेण गुञ्जितेन एव मनोज्ञं वदतीत्येवशीला वस-
न्तश्रीः पिककामिनी कोकिला आह्वयते ॥

ततो वयस्यो(१)ऽन्तिकमाश्रिता मधुव्रताङ्गनाश्चूतलतामिव सिताम् ।

बभाषिरे कोकिलकामिनीगणकणाद्वयीवादनिनादयानया ॥ ९१ ॥

ततः सखीसमागमनानन्तरमनया नाथीदेव्या वयस्य (१) सख्यो बभाषिरे वादिताः ।
वयस्य (१) किभूता । अन्तिक नाथीसमीपमाश्रिता सेवमानाः । अर्थात्सनिधाने समागताः ।
का इव । मधुव्रताङ्गना इव । यथा भृङ्ग्यः स्मिता विकसिता कलिकाकलिता चूतलता
माकन्दवल्लीमाश्रयन्ते । अनया किभूतया । कोकिलकामिनीगणानां पिकीप्रकराणां कणेन
रावेण सह अद्वयीवाद एकीभावो यस्य कणः कलकूजितमिवाद्वयीवादोऽसाधारणतया
यस्मिन्तादृशो निनादो रावो ध्वनिर्यस्या ॥

चकोरिके चन्द्रकले लवङ्गिके मृणालिके पुष्पलते कुरङ्गिके ।

कुरङ्गनाभे सुरभे शशिप्रभे विनोदिके मोदिनि वन्दि सुन्दरि ॥ ९२ ॥

तथा प्रथन्ता कथका यथा कथा ममाग्रतः श्रीजिनचक्रिसकथाः ।

यथा शुभस्वप्नदृशा मया निशापनीयते पद्धतिवत्पथिस्पृशा ॥ ९३ ॥

(युग्मम्)

पूर्वकाव्ये केवलानि सखीनां विशेषणान्येव सन्ति । चम्पूकथायामप्येवविधान्येव
सखीनामानि दृश्यन्ते । नैषधेऽपि च । एवविधा अभिधाना हे सख्य, यूयं ममाग्रतो
मत्पुरस्तात् जिनानामृषभादीनां चक्रिणा भरतप्रमुखाणां चक्रवर्तिना सकथा वार्ता । 'त्वत्स-
कथापि जगता दुरितानि हन्ति' इति भक्तामरस्तोत्रे । नववार्तापीति तद्वृत्तिः । तथा तेन
प्रकारेण प्रथन्ता विस्तारयन्तु । कथयन्तिवत्यर्थः । क इव । कथका इव । यथा कथका
वाचका वक्तारः । कथा पूर्वपुरुषचरितानि प्रथयन्ति विस्तारेण वदन्ति तथा । कथम् ।
यथा शुभं प्रशस्तं स्वप्नं पश्यतीत्येवशीला तथा शुभस्वप्नदृशा मया भवत्स्वामिन्या निशा
अवशिष्टा रजनिरपनीयतेऽतिक्राम्यते परिपूर्णक्रियते वा । किवत् । पद्धतिवत् । यथा पन्थान-
मार्गं स्पृशति भजतीति पथिस्पृक् पथिकी तथा कथाभिर्वार्ताभिः कृत्वा पद्धतिमार्गोऽपनीयते
उल्लङ्घ्यते तथा । 'कलहता, भरकन्ता, भयसतत्ता, कहाण्येलग्गा । पियहसण उंससिया,
पन्न वि मग्ग न याणति ॥' इति सूक्तोक्तेः ॥ युग्मम् ॥

कथानुषङ्गेषु मिथः सखीजनोदितेषु काचिद्वयसीदमालपत् ।

परेषु गान्धर्वरसेषु पञ्चमप्रपञ्चगीतिं विदुरेव गायनी ॥ ९४ ॥

मिथोऽन्योन्यं सखीरूपैर्जनैर्लोकैरुदितेषु उक्तेषु कथितेषु कथानुषङ्गेषु वार्ताप्रस्तावेषु

सत्सु काचिदनिर्दिष्टनामा वयसी सखी इदमग्रे वक्ष्यमाणमालपट्टभाषे । केव । गायनीव ।
यथा परेष्वन्येषु गान्धर्वाणां गायनानां गीतानां वा । 'गीतं गानं गेयं गीतिर्गान्धर्वम्'
इति हैम्याम् । रसेषु सत्सु विदुरा गीतिनिपुणी गायनी गान्धर्विका पञ्चमरागस्य प्रपञ्चो
विस्तारो यत्र तादृशीं गीतिमालपति । गायतीत्यर्थः ॥

पुराभवन्नाभिमहीहिमद्युतेस्तनूभवः श्रीवृषभध्वजो जिनः ।

इवात्मभू राजसभावभासितः ससर्ज यो विष्टपसृष्टिमात्मना ॥ ९५ ॥

हे स्वामिनि, पुरा पूर्वयुगस्यादौ सर्वव्यवस्थाप्रादुर्भवनव्यतिकरे नवाशीतिपक्षाधिकत्र्य-
शीतिपूर्वलक्षावशेषे तृतीयारकपर्यन्ते नाभिर्नामा मह्या भूमौ हिमद्युतिश्चन्द्रस्तस्य ।
'इदं तमुर्वीतलशीतलद्युतिम्' इति नैषधे । तनूभवः पुत्रः श्रिया राज्यतीर्थकृलक्ष्म्या युक्तो
वृषभः ककुद्भान् कुरुदेशे ध्वजश्चिह्नं यस्य तादृक् जिनस्तीर्थकरः एतावता ऋषभजिनो-
ऽभवद्वभूव । स क । यत्तदो सबन्धात् यो राज्ञा राजन्यानामिक्ष्वाकुवशोद्भवानां
सभया समूहेन । 'सदेवमणु आसुराए परिसाए समणुगम्ममाणगो' इति कल्पसूत्रे ।
'पर्षदा समूहेन' इति तद्वृत्तिः । 'सुरसमाजसमाक्रमणोचितः' । समाजः समूहः इति रघु-
वशे । 'उडुपरिषद् किं नार्हन्ती निश किमनौचिती' इति नैषधे । नक्षत्रसमूहस्येति
तद्वृत्तिः । ततः सभावाचका शब्दाः समूहेऽपि दृश्यन्ते । अथवा सभायाः परिषदि
अवभासितः शोभितः उपविष्टः । तादृशः सन्नात्मना स्वेन विष्टपस्य विश्वस्य सृष्टिः सर्व-
व्यवहारशिल्पकलाराज्यस्थितिप्रजापालनादिसर्गः ससर्जं करोति स्म । क इव । आत्मभू-
रिव । यथा । ब्रह्मा राजसभावेन रजोगुणस्वभावेन भासितः सन् जगत्सर्गं चक्रे ॥

अमुष्य नाभेयजिनावनीनभोमणे रजायन्त शत तनूरुहाः ।

पवेरिवास्त्राः क्रतवः शतक्रतोरिव च्छदानीव पुनः पयोरुहः ॥ ९६ ॥

अमुष्य एतस्य नाभेरपत्य नाभेयो वृषभः स एव जिनानां सामान्यकेवललिना मध्ये
अवन्या भूमेरति तेजस्त्वेन नभोमणे सूर्यस्य । अथवा—अवनीनभोमणी राजा । 'मन्य-
दिनावधिविधेर्वसुधाविवस्वान्' इति नैषधे । तथा 'पाण्डोरवनिमार्तण्डस्य' इति पाण्डव-
चरित्रे । जिनराजस्येत्यर्थः । शतः शतसख्याकास्तनूरुहाः । 'तनूरुहस्तु पुत्रे गरुति लोम्नि
वा' इत्यनेकार्थः । अजायन्तः जाताः । कस्येव । पवेरिव । यथा वज्रस्य शतमस्त्राः कोट्यो
भवन्ति स्म । पुनः कस्येव । शतक्रतोरिव । यथा इन्द्रस्य शतमिताः क्रतवः प्रतिमा यज्ञा
वा आसन् । 'इन्द्रेण कार्तिकश्रेष्ठिभवे पञ्चमी प्रतिमा शतवारं व्यूढा' इति कल्पकिरणा-
वल्याम् । पुनः कस्येव । पयोरुहः इवात्र षष्ठी । यथा कमलस्य शतं छदानि पत्राणि
जायन्ते ॥

जिनावनीन्दोः किल धर्मकर्मणोर्व्यवस्थयास्मादुदभावि भूतले ।

रथाङ्गपाथोरुहयोर्मुदोदितारविन्दिनीवल्लभमण्डलादिव ॥ ९७ ॥

किलेति श्रूयते निश्चित वा । भूतले भरतक्षेत्रक्षोणीमण्डले अस्माजिनावनीन्दोरेतस्मादृ-
षभतीर्थकराद्धर्मः सुकृत कर्म कृषिवाणिज्यादि तयोर्व्यवस्थया विवेकेन उदभावि प्रकटी-
भूतम् । कस्मात्कयेव । उदितादभ्युदय प्राप्तादरविन्दिनीवल्लभस्य पद्मिनीपतेर्भानोर्मण्डलाद्
बिम्बात् रथाङ्गश्चक्रवाक पाथोरुह कमलम् । जातिवाचित्वादेकवचनम् । तयोर्मुदा हर्षेणो-
द्भूयते । यतो रथाङ्गानां प्रियाभिर्वियोग कमलानां सकोचश्च रात्रौ भवेदतो दिवसे हर्षः ।
मुदेति कर्तृपद तृतीयान्तम् ॥

बभूव नाभेयविभुः स आदिमः क्षितौ समग्रावनिभामिनीभुजाम् ।

पुलोमजाप्राणपतेर्मतङ्गजो महामृगाणामिव दानशालिनाम् ॥ ९८ ॥

हे नार्थदेवि, क्षितौ पृथिव्या स पूर्वोक्तस्वरूपो नाभेय एव विभुः स्वामी ऋषभदेवः ।
समग्रा ये अवनी भूमीमेव भामिनो भुञ्जन्ति इति अवनिभामिनीभुजः । 'वसुमतीयुवती-
भुजङ्ग' तथा 'यामिनीकामिनीपति' इत्यादि काव्यकल्पलतायाम् । राजानस्तेषां मध्ये
आदिमः प्रथमः । अस्यामवसर्पिण्या प्रथमः श्रीऋषभदेवस्यैव राज्यस्य जातत्वात् ।
शक्रेण प्रथमम् ऋषभदेवस्य राज्याभिषेकः कृत इति । क इव । मतङ्गज इव । यथा पुलो-
मजाया इन्द्राण्या । 'हृष्यन्मुहुर्लोमः पुलोमजाया' इति नैषधे । प्राणपतिर्मतां शक्रस्तस्य
गज ऐरावणः स महामृगाणां हस्तिनाम् आदिमो जज्ञे । तथा च चम्पूकथायाम्—'नारा-
यणनाभ्यम्भोरुहकुहरकुटीमधिशयानस्य वेदविद्या निगदतो भगवतः पितामहस्य बृहद्रथा-
न्तरविकीर्णाभामनामानि सामानि गायतः सामश्लोकरसनिष्पन्दादुदपद्यन्त ऐरावतसुप्रती-
कप्रभृतयोऽष्टौ दिग्गजेन्द्राः । तेभ्योऽभवन् भद्रमन्द्रमृगसक्रीर्णजातयो गिरिचरनदीचरो-
भयचारिणः करिणः । प्रसिद्धः चैतत्सामजा गजा इति । केचित्पुनरन्यथा कथयन्ति ।
किल सकलसुरासुरकरपरिघपरिवर्त्यमानमन्दरमन्थानमथितदुग्धाम्भोधेरजनि जनितजग-
द्विस्मयोल्लसलक्ष्मीमृगाङ्कसुरभिसुरद्रुमधन्वन्तरिकौस्तुभोच्चैः श्रवसा सहम् शशधरकरका-
न्तिरैरावतः । तत्प्रसूतिरशेषवनान्यलकरोति' इति । किभूतानां नृपाणां च गजानां च ।
दानैर्विश्राणनैर्मदाम्बुभिश्च शालन्ते शोभन्ते इत्येवशीला ॥

पयोविपुत्रीतनयावनीपतेरिवानुबिम्बेषु महीविहारिषु ।

शताङ्गजातेषु तदादिमप्रभोर्बभूव मुख्यो भरताभिधोऽङ्गजः ॥ ९९ ॥

तस्य पूर्ववर्णितस्वरूपस्य आदिमप्रभोर्ऋषभदेवस्य शतसख्येष्वङ्गजातेषु भरत इत्य-
भिधा नाम यस्य तादृशोऽङ्गजः पुत्रो मुख्यः प्रथमः श्रेष्ठो वा बभूव । उत्प्रेक्ष्यते । शता-
ङ्गजातेष्वनुबिम्बेष्विव । कस्य । पयोधेः क्षीरसमुद्रस्य पुत्री नन्दना लक्ष्मीस्तस्यास्तनयः
कामः स एवावनीपती राजा तस्य । किभूतेष्वनुबिम्बेषु । मद्यां भूमौ विहरन्ति क्रीडन्ती-
त्येवशीलेषु । शतमपि सुताः स्मरप्रतिकृतय इव दृश्यन्ते इत्यर्थः ॥

यदीययात्रासु चमूसमुत्थितैर्दिवस्पृथिव्योः प्रविसारिपासुभिः ।

अहस्त्रियामीयति पद्मिनीपतिः पतङ्गति ध्वान्तति तत्प्रभाभरः ॥ १०० ॥

यस्येमा यदीयास्तासु भरतचक्रिसबन्धिनीषु यात्रासु दिग्विजयकृतप्रयाणेषु चमू-
समुत्थितैश्चतुरङ्गचक्रचलनादुद्भूतैरुड्डीनैर्वा दिवस्पृथिव्योराकाशभुवो प्रविसरन्ति विस्त-
रन्तीत्येवशीलै पासुभिर्धूलीभिरहर्दिवसस्त्रियामीयति निशेवाचरति । निःशेषतया
रविप्रकाशस्य रुन्धनात् । पुनः पद्मिनीपतिः भास्वान् पतङ्गति खद्योत इवाचरति ।
किञ्चिद्दृश्यमानत्वेन । 'सर्वप्रातिपदिकात् किप् वा आचारे' इत्येके । तेन कृष्णवदाचर-
तीति कृष्णति' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । तथा पतङ्गति । पुनस्तस्य भानो प्रभाभरो
ध्वान्तति अन्धकार इवाचरति । भासा श्यामीभूतत्वेन ॥

हरेर्महिष्यां हरिति प्रयातवान्य आदितः सादितगोत्रशात्रवः ।

पतिः सुराणामिव दानवारियुग्गजेन्द्रसिन्धूद्भववाजिराजितः ॥ १०१ ॥

यो भरतचक्रवर्ती आदितो दिग्विजयकरणव्यतिकरे प्रथमतो हरेरिन्द्रस्य महिष्या
पत्न्या हरिति दिशि । प्राच्यामित्यर्थः । 'निजमुखमित स्मेर धत्ते हरेर्महिषी हरित्'
इति नैषधे । प्रयातवान् गतः । क इव । सुराणा पतिरिव । यथा शक्रः पूर्वा दिशः प्रति
प्रयाति, तत्पतित्वात् । किभूतो यः शक्रश्च । सादितः हतः गोत्रः वशो येषां तादृशाः शा-
त्रवा वैरिणो यस्य । यद्वा सादिता निर्मूलमुच्छेदिता गोत्रसहिताः सवशाः शात्रवा
रिपवो येन । पक्षे—सादिता गोत्राः पर्वता एव शात्रवो येन । पुनः किभूतः । दान-
वारिभिर्मदजलैर्युञ्जन्ति योगं प्राप्नुवन्तीति दानवारियुजो निर्यद्बहुलमदसलिला ये गजेन्द्रा
भद्रजातीयगन्धोपलक्षिताः सिन्धुरा [तैः] सिन्धुदेशे उद्भव उत्पत्तिर्येषां तादृशैर्वाजि-
भिरश्वैश्च [राजितः] शोभितः । पक्षे—दानवानां दैत्यानामरिभिर्वैरिभिर्युनक्तीति । देव-
युक्त इत्यर्थः । तथा गजेन्द्र ऐरावणः सिन्धूद्भवः समुद्रोत्पन्नः उच्चैः श्रवा अश्वः तेन च
राजितः । 'स सिन्धुजः शीतमहः सहोदरः हसन्तमुच्चैः श्रवसः श्रियं हयम्' इति नैषधे ॥

स सार्वभौमो ध्वजदण्डशेखरीकृतस्फुरत्काञ्चनकुम्भकान्तिभिः ।

मतङ्गजैरञ्जनशैलमासलैः क्षितौ तनोतीव सविद्युदम्बुदम् ॥ १०२ ॥

सर्वस्या भूमेरीश्वरः सार्वभौमश्चक्रवर्ती स भरतः । उत्प्रेक्ष्यते । सविद्युदम्बुदः तडि-
त्कलितजलधरः क्षितौ पृथिव्या तनोतीव करोतीव । कैः । अञ्जननामा शैलः पर्वतः
तद्वन्मासलैः पुष्टैरुन्नतैश्च । तादृशैर्मतङ्गजैः स्वसेनाकुञ्जरैः । किभूतैर्मतङ्गजैः । ध्वजानां
पताकानामर्थाद्भजसबन्धिनीनां दण्डेषु शेखरीकृतानामुत्तमतां प्रापितानामुपरिस्थि-
तानां वा स्फुरता दीप्यमानानां झगझगितिकान्तीनां काञ्चनकुम्भानां हेमकलशानां
कान्तिज्योतिर्येषु तैः ॥

दशामवाप्स्यन्ति यदन्तिमामिमेऽस्मदाश्रया लक्षमिताः क्षितिक्षितः ।

विवर्षतेतीव दिगङ्गनागणैर्मुखे निषेवेऽस्य चमूरजोभरैः ॥ १०३ ॥

दिगङ्गनागणैर्हरिद्वधूवृन्दैः कर्तृभिरस्य भरतचक्रिणश्चमूरजोभरैश्चतुरङ्गदलच्छलनोद्भूत-

भूरिधूलीपटलैर्मुखे वक्त्रे । उत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोः । विवर्णता विच्छायता श्यामत्व निषेवे भेजे । सेवितं धृतमित्यर्थः । इति किम् । यद्यस्मात्कारणादस्मदाश्रया वयमेवाश्रयो निवास-स्थानं शरणं वा येषां तादृशा इमे लक्षमिता शतसहस्रसख्याका क्षितिक्षितो राजान । अन्ते अर्थादायुषोऽवसाने भवामन्तिमा चरमा सग्रामादिना मरणलक्षणा दशामवस्था-मवाप्स्यन्ति लप्स्यन्ते ॥

चमूध्वनिः प्रागिरिकंदरोदरे प्रियोपगूढं सुखसुप्तकिनरान् ।

इदं यशो गापयितुं गुहागतप्रतिस्वनैर्जागरयन्निवोद्गतः ॥ १०४ ॥

अस्य भरतचक्रिणश्चमूध्वनिर्गजवाजिरथपत्तिचतुरङ्गकटककोलाहलशब्द उद्गतः प्रादुर्भूतः । उत्प्रेक्ष्यते । प्रागिरेः पूर्वाचलस्योदयाद्रे कदराणां गुहानाम् उदरे मध्ये प्रियोपगूढं प्रिया किनरीमुपगूह्यालिङ्ग्य । 'क्यवर्थे' समासे णमुल् इति प्रक्रिया-कौमुद्याम् । चिरविरचितविविधनिधुवनविमोदखेदनिद्रालुतया क्रीडारसिकतया च स्वस्वसुखेन निरातङ्क्या सुप्तान् किनरान् प्रति इदं यशो भरतचक्रिकीर्तिं गापयितुं गानविषया कारयितुं गुहासु गह्वरेषु गतैः प्राप्तैः प्रतिस्वनैः प्रतिशब्दैः कृत्वा जागरयन् प्रबोधयन्निव विनिद्रान् कुर्वन् उत्थापयन्निव ॥

प्रगल्भफालैर्गगने नखैः पुनर्महीतलस्योत्खननैर्हयव्रजः ।

जय सृज स्वर्बलिवेश्मनोर्द्वयोरथेति संज्ञापयति स्वयं पतिम् ॥ १०५ ॥

हयव्रजो वाजिवातो गगने नभोङ्गणे प्रगल्भफालैः प्रकृष्टप्रकर्षोल्लसन्नैरुच्चैरुड्य-नैर्वा पुनर्नखैः खुरैर्महीतलस्य भूमेर्मण्डलस्य अधःप्रदेशस्य उत्प्राबल्येन खननैः क्षोदनैः । उत्प्रेक्ष्यते । यः पतिः भरतचक्रिणः स्व स्वामिनमित्यमुनाकारेण संज्ञापयतीव । इति किम् । यत् हे सार्वभौम, भूमिस्त्वया सर्वापि साधिता । अथ स्व स्वर्लोकः, बलि-वेश्म पातालम्, तयोर्द्वयोस्त्व जय सृज साधय । स्वर्गपाताले अपि भूमिवत्स्वाय-त्तीकुरु इत्यर्थः ॥

पयोधिरोधःस्थलरोधिभिः प्रभोरसर्जि गजज्जनबन्धुसिन्धुरैः ।

चराचरे वर्षितुमुत्सुकैरितः किमम्बुदैरम्बुजिघृक्षयागतैः ॥ १०६ ॥

प्रभोर्भूतक्षेत्रस्वामिनो भरतभर्तुरञ्जनस्य कज्जलस्य श्यामत्वेन बन्धुभिस्तुल्यैः । अथवा अञ्जनाचलस्य श्यामत्वेन तुङ्गत्वेन वा सदृशैः । अथवा अञ्जनाद्रिः सहोदरैरन्यै-रञ्जनाचलैरिवेत्यर्थः । तादृशैः सिन्धुरैः गन्धगजैर्गजा बृंहित गजितमसर्जि चक्रे । कि-भूतैः सिन्धुरैः । पयोधेः समुद्रस्य रोधस्तटस्तस्य स्थल वेलागमनभूस्तद्रुन्धन्तीत्येव-शीलैः । उत्प्रेक्ष्यते । इतः समुद्रादम्बुजिघृक्षया पानीयानां ग्रहणेच्छया आगतैः किम् अम्बुदैर्मेघैरिव । किभूतैः । चराचरे सर्वजगति भूमीमण्डले वर्षितुं जलवृष्टिं विधातुं-मुत्सुकैरुत्कण्ठितैः ॥

इवेक्षुडिम्भान्क्षितिरक्षिणो महौजसा समुत्खाय पुनः प्ररोपयन् ।

स पूर्वपाथोनिधिसैकतक्षिति(तौ) क्षितेर्विवोढा व्रजति स्म सस्मय १०७

स क्षितेर्भूमेर्विवोढा भर्ता भरतभूपति पूर्वपाथोनिधे. प्राचीसमुद्रस्य । 'पूर्वपर्वतति-
रोहितात्मनः' इति वीरधवलनृपपुरोहितसोमेश्वरभट्टविनिर्मितवस्तुपालकीतिकौमुदी-
सोदरसुरथोत्सवकाव्ये । सैकते(तक्षितौ) जलोज्झितप्रदेशे व्रजति स्म जगाम । किंभूत ।
सह स्मयेन गर्वेण वर्तते यः स सस्मय । किं कुर्वन् । महौजसा सर्वेभ्यः सातिशा-
यिना षट्खण्डमण्डितभरतभूमीवलयोद्धवयावद्वाजिवारणवेसरसैरभकरभवृषभयुगलमण्ड-
लाकलितसवालवृद्धवयस्थवशासखपुरुषपौरुषानाक्रमणीयेन पराक्रमेण अधिकप्रतापेन
वा । ओजःशब्देन प्रतापोऽपि कथ्यते । यथा नैषधे—'तदोजसस्तद्यशस स्थिता-
विमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा । तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विविः
कुण्डलना विधोरपि ॥' इति । क्षितिरक्षिणो भूपालान् । 'निपयि यस्य क्षितिरक्षिणः
कथाः' इत्यपि नैषधे । समुत्खाय राज्याद्भ्रशयित्वा । पुनः पश्चात्प्ररोपयन् । राज्यस्थाने
वा स्थापयन् । कानिव । इक्षुडिम्भानिव । यथा कश्चित्कृषिक इक्षूणामसिपत्रकाणां
डिम्भान् प्ररोहान् उत्खाय उत्तस्थानाद्दुत्खन्यान्यस्मिन्स्थाने प्ररोपयति । 'पलालजालैः
पिहितेक्षुडिम्भः' इत्यपि नैषधे ॥

अजिह्यता सुहृन्पैर्विले बिलेशयैरिवैतद्वसुधाधवे दधे ।

विनम्रता च ध्रियते स्म वेतसै रये स्रवन्त्या इव भूरिवेतसैः ॥ १०८ ॥

एतद्वसुधाधवे एतस्मिन् भरतभूपाले सुहृन्नामा देशस्तन्नायकैः सुहृन्नामैरजिह्यता सर-
लत्व दधे धृत तत्कालमेवागत्य प्रणेमे । कैरिव । यथा बिलेशयैः भुजङ्गमैर्विले भृगतर्न्ध्रे
स्वनिवसनस्थाने प्रवेशसमये अजिह्यता अवक्रत्व ध्रियते । च पुनः अस्मिन् नृपे भूरिवेतसै-
र्वेतस्वदेशभूपालैर्विनम्रता विशेषेण नमनशीलत्व ध्रियते स्म । कैरिव । वेतसैरिव । यथा
स्रवन्त्या नद्या रये प्रवाहे मध्ये तटे वा उद्गमनशीलैर्वेतसनामवृक्षविशेषैर्विनम्रता ध्रियते ॥

अवापितो गोचरता स मागधैरिव स्तवस्य प्रमदेन मागधैः ।

सृजद्भिरिन्द्रोऽद्रिगणैः कलि गजैरिवोपलैः रुद्धनतः कलिङ्गजैः ॥ १०९ ॥

स भरतचक्री मागधैर्मगधदेशोद्धवभूपैः प्रमदेन हर्षेण स्तवस्य स्तुतेर्गोचरता विषयत्वम् ।
'द्वीपाधिपान्नयनयोर्नय गोचरत्वम्' इति नैषधे । अवापित लम्भित । कैरिव । मागधै-
रिव । यथा मागधैर्बैन्दिजनैश्चक्रवती स्तूयते । पुनः कलिङ्गदेशजैर्भूपैः रुद्धनतः पूर्व रुद्धः
पश्चान्नतः नमस्कृतः । 'पीतप्रतिबद्धवत्साम्' इति रघौ । 'पूर्व पीत पश्चात्प्रतिबद्धो
वत्सो यस्याः सा' इति तद्वृत्तिश्च । "पूर्वकालैकजरत्पुराणनवकेवला सामानाधिकरणेन"
एते समानाधिकरणेन समस्यन्ते स तत्पुरुषः । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे
प्रवृत्तिः समानाधिकरणम् । पूर्वकालार्थस्तु अपरकालार्थेन । यथा स्नातानुलिप्त । पूर्व
स्नातः पश्चादनुलिप्तः । तथा 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः' । समानाभिधेयो

यस्तत्पुरुषः स कर्मधारयाख्यः स्यात् । पीतश्चासौ प्रतिबद्धश्च । तथा स्नातश्चासावनुलि-
प्तश्च । तथा रुद्धश्चासौ नतश्च । इत्येषोऽपि विग्रहस्तेन कर्मधारयगर्भितस्तत्पुरुषः समासः”
इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । किं कुर्वद्भिः । गजैः साधनभूतैर्हस्तिभिः कलिः सग्रामं सृजद्भिः ।
कुर्वद्भिः । कैरिव । अद्रिगणैः । यथा पर्वतप्रकरैः उपलैः प्रस्तरैः कृत्वा । युद्धं विदधद्भिः ।
सद्भिरिन्द्रो रुध्यते प्रणम्यते च ॥

चतुर्दिशामप्ययमर्णवावधीनिति प्रदेशान्ध्वजिनीभिरानशे ।

विभासिताभिः सितसिन्धुरश्रिया यथाभ्रिकाभिः प्रसरत्पयोधरः ॥ ११० ॥

अथ भरतसार्वभौम इत्यमुना प्रकारेण ध्वजिनीभिः सेनाभिः कृत्वा चतस्रश्च पूर्वद-
क्षिणपश्चिमोत्तरलक्षणास्ता दिशश्च चतुर्दिशस्तासाम् । कथम् । अपि चतस्रणामपि दि-
शामित्यर्थः । प्रदेशान् विभागान् आनशे व्याप्नोति स्म । किंभूतान्प्रदेशान् । अर्णवः
समुद्रोऽवधिर्मर्यादा यस्य । अथवा अर्णवाश्चत्वारः समुद्राः । ‘पयोधरीभूतचतुः समुद्रा जु-
गोप गोरूपधरामिवोर्वीम्’ इति रघुकाव्ये । तथा ‘चतुः समुद्रो परिखे नृपाणामन्तःपुरे
वासितकीर्तिदारे । दानं दया सूनृतमातिथेयी चतुष्टयी रक्षणसौविदल्ला ॥’ इति नैषधे ।
‘वासिता रक्षिताः कीर्तय एव दारा यत्र । तादृशे चतुरर्णवखातिके भूमीमण्डले एव नृपा-
णामन्तःपुरे दानं, कृपा, सत्यवचनम्, अतिथिसत्क्रिया, एतच्चतुष्टयी तदन्तःपुररक्षणार्थं
सौविदल्लाः कञ्चुकिनः । एभिश्चतुर्भिः प्रकारैर्विना कीर्तिर्न तिष्ठति ।’ इति तद्वृत्तिः ।
अतश्चत्वारः समुद्रा मर्यादा येषां ते । किंभूताभिर्ध्वजिनीभिः । सितानां भद्रजातित्वेन
शुभ्राणां सिन्धुराणां हस्तिनां श्रिया शोभया विभासिताभिः शोभिताभिः । क इव ।
प्रसरत्पयोधर इव । यथा श्वेतगजेन ऐरावणेन । ‘प्रावृषेण्य पयोवाहं विद्युदैरावताविव’ इति
रघौ । अथ वा अभ्रस्य मेघस्य मातङ्गो हस्ती अभ्रमातङ्गः । ‘ऐरावणोऽभ्रमातङ्गश्चतु-
र्दन्तः’ इति हैमीवचनात् । विभासिताभिरभ्रिकाभिर्वर्दलैः कृत्वा गगनाङ्गणविस्तरन्मेघ-
श्चतुर्दिक्प्रदेशान्व्याप्नोति । अत्र यथा इवार्थः ॥

अथैष वेलातटतः समं भटैर्न्यवीवृतन्नीरधिनेमिनायकः ।

गभीररावैरुदरं भरन्भुवो रयः पयोधेरिव यादसां भरैः ॥ १११ ॥

अथ चतुर्दिग्विजयानन्तरमेष वर्ण्यमानबलोत्कर्षो नीरधिनेमेरासमुद्रान्तःपृथिव्या ना-
यकः पतिर्भरतचक्रवर्ती वेलातटतः समुद्रस्य वेलाया जलवृद्धिस्थानकस्य तटात्तीराद्भटैः
सेनाचरैः शूरैः समं सार्धं न्यवीवृतन्निवर्तते स्म । पश्चाद्वले इत्यर्थः । क इव । रय इव ।
यथा पयोधेः समुद्रस्य रयः पयः प्रवाहः । ‘प्रवाहः पुनरोद्य स्याद्वेणी धारा रयश्च स’ इति
हैम्याम् । यादसा नक्रचक्रपाठीनपीठादीनां भरैः व्रजैः साकं वेलातटान्निवर्तते । किंभूत
एष रयश्च । गभीररावैश्चतुरङ्गतुरङ्गगजस्यन्दनपदातिप्रबलबलचलनोद्भूतैः स्वभावजैश्च ग-
भीरध्वनिभिः कृत्वा भुवः पृथिव्या उदरं मध्यं भरन् पूरयन् । अथ वा ‘पृथिवीं प्रपूरयन्’
इत्यपि पाठः ॥

स चक्रिणा भारतभूमिभामिनीविशेषकाणा वृषभाङ्गजोऽग्रणीः ।

तदीयवत्सेव जिनावनीभुजामभूत्सुरश्रेणिनिषेवितक्रमः ॥ ११२ ॥

स जगद्विख्यातो वृषभस्यादिदेवस्याङ्गज सूनुर्भरतचक्री भारतभरतक्षेत्र तस्य भूमि सैव भामिनी स्त्री तस्या विशेषकाणा तिलकाना भरत-सगर-मघवा-सनत्कुमार-शान्ति-कुन्थु-अर-सुभम्-पद्म-हरिषेण-जय-ब्रह्मदत्ताभिधानाना द्वादशसख्याकाना चक्रिणा मध्ये अग्रणीर्मुख्यः प्रथमो वा अभूद्वभूव । क इव । तदीयवत्सेव । यथा तस्य भरतस्याय तदीयः वत्सा पिता युगादिदेव । जिनाना सामान्यकेवलिनान् । अथ वा ऋषभ-अजित-शभव-अभिनन्दन-सुमति-पद्मप्रभ-सुपार्श्व-चन्द्रप्रभ-सुविधि-शीतल-श्रेयास-वासुपूज्य-विमल-अनन्त-धर्म-शान्ति-कुन्थु-अर-मल्लि-मुनिसुव्रत-नमि-नेमि-पार्श्व-वर्धमाननाम्ना चतुर्विंशतितीर्थकृता मध्ये आदिम अजायत । किभूतो भरतस्तत्पिता च । सुराणा षोडशसहस्राङ्गरक्षकयक्षमुख्याना चतुःषष्टिदेवेन्द्रादीना च श्रेणिभिर्निषेवितौ परिचितौ क्रमौ चरणौ यस्य ॥

य आदिमोद्वारकरो जिनालयं व्यधापयन्मूर्धनि सिद्धभूभृतः ।

समग्रतीर्थेष्वपि सार्वभौमताममुष्य वक्तुं किमु हेमशेखरम् ॥ ११३ ॥

आदौ भव असर्पिणीतृतीयारपर्यन्ते । प्रथमस्योद्वारस्य चैत्यस्थापनारूपस्य कर कारकः अत एव यो भरतचक्री सिद्धभूभृत शत्रुजयस्य मूर्धनि ऋषभकूटनामनि शिखरे जिनालयम् ऋषभदेवप्रासाद व्यधापयद्वार्धकिरलपार्श्वे कारयति स्म । किमूत्प्रेक्ष्यते । अमुष्य श्रीशत्रुजयगिरे समग्रेषु त्रिजगद्वासिषु तीर्थेषु सार्वभौमता चक्रवर्तित्व वक्तुं कथयितुम् । जनाना पुर इति शेष । हेमशेखर सुवर्णोत्तस किमु कारयति स्म ॥

मृगाक्षि सोपारककुल्यपाकयोरमूल्यमाणिक्यविनीलरत्नयोः ।

स्वतातमूर्ती भरतेन कारिते दृशाविवैते भरतावनीश्रियः ॥ ११४ ॥

मृगवदक्षिणी नयने यस्यास्तस्या संबोधने हे हरिणलोचने, तेन भरतेन अमूल्ययोर्महर्घ्ययोर्मूल्य ज्ञातुमपि कर्तुमपि केनाप्यशक्ययोर्माणिक्य पद्मगागमणिरन्यो वा कश्चिन्मणिविशेष विनीलरत्न मरकतमणिस्तयो स्वतातस्य ऋषभदेवस्य मूर्ती प्रतिमे कारिते निर्मापिते । कयो पुरयो । सोपारकनाम शत्रुजयतलहट्टिकाया पत्तनम्, कुल्यपाकनामन्यन्नगरम्, तयो पुरयो । अद्यापि विद्येते इत्यध्याहार । उत्प्रेक्ष्यते । भरतावनीश्रियो भरतक्षेत्रक्षोणिलक्ष्म्या एते प्रतिमे दृशौ नेत्रे इव ॥

तथा चतुर्विंशतितीर्थकृद्गृहं धराधवोऽष्टापदभूध्रमूर्धनि ।

व्यधापयच्छाश्वतसार्ववेश्मवत्तदद्य यावद्ध्रुववद्वितिष्ठते ॥ ११५ ॥

तथा पुन स धराधवो भरतभूपतिरष्टापदभूध्रमूर्धनि कैलाशशैलशिखरे तुल्यनासाग्रस्वस्ववर्णप्रमाणपद्मासनाद्यङ्कितचतुर्विंशतितीर्थकृत्प्रतिमालकृतसिहनिषद्या नाम चतु-

विंशतेस्तीर्थकृतामृषभादीना वर्धमानान्तानां जिनाना गृह प्रासाद व्यधापयत्कारित-
वान् । किं तत् । शाश्वतसार्ववेश्मवत् सिद्धायतनमिव । तच्चैत्यमद्य यावदद्यतन दिवस
मर्यादीकृत्य वितिष्ठते स्थितमस्ति । किंवत् । ध्रुववत् । यथा ध्रुव उतानपादजस्तारको-
ऽद्याप्याकाशे विद्यते ॥

परान्परःकोटिजिनालयानयं हिरण्यमाणिक्यमयानचीकरत् ।

जिनेन्द्रमूर्तीरपि कोटिशस्तररीरिवाङ्गिनां संसृतिसिन्धुपातिनाम् ॥ ११६ ॥

अयं भरतचक्रवर्ती परान् अन्यान् परःकोटिजिनालयान् कोटे परे परःकोट्यम् ।
कोटिश इत्यर्थः । तादृशान् प्रासादानचीकरत् कारयामास । किभूतान् । हिरण्य सुवर्ण
माणिक्यानि रत्नानि मणिविशेषा वा तन्मयान् तै रचितान् । अपि पुन कोटिशो जि-
नेन्द्राणाम् अतीतानागतवर्तमानचतुर्विंशतितीर्थकृता मूर्तीं प्रतिमां कारयति स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते । संसृतिः ससारः स एव सिन्धुः समुद्रः तत्र रागद्वेषादिना पतनशीलाना-
मङ्गिना प्राणिना तरीस्तरीतु नाव इव ॥

नृपोऽयमाद्योऽजनि सघनायकः कृशाङ्गि शत्रुजयरूप्यशीलयोः ।

क्षमाभृता भोगभृता च योऽग्रणीरभूत्पुनः कुण्डलिनामिवाधिभूः ११७

हे कृशाङ्गि तन्वद्भि, अयं नृपो भरतभूमीन्द्रः शत्रुजयरूप्यशीलयोर्विमलाचलाष्टापद-
योराद्यः प्रथमः सघनायकः सघपतिरजनिः सजातः । पुनर्यं क्षमाभृता राज्ञा भोगभृता
भोगिनाम् । 'भोगः श्रीभरतेश्वरे प्रतिपदः लब्धस्तथा गौतमे' इति सूक्तवचनात् । भोगो
राज्यादिसुखं सर्पदेहश्च राज्यादिसर्वसुखभाजा वा अग्रणीर्मुख्योऽभूद्बभूव । क इव ।
कुण्डलिनामधिभूरिव । यथा नागनाथः शेषः पृथ्वीधारिणा कुलपर्वतादीनां तथा भोगः
सर्पकायं बिभ्रतीति भोगभृतस्तेषां वासुकिप्रमुखनागानामग्रणीः । शैला हि पादैर्धरां दधते,
शेषस्तु सहस्रसख्यैः स्वफणामण्डलैः सर्वां वसुधरां धत्ते । अतोऽग्रणीत्वम् ॥

असौ प्रकामप्रमदः ददानया प्रसूतया ध्यानसुधापयोधिना ।

शिवश्रिया अग्रजयेव केवलश्रिया श्रितो दर्पणिकानिकेतने ॥ ११८ ॥

असौ भरतचक्री दर्पणिकानिकेतने आदर्शगृहे । 'यन्मतौ विमलदर्पणिकायाम्' इति
नैषधे । केवलश्रिया केवलज्ञानलक्ष्म्या श्रितो भेजे । किभूतया । प्रकामः सर्वातिशायिन-
मनन्तः प्रमदः हर्षम् । परमानन्दमित्यर्थः । ददानया यच्छन्त्या । श्रीरपि प्रकृष्टस्य मातृपादाम्भो-
जभक्तस्य कामस्य प्रद्युम्नस्य स्वाङ्गजातस्य प्रमोदः दत्ते । पुनः किभूतया । ध्यानः शुक्ल-
प्रणिधानं तदेव सुधापयोधिः क्षीरसमुद्रः शुक्लध्यानवदुज्ज्वलत्वात्क्षीरमयत्वात् ध्यानामृ-
ताब्धिः । 'गुणश्रेणिसुधासिन्धोः पाण्डोरुजागरौजसः' इति पाण्डवचरित्रे । तेन प्रसूतया
जनितया । श्रीरपि दुग्धाब्धेर्जाता । उत्प्रेक्ष्यते । शिवश्रिया मूर्तिलक्ष्म्या अग्रजया ज्ये-
ष्ठभगिन्येव प्रथमोत्पन्नत्वेन केवलज्ञानानन्तरं मोक्षप्राप्तेः ॥

दिगन्तवासं किमपास्य काश्यपीविलासशीलैः ककुभां पुरंदरैः ।

तदष्टपट्टक्षितिपैरवाप्यतामुनेव सीमन्तिनि केवलेन्दिरा ॥ ११९ ॥

‘केशेषु वर्त्म सीमन्त ’ इति हैम्याम् । प्रशस्य सीमन्तोऽस्त्यस्यास्तस्या सबोधन हे सीमन्तिनि, तस्य भरतस्य अष्टसख्याकै पट्टेषु पदेषु क्षितिपै । अथ वा । तत्पट्टधारिभिर्मध्यपदलोपे नृपैः । भरतादारभ्य अष्टपट्टधरै राजभिरित्यर्थ । अमुनेव भरतचक्रिणेव आदर्शगृहे केवलेन्दिरा केवलज्ञानलक्ष्मीरवाप्यत प्राप्ता । उत्प्रेक्ष्यते । दिगन्तवास दिशा प्रान्ते वसतिमपास्य त्यक्त्वा काश्यपी भूमिस्तस्या विलास स्थानवैशिष्ट्य क्रीडन वा तत्र शील स्वभावो येषा तैः । ‘लीला केलिर्विलासश्च शृङ्गारभावजक्रिया’ इत्यनेकार्थ । केलि क्रीडा विलास स्थानवैशिष्ट्यमित्येव भूरि ककुभा पुरंदरैरष्टदिक्पालै किम् । ‘आखण्डलो दण्डधरः शिखावान्पतिः प्रतीच्या इति दिक्महेन्द्रै ’ इति नैषधे ॥

ततोऽस्य संख्यातिगपट्टपङ्क्तिभिः प्रपद्य शत्रुजयमूर्ध्नि केवलम् ।

महोदयश्रीः समसेवि भास्करीरिवोदयं द्यौरुदयावनीधरे ॥ १२० ॥

तत अष्टमपट्टधरदण्डवीर्यराजानन्तरमस्य भरतचक्रिण सख्यामतिगच्छन्त्यतिक्रामन्तीति सख्यातिगा । कर्मणि ड । ताभिः । असख्याताभिरित्यर्थ । पङ्क्तिभिः पट्टधरराजराजीभिः शत्रुजयमूर्ध्नि विमलाचलशिखरे केवल केवलज्ञान प्रतिपद्यासाद्याधिगत्य महोदयश्रीर्मुक्तिलक्ष्मी समसेवि ससेविता । कैरिव । भास्करीरिव । यथा दिवाकरैरुदयावनीधरे पूर्वपर्वते उदयमुद्गममवाप्य द्यौर्गगनमण्डली सेव्यते ॥

बभूवुरिक्ष्वाकुकुले सहस्रशः सहस्रशोचिःसदृशा महौजसा ।

ततः क्षितीन्द्रा जगदीहितावहा महेन्द्रशैले सुरभूरुहा इव ॥ १२१ ॥

तत सख्यातिगपट्टपरपराप्रान्तवर्तिजितशत्रुभूपतिरासीत्तेन स्वसुताजिततीर्थकृते राज्ये विश्राणितम्, श्रीभगवता च स्वपितृभ्रातृसुमित्रधात्रीपतिपुत्राय सगरकुमाराय राज्यप्रददे, स क्रमाद्वक्री भूत्वा चारित्र्यमादाय सिद्ध सगरचक्रिणोऽनन्तरम् । इक्ष्वाकुकुले सौधर्मेन्द्रेण स्वयं स्थापितस्य श्रीऋषभदेवस्य वशे सहस्रश अर्थादसख्याता क्षितीन्द्रा पृथिवीपुरदरा राजानो बभूवु सजाता । किभूता । महौजसा अतिशायिप्रतापै सहस्रशोचिष सूर्यस्य सदृशास्तुल्या । पुन किभूता । जगदीहितावहा विश्वकामित्विधायका । क इव । सुरभूरुहा इव । यथा महेन्द्रशैले मेरौ जगदभिलषितपूरका कल्पवृक्षा भवन्ति ॥

इति स्वप्नजागरिकाया भरतदिग्विजयोद्धारप्रतिमाप्रासादकारापणकेवलज्ञानतत्पट्टपरपरावर्णनम् ॥

इदं वदन्त्यामरविन्दचक्षुषः पुरोऽथ तस्यामपरा निपस्तनी ।

गिराननं योजयति स्म कौतुकान्मरालिकायामिव कीरकामिनी ॥ १२२ ॥

अथ भरतचक्रिदिग्विजयादिकथितानन्तरम् अरविन्दचक्षुषः कमललोचनाया नार्थी-
देव्याः पुरोऽग्रे तस्या प्रागुक्ताया सख्यामिदं पूर्वोक्तम् ऋषभभरतदिग्विजयचैत्यनिर्मापणादि
वदन्त्या सत्याम् अपरा अन्या काचिन्निपस्तनी कलशोच्चकुचा कौतुकात् कौतूहलाद्भिरा वाचा
आनन मुख योजयति स्म । उवाचेत्यर्थः । केव । कीरकामिनीव । यथा मरालिकाया
वदन्त्या हस्या भाषमाणाया सत्या शुकी वक्ति ॥

मृगाक्षि पश्यामरसिन्धुसारिणी त्वमभ्रवीथी सुमनोवनीमिव ।

मयूखलेखामकरन्दितारकामणीचका मेचकिमालिमण्डलाम् ॥ १२३ ॥

मृगवदक्षिणी यस्यास्तस्याः संबोधनं हे मृगाक्षि स्वामिनि, त्वमभ्रवीथीं गगनपद्धतिं
पश्य विलोकय । उत्प्रेक्ष्यते । सुमनोवनीमिव पुष्पवाटिकामिव । देववनं वा । किभूता ।
अमरसिन्धुराकाशगङ्गा सैव सारिणी कुल्या यस्याम् । पुनः किभूता । मयूखलेखा किर-
णश्रेणिरेव मकरन्दो मधु विद्यते येषु तादृशास्तारका एव मणीचकानि कुसुमानि यस्याम् ।
मेचकिमा गगनश्यामत्वम् । ‘वृतगम्भीरखनीखनीलिमा’ इति नैषधे । तथा ‘अर्चि-
श्चण्डाशुरोर्चिर्गगनमलिनिमा कज्जल दह्यमानम्’ इति खण्डप्रशस्तौ । तदेव अलिना भ्रम-
राणां मण्डलानि वृन्दानि यस्याम् ॥

मृगेन्द्रमध्ये मृगयस्व तारकाञ्श्रमोदबिन्दुस्तवकानिवाङ्गके ।

विभावरीकैरवचक्षुषोऽमुना निखेलयन्त्या दयितामृतांशुना ॥ १२४ ॥

मृगेन्द्रः केसरी तद्वन्मध्यमुदरं यस्याः, यद्वा मृगेन्द्रमध्यवन्मध्यं यस्याः । मध्यमपद-
लोपी समासः । कृशोदरीत्यर्थः । त्वं तारकान्(?) ज्योतिश्चक्राणि मृगयस्व पश्य । ‘पय-
पारावार परमपुरुषोऽयं मृगयते’ इति खण्डप्रशस्तौ । इवोत्प्रेक्ष्यते । अमुना दृश्यमानेन
दयितेन भर्त्रामृतांशुना सुधाकरेण चन्द्रेण सार्धं निखेलयन्त्या सुरतादिक्रीडां कुर्वत्या
विभावरीकैरवचक्षुषो रजनीकुमुदनेत्राया रात्रिस्त्रियः अङ्गमेवाङ्गकम् । ‘अकिंचने किंचन
नायकाङ्गके’ इति नैषधे । श्रमोदबिन्दुस्तवकान् परिश्रमसजातप्रस्वेदजलकणगुच्छानिव ।
‘श्रमोदबिन्दुप्रकरान्’ इति पाठो वा । तदा परिश्रमसलिलकणनिकरानिव ॥

कुशेशयामोदिनि वीक्ष्यतामसौ शनैः शनैः पङ्कजकाननानिलः ।

त्वदाननाम्भोजजनुःप्रभञ्जनैर्जितान्तिके किं समुपैति सेवितुम् ॥ १२५ ॥

कुशेशयं कमलं तद्वदामोदो वपुः परिमलोऽस्त्यस्यास्तस्याः संबोधनं हे कुशेशयामो-
दिनि । पद्मिनीत्यर्थः । हे स्वामिनि, वीक्ष्यतां विलोक्यताम् । अवधार्यतामित्यर्थः । असौ
प्रत्यक्षं शरीरस्पर्शनानुभूयमानं पङ्कजकाननानिलो नलिनवनपवनं शनैः अन्तिके श्री-
मत्याः पार्श्वे उपैत्यागच्छति किम् । उत्प्रेक्ष्यते । त्वदाननाम्भोजात्तव वदनारविन्दाज्जनुस्तप-
त्तिर्येषां तादृशैः प्रभञ्जनैः त्वद्वक्त्रकमलसुरभिश्वाससमीरणैर्वर्तैः सेवितुं त्वत्समीपं
इव समुपैति ॥

करेणुकुम्भस्तनि पश्य दीप्यतेऽन्तिके मणीकुट्टिमबिम्बितारकैः ।

त्वदाननस्वामिसिताशुसेवनाकृते नमस्तः किमुपागतैरिह ॥ १२६ ॥

करेणोर्हस्तिन कुम्भौ शिरसः पिण्डाविव पीनावुच्चौ स्तनौ कुचौ यस्यास्तस्या स-
बोधन हे करेणुकुम्भस्तनि कुम्भिकुम्भपीनोच्चकुचकलशे स्वामिनि, त्व पश्य निरीक्षस्व ।
अन्तिके श्रीमत्याः समीपे मणिकुट्टिमबिम्बितारकैर्विविधरत्ननिबद्धसौधप्राङ्गणभूमौ बि-
म्बन्ति अतिस्वच्छवस्तुनि सकामन्ति इति बिम्बानि बिम्बान्यस्ये(नि सन्त्ये)षा तादृशै-
स्तारकैर्ज्योतिभिर्दीप्यते । किमुत्प्रेक्ष्यते । त्वदानन तव मुखमेव स्वामी पति सि-
ताशुश्चन्द्रस्तस्य सेवनाकृते पर्युपासना कर्तुं किमु नमस्तो गगनादिह त्वद्गृहाङ्गणे समा-
गतैः समेतैरिव ॥

त्वदीयवापीतपनास्तमुद्रिताम्बुजन्मकोशव्यसनानुपातिनः ।

क्षपाक्षयायोक्तिमन्त्रवर्णकानिव द्विरेफा गणयन्ति गुञ्जितैः ॥ १२७ ॥

हे स्वामिनि, त्वदीयवाप्या तव क्रीडागृहदीधिकाया तपनस्य सूर्यस्यास्तेन परद्वीपो-
पगमनेनादृश्यीभावेन । 'तेजोवसाने व्रजति द्वीपान्तरमहर्मणि' इति सूक्तवचनात् ।
मुद्रिताना निमीलिताना मुकुलीभूतानामम्बुजन्मना कोशेषु यद्वन्धलक्षण व्यसनमापत्
कोशान्तर्दु खस्थितिविपत्तिस्तामनुलक्षीकृत्य ज्ञात्वैव । यत्पद्ममुद्रणाया यामिनी याव-
त्कोशान्तरदु खेन स्थातव्यमेवेति विचार्य पतन्तीत्येवशीला पातिनः । पतित्वा स्थिता
इत्यर्थः । द्विरेफा भ्रमरा । अत एवोत्प्रेक्ष्यते । गुञ्जितैर्गुञ्जारवै कृत्वा क्षपाक्ष-
याय निशानाशाय । ओक्तिमन्त्रवर्णकान् ओकारपूर्वकवर्णस्तस्याक्षराणि गणयन्ति
जपन्तीव ॥

नभःश्रियास्तारकमौक्तिकस्रजः किमेणनाभीशितिमाङ्कनायकः ।

दृशा विनिर्दिश्य शशाङ्कमादरात्परा ददे कापि गिर मृगेक्षणा ॥ १२८ ॥

परा अन्या कापि मृगेक्षणा सखी आदरात् तस्या स्वस्वामिन्यामतिबहुमानाद्विर-
वाणीमाददे । जग्राहेत्यर्थः । कि कृत्वा । दृशा नेत्रेण शशाङ्क चन्द्र विनिर्दिश्य दर्शयित्वा ।
यतः । शश अङ्गे चक्षुषि उत्सङ्गे वा यस्य । 'अङ्ग क्रोडेऽन्तिकागसो' इत्यनेकार्थः ।
अत एवोत्प्रेक्ष्यते । नभःश्रिया गगनलक्ष्म्यास्तारका ज्योतिर्गणा उज्ज्वलानि वा मौ-
क्तिकानि स्थूलमुक्ताफलानि तेषां स्रजो मालाया । हारस्येत्यर्थः । एणनाभ्या कस्तूरि-
कायाः शितिमा श्यामत्वमङ्गे क्रोडे यस्य कस्तूरीकलितमव्यो नायको मध्यमणि किम् ॥

निजाक्षिलक्ष्मीहसिताञ्जखञ्जनेऽधरीकृतः सुभ्रु तवास्यविभ्रमैः ।

विवर्णताश्लेषिमुखस्त्रपाभरादिवास्तता याति तमस्विनीपतिः ॥ १२९ ॥

निजस्यात्मन । यद्वा निजयोरात्मीययोरक्ष्णोर्नयनयोर्लक्ष्म्या शोभया हसिता निर्भ-
त्सिता अब्जानि उत्पलकुमुदजातियावत्कमलानि, तथा खञ्जना खञ्जरीटा यया तस्या-

सबोधन हे निजाक्षिलक्ष्मीहसिताब्जखञ्जने । तथा शोभने भ्रुवौ यस्यास्तस्याः सबोधन हे सुभ्रु, तमस्विनीपतिश्चन्द्रोऽस्तता याति । उत्प्रेक्ष्यते । त्रपाभरालज्जातिशयादिव किम् अधरीकृतो हीनो हित जित इत्यर्थः । कै । तवास्यविभ्रमे भवन्मुखश्रीभिः । अत एव किभूत । विवर्णताया विच्छायताया आल्लेषो यत्र तादृङ्मुख यस्य ॥

निजास्यदासीकृतशारदोदयत्सितद्युते भृङ्गिततारतारके ।

विनिद्रतां वीक्ष्य तवेक्षणाम्बुजे ह्रियेव निद्राति कुमुद्रनं वने ॥ १३० ॥

निजेनात्मीयेनास्येन कृत्वा दासीकृत किकरता प्रापित शारद शरत्कालसबन्धी उदयन्नभस्युद्गच्छन् सितद्युतिश्चन्द्रो यया तस्या सबोधने निजास्यदासीकृतशारदोदय-त्सितद्युते हे स्वामिनि, वने कानने जले वा स्थलेऽपि कमलिनीकमलसद्भावो दृश्यते । यथा—‘ददर्श तत्र स्थलपद्मिनी नल’ इति नैषधे । तथा—‘उत्फुल्लस्थलपद्माभभवच्चरणभूषिता’ इति चम्पूकथायाम् । कुमुद्रन कैरवकानन निद्राति सकुचति । उत्प्रेक्ष्यते । भृङ्गिते भृङ्गाविवाचरिते श्यामलत्वात् तारे निर्मलतारिके कनीनिके यत्र तादृश तव श्रीमत्या ईक्षण लोचनमेवाम्बुज कमल तत्र विनिद्रता विकाशता वीक्ष्य विलोक्य यदा कमल विकसति तदा कुमुद सकुचतीति स्थिति । ह्रियेव लज्जयेव क(त)स्मा-त्स्वस्य हीनश्रीकत्वात्रपा ॥

कृशाङ्गि राजन्यपयातवैभवेऽपराश्रये शोच्यदशावशंवदे ।

शनैः शनैस्तारगणा इवानुगा विभावयाभ्रे विरलीभवन्त्यमी ॥ १३१ ॥

हे कृशाङ्गि तन्वङ्गि, त्वमन्त्रे नभसि विभावय पश्य । अपयातवैभवे गतश्रीके राजनि भूपाले चन्द्रे च अनुगाः सेवका इव अमी दृश्यमानास्तारगणा ज्योतिर्व्रजा शनैः शनैर्विरलीभवन्ति स्तोका जायन्ते । किभूते राजनि । अपरेषा सश्रीकाणामाश्रयो भाजन यस्य । गताखिललक्ष्मीको हि तदर्थं सश्रीक पर श्रयते इति स्थितिरेवेति । तत्त्वतस्तु अपरस्या पश्चिमायामाश्रयो वेश्म यस्य । पुन किभूते । शोच्या शोचनार्हा दशा अवस्था तस्या वशवदे आयत्ते ॥

प्रपूर्णपाथोरुहबन्धुगर्भिणी तनूभवत्तारकतारभूषणा ।

हरेर्हरित्पाण्डुरिमाणमानने विभर्ति मत्तेभगतेव सुस्मिते ॥ १३२ ॥

सु शोभन स्मितमीषद्वसन यस्यास्तस्या सबोधने हे सुस्मिते ।-एतावता बहुहास-निषेधः । हरेरिन्द्रस्य हरित् दिक् पूर्वा आनने मुखे पाण्डुरिमाणमौज्ज्वल्य धत्ते । किभूता । प्रपूर्ण सपूर्णीभूत प्रसवसमय प्राप्तः पाथोरुहाणा पद्माना बन्धु भास्वान् स एव गर्भोऽस्त्यस्या । अत एव । पुन किभूता । तनूभवन्तः स्तोकीभाव भजन्त प्रभातत्वात्तारकास्तारा एव ताराण्येवोज्ज्वलानि भूषणानि यस्या सा । केव । मत्तेभ-गतेव । यथा आपन्नसत्त्वा स्त्री वक्त्रे पाण्डुरता धत्ते । किभूता । सपूर्णो भाग्यवत्तया

भानुवत्स्वय दीप्यमानो मातुश्च दुःप्रेक्ष्यतेजः करोति । यथा—‘धामैकधामगगा(ङ्गा?)या गङ्गाया इव भास्करम् । गर्भमन्तर्दधानाया दुरालोकमभूद्वपुः ॥’ इति पाण्डवचरित्रे । गर्भोऽस्त्यस्या एतावता नाथीदेव्या भास्वत्सनिभो गर्भो भावीत्यसूचि । पुनः किमूता । गर्भोद्भवात्खेदादल्पीभवत्तारकवदुज्ज्वलमौक्तिकाभरणानि यस्याः । ‘शरीरसादादसमग्र-भूषणा’ इति रघुकाव्ये ॥

तमस्विनीशेऽस्तमिते प्रकाशतां विलोकयास्ये दधतेऽखिला दिशः ।

कलङ्किदोषाकररुद्रसङ्गिनां वहन्ति केन व्यसनोदये मुदम् ॥ १३३ ॥

हे स्वामिनि, त्व विलोकय निरीक्षस्व । तमस्विनीशे निशानायके चन्द्रे अस्त नाश क्षयं वा इते प्राप्ते सति अखिलाः सर्वा अपि दिश आस्ये मुखे प्रकाशता प्रकटता नक्त तु तमिस्रवस्त्रेणाच्छादितत्वादव्यक्तता जातासीत् । प्रभाते पुनस्तम पटोत्सारणा-त्प्रकटत्व हर्षहास्य वा दधते धारयन्ति । ‘प्रकाश स्फुटहास्ययोः’ इत्यनेकार्थः । युक्तो-ऽयमर्थः । कलङ्किनामपवादवताम् । ‘कलङ्कोऽङ्गापवादयोः’ । कालायसमलावपि’ इत्य-नेकार्थः । तथा दोषाकराणा निखिलापगुणखनीना रुद्रस्य चण्डस्य जनसंहारकारिणः सङ्गोऽस्त्येषामिति रुद्रसङ्गिनस्तेषाम् । ‘क्षये जगज्जीवपिब शिव वदन्’ इति नैषधे । पश्चात्कर्मधारयः । पाप्मवतीपतीना च । ‘तमोऽज्ञानेऽन्धकारे च पाप्मनि’ इत्यने-कार्थः । पुसा व्यसनोदये आपत्प्रकटीभावे के जना मुद हर्षं न वहन्ति बिभ्रति । अपि तु सर्वेऽपि मुदमावहन्ते ॥

इतः श्रियानिर्जितविश्वयौवते समुज्जिहानः सविता निपीयताम् ।

किमु स्फुरद्भाग्यभरो विभावरीवियुज्यमानद्विजसंततेरसौ ॥ १३४ ॥

हे श्रिया स्ववपुर्लक्ष्म्या निर्जितानि पराभूतानि विश्वेषा त्रयाणा जगताम् । त्रैलोक्यस्या-पीत्यर्थः । यौवतानि युवतीसमूहा यया तस्याः सबोधने श्रियानिर्जितविश्वयौवते । अ-लुक्समासः । हे स्वामिनि, इतः अस्मिन् पार्श्वे । प्राच्या दिशीत्यर्थः । उज्जिहान सम-भ्युदयन् । ‘मुखेन्दुनानेन सहोजिहानाम्’ इति नैषधे । ‘उज्जिहानामुदयन्तीम्’ इति तद्वृत्तिः । सविता सूर्यस्त्वया निपीयता सादरमवलोकयताम् । यथा सूर्योदयः सजातस्तथा तवापि कुलदिनकरः पुत्रः सजात एवेति सादरत्वम् । किमुत्प्रेक्ष्यते । विभावर्या निशाया वियु-ज्यमानाना वियोगमाप्नुवता द्विजाना पक्षिणामर्थाच्चक्रवाकविहगमानाम् । ‘विहगयोः कृ-पयैव शनैर्ययोरविरहविरहध्रुवभेदयोः’ इति रघुवशे । सतते श्रेण्या असौ सूर्यलक्षणः स्फुरन् प्रकटीभवन् भाग्यभरः पुण्यसमुदय इव ॥

निरित्वरीभिर्मधुपीभिरुलसत्सरोजकोशात्सखि मञ्जु गुड्यते ।

किं गायत्रीभिर्धवलस्य वासरश्रियाञ्जबन्धोः करपीडनोत्सवे ॥ १३५ ॥

हे सखि, उलसत्सरोजकोशात् विकसत्कमलमुकुलान्निरित्वरीभिर्निर्गमनशीलाभिर्म-धुपीभिर्भ्रमरीभिर्मञ्जु मनोहर यथा स्यात्तथा गुड्यते गुञ्जारवः क्रियते । किमुत्प्रेक्ष्यते ।

अब्जबन्धोर्भास्करस्य वासरश्रिया दिनलक्ष्म्या सम करपीडनोत्सवे पाणिग्रहणमहे धव-
लस्य गायनीभिर्गानकर्त्रीभिः । किं धवमङ्गलगायनीभिरिवेत्यर्थः ॥

हले हिमाम्भः पतितं विहंगमव्याहारलीलायितवल्लिपल्लवे ।

गायन्मृगाक्षीदशनच्छदे द्विजज्योत्स्नास्मितश्रीरिव लक्ष्यते क्षणम् १३६

हे हले हे सखि, 'कि नन्दि' कि मुरारि — क्रीडा कर्तुं प्रवृत्तः स्वयमपि तु हले भूप-
तिर्भोजदेव ' इति धनपालप्रोक्तभोजस्तुतौ । विहगमाना पक्षिणा व्याहाराणा वचसाम् । कू-
जितानामित्यर्थः । 'व्याहारो भाषित वचः' इति हैम्याम् । लीलया क्रीडया आचरित यत्र
तादृश्या वल्ल्या लताया पल्लवे किसलये पतित हिमाम्भ तुहिनजल क्षण क्षणमात्र ल-
क्ष्यते दृश्यते । केव । द्विजज्योत्स्नास्मितश्रीरिव । यथा गायन्त्या गान कुर्वत्या मृगाक्ष्याः
स्त्रिया दशनच्छदे अधरे पर्यस्ता द्विजाना दन्ताना ज्योत्स्ना कान्तिस्तया कलितस्मितस्य
हसितस्य श्रीर्लक्ष्मी क्षणमीक्ष्यते ॥

हैमाब्जनिर्यासपिशङ्गितैः..... ।

..... ॥ १३७ ॥

हे स्वामिनि, हेम इमानि हैमानि अब्जानि तेषा निर्यासै रसैरर्थात् परागमकरन्दैः पि-
शङ्गितै पिङ्गीकृतैः सितच्छदैर्हसै कृत्वा पल्वलाः सरोवराणि भान्ति । उत्प्रेक्ष्यते । वतं-
सैः स्वर्णशेखरैरिव । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः । अपि पुनः
क्रौञ्चैः प्रसिद्धै पक्षिविशेषैः क्रेक्रियते प्रभातप्रथमारम्भोत्थितैः क्रेकारवो विधीयते । किमू-
त्प्रेक्ष्यते । कजाश्रये पद्माकरे पद्मसद्मनि वा प्रवेशे प्रवेशकरणमहोत्सवे तूर्यनिःस्वनैः
किमु वादित्रनिर्घोषैरिव ॥

वाता वान्ति स्मितकजसरिद्वारि कल्लोलयन्तो

मन्दं मन्दं स्खलितगतयः स्त्रैणवक्षोजशैलैः ।

जातिस्नेहात्किमिह मिलितुं कम्पितैराननाना-

माजानेया अपि हरिहयानाद्वयन्ते विभाते ॥ १३८ ॥

हे स्वामिनि, वाता प्रातर्वायवो वान्ति । वातास्त्रिविधा । वर्ण्यन्ते—शीता मन्दाः
सुरभयश्च । तदेव दर्शयति—किंभूता वाता । स्मितानि विकसितानि कजानि कमला-
नि यत्र तादृश्याः सरितो नद्या वारि प्रवहत्पय पूर कल्लोलयन्तः लङ्घरीकलित कुर्वन्तः
उत्तुङ्गरङ्गतरङ्गयुक्त विरचयन्तः । एतावता कमलकलितजलकल्लोलनेन सुगन्धत्व शीतत्व
च दर्शितम् । पुन किंभूता । मन्दं मन्दं शनैः । 'मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो
यथा त्वाम्' इति मेघदूतकाव्ये । स्खलिता मन्दीभूता भग्ना वा गतिर्येषाम् । कै । स्त्रै-
णस्य युवतीजनव्रजस्य वक्षोजशैलैः विकञ्चुकितकुचाचलैः । एतावता मन्दत्वं च इति

त्रिधापि वाता दर्शिताः । अपि पुनर्विभाते दिनोदये समये आजानेयाः कुलीनाश्वा आ-
ननाना वक्राणां कम्पितैर्वल्लनैरुर्ध्वाधःकरणैर्हरेरिन्द्रस्य रवेर्वा हयास्तुरङ्गान् । 'हरि विदि-
त्वा हरिभिश्च वाजिभिः' इति रघुवशे । इति प्रसिद्धोच्चैःश्रवस्येकस्मिन्नश्वेऽपि इन्द्रस्या-
श्वबाहुल्यम् । तथा—'पर्य(र्ज)न्यहर्यश्वक्रभुक्षिबाहु—' इति हैम्याम् । उच्चैःश्रवा श्वेताश्वः ।
हरयो नीलवर्णा अश्वा यस्येत्यन्यहरिद्वर्णवाजिसद्भावः प्रोक्तः । रवेस्तु तुरङ्गमाना सप्तत्वेन
बाहुल्यमेवास्ते । आह्वयन्ते आकारयन्ति । किमुत्प्रेक्ष्यते । जातेरश्वाना कुलस्य स्नेहा-
त्प्रीतेः मिलितुमिह भुवि उच्चैर्गमनशक्त्यभावाद्भूमीमण्डले स्वसमीपे वा किमाह्वयन्ते ॥

चन्द्राननेऽमन्दमरन्दबाष्पा कुमुद्वती मुद्रितनेत्रपत्रा ।

विधोर्वियोगादिव कोशमध्यावरुद्धगुञ्जन्मधुपैर्विरौति ॥ १३९ ॥

चन्द्रानने सपूर्णपार्वणेन्दुरिव वदन यस्या । अथवा चन्द्रवदाल्हादक मुख यस्या
सबोधने नार्थीदेवि, कुमुद्वती कैरविणी कोशमध्ये स्वकुमुदमुकुलान्तराले अवरुद्धैश्चन्द्रा-
स्तेन बद्धमुकुलमध्य एव स्थितैः । तथा—गुञ्जद्भि शब्दायमानैर्मधुपैर्भृङ्गैर्विरौति शब्दायते ।
इवोत्प्रेक्ष्यते । विधोर्भर्तुश्चन्द्रमसो वियोगाद्विरहादिव रोदिति । रोदनलक्षणमाह—किभूता
कुमुद्वती । अमन्दो बहुलो यो मरन्दो मधु स एव बाष्पो नेत्राम्बु अश्रुजल यस्याः ।
पुनः किभूता । मुद्रिते निमीलिते नेत्रे एव तत्तुल्ये वा पत्रे यस्याः सा ॥

उपगतमिहान्यसाद्वीपात्प्रगेऽधिपति त्विषा-

मनुरतिपरीरम्भारम्भप्रसारिकर पुरः ।

विकचवदना राजीविन्यः स्फुटोद्भूतकण्टका

नयनकमलैरालोकन्ते वशा इव वल्लभम् ॥ १४० ॥

हे स्वामिनि, राजीविन्यः पद्मिन्यः प्रगे प्रभाते त्विषा पति सूर्य नयनान्येव तत्तु-
ल्यैर्वा कमलैः । कमललोचनैरित्यर्थः । आलोकन्ते पश्यन्ति । का इव । वशा इव । यथा
कामिन्यो वल्लभ स्वकान्त वीक्षन्ते । किभूत सूर्य वल्लभ च । अन्यस्मादपरस्माद्वीपाद्वन्दि-
रात् । 'तेजोवसाने व्रजति द्वीपान्तरमहर्मेणि' इति सूक्तोक्तेः । तथा—'द्वीपमन्तर्जले
तटम्' इत्युक्तेश्च । इतरस्मात्कस्माच्चिद्वीपान्तरात् इह द्वीपे उपगतमागमने । 'गमनार्था
समभ्युपाङ्म्य पराः कथिताः ।' 'उपगतोऽपि च मण्डलनाभिताम्' इति रघुवशे । उप-
गत प्राप्त इति तद्वृत्तिः । पुनः किभूतम् । पुरोऽग्रे अनुरत्या अनुरागेण । 'रागोऽनुरागो-
ऽनुरति' इति हैम्याम् । यः परीरम्भ आलिङ्गन तस्यारम्भाय उपक्रमार्थं प्रसारिण प्रसरण-
शीला कराः किरणा हस्ताश्च यस्य । किभूताः पद्मिन्यो वशाश्च । विकचवदना विकसि-
तमुखा । पुनः किभूताः । स्फुट प्रकटमुद्भूताः प्रादुर्भूताः कण्टका अङ्कुरविशेषाः । ना-
लीत कण्टकाः स्युः । 'कण्टकः पद्मनाले' इति वचनात् । तथा—उद्गतो रोमाञ्चो या-
साम् । 'रोमाञ्चः कण्टको रोमविकारो रोमहर्षणम्' इति हैम्याम् । स्त्रीपुरुषयोरपि विशेष-
णानि स्युः ॥ इति सखिकथितरात्रिविरामविभातादिनकरोदयवर्णनम् ॥

आनन्दाद्वयवादमेदुरमना मध्ये सखीनामिति

प्रारब्धाभिनवोक्तियुक्तिरचना वाग्देवताश्रीजुषाम् ।

देवीना जयवाहिनीव सुमनोवल्लीव वा वीरुधा

ताराणा विधुमण्डलीव महिला कामप्यवाप श्रियम् ॥ १४१ ॥

सा महिला नाथी देवी सखीना स्ववयसी(स्या)ना मध्ये स्थिता सती कामप्यनिर्व-
चनीया श्रिय शोभामवाप लेभे । किभूता सा । आनन्दस्य प्रमोदस्य योऽद्वयवादो-
ऽद्वैतता तेन मेदुर पुष्ट मनो यस्याः । किभूताना सखीनाम् । इति पूर्वोक्तप्रकारेणा-
रब्धा प्रकाशिता अभिनवा नूतना उक्तयो वार्तास्तासा युक्तीना योजनाना न्यायाना
रचना सदर्भास्तैः कृत्वा तासु वा वाग्देवताया सरस्वत्या श्रीजुषा शोभाभाजा वाग्वा-
दिनीवद्वा लक्ष्मीभृताम् । केव कासा मध्ये श्रियमाप्नोति । देवीना देवाङ्गनाना मध्ये
जयवाहिनी इन्द्राणीव । पुनः केव । वीरुधा वल्लीना मध्ये सुमनोवल्ली कल्पलतेव ।
ताराणा तारकाणाम् । 'भरुनीनिकयोस्तारा' इति लिङ्गानुशासने । पुष्पिलिङ्गे तारा-
शब्द । मध्ये विधुमण्डली चन्द्रबिम्बमिव । 'कुवलयमृणालमण्डला' इति लिङ्गानुशासने
मण्डलशब्दस्त्रिलिङ्गे ॥

यं प्रासूत शिवाह्वसाधुमथवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गो द्वितीयोऽभवत् ॥ १४२ ॥

पण्डितदेवविमलगणिव्यावर्णिते हीरसौभाग्याभिधे महाकाव्ये हीरविजयसूरिचरिते
द्वितीयः सर्गोऽभवत् जात ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौ-
भाग्यनाम्नि महाकाव्ये कुरानाथीगजस्वप्न-तजागरिका-ऋषभदेवभरतदिग्विजय मखीक-
थितभरतदिग्विजयादि-रात्रिविरामदिनकरोदयवर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः ॥

तृतीयः सर्गः ।

कल्पद्रुमाङ्कुरमिवामरशैलभूमी

रत्न विदूरधरणीव घनस्वनोत्थम् ।

अन्तर्मदोदयमिवेभकपोलपाली

नाथी ततोऽवहत दोहदलक्षणं सा ॥ १ ॥

तत स्वप्नदर्शनधर्मजागरिकरणानन्तर सा कुरामहभ्यपत्नी नाथीदेवी दोहदलक्षण गर्भ-

मवहत धत्ते स्म । 'सुदक्षिणा दोहदलक्षण दधौ' इति रघुवशे । तथा 'गर्भस्तु गरभो-
भ्रूणो दोहदलक्षण च स' इति हैम्यामपि । केव । अमरशैलभूमीव । यथा मेरुमही
कल्पद्रुमाङ्कुर सुरतरुप्ररोह वहते । पुनः केव । विदूरधरणीव । यथा विदूरपर्वतस्य पृ-
थिवी । 'यथा विदूरीन्दिरद्वरां गमी' इति नैषधे । घनस्वनोत्थ प्रावृट्समयप्रादुर्भूत पयो-
धरधीरगर्जारवश्रवणसमुद्भूत रत्न वैदूर्य नाम मणि बिभर्ति । प्रावृट्काले हि सजलजल-
धरौर्जितगर्जिताकर्णनसमये एव विदूरभूधरभूमौ वैदूर्यरत्नशलाका प्रादुर्भवन्तीति श्रुति ।
पुनः केव । इभकपोलपालीव । यथा गजेन्द्रगण्डस्थलम् । पालीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति ।
यथा—'कालिन्दीकूलपालीषु' इति पाण्डवचरित्रे । अन्तर्मध्ये मदाना दानजलानामुदय
प्रादुर्भाव धत्ते । 'अन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्र' इति रघौ ॥

श्रीमन्महेभ्यपुरुहूतपयोरुहाक्षी

नीराज्यमानवदना शरदिन्दुबिम्बैः ।

आसेदुषी शशिमुखी सुषमा दधाना

गर्भं पलालपिहितेशुशिशुं क्षमेव ॥ २ ॥

शुक्ती रसोद्भवमिवाम्बु धनावलीव

माणिक्यराशिमिव शैवलिनीशवेला ।

विद्याविशेषमिव विज्ञसभासबिम्बं

प्रासादभूमिरिव वायुसखं शमीव ॥ ३ ॥

रक्ताङ्कपङ्क्तिरिव कृष्णलताप्ररोह-

मात्रेयदृष्टिरिव वल्लभमौषधीनाम् ।

धात्री निधानमिव शैलगुहेव सिंहं

कसारिनाभिकजकोशकुटीव शंभुम् ॥ ४ ॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

श्रीमतः शोभाभाजो गणनातीतलक्ष्मीकलितस्य वा, महेभ्याना अत्युच्चशिलोच्चय-
प्रमाणवारणपरिमार्णसुवर्णवता व्यवहारिणा मध्ये पुरुहूतस्य इन्द्रस्य सर्वेभ्योऽपि लक्ष्म्या
अतिशायित्वात् कुरासाधो पयोरुहाक्षी कमलनयना स्त्री नाथी नामा पत्नी सुषुमा
सातिशयिनी शोभामासेदुषी प्राप्तवती । लेभे इत्यर्थः । किभूता । शशिमुखी चन्द्रानना ।
कि क्रियमाणा । शरदिन्दुबिम्बैः शरत्कालसबन्धिभृगाङ्गमण्डलैः । अर्थात् वेधसा भ्र-
मणीक्रियाभिः । नीराज्यमानमारात्रिक क्रियमाण वदन मुख यस्याः । पुनः कि
कुर्वाणा । गर्भं धारयन्ती । केव । क्षमेव । यथा पलालैर्धान्यत्वग्भिः पिहितमाच्छादि-

तमिक्षुशिशु बालरसालप्ररोहम् । 'इक्षु' स्याद्रसालोऽसिपत्रकः' इति हैम्याम् । 'रसाल इक्षौ चूते च' इत्यनेकार्थः । 'पलालजालै पिहित स्वय हि प्रकाशमासादयतीक्षु-
 ढिम्भ' इति नैषधे । त धारयन्ती भूमी सुषमामासादयति इति सर्वत्र योज्यम् ॥ पुन
 केव । शुक्तिरिव । यथा शुक्तिका रसोद्भव मौक्तिकम् । पुन केव । घनावलीव । यथा
 मेघमाला अम्बु जलम् । पुन केव । शैवालनीशवेलेव । यथा समुद्रवेला माणिक्य-
 राजी रत्नमण्डलीम् । पुन केव । विज्ञसमेव । यथा विज्ञाना पण्डिताना सभा समाज
 श्रेणी वा विद्याना विशेष रहस्यमुपनिषद वा । 'ब्राह्मीव दौर्जनी ससद्वन्दनीया समेखला'
 इति चम्पूकथायाम् । पुन केव । प्रासादभूमिरिव । यथा प्रासादस्य जैनविहारस्य भूमि
 गर्भागारक्षोणी आप्तस्यार्हतो बिम्ब प्रतिमाम् । बाहुल्येऽपि मूलनायकस्यैवैक्येनैकमेवाप्त-
 बिम्बमिति । पुन केव । शमीव । यथा शमी 'खेजडी' नामातरुर्वायुसख कृशानुम् ॥ पुन
 केव । रक्ताङ्गपङ्क्तिरिव । यथा विद्रुममालिका कृष्णलताया 'कालीवेलि' इति प्रसिद्धाया
 प्ररोहमङ्कुरम् । पुन केव । अत्रेयदृष्टिरिव । यथा अत्रेर्मुनिविशेषस्येयमात्रेयी सा चासौ
 दृष्टिश्च । अत्रिनामतापससबन्विनी दृक् । औषधीना वल्लभ विधुम् । 'विधुरत्रिदृग्ज' इति
 हैम्याम् । 'अथ नयनसमुत्थ ज्योतिरत्रेरिव द्यौ' इति रघौ । 'अत्रिजातस्य या
 मूर्तिः शशिन सजनस्य च' इति चम्पूकथायाम् । पुन केव । धात्रीव । यथा भूमि-
 निधानम् । पुन केव । शैलगुहेव । यथा गिरिकन्दरा केसरिणं सिंहम् । पुन केव ।
 कसारिनाभिकजकोशकुटीव । यथा कमारे कृष्णस्य नाभिस्तत्रोद्भूत यत्कज कमल तस्य
 कोश कुड्मल स एव कुटी पर्णतृणाच्छादितसदन सा शम्भु ब्रह्माणम् । 'शम्भुर्ब्रह्मार्हतोः
 शिवे' । 'नारायणनाभ्यम्भोरुहकुहरकुटीमधिशयानस्य' इति चम्पूकथायाम् । प्रागुक्त-
 मस्ति । नाभिभवत्वेनेयमुपमा । 'नाभिपद्मात्मभूरपि' इति हैम्याम् ॥ इति गर्भाधानम् ॥

एकातपत्रमिह यत्तनुजो विधाता

साम्राज्यमिन्दुविशद जिनशासनस्य ।

शीताशुमण्डलमितीव सितातपत्री-

कर्तुं स्वमूर्धनि तया स्पृहयाबभूवे ॥ ९ ॥

तया नाथीदेव्या स्वमूर्धनि निजमस्तके । उत्प्रेक्ष्यते । इति हेतो शीताशुमण्डल चन्द्र-
 बिम्ब सितातपत्रीकर्तुं श्वेतच्छत्र विधातु स्पृहयाबभूवे आचकाङ्क्षे । इति किम् । यत्तनुजो
 यस्यास्तनुजः पुत्रो जिनशासनस्य इह भूमण्डले एकमद्वितीयमातपत्र छत्र विधाता
 करिष्यतीति । किम्तम् । इन्दुविशद चन्द्रकलोज्ज्वलम् ॥

प्रेम्णा गुणाननुगुणीकृतवेणुवीणा

एणीदृशः सुमनसामदसीयसूनोः ।

गास्यन्ति ताभिरिति कीव(?)तया विधातुं

सौहार्दमम्बुजदृशा हृदि काम्यते स्म ॥ ६ ॥

तया अम्बुजदृशा नलिननयनया । उत्प्रेक्ष्यते । इति किं कारणात्ताभिः सुरीभिः सार्धं सौहार्दं मैत्र्यं विधातुं कर्तुं हृदि चित्ते काम्यते स्म वाञ्छ्यते स्म । इति किम् । यददसीयसूनोर्नाथीनन्दनस्य गुणान् शमदमसयमगाम्भीर्यधैर्यौदार्यस्थैर्यादिकान् सुमनसा देवानां तादृशापरानन्यागण्यग्रामगानश्रवणेन निजस्त्रैणोपरि नाभ्यसूयन्ति प्रत्युत प्रमोदन्ते इति सुमनसः । तेषामेणीदृशो वशादेव्यः । प्रेम्णा हृदयहार्देन स्नेहेन गास्यन्ति । किभूता देव्यः । अनुगुणीकृता स्वस्वरानुयायिनीविहिता निजालापसदृशीकृता वेणवो वशास्तथा वीणा याभिः ॥

शौण्डीर्यचङ्क्रमणचारिमदानलीला-

श्रीभिर्यतो मम सुतस्तमधो विधाता ।

आरोढुमन्तरिति जम्भनिशुम्भकुम्भि-

कुम्भस्थले किमनया हृदि काम्यते स्म ॥ ७ ॥

अनया नाथीदेव्या । किमुत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोर्जम्भनिशुम्भस्य शक्रस्य कुम्भिन ऐरावणस्य कुम्भस्थले स्कन्धप्रदेशे आरोढुं चढितुं काम्यते स्म चक्रमे । कुम्भस्थले चढित्वा उपवेष्टुं वाञ्छ्यते स्मेत्यर्थः । यतो यस्मात्कारणात् । शौण्डीर्यस्य पराक्रमस्य । 'पौरुषविक्रमः शौर्यं शौण्डीर्यं च पराक्रमे' इति हैम्याम् । तथा—चङ्क्रमणचारिणो मन्यरगतिविलासमञ्जुलत्वस्य, तथा—दानस्य विश्राणनस्य मदवारिणो वा, लीला आधिक्यातिशयविलासास्तासां श्रीभिः कृत्वा मम सुतो नन्दनस्तमैरावणमधो विधाता अधः कर्ता । तिरस्करिष्यतीत्यर्थः ॥

यत्तत्सुतो मधुरिवावनिजव्रजाना

कर्ता यशःसुरभिदिग्बलयः प्रबोधम् ।

प्रीतिं प्रणेतुमृतुना किमिति सितास्या

ग्रीष्माग्रजेन सह कामयते स्म चित्ते ॥ ८ ॥

यद्यस्मात्कारणात् तत्सुतस्तस्या नाथीदेव्या सुतः पुत्रः, मधुरिव वसन्तसमयवत् अवनौ पृथिव्या जाता अवनिजा जना इमाश्च । 'भुविदिविजमहि(ही ?)यम्' इत्यजितशान्तिस्तववचनात् । भुविजा जना दिविजा देवा अलुक्कसमासेन नामानि यथा 'दिविप्रदो देवाः' 'क्षितिरुहः कारस्करो विष्टरः' इति हैम्याम् । तथा 'नृत्यन्ति भीमानुजगोजभाजः' । भीमानुजोऽर्जुनः स एव गोजः शाखी तं भजन्ते इति विदग्धमुखमण्डने । तेषां व्रजास्तेषां प्रबोधः प्रतिबोधः विकाशः कर्ता करिष्यति । किभूतस्तत्सुतः । यशोभिः कीर्तिभिः सुरभिः सुगन्धः वासितः दिग्बलयः दिशः विभागो यस्मात् । अथ वा । यशःसुरभीकृतदिग्बलयः यशसा स्वकीत्यां सुरभीकृतसकलदिग्बलं येन । कृतमध्यमपदस्य लोपे निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः । कृधातौ परे च्विप्रत्ययनिमित्ते गते दीर्घस्याप्यभावो जातः

इति । सुरभिदिग्वलयो वसन्तोऽपि । विविधविकसिततरुकुसुमपरिमलैः सुगन्धीकृता-
खिलदिवचक्र स्यात् । इति हेतोः स्मितास्या हसितवदना नार्थीदेवी ग्रीष्माग्रजेन नि-
दाघसमयवृद्धभ्रात्रा उष्णकालात्प्रथमजत्वेन वसन्तानन्तरं हि ग्रीष्मसमयोद्भवनात् ।
ऋतुना वसन्तऋतुना सम सार्धं प्रीतिं स्नेहं प्रणेतुं कर्तुं हृदि चित्ते कामयते स्म
ईहते स्म ॥

तस्याः सुतो रविरिवाम्बुजपाणिविश्व-

चक्षुः प्रबोधकरकृत्ततमा महस्वी ।

भावी यतः किमिति पद्मदृशा च काङ्क्षे

तन्मण्डलं स्वसदनेऽनिशमुज्जिहानम् ॥ ९ ॥

यतः कारणात्तस्या नार्थीदेव्याः सुतः पुत्रो रविर्भानुमानिव अम्बुजे पद्मे इव पाणी
हस्तौ यस्य । तथा—अम्बुजमाकृत्या कमलपाणौ यस्य । तथा—विश्वस्य जगज्जनस्य धर्ममा-
र्गप्रकाशकत्वेन चक्षुरिव चक्षुः । तथा प्रबोधतत्त्वज्ञानतस्य करकारकः । प्रतिबोधदायक
इत्यर्थः । तथा कृत्तच्छिन्नतमपापमज्ञानवायेन स तादृशो भावी भविष्यति । रवि-
स्तु—कमलकलितकरजगच्चक्षुर्नामा । प्रबोधो विनिद्रताजागरणतत्कारकः दलितान्व-
कारश्च वर्तते । पुनः किंभूतः । महस्वी प्रतापवान् । कुदृशामवृष्यः । अथ वा—
उत्सववान् । उत्सववाच्यपि महश्शब्दः सकारान्तोऽप्यस्ति । यथानैषधे—‘एनमह-
स्विनमुपैहि सदारुणोच्चैः’ इति । महस्विनमुत्सववन्तमिति तद्वृत्तिः । यत्र यत्रैष व्रजति
तत्र तत्रोत्सवपरम्परा पदे पदे भविष्यन्तीत्यर्थः । रविरपि तेजस्वी इति हेतोः किमु-
त्प्रेक्ष्यते । पद्मदृशा कमललोचनया नार्थीदेव्या तया तन्मण्डलं रविबिम्बमनिशमहोरात्र
स्वसदने निजमन्दिरे उज्जिहानमुदयमानचकाङ्क्षे वाञ्छितम् ॥

स्वः सानुमन्तमधिरोढुमथात्मदर्शी-

कर्तुं विधुं पुनरपापतिमुत्तरीतुम् ।

सिद्धालयेष्वपि सभाजयितुं जिनान्सा

गर्भानुभावत इयेष यथार्हदम्बा ॥ १० ॥

सा नार्थी गर्भानुभावतः शुभगर्भप्रभावात् स्वः सानुमन्तः सुमेरुः । ‘रत्नसानुः सुमेरुः
स्वः स्वर्गिकाञ्चनतो गिरिः’ इति हैम्याम् । अधिरोढुमध्यासितुं चढितुम् । अथ पुन-
विधुं चन्द्रमसमात्मदर्शीकर्तुं दर्पणविधातुम् । स्वाननविलोकनायेति शेषः । पुनरन्यत् ।
अपापतिः समुद्रमुत्तरीतुं स्वभुजाभ्यामखिलमपि जलमाक्रम्य तीर्त्वा परतटे प्रयातुम् ।
अपि पुनः सिद्धालयेषु शाश्वतजिनप्रासादेषु जिनान् शाश्वतनामभाजः ऋषभवर्यमानच-
न्द्राननवारिषेणान् तीर्थकृत्प्रतिमां सभाजयितुं पूजयितुम् । ‘सभाजनं तत्र ससर्जं तेषां
सभाजने पश्यति विस्मिते सा’ इति नेपथ्ये । सभाजनपूजनमिति तद्वृत्तिः । ‘सभाजनायै

सभाजयति' इति क्रियाकलापे । तथा 'भ्रुवा विनिर्दिश्य सभा सभाजितम्' इत्यपि नैषधे । सभया सभाजनेन सभाजित पूजितमिति तद्वृत्तिः । अथ प्रस्तुतम् । इयेष पूर्वोक्त मन्द-
राधिरोहणादि सर्वमपि वाञ्छति स्म । केव । अर्हदम्बेव । यथा जिनजननी श्रीजिनग-
र्भानुभावात् पूर्वोक्तप्रकारानन्यानपि शुभदोहदोद्भूतप्रकारान् काङ्क्षति स्म ॥ इति दोहदा ॥

तदोहदप्रकरपूर्तिविधौ सुपर्व-

वल्ल्या विधेरिह तथा स्पृहया व्यलासि ।

श्रेयोवतामिव ततिः परिपूर्णकामा

जज्ञे यथानतिचिरादियमायताक्षी ॥ ११ ॥

इहास्मिञ्जगति तस्या गर्भवत्याः दोहदाना गर्भानुभावोद्भूताभिलाषाणा प्रकरस्य समू-
हस्य प्रपूर्तिविधौ प्रकर्षेण सपूर्णीकरणप्रकारे सुपर्ववल्या कल्पलतातुल्यया विधेर्जगत्सृष्टि-
कर्तुं स्पृहया वाञ्छया तथा तेन प्रकारेण व्यलासि विलसित प्रवृत्तम् । तथा कथम् ।
यथा आयताक्षी आयते प्रसूतिप्रमाणे कर्णान्त यावत्प्रसूते वा अक्षिणी नेत्रे यस्या सा
इय नाथी अनतिचिरात्स्तोककालादेव परिपूर्णकामा सपूर्णीभूताभिलाषा निवृत्तमनोरथा
जज्ञे जाता । केव । श्रेयोवता ततिरिव । यथा पुण्याढ्याना जनाना श्रेणी अभिलाषावि-
र्भवनानन्तर त्वरित प्रबलपुण्यवत्त्वात्पूर्णमनोरथा जायते ॥

सा दोहदोदयकृशीकृततत्प्रपूर्ति-

सप्रापितोपचयसचरचारिमश्रीः ।

भाति स फाल्गुनविपत्रितचैत्रसान्द्री-

भूतावनीरुहततिर्विपिनस्थलीव ॥ १२ ॥

सा नाथी भाति स्म । किभूता । पूर्व तेषा दोहदाना जगत्प्रशस्यानामुदयेनाविर्भावेन
कृशीकृता दुर्बला विहिता पश्चाच्च तेषा दोहदाना प्रपूर्त्या प्रकर्षेण पूरणेन सपूर्णाभवनेन
सप्रापितः सम्यक्प्रकारेण लम्बित आसादितो वा उपचय पुष्टिर्यस्य येन वा तादृशस्य
सचरस्य देहस्य चारिम्णो मनोहरताया श्रीयस्या , चास्त्वयुक्ता लक्ष्मीर्यस्या सा वा,
समासान्तविधेरनित्यत्वात् । केव । विपिनस्थलीव यथा वनभूमिर्भाति । किभूता वनस्थ-
ली । प्रथम फाल्गुनेन फाल्गुनिकमासेन विगतानि पत्राणि पर्णानि येभ्यस्ते विपत्रा । वि-
पत्रान् करोतीति विपत्रयति । 'तत्करोति तदाचष्टे' इतीञ्प्रत्यय । विपत्र्यन्ते स्म इति
विपत्रिता । अथवा । विपत्रत्व सजातमेष्वेषा वा । 'इतो जातार्थे' इतीत प्रत्ययेऽपि ।
विपत्रिता पत्रराहिता कृता इत्यर्थः । पश्चाच्चैत्रेण मधुमासेन सान्द्रीभूता पल्लवपुष्पफले-
र्धनच्छाया जाता अवनीरुहा वृक्षास्ते विद्यन्ते यस्या सा ॥

निस्तीर्य दोहदभवार्तिमथैणचक्षु-

र्मेदस्वितामवयवेषु बभौ वहन्ती ।

स्मेरदलैरुपचिता नवशारदीन-

नालीकिनीवदतिवाहितवारिवाहा ॥ १३ ॥

अथ दोहदपूर्णीभवनानन्तरम् । एणचक्षुर्मृगनेत्रा नाथी अवयवेष्वङ्गेषु मेदास्विता पुष्टिं वहन्ती बिभ्रती सती बभौ राजते स्म । किं कृत्वा । दोहदेभ्यो गर्भानुभावोत्पन्नविविधाभिलाषेभ्यो भवासुत्पन्नमार्तिं पीडा चिन्ता वा निस्तीर्य निरस्य । किवत् । नवशारदीन-नालीकिनीवत् । यथा नवा नूतना शारदीना शरत्कालसबन्धिनी नालीकिनी कमलिनी स्मेरद्विविकसद्भि । 'स्मेरदम्भोरुहाराम' इति पाण्डवचरित्रे । दलैः पत्रैरुपचिता पुष्टा कृता । पुन किभूता । अतिवाहितो वारिवाहो मेघसमयो यया । 'वर्षासु कमलानि शीर्यन्ते विद्राणपङ्कजसरसि' इति चम्पूकथायाम् । 'त्रिदिवसमुद्भवन्ति प्रोन्मीलत्सु नीलनीरजेषु शरच्छ्रीकटाक्षेष्विव' इत्यपि चम्पूकथायाम् ॥

शुद्धा क्रिया विदधतामधिभूर्यदेष

भावीरित किमिति भागवतैः प्रतापैः ।

आनन्दपूर्वविमलव्रतिवासवस्ता

प्राग्जन्मनः समय एव समुद्धार ॥ १४ ॥

आनन्द इति शब्द पूर्व यस्य तादृशो विमलः एतावता आनन्दविमलनामा व्रतिना साधूना मध्ये वासवः शक्र सुरीन्द्र जन्मनः प्राक्समये एवार्थात् श्रीहीरविजयसूरिजन्मकालात्प्राक् पूर्वकमेव निर्दोषा निरवद्या क्रियामनुष्ठानमुद्धार समुद्धरति स्म । एतावता हीरकुमारे गर्भेऽवतीर्णमात्र एवानन्दविमलसूरि क्रियोद्धारकृतवानित्यर्थः । किमुत्प्रेक्ष्यते । भागवतैर्भविष्यत्सूरिसबन्धिभिः प्रतापैः प्रभावैर्माहात्म्यैः । 'स प्रताप प्रभाववत्' इति हैम्याम् । इति हेतो ईरित प्रेरित किम् । यत्कारणात् एष हीरविजयसूरिः शुद्धा निर्मला क्रियामनुष्ठान विदधता साधूनामधिभूरधिपतिर्भावी स्वामी भविष्यति । प्रागित्यव्ययम् ॥

कालागुरुद्रवकरम्बितगन्धधूली-

पत्रावलीकलितपाण्डुरगण्डभाजा ।

छायाधरः शरदपास्तपयोदरोधो-

ऽवश्याय दीधितिर्हस्यत तन्मुखेन ॥ १५ ॥

तन्मुखेन नाथीवदनेन अवश्यायदीधितिर्हिमद्युति । 'अवश्यायस्तु तुहिन प्रालेय मिहिका हिमम्' इति हैम्याम् । अहस्यत हसित । तिरस्कृत इत्यर्थः । किभूतेन तन्मुखेन । कालागुरुद्रवेण काकतुण्डस्य पयसा पङ्केन वा करम्बिताया व्याप्ताया गन्धधूल्या-कस्तूर्या पत्रावलीभिः कलितौ सयुतौ । तथा—गर्भानुभावात्पाण्डुगौ विशदौ गण्टौ कपोलौ भजतीति भाक् तेन भाजा उल्लसद्बहलमृगमदजललिखितविचित्रपत्रभङ्गमव्यविपुलकपोलमण्डलेन मुखेन । 'शशाङ्कमन्तस्फुरत्कलङ्कमुपहसन्ती' इति चम्पूकथायाम् ।

किभूतश्चन्द्र । छायामन्तःश्यामतां धरतीति । पुनः किभूतः । शरदा घनात्ययेन अपास्तो निराकृतः पयोदाना मेघानाम् । 'प्रावृषेण्यो घनो जलदायी न शारदः' । यत उक्तम्—'अन्ये ते [खलु नीरदा] जलधरास्तृष्णा विनिघ्नन्ति ये भ्रातश्चातक कि वृथात्र रटितैः खिन्नोऽसि विश्राम्यताम् । मेघ शारद एष काशधवल पानीयरित्तोदरो गर्जत्येव हि केवल भृशमपा नो बिन्दुमुद्यच्छति ॥' इति वष्पीहाष्टके । अतः पयोदनाम सार्थकम् । रोधो रुन्धन यस्याः ॥

लीलाचलद्वलगणा विगलन्मरन्द-

लुभ्यन्निलीनमधुपा सितपद्मपङ्क्तिः ।

प्रस्पन्दमाननयनेन सविभ्रमभ्रू-

भाजा यदीयवदनेन विडम्ब्यते स्म ॥ १६ ॥

यदीयवदनेन गर्भसमयत्वात् पाण्डिमण्डितेन नाथीमुखेन सितपद्मपङ्क्तिः कुमुदमण्डली । 'श्वेते तु तत्र कुमुदम्' इति हैम्याम् । विडम्ब्यते स्म अनुक्रियते स्म । 'पुण्डरीकातपत्रस्त विकसत्कासचामर । ऋतुविडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रूयम् ॥' इति रघौ । शरद-
तुस्त रघु राजान विडम्बयामास । अत्र चामरादिभिरनुचकार, पर तल्लक्ष्मी न प्रापेति तद्वृत्तिः । किभूतेन वदनेन । प्रस्पन्दमाने स्वभावचपले नयने लोचने यस्मिन् । 'प्रस्पन्द-
मानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमर च पद्मम्' इति रघौ । पुनः किभूतेन मुखे-
न । सह विभ्रमेण विलासेन वर्तते तादृशीं भ्रुव नयनोर्ध्वरोमपद्धति भजतीति । किभूता
सितपद्मपङ्क्तिः । लीलया नातिशयेन मन्दमरुत्प्रेरणया चलता लोलीभवता दलाना प-
त्राणा गणो यत्र । पुनः किभूता । विगलन्तो निष्पतन्तो ये मरन्दा मधूनि तदर्थं लु-
भ्यन्तो लोलुपीभवन्तोऽत एव निलीनाः कोशान्तर्निश्चलीभूय स्थिता मधुपा भ्रमरा
यस्याम् । तादृशी कुमुदावली सगर्भत्वेन पाण्डुरमुखस्योपमानमिदम् । स्वभावमुखस्या-
न्योऽर्थः । नि सरन्मधुकृते लुब्धीभवता निलीनाना च भृङ्गाणामासितमवस्थित यत्र
तादृक् पद्मपङ्क्तिः हसिता ॥

नीलारविन्दनयना कलमावदाता

बन्धूकदन्तवसना सितकान्तिवक्त्रा ।

कासस्मिता कुमुदिनी सुरभिर्मराल-

लीलागतिः सरसि वाजनि सा तदानीम् ॥ १७ ॥

सा नाथी तदानीं तस्मिन् गर्भाधानसमये शरदिव घनात्ययसमय इव अजनि सजाता ।
किभूता नाथी देवी शरच्च । नीलारविन्दे इन्दीवरे । 'नीले तु स्यादिन्दीवरम्' इति है-
म्याम् । उत्पले तद्वृत्ते एव वा नयने यस्याः । पुनः किभूता । कलमा कलमनामशालय
तद्वृत्तैश्चावदाता गौरकान्तिः । पुनः किभूता । बन्धूकानि बन्धुजीवकतरुकुशुमानि म-

ध्याद् एव विकसनशीलानि 'विपोरिया' इति लोके प्रसिद्धानि । 'बन्धूकप्रसवारुणाम्बर-
धराम्' इति लघुस्तवे । तथा 'बन्धूकबन्धूभवदेतदस्या मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहानाम्'
इति नैषधेऽपि । तद्वत्तान्येव वा दन्तवसनमधरो यस्याः । पुनः किभूता । सिता उ-
ज्ज्वला कान्तिर्यस्य तादृक् वक्त्र मुख यस्याः । पक्षे सितकान्तिश्चन्द्र एव वदन
यस्याः । पुनः किभूता । काश ईषीकाः कासा प्रसिद्धास्तद्वत्ते एव स्मितमीषद्वसित
यस्याः । पुनः किभूता । कुमुदिन्य कैरविण्यस्तथा ताभिश्च सुरभि सुगन्धि । पुनः
किभूता । मराला राजहसास्तद्वत्तेषा च लीलया मन्थरतया गतिर्गमन यस्या वा ।
वर्षासु हसा मानससरसि यान्ति । 'प्रोषितकलहसवयसि' इति चम्पूकथाया मेघवर्णने ।
प्रोषिता मानस प्रति प्रस्थापिताः कलहसा एव वयासि पक्षिणो येनेति तद्विपनके ।
तथा 'शरदि पुनरत्रायान्ति' इति कविसमयः ॥

माणिक्यभूषणगणैर्न तदा कदाचि-

त्खेदोदयाद्वपुरभूष्यत चन्द्रमुख्या ।

क्रीडागतामरकरावचिताम्बुजाता

जानेऽनुयातुमनसा सरित सुराणाम् ॥ १८ ॥

तदा गर्भसमये चन्द्रमुख्या नार्थीदेव्या विधुवदनया कदाचिदपि माणिक्याना मणी-
नामुपलक्षणात्स्वर्णरजतादीना भूषणानामाभरणाना गणै समूहै वपु स्वशरीर नाभूष्यत
न भूषित नालकृतवती(?) । अल्पशब्दस्त्वभावस्यैव वाची । नालचक्रे । कस्मात् । खेदो-
दयात् गर्भधारणनिर्वेदाविर्भावात् । तत्राहमेव जाने उत्प्रेक्ष्यते वा । क्रीडार्थं जलावगाह-
लीलाकृते आगतानाममराणामर्थाद्देवीसखाना देवाना करैर्हस्तैरवचितानि स्वप्रियाहारा-
वतसादिक्रियाकृते चुण्टितानि । गृहीतानीत्यर्थः । अम्बुजानि कमलानि यस्या तादृशीं
सुराणा सरित देवनदी स्वर्गङ्गामनुयातु स्वेनानुकर्तुकामयेव । अत्र जाने इवार्थः ॥

रेजे स्तनाननविनीलिममञ्जुलेन

यस्याः समुज्ज्वलपयोधरयामलेन ।

केलीकृते मरकिताङ्कितसानुनेव

रौप्येण शैलयुगलेन मनोभवस्य ॥ १९ ॥

यस्या गर्भवत्या समुज्ज्वलेन गर्भानुभावात्पाण्डुरीभूतेन पयोधरयामलेन स्तनद्वन्द्वेन
रेजे । तथा—'ऐरावतमस्तकपिण्डपाण्डुरमुच्चचूचकश्यामलिमालकृतम् आपूर्वमाणमन्त-
क्षीरेण क्षणमखिद्यत पयोधरद्वन्द्वमुद्वहन्ती' इति चम्पूकथायाम् । किभूतेन । स्तनानन-
योश्चूचकयोर्विनीलिम्ना प्रकृष्टश्यामत्वेन मञ्जुलेन मनोज्ञेन । इवोत्प्रेक्ष्यते । मनोभवस्य
कामस्य केलीकृते क्रीडार्थं रौप्येण रजतसबन्धिना शैलयुगेन गिरियुग्मेनेव । किभूते-
न । मरकतैरश्मगर्भिणीलमणिभिरङ्कित कलितम् । रचितमित्यर्थः । सानु शिखर यत्र ॥

यस्याः समेचकिमचूचुकचञ्चुरेण
 व्यभ्राजि शुभ्रिमभृता स्तनयोर्द्वयेन ।
 यन्मानसाश्रयनिवासिरतीशरत्यो-
 विप्रो विनोदमधुपाङ्ककुमुद्युगेन ॥ २० ॥
 प्रेम्णा प्रणेतुमजरामरता प्रसद्य
 विश्राणितेन विधिना कुसुमायुधेन ।
 रौप्येण नीलदृषदां दधता पिधानं
 पीयूषपूर्णकलशीयुगलेन किं वा ॥ २१ ॥

यस्या गुर्विण्या स्तनयोर्द्वयेन व्यभ्राजि शुभ्रमे । किभूतेन । सह मेचकिम्रा श्याम-
 लत्वेन वर्तेते ये ते समेचकिमनी कृष्णत्वकलिते तादृशे चूचुके स्तनवृन्ते ताभ्या चञ्चुरेण
 मनोहारिणा । पुनः किभूतेन । शुभ्रिमाण पाण्डुरता बिभर्तीति । तत्र वयमेव विद्मः ।
 उत्प्रेक्षामहे वा । यन्मानस नार्थचित्त तदेवाश्रय स्थान गृह वा तत्र निवसनशीलयो
 रतीशरत्यो स्मरतद्भार्ययोः विनोदार्थं क्रीडाकृते मधुरा भ्रमरा अङ्गे क्रोडे सन्त्यस्येति
 तादृशा कुमुद्युगेन कैरवद्वयेनैव किं वा । अथ वा प्रसद्य प्रसन्नीभूय विधिना ब्रह्मणा
 कुसुमायुधस्य मदनस्य विश्राणितेन प्रदत्तेन रौप्येण राजतेन रजतसबन्धिना पीयूषपूर्णेन
 अमृतभृतेन सुधारसपरिपूरितेन कलशीयुगेन कुम्भीद्वयेनेव । कुम्भकलशशब्दौ पुत्री-
 लिङ्गे । 'अवलम्बितकर्णशङ्कुलीकलशी क रचयन्नवोचत' इति नैषधे । कलशीयुगेन
 किर्कुर्वता । नीलदृषदा हरिन्मणीना पिधानं दधता बिभ्रता । किं कर्तुं दत्तेन । प्रेम्णा
 पितामहत्वस्नेहेन अजरामरता जरामरणराहित्यं प्रणेतुं कर्तुम् ॥ युग्मम् ॥

पीनस्तनद्वयममेचकितं पयोभि-

स्तस्याः क्षण क्षणमपूर्यत गर्भवत्याः ।

सान्द्रै रसैरिव विकस्वरकैरविण्याः

कोशद्विक विशदिमश्रियमुद्वहन्त्या ॥ २२ ॥

तस्या गर्भवत्या गुर्विण्या पीनं पुष्टं तथा अमेचकितं पाण्डुरीभूतं स्तनद्वयं कुचद्वन्द्वं
 क्षण क्षणं पयोभिः स्तन्यैः । दुग्धैरित्यर्थः । अपूर्णतः पूर्णं जायते रमः । निभृतं भ्रियते स्म ।
 किमिव कोशद्विकमिव । यथा विकस्वराया विकसनशीलाया । 'प्रभातेऽम्भोजिनीवासि
 किं चाकस्माद्विकस्वरा' इति पाण्डवचरित्रे । कैरविण्या कुमुदिन्या मुकुलयुगलं क्षण
 क्षणं सान्द्रैर्बहलैर्धनै रसैर्मकरन्दैः सपूर्यते । किं कुर्वत्या कैरविण्या । विशदिमः श्वेत-
 तायाः श्रियः शोभा तस्या अप्यर्थध्वनिः । विशदिम्रा सतीत्वेन । 'असूर्यपश्या राजदारा'
 इति वचनात् । नैर्मल्येन पावित्र्येण वा युक्ता श्रियः लक्ष्मीमिन्दिरा वा उद्वहन्त्या
 बिभ्राणाया ॥

दम्भोलिभूषणभरोद्भवदंशुचाप-

चक्राङ्कितेन पयसा परिपूरितेन ।

आदीयते किमु समुन्नमता चकोर-

चक्षुःपयोधरयुगेन पयोधरश्रीः ॥ २३ ॥

चकोरी चकोरश्च चकोरौ । 'पुमान् स्त्रिया' स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते न स्त्री इति प्रक्रियासूत्रेण चकोरौ तयोश्चक्षुषी इव रक्ते चक्षुषी नेत्रे यस्यास्तस्या । पयोधरयुगेन स्तनद्वन्द्वेन । किमूत्प्रेक्ष्यते । पयोवराणा जलवाहाना मेघाना श्री लक्ष्मी शोभा वा आदीयते किमु गृह्यते इव । किभूतेन पयोधरयुगेन । दम्भोलीना वज्ररत्नानामभरणाना भराद्वृन्दादुद्भवन्त प्रकटा जायमाना ये नि सरन्तो वा अश्व किरणास्तैः । अर्थात् प्रारब्धेन चापचक्रेण धनुर्मण्डलेन अङ्कितेन कलितेन । 'उल्लसन्मयूखमञ्जरीरचितेन्द्रचापचक्राण्याभरणानि' इति चम्पूकथायाम् । तथा 'वृता विभूषामणिरश्मिकार्मुकै' इति नैषधेऽपि । पुनः किभूतेन । स सम्यक् समीचीन यथा स्यात्तथा उन्नमता उच्चैर्भवता उन्नतीभवता च । पुनः किभूतेन । पयसा स्तन्येन पानीयेन च परि सामस्त्येन पूरितेन भूतेन ॥ इति कपोलस्तनादिपाण्डिमा स्तनयो पय पूर्णत्व च ॥

संपूर्णचन्द्रवदना प्रसवोन्मुखत्वं

पूर्णेऽथ गर्भसमये विभरांबभूव ।

वर्षाभिमुख्यमुपकण्ठवितिष्ठमान-

ज्येष्ठोन्मुखीकृतजनान्बुदमण्डलीव ॥ २४ ॥

अथ सार्धसप्तदिनाधिकनवमासपूर्णीभवनोत्तर सपूर्णं षोडशकलाकलितं पूर्णिमासबन्धी । चेदेकयापि कलया यत्रेन्दुर्हीन स्यात्सा तिथिरनुमितिरित्युच्यते । 'कलाहीने त्वनुमिति' इति हैमीवचनात् । पूर्णिमायामेव सपूर्णश्चन्द्र स्यादतः सपूर्णचन्द्रवदनेति । तेन पूर्णिमायामभ्युदितो यश्चन्द्रस्तद्वद्वदन वक्र यस्या पार्वणेन्दुमुखी सा नाथी गर्भस्य समये काले पूर्णे परिपूतिभाव प्राप्ते सति सार्वसप्तदिनाधिकनवसु मासेषु सपूर्णीभूतेषु सत्सु प्रसवस्य सतानजननस्य उन्मुखता विभरांबभूव धारयामास दधाति स्म । केव । अम्बुदमण्डलीव । यथा मेघमाला कादम्बिनी वर्षण वर्षं वृष्टिस्तस्याभिमुख्य वर्षणसमुखता धत्ते । किभूता सा कादम्बिनी च । उपकण्ठे समीपे वितिष्ठमाना स्थिति कुर्वाणा ज्येष्ठा कुलवृद्धस्त्रियो ज्येष्ठमासश्च यस्या । पुनः किभूता । उन्मुखीभूता गर्भानुभावावगतलोकोत्तरप्रभावसतानावलोकनार्थमुत्कण्ठीकृता उच्चमुखाश्च कृता । वर्षाकाले हि लोका उन्मुखीभूय मेघागम विलोकन्ते । यथा चम्पूकथायाम्—'तिरस्कृतशशाङ्कान्तिकलापोच्चमुखमण्डला' । अथ तद्विप्पनकम्—स्त्रिय वर्षाश्च किभूता । तिरस्कृत शशाङ्कस्य कान्तिकलाप शोभासमुदायो येन तादृशमुच्चमुन्नत

मुखमण्डल यासा तथा तिरस्कृता आच्छादिता शशाङ्कस्य चन्द्रस्य कान्तिश्चन्द्रिका
याभिस्तथा काय पयोवाहपानीयाय लापा कुटुम्बीजनजेगीयमानरासकास्तैरुच
मेघागमविलोकनार्थमूर्ध्व मुख वदन येषा तादृशा मण्डला देशा यामु इति । तादृशा
जना विश्वलोकाश्च यया ॥

वंश्यै सुधाशनचिकित्सकयोरिवार्भ-

भूत्याविनिर्मितिविशारदतां दधानैः ।

अध्यूषिरेऽखिलभिषग्वृषभैर्महेभ्य-

जम्भद्विषद्वनगर्भभुवः प्रदेशाः ॥ २५ ॥

अर्भस्य बालकस्य भूत्याया विनिर्मितौ करणे विशारदता पाण्डित्य दधानैर्विभ्रद्भि
अखिलेषु समग्रेषु भिषक्षु वैद्येषु प्रयानत्वाद्वृषभा पुङ्गवास्तै । दायीप्रमुखैरित्यर्थ । तथा
'कुमारभृत्याकुशलैरविष्टिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भवेश्मनि' इति रघौ । महेभ्येषु महाव्य-
वहारिषु जम्भद्विषत शक्रस्य सर्वोत्कृष्टत्वात्कुरासाहस्य भवनस्य गेहस्य गर्भभुवो
मव्यभूमे प्रदेशा विभागा अध्यूषिरे । आशिश्चियिरे । सश्रिता । उत्प्रेक्ष्यते । वैद्यै
सुधाशनाना देवाना चिकित्सकयोर्वैद्ययोर्दस्यो स्वर्लोकवैद्ययोर्वश्यैर्गोत्रे समुत्पन्नैरिव ॥
इति प्रसवसमय ॥

लभं गुरौ शिखिनि शीलति युग्मनाम

भूमीभवे भजति खिङ्ग इवाथ कन्याम् ।

याते तुला सितमरीचिसुते सिते च

सूरेऽपि सारस इवालिविलासशीले ॥ २६ ॥

राहौ पुन मुकृतिनीव धनं प्रपन्ने

पत्यौ रतेरिव विधौ मकराश्रयेव ।

मीन शनौ सलिलवन्मदयत्यदीन-

मित्थ ग्रहेषु तदयाभ्युदयावहेषु ॥ २७ ॥

विश्वावनीधरशिलीमुखपूषसंख्ये

-सवत्सरेऽवनिपुरदरविक्रमार्कात् ।

मास सहस्य विशदश्रियमाश्रयन्त्या

जन्मानुभावत इवास्य तिथौ नवम्याम् ॥ २८ ॥

लग्नोदयेऽथ शुभशसिनि सार्वभौम-

जन्मोचितेऽहनि ससाधिमधिगण्ययोगे ।

कूलकषा मखभुजामिव केकियान-

माखण्डलामृतमयूखमुखी जयं वा ॥ २९ ॥

आमोदमम्बुरुहिणीव विजृम्भमाणा

पञ्चार्चिष शुचिमरीचिकोरचक्षुः ।

सौदामनीवलयमम्बुदमालिकेव

पृथ्वीव तीर्थमनघं कृषिमुर्वरेव ॥ ३० ॥

पीयूषकान्तिमिव दुग्धपयोधिवेला

सिंहं महामृगरिपोरिव वा महेला ।

विश्वावबोधमिव वासरवक्रलक्ष्मी

श्रीखण्डसालमिव वा मलयाचलोर्वी ॥ ३१ ॥

शृङ्गारयोनिमिव नीरजनाभपत्नी

राज्ञः प्रतापमिव वा जगतीजयश्री ।

आचार्यमध्वरभुजामिव फाल्गुनी सा

नाथी क्रमेण तनयं जनयांचकार ॥ ३२ ॥

(सप्तभिः कुलकम्)

सा नाथी क्रमेण परिपाठ्या तनय नन्दन जनयावभूव जनयति स्म । कस्मिन्सति । लग्न मूर्तं तनुभवन गुरौ बृहस्पतौ, तथा शिखिनि केतुग्रहे । 'अश्लेषाभू शिखी केतु' इति हैम्याम् । शीलति भजति सति । किभूत लग्नम् । युग्म मिथुनमिति नाम यस्य इति गुरुकेतूलग्नौ । पुनः कस्मिन्सति । भूमीभवे मङ्गले कन्या भजत्याश्रयति सति । कस्मिन्निव । खिङ्ग इव । यथा विटः कन्या कुमारिकामपरिणीता स्त्रिय भजते । इति कन्याया मङ्गल । पुनः कस्मिन्सति । सितमरीचेश्चन्द्रस्य सुते बुधे च पुनः सिते शुके सति । किभूते बुधे शुके च । याते प्राप्ते । काम् । तुला तुलानामलग्नम् । अर्थात्तुलाया बुधे शुके च सति । अपि पुनः । सूर्ये सूर्ये अलिनाम वृश्चिकलग्नं तत्र यो विलास । 'लस श्लेषणक्रीडनयो' इति वात्वर्थात् । श्लेषणमाश्रयण स्थिति तत्र शील स्वभावो यस्य । क इव । सारस इव । यथा सारसपक्षी आल्या श्रेण्या कृत्वा यो विलास क्रीडया गमनमासनं च तत्र स्वभावो यस्य यथा । 'श्रेणीवन्वाद्वितन्वद्भिरस्तम्भा तोरण-स्वजम् । सारसैः कलनिर्वादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥' इति रघौ । इति चतुर्थे वृश्चिके सूर्ये । पुनः । राहौ विधुतुदे वन वनलग्नं प्रपन्ने सति । कस्मिन्निव । सुकृतिनि । यथा पुण्यवान् वनद्रव्यं प्रपद्यते प्राप्नोति । इति वने राहु । च पुनः । विवा चन्द्रे मकरो मकरलग्नं

स आश्रयोऽधिष्ठान यस्य । कस्मिन्निव । पत्याविव । यथा रते पत्यौ भर्तारि मकरे ध्वज-
रूपत्वाद्वाहने आश्रय आश्रयण यस्य । इति मकरे चन्द्रमा । पुन शनौ शनैश्चरे मीन
मीनलग्न मदयति सति । किवत् । सलिलवत् । यथा पानीय मीन समद कुरुते पयस्येव
मीना समदा । इति मीने शनैश्चरः । इति नवापि ग्रहा जन्मकुण्डल्याम् । इत्थममुना
प्रकारेण जन्मसमये ग्रहेषु सूर्यादिखेचरेषु तस्य हीरकुमारस्य अयस्य शुभकर्मण
पुण्यस्य अभ्युदयस्य वर्धमानकीतिप्रतापसपद्रूपस्य महोदयस्य आवहेषु कारकेषु सत्सु ।
पुन कस्या सत्याम् । नवम्या तिथौ विद्यमानाया सत्याम् । किलक्षणायाम् । विशदश्रिय
श्वेत्यलक्ष्मीमाश्रयन्त्या सत्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—हीरकुमारस्य जन्मानुभावत जननप्रभा-
वादिव । तिथि कस्य सहस्य मार्गशीर्षमासस्य । कस्मिन् । विश्वानि त्रीणि, जगन्ति
अवनीधरा अष्टौ महाकुलशैला, शिलीमुखा पञ्च स्मरबाणा, पूषा भानुरेक, इति
सख्या यस्य तादृशे सवत्सरे । कस्मात् । अवने पृथिव्या पुरदरो यो विक्रमार्कस्तस्मात् ।
एतावता सवत् १५८३ विक्रमादित्यसवत्सरे मार्गशीर्षमासे नवम्या तिथौ सोम-
वासरे पूर्वाभाद्रपदमे हर्षणनामयोगे घटी १२ उपरान्तवज्रयोगे मिथुनलग्ने प्रवहमाने
तद्दिने प्रह्लादनपुरवास्तव्य औकशवश्यसाहकुरापत्नी नाथी देवी सुतरत्नमजीजनत् । इति
सवत्सरादि । पुन कस्मिन्सति । अस्य हीरकुमारस्य शुभशसिनि श्रेय कथयितरि
लग्नोदये मिथुनलग्नोद्गमे सति । पुन कस्मिन्सति । सर्वभूमेरीश्वर सार्वभौमश्चक्रवती
तस्य जन्मनोऽवतारस्य उचिते योग्ये अहनि वासरे सति । पुनः कस्मिन्सति । सह
साधिन्ना प्रधानत्वेन वर्तते तादृशे धिष्यस्य नक्षत्रस्य योगे सति । 'त्वयादत् किं नरसा-
धिमभ्रम' इति नैषधे । नाथी नन्दनमसूत इति सबन्ध । अथोपमानान्याह—केव ।
कूलकषेव । यथा मखभुजा देवाना कूलकषा नदी गङ्गा केकियान स्वामिकातिक जनयतीति
सर्वत्र योज्यम् । पुन. केव । आखण्डलामृतमयूखमुखीव । यथा आखण्डलस्य शक्रस्य
अमृतमयूखमुखी पीयूषकान्तिवक्त्रा चन्द्रवदना इन्द्राणी जय जयन्तनामानमङ्गजम् ।
पुन केव । अम्बुरुहिणीव । यथा विजृम्भमाणा विकसन्ती कमलिनी आमोद परि-
मलम् । पुन केव । शुचिमरीचिचकोरचक्षुरिव । यथा श्वेतद्युतेश्चन्द्रस्य चलचञ्चुलोचना
पत्नी रोहिणी पञ्चाचिष बुधम् । पुन केव । अम्बुदमालिकेव । यथा कादम्बिनी सौ-
दामनी वलय विद्युन्मण्डलम् । पुन केव । पृथ्वीव । यथा वसुवरा अनघ ससारापार
पारावारपारप्रापकत्वेन सर्वजगज्जनश्लाघनीय तीर्थ शत्रुजयशैलादिसिद्धगमनस्थानम् ।
'पृथ्वीव पुण्यतीर्थ, सा' इति चम्पूकथायाम् । पुन केव । उर्वरेव । यथा सर्वसस्या क्षेत्र-
वरित्री कृषि कर्षणम् । पुन केव । दुग्धपयोविवेलेव । यथा क्षीरसमुद्रवेला पीयूष-
कान्ति चन्द्रम् । पुन केव । महेलेव । यथा महामृगाणा गजाना रिपोवैरिण केसरिणो
महेला स्त्री सिंही । 'महिला स्यान्महेलया' इति शब्दप्रभेदे । तथा 'यश्च परमहेलारतो-
ऽप्यपारदारिक' इति चम्पूकथायाम् । सिंह मृगेन्द्रम् । पुन केव । वासरवक्रलक्ष्मी-
रिव । यथा दिनाननस्य प्रभातस्य श्रीविंशस्य जगतोऽवबोध जागरणम् । पुन केव । म-
लयाचलोर्वीव यथा मलयशैलस्य वनभूमि. श्रीखण्ड चन्दनद्रुमाङ्कुरम् । पुन. 'केव । नार-

जनाभस्य पद्म ब्रह्मोत्पत्तिकमल नाभौ यस्य स कृष्णस्तस्य पत्नी जाया लक्ष्मीरिव ।
यथा कृष्णकान्ता श्री शृङ्गारयोनि मदनम् । पुन केव । जगतीजयश्रीरिव । यथा राज्ञो
विजयिनृपस्य जगत्या भूमेर्विजयलक्ष्मीप्रतापम् । पुन केव । फाल्गुनीव । यथा पूर्वा-
फाल्गुनी अध्वरभुजा यज्ञभाजिना देवानामाचार्य गुरु बृहस्पतिम् ॥ सप्तभि कुलकम् ।
इति जन्मसमय ॥

श्यामीकृतानि कुदृशामपकीर्तिपङ्क्तै-

रस्मन्मुखानि विशदानि विधास्यते यत् ।

एष स्वकीर्तिविमलत्रिदशस्रवन्ती-

विस्फूर्तिभि किमिति दिक्प्रमदा प्रसेदु ॥ ३३ ॥

दिक्प्रमदा दिगङ्गनास्तज्जन्मसमये प्रसेदु प्रसन्नीवभूषु । निर्मला जाता । किमुत्प्रे-
क्ष्यते—इति हेतो । इति किम् । यदेष हीरकुमार कुदृशा दुर्वादिना कुमतीना वा
अपकीर्तिभि अपयशोभिरेव पङ्क्तै कर्दमै श्यामीकृतानि मलिनीकृतानि अस्मन्मुखानि
स्वीयकीर्तिरेव विलसन्त्यास्त्रिजगति प्रसरन्त्यास्त्रिदशस्रवन्त्या गङ्गाया विस्फूर्तिभिविला-
सैर्विशदान्युज्ज्वलानि विधास्यते करिष्यतीति । पङ्क्तलुषिताना हि गङ्गासलिलक्षालनेन
निर्मलीभवन युक्तिमदेव । पङ्क्तौघे कर्दमे च । गङ्गास्नानात्पापगमनेन निर्मलीभवत्वेन प्रस-
न्नता स्यादेव ॥

भावी यदेष पृथुकः सुमनोनिषेव्य-

स्तद्वृष्टयो दिव इतीव गृहे निपेतु ।

हन्ता यत स तमसा तमसामिवारि

प्रागेव तैः किमिति भीतिवशात्प्रणेशे ॥ ३४ ॥

यद्यस्मात्कारणात् नाथीनन्दन पृथुकः बालकः सुमनोभिर्देवैर्निषेव्य उपास्यो भावी
भविष्यति । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतो तद्वृष्टयः सुमनोवर्षणानि पुष्पवृष्टयः दिवो व्योम-
मण्डलात् गृहे अर्थात्तद्भवने निपेतु पतिता । ‘चित्रयितमतिबहलपतत्पुष्पवृष्ट्या’
इति नलजन्मसमये चम्पूकथायाम् । पुनर्यत्कारणात्स कुमारस्तमसामज्ञानाना पापाना वा
अरिहन्ता निवारकः भावी भविष्यति । क इव । तमसामरिरिव । यथा ध्वान्ताना
शत्रुर्भास्वान् तमसामन्वकाराणा हन्ता घातको भवति । किमुत्प्रेक्ष्यते—इति भीतिव-
शाद्भयावीनत्वात् प्रागेव पूर्वमेव तद्वपुः प्रभाभरैरर्थान्निरस्तैस्तमोभरैः सूतिकागृहात्प्र-
णेशे प्रणष्टम् । पलायितमित्यर्थः । ‘सुमनसः पुष्पे देवे महात्मनि च’ ‘तमोऽज्ञाने पापे
ध्वान्ते राहौ च’ इत्यनेकार्थाः ॥

लब्धश्रियानुसरता वसुभूतिपुत्रं

सारूप्यमाकलयता च युगप्रधानैः ।

जज्ञे चिराद्यदमुना विभुना ममान्त -

प्रीत्येत्यनृत्यदिव शांभवशासनश्री ॥ ३५ ॥

शभोजिनस्येदं शाभव शासन मत तस्य श्रीजिनशासनलक्ष्मीरनृत्यत् नृत्यति स्म । इवोत्प्रेक्ष्यते—इति कारणादन्तश्चित्ते प्रीत्या हार्देन स्नेहेन प्रमोदेन वा । इति किम् । यच्चिरादनल्पकालादमुना कुमारेण मम जिनशासनश्रिया विभुना स्वामिना जज्ञे सजातम् । अमुना किं कुर्वता । लब्धानां विविधानां क्षीरास्ववादिकानां श्रिया शोभया सपदा वा वसुभूतिपुत्रम् । ‘श्रीइन्द्रभूति वसुभूतिपुत्र पृथ्वीभव गौतमगोत्ररत्नम्’ इति पूर्वसूरिस्तवोक्ते । वसुभूतिनाम्नो ब्राह्मणश्रेष्ठस्य पुत्र नन्दन गौतमस्वामिनमनुसरता अनुकुर्वता । च पुन किं कुर्वता । युगप्रदानै वज्रस्वाम्यादिभिः सूरिभिः सारूप्य सादृश्य-माकलयता विभ्रता ॥

विश्वत्रयीश्रुतिपुटैकवतसिकाना-

मस्माकमेष समजायत वासवेश्म ।

गम्भीरधीरिममुखाभिरध कृतेन्दु-

श्रीभिश्च वल्लितमितीव गुणावलीभिः ॥ ३६ ॥

गम्भीरिमा गम्भीर्य भावप्रदानो निर्देश । वीरिमा वैर्यं तावेव मुखे आदौ यासाम् । अथवा गम्भीरश्च वीरश्च गम्भीरवीरौ गम्भीरवीरयोर्भावो गम्भीरवीरिमाणौ तावेव मुखौ प्रथमौ यासां तादृशीभिर्गुणानामावलीभिः श्रेणीभिः वल्लित प्रोल्लसितम् । ‘सुविकासहाससहकारिकारणोपलम्भपूर्णमनोरथेन वल्लितमिव वसन्तमासेन’ इति चम्पूकथायाम् । किभूताभिर्गुणावलीभिः । अव कृता तिरस्कृता निर्मलत्वेन इन्दुश्रीश्चन्द्रिकाशोभा याभिः । इवोत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोर्वल्लितमिव । इति किम् । यद्विश्वेषां त्रिभुवनानां तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशात्त्रिजगजनानां श्रुतिपुटेषु कर्णपालीषु एकानामद्वैतानां वतसिकानामुत्तसानाम् । ‘वष्टि भागुरिरल्लोपम्’ इत्यलोपाद्वतसिकानाम् । ‘विदर्भपुत्रीश्रवणावतसिका’ इति नैषधे । त्रैलोक्याद्वैतकर्णाभरणानामस्माकं गुणावलीनामेष हीरकुमार वासवेश्म निवसनसदनं समजायत सजात ॥

आजन्म यद्विधुरिवैष उदेति कीर्ति-

ज्योत्स्ना किरन्कुवलयैकविकाशकारी ।

अस्मादृशैः किमयशोऽञ्जनमादधानै

किञ्चित्प्रकाशितनिशान्तदशान्तदीपैः ॥ ३७ ॥

भास्वन्मयूखविजिगीषुयदङ्गजात-

नैसर्गिकाङ्गभयभास्वदभीषुजालैः

तत्कालमल्पतमतैलदशैरिवोप-

दीपैरितीव समजायत दीप्तिदु स्थै ॥ ३८ ॥

(युग्मम्)

उपदीपै सूतिकासद्मनि समीपे प्रदीपित प्रदीपैर्दीप्तिभिर्ज्योतिर्भिर्दु स्थैर्दरिद्रैः । विच्छायैरित्यर्थः । समजायत जातम् । कै कृत्वा । भास्वतो भानोर्मयूखा किरणास्तानपि विजिगीषुभिः स्वस्फूर्त्या विजेतुमिच्छुभिस्तादृशैर्यस्या नाथीदेव्या अङ्गजातस्य पुत्रस्य नेमगिकैः स्वाभाविकैः । 'तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्' इति रघौ । अद्गात् काययष्टेर्भवैः समुत्पन्नैर्भास्वता दीप्यमानानामभीषूणा कान्तीना जालैवितानैर्वृन्दैः । इवोत्प्रेक्ष्यते । तत्काल स एव कालो यत्र तत्तत्काल तस्मिन्नेव समय अल्पतमा अतिशयेन स्तोकास्तैलदशा स्नेहवर्तयो येषाम् । 'वृत्तिर्वतिश्च तद्दशा' इति हैम्याम् । तादृशैरिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः । इति किम् । यदेष हीरकुमार आजन्म जन्मसमयादारभ्य विबुधश्चन्द्र इव कुवलयस्य भूमण्डलस्य, उत्पलस्य च एकमद्वितीयं यथा स्थात्तथा विकाश(स) प्रतिबोधविकचता च करोतीत्येवशील उदेति प्रादुर्भवति । किं कुर्वन् । कीर्तिरेव औज्ज्वल्याद्विस्तारवत्तया वा ज्योत्स्नाश्चन्द्रिका किरन् विस्तारयन् । तर्हि किञ्चित्स्वल्प प्रकाशितमुद्द्योतित प्रकटीकृत निशान्त गृह रात्रेरन्तो वा यैस्तथा दशाया अवस्थाया वर्तेश्च अन्ते प्रान्ते अवसाने दीपैर्दीपनशीलैरेव विवैरस्मादृशैर्दीपैः किमिति प्रयोजनं न किमपीह कार्यम् । किं कुर्वाणैः । अयशोऽपकीर्तिः श्यामलत्वात्तदेवाञ्जनं कज्जलमादधानैः कुर्वाणैरुद्गिरद्भिः । अथवा—आ सामस्त्येन दवद्भिः ॥ युग्मम् ॥

स्वकूलिनीजलविलोलनकुसुकेलि

पाटच्चरो विकचवारिजसौरभागाम् ।

उत्फुल्लवल्लिनवनाटकसूत्रधार-

स्तं प्रेक्षितुं किमु ववौ पवनोऽनुकूलः ॥ ३९ ॥

अनुकूलस्तज्जन्मसमये जनानामनुकूलत्वाद्रोचमानः पवनो वायुर्ववौ वाति स्म । किभूतः । स्वकूलिन्या गगनगङ्गाया जलस्य पयःपूरस्य विलोलनेन मध्ये प्रविश्यावगाहनादुल्लसत्कल्लोललोलीकरणेन क्लृप्ता रचिता केलिर्विलासो येनेति शीतलता । पुनः किभूतेन । विकचवारिजानाम् । अर्थात्स्वकूलिन्या एव । स्मेराम्भोरुहाणा सौरभागाम् परिमलानां पाटच्चरस्तस्फुरोऽपहर्ता । 'स्मेराम्भोरुहपत्तने परिमलस्तेयी वसन्तानिलस्तत्रत्यैरिव यामि-कैर्मधुकैः प्रारब्धकोलाहलः । निर्यातस्त्वरया चलन्निपतितः श्रीखण्डपङ्कजवैलिप्ते केरल-कामिनीकुचतटे खञ्जश्चनैर्गच्छति ॥' इति भोजप्रबन्धे वाग्वादिन्या पानीयहारिणीरूपविवायः कालिदासगर्वापहारार्थमुक्तम् । इति सुरभिः । पुनः किभूतेन । उत्फुल्लवल्लिना विकसितलताना नवे नूतने नाटके नृत्यकरणे चपलीभवने सूत्रधारः सूचकः ताण्डवप्रारम्भकारको रङ्गकर्ता च । 'लतावलालास्यकलागुरुः' इति नैषधे । 'असौ ते बन्धुविन्व-

सनवनाटकसूत्रभृत्' इति पाण्डवचरित्रे । इति मन्दता । त्रिविधोऽपि समीरणो वणितः ।
किमूत्प्रेक्ष्यते—त कुमार प्रेक्षितु किमु अवलोकयितुमिव ववौ ॥

आसीदसौ कलियुगे युगबाहुरस्मि-
नर्हन्निवातिशयितातिशयाश्रितत्वात् ।
एतस्य जन्मनि जिनाधिपतेरिवान्तः-
प्रीतेरितीव दिवि दुन्दुभयः प्रणेदु ॥ ४० ॥

हीरकुमारस्य जन्मनि जननसमये दिवि आकाशे दुन्दुभयो मदन(ङ्गल)भेर्यो नि स्वना
वा प्रणेदुर्वाचन्ति स्म । 'उन्नदित वियत्यदृष्टमङ्गलवादित्रै' इति नलजन्मनि चम्पूक-
थायाम् । तथा 'नि शेषदिविषद्वर्गप्रमोदपिशुनास्तदा । समाकर्ण्यन्त सानन्द दुन्दुभिध्व-
नयो दिवि ॥' इति युविष्ठिरजन्मनि पाण्डवचरित्रे च । जिनाधिपतेरिव यथा श्रीजि-
नेश्वरस्य जन्मनि व्योमनि दुन्दुभय प्रणदन्ति इवोत्प्रेक्ष्यते । इत्यमुना प्रकारेण
अन्तः स्वमनसि प्रीतेर्मुदः । इति किम् । यदस्मिन् कलियुगे अतिशयितैः स्फूर्तिप्राप्तै-
रतिशयैर्महिमविशेषैराश्रितत्वादसौ शिशुः अर्हन्निव तीर्थंकर इवासीत् । किमूतः । युग-
वद्बाहू यस्य धूसरप्रमाणभुजः । आजानुबाहुरित्यर्थः ॥

एकांशवानपि कलौ शिशुनामुनाह-
मङ्गैश्चतुर्भिरुदयीह पुरा भवामि ।
धर्मेण पल्लवितमन्तरितीव जाते
विश्वासुमत्प्रमददायितदङ्गजाते ॥ ४१ ॥

विश्वेषां त्रयाणां सप्तानां वा चतुर्दशानां वा एकविंशतेर्वा । 'भुवनानि निबध्नीयात्री-
णि सप्त चतुर्दश' इति वाग्भट्टालकारे । वृत्त्यादावेकविंशतिरपि । जगतामसुमन्तो ज-
न्तव तेषां प्रमोदः हर्षः ददातीत्येवशीलस्तादृशे तदङ्गजाते नाथीकुराव्यवहारिणोरङ्ग-
जाते पुत्रे जाते सति धर्मेण अन्तश्चित्ते पल्लवितम् । प्रहृष्टमित्यर्थः । 'चिरात्पल्लवितमिव
राजवशेन' इति चम्पूकथायां नलजन्माधिकारे । इति हेतोरिव । इति किम् । यद्य-
स्मात्कारणात्कलौ कलिकाले एको न द्वितीयः अशो भागोऽर्थाच्चतुर्थपादो विद्यते यस्य
स एकांशवानप्यहं वर्मः । 'पादैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना केन तपः प्रपेदिरे ।
भुवः यदेकाङ्घ्रिः कनिष्ठ्या स्पृशन् दवाववर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥' इति नैषधे ।
कृतयुगे किल धर्मश्चतुर्भिः पादैर्विजयी भवेद्वर्मः पुनरेकांशेन स्यात्, कलियुगे तु
अधर्मश्चतुर्भिः पादैर्धर्मस्त्वेकांशमात्र एतदेव तपस्विना महत्तपः यद्भूमी एकपादकनि-
ष्ठान्जुल्यां स्पृशन् तिष्ठति तथा कृतयुगेऽवर्मः कलियुगे तु वर्मस्तपस्वी कृशत्वं भजते ।
प्रस्तुतम् । अमुना कुमारेण चतुर्भिरङ्गैः सपूर्णावयवैः सर्वात्मनैव इह भरतर्भूमो उदयी

अभ्युदयवान् पुरा भवामि । भविष्यामीत्यर्थः । यावत्पुरानिपातयोर्योगे भविष्यत्काले वर्तमाना इति प्रक्रियासूत्रेण पुरायोगे वर्तमानयोर्विभक्तयोर्भविष्यदर्थं प्रकाशयते । 'पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया' इति नैषधे ॥

एतद्गुणाभिनवगानविधानपूर्व-

प्रारब्धताण्डवतरङ्गिरसाङ्गरङ्ग ।

प्रारप्स्यते विबुधराजसमाजरङ्गे-

ऽस्माभिर्मुदेति दिवि किं ननृतेऽप्सरोग्भि ॥ ४२ ॥

रम्भातिलोत्तमोर्वशीघृताचीप्रमुखाभिरप्सरोग्भि स्वर्गाङ्गनाभि । किमुत्प्रेक्ष्यते । इत्यमुना प्रकारेण कृत्वा मुदा किं हर्षेणेव दिवि आकाशे ननृते नर्तितं ताण्डवममण्डि । इति किम् । विबुधानां पण्डितानां राज्ञामत एव पण्डितराजत्वान्नवस्वपि शृङ्गारादिरसेषु कुशलत्व ज्ञातृत्वं च यस्य तादृक् । वास्तवार्थं देवानां नायकस्तस्य समाज समास एव रङ्गो नर्तनस्थानं तत्र एतस्य भाविसूरे कुमारस्य गुणानां शमदमसयमाकि (दि)कानां षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशिकासख्यानां गणनातीतानां वा अभिनवानां पूर्वगीतापेक्षया नूतनानां गानानां गीतीनां प्राक्श्रुतगीतिश्रवणे तादृक् रसो न स्याद्यादृक् नवीनगानश्रवणे रसः समुत्पद्यते । तस्मादेतस्य ध्रुवपदगानानां विधानं निर्माणं तदेव पूर्वमादिर्यत्र तादृशं प्रारब्धमुपक्रान्तम् । 'प्रारम्भं प्रोपत क्रमः' इति हैम्याम् । यत्ताण्डव नाट्यं तस्य तत्र वा तरङ्गयुक्ता जातास्तरङ्गिता कलोलिता ये रसाः शृङ्गारादयो नव आस्वादो वा । 'रसः स्वादे जले वीर्ये शृङ्गारादौ विषे द्रवे । बोले रागे देहधातौ तिक्तादौ पारदेऽपि च ॥' इत्यनेकार्थः । त एव अङ्गमवयव शरीरं वा तादृशो रङ्गः अस्माभिरप्सरोग्भि अवाप्स्यते उपक्रस्यते । 'तदनन्तरमाकाशे सगीतमुदजृम्भत । रम्भोर्वशीप्रभृतयो नृत्यमप्सरसो व्यधुः ॥' इति पाण्डवचरित्रेऽर्जुनजन्माधिकारे । तथा 'स्वकान्तिसर्वस्वापहारभयादिव दिवि ननृतुरप्सरसः' इति चम्पूकथायां दमयन्तीजन्मनि ॥ इति हीरकुमारजन्ममाहात्म्यम् ॥

प्रल्हादनाह्ननगर पुरमप्यमुष्य

मूर्त्या पवित्रयितुमन्तरिवेहमान ।

श्रीसोमसुन्दरयतिक्षितिशीतकान्ति-

जन्मापरं स्वयमसौ ग्रहयावभूव ॥ ४३ ॥

असौ सोमसुन्दरनामा यतीनां साधूनां मध्ये क्षिते पृथिव्या शीतकान्तिश्चन्द्र एतावता राजा श्रीसोमसुन्दरसूरिः स्वयमात्मना परमन्यजन्मावतारं ग्रहयावभूव जग्राह । उत्प्रेक्ष्यते । अमुष्य कुमारस्य मूर्त्या शरीरेण पुनरपि द्वितीयवारं प्रल्हादनमिति आह्वा नाम यस्य तादृशं नगरं पवित्रयितुं पावनीकर्तुमीहमानो वाञ्छन्निव । एकवारं सोमसुन्दरसूरिवपुषा प्रल्हादनपुरं पवित्रितं द्वितीयवारं हीरविजयसूरिमूर्त्या कृत्वा पवित्रीचिकीर्षुरिव ॥

चक्रस्य चक्रिवदुदित्वरदीप्रदीप्ति-

दर्ण्डौघचण्डिमविखण्डितचण्डभास ।

इभ्यः स्वभृत्यजनराजिभिरुत्सुकाभि

संवर्ध्यते स्म जननेन तनूभवस्य ॥ ४४ ॥

इभ्य कुराह्वयवहारी उत्सुकाभिरुत्कण्ठाकलिताभि स्वस्य कुरामहेभ्यसबन्धिन भृत्यजनानां सेवकलोकानां राजिभि श्रेणिभि तनूभवस्य पुत्रस्य जननेन जन्मना संवर्ध्यते स्म वर्वाप्यते । 'अत्रान्तरे प्रियभाषिताभिवाना चेटी राजान वर्धापयति' इति कल्पकिरणावल्याम् । वर्धित इत्यन्यत्र । वर्धापनिका दत्तेत्यर्थः । किवत् । चक्रिवत् । यथा चक्रवर्ती चक्रस्योत्पत्त्या वर्धते स्म वर्वाप्यते स्म । किभूतस्य सूनोश्चक्रस्य च । उदित्वरा उदयनशीला प्रादुर्भवन्त्यो वा । तथा दीप्रा दीपनशीला झलझलायमाना दीप्यमाना वा, दीप्तय कान्तय सरलतया निर्गमनाम् दृश्यमाना वा दण्डाकारा अत एव दण्डा इव दण्डा प्रसरा वा तेषामोघो निकर तस्य चण्डिमभिरत्युग्रताभिर्विशेषेण खण्डितोऽभिभूतश्चण्डभा सूर्यो येन तस्य ॥

सूनोर्जनेरुपनतेरिव सेवधीना-

मुद्रत्वरान्स्वजनवक्त्रसुधाकरेभ्य ।

वर्णान्स्वकर्णपुटकेन सुधायमाना-

न्पीत्वा तदा प्रमुमुदे हृदये महेभ्य ॥ ४५ ॥

तदा तस्मिन् काले महेभ्य कुराह्वयवहारी हृदये मनसि प्रमुमुदे जहर्ष । किं कृत्वा । पीत्वा सादर श्रुत्वा । कान् । वर्णान् अक्षराणि । किभूतान् । सुधायमानान् अमृतवदाचरत । केन पीत्वा । स्वस्यात्मन कर्ण एव पुटक पत्रभाजन तेन । अन्यदप्यमृत पुटकेन पीयते । पुन किभूतान् । उद्रत्वरान् प्रकटीभवनशीलान् । 'उद्रत्वरामृतकरार्धपराध्यमालाम्' इति नैषधे । केभ्य । स्वजनानां बन्धुवर्गाणां ज्ञातिजनानां वा आत्मीयभृत्यलोकानां वा वक्त्राणि वदनानि एव सुधाकराश्चन्द्रास्तेभ्य । सुधानामाकरात्सुधापि निर्गच्छेदिति । वर्णान् कस्या । सूनो पुत्रस्य जनेर्जन्मन । कस्या इव । उपनतेरिव यथा सेवधीना नवनिधीना स्वर्णरत्ननिवानानां वा आगमनस्य वर्णान् पीत्वा कश्चिन्मोदते ॥

सूनोर्जनि निगदतामनुगात्रजाना-

मासीददेयमिह तस्य किरीटमेव ।

भूभर्तृभावककुद विगदातपत्र

धात्रीपतेरिव मुद दधतो हृदन्त ॥ ४६ ॥

तस्य कुरामहेभ्यस्य इह पुत्रवर्धापनिकासमये सूनो स्वपुत्रस्य जनि जन्म निगदता

कथयतामनुगव्रजानां सेवकलोकप्रकराणां किरीटमुकुटमेवादेयं दातुमनर्हमासीत् । एतावता मुकुटवर्जं सर्वाङ्गीणान्यप्याभरणानि प्रदत्तवानित्यर्थः । कस्येव । वात्रीपतेरिव पथाभूमीभर्तुं राज्ञ भुवः पृथिव्या भर्तृभावस्य स्वामित्वस्य ककुदचिह्नसूचकः वा । 'नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्' इति रघौ । विशदातपत्रं श्वेतच्छत्रमदेयं भवति । किं कुर्वतस्तस्य । राज्ञश्च हृदन्तर्मनोमध्ये मुदं नन्दनजन्माविर्भूता प्रीतिप्रमोदं ददतो वारयत ॥

लक्ष्मीवतामधिपतेरनुजीविवृन्दैः

पुत्रप्रसूतिममितं मधु निर्दिशद्भिः ।

पाणिप्रदेशनविधौ ददृशेऽस्य पञ्च-

शाखोऽपि लेखशिखरीव सहस्रशाखः ॥ ४७ ॥

अनुजीविनां सेवकानां वृन्दैः प्रदेशनविधौ पुत्रवर्वापनिकाप्रदानप्रमोददानसमये लक्ष्मीवता वनवान्यादिविविधसमृद्धिभाजा व्यवहारिणामधिपतेर्नायकस्य अस्य कुराख्यस्य पञ्चैव शाखा शिखा अङ्गुलयो यत्र तादृशपाणिर्हस्तः स एव लेखशिखरी कटपशाखीव सहस्रसख्याका शाखालता यस्य । 'शिखाशाखालता समा' इति हैम्याम् । स सहस्रशाखो ददृशे दृष्टः । अनुजीविवृन्दैः किं कुर्वद्भिः । पुत्रस्य नाथीनन्दनस्य प्रसूतिजन्मैव अमितमानरहितमधुमाध्वीकमस्य महेभ्यस्य निर्दिशद्भिः कथयद्भिः । 'अमितमधु तत्कथा मम' इति नैषधे ॥ इति पुत्रवर्वापनिकादानादि ॥

आसाद्य तत्प्रसववेश्म समसगोत्रैः

सूनोरतृप्तिं स पिबन्वदनारविन्दम् ।

अद्वैतसंमदपरम्परयालिलिङ्गे

लक्ष्म्या पुमानिव पचेलिमपुण्यशाली ॥ ४८ ॥

स महेभ्यः न विद्यते द्वैतयुगलयेषाम् । 'युगद्वैतयमयुग्मम्' इति हैम्याम् । असाधारणानामित्यर्थः । तादृशानां समदानाप्रमोदानापरम्परया आलिलिङ्गे आश्लिष्टः । कथेव । लक्ष्म्येव । यथा पचेलिमेन परिपाकप्राप्तेन उदयाचलिकायामागतेन पुण्येन मुकुतेन शुभकर्मणा शालते शोभते इत्येवशीलपुमान् प्रियाक्षीरार्णवनन्दिन्या आलिङ्ग्यते आश्लिष्यते । आश्रीयते इत्यर्थः । महेभ्यः किविशिष्टः । न विद्यते तृप्तिः सौहित्यमत्यादरतया यत्र, तृप्तिरहितयथा स्यात्तथा क्रियाविशेषणम् । सूनोः स्वपुत्रस्य वदनारविन्दमुखकमलपिबन् सादरमवलोकयन् । किं कृत्वा । सगोत्रैः स्वजनैः समतस्या नाथीदेव्या प्रसववेश्मसूतिकासदनमासाद्य संप्राप्य समागत्य ॥

तस्याङ्गजास्यशशिदर्शनतोऽम्बुराशे-

वाराभिवोल्लसद्मन्दमुदामियत्ताम् ।

हृत्सन्नसूत्रितजगत्रयविस्तरापि

विज्ञावली प्रभुरभूत् तदा प्रमातुम् ॥ ४९ ॥

तदा तस्मिन् काले पुत्रप्रसवसूतिकासदनागमननन्दनावलोकनसमये तस्य कुरा-
साधो अङ्गज खनन्दनस्तस्यास्य वदनमेव शशी संपूर्णपार्वणचन्द्र । पूर्णचन्द्र एव
शशी लक्ष्यते नान्यथा । अत एव शशी तस्य दर्शनतोऽवलोकनादम्बुराशे समुद्रस्येव
वारा जलानामिव उल्लसन्तीना प्रकटीभवन्तीनाममन्दानामकुण्ठानामनल्पानाममेयाना
वा मुदामानन्दानामियत्ता इत्यपरिमाणत्वमेतावन्मात्रता प्रमातु प्रमाणीकर्तुं विज्ञावली
प्राज्ञश्रेणी न प्रभुरभूत् न समर्थीबभूव । ज्ञातु कदाचिन्न शक्नोति स्मेत्यर्थः । किभूता
विज्ञावली । हृत्सन्नसु स्वेषा विज्ञाना मनोमन्दिरेषु सूत्रित सूत्रतामानीत गोचरीकृत ।
विज्ञात इत्यर्थः । जगत्रयस्य त्रिभुवनस्य विस्तरः प्रपञ्चो यथा । 'प्रक्रिया नातिविस्तराम्'
इति सारस्वतप्रथमश्लोके । त्रैलोक्यसकलस्वरूपवेदनविदुरापीत्यर्थः । 'तेजःपालश्च
विष्णोश्च कः स्वरूपं निरूपयेत् । स्थितः जगत्रयीसूत्रं यदीयोदरकन्दरे ॥' इत्यर्जुना-
चलच्छणिगवसतिमध्यस्थवस्तुपालप्रशस्तौ ॥

आस्वादयंलवणिमामृतमेतदास्या-

वश्यायभासि वसति गवि चानुतिष्ठन् ।

पश्यन्सुत द्युसदिवाजनि निर्निमेष-

नेत्रारविन्दयुगलं स महेभ्यकुम्भी ॥ ५० ॥

स कुरानामा महेभ्यकुम्भी व्यवहारिकुञ्जर सुत खनन्दन पश्यन् विकचलोचना-
भ्यामवलोकयन् दिवि स्वर्गे सीदति तिष्ठतीति द्युसत् देव इव निर्गतो निमेषो मीलन
ययोस्तादृशे नेत्रे लोचने एवारविन्दे कमले तयोर्युगलं द्वन्द्वं यस्य । मेषोन्मेषरहितन-
यनयामल इत्यर्थः । तादृशोऽजनि सजातः । किं कुर्वन् । एतस्यात्मनन्दनस्य आस्ये वदने
एवावश्यायभास्तुहिनकिरणं चन्द्रस्तस्मिन् । 'अवश्यायस्तुहिनः प्रालेयमिहिका हिमम्'
इति हैम्याम् । लवणिमा लावण्यमेवामृतं सुधारसमास्वादयन् पिबन् । पुनः किभूतः ।
गवि भूमौ स्वर्गे च वसति वासमनुतिष्ठन् कुर्वन् । देवोऽपि चन्द्रामृतं पिबति । ['असित-
मेकसुराशितमप्यभूत् पुनरेष पुनर्विशदं विशम् । अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति
पुनर्नवमार्णवम् ॥' इति नैषधे । अस्यार्थः — 'अर्णवादागतमार्णवः कृष्णविषमेकेन सुरेण
हरेण अशितः जगत् पुनर्नाभूत् । पुनर्न जातमित्यर्थः । एष चन्द्रः पुनः श्वेतविषसुरैर्व-
ह्यादिभिर्देवैर्निपीड्य जनितक्षयम् । 'प्रथमा पिबते रविः' इत्यादि श्रुते । 'इदंशमपि
पुनर्जायते' इति । 'इज्येव देवप्रजभोज्यः शुद्धा मुवादीवितिमण्डलीयम्' इत्यपि
नैषधे ।] स्वर्गे च तिष्ठति निर्निमेषश्च स्यात् ॥

पूर्वाद्विपाटलशिलावलये शशीव

लीलामराल इव कोकनदच्छदे वा ।

पारीन्द्रपोत इव गैरिकशृङ्गिशृङ्गे

तत्पाणिपल्लवतले विललास बाल. ॥ ५१ ॥

तस्य कुरामहेभ्यस्य पाणिरेव शोणत्वात्पल्लव किसलयमिव पल्लवस्तस्य तले उदरे मध्ये स बाल शुशुभे । क इव । पूर्वाद्रेरुदयाचलस्य पाटले लोहिते शिलावलये उपलोत्सङ्गे विस्तीर्णप्रस्तरमध्ये वा । मिलिता एकतथैव दृश्यमाना वलयाकारा शिलाः शिलावलय तस्मिन् शशी सौम्यश्चन्द्र इव । पुनः क इव । कोकनद रक्तोत्पल तस्य पत्रे दले लीलायुक्त क्रीडाकारी वा मराल राजहस इव । पुनः क इव । गैरिके धातुमध्ये शृङ्गाणि सन्त्यस्मिन्निति शृङ्गी तस्य शृङ्गिण शैलस्य शृङ्गे शिखरे पारीन्द्रस्य मृगेन्द्रस्य पोतः बाल केसरिकिशोरक इव ॥

जन्मोत्सवं विदधता तनयस्य तेन

कामाधिकं प्रदिशतार्थिकृतेऽर्थजातम् ।

श्रीदस्तदावगणनां गमितो निकेतं

कैलाशमूर्ध्नि विदधे किमपत्रपिष्णुः ॥ ५२ ॥

तदा तस्मिन् नन्दनजननसमये तेन कुराव्यवहारिणा अवगणना दानशौण्डत्वेनावहेलना गमित प्रापित सन् श्रीद धनद । किमुत्प्रेक्ष्यते । अपत्रपिष्णुर्लज्जाशील सन् कैलाशस्य स्फटिकाचलस्य मूर्ध्नि उपरि शिखाया निकेतं स्वसदनं विदधे कृतवानिव । महेभ्येन किं कुर्वता । तनयस्य निजनन्दनस्य जन्मोत्सवं जननस्य महामहं विदधता कुर्वता । पुनः किं कुर्वता । कामान्मनोभिलषितादप्यविक्रमतिशयितमर्थानां द्रविणानां जातं समूहमाधिकृते याचकजनार्थम् । याचकायेत्यर्थः । प्रदिशता यच्छता ददता ॥

सूनोर्जनेर्महमसौ विभवानुरूप

श्रीमन्महेभ्यमघवा घटयावभूव ।

संजातजातविधिरप्यदसीयसूनु-

निर्धूतदर्पण इव स्फुरयावभूव ॥ ५३ ॥

असौ कुराख्यः श्रीमन्तो लक्ष्मीकेलिनिकेतना ये महेभ्या महाव्यावहारिणरतेषु तेषां मध्ये वा मघवा पुरदरं प्रथमगणनीयत्वात्सर्वोत्कृष्टत्वाच्च विभवानुरूपं स्वद्रव्यस्योचितं योग्यं सदृशं सूनो पुत्रस्य जनेर्जन्मन महमुत्सवं घटयावभूव चकार । 'सृजति करोति प्रणयति घटयति निर्माति निमिमीते च' इति क्रियाकलापे करणार्था क्रिया । अपि पुनः संजातं सपन्नं निर्वर्तितं जातस्य जन्मसंस्कारादेः प्रथमे दिवसे स्थितिपदिका तृतीये वासरे चन्द्रसूर्यदर्शनादिको विधिः प्रकारो यस्य तादृशोऽदसीयसूनुनोर्थीकुरामहेभ्यनन्दनं निर्धूतदर्पण इव शान्ताप्रोत्तेजितात्मदर्श इव । 'निर्धूतहारगुलिकाविशद

हिमाम्भ' इति रघुवशे । स्फुरयावभूव दीप्यते स्म । 'स जातकर्मण्यखिले तपस्विना
तपोवनादेत्य पुरोवसाकृते' इत्यपि रघौ ॥

अर्थिव्रजेन मिलितुं स्वककामुकेन

सकेतसौधमिव वारिधिनन्दनाया ।

गीतिप्रतिध्वनितनर्तितकेलिकेकि

षष्ठीदिने रजनिजागरणं प्रणीय ॥ ५४ ॥

पातालभूतलसुरालयलोककोटी-

कोटीरहीर इव बालक एष भावी ।

उन्नीव नीतिकृतिनान्तरितीव पित्रा

सत्रा स्वगोत्रिभिरकारि स हीरनामा ॥ ५५ ॥

पित्रा कुराख्यव्यवहारिणा अन्तः स्वचित्ते । उत्प्रेक्ष्यते । इत्यमुना प्रकारेण उन्नीय
विचार्येव । 'वितर्कं स्यादुन्नयनम्' इति हैम्याम् । उन्नयनम् । पूर्वमुन्नीय गोत्रिभिः सत्रा
स्वस्वजनैः सार्धं स नाथीजनितं शिशुर्बालकं हीर इति नाम यस्य तादृशोऽकारि कृतः ।
हीरकुमारो नाम निमित्तः । किभूतेन पित्रा । नीतौ न्याये योग्यताप्रापणे कृतिना कोविदेन ।
चतुरेणेत्यर्थः । योग्यत्वनयनमेव दर्शयति । इति किम् । यदेष बालकः अग्रे पातालस्य
बलिवेश्मनः, भूतलस्य क्षोणीमण्डलस्य सुरालयस्य देवलोकस्य लोकानां नागनागरनाकिना
कोटीनां शतलक्षलक्षितानां कोटिशः सख्याकानां कोटिकोटीनां कोटीरेषु मुकुटेषु हीरक
इव सर्वोत्तममणिरिव । लोकप्रसिद्ध्या 'नगीनो' तद्वदसौ शिशुर्भावी भविष्यति इति वित-
कर्त्येव । किं कृत्वा । प्रणीय विवायः । किम् । षष्ठ्या दिने दिवसे रजन्या रात्रौ जागरण-
मुत्सवविशेषम् । किभूतम् । गीतीनां सोत्कण्ठकलकण्ठकण्ठीकण्ठालपितमधुरगानानां प्रति-
ध्वनितैः प्रतिशब्दैः कृत्वा नर्तितस्ताण्डवाडम्बरकलिता जाता कृता वा केलिकेकिन
क्रीडार्थस्वसद्मपालितबालमयूरा यत्र । उत्प्रेक्ष्यते । षष्ठीदिनरजनिजागरः स्वककामुकेन
निजाभिलाषुकेण अर्थिव्रजेन याचकचक्रेण समं मिलितुं सङ्गं कर्तुं वारिधिनन्दनाया
लक्ष्म्या सकेतः 'अमुकस्मिन् स्थाने त्वया समेतव्यम्, मयापि तत्र समागम्यते' इति
सकेतः । यूनो युवत्याश्च । तस्य सौवः गृहमिव । 'विशेषतीर्थेणिव जह्नुनन्दना' इति
नैषधे ॥ इति जन्मोत्सवनामकरणादि ॥

पूर्वापराम्बुनिधिमञ्जुलमेखलाया

भूमे स भर्तुरुचितैः समभूषि चिह्नैः ।

दानानुकम्पनसभाजननीरसित्ता-

प्राचीनपुण्यविटपिप्रसवैरिवैतैः ॥ ५६ ॥

स हीरकुमार पूर्वा प्राची अपरा प्रतीची सृष्टिभ्रमणेन पूर्वस्या दक्षिणस्या गमनाद-
क्षिणा गृहीता पश्चिमाया उत्तरस्या गमनादुत्तरापि गृहीतैव एतावता चतसृणा दिशा
ग्रहणात् तासामम्बुनिधयश्चत्वारोऽपि समुद्रा । 'पयोधरीभूतचतु समुद्राम्' इति रघुवं-
शवचनात् । एव मञ्जुला बन्धुरा स्वर्णमणिमौक्तिकमण्डिता मेखला काञ्ची यस्या मेखला
तु वलयाकारतया कटीजघनादिप्रदेशे परिधीयते ततश्चतुर्दिग्वतिसमुद्रोपादानम् । अ-
थवा अपरोऽपि पाठः । यथा 'अर्भश्चतुर्जलधिमञ्जुलमेखलाया' । चत्वार प्राची प्रतीची
अवाची उदीचीति चतुर्दिग्वर्तिनो जलधयः समुद्रा एव मञ्जुला मनोहरा मेखला रसना
यस्यास्तादृश्या भूमे पृथिव्या भर्तुः स्वामिनः चतुर्दिक्पाथोनिधिपर्यन्तभूमीपालस्य चक्रिव-
र्तिनः उचितैर्योग्यै चिह्नैः सामुद्रककथितैर्लक्षणैः समभूषि अलंकृतः । अर्थात् हस्तपा-
दाद्यङ्गोपाङ्गेषु शोभितः । उत्प्रेक्ष्यते । दानमभयसुपात्रपाणिप्रमुखविश्राणनम्, अनुकम्पन
मार्यमाणप्राणिमोचनदुःखितदीनकष्टापनयनादिदया, सभाजनः देवगुर्वादिपूजनभक्तिः,
तद्रूपैर्नीरैः सलिलैः सिक्तस्य प्राचीन पूर्वजन्मावतीर्णं यत्पुण्यं स एव विटपा शाखावि-
शेषाः सन्त्यस्यास्मिन् वा इति विटपी वृक्षस्तस्य प्रसवैः पुष्पैरिव । 'पुष्पं सूतं सुमनसः
प्रसवश्च मणीचकम्' इति हैम्याम् ॥

सज्ञातिलोचनचकोरनिपीयमानै-

र्लावण्यचञ्चदमृतैरुपचीयमानै ।

वृद्धिं दधार पृथुकोऽप्रतिमैः प्रतीकै-

र्द्वैतीयिकेन्दुरिव सान्द्रकलाकलापैः ॥ ५७ ॥

स पृथुक हीरकुमार न विद्यते प्रतिमा प्रतिबिम्ब सदृशं वस्तु केनापि सादृश्यं वा
येषाम् । 'न तन्मुखस्य । प्रतिमा चराचरे' इति नैषधे । तैरसाधारणैः प्रतीकैरवयवैः । 'एक-
देशे प्रतीकोऽङ्गावयवापघना अपि' इति हैम्याम् । कृत्वा वृद्धिं पुष्टिं दधार वत्ते स्म ।
किभूतैः प्रतीकैः । सज्ञातीना स्वजनानां लोचनान्येव चकोरा ज्योत्स्नाप्रियास्तैर्निपीयमा-
नैः सादरमृतं च अवलोकयमानैः । पुनः किभूतैः । लावण्यानि सुन्दरतातिशया एव
चञ्चन्ति पुण्यानि चेतोहराणि वा अमृतानि सुवारसास्तैः पुष्टिं प्राप्यमानैः नीयमानैः ।
क इव । द्वैतीयिकेन्दुरिव । यथा श्वेतपक्षे द्वितीयाया भवो द्वितीयिक द्वितीयासबन्धी वा
चन्द्रः सान्द्राणा स्निग्धाना बहुलाना वा कलाना षोडशांशलक्षणाना भागाना कलापैः
कृत्वा वृद्धिं वत्ते । 'केनेथका' इति कप्रत्ययः । णित्व त्वैषा विकल्पकमिति कापि वृद्धिः ।
द्वितीयाया अयं द्वैतीयकः ॥

पित्रोर्मनोरथगणान्कुटजावनीजा-

न्प्रावृट्पयोद इव पल्लवयन्कुमारः ।

उत्सङ्गयोरुदलसत्कलयन्विलास

फुल्ललताफलदयोरिव केलिकीरः ॥ ५८ ॥

आनन्दमेदुरितमानसपद्मचक्षु-

रङ्गान्तरं परिचरन्स महेभ्यसूनु ।

अभ्राभ्रिकान्तरमिवार्भकभानुमाली

कस्तूरिकामृगशिशुर्विपिनान्तरं वा ॥ ५९ ॥

जननीजनकयो उत्सङ्गयोर्वलास बालक्रीडा कलयन् कुर्वन् उदलसत् उल्लसति स्म शुशुभे । क इव । केलिकीर इव । यथा केलिकलित क्रीडाकर कीर । अर्थात् बालशुक । उल्लसतोर्विकसतोर्लताफलदयोरुत्सङ्गयोरुल्लसति । कुमार कि कुर्वन् । मनोरथगणान् । अर्थात् पित्रो । वाञ्छाशतानि पल्लवयन् नवीकुर्वन् फलयन् वा । क इव । प्रावृट्पयोद इव । यथा वर्षाकालसबन्धी मेघ कुटजावनीजान् नीपद्मान् पल्लवयति किशलयकलितान् करोति । स महेभ्यसूनु कुराव्यवहारिनन्दन स हीरकुमार । आनन्देन हर्षेण मेदुरित पुष्टी-भूत मानस मनो यासा प्रमोदप्रपूरिताना पद्मचक्षुषा कमललोचनानामेकस्मादङ्गादन्योऽङ्ग उत्सङ्ग अङ्गान्तर परिचरन् सेवमान । 'भजते श्रयत्युपास्ते शीलत्युपतिष्ठते च शील-यति । उपचरति परिचरति च निषेवते च प्रसादयति ॥' इति क्रियाकलापे । आवभासे शुशुभे । क इव । अर्भकभानुमालीव । यथा अभ्रस्य मेघस्य अभ्रिकान्तरमेकस्या अभ्रि-काया अपरा अभ्रिका वार्दलिका अभ्राभ्रिकान्तर भजन् डिम्भभास्करो भासते । 'जरी-जृम्भडिम्भद्युमणिरमणीयाशुलहरी' इति खण्डप्रशस्तौ । पुन क इव । कस्तूरिकामृगशि-शुरिव । यथा कस्तूरिकाहरिणा बालका विपिनान्तरमेकस्माद्विपिनाद्वनादन्यद्विपिन विपि-नान्तर शीलन् । पुन क इव । द्विरदेन्द्रबाल इव । यथा गजराजस्य । 'पञ्चवर्षो गजो बाल' इति हैम्याम् । बाल शिशु विन्ध्योपलान्तरमेकस्माद्विन्ध्योपलाजलबालकशैलशि-लाया अन्य विन्ध्योपल शिलोत्सङ्गम् । 'विन्ध्यस्तु जलबालक' । तथा 'प्रावा शिलोपलो गण्ड' इति द्वयमपि हैम्याम् । पुन क इव । अर्भककाकपुष्ट इव । यथा क्षीरकण्ठक-लकण्ठ कोकिलबालक चूतद्रुमान्तरमेकस्माच्चूतद्रुमात्सहकारतरोरपरश्चूतद्रुम अन्यो माकन्दपादप । पुन क इव । भ्रमर इव । यथा मधुकर स्मेराम्बुजान्तरमेकस्मात्स्मेरा-म्बुजाद्विकचकमलादपर स्मेराम्बुज विकसितपद्म शीलयत् । पुन क इव । कलहस इव । राजमरालबालक तरङ्गोत्सङ्गान्तरम् एकस्मात्तरङ्गस्य कल्लोलस्य उत्सङ्गादपर तरङ्गोत्सङ्ग लहरीकोडमुपचरन् भासते ॥

स्वर्णेऽद्रिशृङ्ग इव चन्द्रिकयानुविद्ध

काय शिशोर्विकचगन्धफली विलासी ।

संचारिचन्द्रमलयद्रुमसान्द्रपङ्क्तै-

लिप्त कयाचन चकोरदृशा चकासे ॥ ६० ॥

कयाचन अनिदिष्टनाम्न्या चकोरदृशा बलचञ्चुचक्षुषा धात्र्या अन्यस्त्रिया वा क्रीडा-
कारिण्या सचरतीति सर्वत्र मध्ये प्रसरतीत्येवशील सचारी तादृशश्चन्द्र कर्पूरो यत्र । ‘च-
न्द्रोऽम्बुकाम्ययो । स्वर्णे सुधाशौ कर्पूरे कम्पिले मेचकेऽपि च ॥’ इत्यनेकार्थः । एतावता ।
घनकर्पूरमिश्रितैरित्यर्थः । मलयद्रुमस्य चन्दनतरो सान्द्रैर्निविडैः पङ्क्तिर्द्रवैः लिप्तः अङ्ग-
रागकलितः कृतः । शिशोर्हीरकुमारस्य कायो देहश्चकासे विराजते स्म । ‘चकास्ति च-
ञ्चति भासते भ्राजते लसत्यपि शोभते । विलसत्येवमाद्या स्युर्भ्राजनार्थप्रकाशका ॥’
इति क्रियाकलापे । कायः किभूतः । विकचा विकसिता या गन्धफली चम्पकपादपकु-
सुम तद्वद्विलसतीत्येवशीलः । ‘इति चम्पकगौरागः कृता विधोर्गन्धफली बलिश्रियम्’
इति नैषधे । क इव । स्वर्णाद्रिशृङ्ग इव । यथा कनकाचलस्य मेरो शिखरचन्द्रिकया च-
न्द्रज्योत्स्नया अनुविद्धो व्याप्तः शोभते । ‘भगयुगमथ शृङ्गोद्योगसघा निदाघः’ इति
लिङ्गानुशासने शृङ्गशब्दः पुनपुसकलिङ्गे ॥

नीलांशुकाकलितबालककामपाल-

मूर्तेरिवोपमितिमानयितुं कुमारे ।

काचित्कदाचन कुरङ्गमदाङ्गरागं

कौतूहलेन कुरुविन्ददतीं ततान ॥ ६१ ॥

कुरुविन्दाः पद्मरागमणयः तद्वदृशना दन्ता यस्याः सा कुरुविन्ददती । ‘को दर्शयेत्स्वा
कुरुविन्दमालाम्,’ ‘चित्ते कुरुष्व कुरुविन्दसकान्तदन्ति’ इति च । ‘अग्रान्तशुद्धशुभ्र-
वृषवराहेभ्यश्च’ इति दन्तस्य दट्टा । स्त्रीलिङ्गत्वादीप् ।’ इति नैषधवृत्तौ पाणिनिसूत्रम् ।
पदद्वयमपि च नैषधीयम् । काचित्तादृशी धात्री कदाचन कस्मिन्नपि समये कौतूहलेन
कुरङ्गमदेन कस्तूरीद्रवेण कृत्वा अङ्गरागमर्थात्कुमाराङ्गे विलेपनं ततानं कृतवती । उत्प्रे-
क्ष्यते । नीलेन अशुकेन वसनेन कलितस्य आवृतस्य । परिहितनीलवस्त्रस्येत्यर्थः । तथा
बालकस्य कुमारावस्थालकृतस्य कामपालस्य बलभद्रस्य मूर्तेः शरीरस्योपमितिमुपमानः
कुमारे स्वाभाविककनककेतकगोरशरीरहीरकुमारे आनयितुम् । प्रदापयितुमिवेत्यर्थः ॥

काचिच्चकोरनयना व्यवहारिसूनो-

वक्त्राम्बुजविकचनेत्रपुटैर्निपीय ।

चेतस्तमीदयितनिर्मलितात्मदर्श-

स्मेराब्जदर्शनविधौ शिथिलीचकार ॥ ६२ ॥

काचिदज्ञाताभिवाना धात्री परा वा गता चकोरनयना कामिनी व्यवहारिसूनोः कु-
रामहेभ्यनन्दनस्य वक्त्राम्बुजमुखारविन्दविकचैर्वकस्वरैर्नेत्रपुटैर्नयनपत्रपुटैर्निपीय
सादरमवलोक्य तमीदयितं पूर्णिमाचन्द्रम् । तथा निर्मलितशानोत्तेजितआत्मदर्श-
दर्पणस्तथा स्मेराब्जविकचकमलतेषां दर्शनविधौ अवलोकनप्रकारे चेतःस्वप्न-
शिथिलीचकारमन्दीकरोति स्म । पार्वणेन्दुदर्पणपद्मेभ्योऽप्यविकयन्मुखमित्यर्थः ॥

एनं हिरण्यमणिभूषणभूषिताङ्ग-

मिभ्याङ्गजं नयनयोरतिथिं प्रणीय ।

सोऽयं सरो हरहुताशहतोऽवतीर्ण

एतन्मिषेण समशायि कयाचिदेवम् ॥ ६३ ॥

हिरण्यमणिभूषणैः स्वर्णरत्नालकारैर्भूषिताङ्गमलकृतकायमिभ्याङ्गजं कुराव्यवहारितनयमेन हीरकुमार नयनयोरात्मलोचनद्वन्द्वस्य अतिथिं प्राघुणकं प्रणीय कृत्वा । यत 'नयनातिथिं विधत्ते नेत्रप्राघुणकमातनोत्यपि च,' तथा 'दृग्गोचरीकरोति च लोचनविषयं च निर्माति,' तथा 'दृग्गोचरता नयति च लोचनविषयत्वं च आनयति' इत्यादि क्रियाकलापे । कयाचिद्वाच्या कामिन्या वा एवममुना प्रकारेण समशायि सशयश्चक्रे । 'नैषधेन समशायि चिराय' इति नैषधे । एव किम् । हरहुताशहत । त्रिलोचनेन स्वभालप्रादुर्भूततृतीयलोचनज्वलनज्वालाज्वालित । अत एव एतन्मिषेण । हीरकुमारव्याजेन एतद्रूपेणेत्यर्थः । गृहीतावतार आदत्तापरजन्मा सोऽयं प्राक्श्रवणगोचरीकृत स्मरः काम इव मकरध्वजरूपावतारः । हीरकुमार इत्यर्थः ॥

काचिद्वशा विकचचम्पकसूनशालि-

माला विलम्बितवती शिशुकण्ठपीठे ।

तस्मिंश्चिकीर्षुरिव कौतुकिनाकिमुक्त-

प्रालम्बिकाङ्गिनवकल्पतरूपमानम् ॥ ६४ ॥

काचिद्वशा वात्री परा वा वनिता शिशोहीरकुमारस्य कण्ठपीठे विकचानां कुसुमितानां चम्पकानां हेमपुष्पकाणां सूनैः कुसुमैः कृत्वा शालते शोभते इत्येवशीला माला विकसितचम्पककुसुमाकलितहारलता विलम्बितवती चिक्षेप । स्थापयति स्मेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते । तस्मिन् हीरकुमारे कौतुकिना कुतूहलाकलितेन नाकिना केनापि देवेन मुक्ता अवलम्बिता स्थापिता प्रालम्बिका हेमदामदीनारमालिका सुवर्णञ्जुम्बनकमङ्के कण्ठेऽस्यास्तीति तादृशस्य नवस्य बालकस्य कल्पतरोर्देवद्रुमस्य उप्मानं साम्यं चिकीर्षुरिव कर्तुमिच्छुः किमु ॥

चूडामणिलिभुवनस्य यदेष भावी

चूडामणिं किमिति कापि दधार मूर्ध्नि ।

सूरिश्रियास्तिलकवद्वविता कुमारी

भालेऽपरास्य तिलकं किमतश्चकार ॥ ६५ ॥

यद्यस्मात्कारणात् एष हीरकुमारलिभुवनस्य त्रैलोक्यस्य चूडामणिरिव चूडामणिं शिरोरत्नं भावी भविष्यति । किंप्रेक्ष्यते । इति हेतोः कापि कान्ता वात्री वा अस्य शि-

शोर्मूर्ध्नि मस्तके चूडामणि शिखारत्नं दधार धृतवती स्थापितवती वा । पुनरय हीरकु-
मार यद्यस्मात्कारणात् सूरिश्रिया आचार्यलक्ष्म्यास्तिलक इव विशेषक इव भविता भवि-
ष्यति । किमुत्प्रेक्ष्यते । अपरा वात्री अस्य कुरानाथीनन्दनस्य अतः कारणात् भाले ललाटे
तिलक कुङ्कुमादिकस्य स्वर्णरत्नमय भूषण पुण्ड्रक चकार रचयामास ॥

तत्कर्णयोर्मणिविनिर्मितकर्णपूर-

द्वन्द्व कयाचन विलम्बितमुद्दिदीपे ।

नित्योदयः कथमभूस्त्वमिदं मुखेन्दुं

प्रष्टुं किमित्युपगत शशिसूर्ययुग्मम् ॥ ६६ ॥

कयाचन मण्डनकारिण्या वाच्यान्यया वा स्त्रिया तत्कर्णयोर्हीरकुमारश्रवणयो अ-
वलम्बित न्यस्त क्षिप्त मणिविनिर्मितमर्थात्स्वर्णरजतचन्द्रिकान्तपीतरत्नमय कर्णपूर-
द्वन्द्व कुण्डलयुग्ममुद्दिदीपे । शुशुभे । किमुत्प्रेक्ष्यते । इदं मुखेन्दुमस्य हीरकुमारस्य व-
दनचन्द्र प्रति इति प्रष्टुमिवोपगत समेत शशिसूर्ययुग्म चन्द्रदिवाकरद्वयम् । इति किम् ।
हे हीरमुखेन्दो, त्वं नित्योदयः अहर्निशमभ्युदयोऽस्तराहित्य यस्य तादृशः कथं केन प्र-
कारेण अभूः सजातः तत्कारणमावयोर्वद । यथा आवामपि नित्योदयौ भवाव ॥

नेत्रामृताञ्जनमसौ जगतां यदस्या-

नञ्जाक्षिणी किमिति काचन कज्जलेन ।

सर्वाङ्गसूत्रमिह धास्यति येन तस्यो-

रःसूत्रिका किमिति काचिदुरस्यधत्त ॥ ६७ ॥

यत्कारणादसौ हीरकुमार जगतां त्रिभुवनजनानां नेत्राणां नयनानाममृताञ्जनं सुवा-
या अञ्जनमिवास्ति भावी वा । किमुत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोः काचन मण्डनकारिणी अस्य
शिशोः अक्षिणी लोचने कज्जलेन आनञ्ज । पुनर्येन कारणेन असौ बालक इह हृदये सवै-
समग्रैरङ्गैराचाराङ्गादिभिरुपलक्षितं सूत्रं सिद्धान्तम् । जातिवाचित्वादेकवचनम् । वास्यति
वारयिष्यति । किमुत्प्रेक्ष्यते । इति हेतोः कापि धात्री तस्य हीरकुमारस्य उरसि हृदये
उरःसूत्रिका मौक्तिकजालिकाम् । 'उरःसूत्रिका तु मौक्तिकैः' । देशविशेषप्रसिद्धा
बहुसरमुक्ताहारलता वा अवत्त क्षिपति स्म ॥

पादारविन्दयुगलोपरिलम्बिनीनां

क्वाणै रणज्झणितराजतकिक्किणीनाम् ।

वीङ्क्षाविशेषललितेन मरालबाल-

स्तम्बेरमाविव विगायति यः कुमारः ॥ ६८ ॥

यः कुमारो वीङ्क्षायां स्वगमनस्य विशेषेणातिशयस्य ललितेन चारुतया विलासेन

वा । बालशब्दो लालाघण्टान्यायेन उभयत्र संबध्यते । मरालबालस्तम्बेरमौ हसबाल बाल-
गज च । उत्प्रेक्ष्यते । विगायति निन्दतीव । कै । क्राणै शब्दैः । कासाम् । रणझण इति
शब्दो जात आसु इति । रणत्कारकलिता इत्यर्थः । तादृश्यो राजता रूप्यसबन्धिन्यः ।
'रौप्यघनघर्घटीजर्जरस्वरम्' इति हसविशेषण चम्पूकथायाम् । तथाविधा किकिप्य
लघुघुर्घुरिकास्तासाम् । किभूता । पादारविन्दयोरर्थात्कुमारचरणकमलयोर्युगल तस्यो-
परि लम्बन्ते गुणप्रोता कृत्वा ऊर्ध्वं लम्बायमाना सजायन्ते । अथवा पदोपरिप्रदेश-
माश्रयन्ते इत्येवशीला । चरणोपरिबद्धानामित्यर्थः । इति वात्रीपरिपालनशृङ्गारक-
रणादि ॥

कुंराह्वयस्य हरति स्म मनो मनोज्ञ

तन्मुन्मुनालपनमिभ्यगभस्तिभर्तु ।

किञ्चिद्विजृम्भियुवभावनवोढबाला-

नातिप्रगल्भकिलकिञ्चित्वत्प्रियस्य ॥ ६९ ॥

मनोज्ञ जनमनोहर तस्य हीरकुमारस्य यन्मुन्मुनालपनमस्पष्टभाषण तत्कुरा इति
आह्वयो नाम यस्य तादृशस्य इभ्येषु व्यवहारिषु मध्ये तत्पुत्रप्रतापेन कृत्वा भास्कर इव
दीप्यमानत्वात् भास्करस्य । सूर्यतुल्यस्येत्यर्थः । मनश्चित्तं हरति स्म । किञ्चित्किमपि स्तोक-
मात्रं विजृम्भी प्रकटीभवनशीलो युवभावस्त्वारुण्य यस्यास्तथा नवोढा नवपरिणीता बाला
वधूस्तस्या नातिप्रगल्भ न अतिशयेन प्रगल्भ परिणतीभूत नातिचातुर्यं वा किलकिञ्चित्
विलासविशेषः । 'लीला विलासो विच्छित्तिर्विव्वोकः किलकिञ्चितम् । मोहायित कुटिमित
ललित विवृत तथा । विभ्रमश्चेत्यलकारा स्त्रीणां स्वाभाविका दश ॥' इति हैम्याम् ।
तद्वत्प्रियस्य भर्तुश्चेतो यथा हरति । 'त्वयि वीर विराजते पर दमयन्तीकिलकिञ्चित्
किल' इति नैषधे ॥

इक्ष्वाकुवश इति नाभिमहीमघोना

विश्वप्रशस्यवृषभाङ्गतनूभवेन ।

उत्केश इत्युदयवास्तनयेन तेन

मेने महेभ्यवृषभेण निजान्ववाय ॥ ७० ॥

महेभ्यवृषभेण कुराव्यवहारिपुङ्गवेन तेन हीरनाम्ना तनयेन पुत्रेण उत्केश इति नाम्ना
निजान्वयः स्ववश उदयवानभ्युदय युद्धे मानित ज्ञातः । केनेव । नाभिमहीमघोनेव
यथा नाभिनरेन्द्रेण विश्वेपा त्रिभुवनजनानां प्रशस्येन श्लाघार्हेण वृषभोऽङ्ग उरुप्रदेशे
लाञ्छन यस्य स वृषभाङ्गस्तेन वृषभदेवनाम्ना तनूभवेन नन्दनेन इक्ष्वाकुनामा वश
उदयवानमानि ॥

धात्र्योदितां प्रथमतः पृथुकप्रकाण्डं

कीरस्य शाव इव चारुमुवाच वाचम् ।

तस्या. पुन समवलम्ब्य कराङ्गुलीः स

लीलायितं वितनुते स्म गतौ स्विकायाम् ॥ ७१ ॥

स पृथुकप्रकाण्ड बालशार्दूलः प्रथमतः पूर्वम् । सार्वविभक्तिकस्तस्मै । सर्वाभ्योऽपि विभक्तिभ्यस्तस्मै स्यादित्येके । धात्र्या उपमात्रा उदिताम् उच्चरिता कथिता चारु मनोहरा वाच वाणीम् उवाच वक्ति स्म । क इव । कीरस्य शाव इव । यथा शुकस्य बालकः प्रथमतः कथिता चारु मनोज्ञा वाच वदति । पुन स कुमारः तस्या धात्र्या कराङ्गुलीः हस्तस्य तर्जन्यादिका अङ्गुली समवलम्ब्य आश्रित्य । गृहीत्वेत्यर्थः । स्विकायामात्मीयाया गतौ गमने लीलायित लीलया आचरित चारुचङ्क्रमणविलासं तनुते स्म । लीलागमनमदर्शयदित्यर्थः । हसन्तौ सनिहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ॥

चूलाक्रियामहमथाङ्गभवस्य तस्य

संतन्वता पुलककोरकितेन तेन ।

श्रीदायितं प्रदिशता मणिहेमजात-

माढ्यायित समुदयेन च मार्गणानाम् ॥ ७२ ॥

अथ वाग्गमनपाटवभवनानन्तरं पुलकेन रोमहर्षेण कृत्वा कोरका कुञ्जला संजाता अस्येति । 'पुलककोरकिततनु' इति चम्पूकथायाम् । रोमाञ्चकञ्चुकितेन कुराव्यवहारिणा तस्य हीरनान्नोऽङ्गभवस्य स्वपुत्रस्य चूलाक्रियामहं शिखण्डिकाकरणाद्युत्सवं संतन्वता कुर्वता श्रीदायितं धनदेनेवाचरितं वदान्यतातिशयेन । तेन किं कुर्वता । प्रदिशता ददता । किम् । मणयो रत्नानि हेमानि सुवर्णानि तेषां जातं समूहम् । च पुन मार्गणानां समुदयेन याचकनिकरेण आढ्यायितं स्वाभाविकमहेभ्य इवाचरितम् । ईश्वरीभूतमित्यर्थः ॥

शाव शुभैरवयवैः सवितुः प्रयत्ना-

द्वृद्धिं दधावनुदिनं स्वजनैरुपास्य ।

भूमीभृतो बहुलनिर्झरतस्तरङ्गैः

सिन्धुप्रवाह इव पत्ररथैर्निषेव्य ॥ ७३ ॥

शावो हीरकुमारः सवितुस्तातस्य प्रयत्नात् समाहितमार्गितप्रदानपोषणप्रकारात् शुभैः प्रशस्तैरवयवैः अङ्गोपाङ्गैः अनुदिनं निरन्तरं द्वृद्धिं पुष्टिं ददौ वर्धते स्म । किंभूतः शावः । स्वजनैर्ज्ञातिवर्गमानवैर्निजजनैर्वा उपास्य कृतसेवनः । क इव । सिन्धुप्रवाह इव । यथा भूमीभूतः पर्वतस्य बहुलादनल्पात् निर्झरतः । सार्वविभक्तिकत्वात्तत्प्रत्ययः । शतशो

निर्झराणां प्रवेशात्तरङ्गैः कल्लोलैः नदीप्रवाहो वृद्धिं धत्ते । किंभूतः सिन्धुप्रवाहः । पत्ररथै-
र्विहङ्गमैरभिगम्य खगसेव्यः ॥

वाचस्पतेर्दिवि विधाय सुरान्विनेया-

नुर्व्यां नरानपि विधातुमुपेयुषः किम् ।

वप्रा व्यमोचि पठितुं सविधे द्विजस्य

कस्यापि वाङ्मयविदः समहं कुमारः ॥ ७४ ॥

हीरकुमारः समहं महोत्सवपुरःसरं कस्यापि अनिर्दिष्टनाम्नो द्विजस्य ब्राह्मणस्य स-
विधे समीपे पठितुमर्थेन वप्रा कुराव्यवहारिणा व्यमोचि मुक्तः । किंभूतस्य द्विजस्य ।
वाङ्मयः शिक्षाकल्पव्याकरणादिशैवशास्त्रं वेत्तीति वाङ्मयवित् तस्य । किमुत्प्रेक्ष्यते । स्वर्गे
सुरान् देवान् विनेयान् शिष्यान् विवाय अपि पुनर्नरान् मनुष्यान् अध्यापनादिभिः
शिष्यान् विधातुं कर्तुमुर्व्यामवन्त्यामुपेयुषः आगतस्य वाचस्पतेर्बृहस्पतेरिव ॥

तस्यार्भशक्र इव चित्रशिखण्डिसूनो-

लब्ध्वोपकण्ठमशठं स पठन्नकुण्ठम् ।

पोतः श्रुतिं स विधिवल्लिपिसंग्रहेण

प्रेम्णा विवेश नगरीमिव गोपुरेण ॥ ७५ ॥

स पोतो हीरकुमारः प्रेम्णा हार्देन हृदयाभिप्रायेण विधिवत् शास्त्रोक्तप्रकारेण लिपेर-
क्षरात्मिकायाः संग्रहेण आगमनेन । शिक्षणेनेत्यर्थः । श्रुतिः शास्त्रं विवेश प्रविष्टः । शास्त्राभ्यासं
कर्तुं प्रारब्धवानित्यर्थः । कामिव । नगरीमिव । यथा कश्चित् बालो गोपुरेण प्रतोल्या कृत्वा
पुरीं प्रविशति । पोतः किं कुर्वन् । अशठः सरलाशयः सन् । अकुण्ठः घोषालम्ब्यस-
नादिना तीक्ष्णः सोत्साहः वा सुः अतिशयेनात्मनः सर्वप्रयत्नेन पठन्नवीयमानः । किं
कृत्वा । तस्याध्यापकस्य उपकण्ठं लब्ध्वा संप्राप्य । क इव । अर्भशक्र इव यथा बालकः
इन्द्रः । 'शैशवावधिगुरुर्गुरुरस्य' इति नैषधे । एतेन काव्येन इन्द्रस्य बालत्वं तथा गुरु-
पार्श्वे अध्ययनमपि प्रोक्तम् । चित्रशिखण्डिसूनोर्बृहस्पतेः । 'विचित्रवाक्चित्रशिख-
ण्डिसूनो' इत्यपि नैषधे । पार्श्वं प्राप्य पठति ॥

छाया तनोरिव न लङ्घयितापि वाच

प्रासादि तेन विनयावनतेन सूरिः ।

सर्वैरभावि च गुरोः सफलैः प्रयत्नै-

स्तस्मिन्ननूषरभुवीव कृषीवलस्य ॥ ७६ ॥

तेन हीरकुमारेण सूरिः कलाचार्यः प्रासादि प्रसन्नीकृतः । तेन किंभूतेन । विनयेन
अवनतेन नम्रेण । तेन पुनः किं कुर्वता । गुरोः स्वाध्यापकस्य वाचं वाणीम् । वचनमा-

त्रमपीत्यर्थः । नोल्लङ्घयता नातिक्रामता । कामिव । छायासिव । यथा कोऽपि स्वतनो-
श्छाया नोल्लङ्घयति गुरोस्तस्याध्यापकस्य सर्वैः सकलैः प्रयत्नैरुद्यमैस्तस्मिन् हीरकुमारे
सफलैः फलवद्भिरभावि सजात सपत्नैः । कस्येव । कृषीवलस्येव । यथा कृषिकस्य कर्ष-
णकारिण अनूषरभुवि सर्वसस्योत्पत्तिस्थानक्षेत्रभूमौ प्रयत्नैः प्रयासैः सफलैर्भूयते ॥

तं साक्षिणं प्रणयवान्स्वगुरुं प्रणीय
स्वल्पैर्दिनैः स वहनैरिव धीविशेषैः ।

संप्राप पारमखिलागमसागरस्य
साधुः समाधिभिरिवानुपमैर्भवस्य ॥ ७७ ॥

प्रणयः स्नेहो गुरुजनेषु विद्यते यस्य स हीरकुमारस्तः स्वगुरुं निजकलाचार्यं साक्षिणं
प्रतिभुवम् । साक्षिमात्रमित्यर्थः । प्रणीय कृत्वा स्वल्पैरतिस्तोकैर्दिनेर्वासुरैः अखिलागमसाग-
रस्य समस्तशास्त्रसमुद्रस्य पारं परतीरं प्रान्तं संप्राप लेभे । गृहमेधिवासोचितं सर्वशा-
स्त्रमवीतवानित्यर्थः । कैः । धीविशेषैः स्वप्रज्ञोत्कर्षैः । बुद्धिविशिष्टगुणातिशयैः । कैरिव ।
वहनैरिव । यथा यानपात्रैः कृत्वा सायान्त्रिकं समुद्रस्य पारमभिलषितवेलाकूलं प्राप्नो-
ति । अथ पृथगुपमापि । क इव । साधुरिव । यथा यती अनुपमैरसाधारणैः समाधि-
भिर्ध्यानविशेषैः । 'ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसतति । समाविस्तु तदेवार्थमात्रा-
भासनरूपकः ॥' इति हैम्याम् । एतावता योगैः कृत्वा भवस्य ससारस्य । 'भवः सत्तात्म-
जन्मसु । रुद्रेऽप्रेयसि ससारे' इत्यनेकार्थः । पारं मोक्षं प्राप्नोति ॥

अध्याप्य तेन विधिवत्सकला स विद्याः

प्रत्यर्प्यते स्म गुरुणा जनकस्य तस्य ।

श्रीमान्मुरारिरिव तेन हिरण्यरत्न-

कोटीर्वितीर्य सुतसूरिरपि व्यधायि ॥ ७८ ॥

तेन गुरुणा कलाचार्येण विधिवत् शास्त्रोक्तप्रकारेण द्विसप्ततिकलानामादिमा कला
लिखितगणितादिरन्तिमा कला शकुनरुतमित्युक्तप्रकारेण । अथवा मातृकादिकचा-
णिकयाङ्क(न्त)पाठनैकविधिना सकला समस्ता अपि विद्या अध्याप्य पाठयित्वा तस्य
कुमारस्य कुराख्यस्य वा जनकस्य पितुः स हीरकुमारः प्रत्यर्प्यते स्म पश्चादर्पितः । अपि
पुनः तेन तज्जनकेन कुरामहेभ्येन सुतसूरिः स्वपुत्रहीरकुमारस्य कलाचार्यं हिरण्याना-
रत्नानां मणीनां कोटीर्वहुशो लक्षशतानि वितीर्य दत्त्वा मुरारिः कृष्ण इव श्रीमान् लक्ष्मी-
पतिर्व्यवायि विहितः ॥

चित्रामिवेन्दुरनवद्यतमां स विद्यां

लब्ध्वा श्रिया तदवधि व्यरुचत्कुमारः ।

आसीदसीममहिमाप्यनयार्भकस्य

प्रोल्लेखितस्य निकषेण मणेस्त्विवेषेव ॥ ७९ ॥

स कुमार अनवद्यतमाम् अतिशयेन श्लाघनीया विद्या लब्ध्वा सप्राप्य तदवधि-
विद्याविगमदिवस एवावधिर्मर्यादा यत्रेति क्रियाविशेषणम् । तद्दिनमारभ्येत्यर्थः । श्रिया
शोभया लक्ष्म्या वा व्यरुचत् शुशुमे । 'सहस्रवात्मा व्यरुचद्विभक्त' इति रघुवशे । क
इव । इन्दुरिव । यथा चन्द्र अनवद्यतमामतिनिर्मुक्तमेघोपरोधा चित्रा त्वाष्ट्री नक्षत्र-
विशेष प्राप्य श्रिया शारदीनकौमुदीलक्ष्म्या विरोचते । द्युद्भयो लुङि द्युतादिभ्य पर-
स्मैपद वा स्यात् । 'पुष्पादिव्युतादिलृदित परस्मैपदेषु' इत्यन्विकरणपुष्पादेर्व्युतादेर्लृदितश्च
परस्य च्लेरङ् स्यात् परस्मैपदेषु । अव्युतत् । अव्योतिष्ट । अरुचत् । अरोचिष्ट । इति
प्रक्रियाकौमुद्याम् । अपि पुनस्तस्यार्भकस्य हीरकुमारस्य तथा विद्यया कृत्वा न विद्यते
सीमा मर्यादा यस्य स असीम । अद्वैत इत्यर्थः । तादृशो महिमा माहात्म्य यस्य तथा-
विव आसीत् बभूव । कस्येव । मणेरिव । यथा निकषेण शाणेन उल्लेखितस्य उत्तेजितस्य
निर्मलीकृतस्य मणे रत्नविशेषस्य त्विषा कान्त्या कृत्वा अनन्य महत्त्व मूल्य महर्ष्यता
भवति ॥ इति बालक्रीडा ॥

नाभीभवेन तदुदाहरणीकृतैः कि

सामुद्रशास्त्रगदितैर्नरलक्षणौघैः ।

नालम्भि तत्र कुमरे व्यभिचारिभाव

प्रामाणिकैः सदुपमानविधाविवेह ॥ ८० ॥

नाभीभवेन विवात्रा । किमुत्प्रेक्ष्यते । 'हाराग्रजाग्रद्रुडाश्मरश्मिपीनाभनाभीकुहरा-
न्वकाराम्' इति नैषधे । नाभीशब्दो दीर्घ ईकारान्तोऽस्तीति । तदुदाहरणीति । स हीर-
कुमार एव उदाहरण निदर्शन दृष्टान्तो येषां ते तदुदाहरणा । न तदुदाहरणास्तदुदाहरणा
कृतास्तदुदाहरणीकृतास्तैः । समुद्रेण कविना कृतं शास्त्र ग्रन्थविशेषः । सामुद्रशास्त्रं तत्र
गदिता कथितास्तैर्नराणां मनुष्याणां लक्षणानां स्वस्तिकचक्राङ्कुशादीनामोघैः समूहैस्तत्र
कुमरे हीरकुमारे व्यभिचारिभाव परस्परविरोधित्वं नालम्भि न प्राप्तम् । 'कुमार
कुमरोऽपि च' इति शब्दप्रभेदे । अन्यत्रापि चरित्रादौ च । कस्मिन्निव । सदुपमानविधाविव ।
यथा । इह जगति प्रामाणिकैस्ताकिंकैः सति सर्वप्रकारैर्योग्ये विद्यमाने उपमानविधौ
अन्यपदार्थस्य सादृश्यीकरणप्रकारे व्यभिचारित्वं न लक्ष्यते ॥

तस्याभवल्लवणिमातिशयः स कोऽपि

प्रोत्तारयन्न्यदुपरि स्थविर शिवाय ।

मुक्ताः क्षिपत्यनुदिनं पवमानमार्गे

ता एव तत्र किम् तारगणा भवन्ति ॥ ८१ ॥

कुमारस्य स कोऽपि अद्वैतवैभव लवणिमातिशय लावण्याधिक्य अभवत् बभू-
व । स क । यदुपरि यस्य लावण्यातिशयस्योपरि स्थविर पितामह । 'स्थविरः शतानन्द-
पितामहौक ' इति हैम्याम् । 'प्रवया स्थविरो जरन्' इत्यपि हैम्याम् । शिवाय कल्याण-
कारणाय नित्य प्रतिवासर प्रोत्तारयन् उत्तारण सृजन् न्युञ्छनीकुर्वन्वा मुक्ता मौक्ति-
कानि पवमानमार्गे आकाशे क्षिपति । किमुत्प्रेक्ष्यते । ता एव मुक्तास्तत्राम्बरे तारगणा
ज्योतिर्मण्डलानि भवन्ति सजायन्ते ॥

स्पर्धोदयादिव मिथः प्रवयं सृजद्भि-

रङ्गैः सचद्भिर्मवपुर्विभवेन तेन ।

ईर्ष्या तमीप्रियतमः प्रणयन्विजित्य

लक्ष्मच्छलेन मुमुचे किमु लाञ्छयित्वा ॥ ८२ ॥

तेन हीरकुमारेण ईर्ष्याम् । अर्थात् स्ववपुश्चारिम्णा सममसूयाम् । प्रणयन् कुर्वन्
तमीप्रियतम रजनीजानि चन्द्र विजित्य । अर्थात्पराभूय । गृहीत्वा वा । किमुत्प्रेक्ष्यते—
लक्ष्मच्छलेन लाञ्छनकपटेन लाञ्छयित्वा लाञ्छन मण्या अभिज्ञान मुखे कृत्वा मुमुचे
नभसि मुक्त । 'कि नन्दि कि मुरारि किमु रतिरमण कि विधुः कि विधाता' इति
धनपालोक्तोपमानादत्र विधोरुत्प्रेक्षा । तेन किम् । अङ्गैः शरीरावयवैः कृत्वा सह च-
द्भिन्ना मनोहरत्वेन वर्तते यत्तादृशस्य वपुषः शरीरस्य विभव शोभातिशयो यस्य ।
अथ वा वपुर्विभवेति सावनेन जित्वेति । कि कुर्वद्भिरङ्गैः । इवोत्प्रेक्ष्यते—मिथः परस्पर
स्पर्धायाः सघर्षस्य उदयात् प्रादुर्भावादिव प्रवय पुष्टि सृजद्भिर्विदवद्भिः ॥

केशोच्चयः स्फुरति यस्य स नीलकण्ठ-

पृष्ठे प्रविष्ट इव येन जितः कलाप ।

आवात्यतः कुटिलता मनसोपनीता

य भेजुषी पुनरिवैत्य कचच्छटासु ॥ ८३ ॥

तस्य कुमारस्य स चामरादिप्रतिपक्षलक्षजित्वर प्रसिद्ध केशोच्चय केशपाश ।
'वाला स्युस्तपरा पाशो रचना भार उच्चय । हस्त पक्ष कलापश्च केशभूयस्त्ववा-
चक ॥' इति हैम्याम् । स्फुरति भासते । स क । येन केशोच्चयेन जित अभिभूतः
कलापः शिखण्डिकम् । उत्प्रेक्ष्यते—नीलकण्ठः शम्भुर्मयूरश्च तस्य पृष्ठे प्रविष्टः शरणे
गत इव । पुनर्येन कुमारेण आवात्यतः शैशव मर्यादीकृत्य मनसः स्वचित्तात् कुटिलता-
वक्रत्वम् अपनीता निष्कासिता सती । उत्प्रेक्ष्यते—उपेत्यागत्य य कुमार कुटिलता क-
चच्छटासु कुन्तलावलीषु भेजुषीव श्रितवतीव । 'तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा' इति छ-
टाशब्दः समूहवाची नैषधे । तथा 'वक्रोत्तिकुशलस्य तस्य [नलस्य] केशकलोपोऽपि
वक्रता भेजे' इति चम्पूकथायाम् । इति पुरुषाणां केशकलापे वक्रता वर्णितास्तीति ॥

स्वध्यानलोपभवकोपपिनाकिजाग्र-

दातङ्कशङ्कितमनः सुमनःशरस्य ।

त्यागं तनोर्विदधतः कृतवान्विधाता

छत्रेण यस्य किमु मौलिमवाङ्मुखेन ॥ ८४ ॥

विधाता ब्रह्मा यस्य कुमारस्य मौलि मस्तक कृतवाश्चक्रे । किमुत्प्रेक्ष्यते—स्वस्येश्व-
रसंबन्धिनो ध्यानस्य एकाग्रमनस्त्वेन परमात्मस्वरूपचिन्तनरूपस्य प्रणिधानस्य लोपेन
भङ्गेन कुमारिकावस्थाया पाणिग्रहणकरणकृते सेवार्थं समागताया गौर्या विषये रागो-
त्पादनलक्षणविघ्नविधानेन पञ्चमी वा सर्वत्रभव समुत्पन्नः कोप व्यापादनकारणक्रो-
धो यस्य तादृग्विधात् पिनाकिनः शभोर्जाग्रता प्रकटीभवता आतङ्केन भयेन । ‘भय
भीर्भीतिरातङ्क’ इति हैम्याम् । शङ्कित स्वहननलक्षणशङ्कां प्राप्त मनो यस्य तथावि-
धस्य । अतएव प्रतिपक्षपराभवात्प्रागेव तनो स्वदेहस्य त्याग विनाश विदधतः कुर्वत
सुमन शरस्य पुष्पबाणस्य कामस्य अवाङ्मुखेन अधोवक्त्रेण छत्रेण किमु कृतवान् । नि-
स्वामिकतया मदनश्चेतातपत्रोपादान युक्तमेव ॥

उत्तुङ्गभावमथ वर्तुलतां दधान-

मुष्णीषमस्य सुषमां स्म विभर्ति मौलौ ।

यस्मिन्समाजिगमिषोस्तरुणत्वलक्ष्म्या

माङ्गल्यकुम्भ इव केशरुहाश्रिताङ्क ॥ ८५ ॥

अस्य कुमारस्य मौलौ मूर्धनि उष्णीषमाकारविशेष सुषुमा सातिशायिशोभां वि-
भर्ति स्म दवार । ‘सोष्णीषमूर्धा ध्वजचिह्नपाणि’ इति चम्पूकथाया नलविशेषणम् ।
अत एव तीर्थकृद्भ्य इतरेषामप्युत्तमपुरुषाणामुष्णीष वर्ण्यते । उष्णीष किं कुर्वाणम् ।
दवान विभ्राणम् । कम् । उत्तुङ्गभावम् उन्नतत्वम् । अथ पुनर्वर्तुलता वृत्ताकारत्व च ।
इवोत्प्रेक्ष्यते—यस्मिन्हीरकुमारे समाजिगमिषो सम्यक्प्रकारेण आगन्तुकामायास्तरुणत्व-
लक्ष्म्या यौवनश्रिय केशा एव रुहा दुर्वा । ‘दुर्वा त्वनन्ता शतपर्विका । हरिताली रुहा’
इति हैम्याम् । ताभिराश्रित आकलित अङ्गे उत्सङ्गे यस्य तादृशो माङ्गल्य कल्याणकारी
कुम्भ कलश इव ॥

यश्चन्द्रिकाङ्कितचतुर्द्विजराजराज-

द्भालार्धशीतमहसो वहते स्म शश्वत् ।

शुद्धाशयोऽमृतरसायितवाग्विलासो

— द्वासप्ततिः कलयतात्स कलाः कथं न ॥ ८६ ॥

यो हीरकुमार शश्वन्निरन्तर चन्द्रिकया ज्योत्स्नया अङ्कितान् कलितान् । ‘दशनच-

न्द्रिकया व्यवभासितम्' इति रघो । इति चन्द्रिकाशब्देन दन्तद्युतिश्चन्द्रिका च । चतु-
सख्याका द्विजाना राजानो द्विजराजा राजदन्ताश्चन्द्रश्च तथा राजत् दीप्यमान यद्भाल
ललाटमेवार्धशीतमहा सामिसोमस्तान् । सार्धचतुश्चन्द्रानित्यर्थः । वहते स्म दवार । स
कुमारो द्वासप्ततिसख्याका कला कथं न कलयतात् धत्ताम् । अपि तु सार्धचतुश्च-
न्द्रधारी गणनया द्वासप्ततिकलाकलित एव स्यात् । किभूत । शुद्रो निर्मल निष्पाप
विशदश्च आशयश्चित्त मध्य च यस्य । पुनः किभूत । अमृतरसवत्सुवानिस्यन्द इवा-
चरितो वाग्विलासो वचनवैचित्र्यी यस्य । चन्द्रा अपि श्वेता अमृतयुताश्च स्युः ॥

भालस्थलप्रसृमरांशुपय प्रवाहो-

पान्तप्ररूढलतिकेव विभाति यद्भू ।

शङ्खोऽप्यभूद्वदनवारिजपार्थिवस्य

चन्द्रादिवैरिविजये किमु वादनार्हः ॥ ८७ ॥

यद्भूर्यस्य कुमारस्य भूर्नयनयोरुपरि रोमपद्धतिर्भाति स्म रराज । उत्प्रेक्ष्यते—भा-
लस्थलस्य ललाटपट्टस्य प्रसृमरा विस्तरणशीला ये अशवः किरणास्त एव पयः प्रवाहः
सलिलानामोघस्तस्योपान्ते तटप्रदेशे प्ररूढा प्रोद्गता लतिका । अथवा फलिनी वल्ली
स्वभावलतिका वा । अपि पुनर्यद्वक्त्रे शङ्खः भालश्रवणयोरन्तराले कश्चित् प्रदेशविशेषः
अभूजज्ञे । 'शङ्खः कम्बौ निविभेदे स्यान्नख्यामलिकास्थनि' इत्यनेकार्थः । ललाटप्रान्त-
वर्तिनि अस्थनीति तदवचूर्णिः । 'शङ्खो भालस्त्वोऽन्तरे' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—वद-
नमर्थात् कुमारमुखमेव वारिजाना कमलाना राजा पार्थिवस्तस्य । चन्द्रादीना विबुदर्प-
णप्रमुखाणा वैरिणा शत्रूणा विजये जयप्राप्तौ पराभवनावसानसमये वा वादनस्य पूर-
णस्य अर्हो योग्यः शङ्खः कम्बुः किमु । विजयिराजानो हि रिपून्निर्जित्य स्वविजयसूचकः
शङ्खः वादयन्तीति प्राक्तननृपरीतिः । यथा—स्वाविनयकरणप्रकुपितमतङ्गतापसप्रदत्त-
मतङ्गजीभवनशापापनयनप्रादुर्भूतस्वाभाविकस्वरूपप्रसन्नीभवद्भान्वर्वदेवविश्राणितप्रयुक्त-
सहारविभक्तमन्त्रप्रस्वापनशस्त्रानुभावपराभूतसमस्तप्रतिपक्षक्षितिपतिपताकिनीप्रारब्ध-
दुर्धरमहायोधनपयोनिधिमध्यसमुद्भूतविजयश्रीस्वीकरणावसरे अजकुमार 'ततः प्रियो-
पात्तरसोऽवरोष्ठे निवेश्य दक्षौ जलजः कुमारः' इत्येतत्सर्वविस्तारो रघुवशे ॥

लावण्यनीरनयनाब्जयदीयवक्त्र-

कासारपालिरिव कर्णयुगं विभाति ।

द्वीपेषु सूचयति किं स्वमितेषु भावि-

श्लोक शिशोः श्रवणयोश्च नवद्वयाङ्कः ॥ ८८ ॥

कर्णयुगः कुमारश्रवणयुगः विभाति शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—लावण्यममोहता स्वरूप-
सौन्दर्यं वा एव नीरसलिलं यत्र तथा नयने लोचने एवाब्जे कमले यत्र तादृशस्य

यदीयवक्त्रकासारस्य कुमारसंबन्धिवदनसरस पालि' सेतुरिव सरसो जलरुन्धनस्थानं पालि । 'सेतौ पाल्यालिसवरा.' इति हैम्याम् । च पुन श्रवणयो कर्णयोर्नवाना नवेति सख्याना द्वयस्य युगलस्य अङ्ग अष्टादशसख्यावाची अङ्को लिपिविशेष स्वेन नवद्वय-लक्षणेनात्मना मितेषु प्रमाणीकृतेषु अष्टादशसु द्वीपेषु । 'अष्टादशद्वीपनिखातयूप' इति रघुवशे । 'नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्' इति नैषधे । इति द्वीपानामष्टादशतापि । शिशोर्ही-रकुमारस्य भाविनमग्रे भविष्यन्त श्लोक यश' सूचयति कथयति किमु । कर्णयोराकृ-तिरूपो नवाङ्को दृश्यते । यथा 'कर्णान्तरुत्कीर्णगभीरलेख कि तस्य सख्येव न वा न-वाङ्क' इति नैषधे । एतावता हीरकुमारयशोऽष्टादशद्वीपेषु भविष्यतीति सूचा ॥

विद्वेषिभावमपहाय परस्परेण

केशच्छटास्फटिकहाटककुण्डलाङ्गा ।

स्वर्भाणुशुभ्रकिरणाम्बुजबन्धवोऽमी

यस्मिन्विधातुमिव साप्तपदीनमीयुः ॥ ८९ ॥

यस्मिन्कुमारे सम्यक्स्थाने केशच्छटा केशपाश स्फटिक श्वेतरत्न तथा हाटक काञ्चन तयो रचनाविशेषेण सदृशीकृते कुण्डले कर्णाभरणे ते अङ्गानि कायारूपाणि वा येषा तादृशा अमी प्रत्यक्षलक्षा । स्वर्भाणू राहु , शुभ्रकिरणश्चन्द्र , अम्बुजबन्धुर्भास्कर , राहुचन्द्रार्का । उत्प्रेक्ष्यते—मिथ परस्पर साप्तपदीनमैत्र्य सौहार्दम् । 'सख्य तु सौहृद सौहार्द साप्तपदी-नम्' इति हैम्याम् । विधातु कर्तुम् ईयुरागता इव । कि कृत्वा । परस्परेण अन्योन्येन विद्वेषिभाव विरोधिताम् अपहाय त्यक्त्वा ॥

सक्तः श्रुतौ शिशुशशी यदसावितीव

तच्चक्षुषी श्रुतियुग परिष्वजाते ।

नीलोत्पले उदयतः कुमुदोर्यदाक्ष्णो-

र्लक्ष्मी तदा तरलतारिकयो श्रयेते ॥ ९० ॥

यद्यस्मात्कारणादसौ अयवर्ण्यमान शिशुपु कुमारेषु दृश्यमानो नयनानामाह्लादकत्वात् शशी चन्द्र इव शिशुशशी श्रुतौ शास्त्रे सक्तः प्रह्व आसक्तोऽस्ति । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोस्तच्चक्षुषी कुमारलोचने श्रुतियुग श्रवणयामल परिष्वजाते आलिङ्गित स्म । च पु-नर्यदा यदि नीलोत्पले कुवलये कुमुदो कैरवयोर्मध्ये उदयेते उद्गम लभेते तदा तर-ले चपले तारिके कनीनिके ययोस्तादृशयोस्तदक्ष्णो कुमारलोचनयोर्लक्ष्मी श्रिय शोभा श्रयेते भजेते । कुमुदे कुमारलोचनतुलामाकलयतः ॥

१. 'पूर्वपदात्सज्ञायाम्' इति हैमाभिधानचिन्तामणि . 'क्षुभ्रादित्वान्न णत्वम्' इति नामालिङ्गानुशासनव्याख्यानामाशयः

दृग्दोषखण्डनकृते भ्रमरं तदीये

चिह्नं मषेरिव मुखे कृतवान्विरञ्चिः ।

विश्वप्रदीपसदृशो यदसौ तदीया

नासापि किं भजति दीपशिखोपमानम् ॥ ९१ ॥

विरञ्चिर्ब्रह्मा तदीये हीरकुमारसबन्धिनि मुखे वदने भ्रमर कुरल भ्रमरालकः अन्यो वा आकारविशेषस्त कृतवान् चकार । उत्प्रेक्ष्यते—दृग्दोषखण्डनकृते शाकिन्यादीनामितरेषा वा दृष्टिदोषनिवारणार्थं मषेर्मलिनाम्बुन । ‘मलिनाम्बु मषी मसी’ इति हैम्याम् । चिह्नं लाञ्छनमिव कृतवानिति । इदानीमपि बालकानां दृग्दोषच्छिदे मुखे कजलचन्द्रक मातरः कुर्वन्तीति प्रसिद्धमेतत् । पुनर्यत्कारणादसौ विश्वे जगति प्रदीपस्य पदार्थसार्थप्रकाशकत्वेन गृहमणे सदृशस्तुल्योऽस्ति यत्तदोः सबन्धात्तेन हेतुना । उत्प्रेक्ष्यते—तदीया तस्य कुमारस्य इयं तदीया नासा गन्धज्ञापि दीपशिखोपमानं कजलध्वजकलिकातुलना भजति कलयति ॥

चापल्यकेलिकलिते असिताशये य-

न्नेत्रे मिथः सदृशवैभवभाजिनी तत् ।

मा द्रुह्यतां कजभुवेति तदन्तराले

नासानिभेन विदधे किमु सीमदण्डः ॥ ९२ ॥

यत्कारणात् यन्नेत्रे कुमारनयने चापल्यं चपलता सैव केलिं क्रीडां तथा कलिते युक्ते चञ्चलतया वा यत्क्रीडनमितस्तत् परिस्फुरणं तेन सहिते । पुनः असितः श्याम आशयो मध्यं स्वभावो वा यथोक्तादृशो स्त वर्तते तत्तस्मात्कारणात् सदृशं तुल्यं वैभवं शोभातिरेकं भजत इत्येवशीले भाजिनी कुमारलोचने मिथः परस्परं मा द्रुह्यतां मा द्रोहं कुर्वाताम् इति हेतोः कजभुवा ब्रह्मणा तदन्तराले तयोर्नेत्रयोरन्तराले मध्यभागे नासानिभेन नक्रकपटेन । उत्प्रेक्ष्यते—सीमदण्डो विभागयष्टिः किमु विदधे कृतं इव ॥

स्थाणोः शिरोनिवसनानशनाम्बुपानं

संतप्य दुस्तपतपो मणिदर्पणेन ।

प्रापे परं जनुरिवेदमगण्यपुण्य-

संप्रापणीयमदसीयकपोलरूपम् ॥ ९३ ॥

मणिदर्पणेन रत्नादर्शनेन अस्य कुमारस्य इमौ अदसीयौ कपोलौ गण्डौ तयो रूपं स्व-रूपमिदं प्रत्यक्षम् । उत्प्रेक्ष्यते—परमन्यज्जनुरवतारः प्रापे प्राप्तमिव । किंभूतं जनुः । अगण्येन गणयितुं प्रमाणीकर्तुंमशक्येन पुण्येन भाग्येन संप्रापणीयं सम्यक्प्रकारेण लब्धुं योग्यम् । किं कृत्वा । दुःखेन कष्टेन तप्यते विधीयते इति दुस्तपः तादृक् तपः

उपवासादिकष्ट सतप्य तद्वा यथाविवि[ना] विधाय । किम् । तप । 'स्थाणु स्तम्भ-
कीलकशभुषु' इत्यनेकार्थं । तस्य शिरसि भस्तके निवसन सदा स्थितिस्तथा न वि-
द्यते अशन भोजनम्, अम्बुनो जलस्य पान धीतिर्यत्र । 'धीति पानेऽथ शोषणम्'

यस्य प्रशस्ययशसः श्रुतिपाशमध्य-

निष्पातिनक्रशुकचञ्चुपुटात्कथंचित् ।

बिम्बीफलं विगलितं स्खलितं च वक्र-

पद्मोदरे किमु रदच्छदनीबभूव ॥ ९४ ॥

बिम्बीफल गोलहक यस्य कुमारस्य उत्प्रेक्ष्यते । रदनच्छदनीबभूव किमु अधर
सजात इव । किभूतम् । कथंचित्केनापि प्रकारेण बलात्कारेण वा स्वबन्धनभयाकुलित-
त्वेन विगलित निष्पतितम् । कस्मात् । श्रुती कर्णावेव पाशौ बन्धनग्रन्थी तयोर्मध्ये नि-
ष्पातितो निष्पतनशीलस्य नक्रशुकस्य नासिकारूपकीरस्य चञ्चुपुटात् शृपाटिकासपुटत ।
वक्रोदरादित्यर्थः । पुनः किभूत बिम्बीफलम् । स्खलित पतित्वा स्थितम् । कस्मिन् ।
वक्र वदनमेव पद्म कमल तस्योदरे मध्ये यस्य । किभूतस्य । प्रशस्य विश्वश्लाघनीय
यशः कीर्तिर्यस्य ॥

रक्ताङ्गरक्तमणिपल्लवपाटलश्री-

पाटच्चरो यदधरः श्रियमश्रुते स्म ।

आस्थानवेदिरिव वाङ्मयदेवताया

आवासवेश्मनि कुमारमुखारविन्दे ॥ ९५ ॥

यदधरो हीरकुमारस्यौष्ठ श्रिय शोभामश्रुते व्याप्नोति । बिभर्तीत्यर्थः । किभूत ।
रक्ताङ्गा विद्रुमा रक्तमणय पद्मरागा पल्लवा किशलयानि तेषां पाटलश्रियो भावप्रवा-
ननिर्देशाद्रक्तत्वलक्ष्म्या स्वभावशोभाया वा पाटच्चरस्तस्कर अपहर्ता । उत्प्रेक्ष्यते—
अधर वाङ्मयदेवताया श्रीसरस्वत्या आस्थानवेदि सभायामुपवेशनार्थं वेदिकेव ।
कस्मिन् । कुमारस्य मुखमेवारविन्द कमल तत्र । किभूते कुमारमुखारविन्दे । आवा-
सवेश्मनि । वाग्देवताया आवासार्थं निवसनकृते वेश्मनि गृहे । कुमारवदनारविन्दरूपे
मन्दिरे निवसन्त्या इत्यर्थः ॥

अभ्युद्गतैर्मुखस्वनेरिव वज्ररत्नै-

र्दन्तैरदीप्यत कुमारपुरंदरस्य ।

वक्राब्जधाम्न इव वा श्रुतदेवतायाः

सेवासुखानुभवनागतगौरपत्रैः ॥ ९६ ॥

कुमारेषु बालकेषु रूपेण प्रिया वा पुरदर इव पुरदरस्तस्य दन्तैर्दशनैरदीप्यत शु-
शुभे । उत्प्रेक्ष्यते—मुखखनेर्वदनाकरादभ्युद्गतै प्रकटीभूतैर्वज्ररत्नैर्हीरकमणिभिरिव ।
वाथवा उत्प्रेक्ष्यते । वज्राब्जधान्न कुमारवदनकमलमेव धाम मन्दिर यस्यास्तादृश्या-
श्रुतदेवताया सरस्वत्या सेवया अर्थात् तद्वाहनत्वात्स्वस्वामिन्या उपासनया कृत्वा
यत्सुख तस्यानुभवनार्थं तद्वा प्राप्नुमागतै समकाल समेतैर्गौरपत्रै राजहसैरिव ॥

विम्बाधरे निपतिताभिरभासि यस्य

निर्धूतमौक्तिकशुचिद्विजचन्द्रिकाभिः ।

कृप्तेन्दुदर्पणपयोजजये कृताभि-

र्नाभीभुवेव सुमवृष्टिभिरेतदास्ये ॥ ९७ ॥

यस्य कुमारस्य निर्धूतानि उत्तेजितानि यानि मौक्तिकानि तानीव शुचिभिरुज्ज्वला-
भिर्द्विजाना दन्ताना चन्द्रिकाभिर्ज्योत्स्नाभिरभासि निर्वभे । किंभूताभिश्चन्द्रिकाभिः ।
निपतिताभि आगत्य स्थिताभि । कस्मिन् । विम्बाधरे गोलहकतुल्ये ओष्ठे । उत्प्रे-
क्ष्यते—एतदास्ये कुमारवक्त्रे नाभीभुवा नारायणनाभ्यम्भोरुहजन्मना वेवसा कृताभि
कुसुमवृष्टिभिरिव । कदा । कृताभिर्निमित्तो य इन्दोश्चन्द्रस्य दर्पणानामादर्शाना पयो-
जाना पद्माना जय परस्परविरोधाद्युद्धे पराभव तत्र । तत्समय इत्यर्थः । ‘नाभीमथैष
श्लथवाससोऽनु’ इति नैषधे नाभीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति ॥

पूर्णामृतैररुणरत्नमनोज्ञमध्या

पङ्क्तीभवद्विजविराजिसवेशदेशा ।

यस्याननान्तरनिकेतनवाक्त्रिदश्या

वापीव खेलनकृते रसना बभासे ॥ ९८ ॥

यस्य कुमारस्य रसना जिह्वा बभासे रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—आननमर्थात्कुमारवदन तस्या-
न्तर मध्य तत्र निकेतन सदन यस्यास्तादृश्या वाक्त्रिदश्या भारत्या खेलनकृते जलक्री-
डार्थं वापी दीर्घिकेव । किंभूता वापी । अमृतै पीयूषै सलिलैश्च पूर्णामृतमध्या ।
पुन किंभूता वापी । अरुणरत्नै पद्मरागमणिभि मनोज्ञ रमणीय बद्ध रचित मध्य य-
स्याः । मध्यमलोपीसमासः । पुन किंभूता । पङ्क्त्या श्रेण्या भवद्विर्वितिष्ठमानैर्द्विजैर्द-
न्तैर्विहगमैश्च । अर्थात् विशदतया राजहसपक्षिभि विराजी शोभनशील सवेशदेश
समीपविभागो यस्याः । वापी अपि जलक्रीर्णा रत्नबद्धमध्या विहगमकलिता च स्यात् ॥

पूज्येषु रङ्गितमना यदसौ कुमार-

स्तस्य स रज्यत इतीव रसज्ञयापि ।

शुद्धाशयस्य दशनैरिव धार्यते स्म

श्रीमत्कुमारवृषभस्य विशुद्धिमत्ता ॥ ९९ ॥

तस्य कुमारस्य रसज्ञया जिह्वया । उत्प्रेक्ष्यते—इति रज्यते स्म रक्तीभूतमिव । इति किम् । यत्कारणादसौ कुमार पूज्येषु गुर्वादिषु अभ्यर्चनीयेषु विषये रङ्गित रागयुक्त जात मनश्चित्त यस्य तादृग्वर्तते । ‘रङ्ग स्यान्नृत्ययुद्धुवो रागेऽपि’ इत्यनेकार्थः । पुन शुद्धाशयस्य शुद्धो निर्मलो निष्पाप आशयश्चित्त मध्य च यस्य श्रीमतो लक्ष्म्या शोभया वा शालिन कुमारेषु बलवत्तया धर्मकर्मादिषु धुरीणतया वा वृषभ इव वृषभः प्रशस्यो वा तस्य दशनैर्दन्तैरपि विशुद्धिमत्ता अत्यौज्ज्वल्य धार्यते स्म वृता ॥

रक्ताङ्गपल्लवमुखान्द्विषतो जिगीषु-

धत्तेऽसिकं किमधरः सविधेऽदसीय ।

भावी शिशुर्भुवि यदेष सुवृत्तशाली

भेजे तदस्य चिबुकोऽपि सुवृत्तभावम् ॥ १०० ॥

अदसीय कुमारसबन्वी अधर ओष्ठः असिकम् अवराध प्रदेशविशेष धत्ते वारयति । उत्प्रेक्ष्यते—रक्ताङ्गपल्लवमुखान् विद्रुमकिसलयादिमान् द्विषतो वैरिणो जिगीषुर्जेतुमिच्छु किम् । असिक असिरेव असिक । स्वार्थे क । स्त खङ्ग बिभति । अन्योऽपि वीरो रिपून् निर्जेतु करवाल कलयति यत्कारणाद्भुवि पृथिव्यामेष शिशुर्बालक सुवृत्तेन शोभनाचारेण शालते शोभते इत्येवशीलो भावी । तत्कारणादस्य कुमारस्य चिबुकोऽपि असिकाव प्रदेशोऽपि सु शोभन वृत्तमाचारो यत्र । तादृश भावमाशय सदाचारता वा । वास्तवार्थे तु शोभनवर्तुलता भेजे सिषेवे । ‘तत्प्रान्तौ सृक्किणी असिक त्वध । असिकावस्तु चिबुकम्’ इति हैम्याम् ॥

द्वात्रिंशताजनि रदैरपि लक्षणानि

द्वात्रिंशदाकलयत शशुवासवस्य ।

पीयूषवर्षिसितरोचिरसूययान्त-

वर्गिभिः सुधामिव ववर्ष मुख तदीयम् ॥ १०१ ॥

करचरणयोश्छत्रचामरादीनि द्वात्रिंशत्सख्याकानि लक्षणानि आकलयत विभ्रत । लक्षणानि यथा—‘छत्र तामरस वनू रथवरो दम्भोलिकूर्माङ्गुशा वापी स्वस्तिकतोरणानि च सर पञ्चानन पादप । चक्र शङ्खगजौ समुद्रकलशौ प्रासादमध्या यवा थूपस्तूपकमण्डलून्यवनिभृत्सचामरो दर्पण ॥ उक्षा पताका कमलाभिषेक सुदामकेकी घनपुण्यभाजाम्’ इति षट्पदी । अथवा ‘इह भवति सप्तरक्त षडुन्नत पञ्चसूक्ष्मदीर्घश्च । त्रिविपुललघुगम्भीरो द्वात्रिंशलक्षण स पुमान् ॥’ इति । शिशुषु महर्षिकत्वेन वासवस्य शक्रतुल्यस्य दन्तैर्वदनदशनैरपि द्वात्रिंशता द्वात्रिंशत्सख्याकैरजनि सजातम् । उत्प्रेक्ष्यते—

द्वात्रिंशत्वे स्पर्धयेव इति गर्भितोत्प्रेक्षा । पुनस्तदीय कुमारसंबन्धि वदन वाग्भिर्वा-
णीभि कृत्वा सुधा पीयूष ववर्ष वर्षति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पीयूषममृत वर्षतीत्येवशी-
लस्तस्य सितरोचिषश्चन्द्रस्य अन्तश्चित्तमध्ये असूयया ईर्ष्ययेव सुवामवर्षत् ॥

उद्धृत्य कण्टकगणान्किमु वारिजन्म

किं वात्मदर्शमपहत्य विचेतनत्वम् ।

संतक्ष्य लक्ष्मशितिमानमुतामृतांशु

राजीवभूरकृत हीरकुमारवक्त्रम् ॥ १०२ ॥

राजीवभूर्वेवा किमु इति वितर्कयामि विचार कुर्वे । 'वितर्के किमूत च' इति है-
म्याम् । वारिजन्म विकसितकमलम् । अर्थादादाय । कर्मद्वय वा । कृवातोर्द्विकर्मकत्वे-
न हीरनाम्न कुमारस्य वक्त्र मुखमकृत विरचयाचकार । किं कृत्वा । कण्टकानां गणान्
व्रजानुद्धृत्य निष्कास्य । 'शशिनि खलु कलङ्क कण्टका पद्मनाले जलविजलमपेय पण्डिते
निर्वनत्वम् । दयितजनवियोगो दुर्भगत्व स्वरूपे वनपतिकृपणत्व रत्नदोषी कृतान्त ॥'
इति सूक्तवचनात् पद्मे कण्टका । वा अथवा विचेतनत्व चेतनाराहित्यम् अपहत्य अ-
ज्ञानता मुषित्वा आत्मदर्श दर्पण किमादाय, हीरमुख चक्रे । उत अथवा लक्ष्मणो ला-
ञ्छनस्य शितिमान कृष्णता संतक्ष्योत्तार्य किम् अमृतांशु सुवाकर हीरवदन विविर्वि-
दधे ॥ इति मुखम् ॥

निःशेषभूवलयकुण्डलिवेश्मनाकि-

लोकत्रिके प्रसृमरैर्यशसां विलासैः ।

रेखा भविष्यति महत्सु यदस्य कण्ठे

रेखात्रिकं किमिति निर्मितवान्विधाता ॥ १०३ ॥

विधाता ब्रह्मा अस्य कुमारस्य कण्ठे गलकदले । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतो रेखात्रिक
निर्मितवान् किमु कृतवानिव । इति किम् । यत् नि शेष समग्र भूवलय मेदिनीमण्ड-
लम्, तथा कुण्डलिना नागानां वेश्म गृह पातालम्, तथा नाकिना देवानां लोको विश्व
स्वर्गस्तेषां त्रिके त्रयेऽपि प्रसृमरैः प्रतिस्थान विस्तरणशीलैर्यशसां कीर्तनां विलासैर्वैचि-
त्रीभिरस्य हीरकुमारस्य महत्सु उत्तमजनेषु रेखा भविष्यति । एतस्मात्पर कोऽप्येता-
दृगुणगणकलितस्त्रिभुवनेऽपि नास्तीति प्रसिद्धिर्भाविनी ॥

भावी यदेष वृषवज्जिनधर्मधुर्यः

स्कन्धोऽप्यभूत्किमिति तत्कुदोपमेयः ।

अर्भः पुरा भवति येन युगप्रधानो

जज्ञेऽस्य बाहुरपि तेन युगप्रधानः ॥ १०४ ॥

यत्कारणादेष कुमार वृषवद्वृषभ इव जिनस्यार्हतो धर्मे सुकृतकर्मणि धुर्यो धौरेयो धुरवुरो भावी भविष्यति । इति हेतो अस्य कुमारस्य स्कन्धोऽप्यसोऽपि । उत्प्रेक्ष्यते— तस्य वृषभस्य ककुदेनासकूटेन उपमेय उपमातु योग्य । किमभूद्वभूव । च पुनर्येन कारणेन अर्भो हीरकुमारो युगे कलिकाले विशिष्टातिशयमाहात्म्याभ्युदयात् प्रधान प्रकृष्ट पुरा भवति अग्रे भविष्यति । पुरायोगे भविष्यदर्थे वर्तमाना 'यावत्पुरानि-पातयोयोगे लङ्' आभ्या निपाताभ्या योगे भविष्यत्काले वर्तमाना स्यादिति प्रक्रिया-कौमुद्याम् । 'पुरेदमूर्ध्व भवतीति वैधसा' इति नैषधेऽपि । तेन हेतुना । उत्प्रेक्ष्यते— अस्यार्भकस्य बाहुर्भुजोऽपि युगवद्धूसरवत्प्रधानो व्यायत आजानुबाहुत्वात् जज्ञे सजात ॥

उद्दामदुर्गतिपुरेऽर्गलतांगमी य-

त्तद्वोरितीव लभतेऽर्गलयोपमानम् ।

यस्यभशङ्खमकरान्कलयन्प्रवाल-

शाली पुनः श्रियमसूत शयः समुद्रः ॥ १०५ ॥

यत्कारणात्कुमार उद्दाममनेकलोकानामातङ्गकारत्वादुत्कटम् । 'अबाधोच्छृङ्खलोद्दामान्ययन्त्रितमनर्गलम्' इति हैम्याम् । उच्छृङ्खल यदुर्गतिर्नरकादिकुगति सैव पुर नगर तत्रा-र्गलता परिघभावम् । 'द्वारेषु परिघोऽर्गला' इति हैम्याम् । अय गमी गमिष्यति । 'यथा विदूराद्रिरदूरतागमी' इति नैषधे । ये जना अमु स सम्यक् त्रिवा सेविष्यन्ते ता दुर्गति गन्तु न दास्यत्यसौ तत इद विशेषणम् । उत्प्रेक्ष्यते— इतीव हेतो । तस्य कुमारस्य दोर्बाहुदण्डोऽपि अर्गलया नगरपरिघेण उपमान सादृश्य लभते प्राप्नोति । 'अमुष्य दोर्भ्या-मरिदुर्गलुण्ठने ध्रुव गृहीतार्गलदीर्घपीनता' इति नैषधे । पुनर्यस्य सह मुद्रिकया उमिकया साक्षराङ्गुलीयकेन वा वर्तते य समुद्र शय पाणि श्रिय शोभामसूताजीजनत् । कि कुर्वन् । दवत् । कान् । कृतिभाज रेखाकारीभूतान् इभा गजा , शङ्खा . कम्बव , मकरा यादोविशेषा , तान् । पुन किभूत । प्रवाला पल्लावास्तद्वत् शालते रक्तत्वेन सु-कुमारत्वेन शोभते इत्येवशील समुद्रोऽपि जलगजवारिजमकरकलितस्तथा विद्रुमवि-भ्राजी लक्ष्मी सूते च इत्युत्प्रेक्षा । उपमा वा ॥

तस्य स्फुरद्द्युतिपयःपरिपूर्णबाहु-

मूलालवालावलसद्भुजगाण्डभाज ।

रेजुः शयावनिरुहोऽङ्गुलयोऽनुशाखा

कामाङ्कुशैः किसलयैरिव शालमानाः ॥ १०६ ॥

तस्य कुमारस्याङ्गुलय करशाखा रेजु शुशुभिरै । नु इति अव्यय वितर्के वि-चारे प्रश्ने पृच्छाया वा । शयावनिरुह पाणिरूपपादपस्य शाखा शिखा । किभूतस्य शयावनिरुह । स्फुरन्त्यो दीप्यमाना विस्तरन्त्यो वा द्युतय . कान्तय एवं पयासि स-

लिलानि तैः परिपूर्णं सामस्येन पूरितं व्याप्तं बाहुमूलं भुजकोटरः स एवालवालं स्थानकं तत्र विलसन्नाश्लिष्यन् । 'लस श्लेषणक्रीडनयो' इति धातुः । अर्थात् प्रकटीभवन् यो भुजो बाहुः स एव गण्डिः प्रकाण्डं मूलात् शाखावविप्रदेशं तं भजतीति । किं भूता शाखा । कामाङ्गुशैर्नखैः शालमाना । उत्प्रेक्ष्यते—किसलयैः पल्लवैरिव । अत्र गर्भितोत्प्रेक्षा ॥

जानुस्पृशौ शिशुभुजौ विनियन्त्रणाय

पाशाविवाब्धिदुहितुस्तरलाशयायाः ।

हस्तौ समस्तकजराजतयाप्यमुष्या

धात्राक्षतैरिव यवैः समपूजिषाताम् ॥ १०७ ॥

शिशुभुजौ कुमारबाहू जानू ऊरुपर्वणि स्पृशत इति जानुप्रलम्बौ अभूताम् । उत्प्रेक्ष्यते—तरलश्चपल आशयश्चित्तं स्वभावो वा यस्यास्तादृश्या अब्धिवदुहितुर्लक्ष्म्या विनियन्त्रणाय विशेषेण बन्धनाय एकत्रावस्थितिनिर्माणाय पाशौ बन्धनग्रन्थी इव । अपि पुनः । अमुष्य कुमारस्य करौ हस्तौ धात्रा ब्रह्मणा अक्षतैरखण्डैर्यवैः समपूजिषाताम् अर्चिताविव । समस्तानि सकलानि यानि कजानि कमलानि तेषां राजत्वेन स्वामितया आकृत्या तत्सेव्यत्वेन आविपत्यम् ॥

वक्षःशिलाकलितमञ्जुलजातरूपो

नक्षत्रभूषिततनुश्च नभोगयुक्तः ।

स्वःशाखिरुद्धहिमधीरिमराजमानः

शावः सुपर्वशिखरीव पुपोष भूषाम् ॥ १०८ ॥

शावः हीरकुमारः सुपर्वशिखरी मेरुरिव भूषा शोभा पुपोषः । शुशुभे इत्यर्थः । किभूतः शावः मेरुश्च । वक्षो हृदयं तदेव विस्तीर्णत्वात्तदुपमेयत्वाच्च शिला पृथुलप्रस्तरः तथा कलितः युतः, तथा मञ्जुलः मनोज्ञः जातमुत्पन्नः रूपः तनुवैभवः सुवर्णः च यस्य पश्चात्कर्मवारयः । पुनः किभूतः । न निषेवे क्षत्रियत्वेन राजन्यतया । 'क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा राजन्यो बाहुसंभवः' इति हैम्याम् । तथा—'क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रं क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः' इति रघौ । वणिग्जातित्वात् । नक्षत्रैर्ज्योतिश्चक्रेभूषिता अलंकृता तनुवैभवं पुनः किभूतः । न नैव भोगेन वैषयिकसुखेन बालत्वाद्राज्यादिसुखेन वा व्यवहारित्वाद् युतः । पक्षे—नभसि आकाशे गच्छन्तीति नभोगा विद्यावरा सुराश्च तैः कलितः तेषां क्रीडास्पदत्वात् । च पुनः स्वः शाखिनः कल्पवृक्षास्तद्वत्तेषां वा रुक् कान्तिर्यस्य यत्र वा । पुनः किभूतः । महिम्ना माहात्म्येनाग्रे भविष्यता । भाविनि भूतोपचारात् । धीरिम्णा स्वाभाविकेन वैर्येण अग्रेऽपि उदेष्यता धीरत्वेन देवदानवमानवप्रभुविभीषिकायामपि निश्चलत्वात् शोभमानः ॥

प्रामाण्यमस्य वहतो महतां सदस्य-

प्रामाण्यमाश्रयदुरस्तदिहास्ति चित्रम् ।

श्रीवत्स उल्लसति तस्य पुनः स वक्षः

स्थायी गभीरिमविलोकनकौतुकीव ॥ १०९ ॥

इह जगति । तदिति कर्तृपदम् । चित्रमाश्रयं विस्मयोऽस्ति यदस्य उरो हृदयमप्रा-
माण्य प्रमाणातीततामतिविशालतामनुपादेयतामाश्रयत्सेवते स्म । अस्य किं कुर्वत ।
महता महात्मना सदसि सभायाम् । समूहे इत्यर्थः । 'उडुपरिषद् किं नार्हत्वं निश किमु
नौचिती' इति नैषधे । परिषद्शब्दः समूहवाची प्रामाण्यं यथार्थवादिता मुख्यता वा य-
दयं वक्तव्याचरति । सन्मार्गं तदस्माकं महता प्रमाण एवेति प्रमाणता वहतो बिभ्रतः ।
पुनस्तस्य कुमारस्य श्रीवत्स उत्तमपुरुषाणां हृदयमध्ये कश्चिदाकारविशेषः । उल्ल-
सति शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—स श्रीवत्स गभीरिम्ण अर्थात्कुमारस्य गाम्भीर्यस्य
विलोकने विभावने कौतुकं कौतूहलमस्यस्येति कृत्वा वक्षसि गाम्भीर्याश्रये हृदये
तिष्ठत्येवशीकः स्थायी बभूवेव ॥

सान्द्रीभवत्तनुविभाभरनिर्झरिण्या

सावर्तशोण इव नाभिरमुष्य रेजे ।

वक्षःस्थलेन विपुलेन सहाभ्यसूया-

माबिभ्रतीव कटिरप्यभवद्विशाला ॥ ११० ॥

अमुष्य कुमारस्य नाभिस्तुन्दकूपिका रेजे भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सान्द्रीभवन्तीरन्ध्रो
जायमानो यस्तनोर्वपुषो विभाभरः कान्तिसमूहः स एव निर्झरिणी नदी तस्या सहाव-
र्तेन पयोविभ्रमविशेषेण युक्तः शोणः हृद इव । अपि पुनरमुष्य कटिः श्रोणिर्विशाला
विस्तीर्णा अभूद्बभूव । उत्प्रेक्ष्यते—विपुलेन विशालेन वक्षःस्थलेन हृदयेन सह सार्वभ्य-
सूयामीष्या बिभ्रती दवानेव ॥

कार्कश्यसहातलघूकृतहास्तहस्ता-

वूरू कृताविव शिशोर्नलिनासनेन ।

स्थम्भोपमो जिनमतावसथे स भावी

स्थम्भोपमा किमिति तस्य बिभर्ति जङ्घा ॥ १११ ॥

नलिनासनेन वेधसा कार्कश्यस्य कठिनतायाः सहत्या संहरणेनापनयनेन कृत्वा लघू
अल्पौ हस्तौ कृतौ यौ हस्तिनः करिणः हस्तौ शुण्डादण्डौ । उत्प्रेक्ष्यते—शिशोः कुमारस्य
ऊरूः सक्थिनी कृतौ निर्मिताविव । पुनस्तस्य कुमारस्य उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः किमु जङ्घा
स्थम्भोपमा स्थूणासादृश्यं बिभर्ति । इति किम् । यत्स हीरार्भः जिनमतमर्हच्छासनमेवा-

वसथः सौधं तस्मिन् तद्भारधरणेन स्थम्भोपमं स्थम्भस्य तुल्यं भावी भविष्यति । यथा स्थम्भो गृहाधारभूतो भवति, तथायमपि श्रीजिनशासनस्याधारभूतो भविता । ‘वज्रस्तम्भाविवैते’ इति जिनशतके जङ्घायाः स्थम्भसादृश्यम् ॥

स्पर्धोदयान्निजविवृद्धिकृतौ यदूरू

जङ्घे पुनः सरसिजन्मभुवा विभाव्य ।

तद्वृन्दविग्रहनिषेधविधिप्रभूष्ण-

सीमाकरं विरचितं किमु जानुयुग्मम् ॥ ११२ ॥

स्पर्धायाः परस्परं सहर्षस्य उदयादाविर्भावान्निजनिजयोरमात्मनोर्विशेषेण वृद्धिमुपचयं कुरुत सृजत इति निजविवृद्धिकृतौ यस्य कुमारस्य ऊरू पुनरर्थात्कुमारजङ्घे विभाव्य दृष्ट्वा सरसिजभुवा विविना । उत्प्रेक्ष्यते—तयोर्द्वन्द्वयोर्युगलयोर्विग्रहस्य मित्य कलहस्य निषेधविवौ निवारणप्रकारे प्रभूष्णं समर्थम् । अत एव सीमायाः अवधेर्विभागस्य करं विवायकं जानुयुग्मं विरचितं कृतम् ॥

शुश्रूषयासनतयानिशमाप्रसादा-

लब्ध्वा प्रसन्नमनसो वरमात्मयोनेः ।

विश्वाङ्कारविजयप्रभविष्णुलक्ष्मि

स्मेराम्बुजन्म किमु यत्पदतामवाप ॥ ११३ ॥

स्मेराम्बुजन्म विकचकमलम् । उत्प्रेक्ष्यते—यत्पदता कुमारस्य चरणत्वम् । पादावतारमित्यर्थः । किमवाप लभते स्मेव । किभूताम् । विश्वेषु जगत्सु ये अङ्कारा जैत्रप्रतिमल्ला स्वश्रीपरिस्पर्धिनः । ‘सकीर्णशकरशशाङ्कलाङ्कारैः’ इति नैषधे । तेषां विजये प्रभविष्णुः समर्था लक्ष्मीर्यस्यास्ताम् । किं कृत्वा । वरं स्वाभिलषितवाचं लब्ध्वा प्राप्य । कस्मात् । आत्मयोनेर्विवातुः । किभूतात् । प्रसन्नं प्रसादोपेतं हृष्टं मनो हृदयं यस्य । कया । आप्रसादात् प्रसादं मर्यादीकृत्य अनिशं निरन्तरमासनतया विष्टरभावेन शुश्रूषया । ‘सेवा भक्तिः परिचर्या प्रसादना । शुश्रूषारावनोपास्ति वरिव स्यापरिष्टयः ॥’ इति हैम्याम् । आसनीभूय प्रसादसमयं यावन्नित्यं सेवा विवायः ॥

यत्पादपङ्कजयुगाङ्गुलिभिः स्वकीय-

लक्ष्म्या परामवपदं गमिता प्रवाला ।

दुःखादिव द्रुमशिखाशिखरान्तरेषु

तित्यक्षवस्तनुलता निजमुद्वबन्धुः ॥ ११४ ॥

प्रवालाः पल्लवा द्रुमाणां वृक्षाणां शिखास्तासां शिखराणि अग्राणि तेषामन्तरेषु मध्येषु । उत्प्रेक्ष्यते—निजमात्मानम् । ‘श्रुत्वा निजं भीमजया निरस्तम्’ इति नैषधे । निज-

शब्देनात्मा उत् ऊर्ध्वं बबन्धुः बध्नन्ति स्म । स्व पाशपतित कुर्वते स्मेत्यर्थः । किं कर्तुमिच्छव । तिलक्षव त्यक्तुमिच्छवो विहातु कामा । कस्मात् । दुःखात् । काम् । तनुलता स्वशरीरयष्टिम् । किभूता प्रवाला । पराभवपदमभिभूतिस्थान गमिता प्रापिता । कथा । स्वकीयया आत्मीयया लक्ष्म्या श्रिया शोभया वा । काभिः । यत्पादपङ्कजयुगाङ्गुलिभिः यस्य कुमारस्य पादौ चरणाविव पङ्कजे पद्मे तयोर्युगल द्वन्द्व तस्याङ्गुलीभिः पदशाखाभिः ॥

कामद्विपेङ्कुश इवोद्भवितायमेव

कामाङ्कुशैः किमिति सूचयति स्म वेधाः ।

रत्नं यदेष भुवि सूरिभरेषु भावी

रत्नश्रिय किमु पुनर्निदधे स तेषु ॥ ११५ ॥

वेधा ब्रह्मा एतस्य कुमारस्य कामाङ्कुशैरिति नामभिर्नखैः । 'कामाङ्कुशो महाराज-करजो नखरो नखः' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—इति सूचयति स्म किम् । लोकपुर कथयति स्मेव । इति किम् । यदयं हीरकुमारः कामद्विपे स्मरहस्तिनि विषये अङ्कुश सृणिरिवोद्भविता प्रादुर्भविष्यति । सर्वथापि दुर्दम मदन यौवनेऽप्येष दमिष्यतीत्यर्थः । पुनः स ब्रह्मा तेषु कामाङ्कुशेषु । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः । अत्र इतिशब्दः पूर्वपदादेव ग्राह्यः । एककाव्यत्वात् । रत्नश्रिय माणिक्यलक्ष्मी निदधे स्थापितवान् । इति किम् । यदेष कुमारो भुवि पृथिव्या सूरिभारेष्वाचार्यव्रजेषु रत्न माणिक्यमिव भावी भविष्यति । 'नगीनो' इति प्रसिद्धः ॥

यन्मूर्तिदीधितिज्ञरेषु किमु प्ररोहा

रोमाणि कामपि रमा कलयांबभूवुः ।

ईदृग्विधा वयमिहैव न चापरत्र

वक्तुं गुणैः किमिति यन्नकृताः स्वरेखाः ॥ ११६ ॥

रोमाणि यस्य लोमलेखा कामप्यसावारणी रमा श्रिय कलयांबभूवुः वारयन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—यस्य कुमारस्य मूर्ति शरीर तस्य दीवितय परितः प्रसरत्कान्तय ता एव झरा निर्झरप्रवाहास्तेषु हस्तपद्मदयादिबहुङ्गत्वाद्बहुवचनम् । तेषु प्ररोहा नीलतृणाङ्कुरा किमु । पुनर्यत्र कुमारे औदार्यवैर्यगाम्भीर्यादिगुणैः उत्प्रेक्ष्यते । इति वक्तुं किमु जनानां पुर कथयितुमिव स्वा स्वा सरूपाणामेकशेषे एक एव स्वशब्दस्तिष्ठति रेखा लघुरूपा कृता किमु इति किम् । यत् ईदृशी विधा प्रकारो येषाम् अनन्यसामान्य-माहात्म्येन सकललोकचेतश्चमत्कारिणस्तादृशा वयं सर्वेऽपि गुणा इहैव हीरकुमारे एव स्मो वर्तमानहे, च पुनर्नापरत्र अपरस्मिन् स्थाने । एवविधा वयं सर्वथापि न स्मः ॥

स्कन्धोपधेः ककुदढौकनकं विधाय

यस्माच्छिशोर्गतिरशिक्षि ककुद्वतेव ।

अभ्यस्यते गतिरिवास्य गतानुकार-

कामेन विन्ध्यविपिनेष्वपि हास्तिकेन ॥ ११७ ॥

यस्मात् हीरनाम्न शिशो कुमारात् । उत्प्रेक्ष्यते—ककुद्वता वृषभेन गतिर्गमनमशिक्षि शिक्षितेव । किं कृत्वा । स्कन्धोपधेरसकपटात्ककुदस्य नैचिकशिरस ढौकनक प्राभृत विवाय कृत्वा । अपि पुनर्गजव्रजेन विन्ध्यस्य जलवालकशैलस्य विपिनेषु काननेषु गह्वरेषु वा । उत्प्रेक्ष्यते—गतिर्मन्थरगमनविलास अभ्यस्यते अभ्यास इव क्रियते । शिक्ष्यते वा । किंभूतेन हास्तिकेन । अस्य कुमारस्य गतस्य विलासेन मन्थरत्वेन वा गमनस्य अनुकरणमनुकारः सदृशीभवन तत्र कामोऽभिलाषो यस्य तेन ॥

लिप्ता द्रवैरिव विलीनहिरण्यराशेः

संकल्पितेव नवगन्धकलीदलैर्वा ।

किं रोचनाभिरथ वा रचिता स्मिताब्ज-

गर्भैरिवाथ घटितास्य तनुश्चकाशे ॥ ११८ ॥

अस्य कुमारस्य तनुः शरीर चकाशे दिदीपे । उत्प्रेक्ष्यते—विलीनस्य खादिराङ्गाराग्निगालितस्य हिरण्यस्य राशे कनकनिकरस्य द्रवै रसै लिप्यते स्मेति लिप्ता दिग्धेव । वा अथवा नवै सद्यस्कैर्नवीनैर्गन्धकलीदलैश्चम्पककलिकापत्रै । 'न षट्पदो गन्धकलीमजिघ्रत्' इति सूक्ते । संकल्पितेव विरचितेव । अथवा पक्षान्तरे रोचनाभिर्गोरोचननामगोपित्तविशेषद्रव्यै किमुत्प्रेक्ष्यते—रचिता निर्मितेव । अथ पुन स्मिताब्जाना विकचकमलाना गर्भैरन्तर्वर्तिसारदलैर्घटिता कल्पितेव ॥ इति हीरकुमारसर्वाङ्गवर्णनम् ॥

तस्मिन्पदं प्रविदधे गुणधोरणीभिः

सर्वाभिरर्णव इवार्णववर्णिनीभिः ।

आलोक्यते स्म च कदाचन नैषदोषै-

दोषातनैरिव तमोभिरभीश्रुमाली ॥ ११९ ॥

तस्मिन् हीरकुमारे सर्वाभि समस्ताभिरौदार्यवैर्यादिगुणधोरणीभिः पद स्थानं प्रविदधे कृतम् । कस्मिन्निव । अर्णव इव । यथा सर्वाभिरर्णववर्णिनीभिः समुद्रपत्नीभिर्नदीभिरर्णवे जलनिधौ पद स्थानं प्रविधीयते । च पुनरेष कुमार दोषैरपगुणैः कदाचन कस्मिन्नपि समये न आलोक्यते स्म न दृष्टः । क इव । अभीश्रुमालीव यथा भास्वान् दोषातनैः रात्रिजातैस्तमोभिरन्धकारैर्नालोक्यते न प्रेक्ष्यते ॥

स्वस्पर्धिनः शरभवप्रमुखानशेषा-

न्कान्त्या विजित्य विजयीव निजप्रतीपान् ।

स व्यानशे विसृमरैः स्वयशोभिराशा-

देशान्मिलत्परिमलैरिव पुष्पकालः ॥ १२० ॥

स हीरकुमार विसृमरैः प्रसरणशीलैः स्वस्यात्मनो यशोभिः कीर्तिभिः आशादेशान् दिग्विभागान् व्यानशे व्याप्नोति स्म । क इव । पुष्पकाल इव । यथा वसन्तर्तुः मिलद्भिः परस्परं सङ्गं कुर्वद्भिः परिमलैः विकसितविविधविशेषजातितरुलतोल्लसत्कुसुमसम्भवैः रामोदैर्दिशाः प्रदेशान् व्यश्नुते । किं कृत्वा । शरभवप्रमुखान् प्रतीपान् विजित्य पराजित्य । किंभूतान् । स्वेनात्मना सह श्रियाः स्पर्धनशीलान् । क इव । विजयीव यथा जैत्र । सर्वत्रापि जयवान् राजा समस्तान् प्रतिपक्षान् परिभूय विस्तरन् स्वयशोभिः सर्वांशा व्याप्नोति ॥

भूषाशनिस्फुरितशक्रधनुः समुद्य-

द्धाराङ्कितश्च जलमुक्लिश्रतजैनपादः ।

युक्तं यदा स सघनः कमलोदयेन

चित्रं तदेव सुदिनेन यदत्र जज्ञे ॥ १२१ ॥

कमलोदयेन लक्ष्म्या अभ्युद्गमेन प्रादुर्भावेन घनो दृढ आस बभूव । अयं च कमलानां पानीयानामागमेन मेघो भवति । किंभूतः स मेघश्च । भूषाणामाभरणानामशनिभ्यो वज्ररत्नेभ्यः स्फुरितानि प्रकटीभूतानि शक्रधनूषि इन्द्रचापचक्राणि यत्र । 'वृता विभूषा मणिरत्नकामुकैः' इति नैषधे । तथा 'एतान्युल्लसन्मणिमयूखमञ्जरीरचितेन्द्रचापचक्राण्याभरणानि' इति चम्पूकयायाम् । भूषाशब्दो भूषणवाची । 'न भूषयेष्वाविचकास्ति किं तु सा' इति नैषधे । भूषणैः कृत्वा एषा अविका न चकास्तीति तद्वृत्तिः । तथा समुद्यता दीप्यमानेन हारेण मुक्ताकलापेन अङ्कितः कलितः । भूषायाः शोभायाः कारिणी अशनिविद्युद्यत्र । तथा प्रकटीभूतमिन्द्रवनुर्यत्र । तथा समुद्यन्त्यो निष्पतन्त्यो धारा जलवृष्टयस्ताभिरङ्कितः । पुनः किंभूतः । डलयोरैक्यात् जडानज्ञानं अज्ञानभाजो वा मुञ्चन् दूरं त्यजन् । घनस्तु जलानि पानीयानि वर्षन् । पुनः किंभूतः । श्रितः आश्रितः जिनस्यार्हतो विष्णोश्च अयं जैनः पादश्वरणं तीर्थकृत्पादौ विष्णुपदं च येन एतद्युक्तमुक्तम् । परं तदेव चित्रमाश्चर्यमासीत् । यदत्र कुमारे सुदिनेन शासनदिवसेन जातः जज्ञे । घने मेघे तु दुर्दिनेन जायते ॥ इति कुमारगुणलक्षण-भूषणादिवर्णनम् ॥

क्रीडञ्जयन्त इव यज्ञभुजां कुमारैः

पौराङ्गजैः सह वयोविभवानुरूपैः ।

कालक्रमेण परिवर्तमसौ दिनानां

श्रीमत्कुमारमघवा गमयांबभूव ॥ १२२ ॥

असौ हीरनामा श्रीमत्सु धनाढ्येषु शोभावत्सु वा कुमारेषु अपरिगृहीतकलत्रेषु म-
घवा सर्वोत्कृष्टविभूत्याधिक्यादिन्द्र कालक्रमेण समयपरिपाद्या दिनानां दिवसानां परि-
वर्तं क्षेपम् । अतिक्रमणमित्यर्थः । गमयांबभूव अतिवाहयति स्म । वासरानतिक्रामति
स्मेत्यर्थः । किं कुर्वन् । क्रीडन् खेलन् नानाविधबाललीलां कलयन् । कथम् । सह ।
कै सह । पौराङ्गजैर्नागरिककुमारैः । किंभूतैः । वयो यादृक्ष हीरकुमारस्य वयं वा
ल्यशेषरूपं तथा विभवो द्रव्यं तयोरनुरूपैः कथञ्चित्सदृशैः । क इव । जयन्त इव । यथा
पुरदरनन्दनो जयन्त यज्ञभुजा देवानां कुमारैः पुत्रैः समं क्रीडति ॥

तस्यानुजो गजगतेः शतकोटिपाणे.

श्रीपाल इत्यजनि विष्णुरिवाद्रिदस्यो ।

द्वे अग्रजे स्म भवतः पुनरस्य जामी

राणी परा च विमला कमलानुरूपे ॥ १२३ ॥

तस्य हीरकुमारस्य श्रीपाल इति नाम्ना अनुजो लघुभ्राता अजनि सजातः । तस्य
किंभूतस्य । गजगते गजवन्मत्तगजराज इव गतिर्गमनं यस्य । पुनः किंभूतस्य । शत
शतशः कोटयः द्रव्याणां शतलक्षाः पाणौ हस्ते यस्य शतैर्मिता वा कनककोटयो हस्त-
प्राप्या यस्य तदविपत्वात् । कस्येव । अद्रिदस्योरिव । यथा गजेनार्थादैरावणेन गमनं
प्रस्थानं यस्य तथा शतकोटिर्वज्रपाणौ यस्य तादृशस्य अद्रिदस्यो पर्वतरिपोरिन्द्रस्य
विष्णुः कृष्णनामा लघुसहोदरो जज्ञे । किंभूतः । श्रियः लक्ष्मीः भर्तृत्वेन पालयतीति
श्रीपालः । कुमारोऽप्याकृत्या वज्रपाणिः । पुनः कुमारस्य द्वे उभे जामी भगिन्यौ भवतः
स्म सजाते । किंभूते । अग्रजे ज्येष्ठे वृद्धे । द्वे के । एका 'राणी', च पुनः परा अन्या
विमला इति नाम्नी द्वे । किंभूते । कमलाया रूपश्रिया लक्ष्म्या अनुरूपे सदृशे ॥

कृत्वा विलासमवनीवलये यथेच्छं

सोत्कण्ठयोर्विलसितुं सुरसद्वनीव ।

पित्रोरथ त्रिदशपद्मदृशा क्रमेण

दृग्गोचरं गतवतोर्भजतोः समाधिम् ॥ १२४ ॥

कृत्वौर्ध्वदेहिकमसौ विधिना विधिज्ञो

वश्यैर्निजैः सह चिरस्य निरस्य शोकम् ।

उत्कः कदापि मिलितुं विमला स्वजामि

• जज्ञे महेभ्यः कलभो जयवज्जयन्तीम् ॥ १२५ ॥

अथानन्तर कदापि कस्मिन्नपि समये असौ वर्ण्यमान महेभ्यस्य कुराव्यवहारिणः
 कलभ कुमारः । इमाद्रजाद्भव इभ्यः कलभ यथा कुले भवः कुल्यस्तथायमपीति । वि-
 मला नाम्नी निजभगिनी मिलितुमुत्कण्ठित उत्सुको जज्ञे जातः । किवत् । जयवत् ।
 यथा जयो वासवसूनुः जयन्ती स्वजामि शक्रपुत्री मिलितुमुत्कण्ठावान् भवति । किं
 कृत्वा । चिरस्य चिरकालेन शोकप्रेमबन्धाज्जातपरितापनिरस्य त्यक्त्वा । शोकहेतुमाह—
 किं कृत्वा । कृत्वा विधाय । किम् । और्ध्वदेहिक परलोकगमनदिवसे दानजलाञ्जलिप्र-
 मुखम् । कयो । पित्रोः स्वजननीजनकयोः । कथम् । सह । कैः । वश्यैर्गौत्रिभिः ।
 किंभूतैः । निजैरात्मीयैः । केन । विधिना यथोक्तलोकप्रकारेण । असौ किंभूतः ।
 विधिमाचारं जानातीति विधिज्ञः । पित्रोः किं कुर्वतोः । समाधिधर्मध्यानभजतो
 सेवमानयोः । पुनः किंभूतयोः । गतवतोः प्राप्तवतोः । कम् । दृग्गोचरनयनविषयम् ।
 कासाम् । त्रिदशानां देवानां पद्मदशास्त्रीणां देवाङ्गनानाम् । स्वर्गतयोरित्यर्थः । केन क्र-
 मेण । आयुपर्यन्तसमयपरिपाट्या । उत्प्रेक्ष्यते—सुरसद्मनि देवलोके विलसितुं क्रीडितुं
 सोत्कण्ठयोः सह उत्कण्ठया वर्तते यौ तौ तादृशयोरिव । औत्सुक्ययुक्तयोरित्यर्थः ।
 किं कृत्वा । अवनीवलये भूमण्डले विलासभोगोपभोगादिक्रीडा निर्माय । कथम् ।
 यथेच्छस्वाभिलाषपूरणपर्यन्तम् । कुमारावस्थायामपि तस्य शौण्डीर्यातिशयदर्शयितुं
 कलभशब्दग्रहणम् । कलभस्त्रिशदब्दकः ॥

गन्तुं ततः स्पृहयता प्रति पत्तनं स्व-

भृत्येन तेन सतुरङ्गयुगं शताङ्गम् ।

आनाय्यते स्म नमुचेर्दमनेन जम्बू-

द्वीपविमानमिव पालकनिर्जरेण ॥ १२६ ॥

ततो भगिनीमिलनोत्कण्ठानन्तरं तेन हीरकुमारेण कर्त्रा स्वभृत्येन निजसेवकेन कृत्वा
 शताङ्गो रथ आनाय्यते स्म आनायितः । किंभूतः शताङ्गः । सह तुरङ्गयोरश्वयोर्युगेन
 युगलेन वर्तते यः सः । तेन किं कुर्वता । पत्तनमणहिल्लनामपुटभेदनं गन्तुं प्रस्थातुं
 स्पृहयता इच्छता । केनेव । नमुचेर्दमनेनेव । यथा नमुचिनामा दैत्यविशेषस्तस्य
 हन्त्रा पुरदरेण जिनेन्द्राणां जन्मादिकल्याणकेषु महोत्सवकरणार्थां जम्बूद्वीपं प्रति ग-
 न्तुमिच्छता पालकनाम्ना निर्जरेण पालकाख्यविमानमानाय्यते ॥

त पारियानिकमसावधिरुह्य भूमी-

मार्गे नभस्वदतिपातिरथाश्ववाह्यम् ।

हैमं शताङ्गमथ सारथिना सनाथ

पाथोजपाणिरिव नाकिपथे प्रतस्थे ॥ १२७ ॥

अथ जामिमिलनोत्कण्ठया अनुसेवकपार्श्वे रथानयनानन्तरम् असौ कुमारः भूमी-

मार्गे पृथ्वीपथे प्रतस्थे प्रचलित । किं कृत्वा । त प्राक् सेवकेनानायित पारियानिकम-
ध्वरथमधिरुह्य अध्यास्य । किंभूत पारियानिकम् । नभस्वन्त वायुम् अर्थाद्वायुवेगम-
तिपतति अतिक्रामतीत्येवशीलो वातादप्यविको रयो वेगो ययोस्तादृशाभ्यामश्वभ्या
तुरङ्गाभ्या वाह्यम् वहनयोग्यम् । पुन किंभूतम् । सारथिना सूतेन सनाथ सहितम् ।
पुन किंभूतम् । हैम स्वर्णमयम् । क इव । पाथोजपाणिरिव । यथा भास्वान् सुवर्णसं-
बन्धिन स्यन्दनमाश्रित्य नाकिपथे गगने प्रतिष्ठते । सूर्यरथस्यापि विशेषणानि वायुरंहो
विजयि वेगवाजि वहनीय काञ्चनमयमरुणसारथियुक्त च पाथोजे कोकनदे इवारुणौ
मृदुलौ च सुकुमारौ पाणी हस्तौ यस्येति कुमारस्यापि विशेषणम् ॥

कालं कियन्तमुदयान्तरितं तपस्या-

साम्राज्यसग्रहविधौ प्रविलम्बमानः ।

सप्राप्य पत्तनमसौ मुदितः स्वजामे-

श्चौलुक्यवद्भवनभूमिमलचकार ॥ १२८ ॥

असौ हीरकुमारः पत्तनमणहिल्लपुरं सप्राप्य आसाद्य मुदितो हृष्टः सन् स्वजामे
स्वभगिन्या भवनभूमिं गृहभूमिमलचकार भूषयति स्म । किंवत् । चौलुक्यवत् । यथा
कुमारपालः पत्तनमागत्य प्रमुदितः स्वभगिन्या गेहमलकृतवान् । किं कुर्वाणः । प्रवि-
लम्बमानः प्रविलम्बः विदधानः कालक्षेपः निर्मिमाणः । कः कर्मतापन्नम् । कियत्परिमा-
णमस्येति कियान् त कियन्तः कालः कियत्समयः यावत् किकालम् । उदयः सूरिपदल-
क्षणो महोदयः अन्तरितः अन्तरः व्यवधानः सजातमत्रेत्यन्तरितः । कस्मिन् । तपस्या
दीक्षा सैव साम्राज्यः सकललोकैश्वर्यं तस्य सग्रहः उपादानं तस्य विधौ प्रकारे । चौलु-
क्यस्यापि गुर्जरमण्डलराज्यसग्रहे ॥

तं जङ्गमं त्रिदशसालमिव स्वपुण्य-

प्राग्भारमङ्गिनमुतागतमात्मधाम्नि ।

दृष्ट्या निवातसरसीजसगर्भया स्व

बन्धुं निपीय विमला मुमुदे हृदन्तः ॥ १२९ ॥

त हीरकुमारः स्वबन्धुं निजसहोदरं दृष्ट्या नयनेन निपीय सादरमवलोक्य विमला
विजयसिंहमहेभ्यमहिला हृदन्तर्मनोमन्त्रे मुमुदे जहर्षः प्रीता । किंभूतया दृष्ट्या । नि-
वातः वातरहितः यत्सरसीजः पद्मं तस्य सगर्भया सदृशया सहोदरया वा । 'निवातपद्म-
स्तिमितेन चक्षुषा' इति रघुवशे । त किंभूतम् । आत्मधाम्नि स्वगृहे विमलामन्दिरे
समागतम् । उत्प्रेक्ष्यते—जङ्गमः प्रचलन्तः त्रिदशसालः कल्पवृक्षमिव । उत अथवा अ-
ङ्गिनः मूर्तिमन्तः स्वपुण्यस्य निजसुकृतस्य प्राग्भारमतिशयमिव ॥

कादम्बिनीव सलिलैः सुरशैलशृङ्गं

हर्षाश्रुभिः स्वसहज स्नपयत्यमन्दम् ।

संबिभ्रतं कनककेतककान्तकायं

तं स्वागतादि भगिनी परिपृच्छति स्म ॥ १३० ॥

भगिनी विमला त स्वसहज निजभ्रातर प्रति स्वागतादि सुखागमनकुशलप्रश्नालाप-
प्रमुख परिपृच्छति स्म प्रश्नयामास । त कि कुर्वन्तम् । कनककेतकवत् काञ्चनककच-
च्छद इव कान्त मनोज्ञ काय गाङ्गेयगौराङ्गयष्टी संबिभ्रत धारयन्तम् । भगिनी कि कु-
र्वती । अमन्द बहु यथा हर्षाश्रुभिः प्रमोदनिष्पतन्नयनबाष्पपानीयै स्नपयन्तीव इति
गर्भोत्प्रेक्षा । केव । कादम्बिनीव । यथा मेघमाला सलिलैर्निजजलैः सुरशैलस्य मेरो
शृङ्ग शिखर स्नपयति । 'चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम्' इति कल्याणमन्दिरस्तोत्रे
मेरावपि मेघसद्भावा ॥

विज्ञातपूर्वजननीजनकप्रवृत्ते

प्रेम्णा निगद्य कुशलादिकमात्मजामे ।

विद्याभृतां कुमरवत्कलधौतकान्तं

वैताढ्यशृङ्गमयमासनमध्युवास ॥ १३१ ॥

अथ कुमार आसन विष्टरमध्युवास उपविशति स्म । किभूतमासनम् । कलधौतेन
रजतेन काञ्चनेन वा कान्त मनोज्ञम् । तद्वदितमित्यर्थ । 'कलधौत स्वर्णरूप्ययो' इत्यने-
कार्थ । किवत् । विद्याभृता विद्यावराणा कुमरवत् यथा खेचराणा कुमारो रूप्यमय
वैताढ्यस्य भरतादिक्षेत्रोभयभागकारिमध्यवर्तिपर्वतस्य शृङ्ग शिखरमधिवसति । कि
कृत्वा । कुशलप्रमुखस्ववृत्तान्तमात्मन स्वस्य जामेर्भगिन्या प्रेम्णा स्नेहेन निगद्य क-
थयित्वा । किभूताया भगिन्या । विज्ञातपूर्वा पूर्वमेवावबुद्धा जननी माता जनक पिता
तयो प्रवृत्ति परलोकगमनवार्ता यया तस्या ॥

अनेन गोष्ठीमनुतिष्ठतात्मजामेर्मनोव्याहृतिवैदुषीभिः ।

अनन्यवृत्ति क्रियते स्म विज्ञै रसातिरेकै रसिकस्य यद्वत् ॥ १३२ ॥

अनेन हीरकुमारेण आत्मजामेर्निजभगिन्या मनश्चित्तमनन्यवृत्ति न विद्यते अन्या
परा वृत्तिर्व्यापारो यस्य । अथ वा न विद्यते अन्यस्मिन् स्थानके वर्तन श्रवणेक्षणादि-
लक्षण यस्य यत्र वा तत् । एकतानमित्यर्थ । क्रियते स्म । काभि । व्याहृतिभिर्वैदुषी-
भिर्वचनचातुरीभिः । अनेन कि कुर्वता । गोष्ठीमात्मीयामन्या वा वार्तामनुतिष्ठता विद-
धता । कैरिव । पण्डितैः । शृङ्गारादीना नवाना रसानामतिरेकैराधिक्यैरतिशयैश्च कृत्वा
रसिकस्य सर्वरसवेत्तुरतिचातुरीभाज मनोऽनन्यव्यापार विधीयते ॥

पदे पदे यत्पुरकौतुकानि निरीक्षमाणः क्षणदाकरास्यः ।

निजैर्गुणैर्हार इवैष हीरो व्यधत्त वासं हृदये मनस्विनाम् ॥ १३३ ॥

एष कुरानाथीनन्दनो हीरो निजैरात्मीयैर्गुणैः सौन्दर्यादिभिर्मनस्विना महता चतुराणां हृदये मनसि वासं वसति व्यधत्त चकार । क इव । हार इव । यथा मुक्ताकलापो गुणैस्तन्तुभिः सूत्रप्रोतत्वेन हारस्य मनस्विना हृदये वक्षसि । 'हृदय मनो वक्षश्च' इत्यनेकार्थः । 'परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः' इति चम्पूकथायाम् । काव्यपरस्यान्यप्राज्ञस्य हृदये लग्नं चमत्कृतं बाणपरस्य वैरिणो हृदये वक्षसि लग्नं मर्मप्रविष्टमिति तद्विपनकम् । वासं स्थानं कुरुते । किंभूतः हीरः । क्षणदाकरश्चन्द्रस्तद्वदाननमुखः यस्य सपूर्णचन्द्रवदनः । किं कुर्वाणः । पदे पदे स्थाने स्थाने यत्पुरस्याणहिल्लवाटकपत्तनस्य कौतुकान्याश्चर्याणि निरीक्षमाणः विलोकमानः ॥

हरिरिव गिरिकुञ्जे मानसैर्मानसौका

इव करकमले वा श्रीपतेः पाञ्चजन्यः ।

मुररिपुरिव वार्धौ स स्वसुर्धाम्नि तिष्ठ-

न्कमपि कलयति स्म श्रीभरं शावसिहः ॥ १३४ ॥

स हीरनामा शावेषु कुमारेषु शौर्यस्फूर्त्यां सिंह इव सिंहः पञ्चाननः श्रीभरः शोभाति-शयः कलयति स्म दधारः । किं कुर्वन् । स्वसुर्वृद्धभगिन्या विमलानाम्न्या वाम्नि मन्दिरे तिष्ठन् वसन् स्थितिं कुर्वन् । क इव । हरिरिव । यथा केसरी गिरेः पर्वतस्य कुञ्जे गह्वरे वने वा निवसति । पुनः क इव । मानसौका इव । यथा राजहंसो मानसनामनि सरसि स्थितिं विवत्ते । वा पुनः क इव । पाञ्चजन्य इव । यथा देवतादत्तो हरिणैव वादनयोग्यः पाञ्चजन्यनामा शङ्खः श्रीपतेर्नारायणस्य करकमले पाणिपद्मे तिष्ठति । अत्र इव-शब्दो लालाघण्टावदुभयत्र योज्यः । पुनः क इव । मुररिपुरिव । यथा नारायणो वार्धौ अर्थात् क्षीरसमुद्रे वसति विवत्ते ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमघवाः सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिहसीहविमलान्तेवासिनामग्निमम् ।

तद्भास्वीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गस्तृतीयोऽभवत् ॥ १३५ ॥

यं प्रासूतेति । देवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये हीरविजयसूरीश्वरचरित्रे तृतीयः सर्गः ॥

इति पण्डितदेवविमलगणिविरचितायां स्वोपज्ञहीरसौभाग्यनामकाव्यवृत्तौ गर्भधारण-दोहदगर्भसमयलक्षणाविर्भावनजन्मजन्मपत्रिकाजन्ममहोत्सवबालक्रीडापठनसर्वाङ्गलक्षण-मातृपितृपरलोकगमनपत्तनस्थभगिनीगृहागमवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ॥

चतुर्थं सर्ग ।

अथो पुरासन्भरते वृषाङ्कमुखाश्चतुर्विंशतितीर्थनाथाः ।

बाह्यान्तबाह्यानि तमांसि हन्तुं कृतद्विरूपा इव भानुमन्तः ॥ १ ॥

अथेति चतुर्थसर्गप्रारम्भे अथवा श्रीविजयदानसूरिसमागमनप्रक्रमसमये तत्पूर्वं पञ्चवलीप्रकटनप्रस्तावे पुरा पूर्वं तृतीयारकपर्यन्तचतुर्थारकमध्ये भरते भरतनाम्नि क्षेत्रे वृषाङ्कप्रमुखा ऋषभदेवादिका । यथा ऋषभ-अजित-शभव-अभिनन्दन-सुमति-पद्मप्रभ-सुपार्श्व-चन्द्रप्रभ-सुविवि-शीतल श्रेयास वासुपूज्य-विमल-अनन्त-वर्म-शान्ति-कुन्थु-अर-मल्लि-मुनिसुव्रत नमि-नेमि-पार्श्व-वर्धमान नामानश्चतुर्विंशतिसख्याकास्तीर्थनाथा जिनेन्द्रा आसन्नभूवन् । उत्प्रेक्ष्यते—कृते द्वे द्वे मूर्तीं रूपे यैरेतावता चतुर्विंशतिरूपा द्वादश भानुमन्तः सूर्या इव द्वादशाना द्विर्वार गणनया चतुर्विंशति स्यात् । किं कर्तुम् । बाह्यानि बहिर्लोकान्तर्वर्तीनि अबाह्यानि प्राणिनामन्तरङ्गवर्तीनि हृदयस्थानि तमास्य-न्धकाराणि अज्ञानानि पापानि वा हन्तुं व्यापादयितुं भानवो हि नामभिर्ध्वान्तारातयः ॥

इक्ष्वाकुवंशाम्बुधिशीतभासा द्वाविंशतिस्तीर्थकृतां बभूव ।

यया तम पङ्कमपास्य पन्थाः प्राकाशि सिद्धेः शरदेव विश्वे ॥ २ ॥

तेषां जिनानां मध्ये इत्यध्याहारः । ऋषभदेवस्य शक्रप्राभृतानीतेक्षुयष्टेराखादनाश-येन शक्रप्रतिष्ठापितेक्ष्वाकुवशः स एवाम्बुवि समुद्रस्तत्र क्षीरभासश्चन्द्रास्तादृशानां तीर्थकृतां जिनानां द्वाविंशतिर्द्वाभ्यामविकां विशतिर्बभूव जाता । द्वाविंशतिर्जिनेन्द्रा इक्ष्वाकुकुले समुत्पन्ना इत्यर्थः । यया जिनद्वाविंशत्या विश्वे जगति सिद्धेर्मोक्षस्य पन्थां मार्गं प्राकाशि प्रकाशितं प्रकटीकृतं । किं कृत्वा । तमोऽज्ञानं पापं वा तदेव मालि-न्यकारित्वात्पङ्कमपास्य निराकृत्य । कथमेव । शरदेव । यथा घनात्ययेन पङ्कमं विशोष्य पन्थां प्रकटं क्रियते ॥

बभूवतुर्द्वौ भुवनप्रदीपौ जिनौ यदूनां पुनरन्ववाये ।

अरिष्टनेमिर्मुनिसुव्रतश्च स्फूर्जद्भुजाविन्द्रियवेश्मनीव ॥ ३ ॥

पुनर्द्वौ जिनौ तीर्थकरौ यदूनां यादवानामन्ववाये वशे बभूवतुर्जाता । किंभूता जिनौ । भुवनेषु त्रिषु सप्तसु वा चतुर्दशसु वा एकविंशतौ वा । 'भुवनानि निबन्धीयात् त्रीणि सप्त चतुर्दश' इति वाग्भटालकारे । वृत्तौ एकविंशतिरपि इति वचनात् । तत्प्रमितेषु जगत्सु प्रकाशकारकत्वेन प्रदीपाविव प्रदीपौ । द्वौ कौ । एकः अरिष्टनेमिर्द्वाविंशतितमस्तीर्थनाथः । च पुनरपरो मुनिसुव्रतनामा विंशतितमस्तीर्थकरः । पदयोजनया कथञ्चित्पञ्चानुपूर्व्यां समानीतौ स्तः । काविव । स्फूर्जद्भुजाविव । यथा ऊर्जस्वलौ दोर्दण्डौ इन्द्रियवेश्मनि शरीरे स्याताम् । अत्र हेमाचार्योक्तस्य इन्द्रियायतनमिति परपर्यायस्य परावर्तनम् । 'जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम्' इति नैषधोक्तवचनादिदमपि ॥ इति जिनाः ॥

सिद्धार्थभूकान्तसुतो जिनानामपश्चिमोऽजायत पश्चिमोऽपि ।

शशी व्यभात्पङ्किलपङ्कजास्यकादम्बवद्यस्य यशःसुधाब्धौ ॥ ४ ॥

सिद्धार्थनामा भूकान्त पृथ्वीपति तस्य सुतो नन्दन महावीरदेव स अजायत जज्ञे । किभूतः । पश्चिमोऽपि सन् जिनाना सामान्यकेवलिना मध्ये अपश्चिम आद्य । तत्तीर्थे प्रथम वीरस्यैव केवलज्ञानोत्पन्नत्वेन । ‘अपश्चिमो विपश्चिताम्’ इति चम्पूकथा-याम् । स क । यस्य यश सुधाब्धौ कीर्तिरेव सुधाब्धि क्षीरसमुद्रस्तस्मिन् शशी चन्द्र । पङ्किल कर्दमाकलित पङ्कज कमलमास्ये मुखे यस्यैवविधकादम्बवत् राजहंस इव व्यभात् भाति स्म ॥

बाल्येऽपि हेमाद्रिरकम्पि येन प्रभञ्जनेनेव निकेतकेतुः ।

श्रीद्वादशाङ्गी च यतः प्रवृत्ता गुरोर्गिरीणामिव जहुकन्या ॥ ५ ॥

येन महावीरेण बाल्ये शैशवेऽपि जातमात्रावस्थायामपि जन्माभिषेकसमये हेमाद्रि-मैरुरकम्पि कम्पित । णिगन्तोऽय प्रयोग । केनेव । प्रभञ्जनेनेव । यथा वायुना नि-केतकेतु । ‘निकेत परितो भ्रमन्’ इति पाण्डवचरित्रे । गृहोपरिध्वजः कम्प्यते । च पुनर्यतो महावीरात् द्वादशाङ्गी गणिपिटक प्रवृत्ता प्रावर्तत । कस्मादिव । गुरोरिव यथा गिरीणा गुरोर्हिमाचलात् जहुकन्या गङ्गा प्रवर्तते स्म ॥ इति महावीर ॥

एकादशासन्गणधारिधुर्याः श्रीइन्द्रभूतिप्रमुखा अमुष्य ।

आर्योपयामे पुनराप्तमूर्तिं रुद्राः स्मरं हन्तुमिवेहमानाः ॥ ६ ॥

अमुष्य महावीरदेवस्य श्रिया शोभया लब्धिलक्ष्म्या वा युक्ता इन्द्रभूतिर्गौतमनामा प्रमुख आद्यो येषा तादृशा एकादशसख्याका इन्द्रभूति-असिभूति-वायुभूति-व्यक्त-सुवर्मस्वामि मण्डित सौर्यपुत्र अकम्पित अचलभ्राता मतार्य-प्रभासाभिवाना गणधारिणा गच्छ बिभ्रतीति गणधारिणस्तेषा मध्ये दुर्या दुरवरा आसन् जज्ञिरे । उत्प्रे क्ष्यते—पुनर्द्वितीयवार स्मर मदन निहन्तु जीविताद्यपरोपयितुमीहमाना काङ्क्षन्त । एका-दशसख्याका रुद्रा इव प्रकटीभूता इत्यर्थः । किभूत स्मरम् । पूर्वशरीरापेक्षया दा-हानन्तरमपरवारमार्याया पार्वत्या उपयामे पाणिग्रहणसमये आप्ता स्मरोपरि प्रसन्नी-भवनविज्ञप्तिकारि सुराननुगृह्य प्रसन्नीभूतभूतपतिवरात् लब्ध्वा मूर्तिं शरीर येन तम् ॥

बभूव मुख्यो वसुभूतिसूनुस्तेषां गणीनामिह गौतमाह्वः ।

यो वक्रभावं न बभार पृथ्वीसुतोऽपि नो विष्णुपदावलम्बी ॥ ७ ॥

इह जगति महावीरशिष्येषु वा तेषामेकादशाना गणीना गणधारिणा मध्ये वसुभू-तिनाम्नो ब्राह्मणस्य सूनु पुत्रो मुख्य विविवलब्धिसपन्नत्वात्प्रकृष्ट अथ वा मुखे आदौ भवो मुख्यः प्रथम सर्वेषा पूर्व दीक्षितत्वात् प्रथमगणवरत्वाद्वा बभूव । किभूतो वसु-भूतिसूनु । गौतम इत्याह्वा नाम यस्य स । यो गौतम पृथ्व्या ब्राह्मण्या क्षितेश्च सु-

तोऽपि पुत्रोऽपि सन् वक्रभाव कुटिलस्वभाव न बभार धत्ते स्म । पुनर्विष्णोर्नारायणस्य पद चरणमालम्बते आश्रयते सेवते इत्येवशीलोऽपि न नैव विष्णुभक्त । महावीरगणधारित्वात् । अथ च पृथिव्या सुतो मङ्गलनामा ग्रह स तु वक्रभाव वक्रनामत्वम् । ‘आरो वक्रो लोहिताङ्गो मङ्गलोऽङ्गारक कुज’ इति मङ्गलनामानि हैम्याम् । अथ च विष्णुपदमाकाशमवलम्बते भजते इत्येवशीलोऽस्ति । ज्योतिश्चक्रस्य नभःस्थत्वात् ॥

यत्पाणिपद्मः स पुनर्भवोऽपि दत्ते नतानामपुनर्भवं यत् ।

शिष्यीकृता येन भवं विहाय शिवं श्रयन्ते च तदत्र चित्रम् ॥८॥

तत्प्रसिद्धमत्र जगति चित्रं महदाश्चर्यं दृश्यते । तत्किम् । यत् यस्य गौतमस्वामिनः पाणिपद्मं करकमलं सह पुनर्द्वितीयवारं भवनमुत्पत्तिस्तेन सह वर्तते यस्तादृशोऽपि सन् न विद्यते पुनरन्यवारं भवोऽवतारो यत्र तं नतानां प्रणमजनानां दत्ते विश्राणयति । तत्त्वतस्तु कामाङ्कुशकलितो मोक्षं ददाति । ‘कामाङ्कुशो महाराज करजो नखरो नख । करशूको भुजाकण्ठः पुनर्भवपुनर्भवौ ॥’ इति हैम्याम् । तथा तत्रैव ‘महानन्दोऽमृतसिद्धिः कैवल्यमपुनर्भवः’ इति च । पुनर्येन गौतमेन शिष्यीकृता स्वविनेया विहिताः सन्तो नरा भवमीश्वरं विहाय त्यक्त्वा शिवं शम्भुं श्रयन्ते भजन्ते भवः स एव शिवश्च । तत्त्वतस्तु भवः ससारं त्यक्त्वा शिवं मोक्षं यान्ति गौतमदीक्षितानां सर्वेषामपि केवलज्ञानोत्पादात् ॥

सूर्यस्य रश्मीनवलम्ब्य वज्रावलम्बरश्मीनिवयः शयाम्याम् ।

नन्तुं जिनानार्षभिकृतमूर्तीनांष्टापदोर्वीधरमारुरोह ॥ ९ ॥

यो गौतमस्वामी स्वलब्ध्या योऽष्टापदमारोहति सोऽवश्यं तद्भवे एव सिद्धिगामीति देववाचं निशम्य प्रश्नानन्तरं भगवतापि तथैव प्रतिपादिते भगवदाज्ञादानपूर्वकमष्टापदनामानमुर्वीधरं कैलाशशैलमारुरोहाधिरूढवान् चढितः । किं कृत्वा । अवलम्ब्य आश्रित्य । काभ्याम् । शयाम्यां स्वहस्ताभ्याम् । कान् । सूर्यस्य रश्मीन् किरणान् । लूता उर्णनाभः कोलिकस्तस्यास्याद्वदनाद्विनिर्गता जालतन्तवः तान् वा । ‘तपःकृशाङ्गास्तं शैलमारोढुं न वयं क्षमाः । चढिष्यति कथं प्रौढदेहोऽयं गजराजवत् ॥ पश्यत्सु तेषु मार्तण्डकरानालम्ब्य गौतमः । गणभृन्निजलब्धैवाष्टापदोर्ध्वं ययौ ध्रुवम् ॥’ इति ऋषिमण्डलवृत्तौ । ‘सूर्यस्याशून् समाश्रित्य तेषामुत्पश्यतामपि । स गरुत्मानिवोद्धीय ययौ मङ्गु गिरेः शिरः ॥’ इति वृन्दारवृत्तौ । रविकिरणावलम्बनम् । तथा ‘भयं गोयमो जङ्घाचारणलट्ठीपल्लतापुङ्गवमिनिस्माए उद्गुप्पयइ जाव ते पलायन्ति’ इत्यावश्यकद्वावित्सहस्र्याम् । मलयगिरिवृत्तावप्ययमेव पाठः । लूतातन्त्ववलम्बनमिति पाठद्वयमपि शास्त्रानुसारि । अथ प्रस्तुते । उत्प्रेक्ष्यते—वज्रस्य वज्ररत्नविनिर्मितानित्यर्थः । अवलम्बार्थमालम्बनकृते रश्मीन् गुणान् रज्जूरिव । किमर्थमारुरोहः—नन्तु नमस्कर्तुम् । कान् । जिनानां तुर्विंशतितीर्थकृतः । किंभूतान् । ऋषभस्यापत्यमार्षभभिर्भरतचक्रवर्ती तेन

कृप्ता निर्मिता मूर्तय प्रतिमा येषाम् । स्वस्ववर्णप्रमाणोपेतचतुर्विंशतिजिनबिम्बान्नम-
सितुमित्यर्थ ॥

कथ लभेतास्य तुलां सुरद्रुर्यद्यस्य नामापि पिपतिं कामान् ।

तपस्वितोऽप्यभ्यवहारयन्त्यो द्विधामृतास्वादजुषः पुपोष ॥ १० ॥

अस्य गौतमस्वामिन तुला साम्य सुरद्रु कल्पवृक्ष कथ केन प्रकारेण लभेत । य-
त्कारणात् यस्य गौतमस्य नामापि अभिवानमपि कामान् जनाना मनोरथान् पिपति
पूरयति । ‘यस्याभिवान मुनयोऽपि सर्वे गृह्णन्ति भिक्षाभ्रमणस्य काले । मिष्टान्नपाना-
म्बरपूर्णकामा स गौतमो यच्छतु वाञ्छित मे ॥’ इति पूर्वाचार्यकृतस्तुत्युक्ते । तथा
गृहमेविनोऽपि व्यापारादिकार्यं कुर्वाणा गौतमस्वामिनी लब्धिवरित्युच्चरन्ति च । अथ
कल्पवृक्षाभिधानग्रहणेन कोऽप्यर्थो न सरीसर्पिं तस्मात्कल्पतरूपमान न स्यादस्येति अपि
पुनर्यस्तपस्विनस्तापसानभ्यवहारयन् पायस भोजयन् सन् द्विधा द्वाभ्या प्रकाराभ्या कृत्वा
अमृतस्य सुधाया मोक्षस्य वा स्वाद भोग जुषन्ते सेवन्ते तादृशान् पुपोष । चकारेत्यर्थः ।
प्रथमममृतोपम पायसमाकण्ठ भोजयित्वा तत सिद्धिवधूविलासरसिकाश्च कृतवान्, ए-
तदपि महदाश्चर्यमस्ति ॥ इति गौतमस्वामी ॥

आसीत्सुधर्मा गणभृत्सु तेषु श्रीवर्धमानप्रभुपट्टधुर्यः ।

विहाय विश्वे सुरभीतनूजं क. स्तात्परो धुर्यपदावलम्बी ॥ ११ ॥

तेषु गौतमादिषु गणभृत्सु गणवरेषु श्रीवर्धमानप्रभो श्रीमहावीरस्वामिन पट्टे पदे
धुर्य धुरवर सुधर्मानामा गणधर आसीत् । युक्तोऽयमर्थः । सुरभीतनूज सुरभीशब्दो
दीर्घईकारान्तोऽपि दृश्यते । यथा कल्पकिरणावल्याम्—‘स्वप्ने मानवमृगपतितुरङ्गमात-
ङ्गवृषभसुरभीभिः’ इति । तथा पाण्डवचरित्रेऽपि—‘दक्षिणस्या दिशः सर्वे नीयन्ते सुर-
भीगणाः’ इत्युक्ते । विहाय त्यक्त्वा परोऽन्य को धुर्यपदावलम्बी धुर्यस्य वीरेयस्य पद
युग लक्षण स्थान तस्यावलम्ब आश्रयोऽस्त्यस्य ईदृशः कः स्तात् । अपि तु वृषभ विना
न कोऽपि धुरीणः स्यात् ॥

य पञ्चमोऽभूद्गणपुङ्गवाना कि पञ्चमी स्वेन गतिं यियासुः ।

यत्रोक्तिभिस्तीर्थकृता दिदीपे शुक्तिव्रजे वारिमुचामिवाद्भिः ॥ १२ ॥

य सुवर्मनामा गणाना गच्छाना प्रवानाना मध्ये पञ्चाना सख्यापूरण पञ्चम अ-
भूत् बभूव । उत्प्रेक्ष्यते—स्वेनात्मना पञ्चमीं मुक्तिलक्षणा गतिं यियासु किमु गन्तु-
मिच्छुरिव । पञ्चमो जज्ञे । यत्र सुवर्मस्वामिनि तीर्थकृता पूज्यत्वख्यापनार्थं बहुत्वम् ।
महावीरस्य । अथवा ‘वीरविभो’ इति पाठः । तत्र वीरो महावीर । देशैकग्रहणेन देशिनो
ग्रहणम् । भीमो भीमसेन, भामा सत्यभामा, इत्यादिवत्तथा वीरपदोपादानेन महावीरग्र-
हणं स चासौ विभुः स्वामी जगदीश्वरस्तस्य उक्तिभिर्वाक्यैरागभैराप्तोक्तित्वात्तेषां दि-
दीपे । कस्मिन्निव । शुक्तिव्रजे इव । यथा शुक्तिकाना निकरे वारिमुचा मेघानामद्भिः

पानीयैर्दीप्यते मौक्तिकीभूय दीप्तिमतीभिर्जायते । 'शुक्तिव्रजे वारिमुचो यथाद्भि' इति पाठ । यथा इवार्थे । शेष प्राग्वत् ॥

सरस्वतीशालिलसज्जिनश्रीरगाधमध्यो रसभासमान ।

सिद्धान्त आस्ते यदुपज्ञमुद्यदभङ्गभङ्गः सरितामिवेशः ॥ १३ ॥

यदुपज्ञ य सुधर्मस्वामी उपज्ञा आद्य ज्ञान यत्र तत्कर्तृकत्वात् । 'उपज्ञोपक्रम तदा-
चिख्यासायाम्' । उपज्ञोपक्रमयोरादेरा(चि)ख्यानेच्छाया तदन्तस्तत्पुरुषो नपुसक
स्यात् । पाणिनेरुपज्ञा पाणिन्युपज्ञ ग्रन्थ तेनादौ कृत इत्यर्थः । नन्दस्य उपक्रम नन्दो-
पक्रम द्रोण तेनादौ उपक्रान्त इत्यर्थः । इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । सिद्धान्त आगम स-
रिता नदीनामीश पति समुद्र इवास्ते विद्यते । किभूत सिद्धान्त समुद्रश्च । सर-
स्वत्या श्रुतदेव्या सर प्रसरण मुखे अस्यस्यास्तत्त्वेन तदविष्ठापकत्वात् । तथा
वा शालते शोभते इत्येवशीलस्तथा लसन्ती दीप्यमाना जिनाना तीर्थकृता श्रीरतिश-
यादिलक्षणा शोभा वा यत्र । पक्षे—नदीभिस्तत्पतित्वात् शालमानस्त तथा लसन्तौ
क्रीडन्तौ श्लिष्यन्तौ वा । 'लस श्लेषणक्रीडनयो' इति वात्वर्थत्वात् । जिनश्रियौ कृ-
ष्णलक्ष्म्यौ यत्र विष्णोर्जलविशयनत्वेन तत्र क्रीडा । अथवा स्फुरन्त्यौ जिनो विष्णुस्त-
त्साहचर्याद्वार्षिपुत्रीत्वाद्वा लक्ष्मीश्च यत्र । समासान्तविधेरनित्यत्वान्न क । 'उडुपरिषदि
मध्यस्थायिशीताशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मीमक्षि लक्ष्मीचकार' इति नैषधे । पश्चात्कर्मवारय ।
पुन किभूत । अगाधो महार्थतया अलब्ध मध्यमतलस्पृक् च मध्य यस्य । पुन कि-
भूत । रसै शान्तादिभिर्जलैश्च भासमान । पुन किभूत । समुद्यन्त प्रकटीभवन्त
अभङ्गा सपूर्णा भङ्गा परमाणुप्रमुखाना श्राद्धव्रतादीनामेकद्वित्रिविवादयो भङ्गजालानि
तरङ्गाश्च यत्र ॥

गणीन्दुना पाट्टरमा गणीन्दुः पट्टश्रिया च व्यतिभासते स्म ।

निशा निशेशेन निशा निशेश इवापि शभो परिचारिचेता ॥ १४ ॥

अनूचानचन्द्रेण सुधर्मस्वामिना पट्टरमा महावीरदेवपट्टलक्ष्मीस्तथा गणी साद्वप्रवच-
नावीतिना मध्ये दीप्यमानत्वेन परमैश्वर्यभाक्त्वेन इन्दुश्चन्द्र पट्टश्रिया वर्धमानस्वामिप-
ट्टलक्ष्म्या कृत्वा व्यतिभासते स्म परस्पर शोभते स्म । केनेव का । कया क इव ।
निशा निशेशेनेव । निशा निशेश इव यथा रात्रिश्चन्द्रमसा शोभते । यथा । निशा
रात्र्या कृत्वा चन्द्रमा व्यतिभासते परस्पर राजते । 'पट्टन्नोमासहृद्निश्' इति प्रक्रि-
योक्तसूत्रेण निशाया निश आदेशः । किभूतो गणीन्दु चन्द्रश्च । शभोजिनस्येश्व-
रस्य च परिचरणशील सेवाहेवाकिस्वभाव चेतो मनो यस्य स ॥ इति सुवर्मास्वामी ॥

यशःश्रियाधःकृतकुन्दकम्बुर्जम्बूकुमारोऽजनि तस्य पट्टे ।

लघोरपि स्वस्य यतोऽभिभूति पश्यन्हियादृश्य इव सरोऽभूत् ॥ १५ ॥

तस्य सुवर्मस्वामिन पट्टे जम्बूकुमारोऽजनि जज्ञे । किभूत । यशःश्रिया कीर्तव्य-
दाततालक्ष्म्या अव कृतास्तिरस्कृता जिता कुन्दानि कुन्दतरुकुसुमानि कम्बवः शङ्खा-
श्च येन स । लघो शिशोरपि यतो जम्बूकुमारात् स्वस्यात्मन पराभूति तिरस्कार
पश्यन् विलोकमान स्मर । उत्प्रेक्ष्यते—हिया लज्जयेव अदृश्य दृशोरगोचर अनङ्ग-
त्वात् अभूत् ॥

उज्ज्ञाचकारैष महेभ्यकन्या मदेन्दिरामूर्तिमतीरिवाष्टौ ।

नवाधिकां यो नवति हिरण्यकोटीर्नु चेटीरिव दोषराजाम् ॥ १६ ॥

एष जम्बूकुमार अष्टौ अष्टसख्याका महेभ्याना स्वस्वकन्याना पाणिमोचनपर्वणि जम्बू-
कुमाराय नवनवकोटीप्रदानलक्षणतो महाव्यवहारिणा कन्या कुमारिका उज्ज्ञाचकार
त्यजति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिमती शरीरभाजो मदेन्दिरा कुलजातिरूपश्रुतैश्वर्य-
तपोलब्धिवलरूपाष्टमदलक्ष्मीरिव जहौ । च पुनर्यो जम्बू नवभिरविका नवति नवनव-
तिमिता हिरण्याना सुवर्णाना कोटीरुज्ज्ञाचकार तत्याज । उत्प्रेक्ष्यते—दानान्तरायला-
भान्तरायवीर्यान्तरायभोगान्तरायोपभोगान्तरायहास्यरत्यरतिजुगुप्साशोककाममिथ्या-
त्वाज्ञाननिद्राविरतिरागद्वेषरूपाणामष्टादशसख्याकाना दोषाणामेव राजा भूपानाम् ।
राजशब्दो व्यञ्जनान्त । ‘राजा राट् पृथ्वीशक्र’ इति हैमीवचनात् । चेटीर्दासीरिव
जहाति स्म । साधु पुमान् दासीसङ्ग न कुर्यात् ॥

वशंवदीभूतजगत्रयस्य न पुस्फुरेऽस्मिन्कमनस्य शक्त्या ।

हविर्भुजो भस्मितकाननस्य विस्फूर्ज्यते कि महसाम्बुराशौ ॥ १७ ॥

अस्मिन् जम्बुकुमारे । जम्बूशब्दो दीर्घो ह्रस्वोऽप्यस्ति । ‘मत्कृते जम्बुना त्यक्ता
नवोढा नवकन्यका’ इति कल्पवृत्तौ । कमनस्य कन्दर्पस्य शक्त्या स्फूर्त्या सामर्थ्येन प-
राक्रमेण न पुस्फुरे न स्फुरित नालवभूवे । किभूतस्य कामस्य । वशवदीभूत वश्य
स्वाज्ञाकारिसजात जगत्रय त्रैलोक्य यस्य स । युक्तोऽयमर्थः । हविर्भुजो वह्नेर्महसा प्र-
तापेन कि किमिति प्रश्ने । अम्बुराशौ समुद्रे स्फूर्ज्यते समर्थोभूयते । अपि तु न । कि-
भूतस्य हविर्भुज । भस्मित भस्मीकृत भस्मावशेष विहित ज्वालित कानन वनम् ।
उपलक्षणत्वात्पुरादि येन तस्य ॥

पश्यन्तु वैदुष्यममुष्य जम्बूप्रभोर्वपुर्भर्त्सितमत्स्यकेतो ।

विश्व वृषस्यन्त्यपि पाशुलेव वशीकृता येन शिवस्मिताया ॥ १८ ॥

हे प्राज्ञा अमुष्यास्य जम्बूप्रभोर्जम्बूस्वामिन वैदुष्य विदुषो भावश्चातुर्य पश्यन्तु
विलोकयन्तु । किभूतस्य जम्बूप्रभो । वपुषा अर्थात् शरीरसौन्दर्येण भर्त्सितस्तिरस्कृ-
तोऽविकृतो मत्स्यकेतुर्मकरध्वज कामो येन । पाशुलेव स्वैरिणी व्यभिचारिणीव वि-
श्वमखिलमपि जगजन वृषस्यन्ती कामयमाना । ‘वृषस्यन्ती कामुकी स्यात्’ इति है-
म्याम् । अत्यर्थमभिलषन्त्यपि शिवाख्या मुक्तिनाम्नी स्मिताया विकसितकमलवदना

वधूरद्वैतप्रागल्भ्यभाजा येन जम्बूप्रभुणा वशीकृता स्वायत्ता निर्मिता । त्वया सह सङ्ग
विवाय एतस्यामवसापण्या नान्य भारतभव जनमभिलषामीति वाग्बन्धप्रदानपूर्वमात्म-
सात्कृता ॥ इति जम्बूस्वामी ॥

अलंचकार प्रभवप्रभुस्तत्पट्टश्रियं पुण्ड्र इवेन्दुवक्राम् ।

• स्तेनापि सार्थेश इवाङ्गिनो यः श्रेयःश्रिय प्रापयदत्र चित्रम् ॥ १९ ॥

प्रभवनामा प्रभु स्वामी तस्य जम्बूस्वामिन पट्टश्रिय पट्टलक्ष्मीमलचकार भूषयति
स्म । क इव । पुण्ड्र इव । यथा चित्रक तिलकम् इन्दुवक्रा चन्द्रमुखी वशामलकरोति ।
य प्रभवप्रभु स्तेनापि तस्करीभूयापि सार्थेश सार्थपतिरिवाङ्गिनो जनान् श्रेय श्रिय
कुशलकलिता कमला मोक्षलक्ष्मीं च प्रापयत् लम्भयति स्म । तल्लक्ष्मीप्रदानमत्र(प्र)
भवप्रभौ चित्रमाश्चर्यकारकमस्ति । 'श्रेय पुरीम्' इति पाठे मुक्तिनगरी नयति स्म ॥

किं वर्ण्यते वर्ण्यगुणस्य चौर्यचातुर्यमस्य प्रभवस्य भर्तुः ।

अहार्यमप्येष मनोऽभिधानमपाहरद्यत्रिदिवेन्दिरायाः ॥ २० ॥

अस्य जम्बूपट्टधरस्य प्रभवस्य प्रभवनाम्नो भर्तुः स्वामिनो गणवरस्य चौर्यस्य वा चा-
तुर्य कौशल्य तस्करताप्रागल्भ्य किं कया रीत्या विस्मयकृत्तया कथं वा वर्ण्यते प्रशस्य-
ते स्तूयते वा । अस्य किंभूतस्य । वर्ण्या जगज्जनैर्लोकोत्तरतया श्लाघनीया गुणा शम-
दमसयमरूपा यस्य । यत्कारणादेष प्रभवप्रभु त्रिदिवेन्दिराया स्वर्गलक्ष्म्या अहार्य
देवताश्रयत्वान्न केनापि हर्तुं शक्यमपि मनोभिवान निविमपाहरजहार । मुक्तिगमनाभा-
वात् स्वर्लोकमेवालकृतवानित्यर्थः ॥ इति प्रभवस्वामी ॥

शय्यंभवोऽभूषयदस्य पट्टं सिंहासनं पित्र्यमिवावनीन्द्र ।

कलिन्दिका मौक्तिकमालिकेव यत्कण्ठपीठे विलुठत्यकुण्ठा ॥ २१ ॥

शय्यभवनामा भट्ट अस्य प्रभवस्वामिन पट्टम् अभूषयत् पदमलकरोति स्म । क
इव । अवनीन्द्र इव । यथा नवाभिषिक्तभूपति पितुरिदं पित्र्यं पितुः सबन्धिव सिंहा-
सनं कैसरिणोपलक्षितमासनं सिंहासनं भूषयति । यस्य शय्यभवगणवरस्य कण्ठपीठे
मुख एव कलिन्दिका सर्वविद्या चतुर्दशापि पूर्वाणि वा लुठति तिष्ठति । समायातीत्यर्थः ।
किंभूता कलिन्दिका । अकुण्ठा स्फुरद्रूपा । केव । मौक्तिकमालिकेव । यथा मुक्ताहार-
लता कस्यापि भाग्यवतः पुंसो गलकन्दले लुठति । किंभूता । अकुण्ठा दीप्यमाना ।
आमलकप्रमाणमुक्ता ॥

यूपादधस्त प्रतिमा जिनेन्दोर्वाचा स वाचयमपुङ्गवस्य ।

दृक्सञ्ज्ञयेव स्वगुरोः किरीटी नाराचगङ्गा प्रकटीचकार ॥ २२ ॥

यः शय्यभवभट्टः वाचयमपुङ्गवस्य प्रभवप्रभोर्वाचा गिरा यूपात्स्वप्रारब्धयज्ञस्तम्भात्

अधस्त अधोभूमिभागात् सकोपप्रश्नोत्तरकाल यज्ञवृत्तबृहद्विजोक्त्या जिनेन्दो श्रीशान्तिनाथस्य प्रतिमा मूर्तिं प्रकटीचकार कर्षति स्म । 'सिंजभव गणहर जिणपडिमादसणेण पडिबुद्धम्' इति दशवैकालिके । अन्यत्तु वृत्त्यादौ । क इव । किरीटीव । यथा अर्जुन स्वस्य गुरो पितामहस्य वृद्धस्य वा । 'मातापिता कुलाचार्य एतेषा ज्ञातयस्तथा । वृद्धा वर्मोपदेष्टारो गुरुवर्ग सता मत ॥' अथ वा गुरुगाङ्गेय इति लोकोक्त्यापि गाङ्गेयस्य परशासनेऽपि गुरुगाङ्गेय इति प्रसिद्धत्वाद्गुरुरिति पदोपादानम् । दृक्सज्ञया दृष्टिचेष्टया वा नाराचस्य बाणस्य मोचनसमय एव प्रादुर्भूतस्वच्छसुरभिस्वादुशीतलविशदपय-प्रवाहस्य लोके बाणगङ्गेति प्रसिद्धिर्जाता । ता बाणगङ्गा प्रकटीकरोति स्म । अयं व्यतिकर पाण्डवचरित्रै ॥

वगाह्य शास्त्रं मनकाहसूनोः कृते कृतश्रीदशकालिकं यः ।

हरिः सुधामुद्धृतवान्सुपर्ववर्गस्य निर्मथ्य यथाम्बुनाथम् ॥ २३ ॥

यः शय्यभवगणवारी मनक इत्याह्वा नाम यस्य तादृगस्य सूनोः स्वनन्दनस्य कृते कार्याय परलोकसावनार्थं दशाध्ययनयुक्तं विकाले दिनावसानवेलायां कृतमतो दशवैकालिकं नाम सूत्रमकृतं चक्रे । किं कृत्वा । वगाह्य [अव]गाहयित्वा । किम् । शास्त्रं सर्वसिद्धान्तसाङ्गोपाङ्गचतुर्दशपूर्वलक्षणम् । क इव । हरिरिव । यथा नारायण सुपर्ववर्गस्य देववृन्दस्य कृते सुवापीयूषमुद्धृतवान् । किं कृत्वा । अम्बुनाथः समुद्र निर्मथ्य विलोड्य यथा इवार्थे । 'पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य' इति कुमारसभवे । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो' इत्यकारलोपः । 'याद स्रोतोवार्नदीश' इति हैम्याम् । वार्वेर्जलपतित्वमुभयत्र पर्यायपरिवर्तनं च ॥ इति शय्यभवस्वामी ॥

संपूरयन्कीर्तिनभोनदीभिर्दिशो यशोभद्रगणाधिराजः ।

व्यभूषयत्पट्टममुष्य भूभृदधित्यका दस्युरिव द्विपानाम् ॥ २४ ॥

यशोभद्रनामा गणाधिराजो गच्छपतिरमुष्य शय्यभवगणभृतः पट्टं व्यभूषयत् । किं कुर्वन् । कीर्तय स्वयंशासि ता एव नभोनद्यो गङ्गा । अर्थात् गङ्गाप्रवाहा । त्रैलोक्या त्रिश्रो(स्रो)तोभिः प्रवहमानत्वेन त्रिपथगा अतो बहुवचनम् । ताभिः कृत्वा दिशो दशाप्याशाः संपूरयन् । निर्झरं भरन् व्याप्नुवन् व्यभूषयत् । क इव । दस्युरिव । यथा द्विपानां हस्तिनां शत्रुः केसरी भूभृतः शैलस्य अवित्यकामूर्ध्वभूमीं विभूषयति ॥

एतद्यशः क्षीरधिनीरपूरैः संपूरितायाः परितस्त्रिलोक्याम् ।

अबुध्यमानोऽम्बुनिधिः स्वशय्या पद्मेशयोऽभूदिव पद्मनाभः ॥ २५ ॥

पद्मनाभो यस्य स पद्मनाभः कृष्णः । उत्प्रेक्ष्यते—पद्मे कमले शेते स्वपितीति

१ 'शय्यभव गणवर जिनप्रतिमादर्शनेन प्रतिबुद्धम्' इति संस्कृतम् २ 'समुद्रम्' इति मूलपाठः ३ प्रक्षिप्तम्, ल्यबादेशापत्ते

पद्मेशय । अलुक्समासोऽयम् । अभूत् वभूवेव । कि कुर्वाण पद्मनाभः । अबुध्यमानो न जानन् । अपश्यन्नित्यर्थः । क कर्मतापन्नम् । अम्बुनिविमर्थात् क्षीरसमुद्रम् । किभूतम् । स्वस्यात्मन शय्या पर्यङ्क तत्र शायित्वात् अब्धिशयनत्वेन विष्णोः । कस्या सत्याम् । एतस्य यशोभद्रसूरे यश प्रसरत्कीर्तिनिकर स एव क्षीरविर्दुग्धवारिधिस्तस्य नीरपूराणि पय प्रवाहास्तैः परितः सर्वत्रापि सपूरिताया निर्झरभृताया धवलीकृताया त्रिलोक्या सत्याम् ॥ इति यशोभद्रसूरिः ॥

संभूतिपूर्वो विजयो गुरुस्तत्पट्टं श्रिया पल्लवयाचकार ।

कदम्बजम्बूकुटजावनीजकुञ्जं नभोम्भोद इवाम्बुवृष्ट्या ॥ २६ ॥

संभूतिरिति शब्दः पूर्व यस्य तादृशो विजय एतावता संभूतिविजयनामा गुरुः सूरिस्तस्य यशोभद्रसूरे पट्टं श्रिया स्वशोभया पल्लवयाचकार अलकारयति स्म । क इव । नभोम्भोद इव । यथा श्रावणमेघः अम्बुवृष्ट्या जलवर्षणेन कृत्वा कदम्बा धारा-कदम्बा नीपा, जम्बू श्यामफला, कुटजा गिरिमल्लिका 'कुडु' इति प्रसिद्धा, त एवावनीजा वृक्षा तेषां कुञ्जं काननं पल्लवयति किशलयकलितं कुरुते । पूर्वोक्तास्त्रयोऽपि तरवः प्रावृष्येव पुष्पयन्ति ॥

संहर्षरोषात्स्वजिघांसुमेतत्प्रतापमार्तण्डमवेक्ष्य साक्षात् ।

युयुत्सया हैहयवत्सहस्रं सहस्रभासेव करा ध्रियन्ते ॥ २७ ॥

सहस्रभासा सूर्येण सहस्रं दशशती करा हस्ताः किरणाश्च ध्रियन्ते वार्यन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—युयुत्सया योद्धुमिच्छयेव । किवत् हैहेयवत् । यथा कार्तवीर्यनृपो युयुत्सया सहस्रसख्यान् करान् पाणीन् वत्ते । 'सग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुर्बभूव योगी किल कार्तवीर्यः' इति रघुवगे । तथा 'बाहुसहस्रार्जुनं पिशुनः' इति सूक्ते च । हैहयस्तु कार्तवीर्यं दो सहस्रभृदार्जुनः' इति हैम्याम् । किं कृत्वा । एतस्य संभूतिविजयस्य प्रताप एव चण्डत्वान्मार्तण्डो भानुस्तः साक्षात्प्रत्यक्षमवेक्ष्य विलोक्य । किभूतम् । सहर्षेण स्पर्धया कृत्वा यो रोषः क्रोधात्स्वमात्मानं जिघांसुः हन्तुं काङ्क्षन्तम् ॥ इति संभूतिविजयः ॥

स तत्सतीर्थोऽजनिः भद्रबाहुः सूरिः समग्रागमपारदृश्वा ।

दशाश्रुतस्कन्धत उद्धारः वज्राकराद्वज्रमिवात्र कल्पम् ॥ २८ ॥

स प्रसिद्धो बाहुभद्रनामा सूरिस्तस्य संभूतिविजयस्य सतीर्थं एकगुरुभ्राता । 'सतीर्थोऽस्त्वेकगुरवः' इति हैम्याम् । किभूतम् । समग्राणां सर्वेषामङ्गोपाङ्गपूर्वादीनामागमानां पारं दृष्टवान् इति पारदृश्वा पारगामी चतुर्दशपूर्वधरत्वात् । स कः । यो भगवान् अत्र पञ्चमारके कलियुगे वा दशाश्रुतरस्कन्धतः प्रत्याख्यानाभिवनवमपूर्वदशाश्रुतस्कन्धाव्ययनतः कल्पं कल्पनामसूत्रमुद्धारं उद्धृतवान् । कमिव । वज्रमिव । यथा कश्चिद्भाग्यवान् वज्राणां हीरकाणामाकरात् खनेर्वज्रं रत्नमुख्यमुद्धरति ॥

उपप्लवो मन्त्रमयोपसर्गहरस्तवेनावधि येन संधात् ।

जनुष्मतो जाङ्गुलिकेन जाग्रद्गरस्य वेगः किल जाङ्गुलीभिः ॥ २९ ॥

येन भगवता मन्त्रमयेन विषधरस्फुलिङ्गनाममन्त्रतद्विवमन्त्रयन्त्रधानेन उपसर्गहर इति नाम्ना श्रीपार्श्वनाथस्य स्तवेन स्तोत्रेण कृत्वा संधात् साधुसाध्वीश्राद्धश्राद्धीलक्षणात् उपप्लव मिथ्यान्विव्यन्तरीभूतभ्रातृवराहमिहिरनिर्मितमान्द्यमरकाभिधोपद्रवोऽवविहतो निवारितः । अत्र किलेति इवार्थः । ‘उत्प्रेक्षाद्योतका शङ्के मन्ये नूनमिव ध्रुवम् । जाने किलादयो ज्ञेया प्रायेणैव क्रियोद्भवा ॥’ इति काव्यकल्पलतायाम् । केनेव । जाङ्गुलिकेन किल । यथा विषभिषजा जाङ्गुलीभिः समग्रभुजगविषापहारणीभिः विद्याभिः जनुष्मतो विषवेगघूणितजनात् जाग्रत्प्रत्यङ्गोपाङ्ग प्रसरतो गरस्य विषवरविषस्य वेग प्रसरो हन्यते निराक्रियते । हन्तेर्वविरादेश भूते सिविषये ॥

यत्कीर्तिगङ्गा प्रसृतां त्रिलोक्यामालोक्य किं षण्मुखतां दधानः ।

जगद्भ्रमीभिर्जननी दिदृक्षुर्गङ्गासुतोऽध्यास्त मयूरपृष्ठम् ॥ ३० ॥

गङ्गासुत स्वामिकार्तिकः । ‘गङ्गोमाकृतिकासुतः’ इति हैम्याम् । मयूरस्य केकिनः पृष्ठतनोश्चरम भाग प्रदेशम् अध्यास्त आरुरोहः । किं कुर्वाणः । षट्सख्याकानि मुखानि यस्य तस्य भावस्ता दधानो बिभ्राणः । उत्प्रेक्ष्यते—जगत्सु त्रिभुवनेषु भ्रमीभिर्भ्रमणैः पर्यटनैः कृत्वा जननी मातरं मन्दाकिनीं दिदृक्षुर्दृष्टुमिच्छुः किमु । भ्रमीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । ‘अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गीम्’ इति नैषवे । किं कृत्वा । व्यालोवय दृष्ट्वा । काम् । यत्कीर्तिगङ्गाम् । यस्य भद्रबाहुस्वामिनः कीर्तिरेव मन्दाकिनीम् । किंभूताम् । त्रिलोक्याः स्वर्लोकपाताललोकभूलोकत्रिके निरन्तरतया प्रसृताः अतिधवलीकृतत्रिभुवनमित्यर्थः ॥ इति श्रीभद्रबाहुस्वामी ॥

श्रीस्थूलभद्रेण निजान्ववायश्रो(स्रो)तस्विनीनायककौस्तुभेन ।

विश्वत्रयी तद्यशसेव शोभामलम्भि तत्पट्टपयोधिपुत्री ॥ ३१ ॥

श्रिया शोभया युक्तेन स्थूलभद्रेण तयोः सभूतिविजयभद्रबाहुस्वामिनो पट्टस्य पयोधिपुत्री लक्ष्मीः शोभामलम्भि प्रापिता । केनेव । तद्यशसेव । यथा तस्य श्रीस्थूलभद्रस्य यशसा श्लोकेन विश्वत्रयी त्रिलोकी शोभा लम्भिता । किंभूतेन स्थूलभद्रेण । निजः स्वकीयो यो नागरनामा ब्राह्मणवशः स एव स्रोतस्विनीनायकः नदीपतिः समुद्रः तत्र कौस्तुभेन नारायणबाहुमध्यस्थास्तुर्मणिविशेषस्तत्सदृशस्तेन ॥

प्रवालमुक्तामणिमञ्जिमश्रीचित्राप्सरस्वर्द्धिरदाश्वदृश्यम् ।

कोशागृहं प्रावृषि यः सिषेवे हरिर्घनच्छायमिवाम्बुराशिम् ॥ ३२ ॥

यः श्रीस्थूलभद्रः प्रावृषि वर्षाकाले कोशानाम्न्या वेश्याया गृहं मन्दिरं सिषेवे भेजे । प्रथमं चतुर्मासमकार्षीदित्यर्थः । केचित्तु कदाचिदपि चकारेत्यूचुः । क इव । हरिरिव ।

यथा कृष्णो जलदसमये समुद्र सेवते । किभूत कोशागृहमम्बुराशिम् । प्रवाला विद्रुमा मुक्ता मौक्तिकानि मणयो रत्नानि तेषा मञ्जिन्नश्चारुताया शोभा यत्र । चित्रैश्चित्रितै-
रालेख्यीकृतैरप्सरोग्भि सुराङ्गनाभिरथ वा रम्भातिलोत्तमाघृताचीमेनकाउर्वशीप्रमु-
खाभि स्वर्वेश्याभि तथा स्वर्गस्य द्विरदैरैरावणैरश्वैरुच्चैश्रवोभि ऐरावणस्य उच्चै-
श्रवसश्च शतशो रूपनिर्माणादथ वा । द्विरदेन हस्तिमलेन अश्वेन उच्चैश्रवसा सर्वेषामपि
समुदाये बहुवचन तैर्दृश्य दर्शनार्हम् । पक्षे—हेमकन्दलमुक्ताफलमाणिक्याना मञ्जिमा
चारुता यत्र तथा श्रीर्लक्ष्मीस्तथा चित्रा विविधा आश्चर्यकारका वा अप्सरस श्वेतगजोच्चै-
श्रवसौ तैर्विलोकयितु योग्य तेषा तत्रोत्पन्नत्वेन पश्चात्कर्मधारय । पुन किभूत । घ-
ना निबिडा छाया बह्वी शोभा यत्र । तथा घना सान्द्रा घनाना मेघाना जलग्रहणागताना
छाया प्रतिच्छायािका सूर्यातपमुक्तप्रदेशः । ‘छाहडी’ इति लोके प्रसिद्धा यत्र । ‘विभाषा
सेनासुराछायाशालानिशानाम्’ । एतदन्तस्तत्पुरुषो वा क्लीब स्यात् । ‘द्विजसेन यवसुर
कुड्यच्छाय गोबाल श्वनिश पक्षे द्विजसेना’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

पण्याङ्गनायाः किलकिञ्चितानि न लेभिरे यस्य हृदि प्रवेशम् ।

धनुर्भूत सानुमतः शिलाया पृष्ठकपङ्के प्रहतानि यद्वत् ॥ ३३ ॥

पण्याङ्गनाया कोशावेश्याया किलकिञ्चितानि प्रमोदगदिततालीवादनगीतादिव्यामि-
श्रक्रीडालीककपोलात्मपाणिनिवेशनाश्रुपातघातहर्षभियादिसकरा । यस्य श्रीस्थूलभद्रस्य
हृदि मानसे प्रवेश स्थान न लेभिरे न प्राप्नुवन्ति । यद्वद्यथा धनुर्भूतो वनुर्वरस्य पृष्ठ-
त्काना बाणाना पङ्के श्रेण्या प्रहतानि प्रहारा सानुमत पर्वतस्य शिलायामुपलक्षणात्
गण्डोपले प्रवेश न लभन्ते ॥

प्राङ्निर्जितश्रीरथनेमिमुख्यवीरावलीनामिव वैरशुद्धे ।

विधित्सयाध्यास्य तदाश्रयं यो ध्यानासिनानङ्गनृप जघान ॥ ३४ ॥

य स्थूलभद्रो ध्यान प्रणिधान तदेव असि खड्गस्तेन कृत्वा अनङ्गनामान नृप रा-
जान जघान हतवान् । कि कृत्वा । अध्यास्य आश्रित्य । प्रविश्येत्यर्थः । कम् । तस्य
अनङ्गस्यैव कोशावेश्यामन्दिररूपमाश्रय स्थान गृह वा । ‘पस्त्य सस्त्याय आश्रय ।
ओको निवास आवासो वसति शरण क्षय ॥’ इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—वैरशुद्धेर्वि-
रोधशोवनस्य विधित्सयेव कर्तुमिच्छयेव । कासाम् । प्राक् पूर्वकाले निर्जिता पराभूता ये ।
श्रीमान् महावीरत्वलक्ष्मीकलित श्रीनेमिनाथसहोदररथनेमि । स एव प्रमुखो मुख्य
आदिमो येषु । नन्दिषेणार्द्रकुमाराषाढभूतिमुखा । परेऽपि वीरा पश्चात् पराक्रमकार-
कत्वात् सुभटास्तोषामावल्य श्रेण्यस्तासाम् ॥

चक्रीव रत्नानि चतुर्दशापि पूर्वाणि घत्ते स्म पतिर्यतीनाम् ।

यश्च क्वचिद्देवकुले स्वजामी चित्रीयितुं सत्य इवास सिंहः ॥ ३५ ॥

य स्थूलभद्र चतुर्दशापि पूर्वाणि क्वचित्सूत्रत क्वचित्सूत्रार्थत । इति प्रघोषः ।

यत्ते स्म धारयति स्म । किंभूत । य यतीना साधूना पतिः स्वामी गणधर । क इव । चक्रीव । यथा चक्रवर्ती चतुर्दशरत्नानि धत्ते । च पुनर्यः क्वचित्कुत्रचिद्देवकुले यक्षा-
द्यायतने । क्वचित्सिंहगुहायामपीति श्रूयते । यक्षा , यक्षदिना , भूता , भूतदिना , सेना,
वेना, रेणा । क्वचिदेणापि नामद्वन्द्वम् । एतन्नाम्नी स्वजामी सत्पापिनिजभगिनी ।
क्वचिदेकामेकैवभूता स्वसार चित्रीयितुमाश्चर्ययुक्ता कर्तुमाश्चर्यमुत्पादयितु सिंहः
केसरिरूपधारक आस बभूव । क इव । सत्य इव । यथा सत्यः अवितथ पञ्चाननो
भवति ॥

येनोपदेशच्छलत स्वपाणिसंज्ञाज्ञया स्तम्भतलाददर्शि ।

निधिः स्वनिक्षिप्त इव प्रवासिसुहृद्गृहिण्याः सदने समेत्य ॥ ३६ ॥

येन श्रीस्थूलभद्रेण सदने अर्थान्मित्रमन्दिरे समेत्यागत्य प्रवासिन परदेशाध्वनीनस्य ।
व्यापारार्थं याचनाकृते वा परमण्डले यातस्य । ब्राह्मणत्वाद्याचनाया न दोषः । एतादृ-
शस्य सुहृदः स्वमित्रस्य गृहिण्या पत्न्या निविनिधानमदर्शि दर्शित । कस्मात् । स्त-
म्भतलात् । स्तम्भादथ प्रदेशात् । कया । ससारासारताप्रकटनसुहृत्करणानुभावस्व-
र्गापवर्गादिप्रापकलक्षणस्य उपदेशस्य वर्मदेशनादानन्त्यस्य च्छलतो मिषत स्वस्यात्मन
पाणेर्हस्तस्य संज्ञा दर्शनादिचेष्टा सैवाज्ञा आदेशस्तया । क इव । स्वनिक्षिप्त इव । यथा
आत्मनो हस्तेन भूमौ गुप्तीकृत्य रक्षित निवि स्वेष्टस्य दर्श्यते ॥ इति स्थूलभद्रस्वामी ॥

पट्टेऽथ तस्यार्यमहागिरिश्चापरः क्रमादार्यसुहस्तिसूरिः ।

बभूवतुर्धर्मधुर दधानौ रथे यथा सारथिकस्य रथ्यौ ॥ ३७ ॥

अथ श्रीस्थूलभद्रे स्वर्गमलकुर्वाणेऽनन्तर तस्य स्थूलभद्रस्य पट्टे क्रमात् द्वौ पट्टवरौ
बभूवतुः सजातौ । द्वौ कौ । एक आर्यमहागिरि च पुनरपर आर्यसुहस्तिसूरि । द्वावपि
किं कुर्वाण । वर्मस्य श्रीमन्महावीरप्रणीतस्य मोक्षमार्गसाधकस्य सुकृतस्य बुर दधानौ
धर्मकर्मणि कर्मठौ । यथा अत्र इवार्थे । कस्मिन् काविव । रथे रथ्याविव । यथा सार-
थिकस्य रथे स्यदने रथ्यौ रथस्य वोढारौ द्वौ वृषभौ भवतः ॥

मरुद्गृहादार्यसुहस्तिमूर्तिर्भूमौ मरुद्वृक्ष इवोत्ततार ।

कृपार्णवेन द्रमकोऽपि येन त्रिखण्डभूमीप्रभुतामलम्भि ॥ ३८ ॥

आर्यसुहस्तिनामा सूरिस्तस्य मूर्तिं शरीर यस्य तादृशः । उत्प्रेक्ष्यते । मरुद्गृहात्
स्वर्गलोकात् मरुद्वृक्ष कल्पद्रुम भूमौ पृथिव्यामुत्ततार अवतीर्णवान् आगतवानिव ।
कृपार्णवेन दयासमुद्रेण येनार्यसुहस्तिसूरिणा द्रमको भिक्षुकोऽपि त्रिखण्डभूमे षो-
डशसहस्रदेशक्षोणे प्रभुतामाविपत्यमलम्भि प्रापितः ॥

भूसुभ्रुवो भर्तृतया प्रगल्भभूषाविशेषानिव शातकौम्भान् ।

सपादलक्षानिह संप्रतिर्यो निर्मापयामास महाविहारान् ॥ ३९ ॥

यो द्रमकजीवः सप्रतिनृपतीभूय इह स्वभुजबलसाधितत्रिखण्डभूमीमण्डले महावि-
हारान् उत्तङ्गशृङ्गाङ्गणोल्लिखितगगनतलान् प्रासादान्निर्मापयामास शिल्पिभिः कारयति
स्म । किभूतान् । सह पादेन एकेनाशेन पञ्चविशतिसहस्रमितभागेन वर्तते यत्तादृश
लक्ष शतसहस्राणि येषु तान् । सपादलक्षप्रमितानित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते । भर्तृतया स्वामि-
त्वेन भूरेव सुभ्रू भूमीभामिनी तस्या शातकुम्भानां स्वर्णानामिमे शातकौम्भास्तान् ।
हिरण्मयानित्यर्थः । प्रगल्भान् मनोज्ञान् भूषार्थं शोभाकृते विशेषान् तिलकानिव । अथ
वा अतिशयिनोऽलकारानिव ॥

यः संप्रतिक्षोणिपतिः सपादकोटीर्नु पेटीः स्वयशोनिधीनाम् ।

स्याद्वादिना सद्यसु शिल्पिसंघैरचीकरत्पारगतीयमूर्तीः ॥ ४० ॥

यः सप्रतिर्नाम क्षोणिपतिः राजा शिल्पिना सूत्रवाराणां सघैः समूहैः । 'सघसार्थौ
तु देहिना वृन्दे' इति हैम्याम् । स्याद्वादिनामर्हता सद्यसु गृहेषु स्वकारितप्रासादेषु
अन्यत्रापि च पारगतानामिमा पारगतीया मूर्ती प्रतिमा जिनेन्द्रबिम्बानि अचीक-
रत् निर्मापयामासिवान् । किभूता । सह पादेनैकेन पञ्चविशतिलक्षरूपेण अशेन
युक्ता कोटी शतलक्षी इति सख्या यासु ता इति व्युत्पत्त्या बहुत्वम् । अन्यथा तु
एकत्वमेव स्यात् । नु इति वितर्के । स्वस्यात्मनो यशास्येव निधयः निधनानि सार-
द्रव्याणि तेषां पेटीर्मञ्जूपा इव ॥

नक्तं नलिन्यादिगुल्मनामविमानमार्गः प्रभुणा च येन ।

स्नेहप्रियेणेव महेभ्यसूनोरदर्श्यवन्तीसुकुमालनाम्नः ॥ ४१ ॥

च पुनर्येनार्यसुहस्तिनाम्ना प्रभुणा सूरिणा अवन्तीसुकुमाल इति नाम यस्य तादृशस्य
महेभ्यसूनोर्व्यवहारिपुत्रस्य नक्तं निशाया प्रथमे यामे नलिनीतिपदमादौ यस्य तादृशस्य
गुल्मनाम्न एतावता नलिनीगुल्मानिधानस्य विमानस्य मार्गः तपस्याग्रहणपूर्वकं कन्थेरिका-
श्मशानकायोत्सर्गघोरपरीषदसहनलक्षणं पन्था दर्शितं प्रकाशितं । केनेव । स्नेहप्रि-
येणेव । यथा प्रदीपेन नक्तं मार्गं प्रदर्श्यते प्रकाश्यते ॥

स्थाने स्ववपुस्त्रिदिव गतस्य व्यधादवन्तीसुकुमालसुनुः ।

नाम्ना महाकाल इतीह पुण्यपानीयशालामिव सार्वशालाम् ॥ ४२ ॥

इहावन्तीपुरीपरिसरवर्तिकन्थेरिकावनश्मशाने अवन्तीसुकुमालस्य सूनुर्नन्दन
त्रिदिव स्वर्गं गतस्य प्राप्तस्य स्ववपुः निजतातस्य स्थाने नवप्रसूतबुभुक्षितसर्वापत्य-
युक्तविकरालशृङ्गाली सर्वाङ्गभक्षणसमयानशनपूर्वकपरलोकगमनभूमिप्रदेशे महाकाल
इति नाम सार्वशाला श्रीमदवन्तीपार्श्वनाथप्रसादं व्यवाचकार । अर्थात्सूत्रवारैरकारय-
दित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते । पुण्यमेव पानीयं तस्य शाला प्रपामिव । लोकेऽपि पुण्यार्थं पानी-
यशाला प्रपा कार्यते ॥ इति आर्यमहागिरि-आर्यसुहस्तिपुरीन्द्रौ एकपट्टवरी ॥

श्रीमत्सुहस्तिव्रतिवासवस्य श्रीसुस्थितः सुप्रतिबद्धसूरिः ।

पदं विनेयौ नयतः स्वलक्ष्मी क्रम मुरारेरिव पुष्पदन्तौ ॥ ४३ ॥

श्रीमत्सुहस्तिनाम्नो व्रतिवासवस्य मुनीन्द्रस्य विनेयौ उभौ शिष्यौ पद पट्ट श्रिय शोभा नयत स्म प्रापयत स्म । द्वौ कौ । एक श्रीयुक्त शोभाकलित सुस्थितनामा सूरिः, अपर सुप्रतिबद्धनामा आचार्य । काविव । पुष्पदन्तौ । 'पुष्पदन्तावेकोक्त्या शशिभास्करो' इति हैम्याम् । यथा सूर्याचन्द्रमसौ मुरारे क्रममाकाश लक्ष्मी लम्भयत ॥

प्रीति सृजन्ती पुरुषोत्तमानां दुग्धाम्बुराशेरिव पद्मवासा ।

हृदा जिनं बिभ्रत आविरासीत्तत्सूरियुग्मादिह कौटिकाख्या ॥ ४४ ॥

इह दक्षिणभरतार्धभूमौ तत्सूरियुग्मात् सुस्थितसुप्रतिबद्धनामाचार्यद्वन्द्वात् गणस्य गच्छस्य कौटिका इति आख्या नामाविरासीत् प्रकटीबभूव । पूर्व तु सुधर्मस्वामिनमारभ्य सुहस्तिसूरि यावत्सावूना निर्ग्रन्था इत्यभिवानमासीत् । सुस्थितसुप्रतिबद्धसूरियुगलात् द्वितीय कौटिकगण इति नाम बभूव । कोटिश सूरिमन्त्रजापात् कीदृशसूरिमन्त्रधारित्वाद्वा कौटिक । केव । पद्मवासेव । यथा दुग्धाम्बुराशे क्षीरसमुद्रालक्ष्मीराविर्बभूव । सूरियुग्मात् दुग्धाम्बुराशेश्च किं कुर्वत । हृदा हृदयेन मनसो मध्येऽन्तरेण जिनमर्हन्त विष्णु च बिभ्रतो धारयत । कौटिकाख्या पद्मवासा च किं कुर्वती । पुरुषेषूत्तमाना श्रेष्ठाना धार्मिकाणा विष्णोश्च प्रीतिमानन्द तुष्टि स्नेह सृजन्ती कुर्वती ॥ इति सुस्थितसुप्रतिबद्धौ सूरौ एकपट्टवरावेव ॥

श्रीइन्द्रदिन्नव्रतिसार्वभौमस्तत्पट्टलक्ष्मीतिलक बभूव ।

निशुम्भ्यते दाम्भिकता स्म येन कलिन्दकन्येव हलायुधेन ॥ ४५ ॥

श्रिया त्रिशत्सूरिगुणलक्ष्म्याकलितसुप्रसिद्धिमान् इन्द्रदिन्ननामा व्रतिना वाचयमाना मध्ये सार्वभौमश्चक्रवर्ती तयोः सुस्थितसुप्रतिबद्धाचार्ययोः पट्टलक्ष्म्यास्तिलक विशेषको बभूव सजात । स क । येन भगवता दाम्भिकता दम्भवारिता कापट्य निशुम्भ्यते स्म निर्दलितम् । केनेव । हलायुधेनेव । यथा बलभद्रेण कलिन्दकन्या यमुना निशुम्भिता । पराभूतेत्यर्थः । 'रुक्मिप्रलम्बयमुनाभिदनन्तभाल—' इति हैम्या रामनामसु ॥

पक्षद्वयं भिन्नतमोभरेण पित्रोः पवित्रीक्रियते स्म येन ।

कुबेरदिग्दक्षिणयोः पदव्योर्द्वन्द्वं प्रियेणेव पयोजिनीनाम् ॥ ४६ ॥

येन इन्द्रदिन्नसूरिणा पित्रोर्जननीजनकयोः पक्षद्वय वशद्वन्द्वम् । मातृवश पितृवशश्चेत्यर्थः । पवित्रीक्रियते स्म पावनीचक्रे । केनेव । प्रियेणेव । यथा पयोजिनीना कमलिनीना भर्त्रा भानुना कुबेरदिग्दक्षिणयो उत्तरायाम्योः पदव्योर्मार्गयोर्द्वन्द्व युगल

पवित्र्यते । येन भानुना च किंभूतेन । भिन्नो निर्दलितस्तमसामज्ञानाना पाप्मना वा
ध्वान्ताना च भर समूहो येन ॥ इति श्रीइन्द्रदिनसूरि ॥

श्रीदिनसूरिर्गुणभूरिरस्मात्सप्तर्षिभूरङ्गिरसो यथासीत् ।

येनानुरागोऽवधि कालनेमिः कल्लोलिनीवल्लभशायिनेव ॥ ४७ ॥

अस्मात् श्रीइन्द्रदिनसूरे श्रीदिनसूरिरासीत् । किंभूत । गुणा भूरयो बहुला
यस्मिन् । कस्मात्क इव । अङ्गिरस सप्तर्षिभूरिव । यथा । अङ्गिरा नाम तापसविशेष-
स्तस्मात् बृहस्पतिर्जात । 'बृहस्पति सुराचार्यो जीवश्चित्रशिखण्डिज । सप्तर्षयश्चि-
त्रशिखण्डिन' इति हैम्याम् । तथा । 'गीर्बृहत्योः पतिरुतथ्यानुजाङ्गिरसौ गुरु'
इत्यपि हैम्याम् । येन दिनसूरिणा अनुरागो हत । केनेव । कल्लोलिनीवल्लभशायिनेव ।
यथा नारायणेन कालनेमिर्नामा दैत्यो निहन्यते स्म ॥

पञ्चाशुगान्यः समितीर्विधाय बभञ्ज पञ्चाशुगपञ्चबाणीम् ।

शरेण केनापि न चेत्कदाचित्कस्मान्न तं स प्रभवेद्वपुष्मान् ॥ ४८ ॥

यो दिनसूरि पञ्च ईर्या-भाषा-एषणा-आदाननिक्षेपपा-पारिष्ठापनिकाख्या पञ्च-
सख्याका समितीराचारविशेषान् पञ्च प्रमाणान् आशुगान् बाणान् विधाय पञ्चाशु-
गस्य कामस्य पञ्चाना बाणाना समाहार पञ्चबाणी ता पञ्चापि सायकान् बभञ्ज
भनक्ति स्म । 'चिच्छेद' इत्यपि पाठ । तत्र छिनत्ति स्मेत्यर्थ । एव चेत्तर्हि स वपुष्मान्
स्मरधनुर्वर कदाचित् कस्मिन्नपि प्रस्तावे केनापि समोहन-उन्माद-तापन-शोषण मार-
णाख्याना पञ्चाना विशिखाना मध्ये केनचित् शरेण कृत्वा त दिनसूरि कस्मात्कारणात्
न प्रभवेत् प्रहरेत् । 'आद्यौ समोहनोन्मादौ परौ तापनशोषणौ । तथा मारण इत्याहु
पञ्च बाणा मनोभुव ॥' इति स्मरबाणनामानि सूक्ते ॥ इति दिनसूरि ॥

सूरीश्वरः सीहगिरि क्रमेण व्यभासयत्तत्प्रभुपट्टलक्ष्मीम् ।

जिनस्य पाद शिरसा स्पृशन्ती निकाय्यराजीमिव केतुवारः ॥ ४९ ॥

क्रमेण पट्टपरिपाठ्या सीहगिरिर्नामा सूरीश्वर स चासौ प्रभुश्च तत्प्रभुस्तस्य दिनसूरे
पट्टलक्ष्मी व्यभासयत् कान्तिमती चकार । भूषयति स्मेत्यर्थ । क इव । केतुवार इव ।
यथा ध्वजव्रजो निकाय्यराजी सौववोरणी विभासयति । पट्टलक्ष्मी निकाय्यराजी च
किंभूताम् । शिरसा मस्तकेन आदिना च । 'माथासिरऊ' इति लोकप्रसिद्धित्वात् ।
शृङ्गेण च जिनस्यार्हत पाद पट्टपरम्पराया आदिभूतत्वाजिनस्य विष्णुपदमाकाश च ।
स्पृशन्तीमाश्रयन्तीम् ॥

विन्ध्यं निपीताब्धिरिव व्रतीन्द्रो य एधमान निषिषेध कोपम् ।

यद्वाक्तरङ्गैश्च जिताभ्रसिन्धुस्रपातिरेकादिव निम्नगासीत् ॥ ५० ॥

यः सीहगिरिर्नाम व्रतीन्द्रो मुनिपुरदर एधमानं जगज्जनाश्रयत्वेन वर्धमान कोप क्रोध निषिषेध न्यवारयत् । क इव । निपीताब्धिरिव । यथा अगस्तितापसः कश्चित् सूर्यमार्गरुन्धनाय वार्षितु प्रवृत्तविन्ध्याचल निषेधते स्म । च पुनर्यस्य सीहगिरि-सूरेर्वाक्तरङ्गैर्वचनचातुर्यरसकल्लोलैः कृत्वा जिताभिभूता सती अभ्रसिन्धुर्गगनगङ्गा । उत्प्रेक्ष्यते । त्रपातिरेकात् लज्जातिशयात् निम्न नीचैर्गच्छतीति निम्नगेवासीदधोवदना जाता ॥ इति सीहगिरिसूरि ॥

तमोभरोर्वीधरभेदवज्रिवज्रोऽथ वज्रप्रभुरेतदीयम् ।

पट्टं परां प्रापयति स्म भूषां माणिक्यकोटीर इवोत्तमाङ्गम् ॥ ९१ ॥

अथानन्तर वज्रप्रभुर्वज्रस्वामी एतदीय सीहगिरिसबन्धिन पट्ट परा प्रकृष्टा भूषां लक्ष्मी प्रापयति स्म । किभूतो वज्रप्रभुः । तमसामज्ञानाना पापाना च भर समुदायः स एवोर्वीधर पर्वतस्तस्य भेदे व्यापादने दलने वज्रिण शक्रस्य वज्र इव कुलिश । हीरमणिशङ्कामपाकर्तुं वज्रीति पदोपादानम् । तथा च नैषधे—‘स्फुलिङ्गा स्फुट भालो-द्भूतभवाक्षिभानुहुतभुग्जम्भारिदम्भोलय’ इति । क इव अलकृतवान् । कोटीर इव । यथा माणिक्याना मणिविशेषाणा कोटीरो मुकुटः । उत्तमाङ्ग भूपालमौलि नृपमस्तक श्रिय नयति ॥

आशैशवादेव जहौ निजाम्बां वेलामिव क्षीरनिधेः सुधांशुः ।

अध्येष्ट यः पालनके शयानोऽप्येकादशाङ्गी स्मृतपूर्वजन्मा ॥ ९२ ॥

यो वज्रस्वामी आशैशवादेव । किञ्चिन्न्यूनषण्मास्यवस्थामारभ्य रोदनदम्भेनेत्यर्थान्तर निजामात्मीयामम्बा सुनन्दानाम्नी मातर जहौ त्यजति स्म । क इव । सुधाशुरिव । यथा चन्द्रो बाल्यादेव सहरिसुरासुरकरैर्मन्दरेण मथ्यमानक्षीरनीरनायकान्तरोत्पत्तिसमये एव क्षीरनिधेर्दुग्धवारिधेर्वेला जहाति स्म । च पुनर्यः पालनके बालकानामन्दोलन-स्थानकविशेषे शयानोऽपि स्वपन्नपि एकादशानामाचाराङ्ग-सूत्रकृदङ्ग स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग-भगवत्यङ्ग ज्ञाताधर्मकथाङ्ग-उपासकदशाङ्ग-अन्तकृदशाङ्गाङ्ग-अनुत्तरोपपातिका-दशाङ्ग-प्रश्रव्याकरणाङ्ग विपाकश्रुताङ्ग-रूपाणामङ्गाणा समाहार एकादशाङ्गी तामध्येष्ट अवीतवान् कण्ठपीठीकरोति स्म । स्वसनिविस्थितबहुश्रुतार्थिकागण्यमानैकादशाङ्गसूत्रश्रवणादेव पूर्वावीतामेकादशाङ्गी स्मृतवानित्यर्थः । अत एव किभूतम् । स्मृत स्वहृद्गोचरीकृत पूर्वं प्राक्तन जन्मावतारो येन । जातिस्मरणेनाविज्ञातप्राचीनजन्मा ॥

यः पुष्पदः पल्लवलीलयेव वैराग्यलक्ष्म्यालमकारि बाल्ये ।

प्राग्जन्ममित्रात्रिदशान्नभोगविद्यां पुनर्वैक्रियलब्धिमापत् ॥ ९३ ॥

यो वज्रस्वामी बाल्ये शैशवे वैराग्यलक्ष्म्या सयमग्रहणबुद्ध्या ससारासारताभावन-धिया वा अलमकारि अलकृतः भूष्यते स्म । क इव । पुष्पद इव । यथा पादपः प-

लवाना किशलयानां लीलया विलासेनालक्रियते । पुनर्यो वज्रस्वामी प्राग्जन्मनः पूर्वदे-
वभवसंबन्धिनो मित्रात् सुहृद्भावमासादितात् त्रिदशात् तिर्यक्जृम्भकनिर्जरात् नभो-
गविद्यामाकाशगामिनी विद्या मन्त्रविशेष पुनरन्या वैक्रियलब्धि नवीनरूपादिविकुर्वाणा
शक्तिं च आपलेभे ॥

दुर्भिक्षवर्षेषु सुभिक्षभूमीं संघं कृपानीरनिधेर्निनीषोः ।

वज्रप्रभोर्यस्य पटः पटीयान्विमानवद्योमनि दीप्यते स्म ॥ ५४ ॥

यस्य वज्रप्रभो पटो वस्त्र वपुराच्छादनवसन कल्प व्योमनि आकाशे विमानवत्
दिव्ययानमिव दीप्यते स्म शुशुभे । किंभूत पटः । अतिशयेन पटु पटीयान् पटुर्महतीं
बहुसंघजनोपवेशनोचिता वृद्धिं प्राप्त । ईप्सितस्थान प्रापयितु समर्थो वा । किंभूतस्य
वज्रप्रभो । कृपाया दुर्भिक्षसीदत्संघजनोपरिदयाया नीरनिधेः समुद्रस्य । अत एव
किं कर्तुमिच्छो । निनीषोर्नेतुमिच्छो प्रापयितुकामस्य । कम् । संघसाधुसाध्वीश्रावक-
श्राविकारूपजैनवर्गम् । काम् । सुभिक्षभूमी प्रभूतनिष्पन्नवान्यशतशोऽनुभावसुकालव-
सुधा बौद्धनगरीम् । केषु । दुर्भिक्षवर्षेषु कालानुभावाद्वादशवत्सरी यावन्मेघजलविन्दु-
मात्रवृष्टेरभावेन अन्नपानदौर्लभ्याद् कालसवत्सरेषु ॥

सहैव देहेन समग्रसंघं नयत्यसौ सिद्धिपुरीमिवैनम् ।

जनैरिति व्योमनि तर्क्यमाणः पटः प्रभोर्बौद्धपुरीमवाप ॥ ५५ ॥

प्रभोर्वज्रस्वामिन पटः कल्प वस्त्र वा बौद्धपुरी सुगतनगरीमवाप गत प्राप्त ।
पट किं क्रियमाणः । इति अमुना प्रकारेण जनैर्लोकैर्व्योमनि आकाशे अर्थाद्गच्छन् वि-
तर्क्यमाणो विचार्यमाण । इति कथम् । यदसौ वज्रस्वामिपटो देहेन वर्तमानेन उदारि-
कशरीरेणैव सह एन दृश्यमान समग्रमखिल संघ सिद्धिपुरी भुक्तिनगरी नयति
प्रापयतीव ॥

ध्यातुर्वरं श्री. श्रुतदेवतेव यस्यादरात्पद्ममदत्त पद्मा ।

वनात्पितुर्मित्रहुताशनस्याग्रहाच्च यो विंशतिलक्षपुष्पान् ॥ ५६ ॥

पर्युषणदिनेषु अष्टाद्विकामहोत्सव कर्तुमिच्छो जैनद्विष्टतया बौद्धनृपतिवारितमा-
लितमण्डलात् पुष्पमात्रमप्यनामुवतः संघस्य कृते कुसुमानयनार्थं प्रस्थितस्य पद्महृदे
यातस्य यस्य वज्रस्वामिन पद्मा लक्ष्मी आदरात् भक्तिभरत स्तवनवन्दनपूर्वक पद्म
खहृदा सहस्रपत्रमादाय भगवत्पूजार्थं प्रयान्ती श्रीस्तत्सहस्रदलकमल पद्मार्थोपगतायास्मै
अदत्त दत्तवती । केव । श्रुतदेवतेव । यथा सरस्वती ध्यातुर्ध्यानकर्तुं पुंस वरमभिम-
तार्थं हि दत्ते । च पुनर्यो वज्रस्वामी पितुर्धनगिरेर्मित्रस्य हुताशननामदेवस्य वनात्का-
ननात् तत्सुरेणैवावचित्यानीय ढौकितान् विंशतिलक्षमितान् पुष्पान् कुसुमान्यग्रहीत्
गृहीतवान् । मित्रतिर्यक् जृम्भकदेवविनिर्मितविमाने स्थापितवानित्यर्थः । पुष्पशब्द
पुनपुसके ॥

मूर्तैरिव स्वस्य गुणैः प्रफुल्लत्पुष्पोत्करैः पर्युषणाक्षणेषु ।

समुन्नतिं शाम्भवशासनस्य तस्यां सुनन्दातनयस्ततान ॥ ५७ ॥

सुनन्दा नाम्नी धनगिरिपत्नी तस्यास्तनयो नन्दनो वज्रस्वामी पर्युषणाक्षणेषु वार्षिक-
पर्वाष्टाहिकादिवासरमहोत्सवेषु तस्या बौद्धनगर्या शाम्भवस्य जैनस्य शासनस्य उन्नतिं
प्रभावना ततान चकार । कै । प्रफुल्लत्पुष्पोत्करैः विकसत्कुसुमसमूहै । उत्प्रेक्ष्यते । मू-
र्तैरङ्गयुतै स्वस्य वज्रस्वाम्यात्मन प्रशमादिभिर्गुणैरिव ॥

प्राबोधयद्वौद्धपुरीप्रभुं यः समं समग्रैरपि पौरलोकैः ।

साकं शकुन्तैरिव पङ्कजानां कुञ्जं समुद्यद्गगनाध्वनीन ॥ ५८ ॥

यो वज्रस्वामी बौद्धपुरीप्रभु सुगतनगरीस्वामिन प्राबोधयत् प्रतिबोधयति स्म । जैनं
चकारेत्यर्थः । कथम् । सार्धम् । कैः । समग्रैः समस्तैरपि पौरलोकैर्नागरिकजनैः स-
मम् । क इव । समुद्यद्गगनाध्वनीन इव यथा अभ्युदय प्राप्नुवन् भास्करः शकुन्तैर्विह-
गमैः साकं सह पङ्कजानां पद्मानां कुञ्जं वनं कमलपटलं प्रबोधयति । जागरयति वि-
काशयति च ॥

अपास्यति स्माढ्यसुतां सरागां यो रुक्मिणीं काञ्चनकोटिभिश्च ।

क्रीडन्मृगेन्द्रां स्मितसल्लकीभिर्निकुञ्जराजीमिव कुञ्जरेन्द्रः ॥ ५९ ॥

यो वज्रस्वामी काञ्चनानां सुवर्णकानां कोटिभिः । 'कोडीसए धणसन्धियस्स गुणस्स
भरियारा कन्नाए' इत्युपदेशमालावचनात् । कोटीनां शतैः सममाढ्यस्य महाव्यवहारिणः
सुतां पुत्री रुक्मिणीति नाम्नी कन्याम् अपास्यति स्म त्यक्तवान् । किंभूताम् । सरागा
स्वसौधसन्निधिस्थितसाध्वीगीयमानयद्रुणग्रामा कर्णनोद्धूतानुरागवशवदतया 'अस्मिन्
भवे मम प्राणनाथो वज्रस्वाम्येव नान्यः' इति कृतनिश्चयतया सन्नेहा जहौ । क इव ।
कुञ्जरेन्द्र इव । यथा गजराजः स्मितसल्लकीभिर्विकसितगजप्रियातरुपङ्क्तिभिः सार्धं 'स-
ल्लकी तु गजप्रिया' इति हैम्याम् । निकुञ्जराजी वनमालामपास्यति । किंभूता निकुञ्ज-
राजीम् । क्रीडन्मृगेन्द्रां स्वेच्छया रममाणपञ्चाननाम् ॥ इति वज्रस्वामी ॥

श्रीवज्रसेनोऽथ तदीयपट्टं व्यभासयत्प्रीणितजन्तुजातं ।

स्फुरन्मदोद्भेद इव द्विपेन्द्रकपोलमानन्दितचञ्चरीक ॥ ६० ॥

अथानन्तरं वज्रसेननामा सूरिस्तदीयपट्टं वज्रस्वामिसबन्धिपदं व्यभासयत् भूषयति
स्म । किंभूतो वज्रसेनः । प्रीणितानि प्रतिबोवप्रदानेन तृप्तियुक्तानि कृतानि जन्तूनां
प्राणिनां जातानि समूहा येन । क इव । स्फुरन्मदोद्भेद इव । यथा प्रकटीभवन् दानो-
दकोदय दीप्यमानः शोभाकारी दानजलाविर्भावो वा द्विपेन्द्रस्य गजराजस्य कपोलं
गण्डस्थलमलकुरुते । किंभूतः । आनन्दिता यथाकामं कुसुमामोदाभिभावुकमदाम्भ-
पातेन प्रमोदिताश्चञ्चरीका मधुकरनिकरा येन ॥

दुर्भिक्षके पायसमेक्ष्य लक्षपक्क महेभ्यस्य गृहे प्रभुर्यः ।

दिने द्वितीये कुलदेवतेव न्यवेदयद्वाविसुकालमस्य ॥ ६१ ॥

य वज्रसेन. प्रभुर्गणस्वामी दुर्भिक्षके द्वितीयवार द्वादशहायनजलवाहावृष्टेरुद्भूत-
दु कालसमये श्रीवज्रस्वामिना दक्षिणस्या दिशि प्रेषित सन् अस्य महेभ्यस्य द्वितीये
आगामिनि दिने वासरे भावि भविष्यत्सुभिक्ष सुकाल न्यवेदयत् कथयामास । केव ।
कुलदेवतेव । यथा सम्यगाराधिता गोत्रदेवी सुभिक्ष निवेदयति । किं कृत्वा । एक्ष्य
आलोक्य । किम् । पायस परमान्नम् । किभूत पायसम् । लक्षेण सुवर्णटङ्कानां शत-
सहस्र्या पक्क शालिदुग्वादि मेलयित्वा राद्ध निष्पन्नम् । कस्मिन् । यस्य कस्यचिन्महे-
भ्यस्य व्यवहारिण गृहे मन्दिरे । तस्यैव चतुर्नन्दनस्येभ्यस्य दीक्षाग्रहणवाग्बन्धपूर्वक
स्वस्तनदिने याममध्ये पञ्चशतीयुगवरीधान्यभृतवहनागमनैर्भाविषुकालमावेदितवानि-
त्यर्थः ॥

चत्वार एतत्तनया विनेयाः शाखाभृतस्तस्य विभोर्बभूवुः ।

इवामरद्वेषिचमूजयश्रीजुष. सुरेन्द्रद्विरदस्य दन्ताः ॥ ६२ ॥

चत्वारः चतु संख्याका एतस्य महेभ्यस्य तनया नन्दनास्तस्य वज्रसेनस्य विभो
स्वामिन विनेया शिष्या बभूवुः । नागेन्द्र-चन्द्र-निर्वृति विद्याराख्या शाखा
विभ्रति धारयन्तीति तादृशा । कस्य के इव । सुरेन्द्रद्विरदस्य दन्ता इव । यथा शक्र-
गजस्य ऐरावणस्य दन्तकोशाश्चत्वारो भवन्ति । किभूता दन्ता । अमरद्वेषिणा दानवानां
चमूनां सेनानां जयस्य विजयस्य श्रियं लक्ष्मीं जुषन्ते सेवन्ते ॥ इति वज्रसेनसूरिः ॥

भर्त्रा सुराणामिव लोकपालेष्वेतेषु सौदर्ययतीश्वरेषु ।

श्रीचन्द्रनाम्ना मुनिपुङ्गवेन तत्पट्टपूर्वा प्रमदेन भेजे ॥ ६३ ॥

एतेषु नागेन्द्र-चन्द्र निर्वृति-विद्याराभिधेषु चतुर्षु सौदर्येषु भ्रातृषु यतीश्वरेषु सूरि-
षु मध्ये चन्द्रनाम्ना मुनिपुङ्गवेन सुरीन्द्रेण तस्य वज्रसेनसूरे पट्ट एव पूर्वा प्राचीदिक्
भेजे सिषेवे । केन । प्रमोदेनानन्देन । केनेव । भर्त्रैव । यथा इन्द्र-यम-वरुण-कुबेराख्येषु
लोकपालेषु मध्ये सुराणां देवानां भर्त्राविपतिना शक्रेण पूर्वाशा सेव्यते ॥

राजा स्वयं राजनत सदोषो निर्दोषमङ्कोपगतो निरङ्कम् ।

सास्तो निरस्त च निजाधिकं य समीक्ष्य चिक्षाय शशी किमर्त्या ॥ ६४ ॥

य चन्द्रसूरि निजादात्मन सकाशात् अविक समीक्ष्य दृष्ट्वा शशी चन्द्र । उत्प्रेक्ष्यते ।
अर्त्या दुःखेन किमु चिक्षाय क्षीणो जात इव । आविष्यमेव दर्शयति । किभूतः
शशी । स्वयमात्मना एको राजा । य किभूतम् । राजभिर्भूमीन्द्रैर्नतं नमस्कृतम् ।
'राजा तु नृपचन्द्रयक्षेषु' इति अनेकार्थः । पुनः किभूतः शशी । सह दोषैः कलङ्का-
दिकैर्दोषया राज्ञ्या च तत्पतित्वाद्वर्तते यः । य किभूतम् । निर्गता दोषा अपगुणा

यस्मात्स । पुनः किभूत शशी । अङ्गेन मध्यवर्तिश्यामतालक्षणेन लाञ्छनेन गुरुदारा-
धिगमनात्कलङ्केनापवादेनोपगतो युक्तः । यः किभूतम् । निर्गतोऽङ्गः सयममालिन्यादिक-
लङ्को मन्तुर्वा यस्मात् । 'अङ्को भूषारूपकलक्ष्मसु । चित्राजौ नाटकाद्यशे स्थाने क्रोडे-
ऽन्तिकागसो ॥' इत्यनेकार्थः । पुनः किभूत शशी । सहास्तेन वर्तते यः । यः किभू-
तम् । निर्गतोऽस्तः क्षयो यस्मात्सदाभ्युदयत्वात् ॥

श्रीचन्द्रसूरैरथ चन्द्रगच्छ इति प्रथा प्रादूरभूद्गणस्य ।

भागीरथीनाम भगीरथाख्यमहीमहेन्द्रादिव देवनद्या ॥ ६५ ॥

अथ चन्द्रसूरिपट्टभवनानन्तरं श्रीयुक्ताच्चन्द्रनामसूरेर्गणस्य कौटिकगच्छस्य चन्द्र-
गच्छ इति प्रथा ख्यातिः प्रादुरभूत् प्रकटीभूता । कस्मात्कस्या इव । भगीरथाख्यम-
हीमहेन्द्रादेवनद्या इव । यथा सगरचक्रिज्येष्ठनन्दनजह्नुकुमारसूनुर्भगीरथ इत्याख्या नाम
यस्य तादृशान्महीमहेन्द्राद्वसुधावासवात् एतावता भगीरथभूपात् देवनद्या गङ्गाया भागीर-
थीति नाम प्रकटीभूतम् ॥ इति चन्द्रसूरिः ॥ इति गच्छस्य चन्द्रगच्छ इति तृतीयं नाम ॥

कल्लोलिकारुण्यरसान्वितस्य सामन्तभद्रप्रभुरस्य पट्टम् ।

व्यराजयद्धारिरुहाकरस्य मध्यं यथोन्निद्रितपुण्डरीकम् ॥ ६६ ॥

अस्य चन्द्रसूरे पट्टं सामन्तभद्रप्रभुर्व्यराजयत् विभूषयामास । अस्य किभूतस्य ।
कल्लोलास्तरङ्गा बाहुल्येन वृद्धिः सजातास्मिस्तादृशेन कारुण्याख्येन कृपानाम्ना रसेना-
न्वितो युक्तः । तस्य । अत्रापि यथा इवार्थः । किमिव । मयमिव । यथा वारिरुहाकरस्य
तटाकस्य मध्यमन्तरालमुन्निद्रित विकस्वरीभूत पुण्डरीकं श्वेतकमलविशेषं विराजयति ॥

वैमुख्यभाग्यो विषयात्कुरङ्गद्वेषीव जज्ञे विपिने निवासी ।

तस्मान्मुनीन्दोर्वनवासिसंज्ञा परा पुनः प्रादुरभून्मुनीनाम् ॥ ६७ ॥

यः सामन्तभद्रप्रभुः विपिने वन एव निवसति तिष्ठतीति एवशीलो जज्ञे जातः ।
प्रायो वनवास्येवासीदित्यर्थः । किभूतः । विषयात् शब्दरूपगन्वरसस्पर्शसंज्ञात् गो-
चरात् वैमुख्य पराङ्मुखता भजते सेवते । सर्वथापि तेषु मनोमात्रमकुर्वन् । क इव ।
कुरङ्गद्वेषीव । यथा मृगेन्द्रो विपिने निवासी स्यात् । किभूतः । विषयाद्देशात् अथ वा
वसद्भूमेर्विमुखतामाश्रयेत् । तस्मात्सामन्तभद्रात्सूरेर्मुनीन्दोः सूरेर्मुनीनां साधूनां पुनश्च-
तुर्थवारं परा अन्या वनवासीति चतुर्थी संज्ञा नाम प्रादुरभूत् प्रकटीबभूवुषी ॥ इति
सामन्तभद्रसूरिः ॥ इति गच्छस्य वनवासीति चतुर्थं नाम ॥

कोरण्टके वीरजिनेन्द्रमूर्तिं दृक्पान्थवृत्तिं कृतपुण्यपाकाम् ।

यः प्रत्यतिष्ठत्किमु सन्नशाला स वृद्धदेवोऽजनि तस्य पट्टे ॥ ६८ ॥

स प्रसिद्धो वृद्धदेवनामा सूरिः सामन्तसूरे पट्टेऽजनि जज्ञे । यत्तदोर्नित्याभिसंब-
न्वात्स कः । यो वृद्धदेवसूरिः कोरण्टके कोरण्टकनाम्नि नगरे वीरजिनेन्द्रस्य महावीर-

देवस्य मूर्तिं प्रतिमा प्रत्यतिष्ठत्प्रतिष्ठितवान् । किभूता मूर्तिम् । दृशोऽर्थाद्भव्यनेत्राण्येव पान्था इतस्ततः भ्रमणशीलत्वात्पथिका तेषां वृत्तिर्वर्तनमाजीविका यत्रातिप्रह्लाददातृत्वात् विश्रामस्थानम् । पुनः किभूताम् । कृतो निर्मितः पुण्यस्य सुकृतस्य पाकः फलप्रदानाभिः मुखता यया । उत्प्रेक्ष्यते—सत्रशाला किमु दानशालामिव । कीदृशी । दृग्वत् पर्यटनकारिणः पान्था मार्गचारिणः तेषां वृत्तिराजीविका यस्याम् । पुनः किभूताम् । कृतः कल्पितः पुण्यः पवित्रः सम्यक् पाकः अन्नादिसंस्कारो यस्याम् ॥ इति वृद्धदेवसूरिः ॥

प्रद्योतनाह्वप्रभुणाप्यमुष्य पट्टं परं वैभवमावभारः ।

त्रैलोक्यलक्ष्मीतिलकायितेन पितुः स्वपुत्रेण यथान्ववायः ॥ ६९ ॥

अपि पुनरमुष्य श्रीवृद्धदेवसूरिशकस्य पट्टं प्रद्योतन इत्याह्वा नाम यस्य तादृशेन प्रभुणा सूरिन्द्रेण कृत्वा परः प्रकृष्टः वैभवः शोभामावभारः वर्त्ते स्म । यथा पितुस्तातस्यान्ववायो वशः स्वपुत्रेण निजनन्दनेन स्वस्य पितुरेव पुत्रेणेति । औरसेनेत्यसूचि । परमा श्रियः विभर्ति । प्रद्योतनसूरिणा पुत्रेण च किभूतेन । त्रैलोक्यस्य भुवनत्रयस्य लक्ष्म्या श्रियस्तिलकवद्विशेषकः इवाचरितेन । 'तैस्तैरात्मगुणैर्येन त्रिलोक्यास्तिलकायितम्' इति चम्पूकथायाम् ॥

प्रबोधयन्भव्यसरोजराजी सशोषयन्दुर्नयकर्दमांश्च ।

दोषोदय निर्दलयन्महस्वी प्रद्योतनोऽन्यः किमभूद्भुवोऽयम् ॥ ७० ॥

अयं प्रद्योतनसूरिः भुवः पृथिव्या अन्यो व्योमापेक्षया अपरः प्रद्योतनः सूर्यः अभूत् सजातः । किभूतः । भव्याः प्राणिनः एव सरोजराज्यः कमलमालास्ताः प्रबोधयन् सम्यक्त्वशालिनः सृजन् । पुनः किभूतः । दुर्नया मिथ्यादृशः एव पट्टास्तान् शोषयन् विरलयन् मूलादुच्छिन्दन् वा । पुनः किभूतः । दोषाणामपगुणानामुदयमाविर्भावः निर्दलयन् विध्वंसयन् मूलतोऽपि निवारयन् । पुनः किभूतः । महस्वी । 'पडिरूवो तेअस्सी' इत्युपदेशमालावचनात् । तेजस्वीः परवादिभिरसह्यः । सूर्योऽपि भव्याः स्वाभिमता मेत्र्यात्पद्मपद्मीविकाशयति, तथा दुष्टो नयो जनादियातनासचारलक्षणो येषां तादृक् जम्बालान् शोषः नयति, तथा दोषाणां रात्रीणामुदयः निर्दलयति । तथा महस्वी प्रतापवाश्च भवति । 'स राशिरासीन्महसा महोज्ज्वलः' इति नैषधे । महसा भूयसः प्रतापानां राशिरिव राशिरिति तद्वृत्तिः ॥ इति प्रद्योतनसूरिः ॥

धिया जयश्चित्रशिखण्डिसूनु गङ्गातरङ्गायितवाग्विलासः ।

श्रीमानदेवः पदमेतदीयः सभ्यः सभास्थानमिवाध्युवासः ॥ ७१ ॥

धिया विशिष्टशोभया युक्तो मानदेवनामा सूरिः एतदीयः प्रद्योतनसूरिसबन्धिवः पदः पट्टमध्युवासाश्रितवान् । किं कुर्वन् । धिया प्रतिभाप्राग्भारेण चित्रशिखण्डिना सप्तर्षीणां सूनुः पुत्रः बृहस्पतिम् । 'सप्तर्षयश्चित्रशिखण्डिनः' तथा 'जीवश्चित्रशिखण्डिजः' इति हैम्याम् । तथा 'विचित्रवाक् चित्रशिखण्डिनन्दनः' इति नैषधे । जयन् पराभवन् ।

पुन किभूत' । गङ्गायास्तरङ्गा' कल्लोलान्तद्वदाचरिता वाचा वाणीना विलासा वैचित्र्यो यस्य । 'असकृदमृतबिन्दुस्यन्दिनो वाग्विलासा' इति चम्पूकथायाम् । 'निरन्तरसुधारसाविष्करिण्या वचनवैचित्र्या' इति चम्पूटिप्पनके । क इव । सम्य इव । यथा पार्श्वसाधुर्वा सभारूप स्थान गृह पद वा आश्रयति । सम्योऽपि किभूत । प्रज्ञया सुराचार्य जयन्, मन्दाकिनी वीचीयमानवचनचातुर्य, सभाया मावु सम्य ॥

पदप्रदानावसरे समीक्ष्य साक्षात्तदसोपरिवाणिपद्मे ।

राज्यादिव क्षोणिपुरंदरस्य भ्रशोऽस्य भावी नियमस्थितेर्हा ॥ ७२ ॥

इत्थ गुरुं स्वं विमनायमानमालोक्य लोकेश्वरगीतकीर्ति' ।

तत्याज य. षड्विकृतीर्त्रतीन्द्रः षडान्तरारीनिव जेतुकाम. ॥ ७३ ॥

ये लोकाना पातालभूमिस्वर्गलक्षणानामीश्वरैरिन्द्रैर्नागेन्द्रनरेन्द्रसुरेन्द्रैर्गीता गानविषयीकृता कीर्तिता वा कीर्तिर्यस्य तादृशो व्रतिना साधूनामिन्द्र स्वामी श्रीमानदेवसूरि षट्सख्याका घृतपक्वान्नतैलगुडदविदुर्गवाभिवा विकृतीस्तत्याज जहाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते— षट्सख्याकान् कामक्रोवमदमत्सरमायालोभादिकान् आन्तरान् अन्तरङ्गान् रिपून् विजेतुकाम पराभवितुमिच्छुरिव । कि कृत्वा । इत्थममुना प्रकारेण विमनायमान विरुद्ध मनो यस्य स विमना, न विमना विमना स्यादिति विमनायते, विमनायते इति विमनायमानस्तम् । 'भृशादिभ्यो भुव्यर्थे च्वेल्लोपश्च हल । भृशादिभ्यश्चव्यर्थे भवत्यर्थे क्यङ् स्यात् न तु च्व्यन्तेभ्य अन्तहल्लोपश्च । अभृशो भृशो भवतीति भृशायते उन्मनायते' इति प्रक्रिया कौमुद्याम् । स्वमात्मीय गुरु प्रद्योतनसूरिमालोक्य दृष्ट्वा । इत्थ कथ पदस्य सूरिपदस्य प्रदानावसरे विश्राणनव्यतिकरे तदसोपरि मानदेवसूरिस्कन्धोपरिष्ठात् साक्षात्प्रत्यक्षलक्ष्ये वाणिपद्मे सरस्वतीलक्ष्म्यौ । वाणिशब्दो ह्रस्वोऽप्यस्ति । 'अन्तर्वाणिस्तु शास्त्रवित्' इति हैम्याम् । अन्यत्रापि—'व' । हा इति खेदे । सरस्वतीलक्ष्मीसंश्रितत्वेन राजादिसत्कारजनितप्रमादाचरणवशादित्यध्याहार्यम् । नियमस्थितेश्चरित्रादस्य मम पट्टवरस्य भ्रशो भावी व्रताद्भ्रष्टो भविष्यतीति । कस्येव । क्षोणिपुरंदरस्येव । यथा कस्यचिद्राज्ञ अन्यायासेवनरूपप्रमादाद्राज्याद्भ्रशो भवति । युग्मम् ॥

चमूभिरुर्वीन्द्रमिवामरीभिरुपास्यमान यमवेक्ष्य कश्चित् ।

कि स्त्रीयुतोऽसाविति सशयानो नडूलकेऽशिक्ष्यत तामिरेव ॥ ७४ ॥

चमूभिर्गजवाजिरथपत्तिलक्षणाभिश्चतुरङ्गिणीभि सेनाभि उर्वीन्द्र क्षोणीशक्रमिव । पद्मा-जया विजया-अपराजिताभिवाभिश्चतसृभिर्देवीभि प्रत्यक्षमुपास्यमान सेव्यमान नडूलनगरोपाश्रयापवरके य मानदेवसूरिमवेक्ष्य दृष्ट्वा असौ आचार्य कि स्त्रीयुतो वनिताकलितोऽस्तीति सशयान सदेह कुर्वाण । कश्चित् स्वय सतिष्ठासुतया दुष्टयवनप्रकरैः प्रणुन्नतन्निकृष्टनिर्जरनिर्मितजनमार्युपप्लवोपद्रुतेन तिक्षशिलानगरीसघेन कृतकायोत्सर्गप्र-

भावादागत(या)नङ्गुलपुरस्थितश्रीमानदेवसूरयो यद्यत्रायान्ति तदा शान्तिर्भवेत्, परमत्र म्लेच्छा आगत्य स्थास्यन्ति, ततः सधेन त्रिवर्षीमध्येऽन्यत्र कुत्रापि गत्वा स्थातव्यमिति जिनशासनदेव्या गिरा श्रीमानदेवसूरीन्द्राकारणार्थं तत्समय एव स्वजनमरकोपद्रवप्रशमनोत्सुकीभूततत्सधेन प्रेषितः । अज्ञातसूरिस्वरूपः कोऽपि श्राद्धः । ताभिर्विजयाप्रमुखसूरीभिरेवाशिक्षिः । शिक्षा ताडयित्वा कुट्टयित्वा दृढबन्धनबद्धं पूकुर्वाणं कृपापारावारश्रीगुरुवाचैव मुक्तः । यत्रैवविवा शङ्काभाजः श्राद्धास्तत्र सर्वथापि श्रीपूज्यपादैर्न गन्तव्यमिति विजयादेवतया निषिद्धाः सन्तः श्रीगुरवस्तत्सधे शान्त्यर्थं शान्तिः 'शान्तिनिशान्तम्' इति विजयादेवीमन्त्रमयलघुशान्तिं विवाय तच्छ्राद्धेन सार्वं प्रेषयित्वा तत्र मरकोपद्रवनिवारितवानिति शेषः ॥ इति श्रीमानदेवसूरिः ॥

तदीयपट्टाम्बरभानुमाली श्रीमानतुङ्गश्रमणेन्दुरासीत् ।

य औजिढत्साधुजनान्निजाज्ञां नाथान्पृथिव्या इव सार्वभौमः ॥ ७५ ॥

श्रीमानतुङ्गनामा श्रमणानां मुनीनां मध्ये इन्दुरिवाह्लादकत्वादिन्दुः सूरिरासीत् बभूव । किभूतः । तदीयो मानदेवसूरिसवन्वी यः पट्टः स एवाम्बरमाकाशः तत्र प्रकाशकत्वादुद्द्योतकारित्वाद्भानुमाली भास्वान् यो मानतुङ्गसूरिः साधुजनान् वाचयमव्रजान् अन्यदर्शनकदाग्रहाग्रस्तत्वेन समीचीनान् लोकान् निजाज्ञा भगवत्प्रणीतसाध्वाचारलक्षणा निजस्यात्मन आज्ञामादेशमौजिढद्वाहयामास वारयाचकार । क इव । सार्वभौम इव । यथा चक्रवर्ती पृथिव्या नाथान् भूपतीन् स्वाज्ञा ग्राहयति ॥

भक्तामराहस्तवनेन सूरिर्बभञ्ज योऽङ्गान्निगडानशेषान् ।

प्रवर्तितामन्दमदोदयेन गम्भीरवेदीव करी धरेन्दो ॥ ७६ ॥

यो मानतुङ्गसूरिः भक्तामर इत्याह्वा नाम यस्य तादृशेन स्तवेन स्तोत्रेण कृत्वा अङ्गात् स्वशरीरादशेषान् अष्टचत्वारिंशदपि निगडान् शृङ्खलान् बभञ्ज भनक्ति स्म । क इव । करीव । यथा धरेन्दो राज्ञः गम्भीरवेदी अवमताङ्कुशः अवगणिततीक्ष्णाङ्कुशप्रहारो हस्ती प्रवर्तितोऽतिप्रवहमानो यो मदोदयो दानवारिप्रादुर्भावस्तेन कृत्वा पादादिनियमनशृङ्खलान् भनक्ति त्रोटयति । 'त्वग्भेदाद्बुविरस्त्रावादामासव्यथनादपि । सज्ञा न लभते यस्तमाहुर्गम्भीरवेदिनम्' ॥

श्रीमानतुङ्गः करणेन भक्तामरस्तुतेस्तं क्षितिशीतकान्तिम् ।

चकार नम्र फलपुष्पपत्रभारेण यद्वत्फलदः वसन्तः ॥ ७७ ॥

येन तृपतिना मार्तण्डचण्डीस्तुतिशतककरणापगतकुष्ठबाणकविकृतचतुरङ्गनवीनाङ्गीभूतमयूरकविमहिमालोकनोद्भूतचमत्कारेण पुनर्जैनदर्शनमाहात्म्यदर्शनोत्कण्ठितचेतसा अष्टचत्वारिंशता शृङ्खलैरापादकण्ठमङ्गं निगडनिबद्धं कृत्वा प्रदत्तमहत्तालकापवरके निक्षिप्तः श्रीमानतुङ्गसूरिः 'भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणाम्' इति नामादिदेवस्तुते स्तोत्रस्य करणेन निर्माणेन तं पूर्वोक्तं स्वपरीक्षाकारिण क्षितिशीतकान्तिं राजानं नम्रं स्वचरण-

प्रणमनप्रवण चकार कृतवान् । य क इव । वसन्तो यद्वत् अत्र यद्वदितीवाथे । यथा वसन्तो मधुसमय फलानि सस्यानि पुष्पाणि कुसुमानि पत्राणि पर्णानि तेषा भारेण वीवधेन कृत्वा फलद वृक्ष नम्र भूमीमण्डलोपगत कुरुते ॥

भयादिमेनाथ हरस्तवेन यो दुष्टदेवादिकृतोपसर्गान् ।

श्रीभद्रबाहु स्वकृतोपसर्गहरस्तवेनेव जहार संघात् ॥ ७८ ॥

अथ पुनयो मानतुङ्गसूरिर्भयमिति पदमादिम प्रथम यत्र तादृशेन हरस्तवेन एतावता 'नमिऊण पणयसुरगण' इति नाम्ना भयहरस्तवेन कृत्वा सघाच्चातुर्वर्ण्यश्रीसघमव्याहुष्टा क्रूरा ये देवा व्यन्तरभवनपतिज्यौतिष्का आदिशब्दाद्देव्यादीना सग्रहस्तत्कृतोपसर्गान् तन्निर्मितविविवोपप्लवान् जहार हतवान् । क इव । श्रीभद्रबाहुरिव । यथा श्रीभद्रबाहु-स्वामी स्वेनात्मना कृत रचित यत् 'उवसग्गहर पास' इति नाम्ना स्तवन श्रीपार्श्वनाथ-स्तोत्र तेन कृत्वा चारित्रभ्रशात्सघापमानितार्तध्यानाद्यन्तरीभूतवराहमिहिरविहितोपसर्ग हरति स्म ॥ इति मानतुङ्गसूरि ॥

सद्धचाननागेश्वररश्मिसाम्यमन्थाद्रिणालोड्य मदाम्बुराशिम् ।

तत्पट्टलक्ष्मीरथ वीरनाम्नाचार्येण वव्रे वनमालिनेव ॥ ७९ ॥

अथ मानसूरेरनन्तर वीर इति नाम यस्य तादृशेनाचार्येण सूरिणा । वीराचार्येणेत्यर्थ । तस्य मानतुङ्गसूरे पट्टलक्ष्मी वव्रे वृता । केनेव । वनमालिनेव । यथा कृष्णेन श्री समुद्रपुत्री वृता । कि कृत्वा । मद उन्मोहसभेद स एवाथ वा अष्टौ कुल-जाति-बल-श्रुत-ऐश्वर्य-रूप-तप लब्धिरूपा मदास्त एव समुद्रस्त सत् शोभन व्यान वर्मशुक्लरूप प्रणिवान तदेवोज्ज्वलत्वान्नागेश्वर शेषनाग स एव रश्मिर्मथनरज्जु तद्युक्तो य साम्य समता तदेव मन्याद्रिर्मन्दराचल तेनालोड्य निर्मथ्य कृष्णेनापि क्षीरसमुद्र मथित्वा तदुद्धृता श्री परिणीता ॥ इति वीराचार्य ॥

ततोऽजनि श्रीजयदेवसूरिर्दूरीकृताशेषकुवादिवृन्द ।

यद्वाग्विलासैरवहेलितश्री सुधा किमु क्षीरनिधौ ममज्ज ॥ ८० ॥

ततो वीराचार्यादनन्तर स श्रीजयदेवनामा सूरिरजनि सजज्ञे । किभूत । दूरीकृता वाढं निर्जित्य निर्वासिता अशेषा समग्रा अपि कुत्सित जिनशासनविरुद्ध वदन्तीत्येव-शीला कुवादिन सौगतादय निहवादयो वा तेषा वृन्द समुदायो येन । स क । यस्य श्रीजयदेवस्य सूरैर्वाग्विलासैर्वचनविलसितैरवहेलिता अवगणना गमिता श्रीर्मा-धुर्यशोभा यस्यास्तादृशी सुधा पीयूषम् । उत्प्रेक्ष्यते—क्षीरनिधौ दुग्धसमुद्रे इव ममज्ज ब्रूडितेव ॥ इति श्रीजयदेवसूरि ॥

स्व.कामिनीकीर्तितकीर्तिदेवानन्दश्चिदानन्दमना मुनीन्द्रः ।

तारुण्यमेणाङ्गमुखीमिवैतत्पट्टश्रिय वैभवमानिनाय ॥ ८१ ॥

स्व'कामिनीभिः सुराङ्गनाभिर्नृत्यादिकारित्वादप्सरोभिः स्वर्वेश्याभिर्वा कीर्तिता पदे पदे गीता अथवा गीतिभिर्विस्तारिता कीर्तिर्यस्य । 'कीर्तिर्यशसि विस्तारे' इत्यनेकार्थः । तादृशो देवानन्दो नाम मुनीन्द्रस्तस्य जयदेवसूरे पट्टश्रियः पट्टवैभवः शोभामानिनाय प्रापयति स्म । किं कृत्वा । चिदानन्दे मोक्षे मनो यस्य । कः कामिव । तारुण्यमेणाङ्गमुखीमिव । यथा यौवनं चन्द्रवदना श्रियं लम्बयति ॥ इति देवानन्दसूरिः ॥

श्रीविक्रमः सूरिपुरंदरोऽभूत्तत्पट्टदुग्धाब्धिसुधामरीचिः ।

तमश्चमूं हन्तुमनाः समग्रां किं विक्रमोऽङ्गीकृतकाययष्टिः ॥ ८२ ॥

ततो देवानन्दसूरेरनन्तरं श्रीविक्रमनामा सूरिषु पुरंदर इन्द्रो बभूव । किभूतः । तस्य देवानन्दसूरे पट्ट एव दुग्धाब्धिः क्षीरसमुद्रस्तत्र तस्य वा वृद्धिकारित्वात्सुधामरीचिश्चन्द्रः । उत्प्रेक्ष्यते—समग्रा समस्तामपि तमसामज्ञानानां पापानां चमूः सेना समूहः वा हन्तुं व्यापादयितुमङ्गीकृता गृहीता काययष्टिः शरीरं येन तादृशो विक्रमः किमु । मूर्तिमान् पराक्रम इवेत्यर्थः ॥ इति विक्रमसूरिः ॥

आसीत्ततः श्रीनरसिंहसूरिः स वाङ्मयाम्भोनिधिपारदृश्वा ।

अत्याजि यक्षः किल येन मांसं स्वापः जगद्वारिजबन्धुनेव ॥ ८३ ॥

ततो विक्रमसूरे पट्टे श्रीनरसिंहनामा सूरिरासीत्सजातः । किभूतः । वाङ्मयः सिद्धान्तः स एवाम्भोनिधिः समुद्रस्तस्य पारं दृष्टवानिति पारदृश्वा पारगामी । 'कनिष्ठा वनिष्ठा' इति सारस्वतसूत्रेण वनिष्ठाप्रत्ययः । किलेति श्रूयते । येन नरसिंहसूरिणा कश्चिदनिर्दिष्टनामा यक्षो वटवासी मांसमत्याजिं त्याजितः । प्रतिबोध्य मांसाशनिताममोचयदित्यर्थः । केनेव । वारिजबन्धुनेव । यथा सूर्येण जगद्विष्वक् स्वापः निद्रावस्थां त्याज्यते ॥ इति नरसिंहसूरिः ॥

महर्घ्यमाणिक्यमिवाङ्गुलीयः षोमाणभूपालकुलप्रदीपः ।

पट्टश्रियं श्रीनरसिंहसूरेरलकरोति स्म समुद्रसूरिः ॥ ८४ ॥

श्रीनरसिंहसूरे पट्टश्रियः समुद्रनामा सूरिरलकरोति स्म । किभूतः । षोमाणनामानो ये भूपाला राजानस्तेषां कुले वंशे गृहे वा उद्योतकारित्वात्प्रदीप इव प्रदीपः । किमिव । महर्घ्यमाणिक्यमिव । यथा बहुमूल्यं रत्नमङ्गुलीयं मुद्रिकामलकुरुते ॥

दिग्वाससो येन विजित्य वादे नागहृदे नागनमस्यतीर्थम् ।

स्ववश्यमानीयत भूमिभर्त्रा दुर्गः प्रतीपानिव सपराये ॥ ८५ ॥

येन समुद्रसूरिणा नागहृदाख्ये नगरे वादे शास्त्रचर्चासमये दिग्वाससोऽनेकान्दिगम्बरान्विजित्य निरुत्तरीकृत्य नागेन वरणोरगेन्द्रेण नमस्य नमस्करणीयं तीर्थं पार्श्वनाथबिम्बं स्ववश्यं जैनश्वेताम्बरसंघायत्तमानीयत । केनेव । भूमिभर्त्रेव । यथा सपराये सग्रामे प्रतीपान्वैरिणो निर्जित्य दुर्गं कोटं स्ववश्यं क्रियते ॥ इति श्रीसमुद्रसूरिः ॥

स मानदेवोऽजनि तस्य पट्टे वाग्देवता यन्मुखपद्मसद्म ।

तृप्तामृतैश्चारुवचोविलासच्छलादिवोद्गारमिवातनोति ॥ ८६ ॥

तस्य समुद्रसूरे पट्टे स भुवि विख्यातो यशोभि प्रथित श्रीमानदेवसूरिरजनि । स क । यस्य मानदेवसूरेर्मुखपद्म वदनकमलमेव सद्म वसतिर्यस्यास्तादृशी वाग्देवता सरस्वती सुधाशनत्वादमृतै सुवारसै तृप्ता आकण्ठपानादतितृप्ति प्राप्ता सती चारवो मनोज्ञा ये वाग्विलासा वचोवैचित्र्य तेषा छलात्कपटात्तदुद्गारममृतोद्गारमिवातनोति कुरुते ॥ इति द्वितीयश्रीमानदेवसूरि ॥

पदे तदीये विबुधप्रभेण स भूयते सूरिपुरंदरेण ।

येनाभिभूतः किल पुष्पधन्वा पुनर्युयुत्सुर्विषमायुधोऽभूत् ॥ ८७ ॥

तदीये मानदेवसूरिसबन्विनि पदे पदे विबुधप्रभेण सूरिपुरंदरेण आचार्यशक्रेण भूयते स्म सजातम् । येन श्रीविबुधप्रभसूरिणा अभिभूत पराजित पुष्पधन्वा काम । किलेत्युत्प्रेक्षायाम् । काव्यकल्पलतायामुक्तत्वात् । पुनर्युयुत्सुर्द्वितीयवार प्रभुणा सम यो-
दुमिच्छु सन् विषमानि तीक्ष्णानि दुर्जेयान्यायुवानि शस्त्राणि यस्य तादृशोऽभूदिव । मृदुलास्त्रोऽभिभूयते न विषमास्त्र ॥ इति विबुधप्रभसूरि ॥

तत्पट्टपङ्केरुहमानसौका श्रीमाञ्जयानन्दविभुर्वभूव ।

यस्याशयेऽमात्समयोऽप्यशेषः कुम्भोद्भवस्य प्रसृताविवाब्धिः ॥ ८८ ॥

श्रीलक्ष्मी शोभा वा विद्यते यस्मिन् स श्रीमान् जयानन्दनामा विभुर्गच्छाविप तस्य विबुधप्रभसूरे पट्टे स एव पङ्केरुह कमल तत्र मानसौका हसो बभूव । स क । यस्याशये हृदये अशेष समग्रोऽपि समय सिद्धान्तोऽमान्ममौ । आशयशब्देन हृदय-
मपि यथा । 'दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथी चकार कारुण्यरसापगा गिर' इति नैषधे । आशयो मन इति तद्वृत्ति । कस्यामिव । प्रसृताविव । यथा कुम्भोद्भवस्यागस्तिमुने प्रसृतौ प्रसारिताङ्गुलौ पाणौ अब्धि समुद्रो भाति स्म ॥ इति जयानन्दसूरि ॥

यदाननं चन्द्रति दन्तकान्तिज्योत्स्नायते भ्रूयुगमङ्कतीह ।

वाचा विलासोऽपि सुधायते तत्पदे मुनीन्द्रः स रविप्रभोऽभूत् ॥ ८९ ॥

तस्य जयानन्दसूरेः पदे स रविप्रभनामा मुनीन्द्रोऽभूत् । स क । यस्य रविप्रभ-
सूरेरानन मुख चन्द्रति चन्द्र इवाचरति । 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः किप् वा आचारे इ-
त्येके' इति किप्प्रत्यये तदुदाहरणानि कृष्ण इवाचरतीति कृष्णति स्वति कृष्णामास
स्वामासेति प्रक्रियाकौमुद्याम्, तथात्रापीति । यस्य दन्ताना कान्तिज्योत्स्नायते
चन्द्रिकेवाचरति । 'कर्तु क्यङ् सलोपश्च' । उपमानात्कर्तु सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यङ्
स्यात्सलोपश्च । 'अकृत्सार्वधातुके इति दीर्घ' इति प्रक्रियायाम् । इह मुखचन्द्रे
भ्रूयुगमङ्कति लीञ्छनवदाचरति । अत्राप्याचरणार्थे किप् । अपि पुनरिह वक्रविवौ वाचा

वचनाना विलासो वैचित्र्य वैदुषी वा सुधायते पीयूषवदाचरति ॥ इति रविप्रभसूरिः ॥

वर्धिष्णुयत्कीर्तिसुधारणवेन व्यलुम्पि नामाप्यसितादिभावैः ।

अर्हन्महिम्नेव जगत्यजन्यैः सोऽभूद्यशोदेवविभुः पदेऽस्य ॥ ९० ॥

अस्य रविप्रभसूरे पदे स यशोदेवनामा विभुर्गणाधिपोऽभूजज्ञे । स क । वर्धिष्णुर्वर्धनशील । ‘दूरवर्धिष्णुपापर्वि’ इति पाण्डवचरित्रे । यशोदेवसूरे कीर्तिरेव सुधारणव क्षीरसमुद्रस्तेन कृत्वा करणपदम् । असितादिभावैः कृष्णनीलपदार्थे स्वनामापि व्यलुम्पि लुप्तम् । तद्यशोभिर्ववलीकृते रार्चविश्वे नीलादिपदार्था कापि नावसीयन्ते इति लोपः । केनेव । अर्हन्महिम्नेव यथा तीर्थकृन्माहात्म्येन करणपदेन कृत्वा जगति भूलोके अजन्यै ईतिभिः स्वनामापि लुप्यते । ‘अजन्यमीतिरुत्पातः’ इति हैम्याम् ॥ इति यशोदेवसूरिः ॥

प्रद्युम्नदेवोऽथ पदे तदीये प्रद्युम्नदेवोऽभिनवो बभूव ।

भिन्दन्भव मुक्तरतिर्दवीयो भवन्मधुर्विश्वविभाव्यमूर्तिः ॥ ९१ ॥

अथानन्तरं तदीये यशोदेवसबन्धिनि पदे प्रद्युम्नदेवनामा सूरिर्बभूव । किभूतः । अभिनवो नवीनः प्राचीनो द्विसदृशलक्षणः प्रद्युम्नदेवः कन्दर्पदेवः । अभिनवत्वमेव दर्शयति । किं कुर्वन् । भवः ससारं भिन्दन् उच्छेदयन् । स्मरस्तु भवेन शम्भुना भिन्नः, अयं स्वयं भवः भिनत्ति । पुनः किभूतः । मुक्ता त्यक्ता रतिः विश्वे ह्यादिपदार्थेषु प्रीतिरासक्तिर्वा येन । स्मरस्तु रतिप्रियः । पुनः किभूतः । दवीयः अतिशयेन दूरे भवत्सपद्यमानः मधुमयः वा यस्मात् । स्मरस्तु मधुर्वसन्तः सहायो यस्य । पुनः किभूतः । विश्वेन जगज्जनेन विभाव्या लोचनकञ्चोलकैर्निपीयमानलावण्यामृता सादरमवलोक्यमाना वा मूर्तिः शरीरं यस्य । स्मरस्त्वनङ्गः ॥ इति प्रद्युम्नदेवसूरिः ॥

श्रीमानदेवेन पुनः स्वकीर्तिज्योत्स्नावदातीकृतविष्टपेन ।

एतत्पदश्रीरगमि प्रतिष्ठा शक्तित्रयेणेव नरेन्द्रलक्ष्मी ॥ ९२ ॥

पुनर्नाम्ना तृतीयवारं श्रीमानदेवेन सूरिणा एतस्य प्रद्युम्नदेवस्य पदश्रीः पट्टलक्ष्मीः प्रतिष्ठा सातिशायिशोभा विख्यातिः वा अगमिः प्रापिता । ‘न्यादयो ण्यन्तनिष्कर्मगत्यर्था मुख्यकर्मणि । प्रत्ययः यान्ति दुह्यादिगौणेऽन्ये तु ययारुचिः ॥ अस्योदाहरणानि यथा—निन्ये विजनमजागरि रजनिमगमि मदमयाचि सभोगम् । गोपी हावमकार्यत भावश्चैनामनन्तेन ॥’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । अयं ण्यन्तः गम्-वातुप्रयोगः । किभूतेन मानदेवेन । स्वस्यात्मनः कीर्तिरेव ज्योत्स्नाः कौमुदी तया अवदातीकृतः अवलितः विष्टपः त्रिभुवनः येन प्रतिष्ठा प्रापिता । केनेव । शक्तित्रयेणेव । यथा प्रभुत्वोत्साहमन्त्रलक्षणेन शक्तित्रिकेण नरेन्द्रस्य राज्ञः श्रीः राज्यलक्ष्मीः प्रतिष्ठा प्राप्यते ॥ इति तृतीयमानदेवसूरिः ॥

वाचंयमेन्द्राद्विमलादिचन्द्रात्पदाब्जभृङ्गीभवदिन्द्रचन्द्रात् ।

अमुष्य पट्टः श्रियमश्रुते स्म परंतपाद्भूप इव प्रतापात् ॥ ९३ ॥

विमलमिति पदमादौ यस्य तादृशाच्चन्द्रात् एतावता विमलचन्द्रात् सुरीश्वरात् अ-
मुष्य श्रीमानदेवसूरे पट्ट श्रिय शोभामश्रुते स्म । किभूतो विमलचन्द्र । पदाब्जयो-
श्वरणकमलयोर्भृङ्गीभवन्तो भ्रमरा सपद्यमाना इन्द्रा शक्राश्चन्द्रा शशाङ्का यस्य । क-
स्मादिव । प्रतापादिव । यथा—भूपो राजा पर वैरिण तापयतीति सत्यार्थात्परतपा-
त्प्रतापात् सकाशालक्ष्मीं शोभामश्रुते ॥ इति विमलचन्द्रसूरि ॥

रेजेऽस्य पट्टे स्मररूपधेयः सूरीन्दुरुद्द्योतननामधेयः ।

दिग्ग्वारणेन्द्रा इव सूरिचन्द्राः सज्जिरे यत्पदधारिणोऽष्टौ ॥ ९४ ॥

अस्य विमलचन्द्रसूरे पदे पदे उद्द्योतननामा सूरीन्दु रेजे वभासे । किभूत ।
स्मर काम तद्वद्रूपधेय प्रशस्त रूप यस्य । ‘य वभार दहन खलु ताप रूपधेयभर-
मस्य विमृश्य’ इति नैषधे । यस्य उद्द्योतनसूरे पदधारिण पट्टधरा अष्टौ अष्टस-
ख्याका सज्जिरे सजाता । के इव । दिग्ग्वारणा इव । यथा—ऐरावत-पुण्डरीक-वामन-
कुमुद-अञ्जन-पुष्पदन्त-सार्वभौम-सुप्रतीक-इति नामान् अष्टौ दिग्गजेन्द्रा भवन्ति ॥

मुहूर्तमद्वैतमवेत्य टेलीग्रामस्य यः सीम्नि बृहद्वटधः ।

अस्थापयच्चैत्यतरोस्तलेऽष्टौ पार्श्वे गणेन्द्रानिव काशिकुञ्जे ॥ ९५ ॥

य उद्द्योतनसूरि अद्वैत समग्रग्रहगोचरोच्चग्रहनवाशादिविशुद्धमुहूर्तमसा वारण-
वेलामवेत्य ज्ञात्वा टेलीग्रामो ग्रामस्य सीम्नि सीमाया बृहद्वटधो महतो न्यग्रोधद्रुमस्य
तले अधस्ताद्भूमौ अष्टौ गणेन्द्रानाचार्यान्स्थापयत् स्थापयति स्म । क इव । पार्श्वे इव ।
यथा श्रीपार्श्वनाथ काशिकुञ्जे वाराणसीपुरीपरिसरवने समवसरणमध्यस्थितसर्वजन-
च्छायाकारिकेवलज्ञानोत्पत्तिकपादपश्चैत्यतरुस्तस्य तले अष्टौ गणधरान् स्थापितवान् ॥

शाखा प्रशाखाभिरमुष्य वृद्धिर्बृहद्वटस्यैव यतो भवित्री ।

ततो बृहद्वच्छ इतीह नामापरं गणस्य प्रकटीबभूव ॥ ९६ ॥

यतो यस्मात्कारणात् शाखा वयरीमुख्या प्रशाखास्तदुद्भवा अपरापरनामधेयरूपा-
स्ताभि कृत्वा अमुष्य गणस्य वृद्धिर्भवित्री विस्तारो भावी । कस्येव । बृहद्वटस्येव ।
यया बृहतो महतो वृद्धस्य वा वटस्य न्यग्रोधस्य प्लक्षवृक्षस्य शाखाप्रशाखाभिर्वृद्धिर्महान्
विस्तारो भवति । तत कारणात् इह जगति भूमीमण्डले चन्द्रगच्छस्य बृहद्वच्छ लो-
कोक्त्या ‘वडगच्छ’ इत्यपर पञ्चम नाम प्रकटीबभूव । विख्यात जातम् ॥ इति श्रीउ-
द्द्योतनसूरि । अत्र गच्छस्य बृहद्वच्छस्यवडगच्छा इति पञ्चम नाम जातम् ॥

माहात्म्यनम्रीकृतसर्वदेवः पदे तदीयेऽजनि सर्वदेवः ।

तारापतिस्तारकपर्षदेव गुणश्रिया यः प्रभुरन्वयायि ॥ ९७ ॥

तदीये उद्द्योतनसूरिसबन्धनि पदे सर्वदेवो नाम्ना सूरिरजनि । किभूत । माहात्म्येन स्वप्रभावेन कृत्वा नम्रीकृता नमनशीला विहिता सर्वे समस्ता अपि देवा इन्द्र-चन्द्रादयः सुरा येन । स क । य प्रभु सर्वदेवसूरिर्गुणश्रिया शमदमसयमवैर्यगा-म्भीर्याद्यनेकगुणलक्ष्म्या अन्वयायि अनुगत । आश्रित इत्यर्थः । क इव । तारापतिरिव । यथा चन्द्रस्तारकपर्षदा ताराश्रेण्या अनुगम्यते आश्रीयते । अत्र पर्षदशब्दश्रेणीवाची । 'उडुपरिषद कि नार्हन्ती निशा किमनौचिती' इति नैषधे । अर्हतो भाव आर्हन्ती । 'अर्हतो नुम्वा' इति विभाषया नुम्विद्यानात् आर्हन्ती आर्हती रूपद्वयसिद्धिरिति प्रसङ्गादर्शिता ॥

यो रामसेनाहपुरे व्रतीन्दुर्लब्धिश्रियं गौतमवद्धानः ।

नाभेयचैत्ये महसेनसूनोर्जिनस्य मूर्तेर्विदधे प्रतिष्ठाम् ॥ ९८ ॥

यो व्रतीन्दुः सर्वदेवसूरिः रामसेना इत्याह्वा नाम यस्य तादृक् पुरे रामसेनिनगरे नाभेयदेवस्य श्रीकृष्णभनाथस्य चैत्ये प्रासादे महसेननाम्नो नृपस्य सूनोर्नन्दनस्य श्रीचन्द्रप्रभस्वामिनः मूर्तेः प्रतिमायाः प्रतिष्ठा विदधे कृतवान् । सूरिः किं कुर्वाणः । गौतमवद्गौतमस्वामीव लब्धीना तपःशक्तिविशेषाणां क्षीरास्रवादिकानां श्रियः शोभा दधानो वारयन् ॥

चन्द्रावतीशस्य नृपस्य नेत्र इवास योऽशेषविशेषदर्शी ।

तं क्लृप्तचैत्यं प्रतिबोध्य वाचा प्रात्राजयत्कुङ्कुणमन्त्रिण यः ॥ ९९ ॥

यः सर्वदेवसूरिः कुङ्कुणनामानः मन्त्रिणः प्रधानः वाचा स्ववाणीविलासेन प्रतिबोध्य ससारविरक्तः कृत्वा प्रात्राजयदीक्षयामास । किभूतः कुङ्कुणम् । क्लृप्तः निर्मापितः चैत्यजिनप्रासादो येन । यः कुङ्कुणो मन्त्री चन्द्रावत्याः पुर्या ईशस्य स्वामिनः चण्डाडलिनगरनाथस्य नृपस्य राज्ञः नेत्र इवास नयनमिव बभूव । तद्वारैव सर्वकार्यार्थानां विलोकनत्वेन । किभूतो यः । अशेषाः समस्ता ये विशेषाः षड्गुणशक्तित्रिकसामादिचतुष्कोपायादिकार्योपनिषदस्तान् पश्यति सम्यक्तया जानाति वक्तीत्येवशीलः समग्रराजकार्यकुशल इत्यर्थः ॥ इति श्रीसर्वदेवसूरिः ॥

कुर्वन्निवासं गवि गौरवश्रीर्गिरामधीशो विबुधैरुपास्यः ।

श्रीदेवसूरिः किमु देवसूरिः पदे तदीयेऽप्यजनिः क्रमेण ॥ १०० ॥

अपि पुनः तदीये सर्वदेवसबन्धनि पदे क्रमेण महावीरपट्टपरिपाठ्या श्रीदेवसूरिरजनिः जातः । उत्प्रेक्ष्यते—देवसूरिः देवसूरिर्बृहस्पतिः किमु देवानां सुराणामाचार्योऽध्यापकः । द्वयोरपि साधर्म्यं दर्शयति—किं कुर्वन् । गवि पृथिव्या स्वर्गे च निवासवसतिः कुर्वन् । पुनः किभूतः । गौरवेण माहात्म्येन गुरुत्वेन शक्रादीनामध्यापकत्वेन । अथ वा गुरुर्बृहस्पतिर्जीवो देवाचार्यस्तत्त्वेन श्री शोभा यस्य । पुनः किभूतः । गिरा

वाचामवीश' । 'वागीशो वाक्पतो वाग्मी' इति हैम्याम् । 'गीर्बृहत्यो पति' इत्यपि च । वाचस्पतित्वात् । पुन किभूत । विबुधै पण्डितै सुरैश्च उपास्य सेव्य । 'विबुध पण्डिते सुरे' इत्यनेकार्थं ॥ इति श्रीदेवसूरि ॥

दोषोदयोदीततमःप्रपञ्चव्यापादनव्यापृतिदीक्षितेन ।

श्रीसर्वदेवेन पदं तदीयमदीपि दीपेन यथा निकेतम् ॥ १०१ ॥

श्रीसर्वदेवेन तदीय देवसूरिसबन्धिपदमदीपि उद्द्योतितम् । केनेव । दीपेनेव । अत्र यथा इवार्थे । यथा कज्जलध्वजेन निकेत मन्दिर दीप्यते । किभूतेन सर्वदेवेन दीपेन च । दोषाणामपगुणाना निशाना च उदयेनाविर्भावेन उदीतानि समेत्य स्थितानि अथवा दोषाणा सभवेन प्रकटीभूतानि यानि तमासि पापानि अन्धकाराणि च तेषा प्रपञ्चो विस्तार तस्य व्यापादन तदेव व्यापृतिर्व्यापारस्तत्र दीक्षितेन गृहीतव्रतेन । सजेनेत्यर्थ । 'उदीतमातङ्कितवानशङ्कत' इति नैषधे । 'सकेतनिकेतमाप्ता' इत्यपि तत्रैव । ईङ् गत्यर्थधातु ॥ इति द्वितीयश्रीसर्वदेवसूरि ॥

श्रीमद्यशोभद्रगणावनीन्द्रः श्रीनेमिचन्द्रव्रतिपुङ्गवश्च ।

तत्पट्टमाकन्दमुभौ भजेते शुकोऽन्यपुष्टश्च यथा विहंगौ ॥ १०२ ॥

उभौ सूरिन्द्रौ तस्य सर्वदेवसूरे पट्ट एव माकन्द सहकारस्त भजेते सश्रयेते । उभौ कौ । एको यशोभद्रनामा गणावनीन्द्र गच्छाविराज । च पुन पर श्रीनेमिचन्द्रनामा व्रतिना साधूना मध्ये पुङ्गव प्रधानो बुरवरत्वादृषभो वा । यथेत्युपमाने । काविव । विहगाविव । यथा उभौ विहंगौ माकन्द भजेते । उभौ कौ । एक शुक कीर , अपरोऽन्यपुष्ट कोकिल ॥ इति यशोभद्रनेमीचन्द्रसूरिन्द्रौ ॥

तयोः पदे श्रीमुनिचन्द्रसूरिरभूततो निर्मितनैकशास्त्र ।

शास्त्रे न कुत्रापि तदीयबुद्धिश्चस्खाल वीङ्क्षेव समीरणस्य ॥ १०३ ॥

ततोऽनन्तर तयोर्यशोभद्रनेमिचन्द्रमुनीन्द्रयो पदे पट्टे श्रीमुनिचन्द्रसूरीन्दुरभूत् । किभूत । निर्मितानि नवीनानि कृतानि स्वय नैकानि बहूनि शास्त्राणि ग्रन्था येन । नवीनग्रन्थनिष्पादनमसा वारणमेवा विना न स्यादत एवोच्यते । तदीया श्रीमुनिचन्द्रसूरिसबन्धिनी बुद्धिर्मति कुत्रापि कस्मिन्नपि शास्त्रे न चस्खाल न स्खलिता न कुण्ठीभूता । अस्खलितानुस्यूतशास्त्रव्याख्याने प्रागत्भ्यवतीत्यर्थ । केव । वीङ्क्षेव । यथा समीरणस्य पवनस्य वीङ्क्षा गति कुत्रापि वनगहनादौ न स्खलति ॥

भूपीडखण्डानिव चक्रवर्ती यतीभवज्जड्विकृतीर्जहौ यः ।

कदापि काये न दधन्ममत्वं पपौ पुनर्यः सकृदारनालम् ॥ १०४ ॥

य श्रीमुनीन्द्रचन्द्रसूरि षट्सख्याका घृत-तैल-दुग्ध-दधि-पक्वान्न-गुड-नाम्रीर्विकृतीर्मदादिबिकारकारिणीर्जहौ तत्याज । कदाचिदपि न भुनक्ति (भुङ्क्ते) स्मेत्यर्थ ।

क इव । चक्रवर्तीव । यथा द्वात्रिंशत्सहस्रदेशाधिपतिश्चक्रवर्तीत्युच्यते । स सार्वभौमः
वैताल्यशैलद्विभागीकृतोत्तरार्धदक्षिणार्धभरतक्षेत्रस्य द्वयोरप्यर्धयो गङ्गासिन्धुनदीभ्या
त्रिभिर्भागैर्विभक्तत्वात् । एको गङ्गातः प्राच्या दिशि, द्वितीयो गङ्गासिन्धुमध्यवर्ती,
तृतीयः सिन्धुनदीतः पश्चिमायाम् । एव भूपीठस्य भारतक्षेत्रक्षोणीमण्डलस्य षट् ख-
ण्डान् जहाति । किं कुर्वन् । यतीभवन् । ससारोद्विग्नः साध्वाचरामङ्गीकुर्वन् । दीक्षा
गृह्णन्नित्यर्थः । च पुनर्यः सूरिः सकृदेकवारमेवारनालकाञ्जिकपपौ पिवति स्म । किं कु-
र्वन् । कदापि कस्मिन्नपि ऐश्वर्यमहत्त्वानुभवसमयेऽपि काये स्वशरीरे मम इत्यस्य भावो
ममत्वं नैव दधत् ॥ इति श्रीमुनिचन्द्रसूरिः ।

निर्जीयते स्म कचनापि नायं कृतोपसर्गैरपि देववर्गैः ।

इतीव नाम्ना भुवि विश्रुतेन जज्ञेऽस्य पट्टेऽजितदेवसूरिः ॥ १०५ ॥

अस्य मुनिचन्द्रसूरे पट्टे अजितदेव इति नाम्ना सूरिर्जज्ञे । उत्प्रेक्ष्यते—इतीव हे-
तोर्भुवि पृथिव्या नाम्नाभिवानेन विख्यातेन । इति किम् । यदयं सूरिः कृता विहिता
उपसर्गा विविधमनोवचनकायक्षोभनप्रकारा उपद्रवा यैस्तादृशैरपि देववर्गैः सुरसाथैः
कचनापि कुत्रापि काले देशे वा न निर्जीयते स्म नाभिभूत इति हेतोरजितदेव इति
नाम्ना आसीत् ॥ इति श्रीअजितदेवसूरिः ॥

जगत्पुनानः सुमनःस्रवन्तीरयो जटाजूटमिवेन्दुमौले ।

अमुष्य पट्टे विजयादिसिहो ध्यासांबभूवाथ तपस्विसिहः ॥ १०६ ॥

अथानन्तरममुष्याजितदेवसूरेः पट्टे विजय इति पदमादौ यत्र तादृशः सिह एतावता
विजयसिहसूरिः अध्यासांबभूव आश्रयति स्म । किंभूतः । तपस्विषु तपःकारकेषु
साधुषु वा सिहः पञ्चाननः । क इव । सुमनःस्रवन्तीरय इव । यथा सुमनसा देवानां
स्रवन्ती नदी गङ्गा तस्या रयः प्रवाह इन्दुमौलेरीश्वरस्य जटाजूटकपर्दम् । ‘शमो क-
पर्दस्तु जटाजूटः’ इति हैम्याम् । श्रयते । विजयसिहो गङ्गाप्रवाहश्च किं कुर्वाणः । जग-
द्विश्च पुनानः पवित्रीकुर्वाणः ॥

सोमप्रभः श्रीमणिरत्नसूरी अमुष्य पट्टे नयतः स्म लक्ष्मीम् ।

इक्ष्वाकुवशं भरतश्च बाहुबलिस्तनूजाविव नाभिसूनो ॥ १०७ ॥

अमुष्य विजयसिहसूरेः पट्टमेकः सोमप्रभनामा अपरो मणिरत्ननामा सूरी आचार्यौ
लक्ष्मीशोभा नयतः प्रापयताम् । काविव । तनूजाविव । यथा नाभिनाम्नः सप्तमकुल-
करस्य सूनोर्नन्दनस्य श्रीऋषभदेवस्य पुत्रौ । एको भरतचक्री च पुनर्द्वितीयो बाहुबलिर्द्वौ
तनयौ श्रीऋषभदेवस्य बाल्यावस्थायां वशस्थापनार्थं समेतस्य पुरदरस्य पाणिस्थितेशु-
यष्टेरवलोकनात्प्रभोस्तद्वल्लानाभिलाषादिन्द्रेण स्थापितमिक्ष्वाकुवशभूषा नयतः ॥ इति
सोमप्रभमणिरत्नसूरीन्द्रौ ॥

श्रीमज्जगच्चन्द्र इदं पदश्रीललामलीलायितमाततान ।

येनोज्झि शैथिल्यपथस्तटाको घनाविलो मानसवासिनेव ॥ १०८ ॥

श्रीमानतिशायिशोभाभाजन जगच्चन्द्र इति नाम्ना सूरिरिदं पदस्य इदमद एतदित्यादिशब्दा समासान्ता अपि दृश्यन्ते । यथा नैषधे—‘इदं यशासि द्विषत सुवारुचः’ इति । अनयो सोमप्रभमणिरत्नसूरीन्द्रयो पदस्य त्रियो लक्ष्म्या ललाम्रस्तिलकस्य ललामस्य वा । ललामशब्दो नान्तोऽदन्तश्च । लीलायित लीलावदाचरित लीलयाचरित वा आततान कुरुते स्म । गुरुपटलक्ष्मीतिलकमासीदित्यर्थः । येन श्रीजगच्चन्द्रसूरिणा शैथिल्यपथः स्वगच्छवासिसाधुजनानां कलिकालानुभावात्सयमपालने हीनतमाध्यवसायभाजा शिथिलताकलितो मार्ग औज्झि त्यक्तः । प्राचीनमुनीनां मार्ग आदृत इत्यर्थः । त्यक्तः केनेव । मानसवासिनेव । यथा हसेन घनेन मेघदृष्ट्या आविलः कलुषीभूतजलस्तटाक उज्झियते । वर्षाकाले हि हसा जलदजलागमनजम्बालबहुलीभूतपयासि सरासि सत्यज्य मानसमेवाद्वियन्ते । ‘क्रुद्धोलूकनखप्रपातविगलत्पक्षा अपि स्वाश्रय ये नोज्झन्ति पुरीषपुष्टवपुषस्ते केचिदन्ये द्विजाः । ये तु स्वर्गतरङ्गिणीविसलतालेशेन सवर्षिता गङ्गानीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहसा वयम् ॥’ इति सूक्ते ॥

द्वात्रिंशदाशावसनैरभेद्यो वादं सृजन्हीरकवद्यदासीत् ।

आघाटभूपेन स हीरलाद्यो नाम्ना जगच्चन्द्र इति न्यगादि ॥ १०९ ॥

यद्यस्मात्कारणाद्यः श्रीजगच्चन्द्रसूरिः द्वात्रिंशत्सख्याकैराशावसनैर्दिगम्बराचार्यैर्वादिभिः सार्धं वादं सृजन् कुर्वन् हीरकवद्वज्रमणिरिव अभेद्यो भेत्तुमशक्य अजेय आसीत् तत्कारणादाघाटनामनगरस्य भूपेन राज्ञा सप्रति लोके आहूतनगरमिति प्रसिद्धपुरस्य स्वामिना स सूरि इदमेतन्न्यगादि प्रोक्तः । इदं किम् । यद्य सूरिन्द्रो नाम्ना हीरला इति पदमाद्य यत्र तादृशो जगच्चन्द्र एतावता हीरलाजगच्चन्द्रसूरिरिति कथितः ॥

आचाम्लकैर्द्वादशहायनान्ते तपेत्यवापद्विरुद्धं मुनीन्दुः ।

महाहवैर्वैरिविनिर्नयान्ते भर्तेव भूमेर्जितकाशिसंज्ञाम् ॥ ११० ॥

यो मुनीन्दुः श्रीजगच्चन्द्रसूरिः निरन्तरनिर्मितैराचाम्लकैः केवलजलान्तर्भक्तभक्षणलक्षणतपोविशेषैः कृत्वा द्वादशसख्याकानां हायनानां वर्षाणामन्तेऽवसाने तपा इति विरुद्धमवापत् प्राप । द्वादशवत्सरी यावन्निरन्तरमाचाम्लान् कुर्वाण यं प्रेक्ष्य नृपेण प्रोक्तं यदमी महातपा दृश्यन्ते तदा तपा इति विरुद्धवान् प्रभुरभूदित्यर्थः । क इव । भूमिभर्तेव । यथा पृथ्वीपतिर्महद्भिर्गुरुभिराहवैः संग्रामैः कृत्वा वैरिणा शत्रूणां विनिर्जयस्य पराभवनस्य प्रान्ते पर्यन्ते जितकाशी जिताहव इति संज्ञा प्राप्नोति ॥

अस्मात्ततः प्रादुरभूत्तपाख्या नेत्रादिवात्रेर्द्विजराजलेखा ।

अदीप्ति यस्माच्च मुमुक्षुलक्ष्म्या वसन्तमासादिव भानुभासा ॥ १११ ॥

ततस्तथा इति नामकथनानन्तर तद्दिनमारभ्य च अस्माज्जगच्चन्द्रसूरेर्बृहद्गच्छस्य त-
पागच्छ इत्याख्या नाम प्रादुरासीत्प्रकटीबभूव । कस्मादिव । नेत्रादिव । यथा अत्रे-
स्तापसविशेषस्य नयनाद्विजराजस्य चन्द्रस्य लेखा मण्डली प्रादुर्भूता । च पुनर्यस्मात्प्र-
भोर्मुमुक्षुलक्ष्म्या यतिश्रिया अदीपि अधिक दीप्यते स्म । कस्मादिव । वसन्तमासा-
दिव । यथा मधुसमयाद्भानोर्भास्करस्य भासा प्रभया दीप्यते ॥ इति श्रीजगच्चन्द्रसूरि ॥
इति बृहद्गच्छस्य तपागच्छ इति षष्ठ नाम सजातम् ॥

देवेन्द्रकर्णाभरणीभवद्विर्यशोभिरुद्भासितविष्टपेन ।

देवेन्द्रदेवेन बभेऽस्य पट्टे विष्णोर्यथा वक्षसि कौस्तुभेन ॥ ११२ ॥

अस्य श्रीजगच्चन्द्रसूरे पट्टे देवेन्द्र इति नाम यस्य तादृशेन देवेन भट्टारकेण । ‘पादा
भट्टारको देव प्रयोज्या पूज्यनामत’ इति हैमीवचनात् । बभे शुशुभे । किभूतेन ।
देवेन्द्राणां सुरसार्वभौमाना कर्णयो श्रवणयोराभरणीभवद्विर्भूषणैः सपद्यमानैः क-
र्णपूरायमाणैः गीतगोष्ठीषु तुम्बुरुप्रमुखसुरगन्धर्वगणजेगीयमानयद्गुणश्रवणैकताना सु-
रेन्द्रा सजायन्ते इत्यर्थः । यशोभिः कृत्वा उद्भासितं शोभा नीतं विष्टपं विश्वं येन ।
केनेव । कौस्तुभेनेव । यथेत्युपमाने । इवार्थे वा । यथा विष्णोर्नारायणस्य वक्षसि हृदये
कौस्तुभेन समुद्रोत्पन्नरत्नविशेषेण उद्भास्यते ॥ इति श्रीदेवेन्द्रसूरि ॥

निजाङ्गनोद्गीतयदीयकीर्तिं शुश्रूषुरक्षिस्व(श्र)वसामृभुक्षा ।

चक्षुःसहस्रे रसिकः किमाधात्पट्टे स तस्याजनि धर्मघोष ॥ ११३ ॥

तस्य देवेन्द्रसूरेः पट्टे स मन्त्रादिशक्तिमान् मुनीनां विघ्नहर्ता प्रसिद्धः धर्मघोषसूरि-
रजनि जातः । यस्य निजस्य शेषनागात्मनः अङ्गनाभिः कामिनीभिः धर्मगीतगोष्ठ्यामु-
त्प्राबल्येन हर्षोत्कृष्टतया वा गीता गानविषयः नीता यदीया श्रीधर्मघोषसबन्धिनी
कीर्तिं शुश्रूषुः श्रोतुमिच्छुः रसिकः जगदद्वैतगुणगणप्रगुणयद्गीतगानाकर्णनो लब्धं सन्
अक्षिणी नेत्रे एव स्व(श्र)वसी कर्णौ येषां तेषामक्षिश्रवसा नागानामृभुक्षा इन्द्र । नागानां
हि चक्षूष्येव कर्णाः, न तु पृथक् श्रवणेन्द्रियभाजः । यतः ‘अश्रोत्रा फणिनस्तदेव रु-
चिरं नो चेदहिस्वामिना’ इति खण्डप्रशस्तौ । उत्प्रेक्ष्यते—नागेन्द्रः चक्षुःसहस्रे नयन-
विशतिशती(?) आवाचकार दवारं वा । ‘शेषो नागाविपोऽनन्तो द्विसहस्राक्ष आलोकः’
इति हैम्याम् । भोगिनो हि नयनैः पश्यन्ति शृण्वन्ति च यतः । ‘अदस्तदाङ्गि फ-
लाढ्यजीवितं दशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम्’ इति नैषधे ॥

मिथ्यामतोत्सर्पणबद्धकक्षं प्रेक्ष्य क्षितौ जीर्णकपर्दिनं यः ।

प्रबोध्य वाचा जितराजविम्बाधिष्ठायकं पूर्वमिव व्यधत्त ॥ ११४ ॥

यः श्रीधर्मघोषसूरिः जावडिनिर्मितः श्रीशत्रुजयोद्धारसमये वज्रस्वामिमाहात्म्यान्नवी-
नकपर्दियक्षेण त्याजितशत्रुजयं जीर्णकपर्दिनराजं गोमुखापरपर्यायं वाचा स्वमधुरया गिरा

प्रतिबोध्य सम्यक्त्वधारिण विधाय जिनराजस्य तीर्थकृतो बिम्बस्य प्रतिमाया अविष्टायक व्यवत्त चकार । कमिव । पूर्वमिव । यथा पूर्वं विमलाचले ऋषभमूर्तेरविष्टायकोऽभूत्तथैव तत्राप्यकृत । किं कृत्वा । प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । अर्यात्त कपर्दिनम् । किंभूतम् । मिथ्यामतस्य विमलाद्रेर्निष्कासनान्यकपर्दिस्थापनेर्ष्यारोषेण मिथ्यात्वस्योत्सर्पणे वृद्धिविवाने बद्धा कक्षा-
ङ्गीकारो येन । कस्याम् । क्षितौ देवकपत्तनादिभूमौ ॥

शिष्यार्थनानिर्मितसंस्तवस्यानुभावतो देवकपत्तनेऽब्धिः ।

भूपस्य शुश्रूषुरिवास्य रत्न तरङ्गहस्तैरुपदीचकार ॥ ११५ ॥

कौतुकान्मणिदर्शनोत्कण्ठया वा निजशिष्याणामर्थनया याच्चयया आग्रहेण वा निर्मितो रचितोऽर्थान्मन्त्रमय सस्तव स्तोत्र तस्यानुभावत प्रभावात् देवकपत्तनममीपसमुद्र अस्य श्रीवर्मघोषसूरेस्तरङ्गा कल्लोला एव हस्तास्तै रत्न मणिमुपदीचकार ठौकयामास । तेषां च स निर्ग्रन्थत्वेनाग्रहणाभावादम्बुवि स्वतरङ्गहस्तोपरि रत्न दर्शयामासेत्यर्थः । कस्येव । भूपस्येव । यथा शुश्रूषु सेवा कर्तुमिच्छु पुमान् राज्ञो रत्नमुपदीकुरुते ॥

विद्यापुरे योऽखिलशाकिनीनामुपद्रव द्रावयति स्म सूरिः ।

श्रीहेमचन्द्रो भृगुकच्छसंज्ञे पुरे यथा दुर्धरयोगिनीनाम् ॥ ११६ ॥

य श्रीवर्मघोषसूरिः प्राक् सावुजनसतापकारिकाणां स्वागमने पट्टकादिमण्डन मास-
लोहकटकीभूतपायसवटकविहारण च गुरुशयनपट्टिकोत्पाटनचच्चरानयनमित्याद्युपद्रववि-
वायिकानां श्रीविकानामधारिकाणामखिलानां सर्वासां शाकिनीनां सिद्धसीकोत्तरिकाणां-
मुपसर्गमुपद्रव द्रावयति स्म । चच्च(त्व)रे गमनानन्तरं गुरुभिरुच्छायाभिमन्त्रितचतुः सूचीनां
पट्टिकाचतुः पादोपरिक्षेपणेन स्तम्भितानां विभातप्रायविभावर्यां विवसनानां तासां बहु-
विलपनाननाङ्गुलीक्षेपणनृपतिमृतिभीतिनिवेदनब्रह्मादिसप्तवाग्बन्धप्रदाननगरजनविज्ञप्त्य-
वधारणालयान्तं पट्टिकानयनपूर्वकं निवारितान् सावुजनान् निरुपद्रवाश्चक्रे । क इव । श्रीहे-
मचन्द्र इव । यथा श्रीहेमाचार्यः भृगुकच्छ इति संज्ञा नाम यस्य तादृशे पुरे स्वनिर्मापित-
श्रीमुनिसुव्रतस्वामिप्रासादे प्रह्लादाद्भगवत्पूजां प्रणीय सायं चैत्याकाशभूमौ नृत्यं कुर्वतस्त-
दवसरे कुत्रचित् प्रयान्तीनां दुर्धराणामुत्कटानां दुष्टानां चतुःषष्टिमितानां योगिनीनां-
मव्यन्तरीविशेषाणां दोषे सजाते सति निश्चेष्टकाष्ठीभूताम्रमन्त्रिणो ज्ञानवृत्तान्तं पवन-
सावनया गगनमार्गेण क्षणेनागतः श्रीहेमचन्द्रसूरिः समेत्य सार्वं समेतयशोभद्रगणिता-
सिन्धुदेवीप्रासादे गत्वा हक्कादानात्सिन्धुदेवतया भाषणकृते जिह्वाकर्षणादतिरोषजुषा ग-
णिनो दूष(स्व)लमध्ये कर्करोपरिमुशलप्रहारप्रदानात्राहिं त्राहीति सिन्धुदेवीशरणीभूताभि-
स्ताभिः समं सिन्धुदेवी सयशोभद्रश्रीहेमचन्द्रसूरिं सानुनयं पदयोः प्रणनाम । तद्वाग्बन्ध-
कपूर्वकं सर्वदेवानामुपद्रवं विद्रावितवान् आम्रभटं च सजीकृतवान् ॥

यो योगिनं पुष्पकरण्डिनीस्थं दुश्चेष्टितैर्भापनबद्धकक्षम् ।

पादावनूत्रं विदधेऽन्तिमोऽहंनिवास्थिकग्रामिकशूलपाणिम् ॥ ११७ ॥

य श्रीधर्मघोषसूरि पुष्पकरण्डिन्यामुजयिन्याम् । 'उजयिनी' स्याद्विशालावन्ती
पुष्पकरण्डिनी' इति हैम्याम् । तिष्ठतीति पुष्पकरण्डिनीस्थस्त कमपि सिद्धचेटकपेट-
कमत एव दुष्टचेष्टितैर्भयकरप्रकारै साधूना भापने भयोत्पादने बद्धकक्ष सजीभूत कोऽपि
साधुस्त प्रतिकर्तुं न शक्नोति अतएव तद्भयकरणप्रकारमाह—प्राक् साधुविहारनिषेधक
गुर्वागमने च गोचरीगतसाधूना प्रश्ने स्थास्यथ । गुरुशिक्षितैस्तेरुक्तम् । स्थिता स्म ।
ततो महत्कुङ्कालतुल्यदन्तानदर्शययोगी । साधव कपोनिका दर्शयित्वा गुरुपार्श्वे गता ।
तत उपाश्रयेऽपि अतिभयकरप्रचुरोन्दरविडालकुङ्कुरशृगालश्वापदवृश्चिकभुजगादिदर्श-
नादिना गुरुमपि भापनोद्यत प्रभुणा च जैनमन्त्रस्मरणानुभावेन पुरजननृपतच्छिष्यसमक्ष
मन्त्राविष्टायकेन बद्धा पुरप्रासादशिखरसघट्टनास्फालनपूर्वक घनघृष्यमाणप्रवहच्छो-
णितशरीर शिष्या अह म्रिये म्रिये कोऽपि मामवत्विति पुन पुनर्दीनभाषिण वेदनया
पूत्कुर्वाण गगनेनोपाश्रये नीत योगिन पदावनम्र स्वचरणयोर्नमनशील विदधे कृतवान् ।
क. इव । अर्हन्निव । यथा अन्तिमश्चरमश्चतुर्विंशतितमोऽर्हन् जिन श्रीमन्महावीर-
देव. अस्थिकग्रामस्थायुकश्चूतपाणिनामान यक्ष स्वचरणसेवापरायण चक्रे । सोऽपि
किभूतः । दुष्टैर्जीवप्रणाशनकरैश्चेष्टितैरुपसर्गैर्भगवतो भापनोद्यतम् (१) ॥

यस्योपदेशान्नृपमन्त्रिपृथ्वीधरश्चतुर्भिः सहितामशीतिम् ।

ज्ञातीरिवोद्धर्तुमिदमिताः स्था व्यधापयत्तीर्थकृतां विहारान् ॥ ११८ ॥

यस्य श्रीधर्मघोषसूरेरुपदेशाद्वाचा नृपस्य मालवमण्डलपतिमण्डल पाचलस्थपातिसा-
हेर्मन्त्री प्रधान पृथ्वीधर लोकोक्त्या च पेधडदे इति नामा चतुर्भिः सहिता युतामशी-
तिमेतावता चतुरशीति तीर्थकृता श्रीजिनानां विहारान् प्रासादान् व्यधापयत्कारितवान् ।
उत्प्रेक्ष्यते—इदमिता प्रासादसख्याश्चतुर्विंशतिप्रमाणा स्वा स्वकीया वणिकसबन्धिनी-
श्चतुरशीतिज्ञातीरुद्धर्तुं ससारान्निस्तारयितुमिव । तथा तस्योपदेशाच्च श्रीशत्रुजयगिरि-
नारिसघपतीभवन् रैवतगिरौ च इदमस्माक तीर्थमिदमस्माक तीर्थमिति मिथो दिगम्बरैः
सह विवादे 'य इन्द्रमाला परिधत्ते तस्येद तीर्थम्' इति सघवृद्धैः प्रोक्ते सुवर्णसिद्ध्या-
ग्रायेण स्वकृतसुवर्णषट्पञ्चाशद्वटीभिः इन्द्रमाला परिहितवान्, तथा शत्रुजयोजयन्तमूल-
प्रासादशिखरदण्डयोरेकसौवर्णध्वजाविरोपणादिना चाष्टौ घटीर्व्ययितवाश्चेति शेष ॥

दंशादहेर्ग्राहितकाष्ठभारविषौषधीसज्जतनुर्निशान्ते ।

महात्मवद्यो विकृतीर्विहाय वृत्ति व्यधादेव युगंधरीभिः ॥ ११९ ॥

यो धर्मघोषसूरि युगंधरीभिरेव वृत्तिमाहार व्यधात् । अन्यवान्यप्रत्याख्यान चकारे-
त्यर्थ । किं कृत्वा । घृतादिका षड्विकृतीर्विहाय त्यक्त्वा विमुच्य । किवत् । महात्म-
वत् । यथा महात्मा सुजनोविकृती. परद्रोहादिप्रकारान् पिशुनता वा विजहाति । कि-
भूत । अहेर्भुजङ्गमस्य दशाद्रक्षणात् निशान्ते राज्यवसाने प्रभाते ग्राहिता श्राद्धपार्श्वे
समानायिता या काष्ठभाराद्विषस्यौषधी वल्ली विषापहारिणी लता तया सज्ज निर्विषा तनु

शरीर यस्य । अत्राय संप्रदाय — कदाचिन्नक्त दुष्टसर्पस्य दशाद्विषवेगोद्भवन्मूर्छया घूर्णित गुरुमालोक्य कमपि तदुपायमजानन्त किकर्तव्यतामूढ सद्य विज्ञाय प्रभु सद्य प्रत्याचख्यो—‘प्रातर्या प्रथम काष्ठभारिका समेति तन्मध्यादमुकाभिज्ञानेन विपापहारिणीमौषधीं गृहीत्वा वृष्ट्वा च मृदुको(महशे) देया सज्जो भविष्यामि’ इति गुरुगिरमाकर्ण्य हृष्टेन सधेन तथाकृते सजीभूत प्रभुस्तदादिषड्विकृती. प्रत्याख्याय युगवयैव केवलमाहारमकरोदिति ॥ इति वर्मघोषसूरि ॥

यस्मादिदीपे चरणस्य लक्ष्मीज्योत्स्नेव चान्द्री शरदोऽनुषङ्गात् ।

सोमप्रभाख्यो जनदृक्चकोरीसोमप्रभ सूरिरभूत्पदेऽस्य ॥ १२० ॥

अस्य वर्मघोषसूरे पदे सोमप्रभ इत्याख्या नाम यस्य तादृश सूरिरभूत् । किभूत । जनाना लोकाना दृशो दृष्टय ता एव चकोर्यो ज्योत्स्नाप्रियप्रियास्तासा प्रह्लादकत्वेन सोमस्य चन्द्रस्य प्रभेव चन्द्रिकेव य । यस्मात्सूरेश्वरणस्य चारित्रस्य लक्ष्मीर्दिदीपे अतीव शोभितवती । केव । ज्योत्स्नेव । यथा शरदो मेघात्ययस्यानुपङ्गादाश्लेषात्सगमाच्चन्द्रस्येव चान्द्री कौमुदी दीप्यते ॥ इति श्रीसोमप्रभसूरि ॥

तेनापि सोमतिलकाभिधसूरिरात्म-

पट्टे न्यवेशि वशिलक्ष्मिलसल्ललामम् ।

वादिषु येन परवादिकदम्बकस्या-

नध्यायता प्रतिपदेव मुखे न्यवासि ॥ १२१ ॥

अपि पुनस्तेन श्रीसोमप्रभसूरिणा आत्मपट्टे स्वपदे सोमतिलक इत्यभिधा नाम यस्य तादृश सूरिराचार्य न्यवेशि स्थापित । ‘न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन य’ इति नैषधे । किभूत । वशिना जितात्मना श्रमणाना या लक्ष्मीस्तस्या लसद्दीप्यमान ललाम तिलकम् । ललामशब्दो नकारान्तोऽकारान्तोऽप्यस्ति । येन सोमतिलकसूरिणा वादिषु पारे नैयायिकादय पारे जैनाभासा परपक्षीयास्त एव वादिनो वाद कर्तुमुद्यतास्तार्किका वा तेषा कदम्बकस्य वृन्दस्य मुखेऽनध्यायता तूष्णीकता मौनमेव न्यवासि वासिता । कयेव । प्रतिपदेव । यथा प्रतिपत्तिथिना छात्राणा मुखेऽनध्यायता अध्ययनाभावो मुखे वास्यते । ‘प्रतिपत्पठनाशिनी’ इत्युक्ते ॥ इति सोमतिलकसूरि ॥

सस्थापितो निजपदे गुरुणाथ तेन

श्रीदेवसुन्दरगुरु. सुरसुन्दरश्री ।

अहोमुखेन तिमिरेण तमस्विनीव

येन व्यपास्यत सम मदनेन माया ॥ १२२ ॥

अथानन्तर तेन प्रभुणा श्रीसोमतिलकसूरीन्द्रेण निजस्यात्मन पदे पट्टे श्रीदेवसुन्दरगुरु सस्थापित । किभूत । देववत्सुर इव सुन्दरा जनमनोहरा श्री शरीरशोभा

यस्य । येन श्रीदेवसुन्दरगुरुणा मदेन(दनेन) मुन्मोहसंभेदेन गर्वेण वा । अथ वा जाता-
वेकवचनम् । अष्टभिर्मदै सम माया शठता दम्भचारिता वा व्यपास्यत निरस्ता । केनेव ।
अहोमुखेनेव यथा प्रभातेन तिमिरेणान्वकारेण सार्व तमखिनी रात्रिर्व्यपास्यते । अहो-
मुखेनेत्यत्रालुक्समास , पृथक् पदद्वयी वा ॥ इति श्रीदेवसुन्दरसूरि ॥

घूकैरर्कमिव द्विषद्भिरुदये हन्तुं परैः प्रेषितं

कंचिच्चन्द्ररुचा प्रमादविमुखं स्वापेऽपि दृष्ट्वा प्रभुम् ।

क्षाम्यन्त गदिताखिलव्यतिकर सबोध्य योऽदीक्ष्य-

त्स श्रीमानथ सोमसुन्दरगुरुर्भेजे तदीयं पदम् ॥ १२३ ॥

अथानन्तरं स प्रसिद्धमहिमा श्रीमान् जगति सयमसवेगादिगुणै कृत्वा शोभावान्
सोमसुन्दरनामा गुरुस्तदीय देवसुन्दरसूरिसबन्धि पद भेजे श्रितवान् । स क । य
श्रीसोमसुन्दरसूरि कचिदनिर्दिष्टनामान घातुक घातकारिण पुमास सबोध्य प्रतिबो-
धयित्वादीक्ष्यत् सघस्यादेशपूर्वक तत्समक्ष च प्राव्राजयत् । कचित् किंभूतम् । उ-
दये उद्गमनसमये अर्क सूर्य घूकै कौशिकैरिव उदये सूरिमाहात्म्यदर्शनचमत्कृतचेतो-
भिर्जगज्जनै प्रतिपद प्रणीतातिश्लाघाकर्णनव्यतिकरे द्विषद्भिः वैरायमाणै परै परप-
क्षीयैर्दुर्वादिभिर्वा हन्तु गुरु व्यापादयितु प्रेषित प्रहितम् । पुन किं कुर्वन्तम् । च-
न्द्रोदये चन्द्रे गगनमण्डलमवगाहमाने सति जालान्तरागतसान्द्रचन्द्रिकया स्वापे निद्रा-
वस्थायामपि प्रमादादनवधानताया विमुखम् । प्रमादरहितमित्यर्थ । रजोहरणेन सस्ता-
रक स्वस्य पार्श्व च पृष्ठ च प्रमार्ज्य पार्श्व परावर्तयन्त दृष्ट्वा दृग्गोचरीकृत्य 'अहो अमी
निद्रायामपि क्षुद्रजन्तुजातरक्षाकारिणो दृश्यन्ते, तत्कथमेते कृपापीयूषपारावारा प-
रेभ्यो द्रुह्यन्तो भविष्यन्ति । ततो महापातकिभिरेतदुष्कर्मकारणार्थं प्रेषितेन मया
परलोके शुभोदककाङ्क्षिणा सर्वथाप्येते महानुभावा न घात्या , प्रत्युत रक्षणीया , आ-
त्मनोऽप्यैहिकलौकिकपारलौकिकशिवाय शरणमाश्रयणीयाश्च' इति वितर्कपूर्वक गुरु
जागरयित्वा मनोजनितमपि स्वापराव पादयोर्लगित्वा क्षाम्यन्त गर्हन्त च । अत एव
किंभूतम् । गदित कथित स्वस्यात्मनोऽखिल समस्तोऽपि व्यतिकर परप्रेषणादिक
व्यापार समयो वा येन ॥ इति श्रीसोमसुन्दरसूरि ॥

पट्टश्रियास्य मुनिसुन्दरसूरिशक्रे

सप्राप्तया कुवलयप्रतिबोधदक्षे ।

कान्तेव पद्मसुहृदः शरदिन्दुबिम्बे

प्रीति परा व्यरचि लोचनयोर्जनानाम् ॥ १२४ ॥

श्रीमुनिसुन्दरनाम्नि सूरिशक्रे सप्राप्तया समागतया अस्य श्रीसोमसुन्दरसूरेः पट्ट-
श्रिया जनाना भविकलोकाना लोचनयोनेत्रयो परा प्रकृष्टा प्रीति प्रमोदो व्यरचि ।

कस्मिन्निव । शरदिन्दुबिम्ब इव । यथा शरद शरत्कालसबन्धिनि चन्द्रमण्डले समे-
तया पद्मसुहृद सूर्यस्य कान्त्या दीप्त्या जनदृगा परा प्रीतिर्विरचय्यते । 'पुपोष वृद्धि
हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा ' इति रघुवशे । हरिदश्वो भास्वास्तस्य दी-
धिते कान्तेरनुप्रवेशात्सक्रमणाल्लघुचन्द्रो द्वितीया प्रारभ्य वर्धते-इति तद्वृत्ति ।
किंभूते मुनिसुन्दरसूरीन्द्रे चन्द्रबिम्बे च । कुवलय भूमण्डलमुत्पल च तस्य प्रतिबोधे
बोविबीजदेशविरतिसर्वविरतिप्रमुखप्रदाने विकाशने च दक्षे चतुरे ॥

योगिनीजनितमार्युपप्लवं येन शान्तिकरसंस्तवादिह ।

वर्षणादिव तपर्तुतप्तयो नीरवाहनिवहेन जग्निरे ॥ १२५ ॥

येन श्रीमुनिसुन्दरसूरिणा इह शिवपुर्या भूमीमण्डले दुष्टयोगिनीभिर्दुराशयव्यन्तरी-
देवीविशेषाभिर्जनिता उत्पादिता मारेर्जनमरकस्योपप्लवा उपद्रवा 'सन्तिकर सन्ति-
जिणम्' इत्यादि शान्तिकरनाम्न सस्तवात्स्तोत्रात्स्तुतिप्रभावाज्जग्निरे निहता निवारिता ।
केनेव । नीरवाहेनेव । यथा मेघेन वर्षणाजलवृष्टिविवानात्तपर्तोर्ग्राष्मसमयस्य तप्तय-
स्तापा निहन्यन्ते ॥

बाल्येऽपि रश्मीन्सरसीजबन्धुरिवावधानानि वहन्सहस्रम् ।

अष्टोत्तर वर्तुलिकानिनादशत स्म वेवेक्ति धिया निधिर्य ॥ १२६ ॥

यो मुनिसुन्दरसूरिर्बाल्येऽपि शैशवे क्षुल्लकत्वेऽपि अष्टाभिरविक वर्तुलिकाना कच्चो-
लिकाना 'वाटका कच्चोली' इति प्रसिद्धाना निनादाना शब्दाना शत क्वचित्सहस्र-
मपि वेवेक्ति पृथक् पृथक् कृत्वा कथयति स्म । पत्तनसमागतैरभुक्तदेशोपेतपण्डितद्विज
पत्रावलम्बन विवाय प्रतिपत्तनपण्डितस्थान जलभृतकुण्डलक तृणपूलक च स्वशिष्यै-
र्मोचयन्त तच्छिष्यनिद्वटिनपूर्वक मुनिसुन्दरशिशुना राजसभाया स्वेन सार्व समाग-
तचतुरशीतिपौ(?)षधशालासत्काचार्यैर्वादे जायमाने षण्मास्यन्ते राजकथनपूर्व स्वाह-
ष्टाष्टोत्तरशतवर्तुलिकाना पृथक् पृथक् शब्दान् कथयित्वा त विजिग्ये । पदप्रणम्रीचक्रे
चेति भाव । किंभूत । धिया विशिष्टबुद्धीना निविर्निवानम् । कि कुर्वन् । सहस्र
दशशतीमवधानानि बहुप्रकारवारणाविशेषान् वहन् बिभ्रत् । क इव । सरसीरुहबन्धु-
रिव । यथा भास्वान् बाल्येऽपि रश्मीन् सहस्र रश्मीन् वहते वारयति ॥

अलम्भि याम्या दिशि येन काली सरस्वतीद विरुद बुधेभ्य ।

रवेरुदीच्यामिव तत्र तेजोऽतिरिच्यते यत्पुनरत्र चित्रम् ॥ १२७ ॥

येन श्रीसुन्दरसूरिणा याम्या दक्षिणस्या दिशि अय काली सरस्वती इदमेतद्विरुद नाम
विशेषोऽलम्भि प्राप्तम् । केभ्य । बुधेभ्य दक्षिणात्यपण्डितेभ्य । पुनर्यदु[दी]च्यामु-
त्तरस्या दिशि रवेर्भानोरिव तत्र दक्षिणस्या दिश्यपि अस्य सूरैस्तेज प्रताप । 'एत-
स्योत्तरमद्य न समजनि त्वत्तेजसा लङ्घने साहस्रैरपि पद्मुरङ्गिभिरभिव्यक्तीभवन्भानु-
मान्' इति नैषधे । तेजसा प्रतापाना लङ्घनेऽतिक्रमणे-इति तद्वृत्ति । अतिरिच्यते

अतिशायी भवति । तदत्र जगति महच्चित्रमस्माक जायते । सूर्यस्य दक्षिणस्या तु तेजो-
हानिरुत्तरस्या तु तेजोवृद्धि । एतद्गुरोस्तु दक्षिणस्यामपि प्रतापः केनापि सोढु न श-
क्यत इत्याश्चर्यम् ॥ इति श्रीमुनिसुन्दरसूरि ॥

सूरेस्ततोऽजायत रत्नशेखर श्रीपुण्डरीको वृषभध्वजादिव ।

बाम्बीति नाम्ना द्विजपुङ्गवेन न्यगादि यो बालसरस्वतीति ॥ १२८ ॥

ततस्तस्मात् श्रीमुनिसुन्दरसूरीन्द्रात् रत्नशेखर इति नामा सूरिरजायत । क इव ।
यथा भरतचक्रवर्तिप्रथमसुतः श्रिया गणभृलक्ष्म्या कलित पुण्डरीकनामा श्रीवृषभध्व-
जात् वृषभलाञ्छनात् । 'ध्वजश्चिह्ने पताकाया शिश्रे पूर्वदिशो गृहे । खट्वाङ्गे शोण्डिके
माने' इत्यनेकार्थतिलके । आदिदेवाजज्ञे । य श्रीरत्नशेखरसूरि स्थम्भतीर्थे बाम्बी-
नाम्ना द्विजपुङ्गवेन ब्राह्मणश्रेष्ठेन अय बालसरस्वती इति न्यगादि कथित । तदादि
बालसरस्वतीति विरुद्धधार ॥ इति रत्नशेखरसूरि ॥

लक्ष्मीसागरसूरिशीतमहसा लक्ष्मीरवापे ततो

दीपेनेव गुणोदय कलयता ज्योतिर्बृहद्भानुतः ।

गायन्ती सुरसुन्दरीगुणगणान्यस्याष्टदिक्सङ्गिनी-

विज्ञायाष्ट विनिर्ममे किमु विधि श्रोतुं श्रुतीरात्मनः ॥ १२९ ॥

तत श्रीरत्नशेखरसूरे सकाशात् लक्ष्मीसागर इति नाम्ना सूरिशीतमहसा आचार्येषु
भविकाह्लादकत्वेन चन्द्रेण लक्ष्मी पट्टश्रीरवापे प्राप्ता । केनेव । दीपेनेव । यथा गृह-
मणिना बृहद्भानोर्वहे. सकाशात् ज्योतिर्दीप्तिरवाप्यते । कि कुर्वता सूरिणा दीपेन च ।
गुणानां शमदममार्दवार्जवगाम्भीर्यवैर्यादीनां वृत्ते सूत्रमय्याश्चोदयमाविर्भाव च कल-
यता बिभ्रता । यस्य गुरोर्गुणानां गणान् समूहान् अष्टसु पूर्वोन्नियामीनैर्ऋतप्रतीची-
वायूदीचीशानीदिक्षु विदिक्षु च सद्गोऽस्त्यासामित्यष्टदिक्सङ्गिनीगृदिक्षु सतिष्ठमाना
सुरसुन्दरीर्देवाङ्गना गायन्ती कलकण्ठीकण्ठानुकरणप्रवणाकुण्ठकण्ठकुहरप्रेङ्खोलनापूर्व-
कमपूर्वगीतिमातन्वतीविज्ञाय ज्ञात्वा विविर्ब्रह्मा तान् गुणान् श्रोतुं स्वश्रवणगोचरीक-
र्तुम् । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मन स्वस्याष्टसख्याका श्रुन्ती कर्णान्किमु निर्ममे कृतवानिव सृ-
ष्टिकर्तृकत्वात् । 'द्रुहिणो विरञ्चिर्द्रुघणो विरञ्च परमेष्ठयजोऽष्टश्रवण स्वयम्भू' इति
हैम्याम् ॥ इति श्रीलक्ष्मीसागरसूरि ॥

सुमतिसाधुरभूदथ तत्पदे त्रिजगतीजननेत्रसुधाञ्जनम् ।

समकुचत्रपया हृदि यद्विरा मधुरिमाधरिता किमु गोस्तनी ॥ १३० ॥

अथानन्तर तस्य श्रीलक्ष्मीसागरसूरे पदे सुमतिसाधुरिति नामा सूरिरभूद्वभूव ।
किभूत । त्रिजगत्याल्लोक्यस्य 'त्रिजगती पुनन्ती कविसेविता' इति सप्तशतीस्तो-
त्रकर्तृजिनप्रभसूरिकृत ऋषभनाम्न स्तोत्रे तथा जगतीशब्देन विश्वमप्युच्यते । यथा—

‘स्याल्लोको विष्टप विश्व भुवन जगती जगत्’ इति हेम्याम् । तेन त्रिवसख्योपलक्षिता जगती भुवन त्रिजगतीति सभाव्यते । जना लोका अर्थात् सुरासुरोरगनरास्तेषा नेत्राणा सुवाञ्जन नयनासेचनकत्वेनामृतमयश्रोताञ्जन यद्विरा यस्य वचनविलामाना मधुरिम्ना मावुर्यातिशयेनावरिता हीनीकृता तिरस्कृता सती गोस्तनी द्राक्षा हृदि मनसि त्रपया लज्जोदयेन । उत्प्रेक्ष्यते—समकुचत्किमु सकोच प्राप्तवतीव ॥ इति श्री-सुमतिसाधुसूरि ॥

शीलेन जम्बुगणनाथ इवात्र वज्र-

स्वामी परं किमथ वा महिमोदयेन ।

जज्ञे नवद्वयशतव्रतिसेव्यमाना

नाम्नाश्च हेमविमलः प्रभुरस्य पट्टे ॥ १३१ ॥

अथानन्तरमस्य सुमतिसाधुसूरे पट्टे नाम्ना अभिवानेन हेमविमल गच्छाविराजो जज्ञे जात । किभूत । नवाना नवसख्याना द्वय नवद्वयमेतावताष्टादश तन्मितानि शतानि नवद्वयशतानि । तानीव ते व्रतिनश्च साववस्तै सेव्यमानो नित्यमुपास्यमान । ‘नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्’ इति नैषधे । अष्टादशशतश्रमणपरिवार इत्यर्थः । य श्री-हेमविमलसूरि शीलेन दृढब्रह्मचर्येण कृत्वा अत्र जगति । उत्प्रेक्ष्यते—अपरोऽन्य किमु वज्रस्वामी जज्ञे ॥ इति हेमविमलसूरि ॥

विभूषामद्वैतामकलयदथानन्दविमले

व्रतीन्द्रे विद्राणाखिलकुट्टशि तत्पट्टकमला ।

वसन्ते वासन्तीततिरिव पुनर्धर्मजयिनि

क्षितीन्द्रे राज्यश्रीरिव विजितंविश्वप्रतिभटे ॥ १३२ ॥

अथानन्तर तस्य श्रीहेमविमलसूरे पट्टकमला पदलक्ष्मी आनन्दविमलनाम्नि व्रतिना साव्र्णामिन्द्रे पुरदरे सूरिशक्रे न विद्यते द्वैत युगलमर्यादपरं वस्तुतुल्य यस्या सा द्वैता ताम् । असावारणीमित्यर्थः । विभूषा शोभामकलयत् दवार । किभूता । विद्राणा पलायिता । ‘विद्राणे रणचत्वरत्’ इति नैषधे । अखिला समग्रा अपि कुट्टश परपाक्षिका कुमतभाज परवादिनो वा यस्मात् । पुन केव । वासन्तीततिरिव । यथा मधुसमये माववी अतिमुक्तकी नाम लतापङ्क्तिरनन्या श्रिय विभर्ति । पुन केव । राज्यश्रीरिव । वर्मेणोपलक्षित । अथ वा । वर्मेण कृत्वा जयोऽस्यास्तीति वर्मजयी तादृशे क्षितीन्द्रे पृथ्वीपुरदरे राज्यश्रीर्भूपत्वलक्ष्मी शोभा धत्ते । किभूते नृपे । विजिता पराभूता विश्वे सर्वे प्रतिभटा वैरिणो येन ॥

त्यक्त्वाशेषकुपक्षिकांश्च कुट्टशः किपाकभूमीरुहा-

नरेलम्बैरिव पारिजातशिखरी यो जन्मिभि शिश्रिये ।

येनात्मा शिथिलीभवन्मुनिपथादप्युद्धृतः सूरिणा

संसाराम्बुनिधेरिवोद्धृतकुट्टग्यादोत्रजव्याकुलात् ॥ १३३ ॥

य श्रीआनन्दविमलसूरि जन्मभिर्भविकै शिथिल्यै श्रित । किं कृत्वा । कुट्टश
सौगतादीन् च पुनरशेषान् समस्तान् कुपक्षिकान् लुम्पाकप्रमुखान् त्यक्त्वो विमुच्य
श्रित । कैरिव । रोलम्बैरिव । यथा भ्रमरै किपाकनामानो महीरुहा महाकालपा-
दपा विषवृक्षास्तान्विहाय दूरेणापास्य पारिजातशिखरी मन्दारनामा द्रुमो वृक्षविशेष-
कश्चित्सेव्यते । अथ वा कल्पवृक्षविशेष । कल्प , पारिजात , मन्दार , हरिचन्दन ,
सतान , एते पञ्चापि देवद्रुमा । कल्पद्रुमेऽपि विशेष पारिजात । यथा रघौ—‘कल्प-
द्रुमाणामिव पारिजात ’ इति । अपि पुनर्येन भगवता शिथिलीभवन् प्रमादपदवी परि-
गच्छन् यो मुनीना साधूना पन्था मार्गस्तस्मादात्मा स्वजीव उद्धृत । उत्प्रेक्ष्यते—
उद्धृता उत्कटा ये कुट्टशो दुर्वादिन नैयायिकादय परपक्षिका कुमतमतोद्धोधका वा
त एव यादोत्रजा दुष्टजलचरनिकरा मकरादयस्तैर्व्याकुलात्संकीर्णपरिपूर्णभूताद्भयक-
राद्वा संसारोऽनन्तधाभवपरम्पराभ्रमणरूप स एवापारत्वादम्बुवि. समुद्रस्तस्मादिवो-
द्धृत पार प्रापित ॥

शुद्धा क्रियामुद्धरतोऽस्य भाविनीमद्वत्प्रवृद्धिस्तमितीव शंसितुम् ।

स्वप्नेऽनुयुक्तेरनु कस्यचिज्जिनध्यातुर्द्वितीयेन्दुरदर्शयन्निजम् ॥ १३४ ॥

जिनस्य श्रीपार्श्वनाथस्य ध्यातुर्ध्यानकर्तु । पार्श्वनाथमन्त्रारावकस्येत्यर्थ । कुमरगि-
रिसत्कस्य कस्यचित् श्राद्धस्यानुयुक्ते प्रश्नादनु पश्चात्स्वप्ने स्वापजागरावस्थायामुपवि-
ष्टस्यैव प्रभो पुर किचिन्निद्रानिमीलितनयनस्य द्वितीयेन्दु उदयद्वितीयादिनचन्द्रः
निजमात्मानमदर्शयत् दर्शयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण शंसितु कथयितु-
मिव । इति किम् । मद्वद्यथाय विविधातोयवादनजननमस्करणमहोत्सवविवानपूर्व-
कमहमुदितो दिने दिने चन्द्रिकाकलादिभिर्मम वृद्धिर्भाविनी । तथा—शुद्धा निर्दोषा
क्रिया यथावत्साधुमार्गानुष्ठानमुद्धरतोऽनुतिष्ठत । विशुद्धक्रियोद्धार विदधत इत्यर्थ ।
अस्य श्रीआनन्दविमलसूरे प्रकर्षेण शिष्यप्रशिष्यमाहात्म्यादिभिर्वृद्धिर्भवित्री भविष्य-
तीति । तथा—क्रियोद्धारविवित्सुना सूरीन्द्रेण कश्चित्सिद्धश्रीपार्श्वनाथमन्त्र श्राद्ध
प्रथम पृष्ठस्तेन च ध्यान विदधता किचिन्निद्रामुद्रितनेत्रेणान्युदयमान द्वितीयाचन्द्र
दृष्ट्वा समेत्य प्रभुपुर प्रोचे । यद्यूय द्वितीयाचन्द्र इव दिने दिने वर्धमानान्युदय-
भाजो भविष्यथ, तच्चरितमेव क्रियोद्धार कुरुत, विलम्बो नैव विधेय । तत श्रीआ-
नन्दविमलसूरिणा श्रीहेमविमलसूरिशासनपूर्व शुद्धक्रिया उद्धृता इति वाद ॥

जैनार्चाश्रमणाद्यभावभणनान्म प्लाव्यमानात्मना

जज्ञे द्वीप इव व्रतीशितुरिहोद्धारः क्रियाया नृणाम् । .

विद्यासागरनामवाचकवरो यस्याथ दुर्दृग्गणा-

न्सेनानीरिव चक्रिणो रिपुनृपान्प्राक्स्वस्य वश्यान्व्यधात् ॥ १३५ ॥

इह भरतक्षेत्रदक्षिणार्धमध्यखण्डे व्रतीशितु श्रीआनन्दविमलसूरे क्रियायां शुद्धानु-
ष्ठानस्योद्धारो विधान नृणा भव्यजनाना द्वीप इवान्तर्जले तटमिव जज्ञे जात । किभूताना
नृणाम् । जेनार्चाना तीर्थकृत्सबन्विनीना प्रतिमाना, तथा श्रमणाना साधूनामभावमसत्ता
सिद्धान्ते कापि प्रतिमा प्रोक्ता नास्ति, गुर्जरादिदेशेषु सावव सर्वथा न सन्तीति भणन
लुम्पाककटुकमतीना कथनम् । इत्याद्यपरापरकुपक्षिपक्षस्वस्वकपोलकल्पितकुमतवा-
दरूपैरम्भोभि प्रवर्धमाननीरपूरै प्लाव्यमान उपद्रूयमाणो विविधोद्धतकुमतिमतसन
तसलिलप्लवे । ब्रुडन्नित्यर्थ । आत्मा येषाम् । अथ क्रियोद्धारानन्तर कियति समये व्य-
तिक्रान्ते सति अथ पुनर्यस्य सूरेर्विद्यासागर इति नाम यस्य तादृशो वाचकवर उपा-
ध्यायश्रेष्ठ दुर्दृग्गणान् कुमतिसमूहान् स्ववश्यानात्मायत्तान् सूरीशासनविवायिनो व्य-
धात् कृतवान् । क इव । सेनानीरिव । यथा चक्रिणश्चमूपति रिपुनृपान् प्राक् प्रत्यक्
खण्डादिम्लेच्छभूपालान् स्ववश्यान् चक्रवर्तिनिर्देशकारिण कुरुते ॥

प्रातः साधुवृतस्त्वदापणपुरो यो याति सूरीशिता

सम्यक्सयमवान्स पूर्वगणिवत्सेव्यस्त्वयाहर्निशम् ।

स्वप्नेऽस्वप्नगिरेति यं निजगृहे नीत्वातिभक्त्या प्रभु

श्राद्ध कश्चन मण्डपाद्रिवसतिर्भेजे सगोत्रैः समम् ॥ १३६ ॥

कश्चन कोऽपि मण्डपाद्रौ मण्डपाचले वसतिर्गृह यस्य तादृक् श्राद्ध कटुकमतिरा-
स्तिक स्वप्ने स्वापावस्थायामित्यमुना प्रकारेणास्वप्नगिरा पूर्वजसुरवचनेन अतिभक्त्या
कृत्वा निजगृहे स्वसौवे नीत्वा समानीय य प्रभु स्वगोत्रै स्वस्वजनै सम भेजे श्राद्धीभू-
याराधयति स्म । इति किम् । हे वत्स, त्व तु दुर्वादिप्रातविविवविरुद्वालयनाकर्णनाक-
लितानेककल्पनाजनितसशीतिव्याकुलीकृतनैकलोककलियुगानुभावात्कटुकमतिरस्ति । तथा-
पि प्रातः प्रभाते यामानन्तरमष्टभि साधुभि श्रमणै परिवृत परिकलित य.
सूरीशिता सूरीन्द्र त्वदापणस्य तव हृदस्य पुरोऽग्रे याति गच्छति, स सूरीरस्मिन्
कलियुगे सम्यक् सयमवान् । विशुद्धचारित्रकलित त्वया भवताहर्निश निरन्तर
पूर्वगणिवत् प्राचीनाचार्य इव सेव्य उपासनीय । 'साङ्गे प्रवचनेऽधीती गणिरनूच्चा-
नश्च' इति हैम्याम् । तस्याभिज्ञान तव हस्ते कुसुमान्यर्पयामीति जागरणेऽपि पाणौ
पुष्पाणि दृष्टवान् स्वजनाना च स्वप्ननिवेदनपूर्वं दर्शितवाश्चेति काव्येऽनुक्तमपि जात-
त्वाद्दृत्तौ प्रोक्तम् ॥

तम स्तोमप्राये कुनयनगणैर्दार्ढ्यतमे

कलौ श्रीसूरीन्दुः शरणमभवद्यो जनिमताम् ।

मृगारातिव्यालद्विरदशबरव्यूहबहुले

गिरेर्दु सचारे गहन इव सार्थः पथिजुषाम् ॥ १३७ ॥

य श्रीसूरीन्दुरानन्दविमलसूरिसुधाशु कलौ पञ्चमारककाले जनिमता प्राणिनामा-
श्रयोऽभवद्बभूव । कलौ किभूते । तमसामज्ञानाना पापाना च स्तोम समूहस्तेन प्रायो
बहुल । पुन किभूते । कुनयनाना दुर्वादिना कुपक्षिकाणा च गणै परिवारै दारुणतमे
अतिशयेन सुदृशा भयकारिणि । ते हि सगता सन्तोऽनन्तभवपरम्परा वर्वयन्तीति
भीतिहेतव । क इव । सार्थ इव । यथा सार्थ जनसमुदाय गिरे पर्वतस्य दु खेन
सचरण यत्र स दु खेनोल्लङ्घयितु शक्ये तादृशे गहने कान्तारे रविकिरणाप्रवेशे शा-
खाप्रशाखाभिरेकीभूतविविवृक्षलक्षप्रदेशे पन्थान जुपन्ते सेवन्ते इति कृत्वा पथिजुष
पान्यास्तेषामाश्रयो विथामस्थान शरण भवति । किभूते गहने । मृगारातय सिंहा,
व्याला भुजगा दुष्टा गजा वा, द्विरदा पारे हस्तिन, शबरा भिल्ला, तेषा व्यूहै समूहै-
र्बहुले निर्भरभृते । पुन किभूते । तम स्तोमप्राये अन्वकारभृते । पुन किभूते । कुन-
यनाना दृष्टिविषसर्पाणा गणैर्दारुणतमे अतिभीषणे ॥

गभीरिम्णा पाथोनिधिरिव महिम्नापरमरु-

द्विरिश्चेतो जन्मप्रतिभटतया वा गगनजित् ।

प्रसारै रश्मीनां सरसिरुहिणीनामिव पति

पवित्रीचक्रे यो विहृतिभिरशेषा अपि दिशः ॥ १३८ ॥

यो भगवान् गभीरिम्णा गाम्भीर्येण कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—पाथोनिवि समुद्र इव वर्तते ।
पुनर्महिम्ना माहात्म्येण कृत्वा महतो भावो महिमा । ‘लोहितादेर्दित् इमन्’ इति सार-
स्वतसूत्रेण इमन्प्रत्यय । उत्प्रेक्ष्यते—अपरोऽन्यो मरुता देवाना गिरि पर्वत ।
अन्यो मेरुरिव । वा पुनरुत्प्रेक्ष्यते—चेतसि जन्मोत्पत्तिर्यस्य स स्मरस्तस्य प्रतिभटतया
शत्रुत्वेन गगनजिद्बुद्ध इव । ‘बुद्धस्तु सुगतो वर्ममारलोकखजिद्धर्मराजो विज्ञानमा-
तृक’ इति हैम्याम् । समुद्र इव गम्भीर मेरुरिव महिमावास । बुद्ध इव कामजेते-
त्यर्थ । तथा यो गुरुर्विहृतिभि स्वविहारै कृत्वा अशेषा समस्ता अपि चतस्र पूर्वा-
पश्चिमादक्षिणोत्तरालक्षणा दिश पवित्रीचक्रे पावनीकृतवान् । क इव । पतिरिव ।
यथा सरसिरुहिणीना पद्मिनीना पतिर्भर्ता सूर्य रश्मीना स्वकिरणाना प्रसारैर्विस्तारणै
कृत्वा सर्वाशा पुनाति पवित्रयति ॥

यो दक्षिणावर्त इव स्रवन्तीपतिप्लवे कम्बुकदम्बकेन ।

वाचयमाना निवहेन पृथ्वीपीठे परीतो विजहार सूरि ॥ १३९ ॥

य श्रीआनन्दविमलसूरि वाचयमाना मुनीना निवहेन वृन्देन परीत परिवृत
सन् पृथ्वीपीठे भूमण्डले विजहार विहार कृतवान् । क इव । दक्षिणावर्त इव दक्षिणे

पार्श्वे आवर्तं कुण्डलनालक्षणो यस्य तादृशः शङ्खः कम्बूना वामावर्तवतां शङ्खाना
कदम्बेन गणेन परिवृतः स्रवन्तीना नदीना पत्युर्भर्तुः समुद्रस्य पयःप्लवे नीरपूरे विह-
रति विचरति ॥

भागीरथीव यद्ब्राह्मी पुनीते भुवनत्रयम् ।

परं विशेषः कोऽप्यस्या निम्नगा न कदाचन ॥ १४० ॥

यद्ब्राह्मी यस्य वाणी भुवनत्रयं त्रैलोक्यं पुनीते त्रिजगजनान् पवित्रीकुरुते । केव ।
भागीरथीव । यथा गङ्गा त्रिभिर्निजैः प्रवाहैः त्रिस्रोतस्त्वेन त्रिभुवनं स्वर्गपातालभूमीत्रयं
पवित्रयति । यथा—‘विबुधानन्दमन्दिरं वन्दे रसान्तरप्रौढम्’ इति चम्पूकथायाम् । वि-
बुधानां देवानामानन्दमन्दिरं प्रमोदनमित्यर्थात्स्वर्गमार्गप्रवृत्तम् । ‘नदस्याकाशगङ्गाया
स्रोतस्युद्गमदिग्गजैः’ इत्यपि रघौ । तथा रसाया पृथिव्याम्, तथा अन्तरे स्वप्ने अर्था-
त्पाताले प्रकर्षेण ऊढम्—इति चम्पूवृत्तिः । एतद्विशेषणेन त्रैलोक्येऽपि त्रिभिः प्रवाहैर्गङ्गा
प्रवहतीति कविसमयः । परमस्य ब्राह्म्या कोऽप्यद्भुतवैभवः अस्या विशेषोऽस्ति यत्कदा-
चन कस्मिन्नपि काले निम्नगा निम्नं नीचैरवद्यं गच्छतीति तादृशी न, गङ्गा तु निम्नगा ।
अथ च यस्य ब्राह्मी सरस्वती सरितः गङ्गेव त्रिभुवनं पुनीते । परं केवलमस्या को-
ऽप्याश्चर्यकारी विशेषः । यद्गङ्गा त्रिभिः स्रोतोभिः त्रिभुवनम् । इयं तु एकेन स्रोतसा
वचोनैरन्तर्येऽपि स्रोतः शब्दः—इति टिप्पणके । पवित्रयति निम्नगापि नेत्यर्थध्वनिः ॥

ये कर्णाभरणीवभूवुरनिश विश्वत्रयीजन्मिना

सान्द्रोन्निद्रितचन्द्रिका इव शुचीचक्रुस्त्रिलोकीमपि ।

यान्सस्तोतुमिवाभवद्भुजगराज्जिह्वासहस्रद्वय-

स्तेषां सूरिपुरंदरः स समभूदेको गुणानां निधिः ॥ १४१ ॥

स विशुद्धक्रियोद्धारकारकत्वेन जगद्विख्यातः सूरिपुरंदरः श्रीआनन्दविमलसूरीन्द्रः
तेषां विश्वाह्लादविवायिना पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टानां वा गुणानामेकोऽद्वितीयत्वेन नि-
र्विनिर्वाणः समभूतः सम्यक् जातः । ते के । ये गुणा अनिशः निरन्तरं विश्वत्रयीज-
न्मिना त्रैलोक्योत्पत्तिभाजा सुरासुरनराणां कर्णाभरणीवभूवुः कर्णपूरता प्रापुः । त्रै-
लोक्यलोकां सोत्कण्ठमहर्निशमाकर्णयन्ति स्मेत्यर्थः । पुनर्ये गुणास्त्रिलोकीं जगत्रयीमपि
शुचीचक्रुः अवलयन्ति स्म । का इव । सान्द्रा नीरन्त्रा बहला उन्निद्रिता दिवस्पृथि-
व्योर्विस्तृता चन्द्रिकाश्चन्द्रज्योत्स्ना इव । यथा चन्द्रिका भुवनं श्वेतयति । पुनर्यान् गु-
णान्सस्तोतुः स्तुतिगोचरीकर्तुं भुजगराजः शेषनागेन्द्रः जिह्वानां रसज्ञानां सहस्रयोर्द-
शशत्योर्द्वयं युगलं विंशतिशती यस्य तादृश आसीत् ॥

अश्रोत्रैः श्रोतुकामैर्भुजगपरिवृढैर्यज्जगद्गीतकीर्तिं

शब्दाधिष्ठानमृष्टचैः शतदलनिलयो याचितस्तां चिकीर्षुः ।

न्याय्या नासौ मयातिक्रमितुमिह जगत्सर्गभङ्गीव्यवस्था

शक्ति शब्दं ग्रहीतु किमिति स कृतवानेव तदृष्टिसर्गेः ॥ १४२ ॥

स जगत्सृष्टिनिर्माणकर्मकर्मठत्वेन प्रसिद्धः शतानि शतसख्याकानि दलानि पत्राणि यत्र तादृश 'पर शतसहस्राभ्या पत्र राजीवपुष्करे' इति हैमीवचनात् कमल निलय गृह यस्य । 'ताम्यस्तामरसान्तरालवसतिर्देव स्वयभूरभूत्' इति खण्डप्रशस्तौ । ब्रह्मा तदृष्टिसर्गे तेषां नागेन्द्राणा दृष्टीना लोचनाना सर्गे सृष्टौ निर्माण एव । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतो किमु शब्दं ग्रहीतु श्रोतुमित्यर्थः । शक्ति सामर्थ्यं कृतवानिव । दृक्कर्णा कृता इत्यर्थः । इति किम् । यदिह जगति असौ मत्कृता जगतो विश्वस्य सर्गस्य सृष्टेर्भङ्गी रचना तस्या व्यवस्था स्थापना परिपाटी वा मयैव ब्रह्मणा कर्त्ता अतिक्रमितुमुल्लङ्घयितुं न न्याय्या न युक्तिमती उचिता । योग्येति यावत् । ब्रह्मा किं चिकीर्षुः । ता कर्णसृष्टिं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः । अश्रोत्रे. श्रवणरहितैर्भुजगपरिवृढैर्नागनायकैः शब्दाधिष्ठानानां कर्णानाम् । 'श्रुतौ श्रवः शब्दाधिष्ठाना पेजूपमहानादध्वनिग्रहा । श्रोत्रं श्रवणं च' इति हैम्याम् । सृष्ट्यै नवीननिर्माणाय याचितोऽभ्यर्थितः सन् । किभूतैर्नागेन्द्रैः किं कर्तुकामैः । यस्य श्रीआनन्दविमलसूरेर्जगद्भिस्तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति न्यायाज्जगता जनैः सुरासुरनागनागर-किनरविद्यावरसिद्धसमाजमिश्रितैः सानन्द गीता मधुरध्वनिभिर्गानगोचरीकृता कीर्तिं श्रोतुकामैराकर्णयितुमभिलषद्भिः ॥

भूरेषा किमु चन्द्रचन्दनरसैरालिप्यते सर्वतो

दुग्धाब्धिप्रसरत्तरङ्गितपयःपूरैरिवाप्लाव्यते ।

क्षोदैर्मौक्तिकजैर्विलीनतुहिनैः कुन्दैरुतापूर्यते

यत्कीर्तिं प्रसृतां विभाव्य विबुधैरित्यन्तरारेक्यते ॥ १४३ ॥

यस्यानन्दविमलसूरे प्रसृता भूमण्डले विस्तृता कीर्ति विभाव्यालोक्य विबुधैः पण्डितैरित्यमुना प्रकारेण अन्तश्चित्तमध्ये आरेक्यते विचार्यते । 'रेकृड् शकुड् शङ्कायाम्' इत्यस्य वातो प्रयोगः । इति किम् । एषा भूर्भूमी । उत्प्रेक्ष्यते—चन्द्रचन्दनरसैः कर्पूराकलितश्रीखण्डद्रुमद्रवैः सर्वतः सर्वेष्वपि प्रदेशेषु आलिप्यते किमु ववलीक्रियत इव । अथवा—दुग्धाब्धे क्षीरसमुद्रस्य प्रसरद्भिर्विस्तारं गच्छद्भिस्तरङ्गितैः कलोलमालाकलितैर्भवद्भिस्तरङ्गा सजाता एष्विति वा तादृशैः पयःपूरैर्जलप्लवैः उत्प्रेक्ष्यते । आप्लाव्यत इव । स्वमध्यगतेव क्रियते । सर्वाणि सर्वललमयी विवीयते । उताथवा मौक्तिकेभ्यो मुक्ताफलेभ्यो जायन्ते स्मेति मौक्तिकजैः क्षोदैश्चूणैरिव । चूर्णीकृतमुक्ताभिः पूरितेव । उताथ वा विलीनैर्द्रवीभूतेस्तुहिनैर्हिमैर्वा आपूर्यते । अथ वा कुन्दैर्विनिद्रमुचकुन्दकुसुमैर्वा आपूर्यते निर्भरं म्रियते इत्यारेकास्वान्ते क्रियते । 'सदेहद्वापरारेका' इति हैम्याम् । यत्र सदेहस्तत्रैव विचारः ॥ इति श्रीआनन्दविमलसूरिः ॥

विजयदानमुमुक्षुपुरंदरः पदममुष्य ततः समभूषयत् ।

उदयभूमिभृतः शिखरं शरद्विशददीप्तिरिवाम्बरकेतन ॥ १४४ ॥

ततोऽनन्तरं विजयदाननामा मुमुक्षुणा श्रमणानां मध्ये पुरंदर इन्द्र अमुष्य श्री-
आनन्दविमलसूरे पदं पट्टं समभूषयत्सम्यक् प्रकारेणालकरोति स्म । क इव । अम्ब-
रकेतन इव । यथा भास्वानुदयाचलस्य शृङ्गं शिखरं भूषयति । 'गगनाब्जजलध्वगा'
इति हैम्याम् । पर्यायपरिवर्तनात् । अम्बरकेतनं किंभूतं । शरदा मेघापगमेन वि-
शदा निर्मला जलवररोवाभावादतिदीप्ता दीप्तिः कान्तिर्यस्य ॥

आज्ञा यस्य विधाय मूर्धनि मुदा शीर्षामिवाप्तप्रभो

सौराष्ट्रेषु जगर्षिनामविबुधाधीशा विहारैर्निजैः ।

लुम्पाकान्परिवर्तमारुत इव प्रोन्मूल्य मूलाद्भुमा-

न्सम्यक्त्वाख्यकृषिं सुखं कुलवती चक्रे नभोम्भोदवत् ॥ १४५ ॥

जगर्षिनामानं जग उक्कृषिरिति नामाभिधानं येषां तादृशा विबुधाधीशा पण्डितम-
ण्डलाखण्डला सौराष्ट्रेषु सम्यक्त्वमित्याख्या नाम यस्यास्तादृशी कृषिः कर्षणं सुखं निरु-
पद्रव यथा स्यात्तथा फलवती सफला चक्रे । करोति स्म । क इव । नभोम्भोद इव ।
यथा श्रावणमेघः कृषिं कर्षणं विशेषात्पष्टिक्यत्रीहिजातिसफलां कुरुते । किं कृत्वा ।
लुम्पाकान् 'लूका' इत्यभिधानान् कुपाक्षिकान् मूलात्पादादारभ्य प्रोन्मूल्य मूलादुन्मूल-
यित्वा । कानिव । द्रुमानिव । यथा परिवर्तस्य कल्पान्तकालस्य मारुतः पवनः तरुन्
मूलाद्भुमादुन्मूलयति । स्थानकात् कृष्ट्वा बहिः क्षिपति । कैः । निजैरात्मीयैर्विहारैर्विचरणैः ।
पवनोऽपि स्वप्रचाररहोभिः द्रुमाणां क्षुद्रतरुणां तृणानामुन्मूलनेन ससारः । अथ वा
'नीदण' इति लोकप्रसिद्धेन कृत्वा कृषिः सफला स्यात् । विहाराः । किं कृत्वा । यस्य श्री-
विजयदानसूरे आज्ञामादेशः मुदा हर्षेण मूर्धनि स्वमस्तके विधाय कृत्वा । कामिव ।
शीर्षामिव । यथा आप्तप्रभोरहंद्वाद्धारकस्य आप्तस्तीर्यकरः स चासौ प्रभुश्च स्वामी भु-
वनाधीशस्तस्य शीर्षा 'शेषा' इति प्रसिद्धा कश्चिद्भाग्यवान् लब्ध्वा मौलौ वत्ते ॥

प्राबोधयद्दुःशकनैकतीव्रतपोमिहाप्तोक्तिकृतोक्तियुक्तिभिः ।

स तत्र लुम्पाकजनं यतीन्द्रो भास्वानिवाम्भोजवनमरीचिभिः ॥ १४६ ॥

स यतीन्द्रो जगर्षिप्रज्ञासस्तत्र सौराष्ट्रमण्डले लुम्पाकजनं लुकामतभावितलोकं प्राबो-
धयत् बोधयति स्म । काभिः । आप्तोक्तिः सिद्धान्तस्तेन कृता निर्मिता या उक्तीनां
युक्तयस्ताभिः । किंभूतः । सतीव्राण्यतिदुष्कराणि चतुर्विदारप्रत्याख्यानरूपपञ्चषष्ठसप्ताष्ट-
नवदशाद्युपवसनरूपाणि तपांसि तान्येव प्रतापस्तेषां वा प्रतापस्तमाविभ्रत्कलयन् ।
क इव । भास्वानिव । यथा भानुमान् मरीचिभिः कान्तिभिः कृत्वा अम्भोजवनं कमल-
काननं प्रबोधयति विकासयति ॥

यद्वाचा गलराजमन्त्रिमुकुटो निर्माप्य षाण्मासिकीं

मुक्तिं सिद्धगिरौ व्यधाद्भरतवद्यात्रां समं यात्रिकैः ।

पञ्चाक्षी दमितुं च पञ्चविकृतीस्तत्याज यः सर्वदा

प्राणश्यंस्तरणेग्रहा इव पुनर्यस्योदये दुर्दशः ॥ १४७ ॥

यस्य श्रीविजयदानसूरेर्वाचा अर्थादुपदेशेन कृत्वा गलराज इति नामा मन्त्रिषु प्रवा-
नेषु मुकुट कोटीर गलराज । अथ वा 'गलो महतो' इति लोके प्रसिद्धः । स षट्सु
मासेषु भवा षाण्मासिकी । षण्मासान् यावदित्यर्थः । मुक्ति 'मुगतउ' इति प्रसिद्धा
केनापि कस्यापि पार्श्वे शुक्लद्रविण न मार्गणीयम् अहमेव श्रीमदुक्त यथेप्सित द्रव्य दास्या-
मीत्यधिपस्य प्रोक्त्वा या यात्रिकाणा यात्रा कार्यते सा मुक्तिरिति ता निर्माप्य कारयि-
त्वा सिद्धगिरौ श्रीशत्रुजये भरतवत् ऋषभदेवनन्दनप्रथमचक्रवर्तिसधपतेरार्षभिरिव
यात्रिकैर्यात्रा कर्तुमागतैः सधजनैः सम सार्व यात्रा व्यवच्छकार । च पुनर्यः सूरि
सर्वदा यावज्जीव पञ्चविकृतीस्तत्याज । अहासीजहौ । उत्प्रेक्ष्यते—पञ्चानामक्षाणा समा-
हार पञ्चाक्षी पञ्चेन्द्रियाणि ता दमितुं यन्त्रयितुम् अथवा स्ववशीकर्तुं किमु । इति गर्भि-
तोत्प्रेक्षा । पुनर्यस्य सूर्योदये माहात्म्यप्रादुर्भावे समागमनसमये वा दुर्दशः कुपाक्षिका
प्राणश्यन् पलायिता । क इव । ग्रहा इव । यथा तरणेर्भानोरुदये ग्रहा उपलक्षणान्नक्ष-
त्रतारा प्रणश्यन्ति ॥

रत्नानामिव रोहणोऽम्बुरुहिणी प्रेयानिव ज्योतिषां

विन्ध्याद्रिः करिणामिवामरगिरिः स्वर्भूरुहाणामिव ।

लब्धीना वसुभूतिनन्दन इवाम्भोधिः सुधानामिव

श्रीमत्सूरिशतक्रतुर्भुवि चिर जीयाद्गुणानां गृहम् ॥ १४८ ॥

श्रीमन्तो गणलक्ष्मीशालिनः शोभाभाजो वा ये सूरय आचार्यास्तेषु तेषां मध्ये वा
अद्वैतैश्वर्यकलितत्वेन शतक्रतुरिन्द्र इव । इन्द्रः श्रीविजयदानसूरिर्भुवि पृथिव्या चिर
गलितावधिकाल जीयाद्विजयताम् । किभूतः । गुणानां शमदमादीनां गृहं वासः चेशम् ।
क इव । रोहण इव । यथा रोहणो रत्नाचलो रत्नानां मणीनां गृहम् । 'ये रत्नाचलवा-
सिनो हि पुरुषास्तेषां न रत्नोद्यमः' इत्युक्ते । पुनः क इव । अम्बुरुहिणीनां प्रेयानिव
यथा कमलिनीनां भर्ता भानुर्ज्योतिषां किरणानां गृहम् । पुनः क इव । विन्ध्याद्रिरिव ।
यथा विन्ध्याचलः करिणां गजानां गृहं स्थानम् । पुनः क इव । अमरगिरिरिव । यथा
देवानां पर्वतो मेरुः स्वर्भूरुहाणां कल्पवृक्षाणां स्थानम् । पुनः क इव । वसुभूतिनन्दन
इव । यथा वसुभूतिनाम्नो ब्राह्मणस्य पुत्रः श्रीगौतमस्वामी लब्धीनामक्षीणमहानसीप्रमु-
खाणां तपःसिद्धिविशेषाणां स्थानम् । पुनः क इव । अम्भोविरिव । यथा समुद्रः
सुधानां समुद्रमध्योत्पन्नत्वेन पीयूषाणां स्थानम् ॥

य प्रासूत शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदासिहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्ब्राह्मी क्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गश्चतुर्थोऽभवत् ॥ १४९ ॥

इति श्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि

महाकाव्ये श्रीमन्महावीरदेवपट्टपरम्परावर्णनो नाम चतुर्थं सर्गं ॥

तेन ब्राह्म्या वाग्वादिन्या क्रमौ सेवते आराधयतीत्येवशीलेन विशेषेण आसाम-
स्त्येन जन्मादिप्रारम्भ मर्यादीकृत्य वर्णनागोचरीकृते विरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि
महाकाव्ये श्रीमन्महावीरपट्टपरम्परावर्णनो नाम चतुर्थं सर्गं अभवद्बभूव ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिविरचिताया खोपज्ञहीरसौभाग्यकाव्यवृत्ता

श्रीमन्महावीरदेवमारभ्य विजयदानसूरीन्द्र यावत्पट्टपरम्परा-

प्रादुर्भवनो नाम चतुर्थं सर्गं ॥

पञ्चमं सर्गः ।

आजगाम विहरन्स धरित्र्यां पत्तने विजयदानमुनीन्द्रः ।

राजहंस इव जहुसुतायाः प्रोल्लसत्कमलशालिनि नीरे ॥ १ ॥

अथ चतुर्थसर्गानन्तरं पञ्चमसर्गप्रारम्भे स पूर्वं व्यावर्णितस्वरूपो विजयदाननामा
मुनीन्द्रः सावुशक्रो धरित्र्या गुर्जरदेशविशेषोऽभिवान तत्र विहरन् ग्रामानुग्रामं विच-
रन् सुखं सुखेन विहारं कुर्वन् पत्तने अणहिल्लपाटकाभिवाने पुटभेदने आजगाम आगत्य
समवसत् । किभूते पत्तने । प्रोल्लसन्ती वृद्धिं प्राप्नुवन्ती कमला लक्ष्मीस्तया शालिनि
शोभनशीले । तत्पुरुषे ह्रस्वत्वम् । अथ वा प्रकर्षेण निरन्तरतया वासस्थानत्वादुल्लसन्ती
हृष्यमाणा कमला श्रीर्यत्र तथा शोभनशीले । क इव । राजहंस इव । यथा राजमरालो
जहुसुताया गङ्गाया नीरे आगच्छति समायाति । किभूते नीरे । प्रोल्लसन्ति विजृम्भ-
माणानि यानि कमलानि तैः शालते इत्येवशीले शोभाकलिते । 'महानन्दसाराराजम-
रालायार्हते नमः' इति सकलार्हत्प्रतिष्ठाने ॥

साप्रतीनयुगजन्तुपवित्रीकर्तुरर्हत इव व्रतिभर्तुः ।

आगमं श्रवणगोचरयित्वा नागरा हृदि ननन्दुरमन्दम् ॥ २ ॥

नागराः पत्तनश्राद्धजना हृदि हृदये अमन्दं बहु ननन्दुर्जहृषु । 'परिचरणामन्दनन्द-
नखेन्दु' इति नैपथ्ये । किं कृत्वा । आगममागमनं श्रवणयोः कर्णयोगोचरयित्वा गोचर-
विधाय । श्रुत्वेत्यर्थः । कस्य । व्रतिभर्तुर्विजयदानसूरे । उत्प्रेक्ष्यते — साप्रतीन आनुतिको

युग कलिकाल तस्य तस्मिन् वा ये जन्तवः प्राणिनस्तान् पवित्रीकर्तुं पावनीकरण-
शीलस्य । शीले तृष् । अर्हतस्तीर्थकरस्येव ॥

व्याहता मितमधु स्पृहयद्भिर्नागरैरुपगतैर्गणधारी ।

दानवारि मधुकृन्निकुरम्बैर्गन्धसिन्धुर इवैष नि(सि)षेवे ॥ ३ ॥

आगतै समायातैर्नागरै पत्तनसक्तजनैरेष विजयदानसूरिर्निषेवे(?)भेजे । किं कुर्वद्भि ।
व्याहृत सूरिवचस्तदेवामित प्रमाणरहित मधु क्षौद्र स्पृहयद्भि । 'अमित मधु तत्कथा
मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः' इति नैषधे । कैरिव । मधुकृन्निकुरम्बकैरिव । यथा भृङ्ग-
गणै गन्धेनोपलक्षितः सिन्धुरो वारणो गन्वहस्ती निषेव्यते । किं कुर्वद्भि । दानवारि
मदाम्भ काङ्क्षद्भि ॥

सूरिशक्रपरिषत्कृतभूषैस्तद्रवेषणरसादनिमेषैः ।

वाक्सुधारसपिबैः पुरलोकैर्भूगतैरिव बभे सुरलोकैः ॥ ४ ॥

पुरलोकैर्नागरजनैर्वभे शुशुभे । किभूतै पुरलोकै । सूरिशक्रस्याचार्यपुरदरस्य परि-
षत्सभा । 'पर्षत्परिषदा सह' इति शब्दप्रभेदे । तत्र कृता निर्मिता भूषा शोभा चैस्तै ।
पुन किभूतै । तस्य सूरीन्द्रस्य अर्थाद्गुरुमुखस्य यद्रवेषण दर्शनं तस्य रसादनुरागान्न
विद्यते निमेषो नेत्रनिमीलन येषाम् । पुन किभूतै । वाक् गुरोर्वाणी सैव सुधारसोऽमृ-
तनि स्यन्दः त पिबन्तीति । उत्प्रेक्ष्यते—भूगतै पृथ्वीप्राप्तैर्भूमौ समेतैर्वा पुरा देवी एव
जनास्तैरिव । तेऽपि शक्रसभाविहितशोभा निमेषरहिता पीयूषपायिनश्च भवन्ति ॥

आत्मनामिव वतंसविधित्सात्युत्सुकैर्विकचकोकनदेन ।

पौरमौलिभिरचुम्ब्यत सूरैः संमदात्पदयुगं युगबाहोः ॥ ५ ॥

पौरमौलिभिर्नागरोत्तमाङ्गैः संमदादानन्दात्सूरैर्विजयदानगुरो पदयुग चरणद्वन्द्वम-
चुम्ब्यत । पदयोर्नग्रीभूत इत्यर्थः । किभूतस्य गुरो । युगवद्धृसर इव दीर्घौ बाहू
यस्य । आजानुबाहुत्वादिद विशेषणम् । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मना खेषा विकचेन स्मितेन
कोकनदेन रक्तोत्पलेन वतसस्य शेखरस्य या विधित्सा कर्तुमिच्छा तत्रातिशयेन उत्सु-
कैरुत्कण्ठितैरिव । 'वष्टि भागुरि —' इति सूत्रेण अवोपसर्गस्याकारस्य लोपः ॥ इति गुरो
पौरागमनवन्दने ॥

आगमं गणधरस्य कुमारो ज्ञातवानथ मिथो जनवाग्भिः ।

कोकपोत इव नक्तविरामे ताम्रचूडवचनैस्तपनस्य ॥ ६ ॥

अथ गुरोरागमनानन्तर पूर्वव्यावर्णितस्वरूपो हीरकुमारो मिय परस्पर जनाना ना-
गरिकलोकाना वाग्भिर्वचनरचनानिर्गणधरस्य विजयदानसूरैर्गच्छनायकस्यागम पत्तनो-
पश्रयससरण ज्ञातवान् बुबुधे । क इव । कोकपोत इव । यथा चक्रवाकवालक नक्त-
विरामे निशात्यये ताम्रचूडाना कुक्कुटाना वचनैर्भाषितैस्तपनस्यागममुदय जानाति ॥

बालसाल इव कोरकभूषामुद्वहन्वपुषि कण्टकलेखाम् ।

त मुदा नमसितुं स्पृहयन्सोऽध्यास सारथिसनाथरथाङ्गम् ॥ ७ ॥

स हीरकुमार सारथिना सूतेन सनाथ सयुक्तो यो रथ स्यन्दनस्तस्याङ्गमुत्सङ्गम् । मध्यमित्यर्थः । अध्यास अविरोहति स्म । किं कुर्वन् । स्पृहयन् काङ्क्षन् । किं कर्तुम् । त गुरु नमसितुं नमस्कर्तुम् । 'नमसितुमना यन्नाम स्यान्ननाम् न पूषणम्' इति नैषधे । कया । मुदा हर्षेण । किं कुर्वन् । वपुषि शरीरे कण्टकलेखा रोमाञ्चराजीम् । 'रोमाञ्च कण्टको रोमविकारो रोमहर्षणम्' इति हैम्याम् । उद्वहन् वारयन् । क इव । बालसाल इव । यथा नवतरु कोरकाणा कलिकाना मञ्जरीणा भूषा शोभामुद्वहते ॥

रहसास्य मनसो विभुवीक्षोत्कण्ठितस्य दधता किमु मूर्तिम् ।

संचरन्पथि रथेन स तेन प्राप्तवानुपमुनीन्द्रनिकेतम् ॥ ८ ॥

स हीरकुमारस्तेन पत्तनागमनसमये व्यावर्णितेन रथेन शताङ्गेन पथि पत्तनमव्यमार्गे संचरन् प्रचलन्नुपमुनीन्द्रनिकेत गुरोरुपाश्रयसमीप प्राप्तवान् समायात । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिं शरीर दधता विभ्रता विभो सूरैर्वीक्षा दर्शन तत्रोत्कण्ठितस्यात्युत्सुकितस्यास्य कुमारस्य मनसश्चित्तस्य रहसा वेगेनेव रथेनेत्यसावुत्प्रेक्षा ॥

स्यन्दनान्मणिहिरण्यवरेण्यश्रीजुषः प्रमदमेदुरिताङ्गः ।

स्वर्गिवर्ग इव नाकिविमानादुत्ततार भुवि हीरकुमारः ॥ ९ ॥

हीरकुमार स्यन्दनाद्रथाद्भुवि पृथिव्यामुत्ततार उत्तरति स्म । गुरु वन्दितुमिति शेषः । किभूत कुमार । प्रमदेन हर्षेण मेदुरित पुष्टिप्राप्त पुष्ट जात वा अङ्ग शरीर यस्य । स्यन्दनात्कस्मात्क इव । नाकिविमानात् स्वर्गिवर्ग इव । यथा देवयानाद्देवव्रजो भूमौ उत्तरसामवसरणस्थ जिन नन्तुमिति शेषः । किभूताद्रथाद्विमानाच्च । मणिभी रत्नैर्हिरण्यै सुवर्णैर्वरेण्या प्रकृष्टा श्रिय जुषन्ते सेवते इति ॥

सूरिवक्त्रविधुवीक्षणजन्मानन्ददुग्धनिधिफेन इवोद्यन् ।

चन्द्रिकाच्छुरितरुग्दशनानामानने स्मितमनेन वितेने ॥ १० ॥

अनेन हीरकुमारेण आनने स्वमुखे स्मितमीपद्भसित वितेने विदवे चक्रे । किभूत स्मितम् । दशनाना दन्ताना चन्द्रिकया दीप्त्या छुरिता व्याप्ता । 'दशनचन्द्रिकया व्यवभासितम्' इति । तथा 'चन्द्रच्छुरित वपु' इति पाण्डवचरित्रे । रुक्कान्तिर्यस्य तत् । उत्प्रेक्ष्यते—उद्यन् प्रकटीभवन् सूरैर्विजयदानगुरोर्वक्त्र मुखमेव विबुश्चन्द्रस्तस्य वीक्षणाद्दर्शनाजन्मोत्पत्तिर्यस्य तादृशो य आनन्दो हर्षः स एव दुग्धनिविः क्षीरसमुद्रस्तस्य फेनो डिण्डीर इव ॥

सूरिराजचरणाम्बुजयुग्मे नेमुषो मुखममुष्य बभासे ।

आगतो मिलितुमत्र वसन्तीं जामिमात्मन इव श्रियमिन्दुः ॥ ११ ॥

अमुष्य हीरकुमारस्य मुख वदन वभासे राजते स्म । अमुष्य कि चक्रुष । नेमुष प्रणतस्य । क्व । सूरिराजस्य विजयदानमुनीन्द्रस्य चरणौ पादावेवाम्बुजे कमले तयो-
र्युग्मे द्वन्द्वे । उत्प्रेक्ष्यते—अत्र गुरुपादाम्बुजे वसन्ती नित्यस्थायुका वासिनीमात्मन स्वस्य
जामि भगिनी श्रिय लक्ष्मी मिलितुमिन्दुश्चन्द्र इवागत समायात । हीरकुमारवदनस्य
पार्वणरोहिणीरमणस्य समानत्वादियमुपमा । चन्द्रलक्ष्म्योर्द्वयोरपि समुद्रोत्पन्नत्वेन भ्रातृ-
भगिन्योर्व्यवहार । ‘रत्नाकरस्तव पिता कमले निवासो भ्राता सुवामयतनुः पतिरादि-
देव । किं देवि केन कमले वद शिक्षितासि सारङ्गशृङ्गकुटिलानि विचेष्टितानि ॥’ इति सूक्ते ॥

भाति तत्पदरजोऽस्य ललाटे पूर्वमेव तिलकं कृतमेतत् ।

त्वय्यथ त्वरितमेव समेष्ये भाषितुं किमिति तत्पदलक्ष्म्या ॥ १२ ॥

तस्य गुरो पदस्य चरणस्य रजो रेणु अस्य हीरकुमारस्य भाले ललाटपट्टे राजते ।
उत्प्रेक्ष्यते—तत्पदलक्ष्म्या विजयदानसूरिपट्टश्रिया इत्यमुना प्रकारेण भाषितुं वक्तुं
पूर्व प्रथममेव एतत्प्रत्यक्षलक्ष्य किमु तिलक विशेषक कृत रचितमिव । इति किं यत्
अथ एतस्मात्सूरे सकाशादहं त्वयि विषये त्वरित शीघ्रमेव समेष्ये समागमिष्यामि स-
मेष्ये । अयम् ‘ईडच्’ गतौ दिवादिको धातुरात्मनेपदी च ॥

तस्य लोचनपथे पृथुकेन्द्रस्तस्थिवानथ यथासनमेषः ।

सत्क्रियेव विधिना परिषत्सा तेन काचिदपुषच्च विभूषाम् ॥ १३ ॥

अथ वन्दनविवेकान्तरम् एष हीरकुमारलक्षण पृथुकेन्द्र कुमारपुरदरस्तस्य सूरे
लोचनयोर्नयनयो पथे मार्गे । पथशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । ‘यथा क पथ स्मृत’
इति । ‘तथापथ पथि स्मृत’ इति शब्दप्रभेदे । नकारान्तो वायम् । तत्र टाडका
इति उपत्यय । गुरोरग्रे इत्यर्थः । तस्थिवानुपविष्टः । कथम् । यथासन यथास्थानम्
आस्यते उपविश्यते अस्मिन् प्रदेशे इत्यासनम् । पुन ---सा परिषत् सभा तेन हीरकुमारेण
काचिदपूर्वा विभूषा शोभामपुषत् पुष्पाति स्म । केव । सत्क्रियेव । यथा शोभनमनुष्ठान
विधिना शास्त्रोक्तप्रकारेण कृत्वा शोभते ॥ इति हीरकुमारागमनगुरुवन्दने ॥

देशना शमवतां शतमन्युः स प्रबोधयितुमङ्गिसमाजम् ।

प्रादिशद्वरयिता वसतीना कौमुदीमिव वन कुमुदानाम् ॥ १४ ॥

स महावीरपट्टपरम्परायातो विजयदानसूरि नामा शमवतामुपशमिना सावून मय्ये
शतमन्यु शतक्रतु शक्रः देशना वर्मोपदेश प्रादिशद्दौ । व्याख्यानं करोति स्मेत्यर्थः ।
किं कर्तुम् । अङ्गिना भव्यप्रगणिना समाज सभा प्रबोधयितुं वर्मे स्थापयितुम् । क इव ।
वरयितेव । यथा वसतीना रात्रीणा कान्तश्चन्द्र कुमुदाना कैरवाणा वन काननमाकर वा
प्रतिबोधयितुं विकाशयितुं कौमुदी चन्द्रिका प्रदिशति । विस्तारयतीत्यर्थः ॥

इन्द्रवारणमिवेयमसारा संसृतिः कृतदुरन्तविकारा ।

पङ्किलावट इवात्र निमग्ना निर्गमेन भविनः प्रभवन्ति ॥ १५ ॥

भो भव्या, इयं संसृतिः ससार इन्द्रवारणनाम कटुकं फलं तद्वदसारा । इन्द्रवारणफलं हि बहिर्दृश्यमानं रम्यं परमध्ये नि सारम् अतिकटुकतया केनापि खादितुमशक्यत्वाद्विष-फलवत् तथा संसृतिरपि । किंभूता संसृतिः । कृतो निष्पादितो दुर्दुष्टोऽनन्तदुःखदा-यकत्वेन अन्तोऽवसानं यस्य तादृशो विकारो विकृतिर्यया । फलमपि दुष्टविकृतिकृत् । तथा अत्र ससारे निमग्ना ब्रूडिता । पतिता इत्यर्थः । भविनो जीवा निर्गमे निःसरणे विषये न प्रभवन्ति नैव समर्थीभवन्ति । निगोदादिष्वनन्तपुद्गलपरावर्तकर्तृत्वेन । कस्मिन्निव । पङ्किलावट इव । यथा जम्बालजालाकलितकूपे निमग्ना निमज्ज्य स्थिता जन्तवो निर्गन्तु न प्रभवन्ति ॥

नारकादिगतयोऽत्र चतस्रः संस्फुरन्त्यसुमतामिव पुर्यः ।

सन्ति भूपतिपथा इव लक्षा योनयश्चतुरशीतिरमूषु ॥ १६ ॥

भो भव्या, अत्र संसृतौ असुमता जन्तूना चतस्रश्चतुःसख्याका नारकादिगतयः । 'नरकस्तु नारकः स्यान्निरयो दुर्गतिश्च स' इति हैम्याम् । आदिशब्दातिर्यङ्नरसुर-लक्षणा गतयो गमनस्थानानि संस्फुरन्ति प्रकाशीभावं भजन्ति । का इव । पुर्य इव । यथा जन्तूना वासस्थाना नगर्यो दृशन्ते । पुनरमूषु चतुर्गतिषु चतुरशीतिलक्षा योनयो जीवानामुत्पादस्थानकानि सन्ति वर्तन्ते । क इव । भूपतिपथा इव । यथा नगरीषु चतुरशीतिप्रमाणा राजमार्गा भवन्ति । 'चतुराशी चहुटा' इति लोकप्रसिद्धिः ॥

मर्त्यजन्मनगरीमधिगत्य प्राणिनो भ्रमिवशेन कथंचित् ।

दर्शनादिवरवस्त्वनवाप्तेरायुरेव धनवत्क्षपयन्ति ॥ १७ ॥

प्राणिनो जीवा दर्शनेन सम्यक्त्वमादौ येषां देशविरतिसर्वविरतिप्रमुखाणां वरव-स्तूना प्रधानपदार्थानामनवाप्तेरलाभात् धनवदर्थान्नीवीद्रव्यमिवायुर्जीवितकालमेव क्षप-यन्ति निष्ठापयन्ति । किं कृत्वा । भ्रमिवशेन भवपरम्परारण्यपरिभ्रमणप्रकारेण कथंचि-दृशदृष्टान्तैर्महता कष्टेन कृत्वा मर्त्यजन्म मनुष्योत्पत्तिर्नाम नगरीमधिगत्य प्राप्य । 'अ-धिगत्य जगत्पथीश्वरात्' इति नैषधे । अधिगत्य । लब्ध्वा इत्यर्थः ॥

निर्गतायुरखिलद्रविणास्ते रङ्गवन्नरकवर्त्म भजन्तः ।

हा दुरागतदशा अशरण्या नित्यदुःखमनुभूय म्रियन्ते ॥ १८ ॥

हा इति खेदे । ते पूर्वोक्ता प्राणिनः न विद्यते शरणागतसाधु रक्षिता पालयिता वा येषां ते अशरण्या । शरणरहिता इत्यर्थः । तथा दुर्दुष्टा शोचनार्हा आगता दशा अवस्था येषां तादृशाः सन्तो नित्यमनिश दुःखं क्लेशपरम्परामनुभूय विषह्य प्राप्य वा म्रियन्ते । किं कुर्वन्तः । निर्गतं निष्ठितं क्षयं प्राप्तमायुर्जीवितकालस्तदेवाखिल

समस्त द्रविण वन येभ्यो येषां वा तथाविधाः सन्तो नरकस्य दुर्गतवर्त्ममार्गं भजन्ते आश्रयन्ते । किवत् । रङ्गवत् । यथा द्रमकानिष्ठापितसमस्तस्ववना सन्तो मार्गं नगरध्वानं भजन्त केनचिदप्यकृतरक्षा दुष्टावस्थापतिता नित्यमनुभूय म्रियन्ते ॥

धर्ममार्हतमतो जनिमन्तो यानपात्रमिव संग्रहयध्वम् ।

तस्थुषीं भवपयोनिधिपारे मुक्तिनामनगरीं च जिहीध्वम् ॥ १९ ॥

हे जनिमन्तो भव्या, अतोऽस्मात्कारणाद्यानपात्रं वहनमिवार्हतं जिनप्रणीतं धर्मसंग्रहयध्वम् । धर्मसंग्रहं कुरुतेत्यर्थः । 'ग्रह्णाति ग्रहयते लाति' इति क्रियाकलापे ग्रहणार्थाः क्रियाः । पुनर्युक्तं भवन्तं भवससारं स एव पयोनिधिरगावत्वात्समुद्रं तस्य पारे परस्मिन्तटे तस्थुषीं स्थितिमती मुक्तिं सिद्धिरेव नाम यस्यास्तादृशी नगरी जिहीध्वं गच्छत । यानपात्रसग्राहिणो जना हि पाथोविपरपारपुरीमासादयन्तीति स्थितिः ॥

द्वे महोदरपुरस्य पदव्यौ प्रध्वरा च विषमा च जिनोक्ते ।

आदिमा ननु महाव्रतनामा पश्चिमा पुनरणुव्रतरूपा ॥ २० ॥

भो भव्या, महोदयपुरस्य मुक्तिनामनगरस्य द्वे उभे पदव्यौ मार्गौ स्त भगवता कथितौ वर्तन्ते । द्वे के । एका प्रध्वरा सरला च, पुनरपरा विषमा कुटिला । तत्र द्वयोर्मध्ये आदिमा पदवी प्रथमो मार्गः ननु निश्चितं महान्ति सर्वसावद्यव्यापारनिषेवरूपाणि । सर्वप्राणातिपातविरमण—सर्वमृषावादविरमण—सर्वादत्तादानविरमण—सर्वमैथुनविरमण—सर्वपरिग्रहविरमण—इति पञ्च महाव्रतानीति नाम यस्या सा । 'साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाभवान्' इति नैषधे । तेन महाव्रतनामा इति प्रयोगः । पुनः पश्चिमा तयोरन्तिमा अणुव्रतानि देशविरतिभाजाम् । स्थूलप्राणातिपातविरमण—स्थूलमृषावादविरमण—स्थूलादत्तादानविरमण—स्वदारसतोषपरस्त्रीविववावेश्याकन्याविरमण—स्थूलपरिग्रहपरिमाण—दिग्विरमण—भोगोपभोगविरमण—अनर्घदण्डविरमण—सामायिकव्रत—देशावगासिक—पौषवोपवासव्रत—अतिथिसविभागव्रतरूपाणि द्वादशसख्याकानि रूपं यस्या सा ॥

तूर्णमस्ति यदि तत्र यियासा प्रध्वरे पथि ततः प्रयतध्वम् ।

सौगतोदितपदार्थ इवास्ते यद्भवः स्फुरदशाश्वतभावः ॥ २१ ॥

भो भव्या, यदि भवता तत्र महोदयपुरे तूर्णं शीघ्रं यियासा गन्तुमिच्छास्ति वर्तते, ततस्तर्हि प्रध्वरे साधुमार्गरूपे सरले पथि पदव्या प्रयतध्वं प्रयत्नं कुरुध्वम् । यद्यस्मात्कारणात् भवससारं स्फुरन् प्रकटीभवन् अशाश्वतभावः विनश्वरता यत्र एतादृश आस्ते । क इव । सौगतादिपदार्थ इव । यथा बौद्धकथितवस्तुव्रजे 'सर्वं क्षणिकम्' इति वाक्यात् यावत्पदार्थसाधे अनित्यता वर्तते ॥

अनित्यतामेव दर्शयति—

सांध्यराग इव जीवितमास्ते यौवनं च सरितामिव वेगः ।

यत्क्षणेव कमला क्षणिकेयं तत्त्वरध्वमनिशं जिनधर्मे ॥ २२ ॥

यत्कारणात् सांध्यराग सध्यासमयसबन्धी राग उपलक्षणानीलपीतकृष्णश्वेतरक्ता-
भ्रिकाप्रकरस्तद्वर्णजीवितम् । यथा सध्याराग क्षणात् प्रध्वस भजते तथा जीवितव्यम-
पीति । च पुनर्यौवन तारुण्य सरिता प्रावृषेण्यनदीना वेग इवास्ति । यथा नदीना पूर
त्वरित प्रयाति । यत 'यौवन जाइ वेगिनदी युजलवहइ इन्दचन्दनागेन्द कहो कुण थिठ
रहइ' इति सूक्तोक्तेः । तथा यौवनमपि । पुतर्यत्कारणात् इय कमला लक्ष्मी. क्षणेव
विद्युदिव क्षणशब्दो वेश्मरत्नशान्तिचरित्रेऽस्ति । क्षणिका क्षणमात्रस्थायुका । 'करिकर्ण-
चला कमला' इति वचनात् । तत्कारणादनिश जिनधर्मे त्वरध्व त्वरा कुरुध्वम् । शीघ्र
जिनवर्ममेव कुरुतेत्यर्थः ॥ इति गुरुदेशना ॥

भारतीमिति निशम्य शमीन्दोः कल्पिताप्लव इवामृतकुण्डे ।

उल्लसत्पुलकपल्लविताङ्गश्चेतसीति वितर्क कुमारः ॥ २३ ॥

कुमारो हीरनामा चेतसि स्वमनसि इति वक्ष्यमाण वितर्क चिन्तयामास । किभूत
कुमार । उल्लसन् प्रकटीभवन् य. पुलको रोमाञ्चस्तेन पल्लवितमङ्ग वपुर्यस्य । उत्प्रेक्ष्यते—
अमृतस्य सुधाया कुण्डे कल्पित कृत आप्लवः स्नान येन तादृश इव । कि कृत्वा । श-
मीन्दोर्मुनिचन्दस्येत्याद्युक्तप्रकारेण भारतीं वाणीम् । देशनामित्यर्थः । निशम्य श्रुत्वा ॥

अस्ति कश्चन न कस्यचनापि भ्रातृपुत्रपितृमित्रजनादि ।

संसृतौ क्षणिकतां कलयन्त्यां नानुयाति परलोकजुषं यत् ॥ २४ ॥

कस्यचनापि पुत्रो भ्राता बन्धु, पुत्र सुत, पिता जनक, मित्र सुहृत्, जन कुटुम्ब-
वर्ग, स आदौ पूर्वं यस्य तादृक्श्चिन्नास्ति यत्कारणात् क्षणिकता क्षणमात्रस्थायित्व 'जे
पुव्वहे दिट्ठा ते अवरहे न दीसन्ति' इति वचनात् क्षणविध्वंसिभाव कलयन्त्यां दवत्या
संसृतौ ससारे परलोकजुष भवान्तरभाज स्वजन कोऽपि नानुयाति न पश्चात्पृष्ठे वा
व्रजति । अन्यस्मिन् भवेन कोऽपि सार्व याति । एक एव जीवो यातीत्यर्थः । यत.
'परलोकजुषा स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्' इति रघौ ॥

वल्लभीभवति यद्भवभाजां स्वार्थ एव न तथात्र परार्थः ।

पर्वणीन्दुरपि पङ्कजपाणिं यात्यसौ वसुकृतेऽपरथा नो ॥ २५ ॥

यत्कारणादत्र जगति भवभाजा जन्तूना यथा येन प्रकारेण स्वार्थ एव केवल
निजकार्यमेव वल्लभीभवति इष्टो जायते, तथा तेन प्रकारेण प्राणिना परेषामर्थ अन्य-
कृत्य न वल्लभ स्यात् । उक्तमर्थं दृष्टान्तेन द्रढयति—असौ प्रत्यक्षो महत्सु विख्यातिमान्
इन्दुश्चन्द्रोऽपि पर्वणि अमावास्याया वसुकृते रत्नकृते । वसु कान्तिधनयो । तदर्थ

पङ्कजपाणि सूर्य प्रतिभानुपार्श्वे याति । क्षीणश्चन्द्र पर्वणि भास्करपार्श्वे गत्वा कान्ति-
मादायाभ्युदयते इति कविसमयः । अपरथा अन्यसमये अर्थे सृते स्वाभ्युदये सजाते
न कदाचिद्गच्छति । एवमन्योऽपि कमलाङ्कितकर वनिन प्रति द्रव्यार्थं प्रयाति । कार्ये
सृते तत्पार्श्वमपि नोपैति । तस्मात्कोऽपि कस्यापि नास्ति । ‘प्रकारवचने थाल्’ ।
‘सामान्यस्य भेदको विशेष प्रकारस्तद्वृत्ते’ किमादेस्थाल् स्यात् सर्वप्रकारेण इति सर्वथा
इतरथा अपरथा’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

कार्यकाल इतरोऽपि नरेणादीयते तदनु मुच्यत एव ।

विभ्रमाय विधृतो हृदि हारो हीयते रहसि सोममुखीभिः ॥ २६ ॥

नरेण मनुष्येण कार्यकाले स्वकृत्यसमये इतरोऽप्यन्योऽपि स्वकार्यकृते आदीयते
स्वीक्रियते । तदनु कार्यकरणानन्तरं सृते कृते मुच्यते त्यज्यत एव । उक्तमर्थमर्थान्त-
रेण दृढीकरोति—सोममुखीभि स्त्रीभि विभ्रमाय विलासार्थं शोभाकृते वा हृदि वक्षसि
हृदये धृतः परिहितो हारो मुक्ताकलापो रहसि सुरतक्रीडाकरणसमये । ‘सभोगश्च रहो
रति’ इति हैम्याम् । हीयते उत्तार्यते हृदयात् पृथक्क्रियते । ततः सर्वेषां स्वार्थं
एवाभीष्ट ॥

जन्मिनामयमकृत्रिममित्रं श्रेयसे तदुदयेज्जिनधर्मः ।

वैभवाय परिशीलनभावं लम्बितः क्षितिशशीव कृतज्ञः ॥ २७ ॥

तत्कारणात् असारे ससारे अयं स्वर्गापवर्गसाधकत्वेन प्रसिद्धः अकृत्रिममित्रं स्वा-
भाविकसुहृत् जिनोक्तो भगवत्प्रणीतो वर्म परिशीलनभावमुपासनागोचरता लम्बित
प्रापित सन् श्रेयसे ऐहलौकिकमुक्तिकृते च उदयेत् प्रकटीभवेत् । किंभूतः । कृत
निर्मित जानातीति कृतज्ञ । क इव । क्षितिशशीव । यथा कृतज्ञो नृप सेवितः सन्
वैभवाय विभूतिकृते भवेत् ॥

स्वानुजन्मभगिनीकुलवृद्धानाददे तदनुयुज्य तपस्याम् ।

पारलम्भनविभुर्भववार्धेर्यत्तरीव नियमस्थितिरेषा ॥ २८ ॥

यत्कारणादेषा मुक्तिनगरप्रध्वरप्रद्वतिः प्रसिद्धा नियमे पञ्चमहाव्रतादिमूलगुणोत्तर-
गुणसम्यक्पालनरूपे यावज्जीवावस्थान नियमस्थितिर्दीक्षा तरीव नौरिव ससारसमुद्रसु-
पारलम्भने परतटप्रापणे विभुः समर्था आस्ते । ‘ता तृतीयपुरुषार्थवारिधेः पारलम्भन
तरीमरीरमत्’ इति नैषधे । तत्कारणात् स्वो ज्ञातिवर्गः । अनुजन्मा कनीयान् श्रीपा-
लाख्यभ्राता राणीविमलासख्ये द्वे भगिन्यौ जामी कुलवृद्धान् गोत्रमहत्तराननुयुज्य पृष्ट्वा
अहं तपस्या सयममाददे गृह्णामि ॥ इति हीरकुमारस्य ससारासारताविचारः ॥

सूरिसिन्धुरपुरः स कुमारो व्याजहार मनसीति विमृश्य ।

दन्तकान्तिमुचुकुन्दसुमैस्तत्पादयोरिव सृजन्नुपहारम् ॥ २९ ॥

स हीरकुमार मनसि स्वचित्ते इति पूर्वोक्त विमृश्य विचार्य सूरिषु सिन्धुर शौ-
ण्डीरत्वेन गजस्तस्य पुरोऽग्रे व्याजहार वदति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—दन्ताना कान्तय एव
मुचकुन्दा द्रुमविशेषास्तेषां सुमै पुष्पैस्तस्य सूरै पादयोश्चरणयोरुपहार पूजाम् । 'पूजा-
हर्णासपर्यार्चा उपहारबली समौ' इति हैम्याम् । सृजन् कुर्वन्निव ॥

प्राप्य तावककरादिह दीक्षामाहितायतिहितामिव शिक्षाम् ।

सेवितुं चरणतामरसं ते मानसं मुनिप कामयते मे ॥ ३० ॥

हे मुनिप सूरिन्द्र, ते तव चरणतामरस पादपद्म सेवितु मे मम मन कामयते वा-
ञ्छति । किं कृत्वा । इहास्मिन्नेव समये तावकात् त्वदीयात्करात् पाणेर्दीक्षा प्राप्य स-
मासाद्य । उत्प्रेक्ष्यते—आहित स्थापितमायतौ उत्तरकाले हित पथ्य यया तादृशी
शिक्षामिव ॥

एवमुक्तवति हीरकुमारे सूरिशीतकिरण स्म गृणाति ।

मथ्यमानमकराकररावं ह्रेपयन्निव गभीरविरावै. ॥ ३१ ॥

सूरिषु मध्ये शीतकिरण सौम्यगुणेन चन्द्रो गृणाति स्म बभाषे । कस्मिन् सति ।
एवममुना प्रकारेण उक्तवति कथितवति हीरकुमारे सति । उत्प्रेक्ष्यते—सूरिर्गभीरवि-
रावैर्मन्द्रध्वनिभिर्मथ्यमानो नारायणेन मन्दरगिरिणा विलोड्यमानो यो मकराकर समु-
द्रस्तस्य राव गम्भीरनिर्घोष लज्जयन् लज्जायुक्त कुर्वन्निव ॥

मा कृथा. कचन तत्प्रतिबन्धं बान्धवस्वजनमित्रजनेषु ।

गन्धवाह इव भूधरसिन्धुग्रामसीमपुरभूमिधुनीषु ॥ ३२ ॥

हे कुमार, यद्येव तवाशयस्तत्तदा तर्हि कचन केष्वपि बान्धवा भ्रातर, स्वजनाः
सगोत्रा ज्ञातय, मित्राणि सुहृद, तत्प्रमुखेषु जनेषु लोकेषु प्रतिबन्ध ममत्वेन स्नेहेन
कृत्वा ससारे स्थायिभाव मा कृथा मा कुर्या. । क इव । गन्धवाह इव । यथा वायुर्भू-
वरा पर्वता, सिन्धव समुद्रा, ग्रामा सनिवेशा, सीमा ग्रामनगरसमीपवहि प्रदेशा,
पुराणि नगराणि, भूमयोऽखिलवसुवरा, धुन्यो नद्य, तासु प्रतिबन्ध न विदधाति ॥

यैरवार्धिं जिनधर्मसुरद्रुः पूर्वजन्मनि जनैरिह तेषाम् ।

तद्दलानि कमलाकमलाक्षी सार्वभौमपदवीप्रमुखानि ॥ ३३ ॥

तत्सुमानि सुरवैभवलम्भः कीर्तयः परिमलोऽप्यदसीय ।

सिद्धिमुग्धमृगदृक्परिरम्भारम्भणानि पुनरस्य फलानि ॥ ३४ ॥

(युग्मम्)

हे हीरकुमार, यैर्जनै पूर्वजन्मनि प्राचीने भवे जिनधर्मरूप सुरद्रु कल्पवृक्षो-
ऽवर्षे वृद्धि प्रापित, तेषा जनानामिह जन्मनि कमला लक्ष्मी । अथ च कमला श्री-
स्तत्तुल्या कमलाक्षी अरविन्दलोचना स्त्री, यया परिणीतमात्रया गृहे चागतया सत्या

सर्वतः सौववनधान्यद्विपदचतुष्पदादिभिः परिपूर्यते सा लक्ष्मीसदृशा पद्माक्षी तथा सार्वभौमः सर्वस्या भूमेरीश्वरश्चक्रवर्ती तस्य पदवी एताः प्रमुखाः आदिमाः प्रकृष्टा वा येषु तादृशानि तस्य सुरद्रोर्दलानि पत्राणि सन्ति । तथा सुराणामुपलक्षणादिन्द्रादीना वैभवानां सपदा लम्भः प्राप्तिः सा तस्य सुमानि पुष्पाणि । 'प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इति हैम्याम् । तथा कौर्तयः सुरासुरनरखेचरकिनरमिथुनगीयमानयशासि अपि पुनरस्यायमदसीयः परिमलः आमोदः सौरभम् । तथा सिद्धयोः लघिमा, वशिता, ईशत्वम्, प्राकाम्यम्, अणिमा, महिमा, यत्र कामावसायित्वम्, प्राप्तिः, इत्यष्टौ अन्या अपि मन्त्रतन्त्रविद्यातपशक्तिप्रमुखाः सिद्धयः एव मुग्धमृगदृशो रम्याङ्गना । अथ वा सिद्धिर्मुक्तिरेव प्रवानवधूस्ताभिस्तया वा सार्धमालिङ्गनानि परिरम्भणानि आसादनानि तेषामारम्भाः प्रक्रमास्तानि पुनरस्य कल्पद्रोः फलानि वर्तन्ते ॥

धर्म एव मनुजैरिह मन्त्रः सार्वकामिक इवैष निषेव्यः ।

येन वाङ्मनसपारगतं यत्तत्करोति करसात्तरसासौ ॥ ३५ ॥

इह जन्मनि मनुजैर्मानवैरेष पूर्वव्यावर्णितस्वरूपः धर्मः एव निषेव्यः सेवनीय आराध्यः । क इव । मन्त्र इव । यथा कैश्चित्पुभिर्विनयादिना प्रसन्नीभवद्गुरुप्रदत्तः सर्वान् समस्तान् कामान्मनोभिलषितान् करोति पूरयतीति सार्वकामिको मन्त्रो निषेव्यते सम्यगुपासनागोचरीक्रियते । येन कारणेनासौ वर्मो यद्वस्तु वाङ्मनसयोः पारगतं वचनमनसोर्गोचरातीतं यत्र पदार्थे वाचो मनसश्च गोचरो न भवति तदपि वस्तु तरसा शीघ्रं करसात्करप्राप्तं करोति । 'का नाम तत्र चिन्ता प्रभवति पुरुषस्य पौरुषं यत्र । वाङ्मनसयोरविषये विवौ च चिन्तान्तरं किमिह ॥' इति चम्पूकथायाम् ॥ इति कुमारमुद्दिश्य गुरुवाक्यम् ॥

ता निपीय मुनिवासववाचं स्मेरदृक्प्रबुबुधे स कुमारः ।

कैरवोत्कर इव स्मितकोशश्चन्द्रिकां कुमुदिनीरमणस्य ॥ ३६ ॥

स कुमारः प्रबुबुधे प्रतिबुद्धः । किभूतः । स्मेरदृक् हर्षेण हसितनयनः । ता पूर्वोक्ता मुनिवासवस्य सूरिन्द्रस्य वाचं वाणीं निपीय सादरं श्रुत्वा पीत्वा । क इव । कैरवोत्कर इव । यथा कुमुदिनीरमणस्य विवोश्चन्द्रिका ज्योत्स्ना निपीय कुमुदप्रकरः प्रबुध्यते विकाशं लभते । किभूतः । स्मिता विकसिता कोशा कुङ्कुला यस्य ॥

निश्चिकाय विनयानतकायस्तत्पुरः शिशुशशी स्वतपस्याम् ।

शंभुसुभ्रुव इवाम्बुजनाभः प्रत्यगाच्च भवनं निजजामेः ॥ ३७ ॥

शिशुशशी कुमारचन्द्रः तस्य सुरे पुरोऽग्रे स्वस्यात्मनस्तपस्या दीक्षाग्रहणं निश्चिकायं अहमवश्यं श्रीमत्पार्श्वे परिव्रज्या गृहीष्यामिति निश्चयं कृतवान् । किभूतः । विनयेन आ सामस्त्येन नतो नम्रीभूतः कायः शरीरं यस्य । च पूनर्निजजामेर्विमलाया भवनं गृहं प्रत्युज्जगाम । क इव । अम्बुजनाभ इव । यथा कृष्णः शंभुसुभ्रुवः पार्वत्या

भवन प्रति गच्छति । भवानी हि कृष्णभगिनीति कविसमय । ‘भवानी कृष्णमेनाक-
खसा’ इति हैम्याम् । अम्भोजनाभ अम्बुजनाभ. इत्यादय प्रयोगा पाण्डवचरित्रे
सन्तीति ॥ इति विजयदानसूरिपुरो हीरकुमारस्य दीक्षाग्रहणनिश्चयकरणम् ॥

इच्छता हृदि महोदयलक्ष्मीसङ्गदूतिमिव जैनतपस्याम् ।

भाष्यते स्म भवनं प्रविभूष्यानेन भावयतिना निजजामि. ॥ ३८ ॥

अनेन निजजामि स्वभगिनी भाष्यते स्म भाषिता वादिता । अनेन किभूतेन । भा-
वेन परिणामेन यतिना साधुना । अथ वा भावे आशये मनसि यतित्व चारित्रमस्येति
तेन भावयतिना । किं कृत्वा भाषिता । भवनमर्थाद्भगिनीभवन प्रकर्षेण विभूष्य शोभा
नीत्वा गृहे आगत्येत्यर्थ । अनेन किं कुर्वता । जिनानां तीर्थकृतामिय जैनी तपस्या दीक्षा-
मर्थाद्ब्रहीतुमिच्छता हृदये वाञ्छता । उत्प्रेक्ष्यते—महोदयलक्ष्म्या मुक्तिश्रिया महाभ्यु-
दयसपदो वा सङ्गे सगमे मिलने दूतिमिव सदेशहारिकामिव । ‘तस्या स्वयवरपरिग्रहदू-
तिरेषा मुक्तावली हृदिपद भवत करोतु’ इति चम्पूकथायाम् । ‘दूत्या दूतिरपि
स्मृता’ इति शब्दप्रभेदे ॥

धारिणीसुत इवाद्य सुधर्मस्वामिन विजयदानमुनीन्द्रम् ।

वन्दितुं विजयसिंहमहेभ्याम्भोजदृग्गत इतोऽहमभूवम् ॥ ३९ ॥

विजयसिंहनामा यो महेभ्यो व्यवहारी तस्याम्भोजदृक् प्रियतमे हे जामे अद्याह-
मितो भवत्या गृहाद्विजयदाननामान मुनीन्द्र सूरि वन्दितुं नमस्कर्तुं गतोऽभूवम् । क
इव । धारिणीसुत इव धारिणीनामा ऋषभव्यवहारिपत्नी तस्या सुतो जम्बुकुमार सु-
धर्मस्वामिन श्रीमहावीरपञ्चमगणधर नन्तु गतोऽभूत् ॥

कीलनैकललितं कलयन्ती या कशेव तुरगस्य भवस्य ।

देशनाश्रवणगोचरभावं लम्बिता श्रमणशीतमरीचे ॥ ४० ॥

हे जामे, श्रमणशीतमरीचेर्विजयसूरीन्द्रस्य सा परमशान्तरसमयी धर्मकथा मया
लङ्घान्ना श्रवणयो कर्णयो गोचरभाव विषयता लम्बिता नीता । श्रुतेत्यर्थ । ‘नून न
मे श्रवणगोचरता गतोऽसि’ इति कल्याणमन्दिरस्तोत्रे । सा का । या धर्मदेशना भ-
वस्य ससारस्य कीलने ताडने अथ वा कीलनाया पराभवविवानविषये । ‘व्रजते हेलि-
हयालिकीलनाम्’ इति नैषधे । एकमद्वितीय ललित विलास व्यवसाय कलयन्ती बि-
भ्रती वर्तते । केव । कशेव । यथा कशा चर्मदण्ड ‘चाबखो’ इति लोके प्रसिद्धा
तुरगस्याश्वस्य ताडने अद्वैत व्यापार विभर्ति ॥

उन्नमज्जलधरादिव जामे सूरिराजवदनादुदयद्भिः ।

वाणिवैभवरसैर्द्वयमेतत्पूर्यते स्म मम कर्णकलशयोः ॥ ४१ ॥

हे जामे ह्ये विमले, सूरिराजस्य वदनान्मुखादुदयद्भिः प्रकटीभवद्भिः वाणीनां वाचा

विलासा वैचित्र्यास्त एव रसा जलानि तैर्ममेद मदीयमेतत्प्रत्यक्षशब्दविषयगोचर कणौ श्रवणावेव कलशयौ कुम्भयौ तयोर्द्वय युगल पूर्यते स्म पूर्णोभूतम् । श्रवणशब्द पुनपु-
सके । 'आलोचनान्तात् श्रवणौ वितत्य' इति लिङ्गानुशासनावचूर्णौ । तथा 'अवलम्बि-
तकर्णशङ्कुलीकलशीक रचयन्नवोचत' इति नैषधे । कस्मादिव । उन्नमजलधरा-
दिव । यथा उन्नमतो जलभरैर्नग्रीभवन्तो जलवरान्मेघादुदितै प्रादुर्भूतैर्नारैः सलिलै
कलशीद्वन्द्व परिपूर्णोभवति । वाणिशब्दो ह्रस्वोऽप्यस्ति । यथा 'अन्तर्वाणिस्तु शास्त्र-
वित्' इति हैम्याम् । तथा भर्तृहरशतके प्रोक्तं च—'केयूरा न विभूषयन्ति पुरुष
हारा न चन्द्रोज्ज्वला न स्नान न विलेपन न कुसुम नालकृता मूर्धजा । एका वाणि-
रलकरोति पुरुष या सस्कृता पठ्यते क्षीयन्ते किल भूषणानि सतत वाग्भूषण भूष-
णम् ॥' इत्यत्रापि वाणिशब्दो ह्रस्वः ॥

सूरिभर्तुरमृतादपि वाचो दृश्यते जगति कोऽपि विशेषः ।

त्यक्तमन्यव इदरसिका यन्मन्युबद्धमनसस्त्वमृताशाः ॥ ४२ ॥

हे जामे, जगति विश्वे अमृतात्पीयूषात्सूरिभर्तुर्वाचो वाण्या कोऽप्यद्भुतवैभवो वि-
शेषः अतिशायित्वमनिर्वचनीयमहिमा दृश्यते अवलोक्यते ज्ञायते वा । यद्यस्मात्का-
रणात् इदरसिका गुरुवचनसुधापानरसवन्तो जनास्त्यक्तमन्यव उज्जितकोपा जायन्ते ।
अस्या वाण्या रसिका इदरसिका । 'इद यशासि द्विषत सुवारुच' इति नैषधे ।
तु पुनः । अमृताशा सुवापायिनो देवा मन्युबद्धमनस कोपकलितान्त करणा तत्त्व-
तस्तु यज्ञोत्कण्ठहृदयाः तदशनत्वात् । 'स्वाहा स्ववा क्रतुसुधाभुज आदितेयाः' इति
हैम्याम् ॥

सांप्रतं भगिनि तेन मुनीन्दोः संनिधौ ग्रहयितुं व्रतलक्ष्मीम् ।

उत्सुकोऽहमभवं भवमग्नौ धारिणेय इव वीरजिनेन्दोः ॥ ४३ ॥

हे भगिनि, तेन एतादृग्गुरुवचनामृतपानौत्सुक्येन कारणेन सांप्रतमग्नौ मुनीन्दो-
विजयदानसूरे पार्श्वे व्रतलक्ष्मी चारित्रश्रिय ग्रहयितुमादातुमहमुत्सुक उत्कण्ठितो-
ऽभव सजातः । 'गृह्णाति ग्रहयते लाली' इति क्रियाकलापे । ग्रहयते इत्यस्य ण्यन्तस्य
तुमुप्रत्ययप्रयोगः । अहं किभूतः । भवात्ससारात्पुन पुन पर्यटने भग्न उद्विग्नः । क
इव । धारिणेय इव । यथा श्रेणिकनृपत्नी धारिणी तस्या नन्दनो मेघकुमार श्रीमहा-
वीरजिनवरस्य पार्श्वे व्रतं ग्रहीतुमुत्सुको जज्ञे ॥

सेतुबन्धमिव संसृतिसिन्धोस्तद्भ्रताय मम देहि निदेशम् ।

विघ्नयेन्न हि महोदयलक्ष्मीसंमुखं निजजनं हितकाङ्क्षी ॥ ४४ ॥

हे जामे, तत्कारणात्त्व मम व्रताय चारित्रग्रहणार्थं निदेशमाज्ञा देहि । कमिव ।
सेतुबन्धमिव पद्याविरचनमिव । लोके 'पाज' इति प्रसिद्धा । कस्य । संसृतिः ससारः स
एवागाधत्वात्सिन्धुः समुद्रस्तस्य । हि यस्मात्कारणान्महानुदयोऽत्यैश्वर्यमोक्षश्च तस्य

लक्ष्मीस्तत्राभिमुख समुखीभूत निजजन स्वकीयबन्धुवर्गे हितकाङ्क्षी स्वजनहिताभिला-
पुक्तो जन को विघ्नयेद्विघ्न कुर्यात्, अपि तु न कोऽपि नान्तरायी भवेत् ॥ इति विम-
लाभगिनी प्रति हीरकुमारस्य दीक्षादेशमार्गणवचनम् ॥

तद्वचो विचरित सहजेन प्राप्तमात्रमपि कर्णपुटान्तः ।

क्षिप्ततप्तगुरुपत्रमिवास्या दुःखमप्रतिममातनुते स्म ॥ ४५ ॥

सहजेन भ्रात्रा । [‘भ्राता तु स्यात्सहोदर । समानोदर्यं सोदर्यं सगर्भसहजा
अपि ॥’ इति हैम्याम् ।] विरचित कथित तद्वचो दीक्षादेशमार्गणरूप तत्पूर्वोक्त वाक्य
कर्णपुटान्त श्रोत्रपात्रमध्ये प्राप्तमात्रमपि केवलमेकवार गतमपि अस्या विमलाया
हीरकुमारस्य बृहद्भगिन्या अप्रतिममसाधारण दुःखमातनुते स्म चक्रे । किमिव । क्षिप्त-
तप्तगुरुपत्रमिव । यथा—क्षिप्त स्थापित तप्तमुष्णीकृत गुरुपत्र कर्णयोरतिदुःखद स्यात् ॥

डिम्भलम्भितविडम्बनभाजा दुःखतः परभृतेव भगिन्या ।

स न्यगादि मृदुगद्गदवाचा साधिमाधरितपुष्पधनुःश्रीः ॥ ४६ ॥

स हीरकुमारो भगिन्या विमलास्वस्त्रा न्यगादि भाषितः । किभूतया । मृद्वी को-
मला तथा बाष्पैरस्पृष्टा तादृशी वाग्वाणी यस्याः । अथवा साधनभूतया वाचा कृत्वा ।
कुत । कुतस्तादृग्भ्रातृप्रव्रज्या परिणामोद्भूतदुःखतः । स किभूत । साविन्ना शरीर-
सौन्दर्येण । ‘साधुरम्यमनोज्ञानि’ इति हैम्याम् । अधरिता हीनीकृता तिरस्कृता वा
पुष्पधनुषः कामस्य श्रीर्वपुः शोभा येन । ‘त्वयादृत किं नरसाविमभ्रमः’ इति नैषधे ॥
उत्प्रेक्ष्यते—परभृतेव । यथा कोकिलया भाष्यते विस्वरमुच्यते । किभूतया । डि-
म्भेन अव्यक्तबालकेन लम्भित प्रापित यद्विडम्बन सतापन तद्भजतीतिपरान् काकबाल-
कान् पुष्पन्तीति परभृतः । ‘कोकिलैः पालितः काकस्तथा चाग्नैस्तु पोषितः’ इति
वचनात् । तथा परभृत् व्यञ्जनान्तः । ‘परभृता मदनालसचेतसाम्—’ इत्यादि रघुकु-
मारयोरपि ॥

साप्रतं व्यतिकरस्तव कोऽयं वार्धकोचितविधेश्वरणस्य ।

लीढि वत्स विषयस्य रसालस्येव पक्त्रिमफलस्य रसांस्त्वम् ॥ ४७ ॥

हे वत्स, साप्रतमिदानीं बाललीलायां तव भवतश्चरणस्य चारित्र्यस्य कोऽयं व्यतिकरः
क एष प्रस्तावसमयः । किभूतस्य चरणस्य । वार्धके वृद्धावस्थायामुचितो योग्यो विधिरा-
चरण यस्य । किं च हे बन्धो, अधुना त्वं विषयस्य शब्दादिगोचरस्य रसानास्वादान्
लीढि आस्वादय । रागाननुभवः । कस्येव । पक्त्रिमफलस्येव । यथा कोऽपि रसालस्य
सहकारतरो परिपक्वफलस्य रसान्निवन्दानास्वादयति जनः ॥

१ वस्तुतस्तु परभृता काक्येव । कोकिलडिम्भो रूपसादृश्यविडम्बनान्न काकाभ्यां
पाल्यते इत्येव सप्रदाय

भाग्यभाजि जलजन्मगृहैवागन्तुका तरुणता त्वयि वत्स ।

कामकेलिवसतौ रतिसख्यां त्वं रमस्व युवतीभिरमुष्याम् ॥ ४८ ॥

हे वत्स, त्वयि विषये तरुणता यौवनावस्था आगन्तुका आगमनोत्सुकशीला वर्तते । केव । जलजन्मगृहैव । यथा भाग्यभाजि पुण्यवति पुरुषे जलजन्ममन्दिरा लक्ष्मीरागमनशीला भवेत् । पुनर्हे बन्धो, त्वममुष्या तारुण्यावस्थाया युवतीभिर्यौवनवतीभिस्त्रीभिः सार्व रमस्व विलास कुरु । 'युवतीकरनिर्मलनिर्मथितम्' इति दीर्घोऽपि युवतीशब्दः । किंभूतायाममुष्याम् । कामस्य कन्दर्पस्य केलिवसतौ क्रीडार्थगृहे । पुनः किंभूतायाम् । रते रागस्य सख्या वयस्याम् । 'रति स्मरस्त्रिया रागे रते' इत्यनेकार्थः ॥

यौवनेऽर्जय यशोगुणलक्ष्मीः क्षोणिमानिव महःक्षितिकोशान् ।

आर्हतं तदनु धर्ममयि त्वं स्थाविरे स्थिरतया विदधीथाः ॥ ४९ ॥

हे वत्स, यौवने तारुण्ये यशसि कीर्तीगुणान् महत्त्वौदार्यादिलक्षणान् लक्ष्मीरमिता श्रियश्च अर्जय स्वायत्तीकुरु । क इव । क्षोणिमानिव । तथा भूपतिस्तारुण्ये महः प्रतापक्षितिः परदेशमण्डलकोशान् बहून् भाण्डागारोत्करानुपार्जयति । 'स्वात्पालधनमुक्नेतृपतिमत्वर्यक्रादयः' इति हैम्यामुक्तत्वेन क्षोणिमानित्यत्र मत्वर्यीयप्रत्ययः । अयि पुनर्हे वत्स, अनु तारुण्यावस्थाया पश्चात्स्थाविरे वार्धके वृद्धवयसि स्थिरतया स्थैर्येण अचपलचित्तत्वेन आर्हतमर्हदुक्तं तच्चारित्रलक्षणं धर्मं विदधीथा कुर्वीथा ॥

मौक्तिकेन किल सोदर सर्वैः श्लाघ्यतेऽत्र भवता पितृवंशः ।

भ्रातृवत्यहमपि त्वयकास्मि श्रीरिवामृतकरेण वरेण ॥ ५० ॥

हे सोदर, अत्र लोके भवता त्वया कृत्वा । अथ वा अत्रभवता पूज्येन । भाविनि भूतोपचाराजनानां माननीयेन वा भवता । अत्रभवत्तत्रभवच्छब्दौ पूज्यार्थे निपात्येते इति वचनात् । पितृवंशस्तातान्वयः कुरासाहकुलम् । सर्वैर्जनैः श्लाघ्यते प्रशस्यते स्तूयते । केनेव । माक्तिकेनेव । अत्र किलेति इवाथे । यया मौक्तिकेन मुक्ताफलेन कृत्वा मुक्ताफलानां पिता तस्मादुत्पन्नत्वात्तेषां तादृशो वंशो वेणुः शतपर्वा जनैः श्लाघ्यते । 'उत्प्रेक्षाद्योतका शङ्के मन्ये नूनमिव ध्रुवम् । जाने किलादयो ज्ञेयाः प्रायेणेय क्रियोद्भवाः ॥' इति कविशिक्षायाम् । अपि पुनर्हे बन्धो, अहं त्वयका कृत्वा भ्रातृमती सोदरवती अस्मि वते । केव । श्रीरिव । यथा लक्ष्मीरमृतकरेण चन्द्रेण बन्धुमत्यस्ति । द्वयोरपि समुद्रोत्पन्नत्वेन । किंभूतेन त्वया चन्द्रेण च । वरेण जनेषु ज्ञातिषु श्रेष्ठेन ॥

त्वद्वधूमुखसुधांशुसुधायाः पानमुत्सुकतया प्रविधित्सू ।

मद्विलोचनचकोरशकुन्तौ चापल रचयतश्चिरमेतौ ॥ ५१ ॥

हे बन्धो, एतौ दृश्यमानौ मद्विलोचने मम नेत्रे एव चकोरशकुन्तौ ज्योत्स्नाप्रियपक्षिणौ चिरं बहुकालं यावच्चापलं चञ्चलताम् । उत्कण्ठतामित्यर्थः । रचयतः कुर्वते । कि-

कर्तुमिच्छ । उत्सुकतया उत्कण्ठितत्वेन त्वद्वधास्तव जायाया । 'दारा क्षेत्रे वधूर्भार्या
जनी जाया परिग्रह ' इति हैम्याम् । मुखं वदनमेव सुधाशुस्तस्य सुधा दर्शनामृतं तस्या
पानं पीति प्रविवित्सू कर्तुमिच्छ । 'कणे हत्यचकोरीणा गण पीत्वा सुवासवम् । अ-
जायत मदेनेव गुञ्जापुञ्जारुणेक्षणा ॥' इति वस्तुपालकीर्तिकौमुद्या चकोराणा ज्योत्स्ना-
पाने प्रसिद्धेऽपि इत्यमृतपानमपि ॥ इति विमलाया प्रथमोक्तिः ॥

वाङ्मयैर्विरचितैरिदमाद्यैः श्रोत्रपत्रपथिकैः स्वभगिन्या ।

प्रेरितो निगदति स्म कुमारो गर्जितैरिव शिखी घनपङ्केः ॥ ५२ ॥

कुमारो हीरनामा बालको निगदति स्म वभाषे । किलक्षण । प्रेरितः प्रणोदितः ।
के । इदं पूर्वोक्तमाद्यं प्रथमं येषु तादृशैर्वाङ्मयैर्वाचा प्रपञ्चैः । 'इतीदृशैस्त विरचय्य
वाङ्मयैः' इति नैषवे । किभूतैर्वाङ्मयैः । विरचितैः प्रणीतैः । उक्तैरित्यर्थः । कया । भगिन्या
स्ववृहत्स्वसा । पुनः किभूतैः । श्रोत्रयोरर्थात् कुमारस्य कर्णयोः पथिकैः प्राघुणीभूतैः ।
श्रुतैरित्यर्थः । वभाषे । क इव । शिखीव । यथा मयूरो घनपङ्के मेघमालाया गर्जितै-
र्गर्जरवैः प्रेरितो वक्ति केकारव कुरुते ॥

जीवितं कुशशिखास्थमिवाम्भः पांशुलेव तरला कमलापि ।

ऐक्षवाग्रमिव यौवतमेतत्प्रेक्षणक्षण इव स्वजनोऽपि ॥ ५३ ॥

हे जामे, जीवितमायुर्जावितव्यं कुशशिखास्थं दर्भाग्रस्थायुकमम्भो नीरमिव वर्तते ।
दर्भाग्रस्थमम्भं कियत्कालमवतिष्ठते तथा जीवितमपि । अपि पुन — कमला पासुलेव
व्यभिचारिणीव तरला चपला । अस्थिरा आस्ते । पुनरेतत्ससारिजनैराद्रियमाणं यौवतं
युवतीनां समूहं स्त्रीगुणः ऐक्षवाग्रमिव इक्षूणामिदमैक्षव तादृशमग्रं प्रान्तं तद्वत् । यथा
इक्षूणामग्रे नीरसता तथा विचार्यमाणमनुभूयमानं च स्त्र्यैः प्रान्ते नीरसमेव जायते ।
अपि पुनः स्वजनो ज्ञातिवर्गः परिजनो वा प्रेक्षणक्षण इव रामलक्ष्मणादिरूपदर्शननाट-
कप्रस्ताव इव क्षणदृष्टनष्टः स्यात् ॥

यद्गमिष्यति ममार्भकभावोऽलंकरिष्यति तनुं च युवश्रीः ।

वार्धक्यं पुनरमात्यमिव स्व भूषयिष्यति क इत्यवगच्छेत् ॥ ५४ ॥

हे जामे, यन्मम मदीयोऽर्भकभावः शैशवं गमिष्यति चास्यति । च पुनर्युवश्रीः
भावप्रदाननिर्देशात्तारुण्यलक्ष्मी । अथ वा युवत्त्वेन श्रीर्लक्ष्मी शोभा मम तनुं शरीर-
मलंकरिष्यति । पुनर्वायुं वृद्धावस्थां स्वमर्थादात्मीयात्मानं भूषयिष्यति । कमिव ।
अमात्यमिव । यथा प्रवानं वार्धक्यं भूषयति । 'वार्धक्यं भूषयत्यत्र राजामात्यमिष्यन्तीन्'
इति वचनात् कः पुमानित्यवस्थात्रयं भावीदमवगच्छेत् अवबुध्येत । अपि तु न
कोऽपीत्यर्थः ॥

जन्तुरेष इह जामिकलत्रभ्रातृमातृपितृपुत्रविशेषैः ।

बम्भमीति परमाणुरिवैको नीलिमारुणिमपीतिमरागैः ॥ ५५ ॥

हे भगिनि, एष जन्तु प्राणी इह जगति एक एव जामिर्भगिनी, कलत्र पत्नी, आता बन्धु, माता जननी, पिता जनक, पुत्र सुत, एतेषा विशेष्टे प्रकारे बम्भ्रमीति ससारचक्रे अतिशयेन पर्यटति । क इव । परमाणुरिव । यथा एक एव परमाणुर्नाल-त्वपीतत्वरक्तत्वादिरागैरङ्गैर्भुवने भ्राम्यति ॥

सौरभेण मलयद्रुरिवात्मा यस्य धर्मविधिना स्म विभाति ।

तेन विष्टपमशेषमभूषि प्रोच्यते स्म किमुताभिजनादि ॥ ५६ ॥

हे जामे, यस्यात्मा धर्मविधिना जैनधर्माचरणप्रकारेण विभाति स्म शोभित । क इव । मलयद्रुरिव । यथा चन्दनतरुः सौरभेण परिमलेन विभाति तेन पुसा अशेष समस्तमपि विश्वमभूषि भूषितम् । तर्हि अभिजनादि किमुत प्रोच्यते । निखिलेऽपि भुवने स्ववशादि तु सुतरामेव भूषितमिति बोध्यम् ॥

निम्नगेव परिसर्पति निम्नं या दधाति पितृसूरिव रागम् ।

भोगिनीव कुटिला कमलाक्षी सा सतामनुचिताभ्युपगन्तुम् ॥ ५७ ॥

हे जामे, या स्त्री निम्नगेव नदीव निम्न नीचैः परिसर्पति गच्छति । नीचगामिनी । 'कामिन्यो नीचगामिन्यः' इति वचनात् । तथा—या स्त्री पितृसू सध्येव क्षण राग दधाति । यथा सध्या क्षण पञ्चाप्यतिशायिवर्णविशेषान् दर्शयित्वा नीरागा स्वयमपि क्वापि याति तथैव स्त्री । तथा या कान्ता भोगिनीव भुजङ्गीव कुटिला । वक्रगामिनी वक्ति अन्यदन्यच्च कुरुते सा कमलाक्षी वनिता सतामुत्तमानामभ्युपगन्तुमङ्गीकर्तुमनुचिता सर्वथापि नैव योग्या ॥

या जहाति न कदाप्यनुषङ्गं या विरागवति चाधिकरागा ।

तां जगज्जनमनःकमनीयां लिप्सते शिवकनी मम चेतः ॥ ५८ ॥

हे जामे, या वधू कदापि कस्मिन्नपि समये भर्तुरनुषङ्गं सङ्गम् । पार्श्वमित्यर्थः । न जहाति न मुञ्चति । च पुनर्या विरागवति वैराग्यभाजिनि नीरागेऽपि पुंसि अविकरागा उत्कृष्टरङ्गा भवति । ता शिवकन्या जगद्विख्याता मुक्तिकन्या मम चेतश्चित्तं लिप्सते वाञ्छति । किभूतानां जगताम् । भूर्भुवः स्वस्त्रयीजन्मिना सुरासुरनराणां मनोभिरन्तःकरणैः कमनीयामभिलषणीयाम् ॥ इति प्रव्रज्यादृढतायां भगिनी प्रति कुमारवचः ॥

निश्चिकाय वचनैरथ तैस्तैस्तस्य सा व्रतविधौ द्रढिमानम् ।

मौक्तिकस्रजमिवाश्रुकणौघैस्तन्वती हृदि पुनस्तदवोचत् ॥ ५९ ॥

अथ भ्रातुर्वचनश्रवणानन्तरं सा विमला तैस्तैः पूर्वोक्तवचनैस्तस्य हीरकुमारस्य व्रतविधौ दीक्षाग्रहणविषये द्रढिमानं दृढतां निश्चिकायं निर्धारयामास । निर्धारं कृतवती । पुनः सा जामि त भ्रातरमवोचद्वक्ति स्म । किं कुर्वती । अश्रुकणौघैः बाष्पविन्दुवृन्दैः ।

उत्प्रेक्ष्यते—हृदि हृदये वक्षसि मौक्तिकस्रज मुक्ताफलमालिकामिव तन्वती कुर्वती
विस्तारयन्तीव ॥

वत्स वत्सलतया तव किञ्चिद्वच्मि कर्णपथिकीकुरु तत्त्वम् ।

यद्रसायनमिव स्वजनानामस्ति वाग्विरचना हितगर्भा ॥ ६० ॥

हे वत्स लघुभ्रात , तव भवत वत्सलतया हितकृत्वेन यत्किञ्चिद्विनामायतिहित-
विधायक विचार्याह वच्मि कथयामि, तत्त्व तवाप्यायतिमुखद मदुक्त कर्णपथिकीकुरु
श्रवणप्राघुण प्रणय । शृण्वित्यर्थः । यद्यस्मात्कारणात्स्वजनाना वन्द्यवर्गाणा हित पथ्य-
मायतौ सुखकारकोपायो गर्भे मध्ये यस्यास्तादृशी वाग्विरचना वचनक्रम । हितशिक्षे
त्यर्थः । रसायन सिद्धौपवमिवास्ति । प्राणिना तुष्टिपुष्टिकृद्भवति ॥

अङ्गनाङ्गपरिरम्भहसन्तीगर्भगेहनिवहान्प्रविहाय ।

मर्षयिष्यसि कथं वद सैष्यं भूमिमानिव भटानरिसैन्यम् ॥ ६१ ॥

हे भ्रात , त्व वद कथय अङ्गनाना स्वपाणिगृहीतगृहिणीनामङ्गस्य कायस्य परिरम्भ
आश्लेष स्वकामिनीकायेन सममालिङ्गनम् । शीतकाले तस्योष्णस्पर्शत्वात् । तथा—हसन्त्य
कृशानुशकटिका , तथा—गर्भगेहा अपवारका । ‘उरडा’ इति लोके प्रसिद्धा । एतेषा नि-
वहान् समूहान् प्रविहाय त्यक्त्वा त्व सैष्य शिशिरर्तुम् । उपलक्षणाद्धेमन्तमपि । एता-
वता शीतकाल कथं केन प्रकारेण मर्षयिष्यसि सहिष्यते । ‘सहते मृष्यति मर्षति मृष-
यति मर्षयति मर्षते चैव । क्षमते तितिक्षते च क्षाम्यति चेति क्षमाविषया ॥’ इति
क्रियाकलापे सहनार्था क्रिया । क इव । भूमिमानिव । यथा राजा भटान्वीरान् विहा-
य मुक्त्वा अरिसैन्य शत्रुसेना कथं सहते ॥ इति शीतकालकाव्यम् ॥

चन्द्रचन्दनशिरोगृहशय्यावारवामनयनावनकेलीः ।

अन्तरेण तरणीरिव सिन्धुग्रीष्म एष किमु निस्तरणीयः ॥ ६२ ॥

चन्द्र शीतरुचि , चन्दन श्रीखण्डविलेपन शिरोगृहम्, चन्द्रशाला । उष्णकाले हि यु-
वानो गृहोपरितनाकाशभूमौ शेरते शीतलत्वात् । तथा—शय्या हसार्कतूल्य पल्यङ्गा वा ।
तथा—वारवामनयना एकैकस्य राजादेरन्यस्यापि पुण्यवत पुंसो बह्वीषु गृहिणीषु या
स्वकीयवारके स्वस्यावसरे समेत्य पत्या सम विलसति सा अथ वा चक्रवर्त्यादीनामिव
वारविलासिन्य एकैकस्या स्त्रियोऽनु द्वे द्वे वाराङ्गने । ‘सहेलिका’ इति प्रसिद्धा । तास्तु
चक्रवर्त्यादिभिरेव भुज्यन्ते । नान्यै पाणिगृहीतिवत् । इति ता वारवर्णिन्य । तथा—
वनकेलय उद्याननिखेलनानि तमालवारा जलयन्त्रमन्दिरादिषु क्रीडा । एता अन्तरेण
विना हे भ्रात , त्वया भवता एष लूकाझलादिभि सकलजगत्सतापहारको ग्रीष्म उष्ण
काल । वसन्तग्रीष्मौ द्वावप्युष्णसमय । स किमु कथं निस्तरणीय अतिक्रमणीय ।
क इव । सिन्धुरिव । यथा तरणीर्वेडा विना समुद्र कथं निस्तीर्यते उत्तीर्यते ॥ इति
ग्रीष्मसमयकाव्यम् ॥

क्रीडितुं रतिपतेरिव गेहाः प्रावृषेण्यदिवसाः कथमेते ।

गीतनृत्ययुवतीजनलीलामुख्यसौख्यविमुखेन विषह्याः ॥ ६३ ॥

हे भ्रात , एते व्रजनप्रसिद्धा जगजीविका हेतव प्रायेण हि विजयदशमी यावज्जना घन समीहन्ते तेन शरदपि वर्षान्तरे वोच्यते । प्रावृषेण्या वर्षासमयसबन्धिनो दिवसा दिनानि कथं कथा रीत्या त्वया विषह्या सहनीया । किंभूतेन त्वया । गीत गानम्, नृत्य नाटकम्, युवतीजनैस्तरुणीभिः सार्व लीला विलास दोलान्दोलनप्रमुखा क्रीडा , ता मुख्या प्रकृष्टा मुखे आदौ भवा मुख्या आद्या यत्र तादृक् यत्सौख्य सासारिकसुख तस्माद्विमुखेन पराङ्मुखेन । तत्त्यक्तकामत्वात् । प्रावृषेण्यदिवसा उत्प्रेक्ष्यन्ते—रतिपतेः कामस्य क्रीडितु विलसितु गेहा मन्दिराणीव ॥ इति वर्षाऋतुकाव्यम् ॥

जृम्भमाणजलजद्वितयीवाङ्घ्रिद्वयी प्रदधती म्रदिमानम् ।

क्षोणिचङ्क्रमणदुःखमियं ते मर्षयिष्यति कथं कथयैतत् ॥ ६४ ॥

हे सहोदर, त्वमेतन्मया प्रोच्यमान कथय निवेदय । इयं शङ्खचक्राङ्कुशातपवारणा-दिलक्ष्णैर्लक्षिता अङ्घ्रिद्वयी चरणयुगली क्षोणिचङ्क्रमणस्य कठिनभूमीपीठे पर्यटनस्य पर्यटनेन वा दुःखमसात कथं मर्षयिष्यति सहिष्यते । किं कुर्वती । म्रदिमान सौकुमार्यं प्रदधती प्रकर्षेणातिशयेन बिभ्राणा । केव । जृम्भमाणजलजद्वितयीव । यथा स्मेरत्कमलयामल म्रदिमान धत्ते ॥

वक्रवारिजधिया समुपेतां षट्पदावलिमिवालकमालाम् ।

लुञ्चयिष्यसि कथं मुखलक्ष्मीन्युञ्छितामृतमयूख सगर्भ ॥ ६५ ॥

हे मुखलक्ष्म्या वदनशोभाया उपरि न्युञ्छितो न्युञ्छनीकृत्य क्षिप्तोऽमृतमयूख-श्चन्द्रो यस्य [अर्थाद्विधिना] स तस्य सबोवन हे मुखलक्ष्मीन्युञ्छितामृतमयूख, समानो गर्भो यस्य । 'सहादे' इति समानस्य सू आदेश । हे सगर्भ एकमातृगर्भोत्पन्नभ्रात , त्वमलकमाला चिकुरच्छटा केशपाश कथं लुञ्चयिष्यसि उत्पाटयिष्यसि । उत्प्रेक्ष्यते—वक्त्रे वदने वारिजस्य पद्मस्य धिया बुद्ध्या भ्रमेण समुपेता समागता षट्पदावलीं भृङ्गमालिकामिव ॥

राशिना सुमनसामिव सर्पिस्तर्पितोद्धतधनंजयकीला ।

तत्परीषहततिः किमसह्या विग्रहेण मृदुना तव सह्या ॥ ६६ ॥

हे भ्रात , तव भवतो मृदुना सुकुमारेण विग्रहेण शरीरेण असह्या कातरचित्तेन सोढुमशक्या । तादृशी चासौ कातरीकृतानेकजना द्वाविंशतिमाना प्रसिद्धा जिनशासने विख्याता परीषहाणाम् [क्षुधा-पिपासा-शीत-उष्ण-दश मशक अचेल-अरति-स्त्री-चर्या-निषद्या शय्या-आक्रोश-वव-याचना-अलाभ रोग-नृण-स्पर्शन-सत्कार-मेल-प्रज्ञा-अज्ञान स म्यक्त्वनाम्ना] तति श्रेणी कथं केन प्रकारेण सह्या मर्षणीया सोढव्या । केनेव । राशि-

नेव । यथा सुमनसा कुसुमाना निकरेण सर्पिषा घृतेन तर्पितो य उत्कट उच्छिखो वा
वनजयो वह्निस्तस्य कीला ज्वाला कथ क्षम्यते ॥ इति विमलाया द्वितीयवार वाक्यानि ॥

कुन्दकुञ्जलजयं सृजतेवाभीशुभिः प्रसृमरैर्दशनानाम् ।

प्रत्यवादि वदता विदुरेणानेन जामिरिति नीतिमता सा ॥ ६७ ॥

अनेन कुमारेण जामिर्विमलाभगिनी इति वक्ष्यमाण प्रत्यवादि प्रत्युत्तरीकृता । प्रत्यु-
त्तरो दत्त इत्यर्थः । अनेन किभूतेन । वदता वक्तृणा मध्ये विदुरेण विदग्धेन अतिच-
तुरेण । पुनः किभूतेन । नीतिमता न्यायशालिना नययुक्तेन । उत्प्रेक्ष्यते—दशनाना
स्वदन्ताना प्रसृमरैर्विस्तरणशीलैरभीशुभिः किरणैः कृत्वा कुन्दकुञ्जलाना मुचकुन्दक-
लिकाना पराभव सृजता कुर्वतेव ॥

वर्णिनीव विरति कृतसङ्गा ध्यानसंततिरसौ हसनीव ।

शान्ततापवरकः किमु जामे शर्मणे शमवता तुहिनतौ ॥ ६८ ॥

हे जामे, तुहिनतौ हिमसमये शीतकाले शमवतामुपशमिना मुनीनाममी शर्मणे
सुखाय भवन्ति । अमी के तान् प्रतिपादयति—कृतो विहित सङ्गः सर्वाङ्गानुषङ्गो यथा
तादृशी विरतिः सर्वसङ्गपरित्यागलक्षणा सदापार्श्ववर्तिनी वरवर्णिनीव कान्तेवास्ते । तथा
असौ ससार मुमुक्षुभिरहर्निश ध्यायमाना ध्यानसततिः प्रणिवानानामेकाद्यशैः क्रिय-
यमाणत्वात् परम्परा हसनी अङ्गारशकटीव ध्यानलीलाना न शीत न तापश्च लगति ।
तथा शान्तता शमपरिणाम अपवरक इव वर्तते । किमु इवार्ये । गर्भागार किमु । ‘ग-
र्भागारेऽपवारकः’ इति हैम्याम् ॥ इति कुमारोक्त यतिमातृकच्छीतकालकाव्यम् ॥

अङ्गरागमिव सद्गुरुशिक्षा श्रीजिनस्य च विधोरिव सेवा ।

केलिरब्जसरसीव च योगे प्रीणयन्ति शमिनोऽपि निदाघे ॥ ६९ ॥

हे जामे, एते पदार्था निदाघे ग्रीष्मसमयेऽपि शमिनः शान्तमानसान् मुनीन् प्रीण-
यन्ति तोषयन्ति । तानेव प्रदर्शयति—एकः सन् शोभनो गुरुर्हिताहितोपदेशकः तस्य
शिक्षा स्वर्गापवर्गमागैकसावनविवायिकानुशास्तिः अङ्गरागो विलेपनमिवास्ते । च
पुनः श्रीभिश्चतुस्त्रिंशदतिशयलक्ष्मीभिः कलितो जिनो वीतरागस्तस्य विवोश्चन्द्रमस इव
सेवा परिचर्या । च पुनर्योगे यम-नियम-करण-प्राणायाम-प्रत्याहार वारणा-ध्यान-समा-
विरूपाष्टाङ्गलक्षणे अब्जसरसि कमलकलिततटाके इव केलिर्जलक्रीडा प्रीणातीति शेषः ॥
इति कुमारोक्त मुनिमनः सुखकृत् ग्रीष्मसमयकाव्यम् ॥

यत्र गीतय इवागमघोषास्ताण्डवा इव पुनर्भवभावाः ।

वारिवाहदिवसाः शमभाजा नित्यमुत्सवमया इव सन्ति ॥ ७० ॥

हे भगिनि, वारिवाहदिवसा वर्षाकालवासराः शमभाजा शान्तरसशालिना श्रमणाना

नित्य सदोत्सवमया महामहप्रचुरा^१ सन्ति । तदेव दर्शयति—यत्र प्रावृषि वर्षाकाले आगमाना सिद्धान्ताना घोषा पठनध्वनय^२ गीतयोगानामिव श्रूयन्ते । पुनर्यत्र भवभावा सर्वे ससारपदार्था ससारस्वरूपाणि वा ताण्डवा नृत्यानीव नाटकानीव विलोकयन्ते । ताण्डवशब्द पुनपुसके । ‘पूर्वत्रिदिवताण्डवा’ इति लिङ्गानुशासने ॥ इति कुमारोक्त श्रमणस्वान्तविश्रामकारि वर्षर्तुकाव्यम् ॥

यो विजेतुमिव वारिजराजी पश्यतस्तत इतः क्रमणेन ।

पल्लवांश्च विभवैरतिदृप्तौ तौ क्रमौ कलयतः किमसातम् ॥ ७१ ॥

हे भगिनि, तौ क्रमौ चरणौ असात दुःख कथं कलयतः वत्त । यौ क्रमौ विभवै-
र्लक्ष्मीभि कृत्वा अतिदृप्तौ अविक्रमदाध्मान्तौ सन्तौ वारिजराजी कमलमाला च पुन
पल्लवान् प्रवालान् जेतु पराभवितु तत इत इतस्तत क्रमणेन पर्यटनेन पश्यत वि-
लोकयत । यौ परान् विजिगीषतस्तौ सातासात न गणयत ॥

द्वेषिणामिव गणाः शितिमानं वक्रभावमपि ये कलयन्ति ।

को महाभट इवात्महितैषी नोच्छिनत्ति ननु तानिह केशात् ॥ ७२ ॥

ननु इति प्रश्ने । हे स्वस , तान् केशान् कुन्तलान् क प्राज्ञ^३ पुमानोच्छिनत्ति नो-
च्छेदयति । क किभूत । आत्मन स्वस्य हितमायतिकाल सुखमिच्छतीत्येवशील
आत्महितैषी स्वसुखाभिलाषुक । क इव । महाभट इव । यथा सर्वाङ्गीणबलवान् सु-
भट राजादिक स्वाभ्युदयकाङ्क्षी सन् कुत्सितान् ईशानविपतीन् केशान् कुग्रामवा-
सिन पल्लीपतिप्रमुखानथ वा सीमालाभूपालान् स्वस्पष्टित्वेन शत्रुच्छेदयति । तान्
कान् । ये द्वेषिणा वैरिणा गणा व्रजा इव शितिमानमर्थान्मनसि श्यामता कालुष्यम् । द्रो-
हमित्यर्थ । अपि पुनर्वक्रभाव कुटिलता कपटिभाव कलयन्ति विभ्रति । प्राय सत्पु-
रुषाणा स्त्रीणा च केशेषु वक्रत्व वर्ण्यते । यथा चम्पूकथायाम् ‘वक्रोत्तिकुशलस्य नलस्य
केशकलापोऽपि वक्रता भेजे’ । तथा अरालकेशी वशा’ ॥

जैमिनीयमनुजा इव दैवे विग्रहे न शमिन कृतयत्ना ।

क्षेत्रमत्र हि तपोविधिसीरक्षेडित दिशति निर्वृतिसस्यम् ॥ ७३ ॥

हे सहोदरे, शमिनश्चारित्रिणो विग्रहे शरीरे मेघकुमार इव न कृतयत्ना नैव विनि-
र्मितपालना समत्वपरिणामरहिता भवन्ति । के इव । जैमिनीयमनुजा इव । यथा
जैमिनीयमतानुयायिनो मनुजा जना दैवे देवतासबन्विनि शरीरे न कृतोद्यमा नैव
निर्मितप्रयत्ना ते हि देवाना शरीर न मन्यन्ते । ‘विग्रह मखभुजामसहिष्णुस्तस्य जै-
मिनिमुनित्वमुदीये’ इति नैषधे । हि यस्मात्कारणात्तपस्या विविभि एकावल्यादिवहुवि-
वप्रकारैरेव सीरैर्हलै क्षेत्रं गृहीतसार त्रिसतीकृत च सन् क्षेत्रं वपु कृषिभूमिश्च ।

‘क्षेत्र भरतादौ भगाङ्गयो । केदारे सिद्धभूपत्न्यो ’ इत्यनेकार्थं । अत्र जगति निर्वृतिसस्यं मोक्षफल सुखेन सुखकृद्वा धान्य दिशति ददाति । सस्य धान्यफलयोरिति ॥

इन्द्रियाण्यनिशमुत्पथगानि शूकलानिव वहञ्छमरश्मीन् ।

यो नियन्त्रयति जन्तुरविघ्नां प्राप्य निर्वृतिपुरी स सुखी स्यात् ॥ ७४ ॥

हे भगिनि, स जन्तुः प्राणी अविघ्ना निरन्तराया निर्वृतिपुरीं मुक्तिनगरीं प्राप्यासाद्य सुखी स्यात् । स क । य पुमान् अनिश नित्यमुत्पथगानि उन्मार्गप्रवृत्तानि इन्द्रियाणि । श्रोत्रेक्षणनासारसनास्पर्शनरूपाणि पञ्चापि हृषीकानि नियन्त्रयति निरुध्य स्वायत्तानि कुरुते स्ववशीकरोति । किं कुर्वन् । शमरश्मीन् शमतापरिणामरूपकशा वहन् धारयन् । कानिव । शूकलानिव । उपमाने लिङ्गविपर्यय । ‘लिङ्गभेद तु मेनिरे’ इति वाग्भटालकारे । यथा उत्पथगान् दुर्विनीतानश्चान् कशा दधत्कशा प्रहारै सादी अश्ववारो नियन्त्रयति दमयति ॥

मानवान्स्वयमसौ छलदर्शी छाययास्त्यनुसरन्निव कालः ।

आयतौ हितमत करणीयं तज्जिनक्रमयुगं शरणीयम् ॥ ७५ ॥

हे सोदरे, असौ प्रत्यक्ष चर्मचक्षुर्भिरपि लक्ष्यमाण स्वयमात्मना छलदर्शी छिद्रावलोकक रन्ध्रान्वेषी कालो यम द्वायया वपु प्रतिच्छायिकया । छायाछलेनेत्यर्थः । मानवान्प्रति मनुष्यान् प्रति मनुष्याननुसरन्ननुगच्छन्निवास्ति । यदुक्तम्—‘छायामिसेण कालो सब्वजियाण छल गवेसन्तो । पास कहवि न मुञ्चइ ता वम्मे उजम कुणह ॥’ इति वचनात् । अतोऽस्मात्कारणान्मानवैरायतौ उत्तरकाले हितम् । येन कृत्वा जन्तु इहलोकपरलोकयो सुखी स्यात् तद्वित पथ्य करणीय विधातव्यम् । तत्कारणात्तद्वितकर्तृजिनक्रमयुग श्रीवीतरागचरणयुगल शरणीय शरणीकरणीयमाश्रयितव्यम् ॥ इति हीरकुमारस्य भगिनी प्रति द्वितीयवार प्रत्युत्तरवचांसि ॥

वाङ्मयैर्जितसुधामधुदुग्धैर्निर्जयं विदधतीव शुकीनाम् ।

इत्थमुक्तवति हीरकुमारे सा बिभेद वदनाम्बुजमुद्राम् ॥ ७६ ॥

हीरकुमारे इत्थममुना प्रकारेण उक्तवति भाषितवति सति सा विमला वदनाम्बुजमुद्रा मुखकमलमुद्रण मौनलक्षणा बिभेद त्यक्तवती । बभाषे इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—जितानि पराभूतानि सुवा पीयूष मधु क्षौद्र दुग्ध पयो यैस्तादृशैर्वाङ्मयैर्वचनविलासै कृत्वा शुकीना कीरकान्ताना निर्जय विदधतीव कुर्वतीव ॥

नार्हती व्रतविधौ तव तेनाद्यापि यत्स्फुरति शैशवमङ्गे ।

योद्धुराहव इवापटुताया तेन तिष्ठ कियती शरदस्त्वम् ॥ ७७ ॥

हे सहोदर, तेन कारणेन तव भवतो व्रतविधौ सयमग्रहणप्रकारे नार्हती न योग्यता अर्हतो भाव नार्हती । ‘अर्हतो नुम्वा’ इति विभाषया नुम्बिवानादार्हन्ती आर्हतीति

रूपद्वय स्यात् । 'उडुपरिषद कि नार्हन्ती निश' किमनौचिती' इति नैषधे । यद्यस्मात्कारणात्तवाङ्गे भवतः शरीरे शैशव बालभाव' स्फुरति दीप्यते । बाल्यावस्थाया हि सयमग्रहणमनुचित शिशुत्वेनायोग्यत्वात् । कस्येव । योद्धुरिव । यथा भटस्यापटुताया सत्यामसामर्थ्ये सति आहवे सग्रामे अनौचिती । 'योद्धारस्तु भटा योवा.' इति हैम्याम् । तेन हेतुना हे वत्स, त्व कियती कियत्प्रमाणा शरदो वर्षाणि तिष्ठ गृहे स्थिति कुरु प्रतीक्षस्व । स्वसौध एव वैराग्यवान् वास विधेहि ॥ इति विमलायास्तृतीयवारं वाक्यम् ॥

शैशवेऽपि मदमोहमहेभान्सिहशाव इव हिंसितुमीशः ।

तत्समादिश ममास्य निदेश तामिदं तदनु सोऽपि जगाद ॥ ७८ ॥

तदनु भगिनीभाषितस्य पश्चात् सोऽपि हीरकुमारोऽपि ता विमला प्रति इदमस्मिन्नेव काव्ये प्रोच्यमान जगाद बभाषे । हे जामे, शैशवे बाल्येऽप्यहं मदा जातिकुल-रूप-बल-श्रुत-लाभ-तप-ऐश्वर्य-नामानोऽष्टौ, तथा मोहो मौढ्य रागो वा, त एव महेभा मत्तहस्तिनस्तान् हिंसितुं निहन्तु समर्थोऽस्मि । क इव । सिहशाव इव । यया केसरिकिशोरक. शिशुत्वेऽपि गजेन्द्रान् दलयितुमलभूष्णुर्भवेत् । 'विश्वव्यापि तमो हिनस्ति तरणिर्बालोऽपि कल्पाङ्कुरो दारिद्र्याणि गजावलि हरिशिशु काष्ठानि वह्ने कण ।' इति पूर्वाचार्यप्रणीतश्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथस्तुतौ । तथा 'सिह शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु । न पुनर्नखमुखविलिखितभूतलकुहरस्थिते नकुले ॥' इति सूक्तेऽपि तत्कारणात्त्व मम लघुभ्रातास्य सयमस्य ग्रहणस्य निदेशमाज्ञा देहि ॥ इति विमला स्वसार प्रति कुमारस्यापि तृतीयवारं प्रतिवच ॥

तस्य वीचिभिरिवामरसिन्धोरुक्तियुक्तिभिरितोऽप्यपराभिः ।

ओमिति प्रवदति स्म कथंचित्सापि बाष्पभरगद्गद्वाग्भिः ॥ ७९ ॥

अमरसिन्धोर्देवनद्या गङ्गाया वीचिभि रङ्गतरङ्गै इव तस्य कुमारस्य इतोऽप्येतत्पूवोक्तादप्यपराभिरन्याभिरुक्तियुक्तिभिर्वचनप्रपञ्चै सा विमला जामिरपि कथंचिन्महता कष्टेन बाष्पाणा दुःखाश्रूणा भरेण निरन्तरप्रवाहेण कृत्वा गद्गदाभिरस्पष्टाक्षराभिर्वाग्भिर्वाणीभि कृत्वा । ओमिति एवमस्त्विति प्रवदति स्म कथयति स्म । दीक्षादेश ददावित्यर्थ ॥ इति विमलाया दीक्षादेशप्रदानम् ॥

पूर्वमेव नियमस्थितिकालात्सा गलद्वहुलदृग्जलपूरै ।

भ्रातरं स्वयमिव स्नपयन्तीदं पुनर्गदितुमारभते स्म ॥ ८० ॥

सा विमला पुनरिदं वक्ष्यमाण गदितुं वक्तुमारभते स्म उपचक्रमे । किं कुर्वती । नियमस्थितिकालात्सयमग्रहणसमयात्पूर्वं प्रथममेव गलता लोचनद्वन्द्वान्नि सरता बहुलानामविच्छिन्नाना प्रवाहाना दृशोश्चक्षुषोर्जलानामस्रुसलिलाना पूरैर्वारावर्षप्लवै. कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—भ्रातरं स्ववान्वव स्नपयन्ती स्नानं कारयन्तीव ॥

यादसां भवधुनीधवमध्ये मादृशमतिदुराकलनीयः ।

संयमः सुकृतविप्रयुतानां भ्रातरल्पतरसामिव दुर्गः ॥ ८१ ॥

हे भ्रात , सुकृतविप्रयुताना पुण्यरहिताना मादृशमस्मद्विधाना संयमश्चारित्र्यमतिदुराकलनीय अतिशयेन दुरविगम दु खेनादरणीय । मादृश किभूतानाम् । भव. स-सार स एव धुनीधवो नदीपति समुद्रस्तस्य मध्ये क्रोडे यादसा जलचराणा नकाणाम् । क इव । दुर्ग इव । यथाल्पतरसा स्वल्पबलानाम् । 'प्राणस्थामतरः पराक्रमबलद्युम्नानि शौर्यौजसी' इति हैम्याम् । स्तोक सैन्य भुजबल वा येषा तेषा नृपाणा दुर्ग. कोट. दुष्प्राप ग्रहीतुमशक्यः ॥

सततोपचितकर्मगणस्यानादिधाभवपरम्परयास्ते ।

क्रीतभृत्य इव भर्तृजनस्यायत्तधीरिह सुधीरपि बन्धो ॥ ८२ ॥

हे बन्धो, इह जगति अनादिवा न विद्यते आदिर्यस्या सा अनादिः अनादिप्रकारा इत्यनादिधा तादृशी भवपरम्परा ससारे ससारता अवतारसततिस्तया कृत्वा सतत निरन्तरमुपचित प्रचुरीकृतो य कर्मणा पुण्यपापरूपाणा गणस्य ब्रजस्य सुवीरपि पण्डितोऽपि जानन्नप्यायत्तवीर्वश आस्ते । क इव । क्रीतभृत्य इव । यथा मूल्यगृहीत सेवको भर्तृजनस्य स्वामिनोऽवीन स्यात् । 'अनादिवा विश्वपरम्परायाम्' इति नैषधे ॥

कर्मसंततितिरोहितभावश्चेष्टतेऽत्र निरवग्रहचेष्टः ।

लोक एष निखिलोऽपि पिशाचावेशिताशय इव व्रतकाङ्क्षिन् ॥ ८३ ॥

हे व्रतकाङ्क्षिन् संयमाभिलाषुक हे भ्रात , एष जगति दृश्यमान निखिल समस्तोऽपि लोको जन पिशाचेन व्यन्तरजातिविशेषेण देवेनावेशितोऽधिष्ठित आशयश्चित्त परिणामो वा यस्य तादृश इव निरवग्रहा स्वतन्त्रा चेष्टा हास्यविनोदक्रीडाकरणादिस्वभावो यस्य तथाविव सन् चेष्टते विलसति । किभूतो लोक । कर्मणा प्राचीनजन्मा-चीर्णाणा शुभाशुभपुद्गलपरिणामरूपाणा सतत्या प्रकृतिपरम्परया तिरोहित आवृतो भाव सम्यग्ज्ञानरूपो जीवस्वभावो यस्य ॥

संसृतेः सुखमशेषममुष्या बान्धवामृतमिवानुभवन्ति ।

हीनसंगममिवारमणीयं जानते न तु जनाः परिणामे ॥ ८४ ॥

हे बान्धव हीरकुमार, लोका समस्ता अपि ससारिजना अमुष्या संसृते अस्य ससारस्याशेष समग्रमपि सुख शर्म अमृतमिव सुवारसस्वादमिवानुभवन्ति भुजन्ते । तु पुन हीनसंगममिव नीचजात्या कर्मणा वा पिशुनत्वेन वा निकृष्टैर्मिलन सौहार्दादिकरणमिव परिणामे प्रान्ते अवसाने विरस महादु खद जना न जानते नैव विदन्ति । यदुक्त सूक्तम्—'नीचसरीसो कीजइ सग चढइ कलङ्क हुइ जसभइ । हायि अज्ञार करइ जइ कोइ कइ दासइ कइ कालो होई ॥' इति ॥

संसृतेर्मतिमतां वर तस्यास्त्वं पृथग्भवितुमिच्छसि वत्स ।

पुण्डरीकमिव पल्वलपङ्कात्तत्सगर्भं भुवि धन्यतमस्त्वम् ॥ ८५ ॥

हे मतिमता वर सुबुद्धिभाजा श्रेष्ठ हे वत्स, लघुभ्रात । ‘वत्सा उरस्तुग्वर्षतर्णका’ इत्यनेकार्थः । तुक् अपत्यमुपलक्षणाल्लघुभ्रात्रादावपि इत्यवचूर्णि । तस्या पूर्वव्यावर्णित-स्वरूपाया संसृते ससारात्सकाशात्त्व पृथग्भवितुम् । त्यक्तुमित्यर्थः । इच्छसि वाञ्छसि । किमिव । पुण्डरीकमिव । यथा पल्वलपङ्कात्तटाककर्दमात्कमल भिन्न भवति । भूमी-पीठे जम्बाल, तदुपरि जलम् । द्वे अपि मुक्त्वा द्वयोरुपरि पद्म तिष्ठेत् । पुण्डरीकशब्देन तस्य श्रेष्ठत्वख्यापनं तत्कारणात् । हे समान, एको गर्भो यस्य तस्य सबोवन् हे सगर्भ बान्धव, भुवि पृथिव्या त्वमेव धन्यतम अतिशयेन पुण्यवान् । ‘सुकृती पुण्यवान् धन्यः’ इति हैम्याम् ॥ इति दीक्षाचुज्ञादानानन्तरं धर्मकारकत्वेन भगिनीस्तुतिः ॥

एतदालपितमात्मभगिन्या. श्रोत्रपत्रपुटकेन निपीय ।

सातमाप मृदुतित्तिरपिच्छस्पर्शजातमिव हीरकुमारः ॥ ८६ ॥

आत्मभगिन्या निजजामे एतत्पूर्वोक्तं भ्रातृप्रशसाकरणात्मकमालपितं भाषितं श्रोत्र-कर्णस्तदेव पत्रस्य पर्णस्य पुटको भाजनविशेषः । ‘दुदडो’ इति लोकप्रसिद्धः । तेन निपीय पीत्वा । सादरं श्रुत्वेत्यर्थः । हीरकुमारः सातः सुखमाप लेभे । उत्प्रेक्ष्यते—मृदु सुकुमारं यत्तित्तिर खरकोणं पक्षिविशेषः । लोके ‘गणेश’ इति प्रसिद्धः । तस्य पिच्छ-पत्रं तनूरुहं तस्य स्पर्शं सघट्टस्तेन जातमुत्पन्नमिव सुखम् । अर्थात् कर्णयोः तित्तिर-पक्षिणोऽतिमृदुलपिच्छस्य परावर्त्यमानस्य कर्णेऽतीव सात जायते । यदुक्तं चम्पू-कथायाम्—‘कोष्णं किं नु निषिच्यते तव बलात्तैलं सखि श्रोत्रयोरन्तस्तिरपक्षिपत्रमथ वा मन्दं मृदु भ्राम्यति । येनाङ्गेषु निखातमन्मयशरप्रस्फारपिच्छच्छविनीलीमेचकितोच्च-कञ्चुकुरुचा रोम्णा वहत्युद्गमः ॥’ इति ॥

रोमहर्षणमिषात्तदनुज्ञोद्वेलहर्षजलधौ शिशुकाये ।

उत्स्वसन्ति किमु किंचन लोलह्वालशालिशफरा. परितोऽमी ॥ ८७ ॥

शिशुकाये हीरकुमारशरीरे रोमहर्षणस्य रोमाञ्चस्य मिषाच्छलादमी प्रत्यक्षलक्षा किंचन किमपि लोलन्तश्चञ्चलीभवन्तः । ‘कावेरीतीरभूमीरुहभुजगवधूभुक्तमुक्तावशेष-कर्णाटीचीनपीनस्तनवसनदशान्दोलनस्पन्दमन्दः । लोलह्वाटीललाटालकतिलकलतालास्य-लीलाविलोलं कष्टं भो दाक्षिण्यं प्रसरति पवनं पान्थकान्ताकृतान्तः ॥’ इति भोज-प्रबन्धे । बाला लघवः शालिनः शोभाकलिता शफरा मीनाः । परितः सर्वतः । उत्प्रेक्ष्यते—उत्स्वसन्ति उच्छलन्ति । किंभूते शिशुकाये । तस्या विमलानाम्भ्यां भगिन्या अनुज्ञां सयमादानादेशस्तेनोद्वेलो वेलामतिक्रम्य प्रसरन् यो हर्षः प्रमोदः स एव जलविः स-मुद्रो यत्र । याद पतित्वान्मकराकरत्वाच्च मीनानां सभवो युक्त एव जलनिवौ ॥

एतया ध्वनिनिरस्तविपञ्चया भूतलोपगतयेव घृताच्या ।

त्वं गृहाण च सगोत्रजनेभ्यः शासन स पुनरेतदवादि ॥ ८८ ॥

एतया भगिन्या पुनरेतदित्यममुना प्रकारेण स कुमारोऽवादि भाषित । किभूतया एतया । ध्वनिना मधुरस्वरेण निरस्ता तिररकृता विपञ्ची वीणा यया । उत्प्रेक्ष्यते—भूतले क्षोणीमण्डले उपगतया प्राप्तया । ‘उपगतोऽपि च मण्डलनामिताम्’ इति रघुवशे । मण्डलनामितां द्वादशराजचक्रवर्तिता प्राप्त इति तद्वृत्ति । आगतया वा । ‘आगमने च गमनार्था समभ्युपाङ्म्य परा कथिता’ इति क्रियाकलापे । घृताच्या घृताचीनामा-
प्सरसा इव । ‘अवतरति घृताचीस्कन्धविन्यस्तहस्त’ इति चम्पूक्यायामिन्द्रविशेषणम् ।
तथा—‘इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनि श्वसितनिर्गमितेन’ इति नैषधे । इदं किम् ।
तदाह—हे वत्स, च पुनस्त्व सगोत्र स्वजना एव जनास्तेभ्यः शासन दीक्षादेश गृहाण
आदत्स्व ॥

भारती श्रुतियुगाञ्जलिना तां स्वस्वसुर्मधुसखी विनिपीय ।

शैक्षवन्निजगुरोर्हितशिक्षां स स्म भूत्प्रमदमेदुरिताङ्ग ॥ ८९ ॥

स हीरकुमार स्वस्वसुर्निजभगिन्या विमलायास्ता स्वजनादेशादानरूपा भारतीं वाणीं
श्रुतियुग कर्णयुगमेवाञ्जलिस्तेन विशेषेण सादरं निपीय पीत्वा प्रमदेन हर्षेण मेदुरित
पुष्टीभूतमङ्ग वपुर्यस्य तादृश स्म भूत्सजात । किवत् । शैक्षवत् । यथा शैक्ष प्राथम
कल्पिक निजगुरोर्हितामैहिकामुष्मिकसावनकारिणी शिक्षा सादरं श्रुत्वा हृष्टो भवति ।
किभूता भारतीम् । मधुन क्षौद्रस्य सखी वयसी मधुमृष्टाम् ॥

स्वानुजादिनिखिलस्वजनेभ्यः शासन व्रतविधेः पृथुकोऽपि ।

आददे पुनरसौ व्यवहारी लाभवद्विविधवस्तुगणेभ्यः ॥ ९० ॥

अपि पुन पृथुको हीरकुमार स्वस्यात्मनोऽनुजो भ्राता श्रीपालनामा स आदौ येषां
तादृशा निखिला समस्ता स्वजना गोत्रिवर्गमनुष्यास्तेभ्यः सकाशाद्व्रतविधेः सयमा-
चरणस्य शासनमादेशमाददे गृहीतवान् । किवत् । लाभवत् । यथा व्यवहारी व्यापारका-
रको विविधानां नानाप्रकाराणां वस्तूनां क्रियाणकाणां गणेभ्यः समुदायेभ्यो लाभमवि-
कफलं गृह्णाति । ‘लाभोऽविक फलम्’ इति हैम्याम् ॥ इति भगिनीवचनान्तरं स्वजन-
वर्गादेशग्रहणम् ॥

भूचरानिव विधेरनुवादान्सोपवीतकृतवेदनिदानान् ।

राजहंसगकमण्डलुपाणीनाञ्जुहाव गणकान्स सुवाणीन् ॥ ९१ ॥

स हीरकुमारो गणकान् ज्योति शास्त्रविदः । ‘सावत्सरो ज्यौतिषिको मौहूर्तिको
निमित्तवित् । दैवज्ञगणकादेशिज्ञानिकार्तान्तिका अपि ॥’ इति हैम्याम् । आजुहाव आ-

कारयामास । किंभूतान् । सहोपवीतेन यज्ञसूत्रेण वर्तन्ते ये । पुन किंभूतान् । कृतौ निर्मितो वेदाना निनाद उच्चारो यैस्ते । पश्चात्कर्मवारय । पुन किंभूतान् । राजहस-
वद्गच्छन्तीति । पुन किंभूतान् । कमण्डलु कुण्डिका पाणौ हस्ते येषाम् । 'कुण्डिका तु
कमण्डलु' इति हैम्याम् । तत कर्मवारय । पुन किंभूतान् । सुवाणीन् शोभना वाचो
येषां ते । उत्प्रेक्ष्यते—भूचरान् क्षोणीचारिण विधेर्ब्रह्मणोऽनुवादा अनुवदन्ति सदृशी-
भवन्तीति स्वरूपाणीव । ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वेन सोपवीतता वेदैककर्तृत्वाद्देवोच्चारित्व कम-
ण्डलुकरत्व सुवाक्त्व च युक्तम् ॥

आत्मकामितमुखानिव मूर्तान्पुष्पपल्लवफलाक्षतपुञ्जान् ।

तत्पुरोऽयमुपहृत्य सगोत्रैः पृच्छति स्म चरणस्य मुहूर्तम् ॥ ९२ ॥

अय हीरकुमार सगोत्रैः स्वजनैः सम चरणस्य चारित्रस्य मुहूर्तं पृच्छति स्म । कि
कृत्वा । उपहृत्य ढौकयित्वा । कान् । पुष्पाणि कुसुमानि, पल्लवा किशल्यानि, फलानि
तरुसस्यानि, अक्षता लाजा अक्षततण्डुला वा, तेषां पुञ्जान् व्रजान् । कथम् । तत्पुर-
स्तेषां मौहूर्तिकानामग्रे । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मन स्वस्य कामितानामभीप्सितपदार्थानां
मुखान् प्रारम्भानिव ॥

पूर्वनिर्मितपरस्परतर्के निश्चितोच्चपदसंपदुदके ।

तैरथौच्यत महोदयसद्मद्वारवद्वतदिनं पृथुकेन्दोः ॥ ९३ ॥

अथ प्रश्नानन्तर तैर्ज्यौतिषिकैर्व्रतदिनं सयमग्रहणवासर औच्यत कथितम् । कि-
वत् । पृथुकेन्दो कुमारचन्द्रस्य महानुदयो मोक्षो वा महोदय स एव सद्म गृह तस्य
द्वारवद्वारमिव । तैः किंभूतैः । पूर्व प्रथम निर्मितं कृतं परस्परमन्योन्य तर्को दोषरा-
हित्यग्रहगोचराशोचनीचादीनां विचारो यैः । पुन किंभूतैः । निश्चितो निश्चय नीतो
निर्धारितोऽर्थात्कुमारस्यैव उच्चस्यातिशयिन पदस्य गणधरत्वलक्षणस्य सपदो लक्ष्म्या
उदकं उत्तरकाले फलं यैः ॥

स्वर्णरूप्यमणिमौक्तिकदानैरीश्वरानिव विधाय विधिज्ञः ।

निश्चितव्रतमुहूर्तदिनस्तान्वर्णिनः स विससर्ज कुमार ॥ ९४ ॥

स हीरकुमार वर्णिनो ब्राह्मणानविकारान्मौहूर्तिकान् विससर्ज यथागतं प्रैषीत् । कि
कृत्वा । विधाय निर्माय । अर्थात् ज्यौतिषिष्ठानेय । कानिव । ईश्वरानिव महेभ्यानिव ।
कैः । स्वर्णानि काञ्चनानि । रूप्याणि रजतानि मणयो रत्नानि मौक्तिकानि मुक्ताफ-
लानि तेषां दानैर्विश्राणनैः । किंभूतः कुमारः । विविमुचितकरणादिकं जानातीति
विधिज्ञः सदाचारचतुरः । पुन किंभूतः । निश्चितो निर्वारीकृतं व्रतस्य दीक्षामुहूर्तस्य
दिनो दिवसो येन सः ॥ इति दीक्षामुहूर्तदिवसावलोकनम् ॥

आगतेऽहि सुहृदीव तदुक्ते शुद्धगोचरनवांशकयुक्ते ।

समदाद्विजयसिहमुखेभ्याः प्रारभन्त चरणक्षणमस्य ॥ ९५ ॥

विजयसिहनामा हीरकुमारस्य भगिन्या विमलाया भर्ता स मुख आदिर्येषा तादृशाः
इभ्या व्यवहारिण अस्य कुमारस्य चरणक्षण चारित्रमहोत्सव प्रारभन्त उपक्रामन्ति
स्म । कस्मात् । समदात्प्रमोदात् । कस्मिन्सति । तैर्गणकैरुक्ते कथिते अहि दिवसे
आगते सप्राप्ते सति । कस्मिन्निव । सुहृदीव । यथा विवाहादावाकारिते मित्रे महोत्सवा
प्रारभ्यन्ते । किभूतेऽहि । शुद्धा निर्दोषा गोचरा रेखादानादय नवाशका लग्नमध्यगत-
विशिष्टतमवेलास्तैर्युक्ते सहिते ॥

केचिदुच्चमणिपीठनिषण्णं गन्धबन्धुरपयोभृतकुम्भैः ।

निर्जरा इव जिनावनिजानि दीक्षणस्य समयेऽस्नपयस्तम् ॥ ९६ ॥

केचित्पुरुषा दीक्षणस्य सयमग्रहणस्य समये प्रस्तावे अर्थान्मुहूर्तवासरे त हीरकुमार-
मस्नपयन् स्नान कारयन्ति स्म । कै । गन्धैर्वासनार्थमन्तर्मुक्तकुसुमादिपरिमलैर्बन्धुरै-
र्मनोज्ञै पयोभि सलिलैर्भृता पूरिता ये कुम्भा कलशास्तै । किभूत तम् । उच्चमुन्नत
तथा मणिमय रत्नघटित यत्पीठमासनम् । स्नानचतुष्किका इत्यर्थः । तत्र निषण्णमुपविष्टम् ।
के कमिव । निर्जरा जिनावनिजानिमिव । यथा दीक्षाग्रहणावसरे देवा अर्थाच्चतु ष-
ष्टिप्रमितेन्द्रादयोऽमरा जिनाना सामान्यकेवललिना मध्ये अवनिर्जाया भूमिरेव पत्नीर्यस्य ।
'जायाया निङ्' । जायाशब्दान्निङ्प्रत्ययो भवति । 'लोपो व्योर्वलि' । वकारयकारयो-
र्वलिप्रत्यये परे लोपो भवति । सस्वरयोरिति शेषः । यकारलोपे । अवनिजानी
राजा एतावता जिनराज तीर्थोदकपूर्णकलशै ॥

सांप्रतं कथममुष्य जडेनाश्लेषणं विबुधकैरवबन्धोः ।

कोऽप्यरुक्षयदितीव तदीय वाससातिमृदुलेन शरीरम् ॥ ९७ ॥

कोऽपि पुमान् अतिमृदुलेनाधिकसुकुमारेण वाससा वस्त्रेण तदीय हीरकुमारसबन्धि
शरीर कायम् । उत्प्रेक्ष्यते—इतीव हेतो अरुक्षयन्निर्नीरयामास । इति किम् । यद्विबुधेषु
विचक्षणपुरुषेषु कैरवबन्धुश्चन्द्रस्तस्य पण्डितपुरदरस्यामुष्य हीरकुमारस्य जडेन मूर्खेण
डलयोरैक्याजलेन पानीयेन सममाश्लेषण सगमन कथ केन प्रकारेण सांप्रत युक्तम् ।
अपि तु न कथमपीति । पण्डितो हि मूर्खसङ्ग कदापि न कुर्यादिति ख्याति । 'मूर्ख-
सरिसी गोठडी पगि पगि कर न बुधीज' इति सूक्तोक्ते ॥

काञ्चनप्रतिमयेव नितान्तोत्तेजनादनुपमप्रभयास्य ।

मार्जनान्मृदुलगन्धदुकूलैर्निर्मलेन वपुषा पुपुषे श्रीः ॥ ९८ ॥

मृदुलानि कोमलानि गन्धेनोपलक्षितानि दुकूलानि क्षौमानि गन्धकाषाय्य तैर्मार्ज-
नान्निर्नीरीकरणाद्रुक्षणान्निर्मलेन शुचिना अस्य कुमारस्य वपुषा देहेन श्री शोभा पुपुषे
घुष्टा कृता । उत्प्रेक्ष्यते—काञ्चनप्रतिमयेव यथा सुवर्णमूर्त्या नितान्तमतिशयेनोत्तेजना-
दुद्दीपनान्निर्मलीकरणादनुपमा असाधारणा प्रभा कान्तिर्यस्यास्तादृशी श्री पुष्यते ॥

तत्कलाकुशलमानववर्गस्त प्रसाधयितुमारभते स्म ।

स्वस्तरूनिव निपातयितुं श्रीगर्वपर्वतशिखामधिरूढान् ॥ ९९ ॥

तस्य प्रसावनस्य मण्डनस्य कलाया विज्ञाने कुशलश्चतुर । 'तथैव तत्कालमथानुजी-
विभि प्रसावनासञ्जनशिल्पपारगै । निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृता नलस्यापि वि-
भोर्विभूषणा ॥' 'विभूषणा प्रसावना कृता' इति नैषधे, तद्वृत्तौ च । इति पुरुषस्यापि प्र-
सावना दृश्यते । मानवाना मनुष्याणा वर्ग समुदाय त कुमार प्रसावयितु मण्डयितु-
मशुकाभरणादि परिधापयितुमारभते स्म उपक्रामति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—श्रीणा विशि-
ष्टशोभाना यो गर्वोऽहकार स एव पर्वतो गिरिस्तस्य शिखाम् । उपरितनभूमीशिखरमि-
त्यर्थ । तामधिरूढानध्याश्रितान् स्वस्तरून् कल्पवृक्षान् निपातयितुमध क्षेप्तु जेतुमिव ॥

सान्द्रचन्द्रनिकुरम्बकरम्बीभूतनूत(त्न)घुसृणद्रवचर्चा ।

तत्तनौ विलसति स्म सुमेरौ चन्द्रिकाखचितसांध्यरुचीव ॥ १०० ॥

सान्द्रा स्निग्धा बहला वा ये चन्द्रा कर्पूरास्तेषा निकुरम्ब समूहस्तेन करम्बीभूतो
मिश्रो जातो यो नूतो(त्नो) नवीनो घुसृणाना कुङ्कुमाना द्रवो बहलपङ्क तस्य चर्चा विले-
पनम् । 'चन्द्रो विद्यौ च कर्पूरे स्वर्णे च' इत्यनेकार्थ । तस्य कुमारस्य तनौ काये वि-
लसति स्म शुशुभे । केव । चन्द्रिकाखचितसांध्यरुचीव । यथा सुमेरौ सुराचले चन्द्र-
ज्योत्स्नया मिश्रिता सध्यासमयसवन्विनी कान्ति । [साध्यराग इत्यर्थ] शोभते ।
'रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनाभि ' इति नैषधे रुचीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति ॥

सौरभं सुमनसां समुदायोऽध्यापयेद्यदि महारजतस्य ।

अङ्गरागललितार्भकमूर्तेस्तल्लभेत तुलनां कलयापि ॥ १०१ ॥

सुमनसा कुसुमाना समुदाय सर्वजातिजातपुष्पप्रकर यदि महारजतस्य सुवर्णस्य
सौरभ सुगन्विता स्वपरिमलमध्यापयेत् पाठयेत् शिक्षयेत् । दद्यादित्यर्थ । विद्याप्रदान
हि अध्यापननिजामोद दत्ते । तत्तदा अङ्गरागेण श्रीखण्डविलेपनेन ललिताया मनोज्ञाया
अर्भकस्य हीरकुमारस्य मूर्ते शरीरस्य कलया अशेनापि तुलना सदृशीभाव लभेत प्रा-
प्नुयात् । महारजतमित्यर्थ ॥

विश्वजैत्रमिव मोहमहीन्द्रं हन्तुमर्भधरणीरमणेन ।

खङ्गरत्नमिव केशकलापो धूपधूमपटलीभिरधूपि ॥ १०२ ॥

अर्भो हीरकुमार स एव वरणीरमणो राजा तेन केशकलाप केशपाश धूपस्य
कृष्णागुरुकुन्दरुष्कतुरुष्कप्रमुखसुगन्धवस्तुन धूमपटलीभिर्धूमश्रेणीभिरधूपि धूपित सु-
गन्वीकृत । वासित इत्यर्थ । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वेषा सुरासुरोरगनराणा जैत्र जयनशील
मोहनामान महीन्द्र राजान हन्तु व्यापादयितुमिव खङ्गरत्न धूपितम् । राज्ञापि वैरिण
व्यापादयितु स्वखङ्गरत्न व्रूयते इति रीतिः ॥

स्वं क्षणात्क्षयमवेक्ष्य सृजद्भिः पारलौकिकसुखाय तपांसि ।

धूमपानमिव धूपजधूमव्याजतस्तदलकै क्रियते स्म ॥ १०३ ॥

तदलकै कुमारस्य केशै । उत्प्रेक्ष्यते—धूपात् केशधूपनाद्यो जातो धूमस्तस्य व्या-
जात्कपटेन धूमपानमिव क्रियते विधीयते । कि कुर्वद्भिः । परलोके भवत्पारलौकिक
तच्च तत्सुखं च तस्मै तदर्थं कष्टानि तपांसि सृजद्भिः कुर्वद्भिः । कि कृत्वा । क्षणात्स्व-
ल्पकालात्स्वमात्मीय क्षय विनाश लोचलक्षणमवेक्ष्य ज्ञात्वा ॥

मानिनीजनमनोनयनस्वं यैरनीयत हृतेर्विषयत्वम् ।

पारिपन्थिकभरैरिव लेभे बन्धनं किमिति तच्चिकुरैस्तैः ॥ १०४ ॥

तैस्तस्य कुमारस्य चिकुरैः केशै । [उत्प्रेक्ष्यते—] इति पश्यतोहरत्वाद्धेतोर्बन्धन निय-
म्य लेभे प्राप्तम् । कैरिव । पारिपन्थिकभरैरिव । यथा तस्करगणैश्चौरिकाकरणाद्वन्धनं
प्राप्यते । तैः कैः । यैश्चिकुरैर्मानिनीजनानां नागरिककामिनीलोकानां मनांसि हृदयानि
तथा नयनानि विलोचनानि तान्येव स्व विभवो हृतेरपहरणस्य विषयत्वं गोचरताम् ।
'मन्ये न मे श्रवणगोचरता गतोऽसि' इति कल्याणमन्दिरस्तवने । अनीयत लम्बित
प्रापितम् । अपहृतमित्यर्थः ॥

सूनसंगतशिलीमुखलेखासूनसायकधनुःशरराशैः ।

संश्रयञ्छ्रियमिवाभ्रमल्लीकुञ्जलाकलितकुन्तलहस्तः ॥ १०५ ॥

अभ्रमस्य हीरकुमारस्य मल्लया मल्लिकाया कुञ्जला कोरका । 'मल्लीभिः प्रतिमल्ली-
भाव दवती विभाति भावत्की' इति राजवर्णने । तैराकलितो युक्तो यः कुन्तलहस्तः
केशपाशं सूनेषु कुसुमेषु संगता मकरन्दपानार्थमागता ये शिलीमुखा भ्रमरास्तेषां
लेखा श्रेणिः सैव सूनसायकस्य धनूषि कार्मुकाणि शरा बाणास्तेषां राशेः समूहस्य श्रियः
शोभा श्रयन्निवास्तीत्युत्प्रेक्षा ॥

मूर्ध्नि तस्य मुकुटेन दिदीपेऽनर्घ्यरत्नपटलीललितेन ।

बर्हचामरजयं चिकुराणां विभ्रमैरिव विधाय धृतेन ॥ १०६ ॥

तस्य कुमारस्य मूर्ध्नि मस्तके मुकुटेन किरीटेन दिदीपे रेजे । किभूतेन । अनर्घ्यानां बहुमू-
ल्यानां रत्नानां विविधमणीनां पटली श्रेणी तथा ललितेन मनोज्ञेन । उत्प्रेक्ष्यते—चि-
कुराणामर्थात्कुमारकेशानां विभ्रमैः शोभाभिः । 'आभा राढा विभूषा श्रीरभिख्याकान्ति-
विभ्रमा' इति हैम्याम् । विलासैर्वा । बर्हाणि मयूरपिच्छानि । 'अस्य वाक्केका पिच्छबर्ह-
शिखण्डकम्' इति हैम्याम् । तथा चामराणि बालव्यजनानि तेषां जय पराभव विवाय
कृत्वा धृतेनेव कलितेनेव ॥

पट्टिकार्भकविभोः कनकस्यालीकमण्डलमलंकुरुते स्म ।

विभ्रमेण चिहुराम्बुधराणां ह्लादिनीव निकटे विलुठन्ती ॥ १०७ ॥

कनकस्य हेम पट्टिका भूषणविशेषः कोऽपि ललाटस्य । नलस्य भाले पट्टिका । तथा दमयन्त्या अपि । ‘धृतैकया हाटकपट्टिकालके’ । स्त्रीपुरुषयोरपि पट्टिकास्य आभरणविशेष-इति नैषधे । अधुना तु स्तम्भतीर्थद्वीपादौ लोकप्रसिद्ध्या ‘असावउ’ इति ज्ञायते । तदपि बहुतिलकमय ललाटाभरणमर्भकविभो कुमारेन्द्रस्य अलीकमण्डल भालस्थलमलकुरुते स्म भूषयामास । उत्प्रेक्ष्यते—चिहुरा केशा एवाम्बुधरा मेघास्तेषा भ्रमेण भ्रान्त्या बुद्ध्या निकटे समीपे विलुठन्ती तिष्ठन्ती मिलन्ती च ह्यादिनी विद्युदिव । ‘चिकुराश्चिहुरा’ इति शब्दप्रभेदे ॥

दिद्युते मणिकरम्बितयास्ये शातकुम्भकृतपट्टिकयास्य ।

स्वैरमात्मन इवाननलक्ष्म्या निर्मितेन वरणेन निवस्तुम् ॥ १०८ ॥

अस्य कुमारस्य आस्ये मणिभि रत्नै करम्बितया खचितया शातकुम्भेन कनकेन कृतया निर्मितया पट्टिकया दिद्युते । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मन स्वस्य स्वैर स्वेच्छया निवस्तु वासार्थं स्थातुमाननलक्ष्म्या निर्मितेन रचितेन वरणेन प्राकारेणैव । प्राकारस्यार्थोऽग्रे वक्ष्यते । तस्मादन्यापतद्वयी(?) ॥ पाठान्तरे उत्प्रेक्ष्यते—मुखस्यार्थात्कुमारवक्त्रस्य इन्दुश्चन्द्र, पद्मानि कमलानि, मुकुरा दर्पणास्तेषामभिभावेन पराभवनेन उद्भूत साक्षात्प्रकटीभूत नूत नवीन मह प्रतापस्तेनेव वा ॥

भालमण्डलममण्ड्यत राजजातरूपतिलकेन तदीयम् ।

तस्थुषात्र चरणक्षणवीक्षाकाङ्क्षिणाल्पवपुषाशुमतेव ॥ १०९ ॥

भालमण्डल ललाटपट्ट राजन् शोभमान जातरूपस्य स्वर्णस्य तिलविशेषकस्तिलक तेनामण्ड्यत भूषितम् । उत्प्रेक्ष्यते—चरणस्य चारित्र्यस्य क्षणो महोत्सव तस्य वीक्षा दर्शन काङ्क्षतीत्येवशीलेन अभिलाषुकेण, तथा अल्प लघु वपु शरीर यस्य तादृशेनात्र भाले तस्थुषा अर्थात्समेत्य स्थितवता अशुमता भास्करेणैव ॥

यस्य भालतलचन्दनबिन्दोर्दम्भतो वदनकैरवबन्धुः ।

कोपनां प्रियतमामिव तारामानुकूल्यविधये व्यधिताङ्गे ॥ ११० ॥

यस्य कुमारस्य वदनकैरवबन्धुर्वक्त्रचन्द्रमा भालतले ललाटे कृत श्रीखण्डस्य मण्डलाकारतिलकबिन्दु तस्य दम्भतश्छलात्कोपना चण्डामत्यमर्षणा तथा प्रियतमामतिशयेन वल्लभा तारा कामपि कान्ता तारिकाम् । तस्य तारापतित्वात् । उत्प्रेक्ष्यते—आनुकूल्यविधये स्वानुकूलीकरणप्रकाराय अङ्गे निजोत्सङ्गे व्यधित कृतवानिव । ‘अचुम्बि या चन्दनबिन्दुमण्डली नलीयवक्त्रेण’ इति नैषधेऽपि ॥

यस्य चान्दन उपभ्रु वभासे बिन्दुरङ्गजभटं प्रणिहन्तुम् ।

नासिकानलिकया गुलिकेयं येन मोक्तुमनसा विधृतेव ॥ १११ ॥

यस्य कुमारस्य उपभ्रु भुवोर्मध्ये समीपे चान्दनश्चन्दनसंबन्धी बिन्दुर्वृत्ततिलक ब-
भासे शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गज स्मर कमल । ‘कलाकेलिरनन्यजोऽङ्गज.’
इति हैम्याम् । तथा ‘अङ्गजो मन्मथे सुते । मदे केशे’ इत्यनेकार्थः । स एव भटो
वीरस्त प्रणिहन्तु यमातिथिं कर्तुं नासिकैव नलिकागुलिकाक्षेपणोपकरण ‘बन्दूकहाथ-
नाली’ इति लोकप्रसिद्धा । तथा ‘नलिके न तदुच्चनामिके त्वयि नालीकविमुक्तिका-
मयो’ इति नैषधे । नासा नलिकेव । तथा कृत्वा मोक्तुमनसा क्षेमुकामेन इय प्रत्यक्ष-
लक्ष्या गुलिकेव । वृता । ‘सीसागोली’ इति प्रसिद्धा ॥

चापलस्य नियमोऽभ्युपगम्योऽतः परं द्युनिशमत्र युवाभ्याम् ।

एतदालपितुमञ्जनरेखा कल्पिता नयनयोरिव तस्य ॥ ११२ ॥

तस्य हीरकुमारस्य नयनयोर्नेत्रयोरञ्जनस्य कज्जलस्य रेखा कल्पिता । लोचने अञ्जिते
इत्यर्थः । बालत्वादथ वा महोत्सवान्निर्मिता रेखा । किं च विवाहादौ तरुणानां वृद्धानां
पुरुषाणामपि चक्षुषोरञ्जनरेखा क्रियते इति लोकरुढिरपि स्थितिश्च । उत्प्रेक्ष्यते—एत-
दत्रैव कथ्यमानमालपितुं वक्तुमिव । तदेवाह—हे नयने, अतः परम् अद्यतनदिवसादारभ्य
द्युनिश दिवारात्रौ चापलस्य चटुलताया नियमो निषेधः । युवाभ्यामभ्युपगम्यः । अङ्गी-
करणाय । कदाचिदपि चापल्यं न विधेयमिति भावः ॥

उत्पलाब्जकुमुदादिमदस्यून्यद्विलोचननृपौ परिभूय ।

सालयो सुखमिवाञ्जनरेखानीलरत्नकृतयोर्वसतः स्म ॥ ११३ ॥

यस्य कुमारस्य विलोचने नयने एव नाम्नी ययोस्तौ तादृशौ नृपौ राजानौ उत्पल
नीलकमल अब्ज पद्म कुमुद श्वेतकमल तान्यादिमानि प्रथमभवानि येषां तादृक्षान् दस्यून्
विपक्षान् परिभूय जित्वा अञ्जनरेखारूपैनीलरत्नेर्हरिन्मणिभिः कृतयो सालयो सुखं यथा
स्यात्तथा क्रियाविशेषणम् । उत्प्रेक्ष्यते—वसतः स्म अतिष्ठतामिव ॥ अथ वा । यद्विलोच-
ननृपौ कुमारनयननामराजौ सालयो प्राकारयोर्मध्ये सुखं शर्मणा यथा स्यात्तथा वसतः
तिष्ठतः स्म । किंभूतयो सालयो । अञ्जनरेखारूपाणि यानि नीलरत्नानि मरकतमणयः तैः
कृतयोर्निष्पादितयोः । उत्प्रेक्ष्यते—उत्पलानि कुवलयानि अब्जानि कमलानि कुमुदानि
कैरवाणि तान्यादिमानि प्रथमानि येषां तादृक्षान् दस्यून् शत्रून् परिभूय निर्जित्येव
सुखं वसतः । येन सर्वेऽप्यरयोऽभिभूय वशीकृताः सः सुखं वसतीति ॥

भृङ्गसगतवतंससरोजे तस्य कर्णयुगले शुशुभाते ।

विग्रहीतुमनसी नयनाभ्यामागते किमितरेतरवैरात् ॥ ११४ ॥

तस्य कुमारस्य कर्णयुगले श्रवणद्वन्द्वे भृङ्गान्या मधुपानागतभ्रमराभ्यां सगते सयुक्ते
वतंससरोजे कर्णपूरकमले शुशुभाते रेजतु । उत्प्रेक्ष्यते—इतरेतरेण परस्परवैराद्विरो-
धान्नयनाभ्यां नेत्राभ्यां सार्वं विग्रहीतुमनसी योद्भुकामे किमागते पार्श्वे सप्राप्ते ॥

भारसासहितया जितशेषः किं श्रितो वलयमस्य विभाति ।

मोहशूरमसुभिः प्रवियोज्यानेन वीरवलयं विधृतं वा ॥ १२३ ॥

अस्य हीरकुमारस्य वलय कनककटक विभाति । उत्प्रेक्ष्यते—भारस्य क्षमादेर्भा-
विनि भूतोपचारात्सूरिपदादेर्वा सासहितया सहनशीलत्वेन । भृश सहते इति सासहि ।
'अहिर्महीगौरवसासहिर्य.' इति नैषधे । सासहिश्चाचलि पापतिर्वावदिरित्यादय इका-
रान्ता निपातिता—इति तद्वृत्ति । जित पराभूत शेषो नागैन्द्र । किं सश्रित । अथ
वा मोहनामान वीर सुभटमसुभि प्राणै प्रवियोज्य पृथक्कृत्वा । निहत्येत्यर्थ । वीरवलय
सुभटत्वससूचक कटको विधृत धारितमिव वा ॥

योगिनेव दधतात्मनि मुद्रामूर्मिकां च दधताम्बुधिनेव ।

फुल्लपल्लवविलासजुषा तत्पाणिनाध्रियत कापि विभूषा ॥ १२४ ॥

तत्पाणिना कुमारहस्तेन काप्यपूर्वा अनिर्वचनीया शोभा अध्रियत धृता । किभू-
तेन तत्पाणिना । फुल्ल विनिद्रीभूता ये पल्लवा किसलयानि तेषा विलास लीला जुपते
भजते । तत्पाणिना किं कुर्वता आत्मनि स्वस्मिन्विषये मुद्रा साक्षरोर्मिका वहता ।
केनेव । योगिनेव । यथा योगभाजा मुनिना आत्मनि विषये योगमुद्रा उह्यते । 'मुद्रा-
तौ लभते मूल्य विमुद्र कार्यनाशक । राजा मुनिश्च लेखश्च कोशो मुष्टिश्च पञ्चम ॥' इय
तु स्वाभाविकी मुद्रा च पुनर्वाङ्मनसा योगो रुन्वन नियन्त्रण विद्यते यस्य स मुनि-
मुद्रामिह्निताकारविशेषम् । पुन किभूतेन । दधता बिभ्रता । काम् । ऊर्मिका निरक्षर-
मङ्गुलीयकम् । केनेव । अम्बुधिनेव । यथा समुद्रेण ऊर्मय एवोर्मिकास्तरङ्गा धीयन्ते ॥

पाणिना विरुरुचे पविरोचिश्चापचक्रविलसत्कटकेन ।

गन्धसिन्धुरतुरङ्गशताङ्गालंकृतेन जगतीपतिनेव ॥ १२५ ॥

पाणिना अर्थादविकाराद्वा कुमारहस्तेन जगत्या पृथिव्या पत्या भर्त्रैव राज्ञेव वि-
रुरुचे क्षोभितम् । किभूतेन पाणिना राज्ञा च । पवीना वज्ररत्नाना रोचीषि कान्तय
एव चापचक्राणि वनुर्मण्डलानि तैर्विलसन् दीप्यमान कटको वलय यस्य । 'धृता वि-
भूषा मणिरश्मिकार्मुकै' इति नैषधे । तथा विविवरत्नप्रभासवलित शक्रधनुरिति कवि-
रामये प्रसिद्धि—इति नरहर्याम् । अथ च वज्रनामा आयुर्वविशेषस्तथा कान्तियुक्तैर्वनु-
श्चक्रै प्रहरणेश्च विस्फुरद्विशेषेण प्रतिपक्षलक्षपराभवनप्रकारेण विशिष्टतया स्वस्वामिभ-
क्तिमत्त्वेन वा स्फुरदितस्ततो जिष्णुतया भूमण्डल स्वस्वाम्यायत्त कुर्वन् कटक सैन्य
यस्य । पुन किभूतेन । गन्धसिन्धुरतुरङ्गशताङ्गालंकृतेन अर्थादाकृतिभूतै गन्धसिन्धुरो
गन्धहस्ती तथा तुरङ्ग सपर्याणिताश्च तथा शताङ्गो रथस्तैरलंकृतेन विविवलक्ष्मीभूतै-
र्विभूषितेन । पक्षे गन्धगजेन्द्र । विविवजातीयवाजिन पुष्परथ-योग्यारथ-अध्वरथ-
कर्णारथ-प्रमुखरथास्तैरलंकृतेन कलितेन ॥

रामणीयकहृतापरचित्तं तत्कलत्रमवलोक्य युवेव ।

जातरूपकलितो गुणशाली शृङ्खलः किमकरोत्परिरम्भम् ॥१२६॥

तस्य कुमारस्य कलत्र कटीम्, अर्यध्वनिना स्त्रिय वा, अवलोक्य दृग्गोचरीकृत्य । उत्प्रेक्ष्यते—शृङ्खल । ‘सा शृङ्खला पुस्कटिस्था’ । शृङ्खलशब्दस्त्रिलिङ्ग । रत्नजटितकन-
कघटितकटिदवरक परिरम्भमालिङ्गनमकरोत्किमु आलिङ्गति स्मेव । क इव । युवेव ।
यथा तरुण पुमान् कस्यापि लघो प्रौढीभूत कलत्र युवती परिरम्भते । किभूत कलत्रम् ।
रामणीयकेन रमणीयत्वेन स्वाभाविकमौन्दयेण हृतानि स्ववशीकृतानि अपरेषा लक्ष-
प्रेक्षकलोकाना कामिना च चित्तानि मनासि येन । किभूत शृङ्खलो युवा च । जातरू-
पेण सुवर्णेन कलितो हिरण्मय । तथा जातमुत्पन्न यदद्वैत रूप वपु सुन्दरता तेन
युक्तश्च । पुन किभूत । गुणै सुवर्णदवरकै हेमतन्तुभि शालन्ते इत्येवगीलस्तैर्ग्र-
थितत्वात् । तथा गुणैरौदार्यादिभि शृङ्गारादिभिर्वा द्वासप्ततिकलागुणैर्वा शोभते
इत्येवशील ॥

भूषणैः कनकरत्ननिबद्धैर्भूषितो व्यरुचदेष कुमार ।

मञ्जरीभरकरम्बितकायः कल्पसाल इव भूतलशाली ॥ १२७ ॥

एष हीरनामा कुमार तदानी कनकानि काञ्चनानि रत्नानि मणयस्तैर्निबद्धै रचितैर्भू-
षणैराभरणै कृत्वा भूषितोऽलकृत व्यरुचत् विराजते स्म । ‘युञ्ज्यो लुडि’ युतादिभ्य
परस्मैपद वा स्यात् । ‘पुष्पादियुतादिलृदित परस्मैपदेषु’ । श्यन्विक्करणपुष्पादेर्द्युतादेर्लृ-
दितश्च परस्य च्लेरङ् स्यात्परस्मैपदेषु । अद्युतत् अद्योतिष्ट । व्यरुचत् व्यरोचिष्ट । इति
प्रक्रियाकौमुद्या सावना । उत्प्रेक्ष्यते—मञ्जरीणा कलिकाना भर समृहस्तेन कर-
म्बित पूरित काय शाखाप्रशाखालक्षण वपुर्यस्य तादृशो भूतले पृथ्वीपीठे शालते
शोभते इत्येवशील । भूमीमण्डलोपगत इत्यर्थः । कल्पसाल सुरतरुरिव ॥

दर्पणेष्विव गवेषयति स्व भूषणेषु किरणाङ्कुरितेषु ।

दर्पणार्पणविधाभिरमुष्मिन्निष्फलाभिरजनि स्वजनानाम् ॥ १२८ ॥

अमुष्मिन् हीरकुमारे स्वजनाना बन्धुवर्गलोकानाम् अथवा स्वस्य जनानामात्मीय-
लोकानाम् । सेवकानामित्यर्थः । दर्पणानामादर्शानामर्पणानि प्रदानानि । आत्मदर्शदर्शनानी-
त्यर्थः । तेषा विवाभि प्रकारै निष्फलाभिर्निर्णयकाभिरजनि जाता । अमुष्मिन् कि कु-
र्वति । किरणै कान्तिभि कृत्वा अङ्कुरितेषु प्ररोहसहितेषु जातेषु भूषणेष्वभरणेषु
स्वमात्मानम् । [स्वरूपमित्यर्थः ।] गवेषयति विलोकयति । केष्विव । दर्पणेष्विव । यथा
कश्चिन्मुकुरेषु स्व निभालयति ॥

दीप्यते किमधिकं सुषमा नोऽमुष्य वा मुषितमन्मथकान्तेः ।

भूषणानि मृगयन्त इतीव स्फाररत्ननयनैरिदमङ्गम् ॥ १२९ ॥

भूषणानि आभरणानि । उत्प्रेक्ष्यते—स्फाराणि विकाशभाञ्जि रत्नान्येव नयनानि तैरिति हेतोरिदमङ्ग कुमारकाय मृगयन्ते पश्यन्तीव । इति किम् । नोऽस्माकं भूषणानां सुषमा अतिशयिनी शोभा किं अधिका, अथवा मुषिता अपहृता आच्छिद्य गृहीता मन्मथस्य कामस्य कान्ति शोभा येन तादृशस्य कुमारस्य सुषमा शरीरातिशायि सौन्दर्य किं वा अधिका दीप्यते ॥

तद्विभूषणमणीनिकुरम्बैः स्पर्धिभिः प्रतिभटैरिव भूत्या ।

प्राप्य तन्मृधधरां दधिरे स्वज्योतिरङ्कुरसुरेन्द्रधनूषि ॥ १३० ॥

भूत्या शोभया लक्ष्म्या वा स्पर्धिभिः स्पर्धनशीलैस्तस्य कुमारस्य विभूषणानामलकाराणां मणीनिकुरम्बै रत्नप्रकरैः तन्मृधधरा स कुमार एव सग्रामकरणोचितभूमी ता प्राप्य आसाद्य । उत्प्रेक्ष्यते—ज्योतीषि दीवितय तेषामङ्कुरा प्ररोहास्त एव सुरेन्द्रधनूषि इन्द्रचापचक्राणि दधिरे धृतानीव । कैरिव । प्रतिभटैरिव । यथा सपदा स्पर्धमानैः प्रतिपक्षैः शत्रुभी रणभूमीर्लब्ध्वा परस्परं सग्रामकरणे कृते सुरेन्द्रचापोपमानि कार्मुकानि ध्रियन्ते ॥

भूरुहैर्विहसितैरिव कुञ्जः सौरभैरिव सरोरुहपुञ्जः ।

सान्द्रचन्द्रकिरणैरिव दोषा भूषणैरपुषदेष विभूषाम् ॥ १३१ ॥

एष कुमारो भूषणैरलकारैराभरणैः कृत्वा विभूषा शोभामपुषत्पुष्पाति स्म । क इव । कुञ्ज इव । यथा काननं वसन्तर्तुना विहसितैः कुसुमितैः भूरुहैर्वृक्षैः कृत्वा शोभते । पुनः क इव । सरोरुहपुञ्ज इव । यथा पद्मप्रकरं सौरभे परिमलैः कृत्वा शोभा लभते । पुनः केव । दोषेव । यथा रजनी सान्द्रैर्नयनानन्ददायिभिर्नारन्ध्रैश्चन्द्रस्य विधोः किरणैः रश्मिभिः कृत्वा श्रियं पुष्पाति ॥ इति दीक्षासमये कुमारशृङ्गारवर्णनम् ॥

निर्जितेन यशसा सितभासा प्राभृतीकृतमिवैत्य नमस्तः ।

आनयन्नथ तुरङ्गममुष्यारोहणार्थमनघस्य मनुष्याः ॥ १३२ ॥

अथ शृङ्गारविधानान्तरं मनुष्या मानवा अमुष्य कुमारस्यारोहणार्थमध्यारोढुं तुरङ्गं जात्यवाजिनमानयन्नानयन्ते स्म । किभूतस्यामुष्य । अनघस्य प्रशस्यस्य निष्पापस्य वा । उत्प्रेक्ष्यते—यशसा अर्थाद्यशश्चैत्यश्रिया निर्जितेन पराभूतेन सितभासा चन्द्रमसा नमस्त आकाशमण्डलादेत्यागत्य प्राभृतीकृतमर्थात्कुमारस्य ढौकितमिव ॥

यन्नभस्वदतिपातिरयेन न्यकृतेन विनतातनयेन ।

तत्तुला कलयितुं बलिदस्युः सेवनामगमि यानतयेव ॥ १३३ ॥

यस्य तुरगस्य नभस्वन्तं समीरणमतिपतत्यतिक्रामतीत्येवशीलेन रयेण वेगेन । 'रयो वेगप्रवाहयो' इत्यनेकार्थः । न्यकृतेन विजितेन विनतानाम्नी अरुणगरुडयोर्जननी तस्यास्तनयेनात्रार्थाद्गरुडेन तत्तुला कुमारारोहणार्थमानीततुरङ्गमवेगसादृश्यं कलयितुं

प्राप्तुम् । उत्प्रेक्ष्यते—यानतया वाहनत्वेन बलिदस्यु कृष्णः सेवना परिचरणामगमि प्रापित इव सेव्यते स्म । ‘न्यादयो ण्यन्तनिष्कर्मा गत्यर्था मुख्यकर्मणि । प्रत्यय यान्ति दुह्यादिगौणेऽन्ये तु यथारुचि ॥’ अनन्तेन कृष्णेन गोपी वनमगमि नीता । इत्युदाहरणम्’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

यो दृशा भुवि पुनर्दिवि फालैर्नागवेश्मनि खुरोत्खननैश्च ।

स्फूर्तिभिस्तत इतस्त्रिजगत्यां स्वाङ्ककारमिव पश्यति जेतुम् ॥ १३४ ॥

यस्तुरङ्गम स्फूर्तिभिर्विस्फूर्जनै इतस्ततः सस्फुरणै कृत्वा त्रिजगत्या त्रिलोक्यामपि । ‘त्रिजगतीं पुनती कविसेविता’ इति जिनप्रभसूरिकृतर्षभनम्रस्तोत्रे । इत्यत्रैकवचनात्रिजगत्यामप्येकवचनम् । त्रित्वेन त्रित्वसंख्यया वा उपलक्षिता जगती भुवन त्रिजगतीति एव सभाव्यते । तत्त्व तु तज्ज्ञा एव विदन्ति । स्वाङ्ककारं निजरंह स्फूर्जितजैत्रप्रतिमल्ल जेतु पराभवितुमिव इतस्ततः सर्वत्रापि पश्यति । ‘दूरं गौरगुणैरह कृतिभृता जैत्राङ्कारे चरति’ इति नैषधे । कथं विलोकयति तदेव दर्शयति—भुवि पृथिव्यां दृशा विलोचनावलोकनेन । पुनर्दिवि गगनाद्गणे फालैरुच्चैरुल्ललनलक्षणैः । ‘सान्द्रोत्फालमिषाद्विगायति पदा स्पृष्टु तुरङ्गोऽपि गाम्’ इति नैषधे । च पुनर्नागवेश्मनि पाताले खुरै शफैरुत्खननै भूविदारणै ॥

स्पर्धयार्कतुरगान्स्वजिगीषून्धूननेन शिरसः समराय ।

अङ्ककारविभवमभिभवाहंपूर्विकाभिरयमाह्वयतीव ॥ १३५ ॥

अयं तुरङ्ग अङ्ककारविभवानां जैत्रप्रतिमसपदाम् । ‘शशाङ्ककलाङ्कारैः’ इति नैषधे । अभिभव पराभवन तेनाहपूर्विका गर्वावेशास्ताभि कृत्वा शिरसो मस्तकस्य धूननेन कम्पनेन । स्वकन्वराया अधोर्ध्वकरणेनेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—अर्कतुरगान् सूर्यरथरथ्यवाजिन समराय संग्रामविवानाय आह्वयत्याकारयतीव । किंभूतानर्कतुरङ्गमान् । स्पर्धया सहर्षेण स्वस्यात्मन स्वमात्मानं वा जिगीषून् जेतुमिच्छन् ॥

आत्मफेनहरिचन्दनसान्द्रस्यन्दचर्चनविधाभिरिवार्चा ।

पत्रहारभवमम्बुधिनेमेः स्वापराधमधरीकुरुते यः ॥ १३६ ॥

य अर्वा तुरग अम्बुधिनेमेर्भूमे । उत्प्रेक्ष्यते—पदां चरणानां प्रहारैर्घातैः ताडनैर्भव ‘पत्कजमिति’ दर्शनात्पत्रहारैरिति । अथ च । ‘क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे’ इति नैषधे । पदो लवः पल्लव इति व्युत्पत्त्या तस्य नलस्य छायाया लवोऽप्यश क्व इति तद्वृत्तौ । स्वापराधं निजमन्तुमवरीकुरुते शामयतीव । काभिः । आत्मनः फेना मुखलालास्तद्रूपा हरिचन्दनस्य श्रीखण्डस्य सान्द्रा स्निग्धा ये स्यन्दा रसा द्रवा वा तैश्चर्चनविधाभि पूजनप्रकारैः ॥

वृत्रशात्रवतुरङ्गममुख्यान्वैभवेन परिभूय तुरङ्गान् ।

स्कन्धकेसरसटाकपटात्तच्चिह्नचामरमिवायमधत्त ॥ १३७ ॥

स्कन्धस्यासस्य स्कन्धेऽसे वा प्ररूढाना प्रादुर्भूताना केसराणा केशाना सटा श्रेणी केसरनामान सटास्तुरगस्कन्धकुन्तला तत्कपटादय तुरङ्ग । उत्प्रेक्ष्यते—तस्य जयस्य चिह्न लक्षण चामर वालव्यजनमधत्त विभर्ति स्मेव । किं कृत्वा । वैभवेन स्वलक्ष्म्या वृत्रशात्रवस्य शक्रस्य तुरङ्गम उच्चै श्रवा स एव मुख्य प्रकृष्ट प्रथमो वा येषु तादृशास्तुरङ्गान् परिभूय जित्वा ॥

रोहिणीकमलिनीरमणाश्चान्सोपरिस्थितिजुषः सुषमाभिः ।

निर्जिगीषुरिव निर्जरमार्गे फालकेलिमयमातनुते स्म ॥ १३८ ॥

अयमश्च निर्जरमार्गे आकाशे फालकेलिमुच्चैरुल्लस्य विशेषस्य विलासमातनुते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मन उपरि ऊर्ध्व स्थितिं स्थान जुषन्ते भजन्ते । ऊर्ध्वगामित्वेन आकाशगमनशीलत्वेन निजोपरिस्थितानित्यर्थ । तादृशान् रोहिण्या कमलिन्याश्च रमणयोर्भर्त्रो चन्द्रसूर्ययो अश्वास्तुरङ्गमास्तान् सुषमाभि अतिशायिशोभाभि कृत्वा निर्जिगीषुर्निर्जेतुमिच्छुरिव ॥

अर्जितानि गरुडस्य च गत्या निर्जयैर्हरिहरैश्च विभूत्या ।

उद्गिरन्निव यशासि हरिर्य फेनपिण्डपटलीकपटेन ॥ १३९ ॥

यो हरिस्तुरङ्ग फेनाना मुखनिर्गतकफलालाना पिण्डा बुद्बुदाकारा गोलकास्तेषा पटली वृन्द तस्य कपटेन व्याजेन यशासि स्वकीर्तीरुद्गिरन्निव प्रकटीकुर्वन्निवास्ते । किभूतानि यशासि । गत्या पवनवेगगमनेन गरुडस्य, तथा विभूत्या स्वलक्ष्म्या हरिहरेरिन्द्राश्चस्य उच्चै श्रवसो, निर्जयै पराभवनैरर्जितानि सचितानि ॥

आरुरोह जितजिष्णुहयं त श्वैत्यतः फणिपति च जयन्तम् ।

वाजिनं कनकवैभवरा(भा)ज कैटभारिरिव नीडजराजम् ॥ १४० ॥

स कुमारो वाजिनमश्वमारुरोह अध्यासामास । किभूत वाजिनम् । जितोऽर्था लक्ष्म्या पराभूतो जिष्णोरिन्द्रस्य हय उच्चै श्रवा नाम तुरगो येन तम् । पुन कि कुर्वन्तम् । श्वैत्यत शुभ्रिमविभ्रमात्फणिपति शेषनाग जयन्त परिभवन्तम् । पुन किभूतम् । कनकाना काञ्चनाना वैभव पर्याणखलीनप्रमुखभूषा त भजतीति । क इव । कैटभारिरिव । यथा कृष्णो नीडे कुलाये 'मालो' इति प्रसिद्धे जाता नीडजा पक्षिणस्तेषा राजा गरुडस्तमारोहति चढति । किभूत नीडजराजम् । जितो जिष्णुर्वासवो येन वज्रिजित्वात् । गत्या चातित्वरितगगनगमनेन हय इन्द्राश्चो येन । च पुन किभूतम् । फणिपतिं नागेन्द्रम् । जातिवाचित्वादेकवचनम् । सर्वनागनायकान् जयन्त पराभवन्तम् ।

तदरातित्वात् । स्वर्णशोभावन्त स्वर्णकायत्वात् । गरुडविशेषणान्यपि ॥ इति दीक्षाम-
मये कुमारारोहणार्थमानीततुरगवर्णनम् ॥

तत्र भावयतिनः पुलकोद्यत्कञ्चुकानणुमहः कटकोघाः ।

मुक्तिपत्तनजिघृक्षुमनस्कौत्सुक्यभाज इव राजकुमाराः ॥ १४१ ॥

भूविहारिहयवाहनशस्यानेकमूर्तय इवोत्सवपश्याः ।

वाहपृष्ठमधिरुह्य कुमारा आगमन्नपि परे जितमाराः ॥ १४२ ॥

(युग्मम्)

तत्र तस्मिन्नवसरे तस्मिन् स्थाने वा जितमारा स्वरूपमौन्दर्याभिभूतमदना अपरे
अन्येऽपि भावयतिन अभिप्रायेण चारित्रवन्त अमी पालादिमा कुमारा आगमन्
समागता । किं कृत्वा । वाहानां जात्यतुरङ्गाणा पृष्ठमधिरुह्य अध्यास्य । उत्प्रेक्ष्यते—
उत्सव सयममहामह पश्यन्त्यवलोकयन्तीति तादृश्यो भूविहारिण्य क्षोणीचारिण्य
हयवाहनस्य एव तस्य शस्या श्लाघ्या रम्यास्तथा अनेका बह्व्यो मूर्तय शरीराणि इव ।
किभूता कुमारा । (इव यथा पृथ्वीपति) पुल्को रोमाञ्च स एवोद्यन् प्रकटीभवन् क-
ञ्चुक सनाहो येषाम्, तथा अनणु महन्मह कान्ति प्रतापश्च येषाम् । अथ वा अनणु-
भिर्बहुलैर्महोभि किरणै प्रतापैश्च युक्ताना कटकाना वलयाना सैन्यानामोघा समूहा
येषाम् । पुन किभूता मुक्ति सिद्धि सैव पत्तन महानगर तज्जिघृक्षु ग्रहीतुमिच्छु मनो
येषाम् । समासान्त कप् । पुन किभूता । यत एव मुक्तिनगरजिघृक्षवस्तत एवोत्कण्ठा
भजन्त इति । अथ वा औत्सुक्य सयमोत्कण्ठा भजन्ते । पश्चात्कर्मवारयः । उत्प्रेक्ष्यते—
राजकुमारा इव । यथा पृथ्वीपतिपुत्रा एवविवा भवन्ति ॥

पद्मिनीप्रियतमो दिवसादौ पावकादिव सहस्रमयूखैः ।

पूरुषैर्निखिलमण्डलमध्यात्तत्क्षणादुपगतैः परिवव्रे ॥ १४३ ॥

हीरकुमारो निखिल समस्तो यो मण्डलो गुर्जरदेशस्तस्य मध्यादन्तरालात्तत्क्षणात्स
एव कुमारस्य सयमग्रहणलक्षण क्षण प्रस्ताव उत्सवो वा तस्माद्धेतोरुपगतैरायातै
पूरुषैर्मानुषैरुपलक्षणात्साहचर्याद्वा स्त्रीभिश्च । 'पुरुष पूरुषो नर' इति हैम्याम् । परि-
वव्रे परिवृत । क इव । पद्मिनीपतिरिव यथा भास्वान् दिवसादौ प्रभाते पावकाद्वह्नेरुप-
गतै समेतै सहस्रसख्याकै किरणै परिव्रियते । सूर्यो हि सायमस्त गच्छन् स्वकिर-
णान् वह्नौ निक्षिपति । प्रभाते च गृह्णाति इति च कविसमयः । तथा च रघुवशे—
'दिनान्ते निहित तेजः सवित्रेव हुताशने' इति ॥

तत्र तद्गतमहोपगताना मेलकः स्फुरति पञ्चजनानाम् ।

कौतुकेन निजशक्तिदिदृक्षोर्नाकिन किमिह कायनिकाय ॥ १४४ ॥

मागवा मङ्गलपाठका अस्य कुमारस्याग्रत प्रोच्चकैरतिशयेनोच्चस्वरेण मधुरा मिष्टा श्रवणसुखकारिण्यो मङ्गलवाचः कल्याणशशिनीर्वाणी उदचरन् उच्चरन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—एन मह कुमारदीक्षोत्सव दर्शयितु दिङ्महेन्द्रनिवह लोकपालमण्डलम् । ‘आखण्डलो दण्डधर शिखावान् पति प्रतीच्या इति दिङ्महेन्द्रा’ इति नेपथे । इह पत्तनभूमौ आह्वयन्त आकारयन्त इव । किम् इवार्थे ॥

गायनैरयमगायि समेतैः स्वर्गहात्किमिह तुम्बुरुवर्गैः ।

अभ्यषिच्यत सुधाप्यवसीये वेणुभिः श्रवसि वैणविकौवैः ॥ १४९ ॥

अयं हीरकुमारो गायनैर्गानकर्तृभिर्जनैः अगायि गानगोचरीकृतः । उत्प्रेक्ष्यते—स्वर्गहादेवलोक रूपसद्गुण सकाशादिह भूलोके पत्तने समेतैस्तुम्बुरुवर्गैः देवगायनानां समुदायैरिव अपि पुनर्वैणविकौवैर्वशवादकवृन्दैर्वेणुभिर्वशैः कृत्वा अदसीये कुमारसवन्निवनि श्रवसि कर्णे सुधा पीयूषमभ्यषिच्यत सिक्ता ॥

घोषणास्य यशसामिव भेरीभाङ्गतिर्व्यरचि कैश्चन मार्गे ।

किंनरालिरिव वैणिकपङ्क्तिसंमदात्तमुपवीणयति स्म ॥ १५० ॥

कैश्चन भेरीवादकैर्मार्गे पयि भेरीणां वादित्रविशेषाणां दुन्दुभीनां वा भाङ्गतिर्भाङ्गारध्वनिर्व्यरचि चक्रे । उत्प्रेक्ष्यते—अस्य कुमारस्य यशसा कीर्तीना घोषणा पटहवादनमिव । पुनर्वैणिकानां वीणावादकानां पङ्क्तिं श्रेणिं समदात् हर्षात् तं हीरकुमारमुपवीणयति स्म वीणया गायति स्म । ‘उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः’ इति रघौ । किमिव । किंनरालिरिव यथा किपुरुषमालिका वीणया कृत्वा गायति गानं कुरुते ॥

साङ्गजे प्रबलमोहमहीन्द्रे प्रापिते पितृपतेरतिथित्वम् ।

यस्य चञ्चुपुटचञ्चुररावा मङ्गलध्वनितम् किमुदीर्णा ॥ १५१ ॥

चञ्चुपुटास्ताला कांस्यताला वाद्यविशेषास्तेषां चञ्चुराः मनोज्ञा रावा शब्दा उदीर्णा प्रकटीकृता । ताला वादिता इत्यर्थः । अर्थान्मागे तालवादकैः । उत्प्रेक्ष्यते—यस्य कुमारस्य मङ्गलध्वनितम् मङ्गलशब्दा इवोदीर्णा । कस्मिन्सति । सहाङ्गजेन स्मरेण पुत्रेण च वर्तते यस्तादृशे मोहनामति महीन्द्रे राजनि पितृपतेर्यमस्य अतिथित्वं प्राघुणत्वं प्रापिते नीते सति । हते इत्यर्थः । ‘यम कृतान्तं पितृदक्षिणाशाप्रेतात्मति’ इति हैम्याम् ॥

ताण्डवं व्यरचि वारवधूभिस्तत्पुरः किमु सुपर्ववधूभिः ।

तथ्यवत्पथिमिथः पृथु मिथ्यायुद्धमुद्धतनरैर्निरमायि ॥ १५२ ॥

तस्य कुमारस्य पुरं पुरस्ताद्धारवधूभिः पणाङ्गनारूपपात्रैस्ताण्डवं नृत्यं व्यरचि विर-

चित कृतम् । उत्प्रेक्ष्यते—सुपर्ववधूभि अप्सरोभिरिव । ‘स्व स्वर्गिवध्वोऽप्सरस ’ इति हैम्याम् । पुनरुद्धतनरैस्तकटपुरुषै पथि मार्गे मिथ परस्परं पृथु बहु यथा स्यात्तथा मिथ्यायुद्ध मृथासग्रामो निरमायि निर्मितम् । विवाहादिमहोत्सवेषु दाक्षिणात्या नर पुरस्तात्प्रतिचतुष्पथ खड्गपाणय परस्परं मिथ्यायुद्ध कुर्वन्तीति सौराष्ट्रमण्डलादौ दृश्यते । ‘ततः प्रतीच्छ प्रसरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे । मृषामृष सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतु ॥’ इति नैषधे । किंवत् । तथ्यवत् । यथा उद्धता खड्गपाणय पुरुषा सत्य युद्ध विदधते ॥

दुन्दुभिध्वनितिभिर्जयशब्दं तस्य बन्दिवदुदीरयतीव ।

तद्गुणानिव मुदा निगदन्ती दध्वनीति मधुरापि न(नु)भेरी ॥१९३॥

दुन्दुभिर्मदनभेरी निखातो वा ध्वनितिभिर्भाङ्गाररावैस्तस्य कुमारस्य जयशब्द जयजयरावमुदीरयति प्रकटीकरोति इव वदतीव । किंवत् । बन्दिवत् । यथा मङ्गल पाठक जयजयेति शब्दमुदीरयति । अपि पुनर्भेरी वाद्यविशेषो दध्वनीति अतिशयेन शब्दायते । किभूता । मधुरा श्रवणसुखकारिरावा । उत्प्रेक्ष्यते—मुदा हर्षेण तस्य कुमारस्य गुणान् धैर्यौदार्यगाम्भीर्यवैराग्यशमदमादिकान्निगदन्ती कथयन्तीव दध्वनीति ॥ इति दीक्षाग्रहणप्रस्थानसमये कुमारपुरो गीतनृत्यवादित्रादिकथनम् ॥

क्षात्रियैरिव सुतैर्युवराजोऽलंकृतैः परिवृतोऽन्यकुमारैः ।

प्रस्थितिं पथि चकार कुमारोऽनल्पकल्पितमहेषु सगोत्रैः ॥ १९४ ॥

हीरकुमार सगोत्रै स्वजनैरनल्पा अतिशायिनो बहवो वा कल्पिता विरचिता ये महा उत्सवास्तेषु सत्सु पथि मार्गे प्रस्थितिं प्रस्थान चकार । प्रचचालेत्यर्थः । किभूत । परिवृत सहित । कै । अन्यै दीक्षाग्रहणोत्सुकीभूतैरपरै कुमारै । किभूतैः । अलंकृतैर्मणिस्वर्णादिभरणगणभूषितैः । क इव । युवराज इव । यथा क्षात्रियै क्षत्रियसवन्विभि सुतैर्नन्दनैः परिवृतो युवराज पथि प्रतिष्ठते । किभूतो युवराज । स स्वपितु समग्रराज्यभारधुरवर । क्षात्रियै सुतैः किभूतैः । गा पृथ्वी क्षत्रियत्वेन त्रायन्ते सम्यक्तया रक्षन्तीति गोत्रास्तैः । केषु सत्सु । प्रस्थानमङ्गलादिकादभ्रनिर्मितोत्सवेषु ॥

हेषितैर्हयगणस्य गजानां गर्जितैश्च रथचीत्कृतिभिश्च ।

रोदसी जनरवैरपि शब्दाद्वैतवादकलिते इव जाते ॥ १९५ ॥

रोदसी यावापृथिव्यौ शब्दाद्वैतवादकलिते न विद्यते द्वैतो द्वितीयो वादो वदन कथन यत्र स शब्दानामद्वैतवाद शब्दाद्वैतवादस्तेन युक्ते इव जाते इव केवलम् । शब्दमये इव सपन्ने । कै । हयगणस्य वाजिब्रजस्य हेषितैर्ह्येषारवै । ‘हेषा हेषा तुरङ्गाणाम्’ इति हैम्याम् । च पुन कै । गजाना हस्तिना गर्जितै गर्जारवै । च पुन रथाना शताङ्गाना चीत्कृतिभि चीत्काररवै अपि पुनर्जनरवैर्लोकक्रोलाहले ॥

रेणुभिः समुदडीयत रङ्गद्वाजिवारणरथाभ्युदिताभि ।

दिक्पतीन्निगदितुं महमत्राभूतभाविनमिवोत्सुकिताभिः ॥ १५६ ॥

रङ्गन्तस्त्वरितत्वरितमुपर्युपरि चलन्तो वाजिनो बहुविवाश्वा वारणा शृङ्गारितगजा रथा पुरुषस्त्रीभृतस्यन्दना तेभ्योऽभ्युदिताभिरुच्छिताभि रेणुभिर्वृलीभि समुदडी-
यत उड्डीतम् । ‘उदडीयत वैकृतात्करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरै’ इति नैषधे । ‘कटाहौ षष्ठिरेण्विषु’ इति लिङ्गानुशासने रेणुशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु प्रोक्तस्तेनात्र स्त्रीलिङ्गो विव-
क्षित । उत्प्रेक्ष्यते—दिक्पतीनिन्द्रादिलोकपालान् अत्र जगति अभूत न कदाचिदपि
पूर्वं संजातम्, तथा न भाविनमागामिकाले कदाचिदपि न भविष्यन्तम्, भूतश्चासौ भावी
च भूतभावी, न भूतभावी अभूतभावी, त महमर्थात्तत्कुमारदीक्षामहोत्सव निगदितुमु-
त्सुकिताभिरिवोत्कण्ठिताभिरिव ॥

तद्गजादिभरभारमसह्यं स्वेन वीक्ष्य निरपेक्षमहीन्द्र ।

याचितेन जलजन्मभुवेवाचीकरत्कुलगिरीन्स्वसहायान् ॥ १५७ ॥

अहीन्द्रो नागराज याचितेन भूमीभारधारणसभागिनमथितेन जलजन्मभुवा वि-
धात्रा कर्त्रा कुलगिरीन् भूभरवारिणोऽष्टौ मन्दरकैलाशहिमाचलादिकान् कुलाचलान-
चीकरत्कारयामास । ‘यद्यपि कूर्मकुलाचलफणिपतिविवृतापि चलति वसुवेयम् । प्रति-
पन्नमचलमनसा न चलति पुसा युगान्तेऽपि ॥’ इति सूक्ते । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनो
भूभारोद्धरणसहायानिव कारयति स्म । किं कृत्वा । तद्गजादीति । तस्मिन् कुमारस-
यममहोत्सवसमये समानीतगजवाजिरथजनव्रजभवमुत्पन्न भार विविध स्वेनात्मना
निर्गता अपेक्षा परसहायता यत्र एव यथा स्यात्तथा एकेनात्मना वोढुमुत्पाटयितु-
मसह्यमशक्य वीक्ष्य दृष्ट्वा ज्ञात्वा ॥ इति तत्समयानीतगजाश्वरथलोकभारबाहुल्यम् ॥

तद्विलोकनरसस्तिमितानां चित्रविभ्रममिवोपगतानाम् ।

तत्पुरालयविलासवतीना चेष्टितैरिति तदाविरभावि ॥ १५८ ॥

तदा तस्मिन् समये तत्पुरमणहिल्लपत्तन नगरं तत्रालयो यासा तासा पत्तननिवा-
सिनीना विलासवतीना युवतीनामित्यमुना प्रकारेण चेष्टितैर्विलसितैराविरभावि प्रक-
टीभूतम् । किंभूताना विलासवतीनाम् । तस्य महामहपुर सरं सयम ग्रहीतु प्रस्थितस्य
कुमारस्य यद्विलोकन निरीक्षण तस्य रसेन रागेण स्तिमिताना निश्चलीभूतानाम् । उत्प्रे-
क्ष्यते—चित्रविभ्रममालेख्यविलासमुपगताना प्राप्तानामिव । चित्रलिखितानामिव जा-
तानाम् ॥

काचिदीक्षारसेन बबन्धोद्वेष्टितं न निजकुन्तलहस्तम् ।

कौतुकादिव कलापिकलापश्रीकलापमनुमातुमनेन ॥ १५९ ॥

काचिद्विलासवती ईक्षणस्यार्थात्तद्विलोकनस्य रसेन उद्वेष्टित छोटितमपि निजस्या-
त्मन कुन्तलहस्त केशपाश न बबन्ध । उत्प्रेक्ष्यते—कौतुकात्कौतूहलादनेन निजकुन्त-
लहन्तेन कलापिना मयूराणा कलापस्य बर्हस्य शिखण्डकस्य श्रीकलाप शोभासमुदयम-
नुमातु सदृशीकर्तुमिव ॥

कापि वीक्षणरसत्वरमाणा स्रस्तमप्यधृत मूर्ध्नि न माल्यम् ।

यज्जितेन मदनेन निजौकः स्थायिनोज्झितमिवास्त्रमवेत्य ॥१६०॥

कापि कामिनी स्रस्तमर्थान्मस्तकात्पतितमपि माल्य पुष्पदाम मूर्ध्नि स्वशिरसि नावृत
न वृतवती नारोपयति स्म । किभूता । वीक्षणस्यार्थात्कुमारालोकनस्य रसेन रागेण
त्वरमाणा शीघ्र व्रजन्ती भवन्ती वा । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्यात्मीयस्यात्मनो वा यदोको
वशारूप मन्दिर तत्र स्थायिना वसनशीलेन । तथा येन कुमारेण जितेन मदनेन का-
मेन उज्झित त्यक्तमस्त्र प्रहरणमिव अवेत्य ज्ञात्वा ॥

हंसपादभरितार्धमहासीत्केशवर्त्म तमवेक्षितुमन्या ।

पूर्णरागिणमिह प्रविधातुं श्यामलाशयमलभवतात्क' ॥ १६१ ॥

अन्या कापि खञ्जननयना त कुमारमवेक्षितुमर्थादुत्सुका सती हंसपादेन सिन्दूरेण
भरित पूरितमर्धं सामिभागो यस्य तादृश केशवर्त्म सीमन्तमहासीत्तत्याज मुक्तवती ।
युक्तोऽयमर्थः । इह जगति श्यामलाशय मलिनमानस पिशुनम् । 'दयासमुद्रे स तदाशये-
ऽतिथीचक्रार कारुण्यरसापगा गिर' इति नैपथ्ये । आशये मनसीति तद्वृत्तिः । पूर्णो रा-
गोऽस्त्यस्मिन्वा तादृशमतिशायि रागरङ्गतरङ्गित कर्तुम् । क पुमानलभवतात् समर्थो
भवतु । अपि तु न कोऽपीत्यर्थः ॥

भाति मुक्तमलिके रभसेनाप्यन्ययार्धकृतचन्दनचित्रम् ।

स्पर्धजित्त्वरकला शिशुसोमोऽध्येतुमागत इवैष मुखाब्जात् ॥१६२॥

अपि पुनरन्यया अपरया कयापि कामिन्या अलिके खललाटपदे अर्धकृत सामिर-
चित चन्दनस्य श्रीखण्डस्य तिलक रभसेनौत्सुक्येन मुक्त त्यक्त ललाटे अर्धकृतमेव तिलक-
ममोचि इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—एषोऽर्धतिलकरूप शिशुसोमो बालचन्द्र मुखाब्जाद्युव-
तीवदनकमलात्स्पर्धिनां स्वशोभाविद्वेषिणा जित्त्वरिं जयनशीलां कलां चातुरीमभ्येतु
पठितुमभ्यसितुमागत समेत इव ॥

पातुमप्रभु कुमारविभूषां स्व दृशोर्द्वयमवेत्य कयाचित् ।

लोचने इव धृते इतरे स्वश्रोत्रयोः स्मितवतंससरोजे ॥ १६३ ॥

कयाचित्कान्तया स्वश्रोत्रयोरात्मकर्णयोः स्मिते विकसिते वतंससरोजे उत्तसकमले
धृते वारिते । क्षिते इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इतरे अन्ये लोचने नयने इव कलिते । कि
कृत्वा । अवेत्य ज्ञात्वा । कि कर्मतापन्नम् । दृशोर्द्वय चक्षुषोर्द्वितयम् । किभूतम् । स्वमा-

त्मीयम् । पुन किंभूतम् । अप्रभु असमर्थम् । कि कर्तुम् । पातुम् । सादरावलोकनं पानमुच्यते । सम्यक्तया निरीक्षितुम् । काम् । कुमारविभ्रषा हीरशिशो शरीर-शोभाम् ॥

राजतः श्रुतिपुटे धृतमेकं कुण्डलं च मुखमुत्सुकितायाः ।

भास्करामृतकराविव पर्वाप्यन्तरेण मिलितौ स्फुटमेतौ ॥ १६४ ॥

उत्सुकिताया कुमार प्रेक्षितुमुत्कण्ठिताया कस्याश्चिन् श्रुतिपुटे कर्णपालौ धृत स्थापितमेकमत्यौत्सुक्यादेकस्मिन्नेव कर्णे एक कुण्डल क्षिप्त राभस्यान्नान्यदित्यर्थः । तच्च पुनर्वदन तस्या एव मुख द्वे राजत शुशुभाते । उत्प्रेक्ष्यते—पर्वामावास्यामन्तरेणापि । ‘पञ्चदशौ यज्ञकालौ पक्षान्तौ पर्वणी अपि’ इति हैमीवचनान् । पूर्णिमामावस्यो पर्वति सज्ञा । अमावास्या विनापि स्फुट प्रकट यथा स्यात्तथा मिलितौ संगतौ एकत्र भूतौ एतौ कुण्डलमुखौ भास्करामृतकरौ सूर्याचन्द्रमसाविव । अमावास्याया हि सूर्यचन्द्रौ एकत्र मिलतः । ‘दर्श सूर्येन्दुसगम’ इति हैम्याम् ॥

तद्दिदक्षुरपराञ्जनयश्चानञ्ज सव्यनयनं न तदन्यत् ।

वामता भजति यः शितिमैव स्यात्तदाननमितीव विचिन्त्य ॥ १६५ ॥

त कुमारं दिदक्षुर्दृष्टुमिच्छुस्तद्दिदक्षुः । ‘तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदक्षुर्नारदस्त्रिदशवाम जगाम’ इति नैषधे । अपरा पूर्वोक्ताभ्यः अन्या काचित्कामिनी अञ्जनयष्ट्या कज्जलशलाकया कृत्वा सव्य वाम नयनम् । ‘वाम शरीरेऽङ्ग सव्यमपसव्य तु दक्षिणम्’ इति हैम्याम् । चक्षुः आनञ्ज । तदन्यत्तस्मात्सव्यादन्यदपरमपसव्य नयनं दक्षिण नेति निषेधे । राभस्यान्नानक्ति स्म । ‘अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु’ रुवादिर्वातु । तेनानक्तीति रूपम् । परोक्षायामानञ्जेति । उत्प्रेक्ष्यते—इति विचिन्त्य वितर्क्य । इति किम् । ‘य वामतां सव्यत्वमथ च प्रतिकूलभाव भजति आश्रयति तदानने तस्य वदने एव निश्चित शितिमा श्यामतैव स्यात्’ इति ॥

काचनातिरभसान्मृगनाभीवारिणाव्यलिखदेककपोलम् ।

मन्मुखं जितशशी श्रयतेऽसौ गण्डमूर्तिरिति किं व विवक्षुः ॥ १६६ ॥

काचन मृगाक्षी मृगस्याक्षिणी इवाक्षिणी यस्या सा मृगाक्षी । ‘वैयविकरण्ये बहुव्रीहौ मध्यमपदलोपश्च’ इति सूत्रेण एकाक्षिशब्दलोपः । सूत्रोदाहरणं यथा—कुमुदस्य गन्ध इव गन्धो यस्याः सा कुमुदगन्धि । अत्रैकगन्धशब्दलोपः इति सारस्वते । हरिणनयना अतिरभसात्कुमारविलोकनस्यौत्सुक्यान्मृगनाभीवारिणा कस्तूरिकाद्रवेण कृत्वा एक कपोलं निजगण्डस्थलं व्यलिखत् । पत्रवल्लीकलितं कृतवती । चित्रयति स्मेत्यर्थः । गौरे हि कपोलमण्डले मृगनाभिमण्डनमतीव शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—इति किं विवक्षुर्लोकानां पुरस्तादमुना प्रकारेण वक्तुमिच्छुरिव । इति किम् । यदसौ गण्डमूर्तिः कपोलकायः जितः स्वशोभातिशयेनाभिभूतः शशी चन्द्रः मन्मुखः मम वदनं श्रयते सेवते इति ॥

तद्विभावनरसव्यवसाया नागवल्लिदलविभ्रमतोऽन्या ।

कापि केलिकमलं निजवक्त्रस्पर्धयेव कवलीकुरुते स्म ॥ १६७ ॥

अन्या कापि कान्ता नागवल्ल्यास्ताम्बूलीलताया दलाना पत्राणा विभ्रमतो भ्रान्ते । बुद्धेरित्यर्थः । ‘कर्णान्तविभ्रमभ्रान्तकृष्णार्जुनविलोचना’ इति चम्पूकथायाम् । विभ्रमेण भ्रान्तेति तद्विपनके । केलिकमल कीडापद्म कवलीकुरुते स्म । खादति स्मेत्यर्थः । कि-
भूता कापि । तस्य कुमारस्य यद्विभावन विलोकन तस्य रसो राग स एव व्यवसायो व्यापारोऽस्याः । उत्प्रेक्ष्यते—निजेनात्मीयेन वक्त्रेण वदनेन सार्व स्पर्धया सहर्षेणेव । विभूषाभिरीर्ष्ययेत्यर्थः ॥

काचन व्यधित काञ्चनकाञ्ची कण्ठपीठलुठिता रभसेन ।

इन्दुजां मिलितुमब्जपिशङ्गां यन्मुखाङ्गपितृसोममिवैताम् ॥ १६८ ॥

काचन नितम्बिनी रभसेन कुमारदर्शनौत्सुक्येन काञ्चनकाञ्ची कलधौतमेखला क-
ण्ठपीठे गलकन्दले लुठिता विलम्बिताम् । क्षिप्तमित्यर्थः । व्यधित चकार । राभस्यान्मुक्ता-
हारभ्रान्त्या मेखला कण्ठे चिक्षेपेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—यस्याः सीमन्तिन्या मुख वद-
नमेवाङ्ग कायो यस्य यत्स्त्री(मुख)वपुष पितर तान सोम चन्द्र मिलितु तातस्नेहादे-
तामागतामब्जैरर्थात्सुवर्णकमलपरागै पिशङ्गा पीता भूतामिन्दुजा रेवानदीमिव ॥

कापि मौक्तिकलतां स्वकटीरे विभ्रमादधृत सारसनस्य ।

वेश्मनीव रचिता रतिभर्तुः कुन्दकुञ्जलितवन्दनमाला ॥ १६९ ॥

कापि वरवर्णिनी सारसनस्य मणिमेखलाया विभ्रमाद्भ्रान्ते कुमारदर्शनौत्सुक्या-
त्स्वकटीरे निजकटीतटे । ‘कलापो रसना सारसन काञ्ची च सप्तकी,’ तथा—‘श्रोणि
कलत्रकटीर काञ्चीपद ककुब्जतान्ति’ द्वयमपि हैम्याम् । मौक्तिकलता मुक्ताहारम् ।
अधृत परिदधौ । उत्प्रेक्ष्यते—रतिभर्तु स्मरस्य वेश्मनि । गृहद्वारे इत्यर्थः ॥

हारचारिमकुचौ परया नो वाससातिरभसात्पिदधाते ।

माल्यशालिकलशद्वितयीव श्रेयसे पथि धृता व्रजतोऽस्य ॥ १७० ॥

परया अन्यया कयाचिन्महिलया हारस्य मुक्तालतायाश्चारिमा रमणीयता ययोर्हा-
रेण रम्यत्व वा ययोस्तादृशौ कुचौ स्तनौ अतिरभसात्कुमारप्रेक्षणाल्यौत्सुक्यान्नो
इति निषेधे । ‘अमानो ना प्रतिषेधे’ इति व्याकरणवचनात् वाससा वस्त्रेण कृत्वा पि-
दधते पिहितौ परोक्षाद्विवचनम् । उत्प्रेक्ष्यते—व्रजतो दीक्षाग्रहणार्थं गच्छतोऽस्य
हीरकुमारस्य पथि मार्गे माल्येन पुष्पमालया शालते शोभते इत्येवशीला कलशयो
कुम्भयो द्वितयी द्वयीव श्रेयसे कल्याणकृते धृता पुरस्कृता ॥

नूपुरं निजभुजे रभसेनाजीघटत्कटकविभ्रमतोऽन्या ।

वैभवैर्भुजभवैरभिभूत शालितुं किमु मृणालमुपेतम् ॥ १७१ ॥

अन्या परा कापि चकोरलोचना रभसेन कुमारविभावरसेनोत्सुकत्वेन कटकस्य व-
लयस्य विभ्रमतो भ्रान्तेर्नूपुर मञ्जार निजस्यात्मनो निजे आन्मीये वा क्षुजे बाहौ अ-
जीघटत् घटयामास परिधृतवती । उत्प्रेक्ष्यते—भुजभवेर्विभवे स्वबाहुसमुत्पन्नशो-
भातिशये अभिभूत पराजित सन्मृणाल कमलनाल शीलितुमर्थाद्विजजित्वरभुजमेव
सेवितुमुपेतमागतमिव ॥

तद्गवेषणरसोत्सुकचेताः काचनाध्वनि धृतश्लथबन्धम् ।

अम्बरं हरिणद्वक्स्वकरेणालम्ब्य संचरति चन्द्रकलेव ॥ १७२ ॥

काचन हरिणेषणा तस्य हीरकुमारस्य यद्गवेषण निर्वर्णेन तस्य रसो रागस्तेनोत्सुक
मुत्कण्ठित चेतश्चित्त यस्यास्तादृशी सती अध्वनि पत्तनमार्गे वृत्त कलित श्लथ शिथिल
बन्धो बन्धनग्रन्थिर्येन तादृग्विवमम्बर परिधानवस्त्र स्वकरेण निजहस्तेन आलम्ब्य
आश्रित्य । गृहीत्वेत्यर्थः । संचरति व्रजति । केव । चन्द्रकलेव । यथा शशिलेखा
अम्बरमाकाश स्वकरेण आत्मकिरणेन । जातिवाचित्वादेकवचनम् । आश्रित्य संचरति ॥

अन्ययार्धरचितात्मकलापापातिमौक्तिकभरै रभसेन ।

सृज्यते स विधये किमु लाजोत्क्षेपणा वरयितुर्व्रतलक्ष्म्याः ॥ १७३ ॥

अन्यया अपरया कथाचित्तरलोचनया रभसेन कुमारेषणोत्सुकभावेन अर्धरचित-
साभिप्रोतो य आत्मकलाप स्वस्य मणिमौक्तिककाञ्चनमयमेखला तत्सकाशादासामस्त्येन
पतन्तीत्येवगीलानि निपातुकानि यानि मौक्तिकानि मुक्ताफलानि तेषा भरै समूहै
कृत्वा व्रतलक्ष्म्याश्चारित्रश्रिया वरयितु परिणेतु कुमारस्य विधये आचारार्थ लाजो-
त्क्षेपणा अक्षतं. सर्वधन मौक्तिकैर्वर्वापनमित्यर्थः । किमु सृज्यते । क्रियते परिणेता हि
मद्गलार्थं सधववधूभिर्लाजेरक्षतैर्माक्तिकैर्वा वर्वाप्यते इति विधिः ॥

काचिदर्भकमपास्य धयन्त यात्यवेक्षितुममु स्वगवाक्षम् ।

वेदमनि स्तननिपातिपयोभिर्जाह्वी जनयतीव नवीनाम् ॥ १७४ ॥

काचिदन्या युवती वेदमनि निजमन्दिरे पयोवरकुम्भयोर्निष्पतनशीलरविरलनिर्ग-
लद्भि पयोभिर्दुग्धवाराभि । उत्प्रेक्ष्यते—नवीना नूतना जाह्वी गङ्गा जनयति उत्पा-
दयतीव । करोतीवेति यावत् । कि कुवन्ती । अमु हीरकुमारमवेक्षितु विलोकयितु स्व-
गवाक्ष निजनिकेतनसबन्धजालक प्रति यान्ती गच्छन्ती । कि कृत्वा । वयन्त स्व-
पयोवरपय पिबन्तमर्भक निजनन्दनमपास्य त्यक्त्वा रुदन्तमेव विहायेत्यर्थः ॥

प्राप्तरूपविभवं वहते यः स्यात्किमत्र स जडैरनुपङ्गी ।

अर्धधौतमितरा स्वमितोवोत्कण्ठिता तरलदृक्क्रममौज्ज्वलत् ॥ १७५ ॥

उत्कण्ठिता कुमागदर्शनोत्सुकितचता तरा अपगा तरलदृक् चपललोचना । उत्प्रे-

क्षयते—इति हेतो स्वमात्मीय क्रम चरणमर्धधौत सामिप्रक्षालितमौज्ज्वलहाति स्म
त्यक्तवती । इति किम् । हेतुमाह—य पुमान् प्राप्तरूपविभवमधिगतसम्यग्रूपत्वेन
शोभा पण्डितत्वेन वा सपदम् । ‘विद्वान्सुधीकविविचक्षणलब्धवर्णा ज्ञापारूपकृतिकृ-
ष्ट्यभिरुपधीरा ’ इति हैम्याम् । वहते धारयति । अत्र जगति स जनः जडै । डल-
योरेक्यात् । जलैः पानीयै मूखैश्च सार्धमनुषङ्गी सगमवान् कृतसङ्ग कथं भवति ।
अपि तु कदाचिदपि स्यादेवेति विचार ॥

स्फाटिकावनिषु वेश्मनि यान्त्या वीक्ष्य यावकपदानि परस्याः ।

मुग्धभृङ्गविहगैर्जलरोहद्रक्तपङ्कजधियेव दधावे ॥ १७६ ॥

वेश्मनि खगृहे स्फाटिकावनिषु स्फाटिकरत्ननिबद्धभूमीषु यान्त्या अर्थात्कुमारं द्र-
ष्टुमुत्सुकतया व्रजन्त्या अपरस्या अन्यस्यास्तरुण्या यावकपदानि नवीनालक्तकरसा-
द्राणि पदानि क्रमस्थापनानि वीक्ष्य विलोक्य मुग्धैरचतुरैर्भृङ्गा भ्रमरा एव विहङ्गा
पक्षिणस्तैर्दधावे धावितम् । उड्डीय गत्वा तदुपरिष्ठादुपविष्टमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—ज-
लेषु सर प्रभृतिपानीयेषु रोहन्त्युद्गच्छन्ति प्रादुर्भवन्ति इति जलरोहन्ति तादृशानि
यानि रक्तपङ्कजानि शोणकमलानि कोकनदानि तेषां विया बुद्ध्या भ्रमेणेव ॥

काप्यलक्तकधियोत्सुकिता पद्मयोरकृत चन्दनचर्चाम् ।

रक्तयोर्न सविधे प्रहिता स्वा चन्द्रिकां शशभृता सखितायै ॥ १७७ ॥

उत्सुकिता कुमारावलोकनरसेनोत्कण्ठिता कापि काचिदपरा लीलावती अलक्तधिया
यावकरसभ्रान्त्या पद्मयोर स्वचरणतामरसयो चन्दनस्य श्रीखण्डद्रवस्य चर्चा विलेप-
नम् । ‘अङ्गरागो विलेपन चार्चिक्य समालम्भन चर्चा स्यात्’ इति हैम्याम् । अकृत
कृतवती । उत्प्रेक्ष्यते—रक्तयोः स्वानुरागिणो । ‘रक्त नील्यादिरञ्जिते । कुङ्कुमेऽसृज्य-
नुरक्ते प्राचीनामलकेऽरुणे’ इत्यनेकार्थः । स्वाभाविकारुणयोरिति तत्त्वम् । अर्थान्निजो-
परि राग दधानयोः अनयोः पद्मयोर सविधे पार्श्वे सखितायै मैत्रीकरणार्थं शशभृता
चन्द्रेण प्रहिता प्रेषिता स्वामात्मीया चन्द्रिका कोमुदी न अपि तु ज्योत्स्नेव नकारो
मौलार्थमेव वक्तीति । यथा नैषवे—‘अनुभवति शचीत्थ सा घृताचीमुखाभिर्न सह-
सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः’ इति । चन्द्रिका तु दन्तकान्तिरप्युच्यते । ‘दशनचन्द्रि-
कया व्यवभासित हसितमासवगन्वि मयोरिव’ इति रघुवचनान् । ततः स्वचन्द्रिका-
मित्युक्तम् ॥

दर्शयन्त्यपरपद्ममुखी तं कापि पाणिमकरोन्निजमुच्चैः ।

व्योमपल्वलमिव सयमानोन्नालताम्रनलिनं प्रणयन्ती ॥ १७८ ॥

काचिदपरा अन्या पद्ममुखी अरविन्दवदना तं कुमारं दर्शयन्ती लोचनगोचरं का-
रयन्ती सती निजमात्मीय पाणिं हस्तमुच्चैः ऊर्ध्वमकरोच्चकार । उत्प्रेक्ष्यते—सयमान

विजृम्भमाण विकसत्तथा उन्नालमुच्चैर्नाल यस्य तादृक् ताम्र रक्त कमल यत्र तादृश
व्योमपल्वल गगनतटाक प्रणयन्ती कुर्वन्तीव ॥

सुभ्रुवामिह महे जगृहे किं चक्षुषैव सकलेन्द्रियवृत्तिः ।

ज्योतिरर्चिरिव भानुमता यत्कापि सा प्रभवति स्म न किञ्चित् १७९

इहास्मिन् महे कुमारदीक्षाया उत्सवे सुभ्रुवाम् अणहिल्लपाटकपतनवनितानां नि-
खिलानां चतुर्णां श्रवणनासिकारसनास्पर्शननाम्नामिन्द्रियाणां वृत्तिर्व्यापारः । उत्प्रे-
क्ष्यते—चक्षुषा लोचनेनैव जगृहे गृहीता किम् । केनेव । भानुमतेव । यथा भास्करेण
ज्योतिषा ग्रहनक्षत्रतारकाणामर्चिः कान्तिर्गृह्यते । यद्यस्मात्कारणात् सा चतुरिन्द्रिय-
वृत्तिः कापि कचिदपि स्वस्वव्यापारे किञ्चित्किमपि श्रोतुमाग्रातुमास्वादयितुं स्पृष्टुमपि
न प्रभवति स्म न समर्थीबभूव । ज्योतीष्यपि कापि ज्योतिरर्चिरपि कापि किञ्चिन्नाल
भवति ॥ इति पौराद्गनाविविधचेष्टितवर्णनम् ॥

रामणीयकतिरस्कृतकामं तं निपीय नयनैः पथि कामम् ।

वल्लकीकुलसखीमिव वाणीमित्यथो युवतिराजिरभाणीत् ॥ १८० ॥

अथो विविधचेष्टितानन्तरं स्वगृहगवाक्षस्थितानां युवतीनां पत्तननागरीणां राजि-
श्रेणि इत्यग्रे वक्ष्यमाणा वाणी वाचमियं परस्परमभाणीत् बभाषे । किं कृत्वा । तं कु-
मारं काममत्यर्थं नयनैः स्वलोचनैः पथि मार्गे अर्थादीक्षाग्रहणार्थं गच्छन्तं निपीय सा-
दरमवलोक्य । किंभूतं कुमारम् । रामणीयकेन शरीरसौन्दर्येण तिरस्कृतो निर्भर्त्सितः
कामः कन्दर्पो येन तम् । वाणीमुत्प्रेक्ष्यते—वल्लकीकुलस्य वीणाव्रजस्य वीणावशस्य वा ।
'गोत्रं तु सतानोऽन्ववायोऽभिजनं कुलम्' इति हेम्याम् । 'कुलं तेषां सजातीनाम्' इ-
त्यपि हेम्याम् । वीणावशस्य सखीमिव वयसीमिव विपश्चीवच्चार्या वाचमित्यर्थः ॥

सांप्रतं तदिह शैशवशेषः सांप्रतं व्रतजिघृक्षुरयं यत् ।

अन्यथा कथमसावनुकुर्यादात्मना जगति जम्बुकुमारम् ॥ १८१ ॥

शैशवं बाल्यावस्थां शेषमवशिष्टं यस्य किञ्चिद्विद्यमानशिशुत्वदश । त्रयोदशचतुर्दश-
वर्षायत्वात् । 'प्रणीतवाञ्छैशवशेषवानयम्' इति नैषधे । तादृशोऽयं हीरकुमारः
यत्सांप्रतमयुना व्रतजिघृक्षुः सयममादातुमिच्छुरस्ति इहास्मिन् शैशवसमये तत्सयमग्र-
हणं सांप्रतं युक्तम् । अन्यथा व्रतग्रहणमन्तरेण जगती विश्वे असौ हीरकुमारः आ-
त्मना स्वेन कृत्वा जम्बुकुमारं चरमकेवलिनं जम्बूखामिनं कथं केन प्रकारेण अनुकु-
र्यात् सदृशं कुवीत । जम्बुशब्दो दीर्घो ह्रस्वोऽप्यस्ति । सारस्वतव्याकरणं वधूजम्बू-
शब्दौ नदीवदिति । तथा 'मन्कृते जम्बुना त्यक्ता नवोढा नवकन्यका' इति
कल्पवृत्तौ ॥

अङ्गजाभिलषणोद्भवकोपवान्तचित्तचतुराननशापात् ।

रुद्धनेत्रशिखिनीव निपत्यादत्तं जन्म कमनः परमेतत् ॥ १८२ ॥

कमनः कन्दर्प । उत्प्रेक्ष्यते—एतत्प्रत्यक्ष दृश्यमान हीरकुमाररूप परमन्यजन्माव-
तारमादत्त गृहीतवान् । किं कृत्वा । रुद्रस्य शमोर्नेत्र तृतीय भाले लोचन तस्य शिखि-
नि तस्य वह्निमयत्वेन अग्नेर्विद्यमानत्वात् वदौ निपत्य झम्पा दत्त्वा भस्मीभूय वा । कस्मा-
त् । अङ्गजायास्तिलोत्तमानाम्ब्याः स्वनन्दनाया यदभिलषण वाञ्छन कामक्रीडाचिकीर्षा
तस्मादुद्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशो यः कोप क्रोधः तेन वान्त पूरितः चित्त मनो यस्य
तादृग्विधो यश्चतुराननो ब्रह्मा तस्य शापात् । यदुक्त कुमारसम्भवे—‘अभिलाषमुदीरिते-
न्द्रिय स्वसुतायामकरोत्प्रजापति । अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतद-
न्वभूत् ॥’ इति । तथा नैषधेऽपि—‘पद्मनन्दनसुतारिरसुता’ ॥

अद्रिजार्धघटनाङ्कितमूर्त्या व्रीडमाकलयता गिरिशेन ।

प्रैयरूपकवती तनुरेतत्कैतवात्किमुररीक्रियते स्म ॥ १८३ ॥

गिरिशेन ईश्वरेण एतस्य हीरकुमारस्य कैतवात्कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—प्रैयरूपक-
वती रमणीयत्वकलिता तनु शरीरयष्टि उररीक्रियते स्म अङ्गीकृता गृहीता प्रियरू-
पस्य भावः प्रैयरूपकम् । मनोजादित्वादुष् । ‘प्रैयरूपकविशेषनिदेशैः’ इति नैषधे ।
गिरिशेन किं कुर्वता । व्रीडलजाम् । व्रीडशब्दः शब्दप्रभेदे अकारान्तोऽप्यस्ति । यथा—
‘व्रीडाया भवे व्रीडः’ इति । ‘त्वयि स्मरव्रीडसमस्ययानया’ इति नैषधेऽपि । आकल-
यता दधता । कया । अद्रिजाया हिमाचलपुत्र्या पार्वत्या अर्वस्य शरीरार्धभागस्य या
घटना योजना तयाङ्किता कलिता या मूर्तिः स्वशरीरं तया कृत्वा । ‘सापीश्वरे शृ-
ण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्वशम्भुः । अभूदपर्णाङ्गुलिहृद्वकर्णा’ इति नैषधे ।
अर्धं शमोरित्यर्वशभुरिति तद्वृत्तिः । तेन कारणेन ता स्वतनुं सत्यज्य ईश्वरेण जननयन-
निरीक्षणीया अपरा मूर्तिरङ्गीकृतेत्यर्थः ॥

त्यक्तपूर्ववपुषा निजयोषाविप्रयोगजनितान्तरदुःखात् ।

उर्वशीप्रियतमेन किमेतत्कैतवेन जगृहे तनुरन्या ॥ १८४ ॥

उर्वशीनामाप्सरास्तस्याः प्रियतमेन भर्त्रा पुरुरवसा । ‘पुरुरवा वोव ऐल उर्वशीरम-
णश्च सः’ इति हैमीवचनात् । एतत्कैतवेन हीरकुमारमिषेण । उत्प्रेक्ष्यते—अपरा कुमा-
रलक्षणा तनूर्मूर्तिर्जगृहे गृहीतेव । किंभूतेन उर्वशीप्रियतमेन । त्यक्तमुज्झितं पूर्वं प्रा-
चीनं पुरुरवोलक्षणं वपुः शरीरं येन । कस्मात् । निजस्यात्मनो निजा आत्मीया वा
या योषा प्रियतमा उर्वशी अप्सरा । ‘अप्सरः स्वाप्सरा प्रोक्ता’ इति शब्दप्रभेदे । ‘वा
तु जलौकोऽप्सरसः मिक्तासुमनः समाः’ एते शब्दा बहुत्वे वा । ‘इमा जलौकसः ।
इयं जलौकाः । इमा अप्सरसः । इयमप्सराः’ इत्यादि लिङ्गानुशासने च । तस्य । विप्र-
योगेण विरहेण जनितमुत्पादितं यदन्तरमन्तर्मनसि भवमन्तरङ्गमतिशायि इत्यर्थः ।
दुःखं तस्मात् । ‘प्रियाविद्योगज्वलतादिवैलाम्’ इति नैषधे । पुरुरवस उर्वशीवियोगः ।
तथा नलवर्णन—‘करोमि लजा गुरुमौलिमेलदम्यो हठव्रीहरणादुदस्तो’ इत्यपि नैषधे ॥

दस्रयोः किमयमन्यतमोऽस्मिन्नागतस्त्रिदिवतः क्षितिपीठे ।

निष्कलङ्क इव विष्णुपदम्योपास्तिभिः कुमुदिनीदयितो वा ॥१८९॥

दस्रयोरश्विनीपुत्रयोर्मध्ये । उत्प्रेक्ष्यते—अयं हीरकुमाररूपं अन्यतमं एकं कश्चि-
त्रिदिवतो देवलोकादस्मिन् क्षितिपीठे पत्तनलक्षणे भूमण्डले आगतः किं समायात
इव । अथ वा विष्णुपदस्य पुरुषोत्तमपादस्य उपास्तिभिः सेवाभिः कृत्वा निर्गतः कलङ्को
लाञ्छनमपवादो वा यस्मात्तादृशः । उत्प्रेक्ष्यते—कुमुदिनीदयितः कैरविणीप्राणप्रियश्चन्द्रो
वा क्षितौ पत्तनपृथिव्या समागतः ॥ इति कुमाररूपदर्शनादिविचारः ॥

माद्यसि स्मर जगज्जयिनीभिर्हेतिभिः किमु हताश वशाभिः ।

संश्रिते हि चरितश्रियमस्मिंस्त्वन्मदोऽयमवकेशिवदासीत् ॥१८६॥

हे हताश, मूलादेव विगता उच्छिन्ना आशा वाञ्छा यस्य ईदृशः हे स्मर कन्दर्प
जगता त्रयाणां भुवनानाम् । ‘तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशः’ इति न्यायान्नाकिनागनागराणां त्रिज-
गजनानां जयिनीभिर्जयनशीलाभिर्वशीकारिकाभिः वशाभिस्तरुणीभिरेव हेतिभिः स्वा-
मोघप्रहरणभृताभिः कृत्वा किं कथं माद्यसि मदमाकलयसि मत्तो भवसि । हि य-
स्मात्कारणात् अस्मिन् मासारिकविषयविमुखे हीरकुमारे चरितश्रियं चारित्र्यलक्ष्मीं स-
ंश्रिते सति अयं सर्वजगजनविदितः प्रत्यक्षलक्ष्यस्त्वन्मदः यदहं युवतीरूपामोघशक्तिभिः
कृत्वा हरिहरेन्द्रचतुराननादिकान् सर्वान् स्ववशीकरोमि इति तवाभिमानः अवकेशि-
वन्निष्फलतरुरिव आसीत् फलवन्ध्यो बभूव ॥

दैत्यमर्त्यमरुतां विजये त्वं साहसिक्यमथ मोह जहीहि ।

भूधरं हरिरिवाशनिनासौ संयमेन निहनिष्यति यत्त्वाम् ॥ १८७॥

हे मोह, अथाद्यतनदिनात्प्रारभ्य त्वं दैत्या दानवा मर्त्या मानवा मरुतो देवास्तेषां
विजये पराभवने साहसिक्यं साहसकर्मसत्त्वं वरुवत्ता वा जहीहि त्यज मुञ्च । सहसा
वर्तते इति साहसिकम् । ‘ओजः महोम्भसा वर्तते’ इतीकण् । साहसिकस्य भावः साह-
सिक्यम् । ‘अहो मदीयस्तव साहसिक्यम्’ इति नैषधे । यत्कारणादसौ हीरकुमारः संय-
मेन शुद्धचारित्र्येण कृत्वा त्वां भवन्तं निहनिष्यति व्यापादयिष्यति मूलादुन्मूलयिष्यति ।
क इव । हरिरिव । यथा पुरंदरः अशनिना वज्रेण कृत्वा भूधरं पर्वतं हन्ति चूर्णी-
करोति ॥

संसृते व्रतरमानिरतोऽसौ दुष्प्रवृत्तिमिव यत्त्यजति त्वाम् ।

निष्फला तद्वलेव परस्या सक्तमानसपतेरपमानात् ॥ १८८ ॥

हे संसृते ससार, यद्यस्मात्कारणात् व्रतरमाया संयमलक्ष्म्या निरतः आसक्तमना
रक्तीभूतचेता असौ हीरकुमारस्त्वां भवतीं जहाति । कामिव । दुष्प्रवृत्तिमिव । यथा म-
हात्मा दुष्टा प्रवृत्तिं वार्तां दुष्टं निन्द्यमाचरणं वा मुञ्चति तत्तस्मात्कारणात् त्वं भवतीं

संसृतिर्निष्फला अभूर्जाता । स्वरूपेण तरुणीगणाभिलषणीयेन विविधविषयसुखासक्तेन भाग्यवता पुसा ससार सफलो भवेत्तत्तु अनेन नादृत तस्मात्त्व निष्फलैव । केव । अबलेव । यथा युवती परस्यामन्यवनितायामासक्तीभूतमादरवजात सानुरागीभूत मानस मनो यस्य तादृशस्य पत्यु प्रियस्यापमानादवगणनान्निष्फला भवति । समारसुखानुम-
वनरूपफलानवामेर्निष्फलत्वमिति ॥

राग सागर इवासि निपीतोऽनेन पीततटिनीपतिनेव ।

दर्प खर्परकरीभव सर्पन्रङ्गवद्युधि जितो यदनेन ॥ १८९ ॥

हे राग हे अनुराग, सागर समुद्र इव त्वमनेन कुमारेण निपीत आचान्तो निष्ठा-
पितोऽसि । केनेव । पीततटिनीपतिनेव । यथा अगस्तिना तापसेन समुद्रो निपीतश्चुलु-
कीकृतः । ‘अगस्त्योऽगस्ति पीताब्धिः’ इति हैम्याम् । पीताब्धिरित्यत्राब्धिपर्यायपरिव-
र्तन कृतम् । पुनर्हे दर्प अभिमान, यत्कारणात्त्वमनेन हीरकुमारेण युवि परस्परं स-
ग्रामे जित पराभूत नि मारीकृतः तत्कारणात्सर्पन्नितस्ततः पर्यटन् भ्रमणी कुर्वस्त्व
रङ्गवत् द्रमक इव भिक्षुकवत् खर्परकरीभव खर्परं घटादिकपालठिक्कर तदेव करे पाणौ
यस्य तादृशो भव सपद्यस्व । ठिक्कर करे कृत्वा भिक्षा मार्गयेत्यर्थः ॥

मानमाननसरोरुहनत्या मानिनीजन जहीहि जहीहि ।

मोहनाह्वमणिनेव मनस्वी न व्यमोह्यत यतो भवतायम् ॥ १९० ॥

हे मानिनीजन हे रूपचातुर्यादिभिः साभिमानकामिनीलोक, त्व लजावशेनाननस-
रोरुहाणा वदनकमलाना नत्या नम्रीकरणेन मुख नीचैः कृत्वा मान दर्प गर्व जहीहि
जहीहि । कोपनात्युक्तौ वीप्सा पुन पुनर्भाषण वीप्सा । त्यज त्यज । सभ्रमवशाद्वा द्वि-
रुक्तिः । ‘त्यज त्यजाकारणरोषणे रुषम्’ इति नैषधे । यत कारणात् मनस्वी विशिष्ट-
मनोवा(नस्वा)न् देवतादिभिरप्यक्षोभ्यमना वा अय कुमारो भवता त्वया न व्यमोह्यत
न मोहित नान्मवशीकृतः । केनेव । मोहनाह्वमणिनेव यथा मोहनकृन्नामरत्नेन जनो
मोह्यते मोह प्राप्यते ॥

स्वर्णजालकविमानगताना सुभ्रुवां भ्रुव इवाप्सरसां सः ।

आननामृतरुचीभ्य उदीतास्ताः सुधा इव कथाः पिबति स्म १९१

स कुमार सुभ्रुवा पत्तनपुरध्रीणामाननानि वदनानि तान्येवामृतरुच्य चन्द्रा ।
रुचीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । ‘रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनाभिः’ इति नैषधे । तेभ्य उदीता
उद्गता । ‘उदीतमातङ्कितवानशङ्कितः’ इत्यपि नैषधे । ईङ् गतौ दीर्घईकारो धातुः । ता
पूर्वोक्ता कथा वार्ता । ‘त्वत्सकथापि जगता दुरितानि हन्ति’ इति भक्तामरस्तवे । ‘स-
कथा वार्ता’ इति तट्टित्ति । पिबति स्म सादर शृणोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सुधा इव ।
यथा कश्चिद्देवश्चन्द्रादुदिता सुधा पिबति । ‘विरहिवर्गवव्यसनाकुल कलय पापमशेष-
फल विधुम् । सुरनिपीतसुधाकमपापकम्’ इति नैषधे । किभूताना सुभ्रुवाम् । स्वर्ण-

जालकानि काञ्चनरचितगवाक्षा एव विमानानि देवताना स्वर्गे स्थितिस्थानानि तेषु ग-
ताना सप्राप्तानाम् । सुख निषेदुषीनामित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—भुवः पृथ्व्या अप्सरसा
सुराङ्गनानामिव । अप्सरसोऽपि विमानस्थायिन्यः स्युः ॥ इति पौराङ्गनाना हीरकुमा-
रदर्शनोद्भूतमिथः कथाप्रयाः ॥

नीरदोऽवनिभृतामिव तापं वृष्टिभी रजतहेममयीभिः ।

सोऽर्थिना प्रमथयन्पथि दौ स्थ्यः सचचारः पुटभेदनमध्ये ॥१९२॥

स हीरकुमारः पुटभेदनमध्ये पत्तनविचाले सचचारः सचरति स्म । ‘पत्तनः पुटभेदनम्’
इति हैम्याम् । तथा ‘द्वीपान्तरेभ्यः पुटभेदनं तत्क्षणादवापे सुरभूमिभूपैः’ इति नैषधे ।
किं कुर्वन् । रजतानि रूप्याणि हेमानि काञ्चनानि तन्मयीभिस्तैः प्रचुराभिः धानाभिर्वा
वृष्टिभिः दानैः रूपकस्वर्णकादिविश्राणनैः कृत्वा पथि मार्गे अर्थिना याचकानां दौ स्थ्यः
दारिद्र्यं प्रमथयन्निर्दलयन् । क इव । नीरद इव । यथा वारिदो मेघः अवनिभृता
भूवराणां पर्वतानां तापं निदाघदाघः प्रमथयति प्रशमयति । यदुक्तम्—‘वाराधरा एव
धराधराणां निदाघदाघौघविघातदक्षाः’ इति सूक्तम् । काभिः । वृष्टिभिर्जलवर्षणैः ॥

तद्यशोधरणिभर्तुरितोऽन्यद्वीपनिर्जयकृते प्रयियासोः ।

अध्वरोधिजलधीनिव रोद्धुः तत्क्षणे क्षितिरजोभिरुदीये ॥ १९३ ॥

तस्मिन् कुमारस्य दीक्षाग्रहणार्थं समहं गमनसमये क्षिते पृथिव्या सकाशात् रजो-
भिर्वूलीभिरुदीये प्रकटीभूतम् । प्रमृतमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इतोऽस्माज्जम्बूद्वीपा-
दन्येषां षण्णाम् पुष्करशाककौञ्चकुशशालमल्लक्ष्णान्नां द्वीपानाम् । ‘सप्तद्वीपा वसुमती’
इति शिवराजर्षिवचनात् । षड्द्वीपाभिवानानि नैषधे । जैनमते तु जम्बूद्वीपः वातुकी-
खण्डम्, पुष्करवरद्वीपम्, वारुणीवरद्वीपम्, घृतवरद्वीपम्, क्षीरवरद्वीपम्, इक्षुवरद्वीपम्,
इति । अथवा अष्टादशसख्याकानां द्वीपानाम् । ‘अष्टादशद्वीपनिखातयूपः’ इति रघुवशे ।
तथा । ‘नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्’ इति नैषधे । निर्जयकृते विजयार्थं प्रयियासोः
प्रयातुमिच्छो तद्यशोवरणिभर्तुः कुमारश्लोकराजस्य । धरणिशब्दो ह्रस्वोऽप्यस्ति । यथा—
‘वरणिविरहिणि क्रान्तमुद्रे समुद्रे’ इति नाटककाव्ये । अध्वानं मार्गं रुन्वतीत्येवशीलान्
जरुवीन् । लवणखादूदकक्षीरोददविमण्डवृत्तोदसुरोदकेश्वरसनाम् जिनशासने सप्त
समुद्राः । लवणसमुद्रकालोदधिपुष्करोदविवारुणीसमुद्रघृतोदक्षीरोदविइक्षुरससमुद्रनामा-
नोऽर्णवाः सप्तसख्याकान् गमनमार्गरोचकान् समुद्रान् रोद्धुमावरीतुं स्थलीकर्तुमिव
रेणुभिः प्रसस्रे ॥

सयमायः समियायः कुमारः पत्तनोपविपिने दितदोषः ।

पूर्वपर्वतशिरःशिखराङ्गे पद्मिनीपतिरिवाभ्युदयाय ॥ १९४ ॥

हीरकुमारः सयमायः चारित्रग्रहणार्थं पत्तनस्योपविपिने समीपोद्याने समियायः समा-

जगाम । क इव । पद्मिनीपतिरिव । यथा कमलिनीकान्तो भास्कर अभ्युदयाय उद्गमनार्थं पूर्वपर्वत उदयाचल । 'पूर्वपर्वततिरोहितात्मन' इति वस्तुपालकीर्तिकौमुदी-
भ्रातृसुरथोत्सवकाव्ये । तस्य शिरसि मस्तके । उपरितनभागे इत्यर्थः । यच्छिखर शृङ्ग
तस्याङ्गे उत्सङ्गे समेति । किभूत कुमार पद्मिनीपतिश्च । दिता । 'दो अवखण्डने' ।
खण्डिताश्छिन्ना दोषा अपगुणा रात्रयश्च येन स ॥

कौतुकाद्भुवमुपेत्य वसन्ती स्वपुरीमिव पुरीमवगत्य ।

आगतं किमनु नन्दनमत्रोद्यानमेष निपपौ नयनाभ्याम् ॥ १९५ ॥

एष हीरकुमार उद्यान विपिन नयनाभ्या निजनेत्राभ्या कृत्वा पपौ सादरमवलोक-
यति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अत्र पत्तनसमीपे अनु पश्चादागत कि नन्दन देवराजवनमिव । कि
कृत्वा । पृष्ठे समेत कौतुकान्नागरिकनिकरविशिष्टरूपविविधविचेष्टितवीक्षणोद्भूतकौतूहला-
द्भुव भूमीमण्डलमुपेत्य अभ्यागत्य । 'भुवि समेत्य' इति वा पाठे भुवि पृथिव्या समेत्यागत्य
वसन्तीं वास सृजन्ती तस्थुषी स्व पुरीं स्वर्नगरीममरावतीमिव पुरीम् अणहिलपत्तन-
रूपां नगरीमवगत्य ज्ञात्वा । 'ज्ञात सितगते अवात्' इति हैम्याम् । तथा—'अवगच्छति
मूढचेतन प्रियनाश हृदि शल्यमर्पितम् । स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समु-
द्धृतम् ॥' इति रघुवशे ॥

शारिकाशुकशिखण्डिकपोतीपोतकेलिकलनाकमनीयम् ।

मत्तवारणविचित्रितसाल प्राविशद्गृहमिवोपवनं सः ॥ १९६ ॥

स हीरकुमारो गृह मन्दिरमिव उपवन तत्पत्तनसमीपोद्यान प्राविशत् प्रविशति स्म ।
किभूत गृहमुपवन च । महेभ्याना गृहे क्रीडाविनोदविवानार्थं विविधा पक्षिण स्युः । तदेव
दर्शयति—शारिका पीतपादा, शुका कीरा, शिखण्डिनो मयूरा, कपोतीना पारा-
वताङ्गनानाम् । 'परिणतरविगर्भव्याकुला पौरदूती दिगपि घनकपोती हुकृतैः क्रन्थतीव' इति
कालिदासकृतप्रभातवर्णनकाव्ये । पोता शिशवः । अथवा कपोत्य अत्यन्तविषयित्वात्कदा-
चिदपि कपोता प्रियाणा पार्श्वे न मुञ्चन्त्यतः कपोता कपोत्य । तथा पोता दशवर्षीया
गजबाला । 'पञ्चवर्षी गजो बाल स्यात्पोतो दशवर्षिक' इति हैम्याम् । पोतसाहचर्यात्त-
न्मातरः पितरोऽप्यागता एवेति । महेभ्याना गृहेऽपि गजा भवन्ति । 'गजान्तलक्ष्मी
ध्वजान्त प्रासाद' इति वचनात् । तेषां या केलिकलना क्रीडाकरणानि तैः कमनीय
मनोज्ञम् । पुनः किभूतम् । मत्तवारण मदोद्गुरसिन्धुरा । पूर्वोक्तास्तु सामान्यगजा,
एते तु गन्वसिन्धुरा, अयं विशेषः । तथा विशिष्टाश्चित्रा आखुपर्णी समुद्राभिधाना वा
औषधयस्ताभिर्युक्ता जाता । अथवा चित्रिता उरगविशेषा । 'चित्रडि' इति प्रसिद्धा ।
तैः सहिता जाता वा । वृक्षाणां कोटरेषु प्रायो भुजङ्गा भवन्ति । साला वृक्षा यत्र गृहे तु
मत्तालम्बा । 'मत्तालम्बोपाश्रय स्यात्प्रग्रीवो मत्तवारण' इति हैम्याम् । 'घोडला' इति
प्रसिद्धा । तथा विविधैश्चित्रैरालेख्यैः सहिता जाता । श्लेषे शसयोरैक्यात् । साला

चित्रशाला यत्र । 'चित्रा त्वाखुपर्णीसुभद्रयो । गोदुम्बाप्सरसोर्दन्त्या नक्षत्रौषधिभेदयो ' इत्यनेकार्थः । राजगृहे तु सुतरा स भवेदेव । यथा पाण्डवचरित्रे दमयन्तीप्रवासे— 'लीलाकुरङ्गक्रीडासारिके केलिबर्हिण । गृहपारावता सद्य कीरवापीसितच्छदा । प्रेयासमनुगच्छन्तीमनुजानीत मा मनाक् ॥' तथा द्रौपदीप्रवासे— 'हहो बर्हिन्नहो हस हले हरिणि हे शुक । कुशल वस्त्वसौ देवाद्याति व परिचालिका । इत्यापृच्छथ पत- द्वाष्पा केलिपात्राणि सर्वत ॥' इति ॥

पुष्पपल्लवफलानि दधानाः शाखिनः स्मितशिखाग्रशयेषु ।

स्वागतं द्विजरवैः किमुदीर्यास्यातिथेयमतिथेरिह चक्रुः ॥ १९७ ॥

इह वने शाखिनो वृक्षा अतिथेर्निजप्राघुणकस्य अस्य कुमारस्य आतिथेयमतिथिस- क्रिया किमु चक्रुः कुर्वन्ति स्म । किं कृत्वा । द्विजानां स्वाङ्गस्थायुकानां पक्षिणां रवैः शब्दैः स्वागतं सुखेनागतं कुशलप्रश्नादिकं वा उदीर्य कथयित्वा । पृष्ठा वा इत्यर्थः । किं कुर्वाणा शाखिनः । स्मिता विकसिता या शिखा स्वशाखास्ता एवाग्रहस्ता हस्ताग्राणि अथ वा तासां शिखानामग्राणि तान्येव शया पाणयस्तेषु पुष्पाणि कुसुमानि पल्लवा प्र- बाला फलानि सस्यानि दधाना वारयन्त ॥

तत्र सस्यभरगौरवभाग्भिः कोकिलाकणितसंस्तववाग्भिः ।

पादपैरयमनम्यत वन्यैर्भाविसूरिपुरहूतधियेव ॥ १९८ ॥

तत्रोद्याने अयं कुमार वन्यैः काननभवैः पादपैर्वृक्षैः अनम्यत नमस्कृतः । किंभूतैः पादपैः । सस्यानां फलानाम् । 'फलं तु सस्यम्' इति हैम्याम् । भरा समूहास्तेषां गौरव- भारं भजन्तीति । पुनः किंभूतैः । कोकिलानां कलकण्ठानां कणितानि कूजितानि पञ्चमा- लापास्तान्येव संस्तवः स्तुतिस्तद्युक्ता तद्रूपा वा वाग्येषाम् । उत्प्रेक्ष्यते—भाविनो भवि- ष्यत आचार्यपुरंदरस्य विद्या बुद्धयेव ॥ इत्युपवनम् ॥

कामनीयकमशेषममुष्यान्वेषयन्वटतरुं स ददर्श ।

श्रीतिरस्कृतसमग्रवनस्य छत्रमेतदिव मूर्ध्नि वनस्य ॥ १९९ ॥

स कुमारो वटतरुं प्लक्षवृक्षं ददर्श पश्यति स्म । किं कुर्वन्कुमारः । अन्वेषयन् विलो- कयन् । किम् । अमुष्योद्यानस्याशेषं समस्तमपि कामनीयकं मनोज्ञताम् । कामनीयस्य भावः कामनीयकम् । मनोज्ञादित्वाद्गुञ्जः । 'कामनीयकमधः कृतकामम्' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—श्रीभिः स्वशोभाभिः तिरस्कृतानि पराजितानि समग्राणि सर्वाण्यपि वनानि नन्दनचैत्ररथादीनि काननानि येन तादृशस्यास्य वनस्य पत्तनोपविपिनस्य मूर्ध्नि मस्तके एतन्महावटरूपेण दृश्यमानं छत्रमातपवारणमिव ॥

न्यक्षरुक्षनिकरेषु गुरुत्वं यद्विभर्ति मनुजेष्विव भूमान् ।

गौरवात्किमिति लोलविहङ्गैर्वीज्यते स्म चमरैरिव पक्षैः ॥ २०० ॥

यो वटनरुर्लोलैरुडुयनादितस्ततः पर्यटनाद्वा चपलैर्विहङ्गैः पक्षिभिः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोर्गौरवान्माहात्म्यात्किमु चमरैर्बालव्यजनैरिव । ‘चमरश्चामर’ इति शब्दप्रभेदे । तथा ‘चमरश्चामरे दैत्ये’ इत्यनेकार्थः । पक्षैस्तनूरुहैर्वीज्यते स्म । इति किम् । यद्यस्मात्कारणात् न्यक्षा समस्ता ये रक्षा पादपास्तेषां निकरेषु गणेषु गुरुत्व महत्त्व बिभर्ति वत्ते । क इव । भूमानिव । यथा मनुजेषु अशेषमनुष्येषु राजा गौरव कलयति । पाठान्तरे—अथवा सर्ववृक्षेषु मखभुक्शिखरी सुरतरु कल्पवृक्षो गुरुता धत्ते ॥

रागिणः प्रणयतोऽखिललोकाञ्छैशवावधिजगज्जनगेयान् ।

तद्गुणानिव निशम्य सरागः पल्लवैरयमशालत शालः ॥ २०१ ॥

अयं शालो वटतरुः पल्लवैः किसलयैः अशालतः शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—तद्गुणान् हीरकुमारस्य धैर्यौदार्यगाम्भीर्यशमदमादिमान् गुणान् निशम्याकर्ण्य सरागो रक्तो जात इव । गुणान् किं कुर्वत । अखिलान् समस्तान् लोकान् नाकिनागररूपजनान् रागिणो निजानुरक्तान् प्रणयत । पुनः किभूतान् । शैशवावधि बाल्यावस्था मर्यादीकृत्य जगता पातालस्वर्गभूमीलक्षणानां भुवनानां जनैः सुरासुरनरैर्गेयान् गातुं योग्यान् ॥

वल्कलैः कलयतात्मनि भूषा विभ्रता कपिशशालिजटालीम् ।

काननस्थितिमताजनि तेनातन्वता किमु तपो व्रतिनेव ॥ २०२ ॥

तेन वटद्रुमेण । उत्प्रेक्ष्यते—व्रतिनेव तापसेनेव तपः अनाहारलक्षणं कष्टं किमु कुर्वता अजनि जातम् । केनेव । व्रतिनेव । यथा तापसेन तपः कुर्वता जायते । किभूतेन तेन व्रतिना च वल्कलैः वल्लीभिर्वृक्षविशेषत्वग्भिश्च । ‘त्वचि वल्ली चोक्तं वल्कलम्’ इति हैम्याम् । कृत्वा आत्मनि स्वस्मिन् विषये भूषा शोभा कलयता दयता । पुनः किभूतेन । कपिशा पीतरक्ताम्, तथा शालिनीं शोभनशीलाम्, जटानां शिफानां वृक्षमूलानां सटानां सार्द्रभस्मभरैरेकीकृतकेशानां च । ‘प्रकाण्डौघजटा शिफा’, ‘जटा सटा’ इति द्वयमपि हैम्याम् । ‘जटा केशविकारे मासिमूलयो’ इत्यनेकार्थः । आली श्रेणीं विभ्रता वारयता । पुनः किभूतेन । कानने वने स्थितिर्वासो विद्यते यस्य ॥

निष्कुहान्तरितविष्किरवारस्फारतारनिनदैर्वटशाखी ।

यो मरुत्तरलपल्लवहस्तैराह्वयन्निव निजान्तिक एतम् ॥ २०३ ॥

यो वटतरु एतं कुमारम् । उत्प्रेक्ष्यते—निजान्तिके स्वसमीपे आह्वयन्नाकारयन्निवास्ते । कैः । निष्कुहान्तरितानां स्वकोटरव्यवहितानां तरुस्कन्धरन्ध्रमध्यगतानां विष्किराणां विहङ्गानां वारस्य समूहस्य स्फारैः स्पष्टैः पटुभिस्तारैरत्युच्चैः कृतैर्निनादैः कूजितैः । पुनः कैः । मरुता पवनेन तरलाश्चञ्चला ये पल्लवा प्रवालास्त एव हस्ता पाणयस्तैः कृत्वा चेत्यध्याहार्यम् ॥ इति दीक्षाग्रहणयोग्यवटद्रुमवर्णनम् ॥

शिथ्रिये विजयदानयतीन्द्रः पूर्वमेव तदुपागमनाद्यम् ।

छाययाखिलजनं सुखयन्तः कः श्रयेन्न धनदाश्रयमत्र ॥ २०४ ॥

विजयदाननामा यतीन्द्र सूरि तदुपागमनात्कुमारस्यागमनात्पूर्वमेव प्रथममेव य वटतरु शिश्रिये श्रितवान् । प्रागेव तत्रागत्य निषण्ण इत्यर्थः । युक्तोऽयमर्थः । अत्र जगति छायाया आश्रयेण । 'वय श्रीमच्छायाया जीवाम' इति लोकरूढि । प्रतिच्छायािकया चाखिलजन समस्तलोक सुखयन्त सुखीकुर्वन्तम्, तथा धनदाना वदान्याना वैश्रवणस्य वा आश्रय स्थानम् । 'वटो वैश्रवणाश्रय' इति हैम्याम् । क सुखायी पुमान्नाश्रयेन सेवेत । अपि तु सर्वोऽपि जनस्त भजेदित्यर्थः ॥

तीर्थनाथमिव चैत्यतरोस्तत्पादपस्य सविधे स्थितिमन्तम् ।

संमदेन स कुमारमहेन्द्रस्त्रिः प्रदक्षिणयति स्म मुनीन्द्रम् ॥ २०५ ॥

स कुमारमहेन्द्र हीरनामा । शिशुच(श)क संमदेन हर्षेण कृत्वा मुनीन्द्र श्रीविजय-दानसूरिं त्रि वारत्रय प्रदक्षिणयति स्म प्रदक्षिणीकृतवान् । किभूत मुनीन्द्रम् । तस्य पूर्वव्यावर्णितस्य पादपस्य वटशाखिन सविधे समीपे स्थितिरुपवेगन विद्यते यस्य । कमिव । तीर्थनाथमिव । यथा महेन्द्र पुरदरश्चैत्यतरोरशोकद्रुमस्य केवलज्ञानोत्प-त्तिस्थानकवृक्षस्य वा पार्श्वे तिष्ठन्त जिनेन्द्र त्रि कृत्व त्रिवार प्रदक्षिणीकरोति । प्रभो प्रदक्षिणात्रय ददाति स्मेत्यर्थः ॥

उत्ततार तुरगात्स कुमारो बर्हिणादिव सुत सुरसिन्धोः ।

श्रीगुरुं प्रमुदितश्च ललाटन्यस्तहस्तनलिनस्तमनसीत् ॥ २०६ ॥

स हीरनामा कुमारस्तुरगादश्वादुत्ततार उत्तीर्णवान् । क इव । सुरसिन्धो सुत इव । यथा सुरसिन्धोर्देवनद्या गङ्गाया नन्दन स्वामिकार्तिक बर्हिणान्मयूरादुत्तरति । 'आवा-सवृक्षोन्मुखबर्हिणानि' इति रघुश्लोके । उत्तीर्य च पुनस्त महावीरदेवपट्टपरम्परायात दीक्षादानगुरु वा श्रीगुरु शोभाकलितविजयदानसूरिम् अनसीत् प्रणमति स्म । किभूत । प्रमुदितो हृष्टवदन । पुन किभूत । ललाटे स्वभालस्थले न्यस्तौ स्यापितौ हस्तौ पाणी एव नलिने कमले यत्र ॥

रामणीयकविधेरवधेर्मे भूषया वपुषि कृत्रिमया किम् ।

तत्यजे निजतनोरिति सर्वाङ्गीणभूषणभरः किमनेन ॥ २०७ ॥

अनेन हीरकुमारेण निजतनो स्वाज्ञात् । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतो सर्वाण्यङ्गानि व्याप्नो-ति । 'पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्र व्याप्नोति' इति सूत्रेण ख ईनादेशश्च । सर्वाङ्गीण इति सर्वाङ्गोपाङ्ग-सबन्धी । भूषणानामाभरणाना भर समूहस्तत्यजे त्यक्तः । सर्वानलकारान्निजाङ्गादुत्ता-रयति स्मेत्यर्थः । इति किम् । तत्कारणमाह—रामणीयकस्य रमणीयताया मनोज्ञत्वस्य विधे प्रकारस्य अवधे सीमाया मे मम वपुषि शरीरे कृत्रिमया औपाधिकया भूषया शोभया भूषणैर्वा । भूषाशब्देन भूषणान्यप्युच्यते । उक्तं तु प्राक्प्रतिपादितमास्ते । किमस्तु । न किमपीत्यर्थः । रमणीयस्य भावो रामणीयकम् । योपवाद्गुणः ॥

षड्ग्रहेषुशशिसंख्यमितेऽब्दे कार्तिकस्य च तिथौ द्विकसंख्ये ।

यन्निरस्तभवनि श्वसितार्चिर्धूमवर्तिभिरिवाविशदास्ये ॥ २०८ ॥

संयमं विजयदानमुनीन्दोराददे सह परैः स कुमारः ।

पद्मिनीप्रियतमात्प्रविकाश पुण्डरीकमिव पङ्कजपुञ्जैः ॥ २०९ ॥

स हीरकुमार परैरन्यैरमीपालकुमारप्रमुखैरपरकुमारैः सार्व श्रीविजयदाननाम्नो मुनीन्दो साधुसुवाशो सूरिन्द्रात्सकाशात् सयमचारित्रमाददे जगृहे । किमिव । पुण्डरीकमिव । यथा सिताम्भोज पङ्कजपुञ्जैरन्यकमलकलापैः सम पद्मिनीप्रियतमात्सूर्यात् सकाशात्प्रविकाश विकस्वरतामादत्ते । पुण्डरीकगब्दः प्रावान्यरव्यापकः । ‘पुरिसवर-पुण्डरीकाणम्’ इति शक्रस्तववचनात् । कस्मिन् सति । षड्रसमिता सख्या, ग्रहा आदि-त्याद्या इदानींतनलोकप्रसिद्धा नव, इषवः स्मरस्य बाणा पञ्च, शशी चन्द्र एक, एषा सख्यया प्रमाणेन मिते मानीकृते अब्दे वर्षे सति । च पुनः कस्मिन् सति । कार्तिकस्य बाहुलस्य । कार्तिकमासस्येत्यर्थः । द्विकसंख्ये द्विकसख्या प्रमाणं यस्य तादृशे एतावता द्वितीयानाम्नि तिथौ । तिथिशब्दः पुद्गल्योः । ‘प्रश्निस्तिथ्यशनीमणिशृणि’ इति लिङ्गानुशासने । तिथौ किभूते । अविशदास्ये न विद्यते विशदमुज्ज्वलमास्यः मुखः प्रारम्भो वा यस्य । कृष्णद्वितीयायाः प्रथमाश्चतस्रो घटिका निशा अन्धकारेण श्यामा स्युः । उत्प्रेक्ष्यते—येन हीरकुमारेण निरस्तो ध्वस्तोऽभिभूतो यो भवः ससारस्तस्य निःश्वसितानि दुःखप्राग्भारोद्भूतानि श्वासास्तान्येवार्चाषिः अत्युष्णत्वाद्वह्नयस्तेषां धूमवर्तयो धूमलेखास्ताभिः । ‘उष्णीकृतमुखे इव निःश्वासानलधूमवर्तय इवोद्गीर्णास्तमोराजयः’ इति चम्पूकथायाम् । एतावता विक्रमार्कात् षण्णवत्यविके पञ्चदशशते वर्षाणामतिक्रान्ते १५९६ कार्तिकबहुलद्वितीयायाः हीरकुमारो दीक्षां जग्राहेति तात्पर्यार्थः । सवत् १५९६ वर्षे गुर्जरमण्डलानुसारेण कार्तिकवदि देवमासानुसारेण तु मार्गशीर्षसितद्वितीयायाः तिथौ हीरकुमारदीक्षा इत्युक्तम् ॥

संयमश्रियमवाप्य कुमारः साधिक शरदमिन्दुरिवाभात् ।

सोऽप्यनेन सुषमा श्रयते स्मार्थेन वागिव पुरीव नृपेण ॥ २१० ॥

स कुमारः संयमश्रियं चारित्र्यलक्ष्मीमवाप्यासाद्य । सहाविकतया वर्तते यत्तत्साविकमिति क्रियाविशेषणम् । आभात् बभासे । अथ वा स कुमारः अविकः यथा स्यात्तथा बभौ । क इव । इन्दुरिव । यथा चन्द्रः शरदः घनात्ययः संप्राप्याविकः शोभते । पाठान्तरार्थो यथा—स कुमारः संयमश्रियमुपेत्यागत्य । प्राप्येत्यर्थः । अविकः आभाद्भाति स्म । क इव । अत्रिनेत्रज इव । यथा अत्रिर्नामा मुनिविशेषस्तस्य नेत्रं नयनं तस्माज्जायत इत्यत्रिनेत्रजश्चन्द्रो यथा । यथा रघुवशे—‘अयं नयनसमुत्थः ज्योतिरत्रैरिव द्यौः’ इति ।

चित्रा त्वार्ष्ट्रीं प्राप्याधिक दीप्यते । अपि पुन सा सयमश्रीरपि हीरकुमारेण कृत्वा सुषमामतिशायिशोभा श्रयते स्म । केव । वागिव । यथा काव्यादिरूपा सत्कविवाणी चतुरचेतश्चमत्कारकारकेणार्थेन सुषमा श्रयते । पुन केव । पुरीव । यथा नगरी नीति मता नृपेण सुषमा भजते ॥

हीरहर्ष इति नाम तदीय निर्ममे विजयदानयतीन्द्र ।

स्पर्धयेव यशसास्य जनानां कर्णपूरपदवी तदवापत् ॥ २११ ॥

श्रीविजयदाननामा यतीन्द्र सूरि तदीय हीरकुमारसबन्धिनामाभिधान हीरहर्ष इति निर्ममे कृतवान् । तन्नाम अस्य हीरहर्षमुने श्लोकेन साक स्पर्धया सहपेणेव ईर्ष्या वा कृत्वा जनाना सकलभूलोकलोकाना कर्णौ श्रवणौ पूर्येते अनेनेति कर्णपूरौ कर्णा-भरणौ कुण्डलौ तयो पदवी मार्गमश्वर्यादिमय स्थान श्रूयमाणतापद वा अवापत् प्राप ॥

नभोज्जगान्निर्जरहस्तमुक्तामरन्दलुभ्यन्मधुपानुषङ्गे ।

पपात तस्योपरि पुष्पवृष्टिः कटाक्षलक्षा इव मोक्षलक्ष्म्याः ॥ २१२ ॥

नभोज्जगदाकाशात्तस्योपरि पुष्पवृष्टिः कुसुमवर्ष पपात जाता । किभूता । निर्जराणा देवाना हस्तै करै मुक्ता । पुन किभूता । मरन्देषु अविरलानर्गलगलन्मधुषु लुभ्यता लुब्धीभवता लोलुपीभावभाजा मधुपाना भ्रमराणामनुषङ्गो यस्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—मोक्ष-लक्ष्म्या मुक्तिश्रिया कटाक्षाणामक्षिविकूणिताना लक्षा शतसहस्राणि इव । लक्षश-ब्द स्त्रीक्लीबयो । 'माने लक्षम्' इति लिङ्गानुशासने ॥

महाव्रती कालमनोभवारिमहोक्षलीलागतिगौरकान्तिः ।

शिवाश्रितः शभुरिव क्रमेणैशानी दिश पूर्वमसौ बभाज ॥ २१३ ॥

अय हीरहर्षमुनि क्रमेण दीक्षाग्रहणानन्तर पूर्व प्रथममैशानी दिशमीशानविदिश बभाज श्रितवान् । तस्या विहार कृतवानित्यर्थ । दीक्षितो हि तपस्याग्रहणानन्तर प्रथममैशानी दिश प्रति विहरतीति विधि । क इव । शभुरिव । यथा ईश्वर ऐशानी दिश तदविपत्वात् । कथभूतोऽय शभुश्च । महाव्रती पञ्चमहाव्रतवान् शभुनामा च । 'महाव्रती वह्निहिरण्यरेता' इति हैम्याम् । महाव्रत कापालिलिङ्गमस्यास्तीति व्युत्पत्ति । काल कलिकाल मनोभव स्मरस्तयो रिपु । 'कालो यमे दैत्ये च' । मृत्युजय का-लारि स्मरदाही च शिव । पुन किभूत । महानुक्षो मत्तवृषभस्तद्वदतिर्गमन यस्य । 'मत्तोक्षगमन पुमान्' इति काव्यकल्पलतायाम् । मत्तो(हो)क्षेण गमन यस्य वृषभवा हनत्वात् । पुन किभूत । गौरा स्वर्णवर्णा कान्तिर्यस्य । पक्षे—श्वेता वर्णेन भस्मना वा रुचिर्यस्य । 'गौर श्वेतेऽरुणे पीते विशुद्धे चन्द्रमस्यपि' इत्यनेकार्थ । पश्चात्कर्म-धारय । पुन किभूत । शिवैर्मङ्गलै शिवया पार्वत्या च आश्रित अर्धशभुत्वात् ॥

कलभो यूथनाथेन यद्वदम्यः ककुब्जता ।

हीरहर्षः समं सूरिशक्रेण विजहार सः २१४ ॥

स हीरहर्षमुनि सूरिशक्रेण श्रीविजयदानसूरीन्द्रेण सम सार्व विजहार विहारं कृतवान् । किवत् । यद्वत् । यथा कलभो बालगज यूथनाथेन षष्टिवर्षीयगजराजेन सम विहरति । पुनर्यद्वद्यथा दम्यो वत्सतर पुष्टो वत्स प्रौढवृषभेण सह विहरति । ‘दम्यो वत्सतर समौ’ इति हैम्याम् । यद्वच्छब्द इवार्ये । डमरुकमणिवल्लालाघण्टान्यायेनोभयत्रापि सबध्यते ॥

प्रीतिर्जिनेषु वृजिनेषु न तस्य जज्ञे

योगं व्यगाहत मनो न कदापि भोगम् ।

अङ्गीचकार विरतिं न रतिं कदाचि-

न्नव्योऽप्यनव्य इव सोऽजनि साधुधुर्यः ॥ २१५ ॥

स हीरहर्षनामा साधुषु यतिषु धुर्यो धुरीण नव्योऽपि नवदीक्षितोऽपि अनव्यः पुरातन इव बहुकालीनमुनिरिवाजनि सजात । तदेव दर्शयति—तस्य हीरहर्षमुने जिनेषु तीर्थकरेषु प्रीति स्नेहस्तत्परता, पर वृजिनेषु हार्द न जज्ञे । ‘स्नेह प्रीति प्रेम हार्दम्’ इति हैम्याम् । तस्य मन योग यमनियमाद्यष्टाङ्गलक्षणा सर्वविरतिमङ्गीचकार । पुन कदापि कस्मिन्नपि क्षणे रति चिन्तासक्तिम् । ‘वृद्धास्त्रिव गतप्रायासु वर्षासु रतिमकुर्वाण’ इति चम्पूकथायाम् । रति चिन्तासक्तिमिति तद्विपनके । अथ वा रतिमनु-राग मैथुनादिक वा ॥

सूरीन्दो संनिधौ श्रीमान्कुमारश्रमणोऽनिशम् ।

सतानस्य नवोन्निद्रत्पारिजात इवावभौ ॥ २१६ ॥

श्रीमानतिशायिशोभावान् कुमारश्रमण हीरहर्षसाधु अनिश निरन्तर सूरीन्दोर्विजयदानसूरिचन्द्रस्य संनिधौ पार्श्वे वभौ । क इव । नवोन्निद्रत्पारिजात इव । यथा नवीनो बाल उन्निद्रद्विकस्वरीभवन्कुसुमादिकलितो जायमान पारिजातो विशिष्टकल्पवृक्ष सतानस्य नाम्नो देवद्रुमस्य समीपे भाति । ‘कल्प पारिजातो मन्दारो हरिचन्दन । सतानश्च’ इति पञ्चसु कल्पतरुषु मध्ये कविसमये पारिजातस्यैव प्राधान्य दृश्यते प्राय । यथा रघुवशे—‘तेषा महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृता स मध्ये । रराज वाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजात ॥’ इति ॥

श्रमणधरणीभर्तुः पादारविन्दनिषेवना-

त्प्रमुदितमना नाथीदेवीतनूजयतीश्वर ।

अनुपमशमक्षीराम्भोधौ विलासरस सृज-

न्सितगरुदिवामन्दानन्दं दिनानि निनाय सः ॥ २१७ ॥

स नाथीदेव्यास्तनूजो नन्दन स एव यतिना मध्ये । 'यतिश्च यतिनि प्रोक्तः' इति शब्दप्रभेदे । ईश्वरो मुख्य हीरहर्षमुनीन्द्रो दिनानि शुद्धसयमविधिना वासरान्निनाय अतिवाहयामास । अतिक्रामति स्मेत्यर्थः । किभूत । श्रमणाना साधूना भर्तुः स्वामिनो विजयदानसूरे पादारविन्दनिषेवनया चरणकमलपरिचर्यया कृत्वा प्रमुदितमाह्लादयुक्तं जात मनो यस्य । किं कुर्वन् । अनुपमो न विद्यते उपमा साम्य यस्य । सावारण इत्यर्थः । तादृशो यः शम शान्तरसाकलितपरिणाम स एव क्षीराम्भोविर्दुग्धजलनिधिस्तत्रामन्दो बहुलआनन्दो यत्रैव यथा स्यात्तथा विलासरस क्रीडास्वादम् । आस्वादोऽनुभवने । अथ वा विलासे क्रीडाया रसमनुराग सृजन् कुर्वन् । 'रस स्वादे जले वीर्ये शृङ्गारादौ द्रवे विषे । बोले रागे देहवातौ तिक्तादौ पारदेऽपि च ॥' इत्यनेकार्थः । क इव । सितगरु-दिव । यथा सितच्छदो हस परमानन्द सन् क्षीरसमुद्रे विलासरस जलक्रीडारस सृजति हसाना सद्भावं क्षीरसमुद्रेऽपि दृश्यते । यथा स्नातस्यास्तुतौ—'हसासाहतपद्म-रेणुकपिशक्षीरार्णवाम्भोभृतैः' इति ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुन

पुत्र कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्मी क्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गोऽभवत्पञ्चमः ॥ २१८ ॥

इति पण्डितदेवविमलगणिना व्यावर्णिते वर्णनागोचरीकृते हीरसौभाग्यनाम्नि महा-काव्ये पञ्चमः सर्गः अभवज्जातः ॥

इति पण्डितदेवविमलगणिविरचिताया स्तोत्रज्ञहीरसौभाग्यकाव्यवृत्तौ श्रीविजयदान-सूरिवन्दनदेशनाश्रवणवैराग्यभवनविमलाभगिन्यादिकादेशमार्गणविविधयुक्तिनिषेवनदा-र्ढ्याविमननपूर्वकादेशप्रदानशृङ्गारभूपादिपरिवानवर्ण्याश्वारोहणतौर्यत्रिकादिमहोत्सवपु-र मरपुरमध्यप्रस्थानपौराङ्गनाविविधचेष्टनतन्त्रानाप्रकारवार्ताश्रवणोपवनवटद्रुमवर्णनदी-क्षाग्रहणनामस्थापनविहारादिवर्णनो नाम पञ्चमः सर्गः ॥

षष्ठः सर्गः ।

अथ सूरिपुरदरान्तिके निखिल वाङ्मयमामनन्नयम् ।

गणधारिसुधर्मसंनिधाविव जम्बूः सुषमामपूपुषत् ॥ १ ॥

अथ दीक्षाग्रहणानन्तरं सूरिपुरदरस्य विजयदानसूरीन्द्रस्यान्तिके समीपे निखिल समग्र वाङ्मय शास्त्रमामनन् पठन् अभ्यसन् वा । 'म्रा अभ्यासे' इत्यस्य वातोर्मनादेशः

‘पठत्यामनति’ इति क्रियाकलापे । अयं हीरहर्षनामा मुनिः सुषमां सातिशयशो-
भामपूपुषत् पुष्पाति स्म । अविकं शुशुभे इत्यर्थः । क इव । जम्बूरिव । यथा श्रीमहा-
वीरदेवेनानुज्ञातं गणसाधुगच्छं वरतीत्येवशीलो यः सुवर्मस्वामी सुधर्मनामा पञ्चमग-
णधरः तस्य सनिवौ पार्श्वे शास्त्रमधीयानो जम्बूस्वामी सुषमां पुपोष ॥

श्रुतमत्र गणीन्दुनामुना निहितस्फूर्तिमनुत्तरां दधौ ।

इव शुक्तिकसंपुटान्तरे सलिलं स्वातिमिलत्पयोमुचा ॥ २ ॥

अमुना विजयदाननाम्ना गणीन्दुना सूरिचन्द्रेण अत्र हीरहर्षमुनौ निहितस्थापितम-
र्थादध्यापितं सत् श्रुतशास्त्रमनुत्तरामसाधारणीं स्फूर्तिं चमत्कारकारिता दधौ धत्ते
स्म । किमिव । सलिलमिव । यथा स्वातिनक्षत्रेण मिलता सगच्छमानेन पयोमुचा मेघेन ।
शुक्तिकयोः संपुटस्यान्तर्मध्ये निहितजलमद्भुतामद्वैतमुक्ताकारतया स्फूर्तिं विभर्ति ॥

अधिगत्य ततः श्रुतं व्रतिक्षितिभर्तुर्दधिरेऽमुना श्रियः ।

सुरभेः समिरेण सौरभं मलयोर्वीरुहकाननादिव ॥ ३ ॥

अमुना हीरहर्षमुनिना ततस्तस्माद्विजयदानाभिधानाद्व्रतिक्षितिभर्तुः सूरौ सकाशात्
श्रुतशास्त्रमधिगत्य प्राप्य । ‘अधिगत्य जगत्यधीश्वरादयः मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः’ इति
नैषधे । श्रियः शोभा दधिरे वृता । केनेव । समिरेणेव । यथा सुरभेर्वसन्तस्य समि-
रेण मलयानिलेन मलयोर्वीरुहाणा चन्दनानां काननाद्वनात्सौरभसुगन्विता परिमल
प्राप्य शोभा ध्रियते ॥

स्खलति स्म न कुत्रचिद्वचोरचनास्यागमपारदृश्वनः ।

हृदिनीहृदयेशितुश्चलज्जलकल्लोलपरम्परा किमु ॥ ४ ॥

आगमाना जैनसिद्धान्तानां पारप्रान्तदृष्टवानित्यागमपारदृश्वान्तस्य । आगमपारगामिन
इत्यर्थः । अस्य हीरहर्षमुनेर्वचोरचना वाक्चातुरी वचनविलासो वा कुत्रचित्कापि
स्थाने न स्खलति स्म न कुण्ठीभूता । सर्वत्राप्यस्खलितप्रचारैवासीदित्यर्थः । केव । चल-
जलकल्लोलपरम्परेव यथा हृदिनीनां नदीनां हृदयेशितुर्हृदयनायकस्य । ‘हृदयेशा
प्राणसमा’ इत्यादिनामानि स्त्रीभर्त्रोर्भवन्ति । तथा—‘हृदयनायकचक्रिजिनश्रियो’ इति
ऋषभनम्रस्तवे । प्राणवल्लभस्य समुद्रस्य चलन्ती दिशि दिशि प्रसरन्ती जलानां कल्लो-
लानां तरङ्गाणां परम्परा श्रेणी कापि न स्खलति । किमु अत्रेवार्थः ॥

असमानमहादिनेशवन्मतिमाश्चित्रशिखण्डिपुत्रवत् ।

भटवच्चरणोलसन्मना विनयी यो रघुसूनुवद्व्यभात् ॥ ५ ॥

यो हीरहर्षमुनिर्व्यभात् बभौ । किंभूतः । असमानमसाधारणमहं प्रतापो यस्य परै-
परवादिभिः परपाक्षिकैः स्वपाक्षिकैर्वा असहनीयप्रतापः । किंवत् । दिनेशवत् दिवस-

नायक इव । यथा भास्करः अन्यासह्यप्रतापो भवेत् । पुन किभूत । मतिमान् कुशा-
ग्रतीक्ष्णबुद्धिर्विद्यते यस्य । किवत् । चित्रशिखण्डिपुत्रवद्यथा बृहस्पतिरद्वैतप्रज्ञावान्
वर्तते । ‘जीवश्चित्रशिखण्डिज’ इति हैम्याम् । तथा ‘विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दन’
इति नैषधे । विचित्रवाग्विषये चित्रशिखण्डिनन्दनो बृहस्पतिरेवेति तद्वृत्तिः । पुन
किभूतः । चरणे चारित्र्ये उल्लसत्प्रोलासेन प्रह्लादेन कलित मनश्चित्त यस्य । किवत् ।
भटवत् । यथा—शूरो रणे सग्रामे उल्लसत्सोत्सुकीभवत्साभिलाष वा जायमानम् । ‘विप्र-
हमिच्छन्ति भटा वैद्याश्च व्याविपीडित लोकम् । मृतकबहुलं च विप्राः क्षेमसुभिक्षं च
निर्ग्रन्था ॥’ इति वचनात् । मनो यस्य । च पुनरर्थः । पुन किभूत । विनयी विनयक
लितः । किवत् । रघुसूनुवल्लक्ष्मणवत् । ‘विनये लक्ष्मण’ इति काव्यकल्पलतायाम् । अथ
वा विशिष्टः शास्त्रागमप्रोक्तो नयो न्यायोऽस्त्यस्मिन्निति । किवत् । रघुसूनुवद्रामचन्द्र
इव । ‘न्याये राम’ इत्यपि काव्यकल्पलतायाम् ॥

गिरिराज इव क्षमाधरो बुधलक्ष्मी दधदभ्रमार्गवत् ।

जलजासनवद्भवान्तकृद्भ्रतधुर्यः स महोक्षवद्बभौ ॥ ६ ॥

स हीरहर्षमुनिर्बभौ भाति स्म । किभूत । क्षमा क्षान्ति निष्कोपता धरतीति । क
इव । गिरिराज इव । यथा हिमाचलः क्षमावरः पृथ्वीधारकः कुलाचलत्वात् । यद्यपि
‘कूर्मकुलाचलफणिपतिविधृतापि चलति वसुधेयम्’ इति सूक्तोक्ते ‘हिमालयो नाम
नगाविराज’ इति कुमारसभवे मेरुर्वा । मेरोरपि गिरिपतित्वं यथा—‘पातालमा-
विशतु यातु सुरेन्द्रलोकमारोहतु क्षितिवराविपति सुमेरुम् । मन्त्रौषवैः प्रहरणैश्च करोतु
रक्षा यद्भावि तद्भवति नात्र विचारहेतुः ॥’ इति सूक्तावल्याम् । क्षमावरत्वं तु शैल-
त्वात्कुलगिरित्वाद्वा । पुन कि कुर्वन् । दधत् धारयन् । काम् । बुधत्वेन चिद्वत्तया
लक्ष्मी शोभाम् । किवत् । मार्गवत् । यथा अभ्राणा मेघाणा मार्ग आकाशः । ‘सुरा-
भ्रोडुमरुत्पथोऽम्बरम्’ इति हैम्याम् । बुधस्य चन्द्रपुत्रस्य ग्रहविशेषस्य लक्ष्मी प्रिय
विभर्ति । ‘बुधः सौम्ये कवौ’ इत्यनेकार्थः । पुन किभूत । भवान्तकृत्ससारोच्छेदकः ।
किवत् । जलजासनवत् । यथा कमलासनो ब्रह्मा भवान्तकृन्नामास्तैः । पुन किभूत ।
व्रते चारित्र्ये धुर्यः पञ्चमहाव्रतभारोद्धारैकधुरीणः । किवत् । महोक्षवद्यथा वृषभो गुर-
धरः स्यात् ॥ इति हीरहर्षगणे पठनसमयगुणवत्त्वम् ॥

तरुणी तपनात्मजन्मनो हरिदास्ते भुवि नाम दक्षिणा ।

किमु कस्यचनापि कोपिनो व्रतिनः स्वर्निपपातः शापतः ॥ ७ ॥

भुवि पृथिव्या तपनात्मजन्मनो भानुनन्दनस्य यमस्य तरुणी गृहिणी हरिद्दिगास्ते ।
कि नाम । दक्षिणा अपाचीनाम्नेत्यर्थः । यद्यपि तरुणीशब्देन युवती कथ्यते सामान्येन
गृहिण्या अप्यभिवान् दृश्यते । यथा चम्पूकथाया नलः प्रति प्रहितकिनरेण साय कि-
नरी प्रत्युक्तम्—‘अजनि रजनि किमेतत्तरणिस्तरतीव पश्चिमपयोधौ । घनतरुणि

तरुणि विपिने क्वचिदस्मिन्नेव निवसाम ॥' इति दिशोऽपि स्त्रीत्वम् । 'निजमुखमितः स्मेर धत्ते हरेर्महिषी हरित् ।' तथा 'वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममु रुची' इति पदद्वयमपि नैषधे । तेन इदमपि तद्वत् । उत्प्रेक्ष्यते—कस्यचनाप्यनिर्दिष्टनाम्न को-
पिनो रोषवत व्रतिनस्तापसस्य शापत शापवशात्स्व स्वर्ग निपपात उच्चै स्थाना-
दधोभूमौ त्रुटित्वा निपतित इति परशासनकविसमयवर्णनमात्रमेव । यथा कादम्बरीक-
थाया केनापि तापसेन तापस कश्चित्त्वरित गच्छन् शप्त । 'यतस्त्व मामवन्दित्वैव तुर-
गवद्गच्छसि ततस्त्व तुरगो भव ।' स तथैव जात । तथा 'मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्त-
वानस्मि मतङ्गजत्वम्' इति रघौ । पर न जैन वच इति ॥

वसति स्म घटोद्भवो मुनिर्दिशि यस्यां चिरमुज्झितान्यदिक् ।

किमु शम्बरवैरिविभ्रमैर्युवतीभिर्युववद्विमोहितः ॥ ८ ॥

घटात्कुम्भादुद्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशो मुनिरगस्तितापस यस्या दक्षिणस्या दिशि
चिर गलितावधिकाल वसति स्म स्थितिमानजनि किम् । उज्झिता त्यक्ता अन्या पूर्वा-
दिकास्तिस्त्रो दिशो येन । उत्प्रेक्ष्यते—युवतीभिर्दक्षिणात्यतरुणीभि शम्बरनाम्नो दैत्यस्य
वैरिणो हन्तु स्मरस्य । 'अरी शम्बरशूर्पकौ' इति हैम्याम् । विभ्रमैर्विलासैर्युववत्तरुण
इव विशेषेण मोहित । मोहमत्यनुराग स्नेहातिशय वा । मोह मूर्च्छामविद्याम्— यथा
अनेकार्थनाममालायाम्—'मोहो मूर्च्छाविपर्ययौ' । 'मूर्च्छाविद्या । 'न मुञ्चाम कामानहह
विषमो मोहमहिमा' इति तदवचूरि । अविद्या अहमत्यज्ञाने प्रापित किमु नीत इव ॥

स्मरविष्टपजैत्रशस्त्रितस्त्रितरोदीर्णविनोदविभ्रमात् ।

व्रजतीव कुतूहलीक्षितुं किमु मन्दीभवदङ्घ्रिरंशुमान् ॥ ९ ॥

अंशुमान् सूर्य इह दक्षिणस्या दिशि व्रजति । किंभूत । मन्दीभवन्त वीक्षणरसा-
द्गमने अत्वरिता जायमानास्तेजोभि प्रतापै रहिता वा भवन्तो जायमाना । 'दिशि
मन्दायते तेजो दक्षिणस्या रवेरपि' इति रघुवचनात् । अङ्घ्रयश्चरणा किरणा वा ।
अङ्घ्रिशब्देन किरणा अप्युच्यन्ते । यथा नैषधे—'साहस्रैरपि पङ्कुरङ्घ्रिभिरभिव्यक्तीभवन्
भानुमान्' इति । किंभूत । कुतूहल कौतुकमस्यास्तीति । अत एवोत्प्रेक्ष्यते—स्मरस्य
कन्दर्पस्य विष्टपाना त्रयाणा भुवनाना तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशान्नाकिनागनागराणा जैत्रश-
स्त्रिताभिर्जयनशीलप्रहरणवदाचरिताभिस्त्रितराभि प्रवानस्त्रीभि । 'रह सहचरी रा-
जनेतामपि स्त्रितरा क्षणम्' इति नैषधे । स्त्रितरा श्रेष्ठामिति तद्वृत्ति । 'ह्रस्वो वा,
स्त्रिया कापि तरादौ च परे ह्रस्वो वा भवति । वेणीका श्रेयसीतरा प्रेयसितरा' इति
सारस्वते । तथा स्त्रितरा स्त्रीतरा इति । उदीर्णा स्वभावेन प्रकटीकृता विनोदा हास्य-
क्रीडानृत्यगीतादिका विभ्रमा हावभावविलासाः । अथवा विनोदेन परस्परानन्दक्री-
डाहास्येन विलासास्तानीक्षितु मोचयितु किमु व्रजति । दक्षिणदेशविचक्षणनारीति
लोकप्रसिद्धिः ॥

शमनस्य मृगीदृशो दिशो मणिमुक्ताफलशालमानया ।

सरितां दयितस्य वेलया विलसन्मेखलयेव दिद्युते ॥ १० ॥

सरिता नदीना दयितस्य भर्तुः समुद्रस्यार्यादक्षिणोदवेवेलया । 'वैला स्याद्रुद्धिरम्भ-
साम्' इति हैम्याम् । दक्षिणदिशि वेलया दिद्युते शमनस्य वर्मराजस्य मृगीदृश
पत्न्या स्त्रिया दिशो दक्षिणाशाया दक्षिणदिङ्मृगीदृश मणिभिर्विविधरत्नैस्तया मुक्ता-
फलैर्मौक्तिकैः शालमानया शोभमानया विलसन्त्या आश्लिषन्त्या । 'लस श्लेषणक्रीड-
नयोः' । अयं वातु । मेखलया काञ्चयेव । 'खगकालकलत्रदिग्भव' इति नैपधे ॥

तिलकं हरितामसावमूं जिनमाणिक्यविभुर्यतः श्रितः ।

किमपाच्यपयोनिधिः स्वनैरिदमावेदयते तरङ्गजैः ॥ ११ ॥

अपाच्यो दक्षिणात्यपयोनिवि समुद्र दक्षिणार्णवस्तरङ्गजैः निजलोलकलोलकला-
पजन्मभिः स्वनैर्गम्भीरनिर्घोषैः इदमस्मिन्नेव काव्ये कथ्यमानमावेदयते । अर्याल्लोकानां
कथयतीव । [णि]जन्तानां वातूनामुभयपदं स्यात् । तेनात्रात्मनेपदम् । तथा च प्रक्रि-
याकौमुद्याम्—'णिचश्च' । 'णिजन्ताद्वातोरात्मनेपदमपि स्यादात्मगामिनि कर्तृफले ।
चोरयति चुरादेर्णिच्' । अनेन सूत्रेण णिजन्तत्वे आत्मनेपदे चोरयते तथात्रापीति
बोध्यम् । इदं किम् । यदसौ हरिदक्षिणा दिक् हरिता पूर्वापरोत्तराणां दिशा तिलक
विशेषकम् । यतः कारणादमू दक्षिणा दिशं जिनप्रथमस्तीर्थंकरं माणिक्यनामा विभु
स्वामी भरतेन स्वमुद्रामाणिक्यनिर्मापितस्तन्नामैव माणिक्यस्वामी श्रितः । वैताव्य-
शैलादागत्यात्रैव स्थितिमतानीत् । यत्कारणादगस्तिर्मुनिरप्यमू दिशं श्रितः । तिस्रो
हरितस्त्यक्त्वा अत्रैव तिष्ठतीत्यर्थः । इयं तु परसमयानुसारिण्यनुमानमात्रेणैवोक्तिः ।
इति केवलदक्षिणदिक् ॥

अथ तत्र केषाचित्पदार्थानां वर्णनावसरः —

मलयो मलयद्रुमेदुरः शुशुभे यत्र सुमेरुसोदरः ।

शमनस्य विलाससानुमानिव रन्तु निजदिङ्मृगीदृशा ॥ १२ ॥

यत्र दक्षिणस्यां दिशि मलयो नाम पर्वतः दक्षिणाचलः शुशुभे भाति स्म । किंभूतः ।
उच्चैस्तरत्वेन सुमेरो काञ्चनाचलस्य सोदरो बन्धुः । सदृश इत्यर्थः । पुनः किंभूतः । मल-
यद्रुमैश्चन्दनतरुभिः मेदुरः पुष्टः । भूत इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—शमनस्य यमस्य निजस्या-
त्मनो या दिग्दक्षिणा हरित्सैव मृगीदृक् हरिणोक्षणा पत्नी तया सार्वं रन्तुः विविधवि-
नोदविधातुः विलाससानुमान् क्रीडापर्वत इव ॥

मलयो बलिवेश्मवद्बभौ कलयन्कुण्डलिमण्डलीरिह ।

विशदामृतकुण्डमण्डितो धृतपुनागबलाहकोत्सवः ॥ १३ ॥

इह दक्षिणस्यां दिशि मलयो गिरिराशाचलो बलिवेश्मवन्नागलोक इव बभौ । किं

कुर्वन् । कुण्डलिना गन्धशैत्यलोभाच्चन्दनद्रुमान् परिरम्य स्थिताना नागाना मण्डली
कलयन् । 'चन्द्रे लाञ्छनता हिम हिमगिरौ क्षार जल सागरे रुद्धाश्चन्दनपादपा विष-
धरैरम्भोरुह कण्टकै ' । तथा—'दोजीहा वकगया जइ विसहरा न हुति । ता चदण
तुह छाहडी बहुसज्जण निवसति ॥' इति सूक्ते । तथा—'विषमो मलयाहिमण्डलीविष-
फूत्कारमयो मयोहित ' इति नैषधेऽपि । नागलोकोऽपि नागश्रेणीभिर्भूत । पुन
किभूत । विशदानि निर्मलान्यच्छानि श्वेतानि च यान्यमृताना नीराणा सुधानाम् ।
'अमृत गगने हृद्ये स्वर्णतोये रसायने । कैवल्ये गोरसे यज्ञशेषे माक्षीकवर्णयो ॥ सुवा-
याचितयो रत्ने चन्द्रे च' इत्यनेकार्थतिलक । कुण्डानि दृषद्वद्वनिन्नजलस्थानानि तैर्म-
ण्डितो भूषित । पाताले तु नवसख्याकानि सुधाकुण्डानि सन्तीति कविसमय । पुन
किभूत । धृता पुनागा सुरपर्णिका वृक्षविशेषा येन । पक्षे—पुमान्नागो वासुकि
सर्पराजो येन । 'धूर्जटिजटाजूट इव पुनागवेष्टितो वापीपरिसर ' इति चम्पूकथायाम् ।
पुनागो वासुकिरिति तद्विष्णुणके । तथा बलाहकाना बकानामुत्सव सुरतक्रीडागर्भ-
प्रसवादिर्यत्र वर्षाकाले हि वका. कापि नीडान् विधाय प्रावृट् उपविशन्ति । 'पावस
वक बइठा' इति लोकप्रसिद्धम् । अथ वा बलाहकाना मेघानामुत्सव उन्नमनमत्र ।
मेघा हि प्रायो गिरिषु सर्वदैव भवन्ति । 'शरत्प्रवासिता सन्त पुनस्तत्कमलासये ।
शैलादौ कापि तिष्ठन्ति तपस्यन्त इवाम्बुदा ॥' इति वचनात् । पक्षे बलाहको नागवि-
शेष । 'अथ कम्बलाश्वतरवृतराष्ट्रबलाहका । इत्यादय परे नागा ' इति हैम्याम् ।
तस्योत्सवो महो हर्षोल्लास । 'बलाहकोऽम्बुदे शैले देत्ये नागे हयान्तरे । बके च'
इत्यनेकार्थतिलक ॥

मलयो मलयद्रुसौरभैः प्रतिदिक्षु प्रहितैर्नरैरिव ।

रसिकायितदिग्विलासिनीर्निजभूमौ ह्वयतीव खेलितुम् ॥ १४ ॥

मलय पर्वत कर्ता प्रतिदिक्षु समन्तात्सर्वदिशासु । 'आप चैव हलन्ताना यथा
वाचा निशा दिशा' इति सारस्वतव्याकरणे प्रक्रियाया च । प्रहितै प्रेषितैर्नरै स्वसेव-
कपुरुषैरिव । उत्प्रेक्ष्यते—मलयद्रुमाणा श्रीखण्डपादपाना सौरभै परिमलै कृत्वा
रसिका इवाचरिता इति रसिकायितास्तादृशीर्दिग्विलासिनीर्दिगङ्गना । कर्मपदम् ।
खेलितु क्रीडा विधातु निजभूमौ आत्मीयविनोदस्थाने ह्वयत्याकारयतीव ॥

यदुदीतसमीरणः समं प्रसरच्चन्दनसारसौरभैः ।

कटकैर्विजयीव भूपतिर्निखिलाशा अपि पर्यपूरयत् ॥ १५ ॥

यस्मान्मलयाचलादुदीत प्रकटीभूत समीरण पवन । मलयानिल इति प्रसिद्ध ।
सम समकालमतिवेगवत्तया चतुर्दिक्प्रसृतत्वाच्चैकसमयमेव निखिलाशा समग्रा अपि
दिशा पर्यपूरयद्याप्नोति स्म । भरति स्मेत्यर्थ । कै । प्रसरद्भिरविरल नि सरद्भिश्चन्द-
नाना गन्धसारतरूणा सारै प्रकृष्टै सौरभै सुगन्धताभि. परिमलै । क इव । भूपति-

रिव । जयनशीलो विजयी राजा कटकै स्वसैन्ये कृत्वा सकला अप्याशाः पूरयति ॥
इति मलयाचल ॥

इह शंकरभूमिभृत्सुखंकरमाणिक्यविभुर्विभासते ।

महिषाङ्गदिगङ्गनामुखे किमु माणिक्यमयो विशेषकः ॥ १६ ॥

इह दक्षिणदिशि शंकरनामा यो भूमिभृद्राजा तस्य रोगोपशामकत्वेन सुखकर श-
र्मकर्ता माणिक्यनामा विभु स्वामी विभासते भाति । उत्प्रेक्ष्यते—महिष कासर स
एवाङ्गश्चिह्न यस्यैतावता महिषवाहनो यम । 'दृश्यते खलु बाह्यत्वे वृषस्य वृषवाहन ।
तथा धार्यत्वे वृषलाञ्छन । 'तथा वृषाङ्गोऽपि' इति हैम्याम् । तथा महिषाङ्गो महिष-
वाहनो यम तस्य दिग्दक्षिणाशा सैवाङ्गना गृहिणी तस्या मुखे माणिक्यमयो नीलरत्न-
घटितो विशेषकस्तिलक इव ॥

विविधाभरणप्रभाङ्कुरच्छुरिता या जिनमूर्तिरावभौ ।

किमशेषयशःप्रशस्तिका प्रथमार्हतनुजन्मचक्रिणः ॥ १७ ॥

या माणिक्यस्वामिनो मूर्तिं प्रतिमा आवभौ । किभूता । विविधान्यनेकप्रकाराणि या-
न्याभरणान्यलकारास्तेषां प्रभाणा कान्तीनामङ्कुरा प्ररोहास्तैश्छुरिता व्याप्ता । 'चन्द-
नच्छुरित वपु' इति पाण्डवचरित्रे । उत्प्रेक्ष्यते—प्रथम आद्योऽर्हस्तीर्थकरो वृषभदेव-
स्तस्य तनुजन्मा नन्दन स एव चक्री । एतावता भरतचक्रवर्ती तस्याशेषाणां समग्राणां
यशसा दिग्विजयसंघपतिभवनप्रमुखवर्मकर्मकरणोद्भूताद्भुतकीर्तीनां प्रशस्तिका किमु
लिखिताक्षरमालिकेव ॥ इति माणिक्यस्वामी ॥

अपि पार्श्वजिनान्तरिक्षकाभिध उच्चैः स्थितिकैतवादिह ।

किमु लम्भयितुं महोदयं भविना भूवलयात्प्रचेलिवान् ॥ १८ ॥

अपि पुनरर्थे । इह दक्षिणस्यामाशायामन्तरिक्ष इत्यभिधा नाम यस्य सोऽन्तरिक्षका-
भिव पार्श्वनामा जिनस्तीर्थकर । एतावता श्रीअन्तरिक्षपार्श्वनाथ उच्चैरन्तरिक्षे गगने
या स्थिति वसनस्थान तस्या कैतवान्मिषाद्भूवलयात्क्षोणीमण्डलात्प्रचेलिवान् प्रस्थित ।
उत्प्रेक्ष्यते—भविना स्वभक्तभव्यजन्तूनां महोदय लोकाग्रस्थान मोक्ष लम्भयितुं किमु
प्रापयितुमिव प्रचलित ॥

फणभृद्भगवन्निभालनादनुभूताहिविभुत्ववैभवः ।

स्पृहयन्भुवनद्वयीशता फणदम्भाद्भजतीव यं पुनः ॥ १९ ॥

फणभृन्नागेन्द्र फणदम्भात्स्फटाकपटात्पुनर्द्वितीयवार [यमन्तरिक्षपार्श्वनाथम्] । उत्प्रे-
क्ष्यते—भजतीव श्रितवानिव । किभूत । भगवत कमवतापसपञ्चाग्निसावनाध्यवसा-
यसमानीतार्धनिर्दग्धविदारितदारुमध्यविनिर्गतसामिप्रज्वलितशरीरमर्पस्य श्रीमत्पार्श्वना-
थस्य प्रत्यक्षतो निभालनादर्शनानुभावादनुभूत प्राप्तः अहीना नागदेवानां विभुत्व

स्वामिता धरणेन्द्रभावस्तस्य वैभवः सपद्येन सः । एकस्य नागलोकस्यैश्वर्यं प्राप्तोऽपि पुनर्भुवनद्वय्याः क्षोणीमण्डलस्वर्गलोकद्वयस्येशता स्वामित्वं स्पृहयन् । एतावता सम त्रैलोक्येशता काङ्क्षन्निवेत्यर्थः ॥ इत्यन्तरिक्षपार्श्वनाथः ॥

करहेटकपार्श्वनायको दिशि यत्रास्ति पुनः प्रभाववान् ।

न जहाति कदापि यत्पदं किमु तस्यैव समीहया फणी ॥ २० ॥

पुनरन्यतीर्थाविर्भावने । यत्र दक्षिणस्या दिशि स जगद्विख्यात करहेटकनामनि पुरे करहेटक इति नाम यस्य तादृशः पार्श्वनायकः । एतावता 'करहेडो' पार्श्वनाथः इत्यर्थः । अस्ति जागर्ति । किभूतः । प्रभाववान् अतिमाहात्म्यकलितः । यत्पदं यस्य करहेटकपार्श्वनाथस्य चरणं कदापि कस्मिन्नपि समये फणी नागेन्द्रो न जहाति न मुञ्चति । उत्प्रेक्ष्यते—तस्यैव तस्य प्रभो पदं स्थितिस्थानं मोक्षलक्षणं तीर्थं करपदवी वा तस्यैव समीहया किमु स्पृहयेव ॥

विभवैः सह माधवादयः प्रतिवर्षं यमुपेत्य भेजिरे ।

किमिदं गदितुं तनूमतां मरुतामप्ययमेव देवता ॥ २१ ॥

माधवादयः कृष्णप्रमुखा सर्वे देवाः प्रतिवर्षं सवत्सरं सवत्सरं प्रति दीपालिकादिवसे इत्यर्थादवसेयम् । विभवैः सह स्वस्वभक्तलोकपात्रवाद्यादिभिः ऋद्धिभिः सार्धं उपेत्य समीपे समेत्य श्रीकरहेटकाख्यपार्श्वनाथं भेजिरे । आत्मीयात्मीयसेवककृतनृत्यगीतवाद्यमानवादित्रादिभक्तिभिः सिषेविरे । अद्याप्येवमेव दृश्यमानमस्तीति । उत्प्रेक्ष्यते—तनूमता कलिकालजातसर्वजगज्जन्तूनामिदमत्रैव वक्ष्यमाणं गदितुं किमु कथयितुमिव । इदं किम् । तदेवाह—यदयं श्रीपार्श्वनाथो मरुतामस्मत्प्रमुखाणां समग्रगीर्वाणानां देवता अस्माकमप्ययमेवाराध्यस्ततो देवाविदेव स्वयमेव नास्मत्प्रमुखा सुरा इति ॥ इति श्रीकरहेटकपार्श्वनाथः ॥

इह जीवत आदिमप्रभोरपि सोपारकनामपत्तने ।

प्रतिमा प्रतिभासते सता वृषकोशः प्रकटः किमार्षभेः ॥ २२ ॥

अपि पुनरिह दक्षिणस्या जीवत प्राणान् धारयत । विद्यमानस्येत्यर्थः । आदिमप्रभो प्रथमतीर्थकरस्य ऋषभदेवस्य । जीवत्स्वामिन इत्यर्थः । प्रतिमा मूर्तिरार्षभेर्भरतचक्रिणः प्रकटः स्पष्टो जगज्जननयननीयमानो वृषकोशः पुण्यभाण्डागारः किमु सता सज्जनानां प्रतिभासते हृदये स्फुरति । कस्मिन् । सोपारक इति नाम यस्य तादृशे पत्तने पुटभेदने ॥ इति जीवत्स्वामी ॥

दिशि बिभ्रति यत्र भूभृतः श्रियमभ्रंकषशृङ्गसङ्गिनः ।

किमु शक्रभयद्रुताः श्रिताः कुलशैला जिनमन्तरिक्षकम् ॥ २३ ॥

यत्र दक्षिणस्या दिशि भूभृतोऽनेके शैलाः श्रियः शोभा बिभ्रति धारयन्ति । कि-

भूता । अभ्रमाकाश कषन्त्युल्लिखन्ति घर्षयन्तीत्यभ्रकषाणि । गगनालिङ्गीनीत्यर्थः । शृ-
ङ्गाणि शिखराणि तेषां सङ्गो विद्यते येषाम् । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्यात्मनो विद्वेषी शत्रु
इन्द्रस्य भयेन विद्रुता पलायिता नष्टा सन्तः अन्तरिक्षक श्रीअन्तरिक्षनामानम् ।
स्वार्थे क । जिन जगन्नाथ श्रिता सेवमाना कुलाचला किमु मन्दरहरगिरिप्रमुखा
पर्वता इव ॥

विपिनानि पदे पदे मुदं ददते यत्र विलासशालिनाम् ।

स्फटिकाचलमूर्धनीव यद्विजितं चैत्ररथं ह्रिया ययौ ॥ २४ ॥

यत्रापाच्या दिशि विपिनानि विस्मेरद्विविधवृक्षलक्षकमनीयानि वनानि पदे पदे
स्थाने स्थाने मुदं हर्षं ददते विश्राणयन्ति यच्छन्ते । केषाम् । विलासेन कृयादिभिः
सम पुष्पावचयासवपानगीतनृत्यनिधुवनादिविनोदेन विविक्क्रीडया शालन्ते शोभन्ते
इत्येवशीला । तरुणीसखतरुणा इत्यर्थः । तेषाम् । यैर्वनैर्विजितं स्वशोभया पराभूतं
सचैत्ररथं धनदवनम् । उत्प्रेक्ष्यते—ह्रिया लजया कृत्वा स्फटिकाचलमूर्धनीव कैलासशि-
खरशिरसि । 'रजताद्रिस्तु कैलासोऽष्टापद स्फटिकाचल' इति हैम्याम् । ययौ
गतमिव ॥

सरितो दिशि यत्र निम्नगेत्यपवादं व्यपनेतुमात्मनः ।

स्थितवत्य उपेत्य सेवितुं किमपाचीगृहनाभिसंभवम् ॥ २५ ॥

यत्र याम्या दिशि हरिति सरितोऽनेका नद्य उपेत्यागत्य स्थितवत्य न्यवसन् । स्थिता
इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—अपाच्या दक्षिणस्या दिशि गृहं स्थानं वसतिर्यस्य तादृशं नाभेर्नृ-
पात्संभव उत्पत्तिर्यस्य ऋषभदेव माणिक्यस्वामिनमयवा सोपाकरकपत्तनावीशजीवत्स्वा-
मिनम् । आदिदेवमित्यर्थः । सेवितुं स्थितवत्य इव । किं कर्तुम् । आत्मनः स्वस्य निम्नं
गच्छन्तीति निम्नगा नीचगामिनीत्यपवादं निन्दामपयशो वा व्यपनेतुमपाकर्तुम् ॥

पिबतान्मुनिरेष नोऽपि मा पतिवत्पर्वतजा भयादिति ।

दिशि यत्र समेत्य संश्रिता इह जीवद्वृषभाङ्गपारगम् ॥ २६ ॥

(इति पाठान्तरम्)

यत्र दक्षिणस्या दिशि पर्वतजा नद्य । उत्प्रेक्ष्यते—इति भयादिव समेत्यागत्य जी-
वद्वृषभाङ्गपारगं विद्यमानद्वृषभाङ्गपारगं जिनम् । जीवत्स्वामिनमित्यर्थः । इति किम् । एष
मुनिरगस्तिः पतिवत्समुद्रमिव नोऽस्मानपि मा पिबतात् । अगस्तिर्मुनिर्भगवास्तु मुनी-
श्वरोऽस्ति । अतः श्रयणं भयापहम् । इति पाठान्तरे ॥ इति गिरिवननद्य ॥

मणिकाञ्चनकल्पनन्दनैर्विबुधैः श्रीहरिभिः सजिष्णुभिः ।

इह देवगिरेरिव श्रियं कलयन्देवगिरिर्विरोचते ॥ २७ ॥

इह दक्षिणस्या दिशि देवगिरिर्नाम नगरं विरोचते भाति । उत्प्रेक्ष्यते—देवगिरे-

मेरोः श्रिय शोभा कलयन् दधत् । 'मेरुमस्तके हि स्वर्गोऽस्ति' इति कविसमय ।
 'वरण कनकस्य मानिनीं दिवमङ्गादमराद्रिरागताम् । घनरत्नकपाटपक्षति परिरभ्यानुन-
 यन्नुवास याम् ॥' इति नैषधे । तेन मेरौ स्वर्गवर्मारोपणे न दोष । कै कृत्वा । मणिभी
 रत्नै काञ्चनै सुवर्णै कल्पै सदाचारै कल्पवृक्षैश्च । नन्दनै पुत्रै नन्दनवनेन च । एते
 धर्मास्तु मेरौ । अथ स्वर्गधर्मा । विबुधैर्विविधैर्विशिष्टैर्वा बुधै विशारदै देवैश्च श्री-
 युक्ताः शोभाकलिता हरयः तुरगा गजा वा यत्र । पक्षे लक्ष्म्या सयुतो हरिर्विष्णुर्यत्र
 सहजिष्णुभिर्जयनशीलैर्भटैर्वर्तते । पक्षे सहजिष्णुना पुरदरेण विद्यन्ते ये ते ॥

क्वचिदिन्दुमणीमिथोमिलद्बहलोद्द्योतनिकेतकैतवात् ।

ध्रुववासविधानकाङ्क्षिणी वसति स्वैरमिवात्र पूर्णिमा ॥ २८ ॥

अत्र देवगिरिनगरे ध्रुवः शाश्वतो यो वासः स्थितिर्वसन तस्य यद्विवान निर्माण त-
 त्काङ्क्षति अभिलषतीत्येवशीला । उत्प्रेक्ष्यते—स्वैर स्वेच्छया पूर्णिमा पूर्णचन्द्रा राका-
 तिथी रात्रिरूपा वसति तिष्ठतीव । कस्मात् । क्वचित्कुत्रापि स्थाने इन्दुमणीना चन्द्र-
 कान्तरत्नाना मिथ परस्पर मिलनेकीभवन् यो बहलो निबिड उद्द्योत प्रकाशो येषां
 तादृशाना निकेताना गृहाणा कैतवाच्छलात् । 'शङ्के स्वसकेतनिकेतमाप्ता' इति नैषधे ॥

अपि नीलमणीनिकेतनच्छलभूछायमुदित्वरैः करैः ।

द्विषतेव विवस्वता पुरी शरणीकृत्य युयुत्सु लक्ष्यते ॥ २९ ॥

अपि पुन कुत्र चन्दनप्रदेशे नीलमणीनिबद्धाना निकेतनाना मन्दिराणां छल कपट
 यस्य । [नीलमणीना मन्दिराणि क्वापि दृश्यन्ते । यथा नैषधे—'नृपनीलमणीगृहत्विषामुप-
 धेर्यत्र भयेन भास्वत । शरणार्थमुवास वासरेऽप्यसदावृत्युदयत्तम तम ॥' इति ।] तादृश
 भूच्छायमन्धकारमुदित्वरैरुच्चैरुद्यद्भिर्निर्गच्छद्भिः करैः किरणैर्हस्तैश्च । उत्प्रेक्ष्यते—द्विषता
 स्ववैरिणा विवस्वता सूर्येण सार्धम् । 'मित्रो ध्वान्तारातिरब्जाशुहस्त' इति हैम्याम् । यथा
 हि । 'ध्वान्ते रविचन्द्रदीपका वैरिणो वर्ण्यन्ते' इति कविकल्पलतायाम् । युयुत्सु यो-
 दुमिच्छु इव लक्ष्यते । अर्याजनैर्ज्ञायते । दृश्यते सग्राम चिकीर्षु तावदुच्चैः करः स्यात् ।
 महतः कस्यापि पार्श्वे गृहीत्वा महस्विना सम सग्रामो विवीयते । अयं शास्त्रविवि ।
 अत एव किं कृत्वा पुरी देवगिरिनगरीं शरणीकृत्य स्वाश्रया(य) विवाय ॥ इति देव-
 गिरिनगरम् ॥

नगरे नगरन्ध्रकृद्युतो नितरां दिद्युतिरेऽत्र नागराः ।

मरुतां तनुगर्वस्वर्वताकृतये विश्वकृता कृता इव ॥ ३० ॥

अत्र देवगिरौ नगरे पुरे नागराः पौरयुवानो नितरामतिशयेन दिद्युतिरे विभान्ति
 स्म । किंभूता । नगस्य क्रोञ्चाचलस्य रन्ध्रं छिद्रं करोतीति नगरन्ध्रकृत्स्वामिकार्तिकस्त-
 द्वद्वयुत्कान्तिर्येषाम् । 'पाददीधितिकद्युतियुत' इति हैम्याम् । 'सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः'
 इति रघौ । 'स्कन्देन बाणैः कृत्वा क्रोञ्चाचलं सच्छिद्रं विहितोऽस्तीति' पट्टिकायाम् ।

तथा । 'स्कन्देषु वृन्दनिवरैर्विवरीतुकाम कौञ्चाचल ' इति नैषधे । स्वामिकार्तिकशरगशि-
कृतविवरैश्छिद्रैरिति तद्वृत्ति । उत्प्रेक्ष्यते—मरुता देवाना तनूना गर्व शरीरसौन्दर्या-
तिशयाभिमान तस्य खर्वता कुब्जीकरणत्व नीचैः कारिता तिरस्कारकत्व तस्य कृतये
कार्यार्थ विश्वकृता जगत्सृष्टिविधायिना ब्रह्मणा कृता स्वय निष्पादिता इव ॥

रतिकान्तकलावहेलि यत्तरुणानां तनुरामणीयकम् ।

स्पृहयन्त इवात्मजन्मनो निकटेऽहर्निशमासते सुराः ॥ ३१ ॥

सुरा देवा आत्मजन्मनो ब्रह्मण । 'नाभिपद्मात्मभूरपि' इति हैम्याम् । निकटे म-
मीपे अहर्निश नित्यमासते तिष्ठन्ति । 'आसते शतमविक्षिति भूपास्तोयराशिरसि ते
खलु कूपा ' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—यत्तरुणाना देवगिरिनगरवयस्थनागराणा रतिका-
न्तस्य स्मरस्य कला रूपशोभालक्षणाम् । अथ वा भावप्रवाननिर्देशात्कलत्व मनोज्ञतामव-
हेलयत्येवशील तनूना शरीराणा रामणीयक सौन्दर्य स्पृहयन्त इव अर्थादभ्यर्चयन्त
इव ॥ इति देवगिरिनागराः ॥

प्रतिपञ्चमुखं द्विषं व्ययीकृतसर्वास्त्रतया निरायुधः ।

अकरोदिदमङ्गनामिषादिव हेती शतशः स्मरः पुन ॥ ३२ ॥

स्मर काम इदमङ्गनाना देवगिरिनागरीणा मिपात्कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—शतश
बहूनि शतानि हेती प्रहरणान्यकरोदिव चकार । किभूत स्मर । द्विष स्ववैरिण प-
ञ्चमुखमीश्वर प्रति । 'पञ्चमुखोऽष्टमूर्ति' इति हैम्याम् । व्ययीकृतानि सग्रामे क्षिप्तानि
सर्वाणि समस्तान्यस्त्राण्यायुधानि येन तत्त्वेन । मुख मुख प्रत्येकैक वाण क्षिप्तम् । एव
पञ्चानामपि शराणा क्षेपान्निरायुवीभूत शस्त्ररहितो जात ॥

स्वपदाभिककुम्भसभवं तपसः पातयितु मरुद्व(त्व)ता ।

इदमिन्दुमुखीमिषादिह प्रहिताः स्वर्गिमृगीदृशः किमु ॥ ३३ ॥

मरुद्व(त्व)ता इन्द्रेण इदमिन्दुमुखीनामस्य देवगिरिनगरस्य चन्द्राननाना नागराणा
मिषाद्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—इह दक्षिणस्या दिशि स्वर्गिमृगीदृश अप्सरस किमु प्र-
हिता प्रेषिता इव । कि कर्तुम् । स्वपदमिन्द्रपदवी देवलोकैश्वर्य तस्याभिक तपसा का-
मयितार कुम्भसभवमगस्ति तापस तपस उपवासादिकष्टकरणात्पातयितु भ्रशयितुम् ।
इद तु शैवशासनानुयायि वचो न जैनपरम् । कविसमग्रानुगामित्वादुक्तमित्यभ्यूह्यम् ॥

जलकेलिगलद्विलेपनीकृतगोशीर्षविलोचनाञ्जनै ।

पुरि पद्मदृश प्रकुर्वते गृहवापीर्विधुमण्डलीरिव ॥ ३४ ॥

पुरि देवगिरिनगरे पद्मदृश कमललोचना स्त्रिय गृहवापीर्जलभवनविलासदीर्घिका
विधुमण्डली शशिविम्बानीव प्रकुर्वते । मण्डलशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु । 'कुवलयमृणालम-
ण्डलाः' इति लिङ्गानुशासने । मण्डल, मण्डलम्, मण्डली । तथा च नैषधे—'शुद्धा सु-

धादीधितिमण्डलीयम्' इति । कै' । जलकेलिषु सलिलक्रीडासु गलद्भिर्जलसंगमात् द्र-
वीभूय निष्पतद्भि' । विलेपनीकृतैरङ्गरागता प्रापितैर्गोशीर्षैश्चन्दनद्रवैस्तथा विलोचनाना
नेत्राणामञ्जनै कज्जलै । कृत्वा चन्दनद्रवानुषङ्गात्सलिलानामौज्ज्वल्य तथा कुत्रचिच्छा-
ञ्छनस्थाने कज्जलकालिमा जायते इति शशाङ्कसादृश्यम् ॥ इति देवगिरिनगराङ्गना ॥

पुरि तत्र निजामसाहिनाजनि राज्ञा रघुसूनुनीतिना ।

तदुपात्तदिशा महस्विना विदधे येन यमोऽपि दण्डभृत् ॥ ३५ ॥

तत्र तस्या पुरि देवगिरिनगर्या निजामसाहिरिति नाम यस्य तादृशेन राज्ञा नृपेण
अजनि जज्ञे । किभूत । रघुसूनु रामचन्द्रस्तद्वतीतिन्यायो यस्य । येन महस्विना प्रबल-
प्रतापवता निजामसाहिना यम सूरसूतोऽपि दण्ड राजदेयाश वेत्रयाष्टि वा बिभर्तीति
दण्डभृत् विदधे । दण्डदाता प्रतीहारो वा कृत इत्यर्थ । किभूतेन येन । तस्य यमस्य
उपात्ता गृहीता स्वायत्तीकृता दिग्दक्षिणा हरिद्येन । 'यमः कृतान्त पितृदक्षिणाशाप्रे-
तात्पतिर्दण्डधरोऽर्कसूनु' इति हैम्याम् ॥

समरे निहतारिनिष्पतद्रुधिराह्वासवपानकाङ्क्षया ।

यदसिच्छलतः स्फुटीकृता रसनेवाम्बुजबन्धुसूनुना ॥ ३६ ॥

यस्य निजामसाहेरसि खङ्गलता तस्य छलत कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—अम्बुजाना प-
द्माना बन्धुर्मित्र सूर्यस्तस्य सूनुना पुत्रेण यमेन रसना जिह्वेव प्रकटीकृता । कया । समरे
अर्थान्निजामसाहेर्वैरिभि सम संग्रामे निहता व्यापादिता येऽरयो वैरिवीरास्तेषा निष्प-
तन्ति शरीरान्नि सरन्ति यानि रुधिराणि तान्येवाह्वा नाम यस्य तादृश आसव सीधुदे-
शविशेषजा मदिरा राजादीना पानयोग्या न विकलताकृत् । सोऽधुना द्वीपबन्दिरादौ
'सरसक' इत्युच्यते । तस्य पान तस्य काङ्क्षया वाञ्छयेव ॥

महसा निवहे महीशितुर्विपिनेऽपि स्फुरितेऽतिदुःसहे ।

दवधीविधुरास्तदाश्रयाः प्रतिपक्षाः सरसीर्जगाहिरे ॥ ३७ ॥

महीशितुर्निजामसाहेर्महसा प्रतापाना निवहे समूहे । 'स राशिरासीन्महसाम्' इति
नैषधे । महसा भूयस प्रतापानामिति तद्वृत्ति । विपिने अरण्येऽपि स्फुरिते प्रकटीभूते
सति तदेव विपिनमाश्रय स्थान येषामरण्यस्थायिन प्रतिपक्षास्तद्वैरिण दवधीविधुरा
वने दावानलोऽय लम्प इति बुद्ध्या व्याकुलीभवन्त सन्त । 'देव त्वद्भुजदण्डदर्पगरिमोद्री-
र्णप्रतापानलज्वालापक्लिमकीर्तिपारदघटीविस्फोटिता बिन्दव' इति खण्डप्रशस्तौ । प्रता-
पस्य वह्निरूपत्वम् । सरसीर्महातटाकान् महत्सर सरसीर्जगाहिरे अवगाहितवन्त ।
स्वप्रज्वलनभयेन सरसीषु प्रविष्टा इत्यर्थ । किभूते निवहे । अतिशयेन दु खेन सह्यते
इत्यतिदुःसहे सोढुमशक्ये । इयमत्र गर्भितोत्प्रेक्षा ॥

अहिता अमुना पराहता वनवासाः शबरा इवाभवन् ।

अबला इव वातवेपितादपि पत्राद्विपिनेऽपि बिभ्यिरे ॥ ३८ ॥

अमुना निजामसाहिना पराहता सग्रामे परिभूता अहिता वैरिभूपाला शबरा भि-
ल्ला इव । 'इति शबरवधूभिस्तर्क्यमाणान्यवापु सपदि विपुलविन्ध्यस्कन्धमध्य बलानि'
इति चम्पूकथायाम् । शबरवधूभिर्भिल्लीभिरिति तद्विष्पनके । वने वासो वसन स्थिति
र्येषा तादृशा अभूवन् जाता । अपि पुनर्भातिविद्रुता सन्त भयाकुलिता वा विपिने
वनेऽपि वातवैपितान्मारुतान्दोलितात्पत्रात्पर्णादपि आगतोऽस्मत्पृष्ठे शत्रुरिति विया अ-
बला नि सत्त्वा इव स्त्रिय इव वा विभियरे महाभयमलभन्त । भीता पलायन्ते स्मेत्यर्थः ॥
इति देवगिरिस्वामिनिजामसाहि ॥

अथ तत्पुरि देवसीत्यभूदभिधानेन वणिक्पुरंदरः ।

विधिनास्य यशःप्रशस्तयोऽम्बरपट्टे लिखिता इवोडवः ॥ ३९ ॥

अथेति दिगादिनृपवर्णनानन्तरम् । अथ वा या श्राद्धीहीरगणिस्तत्र द्विजपार्श्वे पठतो
द्रव्यादिदायिनी भाविनी तदम्पत्योर्वर्णनारम्भः । 'अथ अयो समुच्चये मङ्गले सशयार-
म्भाविकारान्तरेषु च' इत्यनेकार्थः । तस्यां पुरि सा चासौ पूश्च तत्पूस्तस्या तत्पुरि देव-
गिरिनगरे । देवसीत्यभिधानेन नाम्ना वणिजा नैगमानां मध्ये पुरंदर श्रेष्ठ अभूत्सजातः ।
उत्प्रेक्ष्यते—विधिना ब्रह्मणा अस्य देवसीव्यवहारिणो यशःप्रशस्तयः कीर्तिवर्णनमयाक्ष-
रमालिका अम्बरमाकाशरूपः पट्टस्तस्मिन् लिखिता उत्कीर्णा इव । प्रशस्तयः का. । उडव-
स्तारका एव । तारकस्वरूपेण वा प्रशस्तिवर्णाः । 'ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य या शतमध्यासत
तत्सखीजनः' इति नैषधे । 'जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमा' सत्यः श-
तशोऽप्सरसः सुराङ्गना अवतीर्य आकाशादागत्य या नगरीं कुण्डिनपुरमध्यासताश्रयन्ति
स्म । अप्सरसः कस्तत्सखीजनो दमयन्त्या वयसीजनरूपः इत्यर्थः । इति तद्वदिदमपीति ॥

सुरयौवतजैत्रकान्तियद्युवतीसंगमरङ्गिमानसः ।

वपुरस्य दधत्सुधाशनः किमु कोऽप्यत्र पुरेऽवतीर्णवान् ॥ ४० ॥

अत्र देवगिरौ कोऽप्यनिर्दिष्टनामा सुधाशनो देवः । उत्प्रेक्ष्यते—अवतीर्णवान् किमु ।
अवतारः गृहीतवानिव । किं कुर्वन् । अस्य देवसीव्यवहारिणः वपुः शरीरं दधत् बि-
भ्राणः । किंभूतः । सुधाशनः सुराणां देवानां यौवतस्य युवतीसमूहस्य जैत्राजयनशीला
कान्तिः शोभा यासां तादृशीभिर्यस्य नगरस्य युवतीभिस्तरुणीभिः । समः सगमे रङ्गो रा-
गोऽस्यास्मिन्वा । 'रङ्गो नृत्ययुद्धवो । रागे च' इत्यनेकार्थः । तादृज्ज्ञानसः मनो यस्य ॥

कमनः कमनात्प्रसेदुषः सह सारङ्गदृशोपशीलितात् ।

भव साङ्ग इतीव तन्निभाद्वरमाप्याजनि मूर्तिमानिह ॥ ४१ ॥

कमनः कामस्तन्निभादेवसीच्छलात् । उत्प्रेक्ष्यते—इह देवगिरौ मूर्तिमान् शरीरयुक्तः
इवाजनिः सजातः । किं कृत्वा । सारङ्गदृशा सह स्वप्रियया रत्या सार्धम् । उपशीलितात्स-

मीप समेत्यातिशयेन सेवितादत् एव प्रसेदुष प्रसन्नीभूतात्कमनाद्विधातु । 'कमन' क-
लाकेलिरनन्यजोऽङ्गज ' इति कन्दर्पनामानि । तथा । 'कमन' सात्त्विकवेदगर्भा ' इति
विधातुर्नामानि । इदं द्वयमपि हैम्याम् । सकाशादित्यमुना प्रकारेण वरमिष्टाभिलाषसि-
द्धिमाप्स्य लब्ध्वा । इति किम् । यत् हे स्मर, त्वं साङ्गो भव अस्मत्प्रभावात्सशरीरं सप-
द्यस्वेति ॥ इति देवसीव्यवहारी ॥

अदसीयविलासवत्यभूजसमादेव्यभिधानधारिणी ।

विधिना प्रहितेव वर्णिका त्रिदिवस्त्रैणदिदक्षुभूस्पृशाम् ॥ ४२ ॥

अदसीया देवसीव्यवहारिसबन्विनी । 'मुखविधुमदसीय सेवितु लम्बमान' इति
नैषवे । विलासवती गृहिणी जसमादेवीत्यभिधानं नाम वरत्येवशीला वारिणी अभूत्स-
जाता । उत्प्रेक्ष्यते—त्रिदिवस्य स्वर्गलोकस्य स्त्रैण देवाङ्गनावर्गं द्रष्टुमिच्छवो दिदक्षव-
स्तादृशा भूस्पृशो मानवास्तेषां कृते विविना ब्रह्मणा वर्णिकेव प्रहिता भूमौ प्रेषिता ॥

कमलान्मधुपानुषङ्गिनः सितकान्तेरुदयास्तदूषितात् ।

कमलाब्धिशयालुकेशवादतिखिन्नेव तमेत्य भेजुषी ॥ ४३ ॥

कमला लक्ष्मीरेत्यागत्य तं देवसीव्यवहारिणं भेजुषीं सेवते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अति-
खिन्नेव अतिशयेन खेदं प्राप्तवतीव । कस्मात् । कमलाद्वासपद्मात् । किंभूत । मधु-
पैर्मद्यपैः षट्पदैर्वा अनुषङ्गो मिलनस्य । पुनः कस्मात् । सितकान्तेश्चन्द्रात् । किंभूतात् ।
उदयेन स्तोकस्तोकोद्गमेन अस्तेन नाशेन दिने दिने मरणेन क्षीयमाणशरीरतया च दू-
षिताहुष्टीकृतात् । सतापितादित्यर्थः । अब्धौ समुद्रे पञ्चविषयभोगसुखानुभवनसमयप-
योवरफाले शयालोर्निद्राशीलात् केशवात्स्वभर्तुर्नारायणात् । उद्विग्नैत्यर्थः ॥

वृषभध्वजगोधिलोचनानलकीलाशलभं स्ववल्लभम् ।

अवगत्य रतिः परं जनुर्निभतोऽस्याः प्रतिपेदुषी किमु ॥ ४४ ॥

रतिः स्मरकान्ता अस्या जसमादेव्या निभतो व्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—परमन्यजन्मा-
वतारं प्रतिपेदुषी किमु प्रतिपन्नेव । किं कृत्वा । वृषभध्वजः शंकरः । 'धार्या ध्वजास्त्रपा-
ण्यङ्गमौलिभूषणभृन्निभा' इति हैमीवचनात् । वृषभस्य वार्यत्वेन शभोर्वृषभध्वजत्वम् ।
तस्य गोविर्भालम् । 'भाले गोध्यलिकालीका' इति हैम्याम् । तस्य तत्र वा यल्लोचनं
तृतीयं नयनं तस्यानलो वह्निस्तस्य कीलासु ज्वालासु शलभं पतङ्गम् । भस्मीभूतमित्यर्थः ।
वल्लभं निजजीवितेश्च काममवगत्य ज्ञात्वा ॥

अनया निजरूपसंपदाभिभवं लम्बितया श्रिया किमु ।

जलधौ विमनायमानया दयितोपास्तिनिभादगम्यत ॥ ४५ ॥

अनया जसमादेव्या निजस्यात्मनो निजया आत्मीयया वा रूपसंपदां शरीररामणी-
यकवैभवेन अभिभवपराजयं लम्बितया प्रापितया श्रिया हरिप्रियया । उत्प्रेक्ष्यते—

विमनायमानया विरुद्धमनस्कीभवन्त्या लजाखेदचिन्तादु खोदयमनुभवन्त्या । 'चिराय तस्थे विमनायमानया' इति नैषधे । 'भृशादिभ्यो भुव्यच्चेर्लोपश्च हल.' । 'भृशादिभ्यो भुव्यर्थे भवत्यर्थे क्यङ् स्यात् । न तु च्यन्तेभ्य अन्तहल् लोपश्च । अभृशौ भृशो भवतीति भृशायते । नोन्मना उन्मना भवतीत्युन्मनायते' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । तथा न विमना विमना भवतीति विमनायते इति विमनायमाना तथा विमनायमानया सत्या दयितोपास्तिनिभात्समुद्रशायिन कान्तकृष्णस्य सेवाकपटाजलवौ समुद्रे अगम्यत गता । ब्रूडितेत्यर्थः ॥ इति जसमादेवी ॥

युवसमदकन्दलीघनैः कमलानन्दनकेलिशीलनैः ।

त्रिदशाविव दम्पती सुखं वसतस्तौ त्रिदिवोपमे पुरे ॥ ४६ ॥

तौ दम्पती जसमादेवीदेवसीव्यवहारिणौ पुरे देवगिरिनगरे सुखं यथा स्यात्तथा वसतस्तिष्ठत । किभूते पुरे । त्रिदिवस्य देवलोकस्य उपमा सादृश्यं यस्य । तौ काविव । त्रिदशाविव । यथा देवीदेवौ त्रिदिवे स्वर्गे सुखं वसतः । देवी च देवश्च देवौ, त्रिदशी च त्रिदशश्च त्रिदशौ । 'पुमान् स्त्रिया' । 'स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते, न स्त्री । ब्राह्मणी च ब्राह्मणश्च ब्राह्मणौ' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । तथा 'आदेश्च द्वन्द्वे' । 'द्वन्द्वे आदिपदस्य लोपो भवति । माता च पिता च पितरौ पुत्रौ वशुरौ' इत्यादि सारस्वतव्याकरणेऽपि । सुखं वसतः तिष्ठतः । कमलाया लक्ष्म्या नन्दन पुत्र कामस्तस्य केलिक्रीडा तस्या शीलनैः सेवनैः पञ्चविषयभोगानुभवनैः । किभूतैः । यूना तरुणानां समदा आनन्दास्ते एव कन्दल्य कन्दास्तेषु घनैर्मधैः । तदुल्लासकारकत्वात् । 'कन्दल तु नवाङ्कुरे कलध्वनावुपरागे मृगमदे कलापे पञ्चस्वपि त्रिलिङ्गः । कदलीद्रुमे रम्भाख्ये' इत्यनेकार्थस्तदवचूरिश्च । अथ वा तरुणानां हर्षा एव कन्दल्य रम्भास्तेषु घनैः जलधरैः ॥

परशासनशास्त्रमालिकामयमध्येतुमथो गुरोर्गिरा ।

व्रजति स्म कदापि दक्षिणा हरितं हीरमुनिर्दिनेशवत् ॥ ४७ ॥

अथो हीरहर्षगणेरविकारप्रारम्भे अथ पूर्वव्यावर्णितो ग्रन्थनायको वा हीरमुनिर्हीरहर्षनामा मुनिर्गणिराचार्योपाध्यादीनां सर्वेषां साधुसज्ञा तु जागर्त्येवेति दक्षिणा हरितं प्रति व्रजति स्म । कदा । कदापि कस्मिन्नपि समये । कया । गुरोर्विजयदानसूरेर्गिरा वाचा । किं कर्तुम् । परेषां शैवादीनां शासनानि दर्शनानि तेषां तत्सवन्विना शास्त्राणां प्रमाणग्रन्थानां मालिका श्रेणीमध्येतु पठितुम् । परशासनोपनिषदं ज्ञातुमित्यर्थः । किवत् । दिनेशवत् । यथा भास्वान्दक्षिणा दिशः प्रति याति ॥

अथ देवगिरावगम्यताखिलतर्काधिजिगांसयामुना ।

पटलेन पयोमुचां यथा सलिलादानसमीहयाम्बुधौ ॥ ४८ ॥

अथेति दक्षिणदिग्गमनानन्तरममुना हीरहर्षगणिना देवगिरौ नगरे अगम्यत गतम् ।

कया । अखिल समस्त यत्तर्कशास्त्र तस्याधिजिगासया पिपठिषया । 'इडश्च' । 'इड् अध्ययने' इत्यस्य धातोर्गमिरादेश स्यात्सनि परे । 'अधिजिगासते' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । केनेव । पटलेनेव । यथा पयोमुचा मेघानां पटलेन वृन्देन सलिलानां जलानामादानं ग्रहणं तस्य समीहया वाञ्छया अम्बुवौ समुद्रे गम्यते । 'अवदैर्वारिजिघृक्षयार्णवगतै साकं व्रजन्ती मुहुः' इति खण्डप्रशस्तौ । अत्र यथा इवार्थे ॥

पठता सह धर्मसागरव्रतिना देवगिरौ गुरुर्व्यभात् ।

सहकार इव प्रफुल्लता नवराजादनशाखिना वने ॥ ४९ ॥

सह पठता सार्वभवीयानेन धर्मसागरनाम्ना व्रतिना मुनिना गुरुर्भाविनिभूतोपचारात् हीरहर्षगुरुर्व्यभात् वभासे । क इव । सहकार इव । यथा प्रफुल्लता विकसता नव प्रत्यग्र राजादन प्रियाल एव शाखी द्रुम तेन वने सहकारो माकन्दो भाति ॥

पुरसंघजनैः प्रणोदितैरमुनाधीतिकृते कृतीन्दुना ।

प्रतिबिम्बमिव द्युसद्गुरोर्द्विज आनायि ततः कुतश्चन ॥ ५० ॥

ततस्तदनन्तरं कृतीन्दुना कोविदचन्द्रेण अमुना हीरहर्षगणिना अधीतिकृते स्वाध्ययनकार्याय प्रणोदितैः प्रेरितैः पुरस्य देवगिरिनगरस्य संघजनैः श्राद्धवर्गैः । यद्यपि साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपचतुर्विधं सद्यः प्रोच्यते तथाप्यत्राविकारात्सप्रदायाद्वा श्राद्धवर्ग एव सद्यः कुतश्चनं कस्मादपि स्थानात् द्विजो ब्राह्मण आनायि आकारितः । उत्प्रेक्ष्यते—द्युसद्गुरोर्वृहस्पते प्रतिबिम्बमिवापररूपमिव ॥

तदुपान्तभुव व्यभूषयत्स ततो गौरगरुद्विजः ।

अवतीर्ण इवारविन्दभूः स्वकसर्गस्य दिदक्षया क्षितौ ॥ ५१ ॥

तत आकारितानन्तरं स द्विजः पण्डितब्राह्मण तस्य हीरहर्षगणेरुपान्तभुव समीपक्षोणी व्यभूषयदलचकार प्रभो पार्श्वे समायात । किंभूतो द्विजः । गौरगरुत्सितच्छदो हसस्तद्वन्मन्यरा गतिर्यस्य । उत्प्रेक्ष्यते—स्वकस्यात्मना कृतस्य सर्गस्य भूलोकसृष्टेः दिदक्षया द्रष्टुमिच्छया क्षितौ पृथिव्यामवतीर्णवानायात अरविन्दभूर्ब्रह्मेव ॥

द्विज विशिनिष्ठि—

मृडमूर्धनिवाससौहृदान्मिलितुं जङ्घसुतामिवागताम् ।

अलिकार्धविधुं ललाटिका वहमानो हरिचन्दनोद्भवाम् ॥ ५२ ॥

किं कुर्वाणो द्विजः । हरिचन्दनोद्भवा श्रीखण्डनिर्मिता ललाटिका ललाटालंकारम् । तिलकमित्यर्थः । 'ललाटिकासीमनि चूर्णकुन्तला' इति नैषधे । लोके 'आडि' इति प्रसिद्धा । वहमानो विभ्राणः । उत्प्रेक्ष्यते—मृडस्येश्वरस्य मूर्धनि मस्तके निवास एकत्र स्थितिर्निवसनं तेन यत्सौहृदं मैत्री तस्मादलिकार्धविधुं भालरूपार्धचन्द्रम् । 'लब्धार्धचन्द्र ईश' इति चम्पूकथायाम् । मिलितुमागता जङ्घसुता गङ्गामिव ॥

उपवीतमुरःस्थलान्तरे कलयश्चन्दनचन्द्रचर्चितः ।

दमनो मदनस्य भूतिमानिव वैकक्षितकुण्डलीश्वरः ॥ ५३ ॥

पुनः किं कुर्वन् । उर स्थले वक्षोमये उपवीन यज्ञसूत्र कलयन् दधत् । किभूतः । चन्दन मलयतरुद्रवस्तथा चन्द्र कर्पूरस्ताभ्या कृत्वा चर्चित कृताङ्गराग । उत्प्रेक्ष्यते—
वैकक्षः उत्तरासङ्ग सजातोऽस्य प्रावारीकृतो वा कुण्डलीश्वर शेषनागाधिपो यस्य येन वा । ‘शेषो नागाधिपोऽनन्तो द्विसहस्राक्ष आलुक् । स च श्यामोऽथ वा शुक्ल सित-
पङ्कजलाञ्छनः ॥’ इति हैम्याम् । तथा भूतिमान् भस्मोद्गलन । मदनस्य कामस्य दमनो
वैरी शत्रुरिव ॥

शिववाङ्मयवार्धिपारगोऽनिशषट्कर्मरतो व्रतान्वितः ।

वपुरभ्युपगत्य वर्णिनामिव धर्मः प्रकटीभवन्नयम् ॥ ५४ ॥

अथ वा वपुः शरीरमभ्युपगत्याङ्गीकृत्य प्रकटीभवन्नक्षिलक्ष्य सपद्यमान वर्णिनां
ब्राह्मणानामय प्रत्यक्षो धर्म इव । किभूतो द्विजः । शिववाङ्मय नैयायिकशास्त्र तदेव
वार्धिः समुद्र तस्य पारगः पारगामी । पुनः किभूतः । अनिश षट्सु अध्ययनाध्यापन-
यजनयाजनदानप्रतिग्रहलक्षणेषु कर्मसु ब्राह्मणोचितेषु कायेषु रत आसक्तः । पुनः कि-
भूतः । व्रतैर्ब्राह्मणानां शैवशासनस्य वा उचितैर्योग्यैर्नियमैरन्वितः कलितः । अत एव
तद्वर्मोत्प्रेक्षा ॥ इत्यादिचतुर्भिः कलापकेन पण्डितद्विजवर्णनम् ॥

स पपाठ सधर्मसागरोऽखिलनैयायिकवाङ्मय ततः ।

समयं सुगतस्य सौगतादिव हंसः परमादिहंसयुक् ॥ ५५ ॥

स हीरहर्षगणिस्ततो ब्राह्मणादखिल समग्र नैयायिकानां वाङ्मय शास्त्रं पपाठ पठति
स्म । स किभूतः । सह धर्मसागरेण वर्तते यः । क इव । हंस इव । यथा हरिभद्रसू-
रिभागिनेयको हंसः सुगतस्य बौद्धस्य समयः शास्त्रम् । ‘आप्तोक्तिः समयागमौ’ इति है-
म्याम् । ‘समयः शपथे भाषासपदो कालसविदौ । सिद्धान्ताचारसकेतनियमावसरेषु च ॥
क्रियाकारे निर्देशे च’ इत्यनेकार्थः । सौगताद्वैद्याचार्यात्पठति स्म । किभूतो हंसः । प-
रम इति पदमादौ यस्य तादृशेन हसेन युनक्ति सङ्गं प्राप्नोति एतावता परमहंसकलितः ॥

कलयन्प्रतिभामनुत्तरामतितीक्ष्णां स कुशः शिखामिव ।

प्रथमं प्रविधाय तर्कयुक्परिभाषामुखशास्त्रसग्रहम् ॥ ५६ ॥

द्रविणार्पणहृष्टमानसादथ चिन्तामणिमग्रहीद्विजान् ।

परिशीलनकर्मतोषितादिव चिन्तामणिमादितेयतः ॥ ५७ ॥

अथ पठनप्रारम्भानन्तरं स हीरहर्षगणिर्द्रविणानां द्रव्याणामर्पणादानात्प्रीतः हृष्टमानसः
मनो यस्य तादृशा द्विजान्पण्डितब्राह्मणाच्चिन्तामणिनामशैवशास्त्रमग्रहीत् । कुत इव । आदि-
तेयत इव यथा कश्चिद्भाग्यवान् पुरुषः परिशीलनकर्मणा सेवाविधिना तोषितात्प्रसन्नीकृ-

तादादितेयतो देवाच्चिन्तामणिनाम रत्न गृह्णाति । किं कृत्वा । प्रथमं पूर्वं तर्कशब्देन युनक्ति तादृशी परिभाषा नामप्रमाणादिमशास्त्रं तन्मुखे आदौ येषां तेषां तर्कपरिभाषा-मितभाषिणी शशधर-मणिकण्ठ वरदराजी-प्रशस्तपदभाष्य-वर्चमान-वर्चमानेन्दु-किरणाव-ली-प्रमुखशास्त्राणां सग्रहमध्ययनं कृत्वा इत्यर्थः । स किं कुर्वन् । अतितीक्ष्णामतिशयेन निशितामनुत्तरामसाधारणीं च प्रतिभां बुद्धिं कलयन् । क इव । कुश इव । यथा दर्भः अतितीक्ष्णः शिखामग्रभागः कलयति । शिखा किंभूताम् । अनुत्तराम् । तस्मादुत्तरोऽग्रे-तनवर्ती कोऽपि पदार्थो न तीक्ष्णः स्यादिति ॥

प्रतिभाविभवैः पठन्क्रमात्समयस्यास्य स पारमाप्तवान् ।

प्रचरन्पवमानवर्त्मनोऽध्वरयैर्भानुमतामिव व्रजः ॥ ९८ ॥

स हीरहर्षगणिः क्रमादनुक्रमेण पठनपरिपाठ्या पठन्नध्ययनं कुर्वाणः प्रतिभाविभवैः बुद्धिविशेषैः कृत्वा अस्य पाठकद्विजस्य समयस्य शास्त्रस्य पारमन्तं प्राप्तवान् लभते स्म । क इव । व्रज इव । यथा प्रचरन् प्रचारं कुर्वन् भानुमता सूर्याणां समूहं द्वादशत्वा-द्भानूनाम् । 'सूरस्त्वष्टा द्वादशात्मा च हेलि' इति हैम्याम् । 'गुहनेत्र-राशि-भासा सक्ता-न्यादित्यचक्रिराजान । चक्रबृहस्पतिहस्ता सभासदो द्वादश भवन्ति ॥' इति सख्या नाममालायाम् । काव्यकटपलतायां चेति वचनात् च व्रजपदोपादानम् । जैनमताच्च सख्या । सूर्या अध्वरयै पारियानिकैः पवमानवर्त्मनो वायुमार्गस्य गगनस्य पारमाप्नोति ॥

अमुनाध्ययने समापिते द्विजराजद्रविणार्पणाविधौ ।

सुमनोलतिकेव केवलं जसमादेव्यजनिष्ट सा तदा ॥ ९९ ॥

अमुना हीरहर्षगणिना अध्ययने पठने समापिते संपूर्णकृते सति तदा तस्मिन्नवसरे द्विजराजस्य पाठकब्राह्मणश्रेष्ठस्य द्रविणानां वनानामर्पणां प्रदानम् । 'चकारसेवाचणद-र्पणार्पणा' इति नैषधे । तस्या विधिः प्रकारस्तत्र केवलमेकेव सा पूर्वव्यावर्णितस्वरूपा देवसीदयिता जसमादेव्येव सुमनोलतिकेव कटपवल्लीवाजनि । जसमादेव्येव सर्वमपि पाठनद्रविणं वितीर्णमित्यर्थः ॥

शिरसीव शिवस्य जाह्नवी शरदश्चन्द्रमसीव जाह्नवी ।

अलिनीव मृणालिनीवने हृदि रेमेऽस्य गणे कलन्दिक्का ॥ १०० ॥

अस्यामुष्य हीरहर्षनाम्नो गणेर्हृदि हृदयविषये कलन्दिक्का सर्वविद्या रेमे वसति स्फुर-द्रूपा वा जाता । केव । जाह्नवीव । यथा शिवस्येश्वरस्य शिरसि मस्तके जाह्नवी गङ्गा रमते । 'वूर्जटिजटाजूट इव गङ्गाया पुण्यमलिले प्लावित' इति चम्पूकथायाम् । पुनः केव । चन्द्रिकेव । यथा शरदो घनात्ययसवन्विनि चन्द्रमसि विधौ कौमुदी रमते । पुनः केव । अलिनीव । यथा मृणालिनीनां कमलिनीनां वने भ्रमरी रमते ॥

विधिना वचसामधीश्वरी किमुताकारि बृहस्पतिः क्षितेः ।

निखिलागमपारगाहिनं तमुदीक्ष्येदमतर्कि तार्किकैः ॥ ६१ ॥

निखिलानां समस्तानां जैनशैवादीनामागमानां शास्त्राणां पारमन्तं गच्छतीत्येवशीलं
तं हीरहर्षगणिमुदीक्ष्य दृष्ट्वा तर्कं विचारे प्रमाणशास्त्रे वा चतुरास्तार्किकास्तैरिदमत्रेव व-
क्ष्यमाणमतर्किं विचारितम् । इदं किम् । स्वर्गे वाग्वादिनीं बृहस्पतीं वर्तते विविना ब्रह्म-
णा क्षिते पृथिव्या इयं वचसामधीश्वरी सरस्वती अकारि कृता, उतायवा भूमेरयं बृह-
स्पतिः सुरगुरुरकारि निर्मित इव ॥ इति हीरहर्षगणैर्द्विजपण्डितपार्श्वे पठनवर्णनम् ॥

भवति स्म विचक्षणः क्षणादथ सामुद्रिकवत्स लक्षणे ।

अपि काव्यविशेषवित्तया विजितः काव्य इवाभवन्नरागः ॥ ६२ ॥

तत्पठितसर्वशास्त्रकथारम्भाविकारे स हीरहर्षगणिलक्षणे शब्दशास्त्रे । जातिवाचित्वा-
देकवचनम् । अष्टसु व्याकरणेषु ऐन्द्र-चान्द्र काशि(श)-कृष्ण(त्न)-आपिशल-शाकटायन-
पाणिनीय अमर-चान्द्र-जैनेन्द्ररूपेषु । अथवा 'ब्राह्ममीशानमैन्द्रं च प्राजापत्यं बृहस्प-
तिम् । त्वाष्ट्रमापिशलं चैव पाणिनीयमथाष्टमम् ॥' इत्यष्टसु महाव्याकरणेषु । अथ वा
अष्टादशसु महाव्याकरणेषु । 'ऐन्द्रपाणिनिजैनेन्द्र शाकटायनवामने । चान्द्र सरस्वतीक-
ण्ठाभरणं बुद्धिसागरः ॥ विश्रान्तविद्याभरणं भीमसेनकलापकम् । मुष्टिव्याकरणं शैव-
गौडनन्दिजयोत्पलम् ॥ सारस्वतसिद्धहैमजयहैमतथापरम् । इति व्याकरणसर्व-
शब्दप्राप्तिसम्भवम् ॥' इत्येवरूपेषु । इति नामसु लक्षणग्रन्थेष्वित्यर्थः । विचक्षणश्चतुरो
भवति स्म । कथम् । क्षणान्स्वल्पकालात् । किवत् । सामुद्रिकवद्वयां समुद्रेण पण्डितेन
प्रोक्तं सामुद्रं तद्वेत्तीति तत्र चतुरो वा सामुद्रिकलक्षणे नरनारीणां करचरणरेखायाका-
रशरीरस्थमषीतिलकादिविशेषे निपुणः । अपि पुनः काव्यानां रघु कुमारसम्भवमेघदूत-
चम्पू-कादम्बरी-माघ-पद्मानन्द-नैषधादीनां विशेषवित्तया रहस्यानां जातृत्वेनेत्यपि
व्याख्येयम् ॥

पदमस्य हृदि व्यतन्तनीदनिशं ज्योतिरिवाभ्रवर्त्मनि ।

नरिनृत्यति नर्तकीव धीरपि तर्कागमरङ्गवेश्मनि ॥ ६३ ॥

ज्योतिः शास्त्रमस्य हीरहर्षगणेर्हृदि हृदये पदस्थानं व्यतन्तनीद्वितनोति स्म । चकारे-
त्यर्थः । कथम् । अनिशं निरन्तरम् । कस्मिन्किमिव । अभ्रवर्त्मनि ज्योतिरिव । यथा
मेघमार्गे गगने ज्योतिर्ग्रहनक्षत्रतारकादि सदा पदं कुरुते । 'नक्षत्रं तारका ताराज्यो-
तिषी भमुडु ग्रहः' इति हैम्याम् । अपि पुनरस्य वीरुद्विस्तर्कागमप्रमाणशास्त्रम् । 'आग-
मस्त्वागतौ शास्त्रे' इत्यनेकार्थः । स एव रङ्गवेश्मनाटकस्थानकमन्दिरं तत्र नरीनृत्यति
अतिशयेन नृत्यं कुरुते । केव । नर्तकीव । यथा ताण्डवकारिका रङ्गवेश्मनि नृत्यं
नृत्यति ॥

गणितं ह्यनुरागिरागवन्न विसस्मार स मानसान्निजात् ।

प्रसृतास्य मतिर्जिनागमेऽम्बुधिकाञ्चयामिव चक्रिणश्चमूः ॥ ६४ ॥

स हीरहर्षगणिर्गणित संख्यान शास्त्र त्रिशतीलीलावतीप्रमुख हि निश्चित निजादा-
त्मीयान्मानसाच्चित्तात् न विसस्मार न विस्मारयति स्म । किवत् । अनुरागिरागवत् ।
यथा कोऽपि रागवान् पुमान् खानुरक्तीभूतजनस्नेहम् । तज्जनमेवेत्यर्थः । मनसः कदाचिन्न
विस्मारयति । पुनरस्य मतिर्जिनागमे । आचाराङ्ग सूत्रकृदङ्ग-स्थानाङ्ग समयाङ्ग-विवाह-
विज्ञप्त्यङ्ग-ज्ञाताधर्मकथाङ्ग उपासकदशाङ्ग-अनुत्तरोपपातिकादशाङ्ग-प्रश्नव्याकरणाङ्ग-विपा-
कश्रुताङ्ग इत्येकादशाङ्गानि । अपातिका-राजप्रश्नीय-जीवाभिगम-प्रज्ञापना चन्द्रप्रज्ञप्ती-
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ती-द्वीपसागरप्रज्ञप्ती-निरयावलिका-दशाश्रुतस्कम्-निशीथव्यवहार इति द्वा-
दशोपाङ्गानि । क्वचिदन्यान्यपि । सूर्यप्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ती-चन्द्रप्रज्ञप्ती-कल्पिका-क-
ल्पावतसिका-पुष्पिता-पुष्पचूलिका-वृष्णिदशा इति । निशीथ-महानिशीथ-पञ्चकल्प जात-
कल्प-पर्युषणकल्प-व्यवहार इति षट् छेदाः । उत्तराख्ययन-पिण्डनिर्युक्ति-आवश्यक-
दशवैकालिक इति चत्वारो मूलग्रन्थाः । चतुःशरण-आतुरप्रत्याख्यान महाप्रत्याख्यान-
भक्तप्रकीर्णक तण्डुलवैकालिक-चन्दाविस्मय-गणिविद्या-मरणविभक्तिक-देवेन्द्रस्तव स-
स्तारकप्रकीर्णक इति दशप्रकीर्णकानि । नन्दीसूत्र-अनुयोगवार इति पञ्चचत्वारिंशदा-
गमाः । ते च वृत्तिभाष्यचूर्णवचूरिनिर्युक्तिटिप्पनिककर्मग्रन्थक्षेत्रविचारसंग्रहणीचरित्र-
प्रमुखजैनशास्त्रे प्रसृता विस्तार प्राप्ताः । केव । चमूरिव । यथा चक्रिणः षट्खण्डा-
धिपते. सेना अम्बुधिकाञ्चया समुद्रमेखलायामासमुद्रान्तक्षोणीमण्डले प्रसरति ॥

बहुना किमु तन्मनस्विनोऽखिलषड्दर्शनशास्त्रमालिका ।

गलकन्दलमालिलिङ्ग यद्युववत्खञ्जनमञ्जुलेक्षणा ॥ ६५ ॥

बहुना किमु अर्थाद्वहक्तेन किमस्तु । यद्यस्मात्कारणात् अखिलानि भाष्यटीकावचूरि-
मुख्याङ्गयुक्तानि जैननैयायिकबौद्धसाख्यवैशेषिकनास्तिकाख्याना षण्णा दर्शनानां शा-
स्त्राणां तन्मतप्रसिद्धानामागमानां प्रकरणानां च सतति श्रेणि स चासौ मनस्वी च अथ
वा तस्य मनस्विनो विशुद्धमानसस्य निष्पापस्य हीरहर्षगणेर्गलकन्दल कण्ठपीठमालिलिङ्ग
आलिङ्गति स्म । किवत् । युववत् । यथा यूनास्तरुणस्य पुंसः कण्ठपीठं खञ्जनं खञ्जरीटं
पक्षिविशेषं लोके 'गट्टेटिउ' इति क्वचित्प्रसिद्धं अतिचपलस्वभावं तद्वन्मञ्जुले म-
नोज्ञे ईक्षणे नेत्रे यस्यास्तादृशी स्त्री आलिङ्गति । 'भवत्कृते खञ्जनमञ्जुलाक्षी' इति पञ्चाशि-
कायाम् । 'अपि खञ्जनमञ्जुनाञ्चिते' इति नैषधे ॥ इति हीरहर्षगणे स्वपरशास्त्रपरिज्ञानम् ॥

सविधे स्वगुरोः सगौरवं गमनायोत्सुकमाशयं ततः ।

अयमर्जितशास्त्रवैभवोऽधितः सार्थेश इव व्रतीशिता ॥ ६६ ॥

ततः पठितानन्तरम् । अयं हीरहर्षनाभा व्रतीशिता मुनिनायकः सगौरवः सबहुमानः

यथा स्यात्तथा स्वगुरो श्रीविजयदानसूरे सविधे समीपे गमनायोपगन्तुमुत्सुकमुत्फण्ठित-
माशय परिणाम मनो वा अवित दवार । किभूत । अर्जित स्वायत्तीकृत शास्त्राण्येव
वैभव सपत्तिर्येन । क इव । सार्यश इव । यथा उपाजित बहुविभव सार्थनाय स्व-
गुरो पितु पाश्वे गन्तुमुत्फण्ठमना भवेत् ॥

अथ दक्षिणदेशतो महाव्रतभृन्मूर्छितमत्स्यलाञ्छनः ।

मलयानिलवत्प्रचेलिवान्यशसा सौरभयन्भुवस्तलम् ॥ ६७ ॥

अथ स्वगुरुसमीपगमनोत्सुकाशयानन्तर पठितानन्तर वा दक्षिणनामा देशो जन-
पदस्तत हीरहर्षगणिः प्रचेलिवान् प्रतिष्ठते स्म । किभूत । महाव्रतानि पञ्च प्राणाति-
पातविरमणादीनि व्रतानि बिभर्तीति । अत एव पुन किभूत । मूर्छितो मूर्छा चैतन्य-
रोध निधनावस्था च नीतो मत्स्यलाञ्छन स्मरो येन । महाव्रतीश्वरोऽपि एवविव स्मरन् ।
पुन किभूत । यशसा स्वकीर्त्या कृत्वा भुवस्तल मेदिनीमण्डल सौरभयन् सुगन्धीकुर्वन्
धवल्यन् । किवत् प्रचेलिवान् । मलयानिलवद् यथा दक्षिणदेशो मलयाचलप्रदेशः ।
'मलय आषाढो दक्षिणाचल' इति हैम्याम् । तस्मान्मलयानिलो दक्षिणपवन प्रच-
लति । 'कष्ट भो दक्षिणात्य प्रसरति पवन पान्थकान्ताकृतान्त' इति भोजप्रबन्धे ।
सोऽपि किभूत । मूर्छितो वृद्धि नीतो मन्मथो येन । 'मूर्छन् वृद्धिमूर्छनयो' अय धातु ।
भुवो मध्यमपि सुगन्धयति च ॥

मरुतामिव पद्धतीः पुरीर्वृषकन्यामिथुनाजराजिनी ।

मकरान्वितमीनशालिनीः सरितः साब्जबलाहका पुनः ॥ ६८ ॥

वसतीरिव वल्गुविष्टराः सकुरङ्गाः शशिमण्डलीरिव ।

स्फुरदप्सरसो यथा दिवः पदवीर्लङ्घितवान्मुनीश्वरः ॥ ६९ ॥

(युग्मम्)

मुनीश्वरो हीरहर्षगणि पुरीर्नगरीर्लङ्घितवान् अतिचक्राम । किभूता पुरी । वृषा
वृषभा तथा कन्या कुमारिका मिथुनानि क्रीडासक्ताना यूना पशूना पक्षिणा वा यु-
गलानि स्त्रीपुंसलक्षणानि अजाश्छागा हरिहरविरञ्चिप्रतिमा वा । 'अजश्छागे हरे विष्णौ
रघुजे वेवसि स्मरे' इत्यनेकार्थः । तै राजन्ते इत्येवशीला । का इव । मरुता देवाना
पवनाना वा पद्धतीर्मार्गानिव । देववीथी किभूता । वृषकन्यामिथुनमेषनामानो राशय
तै शोभन्ते इत्येवशीला । पुनर्य सरितो नदीरुद्घितवान् । किभूता । मकरा
जलयादासि तैरन्विता युक्ता , तथा मीना मत्स्यास्तै शालन्ते शोभन्ते इत्येवशीला
अपि । पुन किभूता । सहाब्जै कमलै , तथा बलाहकैर्बकैर्वर्तन्ते यास्ता । अपि वा-
युवीथीरिव । किभूता । मकरराशिकलिता मीनराशिना शालन्ते । सहाब्जेन चन्द्रमसा
तथा बलाहकैर्मेघैर्वर्तन्ते या । 'गगनवीथीमिव सिहराशिराजिता उत्पतद्गामुत्क्षिप्तवृश्चि-

कामाविर्भूतसार्द्ररोहिणी मूला च' इति चम्पूकथायाम् । पुन पदवीर्मार्गानुल्लङ्घे । कि-
भूता । वलगव मनोज्ञा पल्लवपत्रप्रसूनफलकालितत्वेन रम्या विष्टरा वृक्षा यासु ।
का इव । वसतीरिव यथा गृहा प्रकृष्टासना स्युः । 'विष्टर पीठवृक्षयो ' इत्यनेकार्थः ।
पुन किभूता । सह कुरङ्गैर्मृगैर्वर्तन्ते ये (या) । का इव । शशिमण्डलीरिव । यथा च-
न्द्रबिम्बा लाञ्छनमृगयुक्ता स्युः । पुन किभूता । स्फुरन्ति पदेपदे दृश्यमानानि अप्प्र-
वानानि सरासि यासु । यथा इवार्थः । का इव । दिवो यथा । देववसती स्फुरन्त्य
इतस्ततो भ्रमन्त्य क्रीडन्त्यो वा अप्सरस उर्वशीप्रमुखा सुराङ्गना यासु ॥ इति वि-
हारमार्गः ॥

मरुदेशमभूषयत्क्रमादथ कुंराङ्गजसाधुसिन्धुरः ।

अतुलैरिव धन्वजन्मिनां सुकृतैः स्वशिखरी समीयिवान् ॥ ७० ॥

अथ मार्गोल्लङ्घनानन्तर कुंराङ्गजो हीरहर्षः स एव साधूना मध्ये सिन्धुरः क्रमादनुक्र-
मेण मरुनामान देश मण्डल अभूषयत् शोभा नयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—धन्वनो मरुदे-
शसबन्धिनो ये जन्मिनो जनास्तेषां न विद्यते तुला साम्यं येषां तैरसाधारणैः सुकृतैः
पुण्यैः स्वशिखरी कल्पद्रुम इव समीयिवान् समाजगामः ॥

कविना च बुधेन संनिधिस्थितिभाजा क्षितिजन्मना पुनः ।

सविधे स गुरोरुपेयिवान्विधुवद्वागमृतं ततः किरन् ॥ ७१ ॥

ततो मरुदेशागमनानन्तर स हीरहर्षगणिर्गुरोर्विजयदानशूरे सविधे पार्श्वे उपेयि-
वान् आगतः । किवत् । विधुवत् । यथा चन्द्रो गुरोर्वाचस्पते पार्श्वे उपैति । कि-
भूतः स विधुः । कविना काव्यकर्त्रा शुक्रेण च । पुनः केन । बुधेन । तत्सार्धं पठनात्
पण्डितेन चार्थाद्भर्मसागरगणिना, सोमपुत्रेण च । किभूतेन । क्षितौ भूमण्डले जन्मो-
त्पत्तिर्यस्य मनुष्यत्वात्, यथा मङ्गलेन च । पुनः किभूतेन । सनिधौ समीपे, एकराशौ
च स्थितिनिवासभजतीति भाक् तेनान्वितो युक्तः । किं कुर्वन् । वाग्वाण्येवामृतं
सुधां किरन् विस्तारयन् ॥

स चुचुम्ब पदाम्बुजं गुरोरभिनोनूय नवैः स्तवैस्ततः ।

मतिदर्पणिकानुबिम्बितश्रुतिभावः शकटालसूनुवत् ॥ ७२ ॥

ततो गुरुसमीपागमनानन्तर स हीरहर्षगणिर्गुरोर्विजयदानसूरे पदाम्बुजचरणकमल
चुचुम्बवन्दितवान् । किं कृत्वा । नवैर्नवीनैः स्तवैः स्तोत्रैः कृत्वा अभिनोनूयातिश-
येन स्तुत्वा । किभूतः । मतिर्बुद्धिरेव दर्पणिका आदर्शिका । 'मन्मतौ विमलदर्पणिका-
याम्' इति नैषधे । मेवातदेशादौ हस्तकविना दर्पणस्यादर्शिकेत्यभिवानम् । तस्यामनु-
बिम्बिताः सक्रान्ता श्रुतीनां समस्तशास्त्राणां भावा रहस्यानि यस्य । अथवा श्रुतयः
षड्दर्शनशास्त्राणि भावा जगत्पदार्था यस्य । किवत् । शकटालनामा नन्दनृपप्रधानः तस्य

सूनु' पुत्र' स्थूलभद्रस्तद्वत् । यथा श्रीस्थूलभद्रो मुनि पठित्वागत्य सभूतिविजयगुरो-
पादारविन्द ववन्दे ॥ इति हीरहर्षगणे गुरुपार्श्वगमनम् ॥

अथ नारदनाम्नि पत्तने तुरगव्योमरसेन्दुवत्सरे ।

वृषभाङ्गजिनालये गिरेरिव शभोर्विभवैः सहोदरे ॥ ७३ ॥

पदमाप्यत पण्डिताह्वयं गणिना तेन यतिक्षितीशितुः ।

अभिभूय बुधं बुधश्रिया पदमस्यैव किमात्तमात्मना ॥ ७४ ॥

(युग्मम्)

अथ गुरुवन्दनानन्तर हीरहर्षगणिना यतिना मध्ये क्षितीशितु नृपाद्विजयदानसूरी-
न्द्रात् पण्डित इति आह्वय नाम एतादृशपद प्रज्ञाम् । सपदमित्यर्थः । आप्यत प्राप्तम् । उ-
त्प्रेक्षते—बुधश्रिया भावप्रवाननिर्देशाद्बुधत्वस्य पण्डितस्य लक्ष्म्या बुध रोहिणीनन्दनम-
भिभूय पराजित्य । त(अ)स्यैव बुधस्यैव पदमात्मना स्वेनात्त किं गृहीतमिव । कुत्र
वत्सरे । तुरगा सूर्याश्वा सप्त (७), व्योमाकाश शून्यम् (०), रसा तिक्त कटु-कषाय-
आम्ल-लवण मधुराख्या पद (६), इन्दुश्चन्द्र एक (१) एव, एतावता विक्रमार्कात्
सप्तोत्तरे षोडशशतवर्षे (१६०७) । कुत्र पुरे । नारद इति नाम यस्य तादृशे पत्तने । प-
त्तनशब्द सामान्यतो नगरवाची । 'नगरी पु पुरी द्रङ्ग पत्तन पुटभेदनम्' इति हमीवच-
नात्, न तु मुख्यवृत्त्येति । अथवा रत्नोत्पत्तिस्थानम् । 'पत्तन रत्नयोनि' इति वचनात् ।
रत्नोपमविजयसेनसूरेरुत्पत्तिस्थानकत्वाद्वा पत्तनम् । 'नडुलाई' नगरे इत्यर्थः । कुत्र
स्थाने । वृषभाङ्गस्य सौरभेयध्वजस्यादिनायस्यालये चैत्ये । उत्प्रेक्षते—विभवैस्तुङ्गिमधव-
लिमादिशोभाभि कृत्वा शभोरीश्वरस्य गिरे शैलस्य कैलासस्य सहोदरे बान्धवे इव ॥
सवत् १६०७ वर्षे हीरहर्षगणे पण्डितपदस्थापना ॥

अपि नारदपुर्यनुत्तरैरिव संख्या विभवैर्हरेः पुरः ।

तपसः सितपञ्चमीदिने कुलशैलाभ्ररसात्मवत्सरे ॥ ७५ ॥

सुहृदेव समेत्य शोभिते वरकाणाख्यफणीन्दुकेतुना ।

जलजध्वजसार्वमन्दिरे पदमस्याजनि वाचकाह्वयम् ॥ ७६ ॥

(युग्मम्)

अपि पुनर्जलज शङ्खो ध्वजश्चिह्न यस्य स चासौ सार्वश्व । एतावता नेमिनाथतीर्थकृत् ।
जलजशब्देन शङ्खोऽप्युच्यते । यथा रघुवशे—'तत प्रियोपात्तरसाधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ
जलज कुमार' इति । 'जलज कमले शङ्खे' इत्यनेकार्थेऽपि । तस्य मन्दिरे प्रासादे
अस्य श्रीहर्षप्रज्ञाशस्य वाचकाह्वय उपाध्यायनामपदमजनि सजातम् । किभूते मन्दिरे ।
वरकाणा इत्याख्या नाम यस्य तादृशेन फणीन्दुर्नागराज केतुश्चिह्न यस्यैतावता श्रीव-

र्षकाणापार्श्वनाथेन समेत्य वरकाणापुरादागत्य शोभितेऽलकृते । केनेव । सुहृदेव । यथा मित्रेणागत्य मित्रमन्दिरं भूष्यते । कस्या पुर्याम् । नारदपुरि पूर्वोक्ताया नारदपुर्याम् । उत्प्रेक्षते—अनुत्तरैरसावारणैर्विभवैः सपद्भिः कृत्वा हरेरिन्द्रस्य नारायणस्य वा पुरः अमरावत्या द्वारिकाया वा सख्या वयस्यामिव । कदाजनि । कुलशैला अष्टौ (८), अभ्र-माकाशम् (), रसास्तिक्तादयः षट् (६), आत्मा एक (१), एतन्मते वत्सरे हायने विक्रमार्कावनीन्द्रादष्टाविक्रषोडशशते (१६०८) । कस्मिन्वासरे । तपसो माघमासस्य । ‘माघस्तपा’ इति हैम्याम् । सिताया उज्ज्वलाया पञ्चम्या दिने ॥ सवत् १६०८ वर्षे पण्डितहीरहर्षगणेशचक्रपदस्थापना ॥

विबुधावथ राजपूर्वको विमलो धर्मयुतश्च सागरः ।

सचिवाविव वाचकेश्वरौ कृतवान्सूरिमहीपुरंदरः ॥ ७७ ॥

अथ पुनः सूरिमहीपुरंदरो विजयदानसूरिराजः विबुधौ पण्डितपदधारिणौ । प्रज्ञा-शावित्यर्थः । एको राज इदं पदं पूर्वं यस्य स राजपूर्वकः तादृशो विमलः च पुनः धर्म इति नाम्ना युतः सहितः सागरः एतावता राजविमलधर्मसागरनामानौ विबुधौ वाचके-श्वरौ उपाध्यायमुख्यौ कृतवान् । काविव । सचिवाविव । यथा महीमहेन्द्रः कौचिद्यो-ग्यौ प्रवानौ विदधाति ॥

श्रियमाश्रयते स्म वाचकत्रितयी सा श्रमणावनीशितुः ।

प्रतिबोधयितुं जगन्नयीमिव मूर्तित्रितयी समुद्यता ॥ ७८ ॥

श्रमणावनीशितुः विजयदानसूरिभूमीपते सा पूर्वोक्ता वाचकानामुपाध्यायानां त्रि-तयी श्रियः शोभामाश्रयते स्म शुशुभे । उत्प्रेक्षते—जगन्नयामिव प्रतिबोधयितुं धर्मे स्थापयितुं सूरैर्मुनीन्द्रस्य मूर्तित्रितयीव समुद्यता । तिस्रो मूर्तय इव प्रकटीभूता ॥

विहरन्सह वाचकेन्दुना शिवपुर्यां समवासरद्गुरुः ।

वसुभूतिसुतेन संगतौ भगवान् राजगृहे यथान्तिमः ॥ ७९ ॥

वाचकेन्दुना प्रक्रमात् हीरहर्षउपाध्यायविधुना सह विहरन् महीमण्डले ग्रामानुग्रामः सुखं सुखेन विहारं कुर्वन् गुरुविजयदानसूरिः शिवपुर्यां श्रीरोहिण्यां सीरोहानामनगरे समवासरत् समवसतः । समागत इत्यर्थः । क इव । भगवानिव यथान्तिमश्चरमो भग-वास्तीर्थकृत् श्रीमन् महावीरदेवः वसुभूतिनाम्नो द्विजस्य सूतेन पुत्रेण गौतमस्वामिना संगतः सहितो राजगृहे समवसरति स्म ॥

त्रिदिवोज्जयिनी पुरी तदाजनि दूदाह्वनृपो विभूषयन् ।

सुखयञ्जनता वदान्यता कलयन्विक्रमभानुमानिव ॥ ८० ॥

तदा तस्मिन्नवसरे श्रीविजयदानहीरहर्षकाचक्रलितश्रीविजयदानसूरिपादाववा-रणसमये दूदा इति आह्वा अभिधानं यस्य तादृशो नृपो राजा अजनिः सजातः । दवस-

रापेक्षया वर्तते इत्यर्थः । किं कुर्वन् । विभूषयन् शोभा लम्भयन् । काम् । त्रिदिव स्वर्गं अमरावती तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशात् स्वर्गनगरी स्वसमृद्ध्या उत्प्रावल्येन जयति पराभवतीत्येवशीला पुरी श्रीरोहिणीम् । पुन किं कुर्वन् । जनता पुरजनपदवामिन सर्व लोकसमूहं सुखयन् सुखीकुर्वन् । पुन किं कुर्वन् । वदान्यता दानशीलत्वं कलयन्न-तिशायिनमुदारभाव बिभ्रत् । क इव । विक्रमभानुमानिव । यथा विक्रमादित्यभूपालो जातः । सोऽपि लक्ष्म्या त्रिदिवतुल्या उज्जयिनीमवन्तीम् । मध्यमपदलोपी समासः । भू-षयन्नलकुर्वन् परदुःखकातरविरुदत्वेनाखिललोकं सुखयन् निर्विघ्नं विदवन् कोटिशः सुवर्णटककानां दातृत्वेन । ‘अवलोकणे सहस्रं आलावे दस सहस्राश्च । हनिऊण देहं लक्खं परिउसे विक्रमो कोडी ॥’ इति स्वाभाविकदानम् । काव्यगाथादीनां कोटिशः सुवर्णानि इति दानिभावश्च बिभ्राण इति ॥

सचिवः पुनरस्य भूभुजोऽजनि चाङ्गाभिधसंघनायकः ।

जिनधर्मरतो निधिर्धियामभयः श्रेणिकभूपतेरिव ॥ ८१ ॥

पुनरन्यदस्य दूदाभिवस्य भूभुजो भूमीपालस्य चाङ्गा इत्यभिधा नाम यस्य तादृशं सघनायकं सघपतिरेतावता ‘चाङ्गोसघवी’ नामा सचिवः मन्त्री अजनि सजातः । किंभूतः । जिनस्यार्हतो वर्मे रत आसक्तः श्राद्धवर्मपालकः । पुन किंभूतः । धिया बुद्धीनां निविर्निर्वानम् । क इव । अभय इव । यथा श्रेणिकनाम्नो भूपते पृथिवीनायक-स्याभयकुमारनामा प्रवानः समभवत् । सोऽपि जिनप्रणीतवर्मरतस्तथौत्पातिकयादीनां चतसृणां बुद्धीनां शैवधिः ॥

निरमापयदस्य पूर्वजो धरणो राणपुरे चतुर्मुखम् ।

वृषभध्वजतीर्थकृद्गृहं नलिनीगुल्ममिवागतं क्षितौ ॥ ८२ ॥

अस्य चाङ्गासघभूपते पूर्वजः कुले पूर्वं जायते स्म तादृशो धरणो धरणकः इति नामा सघपतिः राणपुरे राणपुरनाम्नि नगरे चत्वारि चतुःसख्याकानि मुखानि द्वाराणि यस्य तादृशं वृषभो ध्वजश्चिह्नं लाञ्छनं यस्य स एव तीर्थकृजिनेन्द्र एतावता ऋषभदेवस्तस्य गृहं प्रासादं निरमापयत् शितिपतिं कारयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—क्षितौ पृथिव्यामर्थात् स्वर्गादागतं नलिनीगुल्मं नलिनीगुल्मनामविमानमिव ॥

गणपुगवमन्नमन्वहं विधिनाराद्धमना मुनीश्वरः ।

अथ सुस्थितसूरिशक्रवत्प्रणिधानं विदधे स तत्पुरे ॥ ८३ ॥

अथ शिवपुर्यागमनानन्तरं मुनीश्वरः श्रीविजयदानसूरिं प्रणिधानं ध्यानं विदधे कृतवान् । कः । तत्पुरे श्रीरोहिणीनगरे । किवत् । सुस्थितसूरिशक्रवत् यथा सुस्थित-नामा सूरिषु शक्रः पुरदरं अर्थात् काकन्द्यां नगर्यां ध्यानं करोति स्म । किं कर्तु-कामं (मना) । गणपुगवस्य सूरैर्मन्त्राचार्याणां परम्परया आगतं (गौतमगणभृत् किं)

मन्त्र अन्वह निरन्तरम् । त्रिमासी यावदित्यर्थ । केन । विधिना षष्ठाष्टमचतुर्थी
वामाह्लादितपोविधानजिनसौभाग्यादिमुद्राप्रमुखशास्त्रोक्तगुरुपरम्पराप्राप्तप्रकारेण । आ-
राद्धु साधयितु मनो यस्य ॥

विषयेऽप्यखिले तदा पुरीपतिना मारिरवारि जन्मिनाम् ।

परमार्हतभूमिभास्कर किमु संस्मारयितुं स्वयं नृणाम् ॥ ८४ ॥

तदा विजयवानसूरेर्ध्यानविधानावसरे पुरीपतिना शिवपुरीस्वामिना दूदाभिधानभू-
पेन अखिले समस्तेऽपि विषये स्वमण्डले जन्मिना द्विपदचतु पदपक्षिमत्स्यादीना
प्राणिना मारिर्हिंसा अवारि निषिद्धा, अमारि प्रवर्तिता । उत्प्रेक्ष्यते—परमार्हत कु-
मारपालः । ‘कुमारपालश्चौलुक्यो राजर्षिः परमार्हत ।’ इति हैम्याम् । स एव भूमे
पृथिव्याः भास्कर सूर्य । ‘माध्यदिनावधि विधेर्वसुधाविवस्वान्’ इति नैषधे । एतावता
कुमारपालभूपाल स्वयमात्मना नृणा मनुष्याणां संस्मारयितु स्मृतिगोचर कारयितु किमु ॥

अनिशं वरिवस्थितस्य तत्तपस सिद्धिरिवाङ्गसङ्गिनी ।

स्वककान्ततयातिहार्दतो व्रतलक्ष्मीरिव वा वपुष्मती ॥ ८५ ॥

सुरसिन्धुरवत्कदाचन प्रणिधानाम्बुधिमध्यगाहिनः ।

जिनशासनदेवताप्रभोः प्रकटीभावमबीभजत्पुरः ॥ ८६ ॥

(युग्मम्)

कदाचन कस्मिन्नपि समये ध्यानपरिसमाप्तिव्यतिकरे जिनशासनदेवता शासनाविष्ठा-
यिका सुरी (१) वाणी (२) त्रिभुवनस्वामिकी (३) श्रीदेवी (४) यक्षराज (५) गणिपीवका
एते शासनाविष्ठातारः । तत्र तिसृणा देवीना मध्ये अन्यतमा अमरी देवता प्रभोर्विजय-
दानसूरेः पुरोऽग्रे प्रकटीभाव प्रत्यक्षतामबीभजत् भजते स्म । प्रादुर्भूतेत्यर्थ । प्रणिधान
सूरिमन्त्रध्यान तदेवाम्बुधिरर्थात् क्षीरसमुद्रस्तस्य मध्य गाहते इत्येवशीलस्य । कि-
वत् । सुरसिन्धुरवत् । यथा ऐरावण प्रणिधान शुक्लध्यान तद्वद्धवलम् । एतावता दु-
ग्धाम्बुधिस्तस्य मध्यमवगाहते तदुत्पन्नत्वात्तस्य । उत्प्रेक्ष्यते—जिनशासनदेवता अ-
निश अहोरात्र वरिवस्थितस्य सेवितस्याचीर्णस्य तस्य विजयदानसूरेस्तपस अङ्गस-
ङ्गिनी अङ्गस्य शरीरस्य सङ्ग अस्त्यस्या इति मूर्तिमती सिद्धिरिव वा । अथवा स्वकका-
न्ततया निजभर्तृत्वेन अतिहार्दात् बहुस्नेहात् । ‘स्नेह प्रीतिः प्रेम हार्दम्’ इति हैम्याम् ।
वपुष्मती अङ्गीकृताङ्गलता शरीरिणी व्रतलक्ष्मीश्चारित्रश्रीरिव प्रादुर्भूता ॥ इति विजय-
दानसूरेर्ध्यानम् ॥

सफलीकुरु किंकरीमिव कचिदादिश्य विधौ व्रतीन्द्र माम् ।

प्रणिपत्य पदाम्बुजं प्रभोरिति सा शासननिर्जरी जगौ ॥ ८७ ॥

सा ध्यानप्रत्यक्षीकृता शासननिर्जरी जिनशासनदेवता इति वक्ष्यमाण जगौ व-

भाषे । किं कृत्वा । प्रभोर्विजयदानसूरे पदाम्बुज चरणारविन्द प्रणिपत्य नमस्कृत्य । इति किम् । हे व्रतीन्द्र सूरे, क्वचित् कुत्रचन विधौ कार्ये आदिश्य आज्ञा दत्वा । ‘विधिर्ब्रह्मविधानयो । विविवाक्ये च दैवे च प्रकारे कालकल्पयो ॥’ इत्यनेकार्थः । किं करी स्वदासीमिव मा सफलीकुरु कृतार्थं ॥

निजगाद गुरुर्गभीरिमाधरितद्वीपवतीपतिस्ततः ।

भविताभ्युदयः पदस्य मे वद कस्माच्छरदो मुनेरिव ॥ ८८ ॥

ततो देवतावचनानन्तरं गुरुर्विजयदानसूरिर्निजगाद गदति स्म बभाषे । गुरुः किल गभीरिम्ना गाम्भीर्यातिशयेनाधरितो हीनीकृतो निर्जितो वा द्वीपवतीना नदीनाम् । ‘द्वीपमन्तर्जले तटम्’ तानि द्वीपानि विद्यन्ते यासु तामाम् । ‘कर्षुर्द्वीपवती समुद्रदयिता युन्यौ स्रवन्ती’ इति हैम्याम् । पतिर्भर्ता समुद्रो येन । किं निजगाद तदाह—हे देवि, त्वं वद कथं । मे पदस्य पदस्य कस्मान्मुनेर्मद्विनेयादभ्युदयो भविता भविष्यति । कस्याः कस्येव । शरदो मुनेरिव यथा शरत्समयादगस्तेरुदयो भवति । यथा रघौ शरद्वर्णने—‘प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोर्नेर्महोजसः’ इति । ‘मुनिद्रुमः कोरकितः शितियुतिः’ इति नैषधे । ‘मुनिद्रुमः अगस्तिवृक्षः’ इति तद्रुतौ ॥

अवधेरनुभावतो गुणैरसमानं जिनमेदिनीन्द्रवत् ।

अतिथिं प्रविधाय भृङ्गवद्धृदयाम्भोरुहि हीरवाचकम् ॥ ८९ ॥

अनयेत्थमभण्यत प्रभुर्भगवन्नभ्रमणेर्दिनादिव ।

भविता भवतः पदोदयो भुवि नाथीसुतसाधुसिन्धुरात् ॥ ९० ॥

(युग्मम्)

अनया शासनदेवतया प्रभुर्विजयदानसूरिरित्थममुना प्रकारेणाभण्यत प्रोच्यते स्म । किं कृत्वा । अवधेरवधिज्ञानस्यानुभावतः प्रभावात् । ‘अववि स्यादवधाने कालसीमाबलेषु’ इत्यनेकार्थः । हृदयाम्भोरुहि हृदयारविन्दे भृङ्गवत् भ्रमरमिव हीरवाचकः हीरहर्षोपाध्यायः अतिथिं प्राघुणिकं प्रविधाय । हृदि ज्ञात्वेत्यर्थः । किंभूतः हीरवाचकम् । गुणैः सयमशमदमज्ञानादिभिरसमानमसावारणम् । किं च जिनमेदिनीन्द्रवजिनराजमिव । किमभाणि । हे भगवन्, भुवि पृथिव्या नाथीसुतो हीरहर्षः स एव साधुषु श्रमणेषु सिन्धुरो हस्ती तस्मादेतावता हीरहर्षोपाध्यायात् ते तव पदस्याभ्युदयो भविता भविष्यति । कस्मात् कस्येव । दिनादभ्रमणेरिव यथा दिवसात् सूर्यस्य अभ्युदयो भवेत् ॥

पदपद्मविलासलालसभ्रमरीभूतवसुंधराधवः ।

भगवन्स युगप्रधानवन्महिमश्रीभवनं भविष्यति ॥ ९१ ॥

हे भगवन्, स हीरहर्षोपाध्यायो युगप्रधानवद्वज्रस्वामिप्रमुखयुगप्रधानाचार्य इव महिमश्रिया माहात्म्यलक्ष्म्या भवनं गृहं भविष्यति । किंभूतः । पदपद्मयोश्चरणकमलयोर्वि-

लासेषु क्रीडासु लालसा साभिलाषास्तादृशा भ्रमरीभूता मधुकरा इवाचरिता वसुधरा-
ववा राजानो यस्य राजसेव्यो भावीत्यर्थः ॥

अयमेव हि हीरवाचकोऽस्त्युचितः सूरिपदस्य नापरः ।

धरणीधवसूनुरेव यद्वसुधाधीशपदस्य नेतरः ॥ ९२ ॥

हे प्रभो, हि निश्चित अयमेव एष हीरहर्षवाचकेन्द्र एव सूरिपदस्याचार्यपदस्थाप-
नाया उचितो योग्योऽस्ति । पर नापर नान्य शिष्य । यद्यस्मात्कारणाद्वसुधाधीशप-
दस्य राज्यस्योचितो धरणीधवस्य भूमीविभवस्य राज्ञः सूनु राजपुत्रः एव पर नेतर-
जातीयः हीनकुलीनः ॥

प्रणिगद्य पुरो गुरोरिदं प्रमदेनापि विनम्य तत्पदम् ।

त्रिदशी क्षणतस्तिरोदधे स्तनयित्वा स्तनयितुपङ्क्तिवत् ॥ ९३ ॥

त्रिदशी शासनदेवता । 'निपीय त यस्त्रिदशीभिरर्जित' इति नैषधे । क्षणत
क्षणमात्रात् तत्कालमेव तिरोदधे अदृश्या बभूव । किं कृत्वा । गुरोः सूर्ये पुरोऽग्रे
इदं प्रागुक्तं प्रणिगद्य कथयित्वा । अपि पुनः प्रमदेन हर्षेण तत्पदं गुरुचरणं विनम्य
विशेषेण पञ्चाङ्गभूस्पर्शनादिना नत्वा अदृश्यीभूता । किवत् । स्तनयितुपङ्क्तिवद्यथा
मेघमाला स्तनयित्वा गर्जित्वा विनम्योन्नतीभूयार्थाद्धर्षयित्वा तिरोवत्ते ॥ इति
विजयदानसूरिपुरोध्यानप्रत्यक्षीकृतशासनदेवताप्रोक्ताचार्यपदोचितकथनम् ॥

स तदीयगिरं निपीय ता शितिवल्लीमिव हेमकन्दलः ।

मुदमन्तरनुत्तरा दधद्मयामास दिनानि कानिचित् ॥ ९४ ॥

स सूरिः अर्थाद्व्यानस्थः एव कानिचिद्दिनानि कियत्प्रमाणान् वासरान् गमया-
मासातिक्रामति स्म । किं कुर्वन् । अन्तश्चित्तमध्ये अनुत्तरामनन्यसामान्या मुदं हर्षं
दधद् धारयन् । क इव । हेमकन्दल इव । यथा विद्रुमः अन्तरा स्वमन्ये शितिवल्ली
कृष्णलता 'कालीवेली' इति प्रसिद्धा वत्ते । किं कृत्वा । तदीया शासनदेवतासवन्धिनी
गिरं वाणीं निपीय पीत्वात्यादरेण निशम्य ॥

अथ साधुसुधाशनाधिपः प्रणिधानं परिपूर्य सूर्यरुक् ।

शशभृच्छरदभ्रकादिव प्रणिधानास्पदतो विनिर्ययौ ॥ ९५ ॥

अथ शासनदेवताप्रत्यक्षागमनध्यानसपूर्णाभवनानन्तरं साधूनां मुनीनां मध्ये सुवा-
ममृतं अश्नन्तीति अशनं भोजनं येषां वा ते सुधाशना देवा तेषामधिपः स्वामी
इन्द्रः एतावता विजयदानसूरिपुरदरं प्रणिधानस्य ध्यानस्यास्पदं स्थानं ततो वि-
निर्ययौ बहिराजगाम । क इव । शशभृदिव । यथा चन्द्रः शरदभ्रकात् शरत्कालस-
वन्धिनोऽभ्रकान्मेघान्मेघवर्धकाद्वा निर्गच्छति । किं कृत्वा । प्रणिधानं सूरिमन्त्रस्य

जाप स्मरण परिपूर्य समाप्य परिपूर्णकृत्य । किभूत । सूर्यस्यैव देदीप्यमाना रुक्
कान्तिर्यस्य । विधुरपि सूर्यस्य रुचो दीवितयो यस्मिन् । 'घुपोष वृद्धि हरिदश्वदी-
धितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा ' इति रघौ ॥

स वभाज समाजमात्मना श्रमणाना श्रमणावनीमणिः ।

क्षितिमानिव बाहुजन्मनां विलसन्मङ्गलतूर्यनिस्वनैः ॥ ९६ ॥

स प्रसिद्ध सूरिपरम्परायात प्रणिवानविवाता वा श्रमणावनीमणि. यतिराज
आत्मना स्वेन श्रमणाना साधूना समाज पर्षद वभाज शिश्राय । क इव । क्षितिमा-
निव । यथा भूपतिर्बाहुर्ब्रह्मणो भुजोत्पत्तियेषा ते बाहुजन्मान क्षत्रियास्तेषाम् । 'क्षत्र तु
क्षत्रियो राजा राजन्यो बाहुसभव ' इति हैम्याम् । 'तत्तस्मिन्विनिमज्ज्य बाहुज-
भट्टैरारम्भि रम्भा-' इति नैषधेऽपि । सभा भजते । कै । विलसता हर्षोत्कर्षात्प्रति-
दिश मधुर वाद्यमानाना मङ्गलकारिणा तूर्याणा वाद्याना निस्वनैर्निर्घोषैः । समम् ॥

जहिरे मिहिरौजसा महीपतिना वारचरास्तदा नराः ।

भ्रमरा इव कोशशायिनो दिववक्त्रे स्मितपद्मराशिना ॥ ९७ ॥

तदा गुरो सभायामागमनावसरे महीपतिना शिवपुरीस्वामिदूदाभिधभूपतिना
वारचरा कारागारनिवासिनो बन्दीजना जहिरे मुमुचिरे । किभूतेन महीपतिना ।
मिहिरस्य भानोरिव । 'दिवादिनाहर्दिवसप्रभाविभाभास कर स्यान्मिहिरो विरोचनः'
इति हैम्याम् । ओज प्रतापो यस्य । 'तदोजसस्तद्यशस स्थिताविमौ' इति नैषवे ।
ओज शब्देनात्र प्रताप उच्यते । केनेव । स्मितपद्मराशिनेव । यथा दिनवक्त्रे प्रभाते
विकचकमलकलापेन कोशेषु निजमुकुलेषु शेरते सूर्यास्तेन मुकुलीभूतेषु कुङ्कुलेषु
निर्गमनानलभूष्णतया तत्रैव बद्धा इव तिष्ठन्तीत्येवशीला भ्रमरा भृङ्गा हीयन्ते मु-
च्यन्ते । 'तदप्यवेहि खशये शयालु' इति नैषधे । करस्थितमित्यर्थः ॥ इति विजय-
दानसूरिध्यानविवानानन्तर बहिरागमनम् ॥

व्रतिनामिव तथ्यभाषिणां जनिभाजां विपिनाभ्रचारिणाम् ।

श्रमणेन्दुरवैक्षयत्पुनः स निमित्तानि निमित्तवेदिभिः ॥ ९८ ॥

स श्रमणेन्दुर्विजयदानसूरिचन्द्र शकुनानि विन्दति जानन्तीति निमित्तवेदिनस्तै-
निर्मितानि शकुनानि शुभानि तु ... । तथा नैषवे 'हाहा प्रतीपपव-
नाशकुनान्न जग्मु ' इति पुनपुसकत्वमुभयत्रात्र । केषाम् । विपिनेषु वनेषु अश्वे
आकाशे चरन्तीत्येवशीला विपिनाभ्रचारिणस्तेषा मृगशृगालादयो वनचारिण , चाष-
खञ्जनशिखितित्तिरदेवीभारद्वाजादयो गगनचरास्तेषा रजनिभाजा प्राणिनाम् । कि-
लक्षणानाम् । व्रतिना साधूनामिव । तथ्य सत्य भाषते इत्येवशीलास्तथ्यभा-
षिण. तेषाम् ॥

न्यगदन्निति ते पुरो गुरोः सितपक्षादिव शीतदीधिते ।

उदयो भविता पदस्य ते भुवि कुंराङ्गजवाचकेन्द्रतः ॥ ९९ ॥

ते शकुनावलोकका निमित्तवेदिन गुरोर्विजयदानसूरे पुरोऽग्रे इत्यमुना प्रकारेण न्यगदन् कथयन्ति स्म । हे गुरो, भुवि पृथिव्या कुंराङ्गजवाचकेन्द्रत हीरहषोपाध्याय-पुरदरात् ते तव पदस्य पट्टस्योदयो भविता उन्नतिर्भाविनी । 'उदय पर्वतोन्नत्यो' इत्यनेकार्थः । कस्मादिव । सितपक्षादिव । यथा शुक्लपक्षात् शीतदीधिते शिशिरकिरणस्य चन्द्रमस उदयो भवति ॥ इति शकुनावलोकनम् ॥

विधुवद्गणपुंगवं नवोदयमालोकयितुं हृदीच्छता ।

अथ सूरिपदार्पणाविधौ प्रभुरागृह्यत धीसखेन सः ॥ १०० ॥

अथ ध्यानसमाप्तिबहिरागमनशकुनावलोकनानन्तर धीसखेन अर्थात् शिवपुरीस-घपुर.सरीकृत चाङ्गासघपतिमन्त्रिणा स प्रभुर्विजयदानसूरि सूरैराचार्यस्य पदस्यार्पणा प्रदान तस्य विधि प्रकारस्तत्र विषये । 'विभूषणाना मणिमण्डले नल । स्वरूपलेखामवलोक्य निष्फलीचकार सेवाचणदर्पणार्पणा ॥' इति नैषधे । आगृह्यत गुरोरत्याग्रह कृत । धीसखेन किं कुर्वता । नवोदय नवीना उन्नतिर्यस्य तादृश गणपुंगव गच्छ-नायक आलोकयितुं द्रष्टुं हृदि स्वहृदये इच्छता काङ्क्षता । किवत् । विधुवत् यथा धीसखेन विद्वज्जनेन शुभकार्यकरणार्थं नवोदय चन्द्र स्पृहयता भूयते ॥

अवधार्य तदाग्रहं हितामिव वाणी भणितो हितैषिणा ।

तत ओमिति वक्रवारिजं वचसा योजितवान्स तत्पुरः ॥ १०१ ॥

ततस्तदाग्रहकरणानन्तर स गुरुर्विजयदानसूरिस्तत्पुरश्चाङ्गासघपतेरग्रे इत्यमुना प्रकारेण वचसा वचनेन कृत्वा वक्रवारिज वदनकमल योजितवान् योजयामास । इति किम् । वाक्ये एवमस्तु । ओमिति स्वीकारे । 'ओमिति प्रतिपद्यस्व' इति हेमाचार्य-कृतवीतरागस्तवे । किं कृत्वा । तदाग्रह ससघचाङ्गासघपतिविज्ञप्तिकामवधार्य हृदये धृत्वा । कामिव । वाणीमिव । यथा हितैषिणा स्वस्यायतौ सुखकाङ्क्षिणा पुरुषेण स्वजनेन मित्रेण वा भणिता कथिता हिता पथ्यां वाच विद्वान् हृद्यवधारयति । 'हित पथ्ये गते धृते' इत्यनेकार्थः ॥

निरधारि मुहूर्तमात्मना गणकैः श्रीश्रमणावनीन्दुना ।

महनीयमहो विवाहवत्पुनरारभ्यत मन्त्रिणा पुरे ॥ १०२ ॥

श्रीश्रमणावनीन्दुना श्रिया गणलक्ष्म्या शोभया वा युक्त श्रमणाना मुनीना मर्त्यं अवनीन्दुर्वसुवासुधाकरो राजा एतावता श्रीविजयदानसूरिणा आत्मना स्वयमुपविश्य गणकैर्ज्योतिषिकैः सम मुहूर्तं सूरिपदस्थापनोचितोदयास्तशुद्धिग्रहगोचरोच्चस्थग्रहादिशु-भदिनवेला निरधारि निश्चयीकृतम् । पुनर्मन्त्रिणा चाङ्गाख्यधीसखेन महनीय सर्व-

जनैरतिश्लाघनीयो मह उत्सव पुरे शिवपुर्या आरभ्यत प्रारब्ध । किवत् । विवाह-
वत् । यथा केनाप्यभिमानवता धनिना पाणिग्रहणावसरे ससारिजनातिप्रशस्यो
महामह प्रारभ्यते ॥

अथ शिल्पिचणैरचीकरन्ननुवादैरिव विश्वकर्मणः ।

मणिमण्डपमशुडम्बराधरितादित्यममात्यमानवा ॥ १०३ ॥

अथ मुहूर्तनिर्वाणमहोत्सवप्रारम्भणानन्तर अमात्यमानवा चाज्ञासघपतिप्रधानसे-
वकजना शिल्पिचणै प्रशस्यविज्ञानिभिर्मणीना उपलक्षणान् काञ्चनरत्नाना गणै
खचित मण्डप जनाश्रयमचीकरत् कारयन्ति स्म । किभूत मणिमण्डपम् । अशूना
किरणानामाडम्बरेण प्रतिदिश अविरलातिप्रसरणेनावरितो हीनीकृतस्तिरस्कृतो वा
आदित्यो भास्करो येन । शिल्पिचणैरुत्प्रेक्षते—विश्वकर्मणो देवाना वर्द्धके सूत्रवारस्या-
नुवादै प्रतिरूपैरिव । प्रशस्यार्थे चञ्चुचणौ शब्दौ योज्याविति प्रक्रियायाम् ॥

मणिकल्पितशिल्पिकौतुकप्रकरालोकनलालसाशयाः ।

त्रिदशास्त्रिदशीसखा दिवः किमिहालेख्यमिषादुपागमन् ॥ १०४ ॥

इह मण्डपे आलेख्याना चित्राणा मिषात् कपटादिवो देवलोकात् त्रिदशीसखा
स्वस्वदेवीसयुक्ता त्रिदशा निर्जरा उपागमन् किम् आगता इव । किभूतास्त्रिदशा ।
मणिभि पञ्चविवरतै कल्पिताना रचिताना शिल्पाना चित्ररूपादिविज्ञानाना प्र-
करस्य समूहस्य आलोकने दर्शने लालसा लोलुपा आशया अभिप्राया मान-
सानि वा येषा ते ॥

स मुहूर्तदिने गुरुः सम मुनिभिर्मण्डपमध्यमीयिवान् ।

सदसः सदन द्युसन्नभिः प्रतिपन्थी पृथिवीभृतामिव ॥ १०५ ॥

स गुरुर्विजयदानसूरिः मुनिभि सम गणिपण्डितोपाध्यायादिसाधुभिः सार्द्धं मुहूर्त-
स्य दिने वासरे मण्डपस्य मध्यमीयिवान् गत । क इव । प्रतिपन्थीव । यथा पृथि-
वीभृता पर्वताना प्रतिपन्थी वैरी इन्द्र द्युसन्नभिः स्वर्गगृहै सुरै सह सदस सभाया
सदन मन्दिरमेत्यागच्छति । ‘नृपस्य नातिप्रमना सदोगृहम्’ इति रघुवशे ॥

इदमीयमहामहेक्षणोपनतैः पौरनरैः परशतैः ।

निभृतं भ्रियते स्म मण्डपो नवकासार इवाम्बुदाम्बुभिः ॥ १०६ ॥

परशतै शतात्परे परशता तै महस्रसख्यै पौरनरैर्नागरिकलोकै मण्डप सूरि-
पदप्रदानास्पद निभृतं घन भ्रियते स्म भृत । किभूतै पौरनरै । इदमीयस्य हीरहर्षो-
पाध्यायसबन्धिनो महामहस्याचार्यपदस्थापनातिशयितोत्सवस्य ईक्षणार्थमुपनतै स-
मागतै । क इव । नवकासार इव । यथा नवीनस्तडाग अम्बुदाम्बुभिः प्रावृट्पयो-
धरपानीयै निर्भरं पूर्यते ॥

त्रिशलातनुजन्मशासनाभ्युदयं मूर्तमिव व्रतीश्वरम् ।

यतिभिस्तमजूहवद्गुरुस्त्रिदशीशंसितभाग्यवैभवम् ॥ १०७ ॥

गुरुर्विजयदानसूरि साधुभि उपाध्यायपण्डितादिमुनिभि कृत्वा त हीरहर्षोपाध्यायमजूहवत् आकारयामास । किभूत तम् । त्रिदश्या शासनदेवतया शंसित श्लाघितो भाग्यस्य सुकृतस्य पुण्योदयस्य वैभव संपद् यस्य । इवोत्प्रेक्षते—मूर्त मूर्तिमन्तमङ्गीकृताङ्ग त्रिशलायाः सिद्धार्थपृथिवीपतिपत्न्यास्तनुजन्मनो नन्दनस्य श्रीमन्महावीरदेवस्य शासनस्य अभ्युदयमुन्नतिमिव ॥

गगनात्मरसेन्दुहायने विशदे पौषजपञ्चमीदिने ।

धृतशीतरुचीरुचिच्छलोज्ज्वलवस्त्रे किमु तत्पदोत्सवे ॥ १०८ ॥

व्रतिवारिधिनेमिवासवः स्वपदे स्थापितवान्स वाचकम् ।

इव पञ्चमकं गणाधिपं मृगराजध्वजतीर्थनायकः ॥ १०९ ॥

(युग्मम्)

स विजयदाननामा व्रतिना श्रमणाना वारिधिनेमेर्वसुवराया नायक स्वामी । राजा इत्यर्थः । सूरि त हीरहर्षनामान वाचकमुपाध्याय स्वपदे निजपट्टे स्थापितवान् स स्थापयामास । क इव । मृगराजध्वजतीर्थनायक इव यथा मृगराज सिंहो ध्वजश्चिह्नलाञ्छन यस्य तादृशस्तीर्थनायकस्तीर्थेश्वर एतावता श्रीमहावीरजिन पञ्चाना सख्या-पूरण पञ्चम, पञ्चम एव पञ्चमक, त गणस्य साधुसमुदायरूपगच्छस्य नायक स्वामिन पञ्चशतच्छात्रैः सम प्रव्रजितत्वात् । तद्यतिकरे पञ्चशतसाधूना गणस्य नाथ गणधर सुवर्मस्वामिन स्वपदे स्थापयति स्म । कस्मिन्हायने । गगनमाकाश शून्यम् (०), आत्मा क्षेत्रज्ञ एक (१), रसास्तिक्तादय षट् (६), इन्दुश्चन्द्रोऽप्येक (१), तन्मितहायने वत्सरे विक्रमादित्याद्दशाधिकषोडशशत (१६१०) वर्षातिक्रमे । कुत्र दिवसे । पौषजपञ्चमीदिने पौषमासे जाता या पञ्चमी नाम्नी तिथिस्तदिवसे । किभूते । विशदे शुक्ले । उत्प्रेक्षते—तत्पदोत्सवे तस्य हीरहर्षोपाध्यायस्य पदस्याचार्यपदप्रदानस्य उत्सवे महामहे धृत परिहित शीतरुचीरुचि चन्द्रचन्द्रिका तस्याश्छलेन कपटेन उज्ज्वल ववल वस्त्र वसन येन एवविधे इव वासरे । शुक्लपञ्चमीदिने इत्यर्थः ॥ सवत् १६१० वर्ष पौषमासे शुक्लपञ्चमीवासरे श्रीहर्षवाचकस्य सूरिपदस्थापना ॥ इति श्रीहीरविजयसूरेराचार्यपदस्थापना ॥

हृदि हीर इवैष विष्टपे विजयोऽस्यैव पुनर्भविष्यति ।

अत एव कृतास्य सूरिणा विजयाद्वा किमु हीरपूर्विका ॥ ११० ॥

यत्कारणादेष सूरि हृदि अर्थाजगता हृदये हीर इव वज्रमणिरिव । जनभाषया 'हीरो' । रहस्य च भविष्यति । पुनरपरार्थे न्यासे विष्टपे विश्वे अस्यैव सूरेरेव जयो कुवादिवादिषु विजयो भविष्यति नान्यस्य । उत्प्रेक्ष्यते—अत कारणात् सूरिणा वि-

जयदानगुरुणा अस्य हीरहर्षस्य हीर इति नाम पूर्वं यस्या सा हीरपूर्विका विजयाद्वा विजय इत्याख्या कृता किमु । एतावता हीरविजयसूरिरित्यभिवान निर्मितम् ॥

इदमेव दिनं जगत्पतेरभिषेकार्हमितीव संमदात् ।

उदयादिमसिहभूमिमानभिषिक्तात्र तदैव बाहुजैः ॥ १११ ॥

अत्र शिवपुर्या समदादानन्दात् बाहुजै राजन्यै । 'तत्तस्मिन्निमज्ज्य बाहु-
जभटैरारम्भि रम्भा—' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोस्तदेव तस्मिन्नवसरे उदय
इति पदमादिम पत्र तादृश मिह एव भूमिमानृप एतावता उदयमिहराजा अभिषिक्त
इव श्रीरोहिणीमण्डलराज्ये सस्थापित । इति किम् । इदमेव दिन यस्मिन् दिने श्रीहीर-
हर्षविजयसूरेराचार्यपद प्रदत्त तदेव दिन जगता भूलोकस्य पत्युर्भर्तुश्चक्रवर्त्यादेरभिषे-
कस्य राज्यस्थापनाया अर्हमुचित योग्यम् ॥

भुवि मङ्गलतूर्यनिस्वनो दिवि दिव्योऽजनि दुन्दुभिध्वनि ।

इति तौ किमु शंसतो गुरुर्न ऋतेऽस्मादपरोऽस्ति रोदसोः ॥ ११२ ॥

भुवि पृथिव्या मङ्गलाना भूयसा श्रेयसा सूचकाना तूर्याणा वादित्राणा निस्वनो
निर्घोष , तथा दिवि आकाशे दिव्यो देवतासबन्धी दुन्दुभीना मदनभेरीणा निस्वानाना
वा ध्वनि शब्द अजनि सजात । उत्प्रेक्ष्यते—तौ द्वावपि शब्दौ इत्यमुना प्रकारेण
शंसतोऽर्थाल्लोकाना पुर कथयत इव । इति किम् । यत् रोदस्योर्द्यावापृथिव्योरस्मात्
हीरविजयसूरेरपरोऽन्यो द्वितीयो कोऽपि असाधारणगुणगणो गुरुर्नास्ति ॥

पिकपञ्चमकूजितकणास्तमगायन्ध्वणुकोदरीगणा ।

अदसीययशोजिगासयोपगताः किपुरुषाङ्गना इव ॥ ११३ ॥

ध्वणुकोदरीगणा कृशोदरीनारीनिवहा । 'ऋतारसर्गध्वणुकोदरीयम्' इति नैषधे ।
तदा तस्मिन् सूरिपदप्रदानसमये तमगायन् तद्गुणग्राम गायन्ति स्म । किभूता । पि-
काना कोकिलाना पञ्चमकूजित वसन्तसमयोन्निद्रसान्द्रमाकन्दकलिकास्वादनोद्धटित-
कण्ठकुहरप्रोङ्खोलितपञ्चममधुरध्वनिस्तद्वत् कणो निनादो यासाम् । उत्प्रेक्ष्यते—अ-
दसीयाना हीरविजयसबन्धिना यशसा कीर्तिना जिगासया गातुमिच्छया उपगता ।
स्वर्लोकाद्भूलोके स्वस्थानाद्वा शिवपुर्या समागता किपुरुषाङ्गना किनर्य इव ॥ इत्याचा-
र्यपदमहोत्सवः ॥

त्रिजगन्नयनामृताञ्जनं शुशुभाते यतिपुंगवावुभौ ।

सुरभीकृतभूतलौ यशःसुमनोभिर्मधुमाधवाविव ॥ ११४ ॥

उभौ द्वौ यतिपुंगवौ विजयदानहीरविजयसूरीन्द्रौ शुशुभाते शोभा लभेते स्म । कि-
भूतौ । त्रिजगता तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेशत्वात् त्रिभुवनजनाना नयनेषु लोचनेषु आ-
ह्लादकत्वेन अमृताञ्जन सुवाया अञ्जनतुल्या । पुन किभूतौ । यशोभिरेव सुमनोभिर्वि-

कसितकुसुमे कृत्वा सुरभीकृत वासित सुगन्ध विहित भूतल महीमण्डल याभ्याम् ।
उत्प्रेक्ष्यते—मधुमाधवौ चैत्रवैशाखमासाविव ॥

द्युसदामिव मेदिनीरुहौ जगतीजंगमतानुसङ्गिनौ ।

स्म विभूषयतः क्रमेण तौ विहरन्तावणहिल्लपत्तनम् ॥ ११५ ॥

क्रमेण विहारपरिपाठ्या तौ विजयदानहीरविजयसूरीन्द्रौ अणहिल्लनाम पत्तन विभू-
षयत स्म अलचक्रतु । कि कुर्वन्तौ । उत्प्रेक्ष्यते—द्युसदा देवाना मेदिनीरुहौ पादपौ
कल्पवृक्षाविव । किभूतौ । जगत्यां भूमिपीठे जगमताया सचरणशीलत्वस्य अनुसङ्गः
सङ्गोऽस्त्यनयोस्तौ ॥

श्रवणद्युमणी मणीव तौ मुनिमुक्तावलिमध्यशालिनौ ।

पुरि तत्र तमोनिशुम्भनौ गणलक्ष्मी मदयावभूवतुः ॥ ११६ ॥

तत्र पुरि पत्तननगरे तौ विजयदानहीरविजयनामानौ श्रमणद्युमणी मुनिमार्तण्डौ ।
सूरीन्द्रावित्यर्थ । गणलक्ष्मी तपागच्छश्रिय मदयावभूवतु । शृङ्गारकलिता कुर्वाते स्मेत्यर्थ ।
काविव । मणीव । नायकरत्ने इव । मणीवादिवर्जमिति द्विवचनेऽपि सधि स्यात् । यथा
मणीव दपतीव रोदसीव । ‘मणीव नीलोत्तरलौ विरेजतु’ इति नैषधेऽपि । किभूतौ ।
मुनय सावव एव मुक्तावलिमौक्तिकहारस्तस्य मध्ये शालेते इत्येवशीलौ । पुन कि-
भूतौ । तमसामज्ञानान्वकाराणा निशुम्भनौ व्यापादकौ । नायकमणी अपि स्त्रिय समदा
सृजत मुक्तावलिमध्यस्थायिनौ तमोनिहन्तृकौ च ॥ इति द्वयोरपि सूरीन्द्रयो पत्तने
पादावधारणम् ॥

अथ तत्र समर्थनामभृङ्गणशाली भवति स्म भूतिमान् ।

सचिवो यवनस्य भूभुजो मतिवार्धिश्चणकाङ्गजन्मवत् ॥ ११७ ॥

अथ पत्तनागमनानन्तर तत्राणहिल्लपत्तने समर्थ इति नाम विभर्तीति समर्थनामभृत्
भणशाली वक्षस्कारव्यापारकरिणा कश्चित् सज्ञाविशेष भवति स्माभवत् । एतावता
समर्थभणशालीतिनामा । किभूत’ । सचिव प्रवान । कस्य । भूभुज पत्तनाधीशस्य
सेरखानस्य । किभूतस्य । यवनस्य ‘पठाण’ इति नाम म्लेच्छजातीयस्य । पुन किभूत । भू-
तिमान् हस्तितुरगादिलक्ष्मीकलित । पुन किभूत । मतिवार्धि बुद्धिसमुद्र । किवत् ।
चणकाङ्गजन्मवत् । यथा चणकनामा द्विजविशेषस्तस्याङ्गजन्मा पुत्रश्चाणक्यो वीनि-
धिरभूत् ॥

उपचक्रमिरे महामहा अमुनाचार्यपदस्य नन्दये ।

शिवशैवलिनीवरोद्वहोपयमार्थं प्रथमोत्सवा इव ॥ ११८ ॥

अमुना समर्थभणशालीसचिवेन आचार्यपदस्य नन्दये नन्दिकारापरणार्थं महामहा
अतिशयिन उत्सवा उपचक्रमिरे प्रारब्धा । उत्प्रेक्ष्यन्ते—शिवमे(ए)व मुक्तिरूपो य.

शैवलिनीना नदीना वरो भर्ता समुद्रस्तस्योद्वहा पुत्री लक्ष्मीस्तस्या उपयमः पाणिग्रहण
तस्मिन् । सिद्धिलक्ष्मीविवाहे इत्यर्थः । प्रथमोत्सवा इव आदिमा क्षणा इव ॥

पुरि जानपदीयमानवव्रज आकार्यत तेन सेवकैः ।

पिकभृङ्गभरः स्वसौरभैरिव कुञ्जे स्मितचूतशाखिना ॥ ११९ ॥

तेन समर्थमणशालिमन्त्रिणा सेवकैः स्वभृत्यवर्गैर्जानपदीयो गुर्जरमण्डलसबन्धी
मानवव्रजो जनसमूहः पुरि पत्तननगरे आकार्यत आहूयते स्म । आमन्त्रित इत्यर्थः ।
केनेव । स्मितचूतशाखिनेव । यथा वसन्तसमयविकसितसहकारतरुणा स्वस्यात्मीयस्य
सौरभैरामोदैः परिमलैः कृत्वा पिकभृङ्गभरः कोकिलमधुकरनिकरः कुञ्जे कानने आकार्यते ॥

सुकृतं प्रविधाय सत्क्रियाममुना संघजनस्य संमदात् ।

समचीयत शम्बलं महोदयपुर्या प्रयियामुना किमु ॥ १२० ॥

अमुना पत्तनावीशवीसखेन सुकृतं पुण्यं समचीयत सम्यक्प्रकारेण पुष्टं क्रियते
स्म । किं कृत्वा । संमदादतिहर्षात् संघजनस्य चातुर्वर्ण्यस्य संघलोकस्य सत्क्रियामशन-
पानस्वादिमवस्त्राभरणश्रीफलादिदानेन सत्कारं प्रविधाय कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—महोद-
यपुर्या निर्वृतिनामनगर्या प्रयियामुना प्रकर्षेण गन्तुमिच्छुना सता अमुना मन्त्रिणा शम्बलं
मार्गनिर्वाहकृत्पाथेयं किमु संचितम् ॥

गुरुनन्दिमहेऽङ्गनासखैर्वसतेर्मध्यमभूषि मानुषैः ।

जिनजन्ममहे मरुद्भिरेरिव गीर्वाणगणैरधित्यका ॥ १२१ ॥

गुरोर्हीरविजयसूरीशितुः नन्दिमहे गच्छानुज्ञामहोत्सवे अङ्गनासखैः स्वस्वकलत्रक-
लितैरथवा निजापरवनितावर्गसहितैर्मानुषैः पुरुषैर्वसतेरुपाश्रयस्य मध्यमभूषि अलक्रि-
यते स्म । कैरिव । गीर्वाणगणैरिव । यथा जिनस्य अर्हद्भट्टारकस्य जन्ममहे जन्मा-
भिषेकोत्सवे सुराङ्गनानुगतैर्भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्कविमानवासिसुरसमूहैर्मरुद्भिरे-
र्निर्जरोर्वीवरस्य मेरोरवित्यका ऊर्ध्वभूमिश्चलिका भूष्यते ॥

गणिनन्दिमहेऽप्सरोगणैरिव मुक्ताभिरुपेत्य यौवतैः ।

करपीडनमण्डपो यथाक्षतपुञ्जैः समवर्ध्यतालया ॥ १२२ ॥

साङ्गे प्रवचने अवीती गणिरनूचानश्च तस्य गणेर्नन्दिमहे निर्वाणमहोत्सवे यौवतैर्विविध-
कुलजन्मपुरनिवासियुवतीसमूहेरुपेत्यागत्याक्षतपुञ्जैर्लाजव्रजैरालया उपाश्रयः श्रीगुरु
अतिबहुलसमर्दतः प्राप्तुमशक्नुवद्भिस्तदाश्रयत्वाद्वासतिरेव समवर्ध्यत वर्वापितः । क इव ।
करपीडनमण्डप इव । यथा विवाहमण्डपः सववधूभिरक्षतैर्वर्वाप्यते । कैरिव । अप्स-
रोगणैरिव । यथा गोतमादिगणवरः नन्दिमहोत्सवे सुरमुन्दरीवृन्दैर्मुक्ताभिर्मुक्ताफलैः
सवर्ध्यते । 'आप्तैर्वर्वापयाचक्रे शुभे योगः शुभस्य हि' इति प्रतिकरुणसूत्रवृत्तौ ॥

जिनवद्गणधारिणः पदं समनुज्ञाप्य स सूरिचक्रिणः ।

गुरुरस्य सहस्रदीधितिप्रमितावर्तनवन्दनान्यदात् ॥ १२३ ॥

स गुरुर्विजयदानसूरि अस्य सूरिचक्रिण हीरविजयसूरिसार्वभौमस्य सहस्रदीधितयो द्वादशभास्करा तैरिव प्रमीयन्ते प्रमाणविषयीक्रियन्ते इति सहस्रदीधितिप्रमितानि तादृशान्यावर्तनानि हस्तावर्तकरणानि येषु तादृशानि । एतावता द्वादशावर्तवन्दनकानि अदात् ददाति स्म । किं कृत्वा । गणधारिण गच्छवरस्य पद समनुज्ञाप्य सम्यक्प्रकारेणानुज्ञा दत्त्वा । किवत् । जिनवत् । यथा जिनोऽर्थान्महावीरतीर्थकर सुधर्मस्वामिनो गणधारिण पद समनुज्ञापयति ॥

वशिनोऽस्य ततो वशंवदा गणभृद्भूमिमणिर्गणश्रियम् ।

स्वसुतस्य पितेव संपदं प्रणयेन प्रणिनाय नीतिमान् ॥ १२४ ॥

ततो द्वादशावर्तवन्दनकप्रदानानन्तर गणभृत्सु गच्छधरेषु भूमिमणि क्षोणीरत्न राजा विजयदानसूरीन्द्र प्रणयेन स्नेहेन वशिनो जितेन्द्रियस्य अस्य हीरविजयसूरेर्गणश्रिय तपागच्छलक्ष्मी वशवदामायत्ता प्रणिनाय चकार । 'सृजति करोति प्रणयति घटयति निर्माति निर्मिमीते च' इति करणार्था क्रियाकलापे । क इव । पितेव । यथा जनक स्वसुतस्य निजपुत्रस्य सपद गृहासपत्ति अनुक्रमागतात्मगृहलक्ष्मी वशवदा प्रणयति । किंभूत । नीतिमान् युक्तायुक्तविचारोपेत । गुरु पिता च ॥ इति समरथभणशालीकृतमहोत्सवपूर्वकश्रीहीरविजयसूरिपुरदराचार्यपदनन्दिवन्दनकप्रदानवर्णनम् ॥

मुदमादधिरे मुमुक्षवस्तमवाप्याभिनवोदय प्रभुम् ।

ननृते नरकद्विष पुनर्गणलक्ष्म्या पुरुषोत्तमं पतिम् ॥ १२५ ॥

मुमुक्षव सरारासारकारागार मोक्तुमिच्छव तपागच्छसाधव अभि सामस्त्येन नव 'णु स्तुता' नवन नव स्तुतिस्तद्युक्त प्रशसास्पद नवीनो वा उदयोऽभ्युदयन प्रादुर्भावो यस्य तादृश प्रभु स्वामिन हीरविजयसूरि अवाप्य लब्ध्वा मुदमानन्दम् । अर्थान् मानसे आदविरे वारयन्ति स्म । पुनर्थान्तरन्यासे गणलक्ष्म्या तपागच्छश्रिया नवीनाभ्युदय त पति नायक प्राप्य ननृते नर्तितम् । किंभूतम् । नरकस्य दुर्गतोद्विष वैरिणम् । पुन किंभूतम् । पुरुषेषु सकलमनुष्येषु उत्तम आचार्यत्वात् श्रेष्ठम् । तथा श्रिया क्षीरनीरनिवेर्नन्दिन्यापि नरकासुरसहारकारिण पुरुषोत्तम नारायण पति भर्तार सप्राप्य ननृते ॥

गणपूर्वगिरौ महोदयश्रमणव्योममणीसमीक्षणात् ।

कुनयैरिह कौशिकायितं भविकैः पङ्कजकाननायितम् ॥ १२६ ॥

इह जगति भूमिपीठे वा गणस्तपागच्छ स एव पूर्वगिरिरुदयाचल । 'पूर्वपर्वततिरोहितात्मन' इति सुरथोत्सवकाव्ये पूर्वशब्द । तथा 'अथोदयः पूर्वोद्वि' इति हैम्या-

मपि । तस्मिन् महान् सर्वातिशायी उदय पदस्थापनासमय एव सर्वोत्कृष्ट माहात्म्यं यस्य तादृशो य श्रमणव्योममणी सर्वसाधुषु तेजस्वित्वेन भास्कर तस्य समीक्षणादर्शनात् कुत्सितो विरुद्धो नयो मत येषां ते कुनया कुपाक्षिकास्तैः कौशिका घूकास्तैरिवाचरित प्रण(न)ष्टमित्यर्थः । पुनर्भवैर्मोक्षगमनयोग्येर्जनैः सम्यग्दृष्टिभिः पङ्कजानां कमलानां काननैर्वनैरिवाचरितम् । विकसितमित्यर्थः ॥

स्वयमेष शिवं गमी पुरानपि संप्रापयितुं प्रभुः प्रभुः ।

इति वक्तुमिवेश्वरान्दिशा यशसा व्यानशिरेऽखिला दिशः ॥ १२७ ॥

यशसा अर्थात् सूरीन्द्रश्लोकेनाखिला समस्ता दशापि दिशः व्यानशिरे व्याप्ता । उत्प्रेक्ष्यते—दिशा हरिताम् ईश्वरान्नायकान् । दिक्पालानित्यर्थः । इत्यग्रे वक्ष्यमाणं वक्तुं कथयितुमिव । इति किम् । यदेष प्रभुर्हीरविजयसूरि स्वयमात्मना शिवं मोक्षं गमी गमिष्यति कालसामाग्र्यभावाद्भवान्तरेऽपि पुनः परानन्यानपि जन्तून् मोक्षं संप्रापयितुं प्रभुः समर्थोऽस्ति । ‘यथा विदूराद्रिरदूरता गमी’ इति नैषधे ॥

कजपाणितमोद्विषज्जगन्नयनस्यास्य महोभरैर्भरात् ।

किमु चण्डरुचेरसूयया भ्रियते भूमिभस्तलद्वयी ॥ १२८ ॥

अस्य सूरेः महोभारे प्रतापपटलैर्भरादतिशयाद्भूमिभस्तलद्वयी मेदिनीगगनमण्डलयामलं भ्रियते अभिव्याप्यते । उत्प्रेक्ष्यते—चण्डरुचेः सूर्यस्यार्थात् प्रतापैः सार्द्धमसूयया ईर्ष्ययेव । अस्य किंभूतस्य । कज कमल अरुणत्वेन मृदुत्वेन वा तत्तुल्यं पाणिर्यस्य । अथवा आकृत्या कजं पद्मं पाणौ हस्ते यस्य । तथा तमसामज्ञानानां पापानां वा द्विषन् वैरी । तथा जगतां विश्वेषां धर्ममार्गदर्शकत्वेन नयनरूपः । पक्षे कमलाङ्कितकरस्यान्वकारद्विषतः जगच्चक्षुषः । विशेषणत्रयेऽपि कर्मधारयः ॥

स पतिव्रतयेव वल्लभो गणलक्ष्म्या समुपास्यत प्रभुः ।

अमुनागमि सा पुनर्मुद नगरी नीतिमतेव भूभृता ॥ १२९ ॥

स हीरविजयसूरिर्गणलक्ष्म्या तपागच्छश्रिया समुपास्यते सम्यक् सेव्यते स्म । कयेव । पतिव्रतयेव पतिः । स्वभतेव व्रतनियमो यस्याः स्वकीयभर्तारं विना स्वप्नेऽपि नान्यकामुककामयते । सा पतिव्रता तथा सत्या युवत्या वल्लभः स्वकान्तः सम्यक् त्रिकरणशुद्ध्या सेव्यते । पुनरन्यदर्थे अमुना सूरिणा सा गणलक्ष्मीर्मुदं परमानन्दमगमि प्रापिता । केनेव । भूभृतेव । यथा नीतिमता न्यायनिष्ठेन पार्थिवेन नगरी उपलक्षणात् स्वजनपदकलिता आत्मवासराजवानी प्रमोदं प्राप्यते । अथवा ‘तरुणीवत्तरुणेन सूरिणा’ इति पाठस्तदा किवत् । तरुणीवत् । यथा तरुणेन यूना पुसा तरुणी युवती मुदं प्रीतिं गम्यते प्राप्यते । ण्यन्तः प्रयोगः । किंभूतेन तरुणेन । सूरिणा पण्डितेन विविधविलासरसचतुरशीतिकामासनक्रीडानर्मवचनचातुरीचतुरेण । ‘मेधाविकोविद-

विशारदसूरिदोषदृक्' इति हैम्या विद्वन्नाम । तथा । 'वाचो वाच्यविवेकविक्रवधिया-
मीदृग्विधा मादृशां लप्स्यन्ते क्व किलावकाशमथवा सर्वसहा सूरयः' इति चम्पू-
कथायामपि । अथवेति स्मरणगर्भे पक्षान्तरे वा सूरयो विद्वास सर्वसहा । मादृशा-
मनतिप्रकृष्टा अपि वाच सहिष्यन्ते हृद्यववारयिष्यति ज्ञातृत्वादिति तद्विष्पनके ॥

अभजन्त यतिव्रजा विभुं विहगाः स्मेरमिवावनीरुहम् ।

पृणति स्म स तान्पुनर्महोदयसस्यं स प्रदिशंस्तानिव ॥ १३० ॥

यतिव्रजास्तपागणश्रमणसमूहा विभु हीरविजयसूरिमभजन्त सेवन्ते स्म । के इव ।
विहगा इव । यथा पक्षिण स्मेर विकसितमवनीरुह वृक्ष सेवन्ते । पुन स सूरिस्तान्
मुनिमण्डलान् पृणति स्म प्रीणाति स्म । कि कुर्वन् स । महोदयो मोक्षो महानुदयो
वा स एव सस्य फल प्रदिशन् प्रयच्छन् ददान । क इव । स इव । यथा स स्मेरावनी-
रुह फल स्वसस्य विश्राणयन् विहगान् प्रीणाति । 'प्रीणाति प्रीणयति च पृणतीति
प्रीणनार्था स्यु' इति क्रियाकलापे ॥ इति हीरविजयसूरेस्तपागच्छसाम्राज्यप्राप्तिः ॥

कुनयान्नयता विनम्रतां जयिनेव प्रतिगर्जतोऽमुना ।

दधताधरित क्षमां ह्रिया किमु पातालमहीश्वरोऽविशत् ॥ १३१ ॥

क्षमामतिशायिनी क्षान्ति उपशान्तवामित्यर्थं दधता धारयता अमुना सूरिणा अ-
धरित हीनीकृतो विकृत सन् अहीश्वर क्षमा पृथिवी धरतीति तादृश शेषनाग ।
उत्प्रेक्ष्यते—ह्रिया लज्जया किमु पाताल रसातलमविशत् प्रविष्ट इव । 'क्षमा क्षिति-
क्षान्त्यो' इत्यनेकार्थः । अमुना कि कुर्वता । [प्रतिगर्जतो वैतण्डिकान्] कुनयान् कु-
पाक्षिकान् शाक्यादीन् विनम्रता प्रणमनशीलता नयता प्रापयता । केनेव । जयि-
नेव । यथा विजयकारिणा नृपतिना प्रतिगर्जन्त स्पृद्धिन पार्थिवा विनम्रता नीयन्ते ।
'मुहृदयो हृदय प्रतिगर्जताम्' इति रघुवशे ॥

परिशीलितशीललीलया तुलयञ्श्रीसकडालनन्दनम् ।

स गभीरतयेव सागर गुणमाणिक्यनिधिः पराभवत् ॥ १३२ ॥

गुणा शमदमार्जवमार्दवादयस्त एव माणिक्यानि रत्नानि तेषा निधिर्निवान स सूरि-
रुत्प्रेक्ष्यते—गभीरतया त्रिजगज्जातिशायिस्वगाम्भीर्येण सागर पराभवत्पराजैषीदिव ।
कि कुर्वन् । परिशीलितमावालकालात्परिपालित यत् शील ब्रह्मचर्य तस्य लीला विला-
सस्तया सकडालनाम्नो नागरजातिद्विजस्य नन्दन पुत्र श्रीस्थूलभद्र तुलयन् सदृशी-
कुर्वन् ॥

निजधैर्यवदान्यताश्रिया विजिता येन सुराचलद्रुमाः ।

किमु तद्विजयाय मन्त्रणं सहवासच्छलतो वितन्वते ॥ १३३ ॥

येन सूरिणा निजस्यात्मनो धैर्यस्य धैर्यताया घोरोपसर्गपरिषहनिष्कम्पताया , तथा

वदान्यताया दानशीलतायाः श्रिया शोभया आधिक्येन वा सुराणां देवानां अचला पर्वताः पञ्च मेरवः तथा द्रुमा वृक्षाः पञ्च कल्पतरवः विजिताः पराभूताः सन्तः सह-वासच्छलतः एकत्र निवसनकपटतः । उत्प्रेक्ष्यते—तद्विजयाय सूरिपराभवनार्थं मन्त्रणमिथ आलोच्य किमु वितन्वते कुर्वन्तीव ॥ इति हीरविजयसूरिगुणा ॥

अधिपौ निखिलक्षमाभृतां सुरसेव्यौ कलधौतदीधितिः ।

हिमहेमगिरी नु जंगमौ मुनिचन्द्रौ भुवि तौ विजहतुः ॥ १३४ ॥

तौ मुनिचन्द्रौ विजयदानसूरि हीरविजयसूरीन्द्रौ भुवि पृथ्वीपीठे विजहतुः विहारचक्रतुः । किभूतौ । निखिलाः समस्ता क्षान्तिधरा शान्तिरसशालिनः साधवः तेषामधिपौ स्वामिनौ । पुनः किभूतौ । सुरैर्देवैः सेव्यौ उपासनीयौ । पुनः किभूतौ । कलधौतः काञ्चन तद्वद्दीधितिः शरीरकान्ती ययोस्तौ । नु इति वितके । जंगमौ सचरन्तौ हिमहेमगिरी हिमाचलसुराचलाविव । किंभूतौ । क्षमावराणां पर्वतानां नाथौ । ‘हिमालयो नाम नगाविराजः’ इति कुमारसम्भवनामकाव्ये । तथा ‘आरोहतु क्षितिधरा-विपति सुमेरुम्’ इति सूक्तावल्याम् । तथा देवैर्निषेवनीयौ । ‘कलधातः रूप्यसुवर्णयोः’ इत्यनेकार्थः । कलधौते इव रूप्यसुवर्णे इव कान्ती शोभा रुची शोभा वा ययोस्तौ ॥

अथ भावडसूनुसूरिराणमुदिरैर्मेदुरिते नभस्तले ।

इव मानस इष्टमानस कृतवान्सूरतिवन्दिरे स्थितिम् ॥ १३५ ॥

अथ हीरविजयसूरेर्नन्दिभवनानन्तरं कदाचित् कस्मिन्नपि सवत्सरे मुदिरैः प्रावृषे-ष्यपयोदैर्मेदुरिते पुष्टे कृते निभृते नभस्तले गगनमण्डले सति । वर्षाकाले इत्यर्थः । भावड इति नाम्नो व्यवहारिणः सूनुर्नन्दनः स एव सूरिराट् एतावता विजयदानसूरि-भूमिमधवा सूरतिनाम्नि वन्दिरे स्थलजलमार्गागमनस्थाननगरे स्थितिः चतुर्मासिका-स्थानलक्षणा चक्रे कृतवान् । क इव । इष्टमानस इव । यथा राजहंसो वर्षासमये मा-नसनाम्नि सरसि वसति कुरुते । ‘नृपमानसमिष्टमानसः’ इति नैषधे । इष्टमानसो हंस इति तद्वृत्तौ ॥

विलसत्यथ मेदपाटकाभिधदेशो वसुधाविशेषकः ।

निखिलेष्वपि मण्डलेषु यः प्रमुखोऽङ्गावयवेषु वक्रवत् ॥ १३६ ॥

अथ विजयसेनसूरेर्जन्मदीक्षावसरः अथापरवर्णनप्रारम्भे मेदपाट इत्यभिधा नाम यस्य तादृशो देशो विलसति शोभते । किभूतः । वसुधायाः पृथिव्याः विशेषकः अर्था-त्क्षोणीलक्ष्म्यास्तिलकः यो जनपदः निखिलेषु मण्डलेषु देशेषु प्रमुखः प्रकृष्टः सर्ववातु-खनीस्थानत्वेन प्रशस्यः । किवत् । वक्रवत् । यथा समग्रेष्वङ्गावयवेषु वक्रवदनः प्रमुखः चतुरिन्द्रियवसतित्वेन प्रवरम् । वक्रः पुनः पुनः ॥

सुरमन्दिरजित्वरश्रिया गमितं येन विमानमीयताम् ।

फणभृद्भुवनं भुवस्तलं भजति व्रीडभरोदयादिव ॥ १३७ ॥

येन मेदपाटमण्डलेन सुरमन्दिरस्य स्वर्लोकस्य जित्वर्या जयनशीलया श्रिया लक्ष्म्या विमाननीयतामपमानपदवीं गमितं प्रापितं सत्फणाभृद्भुवनं नागलोकं उत्प्रेक्ष्यते—व्रीडभरस्य लज्जातिरेकस्योदयादाविर्भावाद् भुवस्तलं भूमेरधोविभागं भजति शीलतीव । व्रीडशब्दोऽकारान्तोऽपि नाममालावृत्तौ तथा 'व्रीडाया च भवेद्व्रीड' इति शब्दप्रभेदे ॥

अलकायितपूःपरम्पराः परमं विभ्रति यत्र विभ्रमम् ।

नभसोऽनवलम्बनच्युतेः शतशोऽशा इव भूतले दिवः ॥ १३८ ॥

यत्र देशे अलकायिता सर्वसमृद्ध्या धनदनगरीवदाचरिता पूःपरम्परा पुरीषङ्गयः परममुत्कृष्टं विभ्रमं शोभां विभ्रति धारयन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—नभस आकाशादनवलम्बनेन आधाररहितत्वेन च्युतिं पतनं यस्यास्तादृश्या दिवो देवलोकस्य भूतले भूमिमण्डले शतशः शतसख्याका अशा भागा खण्डा इव ॥

त्रिजगद्विजयोद्यतस्य यद्वनराज्यो रतिजानि धन्विनः ।

सुमसंगतषट्पदा धनुर्विशिखोल्लासिखलूरिका इव ॥ १३९ ॥

यद्वनराज्यो मेदपाटमण्डलसबन्धिन्यो विविधविपिनश्रेणयः शोभन्ते इति सबन्धः । किंभूताः । सुमेषु पुष्पेषु सगता विकसत्यत्र प्रकरानि सरदमन्दमकरन्दपानागमनेन मिलिता अथवा मकरन्दपानलोलुपतया समेत्यान्तर्नीलीयमाना षट्पदा मधुकरा यासु ताः । उत्प्रेक्ष्यन्ते—त्रिजगद्विजयोद्यतस्य त्रिभुवनजनपरम्परापराभवनविनिर्मितोद्यतस्य रतिर्जाया यस्य स रतिजानि । 'जायाया निङ्' इति निप्रत्ययः । 'लोपो व्योर्वलि' इति यकारलोपे सिद्धं जानिरिति प्रक्रियाकौमुद्याम् । रतिपतिः स एव वन्वी धनुर्धरस्तस्य कुसुमायुवधानुष्कस्य वनूषि कोदण्डा विशिखा बाणास्तैरुल्लसन्ति शोभन्ते इत्येवशीलाः खलूरिका धनुर्विद्याभ्यसनभूमय इव । यत्र वनुः परिश्रमः क्रियते ॥

श्रितनागसगन्धसारभूरुहमाला व्यलसन्निहाचलाः ।

मलयस्य विलासमूर्तयः शमनाशाङ्कमपास्य हृष्यतः ॥ १४० ॥

इह मेदपाटमण्डले अचलाश्चित्रकूटप्रसुखा पर्वता व्यलसन् विभान्ति स्म । किंभूताः । श्रिता नागा हस्तिनो यैः । तथा सह गन्धैः परिमलैस्तथा सारैर्मज्जभिर्वर्तन्ते तादृश्यो भूरुहाणा विविधवृक्षाणां माला श्रेणयो येषु । पश्चात् कर्मवारयः । उत्प्रेक्ष्यते—मलयस्य दक्षिणाचलस्य विलासेनाक्रीडया अथवा विलासार्थं मूर्तयः काया इव । किंभूता मूर्तयः । श्रिता नागा भुजगा याभिः । 'रुद्धाश्चन्दनपादपा विषधरैरम्भोरुहा [कण्ट]-कैः' इति सूक्तोक्तेः । अथ अन्येषामपि द्रुमाणां कोटरेषु प्रायो भुजगा भवेयुरिति सगन्धसाराः चन्दनद्रुमकलिता भूरुहाणा रसालसालपुनागप्रियगुलवङ्गादितरुणा मा-

ला पङ्क्तयो यामु । मलयस्य कि कुर्वत । शमनस्य यमस्याशाया वाञ्छाया अङ्गमुत्स-
ङ्गम् । तत्त्वतस्तु दक्षिणादिक्क्रोडम् । अपास्य त्यक्त्वा हृष्यत प्रमोद प्राप्नुवतः । प्रायो
दुष्टाशयसमीप त्यजन् जन सतुष्यति ॥ इति मेदपादमण्डल ॥

इह नीवृति नारदाभिधा नगरी नागपुरीव राजते ।

बलिराजविराजितान्तरा रममाणानणुभोगिभाजिनी ॥ १४१ ॥

इहास्मिन् नीवृति मण्डले नारदाभिधा 'नडुलाई' इति नाम्ना लोकप्रसिद्धा नारद
इत्यभिधा नाम यस्यास्तादृशी नगरी नागपुरीव भोगवतीव राजते दीप्यते । किभूता ।
बलिना बलवता राज्ञा विशेषेण राजित शोभित अन्तर मध्य यस्या । पक्षे—बलि-
नाम्ना नृपेण दानवाविपतिना भूषितमन्तर मध्य बलिवेदमत्वात् । पुन किभूता । रम-
माणा खैर क्रीडा कुर्वाणा अनणवो महान्तो भोगिनो राज्यादिमुखवन्तो विलासिन-
स्तान् भजतीत्येवशीला । पक्षे—खेलनमहाकायभुजगकलिता ॥

उपमातुमिवामरावती भुवने तन्निभभावदुर्विधे ।

कृतवानरविन्दनन्दनः पुरमेता विबुधैरुपासिताम् ॥ १४२ ॥

अरविन्दनन्दनो ब्रह्मा । 'पद्मनन्दनसुतारिरसुना' इति नैषधे । यथा पद्मनन्दनस्तथैवार-
विन्दनन्दन इति । एता 'नडुलाई'नगरी कृतवान् निर्मितवान् । किभूताम् । विबुधै-
र्विशिष्टपण्डितैर्देवैश्च उपासिता सेविताम् । उत्प्रेक्ष्यते—तन्निभभावेस्तस्या अमरावत्या
निभास्तुल्या ये भावा नगरिरूपा पदार्थास्तैर्दुर्विधे दरिद्रे इन्द्रपुरीप्रतिमापरनगरीरहिते
तादृशे भुवने विश्वे अमरावतीमिन्द्रनगरीमुपमातुमुपमायुक्ता कर्तुमिव । अमरावतीस-
निभामित्यर्थ ॥

युवतीयुवराजिराजिते नगरे सालनिभान्मनोभवः ।

स्थितवान्नवसूरिसाध्वसादिव दुर्गं प्रविधाय सानुगः ॥ १४३ ॥

मनोभवो मदनो नगरे 'नडुलाई'पुर्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—नवसूरे हीरविजयाचार्यस्य
साध्वसाद्भयात् स्थितवानिव । कि कृत्वा । दुर्गं कोट्य प्रविधाय निष्पाद्य । कस्मात् । साल-
निभात् नगरीप्राकारच्छलात् । किभूते नगरे । युवतीयुवराजिराजिते तरुणीतरुणश्रेणी-
भूषिते । स्मर किभूत । सानुग सहानुगै स्वसेवकैर्निजपरीवारैर्वर्तते य ॥

यदनन्यहिरण्यशीतरुग्मणिक्लृप्तालयलक्ष्मिकाङ्क्षया ।

चरण मुरवैरिणोऽनिशं शुचिचन्द्रावुपचेरतुः किमु ॥ १४४ ॥

यस्या नारदपुर्या अनन्यानामसाधारणाना हिरण्यै सुवर्णे तथा शीतरुग्मणिभि
चन्द्रकान्तरत्नै क्लृप्ताना निर्मितानाम् । सुवर्णचन्द्रकान्तमयानामित्यर्थ । आलयानाम् ।
अनेकमन्दिराणामित्यर्थ । लक्ष्म्या शोभाया । लक्ष्मीशब्द शब्दभेदे ह्रस्वोऽप्यस्ति ।
तथा समासमन्ये ह्रस्वशब्दानयने न दोष । यदुक्त जिनप्रभम्परिकृतचतुर्विंशतिजिनस्तव-

ऋषभनम्रे—‘चरणलक्ष्मिकरग्रहणोत्सवे’ इति । उत्प्रेक्ष्यते—शुचिचन्द्रौ सूर्याचन्द्रमसौ । ‘हरिः शुचीनौ गमनाद्धजाध्वगौ’ इति हैम्या रविनामानि । मुरवैरिणो विष्णोश्चरण पद अनिश निरन्तर किमु उपचेरतुः सेवेते स्म ॥

प्रविभाव्य भवेन भस्मितं स्मरमेतन्निखिलानुजीविनः ।

किमु यत्र समेत्य चकिरे वसतिं पौरपरम्परोपधेः ॥ १४५ ॥

एतस्य स्मरस्य निखिला समस्ता अप्यनुजीविन सेवकाः यत्र नारदपुर्या समेत्या-
गत्य । उत्प्रेक्ष्यते—पुरे भवा पौरा नागरिकजना तेषां परम्परा श्रेणयः तासामुपधेः
कपटात् वसति निवास चकिरे कृतवन्तः । किमु किं कृत्वा । भवेन शम्भुना स्वधैर्य-
लोपोद्भूतकोपानलेन भस्मित ज्वालितावशेषीकृत भस्म करोतीति भस्मयति भस्मयते
स्मेति भस्मितस्तम् । ‘तत्करोति तदाचष्टे’ इति जि ऊयन्तत्वा(न्ता)त्कृ । स्मर स्वस्वा-
मिन मनोभव प्रविभाव्य दृग्गोचरीकृत्य ॥

कुतुकाद्बहुरूपिणं स्मरं हृदि निश्चित्य रतिर्युवभ्रमात् ।

स्वयमप्यकरोदिदमिता निजमूर्तीरिव यद्वधूपधेः ॥ १४६ ॥

रति शृङ्गारयोनिसीमन्तिनी स्वयमात्मनापि । उत्प्रेक्ष्यते—यद्वधूपधेर्नारदनामनग-
गरीसुन्दरीदम्भात् । इदमिता स्मररूपप्रमाणा यावन्ति स्मररूपाणि तावन्निजमूर्ती-
रात्मीयकायान् किमु अकरोत् कृतवतीव । किं कृत्वा । युवभ्रमान्नारदनगरीतरुणजन-
भ्रान्त्या कुतुकात् कौतूहलात् स्वकान्त स्मर बहुरूपिण अनेकानि रूपाणि सन्त्यस्येत्येव-
विव हृदि मनसि निश्चित्य निवाय निश्चयेनावधार्य यावन्ति रूपाणि स्वभर्त्रा स्मरेण
कौतुकात्क्रीडार्थं कृतानि, रत्यापि तेन सम रमणार्थं तावन्त्यात्मीयानि रूपाणि निर्मि-
तानीत्यर्थः । एतावता स्मररूपा युक्ता, रतिरूपाश्च युवत्य सन्तीत्यर्थः ॥ इति
नारदपुरीवर्णनम् ॥

मुरवैरिपुरीव माधवोऽजनि तत्रोदयसिंहभूधनः ।

धरणी रमणं प्रणीय यं शुशुभे सूरमिवारविन्दिनी ॥ १४७ ॥

तत्र नारदपुर्या उदयसिंहनामा भूधनो भूमीपतिरजनि सजातः । क इव । माधव
इव । यथा यथा मुरनाम्नो दैत्यस्य वैरी नारायणस्तस्य पूर्णगरी तस्या द्वारिकाया
पुर्या श्रीपतिर्नाम भूपतिः सजायते स्म । तथा धरणी मेदपाटमण्डलमेदिनी य उदय-
सिहराणक रमण भर्तार प्रणीय कृत्वा शुशुभे शोभते स्म । केव । अरविन्दिनीव । यथा
कमलिनी सूर सूर्य स्वपति प्रणीय शोभितवती ॥

युवतीव युवानमङ्गजान्कलधौतप्रमुखान्स्वनीव्रजान् ।

पृथिवी पृथिवीपुरंदरं यमवाप्य प्रमदादजीजनत् ॥ १४८ ॥

पृथिवी मेदपाटदेशावनी प्रमदादानन्दाद्य पृथिवीपुरंदर उदयसिहराणकमवाप्य

भर्तृत्वेन अविगत्य कलधौते कनकरूप्ये प्रमुखे आदी येषां तादृशान् सर्ववातुप्रवानान्
खनीव्रजान् खानिनिकरानजीजनत् प्रकटीकृतवती । केव । युवतीव । यथा तरुणी स्त्री
तरुण युवान तरुण यौवनमदोन्मत्त कान्त प्राप्य अङ्गजान् नन्दनान् जनयति ॥

विपुलां विपुलाहवाहताहितशूरस्रवदस्रराशिना ।

हृदयेशवदूर्णनाव यो नवकौसुम्भिकवाससा वशाम् ॥ १४९ ॥

य उदयसिंहमहीमहेन्द्रो विपुलाहवेषु महासग्रामेषु आहता सामस्त्येन सपरिवारेण
व्यापादिता येऽहिता स्वशत्रुभूता शूरा स्वभट्टास्तेषां स्रवताङ्गोपाद्भ्यो नि सरता
अस्रराशिना रुविरप्रकरेण विपुला वसुवामूर्णनावच्छादयामास । किवत् । हृदयेशवत्
प्राणवल्लभ इव । यथा भर्ता स्वकान्ता नवेन सद्यस्केन कौसुम्भिकेन कुसुम्भेन रक्त वस्त्र
कौसुम्भिक तेन कुसुम्भरञ्जितेन वामसा नोर्णोति आच्छादयति परिवापयति । ‘ऊर्णकृच्छ
आच्छादने’ ह्लादिको वातु ॥

बहुना महिमाभिनन्द्यते किममुष्योदयसिंहभूपतेः ।

न चिरादजरामरीभवेद्युधि योऽभ्येत्य हि संमुखीभवेत् ॥ १५० ॥

अमुष्योदयसिंहभूपतेर्महिमा माहात्म्य बहुनाविक्रयेन किं अभि सामस्त्येन नन्द्यते
समृद्धि प्राप्यते । अभिनन्द्यते प्रशस्यते वा । यस्मात् कारणाद्युधि सग्रामे यः कोऽपि
वीर सुभट् अमुष्य भूवल्लयैकवीरस्य राज्ञः अभ्येत्य शौर्यादागत्य संमुखीभवेत् समु-
खीभूयात् तेन सह सग्रामं कुर्यात् स विक्रान्तो न चिरादल्पकालादेव अजरामरीभवेद-
जरामरत्व लभते । देवभूय भजेदित्यर्थः । यत — ‘जिते च लभ्यते लक्ष्मीर्मृते चापि
सुराङ्गना । क्षणवित्त्वसिनि काये का चिन्ता मरणे रणे ॥’ इति वृत्तरत्नाकरवृत्तिवचनात् ॥
इत्युदयसिहराणक ॥

अपि तत्र कमाख्यनैगमोऽजनि तद्भूपुरुहूतसंमतः ।

व्यवहारिषु यः पुरोगता समवर्गेषु दधार धर्मवत् ॥ १५१ ॥

अपि पुनस्तत्र नडुलाईनगर्या कमा इत्याख्या नाम यस्य तादृशो नैगमो वणिक् अजनि
जातः । किंभूतः । तस्य पूर्वव्यावर्णितस्य भूपुरुहूतस्योदयसिंहभूमीन्द्रस्य समतो मान्यः ।
‘इदमप्रत्यक्षगते समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानी-
यात् ॥’ ग्रन्थकरणावसरे तस्य राज्ञः परोक्षत्वात् एतत्कथनम् । अथवा इदं स्वाभाविक-
वचनम्, कवीनां वर्णनौत्सुक्यात् सर्वमपि प्रत्यक्षमेव स्यान्नैपथ्ये प्रयोगनिदर्शनात् । इह
नगर्या यः कमाख्यः सावुर्व्यवहारिषु लक्ष्मीवत्सु पुरोगता प्रकृष्टताम् । ‘वर्यं वरेण्यं प्रकर
पुरोगम्’ इति हैम्याम् । मुख्यतामित्यर्थः । दधार बिभाति स्म । किवत् । धर्मवत् ।
यथा समेषु सर्वेषु चतुर्षु वर्णेषु अर्यादिलक्षणेषु धर्मः प्रवानता वर्त्ते । अर्यकाममोक्षाणां
धर्माधीनत्वेन धर्म एव मुख्यः ॥

किमपास्य जिनांहिसेवया शशिना येन कलङ्ककश्मलम् ।

स्थितमेत्य दिवः क्षितौ पुनर्नभसो नीलिमसङ्गशङ्कया ॥ १५२ ॥

येन यद्रूपेण कमामूर्तिना शशिना चन्द्रेण । उत्प्रेक्ष्यते—दिव आकाशादेत्य आगत्य क्षितौ पृथिव्याम् । अर्थात् नडुलाईनगर्याम् । स्थित वासो विहितः । किं कृत्वा । जिनो वीतरागः स्वविमानप्रसादगतशाश्वतार्हत्प्रतिमा तस्याहे पदस्य सेवया विविधपूजास्त-
वाद्युपासनया । अथ च जिनो विष्णुस्तस्याहेरुपास्त्या । तत्त्वतस्तु 'आकाश विष्णुपदम्'
इत्यभिधानम् । कलङ्करूप कश्मलः मलमपास्य निरस्य । तर्हि तत्रैव कथं न स्थितम्,
स्थानाभावे हेतुमाह—कया । पुनर्व्याघृत्य नभस आकाशस्य नीलिमा श्यामलत्व तस्य
सङ्गो मिलनं भवनं तस्य शङ्कया अनिष्टोत्प्रेक्षणेन । 'धृतगम्भीरखनीखनीलिमा' इति
नैषधे गगनस्य श्यामत्वम् । श्यामनीलत्वयोरभेदः ॥

करवीरगृहत्वमुग्रता प्रविहायात्मविरूपनेत्रताम् ।

पुरि यन्निभतोऽवतीर्णवानिव पीयूषमयूखशेखरः ॥ १५३ ॥

पुरि नारदपुर्या यस्य कमासाहस्य निभतः कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—पीयूषमयूखशेखर-
श्चन्द्रमौलिरीश्वरोऽवतीर्णवानिव अवतारं गृहीतवानिव । किं कृत्वा । करवीरगृहत्व श्म-
शानवेश्मताम् । 'श्मशानं करवीरं स्यात्' इति हैम्याम् । पुनरुग्रताम् । चण्डता तथात्मनो
निजस्य विरूप विरुद्ध विकृताकार वह्निमयत्वान्नेत्र यस्य तत्ताम् । 'अहिर्बुध्नो विरूपाक्ष-
विषान्तकौ च' इति हैम्याम् । तृतीयानललोचनतामित्यर्थः । प्रविहाय त्यक्त्वा ॥ इति
कमावर्णनम् ॥

कोडाईत्यस्य कान्तासीजगतीयुवतीमणिः ।

यथा सुमनसां सार्वभौमस्य जयवाहिनी ॥ १५४ ॥

अस्य कमाव्यवहारिणः कोडाई इति नाम्ना कान्ता पत्नी आसीत् । किंभूता । जग-
त्या भूमेर्युवतीनां यावद्वनितानां मध्ये मणी रत्नम् । केव । जयवाहिनीव । यथा सुमनसा
देवानां सार्वभौमस्य चक्रवर्तिनः शक्रस्य पोलोमी नाम पत्नी आस्ते । यथेतीवार्थः ॥

रम्भा दम्भादिवामुष्यास्त्रिदशी त्रिदशौकसः ।

विमोहिता कमारूपं निरूप्यास्यामुपागता ॥ १५५ ॥

कमाव्यवहारिणो रूपं शरीरसौन्दर्यं निरूप्य विलोक्य विमोहिता रागातिशयं प्राप्ता
सती अमुष्या कोडिमादेव्या दम्भात् कपटात् त्रिदशौकसः स्वर्लोकेतः अस्या नडुलाई-
पुर्या उपागता समेता । उत्प्रेक्ष्यते—रम्भानाम्नी त्रिदशी अप्सरा इव देवीव । अथवा
'प्रेक्ष्य क्षमायामुपागता' इति पाठः ॥

दृष्ट्वा पतिं रतं रत्या प्रीत्यैव त्यक्तकायया ।

दुःखात्सपत्न्यास्तत्पत्न्या व्याजाज्जन्माददेऽपरम् ॥ १५६ ॥

प्रीत्या प्रीतिनाम्न्या स्मराङ्गनया तस्य कमामावो पत्न्या व्याजात् कोडिमदेवीद-
म्भात् । उत्प्रेक्ष्यते—अपरमन्यजन्मावतार आददे गृहीतम् । किभूतया प्रीत्या । समान
एक पतिर्यस्या सा सपत्नी । ‘सपत्न्यादिषु नित्यं नुक् वाच्य’ इति सपत्नी । तस्या दुःखा-
दसातात् त्यक्त उज्झित काय शरीर यया । किं कृत्वा । पति स्मर स्वकान्त रत्यां
रतिविषये रतमत्यासक्त दृष्ट्वा विलोक्य । ‘श्रेणीद्वयेशयो कन्ये उपायस्त स...क्रमात् ।
वैजयन्ती जयन्ती च रतिप्रीती इव स्मर ॥’ इति रत्नशेखरसूरिकृतप्रतिक्रमसूत्रवृत्तौ
स्मरस्य रतिप्रीतिनाम्न्यौ द्वे पत्न्यौ ॥

त्यक्त्वावतीर्णां पुरुषं पुराणं स्वमिमां रमाम् ।

विलक्ष्य प्रेक्ष्य तद्दुःखान्ममज्जेवार्णवे जले ॥ १९७ ॥

अर्थात् श्रीपति तद्दुःखात्तस्या स्वपत्न्या लक्ष्म्या दुःखादसातादतीवार्त्या । उत्प्रेक्ष्यते—
आर्णवे समुद्रसबन्धिन्यगावे जले पानीये ममज्ज मग्नवानिव । किभूत । विलक्ष्य पत्न्या
परलोकगमनावलोकनाद्विमनायमान । किं कृत्वा । प्रेक्ष्य प्रविभाव्य । काम् । रमा ल-
क्ष्मीम् । किलक्षणाम् । अवतीर्णां गृहीतावताराम् । काम् । कोडिमदेवीम् । कोडाईरूपामि-
त्यर्थः । ‘ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य या शतमध्यासत तत्सखीजन’ । ध्रुवमुत्प्रेक्ष्यते—‘शत श-
तश सख्याः अप्सरस सुराङ्गना अवतीर्य या नगरीमध्यासताश्रयन्ति स्म । पर क ।
तत्सखीजनः तस्या दमयन्त्या वयसीरूपो लोकसमुदाय’ इति नैषधतट्टिती । किं
कृत्वा । पुराण जीर्णं वृद्धं पुरुष भर्तार स्वमात्मानं त्यक्त्वा निरस्य । वृद्धपुरुषनिर्वेदान्निज
विमुच्येत्यर्थः ॥

स्पर्धयेव दिवा दम्भादस्याः स्त्रैणशिरोमणे ।

धृतेतरा पुरा रम्भा चित्तभूभूमिभृत्सभा ॥ १९८ ॥

पुरा नारदनामनगर्यास्या कोडिमदेव्या दम्भाद्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—इतरा अन्या रम्भा
अप्सरोविशेषा धृता कलितेव । कया । दिवा दैवलोकेन सम सार्व सार्वया सधर्षेण अ-
सूयया वा । अस्या किलक्षणाया । स्त्रीणां समूहं स्त्रैण तस्य शिरोमणेश्चूडामणिसनि-
भाया । किभूता रम्भा । चित्तभू काम स एव भूमिभृत्पार्थिवस्तस्य सभा उपवेशुमा-
स्थानशाला ॥ इति कोडिमदेवी ॥

अमन्दानन्दसंदोहमेदुरौ तौ वधूवरौ ।

गमयाचक्रतुः कालं केलतीश्रीसुताविव ॥ १९९ ॥

तौ पूर्वव्यावर्णितस्वरूपौ वधूवरौ कोडिमदेवीकमाङ्गव्यवहारिणौ कालं सुखगृहवासस-
बन्धिन गमयाचक्रतुरतिचक्रमतु । काविव । केलतीश्रीसुताविव । यया केलती रति ।
‘केलतीमदनयोरुपाश्रये’ इति नैषधे । ‘केलती रति’ इति तट्टितौ । श्रीसुत काम ।
विविधविलासैरनेहस गमयत स्म । किभूतौ । अमन्दा अकुण्ठा प्रत्यह वर्धमाना ये
आनन्दास्तेषां सदोहो नानात्व तेन मेदुरो पुष्टौ ॥

कदाप्यदर्शि तत्पत्न्या स्वप्ने सुखशयानया ।

उत्सङ्गसंगतः सिंहः श्रेयोराशिरिवाङ्गवान् ॥ १६० ॥

कदापि कस्मिन्नपि निशासमये सुखेनाधिव्याविरहितत्वेन शयानया सुव्वचा किञ्चि-
न्निद्रायमाणया तत्पत्न्या कमाकान्तया कोडिमदेव्या स्वप्ने निद्रावस्थायामुत्सङ्गे निजक्रोडे
संगतः स्थायुकः सिंहः केसरी अदर्शि दृष्टः । उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गवान्मूर्तिमान् श्रेयोराशिः
पुण्यपुञ्ज इव ॥

मृणालधवलान्स्कन्धे बिभ्रद्वन्धुरकेसरान् ।

शिखरे शिखरी शंभोः शारदीनानिवाम्बुदान् ॥ १६१ ॥

सिंहः किं कुर्वन् । स्कन्धे भुजशिरसि मृणाल कमलनाल तद्वद्वलानुज्ज्वलान्, तथा
बन्धुरान्मनोज्ञान् केसरान् स्कन्वोद्गतरोमाणि बिभ्रत् धारयन् । क इव । शिखरी यथा
शंभोर्भूधरः कैलासः शिखरे स्वशृङ्गे शारदीनान् शरत्कालसबन्धिनः नि शेषेण वर्षणेन
विशदीभूतान् अम्बुदान् मेघान् बिभर्ति । ‘अन्ये ते जलदायिनो जलवरास्तृष्णा वि-
निघ्नन्ति ते भ्रातश्चातक किं वृथात्र रटितैः खिन्नोऽसि विश्रम्यताम् । मेघः शारद एष
काशधवलः पानीयरिक्तोदरो गर्जत्येव हि केवल भृशमपा नो बिन्दुमप्युज्जति ॥’
इति चातकाष्टके सूक्ते शारदमेघे धवलिमा ॥

किमभ्यर्थयमानानामुच्छेत्तुं दौस्थ्यमर्थिनाम् ।

कुम्भिकुम्भभिदालग्ना मुक्ता बिभ्रन्नखान्तरे ॥ १६२ ॥

पुनः किं कुर्वन् । नखानां कामाङ्कुशानामन्तरे मध्ये अर्थान्नखाग्रेषु कुम्भिना भद्रजा-
तिभवानां हस्तिना कुम्भानां शिरः पिण्डानाम् । ‘कुम्भौ तु शिरसः पिण्डौ’ इति हैम्याम् ।
मस्तकानां भिदा विदारणं द्विधाकरणं तदवसरे विलग्नानां नखाग्राणामतितीक्ष्णत्वे भिदा
समये लगित्वा स्थिता मुक्ता मौक्तिकानि बिभ्रद्वत् । उत्प्रेक्ष्यते—अभ्यर्थयमानानां
याचना कुर्वाणानामर्थिना याचकानां दौस्थ्यं दारिद्र्यमुच्छेत्तुं मूलान्निहन्तु किं वनाढ्यी-
कर्तुमिव ॥

जृम्भणादाननः काशप्रतीकाशो विकाशयन् ।

मत्तस्तम्बेरमीकान्तकवलीकृतये किमु ॥ १६३ ॥

पुनः किं कुर्वन् । जृम्भणात् जृम्भाकरणात् आननं निजमुखं विकाशयन्विकस्वरं कु-
र्वन् । प्रसारयन्नित्यर्थः । किंभूतः । काशाः प्रतीता ईषिकास्तेषां प्रतीकाशः धैत्येन तत्स-
न्निभः । ‘विकसत्कासचामरः’ इति रघुवशे । उत्प्रेक्ष्यते—मत्ता मदोत्कटा ये स्तम्बे-
रमीकान्ता करिणः तेषां कवलीकृतये गण्डोलीकरणार्थं किमु । भक्षणार्थमिवेत्यर्थः ॥
आदितश्चतुर्भिः कुलकम् ॥ इति सिंहस्वप्नः ॥

जहे महेलया निद्रा विनिद्रन्नेत्रपत्रया ।

संगतिदौर्जनीयेव सज्जनानां समज्यया ॥ १६४ ॥

विनिद्रती विकाश प्राप्नुवती नेत्रपत्रे नयनकमलदले यस्यास्तया कमाकान्तया को-
डिमदेव्या निद्रा प्रमीला सुप्त्यवस्था जहे त्यक्ता । ‘महिला स्यान्महेलया’ इति शब्द-
प्रभेदे । तथा । ‘यश्च परमहेलारतोऽप्यपारदारिक’ इति चम्पूकथायाम् । कयेव ।
समज्ययेव । यथा सज्जनाना साधूना समज्यया सभया । ‘ब्राह्मीव दौर्जनी ससद्वन्दनी-
या समेखला’ इति चम्पूकथायाम् । श्रेण्यर्थवाची सभाशब्द । दुर्जनानामिय दौर्जनीया
दुर्जनसबन्विनी सभा श्रेणी । ‘उडुपरिषद कि नार्हन्ती निश किमनौचिती’ इति
नैषधे परिषच्छब्द पङ्क्यर्थवाची । संगतिर्मिलनम् गोष्ठी वा हीयते ॥

कंसारेरिव रुक्मिण्या स स्वप्नः स्वपतेः पुरः ।

तया मुदितयाभाषि भाषितेशोपमेयया ॥ १६५ ॥

तया कोडिमदेव्या स सिंहदर्शनलक्षण स्वप्न स्वपतेः कमाख्यव्यवहारिण
निजभर्तु पुरोऽग्रे अभाषि कथित । कयेव । रुक्मिण्येव । यथ रुक्मिनृपभगिन्या
स्वपते कसारे कृष्णस्याग्रे नक्तदृष्ट स्वप्नोऽभाषि प्रोक्त । तया रुक्मिण्या च किलक्ष-
णया । मुदितया हृष्टचितया । पुन किभूतया । भाषितेशोपमेयया भाषितेशया
स्ववचनचातुर्या कृत्वा सरस्वत्या सार्वमुपमीयते उपमातु योग्येत्यर्थ ॥

स विचार्य विचारज्ञोऽङ्गनामिदमजीगदत् ।

सूनुः सिंह इवाधृष्यो भविता तव भामिनि ॥ १६६ ॥

स कमानाम व्यवहारी अङ्गना निजकामिनी कोडिमदेवी इदमत्रैवानुष्टुभि वक्ष्य-
माणमजीगदत्कथयति स्म । कि कृत्वा । विचार्य स्वस्वाभाविकमतिपूर्वकबुद्धिवि-
ज्ञानेन विमृश्य । सिंहदर्शनलक्षणापूर्वस्वप्नविचार विधायेत्यर्थः । स व्यवहारी कि
विचारज्ञ । आयतौ स्वपरहितावहोदर्कविमर्शने कुशल । इद किम् । हे भामिनि
वर्णिनि सिंह इव पञ्चाननवत् परैरधृष्योऽनाकलनीय । ‘अधृष्यश्चाभिगम्यश्च’ इति
रघुवशे । तव भवत्या सूनुर्नन्दनो भविता भविष्यति ॥

गन्धसिन्धुरराजस्य वशेवालसगामिनी ।

अन्तर्वली ततः पत्नी महेभ्यस्य बभूवुषी ॥ १६७ ॥

तत सिंहस्वप्नदर्शनपुत्रप्राप्तिरूपतदर्थश्रवणानन्तर महेभ्यस्य कमानामव्यवहा-
रिण पत्नी जाया कोडिमदेवी अन्तर्वली गुर्विणी गर्भवती बभूवुषी सजायते
स्म । किभूता । अलस मन्थरमचपल गच्छतीत्येवशीला गामिनी । केव । वशेव ।
यथा गन्धेनोत्कटमदवारिसौरभेणोपलक्षित । सिन्धुरराजो गजेन्द्रस्तस्य वशा प्रिया
हस्तिनी मन्थर व्रजति तत्रापि गर्भमन्तर्वहन्ती सा । ‘वशा नार्या वन्ध्यगत्र्या

हस्तिन्या दुहितर्यपि । वेश्यायामपि' इत्यनेकार्थः । यद्यपि वशाशब्दो हस्तिन्या प्रवर्तते तथापि बाहुल्यान्नार्यामेव प्रयुज्यमानत्वाद्गन्धसिन्धुराजस्य वशा हस्तिनीत्यभिधानम् । गन्धेभपत्नीत्वात्प्राधान्यं च ॥

समयेऽथ तथा रत्या ब्रह्मसूरिव नन्दनः ।

सुषुवे सुषुमास्तोमः प्रोद्धवन्मूर्तिमानिव ॥ १६८ ॥

अथ गर्भभवनानन्तरं समये सार्धसप्तवासराविकनवमासपरिपूर्तिप्रस्तावे तथा कोडिमदेव्या नन्दन पुत्र सुषुवे प्रसूत । कयेव । रत्येव । यथा कन्दर्पपत्न्या ब्रह्मसूरनिरुद्धनामा तनय प्रसूत । 'कन्दर्पसुतोऽनिरुद्ध ऋष्याक ऊषेशो ब्रह्मसूत्र स' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिमान् शरीरसयुत प्रोद्धवन् प्रकटीभवन् सुषुमास्तोम सातिशायिशोभासमुदय इव ॥

तनूजन्माननज्योत्स्नानाथे लवणिमामृतम् ।

चकोरेणेव पिबता ननृते पितृचक्षुषा ॥ १६९ ॥

पितृचक्षुषा कमामहेभ्यलोचनेन ननृते नर्तितम् । किं कुर्वता । पितृचक्षुषा तनूजन्मन स्वनन्दनस्य आननमेव वदनमेव ज्योत्स्नानाथश्चन्द्रमास्तस्मिन् लवणिमा लावण्य सौन्दर्यमेवामृतं सुधा पिबता । सादरमवलोकयतेत्यर्थः । केनेव । चकोरेण यथा ज्योत्स्नाप्रियेण कुमुदवान्ववबिम्बे ज्योत्स्नामृतं पिबता सता नृत्यते ॥

क्षीरकण्ठः कृतोत्कण्ठः संजाते जातकर्मणि ।

उत्तेजित इवादर्शः शिश्रिये परमां श्रियम् ॥ १७० ॥

क्षीरकण्ठ शिशुः कमादारक जातकर्मणि जातस्य सप्राप्तजन्मनः सूनोः स्थितिपदिकाचन्द्रसूर्यदर्शनषष्ठीजागरणाशुचितादिनिवर्तनादिके कर्मणि कर्तव्ये संजाते सति परमा प्रकृष्य श्रियः शोभा शिश्रिये श्रियति स्म बभाज । किंभूतः क्षीरकण्ठः । कृता निर्मिता स्वसौन्दर्यादिगुणैः स्वजनादीनां दर्शनावुत्कण्ठा औत्सुक्येन । क इव श्रियं श्रितवान् । उत्तेजितः शाणोल्लिखितो निर्मलीकृत आदर्श इव । यथा उत्तेजितो दर्पणः शोभां भजते ॥

अयं जयं यतः कर्ता सिंहवद्वेषिदन्तिनाम् ।

जयसिंह इतीवास्य बीजी नाम विनिर्ममे ॥ १७१ ॥

बीजी तत्पिता कमाह । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोस्तस्य कुमारस्य जयसिंह इति नाम विनिर्ममे कृतवानिव । इति किम् । यतः कारणादयं कुमारः सिंहवत्केसरीव द्वेषिणः स्वशात्रवान् जिनिशासनप्रतिकूलताभाजो वा कुवादिनस्त एव दन्तिनो गजास्तेषां जयः पराभवः कर्ता विधास्यति । 'वप्ता तु जनकस्तातो बीजी जनयिता पिता' इति हैम्याम् ॥

धात्रीभिः प्रेमपात्रीभिः पाल्यमानः स बाल्यतः ।

रामो यादवरामाभिरिवासौ ववृधे क्रमात् ॥ १७२ ॥

अथ नामादिनिर्माणानन्तरं स जयसिंहकुमार क्रमादनुक्रमेण ववृधे वर्धते स्म । किंभूत । बाल्यतो जन्मदिन प्रभृतीकृत्य प्रेमपात्रीभिः कुमारोपर्यतिशयितस्नेहभाजन-भूताभिर्धात्रीभिरुपमातृभिः पाल्यमानः रक्ष्यमाणः सम्यग्यत्नेन गोप्यमानः । क इव । राम इव । यथा बलभद्रो यादवाना यदुवशोत्पन्नाना रामाभिर्वनिताभिः पाल्यमानो वर्धते स्म ॥

पुपोषावयवैर्वृद्धिं स क्रमेण स्तनंधयः ।

आलवालाम्बुपायीव शाखाभिश्चन्दनाङ्कुरः ॥ १७३ ॥

स जयसिंहः क्रमेण परिपाठ्या अवयवैरङ्गोपाङ्गैर्वृद्धिमुपचयः पुपोषः पुष्णाति स्म । किंभूतः । स्तनंधयः उपमातृणा पयोधरपयः मा(पा)नविवायी । क इव । चन्दनाङ्कुर इव । यथा आलवालस्य स्थानकस्याम्बु पानीयः पिवतीत्येवशीलः श्रीखण्डपादप्ररोहः शाखाप्रशाखाभिरुपचयः लभते ॥

स प्राक्चङ्क्रमणैः पित्रोरारोप्य प्रीतिवीरुधम् ।

आलपन्सफलीचक्रे वर्षन्निव घनाघनः ॥ १७४ ॥

स जयसिंहः आलपन् ब्रुवन् सन् पित्रोर्जननीजनकयोः प्रीतिवीरुधः स्नेहलता सफलीचक्रे कलकलिता कृतवान् । किं कृत्वा । प्राक् पूर्वः चङ्क्रमणैर्हिण्डनैः कृत्वा आरोप्य स्थानके निवेश्य । रोपयित्वेत्यर्थः । सफलीचक्रे क इव । घनाघन इव । यथा वर्षन् वारिवृष्टिः सृजन् वारिवाहः प्राग्वल्ली वृक्षादिष्वारोप्य स्थापयित्वा सफलीकुरुते ॥

वर्धमानः क्रमेणासावजनिष्ठाष्टहायनः ।

प्रत्यहं प्रणयन्केलीः सिन्धुराधिपपोतवत् ॥ १७५ ॥

असौ जयसिंहः क्रमेण वर्षपरिपाठ्या वर्धमानः सप्तष्टा(ष्टो)सख्याकानि हायनानि वत्सराणि यस्य तादृशोऽजनिष्ठः सजातवान् । किं कुर्वन् । प्रत्यहः बाल्यत्वान्निर्गलः प्रतिवासरः केलीर्बालवयोयोग्या क्रीडा प्रणयन् कुर्वन् । किवत् । सिन्धुराधिपपोतवत् । यथा गजेन्द्रस्य दशवार्षिकः शिशुर्गजो बालक्रीडा कुर्वन् वर्धते । 'स्यात्पोतो दशवार्षिकः' इति हैम्याम् ॥

सोऽनवद्यास्ततो विद्यां साधीते गुरुसंनिधौ ।

हार्दं तासां च जग्राहाभिज्ञवन्मुग्धचेतसाम् ॥ १७६ ॥

ततोऽष्टवर्षभवनानन्तरं स जयसिंहो गुरुसंनिधौ कलाचार्यस्य समीपे अनवद्या निष्पापा प्रशस्ता वा विद्यां अधीते स्म पठति स्म । च पुनस्तासां विद्यानां हार्दं रहस्यं

विशेषादिक जग्राह । यत '—वेश्यानामिव विद्यानां मुख कैः कैर्न चुम्बितम् । हृदयग्राहिणस्तासा द्वित्रा सन्ति न वा क्षितौ ॥' इति सूक्तवचनात् । स विद्याहृदयग्राही जज्ञे । किवत् । अभिज्ञवत् । यथा छेकः पुमान् मुग्ध कार्याकार्यविचारानभिज्ञ हिताहितज्ञानरहित वा परवञ्चनकपटाभिप्रायवेदनामूढ वा चेतो मनो येषा तेषा पुसा हार्द गृह्णाति रहस्य पृष्ठा दत्ते । यतः—'रच्चावइ रच्चइ नही परमन लिन्ति न दिन्ति । धुत्तछ-यल्ला एह गुण मन हरि मान करन्ति ॥' इति वचनात् ॥

सिद्ध्यध्वानं प्रतिष्ठासुर्विधित्सुर्धर्ममार्हतम् ।

सखायमिव तद्वत्ता संयमं समुपाददे ॥ १७७ ॥

ततोऽनन्तरमित्यध्याहार । तस्य जयसिंहस्य वत्ता पिता संयम चारित्र समुपाददे सम्यक्प्रकारेण गृह्णाति स्म । कमिव । सखायमिव । यथा कश्चित्सखाय मित्र वा गृह्णाति । सख्युर्ग्रहणे कारणमाह—किं चिकीर्षु । सिद्ध्यध्वान मोक्षमार्गं प्रतिष्ठासु प्रस्थातुमिच्छु । पुन किं कर्तुमिच्छु । मार्हत जैन धर्म चारित्रलक्षण विधित्सु विधातुमिच्छु कर्तुकाम । यो हि मार्गं प्रतिष्ठते तस्य सहायोऽवश्य विलोक्यते । कार्यकरणेऽपि च सख्युरपेक्षा स्यादिति ॥

ततो नमसितुं तातं कुमारः स कदाचन ।

प्रतिष्ठते स्म सानन्दं वृषभाङ्गमिवार्षभिः ॥ १७८ ॥

तत पितु परिव्रज्याग्रहणानन्तरं स जयसिंहकुमारः कदाचन कस्मिन्नपि समये तात स्वपितरं कमर्षिं नमसितुं नमस्कर्तुम् । 'नमसितुमना यन्नाम स्यान्ननाम न पूषणम्' इति नैषधे । सानन्दं सप्रमोदं प्रतिष्ठते स्म । प्रचचाल । क इव । आर्षभिरिव । यथा भरतो वृषभाङ्ग स्वतातमृषभदेव प्रणन्तु प्रचलति स्म ॥

प्रीतिवापीपयःपूराप्लवनैः पुलकाङ्किता ।

प्रसूस्तमनुयाति स्म गौरिवाङ्गजमात्मनः ॥ १७९ ॥

प्रसूर्जयसिंहजननी कोडाई तं स्वनन्दनमनुयाति स्म अनुजगाम । किंभूता । प्रीतिः स्वपुत्रोपरि य स्नेहः सैव वापी दीर्घिका तस्या पयःपूरे आप्लवनैः स्नाने कृत्वा पुलकाङ्किता रोमाञ्चकञ्चुककलिता जाता । केव । गौरिव । आत्मनोऽङ्गज वत्सरूपमनुगच्छति ॥

श्रीमन्मुनिनिशारत्नं जयसिंहकुमारराट् ।

प्रणतेर्गोचरीचक्रे श्रीवीरमतिमुक्तवत् ॥ १८० ॥

जयसिंहनामा कुमारराट् पृथुकपार्थिवः श्रीमन्त गणलक्ष्मीरमण मुनीना मध्ये निशारत्न चन्द्रमस विजयदानसूरि प्रणतेर्नमस्कारस्य गोचरीचक्रे विषयीकृतः । प्रणत इत्यर्थः । किवत् । अतिमुक्तवत् । यथा अतिमुक्तककुमारः श्रीवीर श्रीमन्महावीरदेव प्रणतवान् ॥

अथ पृथुकपुरोगः संमदेन व्रतीन्दो-

रिव गजसुकुमाल. स्वामिनोऽरिष्टनेमे ।

अधिकमधरयन्तीं साधिमानं सुधाना

श्रवणविषयभावं देशनामानिनाय ॥ १८१ ॥

अथ सूरतिवन्दिरे सूरिपार्श्वगमनानन्तरं पृथुकपुरोगः कुमारश्रेष्ठ । ‘वर्यं वरेण्यं प्रवरं पुरोगम्’ इति हेम्याम् । संमदेन हर्षेण व्रतीन्दो सूर्यदेशना वर्मोपदेशं श्रवणविषयभावश्रुतिगोचरतामानिनाय प्रापयति स्म । शृणोति स्मेत्यर्थः । देशना किं कुर्वतीम् । सुधानाममृतरसानां साधिमानं चारुताम् । आस्वादमित्यर्थः । अधरयन्तीं हानीं कुर्वतीम् । किमधिकं बहु यथा स्यात्तथा । मिष्टत्वेन सुवामपि विकुर्वतीमित्यर्थः । क इव । गजसुकुमाल इव । यथा कृष्णलघुभ्राता देवक्या अष्टमः पुत्रो गजसुकुमालः अरिष्टनेमे श्रीनेमिनायस्य स्वामिनो जगन्नाथस्य तीर्थकृतो देशनां शुश्राव ॥

असाराद्देहिना देहात्सारोऽर्हद्धर्म एव हि ।

उद्धार्योऽनर्थकार्यार्थादानशौण्डेन दानवत् ॥ १८२ ॥

देहिना भविकप्राणिना असारादाविव्याविजरादिभिः साररहितीकृताद्देहादात्मशरीरादर्हतो जिनस्य जिनप्रणीत एव सारो निखिलार्थसावको वर्म एवोद्धार्य उद्धरणीयः । किवत् । दानवत् । यथा अनर्थं पितृभ्रातृपुत्रमित्रादिद्रोहं कारयतीत्येवशीलादर्थद्वानादानशौण्डेन वदान्येन दानमुद्ध्रियते । यदुक्तम्—‘दानं वित्तादृतं वाचं कीर्तिवमो तथायुषः । परोपकरणं कायादसारात्सारमुद्धरेत् ॥’ इति ॥

प्रबुबुधे प्रभुदेशनयानया शिशुसहस्रदृशा सममम्बया ।

विशदचन्द्रिकयेव कुमुद्वतीलतिकया कुमुदेन तमीमणेः ॥ १८३ ॥

शिशुसहस्रदृशा कुमारपुरदरेण प्रबुबुधे प्रतिबोधं प्राप्यते स्म ससाराद्विरज्यत । कथम् । समं सार्वम् । कया । अम्बया तजनन्या कोडिमदेव्या । कया । प्रभोर्विजयदानसूरेरनया पूर्वोक्तया देशनया वर्मकथया । केनेव । कुमुदेनेव । यथा तमीमणेश्चन्द्रस्य विशदचन्द्रिकया शरत्समयनिर्वृतोद्गुरजलवररोधनिर्मलीभवच्चन्द्रगोलिकया कृत्वा कुमुद्वतीलतिकया कुमुदिनीवह्न्या समं कैरवेण प्रवुध्यते ॥

प्रभोरुपान्ते सममम्बया महामहैर्महेभ्यीभवदर्थिमण्डलैः ।

सुनन्दया सींहगिरेः स वज्रस्वामीव जग्राह शिशुस्तपस्याम् ॥ १८४ ॥

स शिशुर्जयसिंहकुमारः अम्बया कोडाईमात्रा समं प्रभोर्विजयदानसूरेरुपान्ते समीपे महामहैर्भविकजनविनिमित्तानेकाविकोत्सवैस्तपस्या दीक्षां जग्राह आदत्ते स्म । महामहैः किलक्षणैः । महेभ्योभवदर्थिमण्डलैर्महेभ्योभवन्तः कामिताविकवनप्रदानै-

र्धनाढ्या जायमाना अर्थिना याचकाना मण्डला समूहा येषु । क इव । वज्रस्वामीव ।
यथा वनगिरिसुत वज्रस्वामिनो जननी सुनन्दानाम्नी तथा स्वजनयित्र्या सार्धं सीह-
गिरिनामाचार्यस्य पार्श्वे महामहोत्सवै प्रव्रज्या गृह्णाति स्म ॥

जयविमल इदं तन्नामधेयं विधिज्ञो

व्यधित विजयदानः सूरिसारङ्गराजः ।

पुनरभिनवसूरेस्त प्रदत्ते स्म सूनो-

र्विनयिन इव वप्ता स्व क्रमेणागतं स्वम् ॥ १८५ ॥

विजयदाननामा सूरिष्वाचार्येषु सारङ्गराजो मृगेन्द्र सिंहः जयविमल इदमेतत्तस्य
जयसिहमुनेर्नामधेयमभिवान व्यधित विदधाति स्म । किभूत । विधि शास्त्रोक्त लौ-
किक च आचार जानाति वेत्तीति विविज्ञ । पुनरन्यमर्थमभिवत्ते—पुनस्त जयविमल-
मुनिमभिनवसूरेर्नवीनस्थापिताचार्यस्य हीरविजयसूरे प्रदत्ते स्म दत्तवान् । क इव ।
वप्तेव । यथा पिता तात कुलक्रमेण स्वान्ववायपरिपाठ्या समेत स्वमात्मीय स्व द्रविण
विनयिनो विनयवतः स्वनन्दनवैनयिककर्तव्यापहतचेता पिता सूनोर्निजनन्दनस्य
प्रददाति ॥ इति विजयसेनसूरेर्जन्मदीक्षादिवर्णनम् ॥

विजयदानविभुर्वटपल्लिकाभिधपुरेऽथ विभूषितवान्दिवम् ।

भुवि भरेण विसार्य पुनर्दिवि प्रथयितुं महिमानमिवात्मनः ॥ १८६ ॥

अथानन्तर विजयदाननामा विभुर्गच्छाविपति सूरि वटपल्लिका ('वडली' इति लोक-
प्रसिद्धा) इत्यभिधा नाम यस्य तादृशे पुरे दिव स्वर्लोक विभूषितवान् अलकरोति स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—आत्मन स्वस्य महिमान माहात्म्य दिवि देवलोके पुनर्भूमण्डलापेक्षया
द्वितीयस्थाने प्रथयितु विस्तारयितुमिव । किं कृत्वा । भुवि पृथिव्या भरेणातिशयेना-
र्थान्महिमान विसार्य विस्तारयित्वा ॥

सूरीन्द्रहीरविजयः प्रतिपद्य पट्ट-

लक्ष्मी गुरोरनु विशिष्य पुपोष भूषाम् ।

वसुर्निजस्य युवराज इवाधिपत्य

क्रान्तारिचक्रमखिलाम्बुधिमेखलायाः ॥ १८७ ॥

सूरीन्द्र सूरीणा सर्वेषा मध्ये परमैश्वर्यादिन्द्र एवविध श्रीहीरविजय एतावता
श्रीहीरविजयसूरिपुरदर गुरोर्विजयदानसूरेरनु पश्चात् पट्टलक्ष्मी पट्टश्रिय प्रतिपद्याङ्गी-
कृत्य विशिष्य विशेषप्रकारेण कृत्वा भूषा शोभा पुपोष पुष्णाति स्म । क इव । युवराज
इव । यथा युवराजपदवी प्रतिपन्नो राजकुमारो निजस्य वसुः आत्मीयस्य जनकस्या-
नन्तर क्रान्तारिचक्र पराभूताभिमानिभूमिपतिमण्डलवशीकृतसमस्तप्रतिपन्थिपार्थिवसार्ध
वा अखिलाम्बुधिमेखलाया नि शेषकाश्यपीपीठस्याविपत्यमैश्वर्यं प्राप्याधिक शोभते ॥

मण्डयत्यमरमन्दिरं गुरौ दीप्यते स्म मुनिवासवोऽधिकम् ।

यामिनीप्रियतमे पराम्बुधेर्मध्यभागमिव पद्मिनीपतिः ॥ १८८ ॥

गुरौ विजयदानसूरीश्वरे अमरमन्दिर सुरसदन देवलोक मण्डयत्यलकुर्वति सति । 'मण्डति भूषत्यलकरोत्यपि च मण्डयति भूषयत्यपि' इति क्रियाकलापे । मुनिवासवो हीरविजयसूरिपुरद्वृत अधिकमतिशयेन दीप्यते स्म स्फूर्तं विभर्ति स्म । क इव । पद्मिनीपतिरिव । यथा यामिनीप्रियतमे निशानाथे चन्द्रे पराम्बुधे पश्चिमसमुद्रस्य मध्यभागमन्तराल भजति सति पद्मिनीपतिरविकमतिशायितया दीप्यते एतावता दिवसोदयमवाप्य भास्वानविकतेजस्वी स्यात् ॥ इति विजयदाने सूरीन्द्रे परलोक प्राप्ते श्रीहीरविजयसूरे पट्टधरत्ववर्णनम् ॥

यद्देहशृङ्गाङ्गणनद्धमारुतप्रेङ्खत्पताकापटपल्लवच्छलात् ।

गोष्ठीमनुष्ठातुमिवामरावती श्रिया सखीमाह्वयतीव पाणिना ॥ १८९ ॥

यत्पुर डीसानगरम् । उत्प्रेक्ष्यते—गोष्ठीमनुष्ठातु परस्पर प्रीतिवार्ता विवातु श्रिया समृद्धया शोभया सखी वयसीममरावती पुरदरपुरी प्राणिना हस्तेन आह्वयत्याकार-यतीव भूचराणा तूर्वलोकगमन न भवेत्, खेचराणा त्वव उर्ध्वगमनशक्तिरस्त्येव, तस्मादमरावत्याकारण युक्तमेव । कस्मात् । गेहशृङ्गाङ्गणे डीसानगरगृहशिखराजिरे नद्धः अङ्कुटकमध्यनिवेशितदण्डप्रान्तनिबद्ध, तथा मारुतेन वातेन प्रेङ्खन्नितस्ततश्चञ्चली-भवन्पताकापटपल्लवो ध्वजवसनाञ्चलस्तस्य छल कपट तस्मात् । अत्र यावद्ध्वजवाचि-त्वादेकवचनमेव विवक्षितम् ॥

यदीयराजद्विभवाभिभूतया पौलस्त्यपुर्या किमभाजि लज्जया ।

यदुष्ण्यतेऽद्यापि तया न भङ्गोऽभिज्ञानमीशानशिलोच्चयाश्रयः ॥ १९० ॥

यदीयो डीसानगरसबन्धी राजन् जगति शोभा प्राप्नुवन् यो विभव समृद्धयतिशय-स्तेनाभिभूतया जितया पौलस्त्यपुर्या वनदनगर्या । उत्प्रेक्ष्यते—लज्जया त्रपया कृत्वा किमभाजि नष्टा गतम् । यस्मात्कारणादद्यापि अद्यतनदिन यावत्तया अलकापुर्या भङ्गाभिज्ञान पलायनचिह्नमीशानशिलोच्चयाश्रय कैलासशैलशिखरस्थितिनोज्झ्यते न त्यज्यते ॥

यदीयलक्ष्म्या विजितेव लङ्का प्रणश्य मध्येऽम्बुनिधेर्विवेश ।

कदाचन प्रावृषि सूरिराजो डीसाह्वयं तत्पुरमाससाद ॥ १९१ ॥

यदीयया डीसानगरसबन्धिन्या लक्ष्म्या श्रिया विजिता पराभूता सती लङ्का दश-मस्तकपुरी । उत्प्रेक्ष्यते—पराभूता त्रपातिरेकाद्वा खाद्वा प्रणश्य प्रपलाय्य अम्बुनिधेर्मध्ये समुद्रान्तराले विवेश प्रविष्टेव । कदाचन कस्याचित्प्रावृषि वर्षाकाले सूरिराजो हीर-विजयसूरिर्वसुधाविवस्वान् । तत्पूर्वव्यावर्णित 'डीसा' इत्याह्वय नाम यस्य तादृक्पुर-माससाद भजति । इत्यन्ते त्रिभिर्विशेषकम् ॥ इति डीसानगर च ॥

कुलाद्रिवार्धिप्रतिनादभेदुरीभविष्णुनिःस्वानिततूर्यनिःस्वनम् ।

जिनेश्वरस्येव जना वितेनिरे पुरप्रवेशेऽतिमहं मुनीशितुः ॥ १९२ ॥

जना डीसानगरसघलोका जिनेश्वरस्येव तीर्थकर्तुरिव मुनीशितुर्हीरविजयसूरे पुरप्रवेशे डीसानगरमध्यसमागमनावसरे अतिशयेन महमुत्सव वितेनिरे कुर्वन्ति स्म । किभूत महम् । कुलाद्रिषु मन्दरहिमाचलकैलासादिकाष्टकुलपर्वतकदरेषु, तथा वार्धौ समुद्रमध्ये प्रतिनादै प्रतिशब्दैर्मेदुरीभविष्णु पुष्टीभवनशील तादृशो नि स्वानिताना वादिताना तूर्याणा वादित्राणा नि स्वनो यत्र । अथ वा नि स्वाना राजवाद्यानि सजातानि एषु लोके 'नीसाण' इति प्रसिद्धास्तादृशा वाद्याना निर्घोषो महाशब्दो यत्र ॥

सूरिवासवसमागमस्फुरत्प्रीतिपल्लवितचित्तवृत्तिभिः ।

नागरैरमितपृत्कु(रिक्थ)वर्षिभिः स्पर्धयेव धनदो निधीश्वरः ॥ १९३ ॥

अमित मानातीत प(रि)क्थ द्रविण वर्षन्ति याचकाना यथाकाम ददते इत्येवशीलैर्नागरैर्डीसानगरजनै सार्धम् । उत्प्रेक्ष्यते—स्पर्धया सह(घ)र्षणेव निवीश्वरो वैश्रवणो धन ददातीति धनदोऽभूदिव बभूवानिव । किभूतैर्नागरैः । सूरिवासवस्य हीरविजयसूरीन्द्रस्य समागमेन समवसरणेन कृत्वा स्फुरन्ती प्रकटीभवन्ती या प्रीति प्रमोदानिशयस्तया पल्लविता मेदुरीभूता चित्तवृत्तिर्मनोव्यापारो येषाम् ॥

नृत्यच्चन्द्रकिचक्रमुन्मदनदह्वपीहबालाकुलं

श्रीसूनोरिव यौवराज्यसमयं व्यालोक्य वर्षागमम् ।

क्रीडञ्छान्तरसाह्रमानससरोजन्माकरे हंसव-

च्छ्रीसूरीश्वरहीरहीरविजयस्तस्मिन्सुखं तस्थिवान् ॥ १९४ ॥

श्रिया स्वस्वगणलक्ष्म्या युक्ता ये सूरीणा स्वल्पश्रुताध्ययनेन सामान्याचार्याणा मध्ये ईश्वरा व्यवहारिण साङ्गप्रवचनेष्ववीतिनोऽनूचानास्तेषु हीरो मुकुटमणिर्वज्ररत्न तत्तुल्य श्रीहीरविजयनामा सूरिपुरदर तस्मिन् डीसानगरे चिन्तानाचान्तहृदयत्वेन निर्विघ्नत्वेन वा सुखसहित यथा स्यात्तथा तस्थिवान् चतुर्मासीमासीदति स्म । स्थित इत्यर्थः । कि कृत्वा । वर्षागम मेघागमनसमय व्यालोक्य समीक्ष्य । किभूतम् । नृत्यन्ति कान्तकेकारवकलितताण्डव कुर्वाणानि चन्द्रकिणा मयूराणा चक्राणि पटलानि यत्र । चन्द्रक पिच्छमिति विद्यते येषा ते चन्द्रकिण । 'मेचकश्चन्द्रक समौ' इति हैम्याम् । 'सेव्या सप्रति सान्द्रचन्द्रकिकुलैरुत्ताण्डवैर्मण्डिता' इति चम्पूकथायाम् । पुन किभूता । उत्कृष्टो मदो येषा ते । मदोद्धता इत्यर्थः । नदन्त शब्दायमाना नन्दन्त्यो बप्पीहाना चातकाना बाला स्त्रिय शिशवो वा । प्रायो विपदि स्त्रीणा शिशूना च कातर्यं स्यात्, अतो बालाशब्दोपादानम् । ताभिस्तैर्वा आकुल व्याप्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—श्रीसूनोः कन्दर्पस्य यौवराज्यसमयमिव । युवा चासौ राजा च युवराजस्तस्य भावो यौवराज्य

तस्य समयं युवराजपदाभिषेचनप्रस्तावमिव । सूरिः किं कुर्वन् । क्रीडन् । केलीं निर्मिमाण । कुत्र । शान्तरसो नवमोपशम रस इत्याह्वा नाम यस्य तादृशो मानसमनान्नि सरोजन्मना पद्मानामाकरे । 'पद्माकरस्तडाग स्यात्' इति हैमीवचनात् । मानससरोवर इत्यर्थः । किवत् । हसवत् । यथा हसो वर्षागम विलोक्य मानससरमि क्रीडन् तिष्ठति ॥

यं प्रासूत शिवाह्वसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः ।

पुत्रं कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्वीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते षष्ठोऽत्र सर्गोऽभवत् ॥ १९५ ॥

अत्र हीरविजयसूरिचरित्रे हीरसौभाग्यनान्नि महाकाव्ये पण्णा सख्यापूरण षष्ठ सर्गोऽधिकार अभवत्सजात ।

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिताया स्त्रोपज्ञहीरसौभाग्यकाव्यवृत्तौ हीरहर्षगणेर्दक्षिणदिग्गमनद्विजसमीपपठनमेदपाटमण्डलस्थगुरुपार्श्वगमनपण्डितवाचकपदप्रदानमरुदेशशिवपुरीसघाग्रहवशाचार्यपदप्रस्थापनाणहिल्लपत्तननन्दिभवनविजयसेनसूरिजन्मदीक्षादिकथनडीसापुरचतुर्मासागमनवर्णनो नाम षष्ठ सर्गः ॥

सप्तमः सर्गः ।

सूरीन्दुरानन्दयति स्म तस्मिन्पुरे समग्रानपि नागरान्सः ।

पचेलिमः प्राक्तनपुण्यपुञ्जः प्रादुर्भवन्मूर्त इवैष तेषाम् ॥ १ ॥

स श्रीहीरविजयसूरिसुवाकर तस्मिन् डीसानान्नि पुरे समग्रान् सर्वानपि नागरान्पौरलोकान् आनन्दयति स्म प्रमोदमुत्पादयामास । उत्प्रेक्ष्यते—तेषां डीसापुरपौराणामेष चक्षुःप्रत्यक्षलक्ष्य मूर्तस्तनुमान् पचेलिमः परिपाक प्राप्तः प्राक्तनः प्राचीनजन्मोपार्जितः पुण्यपुञ्जः सुकृतसमूह इव ॥

मिलद्धलाकाम्बरमुद्वहन्ती लीलागतोद्वेजितराजहंसा ।

श्यामातिनम्रा च पयोधरोद्यद्भाराभिरामा पिहिताननेन्दुः ॥ २ ॥

सुरायुधभ्रूलतिकात्मयोनिमुज्जीवयन्तीव तडिद्विलासा ।

मुदे तदानीमजनिष्ट यूना प्रावृण्णवोढा वरवर्णिनीव ॥ ३ ॥

तदा तस्मिन् डीसानगरे हीरविजयसूरेश्वरतुर्मासकस्थितिसमये यूना तरुणजनानां मदनमदमेदुरीभूतानां नवोढा यौवनवती नवपरिणीता वरवर्णिनी सर्वकलाकुशलप्रधानस्त्रीव प्रावृट् वर्षा मुदे प्रमोदायाजनिष्ठ सजाता । वृद्धानां तु शीतवातकर्दमादिना दुःखदायिन्यत एव यूनामिति पदोपादानम् । किलक्षणा प्रावृट् वरवर्णिनी च । मिलन्त्य श्लिष्यन्त्यः भर्त्रा समागम कुर्वन्त्य बलाका बलाकाङ्गना यत्र । ‘गर्भावानक्षणपरिचयान्नूनमावद्धमाला सेविष्यन्ते नयनसुभग खे भवन्त बलाका’ इति मेघदूतकाव्ये । प्रायो वर्षाकाले बकास्तु वृक्षादिषूपविश्य तिष्ठन्ति । बकाङ्गनास्तानाहारै पोषयन्त्यत एवाम्बरे भ्राम्यन्ति । तादृशमम्बरमाकाशम् । पक्षे मिलन्त्य श्रेणीभवन्त्य बलाका बलाहकमहिलास्तद्वदुज्ज्वल नवपाणिग्रहणावसरत्वाद्वलमम्बरं वसनमुद्रहन्ती वारयन्ती । यत । श्वेत परिणयवासः स्यात् । पुनः किभूता । लीलया स्वभावेन, न तु मन्त्राकर्षणादिना, आगतेन अनादिजगन्निसर्गेण वर्षितुमागमनेन उद्वेजिता विजयकरणप्रस्थानेषु विघ्न प्रापिता राजहसा विजयिराजानो यया । ‘विश्रान्तजिष्णुक्षमापालयुवि’ इति चम्पूकथायाम् । विजयिनो हि राजान प्रावृट्समये कुत्राप्यवस्थिति कुर्वते, शरदि च विजयाय प्रतिष्ठते । अथ वा लीलया वर्षणविलासेन यदागमन तेनोद्वेजिता जम्बालजालविलजलावलोकनेनोद्वेग गमिता अत एव मानस प्रति प्रस्थातुमुत्सुकीकृता राजहसा यया । ‘प्रोषितकलहसवयसि’ इति चम्पूकथायाम् । ‘प्रोषिता मानस प्रति प्रस्थापिता कलहसविहगमा येन’ इति तद्वृत्तौ । पक्षे मन्थरगमनविलासेनावहेलिता राजमराला यया स्त्रिया । पुनः किभूता । श्यामा सजलदपटलकालिमाकलिता । पक्षे षोडशवार्षिकी । पुनः किभूता । अतिनम्रा अतिशयेन गुर्वादिषु नमनशीला लघुवृद्धानां विनयपरा । यदुक्तम्—‘नमणी घमणी बहुगुणी विहुपखिवसविशुद्ध । पुण्यविना नवि पामिद् करिवणुहा घरि भज ॥’ इति वचनात् । पक्षे अतिशयेन नम्रा उन्नमय्यागता मेदिनीमण्डलालिगिवर्द्धलिका । पुनः किलक्षणा । पयोधरेभ्यो मेघेभ्य उद्यन्तीभिः प्रकटीभवन्तीभिर्वाराभिर्जलवृष्टिभिरभिरामा । पक्षे पयोधरयो पीनोच्चकुचयोरुद्यता उपरिस्फुरता हारेण मुक्ताकलापेन हारिणी मनोज्ञा । पुनः किलक्षणा । पिहित आवृतोऽर्थात् घनाभ्रमरेणादृश्यीकृत आननस्य मुखस्य तुल्य इन्दुश्चन्द्रो यस्याम् । पक्षे नवपरिणयनलजावशाद्वसनेनाच्छादितो वदनचन्द्रो यया । पुनः किलक्षणा । सुरायुधमिन्द्रधनुरेव स्त्रीपक्षे शक्रचापचक्रवद्वक्रा कुटिला भ्रूवल्ली यस्या । पुनः किलक्षणा । आत्मयोनि स्मरमुजीवयन्तीव ग्रीष्मसमये तापातिरेकान्मृतप्रायीभूतमदन पुनर्जावित कुर्वतीव । पक्षे विभ्रमविलासैः काममुद्दीपयन्तीव । भर्तुरिति शेषः । वर्षाणां तरुणयोषितामवलोकनात्प्रायो यूना स्मर प्रादुर्भवेदिति । पुनः किभूता । तडिता विद्युता विलासा स्फुरणानि झकारा वा यस्याम् । पक्षे तडिद्वद्विलासाश्चञ्चलकेलयो यस्याः शृङ्गारचेष्टितानि वा यस्याः ॥ युग्मम् ॥ इति वर्षागमः ॥

अथ व्यधत्त प्रणिधानमिच्छन्कंचित्स संस्थापयितुं स्वपट्टे ।

पुरेऽपि जीवातुरिवाखिलेऽपि प्रावर्तत प्राणभृताममारिः ॥ ४ ॥

अथ तत्र डीसानगरे चतुर्मासीमासीने सति वर्षावहलीभवनानन्तरं स हीरविजय-
सूरि प्रणिधान सूरिमन्त्रस्मरण व्यधत्त विदधाति स्म । किं कुर्वन् । इच्छन्काङ्क्षन् ।
किं कर्तुम् । कमपि योग्य शिष्य स्वपट्टे निजपदे संस्थापयितुम् । अपि पुनस्तस्मिन्नि-
खिलेऽपि समग्रेऽपि पुरे डीसानगरे प्राणभृता जन्तूनाममारिर्द्विपदचतुष्पदपक्षिमत्स्या-
दिप्राणिववनिषेधो जीवदया प्रावर्तत प्रवृत्ता । तत्पुरस्वामिना प्रवर्तितेत्यर्थः । क इव ।
जीवातुरिव अर्थात् स्थलचरखेचरजलचराणां जीवनौषधमिव ॥

द्वारं स्वसिद्धेरिव सूरिराजो ध्यानं दधानो वसुभूतिसूनोः ।

अहान्यहर्बान्धवबन्धुरौजास्तन्निष्ठयेवागमयद्बहूनि ॥ ५ ॥

सूरिराज श्रीहीरविजयसूरिभूमीपुरुहूत तस्य ध्यानस्य निष्ठा चतुर्थपष्ठाष्टमाचा-
माम्लादिविविवतपोनेकमुद्रासनादिविवानपूर्वकसूरिगगनविविक्रिया तथैव निश्चयेन
बहूनि घनान्यहानि दिनानि अगमयदतिक्रामति स्म । सूरिमन्त्रारावनविधेस्त्रिमासाववि-
त्वात् ऋतोस्तु द्विमासाववित्वाचेति । किंभूत । अहर्बान्धवो भाखान् । ‘चक्राब्जाह-
र्बान्धव सप्तसप्ति’ इति हैम्याम् । तस्यैव बन्धुरमतिशायि ओज प्रतापो यस्य ।
किं कुर्वाण । वसुभूतिनाम्नो द्विजस्य सूनोर्नन्दनस्य श्रीगौतमस्वामिनो ध्यान स्मरणमनु-
चिन्तनमर्थात्स्वहृदये दधानो विभ्राण । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मन सिद्धे श्रीजिनशास-
नाविष्टायकदेवतागमनलक्षणफलनिष्पत्तेर्द्वारं प्रवेशनमार्ग इव ॥ इति हीरविजयसूरे
सूरिमन्त्रस्य ध्यानविद्यानारम्भः ॥

संपिप्रती कामितमुत्सुकानां दिग्जेत्रयात्रासु धराधवानाम् ।

अथोपतस्थे शरदस्य सूरैर्विधित्सयेव प्रणिधानसिद्धेः ॥ ६ ॥

अथ ध्यानविधानावसरे शरद्धनविरामसमय उपतस्थे समाजगाम । ‘अथैन समु-
पस्थिता । पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥’ इति रघुवशे । ‘उपस्थिता आगता’
इति तद्वृत्तिः । किं कुर्वती । दिशा पूर्वादीनां हरिता जयनशीलासु यात्रासु प्रस्थानेषु
सम्यगुत्सुकानामुत्कण्ठितानाम् । दिग्विजयं कर्तुकामानामित्यर्थः । धराधवानां पृथिवीप-
तीनां नृपाणां कामितं समीहितं संपिप्रती संपूरयन्ती पूर्णं प्रणयन्ती । ‘पृपालनपूर-
णयो’ इत्ययं धातुः । उत्प्रेक्ष्यते—अस्य हीरविजयनाम्नः सूरैर्भट्टारकस्य प्रणिधानसि-
द्धेर्विवित्सया कर्तुमिच्छयेवागता ॥

मलीमसीभूतमशेषमभ्रमातङ्गसङ्गेन पदं मुरारेः ।

द्विजाधिपः क्षालयतीव यस्यां निस्तन्द्रचन्द्रातपनीरपूरैः ॥ ७ ॥

यस्या शरदि द्विजाधिपो ब्राह्मणश्रेष्ठ शशभृच्च । उत्प्रेक्ष्येते—निस्तन्द्रो मेघाभ्रहि-
मधूमप्रमुखनिर्मुक्तत्वेन निर्मलो यश्चन्द्रातपश्चन्द्रिका तत्तुल्यैर्विशदैर्नीरपूरै । गङ्गोदकसमु-
दायैरित्यर्थः । पक्षे । ज्योत्स्नैव जलप्लवै कृत्वा मुरारेर्नारायणस्य पद स्थान चरण च
नभ क्षालयति धावयतीव । किभूत पदम् । मलीमसीभूत अपावन जातम् । केन । अ-
भ्रस्याकाशस्य मातङ्गश्चाण्डालस्तस्य । अथवा गगनमातङ्गेन सम संगमेन । अथवा अभ्रे
आकाशे पर्वताद्युच्चस्थाने स्वपाचेन सम संगमेन कृत्वा अस्पृश्यभावमभ्युपगतम् ।
मातङ्गस्पृष्ट हि वस्तु जलेन शुध्यतीति जनप्रतीतिः । पक्षे । अभ्रमातङ्गैर्मैघै । ‘नभस
कलभैरुपासितम्’ इति नैषधे । ‘नभस कलभैर्मैघै’ इति तद्वृत्तिः । मलीमसीभूत श्यामल
सजात घनान्धकारमयीभवनात् । ‘दिवापि श्रूयमाणरजनिशङ्काकुलचक्रवाकचक्रकुशि’
इति चम्पूकथायाम् । मलिनीभूत हि जलैः क्षालयित्वा निर्मलीक्रियते इत्यपि लोकरूढिः ।
तत्त्वतस्तु ऐरावणगजकलित जातम् । ‘प्रावृषेण्य पयोवाह विद्युदैरावताविव’ इति रघुवशे ।
पुनः किभूतम् । अशेष सपूर्णमप्याकाशं वस्तुतस्तु चन्द्रचन्द्रिकया नभो धवलीक्रियते ।
‘आप्लावितमिव मुक्तमर्यादेन दुग्धवारिधिना विलिप्तदिग्भिक्तिकमिव सान्द्रसुधापङ्कपिण्डैः
प्रविष्टमिव स्फटिकमणिमहामन्दरोदरदरीषु भुवनमासीत्’ इति चम्पूकथायाम् । चन्द्रो-
दये सर्वं श्वेतीक्रियते ॥

गाधा व्यधाद्याम्बरचुम्बिरङ्गत्तरङ्गपूरानपि सिन्धुदारान् ।

जगत्प्रसारोत्सुकयद्यशःक्षमाधरस्य किं सुप्रतराः प्रणेतुम् ॥ ८ ॥

या शरत् अम्बरमाकाशं चुम्बन्ति आलिङ्गन्ति इत्येवशीला, तथा रङ्गन्त उपर्युपरि
प्रसर्पन्तस्तरङ्गाः कल्लोला येषु तादृशा पूरा पयःप्लवा येषां तादृशानपि सिन्धुदारान्
समुद्रपत्नीर्नदीर्गावा पादोत्तरणयोग्याः । ‘सरितः कुर्वती गाधा’ इति रघुवशे । व्यधा-
च्चकार । उत्प्रेक्ष्येते—जगत्सु त्रिषु भुवनेषु प्रसारः प्रसरणं पर्यटनं तत्रोत्सुकस्योत्क-
ण्ठितस्य यस्य हीरविजयसूरेर्यशः श्लोकः स एव क्षमाधरो राजा तस्य सुप्रतरा सुखेन
स्वयं पादोत्तरणसातेन तीर्यन्ते उत्तीर्यन्ते प्रोलङ्घयन्ते तादृग्विधा प्रणेतुं कर्तुं सुखेन
तरीतुं शक्या विधातुमिव वा ॥

आस्वादितस्वादुमृणालकाण्डाः कूजन्ति लीलालसराजहंसाः ।

आगन्तुकार्हन्मतदेवतायाः स्मरध्वजाः पूर्वमिव ध्वनन्तः ॥ ९ ॥

लीलया विविधजलक्रीडया अलसा मन्थरा राजहंसा अत्यरुणचञ्चुचरणा मराला
कूजन्ति शब्दायन्ते । ‘राजहंसास्त्वमी चञ्चुचरणैरतिलोहितैः’ इति हैम्याम् । किभूताः ।
आस्वादिताः कवलीकृताः स्वादवो मधुरा रसनावदनहृदयाह्लादकरा मृणालानां कमल-
नालानां काण्डाः स्तम्बा पटलानि यैः । उत्प्रेक्ष्येते—आगन्तुकाया आगमनशीलाया
हीरविजयसूरे पुरः प्रकटीभवितुकामाया अर्हन्मतदेवताया शासनदेव्याः पूर्वं प्रथम-

मेव ध्वनन्त शब्दायमाना वाद्यमाना वा स्मरध्वजा वाद्यानीव । 'वाद्य वादित्रमातोद्य तूर्य तूर स्मरध्वज' इति हैम्या वादित्रनामानि ॥

निर्मृष्टनिःशेषनिषद्वरायाः किं वर्ण्यतेऽस्याः शरदिन्दिरायाः ।

जडाशयानप्यसृजत्प्रसन्नाशयान्कविश्रीकलितांश्च यत्सा(द्या)॥१०॥

अस्या हीरविजयसूरिध्यानसमयसमेताया शरदिन्दिराया जलवरविरामलक्ष्म्या किम् अर्थाद्वीप्सा किं किं माहात्म्यं वर्ण्यते प्रशस्यते । किंभूताया । निर्मृष्टो नि शेषेण मृष्टो निवारितोऽपहतो वा निर्गत शेषो लवलेशमात्रो निषद्वर कर्दमो यस्या' । अथवा निर्मृष्टो निर्धूत शेष नीतो नि शेष समस्तोऽपि कर्दमो यया । यद्यस्मात्कारणात् या शरलक्ष्मीर्जडाशयान् जडस्वभावान् जडहृदयान्वा । मूर्खानित्यर्थः । प्रसन्नाशयान् निर्मलीभूतमध्यान् प्रसन्नतायुक्तस्वभावान् झगित्यर्थवबोधगोचरत्व प्रसादगुणस्तद्युक्तचित्तान् त्वरितमेव शास्त्रार्थमवबुध्यन्ते तादृशान् । पण्डितानित्यर्थः । असृजत्कृतवती । च पुन कवित्वेन पाण्डित्येन काव्यकर्तृत्वेन वा । 'विद्वान् सुवी कविविचक्षणलब्धवर्णा' इति हैम्या पण्डितनामानि । तथा 'वयमपि कवय कवय [कवय] कवयश्च कालिदासाद्या' इति कविशब्देन काव्यकर्तापि । या श्री शोभा लक्ष्मीर्वा तया कलितान्युक्तान् करोति स्म । तत्त्वतस्तु डलयोरैक्यात् जलाशयास्तडाकादिनीरस्थानानि स्वच्छमध्यान् तथा कस्य पानीयस्य वयः पक्षिणो हसादयस्तैः सहिताश्चक्रे । वर्षासु हसा हि मानससरसि यान्ति । शरदि पुन. कमलकलितेषु निर्मलसलिलेषु सरसु समायान्ति इति कविसमयः ॥

स्मितेषु पद्मेषु मुखेष्विवास्या रङ्गत्सु नेत्रेष्विव खञ्जनेषु ।

बन्दिष्विव स्मेरसरोजपौष्पनिष्पातिगुञ्जन्मधुकृद्भजेषु ॥ ११ ॥

पटीष्विवोद्दामकलामकौधावदातकेदारवसुधरासु ।

भूषास्त्रिवास्या विविधासु लीनशिलीमुखस्मेरसुमावलीषु ॥ १२ ॥

गणाधिराजे प्रणिधानदुग्धपाथोनिधौ मीन इवातिलीने ।

तदा कदाचिद्गगनाध्वनीनोऽपराचलाभ्यर्णभुव बभाज ॥ १३ ॥

तदा तस्मिन् शरत्समये कदाचित्कस्मिन्नपि दिनावसानव्यतिकरे गगनाध्वनीनः । 'गगनाध्वजाध्वगौ' इति हैम्याम् । सूर्यनामसु । तथा 'अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्य पान्य पथिकदेशिकौ' इति हैम्याम् । अपराचलस्य अस्ताद्रेरभ्यर्णभुव समीपभूमीप्रदेश बभाज श्रयति स्म । कस्मिन् सति । गणाधिराजे हीरविजयसूरीन्द्रे प्रणिधान ध्यानम् । 'सोऽपश्यत्प्रणिधानेन सतते. स्तम्भकारणम्' इति रघुवशे । तदेव दुग्धपाथोनिवि क्षीरसमुद्र तस्मिन्मीनो मत्स्य इव अतिशयेन लीने मग्नौभूते । अथ समयवर्णनम् । केषु सत्सु । स्मितेषु विकसितेषु पद्मेषु कमलेषु सत्सु । उत्प्रेक्ष्यते—अस्या शरलक्ष्म्या

मुखेषु क्रीडाकृतानेकवदनेष्विव । पुनः केषु सत्सु । रङ्गत्सु लीलया अशनाद्यर्थं वा इतस्ततो
 भ्राम्यत्सु खञ्जनेषु खञ्जरीटेषु 'गगेटिया'ख्यपक्षिविशेषेषु सत्सु । वर्षाकाले हि खञ्जनाना
 शिरसु शिखा समायाति तदनुभावाददृश्यीभाव भजन्ते । ततः शरदि पुनः शिखा-
 पाताच्चक्षुर्लक्षतामाकलयन्ति तेनेतस्ततो भ्रमणं कुर्वते । तदुपर्युत्प्रेक्षा । उत्प्रेक्ष्यते—
 शरलक्ष्म्या नेत्रेषु स्त्रीस्वभावाच्चञ्चललोचनेष्विव । 'भवत्कृते खञ्जनमञ्जुलाक्षि' इति बिल्ह-
 णपञ्चाशिकायाम् । पुनः केषु सत्सु । स्मेराणां विनिद्राणां सरोजानामरविन्दानां पौष्पेषु
 परागेषु निष्पातिनो निपतनशीला आगत्य मकरन्दपानकृते निलीय स्थितिं कुर्वाणा
 तथा स्वच्छन्दमाकण्ठमकरन्दास्वादोन्मदिष्णुभवदमन्दानन्दं शब्दायमाना गुञ्जन्त
 गुञ्जारव विदधाना मधुकृता भ्रमराणां व्रजा समूहास्तेषु सत्सु । उत्प्रेक्ष्यते—अस्या
 शरलक्ष्म्या बन्दिषु मङ्गलपाठकेष्विव । पुनः कासु सतीषु । उद्दामा परिपाकप्राप्तत्वेन
 मनोरमा ये कलामका कलमशालयः । 'कलमस्तु कलामक' इति हैम्याम् । तेषामोघा-
 समूहास्तैरवदाता उज्ज्वलाः । केदाराणां वसुधरा भूमयस्तासु सतीषु । उत्प्रेक्ष्यते—
 शरदिन्दिराया पटीषु उत्तरीयनिवसनेष्विव । पुनः कासु सतीषु । विविवासु श्वेतरक्त-
 नीलपीतकृष्णाद्यनेकविधासु । तथा लीना मधुपानकृते मध्ये प्रविश्य स्थिताः शिलीमुखा
 भृङ्गा यासु तादृश्यासु(शीषु) स्मेरासु हसितासु सुमाना पुष्पाणामावलीषु श्रेणीसु सतीषु ।
 उत्प्रेक्ष्यते—अस्या शरदिन्दिराया विविधप्रकारासु भूषासु आभरणेष्विव । 'विनापि
 भूपामववि श्रियामसौ' इति नैषधे । 'भूषा भूषणानि' इति तद्वृत्तिः । त्रिभिर्विशेषकम् ।
 इति शरत्समयः ॥

विधेर्नियोगेन निजास्तपश्यान्पुत्रानिवोत्सङ्गजुषः स्वरश्मीन् ।

दृष्ट्वा यियासूस्तदुदीतकोपादिवारुणीभूतमथारुणेन ॥ १४ ॥

अथास्ताचलसमीपगमनानन्तरम् अरुणेन भास्करेण अरुणीभूत रक्तेनाभूयत । उ-
 त्प्रेक्ष्यते—तदुदीतकोपादिव तेषु स्वरश्मिषु उदीत प्रादुर्भूतो य कोप क्रोधस्तस्मा-
 दिव । किं कृत्वा । दृष्ट्वा अवलोक्य । कान् । स्वरश्मीन् आत्मीयकिरणान् । किंभूतान् ।
 उत्सङ्गं क्रोडं जुषन्ते भजन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—पुत्रान्नन्दनानिव । पुनः किंभूतान् । विवे-
 दैवस्य नियोगेन परवशतया निजस्य सूर्यात्मन अस्तं क्षयं पश्यन्ति विलोकयन्तीति ।
 अत एव किं कर्तुमिच्छन् । यियासून् आत्मनः पार्श्वादन्यत्र कुत्रचिद्गन्तुमिच्छन् ॥

जहेऽम्बरं सायमशीतभासा नीत्वास्तधात्रीधरगह्वरान्तः ।

प्रदोषनाम्ना परिमोषिणेवासहायिभावेन बलाद्गृहीतम् ॥ १५ ॥

न विद्यन्ते शीता शिशिरा शीतला भासा कान्तयो यस्योष्णरश्मित्वात् अशीत-
 भास्तेनाशीतभासा भानुना सायं सध्यासमये अम्बरमाकाशं वसनमपि जहे त्यक्तम् ।
 उत्प्रेक्ष्यते—प्रदोष इति नाम यस्य तेन प्रदोषनाम्ना परिमोषिणा तत्करेण । यामिनीमुख-
 चौरेणेत्यर्थः । अस्तधात्रीधरः पश्चिमाचल तस्य गह्वरान्तं गुह्यामध्ये घनद्रुमगहन-

मध्ये च नीत्वा प्रापयित्वा असहायिभावेन सहाय सखा अस्यार्त्ताति सहायी न सा-
हायी असहायी तस्य भावस्तेन सहायराहित्येन । एकाकित्वेनेत्यर्थः । बलान् हठात्
गृहीतमादत्तमिव । कस्मिंश्चिद्वलवति तस्करादिके वसनादि गृहीतुमुद्यते एकाकिना
निर्वलेन पुसा त्यज्यत एव ॥

कलङ्कवानिन्दुरथाभ्युदेताकलङ्किनो विश्वविवोधिनी मे ।

न सांप्रत सांप्रतमत्र वस्तुमितीव याति कचिदंशुमाली ॥ १६ ॥

अशुमाली सूर्य कचित् कुत्रचन स्थाने याति गच्छति । उत्प्रेक्ष्यते—इति कार-
णादिव । इति किम् । यत् । अयं दिवसावसानानन्तरं कलङ्कवान् दोषाकरत्वेन कल-
ङ्ककलितः । अथवा कामितया गुरुदारकामुक्त्वात्सकलङ्क इन्दुश्चन्द्रोऽभ्युदेता उदयि-
ष्यते तत्कारणादकलङ्किनो निष्कलङ्कस्य तथा विश्वविवोधिनी जगत्प्रतिबोवप्रविधान-
शीलस्य मे ममात्र भुवने सांप्रतमधुना वस्तु स्थातु न सांप्रत न युक्तं नोचितीमञ्चति ॥

स्वरागिणीमञ्जनकुम्भिकुम्भप्रगल्भपीनस्तनदिङ्मृगाक्षीम् ।

निर्वर्ण्य रागीव दिनावसाने किं पद्मिनीप्राणपतिः प्रयाति ॥ १७ ॥

पद्मिनी । यस्याः शरीरसौरभभरमाघ्राय मधुरा मालतीप्रमुखकुसुमजातीर्विहाय
यद्वसनोपरि परिभ्राम्यन्ति सा पद्मिनीत्युच्यते । तस्याः प्राणपतिः । प्राणेभ्योऽतिवल्लभः
पतिव्रतात्वेन भास्वान् दिनावसाने सध्यासमये प्रयाति गच्छति । उत्प्रेक्ष्यते—अञ्जननामा
पश्चिमदिग्गजः । यतः—‘ऐरावतः पुण्डरीको वामेन कुमुदोऽञ्जनः । पुष्पदन्तः सार्वभौमः
सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥’ एते पूर्वाद्यष्टानां दिशामष्टौ दिग्दन्तिनः सन्ति । तेषु प्रतीच्या
दिग्दन्ती अञ्जननामा कुम्भी गजस्तस्य कुम्भौ शिरसः पिण्डौ तावेव प्रगल्भौ का-
मिजनमनोहारिणौ तथा पीनावतिपुष्टौ स्तनौ पयोवरौ यस्यास्तादृशी दिक् प्रतीची सैव
मृगाक्षी हरिणनयना ता स्वस्मिन्विषये रागिणीमनुरागिणी प्रेमातिरेकभाजिनीमरुणा
च निर्वर्ण्य दृष्ट्वेव याति । क इव । रागीव । यथा कश्चिद्रागी पुमान् पद्मिनीपतिरपि
स्वाङ्गनामवगणयन् । ‘स्वाधीनेऽपि कलत्रे नीचः परदारलम्पटो भवति । सपूर्णेऽपि
तटाके काकः कुम्भोदकं पिबति ॥’, तथा ‘चातुर्येणातिवाचः सुगणमणिखर्ना भाग्य-
सौभाग्यलक्ष्मीः स्वाधीना भक्तिभाजः विमलकुलभवाः शीलमाशीलयन्तीम् । प्रेमाढ्या
पद्मिनी स्वा परयुवतिरतो हा विहायेन्दुवक्त्रामन्या वामा कुरूपामनुसरति जनो म-
न्मथ तद्विगस्तु ॥’, ‘सहदेशे विन्नाणः अणरसमब्धः सिगाइयः गीयम् । नियमहिलाणयरूवः
तन्निविलोए न अगधन्ति ॥’ इति वचनात् । रागातिरेकवान् सन् स्वस्मिन्नत्यनु-
रक्ता कामिनी प्रेक्ष्य सायं तत्सनिधौ याति ॥

उत्तुङ्गतारङ्गशिखावलम्बि किजल्कलीलायितरश्मिराशि ।

पयोधिपूरेऽम्बुजबन्धुविम्बं स्मेरारुणाम्भोरुहवद्विभाति ॥ १८ ॥

पयोधिपूरे पश्चिमसमुद्रसलिलप्लवे अम्बुजवन्धो पद्मसुहृदो दिवाकरस्य बिम्ब-
मण्डल स्मेरारुणाम्भोरुहवद्विकसितरक्तकमलमिव विभाति । नीरधिनीरोपरि विकच-
कोकनदसदृश दृश्यते इत्यर्थः । किभूतम् । उत्तुङ्गो गगनाङ्गणालिङ्गी यस्तारङ्गस्तरङ्गाणा
समूहस्तारङ्ग । अत्र समूहार्थेऽण् । कल्लोलकलाप । ‘वार वार तारतरस्वरनिर्जि-
तगङ्गातारङ्गाम्’ इति पद्मसुन्दरनिर्मितभारतीस्तवने । तस्य शिखामग्रभागमवलम्बते
आश्रयतीति एव शीलम् । पुनः किभूतम् । किजल्कानां कमलकेसराणां लीला विला-
सस्तद्वदाचरितो रश्मिराशिः करनिकरो यस्य ॥

पूरे समुद्रस्य बभस्ति बिम्बं राजीविनीजीवितनायकस्य ।

पयोधिपत्यङ्कतले शयालोरुल्लासि चक्रं किमु चक्रपाणेः ॥ १९ ॥

समुद्रस्य पश्चिमवीचिमालिनः पूरे पयःप्लवे राजीविनीनां पद्मिनीनां जीवितनाय-
कस्य प्राणवल्लभस्य बिम्बमण्डलं बभस्ति भासते । ‘वररजनीकरकान्ते चित्राभरणे
निशानभसदृशे । तव नृपमज्जनभवने सविता नाभाति परमश्रीः ॥’ इति चम्पूकथा-
याम् । ‘तत्र द्वितीयराजार्थे निशानैस्तेजस्विभिर्वभस्ति’ इति तद्विष्पनके । उत्प्रेक्ष्यते—
पयोधिः समुद्र एव पत्यङ्कः शय्या तस्य तले शयालो शयनशीलस्य । ‘दासार्हं पु-
रुषोत्तमोऽब्धिशयनोपेन्द्रावजेन्द्रानुजौ’ इति हैम्याम् । चक्रपाणेर्विष्णोरुल्लासि प्रोल्ल-
सन्शीलचक्रं किमु । विस्फुरत्सुदर्शनं नाम रथाङ्गमिव ॥

खण्डेन चण्डद्युतिमण्डलेन न्यमज्जि पूरे मकराकरस्य ।

सूरेर्महःसाम्यकृतेऽब्धिझम्पासृजा शनैर्निष्पततेव भीतेः ॥ २० ॥

चण्डद्युतेर्भास्करस्य मण्डलेन खण्डेन शकलेन चतुर्थभागेन कृत्वा मकराकरस्य
समुद्रस्य पूरे न्यमज्जि ब्रूडितम् । मण्डलचतुर्थांशो जलविमध्ये निमग्न इत्यर्थः । उत्प्रे-
क्ष्यते—सूरेर्हीरविजयसूरीन्द्रस्य महसा भूयसा प्रतापानां साम्यकृते तुल्यत्वप्राप्त्यर्थ-
मब्धौ समुद्रे झम्पा पयः सपातपाटवसृजति करोति इत्यब्धिझम्पासृट् तेनाकेण भीते
स्वान्ते भयवशात् शनैर्लघु निष्पततेव ॥

अम्भोधिमध्येऽर्धितबिम्बमम्भोजिनीवरस्य स्फुरति स्म सायम् ।

अतादृशी प्रेक्ष्य दशा प्रियस्य किमब्धिमज्जद्दिनलक्ष्मिभालम् ॥ २१ ॥

सायं सध्यासमये अम्भोधे समुद्रस्य मध्ये अम्भोजिनीवरस्य पद्मिनीपतेर्भानोर-
वितं भावप्रदाननिदेशादर्वत्वं जातमस्मिन्नित्यवितं बिम्बमण्डलम् । अर्वमब्धिमध्ये
मग्नम्, अर्वं च बहिर्दृश्यमानं चेत्यर्थः । स्फुरति दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—प्रियस्य स्व-
भर्तुर्भानोरतादृशी विश्वशोच्यामस्तलक्षणा दशामवस्था प्रेक्ष्य दृग्गोचरीकृत्य । अर्था-

तदु खातिरेकादब्धौ मज्जन्त्या बृडन्त्या पतन्त्या वा दिनलक्ष्म्या वासरश्रिया मालं ललाटमिव ॥

भानोर्वभौ मण्डलखण्डमब्धौ गन्तुः पुरारेर्मिलितुं मुरारिम् ।

मृगाङ्गलेखेव सरोषचण्डीसालक्तपादाहतिशोणितश्रीः ॥ २२ ॥

अब्धौ समुद्रे भानो सूर्यस्य मण्डलस्य बिम्बस्य खण्ड शकलम् । बिम्बचतुर्याशमात्रमित्यर्थः । वभौ शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मुरारि नारायण मिलितु गन्तुर्गच्छतीति गन्ता तस्य पुरारे शभोर्मृगाङ्गलेखेव शिर शेखरपीयूषमयूखकलेव शिर शशिकलेव । किभूता । सरोषा कुतश्चित्कारणात्कोपकलिता या चण्डी अत्यन्तकोपना कामिनी पार्वती च । ‘चण्डस्त्वत्यन्तकोपन’ इति हैमीवचनात् । स्त्री चेच्चण्डी । ‘दुर्गा चण्डी सिद्धाना मृडानी’ इत्यपि हैम्या पार्वतीनामानि । तस्या सालक्तकेन सह यावकरसेन वर्तते यस्तादृशः पादश्वरणस्तस्याहत्या शिरसि प्रहारेण शोणत्व सजातमस्यामिति शोणिता रक्तीभूता श्रीर्वपुर्लक्ष्मीर्यस्या । कश्चित्सुरतकलहे कुपिता पार्वतीमनुनेतु पादपतितस्य शभो शिरसि कोपात्पादप्रहार प्रदत्त , तदवसरे चरणार्द्रालक्तकरमे लग्ने रक्ता जातेत्यर्थः ॥

द्वीपे परस्मिन्नितरोऽस्ति कश्चिदस्य व्रतीन्द्रस्य वशी सदृक्षः ।

दिदृक्षयान्तः कुतुकादितीव पतिस्त्विषा याति परत्र खण्डे ॥ २३ ॥

त्विषा पतिर्भानुमान्परत्र अन्यस्मिन् खण्डे द्वीपे प्रदेशे वा याति । उत्प्रेक्ष्यते—अन्तश्चेतोमध्ये कुतुकात्कौतूहलादित्यमुना प्रकारेण दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छयेव । इति किम् । यदन्यस्मिन्नपरस्मिन्द्वीपेऽस्य हीरविजयनाम्नो व्रतीन्द्रस्य सूरौ सदृक्षस्तुल्य इतोऽन्यः कश्चिद्वशी जितेन्द्रिय आस्ते न वेति ॥

अनक्षिलक्ष्यीभवति स्म भास्वान्निजाङ्गनायामनुरागिभावात् ।

क्वचिन्निगूढं वरुणेन रोषादिवैष पाशेन नियन्त्रय मुक्तः ॥ २४ ॥

भास्वान्मार्तण्ड अक्षोर्नयनयोर्लक्ष्यो दृश्यः अनक्षिलक्ष्यः दृग्गोचरो नाक्षिलक्ष्योऽनक्षिलक्ष्यः स भवति स्मेति अनक्षिलक्ष्यीभवति स्म । अदृश्यो जातः । अस्त गत इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—निजाङ्गनाया पश्चिमदिङ्मृगलोचनायाम् । ‘वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममुरुची’ इति नैषवे । अनुरागः प्रेमातिरेकोऽस्त्यस्मिन्वा दृग्भावश्चित्ताभिप्रायो यस्य अनुरक्तत्वेन वा रोषात्कोपोदयात्क्वचित्कुत्रापि प्रदेशे वरुणेन प्रतीचीपतिना पाशेन बन्धनग्रन्थिना नियन्त्रय बद्धा निगूढ गुप्तस्थाने मुक्तः स्थापितो रक्षित इव ॥ इति सूर्यास्तवर्णनम् ॥

आवासविस्मेरमहीरुहाणा सायं शिखाः शिश्रियिरे शकुन्ता ।

विश्वोपकर्ता कः गतः सगोत्रः खगस्तदीक्षार्थमिवास्थुरुच्चैः ॥ २५ ॥

शकुन्ता पक्षिण साय सध्यासमयमनुलक्ष्यीकृत्य आवासनमावासस्तदर्थम् । निशाया निवस्तुमित्यर्थः । आवासाहर्हा वा विकसिता ये महीरुहा पादपास्तेषाम् । 'आवासवृक्षो-
न्मुखवर्हिणानि' इति रघुवशे । तथा 'फलवर्हाम्यामिनच्' । 'फलिन , वर्हिण ' इति
प्रक्रियाकौमुद्याम् । शिखा शाखा शिश्रिचिरे भजन्ते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वोपकर्ता
जगजनाना प्रबोवा लोककारकत्वेनोपकारकारक तथा सगोत्रो नोऽस्माकमाकाशचर-
त्वेन सदृश गोत्र नाम यस्य स सगोत्र । 'गोत्रसजानामधेयाख्याह्वा' इति हैम्याम् ।
खगो भानुमाली । 'सूर्योऽर्क किरणो भगो ग्रहपुष पूषा पतङ्ग खग ' इति सूर्या-
भिवानानि हैम्याम् । क कुत्रस्थाने गत यातवान् । तस्य खगस्य ईक्षार्थमालो-
कनार्थमिवोच्चै उपरितनशिखासु अस्थु स्थिता ॥

मरन्दनिस्पन्दितमालतालीः सायं स्म शीलन्ति कलापिमालाः ।

प्रावृट्पयोदस्य धियेव मैत्र्यादुपेयुषोऽभ्रान्मिलितुं क्षमायाम् ॥२६॥

कलापिमाला मयूरमण्डली साय सध्यासमये मरन्दाना विकसितकुसुममकरन्दाना
नितरामतिशायितया स्पन्द क्षरणमस्त्यासु तादृश्यस्तमालास्तापिच्छास्तालीवृक्षविशेषा
शीलन्ति श्रयन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—अभ्रादाकाशान्मैत्र्यात्सौहार्दान्मिलितुमर्थादात्मनो-
मिलनार्थं क्षमाया भूमण्डले उपेयुष समागतस्य प्रावृट्पयोदस्य वार्षिकमेघस्य विया
बुद्ध्या । भ्रमादिवेत्यर्थः ॥

विकालवेलामनु सूत्रकण्ठा अनीनदन्त्रीडसनीडभाजः ।

दृष्ट्वा जगच्चक्षुरनिष्टमेते पठन्ति किं शान्तिकमन्त्रपाठान् ॥ २७ ॥

विकालवेला दिवसावसानसमयमनुलक्ष्यीकृत्य । व्यालोकयेत्यर्थः । 'दिनावसानमुत्सूरो
विकालसबली अपि' इति हैम्याम् । सूत्रकण्ठा शुका अनीनदन् अतिशयेन शब्दायन्ते स्म ।
किंभूता । नीडाना कुलायाना सनीड समीप भजन्तीति । उत्प्रेक्ष्यते—जगतां विश्वेषा
प्राणिना सर्वमार्गाणा स्वेषा परेषा वा सर्वपदार्थाना दर्शकत्वाच्चक्षुरिव लोचनमिव तस्य
जगच्चक्षुषो भानोरनिष्टमस्तलक्षणामापद दृष्ट्वा एते द्विजा किं शान्तिकान् शान्तिकार-
कान्मन्त्रपाठान्मन्त्रोच्चारान्पठन्त्युच्चरन्तीव । ब्राह्मणा हि विपत्तौ विघ्ने वा शान्तिक
कुर्वाणा शान्तिकमन्त्रपाठानुच्चरन्तीति लोकरुढि । 'सूत्रकण्ठ शुके विघ्ने खञ्जरीटक-
पोतयो ' इत्यनेकार्थतिलक ॥

वियन्मणीवल्लभविप्रयुक्ता पाथोजिनी मुद्रितवक्त्रकोशाम् ।

रसार्पणप्रीतहृदस्तदानीमालापयन्तीव रवैर्द्विरेफाः ॥ २८ ॥

तदानीं सध्याया सूयेऽस्तमिते द्विरेफा मधुकरा रवे खगुञ्जारवै शब्दै कृत्वा
पाथोजिनी पद्मिनीम् । उत्प्रेक्ष्यते—आलापयन्तीव शोकापनोद मनाक् प्रणेतु वादन्तीव ।
किंभूता द्विरेफा । रसाना निजोज्जृम्भमाणपाथोजनिर्यन्मकरन्दानामर्पणेन पूर्वप्रदाने-
नाकण्ठपानोपकारकरणेन प्रीतमतीव हृष्ट हृद् मनो येषाम् । किंभूता पद्मिनीम् । विय-

न्मणी गगनरत्न सूर्य । 'भानुर्नभोहर्मणी' इति हैम्याम् । स एव वल्लभः प्राणप्रियो भर्ता पद्मिनीपतित्वेन तस्य । तेन विप्रयुक्ता प्राप्तवियोगाम् । विरहिणीमित्यर्थः । पुनः किभूताम् । अत एव मुद्रितो मुकुलीकृतः सकोचितः पिहितो वा वक्त्रमदृशः कोशः कुञ्जलो यस्यास्ताम् । पूर्वप्रीणितस्वजनादि कामपि प्रियवियोगिनीं कामिनीमागत्य सुखदुःखादिवार्तां प्रश्नेनालापयतीति रीतिः ॥

सरोजिनी कोशकुचौ निपीड्याधरच्छदे पीतरसैः स्ववातात् ।

मीलन्मुखी कम्पमिषान्निषेद्धी जहे महेलेव युवद्विरेफैः ॥ २९ ॥

युवद्विरेफैस्तरुणभृङ्गैः सरोजिनी पद्मिनी जहे । केव । महेलेव । यथा युवभिर्युवती त्यज्यते । किं कृत्वा । कोशौ मुकुलावेव कुचौ निपीड्य मर्दयित्वा । किभूतैर्द्विरेफैः युवभिश्च । अधरच्छदे अवस्तनपत्रे ओष्ठदले च । निपीतो नितरामास्वादितो रसो मकरन्दोऽमृतरसो ये । 'स्वमाह सध्यामधरोष्ठलेख्याम्' इति नैषधे । 'अवस्तनोऽवरः' इति तद्वृत्तिः । किंभूता । स्ववातान्निजपक्षपवनाद्यः कम्पस्तन्मिषान्निषेद्धी निषेधनशीला स्वनिवारयन्ती । अत एव किभूता । मीलन्मुखी सकुचद्वन्द्वना ॥

विश्वं विशन्तीं द्विषतीमुषा स्वामन्विष्य तस्याः किममङ्गलाय ।

रथाङ्गनाम्ना निवहैर्वियुक्तैर्विमुक्तकण्ठं रुरुदे दिनान्ते ॥ ३० ॥

वियुक्तैः वियोगिभिः निजाङ्गनारथाङ्गविहगमीभ्यः पृथग्भूतैर्देववगात्स्वा प्रिया मीलितुमशक्नुवद्भिः इत एव पृथक्स्थानस्थितैः । 'रविरहर्विरहध्रुवभेदयो' इति रघुवशवचनात् । रथाङ्गनाम्ना चक्रवाकानां निवहैर्निकरैर्दिनान्ते दिवसावसाने प्रदोषसमये विमुक्तकण्ठगाढस्वरेण रुरुदे रोदनमकारि । किं कृत्वा । विश्वं जगन्मध्यं विशन्तीं प्रवेशं सृजन्तीम् । तथा स्वामात्मीया द्विषतीं वैरिणीमुषां निशामन्विष्य विलोक्य । उत्प्रेक्ष्यते—तस्या रात्रे किममङ्गलायापशकुनार्थम् । गमनागमने हि प्रायः प्राणिना स्वयं रोदनं पररोदनश्रवणं च महाकष्टाय जायते ॥

मृगीदृशामञ्जनमञ्जुलाभिर्विलोचनश्रीभिरिवाभिभूताः ।

व्रीडेन नीडद्रुमकोटरान्तः प्रयान्ति संध्यामनु खञ्जरीटाः ॥ ३१ ॥

संध्या पितृप्रसूतसमयमनुलक्ष्यीकृत्य खञ्जरीटाः खञ्जननामानः शकुनविशेषा नीडानां खखकुलायानां ये द्रुमा महीरुहास्तेषां कोटरान्तं निष्कुहमध्यभागे । 'निष्कुहकोटरो मञ्जा' इति हैम्याम् । प्रयान्ति गच्छन्ति । प्रविशन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—मृगीदृशासारङ्गीनयनानां सुलोचनानां स्त्रीणामञ्जनमञ्जुलाभिः कजलशलाकाञ्जनावन्मनोज्ञाभिर्विलोचनश्रीभिर्विशिष्टनयनलक्ष्मीभिरभिभूताः सन्तो व्रीडेन लजयेव । व्रीडशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । 'व्रीडमावहति मामकं मनः' इति नैषधे ॥

दोषामुखेन द्विषतेव वार्धौ क्षिप्त समीक्ष्य स्वविपक्षमर्कम् ।

शत्रोरगोत्रीभवनादिवाभ्रभुवोर्मुदाभ्राम्यत घूकलोकैः ॥ ३२ ॥

घूकलोकैः कौशिकशकुन्तसकरैरभ्रभुवोर्वावापृथिव्योर्मुदा स्वशात्रववारिजबान्धवा-
स्तविभावनाभ्युदितप्रमोदेन अभ्राम्यत इतस्ततो बभ्रम्यते स्म । 'आलोकतालोकमुलू-
कलोक' इति नैषधे । तथा 'आकाशे तमसि सममिते कोकलोके सशोके' इति
नाटकशास्त्रेऽपि पक्षिशब्दानां पुर समूहवाची लोकशब्दो दृश्यते, तेन घूकलोक इति
प्रयोगः । उत्प्रेक्ष्यते—शत्रोरगोत्रीभवनात् स्वीयविपक्षजगज्जुषो वशस्य नाम्नोऽपि वा
अभावो जात इतीव मुदा भ्रान्तम् । किं कृत्वा । द्विषतेव शात्रवेनेव दोषामुखेन
प्रदोषेण स्वविपक्ष निजप्रत्यर्थिनं भास्करं वार्धौ अगाधपयोधिपयोमध्ये क्षिप्तं पातितं
समीक्ष्य दृष्ट्वा ॥

कपोतपालीतटसंनिविष्टा हुंकुर्वते कापि कपोतपोता ।

शोच्यां दशां प्राप्तमुदीक्ष्य मित्रमुदीयमानान्मनसीव दुःखात् ॥ ३३ ॥

कापि कुत्रापि स्थाने कपोतपाल्या विटङ्कस्य । 'कपोतपाली विटङ्क' इति हैम्याम् ।
तटे एकत्र प्रान्तप्रदेशे संनिविष्टा संस्थितिं कुर्वाणा सन्तः कपोतपोताः पारावतबा-
लका हुंकुर्वते हुंकारं कुर्वन्ति । कपोतानां कूजितं प्राय एवविवमेव श्रूयते । यदुक्तं
कालिदासकविना विभातवर्णनाधिकारे—'परिणतरविगर्भव्याकुला पौरहूती दिगपि घन-
कपोती हुंकृतैः कुन्थतीव' इति । उत्प्रेक्ष्यते—शोच्यां शोचनार्हा दशामस्तलक्षणाम-
वस्थां प्राप्तमाद्यादित मित्रं सूर्यं सुहृदं च उदीक्ष्य दृष्ट्वा मनसि स्वचेतसि उदीयमानात्
प्रकटीभवतो दुःखादिव ॥

पिकाश्वुकूजुः सहकारकुञ्जे रत्या रतश्रान्ततया शयालोः ।

जगज्जयस्यावसरं जिगीषोः संसूचयन्तीव रतीशभर्तुः ॥ ३४ ॥

सहकारकुञ्जे माकन्दपादपकानने पिकाः कोकिलाश्वुकूजुः शब्दायन्ते । प्रोन्निद्रसा-
न्द्रामन्दमाकन्दमञ्जरीपुञ्जास्वादनमधुरध्वनिप्रपञ्चपञ्चमगीतिमुच्चरन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—स्व-
पत्न्या रत्या समं रतेन सभोगाभोगविनोदेन श्रान्ततया प्राप्तश्रमत्वेन सुरतसजातखेदेन
शयालोर्निद्राशीलस्य । तथा जिगीषोस्त्रिजगजेतुमिच्छो रतीशः कामः स एव भर्ता
प्रभुस्तस्य जगता तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशान्नाकिनागनागराणां जयस्य पराभवनप्रविधानस्या-
वसरं व्यतिकरं वेलां प्रस्तावः संसूचयन्ति कथयन्तीव । यतो नक्तं प्रायः सर्वेऽपि ससारिणो
जनाः स्मरवशां जायन्ते इति ॥ इति सध्यावर्णनाधिकारे सर्वविहगविरुतादिवर्णनम् ॥

समुल्लासाभ्रपथेऽथ संध्यारागो विरागीकृतचक्रचक्रः ।

पञ्चेषुणा विश्वजिगीषुणेयं प्रादायि शोणीव नवोपकार्या ॥ ३५ ॥

अथ संध्यासमयाविर्भावानन्तरमभ्राणां मेघानां पथे मार्गे । नभोज्ज्वले इत्यर्थः

संध्याराग । रवेरस्तगमनानन्तर प्रायो व्योमाङ्गणे दिशि दिशि रक्तिमा प्रादुर्भवति । सध्यासमये जातत्वात्संध्याराग समुल्लास सम्यग्दृश्यमान स्फुरति स्म । किभूतः । विरागीकृतानि वियोगव्याकुलाङ्गीभवनत्वेन सदुःखानि कृतानि चक्राणां चक्रवाकानां चक्राणि वृन्दानि येन । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वानि त्रीणि सप्त चतुर्दश वा एकविंशतिर्वा जगन्ति भुवनानि जिगीषुणा पराभवितुमिच्छुना पञ्चेषुणा मदननृपतिना इयमेषा संध्यारागलक्षणाप्रत्यक्षा शोणी रक्ता नवोपकार्या नवीनपटकुट्टी प्रादायि दत्ता । ‘रचयति रुचि शोणीमेता कुमारितरारवै’ इति नैपथे ॥

नभोङ्गणे सान्द्रितसांध्यरागैर्बभेऽम्बुधि शीलति हेलिबिम्बे ।

भर्तुर्विधोरागमने प्रणीतै रात्रिस्त्रिया कुङ्कुमहस्तकैः किम् ॥ ३६ ॥

नभोङ्गणे गगनमण्डले सान्द्रत्व निविडीभाव सजातोऽस्त्येषु तादृशै सध्याया सूर्यास्तसमये भवैः साध्यरागैः पदे पदे पाटलाभ्रपटलैः बभेः शुशुभे । कस्मिन्सति । हेलिबिम्बे मार्तण्डमण्डले अम्बुवि समुद्रमध्य शीलति श्रयति सति । उत्प्रेक्ष्यते—विवोश्चन्द्रमसः भर्तुः स्वप्राणवल्लभस्यागमने पादावधारणसमये रात्रिस्त्रिया यामिनीकामिन्या प्रणीतैः प्रदत्तैर्दिग्भिर्तिगगनाङ्गणेषु वितीर्णैः कुङ्कुमहस्तकैः घुसृणद्रव्यलिप्तहस्तबिम्बकैः किम् ॥

मज्जत्कुक्कुञ्जरविन्दुवृन्दारुणीभवद्व्योमसरित्तरङ्गैः ।

अभ्रेऽरुणाम्भोजरजोविमिश्रैरदभ्रसंध्याभ्रनिभात्प्रसस्ते ॥ ३७ ॥

मज्जता सकलवासरतपत्तपनतापसतापिततनुतया साय शिशिरतानिर्मितये जलकैः लिकरणसमये लीलया सलिलान्तरे ब्रूडता कुक्कुभामष्टदिशामैरावताद्यष्टदिग्गजानां विन्दुवृन्दैः शोणमदोदककणगणैः । पञ्चम्या हि दशाया करीन्द्राणां कपोलपालीभ्यः पाटला विन्दवो निर्गच्छन्तीति शास्त्रे कविसमयः । तथाहि—‘भूर्जत्वच कुञ्जरविन्दुशोणा’ इति कुमारसंभवे । अरुणीभवद्भिः शोणिमानं प्राप्नुवद्भिः व्योमसरितो गगनगङ्गायास्तरङ्गैः कल्लोलैः अदभ्राणि अनेकानि अभ्राणि सध्यासमयाविर्भवद्वर्दका(ला)नि तेषां निभात्कपटादभ्रे व्योममार्गे प्रसस्ते प्रसृतम् । इति गर्भोत्प्रेक्षा । किभूतैस्तरङ्गैः । अरुणाम्भोजानि कोकनदानि तेषां रजोभिः पाटलपरागैः विमिश्रैः करम्बितैः ॥

आगामुक कामुकमक्षिलक्ष्यं प्रणीय राजानमनन्तलक्ष्म्या ।

अङ्गेऽङ्गरागो घुसृणैः प्रणीतः सांध्योल्लसल्लोहितिमा किमेषः ॥ ३८ ॥

सध्यासबन्धी समुल्लसन् स्फुरन् लोहितिमा रक्तिमा । राग इत्यर्थः । भातीत्युक्तिलेशः । उत्प्रेक्ष्यते—एष दृश्यमानः प्रत्यक्षः साध्यराग एव अनन्तलक्ष्म्या गगनश्रिया अङ्गे स्वतनूलतायां घुसृणैर्द्रवीभवत्कुङ्कुमैरङ्गरागो विलेपनं किं प्रणीतो निमित्त इव । किं कृत्वा । कामुकः स्वकामयितारः स्वस्या विषये भोगाभिलाषिणमत एव आगामुकमात्मसमीपे समागमनशीलः राजानं चन्द्रनृपं च अक्षिलक्ष्यं दृग्गोचरं प्रणीय कृत्वा । दृष्टेत्यर्थः ॥

निशानने श्रीसुतमत्तकान्तैरत्युत्सवायोत्सुकभावभाग्भिः ।

दिग्वारसारङ्गविलोचनाभिः संध्यारुणश्रीरुदगारि रागः ॥ ३९ ॥

दिश एव वारसारङ्गविलोचना वारविलासिन्यः ताभि सध्याया अरुणश्री रक्तिमश्रीः, स एव तद्रूप एव वा । उत्प्रेक्ष्यते—राग स्वपति प्रत्यतिशाय्यनुराग उदगारि उद्गीर्ण । प्रकटीकृत इत्यर्थः । किंभूताभि । दिग्वारसारङ्गविलोचनाभि निशानने यामिनीमुखे एव सध्यात एवारभ्य श्रीसुतेन कन्दर्पेण कृत्वा मत्तैरुन्मदिष्णूभूतैरुन्मादिभिर्मदोद्धुरैः कान्तै स्वभर्तृभिः दिङ्नायकै सार्ध रते सुरतस्योत्सवाय विविधप्रकारकामक्रीडाविलासार्धमुत्सुक उत्कण्ठितो यो भावश्चित्ताभिप्रायस्तमाशय भजन्तीति तादृशीभिः ॥

स्वर्यौवताङ्घ्रिप्रतिकर्मसज्जप्रसाधिका पाणिपयोरुहेभ्यः ।

निपातुकालक्तकपङ्कपङ्क्तिः संध्याभ्रिका व्योम्नि बभूवुषीव ॥ ४० ॥

स्वर्यौवतानां स्वर्गाङ्गनानामप्सरसा 'स्वःस्वर्गिवध्वप्सरस' इति हैम्याम् । अङ्गीणा चरणाना प्रतिकर्म प्रसाधन मण्डनादिकरणम् । 'मण्डन पुनः प्रसाधन प्रतिकर्म' इत्यपि हैम्याम् । तत्र प्रसावने सज्जाना प्रवणाना पङ्क्ति श्रेणी सैव । उत्प्रेक्ष्यते—व्योम्नि आकाशे संध्याभ्रिका संध्यासमयप्रादुर्भवदभ्रपटली बभूवुषी जातेव ॥

अनीदृशी व्योममणेर्दिनश्रीचूडामणेः प्रेक्ष्य दशां स्वभर्तुः ।

दुःखेन ताम्बूलमहायि वक्रात्संध्याभ्रदम्भादिव दिग्वधूभिः ॥ ४१ ॥

दिग्वधूभिर्दिगङ्गनाभि दु खेन चित्तोद्धृतातिखेदोदयेन सध्याकालीनाभ्राणा दम्भाद्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—वक्रान्निजवदनात्ताम्बूल दशनचर्वितनागवल्लीदलचूर्णमहायि क्षिप्तमिव । कि कृत्वा । दिनश्रिया वासरलक्ष्म्याश्चूडामणे शिरोमणेर्व्योममणे सहस्रकिरणस्य अनीदृशी दुष्टामस्तलक्षणाम् । 'ईदृशी च कथमाकलयित्री' इति नैषधे । दशामवस्था प्रेक्ष्य चक्षुर्लक्ष्यीकृत्य । किभूतस्य भानो । स्वभर्तुनिजेश्वरस्य । 'दिशो हरिर्द्भिर्हरितामिवेश्वर' इति रघुवशे । 'हरितामीश्वर' पति सूर्य' इति तद्वृत्तिः ॥

पत्यौ गवा क्वापि गतेऽस्य बन्धून्पद्मान् रथान् रथान्निरपुवत्प्रदोषः ।

क्लिश्नाति कोपात्किमतो दिगीशैः संध्याभ्रदम्भादरुणीबभूवे ॥ ४२ ॥

दिगीशैर्दिक्पालैः । उत्प्रेक्ष्यते—अत एतत्कारणात् उत्पन्नात् प्रकटीभूतात्कोपात्कोधात्सध्याभ्राणा दम्भाद्याजात्किमरुणीबभूवे रक्तैर्जातम् । कारण प्रतिपादयति—गवा भूमीना किरणाना च पत्यौ स्वामिनि भास्करे राजनि च क्वापि कुत्रापि स्थाने गते प्रयाते सति अस्य बन्धून्मित्राणि पद्मान् कमलान् । द्वावपि पुनपुसकलिङ्गौ । रथान्नाश्वकवाकान् सकोचवियोगादिप्रकारै रिपुवद्वैरिवत्प्रदोषो यामिनीमुख क्लिश्नाति पीडयति । यथा कश्चित्प्रत्यर्थी पृथ्वीनाथे कार्यवैयर्थ्यात्कचन गते सति तत्स्वजनजनान् सतापयति ॥ इति संध्यारागः ॥

अग्रे मनाक्संतमसैः प्रदोषरागान्तरेऽथ प्रकटीबभूवे ।

प्रवालपुञ्जे स्मयमानकृष्णवल्लीप्ररोहैरिव वार्धिमध्ये ॥ ४३ ॥

अथ सध्यारागभवनानन्तरमग्रे आकाशे प्रदोषो यामिनीमुख सध्या तस्य यो रागो रक्तिमा तस्यान्तरे मध्ये मनाक् किञ्चन सतमसैरन्धकारैः प्रकटीबभूवे प्रादुर्भूतम् । कैरिव । स्मयमानकृष्णवल्लीप्ररोहैरिव । यथा वार्धिमध्ये परीवारान्तरालभूमौ प्रवालपुञ्जे विद्रुमकन्दलवृन्दे विस्मेरकृष्णलतानां 'कालीवेल' इति लोकमध्ये प्रसिद्धानामङ्कुरैः प्रकटीभूयते ॥

विभ्राजिसंध्याभ्रपरम्पराभिरलम्भि भूच्छायभरैर्विभूतिः ।

स्मेरारुणाम्भोरुहमण्डलीभिर्भृङ्गैरिवान्तर्मधुपानलीनैः ॥ ४४ ॥

विभ्राजन्त इत्येवशीलाभिर्विभ्राजिनीभिः शोभनशीलाभिः सध्यारागरक्तीभूतानामभ्राणा वर्दलिकानां परम्पराभिः श्रेणीभिः कर्त्राभिर्भूच्छायभरैरन्धकारनिकरैः करणैर्विभूतिः शोभा अलम्भिः संप्राप्ता । काभिरिव । स्मेरारुणाम्भोरुहमण्डलीभिरिव यथा विकचानां कोकनदानां मालिकाभिः अन्तर्विकसितकोशमध्ये मधूनां मकरन्दानां पानार्थमास्वादनकृते लीनैरातृप्तिपानरसान्निश्वलीभूतैर्भृङ्गैर्भ्रमरैः कृत्वा लक्ष्मीः शोभा प्राप्यते ॥

तमोगणालिङ्गिनभोद्गणश्रीः संध्याभ्ररागच्छुरिता चकासे ।

वृन्दारकैः कुङ्कुमगन्धधूलीद्रवैरिवासिच्यत शक्रमार्गः ॥ ४५ ॥

सध्यासमयोद्भूतानामभ्राणां रागैः रक्तिमभिश्छुरिता व्याप्ता । 'चन्दनच्छुरित वपुः' इति पाण्डवचरित्रे । तमसा तिमिराणां गणेन समुदायेन आलिङ्गिता चुम्बिता कलिता नभोद्गणश्रीर्गगनतललक्ष्मीश्चकासे शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—वृन्दारकैर्देवैः कुङ्कुमैर्घुसृण-रसकलितैर्गन्धधूलीनां जात्यमृगनाभीनां द्रवैः पङ्क्तैः कृत्वा शक्रमार्गं पुरदरपदवीं गगनमसिच्यत सिक्त इव । 'येनामुना बहुविगाढसुरेश्वराध्व-' इति नैषधे । 'सुरेश्वराध्वा गगनम्' इति तद्वृत्तिः ॥

सुधान्धसामध्वनि साध्यरागोल्लासं विलुप्य प्रसृतं तमोभिः ।

मलीमसाः स्वावसरं प्रपद्य परोदय हन्त कुतः सहन्ते ॥ ४६ ॥

साध्यरागस्य जगत्स्वभावात्प्रादुर्भवत सध्याया दिनादौ दिनान्ते च द्वे साध्ये भवत । अत्र चाविकारादिनान्तसध्याया एवेति वाच्यम् । यतोऽग्रेतननिशाया शासनदेवता समेष्यतीति विवक्ष्यते रागो रक्तिमा तस्योल्लासमाविर्भावः प्रसारः वा विलुप्य निराकृत्य निषिध्य सुवामृतमेवान्धो भोजनं येषां ते सुवान्वसो देवाः । 'स्वाहास्ववाक्रतुसुवाभुज आदितेया' इति हैमीवचनात् । सुवाशना देवास्तेषामध्वनिमार्गे पयि गगने तमोभिर्भूच्छायभरैः प्रसृतं विस्तृतम् । जगद्व्याप्तमित्यर्थः । युक्तोऽयमर्थः । मलीमसा मलिना

पापा वा स्वस्यात्मनोऽवसर प्रस्ताव वेलामभ्युदयसमय वा प्रपद्य प्राप्य । हन्त इति खेदे । परेषामन्येषामात्मव्यतिरिक्तानामुदयमुन्नति कुत सहन्ते । अपि तु नीचस्वभावान्न सहन्ते एव ॥ इति सध्यारागतमिस्रवर्णनम् ॥

पुरारिकंसारिपदप्रसत्तेरजय्यवीर्यं शशिनं निशम्य ।

ध्वान्तोपधेस्तानि निघृक्षयेव तमोभिरभ्रे बहुभिर्बभूवे ॥ ४७ ॥

ध्वान्तानामन्धकाराणामुपधेर्व्याजात् । उत्प्रेक्ष्यते—तमोभिः स्वर्भानुभिरभ्रे आकाशे बहुभिर्घनैर्बभूवे सजातमिव । अनेके विधुतुदा बभूवुरित्यर्थः । कया । तस्य स्वकवलायमानस्य शशिनो निजिघृक्षया निग्रहीतुमिच्छया निग्रहं कर्तुं काङ्क्षया । किं कृत्वा । पुरनान्नो दैत्यस्य अरिः शत्रुरीश्वरस्तस्य तथा कसनामासुरस्य अरिर्द्वेषी तस्य च पदस्य क्रमस्य विष्णुपदस्य प्रसत्तेः प्रसादात्सेवानुभवाज्जितुमशक्यमजय्य वीर्यं पराक्रमो यस्य तादृशः शशिनं चन्द्रं निशम्य आकर्ण्य ॥

क्वचिज्जगत्साक्षिणमेक्ष्य यातं जगज्जगज्जीवपिबो जिघत्सुः ।

स्वीयं विभाव्यावसरं स्मरारिर्भूच्छायकाया सृजतीव मायाम् ॥ ४८ ॥

जगज्जीवपिब विश्वप्राणहर । ईश्वररूपेण सहारकारकत्वात् । 'जीवेऽत्सुजीवितप्राणाः' इति हैम्याम् । तथा 'क्षये जगज्जीवपिब शिव वदन्' इति नैषधे । स्मरारिरीश्वरः स्वीयमात्मीयं तमसोऽभ्युदयत्वात् शिवस्तु तमः प्रगुणः अतः एव अवसरं प्रस्तावः समयं विभाव्य विलोक्य ज्ञात्वा वा । उत्प्रेक्ष्यते—जगद्विश्वं जिघत्सुः खादितुमिच्छुः भूच्छायं निबिडतमतमिस्रमेव कायं शरीरं यस्यास्तादृशीं मायाम् । शाम्बरीकपटविद्यामित्यर्थः । सृजतीव करोतीव । किं कृत्वा । जगत्साक्षिणः शुभाशुभकर्मकर्तृणां जगज्जनानां प्रतिभुवः भास्करः क्वचित्कुत्रापि दृग्गोचरप्रदेशे यातम् एक्ष्य विभाव्य ॥

पशोरिवोर्वीदिवगोचरस्य ध्वान्तस्य भोः पश्यत मन्दिमानम् ।

निहन्यमानोऽपि मुहुः करेण चण्डद्युता धावति रोदसोर्यत् ॥ ४९ ॥

भो लोका पण्डिता, यूयं पशोस्तिरश्च इव छागस्येव वा ध्वान्तस्य निशान्धकारस्य मन्दिमानं मूढतां मूर्खतामज्ञानतां पश्यत विलोकयत । 'अथोदयति निर्दोषे सचिवेन्दौ नवे रवे । कोककोकनदानन्दिमन्दिमानमगान्मह ॥' इति वस्तुपालकीर्तिकौमुद्याः सूर्यास्तमनवर्णने । किंभूतस्य । उर्वीदिवगोचरस्य द्यावाभूमीविषयस्य पशोरपि भूमीपर्वताद्यूर्ध्वस्थाने चरणगोचरो यस्य । यद्यस्मात्कारणात् चण्डद्युता अत्यन्तकोपनाकान्तिर्यस्य । कोपारुणीभूतेनेत्यर्थः । तादृशेन पुसा करेण किरणेन खरेण करेण हस्तेन चपेटादिप्रदायिपाणिना मुहुर्वारवारं निहन्यमानं ताड्यमानं हस्तपादप्रभृतिप्रहृतिभिः व्यापाद्यमानं वधादिभिः सत् रोदसोर्दिवस्पृथिव्योर्धावति पुनः पुनः समायाति । ध्वान्तशब्दः पुनः पुनः कलिङ्गयोः ॥

अङ्गाच्युताया रभसेन बाल्याल्लीलां सृजन्त्याः स्वपितुर्गभस्तेः ।

जामेर्यमस्येव पयःप्रवाहैर्भृते नभोभूमितले तमोभिः ॥ ५० ॥

तमोभिस्तिमिरैर्नभोभूमितले नभस्तल भूमीतल च भृते व्याप्ते बाल्याद्वालस्वभावा-
ल्लीला क्रीडाम् । ‘क्रीडा लीला च नर्म च’ इति हैम्याम् । सृजन्त्या कुर्वन्त्या स्वस्य
जनकस्य पितुर्गभस्तेर्भास्करस्य अङ्गादुत्सङ्गात् रभसेनौत्सुक्येन च्युताया पतिताया
यमस्य शमनस्य जामेर्भगिन्या अलभत । शमनस्वसु शिशुत्वम् ‘दिवसकराङ्गतले चला
लुण्ठन्ती’ इति नैषधे । यमुनाया पयःप्रवाहैः सलिलैर्घैरिव व्योममहीमण्डले निर्भर
भृते । कालिन्द्या कृष्णजलत्वेनेयमुत्प्रेक्षा ॥

रथाङ्गनाम्नां दिवसावसाने वियोगभाजां सममङ्गनाभिः ।

स्फुरद्विषादानलधूमलेखा मन्ये तमिस्रा बहुलीवभूवुः ॥ ५१ ॥

तमिस्रा अन्धकाराणि । तमिस्रशब्दः स्त्रीक्रीवलिङ्गयोः । बहुलीवभूवुः निविडा
नीरन्ध्रा सजायन्ते स्म । तत्राहमेव मन्ये विचारयामि । दिवसावसाने दिनपर्यन्ते
सध्याया एवारभ्य अङ्गनाभि स्वीयवल्लभाभिः रथाङ्गविहगमीभिः सम सार्धं वियोग-
भाजा परस्परविश्लेषकुलिताना रथाङ्गनाम्नां चक्रवाकाना स्फुरन्त्य प्रकटीभवन्त्य-
विषादः खेदः स एवानलो हुताशन तस्य धूमाना लेखा श्रेणय इव ॥

गते गवां स्वामिनि नाभ्युदीते राजन्यथाराजकवद्विभाव्य ।

स्वैरप्रचारेण जगत्समग्रमुपाद्रवद्दस्युरिवान्धकारः ॥ ५२ ॥

अन्धकार स्वैर स्वेच्छया प्रचारेण द्यावाभूम्योः सचरणेन दस्युरिव प्रत्यर्थीव चौर
इव वा समग्र जगत्सर्वमपि भुवनमुपाद्रवदुपद्रवति स्म । किं कृत्वा । गवा किरणाना
पृथिवीना च स्वामिनि नायके भानौ भूधने च । ‘गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे’
इति कल्याणमन्दिरस्तवने । कापि कुत्रापि गते अस्तमिते परजनपदे प्रयाते मृते वा
सति अथ पश्चात् राजनि चन्द्रे पट्टधरनृपे च नाभ्युदीते नोदय प्राप्ते पट्टे स्थापिते
च । अत एवाराजकवन्नि स्वामिकमिव जगद्विभाव्य निरीक्ष्य । ‘हा हा महाकष्टमराजक
जगत्’ इति मृगयावर्णने वनपालोक्तिः ॥

कियद्विहायः कियती क्षितिर्वा प्रमातुकामस्तमसा समूहः ।

कुतूहलाक्रान्तमना इतीव द्यावापृथिव्योः प्रसरीसरीति ॥ ५३ ॥

तमसामन्धकाराणां समूहो द्यावापृथिव्योर्नभोभूमण्डलयोः प्रसरीसरीति अतिशयेन
प्रसरति । उत्प्रेक्ष्यते—विहायो गगनं किंप्रमाणमस्येति कियत् । तथा वा पुनः क्षितिः
पृथिवी कियती कियत्प्रमाणा । ‘कियती पञ्चसहस्री कियती लक्षा च कोटिरपि कियती ।
औदार्योन्नतमनसा रत्नवती वसुमती कियती ॥’ इति सूक्तोक्तिः । इत्यमुना प्रकारेण

कृतूहलेन कौतुकेनाक्रान्तमाकुलित व्याप्त वा मनो यस्य तादृक् सन् प्रमातुकामः प्रमाणी-
कर्तुमना इव ॥

तेपे तपो भूधरगह्वरान्तस्त्यक्ताशनाम्भः प्रतिवासरं यत् ।

व्योमावनीव्यापकसिद्धिरस्मादलम्भि भूच्छायभरैरिवैषा ॥ ५४ ॥

भूच्छायभरै सतमसमूहैर्भूवराणां पर्वताना गह्वराणा गुहाना महाकन्दराणामन्त-
र्मध्ये अर्थात्स्थित्वा प्रतिवासर दिवस दिवस प्रति त्यक्ते अशनाम्भसी आहारपाने यत्र
तादृश क्रियाविशेषण वा मुक्तान्नपान यथा स्यात्तथा तपस्तेपे । नियमविशेषकष्ट
तप्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—अतोऽस्मादुग्रतपस एषा प्रत्यक्षलक्ष्या व्योमावन्योर्नभोभूम्योर्व्या-
पनरूपा सिद्धि फलनिष्पत्तिर्लब्धिविशेषा अलम्भि लब्धा संप्राप्ता ॥ इत्यन्वकारा-
विर्भवनम् ॥

अथोददीप्यन्त नभःपदव्यां जगज्जगित्युस्रविमिश्रताराः ।

स्वकान्तमायान्तमवेत्य राज्या पुष्पोपचारो व्यरचीव मार्गे ॥ ५५ ॥

अथ तम प्रसारानन्तर जगज्जगिति कृद्भिर्देदीप्यमानैरुस्रै किरणैर्विमिश्रा करम्बि-
तास्तादृशास्तारास्तारका ज्योतिर्मण्डला नभः पदव्या गगनमार्गे उददीप्यन्त प्रस्फुरन्ति
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्वकान्त निजवल्लभ रात्रिपतित्वाच्चन्द्रम् । ‘रोहिणीद्विजनिशौषवीपतिः’
इति हैमीवचनात् । आयान्तमागच्छन्तम् । स्वपार्श्वे इत्यध्याहार । अवेत्य विज्ञाय
राज्या चन्द्रपत्न्या । ‘उपादोषेन्दुकान्ता’ इति हैम्याम् । मार्गे भर्तुरागमनस्याध्वनि
पुष्पोपचार कुसुमप्रकरो व्यरचि विरचित इव ॥

कुक्षिभरि क्षोणिनभः पदव्यो दृष्टाहित संतमसं जिघांसोः ।

ताराः स्वयं राज्ञ इहायियासोः पताकिनीव प्रसृता पुरस्तात् ॥ ५६ ॥

इह जगति गगनाङ्गणे वा स्वयमात्मनायियासोरागन्तुकामस्य राज्ञ रजनीजीवि-
तवल्लभस्य पार्थिवपुगवस्य च पुरस्तादग्रे तारास्तारकारूपा पताकिनी सेनेव प्रसृता प्रस-
रति स्म । यत्र राज्ञोऽभिषेणनाभिलाषस्तत्र पुरस्त्वरितमनीक प्रसरतीति रीतिर्नीतिश्च ।
राज्ञ किं कर्तुमिच्छो । क्षोणिनभः पदव्योश्चतुर्दिगन्तसागरान्तगगनाम्बरमण्डलयो
कुक्षिभरि भृतमध्यम् । तथा दृष्ट जगदाक्रम[ण]कारकम् । तथा अहित प्रतिपक्षम् ।
‘ध्वान्तस्य रविचन्द्ररत्नदीपकाविपक्षा’ इति काव्यकल्पलतायाम् । सतमसमन्धकार
जिघांसोर्हन्तुमिच्छो । अन्योऽपि बलवान् भूपतिर्दृष्ट भुवमाक्रामन्त बलिष्ठ प्रतिपन्थिन
हन्तुमिच्छति ॥

चिरविनोदैर्दिननायकेनाभिकेन साकं सुरवर्त्मलक्ष्म्या ।

नक्षत्रलक्षात्किमशेषवक्षः श्रमाम्बुभिर्विन्दुकितं बभूव ॥ ५७ ॥

अभिकेन निजकामुकेन दिननायकेन साक भानुमता सम चिर बहुकाल सकल वासर यावद्विनोदेर्विविधमानसामिलपितक्रीडारसै कृत्वा सुरवर्त्मरक्ष्म्या गगनप्रिया अशेषमखिल वक्षो हृदयस्थलम् । उत्प्रेक्ष्यते—नक्षत्राणामुद्भूनाम् इति सामान्योक्ति । यतो हैम्यामपि सर्वेषा नामानि सामान्येनैवोक्तानि न विशेषात्, यथा—‘नक्षत्र तारका ताराज्योतिषी भमुद्ग्रहा । विष्ण्वमृक्षम्’ इति, तथापि उपलक्षणाद्ब्रह्मनक्षत्रतारकाणां लक्षात्कपटात् श्रमाम्बुभि बहुविनोदविवानोद्भूतप्रस्वेदसलिलैर्विन्दव सजाता अस्मिन्-ति । स्वार्थे क । विन्दुकित जलकणकलित जातम् । ‘स्वेदविन्दुकितनासिकाशिख तन्मुख सुखयति स्म नैषधम्’ इति नैषधे । किं बभूव सजातमिव ॥

आगन्तुकस्योदयशृङ्गिशृङ्गास्थानीं तमोद्विड्दमनस्य राज्ञः ।

नभोवितानं किमकारि तारामुक्ताङ्कित सृष्टिकृतोपरिष्ठात् ॥ ५८ ॥

सृष्टिकृता जगत्सर्गविवायकेन विवात्रा राजश्चन्द्रस्य पृथिवीपुरदरस्य उपरिष्ठान् मस्तकोपरितनभागे । उत्प्रेक्ष्यते—तारास्तारका उपलक्षणान्नक्षत्रताराग्रहा एव मुक्ताफलानि तैरङ्कित विचित्ररचनाचारिमाञ्चित नभो गगनतलमेव वितान चन्द्रोदय किमकारि निर्मितम् । रचितमिव । राज्ञ किभूतस्य । शृङ्गिण पर्वतस्य । पूर्वपर्वतस्येत्यर्थ । शृङ्ग शिखर तदेवास्थानीमुपवेशनसभामागन्तुकस्य आगमनशीलस्य । पुन किभूतस्य । तमास्येव द्विषन्त शत्रवस्तेषा दमनस्यान्तकारकस्य । ‘अत्यन्तकारिदमनदर्पच्छिन्मथनादय ’ इति हैम्याम् ॥

नभोगसारङ्गदृशा रतीशराभस्यवश्यप्रियखेलिनीनाम् ।

वक्षःस्थहारच्युतमुक्तिकाभिर्नभःस्थली तारकिता किमासीत् ॥ ५९ ॥

रतीशराभस्येन तारुण्यवयस्त्वेन यन्मदनौत्सुक्यं यौवनोन्मादेन मदनात्युत्कण्ठाभाक्त्वेन वक्ष्या स्वायत्तीभूता ये प्रिया बलभास्तैः सप्त स्मरमते वात्स्यायनोक्तविविधविनोदे खेलन्ति क्रीडन्तीत्येवशीलास्तादृशीनाम् । ‘भीम कृत्वाङ्गखेलनम्’ इति पाण्डवचरित्रे । नभसि आकाशे गच्छन्तीति नभोगा देवास्तेषां सारङ्गदृशो मृगलोचना द्वियो देव्यस्तासां वक्षः सु हृदयस्थलेषु तिष्ठन्तीति वक्षःस्थास्तादृशा हारा मुक्ताकलापास्तेभ्यश्च्युतास्त्रुटित्वा पतिता मुक्तिका मुक्ता एव मुक्तिका मुक्ताफलानि ताभिः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—नभःस्थली गगनमण्डली तारकिता तारका सजाता अस्यामिति तादृशी तारककलिता किमासीत् बभूवुषीव । ‘नक्षत्रभू क्षत्रकुलप्रसूतेर्युक्तो न भोगैः खलु भोगभाज ’ इति चम्पूकथायां नलस्य मेरोरप्याविक्रयवर्णनम् । ‘न भोगे राज्यादिमुखेन युक्त । पक्षे नभोगैर्देवै सहित ’ इति तद्विष्णुनके ॥

स्वर्दण्डदण्डं दधता तमिस्रवासो वसानेन सितेतरश्रि ।

कपालमालेव धृता विहायः कपालिना वक्षसि तारतारा ॥ ६० ॥

विहाय कपालिना नभोनाम्ना योगिना वक्षसि स्वहृदयस्थले तारा उज्ज्वला केश-
चर्मरहितत्वेन केवलतुम्बिकात्वेन च धवला तारा ज्योतिश्चक्र च तद्रूपा । उत्प्रेक्ष्यते—
कपालमाला निर्नाथद्रमकमनुजमुण्डली च 'तुम्बिली' इति लोकप्रसिद्धा धृतेव कलितेव ।
कपालिना कपालधारण युक्तिमदेव । यत कपालानि विकचत्वङ्मृमुण्डानि मालात्वेन
सन्त्यस्येति कपाली । किं कुर्वता । स्वर्दण्डो लोके 'स्वर्दण्डउ' अथ वा पितृपथ इति
प्रसिद्ध । गगनान्तराले भ्रमन् किञ्चित् श्वेतवर्णो दण्डाकारेण दृश्यमानो मार्गाकारेण वा
स दण्डो यष्टिस्त दधता विभ्रता । पुन किं कुर्वाणेन । सितादुज्ज्वलवर्णादितरा कृष्ण-
वर्णा श्रीः शोभा यस्य तादृक् तमिस्र ध्वान्त तदेव वासो वसन वसानेन परिदधानेन ।
'गुणिप्रायाणि वस्त्राणि भूषणानि तव प्रभो । वसानश्च दधानश्च सत्कविर्द्वारि तिष्ठति ॥'
इति भोजप्रबन्धे ॥

तथा तवाप्यस्तु यथा त्रियामे निष्कास्यतेऽहं गलहस्तयित्वा ।

शपन्नितीवाक्षिपदक्षलक्षाक्षतानह्योर्ग्यभिमन्त्र्य गच्छन् ॥ ६१ ॥

गच्छन् परद्वीप प्रति व्रजन्नहर्दिनमेव योगी त्रियामा प्रत्यक्षिपत्क्षिपति स्म । उत्प्रे-
क्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण सिद्धविद्यामन्त्रतन्त्रोपयोगवान् अभिमन्त्र्य मन्त्रेण स्थानभ्र-
शादिकारकया विद्यया मन्त्रयित्वा जाप दत्त्वा ऋक्षाणा तारकादिज्योतिषा लक्षात्कपटात्
लाजानक्षततण्डुलान्वा त्रियामां प्रत्यक्षिपत्क्षिपति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण
त्रियामामात्मप्रवासदायिनी वैरिणी चन्द्ररमणी शपन् शाप ददान इव । इति किम् । हे
त्रियामे इति संबोधनम् । शात्रवत्वेन चतुर्यामाया अपि त्रियामेति कथन क्षयकृतसूचकम् ।
यथाह त्वया गलहस्तयित्वा गलेहस्त 'गलोघो' इति प्रसिद्ध , चपेटा वा दत्त्वा निष्का-
स्यते लोकमध्यात् रोद कन्दरमन्दिराद्वा कर्ष्यते तथा तेनैव प्रकारेण गलहस्तचपेटा-
दिप्रदानादिना तवापि भवत्या अपि निष्कासनमस्तु स्तोकवेलयैव भवतात् ॥

प्रस्थातुकामेन तमो जिघांसोर्जयाय पूर्वावनिभृद्गतेन ।

अक्षेपि राज्ञा दशदिक्षु मन्ये शान्त्यै बलिस्तारकतन्दुलाली ॥ ६२ ॥

पूर्वावनिभृद्गतेन उदयाचलरूपराजवानीस्थायुकेन पूर्वादौ स्थितेन वा । राज्ञा चन्द्रेण
जिष्णुजगतीभुजा च । उत्प्रेक्ष्यते—शान्त्यै निर्विघ्नतानिर्माणकृते दिक्षु सर्वदिशा
प्रदेशेषु तारकाणामेव ज्योतिषामेव तन्दुलाना निस्तुषीकृताक्षतकलमाना माला श्रेणी ।
तद्रूप इत्यर्थः । बलि देवदानवादीना गगनादिदिक्षु क्षेपणीयसिद्धानादिवस्तुजातमक्षेपि
क्षिप्त इव । राज्ञा किं कर्तुकामेन । तमसा तनसो वा अन्वकारस्य विधुतुदस्य वा जिघा-
सोर्निजप्रत्यनीकस्य जयाय वशीकरणार्थं भूय पराभवनार्थं वा प्रस्थातुकामेन प्रचलि-
तुमनसा ॥

१ 'निष्कास्यते' इति प्रथमपुरुषप्रयोगश्चिन्त्य , 'अहम्' इति कर्मणा समानाधिकर-
ण्यात् 'अहयुः' इत्यत्रेवाहमो विभक्तिप्रतिरूपकत्वेन वा समाधेयम्

कान्ते निमग्नेऽम्बुनिधौ प्रणश्य दिनश्रियोऽत्राणतया प्रयान्त्याः ।

आच्छिद्य मुक्ताभरणानि तारा द्विषत्तयेवाददिरे रजन्या ॥ ६३ ॥

अत्राणतया अरक्षकत्वेन अशरणभावेन वा प्रणश्य जीवनाश नष्टा प्रयान्त्या कचिद्गुप्तस्थाने गच्छन्त्या दिनश्रियो दिवसलक्ष्म्यास्तारा एव ज्योतीरूपाणि वा मुक्ताभरणानि मुक्ताफलमयानि भूषणानि द्विषत्तया वैरिभावेन रजन्या राज्ञ्या आच्छिद्य हठाद्वल कृत्वा आददिरे उद्वात्य गृहीतानीव । कस्मिन्सति । कान्ते अर्थाद्दिनश्रिया भर्तारि भास्करे अम्बुनिधौ समुद्रपत्र प्लवे निमग्ने ब्रूडिते सति ॥

स्वःकूलिनीकूलविलासिनीनां प्रदोषविश्लेषिविहंगमीनाम् ।

विलोचनोद्भूतपयःपृषद्भिः किमम्बरं तारकितं पतद्भिः ॥ ६४ ॥

स्वःकूलिन्या गगनगङ्गाया कूले तटे विलसन्ति । ‘लस श्लेषणक्रीडनयो’ इति वालर्थत्वेन आश्लिष्याश्रित्य तिष्ठन्ति स्वैर भर्त्रा वा क्रीडन्तीति वा । इत्येवशीलास्तादृशीनाम् । तथा प्रदोषे दोषामुखे विश्लेषो निजप्रियेण सम वियोगोऽस्त्यासा तासा विहंगमीना पक्षिणीनाम् । अर्थाच्चक्रवाकीनाम् । ‘विहंगयो कृपयेव शनैर्ययौ रविरहर्विरहध्रुवभेदयो’ इति रघुवशे । ‘दिवसावसाने निश्चयेन वियोगयो विहंगयोश्चक्रवाकीचक्रवाकयो कृपयेव’ इति तद्रृत्तिः । ‘पुमान् स्त्रिया,’ ‘स्त्रिया सहोक्तौ पुमान् शिष्यते न तु स्त्री’ इति केवलविहंगशब्दः । तथा ‘निजपरिवृढ गाढप्रेमा रथाङ्गविहंगमी’ इति नैषधे विहंगमीशब्दः । ‘स्वर्गिगङ्गारयाङ्ग’ इति काव्यकल्पलतायाम् । विलोचनेभ्यः नेत्रेभ्य उद्भूताना वियोगातिदुःखोदयादाविर्भूतानाम् । नेत्रनिःसृतानामित्यर्थः । पयसामश्रुजलाना पृषद्भिर्विन्दुभिः । ‘विन्दौ पृषत्पृषतविष्पुष’ इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—पतद्भिः क्षरद्भिः अर्थात् गगनाङ्गणमागत्य तिष्ठद्भिः सद्भिः अम्बरमाकाश तारकित तारका सजाता अस्मिन्निति तादृश तारककलापकलित किं जातं बभूवेव ॥

स्वां निष्ठितां प्रेक्ष्य सुधा सुधाशैः पुनः कृतेऽस्या इव मथ्यमानात् ।

सुधाम्बुधेर्व्योम्नि समुच्छलद्भिरम्भःकणैस्तारभरैर्बभूवे ॥ ६५ ॥

सुधाम्बुधे क्षीरसमुद्रात्सुधाया उत्पत्तिस्थानत्वात्कविसमये प्रसिद्धत्वाच्च सुधाम्बुधिः । तथा ‘सुधाम्भोनिविडिण्डीरपिण्डपाण्डुयश कुशेशयखण्डमण्डितसकलससारसरा’ इति चम्पूकथायाम् । व्योम्नि पवमानपदव्यामुच्छलद्भिर्हृत्स्व गच्छद्भिरम्भः कणैर्जलविन्दुभिः । उत्प्रेक्ष्यते—तारभरैर्व्योम्निर्वातैर्बभूवे सजातम् । सुधाम्बुधे किं क्रियमाणात् । स्वा स्वकीया नारायणमयनसमयसमुद्भूता प्राचीना सुधा पीयूष निष्ठिता व्ययिता भुक्त्वा पीत्वा सर्वामपि क्षयं नीता प्रेक्ष्य दृष्ट्वा पुनर्व्याधुष्य अस्या सुधाया कृते अर्थाय । तर्हि तेऽन्यमप्याहारं कथं न कुर्वन्तीत्यत आह—यतस्ते केवलं सुधाममृतमेवाश्नन्तीति सुधाशा देवास्तैर्मथ्यमानात् विलोड्यमानात् ॥ इति तारकाणामुदयः ॥

अथो दधे चण्डकरे प्रयाते प्राच्या मुखे किञ्चन पाण्डिमश्रीः ।

स्मितं प्रमोदादिव सौम्यराजोदय प्रकृत्येव दिशा समीक्ष्य ॥ ६६ ॥

अथो सध्यारागान्वकारतारकाभ्युदयानन्तर चण्डकरे उग्रदण्डे नृपे सूर्ये प्रयाते अस्तमिते सति प्राच्या पूर्वदिशा किञ्चन किमपि मुखे स्ववदने पाण्डिमश्रीरुज्ज्वलतायां शोभा दधे वृता । प्राच्या दिशि ववलिमा प्रादुर्भवति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सौम्यराजोदय सोमतासयुक्तस्य राजश्वद्रस्य भूवल्लभस्य च उदयमुद्गमन पैतृकपदप्राप्तिलक्षणाभ्युदय समीक्ष्य विलोक्य प्रकृत्येव प्रजयेव नगरलोकेनेव । ‘राज्यावानि प्रकृतय पौराणा श्रेणयोऽपि च’ इति हैम्याम् । दिशा पूर्वहरिता प्रमोदात्स्वाभिमतराजप्राप्तिजनितहर्षाविर्भावात्स्मित हसितमिव ॥

संसृज्य रज्यदयितेन पत्नी हरेर्हरितारविभूषणश्रीः ।

गर्भं वहन्ती मिहिकामयूखं मुखेऽपुपत्पाण्डुरिमाणमूहे ॥ ६७ ॥

हरेरिन्द्रस्य पत्नी कान्ता हरित् दिक् एतावता पूर्वदिक् मुखे निजास्ये पाण्डुरिमाण धवलतामपुषत् पुपोष अतीव पाण्डुरवदना सजातवती । ‘निजमुखमित स्मेर धत्ते हरेर्महिषी हरित्’ इति नेपथे । तत्राहमेवमूहे तर्कयामि । ‘ऊह वितर्के’ इत्ययं वातु । मिहिकामयूख हिमकर चन्द्र तमेव गर्भं भ्रूण दोहदलक्षण वहन्ती सती दवानेव । किं कृत्वा । रज्यता अनुरक्तीभवता । ‘रज्यन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य’ इति नैषवे । दयितेन प्राणप्रियेण पुरदरेण साकं समं संसृज्य सङ्गं कृत्वा । ‘निर्वापयिष्यन्निव ससिष्ठो’ इति नेपथे । ‘सङ्गं कर्तुमिच्छो’ इति तद्वृत्तिः । किंभूता हरित् । ताराणां निर्मलमौक्तिकानाम् । ‘तारो निर्मलमौक्तिके’ इत्यनेकार्थः । ताराणां राजतीयानां वा ताराणां शुभ्राणां वा तारकरूपाणां वा विभूषणानामाभरणानां श्री शोभा यस्याः । ‘प्रथममुपहृत्यार्थं तारैरखण्डिततन्दुलैः’ इति नैषवे । तारकवाची तारशब्दः । अपरस्तद्वत् । अपरापि युवती राज्यं निजवल्लभेन समं सगमनाद्गुर्विणी सती स्ववदने विशदिमानं दधातीति रीतिः स्थितिश्च ॥

आकण्ठमम्भं सु निमज्ज्य काममन्त्रोऽलिशब्दैः कुमुदैरसाधि ।

विकाशलक्ष्मीं ददती किमेषा तत्सिद्धिरिन्दुद्युतिराविरासीत् ॥ ६८ ॥

कुमुदे कैरवेश्वन्द्रविकाशिकमलैः आकण्ठं गलकन्दल मर्यादीकृत्य अम्भं सु पानीयेषु निमज्ज्य ब्रुत्वा अलिशब्देर्मधुकरमधुरगुञ्जारवैः कृत्वा काममन्त्रो मानसमनीषितप्रदायिकां विद्यां असावि सावित आराद्धः । उत्प्रेक्ष्यते—एषा प्रत्यक्षलक्ष्या इन्दुद्युतिश्चन्द्रचन्द्रिकारूपा तत्सावकस्याभीष्टविवायकमन्त्रस्य सिद्धिः फलनिष्पत्तिराविरासीत्किमु प्रकटीभूतेव । तत्सिद्धिः किं कुर्वती । एषा कुमुदानां विकाशलक्ष्मी स्मेरताश्रियं विश्राणयन्ती ॥

सान्द्रद्रुमोल्लासिनि पूर्वशैलशृङ्गाङ्गणे चञ्चति चन्द्रलेखा ।

किचिन्निरीक्ष्या हरिदिङ्मृगाक्ष्याश्चूडामणिः किं चिकुरान्तरस्था ॥ ६९ ॥

सान्द्रविनिद्रदल(निविडदल)मण्डलकलितान्तरालसच्छायपादपपटलोल्लमनशीले पूर्व-
शैलस्य उदयाचलस्य शृङ्गाङ्गणे शिखराजिरे उपरितनभूविभागे किचिन्निरीक्ष्या स्वत्प-
तरचक्षुर्लक्ष्या चन्द्रलेखा शशिकला चञ्चति सशोभते । 'चञ्चति चकास्ति लसत्यपि शोभते'
इति क्रियाकलापे । उत्प्रेक्ष्यते—हरे पुरदरस्य दिक् पूर्वाशा सेव मृगाक्षी हरिणेक्षणा
वधूस्तस्या चिकुरा केशपाशास्तेषामन्तरे मध्ये तिष्ठतीति चिकुरान्तरस्था निविडघन-
केशकलापत्वेन किचिन्मनाक् निरीक्ष्या दृग्गोचरा चूडामणि किमु शिरोरत्नमिव । मणि-
शब्द पुत्रीलिङ्गयोरपि । यथा 'प्रश्रित्तिथ्यशनीमणि मृणि' इति लिङ्गानुगासने । तथा
ह्रस्वो दीर्घोऽपि । अथ वा चूडामणिर्मस्तकाभरणविशेष । सौराष्ट्रगुर्जरेषु तु 'वाक्'
इति लोकोक्त्या तत्र पुलिङ्ग एवावधार्यते ॥

दत्त्वाधिपत्यं निखिलाचलानां स्वदिग्गिरेः स्वर्गिरिचक्रिणेव ।

मौलिस्थले राजतपट्टबन्धो विनिर्मितः स्फूर्जति सामिसोमः ॥ ७० ॥

सामिसोम अर्धविधु स्फूर्जति स्फूर्तिर्मियर्ति । दीप्यते इत्यर्थः । 'पूर्व गाधिसुतेन
सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी यन्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्विवि' इति
नैषधे । 'सामिघटिता अर्धनिष्पादिता' इति तद्वृत्तिः । उत्प्रेक्ष्यते — स्वर्गिरिचक्रिणा काञ्च-
नाचलचक्रवर्तिना शक्रेण । 'जाम्बूनदोर्वीवरसार्वभौम' इति नैषधे इन्द्राभिवानम् ।
स्वदिग्गिरेरात्मीयाशशैलस्य उदयाभिधानस्य भूवरस्य निखिलाचलानां सकलभूमण्डल-
वतिपर्वतानामाधिपत्यमैश्वर्यं राज्यं दत्त्वा मौलिस्थले शिरोमण्डले राजतो राजतस्याय
रूप्यसबन्धी पट्टबन्धो विनिर्मितः कृत इव बद्ध इव ॥

सुरेन्द्रदिग्भूधरमूर्ध्नि बिम्बमपूर्णमाभासत शीतभासः ।

खण्डं शिखायामिव सैहिकेयदष्ट्रान्तरायन्त्रणतोऽजनिष्ट ॥ ७१ ॥

सुरेन्द्रस्य निर्जरनायकस्य दिक् पूर्वाशा तस्या भूवर उदयपर्वतः तस्य मूर्ध्नि मस्तके
शिखरे शीतभासश्चन्द्रस्य अपूर्ण किचिन्मूना किमपूर्णनिर्गमनात्खण्डं बिम्बमण्डलमाभा-
सत राजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सैहिकेयस्य सिंहिकासुतस्य स्वर्भानोर्दष्ट्राणां दाढानाम-
न्तरा मध्ये यन्त्रणतः पीडनतः निर्गमनतः शिखायामग्रभागे खण्डं शकलमिवाजनिष्ट
सजातमिव ॥

संपूर्णपीयूषमयूखबिम्बं बभौ ततः स्वीयदिग्गङ्गनाथैः ।

मरन्दलीनालिपुरदरेण समर्प्यते स्म स्मितपुण्डरीकम् ॥ ७२ ॥

ततोऽनन्तरं संपूर्णमखण्डं पीयूषमयूखस्य चन्द्रस्य बिम्बं मण्डलं बभौ भासते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—पुरदरेण इन्द्रेण स्वीयायै आत्मीयायै दिग्गङ्गनाथैः हरित्कान्तायै निजपूर्व-

दिक्पद्मनयनायै मरन्दार्थं मकरन्दपानकृते लीना अन्तर्निश्चलीभूता अलयो भ्रमरा यत्र
तादृक् स्मितपुण्डरीक विस्मेरश्वेतकमल किं समर्प्यते स्म विश्राणित दत्तमिव ॥

पितामहस्य व्रतिरादृचरित्रैश्चित्रीयमाणस्य विधूतमौलेः ।

कमण्डलुश्चान्द्र इवोत्पलाङ्कः सस्तः शयादुल्लसति स्म सोमः ॥ ७३ ॥

सोमश्चन्द्र उल्लसति स्म उल्लास दशदिक्षु ज्योति प्रसारमातनुते स्म शोभते स्म
वा । कवेरपरवर्णनराभस्येन मा ग्रन्थनायको विस्मृतोऽभूदिति । तमेव स्मारयति इति
सर्वत्रापि योजनीयम् । उत्प्रेक्ष्यते—व्रतिराज श्रीहीरविजयसूरिपुरदरस्य चरित्रैः
सर्वातिशायिभिरवदातैश्चित्रीयमाणस्य अनन्यसामान्यविस्मयरस दवानस्य अत एव
विस्मयातिरेकाद्विधूत कम्पितो मौलिर्मस्तक येन तादृशस्य पितामहस्य वृद्धस्य विधातु
शयात्पाणिपद्मात्सस्त कथंचित्पतित अत्याश्चर्यरसवशाच्चित्तवैयर्थ्येण पाणिपङ्कजाद्गलित ।
तथा उत्पलाङ्क कुवलयकलित तथा चान्द्रश्चन्द्रकान्तमणिमय कमण्डलुरिव कुण्डि-
काख्य जलपानपात्रमिव । ‘कुण्डिका तु कमण्डलु’ इति हैम्याम् ॥

पीयूषपूर्णः कलधौतकृतोऽभिषेककुम्भः किमु कौमुदीशः ।

शृङ्गारयोनिं जगदाधिपत्येऽभिषिञ्चता विश्वकृता व्यधायि ॥ ७४ ॥

शृङ्गारयोनि श्रीनन्दनम् । ‘मन शृङ्गारसकल्पात्मनो योनि’ इति हैम्या स्मर-
नामसु । जगदाधिपत्ये सर्वेषां भुवनानां राज्ये नक्त स्मरस्यैश्वर्यादभिषिञ्चता अभिषेक
कुर्वाणेन विश्वकृता जगत्सृष्टिकारकेण विधिना । उत्प्रेक्ष्यते—कौमुदीश चन्द्रिकापति
शीतकान्तिरूपः पीयूषेणामृतरसेन पूर्णो भरित । तथा कलधौतै रजतै कृतो विनि-
र्मितो घटित अभिषेककुम्भ अभिषेककरणकृते कलश किमु व्यधायि विनिर्मित इव ॥

क्षयात्सुधायाश्चिरकालपानात्तां याचमानाननुगृह्य देवान् ।

सुधारुचिर्विश्वसृजा सुधाया अक्षीणकुम्भः किमु कल्प्यते स्म ॥ ७५ ॥

विश्वसृजा त्रिभुवनसर्वसृष्टिविधायिना वेवसा सुवारुचिश्चन्द्र । उत्प्रेक्ष्यते—
सुधाया अमृतरसस्य न कदाचिदपि क्षीयत इत्यक्षीण अक्षयकुम्भश्चन्द्रकान्तमणिमय
कलश किमु कल्प्यते स्म विनिर्मितो घटित इव । किं कृत्वा । चिरकाल बहुसमय
यावत्पानाद्वीते सुधाया पूर्वपीयूषस्य क्षयान्नाशात्ता पुनः सुधा याचमानानभ्य-
र्थयमानान्मार्गयतो देवाननुगृह्य सर्वेषां सुराणामुपरि पीयूषपायित्वेन अनुग्रह कृत्वा ॥

प्राग्दिङ्मृगाक्ष्या प्रणयेन पत्यौ समीयुषि स्वावसथं सुरेन्द्रे ।

उद्धोषितो भेत्तुमिवान्धकारं निशीथिनीनायकदीपदीपः ॥ ७६ ॥

प्राग्दिङ्मृगाक्ष्या पूर्वहरिन्नामहरिणनयनया रात्रित्वादन्धकार भेत्तु निराकर्तुम् ।
उत्प्रेक्ष्यते—निशीथिनीनायक शर्वरीवरयिता चन्द्र एव दीपो दीपनशील प्रसरज्ज्यो-
तिर्जालजटिलो दीपो मन्दिरमणिरुद्धोवितः प्रकटीकृत इव । कस्मिन्सति । प्रणयेन

प्रेम्णा याचनया वा । 'प्रणय प्रेमयाच्चयो' । विस्मम्भे प्रसरे चापि' इत्यनेकार्थः । स्वा-
वसथ निजनिकेतन समीयुपि सम्यग्भोगागकलिते सप्राप्ते पत्यौ भर्तारि सुरेन्द्रे निर्जर-
नायके सति । अथ वा शक्रे स्नेहेन स्वगृहे समागते सति ॥ इति चन्द्रोदयः ॥

पूर्वाद्रिमौलेरथ मन्दमन्दं प्रचक्रमे गन्तुमचण्डरोचिः ।

निजोदयश्रीनवनृत्तसूत्रधारापराद्रिं मिलितुं किमुत्कः ॥ ७७ ॥

अथाभ्युदयानन्तरं न विद्यन्ते चण्डानि तीक्ष्णानि रोच्यपि यस्य स अचण्डरोचि
शीतकान्तिश्चन्द्र पूर्वाद्रिमौलेरुदयाचलचूलात् मन्दमन्दं शनैः शनैः । 'गगनमवजगाहे
मन्दमन्दं मृगाङ्कः' इति चम्पूकयायाम् । तथा—'मन्द मन्दं नुदति पवनश्चानकस्तोय-
गृध्रः' इति 'मेघदूतेऽपि दृश्यते । गन्तुं प्रचलितुं प्रचक्रमे प्रारब्धवान् । 'प्रचक्रमे
वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा' इति रघुवशे । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्यात्मनः
उदयश्रिया अभ्युद्गमनलक्ष्म्या नव नवीनं यन्नृत्तं ताण्डवं नाटकं तत्र तस्य वा सूत्रधार
नृत्यकलाचार्यम् । नाटकप्रारम्भकमित्यर्थः । तादृशमपराद्रिं पश्चिमाचलम् । अस्ताद्रिमित्यर्थः ।
मिलितुमुत्कः किमु उत्कण्ठित इव । चन्द्रस्य हि प्रतिपद्वितीययोः पश्चिमाचलादेवाभ्यु-
दयः । तस्मादस्ताचल एव चन्द्रस्योदयाचलः । 'उदयगिरिकुरङ्गीश्वङ्कण्डूयनेन स्वपिति
सुखमिदानीमन्तरोदो कुरङ्गः' । पुनः 'परिणतरविगर्भव्याकुला पौरहूती दिगपि घनक-
पोतीहुकृते क्रन्थतीव' इत्युदयनाचार्यकालिदासकवीन्द्रयोः प्रातर्वर्णने पृथक्पृथक्
पदद्वये ॥

स्वर्भाणुभीतेः शरणीकृतेन प्राचीधवेनायमुपेक्षितः सन् ।

त्रस्यञ्छशाङ्कः किमु पश्चिमाशापतेः शरण्यस्य समेत्युपान्ते ॥ ७८ ॥

त्रस्यन् रिपो सकाशात्रासमाकस्मिक भयं सप्राप्नुवन् अयं गगनावगाही शशाङ्क-
श्चन्द्रः । उत्प्रेक्ष्यते—शरण्यस्य शरणागतवत्सलस्य पश्चिमाशापतेः पश्चिमदिक्पालकस्य
वरुणस्योपान्ते समीपे किमु समेति समागच्छतीव । किंभूतः सन् । स्वर्भाणुभीते निज-
स्यात्यन्तप्रत्यर्थितया गिलनशीलस्य विद्युदस्य भीतेर्भयात् शरणीकृतेन आगत्याश्रितेन
प्राचीधवेन पूर्वदिक्पतिना वज्रपाणिनाप्युपेक्षितः अकृतममत्वं सन् न स्वशरणे रक्षितः
इत्यर्थः ॥

प्राचीपयोराशिपयःप्लवान्तर्विलासमाधाय मरालवालः ।

क्रीडां चिकीर्षुः किमु पश्चिमाब्धौ नभोध्वनासौ प्रचचाल चन्द्रः ७९

असौ प्रत्यक्षलक्ष्यं वर्णनगोचरीकर्तुमारब्धो वा चन्द्रः श्वेतकान्तिर्नभोऽध्वना गगन-
मार्गेण प्रचचालं चलति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पश्चिमाब्धौ प्रतीचीसमुद्रतीरपूरे क्रीडा
जलकेलिविलासं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुर्मरालवालः शिशुकलहसः किमु प्रचलति । किं
कृत्वा । प्राचीपयोराशे पूर्वसमुद्रस्य पयःप्लवान्तं पानीयपूरमध्ये विलासं मजनोन्मजन-

तरणतामरसविमाखादनादिका क्रीडामावाय कृत्वा । समुद्रे हसाना सद्भावो दृश्यते ।
यदुक्तम्—‘हसान्सहेत(१) पद्मरेणुकपिशक्षीरार्णवाम्भोभृतै ’ इति स्नातस्य स्तुतौ ॥

संचारि निर्दण्डमिवातपत्रं विहस्तको वा चलदात्मदर्शः ।

क्रीडातडागः किमु जङ्गमो वा स्मरावनीन्दोः शशभृच्चन्द्रभासे ॥ ८० ॥

शशभृच्चन्द्रो वभासे राजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्मरावनीन्दोः मेदिनीकुसुदसुहृद
कामराजस्य संचारि दिव्यानुभावेन स्वयं संचरणशील तथा निर्गतो दण्डो यस्मात्तन्नि-
र्दण्डमवष्टम्भयष्ट्या रहितमातपत्रं सितातपवारणमिव वायं वा । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—स्मर-
नरपतेर्विहस्तको हस्तग्रहणोचितस्थाणुनिर्मुक्तं चलन् स्वयमेव प्रतिष्ठमान आत्मदर्श-
दर्पण इव वा । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—कन्दर्पपार्थिवस्य जङ्गमं कथंचन देवतानुभावान्द्रमणरसि-
कक्रीडातडागो लीलासरोवरमिव ॥ इति चन्द्रमण्डलसंचारः ॥

भीतेः स्विकाया दिवसस्य लक्ष्मीं विज्ञाय नष्टामिह जीवनाशम् ।

विद्मो वसत्या हसित हसन्त्या ज्योत्स्ना जजृम्भे गगने सुधांशोः ॥ ८१ ॥

सुधांशोश्चन्द्रस्य मनागित्यव्याहार्यं ततः किञ्चित् ज्योत्स्ना चन्द्रिका जजृम्भे प्रकटीभूता
विस्तृता वा । इहात्र ज्योत्स्नाविजृम्भणे वयमेव विद्मो जानीमः । विचारयाम इत्यर्थः ।
इह जीवलोके स्विकाया स्वस्या राज्या सकाशात् । ‘हस तनौ संनिहितं वरन्तं
मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्’ इति नैषधे । भीतेर्मयाजीवनाशं नष्टा जीव गृहीत्वा
प्रपलाय्य गता दिवसस्य वासरस्य लक्ष्मीं श्रियं विज्ञाय ज्ञात्वा अवधार्य हसन्त्या
स्वोत्कर्षेण हास्य सृजन्त्यावसत्या निशाया हसितं स्मितं हास्यमिव ॥

अम्बरे विरुरुचे सुधारुचेश्चन्द्रचञ्चुरमरीचिसंचयः ।

दुग्धवारिनिधिरात्मजं विधुं किं चिराय मिलितुं समीयिवान् ॥ ८२ ॥

अम्बरे आकाशमण्डले सुधारुचेरमृतकिरणस्य चन्द्रस्य चन्द्रवत्कर्पूर इव चञ्चुरो म-
नोज्ञः । धवल इत्यर्थः । ‘चन्द्रोऽम्बुकाम्ययो । स्वर्णे सुधांशौ कर्पूरे कम्पिले मेचकेऽपि च ॥’
इत्यनेकार्थः । मरीचीना कान्तीना संचयो निकरो विरुरुचे विरोचते स्म शुशुभे । ‘विरुरुचे-
ष्ठितभूमिषु’ इति रघुवशे । उत्प्रेक्ष्यते—दुग्धवारिनिधिः क्षीरसमुद्र आ मज नन्दन
दुग्धाम्भोनिधावुत्पन्नत्वेन विधुः सुवादीविति चिराय बहो कालात् । ‘चिराय चिररा-
त्राय चिरस्य च चिराच्चिरम्’ इति हेम्यामन्ययाविकारे । मिलितुं पुत्रमेहेन मिलनार्थं
समीयिवान्किं समागत इव ॥ गगने चन्द्रगोलिकाङ्गः ॥

स्वर्गं गता क्रतुभुजा प्रभवामि तृप्त्यै

तद्वन्नृणामपि धरामधिगत्य नित्यम् ।

पीयूषसंततिरितीव विचिन्तयन्ती

ज्योत्स्नातनूरवततारं तलेऽचलायाः ॥ ८३ ॥

ज्योत्स्नातनूश्चन्द्रिकाकाया पीयूषसततिरमृतराजी । उत्प्रेक्ष्यते—इति विचिन्तयन्ती सती अचलायास्तले मण्डले अवततार उत्तीर्णैव । इति किम् । यथेत्यव्याहारः । यथाह स्वर्गं देवलोकं गता सप्राप्ता सती क्रतुभुजां यज्ञाशभोजिना देवानां नृण्यै सौहित्याय बुभुक्षोपशमाय प्रभवामि समर्थी स्या तद्वत्तथा वरामविगत्य पृथिवीं सप्राप्य मनुष्याणामप्यन्नाशनानां नित्यं मदा नृप्तिकृते समर्थाभवामि ॥

प्रससार महीविहायसोर्मिहिकादीधितिदीधितिब्रजः ।

युवतेरिव शीतदीधितेरुपसव्यानममेचकद्युति ॥ ८४ ॥

मिहिकादीधितेर्हिमकिरणस्य विवो । 'प्रालेय मिहिका हिमम् । स्यान्नीहारस्तुषारश्च' इति हैम्याम् । दीवितीना कान्तीना ब्रजो निकर महीविहायसोर्भूमीनभसो प्रससार विस्तरति स्म । द्यावापृथिव्यो समकालं विस्तारं प्राप्त इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—शीतदीधितेश्चन्द्रस्य युवतेस्तरुण्या यामिन्या अमेचका श्वेता न मेचका अमेचका उज्ज्वला द्युतिः कान्तिर्यस्य । 'या कुन्देन्दुतुषारहारववला या श्वेतपद्मासना या वीणावरदण्डमण्डितकरा या शुभ्रवस्त्रावृता' इति विशेषणाद्वाग्देवतावसनवद्विशदमुपसव्यानं परिधानवस्त्रमिव । 'गुणशब्दो विरोध्यर्थं नजादिरितरोत्तरः । अभिधत्ते यथा कृष्ण स्यादसितः सितेतरः ॥' इति हैम्याम् ॥

वारिराशिरशनाविहायसोः कौमुदीभिरुदरं स्म पूर्यते ।

अन्धकाररिपुनिर्जयोद्भवत्कीर्तिभिः किमु कुमुद्वतीपतेः ॥ ८५ ॥

कौमुदीभिश्चन्द्रिकाभिर्वारिराशिः समुद्रः स एव रशना मेखला यस्या एतावता स- [म]मुद्रा मेदिनी । मेखला तु शरीरान्तरेऽवस्थायिनी न पृथग्भवतीति । अतः समुद्रसहिता महीति समेतम्^(१) । तथा विहाय आकाशं तयोर्दरं मध्यं पूर्यते स्म पूर्णोक्रियते स्म । व्याप्तमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—कुमुद्वतीपते कैरविणीकान्तस्य विवो अन्धकार एव रिपुर्वान्तशत्रुः । अयं वा रिपुः सूर्यः । 'मित्रो ध्वान्तारातिरब्जाशु' इति हैमीवचनात् । चन्द्रोदये भानुरस्तमीयते । सूर्यः खोदये च चान्द्रमसीं सर्वामपि विभूतिमादत्ते इति परस्परशत्रुतापि । तस्य ध्वान्तस्य सूर्यस्य वा निर्जयात्पराभवादुद्भवन्तीभिः प्रकटाभिर्जायमानाभिः कीर्तिभिः किमु समाज्ञाभिरिव दिवस्पृथिव्यौ व्याप्ते ॥

भूमीनभोमण्डलमेदुरश्रीज्योत्स्नावपुर्विष्णुपदीप्रवाहैः ।

नक्तदिनं जहुपदप्रसत्तेः प्राकाम्यरूपा किमवापि सिद्धिः ॥ ८६ ॥

भूमी पृथिवीपीठं नभोमण्डलं गगनस्थलं तयोर्विषये मेदुरा उपचयप्राचुर्यं प्राप्ता श्रीलक्ष्मी शोभा वा यस्यास्तादृशी ज्योत्स्ना कौमुदी सैव वपुर्गात्रयष्टिर्यस्यास्तादृश्या विष्णुपद्या गङ्गाया प्रवाहैः प्रसरत्पयः पूरैर्नक्तदिनं रात्रौ दिवा च जहोर्नारायणस्य पदमाकाशं चरणश्च तस्य प्रसत्तेः प्रसादनतः । 'प्रसादनं प्रसक्तिः' इति व्युत्पत्त्या सेव-

नमित्यर्थः । भक्ते सकाशात् । उत्प्रेक्ष्यते—प्राकाम्यरूपा रोद कन्दरविस्तरणशीला
बहुरूपकारिणी सिद्धि फलनिष्पत्तिरवापि किं लब्धा सप्राप्तेव ॥

चूर्णैः प्रपूर्णा किमु मौक्तिकानां पीयूषपङ्कैः किमु वा [विलिप्ता ।

श्रीखण्डनीरैरथवा]भिषिक्ता ज्योत्स्नाभिरुर्वी धवलीकृताभात् ॥ ८७ ॥

ज्योत्स्नाभिः [धवलीकृता] प्रतिदिश प्रसरच्चन्द्रसान्द्रचन्द्रिकाभिर्निरन्तरमतिश्वेतता
प्रापिता उर्वी समस्तापि वसुमती आ[भात् आ]वभासे । उत्प्रेक्ष्यते—मौक्तिकाना
स्थूलमुक्ताफलानां चूर्णैः क्षोदैर्निष्पिष्य सूक्ष्मीकृतजोभिः प्रपूर्णा प्रकर्षेण (धवलीकृता)
पूरिता किमु भरितेव । वा अथवा पीयूषपङ्कैरमृतकर्दमैः स्यानीभूतसुवारसैर्विलिप्ता
किमु विशेषेण कृतविलेपने च अद्गरागकलिता कृता । अथ वा श्रीखण्डनीरैः
स्थूलघृष्टचन्दनवारिद्रवैरभिषिक्ता किं कृताभिपेक्षेव ॥

आप्लाविते किं सुरसिन्धुसुभ्रुवः स्रोतःसहस्रैः परितः प्रसृत्वैरैः ।

कर्पूरपारीविलसद्यशोभरैः सूर्यशितुर्वा विशदीकृते इव ॥ ८८ ॥

विलीयमानैस्तुहिनावनीभृन्नीहारचारैर्निभृतं भृते वा ।

प्रपूरिते सान्द्रितचन्द्रचन्द्रातपैर्विभातः स्म दिवस्पृथिव्यौ ॥ ८९ ॥

सान्द्र नीरन्त्रत्व सजातमेयामेषु वा इति सान्द्रिता वहलिताश्चन्द्रस्य निशानाय-
कस्य चन्द्रातपाश्चन्द्रगोलिकास्तैः प्रपूरिते प्रकर्षेण पूर्णीकृते । सर्वतोऽपि निर्भर भरिते
व्याप्ते इत्यर्थः । दिवस्पृथिव्यौ द्यावाभूम्यौ विभातः स्म । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—परितः सर्व-
तोऽपि दशदिक्प्रदेशेष्वपि प्रसृत्वैः प्रसरणशीलैः सुराणां देवानां सिन्धोः समुद्रस्य
सुभ्रुवः पद्भ्याः । ‘कर्पुर्द्वीपवतीसमुद्रदयितायुन्यौ स्रवन्तीसरस्वत्यौ’ इति हैम्याम् । देव-
नद्या गङ्गायाः स्रोतसा पयः प्रवाहाणां सहस्रैर्दशशतीभिः आप्लाविते किम् । स्वकुक्षिगतीकृते
इव निर्भर भृते इत्यर्थः । वा पुनरुत्प्रेक्ष्यते—सूर्यशितुर्हीरविजयसूर्यस्य । पुनः सूरि-
नामग्रहण बहुबहुमानसूचकम् । कर्पूराणां घनसाराणां पार्यः । ‘फडसि’ इति लोके
प्रसिद्धा । ‘पारी पूरपरागयो । पात्र्या कर्करिकाया च पादवन्धे च हस्तिनः ॥’ इत्यने-
कार्थः । ‘कर्पूरपारीपरिधूमराङ्गम्’ इति तद्वृत्तिः । तथा ‘कर्पूरपूरकमनीयशोभिरामम्’ इति
स्तुत्यादौ । तत्र पूरशब्देन समूह एव । तद्वद्विलसद्भिः शुभ्रिमविभ्रमैः शोभमानैः य-
शसाभरैः श्लोकानां प्रकरैः । ‘श्लोक कीर्तिर्यशोऽभिख्या समाज्ञा’ इति हैम्यां यशोना-
मानि । विशदीकृते इव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—विलीयमानैर्गलद्भिर्द्रवीभवद्भिः तुहिनावनीभृतो
हिमाचलस्य नीहारचारैर्हिमनिवहेर्निभृतं निचितं भृते वा भरिते वा । युग्मम् ॥ इति
चन्द्रचन्द्रिकायां प्रचारः ॥

गङ्गावज्जलजन्मबन्धुतनया स्वकुम्भिवत्कुञ्जरो

नीरं क्षीरवदुत्पलं कुमुदवत्कादम्बवद्वायसः ।

वल्ली मौक्तिकहारवन्मरकतश्रेणीशशाङ्काश्मव-

लक्ष्मी काञ्चिदमी दधुः सितरुचौ चन्द्रातपं चिन्वति ॥९०॥

सितरुचौ शारदीने चन्द्रे चन्द्रातप चन्द्रगोलिका चिन्वति पुष्पानि उपचय प्रापयति सति । विस्तारयतीत्यर्थः । अमी अत्रैव वृत्ते प्रकाश्यमाना यमुनादयः पदार्थाः काञ्चिद-
नन्या लक्ष्मी शोभा दधुर्विभ्रति स्म । तानेव दर्शयति कविः—जलजन्मनां कमलानां
बन्धुः सूर्यः तस्य तनया पुत्री यमुना । ‘यमुना यमभगिनी कालिन्दी सूर्यजा यमी’ इति
हैम्याम् । गङ्गावल्लक्ष्मी वृत्ते । चन्द्रिकया शुचीभवत्पयः प्रवाहत्वेन गङ्गासाम्यमापेत्यर्थः ।
तथा कुञ्जरो गजः । जातावेकवचनं सर्वत्रापि योज्यम् । समस्ता अपि हस्तिनः स्वकु-
म्भिवत् ऐरावणगजवद्वैभवः विभ्रति स्म । नीरः समग्रमपि जलं क्षीरवद्गुणमिव ।
तथा उत्पलः कुवलयनीलकमलमण्डलः कुमुदवत्कैरवमिव श्वेतारविन्दमिव । तथा वायसः
कोलः सर्वेऽपि वलिभुजः कादम्बवत्कलहसा इव । तथा मरकतानां गारुत्मतानां
नीलमणीनां श्रेणी माला शशाङ्काश्मवच्चन्द्रकान्तरत्नपङ्क्तिरिव । तथा वल्ली समग्रलतावि-
तान मौक्तिकहारवन्मुक्ताफलकलाप इव शोभा वभार ॥

स्मेरकैरवशङ्कया कुवलयान्युत्तसयत्यङ्गना

भृङ्गान्मालिकवालिकाः सुमविया गृह्णन्ति केलीवने ।

मुक्ताभ्रान्तिभृतः किरातवनिताश्चिन्वन्ति गुञ्जाव्रजां-

श्चञ्चच्चन्द्रमसो भ्रम वितनुते नो कस्य चन्द्रातपः ॥ ९१ ॥

चञ्चतो गगनमण्डले निखिलकलाकलापकलनदीप्यमानस्य चन्द्रमसः सुधादीवितेः
चन्द्रातपः प्रतिहरित्प्रसृत्वरसान्द्रचन्द्रिका कस्य पुंसः स्त्रीगणस्य वा भ्रमः भ्रान्तिः नो वित-
नुते चिनुते । अपि तु सर्वस्यापि करोतीत्यर्थः । तमेव प्रदर्शयति—अङ्गना मुग्धकामिन्य-
स्मेरता विरसताम् । ‘स्मेरदम्भो हारामपवमानमिवानिल’ इति पाण्डवचरित्रे स्मेरद्वि-
काशनार्ये दृश्यते । कैरवाणां श्वेतकमलानां शङ्कया भ्रमेण कुवलयानि नीलोत्पलानि
उत्तसयन्ति अवतसानि कुर्वन्ति । शिरसि श्रवणयोर्वा अवतसनिर्माणस्थानद्वन्द्वमिदं दृ-
श्यते शास्त्रादौ यथा । ‘आपीठशेखरोत्तमावतसा शिरसः स्रजि’ इति हैम्याम् । तथा
‘विलोचनाभ्यामतिमात्रपीडितेऽवतसनीलाम्बुहृद्द्वयी खलु । तयोः प्रतिद्वन्द्वितयावि-
रोपयावभूवतुर्भामसुताश्रुती ततः ॥’ इति नैषधे । पुनर्मालिकानां मालाकारकाणां वालिका-
कुमार्यः । अथ वा बाला एव वालिका स्त्रियः । केलीवने क्रीडाकानने स्वेपा परेपा राजादीनां
वा । ‘नित्योद्योतपदः समस्तकमलाः केलीगृहे राजते’ इति श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथस्तोत्रे
केलीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । सुमविया पुष्पवुद्ध्या भृङ्गान् भ्रमरान् गृह्णन्ति । पुनर्मुक्तानां

मुक्ताफलाना भ्रान्ति भ्रम बिभ्रतीति मुक्ताभ्रान्तिभृत, मौक्तिकभ्रमवारिण्य किरातव-
निता पुलिन्दपुरंध्र्य गुञ्जात्रजाश्चिन्वन्ति आददते ॥

ज्ञायन्ते वसुधासुधाकरगृहा गर्जारवैः कुम्भिनां
दुग्धाब्धिः प्रतिनादमेदुरमिलत्कल्लोलकोलाहलैः ।

शैलाः कन्दरमन्दिराङ्गविलुठत्कण्ठीरवक्ष्वेडितै-

र्जते श्वेतकरोदयेऽम्बरसरिङ्घिण्डीरपिण्डोपमे ॥ ९२ ॥

अम्बरसरितो गगनापगाया. सिद्धसिन्धो । भूपीठस्थगङ्गायास्तु प्रावृट्प्रसरन्नीरवाह-
वर्षणप्रकर्षप्रवहत्प्रबलजम्बालजालाविलीभवजलजम्बालिनीप्लवमिलनात्कदाचित्कालुष्य-
मपि भवत्येव । यदुक्तम्—‘गङ्गानीरमपि त्यजन्ति कलुष ते राजहसा वयम्’ इति ।
परं नभोनद्या तु कदाचिदप्याविलीभावो न स्यादेव । तस्मादाकाशगङ्गायाः डिण्डीराणा
फेनाना पिण्डा समूहा । ‘पिण्डो वृन्दे जपापुष्पे गोले चोलेऽङ्गसिंहयो । कवले च’
इत्यनेकार्थः । तेषामुपमा सादृश्य यस्य तादृशे श्वेतकरस्य चन्द्रस्य उदये जाते सति ।
वसुधा पृथिवी तस्या आह्लादकारकत्वात्सुवाकराश्चन्द्रा अतिन्यायिवत्तया सुधासदृशा
उचितातिस्तोकत्वेन अमृतोपमाना करा राजदेयाशा येषाम् । ‘इदं तमुर्वीतलशीतलद्यु-
तिम्’ इति नैषधे । तेषा राज्ञा गृहा आवासा ते कुम्भिना मदोद्धुरसिन्धुराणा गर्जारवैः
कृत्वा ज्ञायन्ते नक्त राजकार्यायागतराजसेवकैरवसीयन्ते उपलक्ष्यन्ते वा । तथा प्रति-
नादै प्रतिशब्दै कृत्वा मेदुरै पुष्टैर्वृद्धि प्राप्तैर्बहलीभूतैर्वा मिलतामन्योन्य सगच्छता
सनिहितीभवताम् । वा अथ वा स्वयमेव प्रादुर्भवता कल्लोलाना तरङ्गाणां कोलाहलैरद्वैत-
नादैस्तुमुलैर्वा कृत्वा दुग्धाब्धि क्षीरसमुद्रो ज्ञायते । तथा कन्दरा गुहा एव मन्दिराणि
निवाससदनानि तेषामङ्गे उत्सङ्गे । कन्दरशब्दस्त्रिषु लिङ्गानुशासने । यथा ‘पिठरप्रतिसरपा-
त्रकन्दरा’ इति । विलुठतामितस्ततः पार्श्वं परिवर्तयता कण्ठीरवाणा मृगेन्द्राणा क्ष्वेडितै
क्ष्वेडाशब्दै सिहनादै । ‘क्ष्वेडा तु सिहनादोऽय’ इति हेम्याम् । कृत्वा शैला पर्वता
ज्ञायन्ते अवबुध्यन्ते । अवलोककैरित्यध्याहारः । शारदीयान्द्रचान्द्रचन्द्रिकया क्षोणी-
मण्डले ववलीकृते एतैरभिज्ञानै कृत्वा प्रागुक्ता पदार्था कथमायवबुध्यन्ते बुधैरित्यर्थः ॥

दुग्धाम्भोनिधिनिर्जरा इव नराः सर्वेऽपि संजज्ञिरे

स्व.सिन्धोरधिदेवता इव बभुस्रस्यत्कुरङ्गीदृशः ।

स्फारस्फाटिकरत्नकोटिघटितेवासीत्पुनर्मेदिनी

क्षुभ्यत्क्षीरसमुद्रसान्द्रविभवे जाते शशाङ्कोदये ॥ ९३ ॥

क्षुभ्यतः हरिणा मन्दरमन्थाचलनिर्मयनावसरे क्षोभः प्राप्नुवतः । इतस्ततः सडिण्डीर-
पिण्डपाण्डुरसलिलोच्छलनेनातीव शुभ्रिमभाजः क्षीरसमुद्रस्येव सान्द्रोऽतिस्नेहलो बहली-
भूतो वा विभवो धवलिमश्रीर्यस्य तादृशे शशाङ्कोदये चन्द्राभ्युद्गमने जाते सति सर्वे

समस्ता अपि नरा भूचरा पुरुषा दुग्धाम्भोनिधे क्षीरनीरवेर्निर्जरा अधिष्ठानृमुरा इव सज्जिरे । ते हि अतीव शुभ्रवपुर्वसनविभवा स्युः । अत एव तदुपमानम् । पुनन्न-
स्यन्त्यस्त्रास प्राप्नुवत्यो या कुरङ्गयो मृगाङ्गनास्तद्वत्तरलाश्चञ्चला दृशो यासाम् । एतावता
वनिता सर्वा अपि स्व सिन्धोर्गङ्गाया अविदेवता इव अधिष्ठायिका देवता गङ्गादेव्य
इव बभुः शोभन्ते स्म । पुनर्मेदिनी पृथ्वी । उत्प्रेक्ष्यते—स्फारा अनर्घ्या ये स्फा-
टिका स्फटिकमणिसमूहास्तेषु रत्नान्यतीव सारमणय मुख्यानि वा । यदुक्तम्—‘येषां
मन्दररत्नशैलशिखरे जन्माभिषेक कृत’ इति स्नातस्य स्तुतौ । मन्दराणा धातुकीखण्ड-
पुष्करार्चद्वीपसत्काना चतुर्णा मेरूणा मध्ये रत्न सर्वेभ्य उच्चैस्तरत्वेन लक्षयोजनप्रमाणत्वेन
मुख्य इत्येकव्याख्या । तेषा स्फाटिकमणीना कोट्यस्ताभि कृत्वा घटितेव निष्पादिते-
वासीद्वभूव भूमी ॥ इति चन्द्रिकाभ्युदये विविधा भावा ॥

विजयिन इव राज्ञः श्वेतभासो विभाव्या-

भ्युदयमखिलकाष्ठामध्यराजत्करस्य ।

विहितसकलसंध्यावश्यको ध्यानलीला-

कमलकलमरालः स स्म भूत्सूरिराज्ञः ॥ ९४ ॥

स श्रीहीरविजयनामा सूरिणामाचार्याणा मध्ये दीप्यमानत्वात्प्रतापवत्त्वाद्वा राजा ।
अथ वा राजा मुख्य । स ध्यान सूरिमन्त्रजापरूपप्रणिधान तदेव लीलाकमल क्रीडाकर-
णोचितमरविन्द तत्र कलमरालः कलहस । ‘कलमरालविहगमवाहना’ इति वाग्देवता-
स्तोत्रे । प्रकृष्टो राजहंसो वा । स्म भूदजायत । ‘स्मयोगेऽप्यटो लोपमिच्छन्ति । स्म भूत्’
इति सारस्वतव्याकरणे । स किलक्षण । विहित कृत सकल समस्त सध्यायां दिनावसाने
आवश्यक प्रतिक्रमणादिविविधेन । अथ वा निर्मितसध्यासवन्विक्रमावश्यकमवश्यकर्तव्य
येन । किं कृत्वा । श्वेतभाम सितकान्तेश्चन्द्रस्याभ्युदय विभाव्य । ‘पश्यति विभावय-
त्यपि विलोकते वीक्षते गवेषयति’ इत्यादि क्रियाकलापे विलोकनार्था क्रिया । क-
स्येव । विजयिन सर्वत्राप्यप्रतिहतपराक्रमत्वेनानेकराजचक्रजयनशीलस्य राज इव
नृपस्य । किंभूतस्य चन्द्रस्य राज्ञश्च । अखिलाना समग्राणा काष्ठाना दिशा मध्ये राजन्तो
दीप्यमानाः करा किरणा राजदेयाशा यस्य ॥

यं प्रासूत शिवाह्वसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुन

पुत्र कोविदासिहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिरचिते सर्गोऽभवत्सप्तमः ॥ ९५ ॥

अत्र श्रीहीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये सप्ताना सख्यापूरण सप्तम सर्ग अकार-
नामविशेषोऽभवत्सजात ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिताया स्तोपज्ञहीर-
सौभाग्यमहाकाव्यवृत्तौ वर्षाशरत्समयसूर्यास्तसव्यारागतिमिरतारकचन्द्रो-
दयचन्द्रिकाप्रचारादिवर्णनो नाम सप्तम. सर्ग ॥

अष्टम सर्ग ।

अथो निशीथे द्विजराजराजज्ज्योतिःप्रथाभिर्मथितान्धकारे ।

निवातनालीक इव व्रतीन्दुर्ध्यानं दधान स्तिमितीवभूव ॥ १ ॥

अथो चन्द्रोदयचन्द्रिकाप्रसारानन्तर ध्यान मनो निश्चलीकरणानन्तर वा निशीथेऽर्ध-
रात्रे ध्यान सूरिमन्त्रप्रणिधान दधान । कुर्वाण इत्यर्थः । सन्व्रतीन्दु सूरिशीतकान्ति ।
निवातनालीक इव वातवेगाभावेन निष्प्रकम्पपद्मवत्स्तिमितीवभूव निश्चलो जात ।
'निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा' इति रघौ । किभूते निशीथे । द्विजाना राजा चन्द्रस्तस्य
राजता दीप्यमानाना ज्योतिषा किरणानामर्याचन्द्रिकाणा प्रथाभिर्विस्तारै कृत्वा मयित
निर्दलितमन्वकार ध्वान्त यत्र । नालीकशब्द पुष्पीवलिङ्गयो ॥

पर्यङ्कबन्धः स विभोर्व्रतश्रीविलासपर्यङ्क इवावभासे ।

कथं भरोऽमुष्य मया विषह्यो हृदेति यस्मिन्समशेत शेषः ॥ २ ॥

विभो सूरिन्द्रस्य स यो ध्यानसमये विहित पर्यङ्कबन्ध पद्मासनरचनाविशेष-
आवभासे सामस्त्येन शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—व्रतश्रिया सयमलक्ष्म्या विलासार्थ
क्रीडाकृते पर्यङ्क पल्यङ्क इव । स क । यस्मिन् पर्यङ्कबन्धे शेष शेषनामा नागाधि-
राजो हृदा स्वमनसा इत्यमुना प्रकारेण समशेत सशय कृतवान् । इति किम् । यद-
मुष्य पर्यङ्कबन्धस्य भरो भारोऽसहायेन एकेनैव मया कथं केन प्रकारेण विषह्यो वि-
शेषेण सहनीय । वार्य इत्यर्थः । ध्यानभाजा हि योगीन्द्राणा ध्यानसमये पर्यङ्कबन्ध-
स्यातिशायी भारो भवतीति कविसमय । यदुक्त कुमारसभवे—'ततो भुजगाविपते
फणाग्रैरव कथंचिद्धृतभूमिभागे । शनै कृतप्राणविमुक्तिराशे पर्यङ्कबन्ध निदिड वि-
भेद ॥' इति ॥

भुजान्तरासन्नशयारविन्दे विभोश्चकासे विशदाक्षमाला ।

हृद्यानदुग्धाम्बुनिधिप्रतीर प्रपेदुषी कि कलहंसपङ्क्तिः ॥ ३ ॥

भुजान्तरस्य वक्ष स्थलस्य आसन्ने समीपवर्तिनि शयारविन्दे करकमले ववलवर्णा
अक्षमाला जपमालिका चकासे भासते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—हृदि हीरविजयसूरिहृदयवि-
पये यो ध्यान शुरुप्रणिधान तदेव दुग्धाम्बुनिधि क्षीरसमुद्रस्तस्य प्रतीर तट प्रपेदुषी

प्राप्तवती मानमादिजलाशयेभ्यः खेर विलामरसिकायितमानसा समागतवती कलहं-
साना राजमरालानां मालाधोरणी पङ्क्तिरिव ॥

श्रीसूरिमन्त्र विजने व्रतीन्द्रो जपन्स गोत्रत्रिदशीमिव स्वाम् ।

दध्यौ हृदा श्रीजिनशासनस्याधिष्ठायिकां निर्जरनीरजाक्षीम् ॥ ४ ॥

विजने एकान्ते अपरजनरहितस्थाने श्रिया सर्वशक्तिलक्ष्म्या युक्त सूरिणामाच-
र्याणा मन्त्र जपन् ध्यायन् सन् व्रतीन्द्रो हीरविजयसूरि हृदा मनसा कृत्वा पङ्क्ति-
नेष्वपि सर्वातिशायिन्या श्रिया लक्ष्म्या शोभया वा कलितस्य जिनशासनस्य अधिष्ठा-
यिकां प्रत्यक्षसानिध्यविवायिनी निर्जरनीरजाक्षी नाकिकमललोचना देवता दध्यौ
ध्यायति स्म । कामिव । स्वा स्वकीया गोत्रत्रिदशीमिव । यथा कश्चित्पुमान्निजा कुल-
देवता ध्यानगोचरा कुरुते । ‘निपीय त यस्त्रिदशीभिरर्जित’ इति नैपथे । ‘गोत्र तु
सतानोऽन्ववायोऽभिजन कुलम्’ इति हैम्याम् ॥ इति सूरैर्व्यानविवानम् ॥

ध्यानानुभावेन ततो निशीथे सूरिशितुः शासनदेवतायाः ।

केतुर्निकेतस्य रयेण वायोरिव क्षणादासनमाचकम्पे ॥ ५ ॥

ततो ध्याने जिनशासनाधिष्ठायिकास्मृतिगोचरीकरणानन्तर सूरिशितुर्हीरविजयसू-
रीश्वरस्य ध्यानानुभावेन प्रणिवानमाहात्म्येन शासनदेवताया निशीथेऽर्धरात्रे आसन-
मुपवेशनस्य विष्टरम् । ‘विष्टर पीठमासनम्’ इति हैम्याम् । आचकम्पे आ साम-
स्त्येन दोलायमानमासीत्प्रचलति स्म । क इव । केतुरिव । यथा निकेतस्य गृहस्य केतु
वैजयन्ती वायो पवमानस्य रयेण वेगेन कृत्वा कम्पते चञ्चलीभवति ॥

स्वविष्टर कम्प्रमवेक्ष्य विम्बमिवोत्तरङ्गाम्बुधिविम्बितेन्दोः ।

शोणारविन्दायितमीक्षणेन रोषारुणेन त्रिदशाङ्गनाया ॥ ६ ॥

त्रिदशाङ्गनाया जिनशासनदेवताया रोषेण कोपेन कृत्वा अरुणेन रक्तीभूतेन ईक्ष-
णेन लोचनेन । नयनद्वन्द्वेनेत्यर्थः । शोणारविन्दायित कोकनदमिवाचरितम् । अत्र ग-
र्भितोमपास्ते । किं कृत्वा । स्वस्यात्मन स्वमात्मीय विष्टर सिंहासनमवेक्ष्य विलोक्य ।
किंभूत विष्टरम् । कम्प्र कम्पनशील चञ्चलीभूतम् । किमिव । विम्बमिव । यथा उदूर्ध्व
गगनचुम्बिनस्तरङ्गा कल्लोला यस्य एतावता समयस्वभावेन प्रवलपवनवेगप्रवृद्धो यो-
ऽम्बुधि समुद्रस्तत्र विम्बित रात्रौ जलस्यातिस्वच्छभावेन सक्रान्त । ‘यद्यपि स्व-
च्छभावेन दर्शयत्यम्बुधिर्मणीन् । तथापि जानुदघ्नोऽयमिति चेतसि मा कथा ॥’ इति
वचनात् । प्रतिविम्बितो य इन्दुश्चन्द्रस्तस्य विम्बि प्रतिमाभाव प्राप्त मण्डल कम्पते
अतिशयेन कम्पनशील स्यात् ॥

ध्यानस्थितं शासनदेवता सा निपीय तं ज्ञानदृशा वशीन्द्रम् ।

मुदं दधारामृतकुण्डमध्यप्रणीतलीलाप्लवनेव चित्ते ॥ ७ ॥

सा ध्यानगोचरीकृता शासनदेवता श्रीजिनमताधिष्ठायिका निर्जरी ज्ञानदृशा निजा-
वविज्ञानलोचनेन ध्यानस्थित प्रणिवानोपविष्ट हीरविजयनामान वशीन्द्र जितेन्द्रिया-
णामविराज सूरिं निपीय सादरमवलोक्य चित्ते स्वमानसे मुदमानन्द दधार धत्ते स्म ।
प्रमोद प्रापेत्यर्थ । उत्प्रेक्ष्यते—अमृतस्य सुधाया कुण्डे परितो निवद्धानेकसोपानपट-
लप्रवणे जलाशये अर्थादमृतकुण्डमध्ये प्रणीत कृत लीलया स्वैरक्रीडया । नतु तापम-
लापनोदाय देवानां तापाद्यभावात् । आप्लवन स्नान यथा तादृशीव । ‘स्नान सवनमाप्लव’
इति हैम्याम् । आप्लवनमाप्लव इति वाक्यमेवानीतमस्तीति ॥

अथाविरासीद्विशितीतकान्तेः पुरः स्फुरज्जैनमताधिदेवी ।

प्रसादितोपासनया शमश्रीरिवेयमङ्गीकृतकाययष्टिः ॥ ८ ॥

अथ ध्यानस्थिरस्थायुकसूरीन्द्रदर्शनानन्तर स्फुरन्ती वपुराभरणमणिदीप्तिभिर्दीप्य-
माना जिनाना तीर्थकृताम् । अथ वा जिनस्य महावीरस्येद जैनम् । तादृश मत शासन
तस्याधिदेवी अधिष्ठात्री देवता वशी जितेन्द्रियग्रामो मुनिजनस्तन्मध्ये शीतकान्तेश्च-
न्द्रस्यैतावता सूरीन्द्रस्य पुरोऽग्रे आविरासीत्प्रकटीभूता । उत्प्रेक्ष्यते—उपासनया निर-
न्तरसेवनया कृत्वा प्रसादिता प्रसादयुक्ता विहिता । प्रसन्नीकृत्यर्थ । अतएवाङ्गीकृता
उपात्ता गृहीता काययष्टिस्तनूलता यथा तादृशी शमश्रीमूर्तिमती उपलक्ष्मीरिव प्रभो
पुर प्रादुर्भूता ॥

कलामिवेन्दोर्जगते द्वितीयां प्राप्ता सुरी दर्शयितुं स्वमस्मै ।

निद्रां दृशा किञ्चन चुम्बतापि प्रेक्ष्यामुनाजायत जाग्रतेव ॥ ९ ॥

अमुना सूरीन्द्रेण जाग्रतेव जागरणावस्थितेनेव निन्द्रारहितेनेव अजायत सजातम् ।
अमुना किं कुर्वता । किञ्चन किमपि उदरिकामन्त्र दृशा नेत्रेण निद्रा प्रमीला चुम्बता
आश्रयतापि । किं कृत्वा । प्रेक्ष्य व्यालोक्य । काम् । सुरी शासनदेवताम् । किलक्ष-
णाम् । अस्मै सूरीन्द्राय स्वमात्मान दर्शयितुं दृग्गोचरीकारयितुं प्राप्ता पुर समागताम् ।
कामिव । द्वितीया तिथिमिव । यथा इन्दो सुवादीधिते कलां षोडशांशम् । अत्रार्थाजग-
त्स्थितिवशाच्च कलात्रयमयी खेला जगते सकललोकाय दर्शयितुं प्राप्ता जनो जानाति ॥

प्रवाललक्ष्मीमिव कामितद्रोस्तच्छ्यानसिद्धेः किमुताग्रदूती ।

प्रत्यक्षवत्प्रादुरभूत्पुरोऽस्य स्वप्नेऽपि सा सार्वमताधिदेवी ॥ १० ॥

सा हीरविजयसूरिसूरिमन्त्रध्यानानुभावान्यागता सार्वस्य श्रीमच्चरमकृन्महावीरभग-
वतो मत शासन तस्याधिदेवी अधिष्ठायिका निर्जरी । श्रीवीरशासनदेवता इत्यर्थ ।
स्वप्ने किञ्चिन्निद्रावस्थायामपि प्रत्यक्षवत्प्रादुरभूत्पुरोऽस्य स्वप्नेऽपि सा सार्वमताधिदेवी ।
पुरोऽग्रत प्रादुरभूत्प्रकटीभवति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कामितद्रोरर्थात् हीरसूरेरभिलषित-
शाखिन प्रवाललक्ष्मी. पल्लवश्रीरिव । द्रुमाणा हि प्रथम पल्लवा प्रादुर्भवन्ति । तदुप-

मानम् । उताथ वा तस्य सूरैर्ध्यानस्य सूरिमन्त्रजापस्य सिद्धे फलनिष्पत्ते । अथ च सिद्धिनाम्न्या देवताया विघ्नराजपार्श्वे सिद्धिबुद्धिनाम्न्यौ देवते अनुचर्यो वतेते इति लोकप्रसिद्धिः । तस्या अग्रदूती । किं प्रथमशासनहारिकेव ॥ इति सूरिपुरो निशीथे शासनदेवतागमनम् ॥

अथ शासनदेवतावर्णनारम्भः—

सृष्टिं सिसृक्षोः सुदृशां पुरा यः स्वयंभुवः शिल्पगुरुर्वभूव ।

विधाय तां बिम्बमिवादसीयशिक्षाकृतेशोऽर्पयति स्म तस्मै ॥ ११ ॥

स शिल्पगुरुः अमूषा सुलोचनानामियमदसीया । ‘नासादसीया तिलपुष्पतूणम्’ इति नैषधे । सृष्टिः सर्गः । स्त्रीरूपघटनमित्यर्थः । सृष्टिरिति मध्यमपदलोपी समासः । तस्या सृष्टेः शिक्षणं न पुनर्निर्माणक्रिया तत्कृते तदर्थं बिम्बमूलरूपं निरूप्य अन्यानि तद्रूपाणि निर्माप्यन्ते । एतावता शासनदेवतारूपबिम्बे विधाय तस्मै धात्रे अर्पयति स्म दत्तवान् । यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् । स कः । सुदृशां चारुचक्षुषा स्त्रीणां हि कटाक्षादिहेतुतया दृष्टिरेव प्रधाना तस्या च शोभनत्वेन सर्वाङ्गीणशोभनत्वं सुतरामागतमिवेति । तयोक्तम्—‘सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानम्’ इति । तथा—‘तदनु पुनरपाङ्गोत्सङ्गसंचारितानां जयति तरुणयोषिल्लोचनानां विलासः’ इति चम्पूकथाद्वितीयश्लोकान्त्यद्विपदी । इति सृष्टिरचना सिसृक्षोः कर्तुमिच्छोः स्वयंभुवो ब्रह्मणः पुरा पूर्वं विज्ञानज्ञानाभ्यासनसमये शैशवे यः कश्चिदज्ञाताश्रुतनामा शिल्पगुरुर्विज्ञानाचार्यः कलाचार्यो वा बभूवासीत् । प्रायो हि कलाकौशल्यगृहगुरुमन्तरेण जगच्चेतश्चमत्कारि शिल्पं न सगच्छते ॥

महीवियद्वीक्षणकेलिलोलीभवन्मना, स्वैरविहारिणीयम् ।

जम्बूहृदिन्या अधिदेवतेव समीयुषी काञ्चनचारिमश्री ॥ १२ ॥

इयं शासनसुरीरूपा । उत्प्रेक्ष्यते—जम्बूहृदिन्या जम्बूनामनद्या । जम्बूद्वीपसत्कजम्बूवृक्षा । तेषां जम्बूफलरसैर्जम्बूसरित्प्रवहति । तन्मृत्स्ना च जाम्बूनदः भवति । जम्बूनद्या भवः जाम्बूनदमिति व्युत्पत्त्या इति कविसमयः । तदेव दर्श्यते—‘जाम्बूनदः जगति विश्रुतिमेति मृत्स्ना कृत्स्नापि सा तव रुचा विजितश्रिः यस्याः । तज्जाम्बवद्रवभवास्य सुधाविधाम्बुजम्बूसरिद्वहति सीमनि कम्बुकण्ठि ॥’ इति नैषधे । अधिदेवता अविष्टायिका देवी समीयुषीव समागतवतीव । किंभूता । मद्या भूमेवियत आकाशस्य च द्वयोर्भूतभसोर्वाक्षणमवलोकनं तदेव केलिः क्रीडा तत्र लोलीभवच्चञ्चलः जायमानः मनश्चेतो यस्याः । अत एव पुनः किंभूता । स्वैरस्वेच्छया विहरति सचरतीत्येवशीला । देवा देव्यो हि स्वैरविहारा भवेयुः । अतोऽपि स्वेच्छया सचारिणी । पुनः किंभूता । काञ्चनत्वेन काञ्चनवद्वा चारिण्यो वपुर्मनोज्ञत्वस्य श्रीः शोभा यस्याः सा ॥

निर्यत्सुरास्त्राशनिभूषणानि विरेजुरङ्गानि सुराङ्गनायाः ।

स्वस्पर्धिनः श्रीभिरिवेन्द्रचापवज्राण्यमीभिर्विधृतानि जेतुम् ॥ १३ ॥

सुराङ्गनाया जिनशासनत्रिदश्या अङ्गान्यवयवा । 'एकदेशे प्रतीकोऽङ्गावयवापघना अपि' इति हैम्याम् । तथा 'अङ्गमन्तिकमात्रयोः । उपसर्जनभूते स्यादभ्युपायप्रतीकयोः ॥' इत्यनेकार्थः । विरेजुर्विभान्ति स्म । किभूतान्यङ्गानि । निर्यन्ति निर्गच्छन्ति प्रादुर्भवन्ति सुरास्त्राणि इन्द्रधनुषि । 'धनुर्देवायुधम्' इति हैम्याम् । इन्द्रधन्वाप्युच्यते । तथा 'तस्मै स्वभूषा दृषदशु शिल्प बलिद्विषः कार्मुकमर्पयन्ती' इति नैषधे । मणिज्योतिरिन्द्रधनुराकृत्या निर्याति । यथा नैषधे—'वृता विभूषा मणिरश्मिकामुकैः' इति । येभ्यस्तादृशान्यशनिभूषणानि वज्ररत्नखचिताभरणानि येषु तानि । अशनिशब्देनात्र वज्ररत्नमुच्यते । 'शुचीमुख तु हीरकः । वराटक रत्नमुख्य वज्रपर्यायनाम च ॥' इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—अमीभिरङ्गैः श्रीभिः शोभाभिः कृत्वा स्वस्पर्धिनः निजप्रतिमल्लीभूतशत्रून् जेतुं पराभवितुमिन्द्रचापवज्राणि गस्त्राणीव विधृतानि ॥

राजीवराजी विजिता यदङ्गैर्मृदुश्रिया रङ्गदनङ्गरङ्गैः ।

तत्तुल्यभावाय तपः सृजन्ती वने वसन्तीव कुशेशयासीत् ॥ १४ ॥

यदङ्गैर्यस्या देव्या अङ्गैरवयवैर्मृदुश्रिया भावप्रदाननिदेशात्सौकुमार्यलक्ष्म्या विजिता पराभूता सती राजीवराजी कमलमालिका । उत्प्रेक्ष्यन्ते—वने निकुञ्जे वसन्ती सती वासं विदधती । तिष्ठन्तीत्यर्थः । कुशेशयासीत् दर्भशायिनी बभूवेव । 'वनं कानननीरयोः' इत्यनेकार्थः । तथा कुशेशयः पद्मनामापि । यथा 'कमलं नलिनं पद्ममरविन्दं कुशेशयम्' इति हैम्याम् । तत्रोत्प्रेक्षापि । 'कुशो दर्भे जले द्वीपे' इत्यनेकार्थः । किं कुर्वन्ती । तेषामङ्गानां तुल्यभावाय सादृश्याय तपः सृजन्ती अनुतिष्ठन्ती । अन्यापि किञ्चित्फलं मनसि स्पृहयन्ती सती वनमग्न्यस्थायिनी तपः कुर्वाणा कुशप्रस्तरे शेते । किंभूतः । यदङ्गैः रङ्गनृत्यं कुर्वन् । 'नृत्यविवाने नृत्यति नटति च रङ्गति च विलसति च' इति क्रियाकलापे । योऽनङ्गः स्मरस्तस्य रङ्गैर्नर्तनस्थानैः रङ्गन्ती जङ्गमा अनङ्गनर्तकस्य रङ्गा नर्तनशाला वा ॥

अगण्यनैपुण्यमुखान्नियन्त्र्य संरक्षितान्प्रेक्ष्य गुणांस्त्रिदश्याः ।

स्वयन्त्रणोद्धूतभयातिरेकात्तस्याः प्रणेशे किमशेषदोषैः ॥ १५ ॥

तस्याः शासनदेव्याः सकाशात् अशेषदोषैः समग्रापगुणैः प्रणेशे प्रणष्टं प्रपलाय्य गतम् । उत्प्रेक्ष्यते—स्वेषा स्वकीयात्मना यद्यन्त्रं बन्धनं तस्मादुद्धूताजाताद्भयातिरेकात्साध्वसातिशयादिव । किं कृत्वा । अगण्यान् गणयितुमशक्यान् गणनातिगानतिशायिनो वा नैपुण्यं दाक्षिण्यम् । चातुर्यमित्यर्थः । तदेव मुखमादौ मुखे वा धुरि येषां तान् । 'मुखमुपाये प्रारम्भे श्रेष्ठे निःसरणास्ययोः' इत्यनेकार्थः । गुणान्नियन्त्र्य नितरा यन्त्रयित्वा बद्धा त्रि-

दश्या शासनदेव्या रक्षितान् स्वप्नेऽप्यन्यस्थानगमनाप्रदानतया गोपितान् प्रेक्ष्य दृग्गो-
चरीकृत्य ॥ इति शासनदेवतासाधारणमर्वाङ्गवर्णनम् ॥

अथ पृथगङ्गवर्णनारम्भणम् । तत्र 'मानवा मौलितो वर्ण्या देवाश्चरणत पुनः' इति
वचनात्कविसमयानुसारेण देवतापादादारभ्य वर्णयितु प्रारभ्यते—

जिनेशितुः शासनदेवतायाः पादारविन्देऽरुणिमा दिदीपे ।

प्रणेमुषीणां दिविषद्वधूनां सीमन्तसिन्दूरमिवात्र लग्नम् ॥ १६ ॥

जिनाना सामान्यकेवलिनामीशतुरविराजस्य श्रीतीर्थकृत शासनदेवताया जिनभ-
क्तचातुर्वर्ण्यसधस्य सम्यक्सानिध्यविधायिन्या देव्या पादारविन्दे चरणतामरसे अरुणि-
मा पादतले स्वाभाविकी रक्तता दिदीपे दीप्यते स्म शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—प्रणेमुषीणा
सेव्यत्वेन प्रणीतप्रणामाना दिविषद्वधूना देवाङ्गनाना सीमन्तस्य केशेषु वर्त्मन सिन्दूर
शृङ्गारभूषणम् अत्र पादारविन्दतले लग्नमिव ॥

यत्पादपद्मेन पराजितेन विजृम्भमाणारुणवारिजेन ।

शुश्रूषणायारुणिमा तदङ्गे शङ्के डुढौत्केऽरुणलक्ष्मिलक्षात् ॥ १७ ॥

विजृम्भमाणेन विकाश प्राप्नुवता अरुणवारिजेन रक्तकमलेन । कोकनदेने-
त्यर्थः । कर्त्रा । शुश्रूषणाय सेवाकारणाय अरुणिमा आत्मीयरक्तिमा तदङ्गे पाद-
पद्मोत्सङ्गे अहमेव शङ्के सशय कुर्वे मन्ये । विचारयामीत्यर्थः । अरुणा या लक्ष्मी शोभा
विभूतिर्वा तस्या लक्षात्कपटात् । 'व्यपदेशो मिष लक्ष निभव्याज' इति हेम्याम् । ल-
क्ष्मिशब्दो ह्रस्व शब्दप्रभेदे । अरुणिमा रक्तता स्वरागो डुढौत्के किमु प्राभृतीक इव ।
किभूतेन कोकनदेन । यत्पादपद्मेन यस्या शासनदेवताया पादपद्मेनेव चरणारविन्दद्व-
न्द्वेन पराजितेन पराभवपदवी प्रापितेन अर्थादात्मीयविभवेन ॥ इति पादतलरक्तिमा ॥

यस्याः स्फुरत्कान्तिविकाशिताशा. कामाङ्कुशा दिद्युतिरे पदाब्जे ।

इदं मुखाम्भोजविनिर्जितेन राज्ञेव रत्नान्युपदीकृतानि ॥ १८ ॥

यस्या शासनदेव्या पदाब्जे चरणारविन्दद्वन्द्वे कामाङ्कुशा नखा दिद्युतिरे द्यो-
तन्ते स्म शुशुभिरे । किभूता । स्फुरन्तीभिरितस्तत प्रसरन्तीभि सूर्यज्योति-
स्पर्धया वा स्फूर्जन्तीभि कान्तिभिर्दीप्तिभि विकाशिता प्रकटीभाव प्रापिता उद्यो-
तिता आशा दशदिशो यैस्ते । उत्प्रेक्ष्यते—इदं मुखाम्भोजेन अस्या वदनवारि-
जन्मना । 'इदं नृपप्रार्थिभिरुज्जितोऽर्थिभिः' तथा 'इदं यशासि द्विपत सुवारुच' इति
पदद्वयमपि नैषवे । विनिर्जितेन पराजयगोचरीकृतेन राज्ञा चन्द्रेण नृपेण च रत्नाक-
रोद्भवत्वेन कोशसौवाविपतित्वेन च द्वयोरपि मणीना सद्भावात् रत्नानि जात्यपन्नरा-
गमणयः उपदीकृतानि ढौकितानीव ॥

यदाश्रयीभूय किमर्भसूराः राहुं निहन्तुं नखराङ्गभाजः ।

प्रणम्रगीर्वाणवधूप्रवेणीछायाच्छलाङ्गीकृतचन्द्रहासाः ॥ १९ ॥

दानवारिपरिग्रहपदमेव । अथ वा यो दानवारिपरिग्रह स एवाश्रय शरण येषां तादृशा भूत्वा यत् यो वा आश्रयो येषां ते यदाश्रयाः । न यदाश्रया अयदाश्रया भूत्वा इति यदाश्रयीभूय अर्भसूराः बालारुणा प्रभातप्रोद्यन्मार्तण्डा शासनत्रिदशीक्रमकामाङ्कुशा एवाङ्ग वपुर्लतां भजन्ते सेवन्ते तादृशा सन्तो भवन्त राहु स्वर्भाणुदानव निहन्तु शमनसदनातिथीकर्तुं प्रणम्राणा देवीचलननमनशीलाना गीर्वाणवधूना सुराङ्गनाना प्रवेणीना कबरीणा छाया प्रतिबिम्बानि तासा छायाणा छलेन कपटेन अङ्गीकृता गृहीताश्चन्द्रहासा महाखङ्गा इव सन्ति । नखाना रक्तत्वेनोद्गच्छदादित्योपमानम् ॥

इदंपदीभूय भवान्तरेऽपि लौहित्यलक्षात्कलितानुरागाम् ।

पद्मद्वयीं प्रेक्ष्य नखाङ्गबालारुणा इवैतन्मिलनार्थमीयुः ॥ २० ॥

पद्मद्वयीं स्वबन्धुभूतामम्भोजन्मद्वितयीं प्रेक्ष्यालोक्य चक्षुर्लक्ष्यीकृत्य एतस्याः पद्मद्वय्या अर्थाद्वन्धुत्वेन मित्रत्वेन वा मिलनार्थमीयुरागता नखा अर्थाद्देवीचरणजन्मकामाङ्कुशा एवाङ्गानि शरीराणि येषां तादृशा बाला नवमुदय लभमाना अरुणा भास्करा इव । किंभूता पद्मद्वयीम् । इदंपदीभूय । ‘जगत्कर्तृजगत्सर्गप्रणयनपरवशत्वे विधेर्विश्वव्यापारपारवश्यादवतीर्णस्य ससारचक्रे’ इति चम्पूकथायाम् । अस्या जिनशासनदेवतायाश्चरणौ भूत्वा पदभाव प्रपद्य भवान्तरेऽन्यस्मिन्नपि भवे जन्मनि अपरावतारे सप्राप्तेऽपि लौहित्यस्य स्वाभाविकस्फुरद्रक्तताया लक्षात्कपटात्कलितः पूर्ववद्भूतोऽनुराग स्नेहातिरेकता पाटलिमा च यया ताम् ॥

प्रपेदुषी यत्पदता पयोजद्वयी विभाव्यार्भकशीतभासः ।

निजानुरज्यन्मनस प्रणेतुं नखीबभूवुः किमु तन्निदश्याः ॥ २१ ॥

अर्भकशीतभासो बालचन्द्रा । तेषां चारुणत्व कविसमये दृश्यते । यथा—‘अयमुदयति घुसृणारुणतरुणीवदनोपमश्चन्द्र’ इति विदग्धमुखमण्डने, तथा—‘स्फुरदम्भ सरोदम्भात्सैहिकेयभयादिव । राकामृगाङ्गा सभूय विभान्ति शरणागताः ॥’ इति पाण्डवचरित्रे च चन्द्रबाहुल्यं प्रोक्तमस्तीति । तथात्रापीदं द्वयमपि उद्यता चन्द्रसूर्याणां बालत्वमेव प्रतिपद्यते । तन्निदश्या सा सूरिध्यानाकृष्टागता वासौ त्रिदशी च त्रिदशवशा तस्या नखीबभूवुः तत्पदपुनर्भवभाव भजन्ते स्म । देवतानखा जाता इत्यर्थः । किं कृत्वा । यत्पदता तन्निदशचरणभाव प्रपेदुषी प्रातवतीं पयोजयो कमलयोर्द्वयीं युगलीं विभाव्य चक्षुषा समीक्ष्य । उत्प्रेक्ष्यते—ता पद्मद्वितयीं निजे स्वात्मनि विषये अनुरज्यत् सरागीभवत् । ‘चकास्ति रज्यच्छविरुज्जिहान’ इति नैषवे । मन स्वान्त यस्यास्तादृशी प्रणेतुं किमु कर्तुमिव । ‘सृजति करोति प्रणयति’ इत्यादिकरणार्था क्रियाः क्रियाकलापे ॥

सौन्दर्यपाथःप्लवपादपद्माकरेऽङ्गुलीनालजुषोऽनिमिष्याः ।

कामाङ्कुशाः शोणसरोजराज्यो ज्योतिर्मरन्दोपचिता इवाबभुः ॥ २२ ॥

अनिमिष्या देवताया नखा अनुरागा भान्ति स्म । अयं प्रयोगः क्रियारत्नसमुच्चयेऽप्यस्ति । उत्प्रेक्ष्यते—शोणसरोजराज्यं कोकनदपङ्क्तय इव । कस्मिन् । सौन्दर्यं मनोहरत्वं तदेव पाथसा पानीयानां प्लवः पूरो यस्मिंस्तादृशे पादे चरणरूपे पद्माकरे सरसि । चरणे त्वाकृतिकमलानां सद्भावात्कमलाकरत्वम् । किं शोणसरोजराज्या । अङ्गुल्यः पादशाखास्ता एव नाला मृणालानि जुषन्ते भजन्ते । पुनः किंभूता । ज्योतींषि नखकान्तयः एव मरन्दा मधूनि तैरुपचिता पुष्टाः । भृता इत्यर्थः ॥ इति पदनखा ॥

नखोल्लसत्पल्लवशालमानैर्नम्रामरीनेत्रमिलद्विरेफैः ।

शाखाविशेषैः पदशाखिनः किं तदङ्गुलीभिर्भ्रियते स्म शोभा ॥ २३ ॥

तदङ्गुलीभिर्देवीपदशाखाभिः शोभा भ्रियते भ्रियते स्म । ‘डुभृञ् धारणपोषणयोः’ इत्यस्य रूपम् । उत्प्रेक्ष्यते—पदशाखिनः पादपादपस्य किं शाखाविशेषैर्विशिष्टशाखाभिरिव । किंभूतैः । नखा एवोल्लसन्तः स्फुरन्तः विकसन्तो वा पल्लवाः प्रवालास्तैः कृत्वा शालमानैः शोभाभासुरैः । पुनः किंभूतैः । नम्राणां नमनशीलानाममरीणां त्रिदशीनां नेत्राणां नवानां प्रतिबिम्बितान्येव । मध्यमपदलोपी समासः । मिलन्तः समीपे समागच्छन्तो द्विरेफा भृङ्गा येषु ॥

पदं मयेदं प्रददे शिरःसु दिशां दशानामपि सुन्दरीणाम् ।

इतीव रेखाः क्रमयोरमर्त्याङ्गुलीमिषात्तत्प्रमिता विभर्ति ॥ २४ ॥

अमर्त्या देवसुन्दरी । ‘अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने’ इति नैषधे । यथा मर्त्या तथा अमर्त्या । तथा अमर्त्यापि अङ्गुलीनाम् । अत्राङ्गुष्ठोऽप्यङ्गुलीमध्य एव गण्यते न पृथक् क्रियते । यदुक्तं नैषधेऽपि—‘रज्यन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हिङ्गुलपद्मतूणे । हेमैकपुङ्खास्ति विशुद्धपर्वा प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ॥’ इति । दशानां मिषाच्छलात्क्रमयोर्द्वयोश्चरणयोस्तत्प्रमिता दशदिक्प्रमाणा रेखा विभर्ति वत्ते । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोरिव । इति किम् । यन्मया स्वीयाद्वैतरूपश्रिया कृत्वा दशानां पूर्वा, अग्निः, दक्षिणा, नैर्ऋती, प्रतीची, वायवी, उत्तरा, ऐशानी, ऊर्ध्वदिक्, अधोदिक् । एकस्मिन् पक्षे । अष्टदिक्षु मानुष्यः ऊर्ध्वलोके देवाङ्गना अधोलोके च नागाङ्गना असुराङ्गनाश्च । अपरस्मिन् पक्षे । तिर्यग्लोके दशदिक्षु सर्वत्रापि देव्यो वर्तन्ते इति । दशदिग्वर्तिनीनां सुन्दरीणां स्त्रीणां शिरःसु मस्तकेषु रूपसौन्दर्यातिरेकात् इदं पदम् । अयं चरणः प्रददे प्रदत्तम् । पदशब्दः पुलिङ्गनपुंसकलिङ्गयोः । ‘चरणं क्रमणं पादः पदोऽङ्घ्रिश्चलनं क्रमः’ इति हैम्याम् । तथा—‘पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया’ इति नैषधे ॥ इति पादाङ्गुल्यः ॥

विलासिबालव्यजनाधृतोद्यच्छत्रा स्फुरद्वारिजराजमाना ।

अधीश्वरीवाखिलवारिजानां यदीयपादद्वितयी दिदीपे ॥ २५ ॥

यस्या देव्या इय यदीया शासनदेवतासबन्धिनी पादद्वितयी चरणयुगली दिदीपे शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—अखिलाना समग्राणा वारिजानां जलजन्मनाम-
त्रार्थात्कमलानामेव पदयो पद्मानामुपमानत्वात् । वारिजशब्देन शङ्खोऽप्युच्यते ।
'कम्बुस्तु वारिजस्त्रिरेख षोडशावर्तः शङ्ख' इति हैमीवचनात् परं तन्निरास । अय
वारिजशब्देन मुख्यतया पद्ममेवोच्यते तस्मात्कमलानामेवाधीश्वरी स्वामिनीव रा-
ज्ञीव । कि राजचिह्नं दर्श्यते विलसत इत्येव शोभमाने बालव्यजने आकृतिरूपे ।
'छत्तचामरपडागजूअलचमडिया' इत्यजितशान्तिस्तवनात् । चामरे यस्या यस्या वा ।
पुन किभूता । धृतमाकलितमाकारकायमातपत्र छत्र यया । स्फुरद्भि प्रकटीभवद्भि
रेखाकारधारिभिर्वारिजैः पद्मैर्विराजमाना शालिनी ॥

कथंचनाभ्यर्थनया मृदुत्वं रागश्रियं चाप्य पदारविन्दात् ।

प्रवालमाला धरणीरुहाणामिवाधमणीभवति स्म तस्याः ॥ २६ ॥

धरणीरुहाणा पादपाना प्रवालमाला पल्लवपङ्क्तिः । तरुणा प्रवालकथनेन विद्वमाणा
निरासः कृत । उत्प्रेक्ष्यते—तस्या देव्या अधमणीभवति स्म ग्राहका जाताः ।
कि कृत्वा । कथंचन महता कष्टेन केनापि प्रकारेण वा अभ्यर्थनया देवीपुर-
स्ताद्याचनया कृत्वा पदारविन्दादर्यात् शासनदेवीचरणकमलान्मृदुत्वं सौकुमार्यं च
पुन रागश्रियं लौहित्यलक्ष्मीं चाप्य लब्ध्वा ॥

प्रसादकान्ती दधती सुवर्णालंकारिणी रम्यतमक्रमा च ।

संश्लेषदक्षाप्रतिमोपमानश्रीः श्लोकमालेव सुरी चकासे ॥ २७ ॥

सुरी(शान)त्रिदशी श्लोकमालेव अनुष्टुभा पङ्क्तिरिव चकासे दीप्यते स्म ।
किभूता सुरी श्लोकमाला च । प्रसाद प्रसन्नभाव कान्ति शोभा वपुर्दीप्ति वा तथा
अगित्यर्थावबोधगोचरत्वं प्रसादगुणः । तथा दीप्तरसत्वं कान्तिस्ते दधती दधाना ।
पुन किभूता । सुवर्णे काञ्चनैर्विरचिता अलंकारा अङ्गप्रत्यङ्गाभरणानि विद्यन्ते सन्ति
वास्या । तथा शोभना वर्णा अक्षराणि । तथा उपमोत्प्रेक्षारूपकाद्या अलंकारास्ते सन्ति
अस्यामिति । अस्त्यर्थीय इन् । पुन किभूता । रम्यतमौ अतिशयेन मनोज्ञौ सामुद्रो-
क्तलक्षणलक्षितावत एवातिरुचिरौ क्रमौ चरणौ यस्या अतिरमणीयचतुश्चरणा अनु-
क्रमो वा यस्या । पुन किभूता संश्लेषे स्वकामुकेन वल्लभेन सम सस्नेहसरोमाञ्चाञ्चित
लतावेष्टितकाद्यालिङ्गनविशेषे निपुणा चातुर्यवती । तथा । शब्दगुणार्थगुणशब्दालका-
रार्थालंकारादिरूपः सम्यक् समीचीनश्चेतश्चमत्कारकारी श्लेषस्तत्र दक्षा पट्वी । पुन
किभूता । अप्रतिमोपमानश्रीः न विद्यते प्रतिमा सादृश्य यस्याः । 'न तन्मुखस्य प्रतिमा

चराचरे' इति नैषधे । तादृशी उपमानश्रीः शोभा लक्ष्मीर्वा यस्याः । तथा अप्रतिमा असाधारणा उपमानैरुपलक्षणादुत्प्रेक्षाधै श्रीर्लक्ष्मी शोभा यस्या ॥ इति पादाः ॥

यत्पादराजौ परिशुद्धपाष्णीं निर्जित्य गत्याखिलराजहंसान् ।

उच्चै रुचिस्फूर्तिमिषाज्जिगीषू प्रस्थातुकामाविव नाकिनागम् ॥ २८ ॥

यस्या देवताया पादौ चरणावेव राजौ राजानौ पार्थिवौ अपरावपि बलवद्भ-
पती नाकिना नाग गीर्वाणाना वारणमैरावण निर्जरश्रेष्ठ शक्र वा । यदुक्त है-
म्याम्—'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुङ्गवर्षभकुञ्जरा । सिंहशार्दूलनागाद्यास्तल्लजश्च मतल्लिका' ।
मचर्चिकाप्रकाण्डोद्धय प्रशस्यार्थप्रकाशका ॥' इति । जिगीषू जेतुमिच्छन्तौ सन्तौ ।
रुचीना नि सरद्वहलप्रबलकान्तीना स्फूर्ते स्फुरणस्य मिषात्कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—
उच्चैरूर्ध्वं स्वर्गलोकं प्रति प्रस्थातुकामौ गन्तुमीहमानाविव प्रचलितुमनसाविव । ऐराव-
णवासवयो स्वर्गस्थायुकत्वेन उच्चैर्गमनम् । राज्ञामपि इन्द्रनिर्जयनं दृश्यते । यथा रघु-
वशे इन्दुमतीस्वयवरे कर्तवीर्यवर्णनाधिकारे—'कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोपि-
तमा प्रसादात्' । तथा सूक्ते—'दृषद्भिः सागरो बद्ध इन्द्रजिन्मानवैर्जित । वानरैवे-
ष्टिता लङ्का जीवद्भिः किं न दृश्यते ॥' इति । किं कृत्वा । गत्या गमने विलासेन प्रयाणे-
नाभिलाषेण तेन वाखिलान् समस्तान् राजहंसान् सितच्छदान् पाथिवपुङ्गवाश्च । प्रव-
लपृथिवीपुरदरानित्यर्थः । निर्जित्य पराभूय स्ववशीकृत्य च । किंभूतौ पादराजौ । परि-
सामस्त्येन सर्वप्रकारेण समन्तात्समग्रतया वा शुद्धो लाञ्छनाभावेन निर्मल पाष्णिं
घुटयोरधः प्रदेशो ययो । तथा परि समन्तान् समग्रस्वपदेशापेक्षया निर्दोषो विरो-
दिरहित पाष्णिं पाश्चात्यो विजयिनो राज्ञः स्वदेशपृष्ठवर्ती राजा ययोस्तौ । 'शुद्धपाष्णि-
रयान्वित' इति रघुवशे । यो विजयी नृपोऽपरदेशसावनार्थं प्रतिष्ठते सोऽवश्यं
स्वदेशपाश्चात्य पार्थिव पुरग्रामाश्च हस्त्यादिप्रदानेन मैत्रीविधानेन च शुद्धं स्वानुकूली-
करोतीति स्थितिः । नो चेदशुद्धः स तद्देशे विद्वरं कुरुते तस्मान्निर्दोषीकरणं तदभिधानं
च पाष्णिरित्युच्यते ॥ इति पाष्णि ॥

जम्भद्विषत्कुम्भिपराभविन्या ययातिभूति गमितः स्वगत्या ।

किं हंसकस्ता चरणारविन्दे तस्थौ प्रसत्तेर्विषयीचिकीर्षुः ॥ २९ ॥

हंस एव हंसकः । स्वाथे कः । राजहंस नूपुरम् । 'पिण्याकञ्जर्जरहंसक-
शङ्खपुङ्खा' इति लिङ्गानुशासने पुनपुसकलिङ्गः । चरणारविन्दे अर्थाद्देवीपादपद्मे तस्थौ
स्थितवान् । उत्प्रेक्ष्यते—ता शासनदेवता प्रसत्ते प्रसादस्य विषयीचिकीर्षुः किं गो-
चरीकर्तुमिच्छुरिव । हंसकः कथंभूतः सन् । यया त्रिदश्या स्वगत्या निजगमनातिवि-
लासेन अतिभूति पराभव गमितः प्रापितः सन् । किंभूतया गत्या । जम्भनामा दैत्य-
स्तस्य द्विषन् वैरी हन्ता वासवस्तस्य कुम्भी हस्ती ऐरावणस्त पराभवति निर्जयति
इत्येवशीला तथा ॥

स्वजिह्वयानेन विगानितः सन्नाखण्डलः कुण्डलिनामिवैताम् ।

सिञ्जानमञ्जीरविनिर्मिताङ्गः प्रसाहयत्यङ्घ्रिपयोजलग्नः ॥ ३० ॥

कुण्डलिना भुजगमानामाखण्डलः पुरदर. स्वामी शेषनामनागाधिराजः पादप-
योजे, क्रमकमले लग्न आश्रित्य स्थितः सन् । उत्प्रेक्ष्यते—एतां शासनदेवता
प्रसन्ना करोतीव । प्रसादकलितां निर्मिमीत इव । यो हि बलवन्त निजजेतार
प्रसादयितुमिच्छति स तत्पदयोर्लगति । चाटुवाक्यानि ब्रूते । इति रीतिः । किंभूतः ।
सिञ्जान शब्दायमान रणझणितिराव कुर्वाण यन्मञ्जीर नूपुर तदेव विहित निर्मितमङ्ग
वपुर्येन । पुनः किलक्षण सन् । स्वस्यात्मनो जिह्वेन वक्रेण यानेन गमनेन । यौवनो-
न्मादेन प्रायः स्त्रीणां गतिर्वक्री भवति । अपरोऽपि पाठः । यथा—‘स्वश्लोकशौक्ल्येन’
स्वस्यात्मनः श्लोकस्य यशसः शौक्ल्येन शुक्लतया वा विगानितोऽधरीकृतः ॥ इति
चरणनूपुरम् ॥

यया जगज्जैत्रतमश्रियाङ्घ्रिगुल्फः परा कोटिमवापितः सन् ।

पराक्षिलक्ष्यत्वमयांबभूव न चक्रवर्ती तु कदाचनापि ॥ ३१ ॥

यया शासनदेवतया जगता भुवनानां तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशात्रैलोक्यकामिनीनां
जैत्रतमया अतिशयेन जैत्रया जयनशीलया श्रिया आत्मलक्ष्म्या परां प्रकृष्टा
कोटिमुत्कर्षं काष्ठामवापितो नीतः सन् । पराक्षिलक्ष्यत्वम् अङ्घ्रिगुल्फश्चरणग्रन्थिघु-
ण्टकं कदाचनापि कस्मिन्नपि समये पराक्षिलक्ष्यत्व परेषामन्येषां चक्षुष्मतामक्षगोर्लो-
चनयोर्लक्ष्यत्व दृश्यतां गोचरत्व न अयाबभूव गच्छति स्म । ‘अयं गतौ’ इत्यस्य
धातोराम्प्रत्यये प्रयोगा यथा—अयाचक्रे, अयाबभूव, अयामासेति । क इव । चक्रेण
नरखेचरेन्द्राद्यप्रतिहृतेनामोघरथाङ्गायुधेन वर्तते । षट्खण्डक्षोणीमण्डलान्तरे प्रवर्तते
दिग्विजयं विदधातीत्येवशीलचक्रवर्ती सार्वभौम इति । यथा चक्री परेषां प्रत्यर्थिना
कदाचिदपि कस्मिन्नपि प्रस्तावे आजीवितान्तमक्षिलक्ष्यत्व लोचनगोचरत्व तां नायते
न प्राप्नोति । प्रतिभटैर्भूपैर्दृष्ट्यापि द्रष्टुं न शक्यते इत्यर्थः । एतावता देवीगुल्फौ न दृ-
श्येते । स्त्रीणां गुल्फजानू अदृश्यावेव श्लाघ्येते इति सामुद्रशास्त्रे । तथा ‘गुल्फद्वयाप्ता
यददृश्यसिद्धिः’ इति नैषधे ॥

यज्जङ्घयाधःकरणादुदीतव्रीडातिरेकादिदमीयगुल्फः ।

मन्ये न्यमज्जनवनिर्यदर्चिर्णःप्रपूर्णीभवदङ्घ्रिशोणे ॥ ३२ ॥

यस्यां शासनसुराङ्गनायां जङ्घया अधः करणान्नीचैर्विधानात्तिरस्करणाद्वा उदीता
प्रकटीभूता । ‘उदीतमातङ्कितवानशङ्कत’ इति नैषधे । या व्रीडा लज्जा तस्यां
अतिरेकादतिशयात् अस्यां अयमिदमीयः । ‘मध्यं तनूकृत्य यदीदमीयम्’ इति नैषधे ।
देवीचरणसबन्धी गुल्फो घुण्टकः । अहमेव मन्ये वितर्कयामि । नवानि नवीनानि नि-
र्यन्ति प्रादुर्भवन्ति यान्यर्चीषि अर्थात्तत्क्रमकान्तयः तान्येवार्णासि पानीयानि तैः प्रपू-

णीभवन्नाकण्ठ व्याप्त सपद्यमान अत्रिर्देवीपाद स एव शोणो हृदस्तस्मिन्मन्त्रान्किसु
ब्रूति स्मेव ॥

श्रीमज्जिनाधीशमताधिदेव्या जङ्घे विभूपामनघे दधाते ।

किमु प्रगल्भक्रमनामधेयवृन्दारकोर्वीरुहयोः प्रकाण्डे ॥ ३३ ॥

श्रीमाश्वतुन्निशदतिशयादिका लक्ष्मी त्रैलोक्याविपत्यलक्ष्मीर्वा विद्यते यस्य स श्री-
मान् यो जिनाना जयन्ति सर्वथापि रागद्वेषादिकानन्तरङ्गान् शात्रवानिति जिनास्तेषा
सामान्यकेवलीनामधीश स्वामी तीर्थकरोऽर्थान्महावीरभगवान् तस्य मत शासन तस्या-
विदेव्या अविष्टायिकाया देवतायाः अनघे निष्पापे प्रशस्ये जङ्घे नलकिन्यो विभूपा शोभा
दधाते कलयत । उत्प्रेक्ष्यते—प्रगल्भौ प्रकृष्टौ यो क्रमौ देवीपादौ तावेव नामधेयम-
भिधान ययोस्तादृशयोर्वृन्दारकोर्वीरुहयो कल्पवृक्षयो । प्रकाण्डे किमु वृक्षस्कन्धाविव ।
'मूलाच्छाखावविर्गण्डि प्रकाण्डौघ' इति हैम्या प्रकाण्ड पुष्पीवलिङ्गयो ॥

यस्याः प्रकाण्डस्फुरदुग्रजङ्घा सदक्षलक्ष्मीस्पृहयालवः किम् ।

विषह्य भारं भवनत्रजानां स्तम्भा मनुष्यानुपकुर्वते स्म ॥ ३४ ॥

स्तम्भा स्थूणा भवनत्रजाना गृहगणाना भार वीवव विषह्य क्षान्त्वा मनुष्यानुप-
लक्षणात्सुरान् त्रिभुवनेऽपि गृहभाराधारभूतस्तम्भाना विद्यमानत्वेन एतावता त्रिज-
गजनानुपकुर्वते स्म उपकार कुर्वन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—यस्यास्त्रिदश्या प्रकाण्डे
वृक्षस्कन्धाविव स्फुरन्त्यो शोभमानयो जङ्घयो सदक्षलक्ष्म्या समानविभूपाया
स्पृहयालव किम् अभिलाषुका इव कामयितार इव ॥

सारङ्गनाभीसुरभेरमुष्या जङ्घाविभूपाभिरधःकृताभि ।

मृगाङ्गनाभिर्गिरिगहरोर्वी मन्दाक्षलक्ष्याभिरिव प्रपेदे ॥ ३५ ॥

मन्दाक्षस्य लज्जाया लक्ष्याभिर्वध्याभिस्त्रपातिरेककलिताभिर्मृगाङ्गनाभिर्हरिणरमणी-
भि । उत्प्रेक्ष्यते—गिरिगहरोर्वी गिरीणा शैलाना गह्वराणा गुहानाम्, अथ वा निकुञ्जाना-
मुर्वी भूमि । 'गह्वरो विलभेदयो । कुञ्जे' इत्यनेकार्थ । तथा 'गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश' इति
रघुवशे । 'परस्परमिलच्छाखापटलपादपङ्क्तिनिविडवनमित्यर्थ' इति तद्वृत्ति । प्रपेदे
प्रपन्नेव । किभूता । मृगनाभि सारङ्गनाभि कस्तूरिका । 'गोरोचनाचन्दनकुटुम्भेणनाभी-
विलेपा पुनरुक्तयन्ती' इति नैषधे । तथा कस्तूरिकानामपि । 'मृगनाभिर्मृगमद
कस्तूरीगन्धवूल्यपि' इति हैम्याम् । तद्वत्सुरभे सुगन्धाया । श्वासवपु परिमलक-
लिताया इत्यर्थ । अमुष्या वर्ण्यमानशासननिर्जरनितम्बिन्या जङ्घयोर्नलकिन्यो-
र्विभूषाभि शोभाभिरव कृताभिस्तिरस्कृताभि । जिताभिरित्यर्थ ॥

जङ्घे यदीये प्रणयन्प्रयत्नात्प्रकाण्डसार पृथिवीरुहाणाम् ।

जग्राह धाता किमभावि तेषु तत स्फुरत्कोटरकूटरन्ध्रै ॥ ३६ ॥

यस्या इमे यदीये देवतासबन्धिन्यौ जङ्घे प्रयत्नात्सादरादेकतानतया वा एकाग्रम-
नसा प्रणयन्कुर्वन् सन् वाता जगत्कर्ता पृथिवीरुहाणा रमणीयसान्द्रद्रुमाणा प्रकाण्डाना
सार सारदलिकपटल जग्राहाददे गृहीतवान् । उत्प्रेक्ष्यते—ततः सारवस्तुग्रहणानन्तरं
तेषु प्रकाण्डेषु तरुस्कन्धेषु स्फुरन्त प्रकटीभवन्तो ये कोटरा निष्कुहा । ‘पोलाडि’
इति लोके प्रसिद्धा । त एव कूट कपट येषा तादृशै रन्ध्रैश्छिद्रैरभावि भूतम् । सजात-
मित्यर्थः ॥ इति जङ्घे ॥

कपोलयुग्मेन मरुद्युवत्या तिरस्कृते दर्पणिके विभूत्या ।

गुप्तं स्थिते जानुनिभादुपेत्य जेतुं द्विषं छिद्रदिदृक्षयेव ॥ ३७ ॥

दर्पणिके आदर्शिके । ‘यन्मतौ विमलदर्पणिकायाम्’ इति नैषधे । उपेत्य । कुत-
श्चिदागत्य गुप्तं छन्नं स्थिते निष्ठित स्म । कस्मात् । जान्वोर्जानुनो रूपवर्णोर्निभादम्भात् ।
अर्थात् तद्देवी वपुष्येवोषिते । उत्प्रेक्ष्यते—द्विषं स्वशात्रव जेतुं पराभवितुं छिद्राणां
वैरिणोरपगुणानां दोषाणां यैर्गवेषितैर्दोषैः स्वद्वेषी सुखं निमेषमात्रान्निहन्त्यते निर्जा-
यते वा । तद्रन्ध्राणां दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छयेव । तथा दोषे ज्ञाते सति शत्रुं सुखेन
पराभूयते इति लोकेऽपि प्रसिद्धिः । तस्मात् किलक्षणे दर्पणिके । मरुद्युवत्या गीर्वाणगृ-
हिण्या । शासनदेव्या इत्यर्थः । कपोलयुग्मेन गल्लयामलेन विभूत्या स्वीयवैभवेन कृत्वा
तिरस्कृते तिरस्कारं न्यक्कारं प्रापिते । पराभूते इत्यर्थः । गुप्तमिति विशेषणात् दृश्यते ।
‘निगूढजाणु-’ इति कल्पसूत्रेऽपि लक्ष्मीवर्णने ॥

आदर्शिकाघानि मिथो मृधेषु यज्जानुना स्पर्धितया स्वकान्त्या ।

ततः किमु प्रापदतुच्छमूर्च्छां न वेद चैतन्यवती किमेषा ॥ ३८ ॥

यज्जानुना यस्या देवताया नलकीलेन स्वस्यात्मनः कान्त्या विभूषया । ‘कान्ति
शोभायामिच्छाया प्रभायामपि’ इत्यनेकार्थः । समं सार्वं स्पर्धितया स्पर्धोद्भावाकभा-
वेन सहर्षित्वेन मिथो मृधेषु परस्परकोवोद्धततया विधीयमानयुद्धेषु आदर्शिका
मुकुरिका लोके मेवातमण्डलादौ यस्या अवो हस्तको न स्यात् पृष्ठे च ग्रहणार्हं
किमप्यङ्कुटकादि भवेत्तस्या अभिवानम् ‘आरसी’ इत्युच्यते । अघानि दृढप्रहा-
रादिभिरानहता । उत्प्रेक्ष्यते—ततः प्रहारादिहेतोरतुच्छामतिघनां बालयितुमशक्या
मूर्च्छा मोहचैतन्याभावः किमु प्रापद्व्यवतीव । एव चेन्न तर्हि एषा आदर्शिका अचैतन्य-
वती चेतनाया भावश्चैतन्यं तद्विद्यते यस्या सा चैतन्यवती न चैतन्यवती अचैतन्य-
वती चेतनाविरहिता किं कथं लक्ष्यते ॥ इति जानू ॥

रम्भास्फुरद्वैभवयत्सुपर्वसारङ्गदृक्क्रेलिनिकेतनस्य ।

अन्तर्वसत्सालसदृक्स्मरस्य स्तम्भौ प्रगल्भौ स्फुरतः किमूरू ॥ ३९ ॥

गुरु अर्थाद्यस्या स स्फुरतः शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—रम्भा नामाप्सरास्तद्वत्स्फुरन्
प्रकटीभवन् दीप्यमानो वा वैभवो वपुः शोभातिशयः तादृशी या सूरिपुरस्तात्स्थायुका

चासौ सुपर्वसारङ्गदृक् च सुरहरिणीनयना शासनदेवी संव केलये क्रीडाकृते अर्था-
न्मनोभवस्यैव यन्निकेतन मन्दिर तस्य स्तम्भौ स्थूणे इव । अन्यदपि रम्भागृह कद-
लीगृह 'केलिहरु' इति वा प्रसिद्धम् । तत्राप्यावारस्तम्भौ भवत । किलक्षणस्य गृहस्य ।
अन्त सौवमध्ये वमन् वाम विदवान् तिष्ठन् । मह अलमदृशा, मन्यरनयनया, स्वगु-
णेनोपमानेन मनोज्ञादिपदेन च विगेषिताङ्गकर्मा श्री यथा तरललोचना । 'अलसेक्षणा
मृगाक्षी' इति हेम्याम् । स्त्रिया रत्या वर्तते य स स्मर कामो यत्र तस्य ॥

यदूरुसृष्ट्यै करिणा करेभ्यो मन्ये मृदुत्वं गृहयांवभूव ।

स्वयं स्वयंभूरिति तेषु नो चेदेकान्तकार्कश्यमिदं कुतस्त्यम् ॥ ४० ॥

यदूरुसृष्ट्यै यस्या देवताया उर्वो स्रग्ध्रो मृष्ट्यै निर्माणाय स्वयभूर्विधाता स्वयमात्मना
नान्यैरत्राहमेव मन्ये जानामि वितर्कयामि करिणा गजेन्द्राणा करेभ्यो हस्तेभ्य । शुण्डा-
दण्डेभ्य इत्यर्थः । मृदुत्वं सकुमारभावम् । सौकुमार्यकलितदलिकसारमित्यर्थः । गृहया-
वभूव गृहीतवान् । 'गृह्णाति गृह्यते लाति' इति ग्रहणार्था क्रिया क्रियाकलापे । 'ज-
न्तादाम्' इति गृहयावभूवेति । एव चेन्न तर्हि तेषु हस्तिहस्तेषु इदं प्रत्यक्षलक्ष्य सर्व-
जनप्रतीतं वा एकान्तेन अतिमात्रं केवलं वा कार्कश्यं त्वचि काठिन्यं कुतस्त्यं कुतो-
भवम् । ततो ज्ञायते सौकुमार्यं गृहीते केवलं कर्कशतैव स्थितवती । 'नागेन्द्रहस्तास्त्वचि
कर्कशत्वात्' इति कुमारसंभवेऽपि ॥

दृष्ट्वा यदूरुद्वितयीं प्रतीपामन्विष्य सहर्षकरीं करेण ।

प्रणश्य भीत्याभ्रमुकामुकः किं दम्भोलिपाणिं शरणीचकार ॥ ४१ ॥

अभ्रमुकामुक ऐरावणगज । 'पयोनिर्लीनाभ्रमुकामुकावलीरदान्' इति नैपवे ।
'ऐरावतो हस्तिमल्लः श्वेतगजोऽभ्रमुप्रियः' इति हेम्यामपि । भीत्या भयेन कृत्वा प्रणश्य
प्रपलाय्य दम्भोलिपाणिं वज्रिण पुरंदर शरणीचकार आश्रितवान्, वज्रपाणित्वेन देव-
दानवमानवैरजेय इति तं वभाज । भीते कारणमाह—किं कृत्वा । करेण स्वकीयशुण्डा-
दण्डेन समं सहर्षकरीं स्पर्शाकारकाम् अत एव प्रतीपां प्रतिपक्षा तथा पुनर्दृष्ट्वा बलिष्ठा
यदूरुद्वितयीं देवीसक्त्रियुगलीमन्विष्य व्यालोक्य ॥

तत्केव वार्ता मम राजहसान्सर्वानसौ यज्जयति स्वगत्या ।

इत्यूरुकाय किमु तावदस्याः कर करीन्द्रो व्यतरन्निदृश्याः ॥ ४२ ॥

असौ देवी स्वगत्या निजगमनेन आन्मीयाभिषेणयेन कृत्वा सर्वान् समस्तानपि ग-
जहसान् प्रकृष्टबलिष्ठभूपालान् तत्त्वतस्तु स्वमन्यरगमनविलासेन कृत्वा राजमरालान्
यत्कारणाजयति स्ववशीकरोति पराभवति च, तत्तस्मात्कारणान् मम पशुमात्रस्य पर-
वशीभूतस्य च कैव वार्तां मज्जयेऽस्या न कश्चिदपि प्रयासः । यतोऽहं करो राजदेया-
शोऽस्यास्तीति करदाता चतुष्पदमात्रं तस्मान्मज्जयमवश्यमेव कथ्येवेति । उत्प्रेक्ष्यते—
इति हेतोः करीन्द्रो गजराजः तावत्प्रथममेवास्यान्निदृश्या जघनेन कथ्या अग्रभागेन

बभासे शुशुभे, मन्ये इत्युत्प्रेक्षायाम् । उत्प्रेक्ष्यते—अथवा• जघनस्थलशोभाविषये अहमेव मन्ये विचारयामि यत्स्वस्यात्मनो विलासवत्या रत्या पत्न्या सह रिरसया रन्तुमिच्छया सुरतादिविविधक्रीडाविलासकरणार्थं सुमन शरेण कुसुमबाणेन मनोभवेन कृतेन देवशक्त्या स्वयं विनिर्मितेन विनोदविधायिना क्रीडानिर्माणसमीहोत्पादकेन जाम्बूनदस्य जात्यकाञ्चनस्य मन्दिरेण सदनेनेव ॥

भस्मीकृतं धूर्जटिनाक्षिलक्ष्मीकृत्य प्रसूनध्वजजीवितेशम् ।

मा हन्तुमामेष इतीव रत्या गुप्तं गृहं यज्जघनं व्यधायि ॥ ४३ ॥

रत्या स्मरपत्न्या यज्जघनं देव्या• कटेरग्रभाग 'पेडू' इति प्रसिद्धं गुप्तं छन्नं परलोचनागोचरं गृहं व्यधायि स्थानं चक्रे । किं कृत्वा । धूर्जटिना शम्भुना भस्मीकृतं निजातिकोपप्रज्वलललाटलोचनानलज्वालावलीभिर्ज्वालितं भस्मावशेषीकृतं प्रसूनध्वजो मदनः । 'प्रद्युम्नं श्रीनन्दनश्च कन्दर्पं पुष्पकेतनः' इति हैम्याम् । 'केतुः पताका केतनं ध्वजः' इति ध्वजनामानि हैम्याम्, यथा पुष्पकेतनस्तथा प्रसूनध्वज इति, स एव जीवितेशः स्वप्राणनाथो भर्ता स्मरस्तमक्ष्णोः स्वनेत्रयोर्लक्ष्यं दृश्यम् । स्वदृग्गोचरमित्यर्थः । कृत्वा । व्यालोकयेत्यर्थः । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोरिव । इति किम् । यदेव धूर्जटिः स्मरशत्रुत्वान्मा स्मरपत्नी मा हन्तु मा व्यापादयतात् ॥ इति जघनम् ॥

तीर्थाधिभर्तुर्मतदेवतायाश्चकास्ति लक्ष्म्याप्रतिमो नितम्बः ।

मोघीकृतेषून्मखजिद्विषन्तं जेतुं धृतं चक्रमिव स्मरेण ॥ ४४ ॥

तीर्थस्य चातुर्वर्ण्यस्य सघस्याधिभर्ता स्वामी नायकं जिनो महावीरस्तस्य यन्मतं शासनं तस्य देवता अधिष्ठायिका देवी तस्या लक्ष्म्या शोभया कृत्वा अप्रतिमं न विद्यते प्रतिमा प्रतिरूपं सदृशं वस्तु यस्य स नितम्बः आरोहः कटीपृष्ठप्रदेशः । 'नितम्बः आरोहो स्त्रीकृत्या पश्चाज्जघनमग्रतः' इति हैम्याम् । चकास्ति शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—मोघीकृता निष्फला विहिता इषवो बाणा येन तादृशो यो मखजित् मखनामा कश्चिद्दानवविशेषस्तस्य जित् जेता एतावता ईश्वरः स एव द्विषन् प्रत्यर्थी तं जेतुं स्मरेण कामेन धृतं धारितमङ्गीकृतं चक्रमायुधविशेष इव । नितम्बस्य चक्रोपमानम् । यथा—'रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे' इति नैषधे । तथा—'पृथुवर्तुलतन्त्रितम्बकुन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिल्पिण्या । विविरेकचक्रचारिणः किमु निमित्सति मान्मयं रयम् ॥' इत्यपि नैषधे ॥

यदङ्गरङ्गन्नवराजधानीनिवासिनः श्रीसुतभूविवोढुः ।

स्फुटीभवत्पुष्परथस्य शङ्के रथाङ्गमेतन्निदशीनितम्बः ॥ ४५ ॥

त्रिदश्याः शासनदेव्या नितम्बो विभातीति सबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—यस्या देवताया अङ्गं शरीरं तदेव रङ्गन्ती जङ्गमा नवा राजधानी स्कन्धावारो मूर्ध्नाभिषिक्तनिवासनगरी तत्र निवसतीत्येवशीलो यः श्रीसुतो लक्ष्मीनन्दनो मदनः स एव भूविवोढा वरणीरत्नणस्तस्य पुष्परथस्य क्रीडाकरणोचितशताङ्गस्य । 'सक्रीडार्थं पुष्परथः' इति हैम्याम् ।

स्फुटीभवत्प्रकट जायमानमेतत्प्रत्यक्ष रथाङ्ग देवीनितम्बतनुचक्रमिव शङ्के इवार्ये । अथ वा अहमेव शङ्के वितर्क कुर्वे । स क । एतन्निदशीनितम्बः एतस्या देव्या आरोहः ॥ इति नितम्बः ॥

एतत्कलत्रस्य हरेः कलत्रजैत्रस्य सौभाग्यमुदीर्यते किम् ।

गाङ्गेयमप्यातनुते स्म काञ्चीनिभान्निजालिङ्गनलालसं यन् ॥ ४६ ॥

हरेः केसरिण कलत्र कटीकट । 'कटि श्रोणि कलत्र कुटीर काञ्चीपद ककुब्जती' इति हैम्याम् । तस्य जैत्रस्य जयनशीलस्य तथा हरे विष्णो कलत्रस्य पत्न्या लक्ष्म्या । जैत्रस्येत्यप्यर्थध्वनि । एतस्या देव्या कलत्रस्य कट्या । एतस्य कस्यापि कलत्रस्य पत्न्या इत्यप्यर्थध्वनि । 'कलत्र श्रोणौ भार्याया दुर्गम्याने च भूभुजाम्' इत्यने-
कार्थः । 'द्वितीयोढा कलत्र च' इति हैम्याम् । सौभाग्य सुभगता मौन्दर्य चातुय वा किमुदीर्यते । किमित्यनिर्वचनीयमाहात्म्य वर्ण्यते इत्यर्थः । यद्यस्मात्कारणाद्गाङ्गेय ग-
ङ्गातनय भीष्मम् । अपिशब्देन ब्रह्मव्रतवारित्वेन सर्वथापि स्त्रीविषयविमुखमपीति लक्ष्यते । अथ च तत्त्वतो गाङ्गेय सुवर्ण काञ्चीनिभान्मेखलाच्छलान्निजस्यात्मन आलि-
ङ्गने परीरम्भणे लालस लोलमौत्सुक्य वा यस्य जातदोहद वा तृष्णातिरेको वा यस्य तादृशमातनुते स्म चकार । 'लालसो लोलयात्रयो । तृष्णातिरेक औत्सुक्ये' इत्यने-
कार्थः । अमरस्तु—'इच्छातिरेकस्तु लालसा' ॥

अस्याः कलत्र हरिजित्वरं यन्मा मा हरि तज्जयताद्वियेति ।

अढौकि काञ्ची कनकस्य तेन शय्याब्धिमुक्तामणिमण्डितेव ॥ ४७ ॥

यन्मास्मात्कारणात् अस्या देव्या हरे पञ्चाननस्य जित्वर जयनशीलम् । अथ च कलत्र पत्नीत्यर्थः । विद्यते तत्तस्मात्कारणात् मा नाम्ना एकाभिधानेन हरि कृष्णमपि मा ज-
यतान्मा पराभवतात् । इति हेतोभिया भयेन हरिणा अर्थात्प्रसत्तये शय्याभूत पर्यङ्क-
भावप्राप्तस्याब्धे समुद्रस्य मुक्तामणिभिर्मुक्ताफलै रत्नैश्च मण्डिता भूषिता कनकस्य स्पर्णस्य काञ्ची मेखलेवाढौकि प्राभृतीकृतेव ॥ इति कटि ॥

उमोपयामे पुनराप्तजन्म शिशुस्मरस्येन्द्रगुरोरुपान्ते ।

अध्येतुकामस्य कलास्त्रिदश्याः पृष्ठस्थलीहाटकपट्टिकेव ॥ ४८ ॥

त्रिदश्या शासनदेवताया पृष्ठस्थली तनोश्चरमप्रदेशः । 'पृष्ठ तु चरम तनो' इति हैमीवचनात् । उमाया पार्वत्या उपयामे पाणिग्रहणकरणानन्तर ममदे हरिविरञ्चि-
शक्राद्यशेषवृन्दारकवृन्दातियाच्चयया प्रसन्नीभूतभूतशतिनिर्मितानुग्रहा पुनर्द्वितीयवारमाप्त लब्ध जन्मोत्पत्तिर्येन अत एवाभिनवोत्पादहेतो शिशोर्बालकस्य स्मरस्य मन्मथस्य हाट-
कस्य जाल्यजाम्बूनदस्य पट्टिकेव हस्तलेखविधानपट्टिकेव । स्मरस्य किं कर्तुं कामस्य 'इन्द्रस्य पुरंदरस्य गुरोराचार्यस्य बृहस्पते । 'इन्द्रो गिरमुदीर्य विदो ज' जो-मान-व विजिगृह-
बभाषे । नात्र चित्रमभिवाकुशलत्वे शशवान्विगुरुर्गुरुरस्य ॥' इति नेपथ्ये । अभिवाकु-

शलत्वेन वचनचातुर्ये' इति तद्वृत्ति । उपान्ते समीपे कलामातृकाधारम्भतो लिखितगणितादिमा शकुनरुतपर्यन्ताद्वा सप्ततिकला मानवप्रसिद्धा । देवानां कलास्तु त एव विदन्ति नास्माकं वाङ्मनोगोचरा अध्येतुकामस्य पठितुमनस ॥

संक्रान्तवेणीग्रथितप्रसूनपङ्क्तिर्वभौ पृष्ठतटे तदीये ।

संवेशनश्रान्तशयालुकामकृतेऽर्कतूली किमु निम्नमध्या ॥ ४९ ॥

तस्या देव्या इदं तदीयं तस्मिन्देवीसबन्धिनि पृष्ठतटे 'वासु' इति लोकप्रसिद्धं नाम वपुः प्रान्तप्रदेशे संक्रान्ता प्रतिबिम्बिता वेण्या कवर्या या ग्रथिता गुम्फिता वेणीग्रथनावसरे मध्ये सदृग्धा प्रसूनानां कुसुमानां पङ्क्तिः श्रेणी बभौ विराजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—संवेशनेन रतिप्रीतिपत्नीभ्यां समं चिरसंभोगेन श्रान्तस्य श्रमं प्राप्तस्यात एव प्रायोभोगिना शय्या कुसुमान्यास्तीर्यन्ते इति रीतिस्थिती । अर्कतूली शयालोर्निद्राशीलस्य कामस्य मदनस्य कृते कार्याय निम्नं गम्भीरं मध्यमन्तरालं शय्यामध्यवर्ती प्रदेशो यस्यास्तादृशी अर्कतूली अर्कतूलपटलोपचिता प्रसूनशयो वा प्रायो भोगिना शय्या कुसुमान्यास्तीर्यन्ते इति रीतिस्थिती । अर्कतूलीनामा काचित् शय्याविशेषो वा ॥ इति पृष्ठदेशः ॥

आवर्तविभ्राजितरङ्गितान्तज्योतिःपयःपूरितनाभिरस्याः ।

समं वशाभ्यां स्मरसिन्धुरस्य स्वैरं रिरंसोः स्फुरतीव शोणः ॥ ५० ॥

अस्यां शासननाकिनायकाया आवर्तेन अमरकाकृतिविशेषेण, पयसा भ्रमेण वा । 'आवर्तं पयस्त्रयं भ्रमः' इति हैमीवचनात् । विभ्राजते शोभते इत्येवशीलं तथा तरङ्गा कल्लोला सजाता अस्मिन्निति तरङ्गितं तादृशमन्तर्मध्यं येषां तादृग्विधानि ज्योतीषि स्वाभाविकरत्नस्फुरत्कान्तयस्तान्येव पयसि सलिलानि तैः पूरिता व्याप्ता नाभिस्तुन्दकूपिका स्फुरति परमा स्फूर्तिमतिलभते । उत्प्रेक्ष्यते—वशाभ्यां रतिप्रीतिनामभार्याभ्यां हस्तिनीभ्यां च । 'वशा नार्या वन्द्यगव्या हस्तिन्या दुहितर्यपि । वेश्याया च' इत्यनेकार्थः । स्वरं स्वेच्छया रिरंसो गन्तुमिच्छो जलक्रीडा कर्तुकामस्य वा स्मरसिन्धुरस्य मदोन्मत्तोद्धतत्वान्मदनदन्तिनं कामरूपमहामृगेन्द्रस्य शोणो हृद इव । हृदेषु करिणः क्रीडन्त्येव ॥

प्रसारिशोचिर्मकरन्दसान्द्रा परिस्फुरत्कामुकदृग्द्विरेफा ।

अनन्यलावण्यजले यदीयनाभिर्वभौ जृम्भितपद्मिनीव ॥ ५१ ॥

अनन्यमसाधारणं यत्लावण्यं शरीरसौन्दर्यं तदेव जलं सलिलं तत्र यस्यास्त्रिदश्या इयं यदीया नाभिस्तुन्दकूपिका जृम्भिता विकसिता या पद्मिनी कमलं तद्वद्बभौ भाति स्म । 'पद्मिनी योषिदन्तरे । अब्जेऽब्जिन्या सरस्या च' इत्यनेकार्थः । किम्भूता । प्रसारि प्रसरणशीलं यत् शोचिर्ज्योतिस्तदेव मकरन्दो मधुरसस्तेन सान्द्रा स्निग्धा । पुनः किम्भूता । परि समन्तात्स्फुरन्तो ये कामुकास्तदभिलाषुकास्तेषां दृशस्त्वदुपरि निक्षिप्तने-

त्राणि । यदुक्तम्—‘मा पिच्छइ पिअवयण जोई पुणनाहि मण्डल तीसे । पुव्वभवन्तर-
नेहो कागाइ चुणन्ति तक्करम् ॥’ इति । ता एव द्विरेफा भ्रमरा यत्र ॥

यदङ्गगेहे निवसन्प्रमूनायुध. सुधाभुक्स्पृहयन्स्ववल्भाम् ।

अचीकरत्कूपमिवामृतस्य विरञ्जिना पूर्तकृतेव नाभिम् ॥ ५२ ॥

प्रसून कुसुममेवायुव प्रहरण यस्य । ‘पुष्पाण्यस्येषुचापान्त्राणि’ इति हेम्याम् । म-
स्मर सुधाभुक् सुधा पीयूष भुनक्ति आहारयति इति सुवाशनो देव स्वस्यात्मनो व-
ल्भामशनमाहार स्पृहयन् काङ्क्षन् मन् । उत्प्रेक्ष्यते—नाभिमर्त्यादेवनातुन्दकूपिका पूर्तकृ-
तेव खनकेनेव विरञ्जिना ब्रह्मणा अमृतस्य पीयूषस्य कूपमचीकरत्कारयति स्म । किं
कुर्वन् । स्मर यदहं यस्या शरीर तदेव गेह सुवर्णसांघ तत्र निवसन्निवास कुर्वन् ॥
इति नाभि ॥

यस्यावलम्बेन विगानितेन पञ्चाननेनानुचिकीर्षयाम्य ।

वैमुख्यभाजा विषयाद्विशेषार्त्तिकं तप्यते भूधरगह्वरान्तः ॥ ५३ ॥

पञ्चाननेन मृगेन्द्रेण भूधरस्य पर्वतस्य गह्वरान्तर्गुहामध्ये । उत्प्रेक्ष्यते—अस्यावलम्बस्य
मर्त्यस्य अनुचिकीर्षया अनुकर्तुमिच्छया तप्यते तप इव क्रियते । किंभूतेन पञ्चाननेन ।
यस्या देवताया वलम्बेन मर्त्यप्रदेशेन विजितेन । पुन किंभूतेन । विशेषाद्विशेषप्रकारेण
विषयात् शब्दादिगोचरात् । ‘सवन्मरेण रतमेति किलक्कवार मिहावली द्विरदशूकरमा-
सभोजी’ इति हेमचन्द्रवचनात् । अथ च विषयाजनपदाच्च विमुख विरक्तेन पराङ्मुखेन
च । प्रायः सिंहादयो हि श्वापदा विजनघनगहनमानुमत्कन्दरनिवासीन एव भवन्ति ॥

तपस्यतः शंभुदिवक्षयाद्विकनिष्ठया स्पृष्टभुव स्मरस्य ।

मध्य पुरो निर्मितनाभिहोमकुण्डा तपोवेदिरिव क्रशिष्टा ॥ ५४ ॥

अर्थसगत्या शासनदेव्या मर्त्य विभातीति सवन्व । उत्प्रेक्ष्यते—शंभुदिवक्षया
स्ववत् शंभोरीश्वरस्यापि दिवक्षया दग्धुमिच्छया भस्मसात्कर्तुं काङ्क्षया तपस्यत तीव्र
तप कुर्वत । यतो घोरतप साधनमन्तरेण निजाभिलषितसिद्धिर्न स्यात् । तपसि
स्थितस्य क्रशिष्टा अतिशयेन कृशा वेदिरिव तप करणव्यतिकरोपवेशनवेदिकेव ।
किंभूता वेदि । पुरोऽग्रभागे निर्मित निष्पादित नाभिरर्त्यादेवतायाम्तुन्दकूपिकैव हो-
मार्थं कुण्ड यस्या । तापसा हि तप साधयन्त सन्त मध्वज्यादि जुह्वति ।
किंभूतस्य स्मरस्य । अङ्घ्रिर्वाचमचरणस्य कनिष्ठया प्रान्ताङ्गुल्या कृत्वा स्पृष्टा आश्लिष्टा
भूर्भूमियेन । ‘भुव यदेकाद्विकनिष्ठया स्पृष्टगन्धवावयमोऽपि कृशस्तपस्विताम’ इति
नैषधे । ‘एतदेव तपस्विना महत्तप । यद्वामचरणकनिष्ठाङ्गुल्यग्रमात्रेण भुव स्पृशस्तप-
स्यति’ इति तद्वृत्तिः । यादृक् शरीरावस्थितिक्षेत्रं तादृगेव स्थानं विलोक्यते तत एव
क्रशिष्टेति ॥

सर्वाङ्गसृष्टिं सृजतस्तदीयां धातुर्विलम्बस्य विधानकाले ।

प्राप्तः क्षयं सारदलस्य कोशोऽल्पीयस्ततोऽभूदिव मध्यमस्याः ॥ ५५ ॥

तस्या इय तदीया सर्वेषा समग्राणामङ्गानामवयवाना सृष्टि रचना निर्माण सृजत कुर्वतो धातुर्जगत्कर्तुर्विलम्बस्यार्थाद्देवीमध्यस्य विधानकाले प्रणयनसमये सारदलस्य प्रकृष्टनिर्माणयोग्यपरमाणुपिण्डस्य कोशो भाण्डागार क्षय क्षीणता स्तोकभाव प्राप्त । उत्प्रेक्ष्यते—ततस्तस्मात्कारणादस्यास्त्रिदश्या मध्यमल्पीय अतिशयेनाल्प कृशतममभूदिव जातम् ॥ इति मध्यम् ॥

यदङ्गयष्टीवहलीभविष्णुरोचिष्णुरोचिश्चयनिर्झरिण्याः ।

प्रादुर्भवन्ती त्रिवलीविलासिकल्लोलमालेव विभाति मध्ये ॥ ५६ ॥

मध्ये अर्थाद्देव्या उदरे विलम्बे त्रिवली त्वक्सकोचलक्षणा त्रित्वसख्यायुक्ता वली त्रिवली । यथा जिनप्रभसूरिकृतकृष्णभनम्रस्तवे—‘त्रिजगती पुनती कविसेविता’ इति । विभाति शोभते । ‘मध्येन सा वेदिविलम्बमध्या वलित्रय चारु बभार बाला’ इति कुमारसभवे । ‘मध्येनोदरेण’ इति तद्वृत्ति । तथा ‘त्रयीमयीभूतवलीविभङ्गा,’ पुन ‘उदर परिभाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसु किमु । वृत्तत्रयचतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभि ॥’ इति नैषधे । उदरे कलित्रिक भवेद्भाग्यवयोषिताम् । उत्प्रेक्ष्यते—यदङ्गयष्ट्या यस्या देव्या अङ्गयष्ट्यास्तनूलताया । ‘अध्याहार स्मरहरशिश्नश्चन्द्रशेषस्य शेषस्याहर्भूय फणसमुचित काययष्टीनिकाय’ इति नैषधे । तत्र वहलीभविष्णुर्नास्त्रभदनशील तथा रोचिष्णु शोभनशीलो यो रोचिश्चय कान्तिनिकर स एव निर्झरिणी नदी तस्या प्रादुर्भवन्ती प्रकटीसजायमाना विलसति परस्परमाश्लिष्यतीत्येवशीला कल्लोलमाला तरङ्गमण्डलीव । अथवा प्रकटीभवन्ती लोचनगोचरत्वमागच्छन्ती तिस्रश्च ता वल्यश्च त्रिवल्यस्त्रिवल्य एव विलसनशीला विराजमानस्वभावा लहरी राजीव ॥

चण्डी सपत्नी प्रबला ममास्ते ज्यायानजो वेदजडः पतिर्मे ।

भर्त्रा वियोगो हरिणा ममापि दुःखं जहीदं तिसृणामपीति ॥ ५७ ॥

वक्तु जगत्कल्पितकल्पवल्लि जहोर्विधेश्चांशुमतः सुताभिः ।

मध्ये समेत्य त्रिवलीच्छलेन प्रसादपात्रीक्रियते किमेषा ॥ ५८ ॥

सुताशब्द त्रिषु स्थानेषु प्रत्येक योजनीय । जहोर्नारायणस्य सुता गङ्गा । ‘तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो’ इति रघौ । पुनर्विधेर्ब्रह्मण सुता सरस्वती । ‘ब्रह्मपुत्री सरस्वती’ इति हैम्याम् । तथा ‘दशमनामब्रह्मण सुता’ इति भारवीस्तोत्रे । च पुनरशुमत सूर्यस्य । ‘स्यत्वेशुपतिरशुमान्’ इति हैम्याम् । सुता पुत्री यमुना । ‘कृतान्तजनक प्रद्योतनस्तापन.’- इति हेमचन्द्रोक्ति । तथा ‘अलभत शमनस्वसु

शिशुत्व दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती' इति नपथे । एतावता गङ्गासरस्वतीयमुनानामन-
दीभि मध्ये उदरे तिमृणा वलीना त्वक्सकोचलक्षणाना अन्तेन कपटेन समेत्य देवी-
पार्श्वे आगत्य । उत्प्रेक्ष्यते—इति वक्तु कथयितुम् । किम् । एषा देवीप्रमत्ते प्रमादस्य
पात्र स्थान क्रियते । याचना मफला तु प्रमादपात्रीकृतादेव प्रभां स्यादतो दया प्रमा-
द्यत इत्यर्थः । इति किम् । मम गङ्गाया प्रवला मिहयानत्वेन वलवती चण्डी अत्यन्त-
कोपना पार्वती सपत्नी वनते । द्वयोरपीश्वरपत्नी-त्वेन सापन्न्यम् । तथा मम सरस्वत्या
पतिर्ज्यायानतिवृद्धः न राजः पशुर्वद्वा, तथा वेदनडोऽज्ञानः । 'य्यनिर्गतामन्दपि-
तामहौ कस्तथा परमेष्ठाजोऽष्टश्रवणः स्वयम्' इति हैम्याम् । किमपि न वेत्ति वेदिकः ।
यत 'न वेदता वेदजडः सवत्कामः' इति नैपथे सरस्वत्या ब्राह्मणस्त्रीत्वम् । तथा
एकादश नाम ब्रह्माणी । इति हेतोर्भमः पतिर्भर्तास्ते । तथा भर्ता प्रियेण हरिणा
कृष्णेन सार्वं मम यमुनाया वियोगो विरहः । 'जम्मन्तरेण विहङ्ग उत्तममहिलाणज
किय पिम्मम् । कालिन्दा कन्हविरहे अज्जवि काल जल वहइ ॥' इति वृत्तरत्नाकरवृ-
त्तिबोधकवचनात् । विद्यते इदमेतत्पूर्वोक्तलक्षणम् । तिमृणामायस्माकमुपिताना प्रणे
प्रदाने कल्पवलि सुरलते जहि निवारय मूलाच्छिन्वि । इति विज्ञपयितुमिव । दुःखम-
सातम् ॥

अध्यारुरुक्षोर्हृदधित्यकाया वपुर्गृहस्य स्मरमेदिनीन्दोः ।

सौवर्णसोपानपरम्परेव मध्ये विरेजे त्रिवली त्रिदश्याः ॥ ५९ ॥

त्रिदश्या शामनदेवताया मध्ये उदरे त्रिवली विरेजे । हृत् हृदयमेव अधित्यकाया-
मुपरितनभूमिका चन्द्रशालिकामध्यारुरुक्षोरध्यारोढुमिच्छो । यद्वपुः यस्या देव्या वपु-
रेव गृह मन्दिर यस्य तादृश स्मर काम स एव मेदिन्या भूमेरिन्दुरालहादकवा-
चन्द्रः । 'कामयेम हि महीमिहिकाशो' इति नैपथे । सौवर्णा सुवर्णसवन्विनी काञ्चनर-
चिता सोपानानामारोहणाना परम्परा श्रेणीव ॥

जगत्रयीस्त्रैणजयार्जितायाः श्वैत्येन कीर्तेरनया विजित्य ।

वन्दीकृता निर्झरिणी सुराणामिव त्रिवेणी त्रिवली चकास्ति ॥ ६० ॥

देव्या इति सवन्वात् । त्रिवली मामसकोचलक्षणा त्रित्वमख्याकलिता वली चकास्ति
दीप्यते । उत्प्रेक्ष्यते—अनया शासनदेवतया कीर्ते स्वकीययशसः श्वैत्येन शुभ्रिमप्रिया
विजित्य पराभूय वन्दीकृता निगृह्य रक्षिता सुराणा निर्झरिणी नदीव गङ्गेव कि निर्झ-
रिणी त्रिवेणी तिस्रो वेण्यः प्रवाहा यस्याः । 'प्रवाह पुनरोद्य स्याद्रेगीधाना रयञ्च स'
इति हैम्याम् । तथा गङ्गायास्त्रिस्रोतस्त्वात् । 'त्रिस्रोता जादवी मन्दाकिनी' इति है-
म्याम् । कीर्तेः किभूतायाः । जगता स्वर्गपातालभूमण्डलानां त्रयी त्रिक तस्याः त्रैणस्य
स्त्रीसमूहस्य सुरामुरनरनागादनागणस्य जयेन निजवैभवभरेण पराभवेनार्जिताया
स्त्रीकृतायाः ॥ इति त्रिवली ॥

स्तनान्तरीपाङ्कवपुःप्रसर्पज्योतिःस्रवन्तीसलिलप्ररूढा ।

लोमावली शैवलवल्लरीव रराज राजीवविलोचनायाः ॥ ६१ ॥

राजीवे कमले तत्तुल्ये विलोचने यस्या कमलचक्षुषो देव्या लोमावली रोमराजी रराज राजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—शैवलवल्लरीव शैवालमञ्जरीव । ‘मुखेन्दुभातस्तनचक्र-
वाकचञ्चुच्युता शैवलवल्लरीव’ इति कुमाग्सभवे । किभूता । स्तनौ कुचावेवान्तरीपे
अन्तर्जले तटे द्वीपौ अङ्गे उत्सङ्गे मध्ये यस्यास्तादृशे वपुषि काये वपुषो देहस्य वा प्रस-
र्पति कल्लोलविलासैरितस्ततः प्रसरति ज्योतिः कान्तिरेव स्रवन्ती नदी तस्या सलिले
पानीये जलमध्ये प्ररूढा समुद्रता । प्रादुर्भूतेत्यर्थः ॥

विनिद्रनीलोत्पलकेसरश्रीः स्वःसुभ्रुवो राजति रोमराजी ।

किं तुङ्गवक्षोजकलिन्दशृङ्गिशृङ्गान्तरोदीतकलिन्दकन्या ॥ ६२ ॥

स्वः सुभ्रुवः सुराङ्गनाया । ‘स्वः स्वर्गिवध्वोऽप्सरसः’ इति हैम्याम् । रोमराजी रो-
मलेखा राजति । किभूता । विनिद्राणि विकसितानि यानि नीलोत्पलानि इन्दीवराणि
तेषामिव श्रीः शोभा सौन्दर्यं यस्या । उत्प्रेक्ष्यते—तुङ्गावत्युच्चौ यौ वक्षोजौ कुचौ ता-
वेव कलिन्दनाम्न शृङ्गाणि शिखराणि सन्ति अस्यास्मिन्वा स शृङ्गी शैलस्तस्य शृङ्गान्तरे
शिखरमध्ये उदीता प्रादुर्भूता कलिन्दकन्या कालिन्दी किं यमुनेव ॥

स्मरद्विपस्यैणमदाभिरामवक्षोजविन्ध्याचलसन्निधाने ।

नाभीहृद्भ्रम्यर्णविभासिनी यल्लोमावली केलिकृते वनीव ॥ ६३ ॥

यल्लोमावली यस्या रोमराजी स्मरद्विपस्य काम एवातिमदोन्मत्तत्वाद्भ्रजः तस्य के-
लिकृते क्रीडाकरणार्थं वनी उद्यानमिव । ‘स्ववनी सप्रवदत्पिकापि का’ इति नैषधे ।
कः स्थाने । एणमदः एणाना मृगाणां मदे क्रीडाविनोदरसैरभिरामः । ‘मदो रसो मध्ये
इमदानयोर्गवे । वीय कस्तूरिकामुदो’ इत्यनेकार्थतिलकः । तत्प्रत्यस्तु कस्तूरिकाविले-
पनाभिरामो यो वक्षोजः स्तनः । एव जलवाल्कलशैलस्तस्य सन्निधाने समीपे । निकटवर्ति-
प्रदेशे इत्यर्थः । किभूता वनी । नाभीरूपो हृदो हृदस्तस्याभ्रम्ये पात्रे विभासते शोभते
इत्येवशीला ॥

निजाक्षिलक्ष्मीहसितैणशावकश्रेण्या व्यभाल्लोमलता त्रिदश्याः ।

मध्यं कृशं वर्धयितुं किमस्या वयःश्रिया नीलमदायि सूत्रम् ॥ ६४ ॥

निजस्यात्मनोऽक्षिलक्ष्म्या नेत्रवैभवेन हसिता अवहेलिता एणाना सारङ्गाणां शावकानां
बालकानां श्रेणी वोरणी यया तादृश्या त्रिदश्या शासनदेवताया लोमान्येव रोमाण्येव
सरललताकारत्वाल्लतेव व्यभाद्भासे । उत्प्रेक्ष्यते—अस्या देव्या कृशः क्षामः परमाणु-
परिमाणत्वात् । ‘अध्यापयामः परमाणुमध्या’ इति नैषधे । मध्यमुदरं वर्धयितुं किञ्चि-
दुपचयगोचरीकर्तुं वयःश्रिया यौवनलक्ष्म्या । वयःशब्देनात्र तारुण्यमेव लक्ष्यते ।

यथा नैषधे—‘उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भित नवोपहारेण वय कृतेन किम्’ । ‘यौवनेन कृतेन नवीनोपयानेन स्तनकलशद्वन्द्वेन’ इति तद्वृत्तिः । नील नीलवर्ण सूत्रमशायि । दवरिकेव दत्ता ‘दोरी’ इति प्रसिद्धा । य पदायां वर्धयितुं काङ्क्षते तत्र प्रथमं दवरिकासूत्रं दीयते इति सूत्रकृच्छिन्पे प्रसिद्धम् ॥ इति रोमराजी ॥

यस्याः स्तनौ संस्फुरत सचित्तनिवामिमीनाङ्गमहीधनस्य ।

विलासवत्योरिव शातकुम्भासदृब्धलीलालयतुङ्गशृङ्गौ ॥ ६५ ॥

यस्याः अमर्त्यायाः स्तनौ पयोवरा संस्फुरतः विलमतः । उपप्रेक्ष्यते—चित्ते अर्था-
द्देवीहृदये निवसनशीलस्य मीनो मन्मथोऽदृष्ट्विदं यस्य स मकरध्वजः स्फुरति । ‘निपवव-
सुवामाजाङ्गस्य प्रियाङ्गमुपेयुषः’ इति नैषधे । स एव मही भूमिरेव वनस्य एतावता
राजा तस्य मदननृपस्य विलासवत्यो रतिप्रीतिनाम्न्योर्निर्मितम्बिन्यो शातकुम्भेन मुवणेन
सदृब्धौ निर्मितौ घटितौ वा । हिरण्यमयावित्यर्थः । लीलालययोः क्रीडामन्दिरयोस्तुद्भाव-
त्युन्नतौ शृङ्गौ शिखरे इव । ‘नखयुगमविकाटं सयुगं पद्मरागो भगयुगमघटगोद्योग-
श्च निदाघः’ इति लिङ्गानुशासने पुनपुसकलिङ्गे ॥

तन्निर्वृतेः स्थानमुरोजयुग्मं जागर्ति गीर्वाणमृगीदृशोऽस्याः ।

प्रोद्यन्महानन्दरसा यदस्मिन्मुक्ता दृशो नोपनमन्ति भूयः ॥ ६६ ॥

तत्तस्मात्कारणादस्या गीर्वाणमृगीदृशः शासनदेवताया उरोजयुग्मं वक्षोजन्मद्वन्द्वं
स्तनद्वयं निर्वृतेर्मोक्षस्य मुखस्य च स्थानं पदं जागर्ति विद्यते । ‘नत्तायामस्त्यास्ते जा-
गर्ति च विद्यते’ इति क्रियाकलापे सत्तार्था क्रिया । प्रकटीभवति वा । यद्यस्मात्कार-
णात् अस्मिन् देव्या उरोजयुग्मं पयोवद्वन्द्वं मुक्ता मोक्षप्राप्ता समारकारागारादिति ।
सकलकर्मक्षयान्मुक्तात्मता गता । कामुकैः रागातिगयान्मुक्ताः प्रेषिता निक्षिप्ता वा ।
दृशो दृष्टयः प्रोद्यन्प्रकटीभवन्महानतिशायि आनन्दस्याश्रयत्वादानन्दः प्रमोदः सजाय-
मानोत्कृष्टानन्दस्तस्य तत्र वा यो रसः आस्वादो रागो वा यासां तादृश्यं सत्यं भूयः
पश्चान्न उपनमन्त्यागच्छन्ति । तत्रैव स्थितास्तिष्ठन्ति । मुक्तात्मानः कामुकदृष्टयश्च
सर्वथापि पश्चान्नायान्त्येवेत्यर्थः ॥

मित्रे गतेऽस्तं वियुनक्ति राजनरात्रिः कलत्रं तव नः कुलानि ।

इतीव दुःखं गदितुं प्रपन्नौ यद्वक्त्रचन्द्रं किमु चक्रवाकौ ॥ ६७ ॥

कुचावेव चक्रवाकौ स्तनरूपौ वा रथाद्विहगमा यद्वक्त्रं यस्यास्त्रिदश्या वक्त्रं वदनमेव
आननरूपं वा चन्द्रं द्विजपतिः प्रपन्नौ समाश्रितौ । ‘त्वामेव वीततमसः परवादिनोऽपि
नूनं विभो हरिहरादिविया प्रपन्नाः’ इति कल्याणमन्दिरस्तवने । उपप्रेक्ष्यते—इत्यमुना
प्रकारेण दुःखं स्वकीयातीवासात् गदितुं कथयितुमिव । इति किम् । यत् हे राजन् हे
कुवलयबान्धव हे मन्थमभुवनजनाढ्यादक, मित्रे अर्यादस्माकं सुहृदि बान्धवे च भा-
स्करे अस्तं क्षयं द्वीपान्तरं वा तेजोवसाने । ‘व्रजति द्वीपान्तरमहर्मणि’ इति सूक्तमु-

क्ताकलापे । तव भवत कलत्र कामिनी यामिनी न अस्माक कुलानि गोत्राणि वशान्
वियुनक्ति वियोजयति । परस्पर वियोग प्रापयति । यदुक्तम्—‘उत्कूजति श्वसिति मु-
ह्यति याति तीर तीरात्तरु तरुतलात्पुनरेति वापीम् । वाप्या न तिष्ठति न वाति
मृणालखण्ड चक्र क्षपासु विरहे खलु चक्रवाक्या ॥ कवलितमिह नाल कन्दल
त्वेह दृष्टमिह हि कमलकोशे पीतमम्भ सुशीतम् । इति विरटति रात्रौ पर्यटन्ती तटान्ते
सहचरपरिमुक्ता चक्रवाकी वराकी ॥’ इति परस्परचक्रवाकदम्पत्योर्विरह ॥

प्रोत्तुङ्गपीनस्तनवैभवेन ययाभिभूतौ सुरकुम्भिकुम्भौ ।

ऊहे सहेते श्रियमाप्नुमेतत्साधारणीमङ्कुशकीलनानि ॥ ६८ ॥

सुराणा देवाना कुम्भी हस्ती ऐरावणस्तस्य कुम्भौ शिरस पिण्डौ अङ्कुशस्य निशिताङ्कु-
शस्य कीलनानि ताडनानि प्रहारान् सहेते क्षाम्यत । तत्राहमूहे तर्कयामि । किं कुम्भौ
प्रोत्तुङ्गौ अत्युन्नतौ तथा पीनौ पुष्टौ उपचय प्राप्तौ यौ स्तनौ स्वस्या कुचौ तयोर्वैभवेन
शोभया कृत्वा यया देव्या अभिभूतौ पराभव प्रापितौ । उत्प्रेक्ष्यते—एतत्साधारणीम्
एतयोर्देवीस्तनयो एताभ्यां वा साधारणी सदृशीम् । ‘तुल्य समान सदृक्ष सरूप
सदृश सम । साधारणसवर्माणौ सवर्ण सनिभ सदृक्’ इति हैम्या तुल्यनामानि ।
तथा ‘साधारणी गिरमुपर्व्वनैपवाभ्याम्’ इति नैपधे । श्रिय लक्ष्मी प्राप्नुमधिगन्तुमिव ॥

प्रसूनमालाभिरलंकृताभ्यां स्वःसुभ्रुवोऽभासि पयोधराभ्याम् ।

प्रस्थातुकामस्य जगज्जयाय श्रेयो निपाभ्यामिव मीनकेतोः ॥ ६९ ॥

स्व-सुभ्रुव शासनदेवताया पयोधराभ्यां स्तनाभ्यामभासि शुशुभे । भावोक्तिरि-
यम् । भावस्यैकवादेकवचनमेव । किं नूताभ्यां पयोधराभ्याम् । प्रसूनाना विकचपञ्च-
वर्णकुसुमाना मालाभिर्विचित्ररचनाग्रयितमाल्येर्हारैरलंकृताभ्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—जगज्ज-
याय जगता तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशाज्जगन्नाना सुरासुरनागनागराणां जयाय स्ववशीकर-
णार्थं स्वाज्ञैकवशवदविधानाय प्रस्थातुकामस्य प्रस्थानं कर्तुं कामयमानस्य अवलिन्मनो-
राजवानीतं प्रतिष्ठासमानस्य मीनकेतोर्मकरध्वजस्य यात्रीपते श्रेयर्थं मङ्गलकृते नि-
पाभ्यां कुम्भाभ्यामिव । ‘युक्तं हि पार्थिवनिपस्य सतस्तवैव’ इति कल्याणमन्दिरस्तवे ।
तथा ‘घट कुम्भ करीरश्च कलश कलसो निप’ इति हैम्याम् ॥

कुम्भीन्द्रकुम्भौ कुचभूयमूहेऽनुभूय यस्यां सुखिनावभूताम् ।

सुव्यक्तमुक्ताफलमालिकानां सौभाग्यमाभ्यामिह लभ्यते यत् ॥ ७० ॥

कुम्भीन्द्रस्य गजराजस्य कुम्भौ शिर पिण्डौ यस्यां देव्या कुचभूय विश्वसृजो विश्व-
विधानव्यापारपारवश्यात्स्तनभावमनुभूय संप्राप्य । ‘स्वदेवभूय चरितार्थमस्तु’ इति नै-
पधे । तथा ‘भुवो भावे’ इति क्यप् । ‘ब्रह्मभूय गत ब्रह्मभाव प्राप्त’ इति सारस्वत-
व्याकरणे । सुखिनः सातवन्तः । यद्यस्मात्कारणात् । सु अनिशयेन व्यक्तानां प्रकटानां

जगन्नयननिपेयाना मुक्ताफलानामामलकमानमौक्तिकाना श्रेणीना स्रजा हाराणा च आभ्यां कुम्भिकुम्भाभ्या सौभाग्य सुषमा सौन्दर्यं लभ्यते प्राप्यते । स्वभावेन तु तयोर्मध्ये मुक्ता गुप्ता , न लोचनगोचरा सन्ति । यतो मद्रजातित्वेन तयोस्तेषामुत्पादात् ॥

प्रसूनतारावलिशालितायां वेणीतमायामुदिते मुखेन्दौ ।

यन्माद्यतस्तत्कुचचक्रवाकौ श्रीसूनुसौराज्यविजृम्भितं तत् ॥ ७१ ॥

प्रसूनानि मालतीकुन्दादिकुसुमानि एव त्रैव्यात्तारास्तारकास्तेषामावलि परम्परा तथा शालिताया शोभिताया देव्या शासनदेवताया वेणीकवरी सैव तमा रात्रि । ‘त्रियामा यामिनी भौती तमी तमा विभावरी’ इति ह्रैम्याम् । तस्या निशाया मुखेन्दौ देवीवदनचन्द्रे उदिते उदय प्राप्ते सति यत्तस्या कुचौ स्तनावेव चक्रवाकौ रथाङ्गविहगमौ माद्यत मद लभेते । यतस्तयोस्तमाया वियोग एव स्यान्न सयोग । त विरहमपास्य नक्तदिन सयुक्तो सन्तौ परस्परेण प्रमुदितमनसौ यन्माद्यतस्तत्राहमेवममुना प्रकारेण मन्ये जाने विचारयामि । तत् श्रीसूनुर्लक्ष्मीनन्दनस्य मदनराजस्य सुशोभनराजताया सौराज्यस्य विजृम्भित विलसितम् । यदा सुराज्य स्यात्तदा केपामपि दुःखातङ्को न स्यादेवेति ॥

पत्रावलीव्याजवती यदीयवक्षोजदम्भर्षभनामकूपे ।

विजित्य विश्वं विजयप्रशस्तिर्लिपीकृता श्रीसुतचक्रिणेव ॥ ७२ ॥

विश्व सचराचर जगद्विजित्य निजाज्ञापालनपर प्रणीय श्रीसुत कामनामा चक्री-सार्वभौम तेन । उत्प्रेक्ष्यते—यदीयो यस्या देव्या अत्र देवीसबन्धी यो वक्षोज स्तन स एव दम्भः कपट यस्य तादृशे ऋगभनामकूटे क्षुल्लहिमवद्गिरिनिकटवर्तिनि पट्खण्डविजयविधायिनश्चक्रवर्तिन स्वनामलिखनस्थाने जिनशासनप्रसिद्धे । ऋगभकूटनामशैलशिलायामित्यर्थः । पत्रावली पत्रवल्ली स्तनतटे चान्दनद्रवो विविवरचनाविशेष । यथा हेमाचार्यकृतकर्णराजवर्णने—‘मुखे हारावाप्तिर्नयनयुगले कङ्कणभरो नितम्बे पत्राली सतिलकमभूत्पाणियुगलम्’ इति । यथा पत्राली अपि सैव व्याज कपट विद्यते यस्यास्तादृशी विजयप्रशस्तिरिव लिपीकृता लिखिता । यन्मया सचराचरमपि त्रैलोक्य स्वभुजवीर्यवैभवेन विजित्य मच्छासनवगवद व्यवायि । इत्यहकारसूचकाक्षरमालिका लिखितेव स्वयम् । ‘अविरलमिदमम्भ रवेच्छयोच्छालयन्त्या विकचकमलकान्तोत्तोनहस्तद्वयेन । परिकलित इवार्थं कामबाणातियिभ्य न लेतमिव वितीर्ण बाल्यलीलामुखाय ॥’ इति चम्पूकथायाम् । एवमेका केवलेवोत्प्रेक्षा दृश्यते तस्मात्केवलोत्प्रेक्षा युक्तिमती चम्पूक्तेरानयनेनेति न कश्चिदोषः ॥ इति स्तनौ ॥

यथा स्ववक्षोरुहयोर्जितेन तुङ्गश्रिया रोहणभूधरेण ।

दत्तानि दण्डे किमुदात्तलक्ष्मीपुष्पाणि पाण्योर्नखरच्छलेन ॥ ७३ ॥

यया देव्या स्वयोरात्मीययोर्वक्षोरुहयोरुरोजन्मनो स्तनयोस्तुङ्गश्रिया उच्चत्वलक्ष्म्या जितेनाभिभूतेन रोहणभूवरेण रत्नाचलेन पाण्योर्हस्तयोर्नखराणां कामाङ्कुशानां छलेन कपटेन । उत्प्रेक्ष्यते—उदात्तानि महाध्याणि । ‘उदात्तनायकोपेता’ इति चम्पूक-
आयाम् । तथा ‘उदात्तो महात्मा महाधर्यश्च नायको वृत्तस्वामी मध्यमणिश्च तेनोपेता युक्ता’ इति तट्टिपणके । लक्ष्मीपुष्पाणि पद्मरागमणय दण्डे विजयावसाने दण्डकर-
णसमये दत्तानि किं विश्राणितानीव । तथा—‘अष्टौ हाटककोटयस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुला पञ्चाशन्मदगन्धलुब्धमधुपक्रोवोद्धुरा सिन्धुरा । अश्वानामयुत मरुद्युवतिजिह्वा-
राङ्गनाना शत दण्डे पाण्ड्यनृपेण ढौकितमिदं वैतालिकस्यापितम् ॥’ इति विक्रमार्कदान-
पत्रे । अत्रापि ढौकितमग्रे दत्तमुक्तम् ॥

स्वयं विनिर्मापयितुं जयं स्वशोभापराभावुकयन्नखानाम् ।

राजानमभ्यर्थयते स्वकान्तमुपान्तयाता किमु तारकाली ॥ ७४ ॥

उपान्तयाता समीपे समेता तारकाली ताराश्रेणी । उत्प्रेक्ष्यते—स्वकान्तं निजम-
र्तारं राजानं चन्द्रभूपतिं च किमु अभ्यर्थयते याचतीव । किं कर्तुम् । स्वस्यां शो-
भायां वैभवस्य पराभावुकानां पराभवनशीलानां यस्यां देव्यां नखानां कामाङ्कुशानां
निजेनात्मनैव पराभवनिर्मापयितुं कारयितुं हे राजन् त्वं तथास्माकं साहाय्यं कुरु
यया वयं स्वयं वैरिणो जयाम । ‘नखानामुपमानानि रत्नताराप्रसूनानि’ इत्यादि का-
व्यकल्पलतायाम् ॥ इति पाणिनखा ॥

प्रसूनधन्वा निजदेहदाहे निध्याय दग्धान्विशिखानशेषान् ।

कामाङ्कुशाली कुरुविन्दपुङ्खान्यदङ्गुलीस्तानथ किं चकार ॥ ७५ ॥

प्रसूनधन्वा कुसुमकोदण्डः अथ पश्चात्पुनर्वा यदङ्गुलीर्यस्यां करशाखा एव तान्विशि-
खान् । किम् । उत्प्रेक्ष्यते—चकार कृतवानिव । ‘प्रसूनधन्वा शरसात्करोति माम्’ इति
नेपथे । किंभूतान् तान् । कामाङ्कुशानां नखानामाली श्रेणी एव कुरुविन्दस्य हिङ्गुलस्य
पुङ्खा । अथ वा कुरुविन्दमणिमया पुङ्खा वाणपश्चात्प्रदेशा येषाम् । चित्ते कुरुष्व कुरु-
विन्दसकान्तदन्ति’ इति नैषधे । ‘पद्मरागमणिसमानकान्तिकादन्ति’ इति तट्टिः ।
किं कृत्वा । निजस्यात्मनो देहस्य दाहे स्वशरीरस्य भस्मीभवनसमये अशेषान् समस्ता-
न्पश्चापि विशिखान्वाणान् दग्धान् ज्वलितान् निवाय दृष्ट्वा पश्यति विभावयत्यपि ।
‘विलोकते वीक्षते गवेपयति निध्यायत्यन्विषति’ इति क्रियाकलापे ॥

वने स्वमुद्वध्य शिखासु भूमीरुहा तपोऽतप्यत यन्निरन्नम् ।

यदङ्गुलीभूयमिव प्रवालैः पचेलिमैस्तैः सुकृतैरवापे ॥ ७६ ॥

वने कानने निकुञ्जमध्ये भूमीरुहा तरूणां शिखासु शाखासु स्वमात्मानमुद्वध्य ऊर्ध्वं
बद्ध्वा प्रवालैः पल्लवैः यन्निरन्नं निराहारतपः कष्टमतप्यत तप्तमाचरितम् । उत्प्रेक्ष्यते—
पचेलिमैः परिपाकं प्राप्तैरुदयावलिकायामागतैस्तपोजनितैः सुकृतैः पुण्यैः कृत्वा य-

दङ्गुलीभूय देवीकरशाखाभाव इवापे प्राप्त । द्रुमप्रवालीस्तीव्र तपस्तप्त्वा यदङ्गुलीवभूव
इत्यर्थः ॥

सुपर्वपारिप्लवलोचनायाः श्रियं दधौ धौरणिङ्गुलीनाम् ।

विजृम्भमाणारुणपाणिपङ्केरुहे प्ररूढा दलमालिकेव ॥ ७७ ॥

सुवाशनस्य पारिप्लवलोचना चञ्चलाक्षी । ‘चञ्चल चपल लोल चल पारिप्लवास्थिरे’
इति हैम्याम् । तस्या अङ्गुलीना करशाखाना धौरणि श्रेणी श्रिय शोभा दधौ श्रयते
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विजृम्भमाण दिवाकरकरनिकरसपर्काद्विकाशमाश्रयमाण निनिंद्रीभ-
वत्तया अरुण रक्त यत्पाणिरेव पङ्केरुह करकोकनद तत्र प्रन्ढोद्गता दलमालिकेव पा-
टलिमशालिनी पत्रपङ्क्तिरिव ॥ इति कराङ्गुल्यः ॥

अजय्ययत्पाणिपयोरुहाभ्या सहामहवे संस्रवदस्रपूरैः ।

शोणीभवद्भिः कमलैरवापेऽरुणाम्बुजख्यातिरिव क्षमायाम् ॥ ७८ ॥

अजय्ये केनापि प्रतिपक्षेन पक्षलक्षवैभवाभ्या जेतुमशक्ये यस्या देव्या पाणिपयो-
रुहे करकमले ताभ्या सह सार्वमाहवे महासग्रामे क्रियमाणे रुति स्रवन्त प्रत्यर्थिप्रग-
ल्भप्रहरणप्रहारैः शरीरेभ्यो नि सरन्तो येऽस्त्राणा रुविराणा पूरा प्रवाहास्तैः कृत्वा शो-
णीभवद्भिः सर्वाङ्गेष्वपि शोणमयैरिव जायमाने रक्तता प्राप्नुवद्भिश्च कमलैः । उत्प्रेक्ष्यते—
एतानि सर्वाणि अरुणाम्बुजानीति ख्याति कोकनदानीति प्रसिद्धिरवापे प्राप्तेव ॥

आवालमुद्यद्वलयः शिखाश्चाङ्गुल्यः पुनर्यत्र नखाः सुमानि ।

ज्योतिर्मरन्दानि करद्रुमोऽस्या यूना मनोभृङ्गगणं धिनोति ॥ ७९ ॥

अस्या देव्या । यत्तदोर्नित्यसवन्धादसतोरपि यत्तदोर्मये एको गृह्यते । स प्रसिद्धो
जिनभक्ताना सिद्धिविधायी कर पाणि स एव द्रुमस्तरु कर्ता । यूना तरुणजनाना
मनामि चित्तानि एव भृङ्गा भ्रमरास्तेषा गणं धिनोति प्रीणयति । ‘विवि प्रीणने’
इदित्वानुम् । ‘विन्विकृण्वोरश्च’ आभ्यामुप्रत्यय स्यादकारान्तादेशश्च स्यात्कर्तरि सार्व-
वातुके । उप्रत्ययस्याशित्वादलोपः । अलोपस्य स्थानिवत्त्वान्नोपधागुणः । धिनोतीति
सिद्धम् । यत्र करद्रुमे उद्यन्प्रकटीभवन्दीप्यमानो वा वलयः कटकः । ‘पूजाजन्यत्रमय-
समया राजसूयो हिरण्यारण्ये सख्य मलयवलयो वाजपेय कपायः’ इति लिङ्गानुशा-
सने पुक्लीबलिङ्गे । आवाल स्थानकम् । च पुनर्यत्र पाणिपादपे अङ्गुल्यः करशाखा
एव शिखा शाखा । पुनर्यत्र ज्योतीष्येव नि परत्क्रान्तय एव मरन्दा मयूनि येषु
तादृशानि नखा कामाङ्कुशा एव सुमानि पुष्पाणि वर्तन्ते ॥ इति पाणिः ॥

मृणालिकाभिर्जलदुर्गभाग्भिरपि स्वजैत्री प्रविभाव्य वाहाम् ।

स्वसूनुपद्मं ग्रहितं किमेतदुपास्तये पाणिरराजदस्या ॥ ८० ॥

अस्या देवताया पाणि कर अराजत् दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—जल पानीयमेव

दु खेन गम्यते तीर्यते ग्रहीतु शक्यते इति वा दुर्ग अगावि नीर कौटो वा, त भज-
न्त्याश्रयन्तीत्येवविवाभिरपि जलदुर्गस्थिताभिरेभि मृणालिकाभि कमलनालै स्वासा-
मात्मना जैत्री जयनशीलाम् अस्या शासनदेव्या वाहा भुजा प्रविभाव्य समीक्ष्य
स्वसूनुर्निजाङ्गजन्मा पद्म कमलमेतस्यास्त्रिदश्या जैत्र्या उपास्तये सेवाकरणार्थं प्रहित-
किमु प्रेषित इव । यो येन जीयते स स्वयं सूनुना वा तमुपास्ते इति रीति ॥

इयं मृणाली जडसङ्गमौज्ज्वल्य निजाङ्गजेनानुगताम्बुजेन ।

एत्याश्रिता किं विबुधाम्बुजाक्षी यदोर्लताशालिशया व्यलासीत् ॥८१॥

यस्या देव्या दोर्लता बाहुवल्ली व्यलासीद्विलसति स्म । किभूता । शालिशया शालन-
शील शोभाकलित शय. पाणिर्यस्या । उत्प्रेक्ष्यते—जडाना मूर्खाणा डलयोरैवया-
जलाना पानीयाना सङ्ग सहवास चिरकालावस्थितिम् औज्ज्वल्य सत्यज्य निजेनात्मीयेना-
ङ्गजेन नन्दनेन स्वस्मिन्नुत्पन्नत्वादम्बुजेन जलजन्मना पद्मेन अनुगता सहिता इयमेषा
प्रत्यक्षा बाहुदेहा मृणाली कमलनालम् । मृणालशब्दस्त्रिलिङ्ग । ‘कुवलयमृणालमण्डला’
इति लिङ्गानुशासने स्वतस्त्रिलिङ्गे । एत्यागस्य विबुधा सर्वचातुर्यकलाकलिता विदुषीम-
म्बुजाक्षी कमललोचना स्त्रिय सुराङ्गना चाश्रिता किं निषेवितवतीव ॥

बभौ भुजाभ्यां मखभुङ्मृगाक्षी दग्धायुधस्येव कृते स्मरस्य ।

रसालवल्लीमयकार्मुकाभ्यामभ्यर्थनादात्मभुवा कृताभ्याम् ॥ ८२ ॥

मख यज्ञ भुनक्तीति मखभुक् देव । ‘स्वाहास्ववाक्रतुसुवाभुज आदितेया’ इति
हैम्याम् । ‘मखाशभाजा प्रथमो निगद्यसे’ इति रघौ । ‘मुख मखास्वादविदाम्’ इति नै-
षधे । तस्य मृगाक्षी हरिणेक्षणा प्रिया शासनदेवी भुजाभ्यां बाहुभ्यां कृत्वा बभौ भाति
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—दग्धानि ज्वलितानि आयुवानि समग्रशस्त्राणि यस्य तादृशस्य स्म-
रस्य कामस्य कृतेऽर्थमभ्यर्थनादर्थान्मदनातिथिविहितबहुयाचनात् आत्मभुवा विधात्रा
कृताभ्यां निर्मिताभ्यां रसालवल्लीमयाभ्यामिश्रुलतारूपाभ्यां कार्मुकाभ्यां क्रोदण्डाभ्या-
मिव । ‘पुष्पा पञ्चशर शरासनमपि ज्याग्रन्मिक्षोर्लता जेतव्य जनता त्रय प्रतिदिन
जेताप्यनङ्ग किल’ इति चम्पूकयायाम् । तथा ‘इक्षु स्याद्रसालोऽसिपत्रक’ इति
हैम्याम् । तथा ‘रसाल इक्षौ चूते च’ इत्यनेकार्थः । अथ वा रसालवल्लीमयाभ्यामाम्र-
लताप्रवानाभ्यां चाणभ्यामिव ॥

समुच्चरच्चन्द्ररुचीचयाम्भा पार्श्वद्वयोद्भूतभुजा मृणाली ।

जम्बूनदीवोच्चकुचान्तरीपा या भाति दृग्भृङ्गमुखारविन्दा ॥ ८३ ॥

या शासनसुरी जम्बूनदीव भाति । किभूता । समुच्चरन्तीना प्रादुर्भवन्तीना चन्द्रसा-
न्द्राणा सुवर्णसदृशीना हेमरूपाणा वा रुचीना कान्तीनाम् । ‘वरुणगृहिणीमाशामासाद-
यन्तममु रुची निचयसि च याशाशभ्रशक्रमेण निरशुकम्’ इति नैषधे । चय समूह
स एवाम्भो नीर यस्या वपुषः काञ्चनवर्णत्वात्तद्वृच्योऽपि तादृग्वर्णा स्युः । पुनः कि-

भूता । पार्श्वद्वयमुभयतटयुगल समीपद्वन्द्व वा । 'कक्षाध प्रदेशद्वितय पार्श्वमन्तिके । कक्षाधोऽवयवे वक्रोपायपर्शुसमूहयोः ॥' इत्यनेकार्थः । तत्रोद्भूतौ उद्भूतौ भुजारूपौ बाहु-
मूर्त्यौ मृणाल्यौ कमलनाले यस्याम् । 'शुद्धोऽथलिङ्गभुजशाटसटा सृपाट' इति लिङ्गानु-
शासने । भुजः । भुजाशब्दः पुस्त्रीलिङ्गयोः । पुनः किंभूता । उच्चावुन्नतौ कृचावेवान्तरीपे
अन्तर्जले तटे यस्याम् । पुनः किंभूता । दशावेव भृङ्गौ पटचरणौ यत्र तादृश मुख
वदनमेवारविन्द कमल यस्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—जम्बूनदीव ॥ इति भुजा ॥

भुजान्तरानुत्तरराजधान्या अभ्यर्णभूमौ रतिजानिभर्तुः ।

किमु स्फुरच्चन्दनचारिमश्रीक्रीडाद्रिकूटौ लसतस्तदंसौ ॥ ८४ ॥

तस्या देव्या असौ स्कन्वौ लसतः शोभा लभेते । उत्प्रेक्ष्यते—रतिरेव जाया यस्य
स रतिजानिः कदर्पदेवः स एव भर्ता त्रिभुवनविभर्ताति सुरासुरोरगनराणां तदाजाव-
शवदीभूतत्वेन । अथ वा हास्यविविविनोदविलाससयोगभोगादिभिर्जगज्जनान्विभर्ति
पुष्पातीति । 'डुभृज् वारणपोषणयोः' अथ वातु । ततः स्वामी श्रीनन्दनरा-
जाविराजस्तस्य स्फुरन्ती परमोत्कर्षमुद्वहन्ती चन्दनस्य मलयद्रुमद्रवस्य गोशीर्षशा-
खिनो वा पत्रवल्लीविचित्रचित्ररचनाविलेपनादे सुरभिपर्णश्रेणिपरिमलादेर्वा चन्दनतरौ
पुष्पफलानामसम्भवः । यदुक्तम्—'यद्यपि चन्दनविटपी विविना फलपुष्पवर्जिता वि-
हितः । निजवपुषैव परेषा तथापि सतापमपनयति ॥' इति वचनात्पत्राणां सम्भवो
दृश्यते । तथा चम्पूकथायाम्—'नागरुचिताश्चन्दनपत्रभङ्गा भवद्वैरिवधूवदनेवनेव' ।
'किलक्षणे नागरुणा काकतुण्डेन चिता व्याप्ता सहिताश्चन्दनद्रवस्य पत्रवलयो भान्ति । तथा
नागानां भुजगमानां रुचिता ईप्सिता चन्दनद्रुमाणां पत्राणां पर्णानां भङ्गा शकलानि भान्ति'
इति चम्पूटिप्पणकम् । चारिमाया सुगन्विताया श्री शोभा ययो तादृशौ क्रीडाद्रेः केलि-
शैलस्य कूटौ शिखरे इव कूटे इव । कुत्र । भुजान्तरः देवीहृदयतदेवानुत्तरा न विद्येते
वैशिष्येण लक्ष्म्या वा उत्तरः अग्रेतनवर्ता पदायो यस्या सासाधारणा राजधानी स्वर-
राजनिवसनस्थाननगर तस्या अभ्यर्णभूमौ समीपप्रदेशे । राजवान्याः सनिवौ क्रीडा-
वननदीवापीपर्वतादयो भवन्ति । तत्र प्रियासखा नृपादयः स्वैर क्रीडन्तीति रीतिः ॥

स्व सुभ्रुवः प्रेक्ष्य पयोधरौ स्वसंस्पर्धिनौ तुङ्गिमविभ्रमेण ।

जयाय तद्युद्धविधित्सयेव कुम्भौ समेतौ स्फुरतस्तदंसौ ॥ ८५ ॥

स्व सुभ्रुवः सुराङ्गनायास्तस्या असौ स्कन्वौ स्फुरतः । उत्प्रेक्ष्यते—जयाय प्रतिप-
क्षपराभवकृते स्वयं तद्युद्धविधित्सया ताभ्यां स्तनाभ्यां सार्वं युद्धस्य सग्रामस्य विवि-
त्सया चिकीर्षया विधातुमिच्छया समेतावागतौ कुम्भौ कलशाविव । किं कृत्वा । तुङ्गिमः
उच्चताया विभ्रमेण लक्ष्म्या कृत्वा स्वाभ्यां घटात्मभ्यां सार्वं स्पर्धेते इत्येवशीलौ ।
स्व सुभ्रुवः पयोधरौ कुचौ प्रेक्ष्य दृग्गोचरीकृत्य ॥ इति स्कन्वौ ॥

अस्याः सदृक्षां श्रियमाश्रयन्ती नास्ति त्रिलोक्यामपि कापि कान्ता ।

इतीव रेखात्रितयं ततान तत्कण्ठपीठे सरसीजजन्मा ॥ ८६ ॥

सरसीजात्कमलाजन्म उत्पत्तिर्यस्य स सरसीजजन्मा विधाता तस्या देव्या कण्ठपीठे गलकन्दले । उत्प्रेक्ष्यते—इतीव हेतो रेखाना त्रितय त्रिक ततान विस्तारयामास । च-
कारेत्यर्थ । इति किम् । यदस्याः शासनत्रिदश्या सदृक्षा सावारणीम् । तुल्यमित्यर्थ ।
श्रिय शरीरसौन्दर्यलक्ष्मीमाश्रयन्ती भजन्ती कापि ज्ञाताज्ञाता काचन कान्ता सुलोचना
त्रिलोक्या स्वर्गवलिगृहमहीवलयत्रयेऽपि नाकिनागनागराङ्गनासु नास्त्येवेति जगत्रये-
ऽपि न विद्यते ॥

कण्ठश्रिया स्वःकुरविन्ददत्या निर्जीयमानैर्निखिलैस्त्रिरेखैः ।

रथाङ्गपाणिं प्रति पाञ्चजन्यः पूकर्तुकामैः प्रहितः किमेकः ॥ ८७ ॥

निखिलैस्त्रिरेखैः समस्तैः शङ्खैः पूकर्तुकामैः एव कर्तुमिच्छद्भिः सद्भिः अर्थात्सर्वैः
सभूय रथाङ्ग वैरिवारिभिरप्रतिहत चक्र पाणौ हस्ते यस्य स रथाङ्गपाणिर्विष्णुस्त प्रति
एक पाञ्चजन्यनामा शङ्ख । उत्प्रेक्ष्यते—किं प्रहितं प्रेषित इव । किं क्रियमाणैः ।
निखिलत्रिरेखैर्निर्जीयमानैः पराभवनपदवी नीयमानैः हठात्प्राप्यमानैः । कथा । स्वः कुर-
विन्ददत्या स्वर्गस्य कुरविन्दा पद्मरागमणय । ‘स्वे हि दर्शयति कं परेणथानर्घ्यद-
न्तकुरविन्दमालिके’ इति नैषवे । तद्वदन्ता दशना यस्या सा । कथा कृत्वा । कण्ठश्रिया
निजगललक्ष्म्या सावनभूतया ॥

कण्ठीकृतो यज्जलजस्त्रिदश्यास्तद्वेधसा साधु विधीयते स्म ।

नैसर्गिकानार्जवमात्मनिष्ठं जह्यादवाह्यं कथमन्यथायम् ॥ ८८ ॥

वेदसा ब्रह्मणा यज्जलजस्त्रिरेख त्रिदश्या देव्या कण्ठीकृत कण्ठपीठता प्रापितः ।
‘ततः प्रियोपात्तरसावरौष्ठे निवेश्य दध्मो जलज कुमारः’ इति रघौ । अहमेव मन्ये ।
जगत्सृष्टिकृता तत्साधु सम्यग्विधीयते स्म समीचीनमनुष्ठितम् । अन्यथा अपरप्र-
कारेण यत्कण्ठपीठीकरणमन्तरेण अयं शङ्ख आत्मनि स्वस्मिन्निषये निष्ठा स्थितिर्यस्य
तादृश नैसर्गिक स्वाभाविक स्वोत्पत्तिसमयादेव जातमपर्यवसानस्थायुकमनार्जव कथं केन
प्रकारेण जह्यात्यजेत् । यदुक्तम्—‘विमलता वचनस्य न गोचरे जनयिता तव शङ्ख
महोदवि । मुदमल तनुते च तव ध्वनिः किमु ततो निहिता हृदि वक्रता ॥’ इति ।
अपि तु न कयापि विवया नैव भुञ्जेत् ॥

यत्कण्ठपीठेन हठादुपात्ता दृष्ट्वात्मभूपामखिलास्त्रिरेखाः ।

पूत्कुर्वते किं विकलीभवन्तः प्रत्यालयं भैक्षभुजो भुजन्तः ॥ ८९ ॥

अखिला समस्तास्त्रिरेखा शङ्खा विकलीभवन्तो गृथिला जायमाना प्रत्यालय गृह
गृह प्रति पूत्कुर्वते । लोकानां पुरः पूत्कार कुर्वन्तीत्यर्थः । विकलतामेव दर्शयति—कि-

भूता । भिक्षाणां समूहो भैक्ष भुजन्त्यश्नन्तीति भैक्षभुजो भिक्षुकाः सांन्यामिकयोगिप्र-
मुखास्तान् भजन्तः सेवमाना इति विकल्पेन विचारानभिज्ञता । वैकल्पकारणमाह—किं
कृत्वा । यस्या देव्या कण्ठपीठेन गलकन्दलेन हठाद्रुपात्ता गृहीतामात्मनः स्वस्य
भूषामाभरणादिलक्ष्मीम् । ‘विनापि भूषामवधि श्रियाममां’ इति नैपथ्ये । आभरणगणम-
न्तरेणापि दमयन्ती श्रिया सुप्रमाणामवधि सीमान्तीति’ इति तद्वृत्तिः । दृष्ट्वा वि-
लोक्य ॥ इति कण्ठपीठः ॥

यूनो मनोजन्मनृपस्य तस्या वपुर्लतायाः स निकेतभाजः ।

शृङ्गारभूषामुषमादिदृक्षोरिवात्मदर्शं शुशुभे तद्वास्यम् ॥ ९० ॥

तस्यास्त्रिदश्या आस्य शुशुभे रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—यूनस्तरुणस्य मनोजन्मनृपस्य स्म-
रराजस्य आत्मदर्शो दर्पण इव । किंभूतस्य मनोजन्मनृपस्य । यस्या देव्या वपुर्लता शरी-
रयष्टी सैवावासार्थं वामकृते निकेत भजनं भजतीति तस्य । पुनः किं कर्तुमिच्छो ।
शृङ्गारार्थं शोभाकृते या भूषा भूषणानि । ‘तस्मै स्वभूषादपदशुशिन्यवलिद्विषं कार्मुक-
मर्पयन्ती’ इति नैपथ्ये । ‘निजभूषणमणिकिरणगणव्यतिरेकेण’ इति तद्वृत्तिः । तेषामाभ-
रणानां सुप्रमा सातिशायिनी शोभाम् । ‘सुप्रमा सातिशायिनी’ इति हैम्याम् । ‘सा
अतिशायिनी शोभा सुप्रमा प्रोच्यते’ इति तद्वृत्तिः । तां दिदृक्षोः द्रष्टुमिच्छो । ‘ताव-
देव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुः’ इति नैपथ्ये । ‘नारदर्षिरिन्द्रद्रष्टुमिच्छुः’ इति तद्वृत्तिः ॥

कृष्णच्छविं भ्रूयुगलीं दधानं ज्योत्स्नामुधापायि चकोरचक्षुः ।

उत्सङ्गसङ्गीकृततारदन्तमास्य त्रिदश्याः शशिविम्बति स्म ॥ ९१ ॥

त्रिदश्या शशासनामर्त्याया आस्य वदनं शशिविम्बति चन्द्रमण्डलमिवाचरति ।
‘सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्षिप् वाचारे दत्येके’ इति क्षिप्प्रत्यये शशिविम्बतीति निद्रम । किं
कुर्वाणम् । लक्ष्म लाञ्छनं तद्वत्कृष्णा मेचका छविः कान्तित्यस्यास्तादृशी भ्रूयुगलीमृ-
नयनयोरुपरिप्रदेशे रोमपद्मद्वित्वितयीम् । ‘उच्चैः राज्यादिदानात्कलिकलुषमलज्जालनात्ता-
ममानामुच्छिन्दाद्विघ्नभेदात्रिदशपतिकर्गस्पर्शनाद्दर्शनस्य । हेतुत्वात्सस्यसूर्याद्युदयफल-
पदस्वर्जनज्ञानभूत्वाद्बन्धे नाभेयदेवप्रभुपदयुगली ॥ गौरिवेह ॥’ इति श्रीसोमसुन्द-
रसूरिकृतस्तोत्रे युगलीशब्दः । दधानं विभ्राणम् । पुनः किंभूतम् । ज्योत्स्ना चन्द्रिका
ज्योत्स्नाप्रियत्वात् तथा सुधाममृतं पिबत इत्येवशीलौ । ‘कणे हस्त्य चकोरीणां गणं पीत्वा
सुवासवम् । अजायत मदेनेव गुह्यापुत्रारुणेक्षणा ॥’ इति वस्तुपालकीर्तिकौमुद्या चन्द्रोदय-
वर्णने यथा चकोराणां ज्योत्स्नापानं तथा सुधापानमपि दृश्यते इति । चकोरा ज्योत्स्नाप्रि-
यावेव चक्षुषी यत्र । अथ वा ज्योत्स्नारूपा सुधा सुधारुचित्वात्पिबत इत्यवशीलौ तादृशौ
चलचञ्चू एतत्तुल्ये वा चक्षुषी नेत्रे यत्र । पुनः किंभूतम् । उत्सङ्गो क्रोडे सङ्गोऽस्त्यासा
तादृशा कृतास्तारास्तारकाः । ‘तारकाभकनीनिकयोस्तारो’ इति लिङ्गानुशासने नक्ष-
त्रकनीनिकयोरर्थयोस्तारशब्दः पुत्रीलिङ्गे । यथा ‘तारस्तारा च’ इत्यवचूणा । एव
वैत्यात्तद्रूपा वा तत्तुल्या वा दन्ता यत्र तत् ॥

चिकीर्षता यन्मुखमात्तसारमात्मानमन्विष्य चतुर्मुखेन ।

गलन्मरन्दाश्रुकणाब्जराजीद्विरेफरावैरिव रारटीति ॥ ९२ ॥

गलन्तः पतन्तो ये मरन्दा मधूनि मकरन्दविन्दवस्त एवाश्रुकणा रोदने नयननि-
र्गतनीरविप्लुषो यस्याम् । तादृशी अब्जराजी कमलमाला । उत्प्रेक्ष्यते—द्विरेफरावैर्मधुकर
शुआरवै रारटीति अतिशयेन रोदिति पूकृति वा कुरुते । किं कृत्वा । यन्मुख यस्याः
शासनदेवताया वदन चिकीर्षता कर्तुमिच्छता चतुर्मुखेन ब्रह्मणा आत्त गृहीत सारम् ।
'सम्यग्मजा सारो मञ्जि' इति हैम्याम् । सारदल वा स्वकीयसद्वस्तु यस्मात्तादृशमा-
त्मानमन्विष्य विलोक्य ॥

यदीयचेतोवसतौ वसन्तं स्वमित्रपुष्पास्त्रनृपं निरीक्ष्य ।

किमागतस्तं मिलितुं मृगाङ्को वक्र चकासे सुरकम्बुकण्ठ्याः ॥ ९३ ॥

सुरस्य कम्बु त्रिरेख एतावता दक्षिणावर्तशङ्ख तद्वत् रेखात्रिकाङ्कित कण्ठो यस्या-
स्तस्या । सुरकम्बुकण्ठ्या सुरस्य कम्बुकण्ठ्या वध्वा इति वा । सुवाशनवध्वा वक्र
वदन चकासे दिदीपे । उत्प्रेक्ष्यते—यस्या इदं यदीय चेतश्चित्तं तदेव वसतिर्वासवेश्म
तत्र वसन्तं वासं कुर्वाणम् । देवीसबन्विनि हृदयसदने तिष्ठन्तमित्यर्थः । तथा स्वस्या-
त्मनो मित्रं सखायं पुष्पास्त्रनामानं मदनाभिवानं नृपं राजानं निरीक्ष्य व्यालोच्य । त
प्रति मिलितुमागतो गगनात्समागतः । किंभूतः । मृगाङ्कः शशधरश्चन्द्र इव ॥

यस्या मुखं स्वर्वनितार्चितायाः संवर्ध्य ताराततिमुक्तिकाभिः ।

स्वःसिन्धुतीरे किमु दिङ्मृगाक्ष्यो निर्मिच्य रात्रीमणिमुत्सृजन्ति ॥ ९४ ॥

स्वः स्वर्गस्य वनिता सीमन्तिन्य ताभिरर्चितायाः पूजितायाः यस्याः शासनदेव-
ताया मुखं वदनं निर्मिच्य नीराजयित्वा मुखस्य न्युञ्छन् कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—दिङ्मृ-
गाक्ष्यं दिग्गङ्गा स्वःसिन्धुतीरे स्वर्गगङ्गातटे रात्रीमणिं निशारत्नं चन्द्रम् । 'कथयति
परिश्रान्तिं रात्रीतमं सह युध्वना' इति नैषधे रात्रीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । चन्द्रकान्त-
रत्नमपि किमु उत्सृजन्ति त्यजन्ति । किं कृत्वा । ताराणामर्थाद्ब्रह्मक्षत्रतारकाणां ततय-
श्रेणय एव मुक्तिका लघुमुक्ताफलानि ताभिः । 'सिता वमन्त्य खलु कीर्तिमुक्तिका'
इति नैषधे । अथवा मुक्ता एव मुक्तिकास्ताभिः कृत्वा संवर्ध्यं वर्धयित्वा इदानीतन्या
अपि संवर्धयन् स्वगुरुन्मुक्ताफलैर्वर्धयित्वा मणिप्रमुखं न्युञ्छन्तीति
सीति ॥ इति मुखम् ॥

अगण्यलावण्यपयस्त्रिदश्या आस्यात्प्रसर्पद्विलसत्तरङ्गैः ।

मा स्ताद्वहिस्तादिति निम्नभागं चक्रे विरञ्चिश्चिबुकं किमन्ते ॥ ९५ ॥

विरञ्चिर्ब्रह्मा अन्ते वक्रप्रान्तप्रदेशे । उप्रेक्ष्यते—इतीव हेतोर्निम्नो गम्भीरो नीची
भागः प्रदेशो यस्य तादृशं चिबुकमसिकाधप्रदेशं चक्रे निमित्तवान् । इति किम् ।

यदस्यास्त्रिदश्या देव्या आस्याद्वक्त्रकुण्डाद्विलसत्तरङ्गं प्रस्फुरत्कल्लोलैः स्वरङ्गाकारीभवन्का-
न्तिप्रतानै । 'विमल वर्तुल कान्तितरङ्गि वदन विभो' इत्युक्तेः । कृत्वा प्रसर्पन्निमरन्
'गच्छति विसर्पत्ययत्ययते' इति क्रियाकलापे । यथा विसर्पति तथा प्रसर्पत्यपि । अग-
ण्यममेय यल्लावण्य लवणिमा तदेव पय पानीय बहिस्तान्मुखाद्वहिर्भागे मा स्तान्मा भवतु
वक्त्राद्वहिर्मा निर्यातु । 'वृत्त्युद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागद्गुलियन्त्रणेव' इति नैपथ्ये ॥

यदाननाम्भोरुहवाससौधे सातं वसन्त्या जलराशिपुत्र्याः ।

विलासवापीव पयोविहारं स्वैरं विधातुं चिबुकस्त्रिदश्या. ॥ ९६ ॥

त्रिदश्याः शासनदेव्याश्चिबुक । उत्प्रेक्ष्यते—जलराशिपुत्र्या लक्ष्म्या विलासवापीव
क्रीडादीर्घिकेव । किं कर्तुम् । स्वैरं स्वेच्छया पयसि वारिणि विहार जलकेलिम् । 'यस्याव-
रोधस्तनचन्दनाना प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले' इति रघुवशे । विधातुं कर्तुम् । किं कु-
र्वत्या जलराशिपुत्र्या । यदाननाम्भोरुहवाससौधे यस्या देव्या आनन वदनमेवाम्भोरुह
कमल तदेव वाससौध वसनसदन तत्र सातं सुखं यथा स्यात्तथा वसन्त्याः स्थिति
कुर्वत्या ॥ इति देवीचिबुका ॥

रेजेऽधरोऽस्या हरिमन्थकालात्प्रवासिनं यन्मुखचन्द्रपुत्रम् ।

हृल्लेखभाजा मिलितुं प्रवाल. पयोविनाह्रातुमिव प्रयुक्तः ॥ ९७ ॥

अस्या देव्या अवर ओष्ठो रेजे राजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पयोविना समुद्रेण यस्या
मुखमेव चन्द्रः स्वपुत्रमाह्रातुमाकारयितुमिव प्रवालः समुद्रोत्पन्नत्वाद्विद्रुमः । अथ वा
प्रकृष्ट उक्तसदेशवाक्यकथको बालकः प्रयुक्तः प्रेषितः । किलक्षणेन समुद्रेण । हृल्लेखमु-
त्कण्ठामौत्सुक्यं भजतीति तादृशेन । किं कर्तुम् । मिलितुं पुत्रप्रेम्णा सङ्गं कर्तुम् ।
चन्द्रस्य समुद्रोत्पन्नत्वेन नन्दनत्वम् । किंभूतं चन्द्रम् । हरिणा विष्णुना मन्दराद्रिणा यो
मन्थो मन्थनं तस्य कालः समयः तस्मादारभ्य प्रवासिनं परदेशे गतं पुनरागतम् अतः
एव मिलनोत्कण्ठा ॥

यदाननाङ्गीकृतविग्रहेण रदच्छदाङ्गः क्षणदाकरेण ।

प्रियौषधेरङ्गभव. किमेष प्रपाल्यते वसृतया प्रवालः ॥ ९८ ॥

यस्या देव्या आननं मुखं तदेव अङ्गीकृतं अभ्युपगतं गृहीतो विग्रहः शरीरं येन
तादृशेन क्षणदाकरेण विष्णुना प्रियाया स्वकान्ताया औषधेः फलपाकावसानिकायाः
अङ्गभवस्तनुजः । चन्द्रस्यौषधीपतित्वात् पतिपत्नीसबन्धः । प्रवालस्य चौषधीजातत्वा-
दौषध्याः पुत्रत्वमेवोपपन्नम् । तथा रदच्छदोऽवरः स एवाङ्गं यस्य तादृशः प्रवालः
पल्लवः प्रकृष्टो बालः प्रवालः । अथवा प्रकषेण बालकश्च वसृतया पितृत्वेन प्रपाल्यते
सम्यक्तया पाल्यते । अन्यो वप्ता आत्मपत्नीसजातमतीव बालकं निजनन्दनं प्रेम्णा
प्रपालयति ॥

इदंमुखीभूतमवेत्य चन्द्रं बालं तदीयं करचक्रवालम् ।

अन्वागतं प्राक्प्रणयादिवैतद्वन्तच्छन्दः स्फूर्तिमियर्ति तस्याः ॥ ९९ ॥

तस्या देव्या दशनच्छदो दशनपत्रमधर स्फूर्तिं शोभामियर्ति । उत्प्रेक्ष्यते—इद-
मुखीभूतम् अस्या वदनभाव प्राप्त चन्द्र स्वजनकुमुदसुहृदमवेत्य ज्ञात्वा सम्यगवबुध्य
प्राक्प्रणयात्पूर्वस्नेहाच्चन्द्रावस्थाया नित्यमुत्सङ्गसङ्गीकरणप्रीते एतदशनच्छददेह देवीद-
न्तवस्त्रगात्र तदीय यद्वदनीभूतचन्द्रसबन्धितया बाल लघुकुमार कराणा किरणाना चक्र-
वाल मण्डलमन्वागत पृष्ठे समेतमिव । यो बाल स पितुर्मातुर्वा पृष्ठे समेतीति रीति-
रपि बालत्वात्किरणानामरुणत्वमपि युक्तमेवेति ॥

यद्वन्तपत्रेण रणेऽभिभूता नष्टा प्रविष्टापि पयोधिमध्ये ।

रक्ताङ्गराजी हृदि कृष्णवल्ली शल्यं किमद्यापि न पर्यहर्षीत् ॥ १०० ॥

यस्या देवताया दन्तपत्रेण दशनदलेनावरेण रणे परस्परवितया मिथो युद्धे अभि-
भूता पराजिता सती रक्ताङ्गराजी विद्रुममालिका हृदि मनसि विषये हृदये वक्षसि वा कृष्ण-
वल्लीम् । ‘कालिवेल’ इति लोकप्रसिद्धा । तद्रूप तामेव वा शल्य शूककण्टकादीना शलाका
हृदये मर्मप्रविष्टशस्त्र वा । ‘शल्य शस्त्रशलाकयो’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘शल्य शरी-
रान्तर्गत शस्त्रादिसीमाच्छिद्र वशादीना शलाकाविशेषश्च’ इति लिङ्गानुशासने । अ-
द्यापि अद्यतन दिन यावन्न पर्यहर्षात् परिहरति स्म हृदये एवावतिष्ठमानमास्ते किम् ।
नष्टा यदधरोद्धुरविरोधिविरुद्धविवानातिसाध्वसात्प्रणश्य पयोधिः समुद्रस्तस्य मध्ये अ-
त्यगावजलान्तः प्रविष्टा प्रविश्य स्थितापि ॥ इत्यवरः ॥

बन्धूकबन्धूभवदेतदीयदन्तच्छदे दन्तरुचिश्चकासे ।

निपेतुषी कोकनदच्छदाङ्के शरत्सुधादीधितिकौमुदीव ॥ १०१ ॥

बन्धूको बन्धुजीव । ‘विपोहरिया’ इति लोकप्रसिद्धिः । स रक्तकुसुम स्यात् ।
तथा ‘बन्धुजीवविघात ग्रीष्मदिवसावसानजना’ इति चम्पूकथायाम् । ग्रीष्मे हि बन्धू-
कानि शुष्यन्ति । तथा ‘बन्धूकप्रसवारुणाम्बरवराम्’ इति लघुस्तवेऽपि । तस्य बन्धू-
ककुसुमस्य बन्धूभवन् सहोदरो मित्र वा जायमानो य एतदीयो देवतासबन्धी दन्त-
च्छदोऽवरस्तत्र निपेतुषी पतनशीला पतिता वा दन्तानामर्यादेवीदशनाना रुचि-
कान्तिश्चकासे दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कोकनदस्य विकसितरक्तोत्पलस्य यच्छदः पत्र
तस्याङ्के उत्सङ्गे निपेतुषी समीयुषी प्राप्ता शरदो घनात्ययस्य सुधादीधितिः रमृतवत् शर-
त्कालेन जलवररोधोपरोधावधीरणेन निर्मलीकृतत्वादुज्ज्वला अतिविशदीभूता दीधि-
तय कान्तयो यस्येत्यन्वर्थनामा चन्द्रस्तस्य कौमुदी चन्द्रिकेव । अथ वोपमा । यथा
रक्तकमलपलाशे शारदीयनिशानायककौमुदी शोभते ॥

पीयूषपूर्णस्मरकेलिशोणमणीनिबद्धाधरदीर्घिकायाम् ।

यस्या विनिद्रद्विजचन्द्रिकाभिराश्रीयते कैरविणीवनश्रीः ॥ १०२ ॥

यस्याः शासनसुर्या विनिद्रन्तीभिर्ध्वजम्भमाणाभिर्द्विजाना दन्ताना चन्द्रिकाभिर्ज्यो-
त्स्नाभिः । कान्तिभिरित्यर्थः । 'दशनचन्द्रिकया व्यवभासितम्' इति रघौ । कैरविणीना
कुमुदिनीना चन्द्रविकाशिविशदविकसितारविन्दिनीना वन काननम् । वृन्दमित्यर्थः । तस्य
श्री लक्ष्मी शोभा आश्रीयते आलम्ब्यते । कस्याम् । पीयूषं सुवारमे पूर्णाया निर्भरभारे-
ताया स्मरस्य रतिपते केलये क्रीडाकरणार्थं गोर्णे रक्तैर्मणीभि रत्नैः । पद्मरागगणरित्यर्थः ।
निवद्धाया रचिताया घटितायामवरोऽर्थाद्देव्या ओष्ठं स एव दीधिका वापी तस्या
राजीवः । 'वनराजिनि दीधिकावारिणि क्लानम्' इति पाण्डवचरित्रेऽर्जुनस्याष्टापदयात्रा-
विकारे । यत्र राजीवानि तत्र राजीविनीलताया अपि सद्भाव इति । तथा 'केचिद्व-
दन्यमृतमस्ति पुरे सुराणां केचिद्वदन्ति वनितावरपङ्क्तवेषु । ब्रूमो वयं त्वदरिवर्गकरा-
दुलीपु यत्पानतो मरणमागतमप्यपान्तम् ॥' इति भोजप्रवन्वे वनितावरेषु सुवारम् ॥

स्वर्माणुभीरो रजनीचरिणोः कलङ्कभाजः क्षयिनः सिताशोः ।

ज्योत्स्ना किमुद्वेगवती यदास्यं भेजेऽपविष्टं दशनाशुदम्भात् ॥१०३॥

सिताशोश्चन्द्रादुद्वेगवती खेदं प्राप्ता सती ज्योत्स्ना । उत्प्रेक्ष्यते—दशनानां राजद-
न्तानामशवः किरणास्तेषां दम्भान्कण्टात् अपगता विन्ना वसतोऽस्वानिष्टकारिणः प्र-
त्यूहा यस्मात्तादृक् यदान्य देवीवदनं भेजेऽपविष्टावती । उद्वेगकारणान्याह—किभूतस्य
सिताशोः । स्वर्माणो राहोः सकाशाद्भीरोर्भीरुकस्य । स्वाभ्यवहारकारिसिंहिकेयमयवि-
ह्वलीभूतस्येत्यर्थः । एतावता सर्वैरत्वमुक्तम् । पुनः किभूतस्य । रजन्या निशायामेव
पारदारिकपाटच्चरादिवच्चरिणोः सचरणशीलस्य । एतावता चौरविटादिचेष्टावत्त्वं च ।
अत एव पुनः किभूतस्य । कलङ्कं गुरुदाराभिगमनादपवादं लाञ्छनं च भजनीति कलङ्क-
भाजः । एतावता सापवादत्वं सुशीलताराहित्यं च । पुनः किभूतस्य । क्षयिनः क्षयरोग-
वतः । स्वपरदारेष्वत्यासक्तस्य व्यसनिनो राजयक्ष्मादयो रोगा भवेयुरवश्यम् । यतः
'कम्पः स्वेदश्रमो मूर्च्छा भ्रमिर्गर्लानिर्बलक्षयः । राजयक्ष्मादिरोगाश्च भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥'
इति योगशास्त्रे । पक्षे कृष्णपक्षानुभावात् कलाभिहायमानतया क्षीणताभाजः । सिताशो
रिति पदेनापि पाण्डुरत्वं सूचितम् । तच्च रोगादिना दुःखाद्यतिरेकेण वा पाण्डिमा
जायते । ततः पाण्डुकुष्ठरोगवत् भूतादिवद्वलदेहस्य वा । ततोऽपि विरूपवत् । ए-
तेभ्यः कारणेभ्य एतैः कारणैर्वा मनस्युद्वेगः प्राप्ताः ॥

यस्याः पृष्ठान्निर्जरदृक्चकोरानन्दन्तप्रभाभिर्वदनं दिदीपे ।

शरद्विनिर्द्रीकृतचन्द्रिकाभिर्विभावरीणामिव सार्वभौमः ॥ १०४ ॥

यस्याः देवताया दन्तप्रभाभिर्दशनदीप्तिभिः कृत्वा वदनं मुखं दिदीपे । वदनं किं
कुर्वत् । पृष्ठान् प्रीणयत् । 'पृष्ठं प्रीणने' तुदादिवातोरयः प्रयोगः । कान् । निर्जरा देवा-
स्तेषां दृशो लोचनान्येव चकोरा ज्योत्स्नाप्रियास्तान् । क इव । सार्वभौम इव । यथा
विभावरीणां शर्वरीणां सार्वभौमश्चक्रवर्ती प्राणनाथश्चन्द्रः । 'कन्दर्पेऽनल्पदर्पे विकिरति

किरणाञ्जशार्वेरीसार्वभौम ' इति नाटकग्रन्थे । शरदा घनात्ययेन विनिर्द्रीकृता जलध-
रधारावधीरणेन निर्मलीकृत्य विस्तारिता याश्चन्द्रिकाश्चन्द्रगोलिकास्ताभि कृत्वा दीप्यते॥

स्मितश्रियामिश्रितदन्तकान्तिश्चकास्ति गीर्वाणमृगेक्षणायाः ।

बन्दीकृता चन्द्रमसं विजित्य ज्योत्स्नास्य दारा वदनेन विद्मः॥१०५॥

गीर्वाणस्य अमोघसदसद्वचनप्रपञ्चनाराचस्य देवस्य मृगेक्षणाया हरिणलोचनायाः
स्त्रिय शासनदेवताया स्मितस्य कथचिद्विनोदावसररसविनिर्मितहसितस्य श्रिया श्वे-
तिमलक्ष्म्या मिश्रिता करम्बिता व्याप्ता दन्ताना दशनाना कान्तिर्दीप्तिश्चकास्ति दी-
प्यते । तत्र वयमेव विद्मो जानीमो वितर्कं वा कुर्म उत्प्रेक्षामहे वा । वदनेन देवता-
मुखेन अर्थान्निजजगजित्वरवैभवेन चन्द्रमस कुमुदबान्धव विजित्य पराभूयास्य चन्द्र-
मसः दारा जाया ज्योत्स्ना कौमुदी बन्दीकृता निगृह्य रक्षितेव । 'विद्म इत्युत्प्रेक्षाविष-
येऽपि भवेत्' इति काव्यकल्पलतायाम् ॥ इति सस्मितदन्तकान्तिः ॥

मरुन्मृगाक्षीवदनाब्जदन्तैस्तारेशतारैर्विजितैर्विभूत्या ।

आलोच्यते तद्विजिगीषयेव संभूय तीरेऽम्बरनिर्झरिण्याः ॥ १०६ ॥

तारा ज्योतीषि तेषामीशस्तारेशश्चन्द्र । तथा तारा उपलक्षणात्सर्वेऽपि ग्रहनक्षत्र-
तारकास्तैः सभूय एकत्र मिलित्वा अम्बरनिर्झरिण्या गगनतरङ्गिण्या । आकाशगङ्गाया
इत्यर्थः । तीरे रोधसि तटप्रदेशे । उत्प्रेक्ष्यते—आलोच्यते मन्त्रयते विचार इव विधीयते ।
कया । तद्विजिगीषया । तेषां स्वद्वेष्याणां वक्रदन्तानां विजिगीषा पराबुभूषा अभिभवि-
तुमिच्छा तथा । अन्यापि निजप्रतिपन्थिपराजयचिकीर्षया एकान्तप्रदेशे मिलित्वा
मिथो मन्त्रयन्ति । किम् । तारेशतारैर्महन्मृगाक्ष्या सुरहरिणचक्षुषा देवतया वदनाब्जेन
स्वमुखकमलेन तथा दन्तैर्दशनैश्च विभूत्या तेषामद्वैतलक्ष्म्या कृत्वा विजितैः पराभूतैः ॥

अजय्यवीर्यं मुखपद्ममस्या. श्रिया जयन्तं स्वमवेत्य राज्ञा ।

सधि विधातु प्रहिता. प्रधाना द्विजा समं तेन किमुल्लसन्ति ॥१०७॥

द्विजा देवीदशना उल्लसन्ति दीप्यन्ते । किभूता । प्रवानाः प्रकृष्टलक्षणोपेता ।
उत्प्रेक्ष्यते—राज्ञा चन्द्रेण नृपेण च तेन स्वजैत्रेण मुखपद्मेन सम सधिं परस्परं मेल
प्रीति वा विधातु प्रवाना सन्निवा द्विजा स्वपारिपार्श्वका ब्राह्मणा पुरोहितादयः प्र-
हिता प्रेषिता इव । किं कृत्वा । अजय्य जेतुमशक्य केनापि स्पर्विना विरोधिना क-
दापि कथमपि षड्गुणैस्त्रिभिः शक्तिभिश्चतुर्भिरुपायैश्चतस्रिर्बुद्धिभिरपि न जीयते
पराभूयते इत्यजय्य तादृश वीर्य पराक्रमो यस्य तादृशमस्या देव्या मुखपद्म वादनार-
विन्द स्वमात्मान श्रिया लक्ष्म्या कृत्वा जयन्त पराभवन्तमवेत्य ज्ञात्वा योऽधिकबलो
निजनिर्जिगीषुश्च तेन सार्धं सधिरेवोचित इति ॥

पाण्डुः क्षयी शून्यनभश्चरिणुर्निरङ्गराहोर्द्विषतोऽपि बिभ्यत् ।

दोषाकरः श्याममुखो वराकोऽस्माकं पुरस्ताज्जड कस्त्वमेकः ॥ १०८ ॥

हंसद्युतोऽक्षीणसुखा मुखस्था जिताहिता. स्फीतगुणा विशुद्धाः ।

नैकेऽभिभूताः किमितीन्दुमुद्यद्द्युता त्रिदश्याः प्रहमन्ति दन्ताः ॥ १०९ ॥

त्रिदश्या शासनामर्त्याया दन्ता दशना उद्यन्ती प्रकटीभवन्ती उच्चैर्निर्यान्ती वा द्युत्क्रान्तिस्तया कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतो इन्दु विबु प्रकर्षेण हसन्तीव शशिनो हास्य सृजन्तीव । इति किम् । यत् हे इन्दो हे जड मूर्ख जडस्वरूप जडाशय । ‘किमु दधौ जड वा वडवानलात्’ इति नैपथे चन्द्रसबोधन जड इति । अस्माकं पुरस्तादन्तानामग्रे वराक तपस्वी द्रुमको वा त्व क । न कश्चिदपीत्यर्थः । वराकतामेवाददर्शयति—किभूतस्त्वम् । पाण्डु पाण्डुरोगवान् श्वेतकुष्ठविनष्टवपुः । भूतादिवद्वलविग्रहो वा । पुनः किभूत । क्षयी राजयक्ष्मा रोगोऽस्यास्तीति । क्षयात्प्रतिदिन कलानामपगमात् । बहुलपक्षे वपुषः क्षीणता अस्त्यस्मिन्निति वा क्षयी । पुनः किभूत । शून्य निर्मानुप तथानेनैव सम्यक्तया वभस्तीति भातीति नभः कुत्सितस्थानम् । ‘निशानभ सदृशे’ इति चम्पूकथायाम् । निशानैस्तेजस्विभिर्वारैर्वभस्ति शोभते इति निगानिभास्तथा सदृश इ कामो यस्य तस्य सबोधनम् । पक्षे रात्रिगगनतुल्ये इति तद्विपन(ण)के । तत्र नगरग्रामाराममानवादिरिक्तके स्थानके चरिणुः सचरणशील श्मशानादिषु भक्षणशीलो वा । ‘चर गतिभक्षणयो’ अस्य धातोः प्रयोगत्वेन जगिव स्थितिश्चेति व्यर्थता । पुनः किभूत । निर्गतमङ्ग शरीर यस्य । विष्णुना सुदर्शनचक्रे शिरोवशेषीकृतत्वादङ्गगहिल्यम् । तादृशाद्राहो विधुतुदाद्विषतो वेरिणः सकाशाद्विभ्यद्भयमाकलयत् । पुनः किभूत । दोषाणामपगुणानामाकरः खनि निशाकरश्च । पुनः किभूत । श्याम कलङ्केन कृत्वा कृष्ण मुख वक्त्र यस्य । प्रायः कलङ्ककलिता श्यामानना एव स्युः । पुनः किभूत । एको नास्ति द्वितीयः सदृशः कोऽपि एवविवस्त्व क । वयः पुनः कीदृशा । हसवत् उभयपक्षविशुद्धत्वेन द्योतन्ते इति । पुनः किभूता । अक्षीण न क्षीयते स्मेत्यक्षीणम् अनिष्टीयमान संपूर्ण वा सर्वाङ्गीण वा सुख सात येषाम् । एतावता रोगराहिल्यसातवन्तः । पुनः किभूता । मुखे सर्वेषामप्यग्रे वक्त्रे च तिष्ठन्ति इति मुखस्था । एतावता सुस्थानभाजः । पुनः किभूता । जिता स्वकीयपरमवैभवैरभिभूता वज्ररत्नकुन्दतारकादयोऽहिता प्रतिस्पर्विनो यैस्ते जिताहिता । एतावता निर्वैरिता । पुनः किभूता । स्फीता विश्वविख्याता वृद्धिः प्राप्ता वा गुणा येषां ते स्फीतगुणा । एतावता गुणवत्त्वम् । पुनः किभूता । विशेषेण शुद्धा निष्कलङ्का सर्वत्रावदाता । एतावता सर्वदाप्युच्चैः शिरसः । पुनः किभूता । नैके अनेके द्वात्रिंशप्रमाणत्वेन । एतावता वृद्धिभाजः सगोत्रत्वान् । पुनः किभूता । अभिलक्षणयुक्त रूप येषाम् । ‘अभिर्वीप्सालक्षणयो’ इत्यनेकार्थः । अभिरूपा पण्डिता । ‘विद्वान्सुवी कविविचक्षणलब्धवर्णा ज्ञाप्राप्तरूपकृतिकृष्ट्यभिरूपवीरा’ इति हैम्याम् ॥ युग्मम् ॥

आशानुरागातिशयं सृजन्ती प्रचेतसः स्फारमरीचितारा ।

समुज्जिहानद्विजराजराजिवक्त्रा स्म सध्येव विभाति देवी ॥ ११० ॥

सा श्रीवीरशासनाधिष्ठायिका देवी सध्येव दिनावसानपितृसूरिव विभाति स्म । प्रातःकालीनापि सध्या प्रोच्यते । अतोऽर्थेन दिनावसानस्येत्युक्तम् । 'सध्या तु पितृसूः' इति सध्यानामद्वयं हैम्याम् । देवी सध्या च किं कुर्वती * प्रचेतसः प्रकृष्टमुन्नतेच्छ चेतो मनो यस्य तादृशस्य महतोऽपि आशाया वाञ्छाया अनुरागस्य मोहस्य स्नेहस्य वा अतिशयमाधिक्यमुत्कर्षं वा सृजन्ती कुर्वन्ती । महान्तोऽपि यामालोक्य मुह्यन्ति स्निह्यन्ति च । या स्पृहयन्तीत्यर्थः । पक्षे प्रचेतसो वरुणस्य । 'वरुणस्त्वर्णतमन्दिर प्रचेता' इति हैम्याम् । आशाया दिशः पश्चिमाया अनुगत क्रमागत रागस्य रक्तताया अतिशयं प्रावृत्त्य सध्यारागं सृजन्ती विदधाना । पुनः किंभूता । स्फारा उदारा बहुप्रदेशदर्शिन्यो लक्षयोजनविषयत्वान्मरीचयो दीप्तयस्तादृशे तारे कनीनिके यस्याः । पक्षे दीप्यमाना जगज्जगिति कुर्वन्त्यः कान्तयो रोचिषो येषां तादृशास्तारा ज्योतीषि यस्याः सा । पुनः किंभूता । समुज्जिहान उदयमानः । 'मुखेन्दुनानेन सहोजिहाने' इति नैषधे । 'चन्द्रेण सममुदयन्ती' इति तद्वृत्तिः । द्विजराजश्चन्द्रः द्विजानां रदनानां राजानो द्विजराजा दन्तश्रेष्ठाः । 'क्वचिदमाद्यन्तस्य परत्वम्' इति दन्तानां राजा राजदन्ता इति दन्तशब्दस्य परत्वम् । तैः राजन्ते इत्येवशीलः प्रारम्भः । पूर्णिमायाः सध्याप्रारम्भः एव चन्द्रोऽभ्युदेति । अतः प्रारम्भो वदनं च यस्याः सा । राजदन्तशोभितवदना देवी । उदितचन्द्रप्रारम्भा च सध्या ॥ इति दन्ताः ॥

शशी सुधां प्रेक्ष्य निपीयमानां सुरैः सृजंस्तत्र ममत्वमन्तः ।

ररक्ष निक्षिप्य रहो रसज्ञा पात्र्यामिवैतां कृतयन्मुखाङ्गः ॥ १११ ॥

शशी शशधरो विधुः एतां स्वसुधां रहः एकान्तस्थानस्थितायां रसज्ञा देवीरसनां सेवपात्री भाजनविशेषस्तस्या निक्षिप्य स्थापयित्वा । उत्प्रेक्ष्यते—ररक्षेव गोपायति स्मेव रक्षितवानिव । किंभूतः शशी । कृतं स्वेनैव निष्पादितं स्वात्मनैव विरचितं यस्या देव्या मुखवदनमेव अङ्गं शरीरं येन । शशी किं कुर्वन् । अन्तश्चित्तमध्ये तत्र स्वसुधाविषये ममत्वम् इयं सुधा मया यथाकथञ्चिद्रक्षणीयैवेति । मम इत्यस्य भावो ममता तां मोहमूर्च्छां सृजन् कुर्वन् । किं कृत्वा । सुरैः सुधाशनैः निपीयमाना पीत्वापीत्वा निष्ठाप्यमानाम् । यदुक्तम्—'विरहिवर्गवदव्यसनाकुल कलयः पापमशेषकलं विधुम् । सुरनिपीतसुधाकमप्रापकम्' इति नैषधे । सुराश्चन्द्रमसः सुधां पिबन्ति इति सुधा निजाङ्गस्थायुकपीयूषं प्रेक्ष्य विलोक्य ॥

यस्या रसज्ञां जयिनीं निभात्य शोणच्छदं तत्तुलनाविलासम् ।

पितामहं प्रार्थयते स्वतातारविन्दगेहे निवसन्तमूहे ॥ ११२ ॥

शोणच्छदं रक्तोत्पलपत्रं पितामहं जनकजनकं धातारं च प्रति अहमेवमूहे वितर्क-

यामि । तत्तुलनाविलासं तस्या देवीरसज्ञायास्तुलना सादृश्यं तस्य विलास वैचित्र्य-
लीलां वा । 'असकृदमृतविन्दुस्यन्दिनो वाग्विलासा ' इति चम्पूकथायाम् । 'निरन्तरसु-
धारसाविष्कारिणो वाग्विलासा वचनवैचित्र्ये' इति तट्टिप्पन(ण)कम् । प्रार्थयते याच-
तीव । ण्यन्तत्वाद्विकर्मत्वम् । पितामह किं कुर्वन्तम् । स्वस्यात्मनः स्वजन्मकर्तृत्वेन तातो
जनकोऽरविन्द पद्मः स एव तत्र वा गेह मन्दिर तत्र निवसन्त निवास कुर्वन्तम् ।
एतावता सबन्धो जात सबन्धे च प्रार्थना फलेग्रहि स्यादिति किं कृत्वा प्रार्थयते ।
यस्या देवताया जिह्वां रसज्ञा जयिनीं निजजयनशीला निभाल्य निरीक्ष्य ॥

स्वं निष्ठितं नित्यसुपर्वपानात्पीयूषमन्विष्य सितत्विषेव ।

प्रैषीदमानापयितुं रसज्ञासुधाहृदोऽस्या द्विजराजिराभात् ॥ ११३ ॥

अस्या देवताया द्विजराजिर्दन्तपङ्क्तिराभाद्भौ । उत्प्रेक्ष्यते—सितत्विषा चन्द्रमसा
इदं पीयूषमानापयितुमात्मार्थे आनयनार्थमस्या देव्या रसज्ञा जिह्वा सैव सुधाया अमृत-
रसस्य हृदो द्रवस्तत्र द्विजराजिस्तदधिपतित्वात्स्वभृत्यवर्गीभूता द्विजपङ्क्तिर्दशनावलीरूपा
ब्राह्मणमण्डली प्रैषि प्रहितेव । किं कृत्वा । नित्यमहोरात्र सुपर्वणा देवाना सुवाशन-
त्वात्पानात्पानवशत निष्ठित क्षीण स्वत्पावशिष्ट वा पीयूष सुवारसमन्विष्य समीक्ष्य ॥

जाने यदास्यं सरसीरुहाया विजृम्भिजिह्वारुणपद्मपत्रा ।

श्रेणीभवन्तः पुलिनावतंसा हंसद्विजाः स्युः कथमन्यथास्याम् ॥ ११४ ॥

यदास्य देवीवदनम् अहमेव जाने वेद्मि । सुधाया अमृतरसस्य सरसी महत्सरोवर-
मिव । किंभूतम् । विजृम्भि विकसनशील जिह्वा देवीरसना सैवारुणपद्मस्य रक्तकमलस्य
पत्र दल यस्यां सा । एव चेन्न तर्हि अन्यथा सुधासरसीमन्तरेण अस्या सरस्या पुलि-
नस्य जलोज्झितप्रदेशस्य तटस्येत्यर्थः । 'पुलिन तजलोज्झितम्' इति हैम्याम् । अव-
तसाः शेखरीभूतास्तथा श्रेणीभवन्तः पङ्क्त्या जायमाना सन्तस्तिष्ठन्तः हंसद्विजाः सि-
तच्छदविहगमाः हंसवदुज्ज्वला द्विजा दशना कथं केन प्रकारेण स्युर्भवेयुः ॥

वर्धिष्णुदेवीहृदयानुरागवारानिधेर्विद्रुमकन्दलीव ।

कण्ठत्रिरेखेन मुखे गृहीता पुपोष भूषां रसनादसीया ॥ ११५ ॥

अदसीया अमुष्या इयमदसीया शासनदेवतासबन्धिनी रसना जिह्वा भूषा शोभा
पुपोष पुष्पाति स्म । शुशुभे इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—कण्ठ एव त्रिरेख तिस्रो रेखा यत्रेति
कम्बुनोपमेयत्वात्कम्बुरेव तेन मुखे स्ववदने गृहीता उपात्ता वर्धिष्णुर्वर्धनशीलो यो
देव्या हृदये मनसि । हृदय मनो वक्षश्च । अनुरागः स्वप्रियाद्युपरि अत्यन्तानुरक्तता
वर्धमानो रागः स एव वारानिधिः समुद्रः तस्य । तदुत्पन्नस्येत्यर्थः । विद्रुमस्य प्रवालस्य
कन्दली नवाङ्कुर इव । 'कन्दली रूपरागेऽपि कलापे च नवाङ्कुरे । मृगजातिप्रभेदे च'
इति लिङ्गानुशासनावचूणौ विद्रुमाणा शङ्खाना च समुद्रे सद्भावात्तद्ब्रह्मणमुचितमेवेति ॥
इति रसज्ञा ॥

जडीभवन्ती रिपुनिर्जये यद्वाचा जिता ह्रीविधुरा विपञ्ची ।

यियासया शैवलिनीशपारे तुम्बद्वयं किं विभरावभूव ॥ ११६ ॥

यद्वाचा देवीसुधारसोद्वारायमान(ण)वाण्या जिताभिभूता अत एव हिया परात्प-
राभवोद्भूतभूरिलजया विधुरा विह्वला व्याकुला विपञ्ची वीणा । शैवलिनीशस्य सरिद्धर्तु
समुद्रस्य पारे अपरपार्श्ववर्तिनि तटे यियासया मन्दाक्षलक्षीकृतत्वेनापरस्य कस्यापि
स्वास्य दर्शयितुमशक्नुवन्ती गन्तुमिच्छया । उत्प्रेक्ष्यते—तुम्बद्वय किम् । अलाबुयुगलमिव
विभरावभूव धृतवतीव । यो नद्यादिजलमुत्तितीर्षु स तुम्बकानि धरति इति रीति ।
किं कुर्वती । रिपुनिर्जये प्रतिपन्थिपराभवने प्रतिपक्षस्य प्रतीकारकरणे जडीभवन्ती
किकर्तव्यतायाम् अत पर मयाथ किं करणीयमिति कार्यकरणविषये मन्दिमान
मूढता दधाना । स्वशात्रव प्रतिकर्तुमशक्नुवन्तीत्यर्थः ॥

श्रवःसुधायै जगता यदीयवाचे पिकेन स्पृहयालुनेव ।

अभ्यस्यते भैक्षभुजा तरुभ्योऽनिश वने पञ्चमगीतिरुच्चैः ॥ ११७ ॥

पिकेन कोकिलेन अनिश निरन्तर वने सहकारकानने । प्रायः पिकाना मनो माक-
न्दनिकुञ्जे एव रमते नान्यस्मिन् शाखिखण्डे । यत —‘यद्यपि दिशि दिशि तरव
परिमलमत्तालिपटलवाचाला । तदपि स एकरसाल कोकिलहृदि हन्त जागर्ति ॥’ इति ।
उच्चैरतिशयेन बाढस्वरेण वा पञ्चमस्य पञ्चमनाम्नो रागस्य गीतिर्गान कण्ठकुहरान्तराने-
कतानलयमूर्च्छनाघोलनापूर्वको ध्वनिर्वा अभ्यस्यते अभ्याससाध्यो विधीयते । यः पठन्
शास्त्राभ्यासं कुरुते स बाढस्वरेणैव उद्धोषं कुरुते । किंभूतेन पिकेन । तरुभ्योऽर्थान्मा-
कन्दपादपेभ्यो भैक्ष मञ्जरीकलिकारूप भिक्षाणा समूहो भैक्षम् । अत्र समूहार्थेऽण्-
प्रत्ययः । भुनक्ति अश्नातीति तेन भैक्षभुजा । उत्प्रेक्ष्यते—स्पृहयालुनेवाभिलाषुके-
नेव । कस्यै । जगता त्रिजगजनाना श्रवसा कर्णानामुपोषितानामिव पारणायै सुधायै
अमृतरसभूतायै ॥

स्वरैकसारं परवादिनीभ्यः संगृह्य जाने जलजासनेन ।

विधीयते स्म ध्वनितं त्रिदश्यास्ताभ्योऽतिरिच्येत न चेत्कुतस्तत् ॥ ११८ ॥

परवादिनीभ्यः सप्ततन्त्रीविपञ्चीभ्यः । ‘साय तन्त्रीभिः सप्तभिः परवादिनी’ इति
हैम्याम् । सर्ववीणासकाशात् स्वराणाम् ‘षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-
निषध-इति सप्ताना तन्त्रीभवाना ध्वनीनाम् ‘षड्जऋषभगान्धारा मध्यम पञ्चमस्तथा ।
धैवतो निषध सप्ततन्त्रीकण्ठोद्भवा स्वरा ॥’ इति हैम्याम् । अत्र तु बलकीकणानामे-
वोपादान मध्यादेकमद्वितीय सारं श्रेष्ठदलम् । ‘सारो मजास्थिराशयो । बले श्रेष्ठे च’
इत्यनेकार्थः । संगृह्य संग्रहं कृत्वा गृहीत्वा वा जाने वेद्मि । उत्प्रेक्ष्यते वा—अहमेव
चिद्गोचरीकरोमि । जलजासनेन कमलविष्टरेण ब्रह्मणा त्रिदश्या वीरशासनदेवताया

ध्वनित सारस्वरो विधीयते स्म कृतम् । एव चेन्न तर्हि तच्छ्रुत देवीनिस्वनस्ताभ्यः
परवादिनीभ्यः कुतोऽतिरिच्यते कस्मात्कारणादधिकीभवति ॥

यद्वाक्पुरस्तादिव पाण्डुराभिर्विलीयते स्म त्रपया सुधाभिः ।

सितोपलाभिश्च तपस्विनीभिस्तृणं किमादाय मुखेन तस्थे ॥ ११९ ॥

यस्या देवताया वाचां माधुर्याद्वैततया निजनिर्जित्वरीणा वाणीना पुरस्तादग्रे त्रपया
लज्जया कृत्वा पाण्डुराभिर्धवलीभूताभिर्दुःखातिरेकात्पाण्डूभूय सुधाभिरमृततरसैः । उत्प्रे-
क्ष्यते—विलीयते स्म विलीनमिव गलित्वा गतमिव द्रवीभाव प्रापेव । च पुनर्यस्या वाचा
पुर तपस्विनीभिर्वराकीभिः दुर्बलाभिः पाण्डुराभिरपि सितोपलाभिः शर्कराभिः तप-
स्वितया । उत्प्रेक्ष्यते—मुखेन वक्त्रेण कृत्वा तृणमादाय गृहीत्वा किं तस्थे स्थितमिव ।
यद्वाचा जिता पाण्डुरीभूय अमृतं विलीय गतं सिता मुखे तृणं गृहीत्वा स्थितेति
भावः ॥ इति वाणी ॥

स्वप्रीतिरत्योरिदमोष्ठधाम्नोः सापत्न्यतः संस्थितिवासभाजोः ।

स्मरस्तदर्धे विवभाज सीमा रेखामिषात्किं विनिनीषुराजिम् ॥ १२० ॥

स्मर कन्दर्पस्तदर्धे तयोर्निजनितम्बिन्योर्निवासस्थानक्रीभूताधारस्यार्धे तुल्योभय-
पार्श्वयोर्मध्ये । उत्प्रेक्ष्यते—रेखाया अधरमध्यगतरेखाकारस्य मिषात्कपटात्सीमामववि-
भूतभूमी विवभाज विभागीकृतवानिव विभागीकृत्य द्वयोर्दत्तवानिव वा । स्मर किं कर्तुमि-
च्छुः । विनिनीषु व्यपनेतुमिच्छुर्निवारयितुं काङ्क्षन् । काम् । आजिं परस्परकलहम् । कयोः ।
स्वस्यात्मनः प्रीतिरतिनाम्रयो पदयोः । किभूतयोः । इदमस्या देव्या ओष्ठो दशनच्छद
एव धाम मन्दिरं ययोः । अत एव पुनः किभूतयोः । समान एव पतिर्भर्ता ययोस्ते
सपत्न्यौ सपत्न्योर्भावः सापत्न्यं सापत्न्यतः सपत्नीभावनं कृतसपत्नीकत्वादित्यर्थः । स-
स्थितौ परस्परं सम्यक्स्थितौ वसतिविषये विशेषेण वादः कलिम् इदं स्थानकं मदीय-
मिदं स्थानकं मदीयमिति क्लेशः भजतस्तयोः । स्वस्वस्थानाविकस्थानलिप्सया मिथो वि-
वादकारिण्योरित्यर्थः ॥ इत्यधरोष्ठमध्यरेखा ॥

तत्साधु मन्ये मलयानिलेन यदेतदीयस्वसितीवभूवे ।

सर्वर्तुपुष्पोद्भवसौरभस्य सौभाग्यमाप्नोति किमन्यथासौ ॥ १२१ ॥

तत्साधु मन्ये अहं कविस्तत्साधु समीचीनं मन्ये हृदि मानयामि वेद्मि यन्मलयानि-
लेन मलयद्रुमपरिमलसुरभीकृतमलयशैलप्रसरत्पवनेन दक्षिणात्यवायुना एतस्या इदमे-
तदीयं देवतासवन्निव यत्स्वसितं श्वासं तद्भूवे जातम् । 'श्वासस्तु श्वसितम्' इति हैम्याम् ।
देवीश्वासरूपेण सजज्ञे अन्यथा तद्भवनव्यतिरेकेण असौ मलयानिलः सवः वा ते ऋत-
वश्च सर्वर्तवः हिम-शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्क्षणाः षडपि ऋतवः समय-
विशेषास्तेषां पुष्पाणि कुसुमानि तेभ्य उद्भवेभ्य उद्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशं यत्सौरभ-
सुरभिता आमोदो वा तस्य सौभाग्यं सुभगता माहात्म्यं वा किं कथं केन प्रकारेणा-

प्रोति लभते । अपि तु न केनापीति । यतो मलयानिलो वसन्तर्तावेव नान्यर्तुषु ततो वसन्तर्ता एव कुसुमसौरभ लभते । एतद्वदनश्वासानिलस्य तु सर्वर्तुकपुष्पपरिमललम्भः तस्मात्साधिमैव प्रलयवायोः सजातः ॥

निमीलनोन्मीलनदूषितेभ्यो नित्यं दधञ्चो मधुपानुषङ्गम् ।

निर्वेदवान्पद्मकुमुद्वनेभ्यः स्थितः किमामोद इदमुखाब्जे ॥ १२२ ॥

पद्मकुमुद्वनेभ्यः कमलकैरवकाननेभ्यः सकाशान्निर्वेदवान् खेदमेदस्विमनः कलित प्राप्तोद्वेगः । उत्प्रेक्ष्यते—आमोद परिमल इदमुखाब्जे शासनसुरीवक्त्रारविन्दे किं स्थितः समेत्य स्वयं वसतीव । किभूतेभ्यः पद्मकुमुद्वनेभ्यः । निमीलन सकोचः, उन्मीलन विकाशः । निशाया पद्म निमीलति कैरवमुन्मीलति दिने पद्ममुन्मीलति कुमुद निमीलति । आभ्या क्रमात्सपद्विपञ्चा दूषितेभ्यः विकारं प्रापितेभ्यः । पीडितेभ्य इत्यर्थः । पुनः किभूतेभ्यः । नित्यं निरन्तरं मधुपैर्मद्यपायिभिर्भ्रमरैर्वा अनुषङ्गो मिलन सगम दधञ्चो धारयञ्च । कुर्वञ्च इत्यर्थः ॥

विश्राणयित्वेव पुरा स्वसारसौरभ्यमेतद्वदनाम्बुजाय ।

शोभासहस्रांश इतः पयोजपरम्पराभिर्गृह्यांबभूवे ॥ १२३ ॥

पयोजपरम्पराभिः पद्मानामनेकाभिः पङ्क्तिभिः इतोऽस्मादेव तद्वदनाम्बुजादेवतावदनारविन्दात् शोभानां श्रीमत्ता-सुकुमारता-सुरभिता-सपूर्णता-वृत्तता-मनोज्ञता-प्रभृति-लक्ष्मीणां सहस्रं दशशतसख्यं अशो भागः । 'यदि प्रसादीकुरुते सुधाशोरेषा सहस्रांशमपि स्मितस्य' इति नैषधे । गृह्यांबभूवे गृहीतः । उत्प्रेक्ष्यते—पुरा पूर्वं पूर्वस्मिन्काले एतस्याः शासनदेव्या वदनं मुखमेवाब्जं कमलं तस्मै स्वस्यात्मनः सारं श्रेष्ठभूतं सौरभ्यं सुरभिता विश्राणयित्वेव प्रदायेव ॥ इति देवीवक्त्रपरिमलः ॥

व्यर्थीकृतां शक्तिमवेत्यं पूषद्विषा विरक्तेर्निजहेतिहातुः ।

तूणीरमादाय मनोभवस्य विरञ्चिनास्या व्यरचीव नासा ॥ १२४ ॥

विरञ्चिना अस्यास्त्रिदश्या नासा व्यरचि चक्रे । उत्प्रेक्ष्यते—मनोभवस्य स्मरस्य तूणीरं निषङ्गं रिक्तं शराश्रयमादाय गृहीत्वेव । किभूतस्य मनोभवस्य । विरक्तेर्विरागान्मानसीयनिर्वेदात् हेतोर्हेतीनां निजप्रहरणानां हातुस्त्यजनशीलस्य । 'ओहाक् त्यागे' तृन् । हानं शीलो हाता तस्य हातुः जहातीत्येवशीलस्य । किं कृत्वा । पूषद्विषा पूषनाम्नः शत्रो व्यापादकेन शत्रुना । 'गजपूषपुरानङ्गकालान्धकमखासुहृत्' इति हैम्याम् । शक्तिं स्वस्य वीर्यं बलं सर्वायुवसामर्थ्यं वा व्यर्थीकृता निष्फला बन्ध्या विनिर्मितामवेत्यं ज्ञात्वा ॥

यन्नासिकां वीक्ष्य जगन्निरीक्ष्यामेतत्पुरः श्रीर्मम का ह्रियेति ।

शङ्केऽनिशं न्यकृतिकैतवेन स्वं गोप्यते कीरसृपाटिकाभिः ॥ १२५ ॥

कीरस्रपाटिकाभिः शुकचञ्चुभिः अहमेव शङ्के विचारयामि । उत्प्रेक्ष्यते वा—इति हेतोर्हिंया लज्जया अनिश निरन्तर दिवा रात्रावपि न्यकृतेर्नाचैः करणस्य कैतवेन कपटेन कृत्वा स्वमात्मान गोप्यते गुप्तीक्रियते छत्रो रक्ष्यते इव । इति किम् । एतत्पुरः एतस्या नासिकाया पुरस्तान्मम श्री का । न कापीत्यर्थः । किं कृत्वा । सम्यग्लक्षणोपेततया जगन्निरीक्ष्या त्रिजगज्जनैर्विलोकनीया यस्या देव्या नासिका वीक्ष्य ॥

मुक्त्वा द्विषः पञ्चमुखीं प्रति स्वान्पञ्चापि रोपान्स्मरधन्विनाजौ ।

यदङ्गवासौकसि किं निषङ्गो रिक्तो विमुक्तोऽजनि नासिकास्याः ॥ १२६ ॥

स्मरधन्विना विषमायुधधनुर्धरेण यस्या देवताया अङ्ग शरीर तदेव वासार्थं निवसनकृते ओको गृह तत्र रिक्तो निखिलविशिखव्यपगमनतोच्चारणरहित अत एव विमुक्तः सदनान्त स्थापितः निषङ्गः तूणीर । उत्प्रेक्ष्यते—अस्या शासनदेवताया नासा गन्धज्ञा किमजनि सजात इव । किं कृत्वा । द्विषः स्वशात्रवस्य ईश्वरस्य पञ्चाना मुखाना समाहारः पञ्चमुखी ता प्रति । शमोः पञ्च वदनानि सन्ति कविसमये । ‘मृत्युजयः पञ्चमुखोऽष्टमूर्तिः’ इति हैम्याम् । पञ्चसख्याकानि मुखानि प्रति आजौ सग्रामे पञ्चापि पञ्चप्रमाणानपि । स्मरस्य पञ्चैव बाणास्तूणीरे नाधिकाः । यतः—‘बाणाः पञ्च रतिप्रियाः’ इति हैम्याम् । रोपान् बाणान् मुक्त्वा क्षिप्त्वा ॥

स्वमन्दिरे यद्वदनारविन्दे लावण्यलक्ष्म्या प्रकटीकृतेव ।

भ्रुकैतवात्कज्जलमुद्गिरन्ती प्रदीपलेखा विललास नासा ॥ १२७ ॥

नासा अर्थाजिनशासनदेवताया नासिका विललास शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मीयस्य मन्दिरे निवाससदने यस्या देव्या वदनारविन्दे मुखकमले लावण्य लवणिमा विश्रमविलासशोभातिशयः तस्य लक्ष्म्या श्रिया प्रकटीकृता उद्बोधिता प्रदीपलेखा स्नेहप्रिया कलिकेव । किं कुर्वन्ती । भ्रुवोर्लोचनयोरूर्ध्वयो रोमपद्मयोः कैतवाद्याजात्कज्जलमञ्जनमुद्गिरन्ती स्वशिखाया सकाशात् भ्रूश्यामिकाञ्जनं प्रादु कुर्वन्ती ॥ इति नासिका ॥

निजप्रतिद्वन्द्वविधुंतुदस्य निरीय भाग्याभ्युदयेन वक्रात् ।

पुनस्तदातङ्कितचेतसेव यद्गण्डभूयं विधुनानुसस्त्रे ॥ १२८ ॥

विधुना चन्द्रेण यस्या देव्या गण्डभूय गल्लभावः कपोलरूपता अनुसस्त्रे आश्रिता । उत्प्रेक्ष्यते—पुनर्व्याधुव्य द्वितीयवारमपि तस्माद्विधुतुदाद्वैरेण सकाशादातङ्को भयसजातोऽस्मिन्नित्यातङ्कितः भीतियुक्तः जातः चेतो मनो यस्यैवविधेनेव । किं कृत्वा । निजस्यात्मनः निज आत्मीयो वा प्रतिद्वन्द्वी प्रत्यथा यो विधुतुदो राहुस्तस्य वक्रान्मुखाद्भाग्यस्य प्राचीनाचीर्णसुकृतस्याभ्युदयेनाविर्भावेन कथञ्चित्पूर्वपुण्यप्रकरपरिपाकवशेन कृत्वा निरीय निर्गत्य केनापि भाग्यसमारोदयेन वैरिवदनाद्विनिर्गत्य पुनस्तदानननिष्पतनाशङ्कया विधुना यत्कपोलकायीवभूवे इत्यर्थः ॥

यदास्यतोऽभ्यर्थयितुं विभूषाभरं त्रियामादयितात्मदर्शौ ।

तन्नित्यसेवाविधये कपोलपालीद्वयीभावमिवाभजेताम् ॥ १२९ ॥

त्रियामादयितो निशापतिः चन्द्रस्तथा आत्मदर्शौ दर्पण एतौ द्वावपि तस्य देवीव-
दनस्य नित्यमहोरात्रमविरहित सेवाया पर्युपास्तेर्विवये प्रकाराय । करणार्थमित्यर्थः ।
कपोलपाल्योर्गण्डस्थल्यो । ‘कपोलपालीजनितानुबिम्बयो’ इति नैषधे । द्वयी द्वितयी
यामल तस्या भाव तत्स्वरूपताम् । उत्प्रेक्ष्यते—अभजेताम् भेजतुरिव । किं कर्तुम् ।
यदास्यतो देवीवदनात् विभूषाभर शोभासमुदयातिशयमभ्यर्थयितुं याचितुम् ॥

कपोलभित्तौ मृगनाभिपङ्क्तैश्चित्रीकृतोऽस्या मकरश्चकासे ।

यद्वेश्मनोऽदृश्यतनोरनङ्गतयात्मयोनेरिव लक्ष्म लक्ष्यम् ॥ १३० ॥

यस्या शासनदेवताया कपोलो गण्डस्तद्रूपाया भित्तौ कुञ्जे मृगनाभे कस्तूरिकाया
पङ्क्तैः कृत्वा चित्रीकृत आलेख्यता प्रापिको मकरो मत्स्यविशेष लोके ‘मगर’ इति
प्रसिद्धः । चकासे शोभते स्म । ‘कपोलपत्रान्मकरात्सकेतु’ । ‘कपोले पत्रवल्लीरूपान्मक-
रात्’ इति तद्वृत्तिः । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मयोनेर्मकरध्वजस्य लक्ष्य जनदृग्गोचर लक्ष्म
केतन चिह्नमिव । किंभूतस्य आत्मयोने । यद्वेश्मनो यैव शासनदेवतैव वेश्म वासभ-
वन यस्य । पुनः किंभूतस्य । अनङ्गतया अशरीरत्वेन शम्भुना भस्मीकृत्य नामशेषीकृत-
त्वात् अदृश्या न नयनगोचरीभूता तनु शरीर यस्य ॥ इति कपोलः ॥

हिरण्यगर्भः प्रणयन्सुरी तां विद्मोऽरविन्दं वदनीचकार ।

मरन्दलुभ्यन्नयनद्विरेफौ न चेद्भवेता कथमन्यथास्मिन् ॥ १३१ ॥

वयमेव विद्म जानीम उत्प्रेक्षामहे वा । हिरण्यगर्भः विधाता । ‘हिरण्यगर्भो लो-
केशो नाभिपद्मात्मभूरपि’ इति हैम्याम् । तां जिनशासनाविष्ठात्री सुरीं प्रणयन् घट-
यन् सन्नरविन्द प्रफुल्लपद्म वदनीचकार तस्या मुख कृतवान् । एव चेन्न तर्हि अन्यथा
अपरप्रकारेण अरविन्दव्यतिरेकेण अस्मिन्नानननलिने मरन्दार्थं मकरन्दपानकृते लु-
भ्यन्तौ लोलुपीभवन्तौ नयने लोचने एव द्विरेफौ भ्रमरौ कथं केन प्रकारेण भवेताम् ॥

स्फुरन्महोगोचरिताखिलाशौ भूपाविवास्या भवतः स्म नेत्रौ ।

अधारिषाता कथमातपत्रे पक्ष्मोपधे मूर्धनि चेन्न ताभ्याम् ॥ १३२ ॥

अस्या सुधाशनसारङ्गलोचनाया नेत्रौ नयने भूपाविव राजानाविव भवतः स्म सजातौ ।
स्फुरता सर्वत्र प्रसरता महसा तेजसा गोचरिता स्वदर्शनविषयीकृता । दृष्टेत्यर्थः । अ-
खिला समस्ता अपि आशा दिशो याभ्या तौ । स्फुरद्भिः प्रत्यर्थिपार्थिवसार्थासह्यभाव
प्रदधद्भिः महोभिः प्रतापैः । ‘स राशिरासीन्महसाम्’ इति नैषधे । ‘महसा प्रतापानाम्’
इति तद्वृत्तिः । गोचरीकृता व्याप्ताः समग्रा अपि हरितो याभ्या भूपाभ्याम् । एव चेन्न
तर्हि राजभावमन्तरेण ताभ्या नेत्राभ्या मूर्धनि निजोपरिमस्तके पक्ष्मोपधेर्नेत्ररोमच्छ-
लादातपत्रे द्वे छत्रे कथं केन प्रकारेणाधारिषाता विधृते ॥

असूयया स्वीयपराभविष्णुं दृश यदीयां प्रविभाव्य भृङ्गाः ।

स्पर्धौ न दध्मोऽथ वयं कदाचिदितीव चक्रुः कजकोशपानम् ॥ १३३ ॥

भृङ्गा भ्रमरा इति हेतो कजाना कमलाना कोशाना कुञ्जलानां सुकुलाना पानमर्थान्मकरन्दवीतिम् । 'वीति पाने' इति हैम्याम् । 'वेद पाने' अस्य वातो रूपम् । वान धयन धीति । पान कुर्वन्ति स्म कोशपान शापयमिव चक्रु कृतवन्त । इति किम् । पूर्व तु यदभूत्तत् जातमेव । अद्यतनाद्दिनादारभ्य वयं त्वया सम स्पर्धा सहर्ष कदाचित्कस्मिन्नपि समये न दध्मो धारयामो न वहामो वा । स्पर्धा न कुर्म इत्यर्थ । किं कृत्वा चक्रु । यदीयां देवीसवन्धिनी दृश दृष्टिममूयया भृङ्गाणा मानसे सस्पर्धितामवधार्य तदुद्धृतभूरितमेर्ष्यया कृत्वा स्वीयामात्मीया पराभविष्णु पराभवशीला प्रविभाव्य समीक्ष्य ॥

सारैर्दलैः शासनदेवतायाः प्रणीय नेत्रे इव पद्मयोनिः ।

शेषैरशेषैर्दलिकैरकार्षीत्पुनश्चकाराम्बुजखञ्जरीटान् ॥ १३४ ॥

पद्मयोनिर्ब्रह्मा । 'जनकाद्योनिजरुहजन्मभूसूत्यणादयः' इति हैम्याम् । पुनर्द्वितीयवार शेषैरुद्धृतैरशेषै सकलै सारेतरदलिकैर्वस्तुद्रवैः कृत्वा चकोरान् ज्योत्स्नाप्रियान् अम्बुजानि कमलकुवलयकुमुदादीनि सलिलजन्मानि तथा खञ्जरीटान् खञ्जनान् लोके 'गङ्गेटिवा' इति प्रसिद्धानकार्षात्करोति स्म । किं कृत्वा । प्रणीय निर्माय । कै । कर्मतापन्नै । उत्प्रेक्ष्यते—सारै सर्वविशिष्टभूतै अशेषद्वेषिसताननिर्जित्वरैर्दलेरद्वैतद्रव्यै शासनदेवताया जिनमताविष्टायिकायास्त्रिदश्या किमु नेत्रे कर्णान्तायतलोचने इव कृत्वा ॥

जेया त्रिलोक्येव शरैस्त्रिभिस्तच्छेषा द्विकाण्डी किमिति स्मरेण ।

त्यक्ताथ सा पद्मभुवा कृतार्थीकृतेव देव्या नयने प्रणीय ॥ १३५ ॥

अथ पश्चान्मदनवनुर्वरेण त्यजनानन्तर सा कृत्यवन्वत्वेन क्षिप्त्वा त्यक्ता द्विवाणी द्वयोर्वाणयो समाहार इति पद्मभुवा पद्मजजन्मना विविना देव्या शासनदेवताया नयने विलोचने प्रणीय विवाय कृतार्थीकृता सफला विहितेव । सा का । या द्वयो काण्डयो समाहारो द्विकाण्डी द्विशरी । 'वाणे पृपक्तविशिखौ खगगर्धपक्षाकाण्डाशुगप्रदरसायकपत्रवाहा' इति हैम्याम् । वाणद्वयमित्यर्थ । इति हेतो स्मरेण विपमायुववानुष्केण त्यक्ता उज्जिता । इति किम् । त्रयाणा स्वर्गपातालभूमण्डललक्षणाना लोकाना समाहारस्त्रिलोकी एव त्रिभुवनमेव जेया पराभवनविषयीकरणीया । नापरा मम जेतु योग्या त्रिलोकी । सा तु त्रिलोकी त्रिभिरेव पत्रिभिर्मया जेष्यते तर्हि शेषा पञ्चसु शरेष्ववशिष्टा द्विवाणी किमिति किं कार्यार्थं केवल भारभतेव । न किञ्चित्कृत्य कृते तेनोज्जिता ॥

श्रिया सुधाभाक्परमाणुमध्या चक्षुर्विभूषामनुकर्तुकामैः ।

गुप्तं क्वचित्प्रावृषि खञ्जरीटैराराध्यते मन्त्र इवाप्तदत्तः ॥ १३६ ॥

खञ्जरीटै खञ्जनपक्षिभि प्रावृषि वर्षाकाले क्वचित्कुत्रापि जनदृग्गोचरे स्थाने गुप्त-
मत एव यथा कश्चिन्न वेत्ति तथा छन्न यथा स्यात्तथा । उत्प्रेक्ष्यते—आप्तेन विश्वास-
प्राप्तेन केनचित् हितकृता सिद्धेन वा केनचन दत्तोऽतिप्रसन्नीभूत्वा विश्राणितो मन्त्रो-
ऽतिप्रभावयुक्तवर्णपाठमयः आराध्यते साध्यते इव । किं कर्तुकामै खञ्जनै । श्रिया
स्वशोभया वैभवेन सुधाभुजो देवस्य परमाणुवदतिसूक्ष्मत्वान्मध्यमुदर यस्याः सा पर-
माणुमध्या । तस्याश्चक्षुषो लोचनस्य विभूषा लक्ष्मीं विलासमनुकर्तुं स्वेन सदृशीं विधातु
कामोऽभिलाषो येषां तैः ॥

चन्द्राच्चकोरोऽमृतपानदम्भाद्यानस्थितो गन्धवहात्कुरङ्गाः ।

पितामहात्पङ्कजमासनस्थं यदक्षिलक्ष्मीमिव मार्गयन्ति ॥ १३७ ॥

चकोरजातिवाचित्वादेकवचनम् । ज्योत्स्नाप्रियप्रकरः चन्द्रात्सुधाकरादमृतपानस्य
दम्भात्कैतवात् यस्याः शासनदेवताया अक्षणोर्दशोर्लक्ष्मी सुषमा मार्गयतीव । उत्प्रे-
क्ष्यते—याचतीव यथा याने वाहने स्थित सन् कुरङ्गो मृगो गन्धवहात्पवनात्सका-
शात् । ‘मातरिश्वा जगत्प्राण पृषदश्चो महाबल ’ इति हैम्याम् । पृषत्कुरङ्गजातिविशेषः ।
तथा ‘कर्तुं शशाङ्गाभिमुख न भैम्या मृग दृग्गम्भोरुहनिर्जित यत् । अस्या विवाहाय
ययौ विदर्भास्तद्वाहनस्तेन न गन्धवाह ॥’ इति नैषधे । पवनात्सकाशात् । उत्प्रेक्ष्यते—
यदक्षिलक्ष्मी मार्गयतीव । आसने विष्टरे तिष्ठतीत्यासनस्थ ब्रह्मण सरोरुहासनत्वात् ।
‘भवान्तकृज्जगत्कर्तृसरोरुहासना ’ इति हैम्याम् । पङ्कज कमल पितामहाजनकजनका-
द्विधातु सकाशाद्देवीविलोचनविभ्रम याचतीव ॥

स्मित दिने निश्यपि नित्यरङ्गभृङ्गाङ्कितं स्याद्यदि पुण्डरीकम् ।

प्रस्पन्दमानान्तरतारिकां तत्तनोतु कुर्यादृशमेतदीयाम् ॥ १३८ ॥

यदि कदाचिद्देवतानुभावात् दिने वासरे निश्यपि रात्रावपि स्मित विकाश प्राप्त
तथा नित्य रात्रौ दिवा वा विरहित रङ्गन्तौ मकरन्द पातुमितस्ततो भ्रमणतश्चपलाय-
मानौ भृङ्गौ द्विरेफौ ताभ्यामङ्कित कलितमेवविव पुण्डरीक श्वेतकमल स्यात्ततस्तर्हि य-
याकयचित्तपुण्डरीक प्रस्पन्दमाना प्रचलन्ती अन्तरे मध्ये तारिका कनीनिका यस्या
तादृशीम् । एतदीयामेतस्या इमा त्रिदश्या देव्या इमा दृष्टिमनुकुर्यात् सदृशीभवेत् ।
अनुकार विदध्यादित्यर्थः ॥ इति लोचनम् ॥

प्रीत्या च रत्या सह मीनकेतोरन्दोलनादोहदपूरणाय ।

विनिर्मिते नाभिभुवेव लीलादोले तदीये श्रवसी विभातः ॥ १३९ ॥

तदीये देवीसबन्विनी श्रवसी कणौ विभातः शोभेते । उत्प्रेक्ष्यते—नाभिभुवा पद्म-

जन्मना लीलादोले केलिप्रेङ्खोले विनिर्मिते स्वयकृते इव । कस्मै । प्रीत्या च पुन रत्या प्रीतिरतिनाम्न्या द्वे स्मरपत्न्या ताभ्या स्त्रीभ्या सम सह मानकेतोर्मकरध्वजस्य दोलाभ्या प्रेङ्खोलनाभ्या यान्दोलना तस्या यो दोहदो वाञ्छा अभिलाषस्तस्य पूरणाय सपादनाय परिपूर्तये । 'दोलान्दोलनदोहदोऽपि च चलद्वीचीचयै पूर्यते' इति हसाष्टके ॥

मोघीकृताशेषशरं गिरीशं प्रत्यर्थिनं पाशयितु कथंचित् ।

अधारि पाशो विषमायुधेन यद्वेश्मनेव श्रवणच्छलेन ॥ १४० ॥

यद्वेश्मना या शासनदेव्येव वेदम वासमन्दिर यस्य तादृशेन विषमायुधेन विषमाप्येकीभावभाञ्जि । एकत्रिपञ्चसप्तसख्यावन्ति विषमाप्युच्यन्ते । 'लक्ष्मैतत्सप्त गणा गोपेता भवति नेह विषमे ज ।' आर्याया एतलक्षणम् । अष्टमस्थाने गुर्वक्षरयुताश्चतुर्मात्रिका । सप्त गणा भवन्ति । 'इहार्याया विषमे एकत्रिपञ्चमस्यस्थाने जगणो न भवति' इति वृत्तरत्नाकरे । तथा समानि तु द्विचतु षडष्टादीनि तेनात्रार्थाद्विषमाणि पञ्चसख्याकानि आयुधानि अर्थाद्वाणा यस्य । विषमाणि दुर्वराण्यसह्यानि वा शास्त्राणि यस्य । 'विषमायुधो दर्पक कामहृच्छया' इति हैम्याम् । स तेन स्मरेण श्रवणच्छलेन कर्णकपटेन । उत्प्रेक्ष्यते—पाश इवावारि बन्धनग्रन्थिरिव वृत्त । किं कर्तुम् । मोघीकृता व्यर्था विहितास्तृणप्राया प्रणीता अशेषा समस्ता शरा अर्यान्मन्मयमार्गणा येन तादृश गिरीश शकर प्रत्यर्थिन स्वशत्रु कथंचित्केनापि प्रकारेण कृत्वा पाशयितु पाशसात्कर्तु पाशेन बद्ध पाशे पातित वा कर्तुम् ॥

धृतैकपाशेन पयोविधाम्ना स्वाङ्कप्रभुत्वेन किमात्मयोनि ।

स्पर्धा दधान. श्रवसी त्रिदश्या. पाशद्वयीमाकलयाचकार ॥ १४१ ॥

आत्मयोनिर्मदन त्रिदश्या जिनशासननिर्जरनितम्बिन्या श्रवसी कर्णाविव पाशद्वयी बन्धनग्रन्थियुगलीमाकलयाचकार विभर्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—वृत्त उपात्त एक एव पाशो येन तादृशेन पयोविधाम्ना जलनिविनिकेतनेन वरुणेन । 'वरुणस्वर्णवमन्दिर प्रचेता' इति हैम्याम् । सम सार्धं स्वस्यात्मन अङ्गश्चिद्व मकरः यादोऽपरनामा । 'अन्येऽपि यादोभेदा' स्युर्बहवो मकरादयः ' इति हैम्याम् । तस्य मकरस्य प्रभुत्वेन स्वामितया । 'जलयाद पतिपाशिमेघनादा' इति हेमचन्द्रवचनात् । स्वस्य तस्य च मकरप्रभुत्वेन हेतुना स्पर्धा सघर्षमीर्ष्या वा दधान बिभ्रदिव ॥ इति कर्णौ ॥

श्रियाभ्यभूयन्त मया समग्रा नवद्वयद्वीपमहीमहेला ।

इतीव वक्तु जगता स्म धत्ते सुरीश्रव.सङ्गि नवाङ्कयुग्मम् ॥ १४२ ॥

सुरी शासनसुवाशनवधू श्रवसो कर्णयो. सङ्गो मिलन स्थितिर्वा यस्य तादृश नवाङ्कयोर्नवसख्याकयोरङ्कयोर्मानविशेषयो नवाङ्काकारयोर्युग्म द्वन्द्व वत्ते वारयति । उत्प्रेक्ष्यते—जगता त्रिजगन्नाना सुरासुरनराणामित्यमुना प्रकारेण वक्तु कथयितुमिव ।

इति किम् । यन्मया श्रिया खवपुल्लतारामणीयकलक्ष्म्या कृत्वा नवाना नवसंख्याकाना द्वय युगल ते च ते द्वीपाश्च । अष्टादशद्वीपे इत्यर्थः । ‘अष्टादशद्वीपनिखातयूप’ इति रघुवशे । तथा ‘नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्’ इति नैषधे । तेषा मही पृथिवी तस्यास्त-
त्रोत्पन्ना वा महेला प्रमदा अभ्यभूयन्त पराभवगोचरीचक्रिरे इतिकारणात्कर्णयाम-
लसगतनवाङ्गद्वन्द्वं खवधूर्धत्ते । ‘कर्णान्तरुत्कीर्णगभीरलेखः किं तस्य संख्यैव नवा
नवाङ्ग’ इति नैषधे ॥ इति कर्णान्तर्गतनवसंख्याङ्ग ॥

स्वपृष्ठलभागतकेशकायस्वर्भाणुमालोक्य जिनाधिदेव्याः ।

त्रायस्व नौ वक्तुमितीन्दुभानू श्रुत्योविलम्बाविव कुण्डलाङ्गौ ॥ १४३ ॥

स्वयो सूर्याचन्द्रमसात्मनो पृष्ठे पश्चात्प्रदेशे लग्न एवागत पृष्ठश्लिष्ट एव समुपेत-
तादृक् । तथा केशा देवीचिकुरा एव कुन्तलरूप एव काय शरीर यस्य श्यामवर्णत्वा-
त्स्वर्भाणुविधुतुदस्त आलोक्य वैरित्वात्सभय विभाव्य । कुण्डले कर्णवेष्टिके एव अङ्ग
देहो ययोस्तादृशौ इन्दुभानू चन्द्रसूर्यौ । जयति पराभवति बाह्याबाह्यशत्रूनि जिन
त्रिभुवनाविनाथस्तस्याधिदेवी अधिष्ठात्री देवता तादृक्स्वामिसेवकतया तस्या अप्यचि-
न्त्यसामर्थ्यात् । श्रुत्यो श्रवणयोः । उत्प्रेक्ष्यते—इत्येतद्वक्ष्यमाण वक्तुं कथयितुमिव वि-
लम्बौ लगित्वा स्थितौ । अन्यावपि किञ्चित्स्वकृत्य कथयितुकामौ स्वामिश्रवणयोर्विलगत ।
इति किम् । हे त्रैलोक्याधीशधिदेवते प्रबलपराक्रमे, त्वं नौ आवयो प्रचण्डविधुतुद-
दैत्यादस्मज्जिघासो सकाशान्त्रायस्व रक्षाजीवित्तप्रदानेन पालय ॥ इति कर्णकुण्डले ॥

नीलोत्पले कर्णयुगे चकासांबभूवतुः स्त्रैणमणेः सुराणाम् ।

युयुत्सुनी तन्नयनोत्पलाभ्यामिव प्रतिस्पर्धितयाभ्युपेते ॥ १४४ ॥

सुराणा निर्जराणा स्त्रीणा समूह स्त्रैण स्त्रीसमूहापेक्षया सुराणामित्यत्र बहुवचन तस्य
तस्मिन्वा मणे रत्नभूताया शासनदेवताया कर्णयुगे कर्णयुगले नीलोत्पले इन्दीवरे। ‘नीले
तु स्यादिन्दीवरम्’ इति हैम्याम् । चकासांबभूवतु भातः स्म । उत्प्रेक्ष्यते—तस्यास्त्रिदश्या
नयने विलोचने एवोत्पले कुवलये ताभ्यां सम सार्व प्रतिस्पर्धितया परस्पराद्वैतवैभवाति-
रेकोद्भूताभ्यसूयया कृत्वा युयुत्सुनी योद्धुकामे इवाभ्युपेते समुख समेते । अपरोऽपि
सस्पृशोदयान्निजसपत्नोपरि योद्धुमायाति ॥

अभ्यस्यतास्याः श्रवसी मनोभूर्धनुर्धरेणेव धृते शरव्ये ।

न चेद्भवेता कथमन्तरालेऽनयोर्विनीले कमले कलम्बौ ॥ १४५ ॥

अभ्यस्यता त्रिजगज्जयकृते शराभ्यास कुर्वता मनोभूर्मदनो नाम वनुर्वरो वानु-
ष्कस्तेन अस्यास्त्रिदश्या श्रवसी श्रवणावेव । उत्प्रेक्ष्यते—शरव्ये वेध्ये धृते मण्डिते
इव । एव चेन्न तर्हि अनयो श्रव शरव्ययो अन्तराले मध्ये विनीले नीलवर्णे कमले
एतावता नीलोत्पले एव कलम्बौ वाणौ । ‘रोपा कलम्बशरमार्गणचित्रपुङ्खा.’ इति

हैम्याम् । कथं केन कारणेन भवेताम् । किं च कुण्डले नीलोत्पले च नैपथे दमयन्ती परिणयनशृङ्गाराविकारे दृश्येते । यथा—‘अवादि भैमी परिधाप्य कुण्डले वयस्य याभ्यामभितः समन्वयः’ । तथा—‘वृत्तं च तं सोत्पलयुग्ममेतया व्यराजदस्या पतिते दशाविव’ । इत्यपि तत्रैव इदं द्वितयमप्यानीतमस्ति । किं चैव ज्ञायते यत्कर्णकुण्डलमध्ये एव नीलोत्पले भविष्यत ॥ कर्णयोरुत्पले ॥

कटाक्षबाणान्प्रगुणान्प्रणीय स्वःसुभ्रुवो भ्रूः कुटलीभवन्ती ।

धनुर्लता श्रीसुतधन्विनेव प्रसाधिताभात्रिजगज्जयाय ॥ १४६ ॥

कुटलीभवन्ती वक्रभाव भजन्ती स्व सुभ्रुवो देव्या भ्रूः सर्वं रोमपद्धतिरभाद्वभो । उत्प्रेक्ष्यते—श्रीसुतधन्विना मदनधानुष्केण त्रिजगतस्त्रिभुवनस्य जयाय पराभवनाय वशीकरणाय वा प्रसाधिता प्रगुणीकृता धनुर्लतेव कोदण्डयष्टिरिव । किं कृत्वा । कटाक्षानक्षिविकूणितानि नेत्रत्रिभागावलोकितानि एव बाणा शरास्तान् प्रगुणान् सज्जान् प्रणीय विधाय ॥

उज्जृम्भवक्राम्बुजमन्दिराया लीलाप्रवालोऽयमिवेन्दिरायाः ।

उत्ता तथा वा फलिनीव भालाजिरे विरेजे सुरसुभ्रुवो भ्रूः ॥ १४७ ॥

सुरसुभ्रुव सुपर्वप्रमदाया भ्रूर्विरेजे भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—उज्जृम्भ विकसित यद्वक्त्रं देवीवदनं तदेवाम्बुजं जलरुहं कमलं तत्र मन्दिरं सदनं यस्यास्तादृश्या इन्दिराया लक्ष्म्या अयं प्रत्यक्षलक्ष्यो लीलायै विलासार्थं प्रवालं तमालसालपल्लवं इव । वायं वा तथा श्रिया भालाजिरे ललाटप्राङ्गणे उत्ता प्ररोपिता फलिनी प्रियङ्गुलतेव । ‘प्रियङ्गु फलिनी श्यामा’ इति हैम्याम् ॥

मिथो मुनीन्द्रेण मृधे मनोभूभूमीपतिर्जर्जरिताङ्गयष्टिः ।

सुपर्वसुभ्रुवमाश्मगर्भयष्टीमिवालम्बकृते ततान ॥ १४८ ॥

मनोभूभूमीपतिश्चेतोभववसुधाविनाथ मदननृप आलम्बकृते स्वस्यैवावलम्बनार्थमाधारविवानोपयोगार्थम् । उत्प्रेक्ष्यते—सुपर्वसुभ्रुवः सुराङ्गनाया भ्रुवमेवाश्मगर्भयष्टी मरकतमणिमयदण्डम् । ‘मरकतं त्वश्मगर्भं’ इति हैम्याम् । ततानं कृतवानिव । किं भूतं । मिथं परस्परं मृधे सग्रामे मुनीन्द्रेण हीरविजयसूरिणा जर्जरिता प्रहारेर्जर्जरीकृता अङ्गयष्टिः शरीरं यस्य । जर्जरः पुमान् स्वशरीराधारकृते हस्ते यष्टिं गृह्णाति । किं चापरवर्णनादिराभस्याद्रन्यकृतामावर्णनीयनायको विस्मृतः स्यादिति तदन्तर्देवीवर्णनान्तराले मुनीन्द्रपदोपादानम् । यथा नैषधेऽपि कुण्डिनपुरवर्णनाविकारे—‘पयसा नैषवशीलशीतलम्’ इति तद्वृत्तावप्येतदेवोक्तमस्ति ॥

नीलारविन्देन पुरा प्रणीय दृशं त्रिदश्याः सरसीजजन्मा ।

किजलकवृन्दैर्वदने तदीयैः प्रणीतवान्भ्रूलतिकांमिवास्या ॥ १४९ ॥

सरसीजजन्मा पद्मनन्दनं विधाता अस्या शासनदेवताया वदने मुखे तदीयैर्नाला-
रविन्दसबन्धिभि किजल्कवृन्दै केसरनिकरैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—भ्रूलतिका लोचनो-
र्ध्वरोमपद्धतिवल्ली प्रणीतवान् कृतवानिव । ‘प्रणीतवाञ्छैशवशेषवानय जगज्जय तेन
च कोशमक्षयम्’ इति नैषधे । कि कृत्वा । पुरा प्रथम नीलारविन्देनाविनिद्रदिन्दीवरेण
त्रिदश्या बर्हिर्मुखयोषितः दृश विलोचन प्रणीय स्वय विनिर्माय ॥

संस्पर्धिभावं दधता खलक्ष्म्या खण्डेन चण्डेतरकान्तिनेव ।

जग्राह योद्धुं त्रिदशीललाटं भ्रूयुग्मकायां करवालयष्टिम् ॥ १९० ॥

त्रिदशीललाट शासनवृन्दारकसुन्दर्या भाल भ्रूयुग्म भ्रुवोर्यामलमेव काय शरीरं
यस्यास्तादृशीं करवालयष्टिं निकषोल्लिखितनिशितनिस्त्रिशलता जग्राह गृह्याबभूव ।
उत्प्रेक्ष्यते—खलक्ष्म्या आत्मीयश्रिया सम संस्पर्धिभाव स्वैभवोत्सेकितया स्पर्धनशी-
लता दधता विभ्राणेन खण्डेनार्धेन । ‘खण्डेऽर्धशकल भित्तम्’ इति हैम्याम् । चण्डा-
त्तीक्ष्णादितरा अपरा एतावता अनुष्णा शीता कान्ति दीप्तिर्यस्य तादृशेन चन्द्रेण
सुधादीधितिना एतावताष्टमीतमीरमणेन सम सार्व योद्धुं सग्राम विधातुमिव । ‘खङ्गा-
यत्ताखिला पृथ्वी’ इति वचनात् ॥ इति भ्रूयुगलम् ॥

स्मरं रतिप्रीतिनितम्बिनीभ्या सहाभिषेक्तुं भुवनाधिपत्ये ।

यद्भालदम्भाज्जलजासनेन मन्ये प्रणिन्यै कलधौतपट्टः ॥ १९१ ॥

रतिप्रीतिनाम्नीभ्या द्वाभ्या नितम्बिनीभ्या गृहिणीभ्याम् । ‘रतिप्रीती इव स्मरः’
इति प्रतिक्रमणसूत्रवृत्तौ । ततो मदनस्य एका रतिः अपरा च प्रीतिः एते द्वे पत्न्यौ
ताभ्या सार्धं राज्ञामभिषेकसमये राज्ञीनामप्यभिषेको दृश्यते । यथा ‘कृताभिषेका महिषी’
इति हैम्याम् । स्मर काम भुवनाधिपत्ये त्रैलोक्यराज्ये अभिषेक्तुमभिषेक विधातुम्
अहमेव मन्ये जानामि । उत्प्रेक्षे वा । जलजासनेन कमलविष्टरेण ब्रह्मणा यस्या देव्या
भालस्य ललाटस्य दम्भात्कपटात्कलधौतस्य काञ्चनस्य पट्ट पट्टक प्रणिन्यै विनिर्मित इव ॥

त्रैलोक्यमाक्रम्य पराक्रमेण सुखं निषण्णस्य झषध्वजस्य ।

व्यधत्त हेमः फलकं विधातावष्टम्भनायेव तदीयभालम् ॥ १९२ ॥

विधाता ब्रह्मा । झषो मीनो ध्वज केतन चिह्न वा यस्य स मत्स्यलाञ्छनो मदनः
अर्थान्मन्मथपृथ्वीपतिस्तस्यावष्टम्भनाय पृष्ठप्रदानार्थम् । उत्प्रेक्ष्यते—तदीय शासनसु-
रीसबन्धि भाल ललाट हेम काञ्चनस्य फलक ‘पाटिउ’ इति प्रसिद्ध व्यधत्त विद-
वाति स्म चकार । किभूतस्य झषध्वजस्य । पराक्रमेण स्वपुरुषाकारेण निजभुजवीर्येण
कृत्वा त्रैलोक्य तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशात्सुरलोकपातालभूमीलोकवासिनः सुरासुरनागनागर-
निकरानाक्रम्य पराभूय स्वाज्ञैकवशवदीकृत्य सुख सातेन निषण्णस्योपविष्टस्य आसीनस्य ॥

अधृष्यमन्विष्य यदीयभालं निजं प्रति स्पर्धितया जिगीषत् ।

अर्धामृताशुः प्रपलाय्य पूषद्विषो जटाजूट इव प्रविष्टः ॥ १५३ ॥

अर्धामृताशु सामिसोम प्रपलाय्य भयात्प्रणश्य । उत्प्रेक्ष्यते—पूषद्विष पूषनान्नो दानवेन्द्रस्य व्यापादकस्य शभोर्जटाजूटे विकटकपर्दे प्रविष्ट इव निलीय तस्थिवानिव । किं कृत्वा । स्पर्धितया स्पर्धनशीलत्वेन निजमात्मानम् । निजशब्देन काप्यात्माप्युच्यते । यथा नैषधे—‘श्रुत्वा निज भीमजया निरस्तम्’ इति । जिगीषन् जेतुमिच्छत्पराभवितु महिमान तादृश तदीयभाल देवललनाललाटमेवावृष्य मनाक् कलनीयम् कथमप्यभिभवितुमशक्य द्वेष्ट्य वैरिणमन्विष्य निरीक्ष्य ॥

अद्वैतलक्ष्मीकमवेक्ष्य यस्या भालं तदीयश्रियमीहमानः ।

विश्वंभरस्येव पदे लगित्वा तां मार्गयत्यर्भ इवार्धचन्द्रः ॥ १५४ ॥

अर्धचन्द्र अष्टमीतमीप्रियतमः विश्व भुवनमभीप्सितप्रदानेन पुष्पाति पुष्ट कुरुते । ‘दुभृज् धारणपोषणयो’ अस्य वातो प्रयोग । विभर्ति रक्षति प्रत्यूहव्यूहापहरणेन वा इति विश्वभर कृष्ण तस्य पदे चरणे विष्णुपदे लगित्वा विलग्य समाश्लिष्य । उत्प्रेक्ष्यते—ता विबुधवधूललाटलक्ष्मीं मार्गयतीव याचनीव । ‘अर्दति मार्गति मार्गयति याचति याचतेऽर्थनार्था स्यु’ इति क्रियाकलापे । क इव । अर्भ इव । यथा बालक पितु पद विलग्य याचते । किं कुर्वाण । तदीया सुधाशनवधूगोधिसबन्धिनीं श्रिय लक्ष्मीमीहमान काङ्क्षन् । किं कृत्वा । यस्याः शासनसुमन सुन्दर्या अद्वैत न विद्यते द्वैत युगलमेतत्तदृशमपरं वस्तु यस्या सा तादृशी लक्ष्मीः सुषमा यस्य । स्वार्थे क । अद्वैतलक्ष्मीकमसाधारणवैभव भालमलीकमवेक्ष्य व्यालोक्य ॥

यद्भाललक्ष्म्याधरितोऽर्धचन्द्रस्तत्साम्यमिच्छन्वरुणालयस्थाम् ।

अभीष्टदां कामदुघां प्रतीचीमस्तच्छलाद्याति किमारिरात्सुः ॥ १५५ ॥

यस्या भालस्यालिकस्य लक्ष्म्या विभूषयाधरितो हीनीकृतो विकारभाव लम्भितोऽर्धचन्द्र सामिकुमुदिनीदयित प्रतीची पश्चिमा दिशमाशामस्तच्छलात्कपटान् याति गच्छति । उत्प्रेक्ष्यते—तत्साम्य तस्य अप्सरोललाटस्य लक्ष्म्या शोभाया साम्य सादृश्यमिच्छन् मनसि वाञ्छन् सन् वरुणस्य पश्चिमदिक्पतेरालये गृहे तिष्ठतीति ता वरुणवेश्मनिवासिनीमित्यर्थः । तथा अभीष्टमभिलपित जनमन कामित ददातीति तादृश काम मनोरथ दोग्रिव प्रपूरयतीति कामदुघा । ‘दुह प्रपूरणे’ अय वातु । ता कामधेनुमारिरात्सु आरावयितुमिच्छुरिव । ‘हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः । भुजङ्गपिहितद्वार पातालमधितिष्ठति ॥’ इति रघुवशे । तथा ‘कृतोः कृते जाग्रति वेत्ति क कति प्रभोरपा वेष्मनि कामधेनव’ इति नैषधेऽपि ॥ इति देवीललाटस्थलम् ॥

यदाननश्रीजितमञ्जवन्धोः पद्मं करकोड इवैत्य बन्धोः ।

निर्वेदमावेदयते स्वमेतत्पुरो भ्रमद्भृङ्गगणकणेन ॥ १५६ ॥

पद्म कमल भ्रमन्तो मधुपानकृते समेत्य लोलुभतयेतस्ततो भ्राम्यन्तो ये भृङ्गा भ्र-
मरास्तेषां गणस्य समुदायस्य कणेन गुञ्जारवेण कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—एतस्य स्वबन्धो
सूर्यस्य पुरोऽग्रे स्वमात्मीय निर्वेद पराभवोद्भूतभूयस्तरखेद निजावमाननादु ख वा
आवेदयते कथयतीव । किं कृत्वा । बन्धो स्वमित्रस्य । अब्जबन्धोररविन्दसुहृदो भानो-
करकोष्ठे हस्तोत्सङ्गे एत्यागत्य । ‘चक्राब्जाहर्बान्धवः सप्तसप्ति’, तथा ‘मित्रो ध्वान्ता-
रातिरब्जांशुहस्त’ इतीदं द्वयमपि हैम्याम् । तथा ‘स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्’ इति
नैषधे । किंभूत पद्मम् । यस्या देव्या आननस्य स्वपरिस्पर्धिपराभावुकवैभववदनस्य
श्रिया शोभया जित पराभूतम् ॥

वक्त्रं त्रिदश्या विजितात्मदर्शनिशामणिं प्रेक्ष्य हिरण्यगर्भः ।

सृष्टिं सिसृक्षुः किमदोनुरूपां विनिर्मिमीतेऽम्बुजहस्तलेखम् ॥ १५७ ॥

हिरण्यगर्भो ब्रह्मा अम्बुजैः सकलकमलकलापैः कृत्वा हस्तलेखम् ‘हस्तोलक’ इति
प्रसिद्धम् । विनिर्मिमीते कुरुते । उत्प्रेक्ष्यते—अदोनुरूपाम् अस्या गीर्वाणगृहिणीवदनार-
विन्दसदृशीम् । ‘अद समित्समुखवैरियौवतश्रुटद्भुजा कम्बुमृणालहारिणी’ इति नैषधे
समासान्तोऽदस्शब्दः । सृष्टि रचना सिसृक्षुः स्रष्टुमिच्छुः कर्तुं काङ्क्षन्निव । किं कृत्वा ।
विजिता स्ववैभवाभिभूता आत्मदर्शो दर्पणा निशामणयश्चन्द्रमसो येन तादृश त्रिदश्या
शासनसुररमण्या वक्त्रं वदनं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । वक्त्रशब्दः पुनपुसकलिङ्गयोः । ‘नेत्रं वक्त्रप-
वित्रपत्रसमरोशीरान्धकारावरः’ इति लिङ्गानुशासने ॥

मन्ये कुमुद्वन्धुरिदंमृगाङ्गमुखीमुखीभूय सुखी बभूव ।

नियन्त्रय यत्नेन तमः स्वदस्युः प्राक्षेपि पृष्ठे स्फुटकेशकाय ॥ १५८ ॥

अहं ग्रन्थकृदेवममुना प्रकारेण मन्ये विचारयामि । यत्कुमुद्वन्धुः कैरवसुहृच्चन्द्रमा-
इदमृगाङ्गमुखीमुखीभूय इयं चासौ मृगाङ्गमुखी च कौमुदीदयितवदना च तस्याः सुखी-
भूय वदनभावः प्रतिपद्यते । ‘इदं नृपप्रार्थिभिरुज्जितोऽर्थिभिः’ इति नैषधे । अत्रेदंशब्दः
समासान्तः । सुखी बभूव सातवान् निश्चिन्तो वा सजातः । यद्यस्मात्कारणात् स्फुटः
प्रकटो दृश्यमानत्वात्केशा एव देवीशिरश्चिकुरा एव कायो देहो यस्य तादृशः । स्वद-
स्युर्निजप्रत्यनीकस्तमोविद्युतुदः नियन्त्रय बद्धा पृष्ठे स्वपृष्ठप्रदेशे प्राक्षेपि प्रक्षिप्तः । वम्मि-
ल्लस्य विद्युतुदोपमानत्वं काव्यकल्पलतायाम् । ‘धम्मिल्लं सयता केशा’ इति हैम्याम् ।
एतदेव महत्सुखम् । यत्स्वद्विषन्नभिभूय नियन्त्रय रक्ष्यते ॥ इति देवीवदनम् ॥

अहो महीयान्महिमा सुपर्वसारङ्गचक्षुश्चिकुरच्छटायाः ।

निर्जित्य यस्मात्पशुनापि पश्चादचीकरद्या चमरान्प्रतीपान् ॥ १५९ ॥

अहो इत्याश्चर्यम् । यथा नैषधे—‘अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यभिप्रपेदे प्रथितां
स्मरार्दिताम्’ । सुपर्वसारङ्गचक्षुषः, सुरहरिणेक्षणायाः शासनदेव्या, चिकुरच्छटायाः कु-

न्तलकलापस्य । 'जहास तस्या कुटिला कचच्छटा' इति नैषधे । छटाशब्देन श्रोणी । 'भटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा' इत्यपि नैषधे । 'अश्वश्रोणी' इति तद्वृत्तिः । महीयान-
तिशयेन महानतिशायी महिमा माहात्म्य दृश्यते । यस्मात्कारणात् या चिकुरच्छटा
प्रतीपान् स्वश्रीप्रतिस्पर्धितया प्रतिकूलीभूतान् चमरान् बालव्यजनानि निर्जित्य निजा-
जसा पराभूय पशुना तिरश्चापि चमरधेन्वापि कर्त्र्या । न किञ्चिदर्थं पशुशब्दातिर्यङ्मात्रे
अज्ञानेऽपि । तथा 'पशुस्तिर्यक' इति हेम्याम् । तथा नैषधे—'पशुनाप्यपुरस्कृतेन
तत्तुलनामिच्छतु चामरेण क.' इति । पाथे पश्चाद्भागे । उपहास्यवाक्यमेतत् । अचीकरत्
कारयति स्म ॥

स्पर्धा विधत्ते सुमन सुकेशीकेशच्छटाभिर्यदसौ कलापः ।

अनौचितीयं तमितीव केकी जहाति कोपादपि पक्षभूतम् ॥ १६० ॥

केकी मयूरः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः पक्षभूतमपि सहायभूतमपि । 'पक्ष सहायः पिच्छ
च,' तथा 'पक्षो मासार्धे पिच्छे च सहाये विरोधे । देहाङ्गे राजकुञ्जरे' इत्यनेकार्थः । कलापः
शिखण्डक कोपात्क्रोधातिरेकाजहाति त्यजतीव । इति किम् । यदसौ मम शोभाकारी प-
क्षभूतोऽपि मात्सर्यासूयादिदोषनिर्मुक्तः मनो मानसः यस्यास्तादृश्या सुकेश्या । केशल-
क्षणेन कृत्वा सर्वाण्यप्यङ्गलक्षणानि सूचितानि स्त्रिया । तत्त्वतस्तु शासननायिकाया
केशच्छटाभिः कुन्तलमालिकाभिः सार्वं स्पर्धां सघर्षं विधत्ते करोति इयमनौचिती न
योग्यता । 'सानौचिती चेतसि नश्चकास्तु' इति नैषधे । एतन्नौचित्यमिति कारणात्यागः ॥

श्रीस्पर्धया यच्चिकुरान्विजेतुं व्यवस्यमानान्स्वमवेत्य बर्ह ।

त्रासात्प्रणश्यन्निव नीलकण्ठः पृष्ठे प्रविष्टः शरणाभिलाषी ॥ १६१ ॥

बर्हः कलापः त्रासात् रात्रौ आकस्मिकातङ्कात् । 'त्रासस्त्वाकस्मिक भयम्' इति हे-
म्याम् । प्रणश्यन् प्रपलायमानः सन् शरणमात्मत्राणमभिलषतीत्येवशीलः नीलकण्ठो
महादेवो मयूरश्च । तस्य पृष्ठे प्रविष्ट इव । नीलकण्ठः शरणीचकारेत्यर्थः । किं कृत्वा ।
श्रिया शोभया लक्ष्म्या वा या परस्पर्धां सघर्षं तेन कृत्वा स्वमात्मानं विजेतुं पराभ-
वितुं व्यवस्यमानानुद्यमः कुर्वाणान्प्रगल्भमानान्देवीकेशान्कुन्तलानवेत्य ज्ञात्वा ॥ इति
केशपाशः ॥

सीमन्तदण्डः सुरपद्मदृष्टेरुन्मादयामास मनासि यूनाम् ।

सहावरोधैश्चरत सरस्य व्यक्तीभवन्ती पदवी किमेषा ॥ १६२ ॥

सुरपद्मदृष्टेर्वृन्दारकारविन्दलोचनायाः सीमन्तः केशवर्त्मा स एव दण्डाकृतित्वादण्डः ।
द्वाभ्यां कृत्वा यदावव्यन्ते तदा मध्ये केशरहिता दण्डाकृतिर्लक्ष्यते । सैव सीमन्तः
'सईषो' इति लोकप्रसिद्धः । परस्त्रीणामेव न पुमान् । सौराष्ट्रमर्जरादिषु । परला-
टदेशादिषु श्रूयते । यथा लाटदेशवासिना श्रीहर्षकविना नैषधे समानीतोऽस्ति 'द्विफालव-
द्धाश्चिकुरा शिरस्थितम्' इति । द्वाभ्यां फालाभ्यां च सयम्यमाने केशपाशे मध्ये

सीमन्तः स्यादेवेति । स देवीसीमन्तो यूना वय स्थाना तरुणाना मनासि सस्मरवि-
कारचेतासि उन्मादयामास । 'उन्मादश्चित्तविप्लव' । तद्युक्तानि कृतवानित्यर्थ । उत्प्रे-
क्ष्यते—अवरोधैरन्त पुरपुरध्रीभिः रतिप्रीतिनाम्न्यौ द्वे पत्न्यौ प्रसिद्धे स्त, परमन्या
अपि भाविन्य एवमवसीयते कविसमयानुसारेण । यदुक्त नैषधे—'सखीशताना सर-
सैर्विलासै स्मरावरोधभ्रममावहन्ती । विलोकयामास सभा स भैम्या' इति । चरत
अत्र देवीशिरसि सचरत सतः अनङ्गरङ्गाभिवाने शास्त्रे प्रोक्तमस्ति यत्पञ्चदशसु ति
थिषु स्त्रीणा पञ्चदशसु शिर प्रभृतिषु स्थानकेषु स्मर सचरति इति । स्मरस्य कामस्य
व्यक्तीभवन्ती प्रकटा जायमाना एषा केशवर्त्मलक्षणा पदवी मार्ग इव । यतो घनजल-
संचारेण अमार्गो मार्ग स्यादिति प्रत्यक्ष लक्ष्यते ॥

प्रेक्ष्य स्वदाहे ज्वलितास्त्रमाला जेयं कथं विश्वमिदं मयेति ।

पितामहोऽदान्मदनस्य तस्याः सीमन्तदण्ड विमनायितस्य ॥ १६३ ॥

पितामहो ब्रह्मा पितु पिता च इत्यमुना प्रकारेण विमनायितस्य विरुद्धमना इवाच-
रितस्य विमनस्कीभूतस्य मदनस्य । उत्प्रेक्ष्यते—तस्या मन्युभुङ्गानिन्या सीमन्तमेव
दण्ड प्रतिभटकोटिकटकाप्रतिहृतिप्रचण्डदण्डरत्नमदादिव पौत्र प्रेम्णा प्रदत्तवानिव । इति
किम् । स्वदेहदाहे शम्भुना कोपानलेनात्मशरीरभस्मीकरणसमये ज्वलिता दग्धा भ-
सितीभूतामस्त्रमाला प्रहरणपटली प्रेक्ष्य निर्णाय । अयो भस्मीभूताशेषास्त्रसघातेन
मया विजयिना मदनेन विश्व त्रिभुवन कथं केन प्रकारेण जेय जेतव्य पराभवनीय
वशीकर्तव्य वा इति ॥

सिन्दूरपूरप्रचितेन तस्याः सीमन्तदण्डेन शिरोरुहाली ।

विद्युद्विलासेन पयःप्रपूर्णा पयोमुचा पङ्क्तिरिव व्यराजत् ॥ १६४ ॥

पूरशब्दोऽत्र लक्षणया समूहवाची । सिन्दूरपूरेण शृङ्गारभूषणगणेन प्रचितेन व्याप्तेन ।
सिन्दूरपूरितेनेत्यर्थ । सीमन्तदण्डेन कृत्वा तस्या देवताया शिरोरुहाली कचच्छटा
व्यराजद्भाति स्म । का केनेव । पङ्क्तिर्विद्युद्विलासेन । यद्वा पयोभि पानीयै प्रपूर्णाना
निर्भर भृताना पयोमुचा वर्षन्मेघाना मालिका तडिद्विलसितेन कृत्वा विद्युद्विजृम्भितेन
कृत्वा विराजते ॥ इति सीमन्त ॥

प्रफुल्लमल्लीकुसुमावनद्धयत्केशपाशः स्फुरयावभूव ।

अपूजि पुष्पैरिव चामरादिद्विषज्जयस्यावसरे दिगीशैः ॥ १६५ ॥

प्रफुल्लैर्विकसितैर्मल्लया मल्लिकाया विचकिलस्य । 'मल्लीभि प्रतिमल्लीभाव दधती वि-
भाति भावत्की' इति राजवर्णने । कुसुमे पुष्पैरवनद्धो ग्रयितो यस्या मरुत्सीमन्तिन्या के-
शपाशः स्फुरयावभूव विभ्राजते स्म । अत्र स्वार्थे जि केवलार्थकययित्री । उत्प्रेक्ष्यते—
चामरादीनाम् । आदिशब्दात्कलापिकलापविधुतुदक्षपाणाना ग्रहः । द्विषता परस्परस्पर्धा-

विर्भावाद्वेरिणामेव विजयस्य पराभवनस्यावसरे प्रस्तावे दिगीर्णस्तद्वैरिविजयव्यालोकनोद्भू-
ताद्वेताश्चर्येशेषाशापालकै पुष्पै कुसुमै कृत्वा अपूजि पूजितोऽभ्यर्चित इव ॥

संदर्भितान्तर्मुचकुन्दमल्लीकचच्छटाया कपटादमुष्याः ।

वक्त्रेन्दुना मैत्र्यविधिन्मयेव ताराङ्कितेयं कुहुराजगाम ॥ १६६ ॥

सदभो रचनाविशेषः सजातो यामा ता सदर्भिता ग्रयिता अन्तर्मध्ये मुचकुन्दाः
कुन्दद्रुमास्तथा मल्लयो नवमल्लिका । 'मल्लिका स्याद्विचकिल ममला नवमालिका' इति हे-
म्याम् । अर्थान् तद्विकमितविकचकुसुमानि यस्या तादृश्या कचच्छटाया कुन्तल-
मालिकाया कपटाद्व्याजादिय दृश्यमाना कुहुरमावास्या आजगाम समागता । किंभूता ।
ताराङ्किता ग्रहनक्षत्रतारककलिता । उत्प्रेक्ष्यते—अमुष्या अनिमिष्या वक्त्रेन्दुना वदन-
कुमुदिनीदयितेन सम सार्व मैत्र्य सौहार्द तस्य विवित्सया विधातुमिच्छया एव कर्तुं
काङ्क्षयेव ॥ इति केशपाशे कुसुमरचना ॥

वेणीकृपाणा भुजकर्णपाशा नासानिषङ्गा नयनाशुगा च ।

भ्रूकार्मुका कान्तनितम्बचक्रा सरास्रशालेव सुरी चकासे ॥ १६७ ॥

● सुरी शासनदैवतमत्तेभगमना चकासे दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्मरस्य मधुसारथे-
रन्त्राणामायुधाना शाला सदनमिव । आयुवान्येव दर्शयति—कि वेणी कवरी सैव कृ-
पाणश्चन्द्रहासासिर्यस्याम् । पुन किंभूता । भुजौ बाहू तथा कर्णा श्रवणावेव पाशा बन्धन-
ग्रन्थयो यस्याम् । पुन किंभूता । नामा गन्वज्ञा सैव निषङ्गस्तूणीरो यस्याम् । पुन
किंभूता । नयने लोचने एवाशुगौ बाणौ यस्याम् । पुन किंभूता । भ्रूरेव कार्मुक श-
रासन धनुर्यस्याम् । पुन किंभूता । कान्तो मनोजो वैरिणा कस्य सुखस्यान्तोऽवसान
यस्मात्तादृशो वा नितम्ब आरोह एव चक्र रथाङ्ग यस्याम् । 'रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे
गुण च लावण्यजल च बाला । तारुण्यमूने कुचकुम्भकर्तुं विभर्ति मन्ये सहकारि चक्रम् ॥'
इति नेपथे नितम्बस्य चक्रोपमानम् । 'स्तनकलशकारकस्य तारुण्यकुलालस्य यौवनकु-
म्भकारस्य बाला दमयन्ती सहकारिकारणाना चक्र समूह विभर्ति इत्येवमह शङ्के । का-
रणान्याह—रोमावत्येव चक्रभ्रामको दण्ड नितम्ब एव चक्र गुण सूत्र स्वाभाविकस्त्री-
गुणव्रजश्च लावण्यमेव जलम्' इति तद्वृत्तिः ॥

विभूषणैः स्वर्णमणिप्रणीतैर्वसन्तलक्ष्मीरिव नैकपुष्पैः ।

विदिद्युते सा मलयानलैरिवामोदैर्दिश सौरभयन्त्यहर्निशम् ॥ १६८ ॥

सा आदितेयवासतेया वरवदना विदिद्युते विशेषेण द्योतते स्म । कै । स्वर्ण जात्य-
जाम्बूनद मणयो नैकविवरत्नानि तै प्रणीतैर्घटितैर्विभूषणैराभूषणै । केव । वसन्तलक्ष्मी-
रिव यथा सुरभिसमयश्री । 'वसन्त इष्य सुरभि पुष्पकालो बलादक' इति वसन्तना-
मानि हेम्याम् । नैकैरनेकप्रकारैर्विविधजातीये पुष्पै कुसुमै कृत्वा दीप्यते । कि कु-

र्वन्ती । आमोदै स्वाभाविकशरीरसुरभिताभिर्वदनारविन्दामोदैर्वा दिशः सर्वा अपि ककुभः
अहर्निश नित्य सौरभयन्ती सौरभकलिता कुर्वन्ती । सुरभेर्भाव सौरभम्, सौरभयुक्ता
करोतीति सौरभयति । सुगन्धयन्ती । कैरिव । मलयानिलैरिव । यथा मधुश्रीर्दाक्षिणा-
त्यमारुतै कृत्वा दिशः सुगन्धीकरोति ॥

दिव्यैर्दुकूलाभरणैर्विभूषिता संपूरयन्ती जगतामपीहितम् ।

आकृष्य भाग्येन विभोर्मरुल्लता नीता पुरस्तादिव देवता बभौ ॥ १६९ ॥

देवता शासनदेवी बभौ शुशुभे । किभूता । दिव्यैर्देवतासबन्धिभिर्दुकूलैः क्षौमैः तथा
आभरणैः कनकमणिविभूषणैः कृत्वा विभूषिता अलकृता । किं कुर्वन्ती । जगता
जगजनानां विशेषतो जिनशासनैकतानलीनमनसा भव्यलोकानामीहितमैहिकयावन्म-
नःकामित संपूरयन्ती पूर्णकुर्वन्ती । इच्छापूर्णपर्यन्तं प्रयच्छन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—
विभोर्गुरोर्भाग्येन सुकृतेन आकृष्य पुरस्तानीता मरुल्लता सुरवीरुत्कल्पवल्लीव ॥

निखिलदिविषद्योषालेखाकुमुद्वनकौमुदी

श्रिततनुलता तद्भाग्यश्रीरिवामरसुन्दरी ।

नखरशिखरादारभ्येति क्रमाच्चिकुरावधि

प्रथितसुषममाश्लिष्यन्ती पुरः शुशुभे प्रभोः ॥ १७० ॥

अमरसुन्दरी श्रीजिनशासनाविदेवता प्रभोर्हीरविजयसूरीश्वरस्य पुरोऽग्रे शुशुभे वि-
भाति स्म । किभूता । निखिला समस्ता ये दिविषदो देवास्तेषां भवनपति-वानव्यन्तर-
ज्योतिष्क-वैमानिकनाकिना योषा विलासवत्यः तासां लेखा श्रेणयस्ता एव कुमुदा
कैरवाणां वनानि तेषामाह्लाददायकत्वेन कौमुदी चन्द्रचन्द्रिका । प्रायो ज्योत्स्ना हि
गाननर्तनविविधविलसनप्रकारैः स्वकामुककलितयामिनीनामेव विशेषत आनन्ददायिनी
स्यादिति तद्विशेषणम् । यदुक्तं च—‘कुरु चन्द्र तथा ज्योत्स्ना विभाति न निशा यथा ।
ताम्बूलीदलवत्प्रेयान्यतो मोक्तुं न शक्यते ॥’ अत्रार्थः दोषकोऽपि—‘चन्दाकरिति म
चादणी जिम रयणविहाय । नागरवेलीपान जिम कतन मेढ्यो जाय ॥’ इति चन्द्रिकावाञ्छ-
यमपि स्त्रीणाम् । किं कुर्वन्ती । नखरशिखरात् चरणनखशिखाया आरभ्य क्रमादनु-
क्रमेण चिकुरा केशा अवधि सीमा यत्र तादृशी प्रथिता सुरासुरनरनिकरविख्याता
सुषमा सातिशायिनी श्रियमाश्लिष्यन्ती । आलिङ्गन्ती आश्रयन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—
श्रिता अङ्गीकृता गृहीता वा तनुलता शरीरयष्टिर्यथा तादृशी तस्य हीरसूरेर्भाग्यश्रीमूर्तिं
पुण्यलक्ष्मीरिव ॥

य प्रासूत शिवाह्वसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्र कोविदासिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाहीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गोऽजनिष्ठाष्टमः ॥ १७१ ॥

पण्डितदेवविमलगणिविरचिताया खोपज्ञहीरसौभाग्यनाममहाकाव्यवृत्तौ अष्टाना स-
ख्यापूरणोऽष्टम सर्गो बभूव जात ॥

इति पण्डितमीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिताया खोपज्ञहीरसौभा-
ग्यनाममहाकाव्ये ध्यानविधानशासनदेवीसमागमनत्सर्वाङ्गवर्णनो नामाष्टम सर्गः ॥

नवमः सर्गः ।

अथ सा त्रिदशी सूरिपुरहृतपुरो व्यभात् ।

मुक्तिसीमन्तिनीमुक्तदूतीव विवरीषया ॥ १ ॥

अथ ध्यानविधानममये पुर प्रत्यक्षागमनानन्तर सा पूर्वव्यावर्णितस्वरूपा त्रिदशी शा-
सनदेवता सूरिषु पुरहृत पुरदरो हीरविजयसूरीन्द्रस्तस्य पुरोऽभ्यासे व्यभाद्विभाति
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मुक्तिः सिद्धिरेव सीमन्तिनी अत्रार्थात्स्वयवरवनिता अथ वा का-
मुकी अन्या सामान्या वशा तथा मुक्ता प्रेषिता दूती शासनहारिकेव । 'शासनहारिणा
हरे' इति रघौ । किं चिकीर्षया । विशेषेण महामहपुर सर वरीतु पाणि गृहीतुमिच्छया
परिणयनाभिलाषेण ॥

वाग्विलासैः सृजन्तीव हारहूरावहेलनाम् ।

तृणता च नयन्तीव निक्कणं वेणुवीणयो ॥ २ ॥

पिकीव पञ्चमोद्गारमृतोः सख्युर्मनोभुवः ।

गीर्वाणगृहिणी वाणी श्रमणेन्दो पुरोऽग्रहीत् ॥ ३ ॥

सा गीर्वाणगृहिणी शासनसुरी श्रमणेन्दोर्मुमुक्षुक्षणदारमणस्य पुर पुरस्ताद्वाणीं वाच-
मग्रहीजग्राह । वचनमुवाचेत्यर्थः । केव । पिकीव । यथा कोकिला मनोभुवः स्मरस्य
सख्युर्मित्रस्य ऋतोर्वसन्तस्य । 'सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनम्' इति नैषवे । तथा 'ज-
यति मधुसहाय सर्वससारवल्ली' इति चम्पूकथायाम् । पुर अग्रे पञ्चमोद्गार पञ्चमनाम्ना
श्रीराग-वसन्तराग-पञ्चमराग-भैरवराग-मेघमल्हारराग-नट्टनारायणराग-एतेषु पट्-
स्वपि रागेषु प्रायो विलासिना पुमा पञ्चमरागो वल्लभ स्यात् । अतः पञ्चमनाम्नो राग-
स्योद्गार ध्वनित गृह्णाति । पञ्चमालाप कुरुते इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—देवी वाग्विलासैः
स्ववचनरचनावैचित्र्याभि कृत्वा हारहूराणां गोस्तनीनां द्राक्षाणामवहेलनामवगणना
सृजन्तीव विदधतीव । च पुनर्वेणुवीणयोः वशविषययोर्निक्कण मधुरध्वनि तृणता न
किञ्चित्करता नयन्ती प्रापयन्तीव ॥ युग्मम् ॥

स्वयं श्रमणशक्रेण ध्यानेनेवानुगामिना ।

यदाहूतानुगृह्णाह कारण तत्प्रसाद्यताम् ॥ ४ ॥

अनुगामिना सेवकेनेव ध्यानेन सूरिमन्त्रस्य प्रणिधानेन स्मरणेन जापेन वा कृत्वा श्रमणशक्रेण वाचयमवास्तोष्पतिना स्वयमात्मना यत्कारणमुद्दिश्य अनुगृह्य ममोपर्यनुग्रह प्रणीय प्रसाद प्रविवाय अहमाहूता आकारिता तदाकारण यत्कारण सहेतुः प्रसाद्यता निगद्यताम् । ममेति शेषः ॥

व्यापार्य कार्यं कचन किंकरी मां कृतार्थय ।

वज्रस्वामीव पद्मस्यार्थने पाथोविनन्दनाम् ॥ ५ ॥

हे प्रभो सूर्ये, कचन कस्मिन्कार्ये कर्तव्ये व्यापार्य आज्ञामनुज्ञा वा प्रदाय दत्वा किंकरीं श्रीमच्चरणसरोरुहसेविका मा त्वं कृतार्थय सफलीकुरु । क इव । वज्रस्वामीव । यथा द्वादशाब्दिके दुर्भिक्षे स्वकप्रावरणकल्पाध्यासनपूर्वकं बौद्धदेशसमानीते तद्वैद्वन्नुपादेशानवाप्तकुसुममात्रविमनायितेन सधेन पर्युषणापर्वणि जिनपूजाकृते कुसुमानयनार्थमभ्यर्थितं स्वपितुर्मित्रादेशागृहीतविशतिलक्षकुसुमं श्रीवज्रस्वामी पद्महृदे गत्वा लक्ष्म्या प्रेक्ष्य नमस्कृत्य चागमनकारणप्रश्नानन्तरं सहस्रपत्रपद्ममार्गणेन ग्रहणेन पाथोविनन्दना समुद्रपुत्री श्रियं कृतार्थयामास ॥

निगद्येति जिनाधीशशासनामरसुन्दरी ।

भेजे जोषं मुखे शारदीनेव शिखिमण्डली ॥ ६ ॥

जिनानां सामान्यकेवलिनामधीशस्य तीर्थकरत्वात्स्वामिनः श्रीमहावीरस्य शासनस्यामरसुन्दरी देवाङ्गना इत्यमुना प्रकारेण निगद्य कथयित्वा मुखे वदने जोषं मौनं भेजे सेवते स्म । 'जोषमासनविशिष्य वभाषे' इति नैषधे । तथा 'तूष्णीं तूष्णीका जोषं च मौने' इति हैम्याम् । मौनं कृत्वा स्थितवतीत्यर्थः । केव । शिखिमण्डलीव । यथा शारदीना शरत्कालसबन्धिनी । घनात्ययसमये इत्यर्थः । शिखिमण्डली मयूरमाला मुखे जोषं भजते न ब्रवीतीत्यर्थः । यदुक्तं माघकाव्ये—'समय एव करोति बलावलं प्रणिगदन्त इतीव मनीषिणः । शरदि हसग्वापरुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणीयताम् ॥' इति ॥

यदास्यकौमुदीकान्तवाक्पीयूषाभिलाषिणी ।

चलचञ्चुचलच्चक्षुरिव सा रभसादभूत् ॥ ७ ॥

सा देवी रभसादौत्सुक्यात् चलचञ्चुश्चक्षुरस्य चलच्चक्षुश्चञ्चललोचना वनिता चकोरी तद्वदभूत्सजाता । किभूता । यस्य सूरिन्द्रस्य आस्यमानेन तदेव कौमुदीकान्तश्चन्द्रस्तस्य वाग्वाणी एव वचोरूपं वा पीयूषं सुधारसस्तदभिलषति वाञ्छतीत्येवशीला । 'कणे हृत्य चकोरीणां गणं पीत्वा सुधारसम् । अजायत मदेनेव गुञ्जापुञ्जारुणेक्षणा ॥' इति ज्योत्स्नापाने सत्यपि चकोरीणां सुवापानं कीर्तिकौमुद्याम् ॥ इति गुर्वभिप्रायजिज्ञासया देवीप्रश्नः ॥

वाचं वाचंयमश्रेणीरोहिणीरमणस्तत ।

तत्पुरो ग्राहयामास सुधाया औरसीमिव ॥ ८ ॥

ततो देवीवचनानन्तर वाचयमाना श्रमणाना श्रेणीषु धोरणीषु रोहिणीरमण विभावरीवल्लभ सूरीन्द्र तत्पुरो जिनशामनदेवतापुरस्तादग्रे वाच वाणी ग्राहयामास ज ग्राह । उवाचेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—सुधाया अमृतस्य औरसी मुजाता केवलपिनृभा-
त्रोरुत्पन्नामिव नन्दिनीमिव । ‘मुजातस्त्वारसौरस्यौ’ । पुत्री त्वारसी । ‘उदयुरेष व्यम-
जन्निर्जारसीम्’ इति नेपथे ॥

अदृग्गोचरपारस्य वाङ्मयस्याम्बुधेरिव ।

यन्मनीषा सुख देवि तरीव पारदृश्वरी ॥ ९ ॥

विनेया विनयावासाः कतिचित्ते ममास्ते ।

शौण्डीरिमधरा गन्धसिन्धुरा इव बन्धुराः ॥ १० ॥

हे देवि, मम ते स्वगुणैवख्यातिभाज कतिचित्क्रियत्सख्याका विनेया शिष्या आसते सन्ति । ‘आमते शतमविद्विति भूपास्तोयराशिरमि ते खलु कूपा’ इति नेपथे । तथा ‘सत्तायामस्त्यास्ते’ इति क्रियाकलापे । किंभूता । विनयावासा विनयकुलमन्दिराणि । पुन किंभूता । बन्धुरा कौलीन्यादिगुणोपेता । पुन किंभूता । शौण्डीरि-
माण कर्मसपन्नसेना प्रतिशौर्यं वरन्तीति । के इव । गन्धसिन्धुरा इव । यथा गन्धह-
स्तिन प्रत्यर्थिपृतनापराभवनपटवो भवन्ति । ते के । येषां विनेयानां मनीषा प्रतिभा
सुख यथा स्यात्तथा अदृग्गोचरो नयनविषयो न चक्षुर्ग्राह्य पार परतीर यस्य । पार-
शब्द पुनपुसकलिङ्गयोः । तादृशस्याम्बुधेरिव समुद्रस्येव वाङ्मयस्य सिद्धान्तस्य सर्वशा-
स्त्रस्य वा तरीव नौरिव पारदृश्वरी पार दृष्टवतीति पारगामिनी । ‘वनोरचू’ । ‘वनन्तात्त्रि-
यामीप्रत्ययो भवति रश्चान्तादेश’ इति प्रक्रियासूत्रेण ईप्रत्यय, नकारस्य रकार ।
पारदृश्वरी ॥ युग्मम् ॥

मध्येऽमीषा विनेयानां कतम कमलानने ।

भास्वान्विणोरिव पदे ममास्त्यभ्युदयगमी ॥ ११ ॥

हे कमलानने पद्मवदने शामनदेवि, अमीषा विनेयानां शिष्याणां मध्ये कतम शिष्यं
मम पदे पदे अभ्युदय पटवारिता गमिष्यत्यभ्युदयगमी अस्ति । अभ्युदय जगद्विख्यातता
गमिष्यतीत्येवशीलो गमी । ‘भविष्यति गम्यादयः’ । ‘गम्यादीनामुपसख्यानणिनि वा वृ-
द्धिर्यति’ । यदुक्तं नेपथे—‘साधोरपि स्व खलु गामिनावोगमी स तु स्वर्गमित
प्रयाणे’ इति । साधनिका तु प्रागुक्ता विकल्पेन वृद्धिर्गामी गमी । क इव । भास्वानिव ।
यथा भास्करो विष्णोः पदे गगने अभ्युदय गच्छति ॥ इति गुरोर्देवीप्रश्नः ॥

एवमालपिता तेन तं सुरी पुनरूचुषी ।

प्रावृषेण्यमिवाम्भोदं नभोम्बुपनितम्बिनी ॥ १२ ॥

तेन हीरविजयसूरिणा एवममुना प्रकारेण आलपिता भाषिता भाविपट्टघराभिवान पृष्टा सती सुरी निर्जरी पुनर्द्वितीयवारमूचुषी भापितवती । जगादेत्यर्थः । केव । नभो-म्बुपनितम्बिनीव नदीहृदनिपानादिनीरमनीहृमान केवल नभस आकाशाद्धनाघननिर्मु-क्तमम्बु पिबतीति नभोम्बुपो वप्पीहस्तस्य नितम्बिनी प्रमदा चातकी तेन जीवनदाना-दिना जगत्प्रसिद्धेनार्थान्मेघेन गर्जितेन गभीरगर्जारवेणालपिता वादिता सती प्रावृषेण्य वर्षाकालसबन्धिनम् । 'प्रावृषेण्य पयोवाह विद्युदैरावताविव' इति रघुवशे । तथा प्रावृष एण्यप्रत्ययः । इति प्रावृषेण्यनिष्पत्तिः । अम्भोद जलधर प्रति ब्रवीति ॥

आस्ते श्रीजयविमलो यस्तेऽन्तेवासिवासवः ।

स ते दम्यो रथस्येव धुरं पट्टस्य धास्यति ॥ १३ ॥

हे प्रभो, यस्ते तवान्तेवासिना शिष्याणां मध्ये वासव इव वासवो मघोनः सदृश अखिलशिष्यशिखारत्न श्रिया शोभया युक्तो जयविमल इति नामा वर्तते स जयविम-लप्रज्ञाश ते तव पट्टस्य धुरं धास्यति धारयिष्यति । क इव । दम्य इव । यथा प्रयम-वया गौरयवा प्रौढीभूतो वत्सो वत्सतरः । लोके 'गोवो' इति प्रसिद्धः । दम्यो रथस्य धुरं दधाति । 'गुर्वो धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्य सदृश विभर्ति' इति रघौ ॥

त्वया विश्राणिता देव विधिना स्वपदेन्दिरा ।

वार्धिना विष्णुनेव श्रीश्चिरमेतेन रंस्यते ॥ १४ ॥

हे देव हे भट्टारक, त्वया प्रभुणा स्वपदेन्दिरा निजपट्टलक्ष्मीर्विधिना पूर्वाचारैरुक्त-कृतप्रकारेण विश्राणिता प्रदत्ता सती एतेन जयविमलप्रज्ञाशेन सम चिर बहुकाल यावत् रंस्यते क्रीडिष्यति । केव । श्रीरिव । यथा वार्धिना क्षीरनीरनिधिना विधिना वे-दोक्तप्रकारेण विश्राणिता वितीर्णा पाणौ ग्राहिता श्रीर्निजनन्दना लक्ष्मीर्विष्णुना स्व-प्रेयसा साकं चिरं रमते ॥

तं गुणैरप्रतीकाशं त्वद्गुणश्रीः श्रयिष्यति ।

वल्ली विवर्धमानेव स्मयमानमहीरुहम् ॥ १५ ॥

हे सूरिपुरदर, त्वद्गुणश्रीः तव गुरुपरम्परायाता तपागच्छलक्ष्मीर्गुणैः शमदमार्जवमा-र्दवज्ञानादिभिरप्रतीकाशमनन्यसामान्यं तं जयविमलं श्रयिष्यति सेविष्यते । केव । वल्लीव । यथा विवर्धमाना प्रावृषेण्यप्रवर्षत्पयोधराभिप्रेकप्रसभप्रवृद्धिं प्राप्नुवती लता स्मयमाना विकसितपल्लवपत्रपुष्पफलकलापकलितमहीरुहपादपश्रयते भजते ॥

पट्टधुर्येऽङ्गजे राज्ञा युवराज इवोर्जिते ।

त्वयास्मिन्निर्मिते कापि भाविनी शासनोन्नतिः ॥ १६ ॥

हे हीरविजयसूरे, त्वय्याम्बिन् जयविमलप्रज्ञाने पट्टधुयं गणभारधुरीणे निर्मिते कृते काप्यद्भुतवैभवा जगदाश्चर्यकारिणी शामनस्य श्रीजिनमतस्योन्नतिर्भाविनी म-
वित्री । केनेव । राज्ञेव । यथा भूमीपतिना ऊर्जिते प्रबलबले युवराजे पट्टधुय निजरा-
ज्यधुराधुरधरे विहिते सति शासनानामुपलक्षणान् पुरनगरग्रामजनपदानां न्यायविधिं वि-
दधति सति समुन्नतिर्भवति । 'दीयता दशलक्षानि शामनानि चतुर्दश' इति विक्रमार्कडा-
नपत्रे श्लोक । अथवा शामनस्याजाया काप्यद्वेता उन्नतिर्जायते । कोऽप्याजा नो-
लङ्घयतीत्यर्थः ॥

विक्रमार्क इव श्रीमत्सिद्धसेनदिवाकरात् ।

त्वत्तस्तदनु कोऽप्युवीरधो बोधिमवाप्स्यति ॥ १७ ॥

हे देव, तस्य जयविमलस्य पट्टस्थापनानन्तरं त्वत्त श्रीमन्मकाणां कोऽप्यद्भुत-
वैभवः । उवा पृथिवी तस्या प्रबलप्रतापै ब्रह्म इव ब्रह्म सहस्रकिरणरुदृशो महामण्ड-
लीकमुहीपतिर्बोधि समत्वमवाप्स्यति लप्स्यते । क इव । विक्रमार्क इव । यथा श्री-
मतः पूर्वादिज्ञानानिशाचिगुणै कलिकालसर्वज्ञ इति विरुद्धधारणामावारणलक्ष्मीवत् ।
सिद्धसेनदिवाकराद्विक्रमादित्यनृपो बोधिबीजमवाप्तवान् ॥ इति देवतया पट्टधुरधर-
कथनम् ॥

समाकर्ण्य सूरिवर्ण्यमानं तं पिप्रिये प्रभु ।

रथाङ्गवन्निशावेदिगदिताभ्युदयं रविम् ॥ १८ ॥

प्रभु सूरिन्द्र सूर्यां शासनदेवतया वर्ण्यमानं श्राव्यमानं तं जयविमलनामानं प्रज्ञाश-
समाकर्ण्य श्रवणगोचरीकृत्य पिप्रिये निजपट्टाभ्युदयविभावनाभिप्रायेण हृदये परमा-
प्रीतिं प्राप्तवान् । 'प्रीड प्रीता' । जहर्षेत्यर्थः । किवत् । रथाङ्गवत् । यथा चक्रवाक-
निशावेदिभिस्ताम्रचूडैर्गदितो निवेदितोऽभ्युदय उद्गमनममयो यस्य तादृश रवि-
दिवाकरः प्रीयते प्रियाभिः परम्परवियोगापगमाशया हस्यति ॥

इत्यतर्क्यत तेनान्तर्भाग्यसौभाग्यभूरसौ ।

प्रणुन्नयेव पुण्यैर्यन्त्रिदश्यापि प्रशस्यते ॥ १९ ॥

तेन सूरिणा अन्तर्मनोमन्त्रेण इत्यमुना वक्ष्यमाणप्रकारेण अतर्क्यत विचार्यते स्म । इति-
किम् । यदसौ मन्त्रिनेयो जयविमलाभिवानविवुधः भाग्य भागधेयः पुण्य तथा सौभाग्य-
सुभगता लोके विख्यातिर्वा तयोर्भूः स्थानं वर्तते यद्यस्मात्कारणात् त्रिदश्या जिनशास-
नवृन्दारिकयापि प्रशस्यते । उत्प्रेक्ष्यते—पुण्यैर्यात्तमुकृतैः प्रणुन्नया प्रेरितयेव ॥

मेरुभूरिव मात्येषा जिनपट्टपरम्परा ।

समुद्भवन्ति येनास्या सूरिन्द्राः स्वर्द्धुमा इव ॥ २० ॥

एषा नि शेषगणधरधोरणी तरुणीचूडामणीभूता अभ्युदिता अभ्युदीयमाना अभ्यु-

दयप्रापयित्रीव जिनस्य श्रीमन्महावीरभगवतः पद्मना परम्परा श्रेणी मेरुभूरिव स्वर्णा-
चलमेदिनीव भाति विभाति । येन कारणेन अस्या जिनपट्टपरम्परायां मेरुमेदिनीध-
रवनभूमौ च खड्गमा कल्पवृक्षा इव सूरीन्द्रा समुद्भवन्ति प्रकटीभवन्ति ॥

अर्हन्मतैकमलयोद्भूतसूरीन्द्रचन्दनैः ।

यशःप्रसृमरामोदैः सुरभीक्रियते जगत् ॥ २१ ॥

अर्हन्मत श्रीमज्जिनशासन तदेकमलयो दक्षिणाचलस्तत्रोद्भूता प्रादुर्भाव प्राप्ता-
पट्टवुरीणभाव लम्बिता ये सूरीन्द्रा आचार्यास्त एव चन्दना श्रीखण्डशाखिनस्तै क-
र्तृभिर्यशासि कीर्तय एव प्रसृमरा दशदिक्षु विस्तरणशीला ये आमोदाः परिमलास्तै-
कृत्वा जगदखिलमपि भुवन सुरभीक्रियते । सुगन्ध विधीयते इत्यर्थः ॥

इत्यन्तरुदयत्प्रीतिमेकलाद्रिकनीप्लवे ।

निचिखेल चिरं गन्धसिन्धुरेन्द्र इव प्रभुः ॥ २२ ॥

प्रभुः सूरिः इत्यमुना प्रकारेण अन्तश्चेतसि उदयन्ती प्रकटीभवन्ती या प्रीति प्र-
मोद । 'प्रीति स्मरस्त्रिया प्रेम्णि योगमुदो' इत्यनेकार्थः । सैव मेकलनामा अद्रि प-
र्वतविशेषस्तस्य कनी कन्या पुत्री । नर्मदा नदीत्यर्थः । तस्या प्लवे पानीयपूरे । 'नर्मदा
मेकलाद्रिजा' इति हैम्याम् । तथा 'समुत्तीर्य भगवती मेकलकन्याम्' इति चम्पूकथा-
याम् । चिर बह्वी वेला यावन्निचिखेल क्रीडति स्म । क इव । गन्धसिन्धुरेन्द्र इव । यथा
कपोलपालीप्रमुखसप्तस्रोतोनि सरन्मदाम्भ प्रवाहाघ्राणमात्रपलायितापरसिन्धुरधोरणीव-
न्धुरगन्धोपलक्षितसिन्धुरेन्द्रो मेकलशैलनन्दिन्या नर्मदाया पयःप्रवाहे चिर स्वेच्छा-
पूरणपर्यन्त खेलति ॥ इति गुरोर्हृदये विमर्शः ॥

लोकान्कोकानिवाह्लादं लम्भयन्भानुमानिव ।

दानलीलायितैर्हेला कल्पयन्कल्पभूरुहाम् ॥ २३ ॥

प्रबोध विदधत्प्रातरिवाशेषजनुष्मताम् ।

पुष्पकाल इवोल्लास प्रणयन्सुमनःश्रियाम् ॥ २४ ॥

त्व चिरं नन्द सूरीन्द्रेत्यभिनोनूय निर्जरी ।

ततस्तच्चरणाम्भोज भ्रमरीव चुचुम्ब सा ॥ २५ ॥

ततोऽनन्तर सा निर्जरी शासनदानवद्विषत्रस्यत्पृषती विलोचना भ्रमरी भृङ्गाङ्गनेव
तच्चरणाम्भोज प्रभुपादारविन्द चुचुम्ब चुम्बति स्म । नमस्करोति स्मेत्यर्थः । किं कृत्वा ।
इत्यमुना प्रकारेण पुरोऽत्रैवानुष्टुभा त्रिके वक्ष्यमाणप्रकारेण अभिनोनूयातिशयेन स्तुति
निर्माय । इति किम् । हे सूरीन्द्र हे आचार्यपर्जन्य, त्व चिर गलितावधिसमय नन्द
जयवान् प्रवर्तस्व पर्वतायुष्कवान् भवतात् । 'दुनदि समृद्धौ' अस्य धातो प्रयोगत्वात् ।
ज्ञानदर्शनचारित्रादिका समृद्धिः लभस्व वा जीया वा । त्व किं कुर्वन् । लोकान् जग-

जनान् भाविनि भूतोपचारात् अमारिजीजियकादिकरवन्दिमोचनप्रकारेणाह्लाद प्रमोद धर्मोपदेशप्रदानादिना भाविकलोकान् आनन्द लम्भयन् प्रापयन् । क इव । भानुमानिव । यथा सहस्ररश्मि कोकाश्चक्रवाकानाह्लाद लम्भयति । पुन किभूत । दानलीलायिते. स्व-विश्राणनविलम्बितै कृत्वा कल्पभूरुहा सुरतरुणा हेलामवगणना कल्पयन् कुपेन । अत्र गर्भितोपमा । पुन किभूत । अशेषजनुष्मता समस्तजन्तुजाताना प्रबोध विदधन् । कि-मिव । प्रातरिव । यथा प्रभात दिवसमुख सर्वजनाना जागरण विनिद्रता विवर्त्ते । जागरयतीत्यर्थ । पुन किभूत । सुमन श्रिया सुशोभन निष्पापापद्रोहनिर्दम्भसर्वमन्वहि-तावह मनो येषा तेषामुत्तमाना श्रिया लक्ष्मीणा उल्लास स्फारीभाव प्रणयन् सृजन् । क इव । पुष्पकाल इव । यथा वसन्तसमय कुसुमश्रीणा विकास प्रणयति कुरुते । अथ वा पूर्वश्लोकद्वयप्रतिपादितानि शत्रन्तानि सवोवनान्येव ज्ञेयानि । 'गतिस्तयोरेष जन-स्तमर्दयन् हा विधे त्वा करुणा रुणद्धि न ' इति नेपथे । 'हे अर्दयन् हे विधे' इति तद्वृत्ति । तथा सवोवने च । 'सवोवनेऽपि शत्रानशौ भवन् । हे पचन् हे पचमान जयमान' इति प्रक्रियायाम् । एव सवोवनैर्वाभिष्टुत्य देवता प्रणमति स्म ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

ततोऽस्या धर्मलाभाशीर्व्यश्राणि श्रमणेन्दुना ।

श्रेय.सिद्धेरुपादान तस्याः सप्रस्थिताविव ॥ २६ ॥

ततो देवीप्रणमनानन्तर श्रमणेन्दुना सूरिचन्द्रेण अस्या देव्या धर्मलाभाभिवा आ-शीर्मङ्गलशसनवाक् व्यश्राणि विश्राणिता प्रदत्ता । उत्प्रेक्ष्यते—तस्या सप्रस्थितौ सम्य-कशुभावहप्रयाणे स्वगृहगमनावसरे श्रेयस कल्याणस्य सिद्धेर्निष्पत्तेरथ वा सर्वमङ्गलकु-लगृहसिद्धेरुक्तेरुपादान परम कारणमिव ॥

पुनः स्वल्पेऽपि कार्येऽह धुर्येण गणधारिणाम् ।

प्रसादपात्रीकर्तव्या किकरीवामरी त्वया ॥ २७ ॥

हे देव, गणधारिणा गच्छभारसासहीना सूरीणा मध्ये धुर्येण धौरेयेण । गणवरवुर-धरेणेत्यर्थ । त्वया भगवता पुनर्द्वितीयवार स्वल्पे स्तोकेऽपि कार्ये कर्तव्ये किकरी चेटी दासीव अह श्रीमच्चरणसेविका अमरी शामनदेवता प्रसादस्य प्रसक्ते पात्रीक-र्तव्या स्थानक कार्या । स्मर्तव्येत्यर्थ ॥

इत्युदित्वा प्रभुं नत्वा मोदमेदस्विनी तत ।

क्षणिकेव क्षणादासीददृश्या द्योतिताम्बरा ॥ २८ ॥

देवी शासनसुरी क्षणात्क्षणमात्रान्निमेषमात्रात् क्षणिकेव विद्युदिवादृश्या दशोरगोचरा आसीत् । गतेत्यर्थ । किभूता । द्योतित स्वकान्त्या प्रकाशितमुद्द्योतयुक्त कृतमम्बर-माकाश यथा । पुन किभूता । मोदेन सूरिदर्शनोद्भूताद्वैतानन्देन कृत्वा मेदस्विनी रोमाञ्चकञ्चुकितकाययष्टित्वात्पुष्टा । हर्षप्रकर्षवतीत्यर्थ । कि कृत्वा । इति पूर्वोक्तप्रकारेण

उदित्वा कथयित्वा । प्रभो पुर इत्यध्याहार' । पुनरित्यस्याप्यध्याहार । प्रभु सूरिन्द्र
नत्वा प्रणम्य ॥ इति शासनदेवतागमनम् ॥

कलधौतावदातश्रीर्द्विजज्योत्स्नाविराजितः ।

कुर्वन्कुवलयोल्लासं विभुर्विधुरिवाभवत् ॥ २९ ॥

विभु श्रीहीरविजयसूरिः विधु सुधादीवितिरिवाभवत् जात । किंभूतः । कलधौत
काञ्चन तद्वदवदाता निर्मला पीता श्रीर्वपु शोभा यस्य । 'विभ्राजते तव वपु कनकाव-
दातम्' इति भक्तामरस्तोत्रे । चन्द्र किंभूतः । कलधौत रजत तद्वदुज्ज्वला मण्डललक्ष्मी-
र्यस्य । 'कलधौत रूप्यहेम्नो' इत्यनेकार्थः । पुन किंभूतः । द्विजाना दशनाना ज्यो-
त्स्नया कान्त्या विराजितः । पक्षे द्विजैश्चन्द्रपारिपार्श्वकैः सेवकविशेषैः । द्विजपतित्वाच्च-
न्द्रस्य । तथा ज्योत्स्नया चन्द्रिकया विराजितः शोभितः । पुन किं कुर्वन् । कुवलयस्य
भूमण्डलस्य प्रतिबोधदानादिना यशसा वा उल्लासमानन्दातिशयम् । पक्षे । कुवलयानां
चन्द्रविकाशिकमलानामुत्पलानां विकाशः कुर्वन् सृजनः ॥

अश्रान्तानन्तपदवीलङ्घनैः श्रान्तवानिव ।

शशी शनैः शनैरस्ताचलचूलामथाश्रयत् ॥ ३० ॥

अथ देवतागमनानन्तरं शशी शीतकान्तिः शनैः शनैर्मन्दं मन्दमस्ताचलस्य चर-
मात्रे प्रतीचीपर्वतस्य चूला शिखामाश्रयद्गजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अश्रान्तः विगतवि-
श्रामः यथा स्यात्तथा निरन्तरं विद्यते अन्तोऽवमानः यस्याः सा अनन्ता अपरिमिता प्र-
माणातीता या पदवी मार्गं गगनाङ्गणं तस्या लङ्घनैरतिक्रमणैः श्रान्तवान् श्रमं प्राप्त-
वानिव । यः परिश्रमं प्राप्तः स कुत्रचन विश्रामार्थमवतिष्ठते ॥

गर्भाश्मगर्भचन्द्राश्मकल्पितोत्तंसिकेव सा ।

अस्ताचलश्रीर्भाति स्म मौलिलीलायितेन्दुना ॥ ३१ ॥

मौलौ अर्थात् पश्चिमाचलस्य शिरःशिखरं लीलया स्वविचरणविलासेन न तु परस्य
कस्यापि बलेन आकर्षणादिवलात्कारेणाचरितमाचरणं यस्य स लीलाचरितस्तादृशेने-
न्दुना चन्द्रेण कृत्वा सा प्रमिद्धा चन्द्रस्योदयदायिनी द्वितीयायाः प्रथममस्ताचलादेवो-
दयत्वात् । अथ वा सूर्याचन्द्रमसयोरस्तकारकत्वेन ख्यातिमती अस्ताचलस्य पश्चिमपृ-
थिवीवरस्य श्रीर्लक्ष्मीर्भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—गर्भे मध्यप्रदेशे अश्मगर्भा मरकतमणयो
यस्याः । 'मरकत त्वश्मगर्भम्' इति हैम्याम् । तादृशी । चन्द्राश्मभिश्चन्द्रकान्तरत्नैः ।
'चन्द्रकान्तश्चन्द्रमणिश्चान्द्रचन्द्रोपलश्च स' इति हैम्याम् । यथा चन्द्रोपलस्तथा च-
न्द्राश्मा । कल्पिता रचिता उत्तसिका शेखरो यस्यास्तादृग्विधेव । 'विदर्भसुभ्रूणावत-
सिका' इति नैषधे । अवतसिका तथैवोत्तसिकापि ॥

चन्द्रश्चङ्क्रमणक्लान्तं स्वाशनायितरोहितम् ।

वनाय मोक्तुमस्ताद्रेरध्यास्त किमधित्यकाम् ॥ ३२ ॥

चन्द्रो मृगाङ्क अस्ताद्रेश्चरमाचलस्यावित्यकामूर्ध्वभूमी सर्वेशिर शिखरकाश्यपीम-
त्यास्त आश्रयति स्म । उप्रेक्ष्यते—चद्रमणे चतुर्यामीं यावदविश्रमेण निखिलनमोभ्रम-
णेन क्लान्त परिश्रान्त विभातप्रायाया विभावया स्वस्यात्मनः क्रोडानिशलाल्यमानपाल्य-
मानम् । अथ वाशना या बुभुक्षा सजाता अस्येत्यशनायित बुभुक्षाक्षामकुक्षि रोहितम-
ङ्कमृगभेदगतकुरङ्गम् । यतो 'मृगभेदारुरन्यकुरङ्गोर्कणशवराः । चमरुचीनचमरा समरा-
र्णस्य रोहिषौ । कदलीकन्दलीकृष्णसार पृषतरोहिता ॥' इति हेम्याम्, तथा 'त्रस्यच्च-
मूरुचलचक्षुषमाचचक्षे,' तथा 'नश्यत्पृषतीविलोचने,' तथा 'पृषत्किशोरी कुरुतामसगत
ऋथ मनोवृत्तिमपि द्विपाविषे,' तथा 'सुख वसत्येष कलङ्करङ्कु' इत्यादि नैषवे । मृ-
गभेदा मृगा एवोक्ता सन्तीति । तथैवात्र रोहितनामा मृगभेदविशेषस्त वनाय
चरणार्थं मोक्तुमिव । 'वनाय पीतप्रतिवद्वत्मा यशोवनो धेनुमृषेर्मुमोच' इति रघौ ।
मोचनार्थमिव ॥

विभुना वाक्मुधास्पन्दिवदनेन विधुर्जितः ।

तत्तुलाप्त्यै तपःकाङ्क्षीवागादस्ताद्रिगह्वरे ॥ ३३ ॥

विधु मृगाङ्क अस्ताद्रे प्रतीचीपर्वतस्य गह्वरे विविधविटपिकोटिसकटनिकुञ्जे गुहा-
या वा आगादाजगाम । उप्रेक्ष्यते—तस्य भगवद्वक्त्रस्य तुला सादृश्यमुपमा तस्या आप्त्यै
प्राप्तये आसादनार्थं तपःकाङ्क्षी तीव्र तपः कर्तुं काङ्क्षन्वाञ्छन् इव । किंभूतो विधु ।
वाच वाणीमेव सुवाममृतरस स्पन्दते क्षरन्मुद्गिरतीत्येवशीलेन वदनेन स्वीयाननेन
कृत्वा विभुना सूरिणा जित पराभूत ॥

दृष्ट्वा यान्त जघन्यायामन्तर्भूताभ्यसूयया ।

चन्द्रश्चन्द्रिकया रुच्य इव चण्डिकया जहे ॥ ३४ ॥

चन्द्र कैरविणीरमण चन्द्रिकया ज्योत्स्नया जहे त्यक्त । उप्रेक्ष्यते—अन्तर्मनो-
मये भूता प्रकटा जाता अभ्यसूया ईर्ष्या तयेव । किं कृत्वा । जघन्याया निकृष्टाया
जातेर्वा रूपाद्वा श्वपचरूपायामतिकुत्सिताया च । स्वभावतः स्त्रीजातावसूयाबाहुल्य
स्यात्सपत्नीमपि द्रष्टुं न शक्नोति ततोऽन्यस्याः का किवदन्ती । तत्रापि ता विशुद्धा वि-
श्वाह्लाददायिनीमेकपत्नी सती विहाय सकलद्वा जगद्विषादविवायिनी कुर्या मातङ्गाङ्ग-
नामेषोऽभिसरत्येषा महीयस्यसूया तयेव कृत्वोज्झित । अथ च जघन्या पश्चिमा ।
'अजघन्य प्रचेता । नल किंभूत । अजघन्य सर्वोत्कृष्ट । तथा प्रकृष्टमुत्तमत्वो-
चित चेतो मनो यस्य । तथा प्रचेता वरुणस्तु सजघन्य सह जघन्याया प्रतीच्या दिशा
वर्तते यः स तदविपत्तित्वात्' इति चम्पूकथायाम् । यान्त गच्छन्त गमन कुर्वन्तम्

दृष्ट्वा खलोचनगोचरीकृत्य । क इव । रुच्य इव । यथा चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः स्त्री चेच्च-
ण्डिका कृत कोप कथमप्यनुज्झन्त्या स्त्रिया कान्त शूद्रीमभिसरन् हीयते त्यज्यते ॥

प्रेक्ष्य क्षपाक्षये चन्द्र विद्राण चन्द्रगोलिका ।

त्यक्त्वा कान्तं ययौ कापि पुंश्चलीव यदृच्छया ॥ ३५ ॥

चन्द्रगोलिका विशदचन्द्रिका कान्त स्वमर्तारमर्थतो विभावरीवल्लभ त्यक्त्वा मुक्त्वा
सत्यज्य कापि कुत्रापि स्वरुचिते स्थाने यदृच्छया स्वेच्छया ययौ प्रयातवती । कि
कृत्वा । क्षपाया निशाया क्षये क्षीणताया विनाशे विद्राण नि श्रीक मृतप्राय चन्द्र
नक्षत्रनायक प्रेक्ष्य विभाव्य । केव । पुश्चलीव । यथा व्यभिचारिणी स्त्री स्वकान्त त्यक्त्वा
क्रायभिमतं पुंसि प्रयाति ॥

रथाङ्गव्यथनोद्भूतैः पक्त्रिमैरिव पाप्मभिः ।

त्रियामापगमे राजा तत्यजे वसुभिः क्षणात् ॥ ३६ ॥

त्रियामाया निशाया अपगमे विरामे विनाशे । क्षये इत्यर्थः । राजा चन्द्रो नृपतिश्च
क्षणात् निमेषमात्राद्वसुभिः किरणैर्द्रव्यैश्च तत्यजे परित्यक्तः । 'वसुस्त्वमौ देवभेदे रुचि-
योक्ते शुक्ले च सुखादे रत्ने वृद्धोषधे घने' इत्यनेकार्थाः । उत्प्रेक्ष्यते—रथाङ्गानां चक्र-
वाकविह्वगमानां व्यथनैः परस्परवियोगोत्पादनैरुद्भूतैः सजातैस्तथा पक्त्रिमैः परिपाक-
प्राप्तैः उदयाचलिकायामुपागतैः परमपाप्मभिरुत्कृष्टदुःकृतैरिव । नृपतिरप्यकराकरकरण-
दण्डनपरदारगमनग्रहणसप्तव्यसनरोचनादिजनितदुरन्तदुरितैः कृत्वा । द्रव्यादिभिरा-
दिशब्दात् अश्वगजरथपदातिसुभटजनपदपुरग्रामादिरूपलक्ष्मीवनैस्त्यज्यते । क्षीणे पुण्ये
विधीयमाने च दुर्नये श्रीर्याति । यत — 'पुण्ये सत्यपि लक्ष्मी दुर्नीतिरिहान्तरे क्षय
नयति । तैलेऽनुपभुक्तेऽपि हि दीपशिखा हन्ति वाताली ॥' इति वचनात् ॥ इति चन्द्र-
स्यास्ताचलगमनम् ॥

नियद्ध्य हन्तु स्वर्भाणुपाशकाङ्घ्रीव पाशिना ।

विधुः पाथोधिसौधेनाधातु सौहार्दमीयिवान् ॥ ३७ ॥

विधुर्वासतेयीविवोढा निशापतिः । पाथोधिरम्भोनिधिः समुद्रः स एव सौधः वास-
वेश्म यस्य तेन । 'वरुणस्त्वर्णवमन्दिरः प्रचेता' इति हैम्याम् । पाशः स्वशात्रवनियन्त्र-
णदवरकग्रन्थिरस्यास्तीति पाशी वरुणः । 'जलयादपतिपाशिमेघनादा' इति हैम्याम् ।
वरुणाद्वास्त्रे तेन प्रचेतसा सार्धं सौहार्दः मित्रमित्रतामाधातुः कर्तुमीयिवान् । तद्वान्नि
जलनिधौ जगाम । उत्प्रेक्ष्यते—पाशकाङ्घ्रीव । मित्रीभूताद्वरुणात्पाशं गृहीतुं काङ्क्षति
स्पृहयतीत्येवशील इव । यतः मित्रस्य यद्विलोक्यते तन्निजमित्रात्सद्वस्तु गृह्यते इति
रीतिः । किं कर्तुम् । स्ववैरिणः स्वर्भाणुः विधुतुदः नियद्ध्य कथञ्चित्पाशेन कृत्वा निबध्य
हन्तुः कृतान्तनिकेतनातिथीकर्तुम् ॥

तमीप्रियतमो मध्ये प्रत्यग्द्वीपवतीपतेः ।

जनिकर्तुर्निजस्येव मिलनाय समीयिवान् ॥ ३८ ॥

विभावरीप्राणवल्लभ विबु प्रत्यग्द्वीपवतीपते पश्चिमदिक्सबन्धिनो निर्झरिणीनाय-
कस्य समुद्रस्य प्रतीचीपायोधेर्मध्ये समीयिवान् समागच्छति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—निज-
स्यात्मन आत्मीयस्य वा जनिकर्तु जनकस्य । यत —‘सागरान्मुनिविलोचनोदराद्यद्र-
यादजनि तेन कि द्विज ’ इति नैषधे । मिलनाय पितृस्नेहानिरेकान्मिलनार्थमिव ॥

इतोऽभ्युदयते भानुरितश्चन्द्रोऽस्तमीयते ।

इदं किमप्यनीदृक्षमहो विलसितं विवे ॥ ३९ ॥

इतोऽस्मिन् पार्श्वे पूर्वस्या दिशि भानुः सहस्ररश्मिः अभ्युदयते अभ्युदयं प्राप्नोति ।
‘अय गतौ’ +वादि आत्मनेपदी च । तथा ‘गच्छति विमर्षत्ययत्ययते’ इत्यादिक्रिया-
क्रियाकलापे । इत प्रतीचीननीरनिधेर्मध्ये । पश्चिमाया दिशीत्यर्थः । चन्द्रो रजनीजीवि-
तेश्वरः अस्त क्षय नाशमीयते लभते । ‘ईदं च गतौ’ दिवादिरात्मनेपदी च । अहो
इत्याश्चर्ये खेदे वा । किमप्यपूर्वमनीदृक्ष विद्वद्भिरपि वक्तुमशक्य वचनगोचरातीत वि-
धेर्देवस्य विलसित विजृम्भित दृश्यते ॥ इति चन्द्रमसोऽस्तमयनम् ॥

दत्त्वोदयं त्वमेवास्त कथं दत्से प्रियस्य नः ।

तारका इत्युपालब्धु भेजुरस्ताचल किमु ॥ ४० ॥

तारका अर्थादश्विन्यादिनक्षत्राणि दाक्षायिण्य सर्वा शशिप्रिया । हेमाचायेन नामसु
कश्चिद्विशेषः प्रोक्तो नास्ति । किं च ‘भकनीनिकयोस्तारा, तारा शब्दो भे नक्षत्रे कनीनि-
काया च । तारा एव तारका नक्षत्राणि’ इति लिङ्गानुशासने । चन्द्रकरा अस्ताचल प्र-
तीचीपृथ्वीधर भेजुराश्रिता । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण उपालब्धुमुपालम्भ प्र-
दातुमिव । इति किम् । हे चरमाद्रे, नोऽस्माक तारकाणा प्रियस्य प्राणनायस्य निशी-
थीनीनायकस्य त्वमेव भवानेव उदयमुद्गममैश्वर्यं वा दत्त्वा वितीर्य प्रतिपद्वितीययोस्ति-
थ्योरस्ताचले चन्द्रोदयदर्शनात् । तस्माद्विद्वोरस्ताद्रिवोदयाचलः । तथा प्रातर्वर्णने-
ऽप्युदयनाचार्येणापि प्रोक्तं यथा—‘उदयगिरिकुरङ्गी-वृङ्गकण्डूयनेन स्वपिति सुखमि-
दानीमन्तरेन्दो कुरङ्ग ’ इति । प्रतिपच्चन्द्रोदयदर्शनं प्रायः सुरभिणामेव । यदुक्तम्—
‘प्रतिपच्चन्द्रः सुरभी नकुलो नकुली पयश्च कलहसः । चित्रकवली चापः सूक्ष्म धर्मः
सुधीवेत्ति ॥’ इति । पुनस्त्वमेवास्तमस्तमयनं क्षयं च कथं दत्से ददासि ॥

नक्षत्रपद्धतेः प्रातर्भ्रश्यन्तोऽम्बुधरादिव ।

क्षणाद्विलयमासेदुस्तारकाः करका इव ॥ ४१ ॥

तारका ग्रहनक्षत्रतारा प्रातः प्रभातसमये करका घनोपला इव क्षणान्निमेषमात्रा-
द्विलयं क्षयमासेदुः प्राप्नुवन्ति स्म । किं कुर्वन्तः । नक्षत्रपद्धतेराकाशात् । ‘अत्र सु-

राभ्रोडुमरुत्पथोऽम्बरम्' इति हेम्याम् । भ्रश्यन्तो भ्रश प्राप्नुवन्त । 'भ्रशूभ्रशू अध-
पतने' दिवादिकौ हेमधातुपाठे । कस्मादिव । अम्बुवरादिव । यथा जलधरान्मेघात्करका
भ्रश्यन्त्यध. पतन्ति ॥

अर्त्याब्धिममं प्रत्यूषद्विषता मुषितश्रियम् ।

तारास्तारापति प्रेक्ष्यान्वमज्जंस्तमिवार्णवे ॥ ४२ ॥

तारा* प्रातर्दृश्यमाना गुरुशुकादिमहत्तारका अर्णवे समुद्रे । उत्प्रेक्ष्यते—त चन्द्र-
मन्वमज्जन् विवृष्टे बुबूडुरिव कृत्वा । तारापति स्वस्वामिन शशिन प्रेक्ष्य समीक्ष्य ।
अय गुरोस्तारक , अय शुक्रतारक , इति लोकोक्त्यापि तारकास्तेषा तारकाणा स्वामित्व
तु चन्द्रमस एव । यत*—'तारकराद् किरीट ' इति नैषधे । 'अथ वा गह अद्वासीत-
डवी सतारकोट्टिकोडीण । छासठिसहस्सनवसयपणहत्तरीपगससिभिन्न' ॥ इति वच-
नात् ग्रहपतित्वमपि । कि च । यावान्परिवार* सूर्यस्य तावान्परिवारश्चन्द्रस्येति जीवा
भिगमे । किभूत । प्रत्यूष प्रभात एव द्विषन् द्वेषी शत्रुस्तेन मुषिता गृहीता छलदर्शिना
स्वावसर छल च प्राप्य हठात्सर्वाप्यादत्ता श्रीर्यस्य अत एवार्त्या चिन्तया पीडया वा
दु खातिरेकत्रपया अब्धौ समुद्रे मम ब्रडितम् ॥

निशाशनायितेनाभ्रपथे तारकतन्दुला* ।

दिनाननशकुन्तेन शङ्के कुक्षिगतीकृता ॥ ४३ ॥

निशाया रात्र्या कृत्वा निशाया वा चरणाभावाददर्शना जातास्त्यस्येत्यशनायितो
बुभुक्षित तेन दिनानन प्रभात तदेव शकुन्त पक्षी तेन शकुन्तेन अहमेव शङ्के वित-
र्कयामि उत्प्रेक्षे वा । अभ्रपथे मेघमार्गे गगनवर्त्मनि वा तारकतन्दुलास्तारका एवार्त्या-
ज्ज्वल्यात्तन्दुलास्तुषनिर्मुक्तकलमा । 'प्रथममुपहत्यार्य तारैरखण्डिततन्दुलै ' इति नैषधे
तारकास्तन्दुलीकृता । कुक्षौ उदरे गता । 'कृतौ' इति च्विप्रत्यये कुक्षिगतीकृता ।
'इव बहुरूपकशालभञ्जिका मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्गव । यदनेकपसौवकन्वरा हरिभि कु-
क्षिगतीकृता इव ॥ ' इति नैषधे ॥

दिग्गजेन्द्रावगाहेनोत्पन्ना. स्व.सिन्धुबुद्बुदाः ।

क्षणादिव व्यलीयन्त तारकास्तारकापथे ॥ ४४ ॥

तारकास्तारास्तारकापथे नक्षत्रवर्त्मनि आकाशे क्षणादृश्यमाना एव स्वल्पकालादेव
व्यलीयन्त विलय क्षय लभन्ते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—दिग्गजानामाशामातङ्गानामैरावतादि-
हरिकुञ्जराणां जलावगाहेन सलिलक्रीडाकरणमज्जनादिविविना उत्पन्ना उद्भूता स्व सि-
न्धोराकाशतरङ्गिण्या* । गगनगङ्गाया इत्यर्थ । बुद्बुदा* पानीयस्थामका इव । 'जलप-
पाटो' इति प्रसिद्धा । बुद्बुदा हि स्वल्पकालावस्थायिन स्यु । यदुक्तम्—'सम्भरा-
गजलबुद्बुदउवमे जीविएभ जलविन्दुचञ्चले । जुच्चणेयनइवेगसनिहे यावजीव किमय
न बुज्झसि ॥' इति वैराग्यशतके ॥ इति शुकादिमहत्तारास्त* ॥

आगामिनो गवां पत्युः प्रातः सेनापतेः पुरः ।

कादिशीका इवानश्यन्नन्धकारविरोधिन ॥ ४५ ॥

आगमिष्यतीत्येवशीलस्य आगामिनो गगनमण्डले समागन्तुकस्य गवा किरणाना भूमीना च पत्यु स्वामिन सूर्यस्य पार्थिवस्य प्रातः प्रभाताभिधानस्य दिनाननरूपस्य वा सेनापतेरनीकिनीनायकस्य पुर पुरस्तादग्रे । उत्प्रेक्ष्यते—कादिशीका भयद्रुता इव । अन्धकारविरोधिन सतममसपन्नसदोहा अनश्यन्पलायाचकिरे । ‘मित्रो ध्वान्तारातिग-
ब्जाशुहस्त’ इति हैम्याम् । एकस्य शत्रुत्वे द्वावपि परस्पर शात्रवा भवत इति ॥

गह्वरे भूभृता गुप्त तामसास्तापसा इव ।

कृशा किमु तपस्यन्ति पुनरभ्युदयागया ॥ ४६ ॥

तामसा समूहास्तामसा । अत्र समूहायेऽण् । तिमिरप्रकरा कोशिका वा । ‘ताम-
सास्तिग्मरोचिष’ इति वीतरागस्तवे । कृशा परिपन्थिपाथोजिनीपतिनिपतदृढतरकर-
निकरप्रसभप्रहारजर्जरीभवद्भ्रूधनोद्भवद्भ्रुरिचिन्तातिशयवशतो दुर्वलीभूता सन्त । उ-
त्प्रेक्ष्यते—भूभृता धरणीधराणा गह्वरे महत्कन्दरे कोटरे किमु तपस्यन्ति तीव्रतम
मुक्तान्नपान तप कष्ट कुर्वन्तीव । कथम् । गुप्त छन्न यथा स्यात्तथा केनाप्यज्ञातम् । कया ।
पुनर्द्वितीयवारमभ्युदयस्य चन्द्रचण्डरुचिप्रदीपप्रमुखद्विषत्पराभावुकविषयाद्वैतस्फूर्तिम-
त्तया आशया स्पृहया वाञ्छया । के इव । तापसा इव । यथा परिव्राजका समग्रशात्र-
वक्षत्रगोत्रचित्रासनैकालम्भविष्णुनृपादिपदवीकामनया तपस्तन्वते ॥ इत्यन्धकारगमनम् ॥

अथ विभातप्राया शर्वरी उच्यते—

विद्राणोत्पलदृक्क्षीणशुक्रा भ्रश्यत्पयोधरा ।

म्लानास्येन्दुस्त्यक्ततारमुक्ता वृद्धेव शर्वरी ॥ ४७ ॥

शर्वरी रात्रिर्द्वेव जरती स्त्रीवासीत् । किभूता निशा वृद्धा च । विद्राणे सकुचिने
निमीलिते गते वा उत्पलानि कुवलयानि एव तत्तुल्ये च दृशौ नयने यस्या । पुन कि-
भूता । क्षीणोऽस्तमितप्राय । विभातेऽपि कदाचित् शुक्रो निरीक्ष्यते । ततोऽस्तमितप्राय
अस्तमितो बाह्यगोचरीभूत शुक्र ग्रहविशेषो यस्या । पक्षे । गर्भावानाभावान्क्षीण
विनष्ट शुक्र पुवीर्य यस्याम् । पुन किभूता । भ्रश्यन्तोऽविरलीभवन्त । पाश्चात्यरात्रा
प्रायो वर्दलानि भवन्ति सूर्योदये च यान्ति । अत एव चम्पूकथाया प्रातर्वर्णने प्रोक्त
सूर्यविशेषणम्—‘करपरामृष्टपयोधरे’ इति । पयोधरा मेघा अभ्ररूपा यस्याम् । पक्षे ।
भ्रश्यन्तावव पतन्तौ पयोधरौ स्तनौ यस्या । पुन किभूता । म्लानो विच्छाद्यीभूतो
गतचन्द्रिकत्वादृद्धत्वाच्च आस्येन्दुर्वदनसदृश वक्रमेव चन्द्रो यस्या । पुन किभूता ।
त्यक्ता उज्झितास्तारा एव उज्ज्वला वा मुक्ता मुक्ताफलानि यया । प्रायो वृद्धाना भ्रू-
णपरिवान शोभावन्न दृश्यते । यदुक्तम्—‘मा ज्ञातुरिय पल्हाणिइ परकष्पडइपडप्प ।
एतन्नेअसुहामणा बुट्टीकानिवडुक्क ॥’ इति प्राकृतवाक्यात् ॥

रजनीवियुजां जाने द्विजानामपशापतः ।

कैरवाक्षी क्षणाद्राज्ञः क्षीणतां प्रतिपेदुषी ॥ ४८ ॥

राज्ञः सुवाधान्नः नृपतेश्च कैरवाक्षी कुमुदनयना निशीथिनी जाया राज्ञी क्षणात्स्वल्पसमयादेव क्षीणता क्षयभावमतिकृशीभावम् । अस्थिचर्मावशेषतामित्यर्थः । ‘छिन्नोऽपि रोहति तरु क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः । इति विमृशन्तः सन्तः सतप्यन्ते न ते विपदा ॥’ अत्र क्षीणता तु कलावशेषमात्रेणैव । ‘मूलादुच्छिन्नस्योपचय एव नास्ति क्षीणस्य स्वल्पावशेषस्यैवोपचयः’ इति सूक्तोक्तिः । प्रतिपेदुषी प्रपन्ना सप्राप्तवती । उत्प्रेक्ष्यते—रजन्या निशासमये वियुजन्ति परस्परं वियोगं प्राप्नुवन्तीति तादृशा द्विजापक्षिणो रथाङ्गनामानो ब्राह्मणाश्च । ‘विहगयो कृपयैव शनैर्ययौ रविरहर्विरहध्रुवभेदयोः ।’ इति रघुवशे । तथा वस्तुपालकीर्तिकौमुदीसहोदरे सुरयोत्सवकाव्येऽपि—‘रजनीवियुजा पतत्रिणाम्’ इति । चक्रवाकानामिति । अपशापत विरुद्धशपनादिव स्वाचारनिरताना ब्राह्मणानां शापो लगति न तु ब्राह्मणब्रुवाणाम् । यतः—‘वृत्तस्था ब्राह्मणा ज्ञेया क्षत्रिया शस्त्रपाणयः । कृषिकर्मकरा वैश्या शूद्राः प्रेक्षणकास्तथा ॥’ इति क्रियया ब्राह्मणत्वं न तु जात्या उत्तराध्ययने ‘बम्बचेरेण बभणे’ इति ॥

त्यक्ततारपरीवारा छिन्नध्वान्तकचच्छटा ।

तमी तपस्विनीवासीदयितेऽस्तमिते विधौ ॥ ४९ ॥

विधौ चन्द्रमसि दयिते भर्तारि अस्तमिते परलोकं प्राप्ते सति तमी त्रियामा । उत्प्रेक्ष्यते—तपस्विनी तापसी आसीदिव परिव्राजकेव बभूव । किभूता । त्यक्तो मुक्तस्तारास्तारका उपलक्षणाद्ब्रह्मक्षत्राणि एव परीवारं परिच्छदो यया । पुनः किभूता । छिन्ना लूना भद्रकारिता ध्वान्तान्यन्वकाराण्येव कचच्छटा केशपाशो यया । योषितो हि भर्तारि मृते शिरः केशान्मुण्डयन्ति ॥

संसिसृक्षुः शशी कान्तां कामगादनुरागवान् ।

इत्यालोकयितुं शङ्के तमी तमनुजग्मुषी ॥ ५० ॥

तमी इन्दुकान्ता शशिनः स्ववल्लभं विधुमनुजग्मुषी पृष्ठे प्रस्थिता पश्चाद्गच्छति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यालोकयितुमित्यमुना प्रकारेण प्रेक्षितुमिव । इति किम् । अनुरागवाननुरतिकलितः । ‘रागोऽनुरागोऽनुरतिः’ इति हैम्याम् । अनुगतो रागो रक्तिमा तेन संयुक्तः । अस्ताद्रिसगमान्मनागरुणीभूतत्वादिदं विशेषणम् । शशी का चतुर्षु वर्णेषु अन्यतरा खेचरीमप्सरसः वा नागाङ्गना वा । किनाम्रीं कान्ता स्त्रियः संसिसृक्षुः कस्याः सङ्गं कर्तुमिच्छुः । अगात्कुत्रापि मा विमुच्य गतः । ‘निर्वापयिष्यन्निव संसिसृक्षोः’ इति नैषधे ॥

किं पाथेयमिवादाय क्षपा नक्षत्रमुक्तिकाः ।

प्रत्यूषे प्रोषितं कान्तं मृगाङ्गमनुगच्छति ॥ ५१ ॥

प्रत्यूषे प्रभातसमये प्रोषित द्वीपान्तर प्रति प्रस्थित मृगाङ्ग हरिणलाञ्छन निजहृद-
यनायक कान्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—क्षपा निशा किमनुगच्छति पृष्ठे प्रयानीव । किं कृत्वा ।
नक्षत्राणि उडव उपलक्षणत्वात्तारका एव तद्रूपा वा मुक्तिका मुक्ताफलानि अल्पभार-
बहुमूल्यानि मौक्तिकानि आदाय गृहीत्वा । किमिव । पाथेयमिव । यथा काचित्रिपुटिका
'त्रेवडीनीकरणहार' इति जने प्रसिद्धा दीर्घदर्शिनी नैपुण्यवती स्त्री कथमप्यकस्मात्का-
रणाद्विश्वल स्वलभ कुत्रचिज्जनपदे प्रस्थित विजाय स्वय सम्यग्गमणिमुक्तादिपाथेय-
मादाय तमनुयाति ॥

वितत्य मायिकीवाभ्रे मायां तारामयीं तमी ।

क्षणाददृश्यता निन्ये मन्ये ता दिवमानने ॥ ५२ ॥

तमी यामिनी दिवसानने प्रभातसमये मन्ये उत्प्रेक्षे अहमेव मन्ये मानयामि विमर्श
विदधामि वा । क्षणात्क्षणमात्रता स्वय प्रपञ्चिता माया प्रेक्षणरूपकादिरचनाकपटपाटव-
मदृश्यता दशोरगोचरता निन्ये लम्भयामास । किं कृत्वा । अभ्रे दशदिक्सीमव्योमम-
ण्डले मायिकीव इन्द्रजालिकविद्याविबुरा वनितेव । तारामयीमुपलक्षणाद्गहनक्षत्रप्रचुरा
माया शाम्बरीम् । इन्द्रजालमित्यर्थः । वितत्य विस्तार्य ॥

तमस्विन्या विधोः पत्युर्विरहासहमानया ।

प्रातःसंध्याबृहद्भानौ स्वतनू किमह्वयत ॥ ५३ ॥

तमस्विन्या पीयूषमयूखप्राणवल्लभया विदोश्चन्द्रमस पत्यु स्वभर्तुर्विरह वियोग न
सहते इत्यसहमाना तादृश्या सत्या प्रोढामविरहाकुलया विबुवल्लभवियोग सोढुमममर्थेया
भवन्त्या । उत्प्रेक्ष्यते—प्रातः संध्या दिवमाननरक्तिमा सैव बृहद्भानु कृशानुस्तस्मिन्
स्वतनूर्निजगात्रलता किमह्वयत हुतेव भस्मीकृतेव ॥

तूर्याणा यामिनीयामविरामे ध्वनिरुद्ययौ ।

प्रयाण सूचयन्प्रातरिव राज्ञो मृगीदृशः ॥ ५४ ॥

यामिन्या निशाया यामाना चतुर्णां प्रहराणा विरामे अपगमे तूर्याणा वादित्राणा
'नगरा' इति लोकप्रसिद्धानां ध्वनि शब्द उद्ययो प्रादुर्भूतः । उत्प्रेक्ष्यते—राजश्चन्द्र-
मसो महीपतेर्वा मृगीदृशो निशाया महिष्या वा प्रयाण प्रस्थान सूचयन्कथयन्निव ॥
इति रात्रिगमनम् ॥

चक्रे श्रमणशक्रेण विधिवैभातिकस्ततः ।

जैत्र तन्नमिवाधृष्यभावद्वेष्यजिगीषया ॥ ५५ ॥

ततो रात्रिगमनानन्तर श्रमणशक्रेण वाचयमपुरदरेण हीरविजयमूरिणा । विभाते
विधीयते, विभातस्याय वा वैभातिकः प्रातः कालमबन्धी विविराचार प्रातरावश्यक-
दिक चक्रे कृतः । उत्प्रेक्ष्यते—अगृह्याणामनाकलनीयानां दुर्वराणां भावानामन्तरङ्गा-

णामष्टकर्मणामष्टादशदोषाणा वा द्वेष्याणा प्रतिभटाना जिगीषया जेतुमिच्छया । जैत्र शात्रवगोत्रमात्रजयनशील तन्त्रमुपायमर्थसाधकमिव । 'तन्त्र सिद्धान्ते राष्ट्रे च परिच्छन्दप्रधानयो । अगदे कुटुम्बकृत्ये तन्तुवाने परिच्छदे ॥ श्रुतिशाखान्तरे शास्त्रे करणे अर्थसाधके । कर्तव्या तन्नोक्तिः' इत्यनेकार्थः ॥

उपभुज्य प्रियां प्राचीं वज्रिणा व्रजता दिवम् ।

व्युत्सृष्टमिव ताम्बूलं शोणिमा प्रातरुद्ययौ ॥ ५६ ॥

प्रातः प्रभातकाले शोणिमा प्रभातसंध्याराग उद्ययौ प्रकटीबभूव । उत्प्रेक्ष्यते— प्राचीं पूर्वदिश प्रिया स्वजायाम् । 'कौशिक पूर्वदिग्देवाप्सर स्वर्गशचीपति' इति हैम्याम् । पूर्वदिक्पतित्वेन उपभुज्य नक्त भुक्त्वा । 'निजमुखमित स्मेरधत्ते हरेर्महिषी हरित्' इति नैषधे । दिव स्ववाससदन त्रिदिव व्रजता गच्छता वज्रिणा शक्रेण व्युत्सृष्ट नीरसत्वेनात्ममुखात्यक्त ताम्बूल सचूर्णखदिरपूगनागवल्लीदलचर्वणपिण्डमिव ॥

प्रातःसंध्या व्यभाद्वह्निहेतिमुक्ता विवस्वता ।

हन्तुं महाहवोन्मादिमन्देहानिव कोपतः ॥ ५७ ॥

प्रातः प्रत्यूषसबन्धिनी संध्या प्रभातसमयप्रादुर्भूतशोणिमा व्यभातसंध्यारागो भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—महति प्रौढे प्रबले आहवे सग्रामे उन्माद्यन्ति उन्मत्ता भवन्ति इत्येवशीला ये मन्देहा नाम मार्तण्डे इति यक्षभूतराक्षसविशेषाः कोपतः कोवातिरेकात्तान् स्वप्रत्यनीकान् हन्तुं व्यापादयितुं भस्मसात्कर्तुं विवस्वता भास्वता मुक्ता तान्प्रति प्रहिता क्षिप्ता वह्निहेति कार्शानव शस्त्रमिव । 'इह हि समये मन्देहेषु व्रजन्त्युदवज्रताम्' इति नैषधे । तथा 'तिष्ठ कोव्योऽर्वकोटी च मन्देहा नाम राक्षसा । उदयन्त सहस्राशुमभियुध्यन्ति ते सदा ॥' इति नैषधवृत्तौ ॥

संध्यारागारुण जन पद प्रातर्व्यराजत ।

अपूजि निर्जरैर्भक्तिप्रह्वैः किं कुङ्कुमद्रवैः ॥ ५८ ॥

जिनोऽर्हन् विष्णुश्च तस्येद जैन तादृक्पद विष्णुपदमाकाश प्रातः प्रभाते संध्यारुण संध्यारागेण कृत्वा रक्तीभूत व्यराजत विराजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते— भक्त्या सेवाशक्त्या कृत्वा प्रह्वैर्नम्रैर्नमनशीलैर्भूतैर्निजरैः सुपर्वभिः कुङ्कुमैर्घुसृणपङ्कैर्द्रवैरपूजि किं पूजितमभ्यर्चितमिव विलिप्तमिव वा ॥

प्रातर्दिग्दन्तिना गङ्गां व्रजता जलकेलये ।

जज्ञे गण्डगलद्विन्दुवृन्दैर्व्योमारुणं किमु ॥ ५९ ॥

व्योमाकाशमरुण सध्यालसद्रागेण कृत्वा रक्त जज्ञे जातम् । शोणीबभूवेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—प्रातर्दिनमुखे जलकेलये सलिले क्रीडाकरणार्थं गङ्गामम्बरजम्बालिनी प्रति व्रजता गच्छता दिग्दन्तिना हरिकुञ्जराणा गण्डेभ्यः कपोलपालिभ्यो गलद्विर्निःसरद्भिः

विन्दुवृन्दैः पद्मनामभि शोणच्छविमदवारिकणगणैः । 'विन्दुजाल पुनः पद्मम्' इति
हैम्याम् । पञ्चम्यादिदशाया करिणा कपोलेभ्यो रक्तविन्दवो निःसरन्तीति कविसमग्रः ।
'भूर्जत्वच कुञ्जरविन्दुशोणाः' इति कुमारसम्भवे ॥

प्रत्यूषे मखभुग्लेखातल्पेभ्यः पतयालुभिः ।

किमास्तीर्णारुणाम्भोजपर्णैः शोणीकृतं नभः ॥ ६० ॥

नभो गगन शोणीकृतम् अधिकारार्थात्प्रभातसध्यारागेण पाटल प्रणीतम् । उत्प्रे-
क्ष्यते—प्रत्यूषे दिनवदने मखभुजा यज्ञाशभोजिना लेखा श्रेणी तस्यास्तल्पेभ्यः पत्य-
ङ्केभ्यः पतयालुभिः पतनशीलैरास्तीर्णैः प्रस्तृते अरुणाम्भोजाना कोकनदाना पर्णैर्दलम-
ण्डलैरिव ॥ इति प्रातः सध्या ॥

अथो पाथोजिनीनाथोऽभ्युदियाय नभोङ्गणे ।

कपोलकुङ्कुमक्लिन्नं प्राच्या किं कर्णकुण्डलम् ॥ ६१ ॥

अथो सध्यारागानन्तरं नभोङ्गणे आकाशाजिरे पाथोजिनीना जलजन्मिनीना नाथ
प्राणपति सूर्यः अभ्युदियाय उदयाचलचूलायामुद्गम लभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कपो-
लस्य गण्डस्थलस्य पत्रवल्लीं प्रापितेन कुङ्कुमेन घुसृणेन क्लिन्नं व्याप्तम् । 'अयमुदयति
घुसृणारुणतरुणीवदनोपमश्चन्द्र' इति विदग्धमुखमण्डनवचनात् प्राच्या आखण्डलम-
हिष्या पूर्वदिश कर्णस्यैक कुण्डल स्फुट प्रकट ताटङ्ग इव ॥

पूषद्विषं प्रसाद्याम्भोमूर्तिं नित्यानुशीलनैः ।

पद्मिनीभिरभीर्भर्ता पूषाहूतः किमुद्ययौ ॥ ६२ ॥

पूषा भानुमान् उद्ययौ उदयमालिङ्गति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पद्मिनीभिः कमलिनीभिः
प्रेयसीभिर्भर्ता स्वप्राणनाथः । अथ वा पद्मिनीभिररविन्दैर्वान्धवैः सुहृद्भिर्वा निजसुहृद्-
न्धुराहूतः । सप्रणय तादृशस्य पूषद्विषः शकरस्य नित्यमहर्निशमनुशीलनैः सर्वावसरसा-
वधानताविधानाद्वैतसेवाभिः । जलमूर्तिरीश्वरस्य । यदुक्तम्—'क्षितिजलपवनहुताशनय-
जमानाकाशसोमसूर्याख्याः । यस्य खलु मूर्तयोऽष्टौ स भवतु भवता शिव सिद्धौ ॥'
इति कविसमयोक्तिः । प्रसाद्य पूर्वं प्रसन्नीकृत्याभयदानमार्गणसन्मानप्रदानादि सम्यग्व-
रोपादानपूर्वं सतोष्य ॥

अभ्रमूवल्लभेनेवोत्खातः प्रातर्निखेलता ।

प्राग्गिरेर्गैरिको गण्डोपलो बालारुणो व्यभात् ॥ ६३ ॥

बालारुणोऽर्भकभानुमाली व्यभाद्विभासते स्म । 'जरीजृम्भङ्गिम्भद्युमणिविलस—' इति
खण्डप्रशस्तौ । तथा 'विश्वव्यापि तमो हिनस्ति तरणिर्बालोऽपि कत्पाङ्कुरो दारिद्र्याणि
गजावली हरिशिशुः' इति श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथस्तुतौ । उत्प्रेक्ष्यते—प्रातः प्रभातसमये
निखेलता स्वतन्त्र तटाघातादिक्रीडा कुर्वता अभ्रमूवल्लभेन अभ्रमूनामा हस्तिनी तस्या

भर्त्रा । अभ्रमूशब्दो दीर्घोऽपि दृश्यते—यथा ‘गजानामभ्रमूपति’ इति काव्यकल्पलता-
याम् । तथा ‘अभ्रमूवल्लभारूढ निशाशेषे कदाचन । स्वप्ने महेन्द्रमद्राक्षीत्पृथा पृथुमनो-
रया ॥’ इति पाण्डवचरित्रेऽपि । ऐरावणवारणेन प्राग्गिरे पूर्वपर्वतस्य गैरिको वातुमयो
गण्डोपल स्थूलपाषाण इवोत्खात उत्पाद्य क्षिप्त इव । ऐरावतदन्तावलस्य पूर्वस्या
दिशो दिग्गजत्वात्प्राग्गिरेरिति कथन युक्तिमत् ॥

द्यावाभूमी पराभूष्णं भूच्छायामरवैरिणम् ।

भेतु व्यमोचि चण्डांशु चक्र किं चक्रपाणिना ॥ ६४ ॥

चक्रपाणिना नारायणेन । उत्प्रेक्ष्यते—चण्डास्तीक्ष्णा रुद्रा वा अश्व किरणा यस्य
सूर्यरूप वा । अथ वा चण्ड भयकारि अशु शीघ्रगामि । ‘अशु सूत्रादिसूक्ष्मांशे किरणे
चण्डदीधितौ’ इत्यनेकार्थः । शीघ्रगामिनि वाच्यलिङ्गः । शैथ्येऽपि तत्र क्लीबम् । चक्र
सुदर्शन नाम स्वरयाज्ञ व्यमोचि मुक्तमिव । किं कर्तुम् । द्यावाभूम्योर्दिवस्पृथिव्योर्न-
भोभुवो पराभूष्णमभिभवनशील भूच्छायमन्वकारमेवामरवैरिण दानव भेतु विदारयितु
हन्तुम् ॥

कण्ठपीठीलुठत्प्राणरथाज्ञाहविहायसाम् ।

जीवातुर्यमुनाबीजी व्यरचीव विरञ्चिना ॥ ६५ ॥

विरञ्चिना ब्रह्मणा यमुनाया कालिन्द्या बीजी जनकः । ‘वत्सा तु जनकस्तातो बीजी
जनयिता पिता’ इति हैम्याम् । ‘सहस्ररश्मिर्यमुनाकृतान्तजनक प्रद्योतनस्तापन’
तथा ‘यमुना यमभगिनी कालिन्दी सूर्यजा यमी’ इति द्वितयमपि हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—
जीवातुर्जीवनौषधमिव व्यरचि विहितम् । केषां कण्ठपीठ्या गलकन्दले । ‘जयत्युदरनि-
सरद्वरसराजपीठीपठच्चतुर्मुखमुखावलीरचितसामनामस्तुति’ इति चम्पूकथायाम् ।
‘वशिकवक्रोष्ठिककान्यकुब्जपीठानि’ इति लिङ्गानुशासने स्त्रीक्लीबलिङ्गयोः । पीठ पीठी
च । लुठन्त वियोगातिव्ययाव्याकुलतया निर्गमनायागच्छन्त प्राणा असवो येषाम् ।
कण्ठगतजीवितानामित्यर्थः । तादृशानां रथाज्ञ इति आह्वा नाम येषाम् । ‘चक्रवाको रया-
ज्ञाह्वा कोको द्वन्द्वचरोऽपि च’ इति हैम्या रयाज्ञशब्देन चक्रमुच्यते तन्नाम्ना विहायसा
पक्षिणा चक्रवाकविहङ्गमाना जीवनस्य भेषजमिव । ‘विहायो व्योमपक्षिणो’ इत्यनेकार्थः ॥
इति सूर्योदयः ॥

शोणी दीप्तिर्दिनेशस्याधात्कुमारितरा श्रियम् ।

कोकैर्दुःखानलज्वाला किमुद्गीर्णाः सुहृत्पुरः ॥ ६६ ॥

दिनेशस्य दिवसनायकस्य भानो दीप्तिः कान्तिः श्रियः शोभामधाद्धरते स्म । किं-
भूता । कुमारितरा बाला । प्रथमोत्पन्ना । अतिशयेन कुमारी कुमारितरा । ‘ह्रस्वो वा’
इति सारस्वतसूत्रेण तरतमयो परयो सतोर्वा ह्रस्वः । अत एव किंभूता । शोणी
अत्यन्तारुणा । ‘रचयति रुचिः शोणीमेता कुमारितरा रवे’ इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—

कोकैश्चक्रवाकैर्विहगमै सुहृद स्वमित्रस्य भास्करस्य पुरोऽग्रे दु खरूपानलस्य सकलशर्व-
रीपरस्परवियोगसजातासाततीव्रज्वलनज्वाला इवोद्गीर्णा हृदयवदनाद्वहिरुद्गन्ता इव ॥

निजानुरागिणीवीक्ष्य दागन्स्मेरमरोजिनी ।

किमुद्गीर्णोऽरुणज्योतीरागो राजीववन्धुना ॥ ६७ ॥

राजीववन्धुना अरविन्दमुहृदा स्युष्य अरुणमतिरक्त यज्ज्योति कान्ति एव रागो
हृदयोदयदनुरागोऽनुरतिरुद्गीर्णं प्रकटीभूत । किं कृत्वा । स्मेरं विकसिताननमरोजा
सरोजिनी पद्मिनीदारान् निजप्रेयसी । निजे आननं विषयेऽनुरागोऽम्ल्यासामित्यनु-
रागिण्यस्ता सानुरागा वीक्ष्य व्यलोक्य ॥

हरिव्यापादितध्वान्तकुम्भिकुम्भसमुद्रवै ।

रक्तै रक्तीकृता शङ्के प्रभा भाति स्म भानवी ॥ ६८ ॥

भानोरिय भानवी सूर्यसवन्निर्वा प्रभा अर्थात्कुमारीकान्तिर्भाति स्म शुशुमे । तत्रा-
हमेव शङ्के वितर्कयामि । हरिणा भानुना केसरिणा च व्यापादिता कराग्रनिशितनिर्वि-
शोद्धुरधाराविदारिता ध्वान्ता अन्वकारा एव कुम्भिन श्यामवर्णत्वादन्वकारसाधारणा
वारणा । यत उक्तम्—‘दूरतया स्थूलतया श्यामतया गन्वलोलुपैर्मेधुपैः । वावितमिभ-
राजविया तत्त्वविया चाग्रतो महिष ॥’ इति । प्रायोऽधुना कृष्णवर्ण एव दन्तिनो दृ-
श्यन्ते । तेषां कुम्भेभ्य शिर पिण्डेभ्य उद्भव उत्पत्तिर्येषां तादृशै रक्तै रुधिरै रक्तीकृता
शोणा निर्मितेव ॥

कान्तागमे धृताताम्राम्बरा इव दिगङ्गनाः ।

बन्धूकबन्धुरैर्व्रध्नभवैर्भान्ति प्रभाभरैः ॥ ६९ ॥

बन्धूकबन्धूककुसुमानीव ‘विपोहरिया’ इति लोकप्रसिद्धानि । बन्धुरै शोणिन्ना
सुन्दरै व्रध्नाद्भानोर्भवैरुत्पन्नै प्रभाभरै कान्तिकलापैर्दिगङ्गना आशावशा भान्ति वि-
राजन्ते । उत्प्रेक्ष्यन्ते—कान्तस्य स्वभर्तु सूर्यस्यागमे समागमनसमये । ‘दिशो हरिर्द्भिर्ह-
रितामिवेश्वर’ इति रघुवशे । वृतानि परिहितान्याताम्राणि सामस्त्येन शोणान्यम्बराणि
वासासि याभिः एतादृश्य इव ॥ इत्यरुणतरुणप्रभा ॥

द्रुमद्रोणिषु संचिन्वन्नुलसन्पल्लवानिव ।

तन्वन्निव तटाकेषु निन्दन्कोकनदश्रियम् ॥ ७० ॥

कुर्वन्निव गिरेः शृङ्गे गैरिकावनिविभ्रमम् ।

ताम्बूलश्रियमास्येषु दिग्वधूना दिशन्निव ॥ ७१ ॥

सीमन्तेषु मृगाक्षीणा सिन्दूरं पूरयन्निव ।

प्रातः प्रस्तारयन्भाति भानुमान्भानुविभ्रमम् ॥ ७२ ॥

भानुमान् किरणमाली सूर्यं प्रातः वासरवदने भानूनां निजार्भकप्रभाणा विभ्रम
शोभा विलास वा प्रस्तारयन् विस्तारयन् भाति विभ्राजते । द्रुमाणा तरुणा द्रोणिषु ।
'द्रोणी द्रोणिरिदन्तः श्रेण्यामपि' इत्यनेकार्थावचूर्णि । भानुविभ्रम विस्तारयन्निति सर्वत्र
योज्यते । उत्प्रेक्ष्यते—उल्लसत स्फुरत विकसतो वा पल्लवान्प्रवालान्सचिन्वन्नुपचय
बाहुल्यं प्रापयन्निव । तथा तटाकेषु पद्माकरेषु । उत्प्रेक्ष्यते—कोकनदाना रक्तोत्पलाना
श्रिय लक्ष्मी तन्वन्विस्तारयन्निव वहूनि कोकनदानि कुर्वन्निव । तथा । गिरे पर्वतस्य
शृङ्गे शिखरे । उत्प्रेक्ष्यते—गैरिकावने रक्तवातुभूमेर्विभ्रम भ्रान्ति कुर्वन्निव विरचयन्निव ।
पुनर्दिग्वधूना दशदिग्गङ्गाना आस्येषु वदनेषु । उत्प्रेक्ष्यते—ताम्बूलश्रिय दिशन्ददान
इव । ताम्बूले चर्विते वावरादौ रक्तिमा भवेत् । पुनर्मृगाक्षीणा त्रस्तसारङ्गीदृशा सीम-
न्तेषु केशपाशवर्त्मसु । उत्प्रेक्ष्यते—सिन्दूर शृङ्गारभूषण पूरयन् सिन्दूरेण भरन्निव इति
लोहितलक्ष्मीविलसित सिद्धान्ते । 'कुङ्कुमखवियच्च जीवलोपे' इति सूर्यस्याभ्युदयसमये
कान्तिरप्यतीव रक्ता स्यादिति । त्रिभिर्विशेषकम् ॥ इति सूर्यप्रभाप्रस्तार ॥

प्रारेभे भानुना व्योम्नि क्रमाच्चङ्क्रमणक्रमः ।

विश्वविश्वंभराभोग प्रेक्षितुं किमु काङ्क्षता ॥ ७३ ॥

भानुना भार्तेण्डेन व्योम्नि गगनाङ्गणे क्रमादनुक्रमेण चङ्क्रमणक्रमः गमनस्यानुक्रमः
परिपाटी चङ्क्रमणकलित क्रम प्रारेभे पादा प्रारेभिरे । अथ वा चङ्क्रमस्य क्रम आन-
न्तर्यनिरन्तरत्व विश्रामरहितत्वेन गन्तु प्रारभतेत्यर्थः । 'क्रम कल्पाङ्घ्रिशक्तिषु परि-
पाठ्याम्' इत्यनेकार्थः । 'परम्पराया पादक्षेपे आनन्तर्ये पदसवावपि क्रमः' इत्यनेका-
र्थावचूरि । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वस्य जगत अथ वा विश्वस्या समग्राया विश्वभराया
वसुधराया आभोग विस्तार प्रेक्षितुं द्रष्टुं काङ्क्षता किमु वाञ्छतेव ॥ इति दिनोदयः ॥

आसाद्य दर्शनं तस्याः शासनस्वर्गिसुश्रुवः ।

व्यरंसीच्छानतः सूरिर्यागीव परमात्मनः ॥ ७४ ॥

सूरिर्हीरविजयसूरीन्द्रो ध्यानतः सूरिमन्त्रजापतः प्रणिधानाद्व्यरसीद्विरमते स्म । किं
कृत्वा । तस्या पूर्वोक्तसर्वाङ्गवर्णनागमनादिव्यतिकराया शासनदेवताया दर्शनं प्रत्य-
क्षावलोकनमासाद्य अविगत्य । साक्षात्समीक्ष्येत्यर्थः । क इव । योगीव । यथा योगसा-
धको जितेन्द्रियो ध्यानविधानैकतान परमात्मन परमात्मस्वरूपस्य दर्शनं प्राप्य विर-
मति । ध्यानं कुर्वाणा योगीन्द्रा हृदि परमात्मानमालोक्य ध्यानाद्विरमन्ते । यथा 'योग
स चान्तः परमात्मसङ्गं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम' इति कुमारसंभवे ॥

सूरीन्दुर्वसतेर्मध्ये ध्यानस्थानादथागमत् ।

प्राग्गिरेः कन्दरक्रोडाद्भास्वानिव नभोज्झणम् ॥ ७५ ॥

अथ शासनदेवतागमनप्रश्नकथनध्यानविरमणानन्तरं सूरीन्दुर्हीरविजयसूरिचन्द्रो
ध्यानस्थानात्प्रणिधानविधानास्पदाद्वसतेरुपाश्रयस्य मध्ये उत्सङ्गे आगमदागतः । क इव ।

भास्वानिव । भानुमाली यथा प्रागिगरे प्राचीनपर्वतस्य कन्दरस्य । कन्दरशब्दस्त्रिलिङ्गे ।
‘पिठरप्रतिसरपात्रकन्दरा’ इति लिङ्गानुशामने । क्रोडात् हृदयात् । मध्यादित्यर्थः ।
अथ वा क्रोडादुत्सङ्गान्नभोज्ज्वा गगनाजिरे समागच्छति ॥

प्रीतिप्रह्वैः प्रभुस्तत्र परिवत्रे त्रितित्रजैः ।

मुनासीर इवास्थानीमामीनः स्वर्गिणा गणैः ॥ ७६ ॥

तत्र मौलोपाश्रये प्रभु सूरेश्वर प्रीत्या प्रमोदेन गुरुशिष्यत्वेहेन वर्मस्य हादेन
प्रह्वैर्नम्रीभूते पदाम्भोजे श्रमरीभाव प्राप्तैर्व्रतित्रजैः श्रमणपुङ्गवगणे परिवत्रे परिवृतः ।
क इव । मुनासीर इव । यथा आस्थानी सुधर्माभिधाना सभामामीन आश्रित्य तिष्ठन् ।
उपविष्ट इत्यर्थः । सहस्रलोचन स्वर्गिणा गीर्वाणाना गणैर्वृन्दैः परिव्रियते ॥

तत्रागमन्पत्तनादिसंघास्त वन्दितु तदा ।

स्वर्गादिदेवाः समवसरणस्थं यथा जिनम् ॥ ७७ ॥

तत्र डीसाभिधे नगरे पत्तनमणहिल्लपुटभेदनमादियेषा तेषा नगराणा सघा श्राद्धग-
णास्त व्यानोत्थित सूरि वन्दितु नमस्कर्तुमागमन्नागच्छन्ति स्म । यथा इवाधे । के इव ।
देवा इव । यथा स्वर्गो देवलोक आदि प्रथम येषा तेषा भवननगरज्योतिर्विमानाना
देवा भवनपतिवानमन्तरज्यौतिष्कद्वादशकल्पवासिन सुरा समवसरणे तिष्ठतीति समव-
सरस्थस्त जिन तीर्थकर नमसितुमायान्ति ॥

प्रबोधयन्सुदृक्पद्मान्कुदृक्पद्माश्च शोषयन् ।

स्पर्धयेव रवे सूरैः प्रतापो व्यानशे दिशः ॥ ७८ ॥

सूरेहारविजयवाचयमेन्दो प्रतापो दिशो दशापि हरित प्रति व्यानशे व्याप्नोति
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—रवे सूर्यस्यार्थान्मार्तण्डचण्डप्रतापस्य स्पर्धया सघर्षेण मनस्यसूयया
वा । किं कुर्वन् । सुदृश सम्यक् दृष्टय एव पद्मा कमलानि प्रबोधयन् प्रतिबोवबन्धु-
रान् विदधत् । सुदर्शनिन कुर्वन् । सूर्योऽपि पद्मानि प्रबोधयति विकाशयति । च
पुन किं कुर्वन् । कुत्सिता शाक्यादिमतोपादानपटलसवलिता दृश दृष्टयो येषा
सिद्धान्तविरुद्धवादित्वाद्दृष्टा दृष्टयो येषा ते कुदृश कुवादिन कुमतान्येव पद्मा कर्द-
मास्तान् शोषयन् निष्ठापयन् । सूर्योऽपि पद्म गोपयति ॥

प्रतिक्रम्य चतुर्मासी स क्रमाद्व्यहरत्ततः ।

हर्षाद्वर्षा इवोल्लङ्घ्य मानसादिष्टमानस ॥ ७९ ॥

स सूरि क्रमादनुक्रमेण विजयदशमीदीपालिकादिनगमनपरिपाठ्या चतुर्णा मासाना
समाहारश्चतुर्मासी वार्षिकचतुर्मासिकम् । अथ वा वर्षा शरलक्षणयोर्द्वान्या मासाभ्या
कृत्वा चतुर्मासी, ता प्रतिक्रम्य । एतावता कार्तिकचतुर्मासिकप्रतिक्रमण प्रणीय चतु-
र्मासी पूणाकृत्य वा ततस्तस्माद्दीसानगराद्व्यहरत् विहार कृतवान् । इत्यर्थः । क इव ।

इष्टमानस इव । यथा इष्टमानसो राजहस्य वर्षा वर्षासमयमुल्लङ्घ्य मानसात् स्वावास-
कासारत हर्षादानन्दाद्विहरति पृथिवीपीठपानीयप्रपूर्णानेकपङ्कजनिकुञ्जमञ्जुलजलाशयेषु
स्वैर विहरति । 'नृपमानसमिष्टमानस' इति नैषवे ॥

क्रमेणाहम्मदाबादपुरे सूरिः समीयिवान् ।

नभोनीरधिवाणिन्याः प्रतीरे सुप्रतीकवत् ॥ ८० ॥

सूरिर्हीरगुरु क्रमेण ग्रामानुग्रामादिविहारपरिपाठ्या अहम्मदाबाद इति नाम यस्य
तादृशे पुरे नगरे समीयिवान् समाजगाम । किवत् । सुप्रतीकवत् । यथा ईशानविदि-
क्सबन्धी अष्टम सुप्रतीकनामा ककुप्कुञ्जर नभस आकाशस्य नीरधेर्जलराशेर्वरवाणिनी
पत्नी । 'वशा सीमन्तिनी वामा वाणिनी महिलाबला' तथा 'कर्षुर्द्वीपवती समुद्रदयिता
धुन्यौ स्रवन्ती सर' इति द्वितयमपि हैम्याम् । एतावता आकाशगङ्गा । 'नदत्याकाशग-
ङ्गाया स्रोतस्युद्गमदिग्गजे' इति रघुवशे । तस्या प्रतीरे तटे । 'तट तीरं प्रतीरं च'
इति हैम्याम् ॥

देवीनिगदितागण्यभाग्यसौभाग्यशालिनः ।

स्वस्यान्तेवासिनस्तस्य कम्माङ्गजयतीशितुः ॥ ८१ ॥

सूरीन्दुः कामयाचक्रे दातुं सूरिपदं ततः ।

तनूजस्येव राज्यस्य धुरं धात्री पुरदरः ॥ ८२ ॥ (युग्मम्)

ततोऽहम्मदाबादगमनान्तरं सूरिर्हीरविजयरजनिजानि स्वस्यात्मन आत्मीयस्य
वान्तेवासिन समीपे वसनशीलस्य शिष्यस्य कम्मानाम्नो व्यवहारिण गृहीतव्रतत्वात्सा-
धोर्वा अङ्गज पुत्र तथा यतीना मध्ये ईशिता मुख्यो गीतार्थत्वात् । अथ वा भा-
विनि भूतोपचारात् निर्ग्रन्थाना नायक तस्य विमलप्रज्ञाशस्य सूरिपदमाचार्यपद
प्रदातु कामयाचक्रे अभिलषति स्म । किभूतस्य । देव्या शासनतरुण्या निगदिते सूचिते
कथिते अनण्ये अप्रमेये वाङ्मानसगोचरीकर्तुप्रशक्ये भाग्य पुण्य तथा सौभाग्य सुभ-
गता विश्ववाल्म्य ताभ्या शालते शोभते इत्येवशीलस्य । क इव । वात्रीपुरंदर इव ।
यथा पृथिवीपुरहूतो राजा तनूजस्य निजनन्दनस्य राज्यस्य स्वसकलमण्डलाधिपत्यधुर
प्रदातु कामयते ॥

प्रक्रमे तत्र तत्रत्यसंधेनागृह्यत प्रभुः ।

तमिवाभिनव सूरिशक्रमन्य दिदृक्षता ॥ ८३ ॥

तत्र प्रक्रमे तस्मिन्प्रस्तावे तत्रत्येन कमीपुरीयेण सधेन श्राद्धवर्गेण भगवानगृह्यत ।
अर्थात्सूरिपदप्रदानार्थं प्रभोराग्रह कृत । सधेन कि कर्तुमिच्छता । तमिव हीरविजय-
गणधरमिव अन्यमपर अभिनव नवीन सूरिशक्र गणभारधुरवर दिदृक्षता द्रष्टुमिच्छता ॥

ततः स्वाशयसंवादि प्रपेदे तद्वचः प्रभुः ।

व्रतव्यतिकरे लौकान्तिकदेवोक्तमाप्तवत् ॥ ८४ ॥

ततः सघाग्रहानन्तरं प्रभुर्हीरविजयसूरि स्वस्यात्मन आशयमभिप्रायं सवदत्यनुक-
रोत्येवशीलं यादृशं गुरुचित्ते तादृशं एव सघाग्रह इत्यर्थः । तद्वचः सघवचनं प्रपेदे
प्रतिपन्नवान् । किंवत् । आसन्नं । यथा जिनेन्द्रं व्रतव्यतिकरे दीक्षाग्रहणावसरे लोकस्य
पञ्चमकल्पस्य अन्तः प्रान्तोऽवमानः तत्र तमिश्रराजिकान्तरालशालिविमानेषु । अर्चि-
अर्चिमालि-वैरोचन-प्रमकर-चन्द्राभ-सूर्याभ-शुक्राभ-सुप्रतिष्ठाभ-अरिष्टाभिधानेषु
भवा लौकान्तिका । ते च नवविधाः । यथा—सारस्वत-आदित्य-वदि-वरुण-गर्दतो-
तुषित-अव्यावाक्य-आग्नेय-अरिष्टनामानो देवास्तेषामुक्तं कथितमिवाङ्गीकृतवान् ॥

सूरीन्द्रेणाथ देवज्ञैर्मुहूर्तं निरधार्यत ।

एतन्महोदयस्येव प्रारम्भप्रथमक्षणः ॥ ८५ ॥

अथ सघाग्रहाङ्गीकारानन्तरं सूरीन्द्रेण देवज्ञैर्माहूर्तिकं सार्वं मुहूर्तं दोषादिनिर्मुक्तशु-
भवासरवेलालग्नं निरधार्यत निश्चीयते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—एतस्य जयविमलप्रज्ञाशस्य
यो महोदयो महानभ्युदयः तस्य प्रारम्भस्य प्रथमं आद्यं क्षणं अवसरः कालविशेषः
पञ्चदशलवलक्षणः ॥

शिल्पिभिः कारितः सधैर्मण्डपो यन्मुनीशितुः ।

पट्टश्रियं वरीतुं किं स्वयंवरणमण्डपः ॥ ८६ ॥

सधे कमीपुरश्चाद्वसमुदाये कर्तृभिः शिल्पिभिवेज्ञानिकैस्तद्वचनचातुर्ये कृत्वा साध-
नभूतैर्मण्डपो बहुजनाश्रयः कारितो निर्मापितः । उत्प्रेक्ष्यते—जयविमलनाम्नो मुनीशि-
तुर्निग्रन्थनायस्य पट्टश्रियं वरीतुं सूरिपदलक्ष्मीमुद्रोदुः स्वीकर्तुं किं स्वयंवरणमण्डपः ॥

एतद्व्यतिकरेऽनेककौतुकालोकलालसा ।

त्रिलोकी चित्रदम्भेन मण्डपे किमुपेयुषी ॥ ८७ ॥

एष चासौ व्यतिकरश्च एतद्व्यतिकर आचार्यपदप्रदानावसरस्तस्मिन्नेकानि कौतुकानि
आश्चर्याणि तेषामालोकने लालसा उत्प्लुक्ता त्रिलोकी भुवनत्रयी चित्राणामालेख्यभावः
लम्बितानामर्थ्यात्सुरासुरनागराणां दम्भेन कपटेन कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—तत्र मण्डपे
किमुपेयुषी आगतेव ॥

विस्तीर्णोऽपि स संकीर्णो बभूवानेकनागरैः ।

भाविमद्वारकागण्यपुण्याकृष्टैरिवागतैः ॥ ८८ ॥

स सघजननिर्मापितो विस्तीर्णोऽप्यतिविपुलोऽपि सन् मण्डपो जनाश्रयः अनेकैर्गण-
नातीतैर्नागरैर्जनपदग्रामसनिवेशपुरनगरजननिवहैः संकीर्णः अतिलघूयः स्थानमिव
बभूव सजातः । किभूतैर्नागरैः । आगतैः समेते दशदिगन्तादपि तत्रोपनतैः । उत्प्रे-
क्ष्यते—भाविनो भविष्यतो भद्वारकस्य जयविमलसूरेरगण्यैः सुरनरादिभिरपि
जेतुमशक्यैः पुण्यैर्भागवेधैराकृष्टैर्प्रारिकाबद्धानां तैरिव उपायतैः ॥

निशि तारैरिवाकाशो भ्रियमाणः स निर्भरम् ।

तन्महोमिलितै रेजे पौरैर्जानपदैर्जनैः ॥ ८९ ॥

तस्य जयविमलप्रज्ञाशस्य पट्टप्रदानस्य महसि उत्सवे मिलितैरितस्तत आगत्यैकी-
भूतैः । उत्सववाची महःशब्द सकारान्तोऽप्यस्ति । यथा—‘एन महस्विनमुपैहि
सदारुणोच्चै ’ इति नैषधे । नलानलयोर्वर्णने । ‘महस्विन तेजस्विनमनलमुत्सववन्त च’
इति तद्वृत्ति । तथा ‘महस्तेजस्युत्सवे च’ इत्यनेकार्थ । पौरैर्नागरैर्जानपदैर्गूर्जरपाञ्चाल-
लाटसौराष्ट्राद्यनेकनीवृजन्मभिर्जनैर्लोके निर्भर निचित नीरन्ध्र भ्रियमाण पूर्यमाण स
मण्डपो भाति स्म । कैरिव । यथा निशि तमिस्रायां रात्रौ तारकैरुपलक्षणान्निखिल
ज्योतिःसतानैर्भ्रियमाण आकाशो गगन भाति । चन्द्रोद्योते च केचिदृश्यन्ते, केचिन्न ।
तमिस्रायां दर्शयामिन्या तु सर्वेऽपि स्फुटा एव लक्ष्यन्ते, तस्मादत्र तस्मिन्ना रात्रिरेवो-
पादीयते नापरा ॥

तीर्थेशितेव समवसरणं श्रमणाग्रणीः ।

श्रमणश्रेणिभिः सार्धमध्यासामास मण्डपम् ॥ ९० ॥

श्रमणानां तत्समयवर्तिना सविमलपक्षिणा शुद्धाचारवता च श्रमणानां साधूनामग्रणी-
मुख्यो हीरविजयसूरिः श्रमणश्रेणिभिः मुनिमण्डलीभिः सार्धं मण्डपमाचार्यपदप्रदान
स्थानमध्यासामास । क इव । तीर्थेशितेव । यथा तीर्थनाथ साधुभिः सार्धं समवसरण
धर्मदेशनमन्दिरमध्यास्ते । केनापि महर्विकेन देवेन दानवेन वा रचितमिति शेषः ॥

पण्डिताखण्डलं श्रीमज्जयाद्यविमलाभिधम् ।

आह्वातु प्रेषयामास मुनिमुख्यान्मुनीश्वरः ॥ ९१ ॥

मुनीश्वरो हीरभट्टारकः । जयेति पदमाद्य यस्यास्तादृशी विमलेत्यभिधा नाम यस्य
स जयविमलस्तमेव पण्डितेषु कोविदेषु आखण्डल इवाखण्डल इन्द्रस्तमाह्वातुमाकार-
यितु मुनिमुख्यान्वाचकादिवाचयमपुगवान् प्रेषयामास प्रहिणोति स्म ॥

अयमानीयतामीभिर्मण्डपं पण्डिताग्रणीः ।

उत्तराहैर्गन्धवाहैरम्बुवाहोऽम्बराङ्गवत् ॥ ९२ ॥

अमीभिर्मुनिमुख्यैरयं जयविमलनामा पण्डिताग्रणी कोविदकुञ्जर मण्डपं जनाश्रय-
मानीयत आनीत । कैरिव । गन्धवाहैरिव । यथा उत्तरस्या भवैरुत्तराहैः समीरणैः ।
लोके ‘सूरवाय’ इति प्रसिद्धैः । अम्बुवाहो जलभरनिर्भरभृतमध्यो वाराधरः अम्बर-
स्याकाशस्याङ्गमुत्सङ्गमानीयत ॥

प्रभुं बभाज तैः सार्धं साधुभिः साधुसिन्धुरः ।

युवराज इवानल्पैः सामन्तैः पितरं निजम् ॥ ९३ ॥

स साधुसिन्धुर* जयविमलमुनीन्द्र तै सूरिप्रहितैर्मुनिपञ्चाननै सार्धं प्रभु हीरविज-
यसूरीश्वर बभाज आगत्य प्रणम्य सेवते स्म । क इव । युवराज इव । यथा सकलज-
नपदप्रजाचिन्ताकारकतया स्वापितो नृपकुमार अनल्पैर्बहुभि सामन्तैः मीमालभूषालै-
रनेकमण्डलीकमहीपालैर्वा सम निज पितर जनक सेवते ॥

भाविसूरेरभूत्तस्योपाध्यायपदमादित ।

परमावधिवत्साधोरुदेष्यत्केवलश्रियः ॥ ९४ ॥

भविष्यतीत्येवशीलो भावी स चामौ सूरिश्च तस्य भविष्यदाचार्यस्य आदित*
प्रथम तस्य जयविमलविदुष उपाध्यायनाम पदमभूद्भूव । एतावता आचार्यपदादा-
वुपाध्यायपद प्रदत्तमित्यर्थः । किभूतम् । परमावधिवत् । यथा उदेष्यन्ती प्रकटीभवि-
ष्यन्ती केवलश्री केवलज्ञानलक्ष्मीर्यस्य तादृशस्य साधो श्रमणस्य परममुत्कृष्ट पृथक्प-
रमाणुज्ञानकृल्लोकमानमलोकेष्वपि लोकप्रमितासख्येयखण्डावबोधविधायकमवविज्ञान भ-
वति । अथ वा प्रादुर्भविष्यत्केवलमेकाकार निखिललोकालोकाकाशप्रकाशक ज्ञान यस्य
तादृग्विधस्य जिनेशितु तीर्थकरस्य आदित सयमग्रहणप्रथमसमय एव तूर्य चतुर्थ
मन पर्यायसज्ञ ज्ञान भवति इति द्वितीयपाठः ॥

महामहैस्ततस्तस्य सूरिः सूरिपद ददौ ।

जातवेदाः स्फुरज्ज्योतिर्निकेतनमणेरिव ॥ ९५ ॥

तत उपाध्यायपदप्रदानानन्तर सूरिहारविजयप्रभु महामहैरधिकजायमानोत्सवे-
स्तस्य जयविमलोपाध्यायस्य सूरिपदमाचार्यपद ददौ । क इव । जातवेदा इव । यथा
जातवेदाः कृशानुर्निकेतनमणेर्दीपस्य स्फुरद्देदीप्यमान ज्योतिस्तेजो दत्ते । अथ
वा । क इव । यथा स्नेहप्रियो दीपस्य दशेन्वनस्य तमोपह भूच्छायभिदुरं निजमात्मीय
ज्योतिर्महो विश्राणयति ॥

उज्झित्वा शमिनोऽशेषान्सुरानिव रमा हरिम् ।

तं सूरिमुपगच्छन्ती रेजे सूरिपदेन्दिरा ॥ ९६ ॥

त नव प्रत्यग्र जयविमलनामान सूरिमुपगच्छन्ती समायान्ती सूरिपदेन्दिरा आ-
चार्यपदलक्ष्मी रेजे विराजते स्म । किं कृत्वा । उपगच्छन्ती अशेषान् समस्तान्
तदभिलाषुकान् परान् शमिनो वाचकप्रज्ञाशप्रमुखान् मुनीनुज्झित्वा सत्यज्य । केव ।
रमेव । यथा समग्रान् सुरासुरानौज्झ्य हरि नारायणमुपयान्ती मन्दरमन्यानकमयनस-
मये क्षीरपाथोधिपाथोवेलासमुत्थितसर्वाङ्गीणलक्ष्मीसमुल्लमल्लक्ष्मी राजते । किञ्च देवेन
श्रुतममृतमयनावसरे सुरासुरकरपरिवर्त्यमानमन्दरमन्यानकनिर्घोषवधिरितसमस्तरोद-
कन्दरादिवापि दूरोच्छलितदुग्धतुषारासारतारकितनभम समुत्पन्नानेककौस्तुभादिवस्तु

१ 'उदेष्यत्केवलस्येव तूर्य ज्ञान जिनेशितु' इति पाठान्तरम् २ 'प्रदीप इव
दीपस्य निजज्योतिस्तमोपहम्' इति पाठान्तरम्

विस्तारादुद्गच्छदप्सरसा सुखमण्डलै क्षणमिव विहितविकचनलिनशोभादनेकाश्चर्यकुक्षे
क्षीरसागरात् अजनि जनितजगद्विस्मया स्मरजननी हस्तस्थिततरुणारविन्दा देवी
देदीप्यमाना पुण्यलक्ष्मीर्यस्या सर्वाङ्गलावण्यमबु विकचलोचनकषैरापीय पीयूषभुजो
मदनमदपरवशा परस्परमवेर्ष्यन्तश्चक्रुश्चक्रपाणिना सम सगरम् । अथ सर्वानप्यन्तरा-
न्तरापततस्तानुलङ्घ्य मन्दरगिरिशिखरशातकुम्भनिकषोपलायमानबाहोर्भगवतश्चिक्षेप ।
क्षेपीय. कण्ठे वैकुण्ठस्य स्वयवरकुसुममालिकाम्' इति चम्पूकथायाम् ॥

तस्य पूरयतो विश्वकामाश्चिन्तामणेरिव ।

श्रीमद्विजयसेनेति सूरिराजोऽभिधां व्यधात् ॥ ९७ ॥

सूरिराजो हीरविजयसूरीन्द्रस्तस्य जयविमलसूरे श्रीमान् विजयसेन इत्यभिधा
नाम व्याचकार । तस्य किं कुर्वत । विश्वेषां जगज्जनानां कामान्मनोभिलषितान्
पूरयत* पूर्णान् सृजत । कस्येव । चिन्तामणेरिव । यथा देवमणि सर्वान्कामान्
सपूरयति ॥

किनर्य इव नागर्यो जगुर्गीति पिकीक्रणाः ।

संगीतं तेनिरे नाकिकुमारा इव नर्तकाः ॥ ९८ ॥

नागर्यो नागराङ्गना किनर्यः किपुरुषयोषित इव गीति गानं जगुर्गायन्ति स्म ।
किभूताः । पिकीना कोकिलानामिव क्ण पञ्चमसूचकालापनमधुरध्वनिर्यासा तथा
नर्तका नटा नाकिना देवानां कुमारा इव संगीतं प्रेक्षणकनिमित्तप्रयुक्तगीतनृत्यवाद्यत्र-
यम् । अथ वा प्रेक्षणक नाटकमेव तत्तेनिरे चक्रिरे ॥

त्रिलोकीमपि कुर्वाणं तत्र चित्रीकृतामिव ।

नेत्रश्रोत्रसुधास्पन्दि तौर्यत्रिकमजायत ॥ ९९ ॥

तत्र व्यतिकरे नेत्राणां लोचनानां श्रोत्राणां श्रवणानां च मध्ये सुवाममृतरसः स्पन्दते
क्षरति सिञ्चतीत्येवशीलं तादृशं तौर्यत्रिकं गीतनृत्यवाद्यत्रयमजायतं जातम् । किं
कुर्वाणम् । त्रिलोकीं विश्वत्रयीमपि चित्रीकृतामालेख्यलिखितामिव कुर्वाणं विद्वानम् ॥

तत्रास्ति श्राद्धमूर्धन्यः श्राद्धो मूलाभिधः सुधीः ।

सौन्दर्यधर्मदाढ्याभ्यां कामदेव इवापरः ॥ १०० ॥

तत्राहम्मदाबादनान्नि राजनगरे श्राद्धेषु श्रीमत्तया पक्षश्रावकवर्गेषु मूर्धन्यं शेखरं
श्राद्धं आस्तिकं मूलं इत्यभिधा नाम यस्य मूलकश्रेष्ठिनामा सोऽस्ति विद्यते । कि-
भूतः । सुशोभना जिनधर्मानुगामिनी दानादिवर्मेण वीर्बुद्धिर्यस्य स । उत्प्रेक्ष्यते—
सौन्दर्येण वपुः प्रैयरूपकेण तथा धर्मेण पुण्यकृत्येषु दृढाशयतया च अपरोऽन्यः काम-
देव इव । शरीररमणीयतया अपरः कन्दर्पदेव एकः सुस्मरो विद्यते । अपरस्त्वय-
तत्तुल्यत्वेन तथा धर्मकर्तव्यदाढ्येन महावीरभगवतः द्वितीयश्रावकः कामदेवनामा
यादृक्षोऽभूत्तादृगेवायमप्यास्ते ॥

जृम्भकव्रजवज्जन्मोत्सवे शंभोर्वणिग्वरः ।

ववर्ष वसुधाराभिस्तस्य सूरिपदक्षणे ॥ १०१ ॥

वणिग्वर समयनैगमगणेश्वरणी मूलाख्यश्रेणी तस्य विजयसेनसूरेराचार्यस्य यन्पद
तस्य क्षणे प्रदानस्य महोन्मवे वसुधाराभि सुवर्णरूप्यमाणकश्रेणिभिर्ववर्ष वर्षति स्म ।
सुवर्णरूप्यकमहमुन्दिनाणकै प्रभावना कृतवानित्यर्थः । किवत् । जृम्भकव्रजवत् । यथा
शंभोस्तीर्थकरस्य जिनेन्द्रस्य जन्मोन्मवे जननमहामहे सौवमेन्द्रादिष्टानदलोकपालानु-
ज्ञया वश्रवणसेवकस्तिर्यक्जृम्भवकगीर्वाणगणो हिरण्यस्वर्णरजतरत्नवस्त्रवामचूर्णपुष्पफ-
लादिगृष्टिं कुर्वन्ति ॥

तस्मिन्विनिहितं सूरिपदं सूरिसितांशुना ।

दिदीपे भास्वता ज्योतिरिव सायं धनंजये ॥ १०२ ॥

तस्मिन्विजयसेनाभिधाने व्रतीन्द्रे सूरिनितांशुना हीरविजयसूरिसुवामरीचिना सूरे-
राचार्यस्य पद विनिहितं स्थापितं सद्दिदीपे दीप्यते स्म । किमिव । ज्योतिरिव । यथा
भास्वता दिवाकरेण सायं सव्याममये धनंजये वंशानरे विनिहितं ज्योतिर्नक्तमतीव
दीप्यते । वासरे तादृशी दीप्तिर्न भवति यादृशी निशाया दीप्रा दीप्तिर्भवति । प्रसिद्ध
चैतत् । किं चास्तं व्रजजन्मभोजिनीवद्भो धूमध्वजे स्वतेजोऽवस्थाप्य गच्छति प्रातरा-
गतश्च गृह्णातीति कविममयः । तथा रघुवंशे—‘दिनान्ते निहितं तेजं मन्त्रेण
हुताशने’ इति ॥

शोभासुभौ लभेते स्म श्रीमत्सूरिपुण्डरीकौ ।

प्रणिघ्नन्तौ तमस्तोमं सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ १०३ ॥

श्रीमन्तो गणनायकैश्चर्यलक्ष्मीकलितौ यशःशोभाभास्वरौ सूरिपुण्डरीकौ हीरविजयसे-
नाभिवाचार्यविडौजसौ उभौ द्वावपि शोभा कीर्तिं ख्यातिं लभेते स्म आसादयामासतु ।
किंभूतौ । तममामज्ञानानां दुरितानां वा स्तोमं समूहं प्रणिघ्नन्तौ व्यापादयन्तो ।
काविव । सूर्याचन्द्रमसाविव । यथा दिवाकगनिशाकरौ तमस्तोममन्वकारनिकरं मूलादु-
च्छिन्दन्तौ शोभा भुवने प्रसिद्धिं लभेते ॥

वनीमिवावनी सूरिशक्रौ चङ्क्रमणैः क्रमात् ।

मधुराधाविव मासौ शोभा लम्भयत स्म तौ ॥ १०४ ॥

तौ हीरविजयविजयसेननामानौ सूरिशक्रौ आचार्यपर्जन्यौ क्रमादनुक्रमेण चङ्क्रमणै-
र्विहरणं विहारक्रमेण अवनीं मेदिनीमण्डलं शोभां त्रियं लम्भयत स्म प्रापयामासतु ।
काविव । मधुराधाविव । यथा मधुश्चैत्रं, तथा राधो वैशाखः । ‘चैत्रे मधुश्चैत्रकश्च वैशाखे
राधमावर्षा’ इति हैम्याम् । एतावता वसन्तर्तुसंबन्धिनौ चैत्रवैशाखमासौ क्रमादनुक्र-
मतः प्रथमं चैत्रं पत्रपुष्पमङ्गरीकलिकाफलोदयोन्मुखान्कुरुते । ततो वैशाखमासः

परिणतफलमण्डलकलितान् सालमण्डलान् विदधाति इत्यनुक्रमः । चङ्क्रमणैर्निजागमनैः कृत्वा वनीमुद्यानवीथी वनमाला लम्भयतः । 'स्ववनीसप्रवदत्पिकापि का' ॥ इति ध्यानोत्थानाकमिपुरागमनाचार्यपदस्थापनम् ॥

कोऽपि मेधाविमूर्धन्यो लुम्पाकानां मते तदा ।

मेघजी ऋषिरित्यास्ते नाम्नामेध्ये मणिर्यथा ॥ १०५ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे लुम्पाकाना 'लउका' इति नाम्ना प्रसिद्धाना मते पक्षे मेघजी इति नाम्ना कोऽपि कश्चिदृषि तन्मतवेषवारक आस्ते विद्यते । किभूत । मेधाविना बुद्धिमता पण्डिताना वा मध्ये मूर्धन्यो मुकुटायमान प्रज्ञालचूडामणिः । क इव । मणिरिव । यथा इवार्थे । यथा अमेध्ये अशुचिस्थाने रत्न मणिर्भवति ॥

ऋषिः कुअरजीनामा तं लुम्पाकमतप्रभु ।

पल्लीपतिर्यथा वङ्कचूल निजपदे व्यधात् ॥ १०६ ॥

लुम्पाकाना मतस्य प्रभु स्वामी भारवाही कुअरजीनामा ऋषि लुम्पाकवेषभूत मेघजीऋषि निजपदे स्वस्थाने व्यधात्स्थापयति स्म । यथा इवार्थे । क इव । पल्लीपतिरिव । यथा पल्लीपति पित्रातीवान्यायकारित्वात्कुपितेन स्वदेशात्प्रवासित स्वपल्लीप्राप्त नितरा क्रूरानीतिकारकत्वेन स्वस्थानोचित पुत्राभावाद्बङ्कचूल नाम राजपुत्र निजपदे निधत्ते स्म । अथ वा रतिकलहकुपितपराङ्मुखभवनापरस्थानस्थचौरिकार्थागततदङ्गरङ्ग-स्पर्शनातिस्मरपरवशीभूतस्ववशाप्रार्थनाप्रक्रमनिर्व्यूढनिष्कलङ्कशीलव्रतदर्शनाह्लादितकेश-ववसुधावासव स्वपदे युवराजपदे स्थापितवान्वङ्कचूल नृपनन्दनम् ॥

सिद्धान्तानेष निध्यायन्कदाचित्तत्त्वचक्षुषा ।

प्रतिमामार्हती चित्रवल्ली चाष इवैक्षत ॥ १०७ ॥

एष मेघजीऋषि कदाचित्कस्मिन्नपि प्रस्तावे । सिद्धान्ताना चाराङ्गाद्यङ्गोपपातिद्यु-पाङ्गप्रमुखानागमान्निध्यायन् विलोकमानः सन् तत्त्वचक्षुषा शुद्धमनोनयनेन कृत्वा अर्हता तीर्थकृतामियमार्हती ता भगवत्प्रतिमा ऐक्षत विलोकते स्म । क इव । चाष इव । यथा नीलचाष चित्रवल्लीमीक्षते । कि कुर्वन् । ध्यायन् पश्यन् । कान् । आ सामस्त्येन गमो गमनमुपलक्षणादागम गमागमौ येषु त आगमा भूमीप्रदेशा तान् । 'चित्रकवल्ली चाष' इति सूत्रोक्ते ॥

लुम्पाकाना मतात्तस्मादिव कारानिकेतनात् ।

निर्गन्तुं कामयामास स ततो मेघजीमुनिः ॥ १०८ ॥

ततो जिनप्रतिमाक्षरदर्शनानन्तर स मेघजीमुनिस्तस्मालुम्पाकमतान्निर्गन्तु नि सतुं कामयामास काङ्क्षति स्म । कस्मादिव । कारानिकेतनादिव । यथा कश्चिज्जनः न्यायेन वा अन्यायेन न्यायेऽप्यन्यायीकृत्य वैरिबाहुल्यादिति न्यायात् । चारके नृपा-

दिना क्षिप्त स तस्माद्वन्दिमन्दिरात् प्रपञ्चचातुर्येण कृत्वा निर्गन्तु कामयते । इति मेघ-
जीमुनेः प्रतिमाक्षरदर्शनात्प्रतिबोध ॥

तन्मतधिकृतान्वेषधरान्वागुरिकानिव ।

पाशे पातयतो मुग्धान्मृगानिव विवेद सः ॥ १०९ ॥

स मेघजीमुनिस्तस्य लुम्पाकस्य यन्मत पक्षस्तत्राधिकृतोऽङ्गीकृतो यो वेषो विरुद्ध-
माबुलिङ्ग धरतीति तन्मतस्याधिकारिणो वेषधरा वा केवललिङ्गधारकास्तान् लुम्पाकान्
वागुरिकान् वागुरा मृगजातिलकामृगादिजन्तुग्रहणपाशोऽस्त्येषामिति वागुरिकाः ।
अस्त्यथे इक । 'अइके मत्वथे' इति सारस्वतेन । तान् जालिकानिव विवेद हृदि
जानाति स्म । किं कुर्वत । मृगान् हरिणानिव मुग्धानभिजान् तत्त्वातत्त्वविचारणाचतु-
रेतरान् जनाञ्जन्तून् पाशे पाशमदृशे कुमने पातयतः क्षेपयतः । तथात्रापि कोऽपि
मुग्धः प्रतिभाप्रागल्भ्यनिर्मुक्तो न किमपि कपटचर्यादिकं वेत्तीति तादृगज केनापि
धूर्तेन वाग्वन्धादिप्रदानेन विमोह्य स्वीकृतो लोकः पाशे पातिनेऽमो विमुच्यते ॥

अमी वीङ्क्षा प्रकुर्वन्ति वका इव शनैः शनैः ।

सता सम्यग्दृशो हन्तु काङ्क्षन्तः शफरीरिव ॥ ११० ॥

अमी लुम्पाकवेषधारका वका वकोटा इव शनैः शनैर्मन्द मन्दमालोक्यालोक्य मुग्ध-
विप्रतारणबुद्ध्या वीङ्क्षा गमनं प्रकुर्वन्ति पादो विमुञ्चन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—सताम् अस्मासु
श्रावकत्वं नाम्ना विद्यते पर तत्त्वं सम्यक्तया न विद्म तेषां श्राद्धानां सतां पर
मुग्धानां सम्यग्दृशः सत्यज्ञानदृष्टी । सम्यक्तानीत्यर्थः । हन्तु व्यापादयितुं भ्रशयितुमिव
काङ्क्षन्तः इच्छन्तः । का इव । शफरीरिव । यथा वकाः शफरीर्मत्सीर्हन्तु स्पृहयन्तः
शनैर्हिण्डन्ते ॥

विगोपनमिवैतेषां वेषं वेषभृतामवैत् ।

तन्मतस्थं पुनर्मेने सौधं कूपगतं निजम् ॥ १११ ॥

स मेघजीकृपिरेतेषाममीषां कलिकालविलसितेन महावीरदेवशासनेऽपि कण्टकप्राचु-
र्याद्बहुभूतानां लुम्पाकानां वेषभृतां जैनाभासलिङ्गधारिणां वेषं लिङ्गं विगोपनमिव विडम्ब-
नाप्रायमवैत् मनसि बुबुवे । पुनः स मेघजीमुनिः तेषां लुम्पाकानां मते पक्षे तिष्ठतीति
तन्मतस्थं निजमात्मानं सौधं कूपगतमिवेत्यध्याहारः । बह्वन्वकारकलितपातालावटमव्य-
निष्पतितमिव मेनेऽज्ञासीत् । इति गर्भितोपमा ॥

आप्तोक्तिरत्नगर्भायाममीषा प्रतिमार्हताम् ।

निधिकुम्भीव दुःस्थाना पथिकी नाभवद्दृशोः ॥ ११२ ॥

आप्तोक्तिरागमः सेव रत्नगर्भा वसुधरा तस्यां दुःस्थानां दरिद्राणां निधिकुम्भीव
रत्ननिवानकलशीव । अमीषा लुम्पाकमतपक्षीभूतभूयोवेषधारिणामर्हता तीर्थकृता

प्रतिमा बिम्बमर्चा दृशोर्लोचनयो पथिकी विद्यमानापि पान्थी गोचरा नाभवत् । तत्र निमित्तं तु महाह एव ॥

ऐहिकामुष्मिके सौख्ये दूरेऽत्र स्थायिनो मम ।

नीरतीरे सरःपङ्के निमग्नस्येव दन्तिनः ॥ ११३ ॥

अत्र भवपरम्परापारावारप्रतिहरित्प्रसरत्पथः पुरान्तरनिपतनप्रस्फुरन्महावर्तभूते लुम्पाकमते तिष्ठति चिर स्थिति विरचयतीत्येवशीलस्य स्थायिनो मम मेघजीनामात्मनः इहलोकपरलोकसबन्धिनी सौख्ये शर्मणी दूरे विप्रकृष्टे वर्तेते । भगवदाज्ञाविरोधेनोद्भूतभूयस्तरदुरन्तदुरितोदयप्रादुर्भूततिर्यङ्गुरकाद्यनन्तदुर्भवपरम्परोपलम्भत शर्मलेशोऽपि कुत्रस्थ सत्त्वं प्राप्नुयादिति । कस्येव । दन्तिन इव । यथा सर पङ्के निदाघा- निदाघकृद्धर्मद्युतितीव्रतरकरनिकरशुष्काल्पीय सलिलपल्वलबहुलजम्बाले निमग्नस्य सर्वै- रप्यङ्गोपाङ्गैर्ब्रूडित्वा स्थितस्य किञ्चिल्लक्ष्याङ्गस्य नीरतीरे पानीयप्रतीरे अतिदूरे भवतः ॥

चेतसीति विचिन्त्यासौ पण्डवानिव पण्डितः ।

कैश्चिच्चालोचचतुरैरालोच्य सचिवैरिव ॥ ११४ ॥

स पल्वलमिवामेध्यं हंसो लुम्पाकनायकः ।

अत्याक्षीत्पक्षमात्मीयं विनेयैस्त्रिशता समम् ॥ ११५ ॥ (युग्मम्)

स मेघजीनामा लुम्पाकाना नायक स्वामी त्रिशता त्रिशत्सख्यैर्विनेयै शिष्यैः सममात्मीय लुम्पाकसबन्धिन पक्ष लुम्पाकमत गच्छ वा अत्याक्षीजहाति स्म । क इव । हंस इव । यथा राजमरालः पुरीषानेकास्थिपञ्जरविकटकण्टकठिकरकबहुजल बालशेवाल- कलितमत एवामेध्यमपावन वायसनिवासोत्पादशयनादिशकुन्तसतान पल्वल त्यजति । किं कृत्वा । इत्यमुना प्रकारेणार्थात्स्वयं तथा सिद्धान्तविरुद्धवचनभाषणभीरुकस्वा- भिलषितज्ञापरगीतार्थैश्च चेतसि स्वस्यैव चेतसि वेत्ति । विचिन्त्य चिन्तयित्वा । विचा- र्येत्यर्थः । क इव । पण्डवानिव । यथा तत्त्वानुगतमतिमान् पण्डितो मेघावी विचि- न्तयति । सम्यग्देवगुरुधर्मादितत्त्व विचारयति । च पुन सचिवैरमात्यैरिव आलोचेषु मन्त्रणेषु चतुरैर्निपुणैः कैश्चिदात्मीयैः सिद्धान्तवचनभाषणातिभीरुकस्वाभिमतभिप्रायज्ञा- परगीतार्थैश्चालोच्य विचारयित्वा च ॥ युग्मम् ॥ इति मेघजीमुनेर्लुम्पाकमतत्यजनम् ॥

निर्जित्य स्वमतैश्चर्यस्मयं तौर्यत्रिकोत्सवैः ।

प्राणमत्प्रतिमां जैर्नीं जयीव निजमातरम् ॥ ११६ ॥

स मेघजीऋषि स्वस्यात्मनो मतस्य लुम्पाकवर्गस्य ऐश्वर्यमाधिपत्य तस्य स्मयमहंकार गर्वं निर्जित्य पराभूय । तदैश्वर्यं मुक्तवैत्यर्थः । अथवा 'निर्मुच्य' इति पाठो वा । तत्र निःशेषेण मुक्त्वा सबन्धमात्रमप्यरक्षयन् त्यक्त्वा । 'निर्मुक्तं पञ्चदेह्या परमसुखमयः प्रास्तकर्मप्रपञ्च' इति पञ्चमीस्तुतौ । तौर्यत्रिकोत्सवैर्गीतनृत्यवाद्यत्रिकेणोपलक्षितश्राद्ध-

जनारब्धमहामहै सार्धं जैर्ना जिनसवन्धिनी प्रतिमा मूर्ति प्राणमन् प्रणमति स्म ।
क इव । जयीव । यथा निखिलदिङ्मङ्गलनिर्जयनशीलं पृथिवीपालो निजमातरं
स्वजननीं प्रणमति ॥

कलौ स्वकामिताप्राप्तेर्लोकानालोक्य सीदतः ।

पूर्णकामाश्चिकीर्षु तान्स्व. सुरद्रुमिवागतम् ॥ ११७ ॥

स्वोदयाय कलिं लुप्त्वा किमु कर्तुं कृतं युगम् ।

नक्तंदिनमिवादित्यं धर्मं मूर्तमिवोद्गतम् ॥ ११८ ॥

चतुर्थारकवल्लोकान्पञ्चमेऽप्यरकेऽथ वा ।

अवतीर्णमिवोद्धर्तुं कृपया गौतमं पुन ॥ ११९ ॥

तपागच्छश्रिया लीलाललाममिव जङ्गमम् ।

श्रीहीरविजयं प्रीतेरैषीदेष निषेवितुम् ॥ १२० ॥ (कलापकम्)

एष मेघजीकृषि श्रिया मूरिलक्ष्म्या कलित हीरविजयम् । श्रीहीरविजयसूरिमित्यर्थः ।
प्रीतेरानन्दात् । विशुद्धवर्मप्ररूपकत्वेन गुरुस्नेहाद्वा निषेवितुमुपासितुमैषीद्वाञ्छति स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—तपागच्छश्रिया तपोगणलक्ष्म्या जङ्गम सचरणशील लीलाललाम शृङ्गारकृते
विवृत कनकतिलकमिव । ललामशब्दो नकारान्तोऽकारान्तोऽप्यस्ति । ‘ललामवल्लाम-
मश्वादन्तः पुक्लीबलिङ्गे नकारान्तः क्लीव एव’ इत्यनेकार्थः । अथ हीरविजयसूरि वि-
शिनष्टि । उत्प्रेक्ष्यते—स्व स्वर्गलोकादागत भूमीमण्डलेऽवतीर्ण सुरद्रु कल्पवृक्षमिव ।
किं कर्तुमिच्छुम् । तान् लोकान् पूर्णकामान् इच्छापूर्णपर्यन्ताधिगतसमस्तस्वमनोभि-
लाषाश्चिकीर्षु कर्तुमिच्छुम् । किं कृत्वा । कलौ कलिनाम्नि युगे पञ्चमारके स्वेपामात्मना
कामितानामभीष्टानामप्राप्तेरनासादनात्सीदत दुःखीभवत सकलान् यावद्वसुधावलयव-
र्तिनो लोकानालोक्य विजायेत्यर्थः । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—मूर्तं शरीरवन्तमङ्गीकृतकायं वा
उद्गतं प्रकटीभूतं धर्मं जेनधर्ममिव । किं कर्तुम् । नक्तदिनमहोरात्रम् । निरन्तरमित्यर्थः ।
स्वस्यात्मन उदयाय चतुर्भिर्रशेस्तिरोभवनाय चतुरङ्गतया प्रादुर्भवाय वा कलिं प्रवलता-
पसतापास्पद कलियुगं लुप्त्वा विलुप्य निखिलावनीमण्डलान्निकास्य कृतं युगं प्रथमसमयं
कर्तुं विधातुम् । कृतयुगे हि धर्मश्चतुरङ्गः स्यात् । यदुक्तम् नषधे—‘पदैश्चतुर्भिः सुकृते
स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे’ इति । कमिव । आदित्यमिव । यथा भास्कर-
नक्तं निशा विलुप्य दिनं वासरं कर्तुमुद्गच्छति । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—पञ्चमे दुःसमानामन्य-
प्यरके कृपया कारुण्यरसममुद्रतया लोकाञ्जगजन्तून् भविकजनान्वा उद्धर्तुं भवविकट-
वटादुद्धृत्य मोक्षे महानन्दपदे नेतुं प्रापयितुं पुनर्द्वितीयवारमवतीर्णं गृहीतावतारं गौत-
ममिव श्रीमन्महावीरप्रथमशिष्यं गणधराग्रगण्यमिव ॥ चतुर्भिः कलापकम् ॥

व्रतं जिघृक्षुः सोऽकाङ्क्षीद्धीरसूरेः समागमम् ।

श्रीसुव्रतजिनस्येव कार्तिकः श्रेष्ठिपुङ्गवः ॥ १२१ ॥

स मेघजीऋपि व्रत प्रव्रज्या जिघृक्षुः गृहीतुमिच्छुः सन् हीरसूरेर्हीरविजयसूरीश्वरस्य समागममकमिपुरे पादावधारण समागमनमकाङ्क्षीत् वाञ्छति स्म । क इव । कार्तिक इव । यथा श्रेष्ठिना श्रीदेवताप्रतिमाङ्कितवद्धशिरःसुवर्णपद्मना नगराविकारिमुख्याना मध्ये पुङ्गवः प्रधानः कार्तिकनाम्ना श्रेष्ठी सुव्रतजिनस्य श्रीमुनिसुव्रतस्वामिन आगमन काङ्क्षति स्म ॥

विज्ञाय हीरसूरीन्दुराशयं मेघजीमुनेः ।

आगादहम्मदावादे माकन्दे कीरवत्क्रमात् ॥ १२२ ॥

हीरसूरीन्दु हीरविजयसूरिशर्वरीसार्वभौम क्रमाद्रामानुग्रामादिविहारस्य परिपाठ्या अहम्मदावादे गुर्जरमण्डलविपुलाखण्डलनिवासस्थानत्वेन राजनगरे आगात् आगच्छति स्म । स्वयमागत्य अकमिपुरे समवसत इत्यर्थः । किवत् । कीरवत् । यथा माकन्दे सहकारमहीरहे शुकः समेति । किं कृत्वा आगतः । मेघजीमुनेराशयः स्वपार्श्वे सयमग्रहणाभिप्रायः विज्ञाय ज्ञात्वा स्वतः परतो वा अवसायः ॥ इति हीरविजयसूरेरकमिपुरीगमनम् ॥

प्राच्यामिव प्रतीच्यां च महोऽभ्यधिकमावहन् ।

परोलक्षान्दधत्ताक्षर्याङ्गुलनराज्ञा श्रियं पुनः ॥ १२३ ॥

सैहिकेयाञ्जयञ्शौर्याद्योऽजैषीत्पूषणं श्रिया ।

स गुर्जरेष्वथागच्छत्साहिः श्रीमदकब्बरः ॥ १२४ ॥ (युग्मम्)

अथास्मिन्व्यतिकरे सकलवसुधावलयप्रसिद्ध श्रीमाननेकजनपदनायकाधिपत्याद्वेतलक्ष्म्या लक्षित साहि पातिसाहि गुर्जरेषु आगच्छत्समागतः । स कः । योऽकब्बरः साहि श्रिया वेभवेन कृत्वा पूषण सहस्रकिरणमजेपीजयति स्म परावभूव । 'नमसितुमना यन्नाम स्यान्न सप्रति पूषणम्' इति नैषधे । किं कुर्वन् । प्राच्या पूर्वस्या दिशि इव प्रतीच्या पश्चिमायामप्याशायामभ्यविकमतिशायितम् इति पक्षपक्षलक्षदु सह स्वमहो निजप्रतापमावहन् आकलयन् । पुनः किंभूतः । लक्षात्परे परोलक्षा लक्षशस्ताक्षर्यान् जाल्यतुरङ्गमान् अर्यादश्ववारान् दवद्वारयन् । कटके कति वाजिन सन्ति लक्षद्विलक्षी त्रिलक्षी वा इति लोकभाषेव वर्तते । परं तावन्तोऽश्ववारा एव ज्ञेया इत्युक्ते । पुनः किं कुर्वन् । राज्ञामपरापरपृथ्वीपालानां श्रियः सपद देशनगरग्रामादिविभूतिः गृ-

१ पाणिनीयमते तु 'नाज्ज्ञलो' इति सूत्रस्थ 'पारस्करादित्वात्सुद्र' इति, कैयटानुसारेण सुट एव सभवे तस्य परादित्वेन पदान्तत्वाभावाद्भुत्वोत्वयोरप्राप्तौ 'परस्लक्षान्' इति भवेत्

लन्नाददान' । पुन' किं कुर्वन् । शौर्यात् शूरत्वात्सिंहिकाया अपत्यानि सहिकेयाः के-
सरिण जयन्पराभवन् पराक्रमन् सिंहव्याघ्रादिश्वापदानिघ्नन् । सूर्यस्तु प्रतीच्या म-
न्दायमानमहा सप्ताश्व एव राज्ञ श्रिय दिशन् । 'पुपोप वृद्धि हरिदश्वदीधितेरनु-
प्रवेशादिव बालचन्द्रमाः' इति रघौ । तथा सहिकेयात्स्वर्मानो सकाशादभिभव लभ-
मान । अत एवाकब्बरसाहे सूर्यजयो युक्त एव ॥ युग्मम् ॥ इत्यकब्बर ॥

साहिना सार्धमभ्येयुः प्राच्याः केऽपीह नैगमा ।

शर्वरीसार्वभौमेन नभोमार्गे ग्रहा इव ॥ १२५ ॥

साहिना अकब्बरपातिसाहिना सार्ध केऽपि केचन प्राच्या. पूर्वदिक्सवन्विन नै-
गमा वणिजो व्यवहारिण इह गुर्जरमण्डले अभ्येयुरागता. । के इव । ग्रहा इव । यथा
शर्वरीसार्वभौमेन विधुना सार्ध नभोमार्गे गगनाद्गणे ग्रहा समायान्ति ॥

तेऽप्यासञ्शासने जैने लीना मीना इवाम्बुनि ।

स्थानमिहादिमा मान्या अमात्या इव नृपतेः ॥ १२६ ॥

ते नैगमा अपि जैने शासने भगवत्सवन्विनि तपागच्छामिवाने शासने लीना नि-
र्लीयमानमानसा एकतानीकृतचित्ता सन्ति । क इव । मीना इव । यथा अम्बुनि पानी-
यविषये लीनास्तिष्ठन्ति । किभूता । स्थानसिद्ध' रामासाहसूनु. आदिम प्रथमो मुख्यो
वा येषु ते तादृशा । पुन किभूता । महीपतेरकब्बरपातिमाहेर्मान्या माननीया ।
क इव । अमात्या सचिवा भूपतेर्माननार्हा भवन्ति ॥ इति प्राचीनश्राद्धा' ॥

अरतुदं कुपक्षाणामिवासेचनक सताम् ।

परिव्रज्योत्सव कर्तुं काङ्क्षन्तो मेघजीमुने ॥ १२७ ॥

निशितायसशल्यानि हृदि मिथ्यादृशामिव ।

आनयन्ति स्म ते तुर्याण्यकम्बरमहीहरेः ॥ १२८ ॥ (युग्मम्)

ते प्राचीना श्राद्धा अकब्बरनाम्नो महीहरे पृथ्वीपुरदरस्य तुर्याणि वादित्राण्यानयन्ति
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मिथ्यादृशा कुवादिना हृदि हृदये वक्षसि निशितानि तीक्ष्णानि आय-
सानि लोहमयानि शल्यानि त्रिशूलानीव । 'हृदि शल्यमिवापितम्' इति रघौ । 'अति-
पीडाकारिन्वात्रिशूलम्' इति तद्वृत्ति । तथा 'परस्परोऽगमितशल्यपल्लवे' इति नैपवे ।
'मिथ उलालितकुन्ता येऽप्रे' इति तद्वृत्ति । तत शल्यानि कुन्ता इव । तथा 'शल्य श-
स्त्रशलाकयो' इत्यनेकाये । शस्त्राणीव वा । प्राच्या कि कुर्वन्त । मेघजीमुने प्रव्रज्याया
दीक्षाया उत्सव महाहव कर्तुं निर्मातु काङ्क्षन्त ईहमाना । किभूत परिव्रज्योत्सवम् । उ-
त्प्रेक्ष्यते—कुपक्षाणा लुम्पाकादीना कुमतभाजामरतुद मर्मव्यथकमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—
सता साध्वना जैनाना सुदृशामासेचनकमाप्यायकमिव । तदासेचनक यस्य दर्शना-
दृङ्ग तृप्यति' इति हेम्याम् । अत्र लालाघण्टान्यायेनोभयत्रापि इव सवध्यते ॥ युग्मम् ॥
इति वाद्यानयनम् ॥

स्पृहयद्विरिवोद्वोढुं मिद्धिमुग्धमृगीदृशम् ।

श्राद्धैरस्य तपस्यायाः प्रारभ्यत महामहः ॥ १२९ ॥

प्राच्यैर्गौर्जरेश्च श्राद्धैः श्रावकैरस्य मेघजीमुनेस्तपस्याया दीक्षाया महामह महोत्सवः प्रारभ्यत प्रारब्ध । उत्प्रेक्ष्यते—मिद्धिर्मुक्तिरेव मुग्धमृगीदृक् कमनीयकामिनी ताम् । 'मुग्धो मृढे च रम्ये च' इत्यनेकार्थः । उद्वोढु परिणेतु स्पृहयद्भिः कामयमानैरिव ॥

पूरिताशेषदिग्ध्वानढक्का तद्यशसामिव ।

तन्महो भूपदिग्जेत्रयात्राढक्काकणा इव ॥ १३० ॥

कुलशैलपयोराशिप्रतिध्वनिविधायिनः ।

वाद्यमानघनातोद्यनादाः प्रादुरवीभवन् ॥ १३१ ॥ (युग्मम्)

वाद्यमानानि ताड्यमानानि वादित्रवादिकैर्जनैः करैर्दण्डेन वा निहन्यमानानि घनानि प्रभूतानि आतोद्यानि तूर्याणि तेषां नादाः शब्दाः प्रादुरवीभवन् प्रकटीभवन्ति स्म । किंभूता । कुलशैला मेरुमन्दरकैलाशादिकाः कुलाचला तथा पयोराशिः समुद्रस्तेषु ये प्रतिध्वनयः प्रतिशब्दास्तान्विदधते प्रणयन्तीत्येवशीला । उत्प्रेक्ष्यते—तद्यशसा तस्य मेघजीकृपे यशसा कीताना पूरिता निर्भर भृता अशेषाः समस्ता दिशो दशाः प्याशा यस्तादृशा ध्वानाः शब्दाः यासां ताः ढक्का यशः पटहानि स्वाना इव । अथवा । तस्य मेघजीमुनेर्यश एव भूपो राजा तस्य दिशा समस्तहरिता जयनशीला यात्रा वैरिव्रजोपरि विजयकृते प्रस्थानं तस्य तदर्थं वा ढक्काकणा नि स्वानानि स्वना इव । राज्ञा हि प्रयाणेषु नि स्वाना वाद्यन्ते, तद्वनिभिश्च सर्वेऽपि सजीभवन्ति ॥ युग्मम् ॥

वदान्यैः श्रीद्वन्द्वानं ददेऽगीयत गायनैः ।

अनर्तिं नर्तकैरुच्चैर्वन्दिभिर्विरुदावली ॥ १३२ ॥

तत्र मेघजीकृपिदीक्षासमये श्रीद्वन्द्वनदैरिव वदान्यैर्दानशौण्डैर्विश्राणनशीलैर्दानं ददेत्तमं पुनर्गायनैर्गन्धर्ववर्गैर्गुरवनिः अगीयत । पुनर्नर्तकैर्नटैस्ताण्डवाडम्बरविवायिभिरनर्तिं नृत्यं निर्मितम् । पुनः वन्दिभिर्मङ्गलपाठकेविरुदानामावलिं श्रेणिं उच्चैः कथिता ॥

वैवेयवन्निरीयान्धकूपात्कूपे पतामि किम् ।

परपक्षान्गणैः स्वस्य स्वस्याहूतिकृतस्तदा ॥ १३३ ॥

अवमत्येति दीक्षा स श्रीहीरविजयान्तिके ।

सत्याकृतिमिवादत्त सगमे सुगतिश्रियाम् ॥ १३४ ॥ (युग्मम्)

स मेघजीमुनिः श्रीहीरविजयसूरेरन्तिकं सन्निवोऽपार्थं दीक्षां जैनतपस्यां जग्राह गृह्णाति स्म समादत्तवान् । कामिव । सत्याकृतिः सत्यकारमिव । लोके 'सचकार' इति प्रसिद्धः । कासाम् । सुगतीनां स्वर्गपवर्गफलदानां श्रिया लक्ष्मीणाम् । उत्प्रेक्ष्यते वा—

त्रिदिवशिखराणां सत्याकृतिमिव । किं कृत्वा । इत्यमुना प्रकारेण तदा तस्मिन्दीक्षा-
ग्रहमहोत्सवसमये परपक्षान् परगच्छीयान् खरतरस्तनिकादीनवमत्यागणयित्वा । वि-
मुच्येत्यर्थः । किंभूतान् परपक्षान् । स्वस्यान्मनः गणैर्गच्छेत्तस्य मेघजीमुनेराहृतिकृत-
आकारणविधायिनः । आकारणसूरिपदादिप्रदानादिना लोभयित्वा हठं कुर्वन्तीति तान् ।
इति किम् । यदहं वैधेयवन्मातृशासितो मूर्ख इव ज्ञानवानप्यज्ञानवानिव अन्वक्नुपान्
ध्वान्तोपचितान्तरावटान्निरीय निर्गल्य पुनर्द्वितीयवारं कूपे अपरस्मिन्कूपे किं कथं प-
तामि झम्पामि । अपि तु नैव पतिष्यामीत्येव विचायेत्यर्थः ॥ युग्मम् ॥

उद्द्योतं शासने तेने विजय दुर्दशा च यत् ।

इतीवास्य व्यधात्सूरिरुद्द्योतविजयाभिधाम् ॥ १३५ ॥

सूरिर्हीरविजयप्रभुः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोरस्य मेघजीकूपेः उद्द्योतविजय इत्य-
भिधा नाम व्यवाचकार । इति किम् । यत्कारणादसौ त्यक्तलुम्पाकमताधिपत्यं शासने
उद्द्योतं प्रकाशं तेने विस्तारयामास । च पुनर्दुर्दशा कुपक्षाणां कुमतानां विजयमवगण-
नारूपं विदधे निर्मितवान् । पराभवविहितवानित्यर्थः ॥

पादपीठलुठन्मूर्धा वद्धाञ्जलिरसौ विभुम् ।

श्रीनाभ इव नाभेय स्वयंभुवमवीभजत् ॥ १३६ ॥

असौ उद्द्योतविजयमुनिः विभुः हीरविजयमूरीन्द्रमवीभजत्सिद्धान्तोक्तविविधद्विनय-
विवानादिप्रकारेणातिशयेन भजते स्म निषेवते स्म । तदेव दर्श्यते—किंभूतः । पाद-
पीठे पदासने लुठन्मिलन्मूर्धा मौलिर्यस्य । पुनः किंभूतः । वद्धाञ्जलिः ललाटपट्टघटित-
करकमलकुञ्जलः । क इव । श्रीनाभ इव । यथा श्रीनाभनामा गणवरः नाभेर्नाभिनामनृ-
पस्यापत्यं सतानम् । नन्दन इति यावत् । नाभेयः श्रीकृष्णभदेवस्तं वृषभः स्वयंभुव तीर्थंकरः
भजते स्म । विशेषणे पूर्ववत् । पादपीठे लुठन् सघट्टं प्राप्नुवन् मूर्धा मस्तकं यस्य ।
तथा बद्धो रचितोऽञ्जलिः पाणिद्वययोजनयेन ॥ इति मेघजीकृष्णिमहः ॥

पारीन्द्र इव सूरीन्द्रः प्रणिहत्य तमोद्विपम् ।

नृणां व्यश्राणयद्बोधि मुक्तापङ्क्तिमिवार्थिनाम् ॥ १३७ ॥

सूरीन्द्रो हीरविजयगुरुः नृणां भव्यप्राणिनां बोधिं सम्यक्त्वव्यश्राणयद्बोधाति स्म ।
कामिव । मुक्तापङ्क्तिमिव । क इव । पारीन्द्र इव । यथा केसरी आर्यनायाचकानां
मुक्तानां स्वहारितकुम्भिकुम्भमत्यनिष्पतन्मौक्तिकानां श्रेणीं विश्राणयति प्रयच्छति ।
किं कृत्वा । प्रणिहत्य व्यापाद्य । किम् । तमं अज्ञानपापं वा तद्रूपं श्यामत्वात्तत्सदृशं
द्विपं हस्तिनम् ॥

मह्या विहरति स्वैर श्रीमत्सूरिपुरंदरे ।

दानवर्षितया भव्यव्रजेनानेकपायितम् ॥ १३८ ॥

श्रीमति अद्वैतवैभवभासिनि हीरविजयनाम्नि सूरिषु पुरदरे वासवे मह्या महीमण्डले
स्वैर स्वेच्छया न पारतन्त्र्याद्विहरति विहार विदधति सति दान द्रविणादिविश्राणनमदा-
म्भश्च वर्षतीत्येवशीलस्तत्तथा । 'दान विश्राणनमदाम्भसो' इत्यनेकार्ये । दानवर्षणस्वभा-
वेन भव्यव्रजेन भविकजन्तुजातेन अनेकान्वहून्दु स्थानार्थिनो वा पान्ति दारिद्र्यादुद्धरन्ति
सुखीकुर्वन्ति च तेऽनेकपा० मतङ्गजाश्च तद्वदाचरित सामयोनिसदृशीभूत च ॥

पितेव सूनुना साकं कम्माङ्गजयतीन्दुना ।

पत्तन पावनीचक्रे हीरसूरीश्वरः क्रमात् ॥ १३९ ॥

हीरसूरीश्वर क्रमादनुक्रमाद्विहारपरिपाठ्या स्वतन्त्रसुखविचरणात् पत्तनमणहिल-
वाटकाभिवानपत्तन पावनीचक्रे पवित्रीकरोति स्म । कथम् । साक सह । केन कस्मात् ।
कम्मासावोरङ्गजो नन्दन स एव यतिषु वाचयमेषु यतीना मध्ये आह्लादकत्वाद्वा-
गमृतवर्षित्वादिन्दुरिव । इन्दुराचायेणेत्यर्थः । क इव । पितेव । यथा जनक सूनुना सार्धं
पत्तनादिपुर समेति ॥

कृत्वा क्रमादनूचानपदनन्दि मुनीश्वरः ।

देशं स्वसूनो राजेव गणं तस्य वश व्यधात् ॥ १४० ॥

मुनीश्वरो हीरविजयव्रतिवासव गण तपागच्छ तस्य विजयसेनसूरेर्वशमायत्त
व्यधाच्चकार । किं कृत्वा । क्रमादनुक्रमेण । हेतौ तृतीया पञ्चमी च वाच्येति तृती-
यार्थः । पूर्वसूरिपरिपाटीत अनूचानपदस्याचार्यपदस्य नन्दि द्वादशावर्तवन्दनानु-
जानादिविधिं कृत्वा विधाय । क इव । राजेव । यथा सकलमेदिनीमण्डलाखण्डलो
निजनन्दनस्य देशः स्वजनपद वशमधीन विवर्त्ते ॥

प्रभोर्नन्दिमहे हेमराजो मन्त्रीश्वरो मुदा ।

अमानि मानवैः श्रीद इवामितधनं ददत् ॥ १४१ ॥

प्रभोविजयसेनसूरेर्नन्दिमहे आचार्यपदानुजावन्दनकदानादिमहोत्सवे हेमराजो नाम
मन्त्रीश्वर सचिवो मानवैर्जानपदैः पारैर्नागरिकैश्च मनुजैः श्रीदो वैश्रवण एव अमानि
विज्ञातोऽवबुद्धः ॥ किं कुर्वन् । मुदा प्रभोदेन अमित प्रमाणातीतमगणित वन द्रविण
ददवच्छन् ॥ इति विजयसेनसूरिनन्दि ॥

प्रत्यतिष्ठत्परोलक्षा आर्हती. प्रतिमा प्रभुः ।

कल्पितानल्पसकल्पाः कल्पसाललता इव ॥ १४२ ॥

प्रभुहारविजयसूरि परोलक्षा लक्षश आर्हतीजैनी प्रतिमा मूर्तीविम्बानि प्रत्य-
तिष्ठत् प्रतितिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कल्पिता प्रदत्ता पूर्णाकृता अनल्पा अनेके
भूयस्तारा सकल्पा मनोभिलपितानि याभिस्तादृशी कल्पसाललता कल्पद्रुमवल्ली-
रिव । 'कल्पद्रुमलता' इति सोमसौभाग्यकाव्ये ॥

पान्थानिव महानन्दपुटभेदनपद्धतौ ।

दीक्षयामास सूरिन्द्रोऽनेकानिभ्यतनूभवान् ॥ १४३ ॥

सूरिन्द्रोऽनेकान्पर शतानिभ्यतनूभवान्व्यवहारिपुत्रादीन्दीक्षयामास प्रजापति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—महानन्दो मोक्ष स एव पुटभेदन रत्नयोनिरित्युक्तम् । रत्नयोनिरिति लोकहृदि । तथा च रत्नसदृशाना पुरुषाणामुपत्तिस्थानम् । महानन्दे तीर्थं कश्चक्रवर्तिवत्तदेव महामण्डलीकमहीपतिमूरिवाचक्रमहामुनिप्रमुखा रत्नेभ्योऽभ्यधिकाना महापुरुषाणामुपत्तिस्थानक ततः पत्तनोपमानम् । तस्य पद्धतौ मार्गे पान्थान् पाथिकानिव ॥

शाखाप्रशाखाश्रेणीभिराकीर्णः श्रमणाग्रणीः ।

व्यभाद्वट इव च्छायाच्छन्नः सेव्यश्च राजभिः ॥ १४४ ॥

श्रमणाना साधूनामग्रणीः पुरोगो हीरविजयसूरि वट इव न्यग्रोवपादप इव व्यभात् । किभूत । शाखा विमलविजयसागरसुन्दरादिका प्रशाखा आनन्दहर्षगौभाग्यविशालकुशलादिकास्तासां श्रेणीभिराकीर्णः परिवृतः । पुनः किभूतः । छायायां शोभया छिन्नो निश्चितः सहितः । पुनः किभूतः । राजभिर्भाविनिभूतोपचाराद्द्रुपाले सेव्यः उपासनीयः । वटस्तु स्कन्वनिरुता शाखास्ताभ्यः पुनर्निर्गता प्रशाखास्तासां राजभिर्व्याप्तो भरितः । तथा छायायां प्रतिच्छायिकयाञ्चितः सिञ्चितः । तथा राजभिर्यक्षैः सेवनीयः । यक्षाणां वटवासित्वान् । 'यक्षः पुण्यजनो राजा शुद्धको वटवास्यपि' इति हैम्याम् ॥

समस्थापयत्तीर्थसार्थाननेकाननेकान्तवादांस्त्वुजाम्भोजवन्धु ।

महीमण्डले रन्तुमुत्कण्ठितायाः स्फुरत्केलिगेहा इव ब्रह्मलक्ष्म्या ॥ १४५ ॥

एकान्तेन निश्चयेन वदनमेकान्तवादो न एकान्तवादो यत्र तदनेकान्तवादः जिनशासनम् । यतः—'स्याद्वादवाद्यार्हतः स्यात्' इति हेमाचार्योक्तिः । स एव तदेव वाम्बुजसरसीरुहः तत्र तद्विकाशने अम्भोजवन्धुः पद्मवान्ववः सहस्ररश्मिः सूरिन्द्रः अनेकान् शतशः तीर्थानां पापसतापापनोदस्थानानां सार्थान् समूहान् । यद्यपि हैम्याम् 'सवसायो तु देहिनाम्' इत्युक्तम्, तथापि हेमचन्द्रेणैवानेकाग्र्ये प्रोक्तम्—'सायो वृन्दे वणिग्गणे' इत्युत्पन्नभेदान्, तथा 'पदार्थसार्थः' इत्यपि दर्शनात्, अनुप्रासत्वाद्वा लक्षणयापि समूहार्थः एव तस्मादानीतः । समस्थापयत्समस्थापयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—महीमण्डले पृथ्वीपीठे रन्तुः क्रीडितुमुत्कण्ठिताया उत्सुकिताया ब्रह्मलक्ष्म्या मुक्तिश्रिया । 'शिवो नि श्रेयसः श्रेयो निर्वाणं ब्रह्मनिर्वृतिः' इति हैम्याम् । स्फुरन्तः निखिलमुद्गद्गगोचरीभावः भजन्तः केलिगेहा विलाससौवानीव । सूरिस्थापिताना तीर्थानां पृथिवीपीठस्थायुक्तत्वात् अथ च ब्रह्मलक्ष्म्याल्लोकयोपरितभूमौ स्थायित्वाच्च महीमण्डले क्रीडाकाङ्क्षेति ॥ इति हीरविजयसूरिवर्मकृत्यानि महिमसपदः ॥

अथो विहारप्रतिष्ठादीक्षाद्यनन्तर कस्मिंश्चिदकञ्चरसाहेराकारणसमये गन्धारनगरे चतुर्मासी तिष्ठासो मूरेर्गन्धारवर्णेन किञ्चित्—

अथो लाटलक्ष्मीललामायमानं पुरं वार्धितीरेऽस्ति गन्धारनाम ।

किमुद्वेज्यमाना जलैरम्बुराशेः प्रतीरं पुरी संश्रिता शार्ङ्गपाणेः ॥ १४६ ॥

लाटस्य लाडनान्नो मण्डलस्य लक्ष्म्या ललामायमान तिलकमिवाचरत् वार्धे समुद्रस्य तीरं तटं तत्र गन्धार इति नाम यस्य तादृशं पुरं नगरमस्ति विद्यते । उत्प्रेक्ष्यते—
अम्बुराशेः कल्लोलमालिनं प्रसरत्तुङ्गतरङ्गरङ्गविरलजलैरुद्वेज्यमाना अत्युद्वेगं प्राप्यमाना शार्ङ्गपाणेर्नारायणस्य पुरी द्वारका नगरी विष्णोः कुत्रापि गते सति समुद्रेणाप्लाव्य स्वसलिलमव्ये गृहीता, अत एव पानीयोद्वेगात्प्रतीरं तटं संश्रिता पानीयाद्वहिरागत्यात्र स्थितेव ॥

निधानेशरम्भाकुमारीगणेशान्दधानेन गाङ्गेयराजेश्वरांश्च ।

जिता येन वस्वोकसारा स्वलक्ष्म्या ह्रियेवाश्रिता शंभुशैलस्य मौलिम् १४७

गन्धारनगरेण स्वलक्ष्म्या निजवैभवेन जिता परिभूता सती वस्वोकसारा धनदपुरी ह्रियेव त्रपातिरेकादिव शंभुशैलस्य मौलिं मस्तकमुपरितनशिखरमाश्रिता भेजुषी । येन किं कुर्वाणेन । दधानेन । कान् । निवानाना निधीनामीशा स्वामिनो निविपतय तास्तथा रम्भा कदली कुमारी कन्यका तथा गणाना जनसमुदायानामीशा गणनायकास्तान् तथा गाङ्गेय स्वर्णं तथा राजेश्वरं देशाविपतिं राज्यलक्ष्मीवन्तमीश्वरा गजप्रमाणद्रविणवारिण तान् विभ्राणेन । अलङ्कारपक्षे तु सर्वेऽप्येकैका । निवानेशो धनदः, तथा रम्भानाम्नी धनदाङ्गजनलकूबरपत्नी । ‘अस्मान्किमश्रोत्रसुखा विवाय रम्भा चिरं भामतुजा नलस्य । तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्वान्नलकूबर सा ॥’ इति नैषधे । कुमारी पार्वती गणेशो विघ्ननायक गङ्गाया अपत्यं गाङ्गेय स्वामिकार्तिक । ‘गङ्गोमा कृत्तिकामुत इति हेम्याम् । तथा ‘गाङ्गेयो गुहभीष्मयो’ इत्यनेकार्थः । राजानो यक्षा-
ईश्वर शंभुस्तान्विभ्रती ॥

स्फूर्त्या मणीकम्बुवराटमुक्तिका प्रवालमातङ्गतुरङ्गमश्रियाम् ।

विहेलितेनाम्बुधिना द्विवेलं वेलाच्छलाद्यन्नगरं न्यषेवि ॥ १४८ ॥

मणयं चन्द्रकान्ताद्या सामान्येन सर्वजातेजानि रत्नानि कम्बव गङ्गा वराटा रत्नमुत्पन्नानि हीरका कपर्दी वा मुक्तिका मुक्ताफलानि । ‘बहुकम्बुमणीवराटकागणनाटत्करकर्कशोत्कर’ इति नैषधे । हृदयेषु कम्बवोऽपि दृश्यन्ते । प्रवाला विद्रुमा मातङ्गा हस्तिन तुरङ्गमा अश्वा श्रीर्वनवान्यादिविविधलक्ष्मीस्तासां स्फूर्त्या अत्युद्धरवैभवभरेण कृत्वा विहेलितनावगणितेनाभिभूतेनाम्बुधिना समुद्रेण द्वे वेले वाराववसरो यत्र । ‘वेला वाराववसरः प्रस्ताव’ इति हेम्याम् । तथा ‘वेला स्यादृद्धिरम्भसः’ । द्विवेलमिति क्रियाविशेषणम् । वेलाच्छलाञ्जलवृद्धिकपटात् । वेलागममिषणेत्यर्थः । यन्नगरं गन्धारपुरं न्यषेवि

उपास्यते स्म । अम्बुधावपि मण्ड्यादयः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति । ऐरावणोऽर्च्यः श्रवमो-
स्तत्रोत्पन्नत्वात् जले गजाश्वानां सभवाद्वा ॥

इन्द्रनीलमणिशालिजालकाश्चन्द्रकान्तकृतचन्द्रशालिकाः ।

भूतलाभ्युदयिनो वभामिरे शारदीनशशिमण्डला इव ॥ १४९ ॥

यत्र गन्धारनगरे इन्द्रनीलमणिभिः मण्डितादिनीलरत्ने. शालन्ते शोभन्ते इत्येवशीला
जालका गवाक्षा यासु तादृश्य चन्द्रकान्तेश्चन्द्रमणिभिः कृता निर्मिता चन्द्रशालिका
अर्थात्सौधानां शिरोमृहाणि उपरितनभूमिका वभामिरे भासन्ते स्म दीप्यन्ते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—भूतले महीमण्डले अभ्यागत्योदयन्त्युद्गच्छतीत्येवशीलान्तथा शारदीना
प्रसरत्पयोधररोधापगमप्रोल्लसत्प्रचुरचन्द्रिकाकलिता शरत्कालसवन्निनीः शशिना-
मिति सार्थकं नाम कलङ्ककालिमाकलितचन्द्राणां मण्डला विम्बा इव । मण्डलश-
ब्दत्रिषु लिङ्गेषु । चन्द्रशालिकासु लक्ष्ममण्डलेन्द्रनीलगवाक्षा ॥ इति गन्धारवर्णनम् ॥

महैर्महीयोभिरनेकनागरैः प्रवेशितः सूरिपुरदरः पुरम् ।

दिग्जैत्रयात्रासु निजानुगीकृतप्रतीपभूमीपतिमार्वभौमवत ॥ १५० ॥

अतिशयेन महान्तो महीयामस्तैर्महीयोभिरत्यभ्यधिकैर्महैरुन्मवै कृत्वानेजे गग-
नातीता नागरा पुरजनास्तैः सूरिपुरदरो हीरविजयसूरिवासव पुर गन्धारनगर
प्रवेशित पुरे प्रवेशः कारित । किवत् । दिशा पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तराणां चतसृणां
जेत्रासु जयनशीलासु यात्रासु सेनाभिः समं शात्रवेषभिरगमोऽभिषेकन तेषु निज-
स्यात्मनोऽनुगीकृता सेवकभावलम्बिता प्रतीपा पूर्वप्रतिकूला विजये कृते च कथ-
चिदानुकूल्यभाज भूमीपतयो राजानो येन तादृक् सार्वभौमवत । यथा चक्रवर्ती
महामहे कृत्वा नागरैर्नगरं प्रवेश्यते ॥

गणकैरविणीरमण. श्रमणैर्वहुभिः सह तत्पुरमध्यवसत् ।

कलमप्रकरैरिव गन्धगजो जलबालकभूधरभूवल्यम् ॥ १५१ ॥

श्रमणैः साधुभिः सार्वं गणे तपागच्छे आह्लादकत्वेन केरविणीनां कुमुदिनीनां
रमणं प्राणनाथश्चन्द्रो गच्छनायक तद्गन्धाराभिधानं नगरमध्यवसत् आश्रयति स्म ।
गन्धारवन्दिरे तस्थिवानित्यर्थः । क इव । गन्धगज इव यथा कलमैर्विशदब्दकैः प्रादुर्ग-
जत्रजैरुपलक्षणाद्विशतिवर्षावैर्विकैः दशवार्षिकैः पौतैः पञ्चवार्षिकैर्बालैः इत्यादिभिर्द्विरद-
समम् । ‘पञ्चवर्षो गजो बालः स्यात्पौतो दशवार्षिकः । वित्को विशतिवर्षः स्यात्कलम-
व्रिशदब्दकः ॥’ इति हैम्याम् । गन्धहस्ती जलबालको विन्ध्यः स एव भूधरः पर्वत-
स्तस्य भूवल्यः वनगहनपृथिवीपीठमधिवसति विन्ध्याद्रिवनखण्डे तिष्ठति । ‘विन्ध्यस्तु
जलबालकः’ इति हैम्याम् ॥

अमरपुरीकृतलजे तत्र विजेतुं बलिगृहे सजे ।

प्रावृषि दुग्धपयोधौ मधुपरिपन्थीव तस्थौ स ॥ १५२ ॥

स प्रसिद्धः सूरिः तत्र गन्धारनगरे प्रावृषि वर्षाकाले वार्षिकचतुर्मास्या तस्थौ तिष्ठति स्म । क इव । मधुपरिपन्थीव । यथा प्रावृदसमये दुग्धपयोधौ क्षीरसमुद्रे मधु-
नान्नो दैत्यस्य परिपन्थी शत्रुर्नारायण तिष्ठति । किंभूते गन्धारपुरे । अमराणां
देवानां पुर्यां नगर्यां अमरावत्या स्वातिशायिताभ्यधिकवैभवभरै कृता विहिता लज्जा
मन्दाक्ष येन । पुनः किंभूते । बलिगृहं नागलोकं विजेतुं विशेषेण स्वविभवाविक्रयेन
पराभवितुं सज्जे सज्जीभूते ॥ इति गन्धारनगरे हीरमूरेः स्थितिः ॥

जीविकामिव नभोम्बुपावलेः प्रावृष पुनरवेत्य पत्तने ।

हीरसूरिपुरुहूतशासनात्तस्थिवान्विजयसेनसूरिराट् ॥ १५३ ॥

विजयसेन इति नाम यस्य तादृशः सूरिणा राट् राजा हीरसूरिपुरुहूतस्य हीरविज-
यसूरिशक्रस्य शासनादादेशात्पुनरपरार्थे पत्तने अणहिल्लवाटकनगरे तस्थिवान् स्थितः ।
किं कृत्वा । प्रावृष वर्षासमयमुपेतमवेत्य ज्ञात्वा । प्रावृष कामिव । नभोम्बुपानां
चातकानामावले पङ्के जीविका जीवनवृत्तिमिव ॥

प्रीणन्प्राणिनभोम्बुपान्प्रविदधुर्वादिना दुर्दिन

बोधाङ्कुरकरम्बिता विरजस कुर्वश्च चित्तक्षितिम् ।

आनन्दं ददते स्म विस्मयकरी व्याहारधारा किर-

न्भूमौ सूरिपुरदरो जलधरो जम्भारिमार्गे पुनः ॥ १५४ ॥

भूमौ महीमण्डले सूरिपुरदरो हीरविजयसूरीन्द्र अथ च सूरिरेव पुरदरो मेघः ।
यदुक्तम्—‘एक एव खगो मानी चिरं जीवतु चातकः । पिपासितो वा म्रियते याचते
वा पुरदरम् ॥’ इति । पुनर्जम्भारिमार्गे शक्रपद्वतौ आकाशे । यथा देवमार्गस्तथा देवे-
न्द्रमार्गोऽपि । तथा ‘येनामुना बहुविगाढमुरेश्वरा धूराज्याभिषेकविकसन्महसा बभूवे’
इति नैषधेऽपि । जलधरो मेघः आनन्दं जनानां प्रमोदं ददते स्म । ‘दद दाने’ इत्यादिरात्म-
नेपदी च । किं कुर्वन् । प्राणिनो जन्तव एव नभोम्बुपावल्पीहास्तान् प्रीणन् तर्पयन्
तृप्तिमुत्पादयन् तेषाम् । पुनः किंभूतः । दुर्वादिना परवादिना मिथ्यादृशा दुर्दिनं दुष्टदिव-
सं पराजयगोचरीकृतत्वान्मेघान्वकार च प्रविदधत् प्रकर्षेण कुर्वन् । पुनः किंभूतः ।
बोधस्तत्त्वज्ञानं सम्यक्त्वं वा तदेवाङ्कुरः प्ररोहः । अथ वा बहुवचनम् । बहुजनापेक्षया
तत्त्वज्ञानानि सम्यक्त्वानि च त एवाङ्कुरास्ते करम्बिता व्याप्तामत एव विरजसं विग-
तरजस्का पापधूलीभ्यां रहिता चित्तक्षितिः मनोमेदिनी कुर्वन् सृजन् । पुनः किंभूतः ।
विवेका जगज्जनानां विस्मयकरीमाश्चयात्पादिकाम् । व्याहारा एव वाग्विलासा एव धारा-
ममृतवृष्टिः किरन्विस्तारयन् ॥

भवसलिलनिधेरिवैकसेतुं विधिमवलम्ब्य तदागमप्रणीतम् ।

घनसमयदिनान्दिनेश्वरश्रीर्गमयामास मुनीश्वरः क्रमेण ॥ १५५ ॥

तदा तस्मिन् प्रावृत्तसमये मुनीश्वरो हीरविजयसूरि क्रमेण पर्युषणादिपरिपाद्या
घनसमयदिनान्प्रावृषेण्यवासरान् गमयामासातिक्रामति स्म । किंभूत । दिनेश्वरी
सूर्यवत्तेजोलक्ष्मीर्यस्य । किं कृत्वा । आगमे निद्वान्ते उद्यनिर्युक्तियदिनचयादिशान्त्रे
वा प्रणीत प्रोक्त विविं चातुर्मासिकसाधुसबन्धिविविधक्रियानुष्ठानादिकमवलम्ब्याश्रित्य ।
उत्प्रेक्ष्यते—भव समार एवानन्तत्वाददृग्गोचरपारन्वान्मल्लिलनिविः समुद्रस्तस्य तत्र
वा एकमद्वितीय सेतुमिव । पद्यायाज इति जनप्रमिद्धाभिवानम् ॥

यं प्राप्तुं शिवाह्मसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्र कोविदसीहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

सर्गोऽमौ नवमोऽत्र देवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिरचिते सपूर्णता प्राप्तवान् ॥ १५६ ॥

अत्र हीरसौभाग्यकाव्ये असौ अयमेव यो लिपेर्गोचरीकृतः । नवाना सख्यापूरणो
नवम सर्गः अधिकारविशेषः सपूर्णता प्राप्तवान् सपूर्णो बभूव ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलविरचितायाः स्वोपज्ञहीरसौभाग्यम-
हाकाव्यवृत्तो शासनदेवीप्रकटीभवन-गुरुप्रश्न-तदुत्तर-स्वस्थानगमन-चन्द्रतारातमस्त-
मीविरामदिनकरोदयविजयसेनसूरिसूरिपद-मेघजीऋषिसमागमन-गन्धारनगरादिवर्ण-
नो नाम नवमः सर्गः ।

दशमः सर्गः ।

नि शेषदेशककुद भुवि भाति दिल्ली-

देशोऽथ केलिनिलयो नलिनालयाया ।

नाभीभुवा भुजगनिर्जरसन्नसार-

मादाय निर्मित इवैष खनिः सुखानाम् ॥ १ ॥

अथ अकञ्चरपातिसाहिमिलनादिप्रारम्भणे भुवि पृथिव्या गुर्जरजनपदापेक्षया पू-
र्वस्या दिशि दिल्लीदेशो मेवातनाममण्डलो दिल्लीमण्डल इत्यप्यभिवा भाति शोभते ।
किलक्षणः । नि शेषाणां समस्तानां देशानां जनपदानां ककुदः प्रधानः । 'ककुदः तु
प्रधानेऽसे वृषाङ्के राजलक्ष्मणि' इत्यनेकार्थतिलके । पुनः किंभूतः । नलिने कमले आ-
लयः सदनं यस्यास्तस्याः श्रियः केलये क्रीडार्यः निलयः सौवम् । उत्प्रेक्ष्यते—नाभी-
भुवा नारायणनाभ्यम्भोजजन्मना ब्रह्मणा भुजगनिर्जरसन्ननोर्नागलोकस्वर्गयोः सारः
सम्यग्दलिकपटलीमादाय गृहीत्वा सुखानां सर्वशर्मणा खनिराकरः । एष देशो
निर्मितः कृत इव ॥

यन्मिन्विभाति भगिनी तपनाङ्गजस्य

रङ्गत्तरङ्गशिखरोन्मथितारविन्दा ।

देशश्रियः किमपि निर्गलितोत्तरीया

वेणी विभूषणवतीव परिस्फुरन्ती ॥ २ ॥

यस्मिन्दिल्लीमण्डले तपनस्य भानोरद्रजो नन्दनो धर्मराजस्तस्य भगिनी जामिर्य-
मुना यमभगिनी । 'कालिन्दी सूर्यजा यमी' इति हैम्याम् । किभूता । रङ्गन्तश्चलन्तो ये
तरङ्गाः कल्लोलास्तेषां शिखराण्यग्राणि तेषून्मयितानि विकसितानि अरविन्दानि पद्मानि
यस्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—देशश्रियः दिल्लीमण्डललक्ष्म्या किमपि कथमपि केनापि प्रकारेण
निर्गलितः कापि निपतितः उत्तरीयमुपरितनच्छादननिवसनं यस्यां तादृशी परिस्फुरन्ती
दृग्गोचरीभवन्ती प्रत्यक्षलक्ष्या वेणी कवरीव । किभूता । विभूषणवती चूडामण्यादिम-
न्तकानरणभरविभ्राजिनी ॥

उत्ताननक्र इव वक्रकज कुशाद्या-

वर्ते विभूषयति मध्यमहीममुष्य ।

उत्पत्तिमाकलयतो ददतोऽङ्गिकामा-

न्क्षीरार्णवे क्रतुभुजामिव पादपस्य ॥ ६ ॥

आसेदुषीभिरवने विदुषीभिरिक्षु-

च्छायासु यन्नवकुटुम्बिघनस्तनीभिः ।

कीर्तिर्जगज्जयिरतीशजयोजितेव

राजीमतीशितुरगीयत गीतिरुच्चैः ॥ ४ ॥ (युग्मम्)

यस्य दिल्लीमण्डलस्य नवाभिस्तरुणीभिः कुटुम्बिना कर्षुकाणां घनस्तनीभिः पीन-
पयोधराभिः अथ वा घटस्तनीभिः जम्भवत्कुचौ यासामित्युन्नतस्तनीभिः वनिताभिर्गो-
तिर्गनमुच्चैः सातिशायिमधुरध्वनिनागीयत जगे गीता । किभूताभिः । इक्षूणां
रसालानां छायासु निरातपस्थानेषु आसेदुषीभिरुपविष्टाभिः । इत्थं किम् । अवने
इक्षुक्षेत्ररक्षणे विदुषीभिर्निपुणाभिः । उत्प्रेक्ष्यते—जगन्ति त्रीणि भुवनानि । सुरासुर-
नरानित्यर्थः । जयतीत्येवशीलस्य रतीशस्य मन्मथस्य जयेन पराभवेन क्षौदेनामूर्छो-
जिता स्वीकृता राजीमतीशितुः श्रीनेमिनाथस्य कीर्तिरेवागीयत । राजीमतीशितुः किं
कुर्वत । कुश इति पदमाद्यं यत्र तादृशे आवर्तः । कुशावर्तदेशे इत्यर्थः । उत्पत्तिर्जन्म
आकलयत ददत प्राप्नुवत । कस्येव । पादपस्येव । यथा क्रतुभुजा देवानां पादपं
पारिजातनामा कल्पद्रुमं क्षीरार्णवे दुग्धपयोवो उत्पत्तिमाकलयति । पुनः किभूतस्य ।
स्वर्द्रुमवदङ्गिना प्राणिना भविकानां कामानभिलाषान्ददत यच्छत । अथ वा ।
क्षीरार्णवे कल्पवृक्षस्येव कुशावर्तजनपदे जन्माकलयत । कुशावर्ते किं कुर्वति । वक्र-
कज वदनारविन्द उत्तानमुन्नत नक्र नासिका तस्मिन्निव । अमुष्य दिल्लीमण्डलस्य मध्य-

महीमन्तरालभूमीं विभूषयति शोभा लम्भयति । सेवानमण्डलमध्ये श्रीनेमिनाथजन्म-
स्थान कुशावर्तदेशोऽस्मीत्यर्थः ॥ युग्मम् ॥

संसेवितो द्विरमनैरमुगध्रयश्च

ख्यातो रमातलनया नरकानुपङ्गी ।

एतद्विगानमपनेतुमिदमिषण

वासो व्यधायि किमु भोगिगृहेण भूमौ ॥ ५ ॥

भोगिगृहेण नागलोकेन इदमिषण अस्य दिल्लीदेशस्य दम्भेन कपटेन भूमा मही-
मण्डले वाम स्थितिर्व्यधायि विहिता । उत्प्रेक्ष्यते—एतदिहेव जनरभिधीयमानमीदृश
वा विगानमपवादमपनेतु निवारितुमिव । एतन्किम् । यदसौ भोगिगृहो द्विरमनेर्भुजगे-
सलैश्च संसेवित आश्रित । च पुनरमुराणा दैत्यानामाश्रय स्थानम् । ‘अमुग दिनि-
दनुजा पाताललोक सुरारय’ इति हैम्याम् । पुन रमातलमित्यनिष्टवाक्यम् । वनपालो-
ऽप्याह—‘रसातल यातु यदत्र पोरुपम्’ इति । तत्त्वेन ख्यात प्रथित पुनर्नरकस्य
नाम्नोऽसुरविशेषस्य । सप्तनरकानां दुर्गतीनामनुपङ्गो मिलन यस्य ॥

तन्निर्जयोद्यतनिजस्य भयादवेत्य

यात प्रणश्य बलिसन्न तलेऽचलाया ।

पृष्ठे विलग्न इव तं विजिगीपुरेष

स्वर्गः क्षितावुपजगाम मिषादमुष्य ॥ ६ ॥

तद्विजिगीषुस्तद्वले सन्न नागलोकं विचेतुमिच्छु परामवनशील । अत एव पृष्ठे
पश्चाद्विलग्न अमुष्य दिल्लीदेशस्य मिषाद्याजान् । उत्प्रेक्ष्यते—एष प्रत्यक्ष स्वर्गो देव-
लोक क्षितो क्षोणीमण्डले उपजगाम समागत । किं कृत्वा । नस्य बलिमन्ननो निर्जये
परिभवनविधाने उद्यतस्य उद्यम विनिर्ममाणस्य उत्सुकस्य वा । निजस्यात्मनो भया-
दर्यात्स्वर्गस्य भीतेरचलाया पृथिव्यास्तले अधस्ताद्भागं प्रणश्य यात प्रतिभ्रष्ट बलिमन्न
नागलोकमवेत्य विज्ञाय । पूर्वं हि बलिसन्न भूलोकस्वलोकयोरुपरिष्ठादामीन्—इति कदि-
समय । यदुक्त नैषधे—‘बलिसन्न दिव स तथ्यवागुपरि स्माह दिवांऽपि नारद’
इति । पश्चादद्वेतविभूतिजाताबलवत्तया क्रतुभुजा भुवनेनाभिभूत भूतले गतमित्यर्थः ॥

य. पद्मनन्दन इवास्ति हिरण्यगर्भो

रम्याप्सरा हरिरिवाच्युतवत्सलक्ष्मी ।

रत्नाकरोऽम्बुविरिवारिरिवात्मयोने-

दुर्गान्वित. पविरिवासहजैरजेय ॥ ७ ॥

यो देशः पद्मनन्दनो विरञ्चिरिव । ‘पद्मनन्दनसुतारिरमुता’ इति नैषधे । हिरण्य

सुवर्णं गर्भे मध्ये यस्य । आकरादौ स्वर्णानां सद्भावात्, कनकभृत्कलशानां भूमिगर्भेषु स्थायित्वाद्वा, सुवर्णादीनि गर्भं मध्ये यस्य व्यवहारिणा सौधेषु परं शतपगेलक्षपरं कोटि-हिरण्यदर्शनाद्वा । ब्रह्मणस्तु केवलं नामैव । ‘हिरण्यगर्भो लोकेशो नाभिपद्मात्मभूरपि’ इति हैम्याम् । अस्ति विद्यते । पुनर्यो हरिरिव इन्द्र इव । रम्याणि कमलाकरसद्भावा-न्मनोज्ञानि अत एवात्प्रवानानि सरासि तटाका यत्र । हरिस्तु रम्या रन्तु योग्या कला-केलिकलाभिर्विलसितुमुचिता । रमणार्हा इत्यर्थः । आसरसो रम्भा-तिलोत्तमा-धृताची-मेनकाप्रभृतयः स्वर्वनिताः यस्य । पुनर्योऽच्युतवन्नारायण इव सह लक्ष्म्या धनवान्या-दिविभवेन शोभया वा वर्तते स । ‘समासान्तविधेरनित्यत्वात्कप्रत्ययाभावः’ । कृ-ष्णस्तु श्रिया पत्न्या सहितः । पुनर्योऽम्बुवि पारावार इव रत्नानां प्रशस्तवस्तूनां रत्नपुरुषाणां नेमिनायकृष्णबलभद्रादीनां महापुरुषाणामाकर उत्पत्तिस्थानम् । समुद्रोऽपि रत्नाकरः । पुनर्यो देश आत्मयोने स्मरस्य अरिः शत्रुरिव दुर्गेरद्रिकोटैरन्वितः । शिवस्तु दुर्गया पार्वत्या पत्न्या युक्तः । अर्धाङ्गभाजित्वात् । पुनर्यं पविरिव वज्रवद-सहजैः शत्रुभिरजेयो जेतुमशक्यो वैरिभिरग्राह्यः । वज्रं तु दुर्भेद्यं गिरिष्वप्यकुण्ठत्वात्, सुरासुराणां दुर्जयत्वाद्वा ॥ इति दिल्लीदेशः ॥

दिल्लीति तत्र नगरी न गरीयसीभिः

श्रीभिः क्वचिद्विरहिता रहिता न नीत्या ।

रेजे गिरीशगिरिशृङ्गकृतैस्तपोभिः

प्राप्ता परा श्रियमसौ त्रिशिरःपुरीव ॥ ८ ॥

तत्र तस्मिन्मण्डले दिल्ली इति नाम्नी नगरी पुरी अस्ति । किभूता । गरीयसीभिः अतिमहतीभिः श्रीभिर्लक्ष्मीभिः क्वचित्कुत्रापि स्थाने न विरहिता न वियुक्ता । पुनः किभूता । नीत्या न्यायेन न रहिता न वियुक्ता । ‘रीत्या’ इति पाठे रीत्या मर्यादया उत्तमकुलाद्याचारेण व्यवहारेण वा । उपप्रेक्ष्यते—गिरीशस्य शम्भो गिरेः केलाशस्य शृङ्गे शिखरे कृतैः स्वस्थित्या विहितैर्निरशनपानादिकष्टतपोभिः कृत्वा परा प्रकृष्टा सवोत्कृष्टा वा श्रियः लक्ष्मी शोभा वा प्राप्ता असौ दिल्ली त्रिशिरसो वैश्रवणस्य पुरी नगरी अलकेव ॥

दम्भोलिपाणिनगरीविभवाभिभाव-

प्रागल्भ्यमाकलयता निजवैभवेन ।

निर्जित्य या बलिगृहं पदमस्य मौलौ

कालीव कासरसुरासहजः ससर्ज ॥ ९ ॥

या दिल्लीपुरी निजवैभवेन आत्मीयाद्वैतलक्ष्म्या । ‘स्फुरन्माञ्जिष्ठवैभवः’ इति काव्यकल्पलतायाम् । बलिगृहं नागलोकः निर्जित्य पराभूय अस्य बलिगृहस्य मौलौ मस्तके पदः

चरण स्थान ससर्जं सृजति स्म । किंभूतेन वभवेन । दम्भोलिर्वञ्च पाणो हस्ते यस्य
स तस्य सहस्रनेत्रस्य नगर्या अमरावल्या विभवस्य अभिभवनमभिभावस्तत्र प्रागल्भ्य
प्रतिभावता चातुर्यमुद्यममुत्साह वा आकलयतां विभ्रता पद चक्रं । केव । कार्त्तव ।
यथा पार्वती कासरनामान सुराणा देवानाममहज विरोधिनि स्वम्यात्मनो विभोर्भावो
वैभवम् । अत्र भावेऽण् । तेन वैभवेन सामर्थ्येन महत्त्वेन वा । 'स्तोत्र सुविस्तृतमतिर्न
विभुर्विधातुम्' इति कल्याणमन्दिरस्तवे । 'विभु समर्थ' इति तद्वृत्ति । वाल्मृष्ट
पाताल निर्जित्य जित्वा अस्य महिषासुरस्य मोलं मन्त्रके पद स्वचरण चकार ।
तन्मूर्तेस्तत्प्रकारदर्शनान् ॥ इति दिल्ली ॥

तस्यां महीहिमकरेण हमाँउनाम्ना

जज्ञे पुरंदरविजित्वरविक्रमेण ।

यस्यौजसेव विजितेन पद मुरारे-

स्तुत्यतां स्पृहयताशुमता न्यपेवि ॥ १० ॥

तस्या दिल्लीनगर्या हमाँउ इति नाम यस्येति तेन हमाँउनाम्ना महीहिमकरेण क्षोणी-
रोहिणीरमणेन जज्ञे सजातम् । किंभूतेन । पुरंदरस्य वामवस्य विजित्वरो विशेषेण जय-
नशीलो विक्रमो बल यस्य तेन । यस्य हमाँउपातिसाहेरोजसा प्रतापेन विजितेनाभिभूतेन
सता । पुनस्तस्य हमाँउप्रतापस्य तुल्यता सादृश्य स्पृहयता इच्छता अशुमता सूयण ।
उत्प्रेक्ष्यते—मुरारेर्नारायणस्य पद चरण विष्णुपद न्यपेवि मेव्यते स्म इव ॥

श्रीकाबिलाधिपतिवब्बरपातिसाहि-

पुत्रः पुलोमदमनोऽखिलमुद्गलानाम् ।

सूरस्य सूनुमपि निर्मितवान्सदण्ड

काल करालमपि यः प्रसरत्प्रतापैः ॥ ११ ॥

यो हमाँउपातिसाहि अभिषेणनेन विनैव प्रसरद्भिर्जगद्वापकैर्दशदिक्षु विस्तृते
प्रतापै स्वतेजोभिरेव शूरस्य श्लेषचित्रयो सकारशकारयोरभेदान् भास्करस्य मूनु
नन्दनम् । 'प्रेतात्पतिर्दण्डवरोऽर्कसूनु' इति हेम्याम् । सुभटम्यान्जानमपि कराल
मृत्युत्वेन विविवायुववारकत्वेन भीषण परेषा भयोत्पादक काल कृतान्त कालवर्णमपि
सदण्ड वेत्रिणम् । 'छडीदार' इति प्रसिद्धम् । राजदेयाशयुत दण्डदायिनमित्यर्थ । निर्मि-
तवान्विवृत्ते स्म । केवल खौजसैव, न पुनरभिषेणनादिना सदण्ड विहितवानित्यर्थ ।
किंभूत । श्रिया सेनादिविभवेन कलितो य काबिल इति नामा मुद्गलाना मण्डलो देश-
विशेषस्तस्याधिपति स्वामी यो वब्बरपातिसाहिस्तस्य पुत्रो नन्दन । पुन किंभूत ।
अखिलाना मुद्गलाना यवनजातिविशेषाणा म्लेच्छाना पुलोमनान्नो दानवविशेषस्य
दमनो व्यापादक शक्र । मुद्गलेन्द्र इत्यर्थ ॥ इति हमाँउपातिसाहि ॥

तस्याङ्गजोऽभवदकब्बरभूमिभास्वा-

न्भूपालमौलिमणितुम्बितपादपद्मः ।

शौरेरिवाम्बुधिशयो भुजपञ्जरान्त-

र्विश्रान्तवार्धिवसनाजयराजहंसः ॥ १२ ॥

तस्य हर्मोऽसाहेरकब्बर इति नामा भूमिभास्वान् परतेजस्तिरस्कारिप्रतापवत्त्वादद्वै-
तत्वाच्च क्षोणीसहस्ररश्मिरभवत् । 'मध्यदिनावविविधेर्वसुधाविवस्वान्' इति नैषधे ।
क इव । अम्बुधिशय इव । यथा शौरेर्वसुदेवस्य कृष्ण पुत्रो बभूव । किलक्षण । भूपा-
लानां महानृपाणा मौलीना मुकुटाना मणीभिर्माणिक्यैश्चुम्बितमाश्लिष्य समालीढ पाद-
पद्म चरणकमल यस्य । पुन किलक्षण । भुजौ स्वबाहू एव पञ्जर पक्षिरक्षणस्थान
तस्यान्तर्मध्ये विश्रान्तो विश्रामाय स्थितो वार्धि समुद्रो वसन वस्त्र यस्या. एतावता
आचतु समुद्रान्तपृथिव्या जयः स्वायत्तीकरण स एव राजहंसो यस्य स ॥

साम्राज्यमप्यधिगतो निखिलस्य नाक-

लोकस्य लोलुपतया पुनरीहमानः ।

भोक्तु समग्रमपि मध्यमलोकमेत-

द्याजादुवास मघवेव वसुंधरायाम् ॥ १३ ॥

एतद्याजादकब्बरसाहिकपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—वसुंधराया विश्वभरावलये मघवा शक्र
इवोवास वसति स्म । किंभूत । निखिलस्य समस्तस्यापि नाकलोकस्य स्वर्गस्य साम्रा-
ज्यमाविपत्यम् । 'सम्राट् तु शास्ति यो नृपान्' इति हैम्याम् । अत सर्वेषामपि विमा-
नाविपतिनाकिनायकानामैश्वर्यमधिगतं प्राप्तोऽपि । 'अधिगत विविधदपालयत्' इति
रघुवशे । 'अधिगत प्राप्तम्' इति तद्वृत्ति । पुनर्लोलुपतया अधिकाविकसपदैश्वर्यस्पृह-
यालुतया समग्र समस्तमपि मध्यमलोक पातालदेवलोकयोरव उपरि च वर्तमानयोर्म-
ध्येऽन्तराले वतिन लोक भुवन मध्यमलोक सकलसमुद्रमेखलामण्डल भोक्तु स्वभोगविषय
विधातुमीहमानो वाञ्छन्निवेति गर्भितोत्प्रेक्षा ॥

अयास्य दिग्विजयविधित्सया प्रस्थाने वैरिणामुत्पाताविर्भावः—

यात्रासु यस्य चतुरङ्गचमूपचार-

प्रोद्भूतधूलिपटलैः परितः प्रसस्ते ।

प्रस्थानमस्य दशदिग्विजयाय जाने

यातैरितः कथयितुं हरिता भेहेन्द्रान् ॥ १४ ॥

यस्याकब्बरपातिसाहेर्यात्रासु परजनपदजिघृक्षया प्रस्थानेषु चत्वारि चतु सख्याका-
न्यज्ञानि साधकानि गजवाजिरथपदातिलक्षणा. प्रकाराः स्कन्धा यस्यास्तादृश्याश्चम्वा

सेनायाः प्रचारेण प्रकर्षेण चरुनेन प्रोद्धताना प्रवलनयोन्धिताना धूलीना भूमिर्जमा पटलैराशिभिः परितः सर्वदिक्षु प्रसवे प्रसन्नम् । तत्राहमेव जाने वेद्मि । उत्प्रेक्ष्यते वा—
दशाना दशसख्याकानाम् पूर्वाग्निर्दिक्षु नानैकनर्पाश्रमावायूत्तरेशाना योऽमुवनोऽवलोकानां दिशा ककुभा विजयाय स्वायत्ताकरणार्थमस्य पातिसाहे प्रमथान दिग्जैत्रयात्रा हरितां दशानामाशाना महेन्द्रान्पुरदरान् । ‘पतिः प्रतीच्या इति दिव्यहेन्द्रा’ इति नैषधे । इन्द्राग्निमराक्षमवरुणपवनकुवरेशाननागेन्द्रवज्राभिर्वान्दिस्पालान् प्रति कथयितुं निवेदयितुमितो भूमण्डलाद्यातैरुद्गीय याने, गतेरिव ॥

यत्प्रस्थितौ रथहयद्विपपत्तिवीह्व-

प्रोत्खातपासुपिहिताखिलदिङ्मुखेषु ।

आक्रन्दि चक्रमिथुनैरथ पासुलाभिः

प्राह्लादि पल्लवितमन्तरुलूकलोकैः ॥ १५ ॥

यस्याकब्बरपातिसाहे प्रस्थितौ दिग्जैत्रयात्राया प्रयागावमरे रथा स्यन्दना हया वाजिन द्विपा हस्तिन पत्तय पदातय पादचारिणस्तेषा वीह्वामिथुनैर्द्वन्द्वेण बाहुल्यात्सर्वदिक्सचरणैः कृत्वा प्रोत्खातैरुत्थापितैः पासुभिर्धूलीपटलीभिः पिहितान्यामृतानि आच्छादितानि । जनदृशामगोचरीकृतानीत्यर्थः । अखिलानि समग्राणि दिशा हरिता मुखानि विभागास्तेषु मत्सु सजलजलदपटलसचलितरजनीजनितान्वकारप्रचारभ्रान्ते-
श्चक्राणां चक्रवाकानां मिथुनैर्द्वन्द्वैराक्रन्दि परस्परवियोगाद्व्याकुल्यां दुःखादाक्रन्दोऽक्रियत । मुक्तकण्ठ रुरुदे इत्यर्थः । अथ पुनः पासुलाभिर्व्यभिचारिणीभिस्तृणीभिः प्राह्लादि प्रमुमुदे । घनान्धकारसमये हि तामा स्वेच्छाविहरणोन्माहस्पृहा पूर्णा स्यात् । पुनरुलूकलोकैर्धूकप्रकरैरन्तश्चित्तमव्ये पल्लवितमुच्छ्रमितम् । निशि तेषां स्वैरसचारत्वात् । ‘आलोकतालीकमुलूकलोक’ इति नैषधे ॥

बलवति भूमण्डलाखण्डले दिग्विजयाय प्रतिष्ठमाने सति भाविपराभवा प्रतीपपृथ्वी-
पाला भूकम्परजोवृष्टिदिग्दाहरविमण्डलच्छिद्रादिकानुत्पातान्पश्यन्तीति अत एवादौ त एव प्रोच्यन्ते—

धत्ते स्म कम्पमभिषेणयति क्षितीन्द्रे

यस्मिन्प्रतीपपृथिवीपुरुहूतपृथ्वी ।

यस्मादतः परमसौ भविता पतिर्मे

प्रीतेर्हृदन्तरिति निमित्तताण्डवेव ॥ १६ ॥

यस्मिन्नकब्बरनाम्नि क्षितीन्द्रे वसुधावलयवासवे अभिषेणयति रिपुपार्थिवान्प्रति पताकिनीभिरभिगच्छति सति प्रतीपा प्रतिभटा ये पृथिवीपुरुहूता वसुमतीविडो-
जसः तेषां पृथ्वी वसुवरा कम्प वेपथु चञ्चलतां धत्ते स्म दधौ । भूः कम्पते स्मेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोर्हृदन्तः स्वमानसमव्ये प्रीते प्रमोदादिव । सम्यङ्नि-

जचेनोभिप्रेतभर्तारि स्नेहाद्वा निर्मित कृत ताण्डव नृत्य यया तादृशीव । इति किम् ।
यस्मान्कारणादत परमद्यतनवासगादारभ्य असौ सकलराजचक्रचूडामणीरद्वैतनीतिमता-
मग्रणीरकञ्चरक्षोणीनभोमणीर्मम भर्ता भावी भविष्यति ॥

संप्रस्थिते वसुमतीविजयाय यस्मि-

न्भूपैर्विरोधिभिरदृश्यत दिक्षु दाहः ।

जाने निजव्यसनवीक्षणभूतनूता(त्ता)-

सातस्वदिग्युवतिनिःश्वसिताग्निकीलः ॥ १७ ॥

यस्मिन्नकञ्चरनृपतौ वसुमत्या वसुवराया विजयाय स्वायत्तीकरणार्थं संप्रस्थिते स-
म्यग्विजयविवायिमुहूर्तदिने चतुरङ्गचमूचक्रेण सम निर्मितप्रस्थाने सति । प्रचलिते
सतीत्यर्थः । विरोधो विद्यते येषां ते विरोधिनस्तैर्विपक्षैर्भूपैः क्षोणीपालैर्दिक्षु सर्वाशासु
दाहो ज्वलज्वालादि ज्वालामालाकुलत्वमदृश्यत दृष्ट । सर्वा अपि हरितो ज्वलन्त्यो
दृष्टा इत्यर्थः । तत्राहमेव जाने विदाकरोमि उत्प्रेक्षे वा निजानामात्मीयानामर्थादक-
ञ्चरपरिपन्थिपूर्वादिदिक्पतिनृपतीना व्यसनाना भाविमरणावधिविपत्तीनां वीक्षणेन
दीर्घदर्शितया अवलोकनेन जानेन कृत्वा भूतमुत्पन्न यन्नून नवीनमसात दुःख यासां
तासां स्वेष्टा तत्तद्दिक्पतिनृपाणां दिशामेव युवतीनां प्रियाणां निःश्वसिताग्नेर्निःश्वासानि-
लस्य कीलो ज्वालेव । कीलशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । ‘त्रिनेत्रनेत्रानलकीलनीलम्’
इति नैपथ्ये । तथा ‘वल्लरशफरमयूरकीलहाला’ इति लिङ्गानुशासने पुत्रीलिङ्गे कील
कीला ॥

भूपेऽभिषेणयति यत्र रजोभिवृष्ट्या

दृष्टा दिशः परनृपैर्मलिनाः समग्राः ।

स्वस्वामिसंकटसमीक्षणमूर्छनोर्वी-

निष्पातधूसरितगात्रलता इवैताः ॥ १८ ॥

यत्र यस्मिन्भूपे अकञ्चरनृपे अभिषेणयति सति सेनाभिः समः प्रतिनृपतीनभिग-
च्छति सति परनृपैः प्रतिभटभूपालकलापैः रजोभिवृष्ट्या अतिबहुलानां धूलीनामभिः
समन्ताद्वर्षणेन कृत्वा मलिनाः कश्मला मलीमसा समग्राः समस्ता अपि दिशः आशा
दृष्टा । उत्प्रेक्ष्यते—एता दिशः स्वासामात्मीयानां स्वामिना भर्तृणां सकटानां व्यस-
नानां समीक्षणेन सम्यङ्निश्चितत्वेनावलोकनेन कृत्वा मूर्छनैर्दुःखोद्भूतातुच्छमूर्छाभिरुर्व्या-
भूमौ निष्पातो निष्पतनः लुण्ठनः वा तेन वूमरिता ईषत्पाण्डुरिता धूलीलुलिता वा रजो-
मया वा जाता गात्रलता शरीरयष्टयो यामा तादृश्य इव ॥

यन्मेदिनीकुमुदिनीरमणप्रयाणे

छिद्रं न्यभालि परिपन्थिभिरभ्रपान्थे ।

मद्वंशजक्षितिरथोदयिनी हृदन्त-

दुःखप्रकर्षत इति स्फुटितोरमीव ॥ १९ ॥

कुमुदिनीनां कैरविणीनां रमणो वरयिता कुमुदिनीरमण । मेदिन्या वरण्या कुमुदिनीरमणः स चासौ कुमुदिनीरमणश्च । 'इदं तमुवातलगीतलघुति' इति नैपथ्ये । तस्य प्रयाणे स्वरिपूपरि प्रस्थाने परिपन्थिभिः प्रत्यर्थिभिरर्थात् पृथिवीनाथैरब्रह्मपान्थे गगनपथिके भास्करे । 'हरिः शुचीनां गगनाद्भुजाध्वगा' इति हर्म्याम् । सूर्यमण्डले इत्यर्थः । छिद्रं विवरं न्यभालि ददृशे दृष्टम् । उप्रेक्ष्यते—अथाकब्बरसाहेरागमनानन्तरं मद्वंशे मदीयान्ववाये जायन्ते स्म उत्पद्यन्ते स्मेति मद्वंशजा सूर्यवशीयास्तेषामेतावता सूर्यवशोत्पन्नानां भूपालानां राजन्यवीराणां च क्षितिः क्षयो विनाश उदेयति भविष्यतीत्येवशीला उदयिनी भाविनी इति हेतोर्हृदन्तश्चित्तमध्ये दुःखस्य प्रकर्षतोऽतिशयतः स्फुटितं द्विवाभूतं सच्छिद्रं वा जातमुरो हृदयं यस्य तादृशं इव । 'पन्था भास्वति दृश्यते विलम्बं प्रत्यर्थिभिः पार्थिवे' इति नैपथ्ये । प्रियमाणा रणे सूर्यं छिद्रं पश्यन्तीत्यरिष्टवेदिनः । यद्वा । 'द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनः । परित्राड्योगयुक्तश्च रणो चाभिमुखो हतः ॥' इत्युक्तत्वात् । 'स सूर्यं छिद्रं निरीक्षते' इति तु तद्वृत्तिः । ततो भानौ रन्ध्रनिभालनमिति ॥ इति प्रतीपनृपतीनामरिष्टाविर्भावना ॥

यस्य प्रसृत्वरयशःशरभूषवित्री

स्वःकूलिनीव करवाललता बभूव ।

यस्या निमज्ज्य रिपुराजपरम्पराभि-

र्येनान्वभावि दितिजद्विषता विभूतिः ॥ २० ॥

यस्याकब्बरसाहे करवाललता खड्गयष्टिः स्वःकूलिनी मन्दाकिनीव बभूव जाता । किंभूता । प्रसृत्वर विश्वविस्तरणशील यद्यशः कीर्तिं तदेव शरभूषासामिकार्तिकस्तस्य सवित्री जननी येन कारणेन । यस्या करवाललतास्वःकूलिन्या निमज्ज्य ब्रूडित्वा स्नान्वा तदभिमुखमागत्य प्रहृत्य च पञ्चान्वमासाय रिपवः शत्रवो जना एव राजानन्तेषां परम्पराभिः श्रेणीभिः दितिजानां दितेरसुरमातुर्जायन्ते स्मेति दितिजान्तेषां द्विषता वैरिणां देवानां विभूतिः सुरश्रीरन्वभावि अनुभूयन्ते स्म । गङ्गाया रणे च त्यक्तप्राणा देवभूय भजन्तीति परमतम् । 'मृते चापि सुराङ्गना' इत्युक्ते ॥

यस्मिन्नरणाङ्गणगते प्रहताहिताश्वा

शौर्योदयादिवि मुहुर्मुहुरुत्पतन्ति ।

भूमौ निजाभिभवत सवितुः सगोत्रा-

स्ताक्ष्यानिवाश्रयितुमुत्सुकता वहन्त ॥ २१ ॥

यस्मिन्नकब्बरभूपतौ रणाङ्गणं सग्राममध्यगते प्राप्ते सति प्रहताः शस्त्रप्रहारादिना व्या-

पादिता ये अहिताना प्रतिपक्षिणामश्वासुरदमास्ते शौर्यादयात् शूरताया प्रादुर्भावान्मु-
हुर्मुहु वारवार दिवि गगने उत्पतन्ति उच्छलन्ति उच्चै फाला ददते । उत्प्रेक्ष्यते—
भूमौ पृथ्वीपीठे निजस्यात्मनोऽभिभवत पराभवनोदयात् सवितु सूर्यस्य पितुर्वा
सगोत्रान् स्वजनान्वन्धून् ताक्ष्यानिश्चान् आश्रयितु शरणीकर्तुमुत्सुकतामुत्कण्ठा वहन्तो
धारयन्त इति । विपत्तौ स्वजना श्रीयन्ते इति स्थिति श्रुतिर्वा ॥

एतत्कृपाणनिहताहितकुम्भिकुम्भ-

निष्पातिमौक्तिकततिः समरे विरेजे ।

दृष्ट्वा हतान्स्वपतिभूमिपतीस्तदीय-

लक्ष्मीक्षणप्रपतदश्रुकणावलीव ॥ २२ ॥

एते अकब्बरसाहिना कृपाणेन निजचन्द्रहासयष्टिना कृत्वा निहता व्यापादिता विदा-
रिता ये अहिताना स्वप्रतिपक्षाणा कुम्भिना भद्रजातिजाताना कुम्भा शिर पिण्डा-
स्तेभ्यो निष्पतति निर्गलति नि सरतीत्येवशीला निष्पातिनी मौक्तिकाना मुक्ताफलानां
ततिर्मालिका समरे सग्रामाङ्गणे विरेजे राजते स्म निर्वभौ । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मन
पतीन्नायकान् भूमिपतीन्वरणीरमणान् हतानर्यादकब्बरेण स्वविरोधितया यमातिथीकृ-
तान्दृष्ट्वा व्यालोक्य तदीयलक्ष्मीणां प्रत्यर्थिपार्थिवसवन्विनीना श्रीणाम् । राज्यलक्ष्मीणामि-
त्यर्थ । ईक्षणेभ्यो विलोचनेभ्य प्रपतन्ती प्रकर्षेणाविरलवारावराम्बुधारायमाणवारं
नि सरन्ती अश्रुकणाना बाष्पबिन्दूनामावलीव धोरणिरिव ॥

रोमाङ्कुराः समिति यस्य समुच्छ्वसन्ती

संवाससंगतगुणप्रगुणीभवन्तः ।

एतद्वदुद्धतविरोधिधराधवाना

हल्लेखतामिव निशुम्भकृते वहन्तः ॥ २३ ॥

यस्य हर्माउनन्दननृपस्य समिति सग्रामाङ्गणे रोम्णा तनूरुहाम् । लोन्नामित्यर्थ । ‘रो-
मलोमतनूरुह ’ इति हैम्याम् । अङ्कुरा प्ररोहा समुच्छ्वसन्ति उच्चै सजायन्ते उल्ल-
सन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—एतद्वदकब्बरसाहिरिव उद्धता उत्कटा मदोन्मत्ता ये विरोधिवरा-
धवा प्रत्यर्थिपार्थिवास्तेषा निशुम्भकृते दक्षिणारमणमदिराङ्गणप्राघुणीकरणार्थं हल्लेखतामु-
त्कण्ठोद्रेकभाव वहन्तो विभ्राणा इव । अत एव किलक्षणा । संवासेनाकब्बरसाहिदेहे
सम्यग्वसनेन सहस्थानेन वा कृत्वा सगता मिलिता समागता वा ये गुणा शौर्योत्सा-
हसत्त्वादयस्ते प्रगुणीभवन्त प्रगल्भा जायमाना । ‘यादृशौ सहवास सगतिस्तादृशा एवा-
यान्ति गुणा ’ इति लोकप्रसिद्धि । यदुक्तं च—‘जौ जारिसेण सग सो वि हु तारिसो
होइ । कुसुमेहिं सह वसता तिलावि तग्ग धिया हुति ॥’ इति सूत्रोक्ति ॥

एतद्दिनेशशशिभूदिनयामिनीभ्यां

सृष्टिं विधातुमखिलां विभुना न वैश्वीम् ।

तादृग्दिनेन्दुदयिताकृतये किमेत-

त्तेजोयशोगविविधू विधिना प्रणीतौ ॥ २४ ॥

विधिना विश्वमृजा विधात्रा तादृग्योरतिमहत्त्वोर्विगलितावविममयाभ्युदयभाजो-
र्दिनेन्दुदयितयोर्दिवसनिशयो कृतये निर्माणाय । उन्प्रेष्यते—एतस्याकच्चरसाहेम्नेज-
प्रताप । ‘निजस्य तेज शिखिन पर शता’ इति नैषधे । तथा ‘एतस्योत्तरमद्य न मम-
जनि त्वत्तेजसा लङ्घने’ इत्यपि नैषधे । ‘त्वत्तेजसा भवत्प्रतापानाम्’ इति तद्गानि ।
तथा यश श्लोकस्तावेव रविविधू सूर्याचन्द्रमसा प्रणीताविव निमापिताविव । किंभूतेन
विधिना । एताभ्या प्रयक्षलक्ष्य विद्यमानाभ्या दिनरजन्योर्गमागम कुर्वाणाभ्या दिनस्य
वासरस्य ईश पति । यत —‘परविषयाक्रमणकलाकलाधरम्यव विप्रयमायानि । रज-
निपतिर्भजति दिन दिवसपतिर्भजति नो रजनीम् ॥’ इति सुभाषितोक्ते । दिननायको
भास्कर शशी मृगाङ्गस्ताभ्या सकाशाद्रुत्पत्तिर्ययोस्तादृश्या दिनयासिन्यो वासरविभा-
घयौ ताभ्या कृत्वा अखिला समस्तामपि समग्रामपि वैश्वीं जगत्सवन्विनी सृष्टिं सर्ग
निर्माणं कर्तुं रचयितुं न विभुना तयोर्द्वयो प्रत्येकं चतुर्यामन्वेनात्पत्त्वान्न समर्थेन ॥

यद्वैरिराजकयशोगुणराशिरात्री-

प्राणेशतारकगणेन कदाचनापि ।

द्वीपान्तरं परिचरत्यपि यत्प्रताप-

प्रद्योतने न समवाप्युदयावकाशः ॥ २५ ॥

यस्याकच्चरपातिसाहे प्रताप एव प्रद्योतन सहस्रकिरण तस्मिन् द्वीपान्तरमपर
द्वीप द्वीपानामष्टादशत्वात् । ‘नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्’ इति नैषधे । तेष्वन्यतम
कचिद्वीप परिचरति भजति सति परद्वीपे गतवति अपि सति यद्वैरिराजकस्याकच्चररिपुभू-
पतिप्रकरस्य । राजा समूहो राजकम् । ‘स्याद्राजपुत्रक राजन्यक राजकमाजकम्’ इति
हैम्याम् । यश श्लोकस्तद्युक्ता गुणानां राशयः समूहास्त एव रात्रीप्राणेशश्चन्द्रमास्तथा
तारकाज्योतीषि तेषां गणेन मण्डलेन कदाचनापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे उदयस्योद्गमनस्य
प्रकटीभावस्यावकाशः समयो वेला नेति नैषधे समवापि संप्राप्तः । जगत्स्वाभाव्यात्सूये
द्वीपान्तरं गते अस्तमिते चन्द्रे ग्रहनक्षत्रतारका उदयावकाशं लभन्ते, परमकच्चरप्रताप-
सहस्ररश्मेर्नायः प्रकारः । यतः अष्टादशस्यपि द्वीपेषु सर्वत्रैव सद्रावः, परमत्र नास्ती-
त्येव न तस्मिन् सहस्राशो सति चन्द्रादिज्योतिषामुदयावकाशः कुत म्यादिति ॥

अश्रान्तदण्डनिहताहववादनीय-

वाद्यस्वरैः प्रसृमरैः समरे धरेन्दोः ।

अस्तम्भि वैरिनृपदोर्युगदण्डदर्पः

सर्पेन्द्रदर्प इव गारुडिकस्य मन्त्रैः ॥ २६ ॥

धरेन्दोर्वसुमतीवासतेयीपते प्रसृमरै सकलदिक्चक्रविस्तरणशीलैरश्रान्तमनवरत-
वाद्यवादकमानवैर्दण्डैर्वाद्यवादनयष्टिभिर्निहतानि ताडितानि तथा आहवे सग्रामाङ्ग-
णेषु वादनीयानि वादयितुमुचितानि यानि वाद्यानि रणतूराणि अन्यवादित्राणि वा तेषां
स्वरैर्निर्घोषैः कर्तृभिर्वैरिणोऽकब्बरसाहेरसहजा एव नृपा पार्थिवास्तेषां दोर्युगदण्डानां
भुजयामलकुटानां जान्वायतत्वेन दण्डाकारत्वाद्दण्डास्तेषाम् अथ वा बाहुद्रन्दानां सै-
न्यानां च चक्रगरुडादिव्यूहानां वा अश्वानां प्रतिनृपतियानरत्नतुरङ्गमाणां वा उपलक्ष-
णादश्ववाराणां गजरथारोहिणां च । 'दण्ड सैन्ये दमे यमे ॥ मानव्यूहे ग्रहे भेदेष्वश्वेऽर्क-
नुचरे मथि । प्रकाण्डे लकुटे कोणे चतुर्थोपायवर्गयो ॥' इत्यनेकार्थः । दर्पोऽभिमा-
नोऽस्तम्भि स्तम्भ्यते स्म निराकृतः । जडीकृताः सर्वेऽपीत्यर्थः । कैरिव । मन्त्रैरिव
गारुडः स्थावरजङ्गमविषनिवारणप्रवणमन्त्रतन्त्रादिशास्त्रमर्थ्यते वेत्ति वेत्ति गारुडिक
तस्य मन्त्रैर्जाडुलीप्रमुखैः सर्पेन्द्रस्य नागराजस्य दर्पो गर्वो विपवेगाहकारः स्तम्भ्यते ॥

यत्कीर्तिविद्विषदकीर्तिहतप्रतीपा-

सृक्पङ्क्तिजहुतरणिद्रुहिणाङ्गजाभिः ।

जन्यावनीयदवनीशशिनस्त्रिवेणी-

सङ्गः किमाविरभवन्निदिवाभिकानाम् ॥ २७ ॥

यस्यासावकब्बराभिधानस्यावनीशशिनो वसुधासुधाशोर्जन्यावनी सग्राममेदिनी ।
उत्प्रेक्ष्यते—त्रिदिवाभिकानां सुरलोकाभिलाषुकाणाम् । 'कामुकः कमिता कम्प्रोऽनुकाम-
यिताभिकः' इति हैम्याम् । वीराणां तिसृणां वेणीनां तरङ्गिणीप्रवाहानां सङ्गो मिलन-
गङ्गायमुनासरस्वतीसङ्ग इव आविरभवत् प्रकटीबभूव । वनिकाभिः कृत्वा यस्य साहे कीर्तिः ।
प्रसरद्यशस्तथा विद्विषामकब्बरपातिसाहिपुरो रणे भग्नानां प्रत्यर्थिपार्थिवानामकीर्तिरप-
यशः । तथा च हता अकब्बरनरेन्द्रेणैव रणाङ्गणे व्यापादिता ये प्रतीपाः परिपन्थिपृ-
थिवीनायास्तेषामसृजा रुविराणां पङ्क्तयः श्रेणयस्ता एव जहोर्विष्णोस्तथा तरणेर्मर्ति-
ण्डस्य । तथा च द्रुहिणस्य ब्रह्मणः अङ्गजा नन्दिन्यः । जहूनन्दना गङ्गा तरणितनया यमु-
ना द्रुहिणोद्बहा सरस्वती । सरस्वती मरित्परसमये शोणसलिला प्रोच्यते । ततो-
ऽसृगानयनम् । ताभिः एता एकत्रमिलितास्त्रिवेणीसङ्गोऽजनिः ॥

यत्संप्रहारहतहास्तिकमस्तकान्त-

निष्पातिशुक्तिजततिर्युधि पौस्फुरीति ।

दन्तावली प्रकटिता शमनेन जन्या-

पाने विरोधिरुधिरासवपायिनेव ॥ २८ ॥

येन साहिना सप्रहारे समरे सम्यक्परविद्धवकारि प्रहारेण वा हतानि निर्दलितानि हास्तिकानि मतङ्गजव्रजा । हस्तिना समूहो हास्तिकम् । 'हास्तिक तु हस्तिना स्यात्' इति हेम्याम् । समूहार्थेऽण । तेषां मस्तकानि कुम्भस्थलानि तेषामन्तर्मध्याद्भद्रजातिजनितत्वेन शिरःपिण्डान्तरालान्निष्पातिना नि शेषेण निरन्तरं वा पतनशीलानां शुक्तिजानामामलकप्रमाणमुक्ताफलानां तन्निर्वारणी समरे सग्रामे विरेजे विशेषेण भाति स्म । उपप्रेक्ष्यते—जन्यापाने रणाङ्गणरूपवारुणीपानगोष्ठीस्थाने । 'आपान पानगोष्ठी स्यात्' इति हेम्याम् । विरोधिनामकल्वरप्रतिभटभटानां रुविगाणि प्रहरणमहाप्रहारप्रवहदप्रमाणशोणितान्येवासवो मदिरा पिबन्तीत्येवशीलेन शमनेन यमेन प्रकटिता जनदृग्गोचरीकृता दन्तावली दशनश्रेणिरिव ॥

एतद्भुजारणिसमुत्थमहो हुताश-

ज्वालाज्वलद्वहलवाहुजवशगशे ।

उद्धत्वै प्रसृमरैरिव धूमवारै-

राविर्बभूव शितिमा दिविपत्पदव्याम् ॥ २९ ॥

एतस्याकल्वरसाहेर्भुजो दोर्दण्डः स एवारणिरग्निकाष्ठं तस्मात् सम्यक् मित्राणां शारदीनमुवाकर्तया अमित्राणां परिवर्तप्रचण्डकिरणतया उत्था उत्थानं यस्य तादृशं यन्महं प्रबलप्रतापं स एव हुताशो ज्वलज्वालास्तस्य ज्वालाभिरभ्रकपशिखाभिर्ज्वलन्तो दह्यमाना भस्मीभवन्तो वा ये बहला भूयिष्ठा अतिशयेन बहवः । 'बहोरिष्टेयि बहोश्च भूवादशः' । बाहुजा राजन्याः । 'राजन्यो बाहुसम्भवः' इति हेम्याम् । साहिविपक्षपक्षलक्षास्तेषां वशा अन्वयास्त एव वशा वेणवो वा तेषां राशिः समूहः तस्मादुद्धत्वैरुत् ऊर्ध्वं गमनशीलैः उच्चनिर्यायिभिरुत्थितैर्वा तथा प्रसृमरजगद्व्यापनशीलैर्धूमवारैर्वायुवाहव्रजैः । 'स्याद्वायुवाहोऽग्निवाहो दहनकेतनः' इति हेम्याम् । उपप्रेक्ष्यते—दिविपत्पदव्यां देवमार्गे गगनाङ्गणे शितिमा श्यामता आविर्बभूव प्रकटीभूता । प्रायो वशेषु दह्यमानेषु प्रवला धूमा प्रादुर्भवन्ति बहुभिश्च दहनकेतनैर्गृहाद्युपरितनभागे च मेचक्रिमा भवेदिति प्रत्यक्षमेव दृश्यते ॥

यस्याशुगः प्रसरदाशुगवन्निषङ्गा-

त्कर्षागमेषु लघुहस्ततया कदाचित् ।

नालक्ष्यताक्षिभिरपि प्रतिपक्षलक्षै-

रङ्गे लगन्पुनरबुध्यत युद्धमूर्ध्नि ॥ ३० ॥

यस्य साहेराशुगो बाणः । जातावेकवचनम् । युद्धमूर्ध्नि सग्राममस्तके प्रतिपक्षलक्षैः परिपन्थिकपृथिवीवामवशतसहस्रं लघुहस्ततया शीघ्रवेधित्वेन निषङ्गानृणीरात् आकर्षा आकर्षणानि तथा आगमा आगमनानि तेषु कदाचिदपि कस्मिन्नपि समये प्रस्तावे

अक्षिभिरात्मीयविलोचनैरपि नालक्ष्यत न दृश्यते स्म । क इव । प्रकर्षेण सरन् चलन्
गच्छन्नाशुगवत् वायुरिव । यथा पवमान आगच्छन्न लक्ष्यते परं पुनरङ्गे काये लगन्
प्रहृत्य मध्ये प्रविशन् सोऽबुध्यत ज्ञायते स्म ॥

य स्वर्णकायमरिनागनिपातनिष्ण

दृष्ट्या निपीय हरिवाहनवद्धलीलम् ।

चित्रं किमत्र यदरातिमहीन्द्रबाहु-

कुम्भीनसैः समरमूर्ध्नि जडीबभूवे ॥ ३१ ॥

स्वर्ण जाम्बूनद तत्सदृशो गौरवर्णत्वात्कायस्तनूलता यस्य तम्, तथा अरिषु परिपन्थिषु
नागा प्रधानाः । 'सिंहशार्दूलनागाद्या । स्युरुत्तरपदे प्रख्याः प्रशस्तार्थप्रकाशकाः ॥'
इति हैम्याम् । महीपालास्तेषां निपाते यमधामाजिरातिथीकरणे निष्ण निपुणम्, तथा
हरिरश्च एव उपलक्षणाद्भजोऽपि वाहन यान तत्र बद्धा रचिता लीला क्रीडा वाह्याली-
काद्या परस्परसप्रहारादिका येन तादृश य पातिसाहिमकब्बरं दृष्ट्या विलोचनेन निपी-
यापीय । भयविह्वलतरलकातरदृशा दृष्टेत्यर्थः । यदरातय यस्य विपक्षकक्षामङ्गीकुर्वाणा
एव महीन्द्रा महामेदिनीमघवानस्तेषां बाहवो दोर्दण्डा एव कुम्भीनसा भुजगमास्तैर्ज-
डीबभूवे प्रहरणग्रहणबाणक्षेपणादिप्रकारे निश्चेष्टैः सजातम् । किंकर्तव्यतामूढैरिव
आलेख्यलिखितैरिव वा निर्व्यापारैर्जज्ञे । अत्र प्रकारे किं चित्र को विस्मय । यद्गुरु-
ददर्शनादेव तत्काल व्याला अपि जडीभवन्ति एव । गरुड किलक्षण । सुवर्णस्य
काय पक्षप्रभृति शरीर यस्य । तथा अरिभूता शत्रुभाव प्राप्ता ये नागा भुजगास्तेषां
निपाते नितरा पाते निष्णो निपुण । तथा हरेर्गोविन्दस्य वाहनत्वे यानभावे बद्धा
निर्मिता लीला विलासो येन ॥

यस्याशुगान्प्रणयतः प्रतिभूपतीना

प्राणान्सुराध्वनि विधाय रवि शरव्यम् ।

आजिः सकार्मुककरस्य खलूरिकेव

रन्ध्र रवौ रिपुभिरैक्षि न चेत्कुतस्त्यम् ॥ ३२ ॥

यस्याकब्बरस्य राज्ञ आजि सग्रामभूमि खलूरिका शत्राभ्यासभूरिवाभूद्बभूव ।
यस्य किं कुर्वत । सुराध्वनि गगनाङ्गणे रवि मार्तण्डमण्डल शरव्य वेद्य विधाय कृत्वा
प्रतिभूपतीना प्रतिपक्षक्षोणीपालानां प्राणाञ्जीवितानि आशु त्वरिततर गच्छन्ति परलोक
यान्तीत्याशुगा शीघ्रगामिन शराश्च तान्प्रणयत सृजत । यस्य किंभूतस्य । सह कार्मु-
केन कोदण्डेन वर्तते य स तादृश कर पाणिर्यस्य । एव चेन्न तर्हि रिपुभिः परि-
पन्थिपृथ्वीपतिभि रवौ सूर्यबिम्बे रन्ध्र छिद्र कुतस्त्य कुतोभवमैक्षि विलोकित दृष्टम् ॥

येनाहवे प्रणिहतात्मपतिप्रवृत्ति

कृत्वा स्वकर्णपथिकी परिपन्थिकान्ताः ।

वक्षःशिलाः स्म विलिखन्ति नग्वाग्रटङ्कैः

कीर्तिप्रशस्तिमिव भूभृदकञ्चरस्य ॥ ३३ ॥

परिपन्थिना शात्रववरित्रीभृता कान्ता प्रेयस्य वक्षामि हृदयान्येव शिला पृथुल-
पाषाणास्ता नखाना स्वकरजानामग्राणि शिखा एव टङ्काः पाषाणोत्कीर्णनकराण्यायमो-
पकरणानि टङ्कणकानीति प्रसिद्धास्तं विलिखन्ति विदारयन्ति स्म । उन्प्रेक्ष्यते—भूभृतो
राजोऽकञ्चरस्य नृपस्य कीर्तिर्यशस्तस्या प्रशस्तिर्जगद्विजयकरणवर्णनवर्णावली तामिव ।
किं कृत्वा । येन पातिमाहिनाहवे महाविग्रहे प्रणिहता यमराजगृहाङ्गणावगाहिनो
विहिता ये आत्मनां स्वासा पतय प्राणनाथास्तेषां प्रवृत्तिं वार्तां स्वेषामान्मीच्याना
कर्णानां श्रवणानां पथिकीं पाथीप्राघुणकीं कृत्वा । श्रुत्वेत्यर्थः ॥

एतद्भवन्निजनिशुम्भभविष्णुशङ्का-

तङ्काकुलीकृतवनेचरवैरिवध्वः ।

रङ्गत्प्रपा इव पयोधरशातकौम्भ-

कुम्भाश्च्युताश्रुजलपूरितनेत्रपात्रः ॥ ३४ ॥

एतस्मादकञ्चरधरणीधरात् भवन्नुत्पद्यमानो यो निजस्य स्वात्मन निशुम्भो वधस्त-
स्माद्भविष्णुर्भवनशीला या शङ्का अनिष्टसभावन तया आतङ्को भय तेनाकुलीकृता
विह्वला जाता अत एव वने गिरिगहने निकुञ्जे वा चरन्ति सचारिणो वनेचरा ये वैरिणो
विपक्षक्षितिपालास्तेषां वधश्चिन्त्य रङ्गन्त्य सचरन्त्य । जगमा इत्यर्थः । प्रपा पानीय-
शाला इवामन्वभूवुः । किभूता । पयोधरा उच्चकुचा मलिलवारिण । जलभृता इत्यर्थः ।
शातकौम्भा सुवर्णसवन्धिनः कुम्भा कलशा यासु यासा वा । पुनः किभूता ।
च्युतानि तु खप्रकर्षाद्विलोचनेभ्यो नि सरन्ति चान्यश्रूणि वाष्पाणि तेषां जलैः रुदननी-
रभरे पूरितानि निर्भरभृतानि नेत्राणि नयनानि एव पात्राणि पर्णानि भाजनानि यासा
यासु वा । 'पात्रं तु कूलयोर्मध्ये पणे नृपतिमन्त्रिणि । योग्यभाजनयोर्यज्ञभाण्डे नाद्यानु-
कर्तरि ॥' इत्यनेकार्थः ॥

यस्याहवोऽजनि घनाघनवत्कृपाण-

विद्युत्पतत्समददन्तिमदाम्बुधार ।

भल्लीनिकृत्तरिपुगोणितसिन्धुवेणी-

रुद्धीनपासुपिहिताखिलदिग्विभाग ॥ ३५ ॥

शून्यं सृजन्भुवनमप्यरिकीतिहस

श्रेण्या कुले द्विषति दुर्दिनमादधानः ।

विद्रावयन्परवधूवदनाम्बुजानि

शूरद्रुमान्पुलककोरकितान्प्रकुर्वन् ॥ ३६ ॥ (युग्मम्)

यस्य जलालदीनसाहेराहवः संग्रामो घनाघनवन्मेघ इवाजनि सजज्ञे समभूत् । किंभूत । कृपाणा शानशिखरोल्लिखितनिशितझगझगितिकान्तिकरवाला एव विवृतस्तडिद्वितानानि यत्र । पुन किंभूत । पतन्त्य कपोलपालीभ्योऽविरल निःसरन्त्य समदाना मदोद्धुराणा दन्तिना दन्तावलेन्द्राणां मदाम्बूना दानजलाना धारा वृष्टयो यत्र । पुन किंभूत । भल्लीभि शस्त्रविशेषे । 'तिमिरकरिकुम्भभेदनभल्लीष्विव दीपकलिकासु' इति चम्पूकथायाम् । निकृत्ताश्छेदिता ये रिपवो विपक्षास्तेषा शोणितानि रुधिराणि एव सिन्धूना नदीना वेणय प्रवाहा यत्र । 'उच्छृङ्खल चलन्तीनामसृगजलवियोषिताम्' इति पाण्डवचरित्रे । वेणीशब्दो दीर्घो ह्रस्वोऽप्यस्ति । पुन किंभूत । षड्ढीनैरूर्ध्वगतैर्दशदिग्विस्तृतैः पासुभि गजवाजिरथपत्तिप्रकराणामितस्ततस्त्वरितमचरणैस्तखातैर्भ्रमदभ्राभ्रकविभ्रमायमाणै रजोव्रजै पिहिता आच्छादिता अदृग्गोचरीकृता अखिलाना समस्ताना दिशा हरिता विभागा प्रदेशा यत्र । अपि पुन किं कुर्वन् । अरीणा शत्रूणा कीर्तय एव हसास्तेषा श्रेण्या वोरण्या कृत्वा भुवन विश्व पानीयम् । 'भुवन वन घनरसो यादोनिवामोऽमृतम्' इति हैम्याम् । शून्य रिक्त च सृजन् कुर्वन् । प्रायः प्रावृषि राजहसा मानससरसि यान्ति । प्रावृदवृष्ट्या बहलजम्बालागमेन जलकालुष्यान्नान्यजलाशयेषु तिष्ठन्तीति । पुन किं कुर्वाण । द्विषति वैरिणि कुले वशे विपक्षान्ववाये दौस्थ्यद्वौर्भाग्यवनवासपुत्रकलत्रमित्रप्रमुखस्वजनजनवियोगादिरूप दुर्दिन कुदिवस दुष्ट दिन मेघान्वकार वादवान निर्मिमाण । 'वधूवक्त्राम्भोज भवतु न स तेषा कुदिवस' इति नैषधे । पुन किंभूत । परेषा पथिकपृथ्वीनायकाना वधूना पुरघ्नीणा वदनान्येवाम्बुजानि तामरसानि विद्रावयन् म्लानि प्रापयन् गतप्रायाणि सृजन् । 'विद्राणपङ्कजरसे' इति चम्पूकथाया वर्षावर्णने । पुन किंभूत । शूरा सुभटा एव द्रुमा वृक्षास्तान्पुलकेन रोमाञ्चन रोमहर्षणेन सनिभाश्च कोरका कुङ्कुला सजाता एष्विति कोरकितान्प्रकुर्वन् । 'कदाचिदच्युत इव शिशिरकमलाकरगाहोत्पन्नपुलककोरकिततनु' इति चम्पूकथायाम् । शूरा हि साहिशौर्यं श्रुत्वा रोमाञ्चकञ्चुकिता जायन्ते इत्यर्थः ॥ युग्मम् ॥

एतत्तुरङ्गमगणा दिवि संपराये

प्रोत्तालफालललित कलयावभूवुः ।

जित्वा धरा विबुधधाम पुनर्जिघृक्षो

संलक्ष्य तत्क्षणमिवाशयमात्मभर्तुः ॥ ३७ ॥

संपराये संग्रामे एतस्याकम्बरनृपतेस्तुरङ्गमगणा वाजिब्रजा दिवि मरुन्मार्गे प्रोत्ताल शीघ्रम् । 'उत्तावलू' इति प्रसिद्धिः । तथा 'चलद्वलयमुखरकरतलोत्तालतालिका-

रम्भरमणीयरनिकरासकक्रीडानिर्भरा' इति चम्पूकथाया भिल्लीवर्णने । फालाना-
मुच्चैर्गतिविशेषाणा ललित विलास कलयावभूवु । 'सान्द्रोत्कालमिषाद्वि गायति पदान्प्रशु-
तुरङ्गोऽपि गाम्' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—धरामाममुद्रपर्यन्तगृथिवी जित्वा आत्ममा-
द्विधाय पुनरविकलिप्सोरत एव विबुधवाम स्वर्ग जिघृक्षोर्गृहीतुमिच्छोरात्मभर्तु स्व-
स्वामिनोऽकब्बरधरित्रीवरयितु तत्क्षण तत्काल त्वरिततरमेवाशयमभिप्राय सलक्ष्य
विज्ञाय वोचै स्वर्गदिग्विभागे यातु प्रगल्भन्ते ॥

एतद्भवद्भयगृहीतदिशो दिगीशा

नि स्वाननि स्वनभर. प्रतिभूरिवान्त ।

भूत्वात्मनाह्वयनिवावनिपद्मिनीश-

मेनं पुनः प्रणतिगोचरता प्रणेतुम् ॥ ३८ ॥

नि स्वानाना राजवाद्याना 'नीमाण, दमामा वा' इति लोके प्रसिद्धाना नि स्व-
नभर प्रबलनिर्घोष पुनर्द्वितीयवारमेनमकब्बरम् अवनिपद्मिनीश मेदिनीमण्डलमार्तगड
प्रणतिगोचरता नमस्कृतेर्विषयता प्रणेतु निर्मातुम् । उत्प्रेक्ष्यते—दिगीशान् हरित्पत्नीन्
आह्वयन्नाकारयन् इव । किं कृत्वा । अन्त अकब्बरसाहिहरिन्महेन्द्राणा मन्त्रे प्र-
तिभूरिव साक्षीवात्मना स्वेन भूत्वा । यदा चान्तराले कश्चित्तथाविध प्रतिभूर्भवेत्
तदा एकस्य कस्याविरुद्धवत् स्यादिति हेतोः स्वयमेव साक्षीभूयाखिलान्दिक्पाला-
नाकारयति । किंभूतान् दिगीशान् । एतस्मादकब्बरपातिमाहेरुद्रवत उत्पद्यमानाद्र-
यादातङ्कया गृहीता उपात्ता दिश आशा येस्ते गृहीतदिशस्तान् । पलायितानिस्वर्ग । 'प-
लायितस्तु नष्ट' स्यात् गृहीतदिभिन्निरोहित' इति हेम्याम् ॥

स्वीयान्ववायभवभूधरराजिमाजौ

येनाहतामहितपक्षतया समीक्ष्य ।

मान्येतु जेतुमथ मामपि राजभावा-

द्भेजेऽद्रिजापतिमितीव पती रजन्या ॥ ३९ ॥

रजन्या रात्रे पतिर्मर्ता चन्द्र । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोरद्रिजापतिमीश्वरमद्रौ प-
र्वते जाता इत्यद्रिजा विषमदुर्गभूमिस्तत्पते । पर्वते कीदृक्स्वामिन भेजे श्रितवान् ।
तदाश्रयणाच्च दुर्जयत्व परस्य वैरिण अन्यन्य राजभावाद्राजत्वादय राजा तथाह-
मपि राजा तस्मात्परराजत्वान्मयि राजभावादखिलापरनृपतिपरिभवानन्तर मामपि
जेतु परिभवितु मान्येतु मा गच्छतान् इति भीते कृत्वा स्वीये आत्मीयेऽन्ववाये
सताने । चन्द्रवशे इत्यर्थः । भवा उत्पन्ना ये भूधरा भूपालाश्चन्द्रवशीयकाद्यपीपतय-
स्तेषा राजी श्रेणीमहितपक्षतया स्ववैरिवर्गत्वेन येनाकब्बरेण आजौ सग्रामविषये
आहता निपातिना समीक्ष्य नयनयोगाचरीभावमानीय ॥

पूर्वापराम्बुनिधिसैकतसीमभूमी

संचारिचञ्चुरचमूचरभूरिभारम् ।

सोढु न सासहिरहीश्वर एकमूर्ध्ना

शीर्ष्णा सहस्रमिति कि रचयाचकार ॥ ४० ॥

अहीश्वर' शेषनागनायक । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतो शीर्ष्णा मस्तकानाम् । फणानामित्यर्थः । सहस्र दशशती कि रचयाचकार रचितवानिव । इति किम् । यदहं पूर्वापरौ प्राच्यप्रतीच्या यावम्बुनिधी समुद्रौ तयो सैकते नीरनिर्मुक्तपुलिने ते एव सीमनी मर्यादास्थाने यस्यास्तादृशी भूमी वसुधा तस्या विषये सचारिणां सचरणशीलाना चञ्चुराणा शौर्यैर्वैर्यादिगुणगणप्रधानाना स्वस्वामिकार्यकरणप्रवणाना चमूचराणा सेनासुभटाना भूरि भूयिष्ठ भार गजाश्वस्यन्दनपदातिपरम्परावीवध सोढु धारयितुम् । एकेन मूर्ध्ना मस्तकेन कृत्वा न सासहिर्न समर्थः । 'अहिर्महीगौरवसासहिर्य' इति नैषधे । तथा सहनशील भृश सहते इति । 'सासहिर्वावदिश्वाचलि पापतिप्रभृतय इकारान्ता निपाताः' इति नरहर्या नैषधवृत्तौ ॥

पाणौ रणाङ्गणगतस्य कृपाणयष्टिः

क्षोणीमणेस्तृणयत पृतना रिपूणाम् ।

भाति प्रचण्डभुजदण्डवसज्जयश्रीः-

केशच्छटा प्रकटतामिव टीकमाना ॥ ४१ ॥

क्षोणीमणेर्भूमीरत्नस्याकब्बरपातिसाहे पाणौ हस्ते कृपाणयष्टिः करवाललता भाति राजते । किभूता । रणाङ्गणे युद्धमूर्ध्नि गतस्य प्राप्तस्य । अत एव कि कुर्वत । रिपूणा प्रतिभटाना पृतना सेना पताकिनी तृणयत तृणप्राया मन्यमानस्य तृणीकुर्वत । न किचित्करता प्रणयत तृणवत्प्रणयतो वा । उत्प्रेक्ष्यते—प्रकटता प्रकाशभाव जनदृग्गोचरत्व टीकमाना गच्छन्ती । प्रचण्डौ जानुयुगव्यायतौ द्विषजनासह्यपराक्रमौ भुजदण्डा तयोर्विमन्त्या चिर वास सृजन्त्या । तिष्ठन्त्या इत्यर्थः । जयत्रियो जयलक्ष्म्या केशच्छटा कुन्तलहस्तो वेणी वेल्यर्थः ॥

खङ्गाहतोद्धतमतङ्गजदन्तकुम्भ-

प्रोद्धूतपावककणोत्करमुक्तिकाभि ।

क्षुण्णे तुरङ्गमुखरै रणभूतले य

ओजोयशोऽवनिरुहोर्वपतीव बीजम् ॥ ४२ ॥

य साहित्तुरङ्गमाणा शौर्यादयोत्सुकतया खुरै शर्फैर्नखशिखाभि क्षुण्णे क्षोदिते अतिवाहिते 'खेडऊ' इति जनप्रसिद्धे रणभूतले रणाङ्गणे युद्धधरामण्डले । उत्प्रेक्ष्यते—

ओज प्रताप यशः कीर्तिस्त एवावनिरुह्य पादपो तयोर्वाज योनिनिबन्धन तरुप्ररोहप्रा-
दुर्भावकरं पर्वतेवपतीव निःक्षिपतीव । काभि । स्वहैर्निधिततरुवारिभिराहता गाढ-
त्तप्रहारा. सर्वाङ्गेषु आसाममन्येन निम्निशतया निम्निशानहता वा तथा उद्धता समशृङ्गा
अनवरतविनि मरत्नमस्थानदानपय प्रवाहोत्कटा वा ये मतदजा कृत्वास्तेषा दन्तेभ्यो
दन्तकोशेभ्य 'दत्तमल' इति प्रनिद्वेभ्य । तथा कुम्भेभ्य गिर पिण्डस्थलेभ्य प्रोद्धता
प्रकटा जाता ये पावककणोत्करा वटिस्फुलिङ्गणाम्ना मुक्तिका मुक्ताफलानि रज-
प्रहतेभ्यो दन्तकोशेभ्य कृशानुस्फुलिङ्गा । दन्तेभ्य स्वाहते पावकोद्धव । तथा
कृपाणविदीर्णप्रहारकुम्भस्थलेभ्यो मौक्तिकानि विनिर्जग्मु । कुम्भान्तरे मुक्तानामुत्प-
त्तिवत्तन्निर्गम इति । ताभिरवापेव ॥

युद्धोद्धरे भुवनभीतिकरे नरेशे

त्रासात्स्वकीयवसतेरिव मूरराजो ।

अष्टौ पुनस्तदनवेक्षणतोऽन्तरिक्षे

प्रेक्षाकृते तत इतो भ्रमिमादधाते ॥ ४३ ॥

युद्धे समराङ्गणे उद्धरे उद्धते उत्कटैवेरिभिर्द्रष्टुमशक्यै । तथा भुवनाना प्रवलवलवन्तया
जगतामपि मुरदानवमानवेन्द्राणामपि आकस्मिकात्यन्तिकान्तकशङ्कावर्तरे नरेशे अकञ्च-
राभिवाननरनायके त्रासादाकस्मिकान्मपराभवनभयभरात् मूरराजो सुभटभूपती सूर्य-
चन्द्रौ । उत्प्रेक्ष्यते—स्वकीयवसतेरात्मीयनिवसनस्थानकाद्भ्रष्टौ भ्रश प्रामौ । अतिभीते
स्वस्थान परित्यज्य अन्यत्र कुत्रापि प्रपलाप्य प्रयातावित्यर्थः । पुनर्व्याधुष्य तदनवेक्ष-
णत तस्य स्वस्थानकस्य अनवेक्षणतोऽनवलोकनाददर्शनात् । निजनिवासस्थाने न पश्यत
इत्यर्थः । अन्तरिक्षे आकाशे न तद्वयाद्भूमौ प्रेक्षाकृते अर्यान्स्वस्थानदर्शनार्थं तत इत
पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरासु भ्रमि भ्रान्तिमादधाते कुर्वाते । स्ववासस्थानमलभमानो नित्य
भ्राम्यत इत्यर्थः ॥

आकस्मिक तुमुलमेतदनन्यजन्य-

व्याहन्यमानभटकोटिभवं निशम्य ।

आतङ्कितैः किमिदमित्यमर्गैर्वदद्भि-

र्लेभे किमीक्षणयुगेषु निमेषनैम्ब्यम् ॥ ४४ ॥

एतेनाकञ्चरेणानन्ये अमाधारणे अदृष्टाजातपूर्वं जन्ये सग्रामे व्याहन्यमानाना
व्यापाद्यमानाना भटाना राजन्यवीराणा कोटीभ्य । कवीना कुत्रचित्केचित् कोटीप्र-
मुखा शब्दा प्रायो बाहुल्ये दृश्यन्ते । यथा पाण्डवचरित्रे घटोत्कचस्य 'पटको' इति
प्रनिद्वस्य भीमहिडम्बाङ्गजातस्यैकरात्रिरणे—'रथान् पिपेप पापाणैर्जयान तरुभिर्ग-
जान् । सवेगापातवातेन भटकोटीरपातयत् ॥' तथा तत्रैव गाङ्गेयस्य दशमदिवस-

ग्रामेऽप्युक्तम्—‘कोटिशो भटसभारसहारे विहितश्रमम् । धनुर्विश्रामयाचक्रे कृपयेव पितामह ॥’ इति । श्रेणीभ्यो भवमुत्पन्नम् । अकस्माद्भवमाकस्मिक तुमुल व्याकुलकोलाहलशब्द निशम्य श्रुत्वा आतङ्कितै सजातभीतिभि अत एव किमिदं किं जातं चेत्समुना प्रकारेण वदद्भि कथयद्भिरमरैर्देवै । उत्प्रेक्ष्यते—ईक्षणयुगेषु नेत्रद्वन्द्वेषु निमेषाणां नेत्रोन्मीलननिमीलनानां नैस्व्य दारिद्र्यं किं लेभे प्राप्तमिव । भीतेरतिशायितया विकाशितलोचनेरेवाभूयतेत्यर्थः ॥ इति अकब्बरसाहिममरवीररसवर्णनम् ॥

भूमेर्जयाय चतुरम्बुधिमेखलाया

आराध्य पूर्वविधिना किमु जैत्रमन्नम् ।

गुप्तं कचिन्निजभुजप्रभवत्प्रताप-

वहौ ततोऽयमरिकीर्तिकर्नी जुहाव ॥ ४५ ॥

अयमकब्बरपातिसाहि चत्वारश्चतुः सख्याकाः पूर्वापरदक्षिणोत्तरलक्षणा अम्बुधय समुद्रा एव मेखला काञ्ची यस्यास्तादृश्या भूमे पृथिव्या जयाय स्वीकरणाय पूर्वविविना जापयत प्रमुखपूर्वसेवाप्रकारेण जैत्रं यावन्निजप्रतिपक्षपक्षाणां जयनशील पराभवनेकस्वभाव मन्त्र सप्रभाववर्णात्मका विद्यामाराध्य सम्यगुपासना विवाय । ततः पूर्णपूर्वविविसेवानन्तरं कचित्कुत्रचित्प्रदेशे गुप्तं छन्नम् यथा कश्चिन्नो न पश्यति न वेत्ति तादृगेकान्तस्थाने । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्यात्मनो भुजाभ्यां बाहुभ्यां प्रकर्षेण भवन्नुत्पद्यमानो यः प्रतापो महः सदोहः स एव वद्वि कृशानुस्तस्मिन् । अरीणां वैरिवसुधाधवानां कीर्तिरूपा कीर्तिनाम्नी वा कर्नी कुमारिका जुहावः । तन्मन्त्रसिद्धयर्थमुत्तरसेवावसाने जुहोति स्मेत्यर्थः । शत्रुजयमाहात्म्ये केनचित् खेचरेण होतुमानीता निबिडनिबद्धा गुणमुन्दरी राजकुमारी रोदनशब्दश्रवणागतेन महीपालकुमारेण रणप्रकरणप्रहरणप्रोक्तौषवीसजीकृततद्विद्यावरपार्श्वान्मोचिता सोऽपि प्रतिबोधितश्च । नेमिचरित्रेऽपि नेमिनाथेन पञ्चमभवे अपराजितनाम्ना कुमारेण तथैव मोचितेत्यर्थः ॥

उत्कधरावनिधराधिकधीरभावै-

भूमीभुजा विगणना गमिता. समग्राः ।

एनं निभात्परिणतोद्धुरसिन्धुराणा

ससेवितुं क्षितिधराः किममी समीयुः ॥ ४६ ॥

भूमीभुजा अकब्बरराजेन उत्कधरत्वेनोच्चैः शिरस्तया । सर्वेभ्योऽपि भूभृद्भ्यो महत्त्वेनेत्यर्थः । तथा अवनिधरत्वेन भूमीमण्डलवारकत्वेन नागेन्द्रवत् अथवाधिकेन विश्वातिशायिना वीरभावेन धैयेण एते प्रकारैः कृत्वा विगणनामवहेलना गमिता प्रापिता सन्तः अमी मेरुमन्दरगौरिगुरुकलासप्रमुखा समग्राः समस्ता अपि क्षितिधरा पर्वता परिणताना तटेषु तिर्यक्प्रहारप्रदायिनाम् । ‘परिणतगजप्रेक्षणीय द-

दर्श' इति मेघदूतेऽपि । यथा उद्गुराणामुत्कटानां सिन्धुराणां वारणानां निभान्कपटान् ।
उत्प्रेक्ष्यते—एन मुद्गलमेदिनीमण्डलाखण्डलम् कि संसेवितु सम्यग्विधिनोपासितुमिव
समीयुः समागता ॥

कल्पावनीरुहवनानि महीमघोना
प्रोद्दामदानललितैरवहेलितानि ।

गुच्छप्रसूनफलभारनमच्छिखानि
व्रीडोदयादिव बभूवुरधोमुखानि ॥ ४७ ॥

महीमघोना अकव्वरक्षोणीसहस्रचक्षुषा प्रोद्दामाना जनमन समीहिताधिकतया प्र-
बलाना दानाना स्वर्णमणीगणादिविश्राणनाना ललितैः विलासैर्विजृम्भितैरवहेलितानि
अवगणना गमितानि कल्पावनीरुहाणा सुरतरुणा वनानि काननानि । समूहा इत्यर्थः ।
उत्प्रेक्ष्यते—व्रीडोदयालजायाः प्रादुर्भावादिव । स्वावज्ञासजातातिमन्दाक्षोद्गमनेत्यर्थः ।
अधोमुखानि नीचेर्भूतानि वदनानि येषां तादृशानि बभूवुर्जातानीव । किंभूतानि ।
गुच्छाः स्तवका , प्रसूनानि कुसुमानि, फलानि सस्यानि, तेषां भारेण वीवधेन नमन्त्यो
भूमावेत्य लगन्त्यः शिखा शाखा येषाम् ॥

एतन्महस्त्रिभुवनभ्रमणीविलासं
जैत्राङ्गकारनिकरैरपि दुःप्रवृष्यम् ।

उल्लङ्घितुं स्पृहयतेव सहस्रपादी
निर्मीयते स्म सरसीरुहिणीवरेण ॥ ४८ ॥

सरसीरुहिणीना कमलिनीना वरेण भर्त्रा भानुना । सहस्रसख्याकाना पादानां समा-
हारः सहस्रपादी दशशतचरणाः । 'पादो मूलास्तुर्याशाङ्घ्रिषु प्रत्यन्तपर्वते' इत्यनेकार्थः ।
निर्मीयते स्म । कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—एतस्याकव्वरसाहेर्महः प्रतापमुल्लङ्घितुमतिक्रमितु-
मिव । 'लघूङ् गतौ' अयं धातुर्वादिरात्मनेपदी । अतिदुःसहतया निजजैत्रतया च
एतत्पुरस्त्वरितुं पलायितुं वा स्पृहयता काङ्क्षता । किंभूतं महः । त्रिभुवने त्रैलोक्येऽपि
भ्रमणी पर्यटनम् । 'विधे कदाचिद्भ्रमणीविलासे' इति नैषधे । तत्र विलासः क्रीडा यस्य ।
पुनः किंभूतम् । जैत्राणां जयनशीलानां प्रतिपक्षलक्षतिरस्कृतिदीक्षितानामङ्गकाराणां
प्रतिमल्लानां जिष्णूनामपि जित्वराणां निकरैः समुदायैरपि दुःप्रवृष्यं दुराकलनीयम् ।
सर्वथापि जेतुमशक्यमित्यर्थः । 'दूरं गौरगणैरहकृतिभृता जैत्राङ्गकारे चर—'इ-
त्यपि नैषधे ॥

आकालिकीकुलिशशैवलिनीशवहि-
वैश्वानराम्बुरुहिणीरमणप्रदीपाः ।

अंशा अमी त्रिजगतीव परिस्फुरन्ति

राशेरिवास्य महसां रिपुराजघस्य ॥ ४९ ॥

रिपून् राज्ञो निखिलसपत्नावनिपतीन् हन्तीति पञ्चतागोचरान् चरीकतीति रिपुरा-
जघः । 'पाणिघताढधौ शिल्पिनि विषये निपात्यौ, राजघश्च राज्ञो हन्ति' इति प्रक्रियाकौ-
मुद्याम् । तथा 'रराज नीराजनया स राजघ' इति नैषधेऽपि । तस्य एतस्याकब्बरपा-
तिसाहेर्महसा भूयसः प्रतापानां राशेः समूहस्य । 'स राशिरासीन्महसा महोज्ज्वलः'
इति नैषधे । अर्थस्तु वृत्तौ । एवमेवेति । त्रिजगति त्रैलोक्ये अमी जनचक्षुः प्रत्यक्ष-
लक्ष्या अशा भागा इव परिस्फुरन्ति स्फूर्तिं विभ्रति । तानेव दर्शयति—आकालिकी
विद्युत्, कुलिश शक्रकराम्भोरुहभास्वद्भोलिनामायुधम्, शैवलिनीशो नदीपतिः
समुद्रस्तस्य वह्निर्हुताशनः वडवानलः । 'और्वः सवर्तकोऽब्ध्यग्निर्वाडवो वडवामुखः'
इति हैम्याम् । तथा वैश्वानरः स्वाभाविकापरदवानलादि ज्वलनः अम्बुरुहिणीरमणः
पद्मिनीप्राणनाथः सहस्ररश्मिः, प्रदीपाः स्नेहप्रियाः, इत्येते ॥

यस्यातिदानवशतः परितोषभाग्भि-

र्विश्वार्थिभिः सुरगवामपमानितानाम् ।

भूयोभवद्भिरविसर्जनतः पयोभि-

र्निष्पातिभिः किमभवद्विवि देवसिन्धुः ॥ ५० ॥

सुरगवां कामधेनूनामविसर्जनतो दानभावाद्भूयोभवद्भिरतिबहुलीभावः प्राप्नुवद्भिः
अत एव निष्पातिभिर्निःसरणशीलैरधस्तात्पतद्भिः पयोभिर्दुग्धैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—
दिवि आकाशे देवसिन्धुस्त्रिदशतटिनी स्वर्गगङ्गा अभवजातेव । किंभूतानां सुरगवाम् ।
यस्याकब्बरसाहेरतिदानवशतो याचकजनानामिच्छाभ्यधिकविश्राणनाधीनतया परि सा-
मस्त्येन तोषः सतोषः स्वान्तस्वास्थ्यः स्वेच्छापरिपूर्तितया सतुष्टिं भजन्तीति तादृशैर्विश्व-
त्रयाणां भुवनानाम् । त्रैलोक्यस्येत्यर्थः । समस्तैर्निःशेषैरर्थिभिर्याचकैरपमानितानामव-
गणितानाम् । स्वप्नेऽप्यप्रार्थितानां भूपस्य मनःकामिताधिकदानैः सतुष्टचित्तैस्त्रिजगद्याचकैः
स्वप्नावस्थायामपि कामधेनवो निष्यन्ते इत्यर्थः ॥

संप्रीणता कुवलयं नृपसूरिराज-

श्लोकावनीधनयुगेन महोदयेन ।

द्वैराज्यवज्जगदभूत्परमत्र चित्र-

मद्वैतसंमदपदं दधुरङ्गभाजः ॥ ५१ ॥

नृपोऽकब्बरपातिसाहि सूरिराजो हीरविजयसूरिवसुवरावासवः । पुनरपरवर्णनौत्सु-
क्येन ग्रन्थनायको विस्मृतो मा स्तादिति सूरिराजाभिधानग्रहणम् । तयोः श्लोकौ य-
शसी तावेवावनीधनौ राजानौ तयोर्युगेन द्वन्द्वेन कृत्वा जगद्विश्वम् । द्वौ राजानौ यत्र ।

राजा चन्द्रो नृपश्चेति द्विराज तस्य भावो द्वैराज्य तद्वैराज्यमिवाभूत् जानम् । क्लिप्त-
णेन नृपमूरिराजश्लोकावनीधनयुगेन । महानतिशायी अभ्युदयोऽनवरतपरोलभप्रतिपक्ष-
पयोधरविधुतुदादिभिरप्रतिहताद्वैतवैभवो यस्य । पुन कि कुर्वता । कुवलय पृथ्वीमण्ड-
लमुत्पल च सप्रीणता । प्रीतिमुत्पादयतेत्यर्थः । विकाशयता च । परं केवलमत्र द्वैराज्ये
तच्चित्रमाश्चर्यमस्ति । यत्कारणादङ्गभाज. प्राणिन न विद्यते तद्वैत द्वितीय कारण
युगल वा यत्रेत्यद्वैतमसाधारणमानन्दपद हर्षस्थान दधुर्धारयन्ति स्म । द्वैराज्ये हि
जनाना विषाद एव स्यात्, अत्र तु परमप्रमोद, एतदेव महदाश्चर्यम् ॥

स्पर्धो दधन्निजयशःप्रसरैः स्वलक्ष्म्या

क्षोणीभुजा बहिरितो विहिताः स्वदेशात् ।

स्वःसिन्धुरोधसि तदादि मृगं दधानो

राजानिशं मृगयुवत्किमु बम्भ्रमीति ॥ ५२ ॥

क्षोणीभुजा अकम्बरनृपतिना निजानामात्मीयाना यशसा कीर्तना प्रसरैर्विस्तारै मह
स्वलक्ष्म्या आत्मश्वैत्यश्रिया सार्धं स्पर्धा सहर्षमभ्यसूया दधद्विभ्राण. सन् राजा चन्द्रो
नृपश्च इतोऽस्माद्भूमण्डलवर्तिन. स्वदेशान्निजजनपदादात्मप्रदेशाद्वा बहि कृतो निष्का-
सित. देशत्याग कारित । उत्प्रेक्ष्यते—तदादि तस्माद्वासरादारभ्य मृग लक्ष्म कृष्णसार
दधान कलयन् मृगयुवबुद्धक इव स्व सिन्धोर्गगनगङ्गाया रोधसि तटे अनिशमहोरात्र
किमु बम्भ्रमीति अतिशयेन भ्राम्यतीव । प्रायो मृगेणैव मृगा गृह्यन्ते नद्यादिनारम-
निधाने च पय पानार्थं वन्यसत्त्वाश्च समायान्ति इति स्वयश.स्पर्धो चन्द्रो राजा पृथ्वी-
पीठान्निष्कासितो नभसि पर्यटतीत्यर्थः ॥

यस्यौजसि स्फुरति जैत्र इव त्रिलोक्या

त्रासादिवाम्बुनिधिमम्बुधिमन्त्रजिह्वः ।

वज्रः पुरंदरकरं सरसीजपाणिः

पादं हरेरपि दवोऽद्रिभुवं वभाज ॥ ५३ ॥

यस्य राज्ञो जैत्रे जयनशीले इव ओजसि प्रतापे त्रैलोक्या जगत्रयेऽपि स्फुरति
परिभ्राम्यति सति त्रासादाकस्मिकभयात् । उत्प्रेक्ष्यते—अम्बुधे समुद्रस्य मन्त्रजिह्व
कृशानु वडवानल अम्बुनिधिमूर्तिमालिमव्यमिव वभाजाश्रयति स्म । अपि पुनर्वज्रो
दम्भोलि पुरंदरस्य वासवस्य कर हस्तमिवाश्रित । अपि पुन सरसीज कमल पाणौ
हस्ते यस्यैतावता मार्तण्डो हरेर्नारायणस्य पाद चरण विष्णुपदमाकाश श्रितवानिव ।
अपि पुनर्दवो दावानल. अद्रिभुव पर्वतघनगहनावनीमिव सेवते स्म ॥

अभ्रभ्रमद्यदभिमात्ययशोलुलाय-

मालोक्य भीतिविवशस्य हरेर्हयस्य ।

संत्रस्यतो वदननिर्यदमन्दफेनै-

ज्योतिष्मतीव समभूत्पुरुहूतपद्या ॥ ५४ ॥

हरेरिन्द्रस्य हयस्य तुरगस्योच्चैःश्रवसो वदनान्मुखगङ्गरान्निर्यद्भिरधोभूमौ निष्पतद्भिरम-
न्दैर्वहुलैः फेनैर्मुखकफैरश्वमुखलालाभि कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—पुरुहूतपद्या शक्रमार्गो ग-
गनम् । ज्योतिष्मती ज्योतींषि ग्रहनक्षत्रतारका विद्यन्ते यस्या तादृशी किमभवत्सपत्नेव ।
हयस्य किभूतस्य । भीत्या भयेन विवशस्य विह्वलस्य व्याकुलस्य । अत एव कि कु-
र्वत । संत्रस्यतः अकस्मान्निजजिघासुदर्शनोद्भूतभूरिभीतिवशतो नश्यत । किं कृत्वा ।
अभ्रे आकाशे भ्रमन्त परितः पर्यटन्त यस्याकब्बरस्याभिमातीना विरोधिनामयशोऽप-
कीर्तिरेव श्यामवर्णत्वालुलाय महिषमालोक्य समीक्ष्य । महिषो हि तुरगद्वेषी ।
यत —‘रजस्वलो वाहरिपु’ इति हैम्याम् । तथा जिनजन्माभिषेके देवागमे—‘वा-
जिस्थ कासरारूढ’ । तथा ‘हयद्विषद्वष्कयिणीपयःसुतम्’ हयद्विषत्या महिष्या
किभूताया बष्कयिण्या प्रौढाङ्गजाया यत्पय सरसदुग्ध तस्य सुत दधि । दु-
ग्धोद्भवात्पयः सुतमिति । तथा ‘रामालिरोमावलिदिग्विगाहिध्वान्तायते वाहनमन्त-
कस्य । यत्प्रेक्ष्य दूरादपि बिभ्यतः स्नानश्चान्गृहीत्वापसृतो विवस्वान् ॥’ द्वयमपि
नैषधे ॥

पञ्चापि देवतरवोऽधरिताः स्वदान-

लीलायितैर्वसुमतीकुसुमध्वजेन ।

संभूय काञ्चनशिलोच्चयचूलिकायां

कि मन्त्रयन्त्यवनिवृत्रहणं विजेतुम् ॥ ५५ ॥

वसुमत्या वसुधराया अतिरूपरामणीयकेन कुसुमध्वजेन श्रीनन्दनेन । ‘निषधवसुधा-
माना कस्य प्रियाङ्गमुपेयुष’ इति नैषधे । ‘सर्वातिशायिशरीरसौन्दर्याद्भूमीस्मरेण’ इति
तट्टति । स्वदानस्य निजवितरणस्य लीलायितैर्विलसितैरधरितास्तिरस्कृताः पराभूताः
सन्त पञ्चापि पञ्चसख्याका अपि कल्प-पारिजात-मन्दार-हरिचन्दन-सताननामानो
देवतरव सुरद्रुमा । उत्प्रेक्ष्यते—काञ्चनशिलोच्चयस्य स्वर्णशैलस्य मेरोश्चूलिकाया
शिर शिखरे संभूय एकत्र मिलित्वा सर्वेऽप्येकीभूय अवनेर्भूमेर्वृत्रहण पुरदरमकब्बरसाहि
विजेतुमभिभवितु कि मन्त्रयन्ति रहसि आलोचनमिव कुर्वन्ति । ‘रहस्यालोचन
मन्त्र’ इति हैम्याम् । तथा पाठान्तरम्—तत्र कूलकषाणा नदीना प्रणयी पति स-
मुद्र सनेमिः स्यन्दनचक्रधाराकारो यस्या सा भूमिस्तस्यास्तमीविवोढु रजनीरमणस्य ।
अकब्बरभूपतेरित्यर्थः । विजिगीषयेव स्वाभिभवविधातुर्विजेतुमिच्छयेव अनिमि-

षान्देवान् सप्रीणयन्ति तोषयन्ति । समीहितदानादिना प्रीता हि देवा अभीष्टसिद्धिं ददते इत्यर्थः ॥

सर्वानुवाद इव यन्महमां विहायः-

पान्थः किमु प्रतिनिधिर्हुतभुक्पयोधेः ।

वज्रोऽनुकार इव कायलता हुताश-

पङ्क्तिः पुनः सहचरस्तडितां विलासः ॥ ५६ ॥

यन्महसाम् अकब्बरसाहैर्भूयसः प्रतापाना विहाय पान्थो गगनाध्वनीनः सहस्र-
रश्मिः सर्वं समस्तरूपमनुवदतीति सर्वानुवाद पुनरप्यभिधानमिव । पुनः पयोधेः स-
मुद्रस्य हुतभुक् ज्वालाजिह्वो वडवामुखः प्रतिनिधिः प्रतिबिम्बमिव । पुनर्वज्रो वासव-
हस्तदम्भोलिः अनुकारः सादृश्यमिव । पुनर्हुताशाना पावकाना पङ्क्तिर्मालिका कायलता
शरीरयष्टिरिव । पुनस्तडितां विद्युता विलासो विजृम्भित सहचरः सखा । 'मित्रं
सहचरो मित्रं सखा' इति हैम्याम् ॥

ऐश्वर्यमीशत इव प्रभुता सुरेन्द्रा-

दोजो रवेर्निधिपतेश्च वदान्यभावम् ।

भोगीश्वरादवनिगौरवसाहसित्व-

मादाय योऽम्बुजभुवा निरमायि भूमान् ॥ ५७ ॥

यो भूमान् अकब्बरसाहिः अम्बुजभुवा नारायणनाभिनीरजजन्मना ब्रह्मणा । उत्प्रे-
क्ष्यते—ईशत ईश्वरादैश्वर्यमीश्वरताम् । तथा सुरेन्द्राद्देवनायकात्प्रभुता स्वामितां सामर्थ्यं
वा । पुनः रवेः सहस्रकिरणादोजः प्रतापम् । 'यदोजसो यद्यशम स्थिताविमौ' इति
नैषधे । ओजः शब्देनात्र प्रतापः । च पुनर्निधिपतेर्वैश्रवणाद्वदान्यभावः दानशीलताम् ।
पुनर्भोगीश्वरात् शेषनागनाथादवनेर्मेदिनीमण्डलस्य गौरवस्य साहसित्वं सहनशीलताम् ।
'सहिवहिचलिपतिभ्यो यडन्तेभ्यः किकिनौ वाच्यौ' । 'सासहिः वावहिः चाचलिः पा-
पतिः' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । आदाय गृहीत्वा निरमायि निष्पादित इव ॥ इत्यकब्बर-
साहियशः प्रतापदातृतादिगुणाः ॥

क्षोणीक्षितः क्षितिरुहानिव वायुरंहः

प्राच्याननामयदकब्बरभूमिपालः ।

तस्मादिशो जगृहिरेऽपि च दाक्षिणात्य-

क्षमाभृद्धरेण शरभादिव सिन्धुरेण ॥ ५८ ॥

अकब्बरनामा भूमीपालः क्षितिरक्षिता प्राच्यान् पूर्वदिग्भवान् पूर्वदिक्सवन्विनो
वा क्षोणीक्षितः पार्थिवान् । 'महीक्षित्पार्थिवो मूर्धाभिपिक्तो भूप्रजानृपः' इति हैम्याम् ।

अनामयत् स्वपदप्रणतान् प्रणयति स्म । क इव । वायुरेह इव यथा वातवेगः क्षि-
तिरुहान् पादपान् नामयति नम्रीकरोति । अपि च पुनस्तस्मादकब्बरमुद्रलपातिसाहेर्द-
क्षिणस्या दिशि भवा दाक्षिणात्यास्ते च ते क्षमाभृतश्च राजानस्तेषा भरेण वृन्देन दिशो
जगृहिरे पलायितम् । 'पलायितस्तु नष्ट' स्याद्गृहीतदिग्भिराहित' इति हैम्याम् ।
शरभादिव । यथा अष्टापदान्कुञ्जरारातेः सकाशात् । 'शरभः कुञ्जरारातिरुत्पादकोऽष्ट-
पादपि' इति हैम्याम् । सिन्धुरेण । जातिवाचित्वादेकवचनम् । निजाहितत्वेन हननभी-
तेर्गजेन प्रपलाय्यते ॥

आज्ञा यदम्बुनिधिनेमिविधेरधारि

शीर्षेव मूर्ध्नि धरणीरमणैरुदीच्यैः ।

पाश्चात्यभूमिपतयो यतयो बभूवु-

भीतेर्विरागत इवोज्झितसङ्गरङ्गः ॥ ५९ ॥

यश्चासौ अम्बुनिधिनेमौ वसुधावलये विधुश्च तस्याकब्बरभूपते राज्ञः आज्ञा शासन-
मुदीच्यैः उत्तरस्या भवैर्धरणीरमणैः पृथिवीपतिभिर्मूर्ध्नि स्वमस्तके शीर्षेव 'सेस' इति
लोकप्रसिद्धा । अधारि ध्रियते स्म । तथा पाश्चात्यभूमिपतयः पश्चिमदिक्सबन्धिनो
भीतेरकब्बरसाहिसाध्वसातिरेकाद्यतयस्तापसा बभूवुः सजाताः । 'वैखानसो वानप्रस्थो
भिक्षुः सान्यासिको यतिः' इति हैम्याम् । किंभूताः । उज्झितस्त्यक्तः सङ्गस्य गृहगृ-
हिणीधनैश्वर्यादिसगमस्यानुषङ्गस्य रङ्गश्चित्तोत्साहो यैः । उत्प्रेक्ष्यते—विरागत इव ।
यथा वैराग्यात्तापसीभवन्ति । तेऽपि च विरागिणस्त्यक्तसङ्गरङ्गा स्युः ॥ इत्यकब्बरस्य
चतुर्दिगाक्रमणम् ॥

सर्वे जनाः सृजति राजनि यत्र राज्यं

प्रहृत्तिपल्लवितचित्तपथा बभूवुः ।

दुःस्थैरिवापि न परं प्रतिपक्षलक्ष-

क्षोणीमहेन्द्रमहिलानिवहैः सुखांशः ॥ ६० ॥

यत्र यस्मिन्नकब्बरे राजनि चतुरम्बुधिमेखलाखण्डले राज्यं सकलविपुलामण्डलै-
श्वर्यं सृजति कुर्वति सति सर्वे समस्ता अपि जनाः प्रजालोकाः प्रहृत्त्या प्रमोदेन ।
'ह्लाद इति योगविगाभात् ह्रस्वः प्रहृत्तिः' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । कृत्वा पल्लविता बह-
लीभूताश्चित्तपथा मनोवृत्तयो येषां तादृशा बभूवुः सजाताः । परमयः विशेषः । अथ
वा परं केवलं प्रतिपक्षा अकब्बरसाहेश्वेतोवचनादिनिर्विपक्षीभूता मनसैव विरुद्धवि-
धित्सवो वा न तु कायेन कथंचिदपि प्रभविष्णवः तादृग्विवा विरोधिनस्ते च लक्षा
लक्षसख्याका ये क्षोणीमहेन्द्राः पूर्वावस्थापेक्षया क्षितिकृद्भुक्षाणः महानृपास्तेषां महिला
अवरोधवध्वस्तासां निवहैः समूहैः दुःस्थैर्दरिद्रैर्निर्धनैरिव सुखस्य सातस्य शर्मणो ले-

शोऽप्यशोऽपि नावापि न प्राप्तः । महाराजा अपि यत्प्रतिपक्षतया परिभव प्राप्य
सर्वं राज्य जनपदपुरग्रामद्रविणादि निर्गम्य द्रमकीभूय वनेचरा इव कान्तारान्तरचा-
रिणो बभूवुः । अतस्तपस्विनीभिस्तद्वनिताभिः कुतः सुखाशोऽपि प्राप्यत इत्यर्थः ॥

मेरुर्गिरिष्विव गभस्तिरिव ग्रहेषु

बर्हिर्मुखेष्विव वृषा प्रमुखो नृपेषु ।

आक्रम्य चक्रिवदसौ क्षितिशक्रचक्र

शास्ति स्म साहिरखिलां चतुरन्धिकाञ्चीम् ॥ ६१ ॥

असौ साहिरकब्बर अखिला समग्रामपि चत्वारोऽम्बुवयः समुद्रा काञ्ची मेखला
यस्यास्तादृशीं पृथ्वीम् । यद्यप्युत्तरस्या चक्रिसाध्यस्य भरतक्षेत्रस्य पर्यन्तो हिमवद्गिरिः
तथापि कविसमयानुसार्यदो वचः । तथा च रघुवशे—‘पयोदरीभूतचतुःसमुद्रा जु-
गोप गोरूपधरामिवोर्वाम्’ इति । तथा च नैषधे दमयन्तीस्वयवरसमागमे भूगतीनाम्—
‘रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया कुण्डिननाकनाथः । प्रियोक्तिदानादरनम्रताभि-
रुपाचरच्चारुः स राजचक्रम् ॥ चतुःसमुद्रीपरिखे नृपाणामन्तःपुरे वासितकीर्तिदारे । दान-
दयासूतमातिथेयी चतुष्टयीरक्षणसौविदल्ला ॥’ इति । शास्ति पालयते । किं कृत्वा ।
चक्रिवत् चक्रवर्तिवत् क्षितिशक्राणां मूर्धाभिषिक्तानां महानृपाणां चक्रं वृन्दमाक्रम्य
स्वसेवकीकृत्य । असौ किंभूतः । गिरिषु सर्वपर्वतेषु मेरुः सुवर्णाचल इव । यथा ग्रहेषु
मङ्गलप्रभृतिष्वष्टाशीतिसहस्रेषु गभस्तिर्भास्कर इव । ग्रहपतित्वान् । ‘ग्रहाब्धिनीगो-
द्युपतिर्विकर्तनः’ इति हैम्याम् । यथा बर्हिर्मुखेषु वृन्दारकेषु वृषा पुरदर इव । तथा
नृपेषु समस्तभूपतिषु प्रमुखो मुख्यः ॥ इत्यकब्बरवर्णनम् ॥

श्रीआगरापुरमुपेत्य कियन्ति वर्षा-

ण्यम्भोधिनेमिविधुना वसतिर्वितेने ।

भूकश्यपेन मथुरामिव हेमपद्म-

निष्पातिपौष्पकपिशार्कसुताकलापाम् ॥ ६२ ॥

अम्भोधिनेमे. समुद्रकाञ्च्या विधुना सुधाकरेणाकब्बरेण पातिसाहिना दिल्लीनगरान्
श्रिया विविधलक्ष्म्या कलिताम् आगरा इत्यभिवान यस्यास्तादृशी पुरी नगरमुपेत्यागत्य
कियन्ति कतिचिद्वर्षाणि यावत्स्थितिः वसतिर्वितेने विहिता । स्थित इत्यर्थः । केनेव ।
भूकश्यपेनेव । यथा वसुदेवेन शौर्यपुरान्मथुरामागत्य कियन्ति हायनानि वसतिर्वित-
न्यते स्म । ‘वसुदेवो भूकश्यपो दन्दुरानकदुन्दुभिः’ इति हैम्याम् । किंभूता पुरम् ।
हेमपद्माना जाम्बूनदारविन्दानां निष्पातिभिर्नितरा पतनशीलैरथ वा काञ्चननीरजेभ्यो
गलद्भिः । ‘पशुपतिजटाजूट इव विकसितकनकमलकुवलयोच्छलितरजःपुञ्जपिञ्जरि-
तराजहसावतसया’ इति चम्पूकथायां हेमपद्मानां सद्भाव इति । पौष्पं परागं कपिशं
पिङ्गीकृतपयां यार्कसुतां भानुनन्दनां सैव कलापः कलधौतमेखला यस्यां सा ताम् ॥

[तस्थौ समाः स कियतीः पुरमागराख्यां
 भूमान्विभूष्य मथुरामिव वृष्णिसूनुः ।
 भर्तुर्वशेव सरसा सरसीरुहास्या
 श्यामाङ्गमर्कतनुजा भजते स्म यस्याः ॥

स भूमण्डले मुद्गलेन्द्रतया विख्यातो भूमानकब्बर आगरा इत्याख्या नाम यस्या-
 स्तादृशी पुर नगरीं विभूष्यालकृत्य कियती कियत्सख्याका समा वर्षाणि । 'हायनोऽब्द
 समाः शरत्' इति हैम्याम् । यावत्तस्थौ स्थितिमकार्षीत् । क इव । वृष्णिसूनुरिव ।
 यथा वृष्णेरन्धकवृष्णे सूनुर्नन्दनो वसुदेवोदसार कसोपरोधेन कतिचित्सख्याकान्
 सवत्सरान् स्थितवान् । यस्या आगराख्याया पुरो मथुरापुर्याश्च अर्कतनुजा कालिन्दी
 अङ्ग समीप भजते स्म सिषेवे । 'अङ्गो भूषारूपकलक्ष्मसु । चित्राजो नाटकाद्यशे स्थाने
 क्रोडेऽन्तिकागसो ॥' इत्यनेकार्थः । केव वशेव । यथा पत्नी भर्तुरन्तिकमुत्सङ्ग भजते ।
 किभूता । सह रसैः पानीयैः शृङ्गारादिभिर्वा वर्तते या सा सरसा । पुनः किभूता ।
 सरसीरुह पद्म तदेव तद्वद्वा आस्य वदन यस्याः । पुनः किभूता । श्यामा कृष्णवर्णा ।
 'जम्मन्तरे न विहङ्ग उत्तममहिलाण ज कियपि कम्म । कालिन्दी कन्हविरहे अज्जवि
 काल जल वहई ॥' इति वृत्तरत्नाकरवृत्तौ । पक्षे षोडशवार्षिकी ॥ पाठान्तरम् ॥]

स श्रीकरीपुरमवासयदात्मशिल्पि-

सार्थेन डाबरसरः सविधे धरेशः ।

इन्द्रानुजात इव पुण्यजनेश्वरेण

श्रीद्वारका जलधिगाधवसंनिधाने ॥ ६३ ॥

स धरेश अकब्बरवरणीरमण आत्मनः स्वाज्ञावशवर्तिना शिल्पिसार्थेन विज्ञानिनि-
 वहेन डाबर इति नाम्नः सरसः प्राक् साहिनैव स्वयं खानितस्य द्वादशकोशमितस्य
 तटाकस्य सविधे पार्श्वे श्रीकरी इति नाम्नी पुर नगरं अवासयत् वासयति स्म । क इव ।
 इन्द्रानुजात इव । यथा 'शक्रावरजो विष्णु दाशार्हः । पुरुषोत्तमोऽब्विशयनोपेन्द्रावज्रे-
 न्द्रानुजाः ॥' इति हैम्याम् । तथा 'का नुजे मम निजे दनुजारौ' इत्यपि नैषधे । पुण्यज-
 नाना यक्षाणामीश्वरेण स्वामिना । 'कैलाशोकायक्षवननिविपुण्यकिपुरुषेश्वर' इति
 हैम्याम् । शक्रादिष्टवनदेन । जलधिगाना नदीना ववो भर्ता समुद्रस्तस्य संनिधाने स-
 मीपे श्रिया स्वर्णरत्नादिसमृद्ध्या सयुक्ता द्वारकानाम्नी पुरीं वासयामास निवेशयति स्म ॥

प्राक्काश्यपीपतिरकब्बरपातिसाहि-

स्तस्याः पुरः प्रतिभटान्प्रचलन्विजेतुम् ।

आशा दशापि कुरुते स्म फते स यस्मा-

त्तस्मात्फतेपुरमिति प्रददे तदाह्वाम् ॥ ६४ ॥

तस्मात्कारणात् काश्यपीपतिरवनिनायक तस्या श्रीकृत्या आद्या नाम फतेपुरमिति प्रठ्ठे दत्तवान् । कुर्याति स्मेत्यर्थः । यत्तदोर्निर्वाभिमवन्वाद्यस्मात्कारणान् सोऽकञ्च-
रपातिसाहि प्राक् पूर्वं वामनसमये तस्या श्रीकृत्या पुरो नगर्या प्रतिभटान् प्रत्यर्थि-
पार्थिवान् विजेतु प्रचलन् प्रतिष्ठमान दशापि प्राची-आग्नेयी-दक्षिणा-नैऋती-प्र-
तीची-वायवी-उत्तरा-ऐशानी-नागी-ब्राह्मीलक्षणा आशा दिश फते स्वायन्ता । य-
वना हि विजयस्याभिधा 'फते' इति कथयन्ति इति । दशदिगन्तजिता रघुणा यथा'
इति रघुवशे । दशदिशा जय कुरुते स्म कृतवान् । जेनमते तु महानद्यादिषु इत-
स्ततः पयःप्रवाहागमनैर्निम्नीभवद्भूभागनिवातिशबरादिग्रामाः शलमविगङ्गरमध्यगनभि-
ल्लपह्यो वा अधोदिग्वर्तिनः तथा पर्वतोपरिकोटादय ऊर्ध्वदिग्भाज इति तत्त्वम्
इति दशदिगजयः जिगायेत्यर्थः ॥

गौरीमहेश्वरगणा स्फटिकावनद्ध-

मध्या सशेवधिपतिः प्रचलत्कुमारा ।

कर्णातिथीभवदिभाननधीररावा

कैलासभूमिरिव या नगरी रराज ॥ ६५ ॥

या श्रीकरीनगरी कैलासभूमि स्फटिकाचलक्षोणीव रराज राजते स्म । किभूता ।
गौरीभिः काञ्चनचारुवर्णवर्णनीयवाणनीभिः कलितानां महेश्वरगणां महेश्वरानामगणित-
द्रविणवता व्यवहारिणा गणा व्रजा यत्र । पक्षे पार्वतीसयुतशम्भु तथा गणा पार्षदा
प्रमथादयो यस्याम् । पुनः किभूता । स्फटिकादुज्ज्वलमवनद्ध सुवाकन्वित गृहविपणिग-
णमय मध्य यस्याम् । पक्षे स्फटिकरत्नैरवनद्ध वद्ध मध्य यस्या स्फटिकाद्रित्वान् । पुनः
किभूता । सह शेषवीना निवानाना पतिभिः स्वामिभिः अगणिताप्रमागद्रविणत्वात्प्रतिस्था-
ननिक्षिप्तानेकनिविनायकैरीश्वरैर्वर्तते या । पक्षे सवनदा । 'कैलासोकायन्नवननिविक्कि-
पुरेश्वर' इति हेम्याम् । पुनः किभूता । प्रचलन्तः कीटाकृते स्वनन्नमितन्तः परि-
भ्राम्यन्तः कुमारराजामात्यसामन्तमहेश्वरादीनां गलका यत्र । पक्षे प्रचलन् पित्रो-
र्मिलनार्थं गमागम कुर्वन् कुमार स्वामिकार्तिको यत्र । स्कन्दम्यान्यत्रापि स्थितिसभ-
वाद्गमागमो युक्ता । तथा—'सुगन्विगन्वमादनाविवामिनः स्कन्ददेवस्य दर्शनार्थमितो
गतवानस्मि' इति चम्पूकथायाम् । अथ वा गौरीनन्दनत्वात्तत्रापि मातुः पार्श्वेऽवस्थि-
तत्वाच्चेति द्वयोरपि कर्मवारयः । पुनः किभूता । कर्णातिथीभवन्तः श्रवणप्राधुर्णा जा-
यमाना इमाना मदगन्वबन्धुरमिन्धुराणामाननेभ्यो वक्त्रेभ्योऽर्थान्निर्गता वीरा पानी-
यपूर्णाप्रमाणश्रावणसबन्विजलवरध्वनितानुकारिणो रावा गम्भीरगर्जरवा यस्याम् ।
पक्षे श्रूयमाणो गणनायकवीरध्वनिर्यस्याम् । विनायकस्यापि गौरीननूजत्वात् ॥

भूमीभृता प्रतिभटं सुमनःसु मुख्यं

जिष्णूग्रधन्वपविपाणिसहस्रनेत्रम् ।

प्रेक्ष्य प्रभुं हरिमिव स्वमुपेतमुर्व्या

प्रीतेरनूपगतवत्यमरावतीयम् ॥ ६६ ॥

य नृपम् । यन्मूर्तिमित्यर्थः । उर्व्या महीमण्डले उपेतमागत स्वमात्मीय प्रभु स्वामिन हरिमिन्द्र प्रेक्ष्य विलोक्य । विज्ञायेत्यर्थः । प्रीते स्वस्वामिनि स्नेहातिरेकात् अनु पृष्ठे उपगतवती समायाता । उत्प्रेक्ष्यते—इय श्रीकरीरूपा अमरावती इन्द्रनगरीव । किभूत य हरि च । भूमीभृता विपक्षक्षोणीक्षिता पर्वतानां च प्रतिभट विद्वेषिण निहन्तुकम् । पुनः किभूतम् । सुष्ठु शोभन मनो येषा निरवद्यहृदयेषु महत्सु देवेषु च मुख्यमग्रगण्यम् । पुनः किभूतम् । जिष्णु जयनशील तथा उग्र प्रचण्ड स्वासहजपर सहस्रसहस्र-कारक धन्व कोदण्ड यस्य । तथा पविर्वज्रमाकृत्या पाणौ हस्ते यस्य । प्राय पुण्यवता पाणिपादेषु वज्रचक्राङ्कुशादिलक्षणानि स्युः । तथा सहस्र दशशतसख्याकानि नेत्राणि लोचनानि यस्य । ‘सहस्रवी राजा’ इति लोकवाक्यमपि । चरप्रवानपुरोहितादीना दृग्भिर्भूपाला पश्यन्तीति कविसमयोऽपि । पश्चात्कर्मधारयः । शक्रस्य त्वेतानि नामा-न्येव सन्ति ॥

स्पर्धा यया विदधतं त्रिजगज्जयिन्या

दृष्ट्वा बलेर्गृहमियं कचिदौचिती न ।

ध्यात्वेति पद्मजनुषा प्रतिघातिरेका-

त्क्षिप्तः क्षणात्क्षितितले बलिना किमेषः ॥ ६७ ॥

पद्मजनुषा ब्रह्मणा इत्यमुना प्रकारेण ध्यात्वा विचिन्त्य प्रतिघातिरेकादनुचितविभाव-वनोद्धृतकोपातिशयात् । उत्प्रेक्ष्यते—बलिना बलिनाम्ना दैत्येन सार्वम् । अत्र सार्वपदा-ध्याहारः । अयं वा बलिना बलवता विधिना । बलवन्त विना कापि कार्यसिद्धिर्न स्यात् । अत एष बलिगृह क्षणान्निमेषमात्रात्क्षिते पृथिव्यास्तले अवोभागे क्षिप्त पाताले प्रवेशित । ‘बलिसद्य दिव सतथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारद’ इत्युपरि स्थितिर्वलिगृहस्य नैपवे । इति क्रिम् । त्रिजगज्जयिन्या भुवनत्रितयीयावन्नगरीजयनशी-लया यया श्रीकर्या नगर्या सार्व स्पर्धामभ्यसूया विदधत कुर्वाणम् । बलेर्गृह नागलोक दृष्ट्वा स्वयमन्विष्य इयमनया श्रीकरीपुरा सह स्पर्धाकृति कचित्कुत्रापि नौचिती न युक्तिमती इति चेतसि विचार्य ॥

निर्वर्ण्य वर्ण्यविभवैः स्वभवैः पुरी या

संस्पर्धया निजजयाय समुज्जिहानाम् ।

तद्भूतभूरितरभीतिविहस्तचेता.

किं द्वारका प्रविशति स्म पयोधिमध्ये ॥ ६८ ॥

द्वारका नारायणनगरी पयोधिमध्ये समुद्रमलिलदुर्गान्तराले प्रविशति स्म प्रविष्टा ।
उत्प्रेक्ष्यते—तस्या श्रीकरीपुर्या सकाशाद्रना उत्पन्ना भूरितरा अतिमहती या भीति-
र्भय तथा कृत्वा विहसन् व्याकुलीभूत चेतो मनो यस्याः । किं तादृशीव किं कृत्वा ।
स्वस्या श्रीकर्या भवैरुत्पन्नवर्ष्यैर्जगन्नयजनवर्णेर्नायावेभवे श्रीभि सस्पर्श्या अभ्यमूयया
कृत्वा निजस्य द्वारवत्या आत्मनो जयाय परामवनाय समुज्जिहानामुद्यता प्रगल्भाना
कृतोद्यमाना वा या श्रीकरीपुरीं निर्वर्ष्य दृग्गोचरीकृत्य ॥ इति समुदायेन नगरीवर्णनम् ॥

अथ पृथग्वर्णनम्—

धात्रीधृतौ फणसहस्रभृताभ्यसूया

विभृद्भुजंगविभुनाम्बरचुम्बिमौलिः ।

सालः स्मयेन कपिशिर्षककोटिमुच्चै-

र्धर्तुं मरुदृहमिव स्वयमप्यधत्त ॥ ६९ ॥

सालो यत्प्राकार स्मयेन गर्वावेशवशवदनया । उत्प्रेक्ष्यते—स्वयमप्यात्मनोऽपि मरु-
दृह स्वर्ग वर्तुमुद्रोढु वारयितुमुच्चैर्ध्वमुपरिष्ठान कपिशिर्षकाणामद्वालकाना 'कामीसा'
इति प्रसिद्धाना कोटिमवत्त वृत्तवानिव । साल किं कुर्वन् । भुजगविभुना शेषनाग-
नायकेन सममभ्यसूयामीष्या स्पर्वा विश्रद्धधानः । किभृतेन भुजगविभुना । वाच्या
वरिच्या वृत्तौ वारणविषये फणाना स्वशिरसा सहस्र दशशतीं विभर्ताति । साल
किभूत । अम्बरमाकाश चुम्बतीति शिखरेण स्पृशतीत्येवशीलो मौलिर्मूर्वा यस्य ।
अभ्रलिह इत्यर्थः ॥

यद्वप्रवज्रराचसाचतशक्रचाप-

चक्राभ्रचुम्बिकपिशिर्षकराजिराभात् ।

युद्धं विधातुमहितेन विधुंतुदेन

मित्रान्तिक किमु समीयुरमी सगोत्राः ॥ ७० ॥

यस्या नगर्या वप्र प्राकार तस्य तत्सबन्धिना वा वज्राणा गर्भसदभाकृतकुलिशर-
त्नाना रुचिभि कान्तिभि सचितानि पुष्टानि कृतानि प्रकटीकृतानि वा शक्रचापचक्राणि
इन्द्रवनुर्मण्डलानि । अथ च वज्रशक्रकोदण्डचक्राख्यानि आयुवानि यस्या तादृशी । तथा
अभ्रमाकाश चुम्बत्यालिङ्गतीत्येवगीला अभ्रकषा कपिशिर्षकाणा राजि पद्भि आभा-
द्वभौ । उत्प्रेक्ष्यते—अहितेन शत्रुणा विधुंतुदेन राहुणा सार्व युद्ध सग्राम विधातु कर्तु
मित्रस्य सुहृद सूर्यस्य चान्तिक समीपममी सगोत्रा स्वजना किमु समेता उपगता इव ।
सगोत्रत्व तु वृत्ताकारत्वेन प्रकाशकत्वेन च नभ पान्यत्वेन प्रभाकरत्वेन च । तथा सगोत्रा
हि सायुवा सग्रामसमये सगोत्रसमीपे प्राय समायान्ति इति रीतिरियम् । तत्रापि

कश्चित्सगोत्रोऽप्यनिष्टो भावदेव च सत्पथ परं मित्रं ततः सर्वमप्युचितमेवेति ॥
इति प्राकारः ॥

यत्रापणेष्वगुरुचन्दनगन्धधूली

चन्द्रप्रकीर्णकमणीसुरदुष्यमुख्याः ।

ज्ञानैर्जिनैस्त्रिजगतीव समस्तवस्तु-

वीथी व्यलोक्यत नरैर्निजनेत्रपद्मैः ॥ ७१ ॥

यत्र फतेपुरे आपणेषु व्यवहारिणा हृष्टेषु समस्तानां वस्तूनां क्रयाणकानां वीथी
श्रेणी नरैर्नगरग्रामजनपदजन्मभिर्जनैर्निजनेत्रपद्मैः स्वनयनारविन्दैर्व्यलोक्यत समीक्ष्यते
स्म । किभूता । अगुरवः काकतुण्डा , चन्दना श्रीखण्डा , गन्धधूल्य कस्तूरिका ,
चन्द्रा कर्पूरा सुवर्णानि वा, प्रकीर्णकानि चामराणि मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः सर्वजातिर-
त्नानि वा सुरदुष्याणि देवकुलानि वासासि मुख्यान्यादीनि प्रवानानि वा यस्याम् ।
कैरिव । जिनेरिव । यथा वीतरागैः केवलिभिः केवलज्ञानैः कृत्वा त्रिजगति
त्रैलोक्ये समस्तवस्तुविस्तारो विलोक्यते । समस्तवस्तुविस्तारो लोके एव नालोके, तत-
स्त्रिजगद्ग्रहणम् ॥

श्रेणीभवन्त्युभयपक्षवलक्षरत्न-

हृद्वावली विलसति स्म फतेपुरस्य ।

सुखामिसंमदितयत्पुरपद्मधाम्ना

वक्षःस्थलीकलितमौक्तिकमालिकेव ॥ ७२ ॥

फतेपुरस्याकब्बरनगरस्य श्रेणीभवन्ती द्विपङ्क्त्या जायमाना उभयपक्षयोर्द्वयोः पा-
र्श्वयोः । 'शय्या जहत्युभयपक्षविनीतनिद्रा स्तम्बेरमा' इति रघुवशे । 'उभयाभ्या
द्वाभ्या पक्षाभ्या पार्श्वाभ्या परिवर्तनेन कृत्वा विनीता अपहस्तिता निद्रा यै' इति
तद्रुतौ । वलक्षरत्नानां स्फटिकमणीनां स्फटिकोपलकल्पितानां हृद्धानामापणानामावली
वोरणी विलसति स्म शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—सुशोभनो नीतिमान् स्वामी अकब्बरसाह-
स्तेन समदो हर्षः सजातोऽस्यास्तया समदितया सजातानन्दया यत्पुरस्य फतेपुरनग-
रस्य पद्मवाक्या अरविन्दमन्दिरया लक्ष्म्या वक्षःस्थले स्वहृदये आकलिता धृता परि-
हिता मौक्तिकमालिका मुक्ताहारलतेव ॥ इति हृद्वावली ॥

वेश्मव्रजाः पुरि विभान्ति मणीमरीचि-

संचारचूर्णिततमीतिमिरप्रसाराः ।

स्फूर्त्या विजित्य सुमनोनगरी गृहीता

मन्ये विमाननिवहा अनयादसीयाः ॥ ७३ ॥

पुरि फतेपुरनगर्या वेदमन्त्रजा गृहगणा विभान्ति । किंभूताः । मणीना विविधरत्नानां मरीचीना कान्तीना सचारेण प्रमारेण चूर्णिताः खण्डश कृता तर्मानिमिगणा निशान्धकाराणा प्रसारा विस्तारा ये । तत्राहमेव मन्ये मानयामि जाने उन्प्रेक्षे वा । अनया नगर्या स्कृत्या स्वविभूषाविस्फूर्जितेन सुमनोनगरी अमरपुरी अमरावती विजित्य परिभूय अदसीया स्वःपुरीसवन्धिनो विमाननिवहा सुरयाननिकरा गृहीता इवादत्ता इव ॥

चित्ते विचिन्त्य भयमभ्रपथेऽभियाति-

स्वर्भाणुतो निजपरिच्छदमप्यशेषम् ।

आदाय यद्विविधरत्ननिकेतकायाः

सातं क्षिताविव वसन्ति मितांगुमूर्याः ॥ ७४ ॥

यन्नगर्या विविधानामनेकजातीयाना रत्नाना कंकननाडीना मणीना ये निकेता नैकोचितचञ्चुररचनासदभितभवनान्त एव कायाः शरीराणि येषां ते । सिताश्व श्वेतकान्तयश्वन्द्रा सूर्या आदित्या । उत्प्रेक्ष्यते—क्षितां पृथिव्या सात सुख यथा स्यात्तथा वसन्ति निर्विघ्न स्थितिं कुर्वन्ति । किं कृत्वा । अभ्रपथे मेघमार्गं गगने अभियाति प्रतिपन्थी यः स्वर्भाणुर्विबुधुद तस्मात्सकाशाच्चित्ते स्वमानमे भय निजग्रसनमाध्वम विचिन्त्य विमृश्य अपि पुनः अशेष समस्तमात्मपरिच्छद ग्रहनक्षत्रतारकादिपरीवारमादाय सार्वं गृहीत्वा ॥

उन्नालनीरजमिव श्रियमापदेक-

स्तम्भ निकेतनमकव्वरभूमिमानोः ।

वंश्या रवेरिव परेऽपि गृहा वहन्ते

शोभा मणीद्युतिविभासितदिग्विभागाः ॥ ७५ ॥

अकव्वरनामा भूमेर्विश्वभराया भानुर्भास्वास्तस्य एतावता राज्ञ एक एवावस्ताद्भागो स्तम्भ आधारस्थूणा यस्य तादृश निकेतनमेकस्तम्भभवनं श्रियः शोभामापदभूतं स्म । किमिव । उन्नाल नीरजमिव । यथा उत् ऊर्ध्वमुदुच्चं सलिलाद्बहिर्वर्ति जनलोचनगोचरं वा नाल मृणाल यस्य तादृक् नीरज कमल श्रियः शोभामाप्नोति । अपि पुनरकव्वरसाहे परेऽन्येऽपि गृहा सप्तभूमिकादयः प्रासादाः शोभा विभूषा वहन्ते । भामन्ते इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—रवेः सूर्यस्य वंश्याः सगोत्रा इव । एकस्मिन् वंशे भवा समुत्पन्ना वंश्या प्रोच्यन्ते एकवंशजा प्रायः सदृशा भवेयुरिति । अत एव मणीना भवनगर्भसदभाभूतानां नानाविवरत्नानां द्युतिभिर्ज्योतिर्भिर्विभासिता प्रकाशिता उद्द्योतिता दिशा दशानामप्याशानां विभागाः प्रदेशा यः ॥ इति नगरनृपगृहा ॥

छायापथे निरवलम्बतया वसन्ती
 संख्यातिपातिमखभुग्भरभारितेव ।
 पौरस्फुरत्पुरनिभादमरावतीयं
 भूमौ समं निजजनैर्यपतञ्जुटित्वा ॥ ७६ ॥

पौरैर्नागरैर्नगरवासिभिर्निखिलजनै स्फुरन्निर्भरभृत दृश्यमान विलसद्वा यत्पुर फते-
 पुराभिवनगरं तस्य निभात्कपटान्निजजनै स्वदेवीदेवलोके. समम् । उत्प्रेक्ष्यते—इय
 प्रत्यक्षलक्ष्या अमरावती पुरदरपुरीव त्रुटित्वावस्थानाद्भ्रमवाप्य न्यपतत् । अधो-
 भूषीठे निपतिता स्थिता चावाप्याधारम् । किंभूता । छायापथे छायारूपे न तु क्रमादि-
 मोचिते स्थाने तादृशे पथे मार्गे गगने निरवलम्बतया निराश्रयभावेन वसन्ती वास
 विदधती । तिष्ठन्तीत्यर्थः । पुनः किंभूता । संख्या गणनामतिपतन्ति अतिक्रामन्तीत्येव-
 शीला ये मखभुजो देवास्तेषां भरैर्वीववैर्भारः. गौरव सजातोऽस्या इति भारिता भार-
 युक्ता जाता नम्रीभूता । अत एव त्रुटित्वा पतिता इत्यर्थः ॥

स्मारावरोधनधियं विदुषां ददाना
 यस्मिन्स्मिताम्बुजदृशः श्रियमाश्रयन्ते ।
 गोष्ठी विधित्सव इवात्र चतुर्निकाय-
 देवाङ्गनाः कुतुकिता मिलिता मिथोऽमूः ॥ ७७ ॥

यस्मिन् फतेपुरे स्मिताम्बुजदृशः स्मेरारविन्दनयना श्रिय शोभामाश्रयन्ते बिभ्रते ।
 किं कुर्वाणाः । ददाना प्रयच्छन्त्यः । काम् । स्मरस्य मदनस्येदं स्मार तादृगवरो वनमन्तःपुर
 तस्य विय बुद्धिम् । केषाम् । विदुषा पण्डितानाम् । ‘स्मारावरोधभ्रममावहन्ती’ इति
 नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—अमू प्रत्यक्षा चतुर्णां भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कविमानवासिलक्ष-
 णानां निकायानां जातिविशेषाणां देवानामङ्गनाः स्त्रिय मिथः परस्परम् अत्र नगरे
 अमू जगजननयनविषया मिलिता इव । किंभूता । गोष्ठी विधित्सव अन्योन्य गोष्ठी
 स्वस्ववार्तां कर्तुं काङ्क्षन्त्यः । अत एव किंभूता । कुतुकिता कुतुक स्वपरस्परस्वान्तप्र-
 वृत्तिप्रविधाने कौतूहल हृदयोलासो जातमासामिति कुतुकिता ॥ इति नरनार्यः ॥

स्वर्गे सुरेश इव शेष इवाहिगेहे
 चन्द्रो दिवीव निधिनाथ इवालकायाम् ।
 प्रीणन्प्रजा दशदिशा विजयं विधाय

तस्यां पुरि क्षितिपतिः स्म करोति राज्यम् ॥ ७८ ॥

दशानामपि दिशा हरितामासमुद्रक्षितेर्विजयः स्वायत्तीकरणं विधाय कृत्वा प्रजा
 प्रकृती. समस्तलोकान् प्रीणन् सत्पुत्रान् कुर्वन् । स क्षितिपतिः जगत्प्रसिद्धिमानक-

व्वरपातिसाहि तस्या फतेपुरनाम्न्या पुरि नगया राज्य करोति स्म । समग्रनगरजनपद-
गजचक्रैश्वर्यं भुनक्ति स्म । क इव । सुरेश इव । यथा स्वर्गे देवलोके देवेन्द्रो राज्य पाल-
यति । पुन क इव । शेष इव । यथा अहिगंहे नागलोके शंपनागाधियो धरणेन्द्रो वा
राज्य कुरुते । पुन क इव । चन्द्र इव । यथा दिवि आकाशे निशापतिज्योतिषामश्वर्यं
कुरुते । पुन क इव । निधिनाथ इव । यथा अलकाया निरीना समन्तमहीमण्डलगतनि-
धानाना नाथ स्वामी धनद राज्य पालयति । इत्यकव्वरवामिनफतेपुरवर्णनम् ॥

गान्धर्विकाः कचन घोषवती वहन्तो

गायन्ति यत्र नवपञ्चमगर्भगीतिम् ।

प्रस्थापितास्तमुपवीणयितुं मघोना

स्वर्गायनाः स्वजयशङ्कितचेतसेव ॥ ७९ ॥

यत्राकव्वरसभाया कचन कुत्रापि प्रदेशे घोषवती वीणा वहन्त करे धारयन्त
गान्धर्विका गायनवरा इतरगायनजनगानेभ्योऽसाधारणोऽश्रुतपूर्वत्वान्नवीनः पञ्चम-
नामा रागो गमे मध्ये यस्यास्तादृशीं गीति गान गायन्ति गेयविषयीकुर्वन्ति । उत्प्रे-
क्ष्यते—स्वस्यात्मनो जये पराभवे अमो स्वर्गे समेत्य मा मा जयतादिति शङ्कित शङ्कायुक्त
जात चेतो यस्य तादृशेन मघोना शक्रेण त माहिं वीणया कृत्वा उप समीपे समेत्य गातु
गानगोचरीकर्तुं प्रस्थापिता प्रेषिता स्वर्गायना हाहाहृहृप्रमुखा देवगन्धर्वा इव ॥

यस्या महीमदनसंसदि नर्तकेषु

नृत्य मनोनयनवृत्तिहर सृजत्सु ।

सप्तस्वरैस्तदुदिताप्रमितप्रसत्ति-

सप्ताङ्गलक्ष्मिमुदितध्वनितैरिवासे ॥ ८० ॥

यस्या वर्णनागोचरीकर्तुमारब्धायामतिशायिरूपत्वान्महीमदनो भूर्नामनोभूरकव्वर-
पातिमाहिस्तस्य संसदि सभायाम् । 'निषववसुधामाना कस्य' इति नेपथे । नर्तकेषु नृत्य-
कारकेषु मनसा तथा नयनानामर्थाच्चतुरचित्तलोचनाना वृत्तेर्व्यापारस्य हरमपहारकम्
अनन्यवृत्तिविवायक नृत्य ताण्डव सृजत्सु कुर्वत्सु सत्सु । पट्ज-ऋषभ-गान्धार-म-
ध्यम-पञ्चम-वैवत-निषवनामभि सप्तभि स्वरेरासे । सप्तस्वराणा तानमानमूर्च्छना-
भिर्वभूवे इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—तस्मादकव्वरमाहेरुदिता प्रकटीभूता या अप्रमाणा
प्रमाणातीता असाधारणा प्रसत्ति प्रसन्नता यस्यास्तादृश्या । स्वामि-अमात्य-सुहृद्-
कोश-राष्ट्र-दुर्ग-सन्यलक्षणानि सप्तसख्याकान्यद्गानि अवयवा यस्यास्तद्विवाया
लक्ष्म्या राज्यश्रिया । समासमध्ये लक्ष्मिशब्दो ह्रस्वोऽपि दृश्यते । यथा—'चरणल-
क्ष्मिकरणग्रहणोत्मवे' इति ऋषभनम्रस्तवे । तथा—'लक्ष्मीर्लक्ष्मिहरे स्त्रियाम्' इति
शब्दप्रभेदेऽपि । मुदितध्वनितैरिव प्रमोदमेदुरमनस्त्वेन शब्दितैरिव ॥

कुत्रापि मौरजिकमण्डलवाद्यमान-

माद्यन्मृदङ्गनिनदाननुकर्तुकामः ।

जैनं पदं परिचरन्विगतावलम्बः

श्रेयोऽनुतिष्ठति धनः किमु कामवर्षी ॥ ८१ ॥

कुत्रापि साहिसभाया कस्मिंश्चित्प्रदेशे मुरजान्वादयन्तीति मौरजिका मृदङ्गवादका-
स्तेषां मण्डलेन सदोहेन वाद्यमानानां विविधतालै पाणिभिस्ताड्यमानाना तथा मा-
द्यतां भोजनदानलोभेन मदवतां गम्भीरनिजाभ्या मृदङ्गाना मर्दलाना निनदान्
शब्दाननुकर्तुं सदृशीभवितु कामोऽभिलाषो यस्य तादृक् धनो जलवर श्रेयः सुकृत
पुण्यमनुतिष्ठति करोतीव । किभूत । विगतो निर्यातोऽवलम्ब आश्रयः स्वजनादिवर्ग-
स्वामिनगराद्युपष्टम्भो यस्य । एतावता एकाकी गगनेस्थितत्वात् च निरावारः । पुन
किभूत । काममतिशयेन जनमनोभिलाष वा वर्षति प्रचुरपयोवृष्टिं कुरुते प्रददातीत्येव-
शील कामवर्षी । पुन किं कुर्वन् । जैन जिनोऽर्हन्नारायणश्च तत्सबन्धि पद चरण
परिचरन् सेवमान । अर्हच्चरण विष्णुपद च भजमान । आकाशे तिष्ठन्नित्यर्थः ॥

स्वर्गे न किञ्चिदपि दानमवाप्नुवद्भिः

प्राप्तैस्तदाप्नुमवनी धनदाद्धरेन्द्रात् ।

देवैर्न तुम्बुरुमुखैः कचन प्रवीणै-

वीणा अवादिषत कर्णसुधां किरन्त्यः ॥ ८२ ॥

कचन सभाया कुत्रचित्स्थाने प्रवीणैर्वाणावादनातिनिपुणैर्वैणिकैर्वीणावादकैर्वीणा
विपद्भ्योऽवादिषत वाद्यन्ते स्म । किं कुर्वन्त्यो वीणा । कर्णयो श्रोतृश्रवणयो सुवाम-
त्यन्ताह्लादकारित्वादमृत किरन्त्यो वर्षन्त्य । उत्प्रेक्ष्यते—तुम्बुरुर्नामा कश्चित्सुरगाय-
नविशेष स मुख आदियेषा तै । देवगायनैरित्यर्थः । नेत्युत्प्रेक्षार्थः । किभूतैर्देवै । अवनी
भूमी प्राप्तैरागतैरिव । किं कर्तुम् । अवन्या भूमेर्धनदादतिवदान्यतया वैश्रवणाद्धरे-
न्द्रादकब्बरात्सकाशादान मन समीहितवन आप्तमविगन्तुम् । तर्हि किम् । स्वर्गे दान
नास्ति । तदेवाह—किभूतैर्देवै । स्वर्गे देवलोके किञ्चिदपि स्तोकमात्रमपि दान विश्राणन
द्रविणादि । नेति निषेधे । नावाप्नुवद्भिः अलभमानैः । देवेन्द्रादीना दृढमुष्टितया वसु-
धाया वदान्यब्राह्मल्यादुपेतमिति ॥

एषैव पूस्त्रिजगतीजयिनी निवस्तु-

मौचित्यमावहति भो हरिता महेन्द्राः ।

कुत्रापि वेणुरिति वैणविकैः प्रणुन्नो

वस्तुं किमाह्वयति तानिह सान्द्रनादैः ॥ ८३ ॥

कुत्रापि साहिमभाया' कचन प्रदेशे वणविके वेणु वादयन्तीति वशवादकेरगन्ध-
र्वजनैः प्रणुन प्रेरित । वादिन इत्यर्थः । वेणुर्वश 'वामला इति प्रसिद्धः । गान्ध-
स्नेहलैः श्रवणहृदयप्रेमोन्मादकर्वहलनारन्त्रेणां नादिनिजनिनादं कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—
इति हेतोस्तान् हरिता महेन्द्रान् इह फतेपुरनाम्नि साहिनगरे वस्तु वाम विवस्तु
किमाह्वयति आकारयतीव । अन्योऽपि कश्चिज्जनः केनापि प्रेरित कश्चातिर्दिष्टनामा-
नमाकारयति । इति किम् । भो इति संबोधने । अहो हरिता महेन्द्रा दशानामपि
दिशामवीणा , त्रिजगतीजयिनी त्रिभुवननिम्बिलनगरीनिर्जयनशीला एवैव फतेपुरलज्जया
पू पुरी निवस्तु वस्तु निवाम विवानुमाचित्रमार्हन्तीयोग्यतामावहति दयातीति ॥

कुत्रापि केलिविहगा मगधा इवोर्वा-

भानोर्मुदा जयजयेदमुदीरयन्ति ।

शास्त्राम्बुधेरिव सुधालहरीर्हृदन्त-

स्थान्तोः कथाश्च कथकाः कथयावभूवु ॥ ८४ ॥

कुत्रापि सभायाः कस्मिन्नपि भूमिभागे केलिविहगा राजशुकसारिकप्रमुखपतत्रिण मुदा
इष्टफलावलीप्राप्तिप्रमुदितमनस्त्वेन उवाभानोरतिशायिप्रतापवत्त्वेन वसुधाविवस्वनः
अकञ्चरस्य जयजयेद हे माहे, त्वं चिर विगलितावधि जय जय सर्वोत्कपण वर्तस्व
सर्वोत्कपेण वर्तस्व इदमेतदुदीरयन्ति । 'तदर्थमव्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ता
पटवस्तमस्तुवन्' इति नैषवे । कथयन्ति । क इव । मगधा इव । यथा मागधा महलजय-
शब्दादिकथका जयजयशब्द राजो वदन्ति च पुनः कथका पुराणोदितव्याख्यानका-
रिण पुरातनकथाकथयितारो वा ब्राह्मणादयः पुरुषा कथा महापुरुषचरितानि कथया-
वभूवु । उत्प्रेक्ष्यते—हृदन्तर्हृदयमध्ये स्थान्तो स्थायुकस्य निवसतलीलस्य शास्त्राम्बुधे-
र्वाङ्मयममुद्रस्य सुधालहरीरमृततरङ्गानिव ॥

यस्यामवीज्यत विभुश्चमरैः सुरेन्द्रः

स्ववर्णिनीभिरिव वारविलासिनीभिः ।

रेजे पुनर्नृपतिमूर्ध्नि मितातपत्रं

राजत्वनिर्जित इवोपचरन्मृगाद्व ॥ ८५ ॥

यस्यामकञ्चरसभायाः विभुरकञ्चरपातिमाहि वारविलासिनीभिः बालव्यजनवीज-
नातपत्रवारणादिप्रकारं पार्थिवसेवाविवायिकभिः पण्यादनाजातिभिः वारनारदशेच-
नाभिः चमरैर्बालव्यजनैः कृत्वा । 'चतुरश्रामरोऽपि च' इति शब्दप्रभेदे । अवीज्यत
वीज्यते स्म । क इव । सुरेन्द्र इव । यथा वामवः स्ववर्णिनीभिरुर्वशीप्रमुखाभिरामरोभिः
दिव्यप्रकीर्णकैर्वाज्यते । पुनरपरोक्ता यस्याः समदि नृपतिमूर्ध्नि पातिमाहिमस्तके
मितातपत्रं सितातपवारणं रेजे भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—राजत्वेन राजभावेन निर्जित

सन्नुपचरन् सेवा कुर्वाणो मृगाङ्गः सुवादीवितिरिव । यो येन निर्जित्य निजसेवकीकृतः
स तस्यातपनिवारणादिना सनिवौ तिष्ठन्ननिश सेवा विधत्ते ॥

शृङ्गारिताः कचन मत्तमतङ्गजेन्द्रा

विन्ध्याञ्जनावनिभृतोरिव तुङ्गशृङ्गाः ।

वाजिब्रजाः कचन सन्ति परैरसह्य-

तेजोजितैः कजकरैरुपदीकृताः किम् ॥ ८६ ॥

यत्र सभाया कचन कुत्रचित्प्रदेशे शृङ्गारिताः सिन्दूरतैलादिभिः तथा चमरकाञ्चनर-
चितपट्टबन्धादिभिर्विभूषिताः मत्ता मदोद्धुरा सप्तसु स्थानकेषु द्वौ कपोलौ द्वे पार्श्वे द्वौ
शिर पिण्डौ मेढू च । अथ च कुत्राप्येव दृश्यते यथा—‘द्वौ गण्डौ लोचने द्वे च गुद
मेढू कर पुन । मदच्युतिर्भवेत्सप्तस्विति स्थानेषु हस्तिनाम् ॥’ इति । पश्चात्तद्रक्षिता रावा
तच्छास्त्रविदो विदन्तीति । एतेषु स्थानकेष्वविरलमदप्रवाहझरन्तोऽत्युत्कटा मतङ्गजेन्द्राः
गजराजाः सन्ति सजलजलधरगलगर्जित कुर्वन्तो विद्यन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—विन्ध्यो जल-
वालकाद्रिः, विन्ध्याचल अञ्जननामा च अवनिभृत्, तयोस्तुङ्गा गगनाङ्गणलिङ्गिनः शृङ्गा
शिखराणीव । शृङ्गः पुनपुसकलिङ्गे । कचन वाजिब्रजा शृङ्गारिता । अत्राप्येतद्विशेषणम् ।
सुवर्णखलीनपर्याणादिभिः शोभिता तुरङ्गमगणा सन्ति वितिष्ठन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—परै
सर्ववैरिवारैरसह्यानि सोढुमशक्यानि यानि तेजासि प्रबलप्रतापा तैः कृत्वा जितैः
परिभूतैः कजकरैः पद्मपाणिभिः । ‘मित्रो ध्वान्तारातिरब्जाशुहस्त’ इति हैम्याम् ।
भास्करी । सूर्याणां बाहुल्याद्बहुत्वम् । ‘द्वादशात्मा च हेलि’ इति हैम्याम् । उपदीकृता
दौकिता इव ॥

शौर्याजिगीषुमवगत्य निज मृगेन्द्रै

रेजेऽनुनेतुमिव यः प्रहितैर्मृगैः स्वैः ।

स्कन्धेन येन विजितैर्वनजैस्तुरङ्ग-

द्वेष्यैर्निषेवितुमिवोपगतैश्च यस्याम् ॥ ८७ ॥

च पुनर्यस्या सभाया कचन मृगैः कृष्णसारैर्हरिणैः रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—शौर्यात् शूर-
भावात् यः नृप निजमात्मानं जिगीषु जेतुमिच्छुमवगत्य ज्ञात्वा मृगेन्द्रैः सारङ्गराजैस्तम-
नुनेतुं प्रसादयितुं स्वानुकूलीकर्तुं स्वैरात्मीयसेवकैर्मृगेन्द्रत्वात्प्रहितैः सेवाकृते प्रेषितैः
सारङ्गैरिव । च पुनर्यस्या कचिद्रेजे । तुरङ्गद्वेष्यैर्वन्यैर्वनखण्डजन्मभिः । ‘रजस्वलो वाहरिपु’
इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—येनाकब्धरेण स्कन्धेन निजासस्थलेन कृत्वा विजितैः । अतः
एव तः नृप निषेवितुमुपासनागोचरं नेतुं वनजैर्वन्यैः कासरैरिवोपगतैः ॥

द्वीपाधिपत्वमिह नो वनवासभाजो

यद्वीपिनो मम निरर्थकमेव नाम ।

तत्तत्प्रभोः प्रदिश कल्पितकल्पशाग्वि-

न्द्वीपित्रजो भजति वक्तुमितीव भूपम् ॥ ८८ ॥

यस्या कचित्स्थाने द्वीपित्रजो व्याघ्रममृहो मृगं भजते । उप्रेक्ष्यते—इति वक्तुमिव कथयितुमिव । इति किम् । मम द्वीपीति नाम निरर्थकमिव वर्तते । द्वीपानि मन्यन्त्येति द्वीपी इदमभिधानं व्यर्थमेवान्ति । चत्कारणादिह जगति भूमण्डले वा मम द्वीपाविपन्वमेव नास्ति । मम किंभूतस्य । वनवासभाज । द्वीपाविपन्व तु दूरे तिष्ठतु, द्वीपनगरादिमध्ये स्थितिरपि नास्ति । इदं तु जम्बुद्वीपम् । तन्नामादिष्वपि स्थितेरभावः । गिरिगङ्गरे वासभाज स्थितिं कुर्वाणस्य । तत्तस्मान्कारणात् । हे कल्पिताना मनसोऽभिलषिताना पूरणे कल्पशाखिन् स्वस्तरो हे प्रभो हे माहे, तन्ममन्व द्वीपाविपन्व प्रदिश देहि । इति विज्ञप्तुमिव ॥

प्राचीपतिं विबुधराजबलारिघाति-

जिष्णुं सहस्रनयनं शतकोटिपाणिम् ।

दृष्ट्वा भ्रमादिव हरेः स्वपतेरुपेता

स्वमुभ्रुवो व्यभुरिहामितवारवध्वः ॥ ८९ ॥

इह सभायाममिता प्राणातीतान्ताम्बूलजलवालव्यजनादिवाहिन्यो वारवध्वो वारविलामिन्यो व्यभुः शुशुभिरे । उप्रेक्ष्यते—स्वमुभ्रुवोऽप्सरसः उपेता आगता । कस्मात् स्वस्यात्मनः पत्युर्भर्तुर्हरेरिन्द्रस्य भ्रमाच्चान्त्या । किं कृत्वा । दृष्ट्वा । अर्थाच्च नृपम् । किंभूतम् । प्राचीपतिं पूर्वदिक्स्वामिनम् । गुर्जरदेशापेक्षया फतेपुरस्य पूर्वदिग्वर्तित्वान् । पुनः किंभूतम् । विबुधानां पण्डितानां राजानमधीश्वरम् । सर्वशास्त्रकलापारगामित्वान् । पुनः किंभूतम् । बलेन कलिता वलिष्ठा ये अरयो वेरिणस्तेषां घातिनः हननशीलम् । पुनः किंभूतम् । जिष्णुं जयनशीलम् । सर्वत्राप्यप्रतिहतत्वात् । पुनः किंभूतम् । सहस्रनयनः सहस्राक्षम् । पुनः किंभूतम् । शतशः कोटयः स्वर्णादीनां शतसहस्रलक्षाः पाणौ यस्य प्रबलकोशकलितम् । इन्द्राथः पूर्वापतिः देवराजः बलनामदैत्यस्य रिपोर्घातिनः नाम्ना जिष्णुः सहस्रनयनः वज्रहस्तः च ॥

ऊर्ध्वदमा कचन मौलिविलासिहस्ता

श्रीकण्ठमित्रमिव शीलति राजराजि ।

शैला इवैतदभिभूतमहीपतीना

मुक्तामणीवमुगणाद्युपदा स्फुरन्ति ॥ ९० ॥

कचन क्वापि सभायां राज्ञा महामहीन्द्राणां राजि श्रेणी शीलति । अर्थात्मभापतित्वान् । यः नृपः भजते । किंभूता । ऊर्ध्वदमा ऊर्ध्वाभूता । प्रायोऽकव्वरमाहिसमाजे मवेऽपि जनाः सामन्नादयः ऊर्ध्वामूयेऽपि मतिष्ठन्ते इति लेखितं । पुनः किंभूता । मौला

मस्तके विलसनशीलो स्थायुकौ हस्तो यस्या । कमिव । श्रीकण्ठमित्रमिव । यथा वेश्रवण
यक्षेश्वरत्वात् राजा यक्षाणा राजिवोरणी शीलति । ‘यक्ष पुण्यजनो राजा’ इति
हैम्याम् । पुन कचन एतेनाकब्बरसाहिना अभिभूताना स्वसेवकीभूताना महीपतीना
राजा मुक्ता मौक्तिकानि, मणयो रत्नानि । अबुना ‘जवाहर’ इति प्रसिद्धा । वसूनि
स्वर्णरूप्यधनानि, तेषा गणा आदौ यासा तादृश्य उपदा प्राभृतानि ढौकनकानि
‘भिटणा’ इति प्रसिद्धा स्फुरन्ति । क इव । शैला इव । यथा अत्युच्चा शैला वीक्ष्यन्ते ।
यथा अतिबहव्योऽभ्रलिहाश्चोपदा दृश्यन्ते ॥

शीलन्ति यं कचन संसदि लोकपालाः

शच्या इव प्रियतम च चतुर्दिगीशाः ।

साङ्गा इव कचन वीररसाश्च वीरा

सेनान्यमेव चतुरङ्गचमूरनूनाः ॥ ९१ ॥

च पुन संसदि सभाया कचन प्रदेशे चतसृणा प्राची-अवाची प्रतीर्चा-उदीची-
लक्षणाना दिशा हरितामीशा. स्वामिनो लोकपाला राजानो यमकब्बर शीलन्ति ।
कमिव । यथा शच्या इन्द्राण्या प्रियतम प्राणनाथ पुरदर सोमयमवरुणवैश्रवणाभि-
वानाश्चतुर्दिङ्नायका लोकपाला शीलन्ति । च पुन कचन कापि वीरा सुभटा शी-
लन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—साङ्गा सशरीरा वीरनामान पञ्चमा रसा इव । पुन अनूना
सुदृढतनुत्रनिशितशस्त्रादिद्विचत्वारिंशदुपगणकलिता चत्वारि गजवाजिरथपदाति-
लक्षणानि अङ्गान्यवयवा यस्यास्तादृशी चमू शीलति । कमिव । सेनान्यमिव । अत्र
एव इवाये । यथा चक्रवर्त्यादिसेनापति चतुरङ्गिणी सेना सेवते । अथवा । सेनान्य
स्वामिकार्तिक चतु स्कन्वा सुरसेना सेवते । देवै स्कन्दमेव सेनानीत्वेऽभिषिच्य तारको
निहत । एतद्विस्तर परसमये ॥

आकाशवत्कविबुधश्रियमादधाना

नीरेशितार इव जिण्णुरमाभिरामा ।

श्रीदा इव प्रदधतोऽत्र वदान्यभाव

सभ्या विभान्ति धिषणा इव वागधीशाः ॥ ९२ ॥

अत्राकब्बरसभाया सभाया साधव सभ्या सभासद राजसभोपवेशार विभान्ति
शोभन्ते । किभूता । कवितया काव्यकर्तृत्वेन । यदुक्त स्वर्गवापहारिणा केनचिद्विदुषा—
‘वयमपि कवय कवय कवय कवयश्च सिद्धसेनाद्या । यद्यपि डलयोरैक्य तत्कि कल-
भीयते करम ॥’ इति । तथा बुधतया पाण्डित्येन श्रिय शोभामा सामस्त्येन सर्वकला-
वेत्तृत्वेन दवाना सभाया विभूषा कुर्वाणा वा । किवत् । आकाशवत् । यथा आकाशाः
कवीना शुक्राना बुधाना रोहिणीनन्दनाना च श्रिय लक्ष्मीमा सामस्त्येन विभ्राणा कुर्वाणा

वा सन्ति । सूर्याणां द्वादशत्वेन बाहुल्याद्दशणामपि बाहुल्यम् । सूर्याणां ग्रहपतिन्वान् । पुन किंभूता । जिष्णुत्वेन सुभटनया शायण जयनशीलनया रमा लक्ष्मी तया अभिरामा गजाश्वग्रामादिवहुविभूतिभ्राजिन । 'जिते च लभ्यते लक्ष्मी' इति वचनान् । शत्रु जैत्राणां सुभटानां हि प्रायः स्वामिनो ग्रामान्ददते इति रीतिः । के इव । नीरेशितार इव । 'वानदीश सरस्वान् इति हर्म्याम् । वारिपतिर्नदीपतिश्चेति सयोगाद्वा । यथा समुद्रा जिष्णुरमाभ्या कृष्णतन्पत्नाभ्या कृत्वा मनोज्ञा । समुद्रगार्था कृष्ण । लक्ष्म्यास्तजायात्वेन सान्निध्यम् । पुन किंभूता । वदान्यभाव दानशोण्डतां प्रकपेण दधतो बिभ्रत । के इव । श्रीदा इव । यथा वनदा दानशीलत्वं दधते । पुन किंभूता । वागधीशा । प्रगल्भवारिवलासा । 'वागीशो वाक्पता' इति हर्म्याम् । क इव । विपणा इव । यथा सुराचार्या । 'विपण फाल्गुर्नाभव । गीर्वृहल्यो पति' इति हर्म्याम् । वाचामवीशा भवन्ति ॥

स्वस्त्रैर्जैत्रमणिकल्पितशिल्पचञ्च-

त्पाञ्चालिकापहतलोचनचित्तवृत्तिः ।

पूर्वापराम्बुनिधिसीममर्हीमर्धोनो

या ससदाप सुषमा बलभित्मभेव ॥ ९३ ॥

पूर्वापराम्बुनिधी प्राच्यप्रतीच्यसमुद्रो सीमा अवमान मर्यादा यस्यास्तादृश्या मया भूमेर्मर्धोनो वासवस्य समत् सभा सुषमा सातिशायिशोभा प्राप लेभे । केव बलभित्सभेव । यथा बलनामान दानवेन्द्र भिनन्ति हन्तीति बलभित्पुरदरस्तस्य सभा पर्यन्त सुवर्मानात्री सुषमामाप्नोति । किंभूता । स्व स्वर्गस्य स्त्रीणां समूह स्त्रेण सुराङ्गनागणस्तस्य जैत्रीभिर्जयनशीलाभि मणिभिर्विविधरत्नैः कल्पित रचित शिल्प विज्ञान तेन चञ्चन्तीभिः शोभमानाभि । अथ वा मणिभिर्निर्मित विज्ञान यामा तथा चञ्चन्तीभिः पाञ्चालिकाभि पुत्रिकाभिरपहता स्वायत्तीकृता स्वासु एकताना विहिता लोचनानामर्याद्विलोककान्तानयनाना मनसा चेतसा च वृत्तिव्यापारो यथा सा ॥ इत्यकञ्चरसभावर्णनम् ॥

गोष्ठीं सृजन्क्षितिसिताशुर्शेषशस्त्रा-

धीतीव तत्सदसि कोविदमेदुरायाम् ।

वर्म विशिष्य परिचेतुमना इति स

सामाजिकाननुयुनक्ति कदाचिदेष ॥ ९४ ॥

एषोऽकञ्चर क्षितिसिताशुर्वरणीरोहिणीरमण कदाचित् कस्मिंश्चित्समये विशिष्य विशेषप्रकारेण कृत्वा वर्म मोक्षसाधक माग परिचेतु परिचितिगोचरीकर्तु मनोऽन्तकरणं यम्य स । तस्या पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाया सदसि सभाया सामाजिकान्

सभ्यानित्यमुना प्रकारेणानुयुनक्ति स्म । पप्रच्छेत्यर्थः । किंभूतायां सदसि । को-
विदैर्निरवयविद्याविदुरविशारदवृन्दैर्मेदुराया पुष्टाया भृतायाम् । मण्डितायामित्यर्थः ।
क्षितिसिताशु किं कुर्वन् । गोष्ठी विनोदवार्ता सृजन्निर्ममाणः । क इव । अशेषशास्त्रा-
धीतीव । यथा अशेषेषु समस्तेषु शास्त्रेषु व्याकरणसाहित्यप्रमाणच्छन्दोवेदज्योति-
रलकारनीतिचाणक्यादिषु वाङ्मयेषु अवीतमध्ययनमस्यास्तीत्यवीती सर्वशास्त्राध्येता
गोष्ठीं सृजति ॥

किं पप्रच्छ तदेवाह—

भास्वानिव प्रकटयत्यनवद्यमार्गं

प्राणान्निजानिव पिपर्ति समग्रसत्त्वान् ।

धत्ते स्पृहामिह न सिद्धमिव कचिद्यो-

ऽनुक्रोशशालिपदवीमिव योजनौघः ॥ ९५ ॥

विश्वासुमत्सु समद्वक्परमेशितेव

सङ्गं कुसङ्गमिव शान्तमना जहाति ।

यः पोतवत्तरति तारयते पराश्व

संसृत्युदन्वति स कश्चिदिहास्ति साधुः ॥ ९६ ॥ (युग्मम्)

इह ममाज्ञावर्तिनि महामण्डले सर्वदर्शनेषु वा स प्रसिद्धिमान् साधुर्महात्मा कश्चि-
त्कोऽपि अस्ति वर्तते । यत्तदोर्नित्यसबन्वात् स क । यो महात्मा भास्वान् मार्तण्ड
इवानवय निष्पाप मार्गं पन्थानं प्रकटयति प्रकाशयति । तथा यो निजानात्मीयान्प्रा-
णान् असूनिव समग्रान् सर्वान् सत्त्वान् प्राणिनः पिपर्तिं पालयति । तथा यः सिद्धो
मुक्तात्मेव इह विश्वे पुत्रकलत्रधनादिससाराभिषङ्गे वा क्वचित्कुत्रापि पदार्थे स्पृहा
वाञ्छा न धत्ते दधाति सृजति वा । पुनर्योजनानां चतुःकोशीमानानां मार्गप्रमाण-
विशेषाणामोघं समूहं इव अनुक्रोशेन दयया । ‘कृपानुकम्पानुक्रोशः’ इति हैम्याम् ।
अनुगतैः परस्परं सबद्धैः क्रोशैर्गव्यूतिभिः शालते शोभते इत्येवशीला पदवीं मार्गम् ।
चारः पन्थानः च धत्ते । तथा यः परमेशितेव परमेश्वर इव विश्वेषां त्रयाणां भुवनानां
समस्तेषु वा असुमत्सु जन्तुषु समा समभावाः स्वपरव्यवसायरहिता एकस्वभावैव दृक्
दृष्टिर्यस्य । तथा यः शान्तमुपशमशालि मित्रामित्रेषु समतया समपरिणामतया प्रव-
र्तमानः वा मनः स्वान्तः यस्य तादृक् सन् कुसङ्गः कुकुत्सितः पाप्मभिर्व्यसनिभिः पि-
शुनैर्वा सङ्गः सगममिव । सङ्गः प्रमुदाप्रमुखसबन्धः वनभोगविलासादिकः सगमः वा ज-
हाति स्वयं त्यजति । च पुनः ससृतिः ससारः स एवागाधोऽपरचक्षुरलक्ष्यतलः उद-
न्वानपारः समुद्रः तस्मिन् पोतवद्यानपात्र इव स्वयं तरति परपारं प्रयासं विनैव सुखेन
प्रयाति, पराश्वं तारयते परं पारं लम्भयते ॥

वाचं सुधामिव निपीय ततः समुद्र-

नेमीतमीवरयितु. श्रवणाञ्जलिभ्याम् ।

सामाजिकै. स जगदे द्विजचन्द्रिकाभि.

संवर्धितस्फुरदुरःस्थलतारहारैः ॥ ९७ ॥

ततः साहिप्रश्नानन्तरं सामाजिकैः पार्ष्वे स साहिर्जगदे भाषितः प्रत्युत्तरं प्रदी-
यते स्म । किंभूत । निजवदनपद्मविराजिद्विजानां दशनानां चन्द्रिकाभिः कान्तिभिः ।
दन्ताधिकारे चन्द्रिकाशब्देन कान्तिरेवोच्यते । यथा रघौ—‘दशनचन्द्रिकया व्यवभा-
सितम्’ इति । संवर्धिता सम्यक्प्रकारेण वृद्धिं नीता स्फुरन्तो दीप्यमाना उरस्थले
वक्षस्थाने स्थितास्तारा उज्ज्वलास्तारकसदृक्षा वा हारा मुक्ताकलापा ये । किं कृत्वा ।
श्रवणे कर्णावेवाञ्जलो यो जिनपाणि एकोऽञ्जलिः ताभ्यां द्वाभ्यां कृत्वा समुद्रनेम्या
क्षणे तमीवरयितुं शर्वरीवरस्याकब्बरपातिसाहे पूर्वप्ररूपितप्रश्नलक्षणां वाणीं नि-
पीय सादरं श्रवणविषयीकृत्य । कामिव । सुवामिव । कश्चिद्भाग्यवान् पुमान् सद्गुरु-
प्रदत्तमन्त्राराधनविधिना पूर्वप्रेम्णा वा प्राचीनाचीर्णातिशायिपुण्येन वा प्रसन्नीभूत-
सुधाभुजा प्रदत्तं पीयूषमञ्जलिभ्यां पिवति ॥

अस्माभिरीशितरदृश्यत दर्शनेषु

सर्वेषु शेखर इवाखिलधार्मिकाणाम् ।

एकः स हीरविजयाभिधसूरिराजः

क्षमापालपङ्क्तिषु भवानिव भूमिपीठे ॥ ९८ ॥

हे ईष्टे सर्वत्र पृथिवीपीठे विजयविधानादौ समर्थीभवतीति ईशिता तस्य सबो-
धनम् हे ईशित स्वामिन्, अस्माभिः श्रीमत्सदस्यै भूमिपीठे निखिलमेदिनीमण्डले
सर्वेषु समस्तेषु जैनबौद्धशैवसाख्यवैशेषिकनास्तिकलक्षणेषु षट्सु दर्शनेषु शासनेषु । अथ
वा भाट्टप्राभाकरजेमनीयादिषु षड्दर्शनानां शाखाप्रशाखाभूतेष्वपि । सोऽसाधारणग-
णितानणुगुणगणैर्जगत्रये विख्यातः एको न द्वितीयो यस्याद्वितीयः हीरविजय इत्यभिधा-
नाम यस्य तादृशं सूरिष्वाचार्येषु त्रिशत्प्रतिरूपादिषु त्रिशद्गुणैः राजते दीप्यते
इति राजा एतावता श्रीहीरविजयसूरिपुरुहूतोऽदृश्यत दर्शनगोचरीचक्रे नापरः । क-
इव । भवानिव । यथा निखिलानां मुद्गलानां प्रतिष्ठानानां ‘पठाण’ इति प्रसिद्धानां वि-
विधजातितुरुष्काणां राजपुत्राणां क्षमापालानां पृथिवीपतीनां पङ्क्तिषु मण्डलीषु भवान्
साहीनामपि साहिर्दृश्यते । उत्प्रेक्ष्यते—अखिलानामिदानीतनयुगजन्मना समस्तानां
धार्मिकाणां धर्मकर्तृणां शेखरोऽवतस इव मुकुटो वा ॥

अथ हीरविजयसूरिगुणवर्णनप्रारम्भ —

अध्याप्य देवगुरुणा स्वविनेयवर्गे

स्वख्यातये प्रतिभुवं प्रहितैरिवैतैः ।

सभ्यैर्गुणान्कवयितुं कतिचित्तदीया

न्प्रारभ्यते स्म वसुधाधिपतेः पुरस्तात् ॥ ९९ ॥

सभाया साधुभिः सभ्यैः सभास्तारैः वसुधाधिपतेर्भूमण्डलाखण्डलस्य पुरस्तादग्रे तदीयान् हीरविजयसूरिसबन्धिनः कतिचित्सर्वात्मना कथयितुमशक्यतया कियत्सख्या-
कान् गुणान्कवयितुं स्तोतुम् । 'ईदृशं कवयति कवते' इति क्रियाकलापे । प्रारभ्यते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—देवगुरुणा सुराचार्येण बृहस्पतिना अध्याप्य पाठयित्वा स्वयं सर्वशास्त्रक-
लापारगामिनो विधाय स्वख्यातये सर्वावनीवलये निजप्रसिद्धिविहितये भुवः प्रति भूमी-
मण्डले प्रहितैः प्रस्थापितैः स्वविनेयवर्गेर्निजान्तेवासिवृन्दैरिव ॥

एतस्य दृष्टिरजनिष्ट विभो सदृक्षा

भिक्षाचरेऽमृतभुजामपि सार्वभौमे ।

भक्तेऽप्यभक्तिकृति वार्षिकवारिदस्य

वृष्टिर्यथेक्षुविपिने कनकद्रुमे च ॥ १०० ॥

हे विभो स्वामिन्, एतस्य हीरविजयसूरेर्दृष्टिर्दृक् भिक्षया ग्रासमात्रेण चरति वृत्तिमा-
जीविका विदधातीति भिक्षाचरो भिक्षुकः । दरिद्र इत्यर्थः । तस्मिन्तथा अमृतभुजा
सुधाशनानां देवानां सार्वभौमे चक्रवर्तिनि पुरदरे च सदृशा निर्विशेषा सदृशी अजनिष्ट
सजाता । पुनर्भक्ते स्वसेवासक्ते भक्तिनिर्भरान्तःकरणतया शनाशुकादिदायके वा
तथा अभक्तिकृति अवज्ञाकारिणि अनिष्टविधायिनि वा पुंसि तुल्यैव अस्य सूरेर्दृष्टिरज-
निष्टः । यथा वर्षासु भवो वार्षिक वर्षाकालसबन्धिनो वारिदस्य बहुलसलिलाखण्डद्वारा-
वर्षिणो मेघस्य वृष्टिर्वर्षणमिक्षूणा रसालानां 'सेलडी गूदगरी' इति प्रसिद्धानां विपिने
वने । क्षेत्रे इत्यर्थः । तथा कनकतरौ वत्तूरकवृक्षे च सदृशैव सजायते ॥

संध्याभ्रविभ्रममिवाध्रुवभावभाज-

मुद्रावयन्भवमभङ्गुरतां च सिद्धेः ।

आवेदयत्यसुमतः कुलयातयामो

वंश्यानिवायतिहितं स हिताहितार्थम् ॥ १०१ ॥

स हीरविजयसूरिरसुमतः सकलभविकजन्तून् प्रति हितानिहपरलोकेष्टान् । तथा
अहितान् द्वयोरपि लोकयोरनिष्टविधायिनोऽर्थान् भावान्पदार्थान्वा आवेदयते कथयति ।
क इव । कुलयातयाम इव । यथा गोत्रवृद्धः पुमान् वंश्यान्निजपुत्रपौत्रादिकान् प्रति

हिताहितार्थानावेदयते शुभाशुभान् भावान् कथयति हितमहित च वक्ति । सूरिः किं कुर्वन् । सध्याभ्राणा संध्याकालसजातविविधनीलपीतरक्तादिरागकलिताभ्रकाणा दिवसावसानपितृ(सू)प्रभवद्विविधरागाणा विभ्रम विलासमिव । अध्रुवभावभाजमशाश्वतपरिणामजुष भव ससारमुद्भावयन् प्रकटीकुर्वन् । च पुन किं कुर्वन् । सिद्धेर्महानन्दन-गर्वा अभङ्गुरतामनश्चरत्व शाश्वतसुखानुपङ्किता प्रकटयन् प्रकाशयन् । अर्थाजनाना पुरस्तात् । अत एव सूरिर्यातयामश्च किलक्षण । आयतावुत्तरकाले इहपरलोकादौ सासारिकसर्वव्यवहारादौ च हित शुभचिन्तक पथ्यवक्ता च ॥

यस्मिन्गतावधि वसन्ति परे निमग्ना

मीनव्रजा इव जना वृजिनावगूढाः ।

तस्माद्भवाम्बुनिधितः स पृथग्बभूव

पङ्कान्तराद्धनरसादिव पुण्डरीकम् ॥ १०२ ॥

स सूरिस्तस्मादवाङ्मनसगोचरीभूतपूर्वपारादनन्तानन्तपुद्गलपरावर्तिनिवर्तननृत्तसूत्र-धारात्ससारो देवाणावापारत्वेनाम्बुनिधि समुद्रस्तस्मात्सकाशात् पृथक् बभूव भिन्नो जात । ससार निरस्य मोक्षमार्गे सयमे तस्थिवानित्यर्थ । किभूतात्तस्मात् । पङ्क पापमन्तरे मध्ये यस्य । केवलपापमयादित्यर्थ । 'अह कलङ्कमघ पङ्क' इति हैम्याम् । किमिव । पुण्डरीकमिव । यथा सिताम्भोज पुण्डरीक पङ्क कर्दमोऽन्तरे मध्ये तले यस्य तादृशात् धनरसात्सलिलात्पृथक् भवति । स क । यस्मिन् भवाम्बुनिधौ ससारसमुद्रे वृजिनै पापकर्मभिरवगूढा आश्लिष्टा व्याप्ता पापभरभारिता सन्त परे इतरे बहुल-ससारिणो जना लोका विगतो विशेषेण यातोऽवधि सीमावसान यत्रेति क्रियाविशेषणम् । अनन्तानन्तसमयमित्यर्थ । लीनास्तल्लीनमानसा वसन्ति सतिष्ठन्ते । क इव । मीनव्रजा इव । यथा मत्स्या समुद्रे निमग्ना एव तिष्ठन्ति ॥

संत्रस्यदेणरमणीदृगपाङ्गरङ्गो-

त्सङ्गप्रणर्तितकटाक्षपरम्पराभिः ।

चेतस्यविश्यत मुमुक्षुमणेर्न तस्या-

लोकस्य मध्य इव चण्डरुचीरुचीभिः ॥ १०३ ॥

तस्य हीरविजयस्य मुमुक्षुमणे श्रमणमाणिक्यस्य चेतसि चित्ते संत्रस्यन्तीना लुब्धकादीनामाकस्मिकभयाकुलतया पलायमानानामेणरमणीना सारङ्गाङ्गनाना दृगिव चटुल-लोचनमिव दृक् दृष्टिर्यासा तासाम् । चपलविलोचनाना स्त्रीणामित्यर्थ । दृशा नयनानामपाङ्गयोर्नेत्रप्रान्तयोरेव रङ्गयोर्नर्तनस्थानकयोरुत्सङ्गे क्रोडे प्रणर्तिताभिस्ताण्डव कारिताभिः कटाक्षाणामक्षिविकूणिताना परम्पराभिर्वोरणीभिर्नाविश्यत न प्रविष्टम् । काभिरिव । चण्डरो(रु)चीरुचीभिरिव । यथा तीव्रकिरणस्य भास्करस्य रुचिभिः कान्तिभिः ।

रुचीशब्दो दीर्घङ्कारान्तोऽप्यस्ति । यथा नैषधे—‘वरुणग्रहिणीमाशामासादयन्तममु
रुचीनिचयमिव’ इति । ‘नो चेत्ता चण्डरोचीरुचिरुचिरुची’ इति जिनशतकेऽपि ।
अलोकस्य जीवाजीवादीनामनाधारक्षेत्रस्य मध्ये विचालेन प्रविश्यते । अलोकेषु सूर्या-
दीना न प्रकाश । परशासनेऽपि दृश्यते । यथा रघुवशे—‘सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा
प्रजालोपनिमीलित । प्रकाशश्चान्वकारश्च लोकालोक इवाचल ॥’ ‘चक्रवालाचलाद-
र्वाक् प्रकाश परतश्चाप्रकाश’ इति तद्वृत्तौ । ‘लोकालोकश्चक्रवाल’ इति हैम्याम् ॥

संसृत्यसारसरणीभ्रमणीभवेन

विश्वत्रयीजनिमतां नयता विमोहम् ।

सङ्गेन यद्यतिपतेः पुरतः प्रणेशे

नागेन नागदमनीत इवोद्धतेन ॥ १०४ ॥

यस्य यतिपतेर्निर्ग्रन्थनाथस्य पुरतोऽग्रे सङ्गेन स्वजनपरिजनाभिष्वङ्गेन प्रणेशे प्रण-
ष्टम् । ससारविरक्तत्वात्तस्य कुत्रापि प्रतिबन्धो नास्तीत्यर्थः । किंभूतेन । ससृति
ससरणमनन्तभवाटवी पर्यटन ससारः तद्रूपा विविधनरकतिर्यगादिदुःखपरम्परादायि-
त्वादसारा निःकृष्टा सरणिर्मार्गस्तत्र भ्रमण्या पर्यटने भ्रमणेन कृत्वा भवेनोत्पन्नेन । सासा-
रिककुटुम्बसबन्धसजातेनेत्यर्थः । अत एव किं कुर्वता । विश्वत्रय्याल्लोक्यस्य जनिमता
सुरासुरनराणां विमोह मौढ्य नयता प्रापयता । केनेव नेशे । नागेनेव । यथा उत्कटेन
मदेन कोपेन वोढुरेण भुजगमेन नागानां सर्पाणां दमनी शक्तिमवनी औषधिविशेष-
स्तस्मात्प्रणश्यते ॥

संक्रान्तशक्रबलिधामधरापदार्थ-

सार्थे जिनागमकषोल्लिखितान्तराले ।

सक्रान्तिरापि न कदापि हृदात्मदर्शे

सूरीश्वरस्य किमनङ्गतयाङ्गजेन ॥ १०५ ॥

सूरीश्वरस्य हृत् हृदयमेवातिस्वच्छत्वादात्मदर्शो दर्पणस्तत्र अङ्गजेन कदर्पेण कमन
कलाकेलि । ‘अनन्यजोऽङ्गज’ इति हैम्याम् । कदापि कस्मिन्नपि काले स्वापजाग्रद-
वस्थातारुण्यतरुणीदर्शनादिसमयेऽपि सक्रान्ति सक्रमण प्रतिबिम्ब प्रवेश च नापि न
प्रापे । यस्य मनसि कस्मिन्नपि प्रस्तावे स्मरोद्रेको नासीदित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—अनङ्ग-
तया अशरीरत्वेनेव सक्रामण तु देहस्यैव स्यात्तस्य तु स एव नास्ति तस्मात्कुत सक्रा-
न्तिरिति । किंभूते हृदात्मदर्शे । सक्रान्ता प्रतिबिम्बिता शक्रस्येन्द्रस्य बलेर्बलिनाम्नो
दानवेन्द्रविशेषस्य वाम्नोर्मन्दिरयोः स्वर्गपातालयोः । तथा धराया निखिलमहीमण्डलस्य
च पदार्थानां घटपटस्तम्भकुम्भदानवदानवारिमानवाद्यनेकवस्तूनां सार्थां समूहा यत्र ।
प्रतिबिम्ब च निर्मले वस्तुनि स्यात् । अत एव पुन किंभूते हृदात्मदर्शे । जिनागमो

जैनसिद्धान्तः स एव कषः शाणाग्र तेनोल्लिखितमुत्तेजित देदीप्यमान निर्मितमन्तरालं
मध्य यस्य ॥

नीत्वा बहिर्निजमनःसदनान्निहन्य-

मानं विभाव्य विभुना स्वमरातिभावात् ।

नश्यन्निवान्यजनहृत्परमाणुमध्ये

रागो विवेश विवशाशयतादधानः ॥ १०६ ॥

रागोऽनुरागः सासारिकः स्नेहः । उत्प्रेक्ष्यते—नश्यन्पलायमानः सन् अन्येषा
सूरिव्यतिरिक्तानामितरेषा जनाना हृत् हृदयमेव परम उत्कृष्टो योऽणु सर्वलघुरति-
सूक्ष्मस्थान तस्य मध्ये विचाले विवेश प्रविष्टवान् । नैयायिकाना मते हि मनस
परमाणुत्वमुच्यते । यथा नैषधे—‘यत्पथावविरणु परम सा योगिवीरपि न पश्यति
साक्षात् । बालया निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम् ॥’ इति । किभूत । विवश
व्याकुलमाशयमुभिप्राय मनो वा आ सामस्त्येन सर्वप्रकारेण दयानो विभ्राण । तदेव
व्याकुलत्वमाह—किं कृत्वा । निजस्यात्मनो मनश्चित्तमेव सदन वाससौव तस्माद्वहिर्वा-
ह्यप्रदेशभूमौ नीत्वा नि सार्य कर्षयित्वा । निष्कास्येत्यर्थः । अरातिभावात्प्रतिभव
दु खदायकत्वेन वैरित्वाद्विभुना सूरिणा निहन्यमान मार्यमाण स्वमात्मान विभाव्य दृष्ट्वा
विज्ञाय वा ॥

एतेन दुर्गतिरशोष्यत भूपमुख्य

ग्रीष्मोष्मणेव* विगलज्जलपङ्कपङ्क्ति ।

उल्लङ्घ्यते स्म भवपद्धतिरप्यनेन

पाथोजिनीप्रियतमेन यथाभ्रवीथी ॥ १०७ ॥

हे भूपमुख्य सकलराजचक्रचक्रवर्तिन्, एतेन सूरिणा दुर्गतिः सम्यङ्द्वियमयमसयमारा-
वनतो दुष्टा अनन्तदु खदायका नरकतिर्यग्लक्षणा कुगतिरशोष्यत निषिद्धा निष्ठापिता
स्वत । केनेव । ग्रीष्मोष्मणेव यथा निदाघदाघेन विगलन्ति तापातिरेकान्निर्यान्ति विशुष्य
गच्छन्ति जलानि पानीयानि यस्यास्तादृशी पङ्काना जम्बालाना पङ्क्ति श्रेणी शोष्यते ।
अपि पुनरनेन गुरुणा भवपद्धति भाविनि भूतोपचारात्ससारमार्ग उल्लङ्घ्यते स्म अति-
क्रान्तः । केनेव । पाथोजिनीप्रियतमेनेव । यथा पद्मिनीप्राणनाथेन सूयेण अभ्रवीथी
गगनपदवी मेघमाला वा उल्लङ्घ्यते ॥

वाचयमावनिभृतः शमनामसाम-

योनिप्रतीपकलिताङ्गमनोगुहायाम् ।

खालम्भभीलुक इवोत्कटकोपकुम्भी

कर्तुं प्रवेशमपि नो प्रभविष्णुरासीत् ॥ १०८ ॥

हे सकलराजचक्रचूडामणे, वाच वाणी यमयन्ति सावयव्यवहारे प्रवर्तमाना निय-
न्त्रयन्तीति वाचयमा चागुप्तिधारका । वाक्कथनेन मन कायगुप्ती समेते । मध्यग्रहणेन
आद्यन्तयोर्ग्रहण कार्यम् । 'तुलादण्डस्येव' इति न्यायेन । तथा 'ढक्कायसमारम्भे' इत्यत्र स-
मारम्भ इति मध्यमपदग्रहणेन सरम्भारम्भयोराद्यन्तयोः पदयोर्ग्रहणम् । 'तुलादण्डन्या-
येन' इति श्रीरत्नशेखरसूरिपादाः श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्तौ प्रोचुः । तेषां सगुप्तित्रयवारिणां
साधूना तेषु वावनिभृत्पार्थिव पर्वतश्च तस्य शम प्रशान्तरस स एव नामाभि-
धान यस्य तादृशा । सामवेदाद्योनिरुत्पत्तिर्यस्य । श्रूयते च—'नारायणनाभ्यम्भोरुहकु-
हरकुटीरमधिशयानस्य वेदविद्यानिगदतो भगवतः पितामहस्य बृहद्रथान्तरविकीर्णाभा-
सनामानि गायत सामश्लोकरसनिष्पन्दादुदपद्यन्त ऐरावतसुप्रतीकप्रभृतयोऽष्टौ दिग्ग-
जेन्द्रास्तेभ्योऽभवन् भद्रमन्दमृगमिश्रजातयो गिरिचरनदीचरोभयचारिण । प्रसिद्ध
चैतत् सामजा गजा' इति चम्पूकथायाम् । तस्य तेषां वा प्रतीप शत्रु केसरी तेन
कलितोऽङ्ग उत्सङ्गो यस्यास्तादृशीम् । मनः चित्तमेव गुहा कदरा तस्यामुत्कटो मदोद्धत
कोपः क्रोध एव कुम्भी हस्ती प्रवेशमपि कर्तुं प्रभविष्णु समर्थो नासीत् न बभूव ।
उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मन आलम्भो व्यापादन तत्र भीलुको बिभ्यदिव ॥

विश्राणयत्यसुमता क्षितिकान्त बोधि-

बीजं निधिं जनयितेव निजाङ्गजानाम् ।

सिद्धः स्वसिद्धिमिव भक्तिमता विनीता-

न्तेवासिनामिव गुरुः परमात्मविद्याम् ॥ १०९ ॥

हे क्षितेर्भूमामिन्या कान्त वल्लभ, असुमता भव्यजन्तूना बोधिवीजं सम्यक्त्व
विश्राणयति ददाति । क इव । जनयितेव । यथा पिता निजाङ्गजानां स्वनन्दनानां
निधिं निधानं दत्ते प्रयच्छति । पुनः क इव । सिद्ध इव । यथा विद्यासिद्धिभृद्भक्तिमता
स्वसेवासक्तानां स्वस्यात्मनः सिद्धिं मन्त्रादिसामर्थ्यं दत्ते । पुनः क इव । गुरुरिव । यथा
सम्यग्दर्शोपदेष्टा विनीतानां विनयकलितानां स्वादेशवशवदानामन्तेवासिनां शिष्याणां
परमात्मविद्यामध्यात्माम्नायं वितरति ॥

मानोपमानममुना गमितः क्षितीन्दो

जेतुं पुनः प्रतिहतस्तमरातिमिच्छन् ।

साहाय्यकं किमु चिकारयिषुः स्वकीयं

नक्तंदिनं वितनुते जगतामुपास्तिम् ॥ ११० ॥

हे क्षितीन्दो वसुधासुधाशो, मानोऽभिमानो गर्व अपमानमर्थात्तेन सूरिणैवावगणना
गमित प्रापित सन् पुनर्व्याधुव्य प्रतिघात्कोपात्त सूरिमेवात्मारार्तिं स्ववैरिण जेतु-
मभिभवितुमिच्छन् वाञ्छन् सन् जगता त्रिभुवनजनानामुपास्ति सेवा वितनुते विद-
धाति । कथम् । नक्तदिन रात्रिदिवा । उत्प्रेक्ष्यते—स्वकीयमात्मीय साहाय्यक साहाय्य
चिकारयिषु कारयितुमिच्छुरिव ॥

विद्वेषिणीयमिति येन निहन्यमाना

शिश्नाय शबरमसौ दितिजं प्रणश्य ।

स्थातुं न तत्र विभुरेतदुदीतभीतेः

प्रत्यङ्गिनं त्रिभुवने भ्रमतीव माया ॥ १११ ॥

इयमस्माक प्रतिभव विद्वेषिणी वैरिणी महाहानिविधायिनी इति कृत्वा निहन्यमाना
मार्यमाणा सती असौ प्रायः ससारवर्तिसर्वजनहृदयसदत्वेन जगत्प्रतीता माया शठता
दम्भचर्या । कपटवर्तिरित्यर्थः । प्रणश्य कथंचित्प्राप्त्या प्रपलाय्य शबर शबरनामान दितिर्दा-
नवमाता तस्या जायते स्मेति दितिजस्त शिश्नाय श्रिता । एतस्मात्सूरेरुदीतायाः प्रादु-
र्भूताया भीतेर्भयात् तत्रापि शबरसमीपेऽपि स्मरेण घातित्वात्स्थातु स्थितिं कर्तुं न
विभुरसमर्था सती । उत्प्रेक्ष्यते—निर्विघ्नस्थानाभावात्त्रिभुवने त्रैलोक्येऽपि प्रत्यङ्गिन ज-
न्तून् जन्तून् प्रति माया भ्रमति पर्यटतीव ॥

संतोषतोयनिधिमध्य इवास्य मग्नो

दग्धः किमुद्धतसितप्रणिधानवह्नौ ।

जग्धोऽथ वा चरणकेसरिणा करीव

लोभः प्रभोरिति न चेत्किमनक्षिलक्ष्यः ॥ ११२ ॥

हे प्रभो स्वामिन्, सूरेर्लोभः । उत्प्रेक्ष्यते—संतोष धृति निर्लोभता स एव तोय-
निधि समुद्रस्तस्य मध्ये गर्भे जलान्तराले मग्नो ब्रूडित इव । अथ वा उत्प्रेक्ष्यते—
उद्धत प्रज्वलन् सितप्रणिधानमेव शुक्लध्यानमेव वह्निर्ज्वालाजिह्व तत्र तन्मध्ये दग्धो
भस्मीभूत इव । अथ वा करीव हस्तीव चरण चारित्र तदेव केसरी पञ्चाननस्तेन
जग्धो भक्षित कुक्षिगतीकृत इव । इति चेन्न तर्हि किं कथमनक्षिलक्ष्यः न लोचन-
गोचर कदाचिदपि लोभो न दृश्यत इत्यर्थः ॥

तृष्णां महीतलमहेन्द्र विभुर्विरत्या

यो वागुरामिव कृपाणिकया न्यकृन्तत् ।

दुःखान्यलम्भिषत मुग्धजनैर्निपत्य

यस्या मृगैरिव भवं विपिनं भ्रमद्भिः ॥ ११३ ॥

हे महीतलमहेन्द्र हे भूमीमण्डलाखण्डल, यो विभुर्हीरविजयसूरि तृष्णा नानाभिलाषस्वरूपा स्पृहा विरत्या निखिलाभिलाषविरमणरूपनियमेन कृत्वा न्यकृन्तत् चिच्छेद । कामिव । वागुरामिव । यथा कश्चित्सकलजन्तुजातकृपापरः पुमान् वागुरा मृगजालिका कृपाणिकया क्षुरिकया कर्तर्या वा कृन्तति छिनत्ति । यस्या तृष्णाया वागुराया भवससारं विपिनमरण्य च भ्रमद्भिर्मृगैर्हरिणैरिव मुग्धजनैरज्ञानिलोकैर्निपत्य तदधीनीभूय पतित्वा दुःखानि अनेकप्रकारासातपरम्परा अलम्भिषत प्राप्तानि ॥

विश्वत्रयीश इव निःशरणात्मभाजा-

मास्ते महीमिहिर यः शरणं शरण्यः ।

मैत्र्यं विभर्ति जगता न कदाप्यमित्र-

भावं स भानुरिव नश्यदशेषदोषः ॥ ११४ ॥

हे महीमिहिर भूमीभानो, विश्वत्रयीश. त्रैलोक्यनायकः परमेश्वर इव यः सूरिर्निर्गत शरणमाधारो यस्य तादृशमात्मान भजतीति तेषामशरणानां शरण गतिरास्ते । किंभूत । शरण्य शरणागतवत्सलः । पुनः स भानुरिव भास्वानिव जगता विश्वलोकेन साकं मैत्र्य मित्रता सखिभाव विभर्ति, पर कदापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे अमित्रभाव वैरिताशय न विधत्ते । किंभूत । नश्यन्त पलायमाना अशेषाः समस्ता दोषा अपगुणा यस्मात् । सूर्यस्तु सर्वदापि मित्र इत्यभिधानत्वं पर नामित्राख्यताम् । सोऽपि किंभूत । नश्यन्तोऽशेषा सर्वा अपि श्वेता कृष्णाश्च दोषा रात्रयो यस्मात् ॥

संमोहसंतमससंततिसान्द्रितेषु

मानावनीधरतटीस्थपुटीकृतेषु ।

संसारवर्त्मसु विमोहवता शिवस्या-

ख्याता पथः स जगतामिव वर्त्मवेदी ॥ ११५ ॥

हे स्वामिन् अखिलजलधिमेखलापीठप्रभो, संसारवर्त्मसु भवगहनमार्गेषु विमोहवता मिथ्यात्वाज्ञानादिना मूढभावभाजा दिङ्मूढीभूतानां जगता तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति न्यायेन जगज्जनानां शिवस्य मोक्षस्य पथो मार्गस्याख्याता कथयिता ते । किंभूत । संमोहो महाज्ञानम् । 'संमोहधूलीहरणे समीरम्' इति संसारदावस्तुतौ । स एव सतमसानि प्रसृमरान्धकाराणि तेषां सतत्या परम्परया सान्द्रितेषु नीरन्ध्रीकृतेषु । पुनः किंभूतः । मानोऽहकारः स एवावनीधर पर्वतस्तस्य तटीभिः प्रपातस्थानकैः स्थपुटीकृतेषु विषमेषु विहितेषु । क इव । वर्त्मवेदीव यथा सदसन्मार्गवेत्ता पुमान् पथिषु विमोहवता मार्गामार्गदिगपदिकशुद्धिविरहितानां पथिकलोकानां शिवस्य निरुपद्रवरूपस्य मार्गस्याख्याता वक्ता भवेत् । महापर्वतादिगह्वरैरन्वकारैर्बहलीभूतेषु विषमेषु च ॥

अर्थात्क्षमाधरपदं कचिदप्रवृत्तं

यस्यात्मनस्तु गिरिभूपतिभिर्विभक्तम् ।

ज्ञात्वा तदाप्नुमिव शीलति शार्ङ्गपाणि

पर्यङ्कमूर्तिधरकुण्डलिचक्रवर्ती ॥ ११६ ॥

पर्यङ्कस्य पल्यङ्कस्य मूर्ति शरीर धरतीति विभर्तीति तादृश कुण्डलिनां भोगिनां चक्रवर्ती सार्वभौमः शेषनागेन्द्र शार्ङ्गपाणि केशव शीलति सेवते । 'शेषशय्याशायी कृष्ण' इति श्रुतिः । उत्प्रेक्ष्यते—तत्सूरे स चासौ हीरविजयनामा सूरिराचार्यश्च तस्य क्षमाधरपदम् आप्तु लब्धुमिव । किं कृत्वा । यस्य सूरैरर्थात्परमार्थवृत्त्या क्षमाधरपदमद्वै-
तभावेन कचिदन्यत्र पुरुषादावप्रवृत्तं कुत्रचित्कदाचित्केनापि न प्राप्तम् । तु पुनः आत्मनः स्वस्य शेषनागस्य तु क्षमाधरपदं गिरिभिः कुलशैलादिशिलोच्चैः तथा भूपतिभिर्भूपालैः विभक्तं विभागीकृतम् । गिरयो भूपालाश्च क्षमाधरा शेषनागोऽपि क्षमाधर इति न किमपि । शेषः । सूरिसदृशस्त्वन्यः कोऽपि त्रैलोक्येऽपि क्षमाधरो नास्ति । क्षमा क्षान्ति क्षितिश्च विज्ञाय ज्ञात्वा ॥

गम्भीरभावं दधता जिनं च हृदा विगीतः प्रभुणा पयोधिः ।

पादारविन्दे किममुष्य लक्ष्मलक्षादुपास्त्यै स्थितवानुपेत्य ॥ ११७ ॥

पयोधिः समुद्रः अमुष्य सूरैरुपास्त्यै सेवायै । उत्प्रेक्ष्यते—लक्ष्मण आकृतिरूपला-
ञ्छनस्य लक्षात्कपटादुपेत्यागत्य समीपे समेत्य पादारविन्दे सूरिचरणकमले किं स्थित-
वास्तस्याविव । किंभूतेन । प्रभुणा सूरिन्द्रेण गम्भीरभावः गाम्भीर्यं तथा च पुनर्जिनम-
हन्तम् । चन्द्रसूर्यादीनां राजधानीषु प्रासादसद्भावात्तत्र चत्वारः ऋषभ-चन्द्रानन-वारि-
षेण-वर्धमान-नामानः शाश्वतजिनाः सन्ति । जिनजातिवाचित्वादेकवचनम् । तथा
लोकप्रवादेन कृष्णः समुद्रशायित्वादाशार्हः । 'पुरुषोत्तमोऽब्धिशयनोपेन्द्रावज्रेन्द्रानुजः'
इति हैम्याम् । तं दधता । अथ सूरिस्तु जिनशासनादारत्वाजैनत्वाच्च जिनः वीतरागः
विभ्रता । केन । हृदा हृदयेनान्तःकरणेन मध्येन च ॥

धरेश येनाधरितो महिम्ना सुजातरूपेण च धीरताभिः ।

महीधरो मन्युभुजामुदीतव्रीडाज्जडीभावमिवावभारः ॥ ११८ ॥

हे धरेश पृथिवीपते, येन सूरिणा महिम्ना स्वमाहात्म्येन निजगौरवेण, तथा सुष्ठु शो-
भनं यजातं प्रकटीभूतं रूपं सौन्दर्यातिशयं शोभनेन स्वर्णेन च, तथा धीरताभिः परी-
षदादिभिर्निष्प्रकम्पताभिः अनन्यसामान्यवैर्यैर्वा अधरितः हीनीकृतस्तिरस्कृतः सन्
मन्युभुजा यज्ञाशाम्यवहारिणां सुराणां शैलः पर्वतो मेरुरुदीतः प्रादुर्भूतो यो व्रीडो
लज्जा तस्मात् । 'उदीतमातङ्कितवानशङ्कतः' इति नैषधे । तथा 'व्रीडायाः च भवेद्व्रीडो

लज्जामात्रेऽप्यपत्रपा' इति शब्दप्रभेदे । व्रीडशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । 'स्मरव्रीडसमस्य यानया' इति नैषधे । जडीबभूव मूढ । विचेत इति यावत् । जात ॥

बाह्यं हन्ति तमो द्विधापि स नृणामस्तंगमी नास्तवा-

न्विश्वस्यैव विबोधकृत्स जगतां कृत्स्नपृणन्कौशिकम् ।

गृह्णन्सर्वरसानसौ नवरसांश्चिन्वञ्जनास्तापय-

ञ्छान्तानेष सृजन्प्रभो तदुपमां धत्ते क भास्वांस्ततः ॥ ११९ ॥

हे प्रभो स्वामिन्, ततस्तस्मात्कारणात् भानुः सूर्यस्तदुपमा सूरिसाम्यं ककुत्र लभते । अपि तु न कुत्रापि । यतो हेतोः सूर्यो बाह्य चक्षुर्गोचर लोकगत तमोऽन्धकार हन्ति । पुनः सूरिर्द्विधापि बाह्य तमोऽज्ञान मौर्ख्यं तथा बाह्य पापमपि व्यापादयति । तथा भानु अस्त नाश गच्छतीत्येवशीलो गमी । सूरिस्तु न विद्यतेऽस्त क्षयोऽभ्युदयभ्रशो वा यस्येति नास्तवान् । सर्वदोदयीत्यर्थः । पुनः किभूतः । विश्वस्यैकस्यैव भूलोकस्य विबोधकृज्जागरकारकः उद्द्योतकर्ता वा सूरिस्तु जगता त्रयाणां भुवनानां प्रतिबोधविधाता । भास्वान्कि कुर्वन् । कौशिकमुलूकलोक कृत्स्नं पीडयन् वासरे तस्यान्धीभवनात् । गुरुस्तु कौशिक पुरदरं पृणन् अतिशायिसयमगुणैः कृत्वा प्रीतिमुत्पादयन् । पुनः किभूतः भानुमान् । सर्वानशेषान् रसान् भूमण्डलगतपानीयानि गृह्णन्नाददान । 'ग्रीष्मे सहस्ररश्मिः भूतलगतरुर्वारसानादत्ते' इति श्रुतिः । मुनीन्द्रस्तु सरसव्याख्यानविधानावसरे नवान् नवीनान्नवसख्याकान् शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानकबीभत्साद्भुतशान्ताभिधानान् रसाश्चिन्वन् पुष्टान्कुर्वन् । प्रायश्चरितानुवादिषु सर्वेऽपि रसा समायान्ति न तथा सिद्धान्तव्याख्यानादिषु । पुनर्मार्तण्डः किं कुर्वन् । जनाल्लोकास्तापयन् स्वकीयात्युष्णकिरणैस्तापसतापभाजः सृजन् । भवपरम्परापरिचितीकृतदुरन्तदुरितोदीतदुःसहदुःखदावानलज्वालाप्रतप्तानेकभविकल्लोकान् ध्वसितापरसिद्धान्तवैरुद्ध्यजैनराद्धान्तसबन्धिवन्बुरस्त्वव्याख्यानप्रागल्भ्यप्रगुणानुपयोधरामृतवाराधोरणीभिः शान्तान्निस्तापाञ्छीतलान् शान्तरसयुक्तान् वा कुर्वाणः ॥

यद्वाग्वित्सया धात्रादत्ता वीक्ष्याम्बुधिः सुधाम् ।

खेदादिवोर्मितुमुलैः पतितो रटति क्षितौ ॥ १२० ॥

अम्बुधि क्षीरसमुद्रोऽर्थोल्लभ्यते उर्मीणां चतुर्दिग्गमनप्रवृत्तकल्लोलकलापानां तुमुलैर्व्याकुलशब्दकोलाहलैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—क्षितौ भूपीठे पतितः सन् रटति रोदितीव्रपूत्कुरुते इव । किं कृत्वा । यद्वाचा वाचयमचन्द्रमसा वाणीनां वित्सया विधातुमिच्छया करणस्पृहया धात्रा जगत्सृजा ब्रह्मणा आदत्ता गृहीता सुधा स्वामृतं वीक्ष्य । धनिकदोहनावसरे प्रेमातिरेका स्वतर्णकपानकृते गोरगवां वा दुग्धमिव हरिणा मन्थानगमन्थानकमथनसमये तस्मात्कथञ्चिच्चोरित्वा रक्षितं पीयूषं प्राप्तं प्रेक्ष्य ॥

न कदाचन गोचरा मनावस्म भजन्ते प्रभविष्णुतां प्रभौ ।

दशना इव दन्तिना महीभृति वा भानुमतीव तामसाः ॥ १२१ ॥

हे साहे, प्रभौ सूरिन्द्रे सकलसामर्थ्यवति वा यत्र कदाचन कस्मिन्नपि तारुण्यादिस-
मये गोचरा शब्दरूपगन्धरसस्पर्शाख्या पञ्चापि विषया प्रभविष्णुता सामर्थ्यं न
भजन्ते स्म । त न प्राभवन्नित्यर्थः । क इव । दशना इव । यथा दन्तिना गजेन्द्राणां
दन्तकोशा महीभृति पर्वते न प्रभवन्ति । वा पुनस्तामसा इव । यथा तामसास्तमसा
समूहा घूका वा भानुमति सहस्रकिरणे न प्रभवन्ति ॥

सुधाधामदुग्धाब्धिकर्पूरपारीकुमुत्कुन्दशुभ्रैर्यशोभिर्यतीन्दोः ।

कुट्टकोटिसंटीकमानायशोभिः पुनर्विश्वमीशप्रयागी(गा)यते स्म ॥ १२२ ॥

हे ईष्टे सकलभूमण्डलैश्वर्यवान् भवतीति ईशस्तस्य सवोधन हे ईश्वर, यतीन्दो
सूरे सुधाधामामृतकिरणश्चन्द्रः, तथा दुग्धाब्धि क्षीरसमुद्र, तथा कर्पूराणा घनसा-
राणा पार्य शकलानि 'फडसि' इति प्रसिद्धा समूहा वा कुमुदानि कैरवाणि
कुन्दानि मुचकुन्दकुसुमानि तद्वत् शुभ्रैरुज्ज्वलैर्यशोभि कीर्तिभि । पुन कुट्टशां
कुपाक्षिकाणा कोटे संटीकमानै प्रसरद्भिरयशोभिर्मपीश्यामानकीर्तिभि कृत्वा विश्व-
मिदं जगत् प्रयागी(गा)यते स्म गङ्गायमुनासयोगवदाचरति स्म । सूरियशास्यत्युज्ज्व-
लानि गङ्गाप्रवाहा, कुट्टशामपयशासि श्यामानि कालिन्दीकलुषजलानि, तेषा सद्गो नि-
खिलेऽपि लोकेऽतो विश्वमेव प्रयागी(गा)यति(ते) प्रयाग तु एकत्रास्ते ॥

राजन्यस्य गुणान्गलन्मिति सुधास्पन्दान्निपीयादरा-

न्मद्भोज्या अपि मय्यनादरपरा भोगीश्वरा भाविनः ।

मां तातानुगृहाण तेन सुधयात्यभ्यर्थितः साग्रहं

तानश्रावयितुं किमम्बुरुहभूरेतान्विकर्णान्व्यधात् ॥ १२३ ॥

हे राजन्, अम्बुरुहभूर्ब्रह्मा तान् सूरिगुणान् अश्रावयितुं न श्रवणगोचरीकारयितुम् ।
उत्प्रेक्ष्यते—एतान् भोगीन्द्रान् विकर्णान्कर्णरहितान् व्यधात् कृतवानिव । 'अश्रोत्रा-
फणिनस्तदेव रुचिर नो चेदहिस्वामिना' इति खण्डप्रशस्तौ । किभूतो वेधा । तेन
कारणेन हे तात वात, मामनुगृहाण मय्यनुग्रहं कुरु इत्यमुना प्रकारेण सुधया कको-
लाख्येन पीयूषेन साग्रहं सोपरोधमभ्यर्थितो याचित । यत्तदो सबन्वायेन कारणेन
गलन्ती निर्यान्ती मितिर्मान येषु । अप्रमाणानित्यर्थः । तादृशान् सुधास्पन्दानमृतर-
सान् यस्य गुरोर्गुणान् निपीय सादर श्रुत्वा अहमेव भोज्य भोजन येषां ते मद्भोज्या
अपि भोगीश्वरा सवेऽपि नागेन्द्रा मयि सुधाया विषये न विद्यते आदर आदृतिः
पुरोऽग्रे येषाम् । अथ वा आदरे तत्परता येषां ते अनादरपरा अस्वीकारपरायणा
इत्यर्थः । भाविनो भविष्यन्ति । इत्ययं हेतुः ॥

सुरशिखरिणस्तुङ्गे शृङ्गे ध्वनिग्रहपारणां

त्रिदशसुदृशां गायन्तीनां गुणाञ्श्रमणेशितुः ।

रसिकमनसौ श्यामारामावराम्बरकेतनौ

किमयत इतो गीति श्रोतुं तमीदिवसात्यये ॥ १२४ ॥

श्यामा शर्वरी सैव रामा वनिता तस्या वरो भर्ता । 'यामिनीकामिनीपति' इति काव्यकल्पलतायाम् । चन्द्र, तथा अम्बरकेतन सूर्य । 'गगनध्वजाध्वगा' इति हैम्याम् । यथा गगनध्वजस्तथा पर्यायपरिवर्तनादम्बरकेतन । 'द्वयेऽपि भूभृदाद्येषु' इति हैमी-वचनात् । इति तौ तमी रात्रिर्दिवसो वासरस्तयोरत्यये विरामे क्षये वा । प्रभाते सध्याया चेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—त्रिदशसुदृशा सुराङ्गनाना गीति गुणग्रामगान श्रोतु श्रवणविषयीकर्तुं किमयत गच्छत इव । त्रिदशसुदृशा किं कुर्वन्तीनाम् । सुरशिखरिणः सुपर्वपर्वतस्य तुङ्गे गगनालिङ्गिनि शृङ्गे शिखरे गायन्तीना गानगोचरीकुर्वन्तीनाम् । कान् । श्रमणेशितु सूरिराजस्य गुणान् । किंभूता गीतिम् । ध्वनिग्रहपारणा रसिका-यितमानसमनुजाना श्रवणानाम् । 'श्रुतौ श्रव । शब्दाधिष्ठानपैजुषमहानादध्वनिग्रहा ॥ कर्ण श्रोत्र श्रवण च' इति हैम्याम् । पारणाम् । यथा उपोषिताना षड्रससरसीकृतरसव-तीवल्लने पारणा तदास्वादे चातितृप्ति स्यात् तथा सूरिगुणगीतिश्रवणेन कर्णाना तृप्ति स्यात् । अत एव श्रुतिपारणा गीति श्रोतु प्रयात कुत इतोऽस्मात्स्थानान्मेरो समीपे शिखरसन्निधाने । किंभूतौ । स्वादरसिकमनसौ सरसगानाकर्णने रसकलिते उत्सुकतायुक्ते चेतसौ ययोस्तौ ॥

धन्यास्ते नृपते फलेग्रहि पुनस्तेषामभूज्जीवितं

तैः प्रापे स्वजनुःफलं प्रथमतो गण्याश्च पुण्यात्मनाम् ।

यैर्लावण्यसुधा न्यपीयततमामाकण्ठमुत्कण्ठितैः

सूरैः स्मेरमुखाम्बुजन्मनि शरच्चन्द्रे चकोरैरिव ॥ १२५ ॥

हे नृपते हे नरनाथ, जगति ते पुरुषा वन्या कृतपुण्या पुण्यवन्त । पुनस्तेषां पुरुषाणां जीवितं प्राणितव्यं फलेग्रहि सफलमभूत्सजातम् । पुनस्तैरेव मानवैः स्वज-नुष निजावरस्य फलं सार्थकभावं प्रापे लब्धम् । च पुनस्ते मानुषा पुण्यात्मना पवित्रात्मनाम् । सुकृतवतामित्यर्थः । मध्ये प्रथमत आदितो गण्या पुण्यवन्तो जनास्ता-नादौ सस्थाप्य गणनीया सख्यागोचरीकर्तव्या । ते के । यैरुत्कण्ठा औत्सुक्यं जाता येषां ते उत्कण्ठितास्तैरुत्कण्ठितैः सद्भिः सूरैर्हीरविजययतिराजस्य स्मेरविकसितयन्मु-खाम्बुजतस्मिन्विषये लावण्यसौन्दर्यमेव सुधाम् आकण्ठकण्ठमर्यादीकृत्य नितराम-तिशयेनापीयततमामापीता आस्वादिता । कैरिव । चकोरैरिव । यथा शरच्चन्द्रे जलधर-विरामसमयोदयमानसुधाकिरणे ज्योत्स्नाप्रियैः पीयूषं पीयते ॥

ताडङ्का इव कर्णपूरपदवीमालम्बमाना पुन-

विभ्राणा हृदये श्रियं त्रिजगतां मुक्ताकलापा इव ।

हर्षादुद्धुषिता वयं स्मृतिवशाद्येषा प्रियाणामिव

क्षोणीभूषण भूषणैरिव गुणैस्तैर्भूष्यते स प्रभुः ॥ १२६ ॥

हे क्षोणीभूषण मेदिनीमण्डलमण्डन, भूषणैर्मणीस्वर्णाभरणैरिव तैर्जगजनविख्यातै-
र्गुणै कृत्वा स प्रभु भूष्यते अलक्रियते । ते के । ये गुणास्ताडङ्का कुण्डला इव ।
कुण्डलशब्द पुनपुसकलिङ्गे । 'कमल मल तु शलशालकुण्डलाः' इति लिङ्गानुशासने ।
कर्णौ श्रवणौ पूरयन्तीति, कणौ श्रवसी पूर्ये पूर्येते चैर्वा, तेषा पदवीं पदमालम्बमाना
आश्रयन्तः सन्तीत्यध्याहार । पुनर्ये गुणा मुक्ताकलापा इव मौक्तिकहारा इव त्रि-
जगता त्रिभुवनजनाना हृदये मनसि वक्षसि च श्रिय शोभा विभ्राणा सन्ति । पुन-
र्येषा प्रियाणामिष्टानामिव स्मृतिवशात्स्मरणयोगाद्वय श्रीमत्सभ्या अपि हर्षाच्चेत प्रस-
न्नताया वशात्प्रमोदाद्वा उद्धुषिता गोमाञ्चिता स्म ॥

पण्डा चित्रशिखण्डिना तनुजवच्चेत्स्यादसाधारणी

यस्यास्ये भुजगप्रभोरिव भवेज्जिह्वासहस्रं पुनः ।

यस्याप्यस्खलिता सुरेश्वरसरिद्वीचीव वाक्चातुरी

संस्तोतुं प्रभवेन्न सोऽपि सुगुरोर्यावद्गुणान्भूमणे ॥ १२७ ॥

हे भूमणे क्षोणीमाणिक्य, सोऽपि पुमान् सुगुरोर्हीरसूरैर्यावत् समस्तान् । 'याव-
जनरञ्जनव्रती' इति नैषधे । 'समस्तलोकरागोत्पादने व्रतमस्यास्ति' इति तट्टतौ । गुणान्
संस्तोतु सम्यक्तया सर्वप्रकारेण वर्णयितु न प्रभवेन्न समर्थो भवेत् । स क । यस्य पुस
चित्रशिखण्डिना सप्तर्षीणाम् । 'सप्तर्षयश्चित्रशिखण्डिनः' इति हैम्याम् । तनुजवन्नन्दस्येव
बृहस्पतेरिव । 'विचित्रवाक्चित्रशिखण्डिनन्दनः' इति नैषधे । पण्डा तच्चानुगामिनी
मतिश्चेद्यदि असाधारणी विश्वे कस्यापि सदृशी न सर्वेभ्यो वाग्देवतावाचस्पतिप्रमुखम-
खभुग्दानवमानवेभ्योऽभ्यविका । 'साधारणी गिरमुषर्बुवनैषवाभ्याम्' इति नैषधे ।
'साधारणात्स्वार्थे भो विकल्पो ङीपोऽपि विकल्पोक्तिः । साधारणी साधारणा' इति
प्रक्रियाकौमुद्याम् । अपि पुनर्भुजगप्रभोर्नागराजस्येव यस्यास्ये यदीयवदने जिह्वाना
रसनाना सहस्रे द्विसहस्री वा इत्यर्याल्लभ्यते । भवेत् । अपि पुन सुरेश्वरसरितो
गगनगङ्गाया । 'सिद्धस्व स्वर्गिरवापगाः' इति हैम्याम् । यथा सुरापगा तथा सुरेश्व-
रापगापि । तथा 'सुरेश्वरतटिनीतीरस्थसिद्धाङ्गना' इति भोजप्रबन्वेऽपि । वीचीव
जातावेकवचनम् । कल्लोलमालिकेवेत्यर्थः । यस्य वाक्चातुरी वचनविलासः कुत्रापि
वर्णनादौ अस्खलिता अकुण्ठा क्वापि न स्खलति ॥

दृशो गोचरो न श्रुतेः प्राघुणश्च प्रणीतः परः कश्चिदस्माभिरीदृक् ।

विधात्रा विधायैनमारोपि विद्वो ध्वजोऽधीश सत्सर्गसौधाग्रशृङ्गे ॥ १२८ ॥

हे अवीश हे नायक, अस्माभि स्वपरानेकदेशे दृश्वभिः श्रीमत्सभास्तारैरीदृगद्वै-
तगुणमणीगणरोहणवरणीधर. परोऽन्य कश्चित्कोऽपि दृशो लोचनस्य गोचरो विषय.
चक्षुर्लक्ष्य तथा श्रुते प्राघुण. कर्णस्याप्यतिथिर्न प्रणीत । न दृष्टो नापि श्रुत इत्यर्थ ।
अत्र वयमेव विद्व —विधात्रा वेवसा सतामुत्तमाना सर्ग सृष्टिनिर्माण स एव सौध
मन्दिर तस्याग्रशृङ्गमुपरितनशिखर तत्र ध्वज केतुरारोपित । किं कृत्वा । एन सूरि
विधाय निर्माय ॥ इति हीरविजयसूरिगुणवर्णनम् ॥

अवनिरजनिजानिः प्रेमरोमाञ्चिताङ्गो

निगदितमिति तेषां कर्णपेयं प्रणीय ।

रणरणकितचेता जायते स्म व्रतीन्दोः

ऋतुभुज इव सिद्धेर्दायिनो दर्शनाय ॥ १२९ ॥

अवनि क्षोणी तस्या । रजनी रात्रिर्जाया यस्य । 'जायाया निङ् यलो-
पश्च' इति । रजनिजानिश्चन्द्र अकब्बरपातिसाहि व्रतीन्दो सूरेश्वरस्य दर्शनाय अव-
लोकनार्थं रणरणक औत्सुक्य जात यस्मिस्तद्रणरणकित चेतो मनो यस्य तादृशो
जायते स्म बभूव । किंभूत । प्रेम्णा स्नेहेन रोमाञ्चेन पुलकेन च युक्तमङ्ग यस्य ।
कस्येव । ऋतुभुज इव । यथा कश्चित्सिद्धेरभिलषितस्य दायिनो दानशीलस्य दर्शनार्थ-
मुत्कण्ठमना भवेत् । किं कृत्वा । इति पूर्वोक्तप्रकारेण तेषां सभ्यानां निगदित भाषित
सूरीस्तुतिरूप वचः'कर्णयो पेय पातु योग्य श्रवणार्हं प्रणीय कृत्वा ॥

अवनिवलयवासवो वशीन्दोर्जगदतिशायिगुणैकतानचेताः ।

वसुपुरुषमिवात्मदिष्टदिष्टं स्वसविधमेनमुपानिनीषुरासीत् ॥ १३० ॥

अवनिवलयवासवो भूमण्डलाखण्डल एन सूरि स्वसविध निजसमीपमुपानिनीषुरा-
नेतुमिच्छु आसीत् । किंभूत । जगन्ति त्रीणि भुवनान्यतिशेरते अतिक्रामन्ति
इत्येवशीला ये गुणास्तेषु एकतान लयानुगमैकाग्र चेतो यस्य मानस यस्य स ।
कमिव । वसुपुरुषमिव । यथा आत्मनो निजस्य दिष्टेन भाग्येन दिष्ट दत्त स्वर्णनर स्वस-
मीपमानयति ॥

यं प्रासूत शिवाह्वसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

संजातो दशमोऽत्र देवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गो रसैरुज्ज्वलः ॥ १३१ ॥

अत्रास्मिन् हीरसौभाग्यमिति नाम यस्य तादृशे हीरसूरेर्हीरविजयगणधरस्य चरिते दशमः सर्गः सजातः समभवत् । किभूत । रसे वीरकरुणाबीभत्सशान्तादिभिर्नामभि कृत्वा उज्ज्वलो दीप्यमानः ॥

इति पण्डितसीहविमलशिष्यपण्डितदेवविमलविरचिताया खोपज्ञहीरसौभाग्यनाममहाकाव्यवृत्तौ दिल्लीमण्डलनगरनागरहमाउतन्नन्दनाकञ्जरसाहिरिपुदिग्विजयफतेपुरस्थापनासाहिसभासाहितप्रश्नसभ्यप्रोक्तश्रीहीरविजयसूरिगुणवर्णनो नाम दशमः सर्गः ॥

एकादश सर्गः ।

अथाह्वातुमीहावभूवाब्धिनेमीतमीशो मुनीनां सुनासीरमेनम् ।

प्रबोधाय धर्मात्मनः किं निजस्यावतीर्णं पुनर्हेमचन्द्रं व्रतीन्द्रम् ॥ १ ॥

अथ सभ्यजनवर्णितश्रमणेन्द्रगुणश्रवणानन्तरमब्धिनेमे समुद्रमेखलाया भूमेस्तमीशो रात्रिपतिश्चन्द्रः । भूपतिरित्यर्थः । स अकञ्जरसाहि एन श्रीहीरविजयनामान मुनीनां सुनासीरं वाचयमपुरदरमाह्वातु स्वसमीपे समाकारयितुमीहावभूव वाञ्छति स्म । धर्म एव आत्मा स्वरूप यस्य भाविनिभूतोपचारात् तादृशस्य निजस्याकञ्जरात्मन प्रबोधाय वर्मावबोधार्थम् । अथ च वर्मात्मन कुमारपालस्य । 'कुमारपालश्चौलुक्यो राजर्षिः परमार्हतः । मृतस्वमोक्ता वर्मात्मा मारिव्यसनवारकः ॥' इति हैम्याम् । प्रबोधाय प्रतिबोवकृते पुनर्द्वितीयवारमवतीर्णं गृहीतावतार हेमचन्द्र व्रतीन्द्र हेमाचार्यमिव ॥

ततोऽजूहवदूतयुग्मं वियुग्मीकृतारातिपक्षः क्षमाकर्मसाक्षी ।

पयोराशिपर्यन्तराष्ट्रप्रतिष्ठा मनीषीव यद्वेद निःशेषभाषाः ॥ २ ॥

ततः सूरेराकारणाकाङ्क्षानन्तर क्षमायाः क्षोणे कर्मसाक्षी भाखानकञ्जरसाहि स्वसभायां भूमौ च प्रसिद्ध ख्यातिमत् दूतयुग्मं सदेशहारकद्वन्द्वमजूहवदाकारयामास । किभूतः क्षमाकर्मसाक्षी । वियुग्मीकृता वियोग स्त्रीभिः सम विश्लेष प्रापिता अरातीना वैरिणा पक्षा वशा रिपुवर्गा येन । किभूत दूतयुग्मम् । यत् निःशेषा समस्ता भाषा विविधदेशोक्तीर्वेद जानातीति । क इव । मनीषीव । यथा विद्वान्नि शेषा षडपि सस्कृत-प्राकृत-मागधी-शौरसेनी-पैशाची-अपभ्रंशी-लक्षणा भाषा वेत्ति । किलक्षणा भाषा । पयोराशयश्चत्वारः समुद्राः पर्यन्तं प्रान्तो येषां तादृशा ये राष्ट्रा देशाः । राष्ट्रशब्दः पुनपुसके । 'भ्रष्ट्रापह्नुराष्ट्रातकजठरा' इति लिङ्गानुशासने । तेषु प्रतिष्ठा माहात्म्यप्रसिद्धिर्यासा ताः ॥

विपक्षान्क्षितौ क्षमाभृतो हन्तुमेतो द्युलोकादिवाखण्डलः स्वर्गिवर्गैः ।

द्विषत्कालरात्रीयितानेकवीरं द्विषां पर्षदीति स्तवीति प्रभुं यत् ॥ ३ ॥

यदूतयुग्मं द्विषा शत्रूणां पर्षदि सभामध्ये प्रभु स्वस्वामिनमित्यमुना प्रकारेण स्तवीति वर्णयति । किभूत प्रभुम् । द्विषता प्रतिपक्षलक्षणां कालरात्रिं प्रलयनिशा । यस्या

यामिन्या कालिका सर्वान् सत्त्वान्कुक्षिगतान्करिष्यति तद्वदाचरितानामशेषीकृताशेष-
द्विष सख्यातिगा वीरा सुभटा यस्य तम् । इति किम् । यदस्माक स्वामी बुलोकादेव-
भवनात्स्वर्गात्स्वर्गिवर्गेर्देववृन्दै सम विपक्षान्वैरिण एव तद्रूपान्वा क्षमाभृत क्षोणी-
पालान्पर्वताश्च हन्तु व्यापादयितुमुच्छेत्तु क्षितौ पृथिव्यामेत आगत आखण्डल
शक्र इवास्ते ॥

हतारातिसारङ्गद्वकज्जलाङ्गसवद्धाष्पभानूद्रहावारिपूरे ।

अभिष्टौति लीलामरालायमानं यशो यत्प्रभोवैरभाजा समाजे ॥ ४ ॥

यदूतयुग्म वैरभाजा विद्वेषिणा समाजे सभाया हता स्वस्वामिना संग्रामाङ्गणे
व्यापादिता ये अरातय विपक्षक्षोणीन्द्रा तेषा सारङ्गदृशो मृगलोचना प्रियतमास्तासा
दृग्भ्यो नयनेभ्य कज्जलमञ्जनमङ्गे क्रोडे अर्थान्मध्ये मिश्रीभूतत्वाद्येषा तादृशा स्रवन्तो
गलन्तो निरन्तरनिष्पतन्तो बाष्पा अम्बु(श्रु)धारास्त एव भानूद्रहा सूर्यसुता यमुना
तस्या वारिपुरे पय प्रवाहे लीलामरालायमान क्रीडालसराजहस इवाचरत् प्रभो. स्वामिनो
यश श्लोकमभिष्टौति वर्णयति ॥

वचोवैदुषीमेतदीयामधृष्यां निरूप्य प्रतीपैः क्षितीशैः प्रणेशे ।

यदुर्वीविभोरागमात्प्राग्गभस्तेरिवानूरुरोचिस्तमिश्रप्रसारैः ॥ ५ ॥

एतदीया दूतयुग्मसबन्धिनीमधृष्यामनाकलनीया प्रतिपक्षपक्षलक्षस्वान्तक्षोभकारिका
वचोवैदुषी वचनचातुरी निरूप्य प्रेक्ष्यार्थादवधार्य यदुर्वीविभो यस्याकब्बरसाहेरा-
गमादभिषेणनैरागमात्प्राक् पूर्वमेव प्रतीपैर्विरोविभि क्षितीशैर्भूपालै प्रणेशे प्रपलायि-
तम् । कैरिव । तमिश्रप्रसारैरिव । यथा गभस्तेर्भानो आगमादुदयात्पूर्वमनूरुरोचि
अरुणप्रभां विभाव्य । ध्वान्तविस्तारै प्रणश्यते ॥ आदितश्चतुर्भि. कुलकम् ॥ इति
दूतस्वभावः ॥

चिरं जीव नन्देति दूतौ निगद्याधिपं नेमतुर्मूर्ध्नि पाणी प्रणीय ।

पुनस्तौ सुधासाधिमान दधत्या संभावयामास वाचेव दृष्ट्या ॥ ६ ॥

हे प्रभो, त्व चिर बहुकाल गलितावधिसमय जीव मेरुमहीधरसमानमायु परिपालय ।
तथा नन्द पुरदरवत्परमसमृद्धिमान् भव । इत्यमुना प्रकारेण निगद्य आशीर्वचन
कथयित्वा । तथा मूर्ध्नि मस्तके पाणी स्वहस्तौ प्रणीय सयोज्य । शिरस्यञ्जलि विधायेत्यर्थ ।
तौ दूतौ सदेशहारकौ अविष स्वामिन नेमतु प्रणमत स्म । पुन. सोऽकब्बरसाहि तौ
दूतौ प्रति सुधयेव पीयूषेनेव साधिमान मयुरिमाण शुभ्रिमाण च दधत्या वारयन्त्या ।
'त्वयादृत कि भरसाधिमभ्रम' इति नैषधे । वाचेव वाण्येव दृष्ट्या दृशा विलोकनेन
कृत्वा संभावयामास । प्रसन्नदृशा व्यलोकयदित्यर्थ ॥

ततः क्षोणिशक्राशय तौ बुभुत्सू स्म युङ्क्तः स्ववक्त्राम्बुजे वाग्विलासैः ।

सरित्प्रेयसश्चेतसस्तादृशाना पुनः केन येन प्रतीयेत पारः ॥ ७ ॥

तत साहिना दृष्टिसभावानन्तरं तौ दूतौ वाग्विलामैर्वचनवैचित्रीभिः स्ववक्त्राम्बुजे निजवदनकमले युङ्क्तं योजयत स्मेत्यर्थः । किं कर्तुमिच्छ । बुभुत्सू वोढुमिच्छं ज्ञातुं काङ्क्षन्तौ । कम । क्षोणिशक्रस्य साहेराशय मनोभिप्रायम् । येन कारणेन सरित्प्रेयसः समुद्रस्य पुनस्तादृशाना गम्भीराशयाना महात्मना चेतसो हृदयस्य च पारः परतीर पूर्णाशय-भावः केन पुसा प्रतीयेत ज्ञायते । अपि तु न केनाप्यवबुध्यते ॥

हरिर्वा कृतान्तः प्रचेताः कुबेरः किमु त्वद्दिगम्भोजदृग्रक्षकेषु ।

यदेतेषु केनापि कृत्यं भवेत्तत्प्रगल्भीभवावस्तदाह्वाविधासु ॥ ८ ॥

हे ईश, हरिरिन्द्र, तथा कृतान्तो यम, तथा प्रचेता वरुण, तथा कुबेरो वैश्रवण, एतेषु चतुर्षु मध्ये चेद्यदि ते तव एकेनाप्यन्यतमेन कृत्यं कार्यं भवेत्स्यात् । उत्प्रेक्ष्यते— त्वद्दिगम्भोजदृशा तव पूर्वादक्षिणापश्चिमोत्तरालक्षणानां नान्ना दिङ्मृगाक्षीणा रक्षकेषु किमु रक्षाकारकेष्विव सौविद्वलेष्विव । यतो हरिर्वानर, कृतान्तः कालः अथवा कृतस्योपकारस्यान्तोऽवसानं यस्मिन् स कृतः किमपि न वेत्ति कृतं, तथा प्रचेताः सुमना राजपत्नी जननी मनुते । तथा कुत्सितशरीरः, एवविधानामवरोधरक्षणं युक्तमेवेति । त्वदन्तःपुररक्षकेषु तर्हि तदाह्वाविधासु तेषामिन्द्रादीनां चतुर्णां लोकपालानां प्राकार-णप्रकारेषु प्रगल्भीभवाव उद्यमः कुर्वे । तमाकारयाव इत्यर्थः ॥

त्रिलोक्या इवाधीशितुर्भूमिभर्तुर्भवत्तो भवेत्कोऽपि वैमुख्यभाग्यः ।

पुरस्तादुद्देष्यन्त्यजानन्वनाङ्गेष्वनन्तानि दुःखानि खानिः स्मयानाम् ॥९॥

हे भूमिभर्तः हे धरणीरमणीरमण, यः कोऽपि विपक्षादिको भवत्तत्त्वत्तः सकाशात् वैमुख्यभाक् पराङ्मुखताभाजी भवेत् । कस्मादिव । त्रिलोक्यास्त्रिभुवनस्य अधीशितुः स्वामिनः परमेश्वरादिव । यथा कोऽपि पापात्मा परमेष्ठिनः पराङ्मुखो भवति । किं कुर्वन् । अजानन् अविदन् । कानि । वनाङ्गेषु काननानां क्रोडेषु मध्येषु पुरस्तादग्रे उद्देष्यन्ति प्रकटीभवन्ति उत्पत्स्यमानानि अनन्तान्यपाराणि न विद्यन्तेऽन्तोऽवसानं येषां तादृशानि दुःखानि । यः किंभूतः । स्मयानामहकाराणां खानिराकरस्थानम् । अथ च भगवतः पराङ्मुखोऽपि पाप्मा अनादिकालानामाल्याकीनः शैवशासनमिति गर्वावेशवशवदो दुर्वुद्धिर्वनाङ्गेषु सूक्ष्मवदरसाधारणप्रत्येकवनस्पतिकायादिमध्येषु पुरस्ताद्भाविससारपरम्परासु प्रादुर्भवन्ति सप्तस्यमानानि अनन्तानि अनन्तकालवेद्यानि दुःखानि छेदनभेदनाद्यनेकवेदना न जानीते । मिथ्यामतमूढीभूतत्वान्न वेत्तीत्यर्थः ॥

असंख्येषु संख्येषु विद्वेषिलक्षाविलक्ष्यीकृतेर्विभ्रदुत्सेकभावम् ।

विधित्सुर्मृध भूधवौद्धत्यभाग्यस्त्वया पूर्वदेवेशवत्केशवेन ॥ १० ॥

हे भूधव पृथिवीप्रियतम, औद्धत्यवान् उद्धततया उन्मत्तत्वेन वा युक्त कोऽपि नृप त्वया भवता साहिना सम मृध युद्ध विधित्सु कर्तुमिच्छुर्भवेत् । किवत् । पूर्वदेवेशवत् । यथा दानवेन्द्र केशवेन नारायणेन सार्धं सग्राम विधातुमिच्छति । 'असुरादितिदनुजा पातालैकः सुरारय । पूर्वदेवा शुक्रशिष्या' इति हैम्याम् । य किभूत । असह्येषु सख्यातीतेषु अनेकेषु सख्येषु सग्रामेषु विद्वेषिणा वैरिणा लक्षणां शत-सहस्राणा विलक्ष्यीकृतेरभिभवनादुत्सेकभाव गर्वावेशवशवदताम् । 'उपदा विविशु शश्वन्नोत्सेका. कोसलेश्वरम्' इति रघौ । बिभ्रद्वान् ॥

भवच्छिद्रदशी भवेद्वा यदन्यः पुरोभागिवद्भागधेयैर्विमुक्तः ।

प्रणीयानुकूलीभवन्मानस तं पदाब्जे प्रभोर्भृङ्गभूयं नयावः ॥ ११ ॥

हे प्रभो स्वामिन्, च पुनर्यद्यदि अन्य पर कोऽपि वैभववान् पुरोभागिवद्भुवनजनदोषदर्शनैकतानदृष्टिरिव भवतस्तव छिद्राणि स्वेन पराभवितुमिच्छया सासूयत्वेन देशादिजिघृक्षया वा अपगुणान्दोषान्पश्यतीत्येवशीलो भवच्छिद्रदशी भवेज्जात स्यात् कि भागधेयै सुकृतैर्विमुक्तो भाविराज्यादिभ्रशात्पुण्यैस्त्यक्त । त पूर्वोक्त सकलमप्यनुकूलीभवत्तव सेवाहेवाकिभाव भवन्मानस मनो यस्य तादृश प्रणीय कृत्वा प्रभो स्वामिन् पदाब्जे चरणकमलाङ्गे भृङ्गभूय भ्रमरीभाव नयाव प्रापयाव ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

तपस्वी सभस्मा श्मशानाश्रयो वा त्रिदण्डी जटी वा मठी रुण्डमाली ।

व्रती वाडवो धूमपः सोमपो वा भवेद्येन ते कृत्यमादिश्यता सः ॥ १२ ॥

हे साहे, तपस्वी तापस, सह भस्मना भसितोद्धूलितेन वर्तते य स सभस्मा । योगीत्यर्थः । श्मशाने प्रेतवने आश्रयो यस्य स श्मशानवासी चेटकादिकुमन्त्रसाधकः । तथा त्रिदण्डी त्रयो दण्डा यस्य स कापिल त्रिशूली वा । तथा जटा भस्मावगुण्ठितकेशकलाप अस्यास्तीति जटी बृहज्जटाधारक । तथा मठी निवसनस्थान छात्रपठनशाला वा अस्यास्तीति मठी मठवासी । तथा रुण्डानां विकचनरकपालानां माला हृदये हारोऽस्यास्तीति कपाली । तथा व्रती मौननम्रत्वादिनियमवान् सान्यासिको वा यती वा । तथा वाडवो ब्राह्मणः । धूम पिवति मन्त्रादिसाधनकृते कष्टक्रियार्थं वा ऊर्ध्वपादाध.शिरा द्रुमशिखासु स्वशरीरलम्बनपूर्वं धूमपानकर्ता । सोमपः अमृतवल्लीरसपायी वा, एतेषु मय्ये येन केनापि ते तव कृत्य कार्य स्यात्स आदिश्यता प्रसाद्यता कथ्यताम् ॥ इति दूतवचनानि ॥

निगद्येति विश्रान्तयोरेतयोस्ता गिरं श्रोत्रवर्माध्वनीनां प्रणीय ।

अगृह्यन्त वाचः पयोराशिकाञ्चीशचीशेन शङ्के सुधाया वयस्यः ॥ १३ ॥

पयोराशिः समुद्र काञ्ची मेखला यस्यास्तस्या भूमे. शचीशेन पुरदरेण वाचो वाण्य. अगृह्यन्त गृहीता । वभाषे इत्यर्थः । तत्र वाक्षु अहमेव शङ्के वितर्कयामि

उत्प्रेक्षे वा—वाच सुधाया अमृतस्य वयस्य सख्य इव । किं कृत्वा । इत्यमुना प्रका-
रेण निगद्य साहे पुर कथयित्वा विश्रान्तयोमोनमाधाय स्थितयो एतयोर्दूतयोस्ता
पूर्वप्रतिपादिता गिर वाणीं श्रोत्रयो स्वश्रवणयोरेव वर्त्मनोर्मार्गयोरध्वनीना पान्थीं
प्रणीय ॥

घनैरायुरापूर्तिभिश्च प्रजानां प्रचेतस्तया कोशसंपूरणैश्च ।

भजन्तेऽनुकूला प्रवृत्ति दिगीशाः प्रवाहा इवावारपारप्रियाणाम् ॥ १४ ॥

हे दूतौ, दिगीशाश्चत्वारोऽपि हरिन्महेन्द्रा मम मनोरुचितां ममाभिलषितां वा
प्रकर्षेण वृत्ति वर्तनम् । व्यापारमिति यावत् । भजन्ते श्रयन्ति । ममानुकूलीकरणार्थं प्रय-
तन्ते । कै कृत्वा । घनैरिन्द्रो मेघवर्षणै । 'जानामि त्वा प्रवर(कृति)पुरुष कामरूप
मघोन ' इति मेघदूतकाव्ये । 'इन्द्रादिष्टो मेघो वर्षति' इति श्रुतिश्च । च पुनरायुरापूर्तिभिः
यम प्रजाना ममापत्याना सकललोकानामायुषो जीवितकालस्य आ सामस्येन पूर्तिभिः
संपूरणैर्यावदायुर्जावितप्रदानै । अर्वायुष्क कमपि न यमो गृह्णातीत्यर्थं । च पुन प्रजाना
प्रकृतीना प्रचेतस्तया प्रकृष्टचित्तत्वेन साधुवृत्तितया वरुण । प्रजानामित्युभयत्रापि
लालाघण्टान्यायेन संबध्यते । च पुनर्मे मम कोशाना भाण्डागाराणा रत्नखर्णरजता-
दीना संपूरणै पूरणीकरणैर्भरणैर्धनद । कै इव । प्रवाहा इव । यथा अवारपारप्रियाणा
पयोराशिपत्नीनामोघा कूल तटमनु लक्ष्मीकृत्य प्रवृत्ति प्रवर्तन प्रसरण गमन
भजन्ते गच्छन्ति ॥

नृपैर्मूर्ध्नि मालेव दध्रे ममाज्ञा पुरोगैरिवाभावि भूपैः प्रतीपै ।

अहं देववत्संस्तुतस्तापसाद्यैस्ततस्तैर्ममास्ते न किञ्चिद्विधेयम् ॥ १५ ॥

हे दूतौ, यस्माद्धेतो नृपैरन्यराजभिर्मालेव पुष्पदामवन्मूर्ध्नि स्वमस्तके मदाज्ञा मम
शासन दध्रे धृता । पुन प्रतीपै भूपै प्रतिपक्षक्षोणीन्द्रैर्मम पुरोगै पदातिभिरिवाभावि
भूत बभूवे । पुनस्तापसाद्यैः परिव्राजकप्रमुखैरह देववन्निजाभीष्टदेवतेव संस्तुत । तत
कारणात्तैर्युष्मत्प्रोक्तप्रतीपनृपतितापसादिभिर्मम किञ्चित्किमपि विधेय कार्य नास्ते न
विद्यते ॥ इति दूतप्रोक्तलोकपालादिषु कृत्याभावकथनम् ॥

पुन प्रस्तुत वक्ति—

पुरे लाटलक्ष्मीललामायमाने प्रतीरेऽम्बुधे, किं तु गन्धारनाम्नि ।

प्रभावैर्भुवं भासयन्हीरसूरीश्वरः साधुधर्मस्तनूमानिवास्ते ॥ १६ ॥

हे दूतौ, किं तु एतत्कृत्यमास्ते । अम्बुधे समुद्रस्य प्रतीरे तटे गन्धार इति ना-
माभिवा यस्य तादृशे पुरे नगरे हीरसूरीश्वर श्रीहीरविजयसूरिपुरदर आस्ते विद्यते ।
किंभूते पुरे । लाट इति नाम मण्डलस्य 'लाडदेश' इति प्रसिद्धस्य लक्ष्म्या श्रिया
अर्थाल्ललाटपट्टे ललामायमाने तिलकवदाचरिते । हीरसूरि किं कुर्वन् । प्रभावैर्माहात्म्यैः
प्रतापैर्वा । 'सप्रभाव प्रभाववत्' इति हेम्याम् । भुव भूमीमण्डल भासयन् शोभा

नयन् दीपयन्वा । उत्प्रेक्ष्यते—तनूमान् शरीरयष्टि बिभ्राण साधुधर्म इव यत्याचारः किमु । ‘धर्मो यमोपमापुण्यस्वभावाचारधन्वसु । सत्सङ्गे हन्यहिसादौ न्यायोपनिषदोरपि॥’ इति । ‘वर्म दानादिके’ इत्यनेकार्थः ॥

असातस्य लेशोऽपि तेनैकपद्यां यथावाप्यते नात्मना ब्रह्मणीव ।

शिवानामिवावासमन्त्रानयेता भवन्तौ ततः सूरिसारङ्गराजम् ॥ १७ ॥

हे दूतौ, भवन्तौ तथा तेन प्रकारेण ततो गन्धारनगरतस्त हीरविजयनामान सूरिष्वाचार्येषु सारङ्गराज कण्ठीरवमत्र मत्पार्श्वे आनयेताम् । उत्प्रेक्ष्यते—शिवाना सर्वकल्याणानामावास वासस्थानकमिव । तथा कथं येन प्रकारेण तेन सूरिणा एकपद्या गन्धारफतेपुरयोरन्तरालमार्गे । ‘पदव्येकपदी पद्या पद्धतिर्वर्त्मवर्तनी’ इति हैम्याम् । असातस्य दुःखस्य लेशोऽप्यशोऽपि नावाप्यते न लभ्यते । केनेव । आत्मनेव । यथा मुक्तात्मना ब्रह्मणि मोक्षे दुःखाशो न प्राप्यते । ‘क्षेत्रज आत्मा पुरुषः’ इति हैम्याम् ॥

मदीयानुगः साहिबः खान आस्ते हितैषी पितेवाङ्गिना गुर्जरेषु ।

ददाता युवा तस्य निःशेषवाच्यं दधानं स्फुरन्मानमेतन्मदीयम् ॥ १८ ॥

हे दूतौ, गुर्जरेषु वरित्रीजनपदेषु मध्ये मदीयानुगो मम सेवक साहिब साहिबनामा खान । ‘खान’ इति नाम यवनजातौ प्रसिद्धम् । सामन्त इत्यर्थः । आस्ते विद्यते । किभूतः । अङ्गिनां प्राणिना पितेव जनक इव हितमायतावभीष्टमिच्छत्यभिलषतीत्येवशीलो हितैषी इष्टाभिलाषुकः । हे दूतौ, एतन्मया भवतोर्हस्ते समर्प्यमाण मदीय मम सबन्धि स्फुरन्मानम् । राजल्लेखमित्यर्थः । ‘फरमान’ इति यवनभाषया लेखाख्या । तस्य साहिबखानस्य ददातामर्पयताम् । स्फुरन्मान किं कुर्वाणम् । निःशेष समस्तमपि वाच्यमुदित(दन्त) मम हृदयहार्द दधान धारयत् ॥

यदास्तेऽन्य आत्मेव मे देहभेदात्स कर्ता ततः सर्वमस्मद्विधेयम् ।

निवृत्ते निगद्येति भूसार्वभौमे परा प्रीतिरन्तर्दधाते स्म दूतौ ॥ १९ ॥

हे दूतौ, तौ अन्तश्चित्ते परा प्रीति दधाते स्म दधतुः । कस्मिन्सति । भूसार्वभौमे अकब्बरे इति निगद्य भाषित्वा निवृत्ते विरामे सति । इति किम् । यत्कारणात् स साहिबखान मम देहस्य शरीरस्य भेदात्पार्थक्यादन्य अपर आत्मा जीव इवास्ते विद्यते ततः कारणात्स साहिबखान सर्व समस्तमप्यस्मद्विधेयमस्माकीन कार्यं कर्ता करिष्यति ॥ इति दूतयो साहे सूरिसमाकारणादेशः ॥

ततो दूतयुग्म क्षमापूषलेख प्रतस्थे समादाय तत्संनिधानात् ।

अनूना तनूमुद्वहन्नेतदीयाभिलाषः प्रसर्पन्प्रतीव व्रतीन्द्रम् ॥ २० ॥

ततो भूपालादेशानन्तरं दूतयुग्म सदेशहारकद्वन्द्वं तस्य साहे संनिधानात्समीपात्प्रतस्थे प्रचचाल । किं कृत्वा । क्षमायाः पृथिव्या पूषा भाखान् तस्य लेख स्फुरन्मानं

सम्यक् शिरस्यारोपणपूर्वमादाय गृहीत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—अनूना सपूर्णा तनू शरीर-
मुद्रहन् बिभ्राणः । तथा व्रतीन्द्र सूरिराज प्रति प्रसर्पन् गच्छन् । एतदीयोऽकञ्चरसा-
हिसबन्धी अभिलाष कामः मनोरथ इव ॥

प्रबुद्धैरबोधीति नोत्तालफाल चलद्वीक्ष्य जङ्घालदूतद्वय तत् ।

स्पदस्फूर्तिरस्थैर्यभाजां मनोभिस्ततस्तेन तेभ्योऽथ वाधीयते स्म ॥२१॥

उत्ताला अतित्वरिता फाला गगनगामीनि उल्ललनरूपा गतिविशेषा यस्य तादृश
तत्साहिसबन्धि साहिप्रेषित वा जङ्घालमतिवेगवद्गतिक दूतद्वय सदेशहारकयामल
चलत्पथि प्रमर्पत् वीक्ष्य विलोक्य प्रबुद्धैर्विद्वद्भिरेतन्नावोधि न ज्ञातम् न मनस्यववा-
रितम् । इति किम् । न स्थैर्य स्थिरता भजन्ते इत्यस्थैर्यभाज चपलाशयास्तेषा मनो-
भिश्चितैस्तस्माद्दूतयुग्मात्किमिति उत्प्रेक्षाया विचारणाया वा । स्पदाना गतिवेगानाम् ।
'रथो रहस्त्वर स्पद' इति हैम्याम् । तथा 'स्पदझाङ्कारितपत्रपद्धति' इति नैषधे ।
स्फूर्तिरतित्वरितता अधीयते स्म पठिता । अथ वा तेन दूतद्वन्द्वेन तेभ्यो मनो-
भ्योऽधीयते स्म शिक्ष्यते स्म किम् । इति सशयोत्प्रेक्षा ॥

क्रमाभ्यामतिक्रम्य सदेशहारिद्विकं ग्रामकुल्याचलारामसीमाः ।

मुदाहम्मदाबादमागात्क्रमात्तत्सहाध्यायि किं रहसां मारुतानाम् ॥ २२ ॥

क्रमादनुक्रमत स्वादेशपरदेशप्रचलनपरिपाठ्या तत्साहिसबन्धि सदेशहारिद्विक
दूतद्वय मुदा हर्षोत्कर्षेण अहम्मदाबादमागादकमिपुरमाजगाम । 'मा गास्त्व खेदमन्दि-
रम्', तथा 'अरे त्व साध्वस मागा' इति सारस्वतव्याकरणादौ । ग्रामा सवयया-
स्तोकचातुर्यादिगुणा ग्रामा लघुपुराणि वा उपलक्षणान्नगरपुरपत्तनादीन्यपि, तथा कुल्या
लघुमहद्वादिन्य, अचला पर्वता, आरामा उद्यानानि उपलक्षणाद्वनगहनारण्यादीन्यपि,
सीमा ग्रामनगरादीना क्षेत्रभूमयो देशावसानभुवो वा, ता क्रमाभ्या स्वपदाभ्या न तु
यानैरतिक्रम्योलङ्घ्य । उत्प्रेक्ष्यते—दूतद्वन्द्व मारुतानां पवनानां रहसां वेगानां सह
सार्धमध्येतीत्येवशील सहाध्यायि एकगुरुसमीपेऽधीतिकृत्किम् । वेगेन तुल्यत्वादियमु-
त्प्रेक्षा ॥ इत्यकमिपुरे दूतगमनम् ॥

रणे वैरिणा पार्थिवा येन देहा हता पेतुरुर्वीमिवाम्बा मिलन्ति ।

ययौ तत्पुराधीशितुः संनिधाने द्वयं दूतयोर्मुद्गलक्षोणिभर्तु ॥ २३ ॥

दूतयो शासनहारिणोर्द्वय युगल तस्याहम्मदाबादनात् पुरस्य नगरस्याधीशितु
स्वामिन मुद्गलानां काविलमण्डलजन्मना यवनजातिविशेषाणा क्षोणिभर्तुर्भूपस्य संनि-
धाने समीपे ययौ । तस्य कस्य । येन साहिवखानेन रणे सग्रामाङ्गणे वैरिणा शत्रूणां
पृथिवीपरमाणुभिरारब्धा पृथिवीविभागा पृथिवीसबन्धिनः । 'पार्थिव हि निजमा-
जिषु वीरा गौरवाद्गुरुरास्य भजन्ते' इति नैषधे । देहा शरीराणि हता क-

रवालैर्व्यापादिताः सन्तः पेतु । क्षितौ पतन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—उर्वीमम्बा क्षोणी मातर मिलन्तीव पृथिव्युत्पन्नत्वेन स्नेहात् ॥

सुवर्णश्रियाद्वैतयालंकृतायाः सुधास्पन्दिवाग्वैदुषीभूषितायाः ।

कुमार्या इव क्षमापतेः पत्रिकाया असौ तेन पाणिग्रहः कार्यते स्म ॥ २४ ॥

तेन दूतद्वन्द्वेन असौ साहिबखानः क्षमापतेर्भूमीभर्तुः कुमार्या कन्याया इव क्षमापते-
रकब्बरसाहे पत्रिकाया स्फुरन्मानस्य पाणिना हस्तेन ग्रहणमादान स्वीकरण वा
पाणिग्रहण परिणयन च कार्यते स्म निर्माप्यते स्म । पाणौ ग्राहितेत्यर्थः । किभूताया
पत्रिकाया कुमार्याश्च । अद्वैतया अनन्यसामान्यया सुशोभनाना वर्णानामक्षराणा
हेम्नश्च श्रिया लक्ष्म्या सुवर्णतुल्यया वा श्रिया अलंकृताया भूषिताया । पुन किभू-
ताया । सुधाममृत रपदन्ते क्षरतीति प्रस्रवतीत्येवशीला या वाग्वैदुषी वचनचातुरी
तया भूषिताया ॥

ततः कोशवद्भूमहेन्द्रस्य मुद्रा प्रमोदादुपादाय लेखं दधानम् ।

विमुञ्चाक्षराण्यक्षिलक्षाणि कुर्वन्निवेदाशयं तस्य निःशेषमेषः ॥ २५ ॥

ततो लेखादानानन्तरमेषः साहिबखान तस्य स्फुरन्मानस्य नि शेषः समग्रमप्याश-
यमभिप्राय रहस्य विवेद जानाति स्म । कि कुर्वन् । विमुञ्च मुद्रयित्वा अक्षराणि
वर्णानक्षिलक्षाणि लोचनगोचरान् कुर्वन् । कि कृत्वा । प्रमोदादानन्दालेख साहिस्फुर-
न्मानमुपादाय 'तसलीम' इति यवनप्रसिद्धेन नाम्ना प्रणामपूर्वं तदुपरि स्वशिरोमो-
चनपूर्वं वा गृहीत्वा । कि कुर्वाण लेखम् । भूमहेन्द्रस्य राज्ञः कोश भाण्डागारमिव
मुद्रा मुद्रण निमीलन दधानम् ॥ इति साहिस्फुरन्मानस्यार्पण वाचन च ॥

पुरस्तात्तयोः प्रीतिमान्मुद्रलेशो गिरं वासयामास वक्त्रारविन्दे ।

विनिर्यद्विजश्रेणिशोचिर्विमिश्रस्मितेनेव तन्वन्मरालैकलीलाम् ॥ २६ ॥

प्रीतिमान् स्नेहार्द्रहृदयो मुद्रलेश साहिबखान तयोर्दूतयोः पुरस्तादग्रे वक्त्रारविन्दे
वदनकमले गिरं वाणीं वासयामास स्थापयति स्म । बभाषे इत्यर्थः । अथ च गिरं
सरस्वतीं देवीं मुखपद्मे वासितवान् । सरस्वत्याः सनिधाने त्ववश्यं वाहेन हसेन
भाव्यं तदेव दर्शयति । उत्प्रेक्ष्यते—विनिर्यद्वदनाद्वहिर्निःसरद्विजानां दन्तानां श्रेण्योर्मा-
लिकयोः शोचिः कान्तिस्तेन विमिश्रेण करम्बितेन स्मितेन कृत्वा मरालस्य राजहसस्य
एकामद्वितीया लीला विलास शोभा वा तन्वद्विस्तारयन्निव ॥

प्रभुर्भद्रवान्कच्चिदास्ते हमाऊसुतोऽकब्बरो बब्बरोर्वीशवंश्यः ।

जिताश्चण्डदोर्दण्डवीर्येण येन न्यवात्सुर्दिगन्तेषु शङ्के दिगीशाः ॥ २७ ॥

कच्चिदिष्टपरिप्रश्ने अव्ययम् । द्विवचनस्याप्यव्ययाद्विभक्तेर्लुक् । हे दूतौ, अकब्बर
प्रभुर्न स्वामी भद्रवान् कुशली आस्ते । किभूत । हमाऊनाम्नो राज्ञः सुतः । पुनः

किभूतः । बब्बरनामा उर्वीशो मुद्रलेन्द्रस्तस्य वशे गोत्रे भवः वश्य । अहमेव शङ्के उत्प्रेक्षे । येनाकब्बरसाहिना चण्डेन प्रबलेन प्रतिभटोद्भटभूमीमहेन्द्रासद्येन दोर्दण्डयो-
र्भुजपरिघयोर्वीर्येण पराक्रमेण जिता परिभूता सन्त दिगीशाश्चत्वारोऽष्टौ दश वा दिगीशा दिक्पाला दिशा हरितामन्तेष्ववमानेषु न्यवात्सुरिव निवसन्ति स्म किमु शङ्के इवार्थे ॥

चतुर्वार्धिसंवर्तकीभूततेजस्ततेः सन्ति जैवात्रिकास्तस्य पुत्राः ।

महीचारिणः पूषविद्वेषिगोत्रद्विषद्यक्षराजाङ्गजाता इवैते ॥ २८ ॥

हे दूतौ, चतुर्षु प्राच्यप्रतीच्यापाच्योदीच्यलक्षणेषु वार्धिषु ममुद्रेषु संवर्तकीभूता वडवानलभाव प्राप्ता तेजसा प्रतापाना ततिर्मण्डली यस्य तस्य साहेः पुत्रा शेखजी-पाहडी-दानिया-इत्यभिधानास्त्रयोऽपि नन्दना जैवात्रिका दीर्घायुषः सन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—महीचारिण क्षोण्या कौतूहलेन सचरणशीला पूषविद्वेषी ईश्वरो गोत्रद्विष-
न्पर्वतरिपुरिन्द्रो यक्षराजो वनदस्तेषां क्रमेणाङ्गजाताः । स्वामिकार्तिक-जयन्त-नल-
कूबर-नामानस्तनुजा इव ॥

अये स्वस्तिमन्त्यो नृपाम्भोजनेत्रा उपेता इव क्षमां हरेरिन्दुवक्त्राः ।

परीवार आस्ते शिवः सोऽपि येनावनीन्दोर्मनो ज्ञानिनेवान्वगामि ॥ २९ ॥

अये दूतौ, नृपाम्भोजनेत्रा अकब्बरसाहे कमललोचना स्त्रिय स्वस्तिमन्त्य कुशलिन्य वर्तन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—ऽमा महीमुपेता समागता हरे शचीकान्तस्य जयवा-
हिनीवल्लभस्य वासवस्य इन्दुवक्त्रा कान्ता प्रिया इव । अपि पुनरवनीन्दोर्भूमीतमीरमणस्य राज्ञः स परपक्षविजयित्वेन ख्यात परिवार स्वजनादिपरिजन शिवो निरुपद्रवो वर्तते । स कः । येन परीवारेण ज्ञानिना ज्ञानवतेव ज्ञानाभिप्रायेणेवावनीन्दो पातिसा-
हेर्मनो मानसमन्वगामि । इङ्गिताकारज्ञानृत्वेन मनसोऽभिलषितमेव विधीयते इत्यनु-
गम्यते । ‘अये कियद्यावदुपैषि दूरम्’ इति नैषवे ॥

अनीकं शुभं भूभुजो येन जज्ञे युगान्तान्धकद्वेषिणेवारिचक्रे ।

प्रजा आसते प्रीतिभाजः प्रजावन्मुदा प्रश्रयामास तावित्यधीश ॥ ३० ॥

हे दूतौ, भूभुज अकब्बरसाहे तद्विजित्वरतया सर्वत्र प्रसिद्धमनीक वाजिवारण-
रथपदातिरूप चतुरङ्गकटक शुभ कल्याणकलित वर्तते । तत्किम् । येनानीकेन अरीणा वैरिणा चक्रे वृन्दे सेनाया वा । ‘वरूयिनीचमूचक्रम्’ इति हैम्याम् । युगान्तस्य कल्पा-
न्तकालस्यान्वकनाम्नो दानवस्य द्वेषिणा शत्रुणेव एतावता शत्रुनेव जज्ञे सजातम् । सहारकत्वेन बभूवे इत्यर्थः । ‘क्षये जगज्जीवपिव शिव वदन्’ इति नैषवे । पुनर्भूभुज प्रजा प्रकृतयो लोका प्रजावत्सततय इव प्रीति प्रमोद स्नेह वा भजन्ते इति प्रीति-
भाजः सन्ति । अधीश अकमिपुरप्रभु इत्यमुना प्रकारेण तौ दूतौ प्रश्रयामास पृच्छति स्म ॥ इति साहिबखानकृतसाहिपरिवारादीना कुशलप्रश्नः ॥

स्थितोऽद्रिः सुराणामिवाक्रम्य सर्वा दिशः साहिरास्ते प्रभो पर्वतायुः ।

सुताः शक्तिभेदा इव स्फूर्तिमन्तः सुखिन्यः सुमुख्योऽपि किं राजलक्ष्म्यः ३१
कुले धैर्यभाजामिवाधीश साहेः परीवारतन्त्रे अनातङ्किनी स्तः ।

महानन्दयुक्ताश्च मुक्तात्मवत्तत्प्रजा इत्यमुं तद्वयं प्रत्यवोचत् ॥ ३२ ॥

तद्वयं दूतयुग्मम् अमुं साहिबखानं प्रति इत्यमुना प्रकारेण प्रत्यवोचत् प्रतिभाषते स्म । प्रत्युत्तरं प्रददावित्यर्थः । हे प्रभो हे साहिबखान, साहिरकब्बर पर्वतवद्गिरिरिव दीर्घमायुर्यस्य तादृगास्ते । किलक्षण । सुराणामद्रिर्मेरुरिव सर्वा समस्ता अपि दिश आक्रम्य स्वीकृत्य स्थित । पुनः सुता साहिपुत्रा प्रभुत्वोत्साहमन्त्रलक्षणानां तिसृणां शक्तीनां भेदा इव स्फूर्तिमन्तः प्रोज्ज्वला सन्ति । अपि पुनः सुमुख्यः साहिगृहिण्यः सुखिन्यः शर्मशालिन्यः सन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—सुमुख्यो राजलक्ष्म्य इव । प्रबलप्रतिभयाभावात् राजलक्ष्म्यः सुखिन्यो भवेयुः । हे अधीश हे स्वामिन्, साहे परीवारतन्त्रे परिच्छदसैन्ये । ‘कटक ध्वजिनी तन्त्रम्’ इति हैम्याम् । अनातङ्किनी नीरोगे समाविशालिनी । के इव । कुले इव । यथा धैर्यभाजा वीरताधारिणा सत्त्ववताम् । महावीराणामित्यर्थः । गोत्रे वशौ अनातङ्किनी निर्भये भवतः । ‘रोगो रुजारुगान्तष्कः’ तथा ‘भयभीर्भीतिरातङ्कः’ इति द्वयमपि हैम्याम् । च पुनस्तस्य साहेः प्रजा पौरजानपदाश्च लोका महानन्देन परमाह्लादेन युक्ता सहिता वर्तन्ते । किवत् । मुक्तात्मवत् । यथा ससारनिर्मुक्तात्मानं सिद्धा महानन्देन मोक्षेण सहिता भवन्ति ॥ इति दूतप्रोक्तसाहिप्रमुखकुशलोक्तिः ॥ युग्मम् ॥

निपीयेति तद्वाग्विलासामृतं स हृदं दन्तिवत्प्रीतिमन्तर्जगाहे ।

अवेत्य प्रसत्तिं पुनः पातिसाहेरवैति स्म संप्राप्तसर्वस्ववत्स्वम् ॥ ३३ ॥

स साहिबखान इति पूर्वोक्तप्रकारेण तयोर्दूतयोर्वाग्विलासो वचनचातुरी स एवामृतं सुधा निपीय सादरं श्रवणगोचरीकृत्य अन्तश्चित्ते प्रीतिं मोद जगाहे प्राप्नोति स्म । किवत् । दन्तिवत् । यथा हस्ती अमृतं पानीयं नितरां पीत्वा हृदं द्रवमवगाहते । पुनरपराधकथने । खान पातिसाहेरकब्बरवराविराजस्य प्रसत्तिं स्वस्मिन्निषये प्रसादं सतुष्टिपुष्टिमवेत्य हृद्गोचरीकृत्य स्वमात्मानं संप्राप्तं हस्ते अविगतं सर्वस्वं नि शेषक्षमामण्डलमव्यवर्तिद्रव्यम् उपलक्षणात् राज्यादिग्रहं सर्वपदार्थसार्यो वा येन । तद्वदवैति स्म जानाति स्म बुबुधे ॥

अथाकारिताः श्रावकास्तेन भृत्यैश्चकोरा इव श्वेतभासा मयूरैः ।

क्रमात्तेऽपि तेषां गताः संनिकर्षं निदेशं प्रभोर्निर्दिशन्ति स्म सर्वम् ॥ ३४ ॥

अथ दूतवचनानन्तरं तेन साहिबखानेन भृत्यैः स्वसेवकैः श्रावका अकमिपुरवृद्धश्राद्धा आकारिता आहूताः । केनेव । श्वेतभासेव । यथा चन्द्रमसा मयूरैः स्वकिरणैश्च-

कोरा ज्योत्स्नाप्रिया आकार्यन्ते स्म । अपि पुन ते भृत्या क्रमात् स्वस्वामिनिदेशश्र-
वणप्रणामकरणपरिपाठ्या तेषामकमिपुरतपापक्षश्राद्धाना सनिकर्ष समीप गता प्राप्ता
सन्त प्रभो स्वस्वामिन सर्व निदेशमाज्ञा निर्दिशन्ति स्म निवेदयन्ति स्म कथयन्ति स्म ॥

समानीयमाना अमीभिर्जनास्तेऽप्यराजन्त मध्येपुरं दानशौण्डा ।

महामात्रवृन्दैर्द्विपेन्द्रा इवोर्वीपतेर्मन्दिरं दानधारा किरन्तः ॥ ३५ ॥

अमीभि साहिबखानभृत्यैर्मध्येपुरमकमिपुरस्य मध्ये । 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा समस्यते ।
समासश्चाव्ययीभाव । 'गङ्गाया पारे पारेगङ्गम् । गङ्गायामध्ये मध्येगङ्गम्' इति प्रक्रि-
याकौमुद्याम् । तद्वन्मध्येपुर सम्यक् समाननादिप्रकारेणास्ते श्राद्धा अपि व्यराजन्त
शुशुभिरे । किभूता । दानशौण्डा बहुद्रव्यप्रदायिन विश्राणनेन विख्याता वा ।
'शौण्डा विख्यातमत्तयो' इत्यनेकार्थ । के इव । द्विपेन्द्रा इव । यथा महामात्राणा
हस्तिपकाना 'माहत' इति प्रसिद्धाना वृन्दैरायोरणगणै उवापते राज्ञो मन्दिरे नीय-
माना गजराजा विराजन्ते । कि कुर्वन्त । दानधारा मदवारिवृष्टि कुर्वन्त सृजन्त
क्षरन्त ॥

जना जैनपक्षैकदक्षाः क्षितिक्षित्समाजं विशन्ति स्म संभूय सर्वे ।

ततस्तेऽप्यनर्घ्योपदापूर्णपाणीन्स्वबन्धूनिवास्थापयत्तानुपान्ते ॥ ३६ ॥

सर्वे समस्ता जनाः जिनाना वीनरागाणामय जैन. स चासौ पक्षश्च । जिनशासनमि-
त्यर्थ । तत्रैकतया अद्वितीयत्वेन दक्षा अतिनिपुणा जना श्राद्धा संभूय एकत्र
मिलित्वा क्षितिक्षित खानस्य समाज सभा विशन्ति स्म । सभामध्ये ययुरित्यर्थ ।
ततो जनागमनानन्तर सोऽपि खान अनर्घ्याभि प्रशस्याभिरुपदाभि प्राभृतै पूर्णा
भृता पाणयो हस्ता येषा तान् जनान् स्वबन्धूनात्मस्वजनानिव उपान्ते स्वसमीपे
अस्थापयदुपवेशयति स्म ॥

अमी मूलकर्मेव तच्चित्तवृत्तेः पुरं प्राभृतं भूमिभर्तुर्विमुच्य ।

अलीकातिथीभूतहस्तेऽरविन्दाः प्रमोदप्रगल्भाः स्म भाषन्त इत्थम् ॥ ३७ ॥

अलीके ललाटे अतिथीभूतानि प्राघुणानि जातानि हस्ता एवारविन्दानि पद्मानि
येषा कृताञ्जलय इत्यर्थ । अमी श्राद्धा प्रमोदेन हर्षेण प्रगल्भा सोत्साहा इत्यमग्रे
वक्ष्यमाणमभाषन्त प्रोचु । कि कृत्वा । भूमिभर्तुर्नृपस्य पुरोऽग्रे प्राभृत ढौकितक
विमुच्य ढौकयित्वा । उत्प्रेक्ष्यते—तस्य साहिबखानस्य चित्तवृत्तेर्मनोव्यापारस्य मूलकर्म
कार्मणमिव ॥

नृणा शासिता त्व वय शासनीयाः वयं सेवकास्त्व पुन सेवनीय ।

नियोज्या वय त्वं नियोक्तसि यस्मात्तदादिश्यता कृत्यमस्माकमीश ३८

हे ईश, त्व यस्मात्कारणात् त्व नृणा नराणा शासिता पालयिता असि, पुनर्वय

शासनीयाः पालयितव्याः स्म । पुनस्त्व सेवनीय सेवितव्य सेवितु योग्योऽसि,
पुनर्वय सेवकाः सेवाकारका स्म । पुनस्त्व नियोक्ता कार्ये प्रयोजकोऽसि, पुनर्वय
नियोज्या कर्तव्ये निर्देश्या स्म । तत्तस्मात्कारणादस्माक कृत्य कार्यमादिश्यता प्रसा-
द्यताम् ॥ इति श्राद्धानामाकरण तत्प्रश्नश्च ॥

स ऊचेऽथ वाचेति पीयूषवर्ष किरन्कैतवाहन्तनिर्यद्दुतीनाम् ।

चतुर्दिक्षु चण्डाशुवद्यत्प्रतापो भ्रमत्यब्धिनेमीचरोऽकब्बरोऽस्ति ॥ ३९ ॥

अथ श्राद्धजनप्रश्नानन्तर स साहिबखानो वाचा वाण्या कृत्वा इत्यग्रे वक्ष्यमाणमूचे
बभाषे । किं कुर्वन् । दन्तेभ्यो दशनेभ्यो निर्यान्तीना नि सरन्तीना दुतीना कान्तीना
कैतवात्कपटात्पीयूषवर्षममृतवृष्टि किरन्विस्तारयन्निवेतीय गर्भितोत्प्रेक्षा । किमूचे तदे-
वाह—हे जना, अकब्बरनामा अब्धिनेमीचर आपाथो नायकपर्यन्तपृथ्वीनाथोऽस्ति ।
यत्प्रतापश्चतुर्दिक्षु पूर्वापरदक्षिणोत्तरालक्षणासु हरित्सु भ्रमति पर्यटति । किवत् ।
चण्डाशुवत् । यथा भास्वाश्चतुरासामुपरि भ्रमति ॥

यया ज्योत्स्नयेवावदातीक्रियन्ते दिशः सस्मिता वा स्वकान्तैः क्रियन्ते ।

सखीभिर्विशिष्येव गोशीर्षचन्द्रद्रवैः पत्रभङ्गैकतालंक्रियन्ते ॥ ४० ॥

कदाचिज्जगत्कर्णपूरायमाणां गुणश्रेणिमाकर्ण्य ता हीरसूरेः ।

तमाह्वातुकामेन तेनात्मदूताविह प्रेषितौ दर्शनोत्कण्ठितेन ॥ ४१ ॥

हे जना., तेनाकब्बरपानिसाहिना इहाहम्मदाबादे मत्पार्श्वे वा आत्मदूतौ स्वसदेश-
हारकौ प्रेषितौ प्रहितौ स्तः । तेन किं कर्तुकामेन । तजगत्प्रसिद्धगुणग्राम हीरविजयसू-
रिमाह्वातुमाकारयितु कामोऽभिलाषो यस्य तादृशेन । अत एव पुन किंभूतेन । दर्श-
नोत्कण्ठितेन गुरोरालोकनौत्सुक्यभाजा । किं कृत्वा । कदाचित्कस्मिन्नपि समये जगता
भुवनानां कणौ श्रवणौ पूर्यन्ते अनयेति कर्णपूरा । अथवा कर्णपूरौ कर्णाभरणे तद्वदाच-
रिता यावज्जगज्जनाह्लादिनी हीरसूरेर्गुणानां श्रेणी धोरणीमाकर्ण्य श्रुत्वा । ता काम् ।
यया गुरुगुणश्रेण्या ज्योत्स्नया चन्द्रचन्द्रिकयेव दिशः सर्वा अप्याशा अवदातीक्रियन्ते
श्वेता विधीयन्ते । अथ वा स्वकान्तेरात्मात्मभर्तृभिर्दिशो निजनिजदिगङ्गना नर्मलीला-
वशात्सस्मिता सहासा क्रियन्ते सृज्यन्ते । वा अथ वा । सखीभिर्वयसीभिर्मण्डनकारि-
काभिर्वा गोशीर्षकाणां चन्दनानां चन्द्राणां कर्पूराणां च द्रवैः पङ्क्तैः कृत्वा यत्र वल्लीभिः ।
'देव भवद्वैरिवधूवदने वने च नागरुचिताश्चन्दनपत्रभङ्गा' इति चम्पूकथायाम् । उत्प्रे-
क्ष्यते—विशिष्य विशेषप्रकारेणालक्रियन्ते भूष्यन्ते इव ॥ युग्मम् ॥

समुद्रोऽपि भीति दधद्वारिपूराद्विशुद्धोऽपि काष्ण्य पुनर्विभ्रदन्तः ।

भुवो वासवेनैष लेखो विशेषप्रवृत्ति वहंलेखवत्प्रेषितश्च ॥ ४२ ॥

हे जना, च पुनर्भुवो वासवेनाकब्बरेण पृथ्वीपुरदरेण विशेषप्रवृत्ति खहृदयाभि-

प्रायनिवेदकदातो वहन्दवन् एष मत्करकिसलयवर्ती लेखवन् देव इव लेख स्फुरन्मान
प्रेषित प्रहितोऽस्ति । किं कुर्वन् । सह मुद्रया मुद्रणेन जनुप्रामधुरणेन वर्तते य ।
मुद्रायुक्त इत्यर्थः । समुद्र पयोविरपि वारिपूगजलप्लवाद्भीति भय दवन् वारयन् ।
पुन किं कुर्वन् । विगुह्यो ववलोऽपि काष्ण्यं सपिवर्णश्यामिका अन्त बिभ्रन्कलयन् ॥

अनुन्नीतसंप्राप्तमद्भृत्यवर्गैर्निजालोकनाविकृतातङ्कसर्गैः ।

भविष्यत्यमुय व्ययो यत्समावे सरस्या इवाकालमेघैः कजानाम् ॥४३॥

त्रियामाविरामा इवाम्भोजबन्धुं व्रतीन्द्र ततो यूयमेवानयध्वम् ।

निगद्येति स्वानेन रामान्य ते स्वान्विसृष्टा निवासान्ययुः प्रीतिमन्तः ॥४४॥

साहिवखानेन नाम्ना इति पूर्वोक्त निगद्य कथयित्वा समान्य समान च प्रदाय
विसृष्टा पश्चात्प्रेषिताः । आद्या प्रीतिमन्तो हृष्टमानसा मन्त स्वान्निवासान् ययुर्जगमु ।
निजनिक्केतनस्थानेषु गता इत्यर्थः । इति किम् । हे हीरसूरिभक्तजना , तत कारणान्
यूयमेव भवन्त एव व्रतीन्द्र सूरिमानय वम् । अत्र गन्धारनगरादकमिपुरे आकारयत ।
के इव । त्रियामाविरामा इव । यथा विभावरीणा विरामा दिवसावसानसमया अम्भो-
जबन्धु भास्करमत्र जीवलोके रोद कदरे वा आनयन्ति । तत कुत । यतः कारणा-
न्निजानामात्मनामालोकनान्मुद्गलजातित्वेन भीमाशयत्वाद्दर्शनादेवाविष्कृत प्रगटभाव
प्रापित आतङ्को भय तस्य सर्ग सृष्टियेस्तादृशैरनुन्नीतैरवितर्कितैरजातपूर्वे संप्राप्तैरर्थात्
हीरसूरिसमीपे समागतैर्मद्भृत्यवर्गैर्मम सेवकगणैरमुष्य हीरविजयसूरे समावेर्ध्यानस्य
चित्तस्वास्थ्यस्य वा व्ययो व्यपगम क्षयो भविष्यति । केषामिव । कजानामिव । यथा
सरस्या महत्सरस कजस्य कमलस्य । जातिवाचित्वादेकवचनम् । सर्वजातीयाम्भोजव-
नस्य अकालमेघैरसमयसंप्राप्तपयोवरैर्व्ययो भवति । 'यवनीमुखपद्माना सेहे मधुमद
न स । बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदय ॥' इति रघुवशे ॥ इति राजनगरश्राद्धाना
खानदत्तहीरविजयसूरीश्वराकारणादेशः ॥

विचिन्त्यात्मचित्ते तदादेशमर्हन्मतस्योदयस्वर्द्धुमस्येव बीजम् ।

तपापक्षमुख्याखिलश्राद्धलोका मिलित्वा मिथः प्रोचुरानन्दसान्द्राः ॥४५॥

तपा इति नाम यस्य तादृग्गणस्य गच्छस्य पक्ष स्वीकारो येषां ते तपापक्षाः ।
'अपक्षपातेन परीक्ष्यमाण पक्षः' इत्यनेकार्थवृत्तौ । तेषु मुख्या श्रेष्ठा अखिला समग्रा
श्राद्धलोका श्रावकजना मिलित्वा एकत्र सभूय मिथः परस्परमानन्देन सान्द्रा व्याप्ताः
प्रोचुः कथयन्ति स्म । किं कृत्वा । आत्मचित्ते निजमनसि तदादेशः साहिवखानाज्ञा-
मर्हन्मतस्य जिनशासनस्य य उदयः स एव स्वर्द्धुमः कल्पवृक्षः तस्य बीजं निदानमुत्प-
त्तिकारणमिति विचिन्त्यालोच्य ॥

इतः शासनं शासितुर्न प्रजानामितो वन्दनीया विभोर्वन्द्यपादाः ।

इदं सौरभारोपण जातरूपे त्रिरेखे पयःपूर्तिरप्याविरासीत् ॥ ४६ ॥

इतोऽस्मिन्पार्श्वे एकपक्षे प्रजाना शासितुरकमिपुराधिपतिसाहिबखानस्य शासनमादेश । तथा इतोऽपरस्मिन्पार्श्वे विभो सूरिन्दोर्वन्द्यास्त्रिभुवनजननमस्करणीया पादाश्वरणा वन्दनीया प्रणतिगोचरीकार्या । तर्हि इदमेतज्जातरूपे सुवर्णे सौरभस्य सुगन्धताया आरोपण कर्तव्यमस्ति । पुनस्त्रिरेखे शङ्खे पयसा दुग्धाना पूर्ति पूरणमाविरासीत्प्रकटीभूतम् ॥

हृदन्तर्मुनीन्दोर्निनंसा पुरास्ते नियुक्ता पुनः स्वामिनेदं तदासीत् ।

प्रतिस्थानमालोकमानान्मनुष्यान्समेत्य स्वयं पद्मवासा वृणीते ॥ ४७ ॥

पुरा पूर्वं हृदन्तरस्मिश्चित्तमध्ये मुनीन्दो सूरिन्द्रस्य निनसा नन्तुमिच्छा आरते विद्यते । पुनस्तदुपरि स्वामिना खानेन नियुक्ता आदिष्टा । तर्हि इदमासीदेतज्जातम् । किं प्रतिस्थान प्रति आलोकमानान्पश्यतो मनुष्यान् जनान् स्वयमात्मनैव समेत्यागत्य पद्मवासा कमलालया लक्ष्मीवृणीते वरयति ॥

अल मन्दवद्वो विलम्बैः सगर्भास्त्वरध्व व्रजामः प्रभोः संनिधाने ।

विमृश्येति सर्वेऽभिनिर्माणयोग्य मुहूर्त मिथो निर्णयन्ति स्म पौराः ॥ ४८ ॥

सर्वे पौरा नागरिका राजनगरश्रावका इत्यमुना प्रकारेण विमृश्य विचारयित्वा अभिनिर्माणस्य स्वप्रस्थानस्य योग्यमुचित मुहूर्त शुभवासरवेला निर्णयन्ति स्म । द्विजज्यौतिषिकैर्निर्धारयन्ति स्म । इति किम् । हे सगर्भा भ्रातर , वो युष्माक मन्दवत्क्रियासु कुण्ठा सालसा वा तुन्दपरिमृजा वा मूर्खा वा तद्वत्तेषामिव विलम्बै प्रतीक्षणैरल पूर्यता त्वरध्व शीघ्रीभवत । प्रभोर्गुरो संनिधाने समीपे गन्वारवन्दिरे व्रजामो याम ॥ इत्यकमिपुरश्राद्धाना गुरुवन्दनालोच ॥

अथारुह्य वाह्यानि ते श्राद्धलोका पुरे भूमिशृङ्गारगन्धारसंज्ञे ।

प्रभु वन्दितु प्रीतिमन्तः प्रचेलुर्जिनं स्वर्गिवर्गा इव क्षोणिपीठे ॥ ४९ ॥

अथ मुहूर्तवासरगमनानन्तरं भूमे क्षोणीलक्ष्म्या शृङ्गारे मण्डनायमाने भूपाभूते गन्वार इति सज्ञा नाम यस्य तादृशे पुरे प्रभु हीरविजयसूरि वन्दितु नमस्कर्तु ते पूर्वप्रोक्ता श्राद्धलोका श्रावकजना प्रचेलु प्रतिष्ठन्ते स्म । किं कृत्वा । वाह्यानि रथादीनि वाहनान्यारुह्याध्यास्य । किंभूता । प्रीतिमन्तः प्रमोदमेदुरा । क इव । स्वर्गिवर्गा इव । यथा क्षोणिपीठे भूमीमण्डले जिन तीर्थनायक नेतु नमस्यितु सिंहगजाश्वफणिगरुडादीनि स्वस्वायनान्यविरुह्य देवा प्रचलन्ति व्रजन्ति ॥

शिवश्रीविवाहोत्सुकीभूतचित्तर्यथा यात्रिकैः सिद्धधात्रीधरस्य ।

प्रयाणैरभूयःप्रमाणैरमीभिः समीपे शमीन्दो समागम्यते स्म ॥ ५० ॥

अमीभिः श्राद्धैर्न विद्यते भूयो बहु प्रमाणं येषां तादृशैः प्रयाणैर्निशावासादिलक्षणे प्रतिदिनप्रचलनैः शमीन्दोः सूरौ समीपे पार्श्वे गम्यते स्म समागतम् । यथा यात्रि-

कैर्विविधतीर्थयात्राविधायकैर्जनैः स्लोकमानैरल्पप्रमाणैः निद्वधात्रीवरस्य श्रीशत्रु-
जयशैलस्य सनिवाने गम्यते । किभूतं श्राद्धं यात्रिकैश्च । शिवश्रिया मुक्तिलक्ष्म्या
विवाहे पाणिग्रहणकरणे उत्सुकीभूतमुत्कण्ठितचित्तमनो येषां ते ॥ इति गन्धारे
श्राद्धानां गमनम् ॥

स्फुरद्बाहुशाखः सपाणिप्रवालः प्रवर्हश्रियं विभ्रदभ्रान्तशोभा ।

नखानूनसूनार्चिरुद्यन्मरन्दो नमन्नागरीनेत्रविभ्राजिभृङ्गः ॥ ५१ ॥

द्विजोद्भासितसिद्धिसस्यैकधारी भवग्रीष्मतिग्माशुतापापहारी ।

शिवाध्वन्यससेव्यमानो न्यमालिब्रतीन्द्रोऽध्वशाखी स ते पौरपान्थैः ॥ ५२ ॥

तैरकमिपुरमत्त्वै तत्रागतैर्वा पौरैर्नागरैरेव पान्थैरर्थान्मुक्तिपुरपथिकैः स सर्वजगद्वि-
ख्यातो हीरविजयनामा ब्रतीन्द्रः सूरिरेवाध्वशाखी मार्गच्छायातरु न्यमालि निरीक्षितः ।
किभूतः । स्फुरद्बाहुर्भुजैव शाखा यस्य । पुनः किभूतः । सह पाणिप्रवालेन हस्तपल्लवेन वर्तते
यः । पुनः किं कुर्वन् । प्रवर्हः प्रकृष्टामयः च प्रकृष्टानां वर्हाणां पत्रागाम् । ‘वर्हः पत्रे
परीवारे कलापे’ इत्यनेकार्थः । श्रियः शोभा विभ्रदवत् । पुनः किभूतः । न भ्रान्तत्वेन मिथ्या-
भ्रमज्ञानत्वेन सत्यज्ञानतयैव शोभते इत्येवशीलः । तथा द्रुमायः अन्युच्चैस्तरत्वादाकाशे
अवसानत्वेन शालते इत्येवशीलः । पुनः किभूतः । नखा एवानूनाणि सर्वावयवसंपू-
र्णानि सूनानि कुसुमानि यस्मिन् स तथा । अचिरयन्निस्तानामेव कान्तिरेवोद्यन्प्रकटी-
भवन्मरन्दो मधु यत्र । पुनः किभूतः । नमन्तीनां भक्तिप्रद्वतया चरणारविन्दे लग-
न्तीनां नागरीणां गन्धारनागरिकनारीणां नेत्राणि लोचनान्येव विभ्राजिनः शोभनशीला
भृङ्गा भ्रमरा यत्र । पुनः किभूतः । द्विजर्दशने शकुन्तैश्च उद्भासितः शोभितः । पुनः
किभूतः । सिद्धिर्मुक्तिरेव, अथ वा सिद्धयोऽष्टावणिमाद्या, अथ वा तथा तपःशक्तयो विवि-
दलव्ययस्ता एव सस्यानि फलानि तेषामेकोऽद्वितीयोऽन्येषु तादृक्मादृश्याभावाद्ध-
रतीत्येवशीलो धारी वारकः । पुनः किभूतः । भवः समारः स एव ग्रीष्मः उष्णकालः
तस्य तिग्माशुः सार्यकः नाम चण्डकिरणस्तस्य ज्वेष्ठमासवन्धी तापस्तदुपरि च तप-
नतापो महानिदाघस्तस्य हन्ता अपहन्तीत्येवशीलः । अत्र गीले तृन् । हन्ता हननशीलः ।
वृक्षच्छायायां तापोपशान्तिः स्यादिति । पुनः किभूतः । अध्वन्यमाध्वमार्गप्रस्थितपान्थैः
सम्यग्ज्ञानचारित्रादिपल्लवपुष्पकलादानपूर्वकं नेत्र्यमानः उपास्यमानः । वृक्षवर्मा
पर्वेऽप्यत्रैव दर्शिताः सन्तोति ॥ युग्मम् ॥

नभोऽम्भोदगर्जोर्जितस्तोत्ररावप्रतिध्वानितोपान्तपाथोविमध्याः ।

मुदा हीरसूरीन्द्रपादारविन्दं व्युर्मूर्ध्नि लोहोत्तमोत्तरावत्ते ॥ ५३ ॥

ते श्राद्धा मुदा प्रमोदेन हीरसूरीन्द्रस्य हीरविजयसूरिपुरदरस्य पादारविन्दं चरण-
कमललोहोत्तमानां सुवर्णानामुत्तमवदवतसशेखरसिवमूर्ध्नि निजमस्तके व्युः कुर्वन्ति
स्मः । किभूताः । ननमः श्रावणमासस्य याऽम्भोदो वारिवपा मेघस्तस्य गर्जा गर्जितव-

निस्तद्वर्जिता प्रबला तत्सदृशा वा स्तोत्राणा गोयमसोहमेत्यादिकाना सूरीन्दो स्तु-
तिपाठाना रावा शब्दास्तै प्रतिध्वानित प्रतिशब्दयुक्त कृतमुपान्ते समीपे गन्धारस-
निवौ य पाथोवि समुद्रस्तस्य मध्य जलान्तराल ये । समीपे दूरे वा जलवौ प्रतिध्व-
निर्दृश्यते । यथा नैषधे नलस्य दमयन्तीपरिणयनगमनावसरे—‘विचित्रवादित्रनिनाद-
मूर्छित सुदूरचारी जनतामुखारव । ममौ न कर्णेषु दिगन्तदन्तिना पयोविमध्यप्र-
तिनादमेदुर ॥’ इति ॥

पयःपूरितप्रावृषेण्याम्बुदानामिव स्तोककैरुन्मुखत्वं दधानैः ।

स्फुरद्वाग्विलासामृत पातुकामैः पुरस्तात्प्रभोस्तैरगृह्यन्त वाचः ॥ ५४ ॥

तै श्राद्धे प्रभोर्गुरो पुरस्तादग्रे वाचो वचनान्यगृह्यन्त आदत्ता । कि कर्तुकामै ।
स्फुरन्ती वित्ताह्लादकत्वेनोल्लसन्ती या वाग्वाणी तस्या विलासो वैचित्र्यं स एवामृत
सुवारस तत्पातुमास्वादयितु कामोऽभिलाषो येषा तै । पुन कि कुर्वाणै । उन्मुखत्व
गुरुवदनावलोकनार्थं किचिदुच्चै समुखभाव दधानैर्वारयद्भि । कैरिव । स्तोककैरिव ।
यथा अमृत पयोदपय पातुकामै अत एवोन्मुखत्वमुच्चैर्वदनता चञ्चुपुटत्व बिभ्राणैश्चातकै
पयोभि सलिलै पूरिताना मृतमध्याना तथा प्रावृषेण्याना वर्षाकालसबन्धिनाम् ।
प्रावृषेरेण्यप्प्रत्यय । अम्बुदाना मेघाना पुरस्ताद्वाचो गृह्यन्ते । यदुक्तम्—‘विल-
पति तृषा सारङ्गोऽय त्वमुन्नतिमानहो जलमपि च ते सयोगोऽय कथचिदुपस्थित ।
उपकृतिकृते प्रह्व तेऽत कुरुष्व यदग्रतो भ्रमति पवन कस्त्व कोऽय क ते जल-
बिन्दव ॥’ तथा ‘एक एव खगो मानी चिर जीवतु चातक । पिपामितो वा म्रियते
याचते वा पुरदरम् ॥’ इति ॥

सखीभूतदिकमुभ्रुव. सौविदल्लीकृतौदार्यधैर्यादिभास्वद्गुणौघान् ।

चतुर्वीचिमत्स्वातिक रत्नगर्भावरोधोऽनिश वासयन्कीर्तिदारान् ॥ ५५ ॥

पिपक्षान्विपक्षक्षमाभृतसहस्रान्सृजन्मुद्गलाखण्डल. पूर्वदेशे ।

विभो वर्ततेऽक्रब्धरो द्रष्टुकाम किमाशा निजामुग्रधन्वावतीर्णः ॥ ५६ ॥

हे विभो हे गुरो, पूर्वदेशे इत पूर्वस्या दिशि मेवातमण्डले अक्रब्धरनामा मुद्गलाना
यवनजातिविशेषाणा काबिलजनपदजन्मनामाखण्डलो नाखवो वर्तते । उत्प्रेक्ष्यते—
निजामात्मीयामाशा दिश प्राची द्रष्टु स्वचक्षुणा निरीक्षितु कामोऽभिलाषो यस्य तादृश ।
उग्र प्रबल द्वेषैरवृष्य वन्व देवापुत्र शक्रवनुर्वा स्वाभाविककोदण्डो वा यस्य स उग्र-
धन्वा शक्र इवावतीर्ण क्षोणीमण्डल इवाजगाम । कि कुर्वत् । विपक्षा वैरिण अथ वा
विशिष्टा पुत्रपौत्रमित्रभ्रातृस्वजनानिकादिका पक्षा येषा तादृग्विवा ये क्षमाभृतो
भूपतय । अथ च विशेषा वैशिष्ट्यभाज सर्वत्रोदयसामर्थ्यतन्त पक्षा गरुतो येषा
तादृक्षा ये क्षमाभृत पर्वताश्च तेषा सहस्रान् सहस्रसख्याकान् विपक्षान् विगता

पक्षा परीवारा सहाया वा मित्राणि वा पक्षतयश्छन्दाश्च येषां तादृशान् सृजन् कुर्वन् । पक्षतिशब्देन पक्षा अप्युच्यन्ते । यथा नृपवे—‘दिवमङ्गादभराद्रिरागता घनरत्नकपाटपक्षति’ इति । किं कुर्वन् । अनिश निरन्तर रत्नगर्भा भूमिरेवावरोवोऽन्त पुर तत्र कीर्तय एव दारा पत्न्यस्तान् वासयन् स्थापयन् निवास कारयन् । किंभूतान् कीर्तिदारान् । सखीभूता वयस्यो जाता दिक्मुध्रुव आगावशा दिगङ्गना येषां तान् । पुन किंभूतान् । सौविदलीकृता अन्त पुररक्षका कृता कञ्चुकिभाव प्रापिता । कञ्चुकिनो हि पुरुषा नृपाणामवरोवरक्षाविवायिन स्युरिति स्थितिः । आदार्य दानशोण्डता । अतिदातृत्वमित्यर्थः । वैर्य देनदानवमानवादिभिरचालनीयसत्त्व वीरता आर्द्रा येषां तादृशा भास्वन्तो भुवनेषु स्फूर्तिमन्तः जगच्चेतश्चमत्कारकारिणो वा गुणानामोघा समूहा येषु येषां वा । किंभूता रत्नगर्भा । चत्वार प्राच्यप्रतीच्यापाच्योदीच्यलक्षणाश्चतुः सख्याका ये वीचिमन्त कल्लोलमालिन समुद्रा एव खातिका परिखा यत्र । अत्र गभितोत्प्रेक्षा ॥ युग्मम् ॥

जगन्मानसानामिवाकृष्टिरश्मीन्नुधाधामवद्विभ्रतः शुभ्रिमाणम् ।

कदाचित्समाकर्ण्य युग्मदुणौघान्प्रभून्प्रेक्षितुं काङ्क्षता तेन साक्षात् ॥ ९७ ॥

तनून्निदेश नृपस्येव लेख करे विभ्रतः प्रेषितादृतयुग्मात् ।

प्रभो. सूक्ष्मदर्शीव शास्त्रस्य हार्दं विदित्वा मुदा माहिबः खानमुख्यः ॥ ९८ ॥

इवानूरुरचिष्यतीन्पूर्वशैलं तदीयान्तिकं पूज्यपादान्निनीषु ।

सहायानिवाह्य न श्रीमुनीन्दो मुखं प्रेषयामास व सनिधाने ॥ ९९ ॥

हे श्रीमुनीन्दो, साहिब इति नामा खानेषु यवनसामन्तेषु मुख्यं श्रेष्ठं स मुदा हर्षेण सहायान् सखीनथ वा अनुजीविन इव न अस्मान् आहूयाकार्यं सुखं यथा स्यात् तथा बहुमानपुर सर न तु बलेन वो युष्माकं सनिधाने ममीषे प्रेषयामास प्रहिणोति स्म । साहिबखान किं कर्तुमिच्छुः । पूज्यपादान् श्रीमद्भगवच्चरणास्तदीयान्तिकमकब्बरसाहिपार्श्वं निनीषु नेतुमिच्छुः । क इव । अनूरुरिव । यथा सूर्यसारथिररुणं अर्चिष्यतीन् भास्कगन् पूर्वशैलमुदयाचलं नयति । एतावता अनेनोपमानेन कृत्वा द्वयोरप्ययुदयं सूचितं । किं कृत्वा । दृतयुग्मात्सदेशहार्दिद्वन्द्वात्प्रभोरकब्बरसाहे स्वस्वामिनः हार्दं हृदयाभिप्रायं विदित्वा ज्ञात्वा । क इव । सूक्ष्मदर्शीव । यथा कुशाग्र्यमतिः शास्त्रस्य हार्दमुपनिपदं रहस्यं वेत्ति । दृतयुग्मात्किं कुर्वतः । करे स्वहस्ते लेखं साहिस्फुरन्मानं विभ्रतो वारयतः । उत्प्रेक्ष्यत—नृपस्याकब्बरपातिसाहेर्मूर्तिमन्तं देहभाजमूर्तं वा निदेशमाज्ञामिव । पुनः क्लिप्तक्षणात् । तेन साहिनैव प्रेषितात्स्वयं गुर्जरेषु प्रस्थापितात् । किं कुर्वता । प्रभून् श्रीमद्भगवत्पादान् साक्षात्प्रत्यक्षेण स्वपुरपादावधारितान्निजनयननलिनाभ्यां प्रेक्षितुं विलोकयितुं काङ्क्षता समीहमानेन । किं कृत्वा । कदाचित्कस्मिंश्चिदपि व्यतिकरे विविधविद्वद्गोष्ठीसमये युग्मदुणौघान् श्रीमता गुणगणान्

समाकर्ण्य सम्यक्प्रकारेण श्रवणगोचरीकृत्य । श्रुत्वेत्यर्थः । गुणान् किं कुर्वत । सुधा-
वामवत्पीयूषकान्तीश्चन्द्रानिव शुभ्रिमाण श्वेतमान विभ्रतो वारयत । उत्प्रेक्ष्यते—
जगता त्रिभुवनजनानां सुरासुरनराणामन्त करणानामाकर्षणे स्वसमीपानयने रश्मीन्
रत्नरिव ॥ त्रिभिर्विंशेऽपकम् ॥

सुवर्णोऽप्यवर्णः सुरावासवासी न लेखोऽपि मूकोऽप्युदन्तः ब्रुवाणः ।

प्रभो गृह्यता नागरैरित्युदित्वा स लेखः पुरोऽमोचि वाचयमेन्दोः ॥६०॥

नागरैरकमिपुरश्रावकेरित्यमुना प्रकारेणोदित्वा कथयित्वा वाचयमेन्दो साधुसुवा-
सुचे सुरे पुरोऽग्रे अकव्वरसाहिप्रहितो लेखः स्फुरन्मानापरनामा अमोचि मुक्तः ।
सूरीणां पाणिपद्मे समर्पित इत्यर्थः । इति किम् । हे प्रभो, अयं लेखो गृह्यताम् ।
किंभूतः । सुशोभनो वर्णो ब्राह्मणादिर्विद्यते यस्य । पुनः किंभूतः । अवर्णः न विद्यते
वर्णो यस्य । इति विरोधः । विरोधशान्तौ तु विशिष्टः शुक्लादिरयं वा शोभनः स्वर्णम्
अयं वा चित्रमालेख्यं वा यस्मिन् सः । अयं कृष्ण इव श्यामा वर्णा अक्षराणि यत्र ।
'वर्णः स्वर्णे मखे स्तुतौ ॥ रूपे द्विजादौ शुक्लादौ कुर्यादाक्षरे गुणे । भेदे गीतक्रमे
चित्रे यशस्तालविशेषयोः ॥ अङ्गरागे च वर्णः तु कुङ्कुमे' इत्यनेकार्थः । पुनः किलक्षणः ।
लेखो देवोऽपि सन् सुराणां निर्जराणामावासे वसतीत्येवशीलः । अयमपि विरोधः ।
लिख्यते लिपीक्रियते स्वहृदयगतोदन्तादिगत्रेति लेखः । पुनः किंभूतः । मूकः अवागपि
वचनरहितोऽपि उदन्तः वाचिकः सर्वसमाचारः ब्रुवाणो वदन् । अयमपि विरोधः ।
शान्तौ तु प्रेषकेणान्तलिपिविषयीकृतः सविस्तरः वाचिकः कथयन् ॥ इति श्राद्धानाम्
कव्वरसाहिसाहिवखानयोः उदन्तकथनपूर्वं गुरुणा तत्स्फुरन्मानार्पणम् ॥

प्रदेशीव केशित्रतिक्षोणिशक्रैरसौ बोधनीयो नृप पूज्यपादैः ।

महान्तो हि विश्वोपकृत्यै यतन्ते घनाः किं न सर्वं जगज्जीवयन्ति ॥६१॥

पूज्यपादे श्रीपूज्येरसा नृपोऽकव्वरपातिसाहि बोधनीयः प्रतिबोधयितव्यः वरमे-
स्थापनीयः । क इव । प्रदेशीव यथा केशित्रतिक्षोणिशक्रे वीर्यनामगणवरे प्रदेशी-
नाम नृपो बोधितः श्रीमज्जिनवर्मस्थापितः । हि यस्मात्कारणात् महान्तः सन्तो विश्वस्य
जगज्जनस्य उपकृत्यै उपकारकृते यतन्ते उद्यमः कुर्वन्ति । तदेव दृष्टान्तयति—घना
मेघाः सर्वं समस्तं सचराचरं जगद्विश्वजनं किं न जीवयन्ति । अपि तु स्ववारिदृष्टिभि-
र्जीवयन्त्येव । यदुक्तम्—'सप्रति न कन्पतरवो न सिद्धयो नापि देवता वरदा ।
जलदं त्रयि विश्राभ्यति जगतोऽपि हि जीवितारम्भः ॥' इति जीवनदायित्वाच्च ॥

अपेक्षा च न क्वापि कुर्वन्ति सन्तः स्वभावेन किं नृपकुर्वन्ति सर्वान् ।

किमभ्यर्थितानि प्रसूनानि कैश्चिज्जनान्सौरभैः स्वैर्यदामोदयन्ति ॥ ६२ ॥

च पुनः क्वापि कुत्रापि स्थाने यः कश्चिदभ्येत्यात्यर्थं मामभ्यर्थयते तस्याहं कृत्यं
करोमीत्यपेक्षाः । ता न कुर्वन्ति किं तु सन्तः स्वभावेनैव सर्वानुपकुर्वन्ते । परेपामा-

त्मव्यतिरिक्तानामुपकारपरायणा न्यु । तदेव दर्शयति—कश्चिद्रोगादृग्निमि पुष्प-
रागत्य प्रसूनानि कुसुमानि मिमिति ग्रन्थे अभ्यधितानि यद्यसन्वेद अस्मान्मयमारम
सुगन्धीकुरुतेति किं प्राथितानि । यत्कारणात् स्वगान्धे मारम परिसल कृत्वा
जनान् लोकानामोदयन्ति सुरभीकृर्वन्ति । ‘आमोदो गन्धवत्पयो’ इत्यनेकाय ।

कदाचिद्वसन्तस्य संदेशवाचोऽपि च प्रेषिता कापि किं कुञ्जलभ्या ।

मृगाक्षीमिवोत्कण्टका मञ्जरीभिः प्रमृनैरयं हामयामास यत्नाम् ॥ ६३ ॥

अपि पुनरये । अपि चापराये च । कदाचित्कस्मिन्नपि समये कापि कुत्रापि स्थाने कुञ्ज-
लभ्या वनश्रिया वसन्तस्य वसन्तसमयस्य किं संदेशवाच उदन्ता प्रेषिता प्रहित्ता सन्ति ।
यत्कारणादयं वसन्तस्तामुद्यानेन्दिरा मृगाक्षी न्यमारुह्योचना प्रेवर्त्तमिव प्रसून स्मेरकु-
सुमै कृत्वा हामयामास । कान्तोऽपि स्वकान्ता प्रमृतादिमृगीभिः हामयति । हान्यकलि-
तामिव चकारेत्यर्थः । किमता श्रिय कान्ता च । कन्तिनानि सुरभिसमवत्स्यमानासा-
नपादेषु नवप्रकटीभवत्कुसुमकोरक कण्टका सरोमावकुसुमसुच रोमादा च ॥

किमन्यर्थ्यते केनचिच्चण्डरोचिर्यदुर्वादिना सामग्रत्येव यद्वा ।

विपक्षानिवोद्वासयत्यन्धकारान्पुनर्योजयत्यङ्गनाभी गथाङ्गान् ॥ ६४ ॥

यद्वा अथ वा केनचिच्चक्रवाकादिना चण्डरोचि सूत्र त्रिमन्यवते । यत्कारणादेव
चण्डरोचि उवादिवा भर्मानभनी भामयति प्रकाशयति । पुनःपक्षान् सत्रन् इव
अन्वकारान्तमानि । अन्वकारशब्द पुङ्गीवलिङ्गो । ‘नेत्र वरुपवित्रपत्रमसगसी-
रान्वकारा—’ इति लिङ्गानुशासने । उद्वासयति लोकमन्वादिष्वस्यति । पुनर्वि-
योगव्याकुलान् रथावाश्चक्रवाकान्गनाभि स्वगथाङ्गान् श्रीभि रत्न योजयति । सगम
कारयतीत्यर्थः ॥

अयाच्यन्त किं वाम्बुदा केनचित्किं यदुर्वावगणा व्यपोहन्ति तापम् ।

जलैर्जीवयन्तीह वप्पीहवालांस्वनादैश्च वैदूर्यमुद्गावयन्ति ॥ ६५ ॥

किं च पुनरये । केनचित्पर्वतचातकादिना किमम्बुदा मेषा अयाच्यन्त प्राथिता ।
यत्कारणादुवावगणा पर्वताना यद्वा उवा वगणा गैलाना च । प्रावापर्वतभवरवरा’
इति हैम्यान् । तथा वर कृमादिषु गिरो । कर्पमकूले’ इत्यनेकाय । ताप निदाप्र-
दाघ व्यपोहन्ति निघ्नन्ति जमयन्ति । यदुक्तम्—‘वारावरा एव जरावगणा निदाप्र-
दाघविघ्नानदक्षा’ इति । पुनरिह जगति वप्पीहवालाश्चातककपोतान् जल स्ववृष्टि-
सलिलपान कृत्वा जीवयन्ति । पुन स्वनादैर्निजगजारववदूय विदूरपर्वते बालवायु-
जापरनामवेदूर्यरत्नशङ्खम् । जानावेकवचनम् । उद्गावयन्ति प्रकटयन्ति । मेषगजितर्हि
विदरशले वेदूर्यशलाका प्रादुर्भवन्तीति कविसमयः ॥

उपाकारि किं कैरैवैवा चकोरैर्यदेतान्मिताशु पृणत्येव किं वा ।

सगोत्रा पुनश्चन्द्रिका किं वरिञ्च्या शुचीकृर्वते ता यदन्ता सुवावत् ॥ ६६ ॥

किं वा अथ वा कैरवै कुमुदैर्वा अथ वा चकोरैर्ज्योत्स्नाप्रिये किं सितांशोश्चन्द्रस्य
उपाकारि उपकृतम् । यद्यस्मात्कारणादेप प्रत्यक्ष मित।गुरेतान्कैरवचकोरान् पृणति
प्रीणयति । विकाशामृतज्योत्स्नापानेरिति शेष । 'पृणत् प्रीणने' तुदादिर्वातु । पुनश्चन्द्रि-
काश्चन्द्रज्योत्स्ना किं वरिञ्च्या भूमे सगोत्रा सजातय सन्ति । यत्कारणादेता कौमुद्य
ता वसुवरा मुवावदमृताप्लावा इव । 'छोट' इति लोकप्रसिद्धा मुवा इव शुचीकुर्वते
ववलयन्ति । 'मुवावन्तो दृश्यन्ते अतः प्रचुरा प्रासादा वहिश्च वारणेन्द्रा' इति च-
म्पूकथायाम् ॥ इत्युपकारकरणकथनम् ॥

न चैवं हृदा चिन्तनीयं शमीन्दो ढधानोऽसिवत्स्वेन निस्त्रिशभावम् ।

तमः श्वेतकान्तेरिव म्लेच्छमौलिः कदाचित्स मे मा विदध्याद्विरुद्धम् ॥६७॥

शम क्षान्ति शत्रौ मित्रे च समभावो विद्यते येषां ते शमिनस्तेषां मत्स्ये इन्दुरति-
शायिशान्तिरसभृद्गार तत्सबोवनम् । त्वया हृदा मनमाप्येवममुना प्रकारेण न नैव
चिन्तनीय विचारणीयम् । एकवचनं तु भक्तिवशात् वीतरागस्तवजयतिहुअणप्रमु-
खादौ दृश्यते—'तवाङ्गे भृङ्गता यान्ति नेत्राणि सुरयोषिताम्' इत्यादि । तथा 'तु साम-
यितु मायवापतुमित्तपिय कुरु' इत्यादि । यदेप असिवत्कराल इव स्वेनात्मना निस्त्रिश-
भावः कृस्वभावम् । 'कृरे नृशसनिस्त्रिगौ' इति हेम्याम् । पक्षे निस्त्रिशता चन्द्रहासताम् ।
'करवालनिस्त्रिशकृपाणखद्गा' इत्यपि हेम्याम् । दधानो बिभ्राण । म्लेच्छानां मुद्गलानां
मत्स्ये मौलिः मुकुटः अकव्वरपातिसाहिः कदाचित्कस्मिन्नपि प्रश्नोत्तरीप्रतिवचनादिस-
मये भवत्समीपगतस्य मम विरुद्धदुष्टमनार्यत्वमा विदध्यान्मा कुर्यात् । क इव ।
तम इव । यथा सैहीकेय श्वेतकान्तेश्चन्द्रस्य कदाचित्पूणिमाप्रान्ते एव नान्यदिनेषु,
इति विरुद्धगिलनलक्षणविरुद्धविदधानि ॥

अपि स्वापकर्तुर्जनस्योपकारप्रकुर्वन्त्यसावौचिती सत्तमानाम् ।

कुठारं स्वशाखाविशेषालुनान यतो गन्धसारं सुगन्धीकरोति ॥६८॥

हे प्रभो, स्वस्यात्मनोऽपकर्तुर्विरोधविवातुरपि जनस्य उपकारशिष्टाचारतादान-
मानभोजनादिकप्रकरणेण कुर्वन्ति । असावेपा पूर्वोक्तलक्षणा सत्तमाना महतामौचिती
उचितकारिता योग्यता स्वभाव एव वर्तते रीतिरेवास्ति । यतः कारणात् गन्ध एव
सारस्य फलपुष्पवर्जितत्वात् । 'यद्यपि चन्दनविटपी विविना फलपुष्पवर्जितो वि-
हित' इत्युक्तत्वात् चन्दनद्रुमस्वशाखाविशेषान्निजशिखाग्राणि लुनान छिन्दानमपि
कुठारपरशुसुगन्धीकरोति सुरभयति ॥

महात्माथ वा येन नीयेत तापं प्रयत्येत तेनैव तस्योपकर्तुम् ।

दहेद्यो निजचूर्णयित्वा कृशानौ तमेव स्वयं धूपयेत्काकतुण्डः ॥६९॥

अथ वा इति स्मरणगर्भे पक्षान्तरे वा महात्मा सत्तम येनानार्येण पुसा तापस-
तापं नीयेत प्राप्येत तेनैव महात्मना तस्यैव स्वोपतापकर्तुः पुरुषस्यैव उपकर्तुः

सम्यग्विधातुं प्रयत्येत प्रयन्तः क्रियेत । तदेव दर्शयति—य पुमान् निजमात्मानमगुरुमेव चूर्णयित्वा शकृत्कृत्य कृशाना ज्वलज्वलने दहेद्रस्मीकयान् ज्वालयेद्वा स का-
कतुण्ड कृष्णागुरुः तमेव स्वदाहकारिणं पुमान् अपयेत्पुनश्च कुर्यात् । तस्य सर्वाङ्गा-
प्यपि वामयेदेव ॥

सता स्वोपकर्तापकर्ता च चित्तेऽथ वैका तुला प्राप्नुतो निर्विशेषम् ।

विपेन्दू इवानङ्गदम्योः सुधोर्वीविवाग्धेः पुनश्चन्द्रिकाङ्काविवेन्दोः ॥७०॥

अथ वेति पुनः पक्षान्तरे । स्वस्यात्मन उपकर्ता उपकारक, च पुनरथ स्वस्यापकर्ता
विरुद्धकृत्, एतो द्वावपि सतामुत्तमाना चित्ते अन्न करणे एकां साधारणीं तुला सादृश्य
प्राप्नुत । सदृशीभाव लभेते इत्यर्थः । कथम् । निर्गतो विशेषो मानापमानलक्षणो यत्र तन्नि-
र्विशेषम् । क्रियाविशेषणम् । कस्येव । अनङ्गदस्योरिव । यथा शमोर्विष कण्ठदाहकृत्काल-
कूट तथा इन्दु चूडामणिशोभाकृच्चन्द्र । पुनः कस्येव । अङ्गेरिव । यथा समुद्रस्य जग-
जीवनौपव सुधा पीयूष तथा उर्वो निजाखिलमलिलगोपकृद्भवानलश्च । पुनः कस्येव ।
इन्दोरिव । यथा चन्द्रिका जगदुद्द्योतविवायिका चन्द्रगोष्ठिका तथा अङ्गः स्वकलङ्कदा-
यक लाञ्छन च तुल्या तुला लभेते निर्विशेषभाव भजत ॥ इति सतामपकारकारिण्यु-
पकारकरणविज्ञप्तिः ॥

समुत्कण्ठुल मानस मेदिनीन्द्रः प्रभौ यद्विभत्येष सैष्ये करीव ।

जलस्येव दुग्धेन मङ्ग सिन्धुक्षोम्वया किं पुनर्वाच्यमम्योपकृत्यै ॥७१॥

यत्कारणादेषोऽकञ्चरनामा मेदिनीन्द्रः पृथिवीपुरदर पातिसाहि प्रभौ श्रीमद्विषये
समुत्कण्ठुलम् । ‘सोन्मुकमुत्कण्ठुलम्’ इत्याचारप्रदीपे प्रतिक्रममूत्रवृत्तां च । श्रीमदन्नशेखर-
सूरिकृतो । उत्कण्ठाकलित मानस मनो विभर्ति वत्ते । क इव । करीव । यथा गजेन्द्र-
स्वमदशोभाविवायिनि सैष्ये शिशिरश्रुता उत्कण्ठिता मनोवृत्तिं दधानि । ‘करिणा हि
शिशिरतो मदोद्भावो भवेत्’ इति वाग्भटकाव्यानुशासने । तत्कारणान् पुनरस्य पाति-
साहेरुपकृत्यै उपकृतिकरणाय किं वाच्यं श्रीमता वक्तव्यं किमस्ति । अस्य किं कर्तु-
मिच्छो । त्वया भगवता सम सद सयोग मिलन सिन्धो स्रष्टुमिच्छो कर्तुंकामस्य ।
केनेव कस्य । दुग्धेनेव जलस्य मलिलस्य । यथा जल पयसा साक मङ्ग सिन्धुति
विधातुमिच्छति ॥

प्राणिघ्नन्वने व्याधवन्नैकसत्त्वानमत्त्वीकृताशेषविद्वेषिवर्गः ।

ततो हेमचन्द्रेण चालुक्यभूमानिवासौ त्वयाकञ्चरो वोवनीयः ॥७२॥

ततः कारणात् सत्तमन्वहेतो त्वया श्रीमता अमौ अकञ्चरो नाम मुद्गलपानिमा-
हिवोवनीयः प्रतिबोधः प्रापयितव्यः । केनेव । हेमचन्द्रेणेव । यथा हेमचापेण चालुक्य-
भूमान् कुमारपालभपालः प्रतिबोधः लम्बितः । जना किं कुर्वन् । वने वानने उपलक्ष-

णाद्गिरिगङ्गारारण्यादौ व्याववहृव्यक इव नैकान्मानातीतान् सत्त्वान् मृगादिप्राणिनः
प्रणिघ्नन् व्यापादयन् । पुन किभूत । असत्त्वीकृता बलरहिता कृता वैर्यापगमात्
कातरा विहिता वा । 'सत्त्व द्रव्ये गुणे वित्ते व्यवसायस्वभावयो । पिशादावात्मभावे च
बले प्राणेषु जन्तुषु ॥' इत्यनेकार्थः । व्यवसायरहिता वा निर्मिता अशेषा समस्ता
विद्वेषिणा वर्गा पक्षा येन स ॥

हिमोर्वीधरोर्वीव सिन्धोः सुराणा कृपाया उपादानमुक्तिस्त्वदीया ।

महत्त्वं विभोर्लप्स्यते चित्तवृत्तौ पयो मौक्तिकत्वं घनस्येव शुक्तौ ॥७३॥

हे प्रभो, त्वदीया श्रीमत्सबन्धिनी उक्तिर्वचनचातुरी सचित्तवर्मदेशना वाग्विलासो
वा विभो स्वामिनोऽक्रब्धरस्य चित्तवृत्तौ मनोविषये महत्त्व प्रौढिमान प्रतिष्ठा लप्स्यते
प्राप्स्यति । किमिव । पय इव । यथा घनस्य स्वातिनक्षत्रसबन्धिजलवरस्य वृष्टिमुक्त
वारि शुक्तौ शुक्तिकाया विषये मौक्तिकत्व मुक्ताफलभाव लभते । किभूतम् ।
कृपाया जगजीवदयाया उपादान मूलकारणम् । केव । हिमोर्वीधरोर्वीव । यथा हिमा-
चलवसुवा सुराणा देवाना सिन्धोर्नद्या गङ्गाया उपादान मौल कारणम् । 'चुल्लहि-
मवत्पद्मद्रवादाविर्भवति भागीरथी' इति जिनमते । शैवे तु 'हिमवतो गङ्गा प्रभवति'
इति भवेत् ॥

पयोदा इव प्रावृषेण्या नमन्तः प्रभोश्चक्रपाणेः पद संस्पृशन्तः ।

निगद्येति वाचयमेन्दोः पुरस्ताद्व्यषेवन्त जोषं मुखे श्राद्धमुख्याः ॥७४॥

ते श्राद्धमुख्या अकमिपुरसक्तश्रावकपुङ्गवा वाचयमेन्दो सावुसुवारुचे सूरौ पुर-
स्तादित्यमुना प्रकारेण निगद्य कथयित्वा । विज्ञप्येत्यर्थः । मुखे निजानने जोष तूष्णींभाव
न्यषेवन्त सेवन्ते स्म । मौन कृत्वा स्थिता । कि कुर्वन्त । नमन्तः प्रणमनप्रह्वीभ-
वन्त । पुन कि कुर्वन्त । संस्पृशन्त अर्यान्मस्तकेन सघट्टयन्त वन्दमाना । किम् ।
पद चरणम् । कस्य । प्रभो सूरौ । किभूतम् । चक्र चक्रिण आयुवविशेष रथाङ्ग पाणौ
आकृत्या महापुरुषत्वेन हस्ते यस्य । के इव । पयोदा इव । यथा प्रावृषेण्या वर्षा-
कालसबन्धिनो वारिवृष्टिविशिष्टमेघा नमन्ति समुन्नम्यायान्ति । जलभरपूर्णत्वाद्भूमा-
वुपेत्य लगन्ति । तथा चक्रपाणेर्विष्णो पद गगनमण्डल च स्पृशन्ति ॥ इति प्रभो.
साहिसमीपे गमनार्थं श्राद्धाना विज्ञप्ति ॥

तदीया गिरं कर्णिकावत्सुवर्णाङ्किता सूक्तिमुक्तावलीशालमानाम् ।

विमुक्ताङ्गरागोऽपि भोगीव योगीश्वरः कर्णपूरीचकोरेति चित्रम् ॥७५॥

विमुक्तास्त्यक्ता अङ्गस्य स्वशरीरस्य रागाः क्षानोद्वर्तनविलेपनभूषणवारणादयो
येन तादृशोऽपि सन् । योगिना यमनियमकरणप्राणायामप्रत्याहारवारणाध्यानसमाधि-
नामधेयानामष्टाङ्गयोगसावकाना मनोवाक्काययोगवता वा साधूनामीश्वरो नायको राजा
सूरि भोगीव सासारिकभोगभागिव तदीया श्राद्धसबन्धिनी गिर विज्ञप्तिवाणी कर्णि-

कावत्कर्णभूषणमिव कणो पूर्यते अनयेति कर्णपूरा तामकर्णपूरा करोति स्मेति कर्ण-
पूरीचकार इति चित्र महदाश्चर्यमास्ते । यत कर्णभूषण तु भोगीन्द्रस्यैव युज्यते न तु
योगीन्द्रस्य । अयं तु योगीन्द्रोऽपि सन् कर्णिका द्वारेत्याश्चर्यम् । किंभूता कर्णिकाम् ।
सुवर्णेन काञ्चनेनाङ्कितां घटिताम्, सुशोभना वर्णा अक्षराणि तैः कलिताम् । पुनः
किंभूताम् । सुष्ठु हृदयाह्लादविधायिन्य उक्तयो वचनचातुर्य एव मुक्तावली मौक्तिक-
पङ्क्ति तथा शालमाना शोभमाना । पक्षे श्लेषे शमयोरैक्यान् शुक्तीना शुक्तिसव-
न्विनीना मुक्ताना मुक्ताफलानाम् । एतावता भद्रगजवशाना निपेव । आवली माला
प्रान्तनिबद्धा धोरणी तथा शालमाना दीप्यमाना ॥

महीमण्डलान्तः किमाविर्भवन्तं पुनः शासनस्योदयं श्रीजिनेन्दोः ।

अशेषावनीशासितुः शासन तन्निशम्येत्यसौ चिन्तयामास चित्ते ॥७६॥

असौ हीरविजयसूरि अशेषावनीशासितुः समस्तक्षितिपालपालयितुरकब्बरस्य
तत्स्वस्याकारणलक्षण शासनमादेश निशम्याकर्ण्य इत्यमुना प्रकारेणाग्रे वक्ष्यमाण चित्ते
स्वमनसि चिन्तयामास विचारयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—तच्छासन पुनरस्मिन्वर्तमाने
कलिकालेऽपि महीमण्डलान्त पृथिवीपीठमध्ये आविर्भवन्त प्रकट जायमान श्रीजिने-
न्दोर्महावीरस्य भगवत शासनस्योदयमभ्युद्गममिव ॥

अयं हन्ति द्वाग्निवद्वन्यजन्तून्प्रचण्डाशयो दण्डभृद्वद्यदास्ते ।

क्षितौ स्वं निधानं धनीवावनीन्दोस्तदेतस्य चित्ते कृपां निक्षिपामि ॥७७॥

यत्कारणादयमकब्बरो मुद्गलपातिसाहि द्वाग्निवद्वावानल इव वने भवान् वन्यान्
काननोत्पन्नान् जन्तून् शशशवरवराहहरिणादिसत्त्वान् हन्ति निपातयति स्वतन्त्राखे-
टकक्रीडावशवदतया व्यापादयति । पुनर्यत्कारणादयं हमाजनन्दन दण्डभृद्वद्यम इव ।
प्रचण्डो रौद्रो निर्दय आशयश्चित्तमभिप्राय परिणामो वा यस्य तादृश आस्ते ।
तत्कारणादेतस्यावनीन्दोरकब्बरसाहेश्चित्तेऽन्त करणे कृपा दया विश्वसत्त्वोपरि करुणा
निक्षिपामि स्थापयामि । क इव । वनीव । यथा धनवान् पुमान् स्वमात्मीय निवान
सुवर्णरूपकमणिमौक्तिकपूर्णकुम्भमञ्जुषाकटाहादिक निधि क्षितौ वसुधाविषये निक्षिपति
न्यासीकरोति ॥

दधानेन धर्म्या धुरं किं क्षितीन्द्रः कृत संमुखीनः स केनापि धर्मे ।

फलाभ्युद्गमे विश्वलोकपृणेन प्रसूनव्रजेनेव विस्मेरशाखी ॥ ७८ ॥

धर्म्या धर्मसबन्विनी धुर धुवी दधानेन विभ्रता । धर्मधुरवरेणेत्यर्थः । केनापि सत्त-
मेन स क्षितीन्द्र पातिसाहि धर्मे जैनधर्मविषये समुखीनोऽभिमुख कृत विहितः ।
केनेव । प्रसूनव्रजेनेव । यथा विश्वलोकपृणेन समस्तजगजनानन्ददायिना कुसुमप्रकरेण
विस्मेरशाखी विनिद्रद्रुम फलानां स्वजातियोग्याना मस्यानामभ्युद्गमे प्रादुर्भावे समुख

क्रियते । यत प्रायः कुसुमेभ्यः एव फलान्याविर्भवन्ति । यदुक्तम्—‘अहो अमेघजा
वृष्टिरहो अकुसुमज फलम् । अहो पुराकृत पुण्य यदृष्टो नाथलोचनैः ॥’ इति जिनस्तुतौ ॥

किमाविर्बभूवे स्वभावेन धर्मे धिया शांभवे काश्यपीशासितुर्वा ।

यदन्तर्मदीयागमं लिप्सतेऽसौ विलासीव पुस्कोकिलः पुष्पकालम् ७९

अथ वा काश्यपीशासितुर्भूपालस्य विद्या बुद्ध्या स्वभावेन सहजेनैव शांभवे जैने ।
‘शम्भुः स्वयम्भूर्भगवान् जगत्प्रभुस्तीर्थकरः’ इति हैम्याम् । धर्मे किमिति वितर्के प्रश्ने वा ।
आविर्बभूवे प्रकटीभूतम् । यद्यस्मात्कारणादसौ नृपः अन्तश्चित्तमध्ये मदीयागमः समाग-
मः लिप्सते कामयते वाञ्छति । क इव । पुस्कोकिल इव । यथा पुमान्कोकिलः
पुष्पकालः वसन्तसमयः समीहते । किभूतः । विलासी क्रीडालालसः । वसन्ते हि कोकि-
लानां मदोदयस्ततस्तत्रैव क्रीडासक्तिः ॥

अथो जल्पतस्तान्प्रति श्रीव्रतीन्दोः क्षितीन्दोर्दधानस्य निर्देशमन्तः ।

ध्वनिर्निर्वभौ ढौकितो वाहिनीनां धवेनेव गम्भीरिमश्रीजितेन ॥८०॥

अथो तच्छ्रद्धाकथनानन्तरं तदुक्तिश्रवणादनु मनसि विमर्शानन्तरं वा तान् श्राद्धान्प्रति
जल्पतः प्रतिवदतो मुनीन्दोर्हीरगुरोर्ध्वनिः शब्दो निर्वभौ निःशेषतया भाति स्म ।
‘अक्षबीजवलयेन निर्वभौ’ इति रघुवशे । किं कुर्वाणस्य । व्रतीन्दोः क्षितीन्दोर्मेदिनीच-
न्द्रस्य पातिसाहेर्निर्देशमादेशमन्तः स्वचित्तविषये । ‘आज्ञां शिष्टिनिराङ्गिभ्यो दशो
नियोगशासने’ इति हैम्याम् । दधानस्य विभ्राणस्य । उत्प्रेक्ष्यते—गम्भीरिमश्रिया
गाम्भीर्यलक्ष्म्या । ‘गम्भीरिमगुरुगुरुम्’ इति पाण्डवचरित्रे । जितेनाभिभूतेन वाहिनीनां
नदीनाम् । सेनानामित्यप्यर्थः । धवेन भर्त्रा स्वामिना वा सेनान्याः समुद्रेणेव ढौकितः
उपदाकृत इव ॥

निनसोर्जिनाधीशकल्याणकोर्वीमभूत्पूर्वमेवाशयः पूर्वदेशे ।

विहर्तुं ममार्हन्मताम्भोजभृङ्गा यियासोरिवाशा विजेतुं नृपस्य ॥८१॥

हे अर्हन्मतः श्रीमज्जिनशासनं तदेवाम्भोजं विजृम्भमाणकमलं तत्र भृङ्गा भ्रमरा
जिनशासनैकतानमानसा हे श्राद्धाः, पूर्वदेशे प्राचीमण्डले विहर्तुं विहारं विवातुं पूर्वं
नृपाकारणश्रीमत्कथनेभ्यः प्रागेव समाशयः परिणामः अभूद्बभूव । मम किं कर्तुमिच्छोः ।
जिनानां सामान्यकेवलानामवीशास्तीर्थनायकत्वादहन्तश्चतुर्विंशतितीर्थकृतस्तेषां जन्म-
दीक्षाकेवलज्ञानमोक्षगमनप्रमुखकल्याणकानामुर्वी भूमिं निनसोर्नन्तुमिच्छोः । कस्येव ।
नृपस्येव । यथा आशाश्चतस्रोऽपि दिशो विजेतुं स्वायत्तीकर्तुं यियासोर्गन्तुमिच्छोः
नृपस्य चक्रिणो विजयिनो मण्डलीकभूपालस्य वा पूर्वं पूर्वदेशे विहर्तुं गन्तुमभिप्रायो
भवति । विजयी राजा हि पूर्वं पूर्वदिशि यातीति स्थितिः ॥

समागान्ममाह्वाननं भूमिभानोः पुनर्बप्पभट्टेरिवामस्य राज्ञः ।

दिनारम्भवन्मोहनिद्राशयालुं ततस्तत्र गत्वा तमुद्धोधयामि ॥ ८२ ॥

हे श्राद्धा', पुनर्नमश्चिकीर्षोरपरि भूमिभानोरकब्बरसाहेर्ममाह्वाननमाकारण समागात् सम्यग्रीत्या अनुकूलवृत्त्या न बलहठप्रकृत्या । आह्वाननशब्दोऽपि दृश्यते । यथा चम्पूक-
थायाम्—'तत्तातस्य कृतादरस्य रभसादाह्वानन दूरतस्तच्चाङ्गे विनिवेदय बाहुयुगलेना-
श्लिष्य सभाषणम् । ताम्बूल च तदर्धचर्वितमतिप्रेम्णा मुखेनार्पित पापाणोपम हा कृ-
तघ्न हृदय स्मृत्वा न कि दीर्यसे ॥' इति । 'समागान्ममाह्वानमुर्वीमघोन' इति पाठान्तरं
वा । उर्वीमघोनः पृथ्वीपुरंदरस्याकब्बरस्य मम सम्यङ्मानपूर्वकमाह्वानमाकारणमागात् ।
कस्येव । बप्पभट्टेरिव । यथा बप्पभट्टिसूरेरामस्य गोपालगिरिराजनगरराजितकान्यकुब्ज-
जनपदनायकस्य राज्ञो भूपालस्याकारण समागात् । 'पितृदत्तराज्योपविष्टामराजेन स्वप्र-
धानपुरुषान्प्रेष्यातिमैत्र्याद्गुरुपार्श्वद्वापभट्टिराकारित' इति तत्प्रबन्धात् ज्ञेयम् । ततः
कारणात् तत्र पूर्वदेशे गत्वा तमकब्बरपातिसाहिमहमुद्रोवयामि उत्प्रावल्येन सम्य-
ग्ज्ञानशालिन करोमि । प्रतिबोधयामीत्यर्थः । किभूतम् । मोहोऽज्ञानमेव निद्रा तन्द्रा
तथा कृत्वा शयालु शयनशीलम् । सदसद्विवेकाभावविकलीभूतमित्यर्थः । किवत् ।
दिनारम्भवत् । यथा प्रभात मौढ्येन निद्रया शयान जगज्जागरयति ॥

ततः पूर्वसूरीन्द्रवत्प्राच्यदेशे प्रणम्या मया श्रीजिनाधीशितारः ।

मयीतः प्रयाते यतस्तत्र धर्मोऽधिगन्ता विवृद्धि मृगाङ्गे कलावत् ८३

ततः कारणात् पूर्वसूरीन्द्रवत्प्राचीनाचार्यवत् मया प्राच्यदेशे पूर्वदिङ्मण्डले श्रीजि-
नाधीशितारः श्रीमज्जिननायका प्रणम्या नमस्करणीया । यतः कारणात् मयि
इतोऽस्मात्स्थानाद्गुर्जरेभ्यो वा तत्र मेवातमण्डले साहिपार्श्वे वा प्रयाते सति धर्मो वि-
वृद्धि विशेषेण वृद्धि पुष्टि दीप्ति वा अधिगन्ता प्राप्स्यति । 'अधिगत विविवद्यदपाल-
यत्' इति रघौ । अधिगत प्राप्तम् । 'अधिगत्य जगत्यवीश्वरादय मुक्ति पुरुषोत्तमात्तत'
इति नैषधे । अधिगत्य प्राप्येति स्वस्तनीप्रयोगस्तातारौतारम् । किवत् । कलावत् ।
यथा मृगाङ्गे चन्द्रे पूर्वदेश गते सति कला वृद्धिमधिगच्छति ॥

प्रतिष्ठासमानस्य मे वाङ्मिषेधी हितं काङ्क्षता केनचिन्नो निगद्या ।

यदत्रान्तरायीभवन्नम्बुदानामिवावग्रहः कस्य न स्यादनिष्टः ॥ ८४ ॥

हे श्राद्धा , प्रतिष्ठासमानस्य पूर्वदेशान् प्रति प्रस्थातुकामस्य प्रचलितुमिच्छतो मे
मम हितमायतौ इष्ट समीहितार्थ काङ्क्षता वाञ्छता केनचिच्छाद्धेन साधुना वा चतुर्वि-
धसधमध्ये केनापि निषेवी निषेविका निषेव प्रतिपादयित्री वाक् वाणी नो निगद्या न
वाच्या न कथनीया । यत्कारणादत्र कार्ये ममान्तरायीभवन् विघ्नकर्तृत्वेन जायमानः
कस्य हितैषिणो वर्मवृद्धिविवातु पुसोऽनिष्टो द्वेषकारी असूयाकारण न स्यात् । अपि तु
सर्वस्यापि धार्मिकस्यानिष्ट एवेति । क इव । अवग्रह इव । यथाम्बुदाना जलदायकाना
मेघानामवग्रहो वृष्टिरोवविवायी जगतोऽप्यनिष्ट स्यात् ॥

अनध्यायिकास्ये तिथिर्वास्यते स्माश्रये प्राघुणीवेत्युदित्वाथ तेन ।

निजास्यामृताशोस्तिथीना प्रणीत्व तदा सार्थकं स्वेन निर्मित्सतेव ८५

अथेति पूर्वोक्तकथनानन्तर तेन हीरसूरिणा इति पूर्ववाक्यमुदित्वा कथयित्वा श्राद्ध-
पुरस्तान्निवेद्य आस्ये स्ववदने अनध्यायिका यस्या तिथौ किमपि नाधीयते सानध्या-
यिका तिथि । ‘प्रतिपत्पाठनाशिनी’ इति वचनात् । वास्यते स्म वासिता । मौनं कृत्वा
स्थितमित्यर्थः । केव । प्राधुणीव । यथा आश्रये स्वगृहे कापि पूर्वपरिचिताप्यपराप्य-
भ्यागतिका सौजन्यात्स्थाप्यते आदरपूर्वं रक्ष्यते । उत्प्रेक्ष्यते—तदा तस्मिन्नवसरे नि-
जास्यामृताशोरात्मीयवदनचन्द्रस्य तिथीना प्रतिपदादिदिनानां प्रणयति करोति इति
प्रणीस्तत्त्व तिथिकारकत्वम् । ‘तिथिप्रणी व्यभिवानत्वात् श्वेतवाज्यमृतसूस्तिथिप्रणी’
इति हैम्याम् । सार्थकं सत्यार्थं निर्मित्सता निर्मातुं कर्तुमिच्छता वाञ्छतेव ॥ इति
हीरसूरिप्रतिवचनम् ॥

प्रभोर्वाक्सुधासारमाकण्ठमेते सकर्णा निपीय स्वकर्णाञ्जलिभ्याम् ।

सृजन्तो निमेषानपि क्षमा स्पृशन्तो दधुः सौमनस्यं तदाश्चर्यमेतत् ८६

एते सकर्णां प्राज्ञा श्राद्धा निमेषान्नयननिमीलनोन्मीलनानि सृजन्तः कुर्वन्तोऽपि
पुनः क्षमा क्षोणी स्पृशन्तोऽपि पादाभ्यां भुवः सघट्टयन्तोऽपि यत्सुमनसा भावः सौम-
नस्य देवत्वं दधुः धारयन्ति स्म । देवा हि निमेषान्नं कुर्वन्ते भूमीमपि न स्पृशन्ति
च । एते तु तथा नेति एतन्महदाश्चर्यमतिशायि चरित्रम् । वस्तुतस्तु शोभनप्रसन्नम-
नस्त्वमिति । किं कृत्वा । प्रभोर्हीरसूरेर्वाक् वाणी सैव सुधा पीयूषं तस्या आसारो वे-
गवती वृष्टिः । अथ वा सुधाया अमृतादपि सारं वस्तु श्रेष्ठं पदार्थः । तं पीत्वा । कथ-
माकण्ठं कण्ठपीठं यावत् आस्वाद्य सादरं श्रुत्वा वा ॥

किरन्त्यामृतं प्रीणितानेकजन्तोर्गिरा तस्य धाराकदम्बा इवामी ।

समुल्लासिलोमावलीकोरकाङ्गा इदं व्याहरन्ति स्म पौराः प्रमोदात् ८७

अमी अकमिपुरीया पौरा श्राद्धा इदं वक्ष्यमाणं व्याहरन्ति स्म बभाषिरे ।
किम् । समुल्लासिनी प्रोल्लसनशीला लोमावली रोमराजी एव कोरका कलिका अङ्गे
वपुर्लताया येषां ते । कया कृत्वा । प्रीणिताः प्रीतिं प्रापिताः अनेके यावज्जातीया ज-
न्तवः प्राणिनो येन तादृशस्य गुरोरमृतं सुधा किरन्त्या विस्तारयन्त्या भव्यानाममृत-
पानं कारयन्त्या गिरा वाण्याः । उत्प्रेक्ष्यते—धाराकदम्बा इव । यथा वाराभिर्ज-
लवाहवृष्टिभिराहिता ससिक्ता कदम्बा वाराकदम्बा कोरकिताङ्गा कुञ्जलकलित-
शाखा भवन्ति ॥

“किरन्त्यामृतं तस्य लोकं पृणस्याम्बुवाहस्य वृष्ट्येव धाराकदम्बाः ।

गिरोल्लासिलोमावलीकुञ्जलाङ्गा इदं व्याहरन्ति स्म पौराः प्रमोदात् ८७

पौरा नागरिकाः प्रमोदादानन्दादिदं वक्ष्यमाणं व्याहरन्ति स्म भाषन्ते स्म ।
किम् । उल्लसतीत्येवशीला उल्लासिनी या लोमावली रोमराजी सैव कुञ्जला. कोरकाः

कलिका येषु तादृशान्यङ्गानि काया येषाम् । कया । तस्य सूरैगिरा वाण्या । तस्य किं-
लक्षणस्य । लोकपृणस्य त्रैलोक्यलोकस्याह्लादोत्पादकस्य । गिरा किं कुर्वन्त्या । अमृत
सुधारस मोक्ष वा किरन्त्या विस्तारयन्त्या पायन्त्या ददत्या च । अमृतपानमिव प्रीति-
मुत्पादयन्त्या मुक्तिदायिन्या च । कोरकिताङ्गा क इव । वाराकदम्बा इव । यथा
विश्वसौहित्यविधायिनोऽम्बुवाहस्य मेघस्यामृत घनसलिल वितन्वन्त्या वृष्ट्या वर्षणेन
कृत्वा धाराकदम्बा प्रोल्लसल्लोममालिकातुल्यै कोरकैः कुसुमकलिकाभिः कान्ता काया-
शाखाप्रतिशाखारूपा देहा भवन्ति । धाराभिर्जलदजलवृष्टिभिराहता कदम्बद्रुमा
धाराकदम्बा । वाराहता किल कदम्बा पुष्प्यन्तीत्यशास्त्रे सिद्धान्तेऽपि च दृ-
श्यते—‘वाराहयकयम्बसमुच्छसिरोमकूवा’ इति । तथा ‘स्तोकेनेव वहन्ति पुष्पपुलक
धाराकदम्बद्रुमा’ इति चम्पूकथायाम् । ‘वर्षाकालमविगत्योज्जृम्भिता नीपा वाराक-
दम्बा । रजसि ये पुष्पन्ति ते धूलीकदम्बा । वर्षासु ये पुष्पन्ति ते धाराकदम्बाः’
इति चम्पूकथाटिप्पनके ॥” इति पाठान्तरम् ॥

जडिम्ना निजा दूषितामङ्गयष्टि तपोभिस्त्यजन्नूर्ध्वसंस्थानमुख्यैः ।

सुमेरुः किमादत्त सूरिन्द्रदेहं न चेह प्रतीकाशधैर्यः स कस्मात् ॥८८॥

सुमेरु सुवर्णाचल । उत्प्रेक्ष्यते—सूरिन्द्रस्य देह काय किमादत्त गृहीतवानिव ।
सूरिशरीरी बभूवेत्यर्थः । किं कुर्वन् । ऊर्ध्वमूर्ध्वोभूय यत्संस्थान सम्यक् समीचीनास-
मीचीनतया वा स्थितिर्निष्ठा वा तत्प्रमुखैस्तपोभिर्निरन्नपानादिकष्टैर्यमनियमविशेषैर्वा
कृत्वा जडिम्ना दृष्टतया जाड्येन दूषिता कलङ्किता निजामात्मीयामङ्गयष्टि वपुर्लता त्य-
जन्नज्जन् । एव चेन्न तर्हि स सूरि कस्मात्कारणात् अप्रतीकाशमसाधारण धैर्यं वारिमा
यस्य स । अद्वैतधीरताकलितं कथं भवेत् ॥

यदुद्यत्सते भूधवस्योपकर्तुं स्वयं सूरिकण्ठीरवस्तद्धि साधु ।

विनैतं कथं सोऽवबुध्येत धीमान्यथा कार्तिकैकादशीमब्धिशायी ॥८९॥

सूरिकण्ठीरव हीरविजयसूरिसिंह स्वयमात्मना यद्भूधवस्याकम्बरस्योपकर्तुमुपकार
कर्तुमुद्यत्सते प्रागल्भ्यते उद्यमं प्रयत्नं कुरुते । हि निश्चितम् । तत्साधु सम्यक् । यत्कार-
णादेत सूरि विना स धीमान् महाप्राज्ञ कथं केन प्रकारेणावबुध्येत सम्यग्ज्ञानमवा-
प्नुयात् । क इव । अब्धिशायीव । यथा कार्तिकमासस्यैकादशी शुक्लैकादशीं हरिप्रवो-
दतिथिं देवउठणीएकादशी तामन्तरेण कृष्ण कथं जागर्ति । वर्षासमयमनुलक्ष्य-
कृत्याब्धौ समुद्रे शेते इत्येवशीलोऽब्धिशायी ॥

अहो पश्यतास्य प्रभो. साहसिक्यं परं येन नापेक्षते कंचनापि ।

द्विजेशद्विपद्वेषिपूषप्रदीपैः प्रतीक्ष्येत किं कापि साहायकाय ॥ ९० ॥

अहो इति परस्परसबोवने । आतर, अस्य प्रभोः श्रीगुरो साहसिक्यं साहसता
साहसकर्मता सहसा वर्तते इति साहसिक । ‘ओजं सहाम्भसा वर्तते’ इति इक् ।

तस्य भावः कर्म वा साहसिक्यम् । 'अहो महीयस्तव साहसिक्यम्' इति नैषधे । पश्यत विलोकयत । येन कारणेनाय परमन्य कचनापि कमपि नापेक्षते न काङ्क्षति । युक्तोऽयमर्थः । द्विजेशश्चन्द्र, द्विपद्वेषी केसरी, पूषा सूर्य, प्रदीप कजलध्वज, एतैश्चन्द्रादिभिः कापि कुत्रापि विषये । किमिति प्रश्ने । साहायकाय साहाय्यकृते । 'यो-पधाद्गुरुपोत्तमाद्गुञ् । रमणीयसहायाद्वा । साहायक साहाय्यम्' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । प्रतीक्ष्येत परापेक्षा क्रियेत । अपि तु सर्वत्र स्वयमेव प्रागल्भ्यते । यदुक्त सत्त्वे—'रथस्यैक चक्र भुजगयमिता. सप्त तुरगा निरालम्बो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि । रविर्यात्येवान्त प्रतिदिनमपारस्य नभसः क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महता नोपकरणे ॥ विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिविविपक्ष पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपय । तथाप्याजौ राम सकलमवधीद्राक्षसकुल क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महता नोपकरणे ॥' इत्यादि ॥ इति हीरगुरो श्राद्धकृतस्तुतिः ॥

ततोऽन्यैः सम साधुभिः सूरिसिंहः समुद्दिश्य पूर्वा दिशं स प्रतस्थे ।

जिगीषुः समग्रान्दिगन्ताननेकैरिवाखण्डलोऽम्भोधिनेमेरनीकैः ॥९१॥

श्राद्धप्रशसानन्तर स हीरविजयनामा सूरिषु निर्भयत्वात्साहसिकत्वाच्च सिंह इव सिंह पञ्चाननः अन्यैः स्वपारिपार्श्वकभूतैरपरैः साधुभिः श्रमणैः सम सार्धं पूर्वा प्राची दिशमुद्दिश्य मनसि कृत्वा प्रतस्थे प्रस्थानं कृतवान् । क इव । आखण्डल इव । यथा समग्रान्दिगन्तान्दिग्विभागान् । दिशामवसानभूमीर्यावदित्यर्थः । जिगीषुः स्वीचिकीर्षुः अम्भोधिनेमे पृथिव्या आखण्डल पुरदूतो भूमान् अनेकैर्गजाश्चरथपत्तिप्रकरपरिकलितानीकैः कटकैः साक प्राची हरितमुद्दिश्य प्रतिष्ठते ॥

अलंकारमालां दधाना वसाना दुकूलानि पुष्पाणि पाणौ प्रणीय ।

कनी प्रागभूत्संमुखीना मुनीन्दोः पुरः प्रादुरासेव मूर्ता जयश्रीः ॥९२॥

मुनीन्दोः सूरैः प्रस्थानावसरे प्राक् पूर्वं कनी कन्या कुमारिका समुखीना अभिमुखा अभवत् । समुखमाजगामेत्यर्थः । किं कृत्वा । पुष्पाणि विकसितकुसुमानि पाणौ स्वहस्ते प्रणीय कृत्वा । आढायेत्यर्थः । किं कुर्वाणा । अलंकारमालामाभरणश्रेणीमलकारान् मणिसुवर्णभूषणानि कुसुममालिका च वा दधाना विभ्राणा परिवरन्ती वा । पुनः किं कुर्वाणा । दुकूलानि क्षौमाणि पटुकूलप्रमुखदिव्यवसनानि वसाना वस्ते स्मेति परिदधाना । उत्प्रेक्ष्यते—मुनीन्दोः सूरैः पुरोऽग्रे मूर्तिमती सशरीरा जयश्रीर्जयलक्ष्मी. प्रादुरासेव प्रकटीभूतेव ॥

विधास्यामि सानिध्यमभ्यासमेवानिशं तस्थुषी ते किमेतद्विवक्षुः ।

असौ शासनस्वर्मगाक्षी समेता पुरः सौरभेयी बभूव व्रतीन्दोः ॥९३॥

व्रतीन्दोर्हीरसूरैः पुरोऽग्रे सौरभेयी सवत्सा गौर्बभूव समुख समेता । उत्प्रेक्ष्यते—

असौ प्रत्यक्षा शासनस्वर्मुगाक्षी सिद्धायिकानात्री श्रीमन्महावीरजिनशासनदेवतेव समेता समागता किमु । किं कर्तुमिच्छु । एतदत्रैव काव्ये प्रोच्यमानं विवक्षुर्वक्तुमिच्छु कथयितुकामा । किं तदेवाह—हे सूर, अहं शासनसुरी अभ्यासे श्रीमत्समीपे एव तस्थुषी स्थितवती सती अनिश निरन्तरमहोरात्रमेव ते तव महावीरपट्टधारिण सूर सा-निध्य सत्यवसरे श्रीमत्समीहितकायं विवास्यामि करिष्यामि । दुष्करमपि भवदीप्सितार्थं साधयिष्यामीति ॥

प्रशान्तै रसैः पूरितः पूर्णकामो भवास्तूर्णमेवास्तु मद्वन्मुनीन्दो ।

सकान्तोत्तमाङ्गे स्थितः पूर्णकुम्भः पुरोऽभूद्वितीव प्रभोर्वक्तुकामः ॥९४॥

सह कान्तेन भर्त्रा विद्यते या मा तस्या सकान्ताया सववाया त्रिय उत्तमाङ्गे मस्तके स्थितः पूर्णकुम्भो जलभरमृतकलशः प्रभो सूर पुरोऽग्रे अभूत्सजातः । अभिमुखः समाजग्मिवानित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभोर्हीरविजयसूरैरित्यमुना प्रकारेण वक्तुकामः कथयितुमना इव । इति किम् । हे मुनीन्दो, भवान्मद्वदहमिव प्रशान्तैः प्रकर्षेण शान्तनामभिरुपशमलक्षणे रसैः सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः प्रशस्यत्वान्महानन्ददायित्वाच्च बहुत्वम् । पूरितः परिपूर्णाभूतः भूतः सन् तूर्णं शीघ्रमेव पूर्णः सिद्धा निष्पन्ना कामा अभिलाषा यस्य तादृशोऽस्तु भवतात् । यथाह रसैः सलिलैः पूरितः आकण्ठ-पीठः पूर्णः भूतमध्यः सजातोऽत एव पूर्णो जलादानलक्षणः कामो मनोरथो यस्य ॥

प्रणीयाभिभूतिः सुधास्वः स्रवन्तीतमीकान्तमुख्याखिलद्वेषभाजाम् ।

किमु श्लोक एतस्य मूर्तः समेतो दधि व्यालुलोके पुरस्तादनेन ॥९५॥

अनेन हीरगुरुणा पुरस्तादग्रे दधि पयः सुतो व्यालुलोके वीक्ष्यते स्म । समुखः दधि दृष्टमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तस्तनूमानेतस्य सूरः श्लोको यश्च किमु समेतः आगतः इव । किं कृत्वा । सुधा पीयूषम्, स्वः स्रवन्ती गङ्गा, तमीकान्तश्चन्द्रः, मुख्या प्रकृष्टा येषामादौ वा तादृशा अखिला समस्ता श्वेत्यभ्रिया द्वेषभाजो वैरेणः प्रतिपक्षा तेषा-मभिभूतिः पराभवः प्रणीय विवायः कृत्वा ॥

यदोजोजितः किं प्रसक्त्यै समेतः पुरो हव्यवाहो गलद्वायुवाहः ।

यतीन्द्रेण गर्जन्गजोऽप्यालुलोके प्रयाणे प्रभोर्दुन्दुभिः दन्ध्वनन्किम् ९६

यतीन्द्रेण सूरिणा पुरोऽग्रे हव्यवाहो वहिरालुलोके निरीक्षितः । किंभूतः । गलन्निर्गच्छन् वायुवाहो धूमो यस्मात् । निर्धूमः इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—येन सूरिणा ओजसा स्वबलप्रतापेन कृत्वा जितो भूतः सन् प्रसक्त्यै अर्थात्सूरे प्रसन्नीकरणार्थं किं समेतः समागतः इव । अपि पुनः सूरिणा गर्जन् बृहत् विदधत् गर्जारवः गलगर्जितः कुर्वाणः गजो वारणो हस्ती । पुरः आगच्छन्नित्यन्याहार्यम् । आलुलोके ददृशे । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभो प्रयाणे पूर्वदिक्प्रस्थाने दन्ध्वनन्नतिशब्दायमानो दुन्दुभिरेव निःस्वानः इव भेरीव वा पटहो वा । ‘भेरीदुन्दुभिरानकः’ इति त्रयोऽप्येकार्थाः हेम्याम् । शास्त्रान्तरे पृथगर्थः अपि

त्रयो दृश्यन्ते । भेरी प्रसिद्धा मदनभेर्यपि । दुन्दुभिर्नि स्वानो राजवाद्यमानक पटह
'ढोल' इति प्रसिद्ध ॥

त्वयारोपि केतुः कुले योगभाजामितीवालपन्तं कणैः किंकिणीनाम् ।

स्वमूर्ध्ना विहायः स्पृशन्त स केतु मुमुक्षुक्षितीशोऽक्षिलक्षीचकार ९७

स मुमुक्षुक्षितीश । निजाग्रे इति ज्ञेयम् । केतु ध्वजमक्षिलक्षीचकार लोचनगोचरी-
कुरुते स्म पश्यति स्म । किं कुर्वन्त केतुम् । स्वमूर्ध्ना निजमस्तकेन कृत्वा विहायो
व्योमाङ्गण स्पृशन्त सघट्टयन्तम् । अम्बरचुम्बितमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—किंकिणीना
क्षुद्रघण्टिकानां कणैः रणज्झणितिशब्दै इत्यालपन्त गुरु प्रति कथयन्तमिव । इति
किम् । हे प्रभो, त्वया योगभाजा योगीन्द्राणां कुले वंशं केतु पताका ध्वज आरोपित ॥

सशब्दानिवाब्दान्पतद्वारिधारान्ध्वनद्भृङ्गनिर्यद्रसान्सान्द्रसालान् ।

निरीक्ष्य क्षणं नृत्यतः क्लृप्तकेकारवान्केकिनो दक्षिणानैक्षतासौ ॥ ९८ ॥

असौ सूरिर्दक्षिणान्दक्षिणदिग्विभागवर्तिन अनुकूलान्वा केकिनो मयूरानैक्षत आलो-
कते स्म । कतिचन शकुना दक्षिणविभागस्थिता सिद्धिविवातारो भवन्ति । यदु-
क्तम्—'जम्बूवासमयूरो भारद्वाहेतहेवनउलेअम् । दसणमेव पसत्थ पयाहिणे सव्वस-
पत्ती ॥' इति । किंभूतान्केकिन । क्लृप्तो विरचित कृत केकारवो यैस्ते । केकिना वा
केका शुक्लापाङ्गोऽस्य वा केका । अत एव केका विद्यते येषां ते केकिन तान् । पुनः
किं कुर्वन्त । नृत्यत ताण्डवमाडम्बरयन्त । किं कृत्वा । क्षण निमेषमात्र सान्द्रान्
सच्छायान् सन्नेहान्वा सालान्द्रुमान्द्रुक्षान्निरीक्ष्य दृष्ट्वा । किंभूतान् सालान् । ध्वनन्तो
मञ्जुगुञ्जारव कुर्वन्त शब्दायमाना भृङ्गा भ्रमरा येषु । पुन किंभूतान् । निर्यन्तोऽविरल
निर्गलन्तो नि सरन्तो रसा मकरन्दा येभ्यस्तान् । कानिव । अब्दानिव । यथा सह-
शब्दैर्गर्जरवैर्वर्तन्ते ये ते तथा । पतन्त्यो निरन्तर निर्यान्त्यो वारिणा जलानां वारा
रेखाकारा दृष्टयो येभ्यस्तादृशान् । मेघानालोक्य मयूरा नृत्यन्ति ॥

अवामेव वामाप्यमुष्यानुकूलं चुकूज द्रुमे भक्ष्यमादाय देवी ।

त्रिलोकीमिवाकारयन्सेवनायै विभोर्दक्षिणीभूय चाषोऽप्युवाच ॥ ९९ ॥

देवी कृष्णवटिकापोतकी नामा । यदुक्तं सुरथोत्सवकाव्ये—'पोतकीदयितपिच्छस-
च्छवि' इति । लोके तु देवीति प्रसिद्धा । निष्कण्टकहरिततरौ स्थिता उपविष्टा सती
वामापि सव्यभागवर्तिन्यपि अथ च वामाप्रतिकूलाप्युच्यते । पर नात्र परमार्थतः ।
अवामेव दक्षिणेव अनुकूलेव वेत्यर्थः । अमुष्य सूरैरनुकूलमायतौ हितसूचक चुकूज
बभाषे । वर्धमानस्वरान् कृतवती । किं कृत्वा । भक्ष्यसमूह 'चूणि' इति प्रसिद्धमा-
दाय गृहीत्वा भक्षयित्वा । अपि पुन चाप किंकीदिवि नीलपक्षिविशेषः । लोके 'नी-
लवास' इति प्रसिद्धः । दक्षिणीभूयापसव्यभागवती भूत्वा तोरणं बद्ध्वा प्रदक्षिणीकृत्य

वा उवाच ब्रूते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विभो सूरेश्वरस्य सेवनायै सेवाकरणाय त्रिलोकीं विश्वत्रयीमाकारयन्निव ॥

ममाग्रे द्विजिह्वा यथा यान्ति दूरे तवापीति बभ्रुर्वदन्दक्षिणोऽभूत् ।

तवाधीश वामोऽप्यवामोऽस्तु मद्वत्स्वरस्य स्वरः किं ब्रवीतीव वामः १००

बभ्रुर्नकुल प्रभोर्दक्षिणोऽनुकूलो दक्षिणदिग्भागभागभूत् । वामादक्षिणदेशे जगामेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इति वदन्कथयन्निव । इति इय गभितोत्प्रेक्षा । इति किम् । हे अधीश, यथा ममाग्रे द्विजिह्वा भुजगा दूरे यान्ति तथा तेनेव प्रकारेण तवाप्यग्रे द्विजिह्वा द्विरसना मत्सरिण खला पिशुना दूरे यान्तु । पुन खरस्य गर्दभस्य स्वरः । उत्प्रेक्ष्यते—इति ब्रवीतीव भाषते इव । किम् । वाम सव्यभागवता । इति किम् । हे अधीश, तव वामोऽपि प्रतिकूलोऽपि मद्वदहमिवावामोऽस्तु अनुकूलो भवतान् ॥

यतो जन्मिनामीप्सितं शर्म दत्से प्रभो भिन्धि नस्तेन तिर्यक्त्वदुःखम् ।

इतीव स्म विज्ञप्यते तित्तिरैणैः स सव्यापसव्योद्भवद्भानयानैः ॥ १०१ ॥

तित्तिरा खरकोणाः । लोके 'गणेश' इति प्रसिद्धा । तथा एणा मृगाः हरिणास्तैः सव्यापसव्ययोर्वामदक्षिणयोरुद्भवन्ति प्रकटानि जायमानानि यानि ध्वानाः शब्दाः तथा यानानि गमनानि तैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—स सूरिरिति विज्ञप्यते स्म । तस्य प्रभोरिति विज्ञप्तिर्विधीयते स्म । इति किम् । हे प्रभो, यत कारणात् जन्मिना प्राणिनामीप्सित मनोवाञ्छित शर्म सुख दत्से ददासि तेन कारणेन त्वं नोऽस्माकं तिर्यक्त्वस्य तिर्यक्त्वेन वा यद्दुःखं कष्टमसुखं वा भिन्वि भेदय नाशयेति ॥

व्यपोहैकदृक्त्वं त्वमस्मद्विगानं रसन्तीति किं वायसास्तस्य वामाः ।

शुभायामरी भैरवा वाऽभ्युपेताप्यवामाभवद्भैरवी निःस्वनन्ती ॥ १०२ ॥

वामा सव्ये भागे वर्तमाना वायसा काका । उत्प्रेक्ष्यते—इति रसन्ति किम् इत्यवदन्तीव । इति किम् । हे प्रभो, त्वमस्मद्विगानमस्माकमपवाद लोके निन्दाकारि एकदृक्त्व काणक्षत्व धूर्ततामित्यपि ध्वनिः । व्यपोह निराकुरु । अपि पुन निःस्वनन्ती शब्दायमाना भैरवी पक्षिविशेषः । लोके 'भैरव' इति प्रसिद्धा अवामा दक्षिणा अनुकूला अभवत्सजाता । उत्प्रेक्ष्यते—शुभाय कल्याणकरणाय भैरवी भवानीनामा भवानीत्यभिधाना अमरी देवी वाऽभ्युपेता समागता ॥

अमुष्य मुख्याः शकुनाः परशता परेऽप्यभूवञ्जुभशंसिन पथि ।

तदर्थसिद्धेरुपगन्तुकायाश्चिह्नानि किं प्राक्प्रकटीभवन्ति ॥ १०३ ॥

अमुष्य श्रीहीरसूरे पथि मांशे शुभशंसिन शुभोदककययितार परेऽन्येऽपि पुरवनसबन्धिन परशता शतश मुख्या प्रशस्या अभूवन्सज्जिरे । उत्प्रेक्ष्यते—उपगन्तुकाया आगमनशीलायाः । भविष्यन्त्या इत्यर्थः । 'आगमने गमनार्था समभ्यु-

पाङ्म्य परा कथिता ' इति क्रियाकलापे । तदर्थसिद्धेस्तस्य सूरैरर्थसिद्धे कामितकार्यनिष्पत्ते प्राक् पूर्व प्रकटीभवन्ति प्रकाशानि जायमानानि चिह्नानि किलक्षणानीव । शकुनशब्द पुनपुसके दृश्यते ॥

वाचोऽनुविम्बाभिरिवाङ्गनाभिराशीर्भिरध्वन्यभिनन्द्यमानः ।

महोदयोदर्कविधायिनो धिया विमृश्य सूरिः शकुनान्पुरोऽचलत् १०४

सूरिस्तपागच्छनायकः महानतिशायी उदयो मोक्षश्च स एवोदर्क उत्तरकालज फल त विदधति कुर्वन्तीत्येवशीलान् शकुनान् विद्या स्वबुद्ध्या विमृश्य विचार्य पुरोऽग्रे अचलच्चाल प्रतिष्ठते स्म । किं क्रियमाण । अध्वनि प्रस्थानमार्गे अङ्गनाभि श्राद्धवधूभिराशीर्भिर्मङ्गलशसनवाणीभिरभिनन्द्यमान स्तूयमान । उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गनाभिर्वाचो वाग्देवताया अनुविम्बाभिः प्रतिकृतिभिरिव । सरस्वतीदेवीप्रतिविम्बाभिरिव ॥ इति हीरविजयसूरे प्राची दिश प्रति प्रस्थितौ शुभशकुनानि ॥

द्विवेललीलाप्रविसारिवेलापयोभुजाभ्या परिरम्य भूम्ना ।

मत्तेभयानामिव वल्लभेनाम्भोराशिना स्वाङ्गमवाप्यमानाम् ॥ १०५ ॥

महीयसीं नाम मही स्रवन्ती विजृम्भिहैमाञ्जरजःपिशङ्गाम् ।

वेणीमिव स्वर्णमयी नदीशनेमीन्दिरायाः प्रभुरुल्लङ्घे ॥ १०६ ॥

प्रभुर्हीरसूरि महीं नाम स्रवन्तीं नदीमुल्लङ्घे उत्तरति स्म । किलक्षणाम् । महीयसीमतिशयेन महतीम् । महत्प्रमाणामित्यर्थ । पुन किलक्षणाम् । विजृम्भिना विकसनशीलाना हैमाना काञ्चनसबन्विनामब्जाना कमलाना रजोभि पीतपरागै कृत्वा पिशङ्गा पीतवर्णा सजाताम् । उत्प्रेक्ष्यते—नदीशनेमीन्दिराया । सरित्पतिमेखलालक्ष्यभूमीश्रिया इत्यर्थ । स्वर्णमयी काञ्चनरचिता वेणी स्त्रीशिरोरुहाभरण सयताना केशानामुपरि वीयते । केशा सयतास्तन्मये क्षिप्यते वा सा स्वर्णमयी प्रलम्बा गजशुण्डाकारा वेणीत्युच्यते । स्वर्णवेणीति शिरोरुहभूषणमयुना दक्षिणस्या श्रूयते दृश्यते च । महीं किं क्रियमाणाम् । अम्भोराशिना समुद्रेण स्वाङ्ग निजोत्सङ्गमवाप्यमानाम् । केन कामिव । वल्लभेन मत्तेभयानामिव । यथा स्वकान्तेन मदोद्गुरसिन्धुरगमना स्वप्राणप्रिया स्वकीयक्रोड प्राप्यते । किं कृत्वा । द्वे वेले वारौ यत्र तद्विवेल लीलया स्वभावेन नोपावित विश्वस्वाभाव्यत प्ररुषेण विसरणशीलयोर्विस्तारिण्योर्वेलयोरम्भोवृद्धयो पयसी सलिले एव भुजे बाहू ताभ्या कृत्वा भूम्ना बाहुल्येन परिरम्य वपुषोरेकीकरणेन गाढमालिङ्ग्य ॥

कापि स्थपुटिता कापि द्रुमद्रोणीसमाकुलाम् ।

कचिद्वहद्वाहिनीका किराताकलिता कचित् ॥ १०७ ॥

द्विपद्वीपिद्विपद्वेष्यमुख्यजन्तूचिता क्वचित् ।

पदवीं क्षोणिभृत्क्षोणीमिव सूरिरलङ्घयत् ॥ १०८ ॥

सूरि क्षोणिभृत पर्वतस्य तल्लाटदेशाधिपस्य च क्षोणीं गह्वरोर्वीं भूमीमिव पदवीं मार्गमलङ्घयत् अतिक्रामति स्म । किंभूताम् । कापि कुत्रापि प्रदेशे स्थपुटत्वं विषमोन्नतत्वं सजातमस्यामिति स्थपुटिता तथा कापि स्थाने द्रुमाणा द्रोणीभिर्विविवतरुश्रेणीभिः समाकुला निर्भरभृताम् । द्रोणिशब्द श्रेणीवाची । यथा चम्पकथायाम्—‘भिल्लीपल्लवशङ्कया विचिनुते सान्द्रद्रुमद्रोणिषु’ इति । ‘द्रोणी तु नीवृतिभेदे शैलसर्धौ च’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘द्रोणिरिदन्तोऽपि समृद्धार्यवाची च’ इति तदवचूर्णि । तथा क्वचित्कुत्रचिद्देशे वहन्त्यो महीवरकुण्डादिभ्यो नि सरन्त्यो वाहिन्यो नद्यो यत्र । पुन क्वचिद्गङ्गरादिषु नीरागमननिम्नप्रदेशादिषु वा कोतरा इति प्रसिद्धेषु किरातैर्भिन्नैराकलिता सयुक्ताम् । पुन क्वचिदरण्यादौ द्विपा मत्तमतङ्गजा द्वीपिनो व्याघ्रचित्रकाया द्विपद्वेष्या केसरिणस्त एव मुख्या प्रकृष्टा प्रमुखा वा ये जन्तवो वनसत्त्वास्तेषामुचिता निवासयोग्याम् ॥ युग्मम् ॥

कमाद्वटदले फुल्लाम्भोजे भृङ्ग इवागमत् ।

स्तम्भतीर्थस्य सङ्घेन तस्मिन्प्रभुरवन्द्यत ॥ १०९ ॥

कमाद्विहारपरिपाठ्या प्रभुहीरसूरिर्वटदले ‘वडदलु’ इति नाम्ना प्रसिद्धे पुरे आगमदाजगाम । क इव । भृङ्ग इव । यथा फुल्ले विकसिते अम्भोजे कमले मधुकर आगच्छति । पुनस्तस्मिन्वटदलाग्रामे प्रभु स्तम्भतीर्थसङ्घेन साधुसाध्वीश्राद्धश्राद्धीरूपजनसमुदायेन अवन्द्यत समेत्य नमस्कृतः ॥

भक्तिप्रह्वमना जिनाधिपमताधिष्ठायिनी निर्जरी

तस्मिन्नक्तमवाकिरद्वतिपति नीरन्ध्रमुक्ताफलैः ।

श्रुत्वा तीर्थकरानुकारिभगवन्माहात्म्यमुत्कण्ठिता

विज्ञो वन्दितुमागता प्रियतमा राज्ञः स्वतारोत्करैः ॥ ११० ॥

तस्मिन्वटदलाग्रामे भक्त्या सेवाभक्त्या प्रह्व नम्र प्रवण निर्भर वा मनोमानस यस्यास्तादृशी जिनमतस्य श्रीजिनशासनस्य अधिष्ठायिनी अधिष्ठापिका निर्जरी सिद्धायिका नाम्नी देवता नक्त रात्रौ । कलौ प्रायो देवताना नक्तमेवागमस्य दृश्यमानत्वात् श्रयमाणत्वाच्च निशि । नीरन्ध्रेर्निच्छिद्रैर्वरहितैः । रक्षितैरित्यर्थः । मुक्ताफलैर्मौक्तिकैर्वतिपति श्रीहीरविजयसूरिमवाकिरद्वर्षयामास । ‘अवाकिरन्वयोवृद्धास्त लाजे पौग्योषित’ इति रघुवशे । तत्र वयमेव विज्ञो जानीम । उत्कण्ठिता उत्कण्ठाकलिता उत्सुकीभूता सती स्वताराणा स्वशरणीभूतानामात्मपरिवारीभूताना तारकारणा तारकाभिवसेवकाना ज्योतिषा चोत्करे समूहै सार्व राज्ञ कस्यचिन्नृपस्य चन्द्रस्य वा प्रिय-

तमा राज्ञी रात्रिर्वा वन्दितु नमस्कर्तुमागता समेतेव । किं कृत्वा । तीर्थकर श्रीमज्जिन-
राजमनुकरोति युगप्रधानादिमहिम्ना सदृशीभवति इत्येवशील भगवत सूरीन्द्रस्य
माहात्म्य महिमान श्रुत्वा समाकर्ण्य ॥

तत्रानन्द्य जनान्दिनानि कतिचिद्वाचंयमाधीशिता
वर्त्मातिक्रमितुं क्रमात्प्रववृते भूमेः समं साधुभिः ।
वाचा चन्द्रिकया तमः प्रशमयन्नेत्रांश्चकोरान्पृणं-

स्ताराणां निवहैर्विहायस इव श्यामाङ्गनानायकः ॥ १११ ॥

वाचयमाधीशिता मुनिनायक क्रमादनुक्रमेण साधुभिः स्वकपारिपार्श्वकश्रमणैः सम
सार्धं भूमेर्वरित्र्या वर्त्म पन्थानमतिक्रमितुमुल्लङ्घयितुं प्रववृते प्रचक्रमे प्रवृत्त । किं
कृत्वा । तत्र वटदलाग्रामे कतिचित्कियन्ति दिनानि वासरान् यावज्जनान् भविकलो-
कानानन्द्य प्रह्लाद्य प्रमोदमेदुरान्विवाय । सूरि किं कुर्वन् । वाचा स्ववचनविलासेन
कृत्वा तमोऽज्ञान पाप वा प्रशमयन्निष्ठापयन् शान्तिं नयन् वा । च पुनर्नेत्रान्नयनानि ।
नेत्रशब्द पुक्लीबलिङ्गयोः । पृणन् सप्रीतिमुत्पादयन् । क इव । श्यामाङ्गनानायक इव ।
यथा चन्द्रस्ताराणां ज्योतिषा निवहैर्व्रजैः सह विहायस आकाशस्य वर्त्माध्वानमति-
क्रमितुं प्रवर्तते सोऽपि शशी चन्द्रिकया कौमुद्या जनानानन्दयति । तथा तमो निशान्ध-
कार प्रशमयति तथा चकोराश्च प्रीणाति । श्यामा रात्रिः सैवाङ्गना स्त्री तस्या नायक
एतावता विधुः । 'यामिनीकामिनीपति' इत्यादिपदानि काव्यकल्पलतावृत्तौ । अथ च
श्यामा षोडशवार्षिकी तरुणी सैवाङ्गना पाणिगृहीत्री तस्या नायक पतिः । सवेषा स्मर-
शास्त्राणां रहस्यानां वेत्ता अनुभविता च नायक प्रोच्यते । सोऽपि क्वचित्कार्यवशा-
द्गतो निवृत्तो वा सज्जनैः समं भूमेर्मार्गमुल्लङ्घते स्वतादृग्विधचातुर्यचर्यनायिकामयीभूतम-
नस्त्वाद्वा वाचान्यानप्यानन्दयति यो हार्दिकं वेत्ति तामेव वादयामि इति विरह-
रूपं तमं पापमपि प्रशमयति भाविस्वभामिनीसयोगत्वात् स्निग्धत्वाच्च परनेत्राण्यपि
प्रीणयति ॥

क्वचित्पवनवर्त्मवन्मृगपतङ्गचित्रान्वित
क्वचिन्मदनमेदुरं कुलमिवैणकान्तादृशम् ।
क्वचित्कुरुनिकेतवत्ससहदेवभीमार्जुन
विराटनृपगेहवत्क्वचन कीचकैरञ्चितम् ॥ ११२ ॥
क्वचिन्नृपसमीपवद्विविधवाहिनीमण्डितं
क्वचित्कलितमभिविद्धवनवच्छिखिस्फूर्जितैः ।
करीन्द्रकुलसकुलं क्वचिद्विन्ध्यभूमीध्रुव-
द्वलङ्घित यतिक्षितिद्विजपतिः स वर्त्म क्रमात् ॥ ११३ ॥

स यतिना श्रमणाना मध्ये क्षिते क्षोण्या द्विजपतिश्चन्द्रः । राजेत्यर्थः । क्रमाद्विहारपरि-
पाठ्या वर्त्म मार्गं व्यलङ्घ्यत अतिक्रान्तवान् उलङ्घयामास । किंभूत वर्त्म । क्वचित्प्रदेशे
मृगा कुरङ्गा उपलक्षणादन्येऽपि वन्यश्वापदा तथा चित्रा सर्पजातिविशेषा लोके
'चित्रडि' इति प्रसिद्धा उपलक्षणात्तत्तज्जातयश्च । अथवा चित्रा आखुकपर्णा इन्द्रवा-
रुणी वा उपलक्षणात्सर्वाषधयस्ताभिरन्वितम् । किवत् । पवनवर्त्मवद्यथा आकाशः मृगो
मृगशीर्षः पतङ्गः सूर्यः तथा चित्रा नक्षत्रं तैर्युतम् । 'चित्रादन्या सुभद्राया नक्षत्राष-
धिभेदयोः । दिव्यस्त्रीसर्पयोराखुपर्ण्या च' इत्यनेकार्थतिलके । पुनः किंभूतम् । मदनेर्म-
ण्डल इति नाम प्रसिद्धैः पादपैमेदुर भृतम् । किमिव । कुलमिव । यथा एणकान्ता
मृगाङ्गना हरिण्यस्तासा दृश इव दृशोऽतिचपलानि लोचनानि यासा तासा स्त्रीणा वृन्द
मदनेन कदर्पेणोपचितम् । पुनः किंभूतम् । सह सहदेवैरौषधिविशेषैस्तथा भीमैराम्लवे-
तसैः तथा अर्जुनैरर्जुननामवृक्षविशेषैर्वर्तते यत्तत् । किं च कुरुनिकेतवत् यथा कु-
रूणा कौरववशीयनृपाणा पाण्डूना राज्ञाम् । महत्त्वाद्बहुवचनम् । कुरो पाण्डोर्नृपस्य वा
गृह सह सहदेवो माद्रीनन्दनः भीमार्जुनौ कुन्तीसुतौ वृकोदरकिरीटिनौ तैर्युक्तम् ।
'सहदेवेनैकेन स्पर्धमाना अनेकैः सहदेवे सगता' इति चम्पूकयायाम् । पुनः किंभू-
तम् । क्वचित्कुत्रचिस्थाने कीचकैः सच्छिद्रवशैः वेणुभिः अञ्चितः कलितम् । किवत् ।
विराटनृपगेहवत् । यथा विराटराजस्य गेहः कीचकैर्विराटनृपपत्न्या सुदेष्णाया शतस-
होदरैः कलितः सहितम् । पुनः किंभूतम् । क्वचित्प्रदेशे विविधा लघुवृद्धादयो वाहिन्यो
नद्यस्ताभिर्मण्डितम् । किवत् । नृपसमीपवत् । यथा राज्ञः पार्श्वे विविधाभिर्गजहयिरथ-
पदातिप्रमुखाभिः सेनाभिर्भूषितः भवति । 'वाहिनी सिन्धुसैन्ययोः' इत्यनेकार्थः । पुनः
किंभूतम् । शिखिना मयूराणां विविधैः स्फूर्जितैः केकारवताण्डवक्रीडादिविलासैः
कलितम् । किवत् । अग्निविद्भवनवत् यथा अग्निहोत्रीयाणां गृहं शिखिना दक्षिणाग्निह-
वनीयगार्हपत्याभिधाना त्रयाणां हुताशनानां विस्फूर्जितैः स्फूर्तिभिः कलितः भवेत् ।
पुनः किंभूतम् । करीन्द्राणां यूथनायानां कुलैर्वशैः सकुलः व्याप्तम् । किवत् । विन्ध्यभू-
मीध्रवत् । यथा विन्ध्याचलो गजेन्द्रकुलैः सकुलो भवति ॥ इति गन्वाराक्रमिपुरमव्य-
मार्गवर्णनम् ॥

विबुधपतिपुरध्रीवन्धुरारब्धलीलं

जिनपदकृतशोभं संचरच्छ्रेतदन्ति ।

तटमिव वरटाया वल्लभः सर्वहाया

अक्रमिपुरसमीपं भूषयामास सूरिः ॥ ११४ ॥

सूरिरक्रमिपुरसमीपमहम्मदाबादनगरपार्श्वं भूषयामासालकरोति स्म । किंभूतः । वि-
बुधपतीनां कोविदपुरदराणां पुरध्रीभिः शुक्रकामिनीभिः वन्धुरा तरुणकामिजनमनो-
हरा आरब्धा प्रक्रान्ता लीला वनवसन्ततरुकुसुमावचयहृत्सीसकगाननृत्यान्दोलनादि-

विलासा यत्र । पुन किभूतम् । जिनाना तीर्थकृता पदै स्थानै । प्राप्तादैरित्यर्थः ।
 कृता विहिता शोभा यत्र । पुन किंभूतम् । सचरन्त सम्यक् समीचीन स्वरोचमान-
 सल्लकीक्षुप्रमुख चरन्तो भक्षयन्त । अथ वा सम्यक् स्वहस्तिनीभिश्चरमस्वर्णपट्टबन्धपञ्च-
 शब्दवादित्रविविधविरुदावलीप्रकटनपूर्वक प्रचलन्त श्वेता भद्रजातिजातत्वेनोज्ज्वला
 दन्तिनो गजेन्द्रा यत्र । क इव । यथा वरटाया राजहस्या । 'वारला वरला हसी
 वारटा वरटा च सा' इति हैम्याम् । तथा 'नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी' इति नैषवे ।
 वल्लभो भर्ता राजहस । स्वर्वहाया गगननिम्नगाया गङ्गायास्त्वट तीर भूषयति । किलक्षण
 तटम् । विबुधपति सुरेन्द्रस्तस्य पुरध्रीभिः पत्नीभिः कमनीयप्रक्रान्तजलजन्मोपचयम-
 जनोन्मज्जनादिजलविला यत्र । पुरध्रीशब्दो दीर्घोऽप्यस्ति । यथा 'अखिलपुरपुरध्रीने-
 त्रनी—' इति नैषवे । तथा जिनस्य विष्णोस्त्रिभिस्तारारूपै पदैः कृता निमिता शोभा
 यत्र । अथ वा जिनपदे आकाशे विरचिता श्रीर्येन । एतावता गगनगङ्गेत्युपपन्नम् ।
 तत्रैव च शक्रकान्तानामुपलक्षणात्सुराङ्गनानां च जलक्रीडाया औचित्यं । तथा सचरन्
 जलपानाद्यर्थमागच्छन्नैरावणो यत्र ॥

प्रभोरागमनोदन्तः प्रससार पुरान्तरे ।

चान्दनीय इवामोदः क्षितौ मलयभूभृतः ॥ ११५ ॥

प्रभोर्हीरसूरेरागमनस्यापादाववारणस्योदन्त प्रवृत्ति समाचार पुरान्तरे अकमिपु-
 रमध्ये प्रससार विस्तरति स्म । क इव । आमोद इव । यथा चान्दनीय श्रीखण्डद्रुम-
 सबन्धी परिमल मलयाचलस्य आषाढभूधरस्य क्षितौ भूमौ प्रसरति ॥

विज्ञायागमनं यतिक्षितिपतेरामोदमेदस्विता

प्राप्ताः पौरपरम्परा मधुक्रतोर्व्यूहा इवोर्वीरुहाम् ।

गन्तु संमुखमस्य नश्यदतनोः सजीवभूवुस्ततः

श्राद्धा राजगृहोद्भवा इव मृगारातिध्वजस्यार्हतः ॥ ११६ ॥

ततस्त्वदागमनश्रवणानन्तर पौरपरम्परा नागरिकपङ्क्तय अकमिपुरश्रावकप्रकरा
 नश्यन् द्वेषितया हन्तु प्रतिश्रुतत्वेन मृतिभीते पलायमान अतनुरनङ्गो यस्मात् ।
 'अतनुना नवमम्बुदमाम्बुदम्' इति नैषवे । तस्यास्य सूरेरभिमुख गन्तु सजीवभूवुः ।
 के इव । श्राद्धा इव । यथा राजगृहे नगरे उत्पत्तियेषा तादृशा श्राद्धा मृगाराति सिंहो
 ध्वजश्चिह्न यस्य तस्यार्हतस्तीर्थकरस्य । महावीरदेवस्येत्यर्थः । समुख प्रयातु सज्जा भ-
 वन्ति स्म । किभूता । आमोदेन हर्षेण मेदस्विता पुष्टतामाह्लादोलसितरोमाञ्चकञ्चुको-
 पचितकायत्व प्राप्ता इत्यर्थः । कि कृत्वा । यतिक्षितिपतेर्मुनिराजस्य आगमनमकमिपु-
 रसमीपे समवसरण विज्ञायावगत्य । क इव । व्यूहा इव । यथा मधुक्रतोर्वसन्तसमय-
 स्यागमन प्रादुर्भाव ज्ञात्वा उर्वीरुहा वृक्षाणा समूहा आमोदमेदस्विता परिमलोपचि-
 तता प्राप्नुवन्ति ॥

पर्याण्यन्ते स्म बाहा हरिहरय इवोत्तीर्णवन्तः क्षमाया

काप्यप्राप्तावलम्बाम्बरचरणभवद्भूमनिर्वदभाजः ।

शृङ्गार्यन्ते गजेन्द्रा गिरिगुरुवपुष क्लृप्तमिन्द्रगूरा

विद्मः प्रातस्त्यसंध्याः कुनयसमुदवज्ज्योतिरस्त नयन्त्यः ॥ ११७ ॥

बाहास्तुरगा पर्याण्यन्ते स्म पत्ययनकलिता क्रियन्ते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—क्वापि कस्मिन्नपि प्रदेशे अप्राप्तमनासादितमालम्बनमूर्ध्वोभवनोपवेशनादिस्थित्यावारस्थान यत्र तादृशेऽम्बरे गगनाङ्गणे चरण परिभ्रमण तस्माद्भवन्नुत्पद्यमानो यो भूम्ना बाहुल्येन निर्वेद खेदं त भजन्तीति तादृशा सन्तः क्षमाया पृथिव्यामवतीर्णवन्त आगता इन्द्राश्वा इव । ‘शतैस्तमक्षणामनिमेषवृत्तिभिर्हारे विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः’ इति रघुवशे शक्रस्याश्वाना बाहुल्यं न त्वेक एवोच्चे श्रवाः । अथ वा सूर्याश्वा इव । पुनर्गजेन्द्राः शृङ्गार्यन्ते स्म रक्तपीताम्बरचरमरकिकिणीघण्टाद्यनेकशृङ्गारयुक्ता निमाच्यन्ते स्म । किभूता । गिरि पर्वतस्तद्गुरु महद्रुपु शरीरं येषाम् । पर्वतप्राया इत्यर्थः । पुनः किभूता । क्लृप्तो रचित सिन्दूराणां शृङ्गारभूषणानां पूरं समूहो येषु । उत्प्रेक्ष्यते—प्रातस्त्या प्रातः कालीना संध्या इव । किं कुर्वन्त्यः । कुनयानां शाक्यादीनां कुमतानां वा समुदायो गणः स एव ज्योतिर्ग्रहनक्षत्रतारकादिस्तदस्तं नाशं नयन्त्यः प्रापयन्त्यः ॥

भूम्या व्योमेर्ष्ययेवाधृषत रविरथाः पद्महस्तैः श्रिताङ्गाः

कैश्चित्सज्जीक्रियन्ते कनकमणिमयाः सत्तुरङ्गाः शताङ्गाः ।

पङ्क्तिः पादातिकानां विविधमणिगणालकृतीरुद्धहन्ती

राभस्यादस्पृशन्ती भुवमपि सुमनःश्रेणिवत्सज्जति स्म ॥ ११८ ॥

कैश्चित्पुरुषैः सन्तः शोभनास्तुरङ्गा अश्वा येषु तादृशाः शताङ्गाः स्यन्दना रथाः सज्जीक्रियन्ते । किभूता । कनकं स्वर्णं मणयो रत्नानि प्रचुराणि प्रवानानि वा येषु । पुनः किभूता । पद्महस्तैः क्रीडार्यं हस्ते गृहीतकमलैः, अथवा भाग्यवत्तया पद्ममाकृत्या हस्ते येषां तैः । श्रितोऽङ्गः सेवित उत्सङ्गो येषाम् । उत्प्रेक्ष्यते—व्योम्ना नभसा समीर्ष्यया स्पृधोद्धृताभ्यसूयया भूम्या पृथिव्या रविरथा सूर्यस्यन्दना इवाधृषत ध्रियन्ते स्म । तेऽपि कमलपाणिभिर्भास्करैरविष्ठितमध्यास्तया सुवर्णमणिमया शोभनाश्वाश्च । सूर्याणां बाहुल्याद्रथानामपि बाहुल्यम् । पुनः पादातिकानां पत्तीनां महोभ्यानां सार्वम् । सगच्छा पत्तिजना भवन्त्येव । अथ वा पादचारिणीमल्पद्रव्यत्वाद्वाहनाभावस्तेन चरणचारिता तेषां पङ्क्तिः परम्परा सज्जति स्म । किं कुर्वन्ती । विविधानामनेकप्रकाराणां मणिगणानामर्थात्स्वर्णरत्नराजीनामलकृतीर्भूषणानि उद्धहन्ती वारयन्ती । पुनः किभूता । राभस्यान्धूरिवदनैः सुकयाद्भव क्षोणीमण्डलमप्यस्पृशन्ती न स्पृहयन्ती । त्रिभूम् ।

सुमन श्रेणिवन् । यथा देवराजी भुव न सृजति । पादाभ्यामिति शेषः । रत्नाल-
कारकृतीश्च वत्ते ॥

प्रसाधिकाभिः परमाणुमध्या विभूषिताङ्गचः पुपुषुर्विभूषाम् ।

निनंसयेवोपनता व्रतीन्दोर्भुजंगलोकान्भुजगेन्द्रवध्वः ॥ ११९ ॥

प्रसाधिकाभिर्मण्डनकारिणीभी रमणीभिः । ‘प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य का-
चिद्वरागमेव’ इति रघुवशे । विभूषित विचित्रपत्रवल्लीरचनाभिरलकृतमङ्ग वपुर्लता
यासा तादृश्य । परमाणुमध्या कृशोदर्यः । ‘अध्यापयाम परमाणुमध्या’ इति नै-
षधे । भूषा शोभा पुपुषु चिन्वन्ति स्म । दधुरित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—भुजगलोकान्नागभ-
वनाद्व्रतीन्दो सूरिन्द्रस्य निनसया नन्तुमिच्छया उपनता आगता । ‘उपनमन्ति तमी-
शममुत्सुका प्रणयतो वरितु सकला श्रिय’ इति ऋषभनम्रस्तवे । ‘उपनमन्त्याग-
च्छन्ति’ इत्यवचूर्णौ । भुजगेन्द्रवध्व नागनायकनायिका इव ॥

सुदृशा शिरसि व्यलीलसत्कलशाली मणिहेमनिर्मिता ।

स्तनवैभवभर्तिसतेव यद्विजिगीषुः परमभ्युपेयुषी ॥ १२० ॥

सुदृशा सकान्तकामिनीना शिरसि मस्तके कलश ना कुम्भाना माली श्रेणी व्यलील
सत् विलसति स्म । शुशुभे इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—स्तनानामर्थात्तत्कामिनीकुचमण्ड-
लाना वैभवेन तुङ्गतादिशोभया भर्तिसता अभिभूता सती तद्विजिगीषुस्तान् कुचान्
पुनर्व्याघुष्य विजेतुमिच्छुरभ्युपेयुषी । अभिमुखमुपेता समीपे समागता वा ॥

विहायोङ्गणालिङ्गिगेहाग्रशृङ्गानिलालोककेतुकणत्किकिणीभिः ।

पुरी प्रेक्ष्य सूरिं किमायान्तमन्तर्भवत्प्रीतिरातन्तनीतीव गीतिम् १२१

आयान्त स्वस्यान्तिक समागच्छन्त सूरिं हीरगुरु प्रेक्ष्य व्यालोक्य अन्तर्मध्ये अर्था-
न्निजचित्ते भवन्त्युत्पद्यमाना प्रीति प्रमोदो यस्यास्तादृशी पुरी अहम्मदाबादाभिधाना
नगरी । गीति गानमातन्तनीति अतिशयेन सृजतीव विस्तारयतीव वा । काभिः ।
विहायोङ्गण गङ्गानाजिरमालिङ्गन्त्याश्लिषन्तीत्येवशीलाना गेहाना महेभ्यभवनानामग्राणि
उपरितनानि शृङ्गाणि शिखराणि तेष्वनिलैः पवनैरालोलाश्चञ्चला ये केतवो वैजयन्त्य-
पताकारतेषा व्रणन्तीभिः शब्दायमानाभिः किंकिणीभिः शुद्धघण्टिकाभिः शुद्धुरि-
काभिः कृत्वा ॥

तुमुलैर्बन्दिवृन्दाना तूरस्वरकरम्बितैः ।

भूपरीरम्भकाम्भोदनिर्हादैरिव निर्वभे ॥ १२२ ॥

बन्दिवृन्दाना मङ्गलपाठकप्रकराणा तुमुलैः कोलाहलैः बहुदानादानमनोरथैरुपर्युपरि
पतता व्याकुलशब्दैर्निर्वभे तस्मिन्नवसरे नितरा शुशुभे । किभूतैः तुमुलैः । तूराणा-
मनेकजातीयवादित्राणा स्वरैः शब्दैः करम्बितैः मिश्रीकृतैः । व्याप्तैरित्यर्थः । ‘अक्षबीजव-

लयेन निर्वभे' इति रघौ । उत्प्रेक्ष्यते—भुवो भूमीन्दिराद्या भूमिभामिन्याः परीरम्भकस्य
आलिङ्गनदायिन अम्भोदस्य मेघस्य निर्द्वादं गर्जारवैरिव ॥

केऽपि कुतूहलकलिता वन्दितुमिदरे विलोकितुं केचिन् ।

विकसितसुरतरुसुममिव मधुपास्तमुपागमन्पौराः ॥ १२३ ॥

केऽपि केचन नागरिका कुतूहलेन कातुकेन कलिता सहिता उन्मुकीकृता वा
सन्त । पुन इतरे केचिन् अन्ये केचन न गुर वन्दितु नमस्कृतुमगरे केचन विलो-
कितु तदुत्सव द्रष्टु पौरा नागरिकान्त सूरिमुपागमन् सूरिसमीपे समागच्छन्ति स्म ।
के इव । मधुपा इव । यथा भ्रमरा विकसित विजृम्भित सुरतरो कल्पवृक्षस्य सुम
पुष्पम् । जातिवाचित्वादेकवचनम् । कुसुमसमूहमुपायान्ति ॥

प्रभो. पदाम्भोजयुग पुरीजना नमस्कृतेर्गोचरता नयन्तः ।

प्रमोदनिर्यन्नयनाश्रुबिन्दुभिः श्रान्तं पथा संस्त्रपयन्ति मन्ये ॥ १२४ ॥

पुरीजना अहम्मदावादवःसिश्राद्धसमूहा प्रभो सूरि पदाम्भोजयुग चरणारविन्द-
द्वन्द्व नमस्कृतेर्नमस्कारस्य प्रणामस्य गोचरता विषयत्वं नयन्त प्रापयन्त सन्त प्रमो-
देनानन्देन निर्यता निर्गच्छता नयनाश्रूणा लोचनसलिलाना बिन्दुभिः कण कृत्वा ।
उत्प्रेक्ष्यते—पथा मार्गेण । मार्गोलङ्घनेनेत्यर्थः । श्रान्त प्राप्तकृतं संस्त्रपयन्ति स्नान कार-
यन्तीव । मन्ये इवार्थः ॥

मुमुक्षुक्षोणीन्द्रक्रमकमलभक्तिप्रणमन-

क्रियाश्लिष्यत्पासुप्रसरविलसद्भालफलका ।

व्यराजन्त स्वःश्रेयसविहितये क्लृप्ततिलका

व्यवस्यन्तः सिद्धिश्रियमिव वरीतुं पुरनराः ॥ १२५ ॥

मुमुक्षूणा ससारकारागारादात्मान मोचयितुमिच्छन्ता मुनीना मध्ये क्षोणीन्द्रो राजा
एतावता हीरसूरिस्तस्य क्रमकमलयो पादारविन्दयो भक्त्या प्रणमन नमस्करण तस्य
क्रिया व्यापारकालस्तस्यामाश्लिष्यतो मिलतो लगत पासोरर्थात्पदम्बुजरजस प्रसरो
विस्तारस्तेन विलसन्ति शोभमानानि भालफलकानि ललाटपट्टा येषा तादृशा पुरनरा
अहम्मदावादश्राद्धा व्यराजन्त बभामिरे । उत्प्रेक्ष्यते—सिद्धिश्रिय मुक्तिलक्ष्मी वरीतु
परिणेतु व्यवस्यन्त प्रगल्भमाना सन्त । स्वःश्रेयसविहितये कल्याणकृतये । रसि-
कायितमानसैरिति पुरातनकाव्ये । क्लृप्त रचित तिलक यैस्तादृश्य इव ॥ इति सूरैरक-
मिपुरसमुखीकरणम् ॥

प्राघुणः श्रवणयोः श्रमणेन्दोरागमोऽकमिपुरोऽविभुवोऽद्य ।

वह्निबीजविलसद्दलमालाशालिवारिजवतंसवदासीत् ॥ १२६ ॥

अथ सूरि श्राद्धाना समुखमहोत्सवभवनानन्तर श्रमणेन्दा यतिरजनिजानेरागम

पादावधारणमकमिपुरस्याहम्मदावादस्य अविभू स्वामी । 'अधिपस्त्वीशानो नेता परिवृढोऽविभू' इति हैम्याम् । साहिबखानस्तस्य श्रवणयो कर्णयो प्राधुगोऽतिधिरासीत् भवति स्म । साहिबखानेन सूरिसमागमनमाकर्णितमित्यर्थः । किवत् । वह्निबीजस्य कनकस्य । 'कल्धौतलोहोत्तमवह्निबीजान्यपि गारुड गैरिकजातरूपे' इति हैम्याम् । विलसता विकस्वरीभवता दलाना पत्राणा मालया श्रेण्या शालते शोभते इत्येव-शीलस्य वारिजस्य पद्मस्य वतसवत् । यथा हैमाम्बुजावतस श्रवणयो प्राधुगो भवेत् ॥

चतुरङ्गचमूचलनप्रसृतै रजसा निवहैर्हरिता दयितान् ।

सममाह्वयतीव पुराधिपतिर्यतिनाथनिनंसुरसौ प्रचलन् ॥ १२७ ॥

असौ साहिबखाननामा पुराधिपति राजनगरराज रजसा रेणूना निवहै समूहैः हरिता दयितान् दिक्पालान् सम समकालमेवाह्वयति । अथ वा आत्मना सम सार्व-माकारयतीव । अर्थात्प्रभु नन्तुम् । किभूतै । चत्वारि चतु सख्याकानि वाजिवारण-रथपदातिलक्षणान्यद्गानि अवयवा यस्या तादृश्याश्चम्वा सेनायाश्चलनेन प्रसृतै प्रति-दिश विस्तृतै । असौ किभूत । यतिनाथ हीरसूरि निनसुर्नमस्कर्तुमिच्छु सन् प्रचलन्प्रतिष्ठमानः ॥

तत्पुराधिपतिसाधुधरित्रीनाथयोः पथि युगं मिलति स्म ।

कौमुदीदयितनिर्जरराजाचार्ययोर्द्वयमिवैककराशौ ॥ १२८ ॥

तत्पुरस्याहम्मदाबादनगरस्याधिपति. साहिबखानस्तथा साधूनामनगराणा मध्ये धरि-त्रीनाथो महीपति राजा तयोर्युग युगल पथि सूरिसमागमनमार्गे मिलति स्म एकत्र भवति स्म । किमिव । द्वयमिव । यथा एक एव एकक स चासौ राशिश्च मेषादिक ए-कराशिस्तस्मिन् कौमुदीदयितश्चन्द्र तथा निर्जराणा मुराणा राजा स्वामी पुरदरस्तस्या-चार्यो बृहस्पति । 'शैशवावधि गुरुर्गुरुरस्य' इति नेषधे । तयोर्द्वन्द्व मिलति ॥

नमति स्म मुनीश्वर पुरीपुरहृतोऽमितभक्तिनिर्भर ।

शिखरीव गरीयसी श्रियं फलपङ्के. कलयन्निलातलम् ॥ १२९ ॥

न मीयते स्मेत्यमिता प्रमाणरहिता तादृश्या भक्त्या निर्भर सोत्सुक तादृश पुरी-पुरहृत राजनगराखण्डल मुनीश्वर नमति स्म । प्रभो प्रणाम कृतवानित्यर्थः । क इव । शिखरीव । यथा फलाना सस्याना पङ्के वोरण्या गरीयसीमतिगुर्वी श्रिय शोभा कलयन्निभ्राणो वृक्ष इलातल भूमीमण्डल नमति ॥

प्रेक्षप्रस्खलिताखिलाम्बरचरव्राते प्रणीते क्षणे

पौराणा प्रकरै. प्रवेशितमतिप्रीत्या पुरस्यान्तरे ।

आगृह्णानयति स्म तत्पुरपतिः सूरेश्वरं स्वान्गृहा-

न्नेतं संप्रतिकाश्यपीपतिरिव श्रीमत्सुहस्तिप्रभुम् ॥ १३० ॥

यस्मिन्पुरे पौरैः प्रभो प्रवेश कारित तत्पुरस्याहम्मदावादनान्नो नगरस्य पति
स्वामी खान एत सूरेश्वरमागृह्यात्याग्रह विजति विवाय स्व न गृहान्विजान् भवनान्
आनयति स्मानीतवान् । क इव । सप्रतिकाश्यपीपतिरिव । यथा सप्रति नामा का-
श्यपीपति पृथ्वीनाथ श्रीमन्त मुहस्तिनामान त्रभु सूरि स्वान्मोवान्प्रत्यानिनाय ।
द्वावपि विशिनष्टि—एत किभूतम् । अतिप्रीत्याविक्रमोदेन पाराणा नागराणा प्रकरैर्वृन्दे
पुरस्याहम्मदावादस्य पाटलीपुत्रस्य नगरस्य च अन्तरे मध्ये प्रवेशित प्रवेश कारितमा-
नीतम् । कस्मिन्सति । प्रेक्षया विलोकनेन, अथ वा प्रेक्षार्य दर्शनार्थ प्रस्वलितानां
कौतुकातिरेकात्स्थिरीभूता अखिला समस्ता अम्बरचरा सिद्धगन्धर्वविद्यावरदेवता-
दिका नभश्चारिणो निरन्तरगमनगामिनो यत्र तादृशे क्षणे महोत्सवे प्रणीते अर्था-
त्पौरैः कृते सति ॥

शृङ्गैरम्बरचुम्बिभिर्विदधत विघ्नं विवस्वद्वते

प्रासाद त्रिदशार्चयेव परमं प्राप्य भूषाभरम् ।

भूभर्त्रेव हिरण्यमय प्रदलितप्रोन्मादिभावद्विषा

रम्योर्णायुमय विनेयनिहित तेनासन शिश्रिये ॥ १३१ ॥

तेन सूरिणा रम्य प्रशस्यमूर्णायुमय कम्बलिकारूपमासन विष्टर शिश्रिये भेजे ।
किभूतमासनम् । विनेयेन शिष्येण निहित म्यापितम् । आस्तीर्णमित्यर्थः । केनेव । भूभ-
र्त्रेव । यथा भूगतिना विशिष्ट वस्तु नीयते अर्थात् स्वस्वामिने नीयते प्राप्यते इति ।
विनेया सुसेवकास्तैर्निहित हिरण्यमय सौवर्णमासन श्रीयते । किभूतेन सूरिणा राजा
च । प्रदलिता हता प्रोन्मादिनो दुर्वरा भावा अन्तरद्वा, तथा प्रोन्मादी प्रकप्रण उन्मत्तो
भाव आशय स्वभावो वा येषा तादृशो द्विशो वैरिणो येन श्रितम् । कि कृत्वा । त्रिद-
शस्य देवस्य अर्चया प्रतिमयेव । प्रासाद देवगृह भूपतिनिकेतन च । 'प्रासादो
देवभूपानाम्' इति हैम्याम् । परममतिशायिन भूषाभर शोभासमुदय प्राप्यार्थादात्म-
नैव लम्भयित्वा । प्राप्येति क्रियारत्नसमुच्चये । प्रासाद कि कुर्वन्तम् । अम्बरमाकाश
चुम्बल्यालिङ्गति स्वाग्रे सघट्टयतीत्येवशीलैः शृङ्गैरात्मीयशिरसरे कृत्वा विवस्वत
सूर्यगमनस्य विघ्नमन्तराय दयत कुर्वाणम् ॥ इति सूरैर्भूषगृहागमनोपवेशने ॥

उपायनीकृत्य मणीहिरण्यदुकूलदामाभरणादि भूमान् ।

कृताञ्जलिः समदमेदुराङ्ग स भृत्यवत्कृत्यविदित्युवाच ॥ १३२ ॥

स भूमान् राजा साहिबखान इत्यनुना प्रकारेण उवाच गुरो पुरो वभाषे । कि-
भूत । कृत्यमुचितानुचितकार्यं वेत्ति जानातीति । अवसरोचितवेनेत्यर्थः । पुन
किभूत । समदमेन हपेण कृत्य मेदुर्गसुपञ्चीयमानमद वपुर्यस्य स । पुन किभूत ।
कृताञ्जलि विहितहस्तद्वितययोजन । किवत् । भृत्यवत् । यथा भक्त सेवक कृताञ्जलि-
पुट स्वस्वामिपुरो वक्ति । कि कृत्वा । मण्यो रत्नानि, हिरण्यानि मुवर्णानि दुकूलानि

क्षोमाणि उपलक्षणादपराण्यप्यशुकरत्नकम्बलादीनि, दामानि मुक्ताहारादीनि, आभरणानि रजतकनकघटितविविधभूषणानि, तान्यादौ प्रथमं यत्र तादृक् वस्तुजातम् । पदार्थसार्थ-मित्यर्थः । उपायनीकृत्य ढौकयित्वा ॥

किमुवाच तदेवाह—

साहिश्रीमदकब्बरावनिभुजेत्यादिष्टमास्ते मम

द्युमस्यन्दनवाजिवारणमुखं संपूर्य तत्कामितम् ।

श्रीसूरीश्वरहीरहीरविजयं संप्रापयेस्त्व ममा-

भ्यासं स्वीयमिवाद्रियस्व तदिदं विश्राण्यमानं मया ॥ १३३ ॥

हे प्रभो, तत्कारणात् मया विश्राण्यमानं तुभ्यं गुरवे दीयमानमिदं प्रत्यक्षं श्रीमत्पुरो ढौकितं सर्वं वस्तुजातमाद्रियस्व स्वीकुरुय । किमिव । स्वीयमिव । यथा जनैः आत्मीय-मशेषवस्तुजातमङ्गीक्रियते । यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् यत्कारणात् । साहिना पातिसाहिना श्रीमता स्वभुजोपार्जितदशदिक्चक्रलक्ष्मीवता अकब्बरनाम्ना अवनिभुजा भूमीभामिनी-भोक्ता । पृथ्वीपालेनेत्यर्थः । इत्यमुना प्रकारेण आदिष्टं लेखद्वारा प्रसादितमास्ते । स्फुर-न्माने लिपीकारितमस्तीत्यर्थः । इति किम् । श्रिया सयमलक्ष्म्या कीर्तीन्द्रियं च युक्ता ये सूरीणामाचार्याणामीश्वरा अणिमादिसिद्धिविविधलब्धिभाजो महत्तमास्तेषु सर्वोत्कृष्टत्वात् हीरोऽमूल्यवज्रमणिः । मुख्य इत्यर्थः । तादृशं हीरविजयं सूरि ममाभ्यास-पार्श्वं प्रापये सम्यक् समानादिप्रकारेण प्रेषय । किं कृत्वा । वुम्नानि सुवर्णरजतमाण-कादीनि द्रव्याणि, स्यन्दना रथा, वाजिनस्तुरगा, वारणा हस्तिन, तन्मुखे वदने वा आदौ यस्य तादृशं तत्कामितं सूरिसमीहितं संपूर्य संपूर्णीकृत्य । सूरिर्यन्मार्गयति तत्तदर्पयित्वा फतेपुरे मत्समीपे शीघ्रं संप्रेषणीय इत्यर्थः ॥

स्वामिन्मे गन्धवाहा इव धृततनवः स्वान्तवेगास्तुरङ्गाः ।

सोदर्याः कज्जलाद्रेरिव मदमुदितभ्रान्तभृङ्गाः करीन्द्राः ।

त्वष्ट्रेव स्वेन सृष्टा यदुपतय इवोद्यद्रथाङ्गाः शताङ्गाः

पत्तिव्राताश्च मूर्तिं दधत इव रसा वीरनामान एते ॥ १३४ ॥

हे स्वामिन् गुरो, मम मदीया एते श्रीमत्प्रत्यक्षलक्ष्यास्तुरङ्गा अश्वा सन्ति । किं-भूता । स्वान्तवन्मन इव त्वरितो वेगो येषाम् । उत्प्रेक्ष्यते—धृततनवः अङ्गीकृताङ्गा गन्धवाहा पवना इव । च पुनरेते दृग्गोचरा गर्जजलवरानुवादिन करीन्द्रा कुञ्जरराजा वर्तन्ते । किंभूता । मढेन करिकपोलस्थलनिर्गलद्वहलदानजलपानेन मुदिता हृष्टाः अत एव भ्रान्ता परितो भ्रमणीकारिणो भृङ्गा भ्रमरा येषु ते । उत्प्रेक्ष्यते—कज्जलाद्रे-रञ्जनगिरे सोदर्या सहोदरा इव । श्यामतया तुङ्गनया वा भ्रातर इव । पुनरेते श्रीपु-रस्कृताश्चामरध्वजनन्दिघोषाद्यलकृता शताङ्गा रथा विद्यन्ते । किंभूता । उत्प्राबल्येन

वायुवेगेन चलद्रथाङ्ग रथपादो यत्र । 'ङ्ण् गर्ता' इत्यस्य धातोः गन्प्रत्यये यत् इति निष्पद्यते । 'यद्धारुणदारुण प्रकुर्वाणम्' इति व्यामषष्टिके काव्ये । प्रयोगस्तु क्रियारन्ध्र-समुच्चये । के इव । यदुपतय इव । यथा वासुदेवेणा उद्यद्दीप्यमान रथाङ्ग प्रतिभज-प्रतिहत चक्र नामायुधविशेषो येषा तादृशा स्युः । उत्प्रेक्ष्यन्ते—शनाङ्गा त्वया विश्व-कर्मणा देववार्धकिना स्वेनात्मना स्रष्टा निर्मिता इव । पुनरेते श्रीमत्पुरस्तादूच्यमा पत्तिव्रजाः पदातिप्रकरा जाग्रति सन्ति । 'सत्तायामस्त्यास्ते जागर्ति च विद्यते च ध्रिय-तेऽथ' इति क्रियाकलापे । उत्प्रेक्ष्यते—मृतिं तनुं दयतो विभ्राणा वीर इति नाम येषा तादृशा पञ्चमा गमा इव । अस्मिन्काव्ये सबोधनपदादग्रे मे इत्यादेशोऽस्ति । न तु यद्यपि सारस्वतव्याकरणे 'सबोधनपदादग्रे न भवन्ति वसादयः' इत्युक्तत्वात्तदनुसारेण सबोधनपदादग्रे एते वसादयः आदेशा न भवन्त्येव, तथाप्यन्यत्र काव्यादेशा दृश्यन्ते । यथा वाक्यप्रकाशे—'मित्रं ते मे मोदते मनः' इत्युक्ते । तथा वैतालिककृतौ वि-क्रमादित्यस्तुतावपि—'स्वच्छेऽन्तर्मानसेऽस्मिन्कथमवनिपते तेऽम्बुगनाभिलापः' इत्यु-क्तत्वाच्च । अत्रापि स्वामिन्निति सबोधनादग्रे 'मे' इत्यादेशपदं प्रयुक्तं न दोषायेति ॥

स्वर्णं तदेतद्भवदङ्गचङ्गिमश्रीस्पर्धिशिक्षावित्तितीर्षवो रुषा ।

निक्षिप्य वह्नौ च घनैर्निहत्य च्छिन्दन्ति टङ्कैरिव यत्कलादाः ॥१३९॥

हे गुरो, इदं श्रीमत्पुरो ढांकितं स्वर्णं काञ्चनं तत्प्रसिद्धखनीभवमास्ते । अथ वा तद्यत्सबन्धनिष्ठम् । तत्किंभूतम् । यत्सुवर्णं भवता श्रीमतामङ्गस्य वपुषश्चङ्गिमा चारुता तस्य श्रिया लक्ष्म्या राजते । 'जिनवचनपद्धतिरुक्तिचङ्गिममालिनी' इति पद्ममुन्दरकृ-तमालवरागजिनध्रुवपदे । स्पर्धते इत्येवशीलमन एव कारणान् शिक्षा ताडनादिदण्ड-वित्तितीर्षवो दातुमिच्छन् कलादाः स्वर्णकारा रुषा अनौचित्यकरणोद्धृतभूमकोपेनेव वह्नौ वैश्वानरे निक्षिप्य क्षेपयित्वा । च पुनर्घनैर्लोहमयकुट्टनोपकरणैर्निहत्य कुट्टयित्वा टङ्कैरायसतीक्ष्णमुखटङ्गनकेश्च च्छिन्दन्ति शकलीकुर्वन्तीव ॥

स्फूर्जज्ज्योतिर्जलदपथवद्वृन्दमेतन्मणीनां

मुक्तापङ्क्तिस्ततिरिव सता शुद्धिमत्ता वहन्ती ।

यानव्राता व्रतिप शिविकाद्या विमाना इवामी

वासास्येतान्यपि सुमनसामशुकानीव सन्ति ॥ १३६ ॥

हे व्रतिप व्रतिन सयमिनः पाति रक्षयति पालयतीति व्रतिपस्तस्य सबोधनम् । एतत्प्रत्यक्षं जगज्ज्ञगिति कान्तिततिनिर्दलितान्धकारमणीनां नानारत्नानां वृन्दं वर्तते । किंभूतम् । स्फूर्जद्दीप्यमानं ज्योतिर्दक्षिणस्य । किवन् । जलदपथवत् । यथा जलदानां पन्था मार्गो गगनम् । स्फूर्जन्ति जगज्ज्ञगिति कान्तिमन्ति ज्योतीषि ग्रहनक्षत्रतारका यत्र तत् । पुनरेषा श्रीमल्लोचनगोचरसचरिष्णुमोक्तिकमाला विद्यते । किं कुर्वन्ती । शुद्धिमत्तामतिशयेन निर्मलत्वं वहन्ती वारयन्ती । केव । सता ततिरिव । उत्तमपङ्क्तिर्नि-

मलाशयता वहते । निष्कलङ्किता वा वत्ते । च पुनरिमे बहुजनवाद्याः शिविका या-
प्ययानमाद्य प्रथम येषु लोके 'पालखी' इति प्रसिद्धा । तत्तद्यानवाता सुखासनचकडो-
लाभिवानोपवेशनोचितासनसघाता वर्तन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—विमाना इव । विमानशब्द
पुष्पीवलिङ्गे । यथा 'धनविग्रहविमाना' इति लिङ्गानुशामने पुनरेतानि श्रीमत्परिवा-
नार्थमानीतानि वासासि वस्त्राणि सन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—सुमनसा देवानामशुकानि देव-
दूष्यानीव ॥

अनुगृहाण गृहाण पुरस्कृतं त्वमिदमन्यदपीहितमात्मनः ।

विफलयन्ति यतः सुजना सुरावनिरुहा इव न कचिदर्थनाम् ॥१३७॥

हे प्रभो, त्वं मामनुगृहाण ममोपरि प्रसाद कुरु । मय्यनुग्रहं कृत्वा इदं त्वत्प्रत्यक्षं
पुरस्कृतं त्वदग्रे मया दौकितं वस्तुजातं गृहाण । अपि पुनरन्यत्परमपि आत्मनः स्वस्य
समीहितं कामितं च मार्गयित्वा याचित्वा च स्वीकुरु । यतः कारणात् सुजनाः सन्त
कचित्कुत्रापि स्थाने अर्थना याचना न विफलयन्ति न मोघीकुर्वन्ति । क इव । सुराव-
निरुहा इव । यथा कल्पवृक्षा कचनापि प्रार्थना न निष्फलीकुर्वते ॥

अलिकचुम्बिकराम्बुजयामलः प्रकटयन्विनयं स विनेयवत् ।

इदमुदीर्य वचोव्यवहारतो निववृते श्रमणाधिपते पुर ॥ १३८ ॥

स साहिबखान श्रमणाधिपते सूरि पुरोऽग्रे इदं पूर्वोक्तमुदीर्य कथयित्वा वचोव्य-
वहारतो वाग्व्यापारान्निववृते निवृत्तः । किम्भूतः । अलिक भालचुम्बत्याश्लिषतीत्येवशीलं
करावेवाम्बुजे पद्मे तयोर्यामलं द्वन्द्वं यस्य भालस्यले स्थायि करकमलयुगलः । कृताञ्ज-
लिरित्यर्थः । पुनः किं कुर्वन् । विनेयवत् सुनिश्चय इव विनयभक्तिनम्रता प्रकटयन्
प्रकाशयन् ॥ इति साहिबखानस्य सूरिपुरो वस्तुग्रहणविषया विज्ञप्तिः ॥

गृह्णतो गिरमुदीत्वरदन्तव्रातदीधितिरभासत सूरैः ।

निर्गता बहिरिव प्रणिधानक्षीरनीरधिलसलहरीव ॥ १३९ ॥

गिरं प्रत्युत्तरवाणीं गृह्णत आददानस्य भाषमाणस्य सूरैर्हीरगुरोरुदीत्वरं उद्गच्छन्ती
प्रकटीभवन्ती दन्तानां दशनानां व्रातस्य व्रजस्य दीधितिः कान्तिः अभासतः शोभते
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—बहिर्हृदयाद्वाह्यप्रदेशे निर्गता निमृता प्रणिधानं तदेव क्षीरनिधिः
दुग्धोदधिः तस्य लमन्ती स्फूर्जन्ती लहरी वीचीव ॥

कलिक्षितीन्द्रानिव दुर्बलश्रुतीश्चक्रीकृतास्यान्धृतचापलान्पुनः ।

क्षमा सकोपानिव निघ्नतस्त्यजेदूरतुरङ्गान्स्पृहयन्निश्वश्रियम् ॥१४०॥

हे खान, शिवस्य कल्याणसिद्धेश्च श्रियं लक्ष्मीं स्पृहयन् कामयमानः साधुरुत्तमो
मुनिश्च कलिक्षितीन्द्रान्कलिकालोत्पन्नभूपालानिव तुरङ्गान्वाजिनः दूरं विप्रकृष्टं त्यजेत्
मुञ्चेत् । किम्भूतान् तुरङ्गान् कलिनृपाश्च । दुर्बलश्रुतीन् लघुकर्णान् । परापवादप्रकटनपटु-

पिशुनवचनाकर्णनपरान् । पुन किंभूतान् । चक्र जातिस्वभावात्कुटिल कृतमास्य वदन
यै । तथा परोपकारादिकरणे वैमुख्यभाजः । पुन किंभूतान् । वृत्तमङ्गीकृत चापल
वक्रगमनोल्लनफालादि यैस्तथा । परदारगमनादिमकलितस्वभावान् । पुन किं कुर्वन् ।
सकोपानिव क्रोवोद्धतानिव । क्षमा क्षोणीं निघ्नत पदप्रहारादिना प्रहरन् । सकोपा-
क्षान्तिमुपशम घातयन्ति । नृपास्तु नवीनकरकरणजननिग्रहदण्डादिना पृथ्वी
पीडयन्ति ॥

मदोद्धतत्वं मधुपानुषङ्गितां मातङ्गतामाश्रयशाखिघातिताम् ।

यस्माद्वहन्ते नृपते मतङ्गजा सता तदेषा न शिवाय संगम ॥१४१॥

हे नृपते राजन्, यस्मात्कारणात् एते त्वया मदर्थमानायिता अमी मतङ्गजा हस्तिन
मदै क्षीवताभि दानप्रवाहैश्च उद्धतत्वमुन्मत्तताम्, तथा मधुपेर्मधुपानविवायिभिर्भ्रमरै-
श्चानुषङ्ग सङ्गोऽस्त्येषामिति मधुपानुषङ्गिन तत्ताम्, तथा मातङ्गता चण्डालतामस्पृश्यभाव
गजताम्, तथा आश्रयाणा स्थानदायिना छायाशनादिप्रदाने सुखकारिणा वा शाखिना
शाखा पुत्रपौत्रप्रपौत्रादीना विस्तारा विद्यन्ते येषां ते शाखिनस्तेषामाश्रयभूताना
कुटुम्बभाजा कुटुम्बवृद्धाना पोषकाणा वा । 'शाखा द्रुमाशे वेदाशे भुजे पक्षान्त-
रेऽन्तिके' इत्यनेकार्थः । 'पक्षान्तरे सततिविशेषे' इत्यवचूर्णि । द्रुमाणा च घातिता
हननशीलता वहन्ते बिभ्रते । तत्कारणादेषा गजाना संगम सता सायूना न शिवाय
न शुभाय मोक्षाय च ॥

द्यूतकृदिवाक्षविलसन्नरियुक्तः पिशुनवत्पुराधीश ।

निर्वृण्वद्भिः सद्भिः शताङ्गराशिर्न काम्येत ॥ १४२ ॥

हे पुराधीश राजनगरनायक, निर्वृण्वद्भिः निर्वृति सुख मोक्ष च काङ्क्षद्भिः साधुभिः ।
'निर्वृणोमि नगतो वसुमत्या स्वारसातलभवाहवशङ्की' इति नैपथ्ये । 'निर्वृते न प्राप्नोमि'
इति तद्वृत्तिः । शताङ्गराशिः स्यन्दननिवहः । शतानि शतशः अङ्गानि उपसर्जनभूता
प्रकाराः क्लेशादयो येषु ते भवा जन्मानि तेषां गणः भवपरम्परा न काम्येत नाभि-
लष्येत । 'अङ्गमन्तिकगात्रयोः । उपसर्जनभूते स्यादभ्युपायप्रतीकयोः ॥' इत्यनेकार्थः ।
तथा 'गौणोपसर्जनोपाग्राण्यप्रदाने' इति हेम्यामपि । किंभूतः । अक्षेण रथावयवविशे-
षेण विलसन् शोभमानः । क इव । द्यूतकृदिव । यथा द्यूतकारः अक्षैः प्राप्तके 'पासा'
इति प्रसिद्धनामभिर्विशेषेण नक्तदिन लसन् क्रीडन् रममाणो भवेत् । 'लम लोपक्रीड-
नयो' इत्ययं धातुः । पुन किंभूतः । अरा सन्त्यनयो रयादयोश्चक्रयोस्ते अरिणी
रयाङ्गे ताभ्यां युक्तः कलितः । क इव । पिशुन इव यथा द्विजिह्वः खलः अरिभिर्युक्तो
भवति । प्रायः खलानां बहवो वैरिणः स्युः । अथ वा अरित्वेन वरिभावेन सर्वपा-
मपि शत्रुतया युक्तः । खलः खलु जगतोऽपि शत्रुभूतो न कस्यापि मित्रमिति । यदु-
क्तम्—'मृगमीनसज्जनानां तृणजलसतोपविहितवृत्तीनाम् । लुब्धकवीवरपिशुना नि-
ष्कारणवैरिणो जगति ॥' इति ॥

राजन्हुताशा इव हेतिभीषणा. पुनर्गिरीशा इव रुद्रताङ्किताः ।

शान्तात्मनामार्द्रहृदा महात्मनां नौचित्यमेते दधते पदातयः ॥ १४३ ॥

हे राजन् भूपते, एते दण्डभृच्चण्डप्रचण्डाकृतयः पदातयः पादचारिणः शान्त-
शमवानात्मा स्वरूप येषां तेषां शान्तात्मनाम् । तथा आर्द्रं यावज्जन्तुजातोपरि कृपया
क्लिन्नम् । पूर्णमित्यर्थः । हृदयं येषां तेषामार्द्रहृदा महात्मना सता साधूना वा औचित्य-
योग्यता न दधते विभ्रते । किंभूता । हुताशा. कृशानव इव हेतिभिर्विविधायुवैज्वा-
लावलीभिश्च भीषणा भयानका अतिभीतिकारिणः । पुनः किंभूता । रुद्रतया चण्ड-
त्वेन अङ्किता कलिता । क इव । गिरीशा इव । यथा ईश्वरा रुद्राभिवानत्वेनान्विता ।
यतः एकादश रुद्रा । 'रुद्रोद्गीशो वामदेवो वृषाङ्क' इति हैम्याम् ॥

माद्यन्त्यष्टापदैः पृथ्वीकान्त कैतवजीविनः ।

सन्तः संयमसाम्राज्या न पुनर्नयचक्षुषः ॥ १४४ ॥

हे पृथ्वीकान्त भूमामिनीवल्लभ, कैतवेन दुरोदरेण जीवन्ति प्राणान्धारयन्तीति
कैतवजीविनो द्यूतकारा अष्टापदैः शारिफलैः द्यूतक्रीडोपकरणविशेषैः कृत्वा माद्यन्ति
मदेन हृष्यन्ति । पुनः सन्तः साधवः अष्टापदैः स्वर्णैः कृत्वा न मदयुक्ता भवन्ति
निर्ग्रन्थत्वान्निष्परिग्रहत्वाच्च । किंभूता । संयमस्य चारित्र्यस्य साम्राज्यमैश्वर्यं येषाम् ।
तथा नये नैगमादिसप्तभेदभिन्ने न्याये वा चक्षुर्दर्शनं येषां नय एव चक्षुर्येषां वा ॥

धामसाधिमभृतः कलयन्त्यः स्त्रीत्वमात्मनि पुनर्वनितावत् ।

त्यक्तगेहगृहिणीद्रविणानां प्रीणयन्ति न मनो मणिमालाः ॥ १४५ ॥

हे नृप, त्यक्तानि मुक्तानि गेहानि मन्दिराणि गृहिण्य स्त्रियः द्रविणानि वनानि
यैस्तेषां साधूनां मनश्चित्तं मणिमाला रत्नश्रेणयो न प्रीणयन्ति न तोषयन्ति । किंभू-
तस्य । वाम्ना तेजसा साविमान चारिमाण स्फूर्तिं विभ्रतीति । त्वयादृतं किं नरसा-
विमभ्रम' इति नैषधे । किं कुर्वन्त्यः । आत्मनि स्वे स्त्रीत्व स्त्रीलिङ्गता कलयन्त्यः ।
किंवत् । वनितावत् । यथा नार्यः धामसु सौवेषु साधुतां वारयन्ति । यतो गृहमण्डना
स्त्रियः । अयं वा । 'घरघरणीइपणघरचलइनही' इति लोकोक्तिः । पुनरात्मनि विषये
स्त्रीत्व वनिताभावः विभ्रते ॥

विभ्राणा अपि बाह्यतो विशदता छिद्रं दधत्यन्तरा

तेनामी उचिता न मौक्तिकगणा द्वेधापि शुद्धात्मनाम् ।

भूपः स्तम्भजुषो जडात्मवदमी येन व्रजा वीवधै-

वर्धन्ते च परास्ततो मतिमतामेभिर्न कृत्य पुनः ॥ १४६ ॥

हे भूप हे पृथ्वीपाल, येन कारणेन अमी मौक्तिकगणा बाह्यतो बहिस्ताजनदृग्गो-

चरे विशदता निर्मलतामुज्ज्वलन्व विभ्राणा अपि वारयन्तोऽपि अन्तरा मध्ये छिद्रं
रन्ध्रं दोषमप्यगुण वा दधति धारयन्ति अर्थान्निशुनवदित्यर्थादनुक्तमायववाग्णीयम् ।
यथा सलो बाह्वे विशदता हामितवदनन्व दधानोऽपि परानर्थप्रयाविधाधि दुष्टागयता
धत्ते । यदुक्तम्—‘मुख पद्मसमाकार वाचा चन्दनगीतला । हृदय कर्तरीतुल्य त्रिविव
वर्तलक्षणम् ॥’ इति । तेन कारणेन द्वेवापि बहिरन्तर्गपि शुद्धोऽयुज्ज्वल- निर्मलो
निष्पाप आत्मा स्वरूप येषां तेषां महात्मनाममी नोचिता न योग्या । पुनहे भूप, यतो
हेतोरमी यानत्रजा वाहनसमूहा जडात्मवज्जडात्मान इव स्तम्भान् स्थूणान् जाड्य च
जुषन्ते सेवन्ते इति स्तम्भजुष । च पुन परानन्यान् जन्तून् वीवधै स्वभारं कृत्वा
बाधन्ते पीडयन्ति । तत कारणादेभिर्मतिमतामखण्डपण्डाशालिना साधूना न कृत्य न
किमपि कार्यं विद्यते ॥

भूमीन्दोऽसिचया एते उचिता एव शस्त्रिणाम् ।

भवादृशा न चास्माकं शमसौहित्यशालिनाम् ॥ १४७ ॥

हे भूमीन्दो वसुधासुवाकर, एते असिचया खड्गगणा शस्त्राणि प्रहरणानि वरन्ति
रक्षयन्तीत्येवशीलानां भवादृशा विविवायुवधारिणा विरोधिवधविवानोद्धतक्रोवोद्धु-
राणा युष्मद्विवानामेव उचिता योग्या । अथ च वास्तवार्थे सिचया वस्त्राणि युष्मा-
दृशा बहुमूल्यत्वाद्भूमीन्द्राणामेव योग्यानि । न पुन शमेन शान्तरसास्वादेन यत्सौ-
हित्यं तृप्तिस्तृप्तिस्तया शालन्ते शोभन्ते इत्येवशीलानां मित्रामित्राजनसदृशदृशामस्मा-
दृशामुचिता । यदुक्तम्—‘भुञ्जीमहि वयं भैक्ष्य जीर्णं वासो वसीमहि ।
शयीमहि महीपीठे कुर्वामहि किमीश्वरे ॥’ इति ॥ इति खानस्य तुरङ्गादिप्रदानाग्रहे
गुरो प्रतिवचनानि ॥

एष निपीय कवेरिव वाचं श्लेषविशेषवती व्रतिभर्तु ।

प्रीतमना इति तं प्रति वाणी वासयति स्म पुनर्वदनाब्जे ॥ १४८ ॥

प्रीत गुरोरतिनिर्लोभतानिभालनात्सनुष्ट मनो मानस यस्य तादृश एष साहिवखान-
इत्यमुना प्रकारेण तं सूरि प्रति वदनाब्जे निजमुखकमले वाणी गिर वाग्देवता वास-
यति स्म वासितवान् । उवाचेत्यर्थः । अथ च लक्ष्मीमिव वाग्वादिनी पद्मवासिनी कृत-
वानित्यप्यर्थवन्ति । किं कृत्वा । कवे काव्यकर्तुरिव अथ च कवे शुक्रस्येव । ‘अजस्रम-
याममुपेयुषा सम मुदेव देव- कविना बुवेन च’ इति नैषवे । कवि काव्यकर्ता ।
तथा शुक्र । बुधो विद्वान् । चन्द्राङ्गजश्च । तथा ‘उशना भार्गव कवि’ इति हर्म्याम् ।
अथ चायं मुद्रत्वादसुर असुराणा गुरुत्वाच्च कविवाग्यानमुचितमेव सूरि सुराणा
गुरुर्नासुराणामिति वचनाच्च सूरे श्लेषानां श्लेषोक्तीनां विशेपा अतिशया विद्यन्ते
यस्या सा श्लेषविशेषवती तादृशी वाच भार्गवी निपीय सादर श्रुत्वा ॥

याच्चा मे क्रियता फलेग्रहिरसौ द्रोणिर्द्रुमाणामिव
 प्रोन्निद्रा मधुना स तुष्यति यथा पृथ्वीमहेन्द्रो मयि ।
 इत्यावेद्य निवृत्तिमीयुषि पुराधीशे वशीन्द्रो गिरं
 जग्राहोष्णऋतौ कृतव्यवसितौ मेघाम्बुधारामिव ॥ १४९ ॥

इत्यमुना पूर्वोक्तप्रकारेण आवेद्य कथयित्वा निवृत्तिमुपरममुपेयुषि मौनमासेदुपि पुराधीशे साहिबखाने सति सूरिर्हीरगुरुर्गिरं वाणीं जग्राहोपादत्त । बभाषे इत्यर्थः । क इव । मेघ इव । यथा कृता निर्मिता व्यवसिति स्वसमयोचितप्रबललूकातापपय शोष-प्रमुखा व्यापृतिर्येन तादृशे उष्णऋतौ निदाघसमये निवृत्ते सति जलवर प्रावृषेण्यपयो-वर अम्बुवारा वारिवृष्टिं गृह्णाति । इति किमावेद्य । हे गुरो, श्रीमता मे मम याच्चा प्रार्थना फलेग्रहि सफला क्रियताम् । केनेव । मधुनेव । यथा वसन्तेन ऋतुना द्रुमाणा विविधजातितरूणा द्रोणि श्रेणि प्रोन्निद्रा विकसिता फलकलिता क्रियते । तथा यथा येन प्रकारेण स पृथिवीमहेन्द्र अकब्बरसाहिर्मयि तुष्यति हृष्टचित्तो भविष्यति तथा विधीयताम् ॥

रक्षामो जगदङ्गिनो न च मृषावादं वदामः क्वचि-

न्नादत्तं ग्रहयामहे मृगदृशा बन्धूभवामः पुनः ।

आद्धमो न परिग्रहं निशि पुनर्नाश्रीमहि ब्रूमहे

ज्योतिष्कादि न भूषणानि न वयं दध्मो नृपैतान् व्रतान् ॥ १५० ॥

हे नृप, वयमेतान् व्रतान् नियमविशेषान् दध्मो वारयाम । व्रतशब्द पुनपुसके । तानेव पृथक्कृत्य दर्शयति—वयं जगता त्रयाणामपि भुवनानामङ्गिनो जन्तून् रक्षाम स्वसतानवत्पालयाम । च पुन क्वचित् प्राणत्यागेऽपि मृषावाद मिथ्याभाषा न वदामो ब्रूम । पुन क्वचिद्रामादावरण्यादावपि चादत्त केनापि स्वामिप्रमुखेन अविश्राणित तृणाद्यपि न ग्रहयामहे न गृह्णीम । पुनर्मृगदृशा सर्वासामपि स्त्रीणा बन्धूभवाम । मुक्ताशेषविषयाभिलाषतया विश्ववनिता स्वभगिनीतुल्या गणयाम । पुन परिग्रहं धनवान्यक्षेत्रक्रियाणकाशुकादिवस्तुहृष्यसुवर्णहृष्यस्वर्णादिमयस्थालकञ्चालकादिककुप्य-द्विपदचतुष्पदलक्षण नवविधवस्तूना संग्रहं नादध्म किमपि ससारहेतुभूततया परिग्रह-मात्रं नैव रक्षयाम । पुननिशि रात्रिविषये नाश्रीमहि सर्वथापि नैव भुञ्जाम । पुन-ज्योतिष्कादिनिमित्तलक्षण चन्द्रग्रहादिकं न ब्रूमहे कदापि न कथयाम । पुनर्भूषणानि मणिस्वर्णादिमयान्याभरणानि न दध्म वपुषि न वारयाम । अत्र दध्म इति क्रिया घण्टालालान्यायेन उभयत्र व्रतभूषणादिषु योजनीया ॥

वाहाः पञ्च महाव्रतानि करिणः क्षान्त्यादिधर्मा दश

शीलाङ्गाख्यरथा नवद्वयमिताः पार्श्वे सदृशाः सदा ।

मुक्ताखर्णमणीगणाः पुनरमी येषा मुनीना गुणा

यानान्यद्भुतभावनाश्च यशसां पुञ्जा. पुरोगामिन ॥ १५१ ॥

विश्वस्फूर्जदमारिणिष्टपटहा मोहाद्यग्निध्वसिनः

साम्राज्य दधतेऽनिश दशदिशा ये सार्वभौमा इव ।

ये श्वेताशुकशालिनः कुमुदिनीकान्ता इव धमापते

ते प्राप्ताखिलकामिता इव वयं नाशास्महे किञ्चन ॥ १५२ ॥

हे क्षमापते खान, प्राप्तानि सर्वात्मना लब्धानि अखिलानि समन्तानि कामिनानि वाञ्छितानि मानसिकवाचिककायिककामा यैस्तादृशा इव ते वयं किञ्चन किमपि नाशास्महे न कामयामहे । ते के । येषामन्माक प्राणातिपात-मृषावाद-अदत्तादान-मैथुन-परिग्रह-विरमणलक्षणानि पञ्च महाव्रतान्येव बाहा पट्टजात्यतुरङ्गा सन्ति । पुनर्येषा क्षान्त्यादय क्षमा-आर्जव-मार्दव-निर्लोभतारूपमुक्ति तप-सयम-मत्य-निष्कपटतारूपशौच-अकिञ्च ब्रह्मचर्यलक्षणा दशविवसाधुवर्माभिवाना करिण पट्टगजेन्द्रा विद्यन्ते । पुनर्येषा पाश्वे सनिवाने सदा निरन्तर नवद्वयमिता नवाना नवसख्याना द्वय युगलमेतावता अष्टादश तेन मिता प्रमाणीकृता । ‘नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्’ इति नैषधे । सहस्रा दशशतानि । सहस्रशब्द पुक्लीबलिङ्गे । शीलाद्वा इत्याख्या नाम येषा तादृशा रथा एतावता अष्टादशसहस्रा शीलाङ्गरया वर्तन्ते । पुनर्येषा मुनीना साधूना सप्तविंशतिसख्याका गुणा । यथा—पण्णा प्राणातिपात-मृषावाद-अदत्तादान-मैथुन-परिग्रह-रात्रिभोजन विरमणलक्षणाना व्रताना परिपालनम्, तथा पण्णा पृथ्वी-जल-अनल-वायु-वनस्पति-त्रासलक्षणाना कायाना रक्षा, तथा पञ्चाना श्रवण-नयन-घ्राण-रसन-स्पर्शननाम्नामिन्द्रियाणा निग्रह, निर्लोभता, क्षमा, भावसत्यक्रिया, विशुद्धिता, मनोवचनकायाना जय, सयमयोगयुक्तता, शीतातपादिवेदनासहनम्, उपसर्गसहन चेति मुक्ताखर्णमणीगणा मौक्तिककाञ्चनरत्ननिकरा आसते । पुनर्येषामद्भुता आश्चर्यकारिण्य द्वादशसख्याका भावना अनित्य-अशरण समार-एकत्व-अन्यत्व-अशौच-आश्रव-सवर-कर्म-निर्जर-अवर्मस्वाख्यातता-बोविलक्षणा । अथ वा पञ्चाना महाव्रताना पञ्चपञ्चसख्याभि पञ्चविंशतिर्भावना । यथा मनोगुप्ति-दयासमिति-आदाननिक्षेपासमिति-एषणा-समिति-दृष्टान्नपानग्रहणम् एता प्रथमव्रतस्य पञ्च भावना, तथा हास्यविरति-लोभविरति-भयप्रत्याख्यान-क्रोधप्रत्याख्यान-आलोच्यभाषणम् एता द्वितीयव्रतस्य पञ्च भावना । आलोच्यावग्रहयाच्ना, अभीक्ष्णावग्रहयाच्ना, देशकालापेक्षया एतावन्मात्रावग्रहयाचना, समानवार्मिकेभ्य सकाशादवग्रहयाचनम्, अनुज्ञापितान्नपानभोग, एतास्तृतीयव्रतस्य पञ्च भावना । स्त्रीषण्डपशुमद्वेश्मस्त्रीभुक्तासनकुड्यान्तरत्यजनम्, सरागस्त्रीकृद्वाविवर्जनम्, पूर्वक्रीडितभुक्त्यादिस्मृतिनिषेवनम्, स्त्रीणा रम्याद्वावयवावलोकनस्वाङ्गस्नानोद्वर्तनादिसंस्कारनिराकरणम्, प्रणीतगलत्स्नेहविन्दुकातिरसोन्मादकद्रव्यवहुलान्नपान-

परिभोगनिवारणम् एताश्चतुर्थव्रतस्य पञ्च भावना । मनोज्ञे शब्दे राग अमनोज्ञे शब्दे द्वेष , मनोज्ञे रूपे राग अमनोज्ञे रूपे द्वेष , मनोज्ञे गन्धे राग अमनोज्ञे गन्धे द्वेष , मनोज्ञे रसे राग अमनोज्ञे रसे द्वेष , मनोज्ञे स्पर्शे राग , अमनोज्ञे स्पर्शे द्वेष एता पञ्चमव्रतस्य पञ्च भावना । सख्यया पञ्चविंशतिर्जाता । अथ वा एकोनत्रिंशदपि स्वयमूह्या । एता भावना वासना यानानि वाहनानि सन्ति । च पुनर्येषा पुरोगामिन अग्रेगमनशीला यशसा श्लोकाना पुञ्जा व्रजा वर्तन्ते । पुनर्येषा विश्वे त्रैलोक्येऽपि स्फूर्जन्तो वाद्यमाना अमारेजीवदयाया शिष्टय शिक्षणानि आज्ञा वा त एव तद्रूपा वा पटहा आनकोद्घोषणानि निस्वाननिरचना वा । पुन मोह आदिर्येषा तथाविवा अरय क्रोवमानमायालोभमनोभवमिथ्यात्वाद्या शत्रव तान् ध्वसन्ति निघ्नन्तीत्येवशीला मोहाद्यरिध्वसिन सन्तीति वैरिविजयकारिण । पुनर्ये सार्वभौमाश्चक्रवर्तिन इव अनिश निरन्तर प्राची-आग्नेयी-अपाची-नैर्ऋती-प्रतीची-वायवी-कौबेरी-ऐशानी-पातालभुवन-ब्राह्मीलक्षणाना दशाना दिशामाशानाम् । ‘दशदिगन्तजिता रघुणा यथा’ इति रघुवशे । साम्राज्य सुरासुरनराराज्यत्वादाविपत्य दधते विभ्रते । पुनर्ये कुमुदिनीकान्ता कैरविणीवल्लभाश्चन्द्रा इव श्वेतरुज्ज्वलैरशुकैर्वस्त्रै । सार्थे क । किरणैश्च । ‘वरुणगृहिणी-माशामासादयन्तममु रुची निवसयसि च याशभ्रान्सक्रमेण निरशुकम्’ इति नैषधे । ‘कान्तिहीन च वस्त्रहीन वा इति’ तद्वृत्ति । शालन्ते शोभन्ते इत्येवशीला । श्वेताम्बरा इत्यर्थ ॥ इति स्वसयमसमृद्धिनिरूपणम् ॥

श्रीरामे भरतेनेव भक्तेन स्वामिनि त्वया ।

इदं यदुच्यते सर्वं तदञ्चत्यौचिती यतः ॥ १५३ ॥

हे भूपते, श्रीरामे श्रिया बलभद्रत्वलक्ष्म्या, अथ वा श्रिया पाथोविपुत्र्या लक्ष्म्या, अवतारत्वात्मीतया । यथा नारायणो गमरूपेणावतीर्णस्तथा लक्ष्मीरपि जानकीकायेनावतारमादत्तवतीति शैवसमय । तथा युक्त राम कौसल्यानन्दनस्तस्मिन् श्रीरामचन्द्रे भरतेनेव केकेयीतनुजेनेव स्वामिन्यकब्बरनृपे भक्तेन सेवाभक्तेन त्वया भवता इदं गजाश्वरयस्वर्णादिप्रदानं सर्वं यदुच्यते कथ्यते तत्सर्वं त्वयि श्रीमति विषये औचिती योग्यतामञ्चति गच्छति । युक्तमेवेत्यर्थः । यतः शास्त्रे प्रोक्तमस्ति तदग्रेतनकाव्येनैव निदिशति ॥

उपकर्तुं जलदा इव परपुष्टा इव पुनः प्रियं वक्तुम् ।

स्नेहितुमिव दृक्पद्मा प्रायः प्रभवन्ति भुवि सुजना ॥ १५४ ॥

हे भूमीपाल, जलदा मेघा इव उपकर्तुं जगतोऽप्युपकारकर्तुम्, पुनः पर काकै पोष्यन्ते स्म इति परपुष्टा कोकिला इव प्रियं मृष्टं वक्तुं भाषितुम्, पुनः दृक्पद्मा नयननलिनी इव । कमलनलिनपद्मारविन्दशब्दाः पुनः पुसकलिङ्गयोः । स्नेहितुं स्नेहमैत्र्यं कर्तुं प्रायो बाहुल्येन भुवि पृथिव्या विषये सुजना उत्तमजना प्रभवन्ति समर्थीभवन्ति ।

यदुक्तम्—‘स्नेहला नैव नेत्रेभ्यो धनेभ्यो नोपकारिण । पिक्रेभ्यो नो प्रियालापा दृश्यन्ते भुवने परे’ ॥

किं बहुनाशुगसूनोरिवात्मभर्तुर्विधातुरादेशम् ।

नीतिमतो दाशरथेरिव राजन्धर्मलाभोऽस्तु ॥ १५५ ॥

हे राजन्, किं बहुना भूयिष्ठभाषणेन किमस्तु न किमपि । ततस्तव धर्मलाभः धर्मलाभ इति नाम्ना अस्मत्पक्षसमत आशीर्वादोऽस्तु भवताम् । तव किं कर्तुं । आत्मभर्तुः स्वस्वामिनः अकब्बरसाहेरादेशमाज्ञा विदवातीत्येवशीलस्य । कस्येव । आशुगसूनोरिव । यथा पवनात्मजन्मा हनूमान् स्वस्वामिनो रामचन्द्रस्यादेशविधातासीत् । पवनस्य नामपरावृत्तिर्वहुधा दृश्यते । यथा हैम्याम्—‘हनूमान् वज्रकण्टक मारुति’ इति । तथा चम्पूकथायाम्—‘प्रभञ्जना खण्डिताञ्जनावरप्रवाला’ इत्यादि । पुनस्तव किलक्षणस्य । नीतिमतो युक्तन्यायोपपन्नस्य । कस्येव । दाशरथेरिव । यथा दशरथस्यापत्यं दाशरथि श्रीराम न्यायवानासीत् ॥ इति सूरिणा तस्य स्वामिभक्तता प्रकाशिता ॥

तदुदितमधिगत्य चित्रमन्तर्दधता तेन पुरीपुरदरेण ।

इव कजमलिनाथ चुम्बता तच्चरणयुगं यतिकुञ्जरो व्यसर्जि ॥ १५६ ॥

अथ सूरिवचनानन्तरं तेन पुरीपुरदरेण अकमिपुराधिपतिना साहिवखानेन यतिकुञ्जरः श्रीहीरविजयसूरि व्यसर्जि विसर्ज्यते स्म । स्वस्थानगमनायानुमेने । स्ववसतिं प्रति प्रेषित इत्यर्थः । तेन किं कुर्वता । तच्चरणयुगं सूरिपादारविन्दद्वन्द्वं चुम्बता स्पृशता । केनेव । अलिनेव । यथा भ्रमरेण कजः कमलं चुम्ब्यते । पुनः किंभूतेन । तदुदितं सूरिभाषितमधिगत्य विज्ञाय सम्यगवगम्य अन्तःस्थान्तकरणे चित्रमाश्रयं दधता विभ्रता ॥

वसतिमसुमच्चेतामीव प्रविश्य महोत्तमव

वचनविषयातीतं स्फीत वितन्वति पूजने ।

सरसिरुहभू प्रोज्जृम्भाम्भोरुहीव सुख स्थितः

कतिचन दिनास्तस्मिन्सूरीश्वरोऽगमयत्पुरे ॥ १५७ ॥

सूरीश्वरो हीरविजयसूरिः तस्मिन्नकमिपुरे कतिचनं कियत्सख्याकान् दिनानगमयदतिक्रामति स्म । किंभूतः । सुखं यथा स्यात्तथा स्थितः । क इव । सरसीरुहभूरिव । यथा पद्मभूर्ब्रह्मा प्रोज्जृम्भाम्भोरुहि विकसिततामरसे तिष्ठति । ‘ताम्यस्तामरसान्तरालवसतिर्देव स्वयंभूर्भूतः’ इति खण्डप्रशस्तौ ब्रह्मणः कमले वसतिः । किं कृत्वा । वसतिमुपाश्रयं प्रविश्य उपाश्रयमत्ये गत्वा । स्थित्वेत्यर्थः । कानीव । असुमच्चेतामीव यथा जनानां भव्यलोकानां चेतासि मनासि प्रविवेश । चित्तेषु प्रविष्ट इत्यर्थः । अत्रैकवचनस्य बहुवचनोपमास्ति । अन्यत्रापि काप्येव दृश्यते । यथा रघुवशेऽप्येव दृश्यते—‘व-

दर्भनिर्दिष्टमथो कुमारो नारीमनासीव चतुष्क्रमन्त ' इति । कस्मिन्सति । पूजने राजनगरानेकश्रावकवगे वचनाना वाचा विषयाद्गोचरादतीतमतिशायित्वाद्वागोचरमतिक्रान्तम् । वक्तुमशक्यमित्यर्थः । पुन स्कीत पदे पदे क्षणे क्षणे च वर्धमानमेव न तु हीयमान महोत्सवमतिमह वितन्वति विस्तारयति कुर्वति सति ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्र कोविदसिहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिरचिते सर्गोऽयमेकादशः ॥ १५८ ॥

पण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये एकादशाना सख्या-
पूरणः एकादश सर्गः सजात इति ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिताया स्वोपज्ञहीरसौभा-
ग्याभिधमहाकाव्यवृत्तौ अकब्बरसाहिपुरस्तादाकारितदूतद्वन्द्वगमनविज्ञपनतत्प्रेषणाक-
मिपुरपतिपार्श्वगमनश्राद्धाकारणसाहिप्रवृत्तिकथनसूरिपार्श्वप्रस्थापनतदागमनतद्वाचिककथ-
नस्फुरन्मानार्पणसूरिप्रस्थानशकुनभवनराजनगरागमनखानसमुखागमनस्वसदनानयनग-
जाश्वादिढांकनतन्निषेधनखानचमत्कृतिकरणवसत्यागमनादिवर्णनो नाम एकादश सर्गः ॥

द्वादश सर्गः ।

सूरिराजोऽथ संप्रस्थितस्तत्पुरान्मेवडाभ्या पुरोगामुकाभ्या युतः ।

श्लोकचन्द्रातपश्चेतिताशामुखो यामकाभ्या शशी पूर्वशैलादिव ॥ १ ॥

अथ राजनगरे कतिचनदिनस्थित्यनन्तर सूरिराज श्रीहीरविजयसूरि तत्पुराद-
हम्मदाबादनगरात्सम्यक् पदे पदे समानमहोत्सवपूर्वक प्रस्थित पुरश्चाल । किभूत ।
पुरो गुरोरग्रे गामुकाभ्या गमनशीलाभ्या मेवडाभ्या मोंदीकमालनामाभ्या साहिप्रहि-
तदूताभ्या दूताना लेखहारकाणा च । मुद्गलजातिप्रसिद्ध मेवाडा इत्यभिवान प्रोच्यते ।
पुन किभूत । श्लोको यश स एव चन्द्रातपश्चन्द्रिका तेन श्वेतितानि उज्ज्वलीकृतानि
आशानामर्यादृशदिगङ्गनाना मुखानि वदनानि येन । क इव । शशीव । यथा चन्द्रश्चारव-
शा पुर समेताभ्या पुनर्वसूतारकाभ्या युक्तः । 'पुनर्वसू तु यामकौ' इति हैम्याम् ।
युक्तः पूर्वशैलात्प्राचीपर्वतात्प्रतिष्ठते । किभूतः शशी । यश सदृशचन्द्रगोलिकया उ-
ज्ज्वलीकृद्दिङ्मण्डलः ॥

कुत्रचिद्वाणिनी स्रग्विणी शालिनी यत्र लोकंपृणा कापि वातोर्मिका ।

हंसमाला कचित्कापि कन्या मृगी कुत्रचिन्मालती पुष्पिताग्रा पुनः ॥२॥

क्वापि शार्दूलविक्रीडित दृश्यते क्वापि दृष्यद्भुजगप्रयातं पुनः ।

सूरिशीतद्युते सर्पतः पद्भृतौ छन्दसा जातिवत्कुञ्जभूमिः स्म भूत् ॥३॥

सूरिशीतद्युते हीरमरिचन्द्रस्य पद्भृतौ मार्गे सर्पतः प्रचलतः कुञ्जभूमिर्वनावनी छन्दसा विविधवृत्तानां जातिरेव स्म भूत् वभूव । 'स्मयोगेऽप्यटौ लोपमिच्छन्ति' इति सारस्वतव्याकरणे । यत्र कुञ्जभूमौ छन्दोजाता च कुत्रचित्प्रदेशे वाणिनी । 'छेका मत्ता च वाणिनी' इति हैम्याम् । तथा 'यस्मिन्मही गामति वाणिनीना निद्रा विहारवपये गतानाम्' इति रघुवशे । उद्याने क्रीडार्य समेता दृश्यते । किभूता वाणिनी । स्रग्विणी स्रजो मुक्ताफलाना सरिविशेषा कुसुमाना माला हारा विद्यन्ते यस्या । पुनः शालिनी अत एवानेकालकारैः शालते गोभते इत्येवशीला । तथा वाणिनी, स्रग्विणी, शालिनी चैतास्तिष्ठोऽपि छन्दोजातयः । तथा क्वापि प्रदेशे लोकान् कुसुमावचयग्रयनान्योन्यपरिवापनान्दोलनगाननर्तनादिमानेककौतुकक्रीडाकारिणो जनान्पृणार्तीति लोकदृष्ट्या सकलजनसुखकारका वाताना पवनानामूर्मिका वीची समेति । अथ च छन्दसि वातोर्मिकाजातिः । पुनः क्वचित्कमलाकरादिषु हसमाला राजमरालराज्ञी क्रीडन्ती दृश्यते । हसमाला छन्दोजातिश्च । क्वापि स्थाने स्मेरोद्यानादौ कन्या पुष्पावचयार्थमागता पुष्पाजीविकुमारिका विलोक्यते । अथ च कन्या छन्दोजातिः । पुनः क्वापि सजलशार्दूलप्रदेशादौ मृगी खलधुबालकलिता सारङ्गी चरन्ती निरीक्ष्यते । मृगी छन्दोजातिश्च । पुनः कुत्रचित्क्रीडाकाननादौ मालतीजातिनामलता प्रेक्ष्यते । किलक्षणा । पुष्पितः कुसुमितः प्रसूनपरम्परापरिचितमग्नः शिखरः यस्या सा तथा । जातिः पुष्पिताग्रा च द्वे अपि छन्दोजाती । क्वापि कारस्करकोटरविलादौ दृष्यता दर्पः मदः विभ्रता मदोन्मादिना भुजगमाना सर्पाणां प्रयातः गमनं निभाल्यते । भुजगप्रयातः छन्दोजातिश्च । पुनः क्वापि गिरिगङ्गारादीनां प्रदेशे शार्दूलानां व्याघ्राणां चित्रकायानां वा अथवा अन्यहिंस्रस्वापदविशेषाणां विशेषेण निजमहिलाभिर्बालकैर्वा समः क्रीडितः विलसितः विभाव्यते शार्दूलविक्रीडितनाम्नी छन्दोजातिश्च ॥ युग्मम् ॥

निम्बजम्बीरजम्बूकदम्बद्रुमान्स्मेरमाकन्दकारस्कर कीरवत् ।

लङ्घयन्ग्रामसीमापुरीः स प्रभुः प्राप्तवान्पत्तनस्योपकण्ठं क्रमात् ॥ ४ ॥

स प्रभुः हीरसुरीश्वरः क्रमाद्रामानुग्रामविहारपरिपाट्या पत्तनस्याणहिलपाटकनामपुटभेदनस्य उपकण्ठं सन्निवान् प्राप्तवानासादयामास । किं कुर्वन् । ग्रामान् लघुपुराणि सन्निवेशान्वा सीमामुभयोर्ग्रामयोर्नगरयोर्वा मध्यभूमी ग्रामसमीपभूर्वा पुरीर्महानगराणि विश्वलपुरमहीशानकादीनि लङ्घयन्नतिक्रामन् । किं च कीरवत् । यथा शुको निम्बान् पिबुमन्दान् जम्बीरान् जम्मिलान् वृक्षविशेषान् जनप्रसिद्धान् जम्बून् श्यामफलान्प्रसिद्धान् कदम्बान्नीपान् वाराकदम्बान् धूलीकदम्बाश्च जातिद्वयविशिष्टान् एतानेव द्रुमान्

१. पाणिनीयतन्त्रे तु स्मशब्दयोगेऽङागमाभावाविधानात्स्वभूदिति पाठः सायु.

पादपान् लङ्घयन् मुञ्चन् स्मेर वसन्तऋतुना विकसित पल्लवदलकलिकाकुसुमफलकलित
कृत माकन्दकारस्कर सहकारतरु प्राप्नोत्यधिगच्छति ॥

श्रोत्रपत्रैर्निपीय प्रभोरागमामेयपीयूषमानन्दमेदस्विनः ।

तत्पदाम्भोजमभ्येत्य भेजुर्जनाः पान्थसार्था इव स्मेरदुर्वोरुहम् ॥ ५ ॥

जनाः पत्तनश्राद्धलोका अभ्येत्यागत्य तत्पदाम्भोज सूरिचरणाविन्द भेजु सेवन्ते
स्म । प्रणमन्ति स्मेत्यर्थः । के इव । पान्थसार्था इव । यथा पथिकप्रकराः अभ्येत्य दूरात्स-
मागत्य निदाघदाघतप्तीकृताङ्गा प्रबलपथश्रमश्रान्ताश्च सन्तः स्मेरन्त विकसन्तमुर्वारुह
बहुलपल्लवदलफलच्छायाछन्न मार्गवर्तिमहीरुह भजन्ते । 'स्मेरदम्भोरुहारामपवमानमि-
वानिल' इति पाण्डवचरित्रे । जना किभूताः । आनन्देन प्रमोदेन मेदस्विन उप-
चयवन्त स्फुरद्रोमाञ्चकञ्चुकपुष्टवपुषः । किं कृत्वा । प्रभो श्रीगुरोरागम आगमन तदे-
वामेय प्रमाणातीत पीयूषममृत श्रोत्रपत्रैः कर्णपर्णदुन्दुकैर्निपीयातितृप्ततया पीत्वा ।
सादर श्रुत्वेत्यर्थः । अथ च 'पीयूषोऽभिनव पयः' इति हैम्याम् । सद्यस्कपय पानाच्च
पुष्टाङ्गा भवन्त्येव ॥

आजगामाथ कम्माङ्गजन्मा यतिक्षमातलाखण्डलः संमुखं तत्प्रभोः ।

सूरिणाप्यर्णवेनेव शीतद्युतेः पिप्रियेऽद्वैतमस्योदयं पश्यता ॥ ६ ॥

अथ सूरैः पत्तनसमीपे समागमनानन्तरं कम्मानामसावोरङ्गजन्मा नन्दनो विजय-
सेननामा यतिषु मुमुक्षुषु अथ वा यतीनां मध्ये क्षमातलस्य महीमण्डलस्याखण्डलो
वासवः । सूरिन्द्र इत्यर्थः । तस्य प्रभो श्रीहीरविजयसूरिन्द्रस्य समुखमभिमुखमाजगाम
समागच्छति स्म । अपि पुनरस्य विजयसूरैरद्वैतमनन्यसामान्यमुदयं वैभवातिशयप्रादु-
र्भावं पश्यता स्वयं विलोकयता सता सूरिणापि हीरगुरुणापि पिप्रिये प्रमुदितमद्वैतप्री-
तिमत्ता समजायत । केनेव । यथा शीतद्युतेः कौमुदीदयितस्याद्वैतमभ्युदयं पश्यता
समुद्रेण च द्रजनकेन प्रीयते । यस्माद्ये समुत्पद्यन्ते स तेषां पिता, चतुर्दशानामपि
रत्नानां समुद्रे समुत्पन्नत्वात्समुद्र एव पिता । यथा लक्ष्म्या प्रसिद्धं नाम क्षीरोदतनया
हैम्याम्, तथा चन्द्रोऽपि प्रसिद्धः समुद्राङ्गजः । तथा च नैषधे—'सिताम्बुजानां विरहस्य
यच्छलाद्वभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् । तमः समच्छायकलङ्कसकुलः कुलः सुधाशोर्बहुलः
वहन्निव ॥' इति । 'कुलशब्देन समूहः वशः वा वहति' इति तद्वृत्तिः ॥

हीरसूरिक्रमद्वन्द्वनम्रीभवत्तन्मुखं प्राप कामप्यनन्या श्रियम् ।

कल्पितानल्पसख्यं कथचिन्मिथः सगतं पङ्कजेनेव शीतद्युतिः ॥ ७ ॥

हीरसूरैः स्वगुरुश्रीहीरविजयसूरैः क्रमद्वन्द्वे चरणयुगले नम्रीभवत्सजायमानं तन्मुखं
विजयसेनसूरिवदनं कामपि वचनगोचरातीतामसाधारणी श्रियं शोभां प्राप लभते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—मिथः परस्परं कथचित्केनापि प्रकारेण कल्पितं निर्मितमनल्पं बहुदृष्टं च

सख्य मैत्रीभावो येन तादृश शीतद्युतिश्चन्द्र पङ्कजेन पद्मेन सम सगतो मिलित इव ।
चरणस्याम्भोजोपमा वदनस्य च चन्द्रसाम्यमित्युन्प्रेक्षा ॥

प्रश्रयामास भट्टारकाधीश्वरोऽनामयादि स्वयं तस्य सूरिशितुः ।

तेन रेजे पुनः सोऽधिकं सूनुना यौवराज्यान्वितेनैव भूवासवः ॥ ८ ॥

भट्टारकाधीश्वरो बृहद्गणवराविराजो हीरविजयसूरीश्वर स्वयमात्मना तस्य मूरीशि-
तुर्विजयसेनसूरेरनामयादि नीरोगताप्रमुख समाधिकुशलतादिक प्रश्रयामास पृच्छति
स्म । पुनः स हीरभट्टारक तेनाचायेण समधिक रेजे बभौ । क इव । भूवासव इव ।
यथा पृथिवीपुरहृतो राजा यौवराज्येन युवराजस्य भावस्तेन यौवराज्यपदवीभावेन
युक्तेन युवराजेन सूनुना नन्दनेन कृत्वा राजते ॥

नैककायान्प्रणीय स्वयं दर्शयन्द्वादशार्चिः स्वचातुर्यमुर्व्यामिव ।

शिष्यसार्था मिथो नव्यकाव्यैस्ततः संस्तुवन्ति स्म तौ सूरिभूमास्करौ ९

ततो विजयसेनसूरिसमागमनानन्तर शिष्यसार्था विद्वद्विनेयव्रजा मिथ परस्पर
नव्यकाव्यै सद्यस्ककवित्वै कृत्वा तौ हीरविजयसेननामानो सूरौ एव भूमास्करौ मू-
रिराजौ । ‘मध्यदिनावधि विवेर्वसुवाविवस्वान्’ इति नैपधे । प्रति संस्तुवन्ति स्म वर्णया-
मासु । विजयसेनसूरि हीरविजयसूरि श्रीहीरविजयसूरिशिष्या तुष्टुवु । उत्प्रेक्ष्यते—
नैकान्वहून् कायान् मूर्तीं प्रणीय कृत्वा । ‘निषेधार्थनकारस्य समासत्वाद्दलोपाभावो
निषेधार्थवाचकौ तत्र निषेधार्थवाची नकारस्तत्र लोपो न भवति नैपधेत्यादौ ज्ञेय न-
जस्तु लोपो भवत्येव’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । उक्तत्वात्समासत्वाच्च नकारस्यानादेशो न
स्यादिति । द्वादशार्चिर्वृहस्पतिरुर्व्या पृथिव्या स्वयमात्मनैव स्वस्यात्मनश्चातुर्य निपुणता
दर्शयन्निव । अथ वा दर्शयन् द्वादशार्चिरिव ॥

तत्समीक्षोत्सुकीभूतदिङ्नायके पौरपुञ्जैः प्रणीते महाडम्बरे ।

द्यामिवेन्द्रो जयन्तेन भट्टारकस्तेन सूरीन्दुना प्राविशत्पत्तनम् ॥ १० ॥

भट्टारक । यद्यपि भट्टारकशब्देन पूज्यत्वख्यापनम् ‘पादा भट्टारको देवः प्रयोज्या
पूज्यनामत’ इति हेम्यामुक्तत्वात् पूज्यपादा तथा भूपतिभोजदेव तथा अर्हद्भट्टारक
गृहीत्वेत्यादौ प्रशम्यार्थप्रकारकत्वं दृश्यते, तथाप्यत्र जैनशासनानुसारेणाधुना लोक-
ख्या भट्टारकशब्देन बृहद्गणाधिपस्तच्छिष्यस्तस्मिन्बृहद्गणाधिपे विद्यमाने आचार्य इत्यु-
च्यते इति सप्रदाय । श्रीहीरविजयसूरि तेन सूरीन्दुना विजयसेननाम्ना सूरिचन्द्रेणा-
चार्यचन्द्रमसा साक पत्तन पुटभेदन प्राविशत्प्रविशति स्म । ‘द्वीपान्तरेभ्यः पृथिवीप-
तिभ्यः क्षणादवापे पुटभेदन तत्’ इति नैपधे । क इव । इन्द्र इव । यथा पुरदरो
जयन्तेन निजनन्दनेन जयदत्तेन सम द्या दिव नन्दनादौ क्रीडित्वागल्य प्रविशति ।
कस्मिन् राति । पौरपुञ्जेर्नागरिकनिकरेर्महाडम्बरे अतिशयितोन्मत्ते प्रणीते कृते सति ।
किभूते महाडम्बरे । तस्य महाडम्बरस्य समीक्षा सम्यक्मवप्रकारेणावलोकन तत्रो-

त्सुकीभूता उत्कण्ठिता जाता दिङ्मायका दिक्पाला यत्र ॥ इति हीरसूरे पत्तने समागमनम् ॥

देशनामन्दिरं श्रीजिनेन्दोः पुरो व्यालुलोके वसत्यां व्रतीन्द्रस्ततः ।

आप्तमाराद्भुकामेव लोकत्रयी वप्रत्रितयीकैतवात्समीयुषी ॥ ११ ॥

ततः पत्तने प्रवेशानन्तरं व्रतीन्द्रः सूरिः वसत्यामुपाश्रये पुरस्तात् श्रीजिनेन्दोः श्रिया त्रैलोक्याधिपत्यलक्ष्म्या कलितस्य जिनानां सामान्यकेवलिना मध्ये इन्दुः सर्वाह्लादकत्वात्तीर्थकरस्तस्य यदग्रे वर्ण्यमानं सुरासुरनरेषु प्रसिद्धं वा देशनामन्दिरं समवसरणं व्यालुलोके विलोकते स्म । दृष्टवानित्यर्थः । तत्किम् । यत्र धर्मदेशनामन्दिरे वप्रत्रितय्या प्राकारत्रयस्य कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—आप्तं श्रीजिनेन्द्रमाराद्भुकामां सेवितुमभिलषन्ती लोकत्रयी त्रिलोकी समीयुषी समागतेव ॥

यत्र वापीषु पश्यन्ति शंभुश्रियं वारिदेव्यः स्मिताम्भोजनेत्रैरिव ।

अर्हतेव स्ववाचामृतं निर्जितं सेवितुं तं पुनस्तासु संतिष्ठते ॥ १२ ॥

यत्र समवसरणे वापीषु जलसपूर्णदीर्घिकासु वारिदेव्यो जलदेवता स्मितानि विकसितानि अम्भोजानि कमलानि तान्येव नेत्राणि नयनानि तैः । उत्प्रेक्ष्यते—विकचकमललोचनैः कृत्वा शंभुश्रियं तीर्थकृतश्चतुर्दशदतिशायाद्यतिशायिलक्ष्मीं पश्यन्ति विलोकयन्तीव । पुनर्हता जिनेन्द्रेण स्ववाचा मधुरिमाद्वैतात्मगिरा अमृतपीयूषं निर्जितमभिभूतं सत् । उत्प्रेक्ष्यते—पुनस्त जिनेन्द्रं सेवितुमुपासितुमिव तासु वापीषु संतिष्ठते समेत्य स्थितम् ॥

यत्र सोपानपङ्क्तिः शिवाहं महागेहमारोढुमूहेऽधिरोहिण्यभात् ।

निम्नगेत्यात्मकौलीननिर्मृष्टये जाह्नवीवोत्तरङ्गागतार्हत्पदे ॥ १३ ॥

यत्र भगवत्समवसरणे सोपानपङ्क्तिः आरोहणश्रेणी अभाद्वभौ । उत्प्रेक्ष्यते—शिव मोक्षमित्याह्वा नाम यस्य तादृशं महागेहमत्युच्चैः स्थानस्थितप्रासादमारोढुमुच्चैश्चढितुमधिरोहिणीं नि श्रेणिकेव ऊहे इवाथे । अथ वा वितर्कयामि । 'तपः कृशाङ्गास्तं शैलमारोढुं न वयं क्षमाः । चटिष्यति कथं प्रौढदेहोऽयं गजराजवत् ॥' इति ऋषिमण्डलवृत्तौ । वा अथ वा इयं निम्नगा नीचगामिनी । कामिन्यो नीचगामिन्यः इत्यप्यर्थध्वनिः । इत्यमुना प्रकारेण आत्मनः स्वस्य कौलीनस्य जनापवादस्य निर्मृष्टये विनाशनाय अर्हतस्त्रैलोक्यनायकस्य पदे चरणे समवसरणरूपे वा स्थाने आगता समागतवती । उत्तरङ्गा उत ऊर्ध्वमुच्चैस्तरा सोमानरूपास्तरङ्गा कल्लोला यस्यास्तादृशी जाह्नवी जह्नुकन्या गङ्गेव ॥

यत्र सृष्टैरिव श्रेयसे तोरणैः सार्वविश्वाधिपत्याभिषेकक्षणे ।

येन नेतुं जनान्मुक्तिपुर्यामिवोद्धाटितैर्द्वारवारैः पुनः पुस्फुरे ॥ १४ ॥

यत्र समवसरणे तोरणैश्चतुर्दिक्प्रतोलीषु प्रणीतैर्वहिर्द्वारैर्वन्दनमात्राभिर्वा पुस्फुरे

शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—सार्वस्य तीर्थकरस्य विश्वेषा त्रिजगतामाधिपत्य स्वामित्वम् । राज्यमित्यर्थः । तस्य तत्र वा अभिषेचन स्थापन तस्य क्षणे प्रस्तावे महोत्सवे वा श्रेयसे कल्याणकृतये मृष्टैर्निर्मितैरिव । लोकेऽपि प्रायो महोत्सवसमये तोरणानि बध्यन्ते । पुनर्यत्र समवसरणे द्वारवारैर्द्वारद्वारैः पुस्फुरे स्फुरितम् । उत्प्रेक्ष्यते—येन भगवता जनान् भव्यलोकान् मुक्तिपुर्या सिद्धिनगर्या मोक्षमध्ये नेतु प्रापयितुमुद्घाटितं मुकुलीकृतैरर्थान्मुक्तिपुरीद्वाभिरिव ॥

शभुमुद्दिश्य मुक्तैः स्मरेणाशुगैर्मोघता किं गतैरन्तरेऽवस्थितैः ।

ढौकितैरात्मनः किं वपुर्लिप्सया पुष्पचापेन वाभ्राजि यस्मिन्मुमैः ॥१५॥

यस्मिन् समवसरणे मुमै पञ्चवर्णजानुप्रमाणाप्रमाणोज्जृम्भमाणकुसुमैरभ्राजि रेजे । उत्प्रेक्ष्यते—स्मरेण मनोभवेन विरोधितया शभु पार्वतीपतिमर्हन्त वा उद्दिश्य सकल्प्य मुक्तैः क्षितैरसाधारणसिद्धयनुभावात् शभुविषये पुनर्मोघता विफलता गतैः प्राप्तैः । अत एव वेध्या लब्धात् अन्तर्मध्ये विचाल एव स्थितैः पतितैराशुगैर्बाणैरिव कामस्य च पुष्पशरत्वात् । अथ वा पुष्पचापेन श्रीनन्दनेन अनङ्गत्वादात्मनः स्वस्य वपुर्लिप्सया शरीरप्राप्तिकाङ्क्षया ढौकितैरुपदीकृतैः शरैः किं स्वविशिखैरिव ॥

धीरिमाधःकृते शीलतीव त्रपासंकुचद्वोरवे स्वर्गिरौ विष्टरे ।

यत्र शौर्येण निर्जित्य वन्दीकृतः श्रीजिनेनेव पञ्चाननोऽधःकृतः ॥१६॥

यत्र समवसरणे विष्टरे भगवदुपवेशनोचिते सिंहासने पञ्चाननः केसरी अधः अर्थाजिनेन्द्रस्यावस्तात्स्थित तिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—श्रीजिनेन त्रिभुवनाधिपत्य-लक्ष्मीविलासरसिकेन तीर्थकृता शौर्येण स्वशूरतया साहसिक्येन निर्जित्याभिभूय वन्दीकृतो वन्द्य विहित सन् अधस्तस्थिवान् विष्टरे । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—धीरिम्णा सुरासुर-नराद्यचालनासाधारणधैर्येण कृत्वा अधः कृते परिभूते नीचैः कृते न्यक्कार प्रापिते । अत एव त्रपया लज्जाविक्येन सकुचलघूभवद्वोरव गुरुत्वमुच्चैस्तरत्वं वपुषो महत्त्वं च यस्य तादृशे शीलति । अर्थाद्भगवन्तः सेवमाने स्वर्गिरौ सुवर्णाचले ॥

अहता त्रातुमात्माश्रितान्संसृतेर्भीलुकार्णिक चतुर्दिक्समेताञ्जनान् ।

यत्र तेषां चतस्रो गतीर्वा निराकर्तुमूहे चतस्रः कृता मूर्तयः ॥ १७ ॥

यत्र समवसरणे अहता तीर्थकृता चतस्रश्चतुःसख्याका मूर्तयः काया कृता निर्मिता । उत्प्रेक्ष्यते—संसृतेः ससारात् अनादिभवपरम्परापरिभ्रमणदुःखभरात् भीलुकान् विभ्यतीत्येवशीलान् । तथा च चतुर्दिग्भ्यः पूर्वादक्षिणापश्चिमोत्तरालक्षणाभ्यः चतस्रो हरिद्वयः समेतान् स्वसमीपे समागतान् अत एवात्मानं भगवन्तम् । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इति हम्भ्याम् । आश्रितान् उपेत्य स्वशरणीभूतान् भविकलोकान् किं त्रातु रक्षितुमिव चतस्रो मूर्तयो विहिता । अथ वा ऊहे अहमेव विचारयामि । पूर्वोक्तविशे-

षणविशिष्टानामेव तेषा जनाना चतस्रो नरकतिर्यङ्मनुष्यसुरलक्षणाश्चतु सख्याका अपि गतीर्भवान्निराकर्तुमिव निवारयितुमिव वा चत्वारो देहा विहिता धृता ॥

भाति भामण्डलं राजवैरादिवाप्तस्य पृष्ठे प्रविष्टः प्रणश्यारुणः ।

ब्रह्मणा यत्र मुक्तः किमर्चिर्व्रजो विश्वकृत्तक्षिताङ्गस्य वा भास्वतः १८

यत्र श्रीजिनधर्मदेशनसदने आप्तस्य तीर्थकृत. पृष्ठे शिरसः पश्चात्प्रदेशे भामण्डल ज्योति पुञ्जो भाति विभ्राजते दीप्यते वा । उत्प्रेक्ष्यते—राज्ञा चन्द्रेण नृपेण वा सह वैराद्विरोधात् चन्द्रोदये कापि प्रणश्य याति खोदये च स्वकरैरेव प्रातश्चन्द्रश्रिय मुष्णाति । अत एव विरोधः । तस्मात्प्रणश्य प्रपलाय्य आप्तस्य विश्वस्तस्य अय सर्वथापि प्राणत्यागेऽपि मह्य कस्मैचिदपि न ददाति इति विश्वासः प्राप्तस्य मित्रस्य पृष्ठे प्रविश्य स्थितोऽरुणो भानुमानिव । वाथवा ब्रह्मणा विधात्रा यत्र समवसरणे विश्वकृता देववार्धकिना तक्षित तनूकृत 'ताव्यू' इति लोकोक्त्या तादृशमङ्ग कायो यस्य । स्वदयितादित्यतेजोसहिष्णुदक्षाङ्गजाभ्यर्थितदेववर्धकिना चक्रभ्रममारोप्य उल्लिखितवपुष इत्यर्थः । तादृशस्य भास्वतो भास्करस्य अर्चिर्व्रजस्तेजोराशिरिव मुक्तः स्थापितः । 'आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यन्त्रोल्लिखितो विभाति' इति रघुवशे ॥

किं प्रिये पूर्णिमाशर्वरी चन्द्रिका वक्रचन्द्रस्य पत्युर्द्विपार्श्वी श्रिते ।

कुन्तलैर्न्यकृते वानुनेतु स्वयं राजतोऽभ्यर्णयोश्चामराली प्रभोः ॥ १९ ॥

प्रभोर्वृषभतीर्थकृतोऽभ्यर्णयो पार्श्वयो प्रदेशयोश्चामराली बालव्यजनमाले राजत शोभेते । उत्प्रेक्ष्यते—पत्युः स्वभर्तुर्वक्रचन्द्रस्य वदनविवो । द्वयोः पार्श्वयो समाहारो द्विपार्श्वी तामुपान्तद्वन्द्व श्रिते । किभूते । प्रिये द्वे कान्ते इव । एका पूर्णिमाशर्वरी राकारात्रि, अपरा चन्द्रिका ज्योत्स्ना । 'कौमुदी कुमुदिनीभदक्षजारोहिणीद्विजनिशौष-वीपति' इति हैम्याम् । द्वयोरपि पतित्वात् द्वे अपि उपेत्य द्विपार्श्वी श्रिते । चन्द्रकामिन्याविव वाथवा प्रभोर्नाभेयदेवस्य कुन्तलैः परिव्रज्याया उपादानैः पञ्चमुष्टिलोच-विरचनावसरे प्रसरत्पवने प्रेरितागता सस्थूललहलहायमानामानमूर्वजविलोकनानन्दित-पुरदरप्रार्थनाक्षणरक्षितैकमुष्टिमस्तकप्रशस्तकुन्तलहस्तेन न्यकृता तिरस्कृता सती स्वयमात्मना अनुनेतुमर्थात्प्रभु प्रसादयितु वा श्रिते प्रकीर्णकपङ्कचाविव ॥

आतपत्रत्रयी यत्र रेजे विभो. क्षमाम्बरोद्द्योतकृत्त्वत्प्रसत्याभवम् ।

मा त्रिलोक्या. पुनर्द्योतक त्वं सृजेतीव वक्तुं त्रिमूर्तिं. श्रितोऽयं शशी २०

यत्र समवसरणे विभोस्तीर्थनाथस्य आतपत्रत्रयी छत्रत्रितयी रेजे विराजते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण वक्तुं कथयितुं तिस्रो मूर्तयः शरीराणि यस्य स त्रिमूर्तिः. तादृशोऽयं भगवन्तः श्रितः सेवमानः शशी चन्द्र इव । इति किम् । हे विभो, त्वत्प्रसत्या श्रीमत्प्रसादात् अहं क्षमाम्बरयोर्भूमीनभसोरुद्द्योतकृत् प्रकाशकर्ता अभव

सजात । पुनस्त्व मा त्रिलोक्या भुवनत्रयस्योद्द्योतक प्रकाशकर्तार मृज कुरु । यथा
द्यावापृथिव्योरुद्द्योत करोमि तथा स्वर्गपातालभूलोकेषु प्रकाशकारक निर्माहि इत्यर्थः ॥

विभ्रतीभिः खगान्पत्रविभ्राजिनश्चन्द्रहासप्रसूनप्रतानान्वहन् ।

चैत्यशाखी शिखाभि श्रिताभिर्नमः स्वर्गिवृक्षान्विजेतुं किमुद्यच्छते २१

यत्र वर्मदेशनवेश्मनि चैत्यशाखी अशोकतरुरपरो वा वटवृक्षादिमालद्रुमावसान-
चैत्यद्रुम नभोगगनाद्गण श्रिताभि गाहमानाभि शाखाभि कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—स्वर्गिवृ-
क्षान् सुरद्रुमान् कल्पतरून् विजेतु पराभवितुमुद्यच्छते उद्यम करोतीव सजीभवतीव
वा । किभूताभि शिखाभि । पत्रै पक्षैर्विभ्राजन्ते शोभन्ते इत्येवशीलान् खगान् पक्षिणो
वाणाश्च विभ्रतीभि वारयन्तीभि । ‘वाणपृषक्तविशिखा खगगर्वपक्षा’ । तथा
‘विहगो विहगमखगो खगगर्वपक्षा अपि’ इति हैम्याम् । चैत्यशाखी कि कुर्वन् ।
चन्द्र सुवाकर कर्पूरो वा हासो हसित तयो श्वेतिन्ना तुल्याना प्रसूनाना कुसुमाना
प्रतानान् स्तवकान् चन्द्रहासखद्गाश्च वहन् विभ्राण । अन्योऽपि सुभटो विरोविना
योद्धुमिच्छु चतुर्विवान्यायुवानि वत्ते । यथा—पाणिमुक्तानि शक्तिप्रमुखानि, यन्त्रमु-
क्तानि शरादिकानि, अमुक्तानि शस्त्रिकाद्यानि, मुक्तामुक्तभेदद्वयात्मकानि दण्डादिमानि,
इति । तथैवाय चैत्यतरु शरग्रहणेन पाणियन्त्रमुक्तयोर्ग्रहणम् । चन्द्रहासग्रहणेन च
मुक्तामुक्तयो सग्रह । तथा च हैम्याम्—‘अस्त्र तच्चतुर्विधम् । मुक्त द्विधा पाणियन्त्र-
मुक्त शक्तिशरादिकम् । अमुक्त शस्त्रिकादि स्याद्यष्टयाद्य तु द्वयात्मकम् ॥’ इति ॥

देशनामन्दिरे यत्र जाम्बूनदः शक्रकेतुः पुरश्चुम्बति स्माम्बरम् ।

कौतुकान्नाकिलोक दिदृक्षुः क्षितेस्तीर्थभर्तुः प्रसर्पन्प्रतापः किमु ॥ २२ ॥

यत्र वर्मदेशनामन्दिरे श्रीजिनराजसमवसरणे जाम्बूनद स्वर्णनिर्मित शक्रकेतुरि-
न्द्रध्वजः पुरो जिनेन्द्राग्रे अम्बरमाकाश सहस्रयोजनप्रमाणत्वेनात्युच्चैस्तरत्वात् चुम्बति
स्पृशति । उत्प्रेक्ष्यते—कौतुकात् हृदयमध्येऽतिकुतूहलात् नाकिना देवाना लोक भुवन
वासस्थान स्वर्ग दिदृक्षुर्दृष्टुमिच्छु क्षितेर्भूमे सकाशात्प्रसर्पन्नुच्चैर्गच्छन् तीर्थभर्तुर्जिने-
न्द्रस्य किमु प्रताप ॥

विप्रलब्धं विधात्रेव रूपश्रिया स्वं त्रिदश्योऽवयान्ति स्म यद्वीक्षणात् ।

यत्र भान्ति स्म ते शालभञ्जीभराः श्रीसुताम्भोजदृग्विभ्रमभ्राजिन २३

यत्र श्रीमज्जिनेश्वरसमवसरणे ते जगत्रयीस्त्रैणजैत्रगात्रलता शालभञ्जीभरा पाञ्चा-
लिकाप्रकरा भान्ति स्म शुशुभिरे । किभूता । श्रीसुतस्य कमलानन्दनस्य स्मरस्य
अम्भोजदृक्कमललोचना स्त्री रतिस्तस्या विभ्रम शोभा विलासो वा तद्वद्विभ्राजन्ते इत्ये-
वशीला । अथ वा रतिवद्विभ्रमेण शोभया विलासेन वा शोभनशीला । ते के ।
येषा पुत्रिकाप्रकराणा वीक्षणाद्दर्शनात् त्रिदश्य सुराङ्गना स्वमात्मान रूपश्रिया वपुर्वै-
भवेन विवात्रा जगद्यावत्पुरुषयोपिद्वर्गसर्गविवायिना विप्रलब्ध वद्वितमिवावयान्ति स्म

मेनिरे । 'मद्विप्रलभ्य पुनराह यस्त्वा तर्कं स किं तत्फलं वाचिमूक' इति नैषधे ।
विप्रलब्धु योग्य विप्रलभ्यमिति तदर्थं ॥

आप्तलक्ष्मीलताया इवोद्यत्फलं वीक्ष्य विश्वेशितुर्देशनावेश्म तत् ।

गोचरी स्यान्न वाक्चेतसोर्यः क्वचित्संमदं विन्दति स्म व्रतीन्द्रः स तम् २४

स व्रतीन्द्रो हीरविजयसूरिः तं मोहदयासादनसदृशं समदमानन्दं विन्दति स्म लभते स्म । तं कम् । यः समदं क्वचित्कुत्रापि स्थाने नभः कल्लोलिनीविलसत्कल्लोलमाला-
स्खलितवाग्विलासशालिसुरासुरनरसूरिषु वा वाक्चेतसोर्वचनमनसोर्वा न गोचरी
स्याद्विषयो भवेत् । किं कृत्वा । विश्वेशितुस्त्रैलोक्यनायकस्य श्रीमत्तीर्थकृतो देशनावेश्मस-
मवसरणं वीक्ष्य लोचनगोचरीकृत्य । किंभूतं तत् पूर्वव्यावर्णितस्वरूपम् । उत्प्रेक्ष्यते—
आप्तस्य जिनराजस्य लक्ष्मीर्भुवनत्रयैश्वर्यश्रीः सैव लता विकसद्वल्ली उद्यत्प्रकटीभवत्फ-
लमिव ॥ इति पुरकृतानुसारेण समवसरणवर्णनम् ॥

तीर्थकृद्वक्त्रचन्द्रेक्षणोद्वेलितानन्दसिन्धोरिवोद्भूतनूतामृतैः ।

स्वेन तत्राभिनोनूय नव्यैः स्तवैः श्रीजिनं नेमिवान्हीरसूरीश्वरः ॥ २५ ॥

हीरसूरीश्वरस्तत्र समवसरणे स्वेनात्मना नव्यैः सद्यस्कैः स्तुतिरूपवृत्तैः अभिनोनूय
अतिशयेन भक्तिभरेण स्तुत्वा श्रीजिनं श्रीमद्भगवन्तं नेमिवान् प्रणमति स्म । उत्प्रे-
क्ष्यते—स्तवैः तीर्थकृतो जिनेन्द्रस्य वक्त्रं वदनमेव चन्द्रः पार्वणशार्वरीवरस्तस्येक्षणादा-
लोकनादुद्वेलितस्य वेलामतिक्रान्तस्योत्कण्ठितस्य आनन्दो मानसान्तं प्रसरत्प्रमोदः स
एव सिन्धुरथार्त्क्षीरनीरनिविस्तस्मादुद्भूतैः प्रकटैर्जातैः अमृतैः सुधारसैरिव ॥

सृष्टसर्वज्ञसंघः सुधाधामवद्भासरान्कांश्चिदत्रातिवाह्यं प्रभुः ।

साधुवर्गैस्ततोऽन्वीयमानः पुरात्पूर्वदेशं प्रति प्रीतिमान्प्रस्थितः ॥ २६ ॥

ततः पत्तने कतिचिद्दिवसस्थित्यनन्तरं पुरादणहिल्लपाटकपत्तनात्पूर्वदेशं प्रति प्राची-
नमण्डलं प्रति प्रस्थितं प्रचलति स्म । किं क्रियमाणं । साधुवर्गैर्विजयसेनसूरिप्रमुखाने-
कैर्मुनिमण्डलैरन्वीयमानोऽनुगम्यमानः । किं कृत्वा । तत्र पत्तने काश्चित्कतिचित्क्रियत्स-
ख्याकान्वासरान्दिवसान् अत्र पत्तनमध्ये अतिवाह्यं अतिक्रम्य । किंभूतं प्रभुः । सृष्ट-
कृतं सर्वज्ञेन जिनेन्द्रेण सार्वं सद्गो भक्तिस्तवनादिको येन । किवत् । सुधाधामवत् । यथा
अमृतकान्तिश्चन्द्रः सृष्टो निर्मितः सर्वज्ञस्य श्रीकण्ठस्य शिरःस्थितिलक्षणो येन
स तादृगास्ते ॥

सीमभूमौ वटात्पल्लिकायास्ततो भावडस्यात्मभूः सूरिशीतद्युतेः ।

चैत्यमर्चामिव श्रीजिनेन्दोर्गुरोः पादुका स्तूपमभ्येत्य स प्राणमत् २७

ततः पत्तनात्प्रस्थितेरनन्तरं वटात्पल्लिकाया वटशब्दादग्रे पल्लिका वटपल्लिका 'व-
डली' इति नाम्नी तस्याः सीमभूमौ ग्रामाद्वाह्यावनीप्रदेशे स्तूपमभ्येत्य स्तूपस्य समीपे

समागत्य गुरो स्ववर्माचार्यस्य पादुका पदद्वयीस्थापनाप्रतिविम्ब स सूरिः प्राणमन्नम-
स्करोति स्म । किभूतस्य गुरोः । भावडस्य भावडनाम्नो व्यवहारिण आत्मभूर्नन्दन स
एव सूरिशीतद्युति एतावता श्रीविजयदानसूरीन्दुस्तस्य । कामिव । अर्चामिव । यथा
भव्यश्चैत्य श्रीजिनप्रासादमभ्येत्य श्रीमत्तीर्थकृत्प्रतिमा प्रणमति ॥

ब्रह्मपुत्री स्मितानेकपद्माङ्किता यत्पुरश्रीमणीमेखलेवाजनि ।

सूरिकण्ठीरवोऽकुण्ठलोकोत्सवैः सिद्धपूर्वं पुर पावनं तद्यथात् ॥२८॥

सूरिकण्ठीरव आचार्यपञ्चानन अकुण्ठैर्बहलैर्लोकानामुत्सवैर्महामहैस्तत्प्रसिद्ध सिद्धपूर्वं
पुरम् । सिद्धपुरमित्यर्थः । पावन पवित्र व्याचकार । सिद्धपुरे जगामेत्यर्थः । स्मितै-
र्विकसितैरनेकैरनल्पैर्विविधप्रकारैः पद्मैः कमलैरङ्किता ब्रह्मपुत्री सरस्वती नाम्ना नदी
यत्पुरश्रिया सिद्धपुरलक्ष्म्या मणीना रत्नखचितमेखलेव काञ्चीव अजनि सजाता ॥

श्रीमदाचार्यपादा उषित्वा कियद्वासकास्तातपादैः समं वर्त्मनि ।

ते न्यवर्तन्त तेभ्यस्तदादेशतः सैकतेभ्यः पयोधेरिवाम्भःप्लवाः ॥२९॥

श्रीमदाचार्यपादा श्रीमन्तो विजयसेनसूरय तातपादैः श्रीहीरविजयसूरीश्वरैः सम
वर्त्मनि मार्गे कियद्वासकान् कतिचित्सख्याकान् निवासान् । वासकशब्देन रात्रय
एवोच्यन्ते । तत्र दिवसास्तु स्वयमेव समेता । उषित्वा स्थित्वा तेभ्यः श्रीभट्टारकेभ्यः
तदादेशतः तदाज्ञया तदनुशिष्टया न्यवर्तन्त पश्चाद्वयवलिरे । के इव । अम्भःप्लवा
इव । यथा सैकतेभ्यस्तटेभ्यः सकाशात्पयोवे समुद्रस्य अम्भःप्लवा पयःपूरा निवर्तन्ते
पश्चाद्वलन्ते ॥

एष निघ्नस्तमो विश्वमुद्धोधयन्कैश्चिदुद्यन्महोभिर्मुनीन्द्रैः समम् ।

तत्पुरात्प्रस्थिति तेनिवान्पद्धतौ सार्वभौमो ग्रहाणामिवाग्रे ग्रहैः ॥३०॥

एष हीरसूरिर्मुनीन्द्रैर्वाचकपण्डिताखण्डलैः सम तत्पुरात्सिद्धपुराभिधनगरात्पद्धतौ
मार्गे प्रस्थिति प्रस्थान तेनिवान् कुरुते स्म । क इव । सार्वभौम इव । यथा ग्रहाणां
चक्रवर्ती भास्वान् ग्रहे सहाग्रे आकाशे प्रस्थिति तनुते । 'ग्रहाब्जिनीगोद्युपति' इति
हैम्यामुक्तत्वात् ग्रहपतित्वं भानो । किं कुर्वन्नेष भानुश्च । तमोऽज्ञानं पापं वा ध्वान्तं
च निघ्नन् व्यापादयन् । पुनः किं कुर्वन् । विश्वं भुवनमुद्धोधयन्प्रतिबोधयन् बोधिवी-
जान्वितं वा विदधत् जागरयन् । किभूतैः मुनिभिः । उद्यत्प्रकटीभवन्महः परवादि-
जनेषु प्रतापो येषां तैः । उत ऊर्ध्वं यद्गच्छत् उपलक्षणाद्दशदिक्षु स्फुरत् झगज्झगिति
कुर्वन्महस्तेजो येषाम् ॥ इति पत्तनात् शिरोत्तरायावन्मार्गः ॥

भीरुभावान्निजं व्यालमालाकुलं भीष्ममौज्झ्याश्रमं नागपूरागता ।

किं महीमण्डलं भिल्लपल्लीपुरो हीरसूरीन्दुना व्याललोके क्रमात् ॥३१॥

हीरसूरीन्दुना श्रीहीरविजयसूरिचन्द्रेण क्रमाद्विहारपरिपाटीतः पुरोऽग्रे भिल्लानां

पुलिन्द्राणां पल्ली पुरी शिरोत्तराभिधानग्रामविशेषः ह्रस्वग्रामो वा व्यालुलोके दृग्गोचरीचक्रे ।
उत्प्रेक्ष्यते—महीमण्डल पृथिवीपीठ प्रत्यागता । सप्तमी वा महीमण्डले समेता नागपू-
र्भोगावतीनाम्नी भोगिनगरीव । किं कृत्वा । भीरुभावात् । बिभेतीत्येवशीला भीरुस्तस्या
भावस्तस्मात् । अथ वा स्त्रीस्वभावात् । ‘योषिद्विशेषास्तु कान्ता भीरुर्नितम्बिनी’ इति
हैम्याम् । भीतिसौलभ्याच्च । व्यालाना विषधराणा मालाभिः श्रेणीभिराकुल निर्भरभृत-
मत एव भीष्म भयानक मनस्यत्यन्तभयोत्पादक निजमात्मीयमाश्रय निवासस्थान-
मौज्ज्वल्य ल्यक्त्वा । ‘वसीत निर्भये स्थाने’ इति वचनात् द्विजिह्वभरभृत भोगिभवन
मुक्त्वा क्षितौ समायाता नागनगरीव ॥

क्वापि शक्ति वहद्भिः कुमारैरिवाम्भोजनाभैरिवोद्यद्गदाधारिभिः ।

याभिरूपैरिवाभाति कादम्बरी सादरीभूतचित्तैः किरातैर्भृता ॥ ३२ ॥

या भिल्लपल्ली आभाति । किभूता । बलवतामपि वहद्भिः । किरातैर्भृता । तथा कुत्र-
चित्स्थाने अम्भोजनाभैः कृष्णैरिव उद्यन्ती दीप्यमाना गदां सप्तधातुमयायुधविशेष
धरन्तीत्येवशीला गदाधारिणस्तादृशैः धारयन्ती शबरैर्व्याप्ता । कचन पानभूमौ काद-
म्बर्या मदिरापाने सादरीभूत तत्पर सजात चित्त मनो येषाम् । कैरिव । अभिरूपैरिव ।
यथा कोविदे कादम्बरीनामा बाणकविकृतग्रन्थविशेषस्तस्मिन्नादरेण अध्यायनाध्याप-
नासक्तमानसैर्जायते तादृशैः सुरापायिभिर्भिल्लैर्भृता ॥

तत्र वित्रासयन्त्रर्जुनः शात्रवानस्ति पल्लीपतिः कङ्कपक्षाश्रितः ।

जिष्णुभावं सुभद्रानुषङ्ग पुनर्बिभ्रदद्वैतधानुष्कतां पार्थवत् ॥ ३३ ॥

तत्र शिरोत्तरानामपल्लयामर्जुनो नाम पल्लीपति अस्ति विद्यते । किवत् । पार्थवन्मध्य-
मपाण्डव इव फाल्गुन इव । किं कुर्वन् । शात्रवान् विपक्षान् विशेषेण जीव नाश
त्रासयन्विनाशयन् । पुन किभूत । कङ्काना जीवविशेषाणां पक्षा पिच्छानि येषु ।
‘पत्र पतत्र पिच्छ वाजस्तनूरुहम् । पक्षो गरुच्छदश्चापि’ इति हैम्याम् । तन्नामन्येव
कङ्कपत्राणि बाणास्तैराश्रित । उभयपार्श्वबद्धतूणीरः । अर्जुनोऽप्येतादृक् । पुनर्विशेषः
कङ्कस्य युधिष्ठिरस्य पक्ष सहायताम् अथ वा कङ्केन पक्ष सखिता अद्वैतप्रीतित्वात्
श्रित । ‘पक्षो मासार्धे ग्रहसाध्ययोः । चुल्हीरन्ध्रे बिले पार्श्वे वर्गे केशात्परश्वये । पिच्छे
विरोधे देहाङ्गे सहाये राजकुञ्जरे ॥’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘अजातशत्रु शल्यारिर्धर्मपुत्रो
युधिष्ठिर । कङ्कोऽजमीढ’ इति हैम्याम् । पुन किं कुर्वन् । जिष्णुभावं जयनशी-
लतामर्जुनाभिधानं च । तथा सु शोभनानि भद्राणि मङ्गलानि तैः सुभद्रानामया स्वपत्न्या
च अनुषङ्ग सङ्गस्त बिभ्रद्वारयत् । पुनरद्वैतामसाधारणी धानुष्कता धनुर्वरतां च
बिभ्रद्धान ॥

स्पर्धया यन्मुखा लोकप्रोल्लसत्संमदेनेव वर्धिष्णुभिर्भक्तिभिः ।

सूरिमभ्येत्य नत्या निजं पावयन्नात्मगेहाननैषीन्निषादाधिपः ॥ ३४ ॥

निषादाविपोऽर्जुनः पुलिन्दराजोऽभ्येत्य गुरोः समुखमागत्य नत्या पादारविन्दप्रणमनेन कृत्वा निजमात्मानं पावयन् पवित्रीकुर्वन् सन् सूरि हीरगुरुं स्वान् गृहान् आत्मीयानि मन्दिराणि प्रत्यनैषीत् प्रापयामास । निनायेत्यर्थः । काभिः । भक्तिभिः । किलक्षणाभिः । वार्धिष्णुभिः । प्रवर्धनशीलाभिः । उत्प्रेक्ष्यते—यस्य सूरैर्मुखं वदनं तस्यालोकनेन दर्शनेन कृत्वा प्रकर्षेण उल्लसन् सर्वप्रकारेण वर्धमानो यः समदं परमानन्दसंदोहस्तेन सार्धं स्पर्धयेव सघर्षेणेव ॥ इत्यर्जुनपत्नीपतिगृहागमनम् ॥

अथ चतुर्दशभिर्वृत्तैः किराताङ्गना विशिनष्टि । चम्पूकथादौ तथाविधशबरदशावर्णनदर्शनात् । सवन्धस्तु चतुर्दशवृत्ते वक्ष्यते किरातवशा स्वकान्ता अजृह्वदिति—

स्मेरपद्मेक्षणा भृङ्गगुञ्जारवा हंसकोद्भासिनी सुस्मितश्रीभृतः ।

कर्णिकामादधाना रसोल्लासिनीः पद्मिनीनीलभासस्तथामोदिनीः ॥३५॥

किंभूता भिल्ली । उत्प्रेक्ष्यते—पद्मिनीरिव । पद्मिनीः स्त्री कमलिनीश्च । किंभूता । स्मेराणि प्रबुद्धानि पद्मानि कमलानि तद्वृत्तान्येव वा ईक्षणानि नयनानि यासाम् । पुनः किंभूता । भृङ्गानां भ्रमराणां गुञ्जा इव रवो ध्वनिर्यासाम् । ‘वाण्या भृङ्गीपिकीरवा’ इति काव्यकल्पलतोक्तत्वात् । पक्षे मधुकराणां गुञ्जारवो यासु । पुनः किंभूताः । हंसकैर्नूपुरैः पक्षे हसा एव हसका । स्वार्थे क । तैर्मरालैरुद्भासन्ते प्राबल्येन शोभन्ते इत्येवशीलाः । पुनः किंभूताः । सुशोभना स्मितस्य ईषद्वस्मितस्य सदा हसितवदनत्वस्य वा तरुणार्ककिरणसपर्कवशविकसिततालक्ष्मी च विभ्रतीर्दधती । पुनः किंभूताः । कर्णिका कर्णभूषणबीजकोशश्च दधाना । पुनः किंभूता । नीला मरकतमणिसदृशा भासो दीप्तयो यासाम् । पक्षे नीलाः । पुनः किंभूता । रसैः शृङ्गारादिविविधक्रीडारसैर्वा पक्षे मकरन्दैरुल्लसन्तीत्येवशीला । रसैः सलिलैरुल्लसन्ति उद्भवन्तीत्येवशीला वा, वारिजत्वात् । पुनः किंभूता । आमोदः आनन्दः परिमलश्च अस्ति आसामासु वा ॥

मेखलामालिनीः शालिपादाः स्फुरद्दन्तिका दन्तियानास्तमालत्विषः ।

गण्डशैलोल्लसत्पत्रवल्लीभृतो विन्ध्यशैलाञ्जनोर्वीधरोर्वीरिव ॥ ३६ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—विन्ध्यशैलो विन्ध्याद्रिस्तथा अञ्जनोर्वीवरः अञ्जनशैलः तयोर्वीर्भूमीरिव । किंभूता । मेखला सुवर्णमणीकाञ्चीमद्रिमव्यभागश्च मलन्ते धारयन्तीत्येवशीलाः । पुनः किंभूता । शालिन्यः शोभनशीला पादा भूषणालक्तकरङ्गकलिताश्चरणाः पर्यन्तपर्वता यासाम् । पुनः किंभूता । स्फुरन्तो दीप्यमाना दृश्यमानाश्च दन्ता एव दन्तिका दशना पर्वता बहिस्तिर्यङ्निर्गता गिरिप्रदेशाश्च यासां यासु वा । पुनः किंभूताः । दन्तिना मत्तमतङ्गानां यानमिव यानं गमनं यासाम् । मध्यमपदलोपी समासः । पक्षे मत्तेभानां यानं स्वैरगतिर्यत्र । पुनः किंभूता । तमालास्तापिच्छद्रुमविशेषाः । यदुक्तं नैषधे—‘श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरः शशिकुरङ्गमुखे सखि निक्षिप’ इति । तद्वत् श्यामास्त्विषः शरीरकान्तयो यासाम् । पक्षे । तमालमालाभिः कृष्णकान्तयः । पुनः

किभूता । गण्डशैलयोर्गण्डस्थलयोरुल्लसन्त्यौ विचित्रतया स्फुरन्त्यो या पत्रवल्लयः पत्रलतास्ता विभ्रतीः । पक्षे गण्डशैला पर्वतात्परितः स्थूला उपला महत्पाषाणास्तेषु उल्लसन्त्यो विकसन्त्यः पत्रैः पर्णैरुपलक्षिता उपचिता वा वल्लयो वीरुधस्ता विभ्रती । 'देव भवद्वैरिवधूवदने च भान्ति नारङ्गतत्पशोभे गण्डशैलस्थलालकारिण्यो रोध्रलताः' इति चम्पूकथायाम् गण्डयो शैलोपमानम् । अथ वा गण्डशैलौ कपोलप्रदेशावित्यर्थः ॥

भृङ्गनेत्रा मृणालीभुजा जृम्भिताम्भोजवक्रास्तरङ्गोल्लसत्कुन्तलाः ।

बन्धुरावर्तनाभी रथाङ्गस्तनी हसयाना यमीवारिदेवीरिव ॥ ३७ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—यमी वारिदेवीर्यमुनाजलदेवता इव । किलक्षणा । मकरन्दपानलुभ्य-
दम्भोरुहाभ्यर्णपरिभ्राम्यन्तो भृङ्गा अतिश्यामत्वाच्चञ्चलत्वाच्च भ्रमरा इव भृङ्गारवा इव
नेत्राणि नयनानि यासाम् । पुन किभूता । मृणाल्यः कमलनालानि । नालमृणाल-
शब्दौ त्रिष्वपि लिङ्गेषु । यथा—'कुवलयमृणालमण्डलानालमृणालपटला' इति लिङ्गानु-
शासने । ता इव । मृणाला एव वा भुजा बाहवो यासाम् । भुजाशब्द पुष्पलीलिङ्गयो ।
पुन किभूता । जृम्भितानि विकाश प्राप्तानि अम्भोजानि जलजानि तद्वत्तान्येव
वक्राणि वदनानि यासाम् । पुन किभूता । तरङ्गा पवनप्रसरलुलत्कल्लोला इव । तरङ्गा
एव वा उल्लसन्तो विविधविच्छित्या स्फुरन्त कुन्तला केशपाशा यासाम् । पुन
किभूता । बन्धुरा मनोज्ञा आवर्ता दक्षिणपार्श्वभ्रमणान्याकारविशेषा यासु तादृश्यः ।
पयोभ्रमाः हृदादिषु सलिलमागत्य पश्चाद्वलित्वा भ्रान्त्वा च पुर प्रचलति 'गवर'
इति समुद्रावगाहिलोकेषु प्रसिद्धा जलावर्तास्तद्वत् एव वा । नाभ्यस्तुन्दकूपिका या-
साम् । पुनः किभूता । रथाङ्गाश्चक्रवाकास्तद्वत् एव वा स्तनाः कुचा यासाम् । पुन
किभूताः । हसयाना यान लीलागमन तद्वन्मनोज्ञ गमन यासु । तथा हसयाना यान जलक्री-
डाकृते कमलनालबीजकोशबीजास्वादनाय गमनागमन यासु ॥

विष्टरोल्लासिनीश्चन्दनामोदिनीः पल्लवोल्लासिजिह्वाः प्रसूनसिताः ।

बिम्बदन्तच्छदाः कुन्दमालाः पिकीव्याहता मूर्तिमत्कुञ्जदेवीरिव ॥ ३८ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिमतीः मूर्ता अङ्गीकृताङ्गोपाङ्गा कुञ्जलक्ष्मीर्वनश्रिय इव । कि-
भूता । विष्टरेषु पीठेषु अथ वा विष्टरैरासनैविविवासनोपवेशैरुत्प्रावल्येन लासन्ते
इत्येवशीला । 'विष्टर पीठमासनम्' इति हैम्याम् । पक्षे विष्टरैरनेकजातितरुभि
शोभनशीला । 'विटपी कुट क्षितिरुह कारस्करो विष्टर' इत्यपि हैम्याम् । पुन
किभूता । चन्दना श्रीखण्डा इव पद्मिनीत्वेन विलेपनभूतैर्वा मलयद्रुमैश्च आमोद-
शरीरसौगन्ध्य परिमलश्च विद्यते यासा यासु वा । पल्लवा किसलयानि तद्वत्प्रवाला
एव जिह्वा अरुणास्त्रकुमारा रसना यासाम् । पुन किभूता । प्रसूनानि विकचकुसुमानि
उज्ज्वलत्वात्तद्वत्तान्येव वा स्मित महित यासाम् । पुन किभूता । बिम्बानि बिम्बीफ-
लानि बिल्वीफलानि पक्वगोल्हकानि तद्वत्तान्येव वा दन्तच्छदा दशनपत्राणि अधरा

यासाम् । पुन किभूता । कुन्दाना मुचकुन्दकुसुमाना माला स्रजो हारा कुन्दद्रुमाणा
श्रेणयो यासा यासु वा । पुन किभूता । पिकीना कलकण्ठीना व्याहत पञ्चमालापमधु-
रध्वनिरिवालपित यासा कोकिलाकलरवो यासु ॥

कञ्चुकिप्राञ्चिताः शेषगेहा इवारामदेशा इवोत्फुल्लपुष्पाङ्किताः ।

केकिमाला इवालंकृताश्चन्द्रकैः पूर्णचन्द्राननाः पूर्णिमासीरिव ॥३९॥

पुन किभूता । कञ्चुकिभि सौविदलै प्रकर्षेणाञ्चिता सहिता । ‘सौविदलाः कञ्चु-
किन ’ इति हैम्याम् । तथा ‘काञ्चिजराजर्जरशबरकञ्चुकिकरावलम्बलीलागामिन्यः’ इति
चम्पूकथायाम् । शबराविराजशबरीणामपि कञ्चुकिसत्तास्ते । शेषगेहा इव । यथा ना-
गाधिराजनिकेता कञ्चुकिभिर्भुजगमै सयुता भवन्ति । शेषनागस्य नागाधिपत्वात् ।
पुन किभूता । उत्फुल्लैरुन्मिपितै पुष्पै कुसुमैरङ्किता कुसुमावतसहारादियुक्ताः । के
इव । आरामदेशा इव । यथा वनप्रदेशा प्रबुद्धप्रसूनपरिचिता भवन्ति । पुन किभूता ।
चन्द्रकै ललाटपट्टे वृत्ताकारतिलकैलोके ‘चादलो’ इति नाम्ना प्रसिद्धै अलंकृता भू-
षिता । का इव । केकिमाला इव । यथा मयूरराजी चन्द्रकै कलापै कलिता भवन्ति ।
‘पिच्छ बर्ह शिखण्डकम् । प्रचलाक कलापश्च मेचकश्चन्द्रक समौ ॥’ इति हैम्याम् ।
पुन किभूता । पूर्ण पार्वण षोडशकलाकलित चन्द्र कौमुदीपतिरिवानन वदन
यासाम् । का इव । पूर्णिमासीरिव । पूर्णे निशाकरे सर्वकलाकलिते चन्द्रमसि सति सा
पूर्णमा राकेत्युच्यते । यथा हैम्याम्—‘सा राका पूर्णे निशाकरे’ इति । किभूता राका ।
पूर्णचन्द्र एवानन मुख यामाम् ॥

मञ्जुसिञ्जानमञ्जीरविस्फूर्जितैः स्पर्धमाना ध्वनद्भिर्मरालैरिव ।

केलिवातायुपोतान्क्वचित्कुर्वतीगीतिभिर्योगिवद्धचानलीनानिव ॥ ४० ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—मञ्जुनि मनोहराणि सिञ्जानानि रणज्झणिति शब्दायमानानि मञ्जी-
राणि नूपुराणि तेषा विस्फूर्जितैर्विलसितै कृत्वा ध्वनद्भिर्मृदुमदकलरौप्यघनघर्घरीकरु-
चिरस्वर विरचयद्भिर्मरालै राजहसै सार्व स्पर्धमाना इव स्पर्वा कुर्वाणा इव । क्वचि-
त्कुत्रापि स्थाने केलये क्रीडाकृते समानीय रक्षितान् वातायुपोतान् सारङ्गशा-
वान् गीतिभिर्मकन्दमञ्जरीपुञ्जास्वादनोद्धटिनीकुष्ककुहरप्रेङ्खोलनास्वलितपरभृतप्रप-
ञ्चितपञ्चमरागविरागीकरणप्रवणस्वपाणिवीणाक्वणनानुगुणप्रगुणितामितस्फीतगीतै कृत्वा
काश्चन योगिवद्योगीन्द्रानिव ध्याने प्रणिध्याने मधुरगानाकर्णने च लीनान्निश्चलाङ्गान्
कुर्वती ॥

स्वीयरूपश्रिया मानमातन्वतीः प्रेक्ष्यमाणा मुहुः स्मेरदम्भोरुहम् ।

भूषयाह विशिष्ये किमेतद्रूहा श्रीरुतेतीव चित्ते विजिज्ञासया ॥ ४१ ॥

पुन काश्चित्कि कुर्वाणा । मुहुर्वारवार स्मेरदम्भोरुह विनिद्रत्कमल प्रेक्ष्यमाणा
पश्यन्ती । उत्प्रेक्ष्यते—चित्ते स्वमानसे इत्यमुना प्रकारेण विजिज्ञासया विशेषप्रकारे-

णावबोद्धुमिच्छया । इति किम् । भूषया वपु श्रिया कृत्वा अह विशिष्ये विशेषा भवामि । उताथ वा एतस्मिन्स्मेरदम्भोरुहे गृहमावासो यस्यास्तादृशी श्रीर्लक्ष्मीर्देवी विशिष्यते । ‘कथं च स देश स्वर्गाद्विशिष्यते न’ इति चम्पूकथायाम् । विशिष्टो भवति स्म य ॥

निर्जितस्त्वत्सखासन्मुखेन ह्रिया पश्य पाण्डूभवन्भ्राम्यतीन्दुर्दिवि ।

वीक्ष्यमाणा वपुर्विभ्रमं दर्पणे सूचयन्तीरितीव स्मितं तन्वतीः ॥ ४२ ॥

काश्चिदर्पणे आदर्शे वपुर्विभ्रमं स्वशरीरसौन्दर्यं शोभां वीक्ष्यमाणा निभालयन्ती सतीः । उत्प्रेक्ष्यते—स्मितमीषद्वसितं तन्वतीर्विस्तारयन्तीर्विदधतीश्च सती । इत्यमुना प्रकारेण सूचयन्ती कथयन्तीरिव । इति किम् । हे दर्पण, त्वं पश्य सावधानतया विलोकय त्वत्सखा तव मित्रमिन्दुश्चन्द्र । ‘जलाच्च तातान्मुकुराच्च मित्रानभ्यर्च्य धत्त खलु पद्मचन्द्रौ’ इति नैषधे मुकुरचन्द्रयोर्मैत्र्य मिथः । अस्मन्मुखेन अस्माकं वदनेन निर्जितः पराभवभरं प्रापितः सन् पाण्डूभवन् पाण्डुरो वपुषा जायमानः सन् धवलीभूतशरीरं ह्रिया लज्जया कृत्वा दिवि निर्मानुषतया शून्ये नभसि भ्राम्यति पर्यटतीव ॥

निष्कुटानोकहोत्फुल्लपुष्पोच्चये षट्पदान्पाणिभिर्दूरतः कुर्वतीः ।

स्पर्धितां विभ्रते वाग्विलासैः सहास्माकमेते हृदीतीव रोषोदयात् ४३

काश्चिन्निष्कुटस्य गृहारामस्य अनोकहाना विविवजातिप्ररोपितपादपानामुत्फुल्लानि विनिर्द्भीभूतानि पुष्पाणि कुसुमानि तेषामुच्चयश्चुण्टनं ग्रहणम् । ‘उच्चिन्वन्ति च मालतीषु कुसुमश्रद्धालवो मालिका’ इति चम्पूकथायाम् । तथैवोच्चयं षट्पदान् भ्रमरान् पाणिभिः स्वकरैः दूरतः विप्रकृष्टान् कुर्वती प्रणयन्ती । उत्प्रेक्ष्यते—हृदि हृदयमध्ये इत्यमुना प्रकारेण रोषोदयात्कोपप्रादुर्भावात् इव । इति किम् । यदेते षट्पदा भ्रमरा अस्माकं वाण्या वाचा सह स्पर्धिता सघर्षिभावमभ्यसूयाम् । ‘वाण्या भृङ्गीपिकीरवौ’ इति काव्यकल्पलतावचनाद्भृङ्गीसाहचर्याद्भृङ्गोऽप्यागत एव । विभ्रते वारयन्ति । कुर्वते इत्यर्थः । स्वद्वेषिणस्तु दूरमुत्सार्यत एवेति ॥

नाभिदग्ने हृदेऽम्भोविहारालसास्त्रासमुत्पादयन्ती रथाङ्गात्कचित् ।

तद्विभूषा स्तनाभ्या गृहीत्वा पुरा किं पुनस्तद्वपुष्पीतिमादित्सया ४४

कचित्कुत्रापि गृहोद्यानप्रदेशे नाभिदग्ने नाभिप्रमाणे । ‘नाभीरम्या नीलतमालका’ इति चम्पूकथायाम् । ‘नीला हरितत्विषस्तमालद्रुमा नाभीरम्या नाभिदग्ना’ इति चम्पूटिप्पनके । हृदे द्रुहे अम्भोविहारे जलकेलिकरणसमये अलसा मन्थरा लम्पटा वा काश्चित्किरातीः रथाङ्गात् चक्रवाकात् त्रासमाकस्मिकं भयमुत्पादयन्तीर्जनयन्तीः सती । उत्प्रेक्ष्यते—पुरा पूर्वं स्तनाभ्यां निजकुचाभ्यां कृत्वा तेषां रथाङ्गानां विभूषा शोभा गृहीत्वा पुनर्द्वितीयवारं तद्वपुषा चक्रवाकशरीराणां पीतिम्नः पीततायाः आदि-

त्सया आदातु गृहीतुमिच्छयेव त्रासमुत्पादयन्ती । असद्वस्तुग्रहणे समीहा भवेत् ।
यत स्वयं श्यामवर्णत्वेन स्वर्णवर्णवपुः शोभादानमौचितीमञ्चति ॥

कापि विश्लेषयन्तीर्वकाञ्जीवनाद्धार्तराष्ट्रान्पुनर्भीमवाहा इव ।

राक्षसीवत्क्षपारागिणीरुत्पलाकाङ्क्षिणीः क्लृप्तकीलालपानाः पुनः ॥ ४९ ॥

कापि गृहोद्यानदीर्घिकादिप्रदेशे काश्चित् शबरनायकनितम्बिनीजीवनाज्जलात्सका-
शात् वकान् बलाहकान् मीनाशिनो जलचरान् पक्षिविशेषान् तथा धार्तराष्ट्रान् सितेत-
तरपक्षान् राजहंसजातिविशेषान् विश्लेषयन्ती परस्परं स्ववशाभि बालकैर्वा वियोगं
नयन्ती । उड्ढाययन्तीरित्यर्थः । का इव । भीमवाहा इव । कुन्तीतनुजन्मत्रिकापेक्षजातीया
मध्यमपाण्डवस्य युधिष्ठिरानुजन्मनो वृकोदरभुजा यथा वकानिति वकनामान राक्षसम् ।
बहुत्व तु लङ्काधिपतिराक्षसराजत्वात् । तथा धार्तराष्ट्रान् धृतराष्ट्रस्यापत्यानि धृतराष्ट्रस्य
पितृव्यस्य शत दुर्योधनदुःशासनप्रमुखान् पुत्रान् जीवनाजीवितव्यात् विश्लेषयन्तीर्वियो-
जयन्ती । निम्नतीरित्यर्थः । पुनः काश्चित्क्षपासु हरिद्रासु । ‘हरिद्रा काञ्चनी पीता निशाख्या
वरवर्णिनी’ इति हैम्याम् । रात्रिसर्वनामभिरर्थं सति हरिद्रैवोच्यते । यथा चम्पूकथा-
याम्—‘वररजनीकरकान्ते’ इति । ‘निशानभः सदृशे मजनगृहे । किलक्षणा । वरा ।
विशिष्टविज्ञानोपेता रजनीकरा हरिद्रोद्वर्तनादिकारकाः पुमासस्तैः कान्ते प्रधाने ।
निशानभसि किलक्षणे । वरः सर्वकलासपूर्णो रजनीकरश्चन्द्रस्तेन मनोज्ञे’ इति चम्पू-
टिप्पणके । रागो वपुरुद्वर्तनादिना आसत्तिर्विद्यते यासाम् । तथा उत्पलानि कुवल्या-
न्याकाङ्क्षन्तीत्येवशीला । पुनः क्लृप्त रचितं कृतं कीलालस्य पानीयस्य पानं याभिः ।
क्विवत् । राक्षसीवत् । यथा निशाचर्य राक्षस्य क्षपाया रजन्या रागोऽस्त्यासाम् । रात्रिचर-
त्वात् । तथा उत्प्रावल्येन पलमांसमाकाङ्क्षति सामस्येन वाञ्छतीत्येवशीला । पला-
दत्वात् । पुनः निर्मितं कीलालस्य रुधिरस्य पानं याभिः । असृक्पत्वात् । ‘रात्रिचरो
रात्रिचरः पलादः कीनाशरक्षो निकसात्मजाश्च । क्रव्यात्कर्बुरनैर्ऋतामृक्पः’ इति हैम्याम् ।
‘कीलाल रुधिरं नीरे’ इत्यनेकार्थः ॥

केलिवापीपयोमज्जनव्याजतो नागनारीर्विजेतु व्रजन्तीरिव ।

नागगेहोपसीदत्तदम्भोजदृग्विभ्रमं कुर्वतीर्निःसरन्तीः पुनः ॥ ४६ ॥

काश्चित्किरातेशितुः कान्ताः केलिवापीषु क्रीडाकृते या गृहोपवनदीर्घिकास्तासु प-
यसि स्वतन्त्रसलिलान्तरालखेलनसमये पयसि पानीये मज्जनानां क्रीडारसाद्बुद्धनाना
दनुप्रादुर्भवनव्यतिकरे वा सलिलाद्बहिर्निर्गच्छन्ती सती नागगेहाद्भुजगभवनादुपसी-
दन्तीनामागच्छन्तीनां तदम्भोजदृशा नागनिकेतननितम्बिनीनां विभ्रमं विशेषेण
भ्रान्तिं कुर्वती स्रजन्तीरिव । एतद्दीर्घिकावारिवर्त्मना नागलोकात्कथञ्चिद्भ्रमण्डलालोक-
नकुतूहलात्क्रीडाकृते वा निर्गता नागाङ्गना इवेति भ्रमः ॥

भास्वतः कान्तिवद्वारुणीरागिणीः शालिपत्रावलीः शालिशाखा इव ।

नन्दनानन्दिनीर्मन्दरोर्वीरिव प्रीणयन्तीर्मनः साधुगोष्ठीरिव ॥ ४७ ॥

काश्चित्किराती । वारुणी मदिरा तत्र विषये तत्पाने राग अस्त्यासामिति रा-
गिणीः । ‘काश्चित्कादम्बरीमधुपानमदघूर्णितदृश’ इति चम्पूकथाया भिल्लीनामपि मदि-
रापान दृश्यते । किंवत् । कान्तिवत् । यथा भास्वत सहस्ररश्मे. कान्तयो दीप्तयः वा-
रुण्या वरुणदिवपालस्य इय दिग्वारुणी पश्चिमा दिक् तस्या रागिण्य । पश्चिमाया
समेतस्य साय मार्तण्डमण्डलस्य मरीचयो रागरञ्जिताः सरागा भवन्ति । राग आस-
क्तिररुणिमा च । पुन किभूता । शालन्ते शोभन्ते इत्येवशीला शालिन्य पत्रा-
वल्य पत्रलता यासाम् । का इव । शालिशाखा इव । यथा वृक्षाणा शिखाः शोभन-
शीला पत्राणा पर्णानामावल्य श्रेणयो यासु तादृश्यो भवन्ति । पुन किभूताः । नन्द-
नैर्निजाङ्गजैः पुत्रैरानन्द प्रमोद अस्त्यासाम् । का इव । मन्दरोर्वीरिव । यथा मेरुभू-
मय नन्दननामवनेनानन्ददायिन्य ताः । जिनशासने मन्दरो मेरुरुच्यते । यथा
भक्तामरस्तवे—‘कि मन्दराद्रिशिखर चलित कदाचित्’ इति । यथा स्नातस्य स्तुतौ
‘मन्दररत्नशैलशिखरे जन्माभिषेक कृत’ इति । मन्दरेषु पञ्चसु मेरुषु मेरुषु रत्न लक्ष-
योजनप्रमाणत्वात्सर्वद्वीपसमुद्राणा मध्यवर्तित्वान्नाभिस्थानकत्वाच्च रत्नम् । अपरे च-
त्वारो मेरव चतुरशीतियोजनमानाः । जिनजन्माभिषेको मेरु विनान्यत्र न स्यादिति ।
तथा सिद्धान्तेष्वपि मन्दरस्मरण लभते । ‘पञ्चयस्स—’ इत्यादि । शैवशासनेषु तु
मन्दर इन्द्रकीलशैल । अत्र तु जैनमतानुसारेणैव मेरुः । पुन कि कुर्वती । मन
तद्विभ्रमविलासक्रीडादिविलोककानामन्त करण प्रीणयन्तीस्तोषयन्ती । का इव ।
साधुगोष्ठीरिव । यथा साधूना ससारमुमुक्षूणाम् । अथ वा साधुभि सत्तमैः पुभि सम
गोष्ठी ससारापारपारावारपारोत्तरणोपायप्रकथनेन सन्मतिशिक्षाप्रदानेन च मानस
परमानन्दसदोहासादनमेदुर विदवतीः ॥

आश्मगर्भीयसंदर्भविभ्राजिनीः शालभञ्जीरिव स्वैरसंचारिणीः ।

सूरिपादान्प्रणम्यान्प्रणन्तुं निजास्तत्र कान्ताः किरातेशिताजूहवत् ४८

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—आश्मगर्भीयो मरकतरत्नसबन्धी । ‘मरकत त्वश्मगर्भ’ इति है-
म्याम् । य सदर्भो रचनाविशेषस्तेन विभ्राजन्ते इत्येवशीला । पुन किभूता ।
स्वेच्छया स्वतन्त्र दिव्यानुभावात्कोकाशसूत्रवारादिकृतकीलिकादिप्रयोगाद्वा सचरण-
शीला । इतस्तत परिभ्रमणस्वभावा शालभञ्जी पाञ्चालिका इव । एषु सर्वेष्वपि वृत्तेषु
द्वितीयाबहुवचनानि ज्ञेयान्यग्रेतनसबन्धात् । एव व्यावर्णितस्वरूपा निजा आत्मीयाः
कान्ता प्रियतमा किराताना भिल्लानामीशिता स्वामी अर्जुनस्तत्र भगवत्पादपवित्रीकृ-
तनिकेतने प्रणम्यान् जगज्जननमस्करणीयान् सूरिपादान् प्रणन्तु नमसितुमजूहवदा-

कारयामास । इत्यन्तचतुर्दशभिः कुलकम् ॥ इत्यर्जुनकिरातपतिप्रमदानां विविधविलासचेष्टास्वरूपवर्णनम् ॥

जगमं सार्वभौमं किमुर्वीभृता सूरिशीताशुमायान्तमालोक्य तम् ।

अर्जुनाम्भोजनेत्रास्तद्विद्वयं नेमुगनन्दसान्द्रीभवन्मानसाः ॥ ४९ ॥

अर्जुननाम्न पत्नीपतेरम्भोजनेत्रा नलिननयना कान्तास्तस्य हीरसूरेरद्विद्वयचरणयुगलनेमुः प्रणमन्ति स्म । किंभूता । आनन्देन प्रमोदेन कृत्वा सान्द्रीभवन्ति निविडानि जायमानानि मानसानि मनासि यासाम् । किं कृत्वा । सूरिष्वाचार्येषु ज्योतिश्चक्रायमानेषु मध्ये शीताशु सुधाकर चन्द्रमायान्तमात्ममन्दिरेषु समागच्छन्तमालोक्य स्वनयनयोगोचरीकृत्य । दृष्ट्वेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—जगम सचरन्त वसुधाविहरणशीलमुर्वीभृता पर्वतानां सार्वभौम चक्रवर्तिनमिव । मेरुगिरिमिव ॥

कामिनीभिः किराताधिभर्तुस्ततो मौक्तिकौघैरवाकीर्यत श्रीप्रभुः ।

सोऽप्यवैश्वस्त्यलक्ष्मीमिवानश्वरीं स्वेन ताभ्यो ददौ धर्मलाभाशिषम् ५०

ततो वन्दनानन्तरं किरातानां पुलिन्द्राणामधिभर्तुः स्वामिनः अर्जुनस्य कामिनीभिः कान्ताभिः मौक्तिकौघैर्मुक्ताफलमण्डलैः श्रीप्रभुः श्रीमान् हीरविजयसूरिः अवाकीर्यत वर्धाप्यते स्म । पुनर्वर्धापनानन्तरं सोऽपि श्रीप्रभुः स्वेनात्ममुखेन ताभ्यः किरातेन्द्रकामिनीभ्यः धर्मलाभमेवाशिषं मङ्गलशसनमाशीर्वादं ददौ दत्तवान् । उत्प्रेक्ष्यते—अनश्वरीं शाश्वतीमवैश्वस्त्यस्य अर्थात्तासामेवार्जुननारीणामवैधव्यस्य लक्ष्मीमिव । ‘विश्वस्ता विधवा समे’ इति हैम्याम् । तथा ‘नलात्स्ववैश्वस्त्यमनाप्तुमानता’ इति नैषधे ॥

देशनाम्भोदधारा सुधाया इव ज्येष्ठजामि मुनीन्द्रस्य पीत्वादरात् ।

भिल्लभर्तुर्जजृम्भे मनःकानने बोधिफुल्ललताश्लेषिहर्षद्रुमः ॥ ५१ ॥

भिल्लभर्तुरर्जुननाम्नो भिल्लानां शबराणां भर्तुर्नायकस्य पत्नीपतेर्मनो मानसमेव काननं वनं तत्र बोधिः सम्यक्त्वमेव फुल्लन्ती विकसन्ती लता वल्ली तथा आश्लेष आलिङ्गनमस्त्यस्य एतादृशो हर्षद्रुमः प्रमोदपादपः जजृम्भे प्रादुर्भवति स्म । किं कृत्वा । मुनीन्द्रस्य हीरसूरेर्देशना धर्मकया सैव अम्भोदधारा मेघपयोवृष्टिस्तामादरादेकाग्रचित्ततया पीत्वा निपीय सादरं श्रुत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—सुधाया पीयूषस्य ज्येष्ठजामि वृद्धभगिनीमिव ॥

वर्णयामः किमस्यामृतस्त्राविणीं विभ्रतो भारती वज्रसूरीन्द्रवत् ।

वङ्कचूलो यथा धर्मघोषेण यद्येन रौद्रोऽपि भिल्लप्रभुर्वोधितः ॥ ५२ ॥

अस्य हीरसूरे किं वर्णयामः किं किं स्तुतिगोचरीकुर्मः । अस्य किं कुर्वतः । वज्रसूरीन्द्रवद्वज्रस्वामिनाम्न आचार्यपुरदरस्येव अमृतस्त्राविणीं सुवारमोद्गारिणीम् । पीयूषवर्षिणीमित्यर्थः । भारती वाणीं वाग्विलासं विभ्रतो वारयतः । यन्कारणाद्येन भगवता

रौद्रोऽप्यतिकूरोऽपि भिल्लप्रभु पुलिन्दपतिरर्जुन बोधित बोधिवीज प्रापितः । केनेव ।
यथा वर्मघोषेण सूरिचन्द्रेण चण्डोऽपि वङ्कचूलनामा राजपुत्रीपल्लीपति प्रतिबोधितः ।
कतिचिन्नियमान् ग्राहितां द्वावपीत्यर्थः ॥

उत्पथे प्रस्थितांस्तन्वतश्चापलं तत्र सूरिः किरातान्परानप्यसौ ।

सत्पथेऽतिष्ठिपत्सत्त्वरक्षाव्रतै रश्मिभिः शूकलान्सादिवद्वाजिनः ॥ ५३ ॥

असौ हीरसूरिस्तत्र शिरोत्तरानामग्रामे परानन्यानपि किरातान् भिल्लान् सत्त्वाना
जन्तूना रक्षा दया अहिंसा तदादिमै सैव प्रथमा येषु तादृशैर्व्रतैर्विविधनियमैः कृत्वा
सत्पथे शोभनमार्गे अतिष्ठिपत्स्थापयति स्म । किंवत् । सादिवत् । यथा तुरगाणां दूषणभू-
षणलक्षणप्रस्थापनरक्षणनर्तनधौरितादिगतिकारापणादिकलाकुशल सादी अश्ववार ।
'अश्वारोहे चाश्ववार सादी च तुरगी च स' इति हैम्याम् । शूकलान्दुर्विनीतान् । 'दु-
र्विनीतस्तु शूकल' इत्यपि हैम्याम् । रश्मिभिः वल्गाकशादिरज्जुभिः कृत्वा सत्पथे सर्व-
जनातिवाहिते वर्त्मनि स्थापयति । किलक्षणान् किरातान् । उत्पथे हिंसादिविधाने
दुष्टाध्वनि मार्गादितरस्थाने वा प्रस्थितान्प्रवर्तमानान्प्रचलितान् । पुनः किभूतान् ।
चापलं द्यूतमासमदिरावेश्यापापविचौर्यपराङ्मनागमनाद्यनेकदुर्व्यसनेषु चञ्चलता लौल्य
चक्रपदस्थापनगमनादि च तन्वतः प्रकुर्वत आद्रियमाणान्विस्तारयतश्च ॥ इत्यर्जुन-
पल्लीपतितत्सेवकानां नियमदानम् ॥

सूरिशीतांशुरापृच्छ च भिल्लाधिपं संप्रणिन्ये पुरस्तादथ प्रस्थितिम् ।

तावदग्रे ददर्शार्बुदोर्वीधरं विन्ध्यमभ्येतमेतं विनन्तु किमु ॥ ५४ ॥

अथार्जुनादीनां नियमदानानन्तरं सूरिशीताशुर्हारसूरिचन्द्रः भिल्लाधिपमर्जुनं किरात-
राजमापृच्छ च प्रश्नयित्वा पुरस्तादग्रे प्रस्थितिं प्रस्थानं गमनम् । प्रयाणमित्यर्थः । संप्र-
णिन्ये करोति स्म । प्रभुर्भट्टारकस्तावदग्रे पुरतः अर्बुदनामानमुर्वीधरं पर्वतं ददर्श
लोचनगोचरीकरोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विन्ध्यं जलबालकापरपर्यायं शैलम् । 'विन्ध्य-
स्तु जलबालक' इति हैम्याम् । एतं सूरिः विनन्तु विशेषेण नमस्कर्तुमभ्येत
समुखमागतमिव ॥

यो गिरिस्तुङ्गिमश्रीभिरन्यान्पराभूय शृङ्गाग्ररङ्गत्पयोदोपधेः ।

छत्रमाधत्त मायूरमुर्वीधराधीशितुर्नन्दनस्त जयाङ्ग किमु ॥ ५५ ॥

य उर्वीधराणां पर्वतानां भूपालानां चाधीशितुर्भर्तुर्नायकस्य भर्तुर्हिमाचलस्य चक्र-
वतिनो वा नन्दनः पुत्रः । 'गौरीवरश्चशुरभूधरसम्भवोऽयमस्त्यर्बुदः ककुदमद्रिकदम्बकस्य ।
मन्दाकिनीवनजटे दवदुत्तमाङ्गे यः शालकः शशिभृतोऽभिनयं करोति ॥' इति गुर्जरेश्व-
रपुरोहितवस्तुपालवयस्यसोमेश्वरभट्टविरचितलूणिगवसतिपट्टिकोत्कीर्णवस्तुपालप्रशस्ताव-
र्बुदाद्रेर्हिमाद्रिपुत्रत्वप्रकटमास्ते । एतावतार्थेन अर्बुदनामा गिरिः कश्चित्सर्वभौमतनुजन्मा
च । उत्प्रेक्ष्यते—शृङ्गाग्रे शिखरोपरितनप्रदेशे रङ्गता चरता पयोदानां सजलजलधरा-

णामुपधेर्घनघटाकपटान् तज्याङ्क तेषा पर्वताना भूपाना च जयस्य पराभवनस्य
अङ्क चिह्न किमु मायूर मयूरपिच्छसबन्धि छत्रमातपत्रमिवावत्ते विभर्ति स्म । कि
कृत्वा । तुङ्गिन्न उच्चत्वस्य महिन्न पराक्रमस्य करितुरगादिपरिवारस्य जात्यादेर्वा मह-
त्वस्य श्रीभिर्लक्ष्मीभिर्वैभवैर्वा कृत्वा अन्यानपरान् गिरीन्नराविपान्वा परामुय विजित्य
स्ववशीकृत्य वा ॥

अध्वरोद्भुः सुधाधामचण्डद्युतोर्विन्ध्यधात्रीधरस्येव संस्पर्धया ।

शृङ्गलेखाभिरभ्रकषाभिर्नभःपद्भति रुद्धवानर्बुदोर्वीधरः ॥ ५६ ॥

अर्बुदाभिवान उर्वावर शैल अभ्रमाकाश कपन्ति विलिखन्ति घृष्यन्तीति । ‘कषू
विलेखने’ इत्यय धातु । अभ्रकषास्ताभिर्गगनमण्डलोल्लेखिनीभि शृङ्गलेखाभि शिखर-
राजीभि कृत्वा नभ पद्भति व्योममार्गे रुद्धवानात्मना रुणद्धि स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सुधा-
वामा चन्द्र , शृण्डद्युत्सूर्य , तयोरध्वनो मार्गस्य रोद्भु. रोवद्विधातुर्विन्ध्यधात्रीवरस्य
विन्ध्याचलस्य संस्पर्धया सहघेणेव असूययेव ॥

क्वापि शृङ्गे विनीले तमालै शशी यस्य चूडामणीवत्कचाना चये ।

क्वापि शोणाश्मशृङ्गे पुनर्मानुमान्प्राग्गिरे. सानुनी वोदयल्लक्ष्यते ॥ ५७ ॥

यस्यार्बुदाग्रे क्वापि कुत्रापि स्थाने तमालै समुद्रसद्वहलदलमण्डलसच्छवितापिच्छ-
पादपैर्विनीले अतीव श्यामलीभूते शृङ्गे शिखरे शशी चन्द्रमा कचाना चये कामिनीके-
शपाशे चूडामणीवत् चूडारत्नमिव लक्ष्यते ज्ञायते वा । पुनरपरेऽर्थे क्वापि कुत्रापि
प्रदेशे शोणाश्मभि पद्मरागमणिभिर्निर्मिते शृङ्गे कूटे भानुमान् सहस्ररश्मि प्राग्गिरे-
रुदयाचलस्य सानुनी प्रस्थे उदयन्नभ्युद्गम लभमान इव लक्ष्यते निरीक्ष्यते ॥

मौलिलीलायमानामृताशुक्षरनिर्झराम्भःप्रवाहस्वरूपैरसौ ।

सातपत्रस्फुरच्चामरैर्भूभृता राजभाव विभर्तीव भूमीधर ॥ ५८ ॥

असौ भूमीधर अर्बुदाचल सहातपत्रेण छत्रेण वर्तन्ते यानि तानि सातपत्राणि ।
तथा स्फुरन्ति इतस्ततः प्रसरन्ति चञ्चलीभवन्ति यानि चामराणि रोमगुच्छानि तै
कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—भूभृता सर्वपर्वताना राजभाव स्वामित्वमाविपत्य वा विभर्ति
वारयतीव । किभूत । मौलौ शिर शिखरोपरि लीलायमानो लीलया स्ववगेनाचरन्
प्रवर्तमान प्रचलन्वा अमृताशु शीतदीपिति । तथा क्षरता शिखरान्तरालेभ्यो
नि सरता निर्झराणामम्भमा पानीयाना प्रवाहा वारास्ता एव स्वरूपमात्मा येषां ते ॥

कुन्दरुङ्नीरमुङ्नीलकण्ठ पुनश्चन्द्रचूड शिव सिहयानाङ्कित ।

वातवेल्लताकृत्सलास्यः सरिद्योऽनुयातीव दिग्वासस कि दिवा ॥ ५९ ॥

योऽर्बुदगिरि दिवा दिवस दिश आशा एव वासासि वस्त्राणि यस्यासौ दिग्वासा
ईश्वर तमनुयात्यनुकरोति सदृशीभवतीव । ‘दिक्त्तिवामा भवनीललोहिता’ इति है-

म्याम् । द्वावपि विशिनष्टि—किलक्षणं । कुन्दाना विकसितकुसुमसततिसितीकृतमुचकु-
न्दद्रुमाणा रुक् कान्तिर्यत्र । पक्षे कुन्दवदुज्ज्वला रुक् कायकान्तिर्यस्य । पुन किभूत ।
नीरसुग्भि उन्नमनीरदैः कृत्वा नील श्यामलीभूत कण्ठः उपत्यकाभाग शिर शिख-
रादधस्तनप्रदेशो यस्य । पक्षे मेघवन्नील विषविषमानलज्वालाज्वलितत्वात्काल कण्ठो
गल यस्य । ‘दवदम्बुदनीलकण्ठताम्’ इति नैषधे । अर्थ पूर्ववत् । पुन किभूत ।
चन्द्रो विबुरत्युच्चैस्तरत्वात् चूडायामप्रभागे अभ्रकषशिखरोपरितनप्रदेशो यस्य । पक्षे
चूडाया जटाजूटे यस्य । पुनः किभूत । शिवो निरुपद्रव परैर्ग्रहीतुमशक्य शिव-
नामा च । पुन किलक्षण । सिंहाणा केसरिणा यानानि गमनागमनानि तैरङ्कित
कलित । पक्षे सिंहयानया पार्वत्या अङ्कितश्चिद्वित । तस्या अर्वाङ्गत्वात् । ‘प्रसह्य
चेतो हरतोऽर्धशभोः’ इति नैषधे । अर्धशभोरीश्वरस्य शरीरार्धघटनया इत्यर्धशभुः ।
पुनः किभूत । वातै पवनै वेलन्त्यश्चञ्चलीभवन्त्यो या लता वल्लयस्ताभिस्तद्वद्वा क्लृप्त
लास्य नाटक येन । महानटत्वान्नाट्यप्रियत्वाच्च । पुन किभूत । सरिर्निर्झररूपा अत्यु-
ज्ज्वलत्वात्स्व सरिर्द्रुगा यस्य । पक्षे निर्झरतुल्या गिरीशत्वात् गिरीशो हिमाद्रिरपि ।
तत्र निर्झररूपैव गङ्गा यत्र । अथवा सरति गच्छति विस्तरतीत्येवशीला व्यवस्थि-
तविकल्पत्वाद्दीर्घत्वाभावस्तादृशी नित्यवाहिनी स्वर्वाहिनी यस्मिन् । तथा शैलोऽपि
अत्युच्चत्वादतिविस्तारत्वात्पातालमूलत्वाच्च दिग्वासा दशसु दिक्षु वासो वसन अथवा
दशापि दिशो वासासि वस्त्राणि यस्य स । ‘शिर स्व सरित्’ इति वा पाठ । तत्र
शिरसि अत्युच्चैस्तरत्वान्मस्तके स्व सरित् गगनगङ्गा यस्य । तथा च वस्तुपालवसतिप्रश-
स्तावर्बुदादिवर्णने—‘मन्दाकिनी घनजटे दधदुत्तमाङ्गे’ इति ॥

रत्नसान्वौषधीप्रस्थमुख्यश्रिया मेरुमुख्यक्षमाभृज्जयादर्जिताम् ।

शृङ्गनिर्गत्वरणा झराणा निभात्कीर्तिमेता विभर्तीव मूर्ता गिरिः ॥ ६० ॥

यो गिरिरर्बुदाचल शृङ्गेभ्यः स्वशिखरेभ्यो निर्गत्वरणा नि सरणशीलाना झराणा
निर्यन्निर्झरपय प्रवाहाना निभाद्याजात् मूर्ता शरीरवतीमेता जगजनताप्रत्यक्षलक्षा
कीर्ति यशोविस्तृति विभर्ति दवतीव । किभूताम् । रत्नसानूना मणिमयाना शिखराणा
तथा औषवीना फलपाकावसानिकाना वशीकरणस्वर्णरजतादिकारिकाणा वा लताद्रुमवि-
शेषाणा प्रस्थाना विविधवातुरसकूपिकादिस्थानकानामपरशृङ्गाणा मुख्यया प्रकृष्टया
श्रिया तत्प्रमुखया वा लक्ष्म्या वैभवेन क्षोभया वा । मेरोर्मणिशिखराणि, हिमाचले
त्वौषवीप्रस्थ शृङ्गम् । अत एव मेरु स्वर्णाचलो मुख्य प्रवानो येषु । मुखे भावो
मुख्य आदिर्वा येषु तादृशाना क्षमाभृता पर्वताना जयात्पराभवनादर्जिता स्वायत्ती-
कृताम् ॥

अर्जुनश्रीदधो मर्त्यमालास्फुरत्कंदरो भद्रसालोलसन्नृक्षभूः ।

विभ्रतः स्वःसुमेरोरिव स्पर्धया यः पुरं कापि धत्ते धरित्रीधरः ॥ ६१ ॥

यो धारेत्रीधरः अर्बुदपर्वतः कापि कुत्रापि प्रदेशे पुर नगरं धत्ते विभर्ति । उत्प्रेक्ष्यते—स्व स्वर्गं विभ्रतो धारयत सुमेरो कनकाचलस्य । ‘मेरुः स्वर्गावार’ इति परसमये । यदुक्तं च नैषधे—‘दिवमङ्गादमराद्रिरागताम्’ इति । स्पर्धया सहर्षेणैव । यः किभूतः । अर्जुनानां ककुभद्रमाणा मेरुपक्षे स्वर्णानां च श्रियः शोभा दवातीति दधः । पुनः किभूतः । मर्त्यानां विलासागताद्गनायुतमनुष्याणां पक्षे अमर्त्यानां स्वाद्गनासगतकिनरसिद्धगन्धर्वादिदेवानां मालाभिः श्रेणिभिः स्फुरन्त्यः शोभमाना कदरा गुहा यस्य । पुनः किभूतः । भद्रैः श्रेष्ठैरथवा कल्याणकलितैः कदाचित्केऽपि तान्त्रि स्वण्डयन्ति तादृशैः सालैः पादपैर्देवदारुभिर्वा उल्लसन्नुल्लासं प्राप्नुवन् । मेरुपक्षे—भद्रसालनाम्ना मन्दरोपत्यकावर्तिना वनेन च शोभमानः । पुनः किभूतः । ऋक्षाणां मल्लिकानां महत्केशावृताङ्गानां ‘रीछ’ इति लोके प्रसिद्धानां वन्यस्वापदानाम् । मेरुपक्षे—ऋक्षाणां नक्षत्राणाम् । भूः स्थानम् । ‘नक्षत्रभूः क्षत्रकुलप्रसूतेर्युक्तो नभोगैः खलु भोगभाजः । मुजातरूपोऽपि न याति यस्य समानता काचन काञ्चनाद्रिः ॥’ इति चम्पूकथायाम् ॥

अम्बरालिङ्गिशृङ्गावलीपल्वलोपाश्रयाः स्मेरदम्भोजिनी रागिणीः ।

योऽभिकेनाभ्रपान्थेन साकं सदा मित्रवत्कारयामासिवान्संगमम् ॥ ६२ ॥

योऽर्बुदोऽद्रिर्मित्रवत्स्वमेव रागिणी शोणा अनुरक्ताश्च स्मेरन्तीविकमन्ती अनु-
रागातिरेकात्सुखीभवन्तीश्चाम्भोजिनी पद्मिनीन्त्रियः कमलिनीश्च । अभिकेन कामुकेन । ‘कामुकः कामिताः कामोऽनुकः कामयिताभिकः’ इति हैम्याम् । तथा ‘प्रत्यङ्गमस्यामभिकेन रक्षाः कर्तुं मघोनेव निजाल्त्रमस्ति’ इति नैषधे । अनुरागिणा अभ्रपान्थेन भानुन-
साकं सदा प्रतिदिनं संगमः सयोगः कारयामासिवान् निर्मापयति स्म । प्रियमित्रोऽपि कयाचिदनुरागिण्या पद्मिन्या कामिन्या समः स्वमित्रः संगमयति । किंभूताः । अम्बर-
माकाशमालिङ्गन्ति सस्पृशन्तीत्येवशीलानां शृङ्गाणां शिखराणामावली श्रेणी तस्या-
ये पल्वला अखातसरासि तेषु उपाश्रयः स्थानं यासाम् । ‘केलती मदनयोरुपाश्रये’
इति नैषधे । उपाश्रयः स्थानं सावूनामपि प्रसिद्धम् । अत्युच्चैस्तरशिखरसरसिरुहिणीनां
रविणा सयोगः सुकर एवेति । पद्मिनीनामपि चन्द्रशालासगतानाम् । ‘चन्द्रशाला
शिरोगृहम्’ इति हैम्याम् ॥

सिन्धुशैलोद्भवद्वौरवैर्दुर्वहा विभ्रतो भूतधात्री फणामण्डलैः ।

भोगिना वासवस्येव विश्रान्तये निर्मितो नाभिजातेन यः क्षमाधरः ॥ ६३ ॥

यः अर्बुदाचलः । उत्प्रेक्ष्यते—भोगिना भुजगमाना वामवस्य पुरदरस्य शेषनागना-
थस्य विश्रान्तये विश्रामं दातुं नाभिजातेन प्रजापतिना ब्रह्मणा निमित्तं कृतं इव ।
किंभूतस्य वासवस्य । सिन्धवः सर्वेऽपि समुद्राः, शैलाः मेरुहिमाद्रिकैलासाद्याः समस्ता
अपि पर्वताः, तेभ्यः उद्भवद्भिर्रुपयमानैर्गौरवैर्भौरैर्गुरुतरभरैर्दुर्वहाः दुःखेन वोढुं श-
क्याम् । दुःखेन परानपेक्षत्वेन एकेन स्वयमेवासातेनोद्ध्यते इति दुर्वहा तादृशी भूत-

वात्री भूताना चराचराणा गिरिसमुद्रादिमनुष्यपर्यन्ताना धरणशीला समग्रमध्यमलोक
फणाना स्वगिरि.स्फटाना मण्डलैश्चक्रवालै कृत्वा बिभ्रतो धारयतः ॥

कण्ठपीठीलुठत्पार्वणश्चेतरुत्तारकानायकोदात्तमुक्तालता ।

व्योम निर्भिद्य यातेन येनोच्चकैर्धार्यते भूभृतेवात्मभूषाकृते ॥ ६४ ॥

येन भूभृता अर्बुदाचलेन आत्मन स्वशरीरस्य भूषाकृते शोभाविवानाय कण्ठपीठ्या
ग्रीवायाम् । यथा नैपथे—‘दधदम्बुदनीलकण्ठताम्’ राजमन्दिरवर्णने । कण्ठशब्देन
कन्धरा । एतावता अवित्यका । पीठशब्द स्त्रीक्लीबलिङ्ग । ‘जयत्युदरनि सरद्वरसरो-
जपीठीपठच्चतुर्मुखमुखावलीरचितसामनामस्तुति’ इति चम्पूकथायाम् । तथा ‘वशिक-
वक्रोष्ठिककन्यकुब्जपीठानितक्तमवहित्यम्’ इति लिङ्गानुशासनेऽपि । लुठन्त इतस्ततो
भवन्तो ये पार्वणा पूर्णिमासबन्वी श्वेतरुक् चन्द्रमा तथा तारकास्तारा उपलक्षणात्
ग्रहनक्षत्राणि तेषा नायको मयमणिस्तेन युक्ता उदात्ता उदारा महाध्या वा । ‘उदात्त-
नायकोपेता’ इति चम्पूकथायाम् । ‘उदात्तो महात्मा महाध्याश्च’ इति तट्टिपनके ।
मुक्तालता मौक्तिकहारो व्रियते किमु । भूभृता किभूतेन । व्योम गगन निर्भिद्य अत्यु-
च्चैस्तरत्वाद्वित्वा विदारयित्वा उच्चकैरूर्ध्व यातेन सप्रामेनेत्यत एव कधराया ज्योतिश्च-
क्रमायातम् ॥

अभ्रविभ्राजियन्मेदिनीभृद्गुत्रातनिष्पातिपाथःप्रवाहोत्थितैः ।

उत्पतद्भिः पतद्भिर्नभःपद्गतौ बिन्दुवृन्दैरिवाभावि ताराभरैः ॥ ६५ ॥

उत्पतद्भिर्महत्प्रस्तरोपरि निपतनादुच्चैरुच्छलद्भि । अत एव कारणान्नभःपद्गतौ
गगनमार्गे पतद्भिर्गत्वा तिष्ठद्भिर्बिन्दुवृन्दैर्जलकणनिकरैः । उत्प्रेक्ष्यते—ताराभरैः तारक-
निकरैरभावि भूतमिव । शुचिजलकणा एवाकाशे तारा बभूवुः । किभूतैर्बिन्दुवृन्दैः ।
अभ्रे नगनाङ्गणे विभ्राजिना शोभनशीलानाम् । नभसगतानामित्यर्थः । यन्मेदिनीभृद्गूना
यस्यार्बुदाचलस्य ऋक्षाणा भैरवज्ञम्पारूपाणा वा तटाना व्रातेभ्यः समूहेभ्यो निष्पातिभ्यो
निष्पतनशीलेभ्यः अधोनिर्गमनशीलेभ्यः पाथसा निर्झरनीराणा प्रवाहेभ्यो वाराभ्यः
उत्थितैरुद्गतैः प्रादुर्भूतैः ॥

मित्रपुत्र्या सह स्थातुमप्यम्बरे तामुपादाय भूमेः पुनः स्वःसरित् ।

यद्दिरेर्वर्त्मना शालितालीमिलत्कुन्दमालाच्छलाद्गच्छतीवाम्बरम् ॥ ६६ ॥

शालिनीभिः शोभनशीलाभिः तालीभिः राजतालीनामभिस्तरुविशेषैः । देशैकग्रहणेन
देशिनो ग्रहणम् । यथा भामाग्रहणेन मल्यतामेति । तैः सम मिलन्त्यः सङ्गः कुर्वन्त्यः
एकत्रोद्गताया कुन्दाना विकसितकुसुमकदम्बकवलक्षीकृतमुचकुन्दपादपाना मालाया
श्रेण्याश्छलात्कपटात्स्वःसरिन्मन्दाकिनी यद्दिरेर्यस्यार्बुदशैलस्य वर्त्मना मार्गेण भूमे
सकाशान्नभस्तलाद्भूमीमुत्तीर्य पुनस्तत्र गमनेन द्वितीयवारमम्बरमाकाशं गच्छतीव या-
तीव । किं कृत्वा । मित्रस्य सख्युर्भानोर्वा पुत्र्या यमुनया सह अम्बरेऽपि गगनाङ्ग-

णेऽपि स्थातुमेकत्र स्थितिं विवातु यथा एकया मूर्त्या प्रयागे यमुनया सह तिष्ठामि
तथा अपरयापि मूर्त्या आकाशेऽपि यमुनया सहाह वसामीति विचिन्त्य मित्रपुत्री
कालिन्दीनाम्नीं सह सार्धमुपादाय गृहीत्वा ॥

रोहिणीरागिभावान्निजत्यागिनं कान्तमेणाङ्कमुत्सृज्य कोपाकुला ।

औषधीसंततिर्निर्मिमीतेऽनिशं तापसीवत्तपासीव यस्मिन्निरौ ॥ ६७ ॥

औषधीना विधुवधूनाम् । चन्द्रस्य तत्पतित्वात् । ‘रोहिणीद्विजनिशोषधीपति’ इति
हेमचन्द्रवचनात् । सतति श्रेणिर्यस्मिन् गिरौ अर्बुदपर्वते । उत्प्रेक्ष्यते—तापसीव परि-
व्राजिकाराजीव अनिश निरन्तर तपासि शीतोष्णतापनिरशनादिकष्टानि निमिमीते
करोतीव । किभूता । कोपाकुला रोषोद्रेककलुषीकृताशया । कि कृत्वा । रोहिण्या दक्षा-
ङ्गजाया रोहिणीनाम्न्यां स्वसपत्न्या पत्न्यां विषये रागिभावादत्यन्तानुरक्ताशयन्वान्निज-
स्यात्मनस्त्यागिन त्यजनशीलमेणाङ्क चन्द्रमस कान्त स्वभर्तारमुत्सृज्य त्यक्त्वा ॥

भासते शातकुम्भाश्मगर्भोपलश्रेणिसंकृतशृङ्गद्वयं कुत्रचित् ।

यस्य विश्वातिशायिश्रियं वीक्षितुं मेरुविन्ध्याविवाल्पीभवन्तौ स्थितौ ॥ ६८ ॥

कुत्रचित्प्रदेशे शातकुम्भाना काञ्चनाना तथा अश्मगर्भोपलाना मरकतरत्नाना च श्रे-
णिभि सम्यक्प्रकारेण कृत रचित देवादिना कौतुकाद्विनिर्मित शृङ्गद्वय शिखरद्वन्द्व
भासते दीप्यते । उत्प्रेक्ष्यते—यस्य हिमाद्रिनन्दनगिरे विश्वेभ्य समस्तपर्वतेभ्योऽपि
विश्वेभ्यो जगद्भ्यो वा अतिशायिनीमत्यभ्यविका श्रिय गोभा लक्ष्मी वा वीक्षितु
स्वदृग्गोचरीकर्तुं स्थितावागत्य वसन्तौ तथा अल्पीभवन्तौ वपुषा लघूभवन्तौ स्वश-
रीरे स्वल्पे प्रणीय मेरुविन्ध्यौ स्वर्णाचलजलबालकशैलाविव । ‘विन्ध्यस्तु जलबालकः’
इति हैम्याम् ॥

विभ्रतो वाहिनीर्यस्य वार्धिप्लवाप्लाविनी. श्रीपराभूतभूमीभृतः ।

तिष्ठतः क्षोणिमाक्रम्य पूषार्चिषा वेदगर्भः करोतीव नीराजनाम् ॥ ६९ ॥

वेदगर्भो ब्रह्मा यस्यार्बुदभूमीभृत पूषा भास्वास्तस्यार्चिज्योतिरयं च पूष्णोर्भानोस्तुल्यो
जाज्वल्यमानत्वाद्बु सहोऽर्चिर्निर्धूमधूमध्वजस्तेन नीराजनामारान्तिका करोतीवेत्युत्प्रे-
क्ष्यते—अन्यस्यापि राज्ञ आरात्रिकोत्तारण क्रियते । यथा कस्यापि भूभृतो वेदगर्भो
ब्राह्मण अर्थात्पुरोवा । वेदगर्भ इति साभिप्राय नाम तेन वेदमन्त्रोच्चारपूर्वक दीप्रव-
ह्निना नीराजना निर्मिमीते । यस्य कि कुर्वत । क्षोणि भूमीमण्डलमाक्रम्याविष्टाय
सर्वात्मनाभिव्याप्य तिष्ठत वसत स्थितिं कुर्वत । पुन किभूतस्य । वाधीना चतु स-
मुद्राणा प्लवान् वारिपूरानाप्लावयन्त्यतिक्रामन्ति आक्रामन्ति चेत्येवशीला वाहिनीर्नदी
सेनाश्च विभ्रत । किभूतस्य । श्रिया आत्मीयया शोभया चतुरङ्गचक्रादिवैभवं कृत्वा
पराभूता विजिता स्वपादपद्ममधुकरीकृता भूमीभृत पर्वता नृपाश्च येन स ॥

यन्नमःसङ्गिशृङ्गाङ्गणालिङ्गिनां किनराणां समं यौवतैर्गायताम् ।

गीतमाकर्ण्य रङ्गुर्मृगाङ्कं तदाक्षिप्तचेता व्रजन्नग्रतोऽखेदयत् ॥ ७० ॥

रङ्गुश्चन्द्रस्याङ्गमृगः अग्रतः अर्बुदाचलशृङ्गाणि सत्यज्य पुरस्ताद्वजन् प्रतिष्ठमानः मृ-
गाङ्कं विबुधमखेदयत् महत्खेदमुत्पादयति स्म । किंभूतो रङ्गुः । तदाक्षिप्तचेता तत्र
किनरकृतगीते आक्षिप्त विलम्बं चेतो मनोवृत्तिर्यस्य स । किं कृत्वा । यस्यार्बुदगिरेर्न-
भसोऽम्बरस्य सङ्गो मिलनं विद्यते येषां तादृशानि शृङ्गाङ्गणानि शिखरोपरितनप्रदेशा-
स्तान्यालिङ्गन्त्याश्लिष्यन्ति आश्रयन्तीत्येवशीलास्तादृग्विधानाम् । तथा यौवतैर्युवतीनां
किनरीणां गणैः समं सार्धं गायता स्वरसेन गानं कुर्वता किनराणां किंपुरुषाणां गीतं
मधुरध्वनिलयमयगेयमाकर्ण्य श्रवणपारणां प्रणीय ॥

यत्र चन्द्रोदयश्च्योतदिन्दूपलप्रस्थसंस्थायुकोन्निद्रकुन्दद्रुमे ।

राजते राशिरिन्दिन्दिराणां सुधासागरे शेषशायीव शक्रानुजः ॥ ७१ ॥

यत्रार्बुदशैले चन्द्रस्य मृगाङ्गयोदयेनाभ्युद्गमेन च्योतन्तः क्षरन्तोऽमृतरसं स्रवन्तो
ये इन्दूपलाश्चन्द्रकान्तमणयस्तेषां प्रस्थं शिखरं तत्र संस्थायुको वसनशील उद्गतत्वा-
त्स्थायी तथा उन्निद्रो विकसितस्मितकुसुमव्रजविशदीकृतो यः कुन्दद्रुमः तत्र इन्दि-
न्दिराणां भ्रमराणां राशिः समूहो राजते शोभते । क इव । इन्द्रावरज इव । यथा
सुधाया उत्पत्तिस्थाने क्षीरसागरे शेषे नागाधिराजशय्यायां शेते स्वपिति इत्येव-
शीलः शेषशायी कृष्णः शोभते ॥

मेरुमुख्याखिलोर्वीधराणामिवोपात्तसारैरसौ वेधसासृज्यत ।

एष निःशेषभूमीभृतां निर्जयं निर्मिमीते न चेद्वैभवैः स्वैः कुत ॥ ७२ ॥

मेरुः स्वर्णाचलो मुख्यः सर्वोच्चैस्तरत्वात् रत्नसानुसुवर्णमयत्वाच्च प्रकृष्ट आदिमो
वा मुखे आदौ भव इति व्युत्पत्त्या प्रथमो येषां तादृशानामखिलानां समग्राणामुर्वीध-
राणां पर्वतानामुपात्तैरुप समीपे आगत्य आत्तैः सम्यगवलोकनपूर्वं सगृहीतैः सारैः
सर्वातिशायिपरमाणुदलैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—असौ अर्बुदाचलो वेधसा जगत्सृजा अ-
सृज्यत सृष्टो विरचित इव । एव चेन्न तर्हि एषोऽर्बुदाद्रिः स्वैरात्मीयैर्वैभवैः शोभाति-
शयैः कृत्वा निर्गतः शेषोऽवशिष्टो येषु ते निःशेषाः समन्तास्तेषां भूमीभृता यावज्जगद्दि-
रीणा निर्जयं नितरां जयं परिभवन् कुत कस्मात्कारणान्निर्मिमीते करोति ॥ इत्यर्बु-
दाचलवर्णनम् ॥

आरुरुक्षुर्मुमुक्षुक्षितीन्द्रस्ततोऽलंकरोति स्म देशं सवेशं गिरेः ।

गौरवेणाधिकोऽहं गिरिर्वास्त्यसौ चेतसीतीव हृल्लेखवान्वीक्षितुम् ॥ ७३ ॥

ततोऽर्बुदाद्रिदर्शनानन्तरमारुरुक्षुरर्बुदपर्वतोपरिभूमीमध्यारोढुमिच्छुः चढितुकामो
मुमुक्षुक्षितीन्द्रः श्रमणधरणीरमणो गिरेर्हिमाद्रिनन्दनसानुमतः सवेशं समीपवर्तिनः

देश भूभागमलकरोति स्म भूषयामास । इत्यमुना प्रकारेण वीक्षितु विलोकयितु चेतमि
स्वमानसे हृत्त्रेखवानुत्कण्ठाकलित इव । इति किम् । गोरवेण माहात्म्येन गुरुतया वा
कृत्वा अहमविको गिरिर्वाभ्यविकोऽस्ति । यद्यपि परप्रशमरममुवाममुद्रमध्यनिमग्नम-
नसा कदाचिदप्याशये लेशमात्रमप्यनुत्सुकता स्यात्, तन्महात्ममार्गेणा तेषा मूरीणा
स्वप्नेऽपि नायमभिप्राय प्रादुर्भवेत् । किन्तु केवल कवेरिय कल्पनामात्रोत्प्रेक्षेति । अय
वा छात्रस्थ्यात्कदाचिदुत्कलिकालेशः सम्भवत्येव गौतमादीनामपि शकादिकृतनाटका-
वलोकने ॥

अर्बुदावित्यकामभ्रविभ्राजिनी सूरिसिंहः समारोढुमारब्धवान् ।

किं व्यवस्यञ्जगन्मूर्धसस्थायिनीमुद्विवक्षुर्महानन्दसीमन्तिनीम् ॥ ७४ ॥

सूरिसिंहः अभ्रे आकाशे विभ्राजते इत्येवशीलाम् । अम्बरचुम्बिनीमित्यर्थः ।
अयं वा अभ्रैर्मैधे कृत्वा शोभनशीलाम् । 'गिरौ तिष्ठन्ति वारिदा' इत्युक्ते । अर्बुदस्य
हिमाद्रिनन्दनशैलस्यावित्यकामूर्ध्वभूमिका समारोढुः सम्यक्प्रकारेण चढितुमारब्धवान्
प्रारम्भते स्म । सिंहस्य तु भूरावित्यकाध्यारोहणं युक्तमेव । उत्प्रेक्ष्यते—जगता
त्रयाणां भुवनानां मूर्ध्नि मस्तके सम्यायिनी जगत्रयोपरि सतिष्ठते निवसनशीला
इत्येवशीला महानन्दो मुक्तिरेव सीमन्तिनी प्रौढकुमारिकासुद्विवक्षुर्द्वोदुमिच्छुः परि-
णेतुकामः सन् व्यवस्यन् व्यवसायमुद्यमं कुर्वाण इव ॥

तद्गुणश्रेणिनिर्वर्णनानन्दितो वातपूर्णभवत्कीचकानां क्रणैः ।

अद्रिरभ्यागतस्येव तस्यान्तिकागामिनः प्रीतिमान्पृच्छति स्वागतम् ७५

प्रीतिः स्नेहः प्रमोदो वा विद्यते यस्य तादृशोऽद्रिरर्बुदाचलः अन्तिके स्वसमीपे
आगच्छति आयातीत्येवशीलस्य तस्य मूरे वातेन वायुना पूर्णभवतामन्तः पूर्यमा-
णानां कीचकानां सच्छिद्रवशानां क्रणैः स्नानैः । 'स कीचकैर्मामन्तपूर्णरन्ध्रे कूजद्विरापा-
ठितवशकृत्यम्' इति रघौ । स्वागतं सुखेनागमनादिवार्तां पृच्छति प्रश्नयतीव । कस्ये-
व । अभ्यागतस्येव । यथा स्वसमीपे समेतस्य प्रियप्राध्वनिकस्य स्नेहकलितः स्वाजन्यान्प्रमो-
दकलितः प्रियत्वात्स्वागतं पृच्छत्यनुयुनक्ति । किंभूतः अद्रिः । तस्य हीरमूरेर्गुणानां श्रेणे-
निर्वर्णनादृशनादानन्दितः प्रहृष्टमानसो जातः ॥

लोलरोलम्बकोलाहलप्रस्तुतस्फीतकीर्तिस्तवामोदमेदस्विनी ।

यत्र सस्यैर्नताङ्गी लताविग्रहावाकिरत्कुञ्जदेवी प्रसूनैः प्रभुम् ॥ ७६ ॥

यत्रार्बुदगिरौ कुञ्जदेवी । जातावेकवचनम् । वनदेवता प्रसूनैः प्रबलपवनप्रमरप्र-
पतत्कुसुमोत्करे कृत्वा तं हीरसूरिमवाकिरत् यवार्पयति स्म । 'अवाकिरन्वयोवृ-
द्धास्तं लाजं पौरयोपित' इति रघौ । किंभूता कुञ्जदेवी । लोला मकरन्दपानकृते च-
पला ये रोलम्बा मधुकरास्तेषां कोलाहलं गुञ्जारूपं कलकलस्तेन प्रस्तुता प्रारब्धा

स्फीता वर्धमाना कीर्तेर्यशसः स्तवाः स्तुतयो यया । पुन किंभूता । आमोदेन पुष्पा-
दिपरिमलेन प्रमोदेन वा मेदखिनी पुष्टा प्रोद्भूतपुलककोरकाकलिता । पुन किंभूता ।
सस्यै स्वफलभारेण नताङ्गी नम्रीभवत्तनुयष्टी । पुन किंभूता । लता कुसुमितफलितवल्ली
एव विग्रहः शरीर यस्या मा ॥

यत्र कल्लोलयन्त्रैककल्लोलिनीर्मन्दमान्दोलयन्सेरदुर्वीरुहान् ।

स्वर्णदीपद्मपौष्पैः करम्बीकृतो गन्धवाहोऽनुगामीव तं भेजिवान् ॥७७॥

गन्धवाहः । गन्ध कुसुमादीना मृगमदादीना वा सौरभ्य वहते धारयतीति गन्ध-
वाहो वायु पुरुषविशेषण वा । यत्र पर्वतेऽनुगामीव सेवक इव त हीरसूरि भेजिवान्
सेवते स्म । वायुश्च त्रिधा वर्ण्यते—शीतो, मन्द, सुरभिश्च । तदेव त्रैविध्य दर्शयति ।
किं कुर्वन् गन्धवाह । नैका अनेकस्थानस्थायिनी कल्लोलिनीस्तरङ्गिणी कल्लोलयन्
स्वरहःप्राबल्येन कल्लोलमालाकलिता कुर्वन् । एतेन शीतल । पुन किंभूत । मन्द
शनैः सेरतो विजृम्भमाणान् । कुसुमितानित्यर्थः । उर्वीरुहान् विविधवृक्षान् आन्दोलयन्
तरलीकुर्वाण । एतेन मन्द । घनगहनानोकहास्फालनेन मन्दीभूत इत्यर्थः । पुन कि-
भूत । स्वर्णद्या पर्वतस्याभ्रकषत्वेनात्युच्चैस्तरत्वाद्गगनगङ्गायाः पद्माना कमलाना पौष्पै
रजोभिः करम्बीकृतो व्याप्त । एतेन सुरभिः ॥

कुत्रचित्तोरणस्रग्विलासश्रिय बिभ्रति व्योमसंचारिणः सारसाः ।

सिद्धिपुर्या यियासोः पुरस्तात्प्रभोर्विश्वकर्त्रेव मङ्गल्यमाला कृता ॥७८॥

कुत्रचित्कास्मिन्नुदशैलप्रदेशे व्योम्नि आकाशे सचरन्त्युड्डीयमाना गच्छन्तीत्येव-
शीला गगनगामिन सारसा पक्षिविशेषा प्रसिद्धा पक्षिणस्तोरणस्रज तोरणमालाया
विलासश्रिय लीलालक्ष्मी बिभ्रति धारयन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—सिद्धिपुर्या निर्वृतिनगर्या
यियासोर्गन्तुमिच्छो प्रभोर्हीरसूरीन्द्रस्य पुरस्तादग्रत विश्वकर्त्रा सर्ववस्तुविधायिना
विधिना कृता विहिता मङ्गल्यमाला वन्दनमालिकेव । जगत्कर्त्रा वा रचितेति शेषः ॥

कापि झाङ्कारिणो निर्झरान्तःप्लवाः प्लावयन्ति स्म तत्पर्वतोपत्यकाम् ।

सिद्धसिन्धुर्नभस्तो निरालम्बना निष्पतन्तीह क्लृप्तावलम्बा किमु ॥७९॥

कापि कुत्रचित्स्थाने झाङ्कार इति शब्दोऽस्त्येष्विति झाङ्कारिणः । निर्झराणा ध्वनेर्झा-
ङ्कार इति सज्ञा । यदुक्त पाण्डवचरित्रे—‘झरनिर्झरझाङ्कारी’ इति । सशब्दा निर्झ-
राणामम्भ प्लवा पय प्रवाहास्तत्पर्वतोपत्यकामर्बुदाचलशिखराधोभूमिका शिखरापेक्ष-
योपत्यका प्लावयन्ति स्म निर्भर भरन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—निरालम्बना निर्गतावारा
अत एव नभस्तो गगनाङ्गणादालम्बनराहित्यान्निष्पतन्ती अवोभ्रश्यन्ती सती । पुनरि-
हार्बुदाचले क्लृप्तो निर्मितोऽवलम्ब आश्रयो यया तादृशी सिद्धसिन्धु किमु गगनगङ्गेव ।
निर्झरपयसामत्यौज्वल्याद्गङ्गोत्प्रेक्षा ॥

पर्वते कुत्रचित्कुर्वतेऽन्तर्मदमेदुरा कुञ्जरा गर्जविस्फूर्जितम् ।

यज्जितेनेव विन्ध्याद्रिणा प्राभृत प्रापिताः शक्रनागानुवादा इमे ॥८०॥

पर्वते गोरीगुरुसुतेऽचले कुत्रचित् गङ्गरादिप्रदेशे अन्तर्मद्ये मट उन्मादो दानप्रवाहो वा तेन मेदुरा स्वेच्छाचारित्वात्पुष्टाङ्गा कुञ्जरा पष्टिहायना यूथनाथा गजा । यदुक्त-
मुत्तराध्ययने—‘कुञ्जरे सद्विहायने’ इति । गर्जविस्फूर्जित गर्जारवस्फूर्ति कुर्वते ।
सजलजलदवद्गर्जन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—यज्जितेन अर्बुदपर्वतपराभूतेन विन्ध्याद्रिणा
जलवालकशैलेन शक्रनागमिन्द्रगजमेरावणमनुवदन्त्यनुकुर्वन्ति ऐरावणोपमानाः । अथ
वा हरिकरिणमनु पश्चाद्गच्छन्ति वयं पूर्वं शोभातिशयादिभिः प्रथमतो गणनीया ऐराव-
तस्तु अस्मत्पश्चाद्गणनीय इति कथयन्ति वा । हस्तिमल्लप्रतिमल्ला इत्यर्थः । इति शक्र-
नागानुवादा इमे प्रत्यक्षलक्ष्या गजा हस्तिनः प्राभृतमुपदा प्रापिताः ढाकिता इव ॥

आशुगालोलसालाङ्गहारो भ्रमद्भृङ्गवाग्गीतिवेल्ललताहस्तकः ।

सूरिपादाम्बुजस्पर्शमासाद्य यो नृत्यतीव प्रमोदं दधद्भूधरः ॥ ८१ ॥

सूरेर्वाचयमचक्रवर्तिनः पादाम्बुजयोश्चरणकमलयो स्पर्शमनुपद्ममासाद्य सप्राप्य
प्रमोदं मनस्यानन्दं दद्वहन् यो भूधरोऽर्बुदाचलो नृत्यतीव नृत्यं करोतीव । नृत्यलक्ष-
णानि दर्शयति । किंभूतः । आशुगैः शीघ्रगामिभिरतिवेगवत्तरैः पवनैः कृत्वा आसाम-
स्त्येन शाखाप्रशाखादिभिः सार्वं लोलाश्चपलाः सजायमाना ये साला नानाजातीयतरवः
त एव तैः कृत्वा वा अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपो नाटकाभिनयदर्शनं यस्य । पुनः किंभूतः ।
भ्रमन्तो विविधविकसितकुसुममकरन्दपानार्थमितस्ततः पर्यटन्तो ये भृङ्गास्तेषां वाग्वा-
ग्वेव गीतिर्गानं यस्य । ‘वाण्या भृङ्गी पिकीरवा’ इति काव्यकल्पलतायाम् । तथा
वेल्लन्त्यो मरुत्तरला भवन्त्यो या लता वल्लयस्ता एव हस्तका विविधहस्तचेष्टनानि यस्य ॥

यः परान्कौतुकैः काममुत्कण्ठयन्नास्य जह्ने मनश्चित्रमत्रास्ति किम् ।

स्मेरयन्नप्यशेषं कुमुत्काननं पद्ममुद्बोधयेत्पार्वणेन्दुः किमु ॥ ८२ ॥

योऽर्बुदाचलः परान्परजनान् कौतुकैरात्मीयालोकनीयानेककोतूहलैः कृत्वा कामम-
तिशयेन उत्कण्ठयन्नुत्सुकभावः प्रापयन् सन्नपि अस्य हीरसूरेर्मनो मानसं न जह्ने न
हृतवान् न खवशीचक्रे । अत्रेह स्थाने किं चित्रं किमाश्चर्यम् । तदेव दृश्यति—
अशेषं समस्तं कुमुदा कैरवाणां काननम् । वृन्दमित्यर्थः । स्मेरयन्विकाशयन्नपि पार्वणेन्दुः
पूर्णिमासबन्धी चन्द्रमा पद्मं सूर्योदयविकसनशीलं कमलं किमुद्बोधयेद्विनिर्द्रीकुर्यात्
विकाशयेत् अपि तु न ॥ इत्यर्बुदाचलकौतुकानि ॥

मन्दमन्दं चलन्नर्बुदोर्वीधराधित्यकामध्यरोहद्यतीना पति ।

शंभुसौधैः पवित्रीकृतोर्वीतला रूप्यशैलस्य चूलामिवेच्छावसुः ॥ ८३ ॥

यतीनां श्रमणानां पतिः स्वामी हीरसूरिर्मन्दमन्दं शनैः शनैः । ‘गगनमवजगाहे मन्द-

मन्द मृगाङ्ग ' इति चम्पूकथायाम् । चलन्सचरन्नर्बुदोवावरस्यावित्यकामूर्ध्वभूमिकाम-
ध्यरोहदारुढवान् सप्राप्त । क इव । इच्छावसुरिव । यथा वनद कैलाशशैलस्य चूला-
मविरोहति । किभूतामवित्यका चूला च । शभूना वृषभादिचतुर्विंशतितीर्थकृता
सौधै यद्यपि भरतकारित सिंहनिषद्यानामा एक एव प्रासाद । तथापि सुरविद्याव-
रराजभिरन्येऽपि तत्पार्श्वे प्रासादा कारिता सभाव्यन्ते शत्रुजयरैवताचलादिवत् ।
अथ यद्येक एव तदा सर्वोत्तमत्वात्पूज्यत्वाद्वा बहुवचनम् । पक्षे शमोरीश्वरस्य सौधै-
पत्नीपुत्रप्रमथादिगणाना परिजनपरिवाराणा मन्दिरै कृत्वा पवित्रीकृत पावन निर्मित-
सुर्वीतल भूमीपीठ यस्या सा ॥

पुण्यभाजा हृदाकृष्टिमन्त्रानिव श्रीमदर्हद्गृहानिर्जितस्वर्गृहान् ।

अर्बुदश्रीवतंसायमानान्प्रभुर्नेत्रपत्रैरसौ प्रीतचेताः पपौ ॥ ८४ ॥

असौ प्रभुहीरसूरि श्रीमत शोभाशालिन अर्हद्गृहान् जिनप्रासादान् । अथ वा
श्रीस्त्रिभुवनाविपत्यलक्ष्मीर्विचते येषाम् तादृशानामर्हता तीर्थकृता गृहान् विहारान्
नेत्रपत्रैर्लोचनदलै नयनपुटकैर्वा पपौ सादरमवलोकयति स्म । किभूत । प्रीत मोद प्राप्त
चेतो मनो यस्य । किभूतान् श्रीमदर्हद्गृहान् । निर्जितानि निजजगज्जैत्रवैभवैरभिभूतानि
स्वर्गृहाणि वैजयन्तादिस्वर्गगेहानि विमानानि वा यै । पुन किभूतान् । अर्बुदस्य हिमा-
द्रिनन्दनगिरे श्रिया लक्ष्म्या अवतसायमानान् शिर शेखरवदाचरत । उत्प्रेक्ष्यते—
पुण्यभाजा सुकृतिना साधूना हृदा मानसानामाकृष्टेराकर्षणस्य मन्त्रानिव ॥

यत्र विश्वत्रयीश्रीनिवासा जिनाधीशसौधाः स्वशृङ्गाग्रदण्डोपधेः ।

स्वर्गृहानूर्ध्वमुत्तम्य पाणीन्निजान्भर्त्सयन्तीव भूषाभिरुत्सेकिनः ॥ ८५ ॥

यत्रार्बुदाचले जिनाना सामान्यकेवलिनामवीशास्तीर्थनाथास्तेषा सौधा मन्दिराणि
प्रासादा । सौधशब्द पुनपुसके । 'गुददोहदकुमुदच्छदकन्दार्बुदसौवमेवोत्सेवकबन्वौ'
इति लिङ्गानुशासने । स्वेषामात्मना शृङ्गाणा शिखराणामग्रे उपरिभागे निबद्धाना द-
ण्डाना ध्वजालम्बनबन्वनयष्टीनामुपवे कपटान्निजानात्मीयान् पाणीन् उत्तम्य ऊ-
र्ध्वोक्त्य । उत्प्रेक्ष्यते—स्वर्गृहान्देवलोकसबन्विसौवान् वैजयन्तादिकान् प्रासादान्
भूषाभि स्वकीयशोभाभि कृत्वा निर्भर्त्सयन्ति तिरस्कुर्वन्तीव । किभूता जिनावीश-
सौधा । विश्वत्रय्यास्त्रिलोक्या श्रीणा लक्ष्मीणा निवासा वासवेश्मानि । पुन किभूता ।
भूषाभि स्ववपुर्वैभवै उत्सेकिनो गर्वावेशवशवदा मदोद्धरा । 'उपदा विविशुस्तस्य नो-
त्सेका कोशलेश्वरम्' इति रघो ॥

निक्कणत्तिकिणीमरुतान्दोलिता यत्पताका विलोक्येन्दुकुन्दोज्ज्वला ।

किं वहत्युर्मिनिर्घोषहंकारिणी स्पर्धया सिद्धसिन्धुर्नभःपद्धतौ ॥ ८६ ॥

उमीणा महत्कल्लोलाना निर्घोषै शब्दै कोलाहलै कृत्वा एता कियन्मात्रावत्पुर
अहमेवास्मि नापरा कापि क्वापि इति स्पर्धामादधती सती हुकरोतीत्येवशीला अथ

वा एता पताका कि मा जयिष्यन्तीति गर्वात् हुकरोतीत्येवशीत्या सिद्धमिन्दुः स्व-
र्गज्ञा नभ पद्धतौ गगनमार्गे स्पर्शया सहपेण वहति प्रसरति । 'द्योत सारस्वत वहन्'
इति चम्पूकथायाम् । 'वहत्प्रवर्तमान प्रसरच्च' इति तद्विष्पनके । कि कृत्वा । निक-
णन्त्य शब्दायमाना किकिण्यः क्षुद्रघण्टिका बुर्बुरिका यामु । तथा मारुतं पवने-
आन्दोलितास्तरलीकृता । तथा इन्दुश्चन्द्र कुन्दानि मुचकुन्दकुमुमानि तद्रुज्ज्वला
धवला येषा चैत्याना पताका वेजयन्तीर्विलोक्य दृष्ट्वा ॥ इत्यर्बुदाचलसर्वप्रासादवर्णनम् ॥

अथ पृथक्पृथक्प्रामादवर्णनम्—

वैमलीयवसति व्रतीशिता दुग्धसिन्धुवयसीमिवैक्षत ।

श्वेतदन्तितुरगान्विता सुधाशालिनी जिनपवित्रितान्तराम् ॥ ८७ ॥

व्रतीशिता मुनिनायक सूरि विमलस्येय वैमलीया सा चामा वसतिश्च विमलमन्त्रि-
निर्मापितादिदेवप्रासादमैक्षत पश्यति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—दुग्धसिन्धोः क्षीरसमुद्रस्य
वयसी सखीमिव । क्षीरसमुद्रसाम्य दर्शयति । किभूता वसति वयसी च । श्वेता व-
वला आरासोपलमयत्वात् तथा दन्तिनो गजा विमलमूर्तिपृष्ठवर्तिन तथा तुरगो विम-
लसविवाध्यासितोऽश्वः । अन्ये वा पक्षे श्वेतदन्ती ऐरावण श्वेततुरग उच्चैश्रवा ।
यदुक्तम्—'पयोनिलानाभ्रमुकामुकावली,' तथा 'सहस्रमुच्चैश्रवमा वहन्निव' इति ।
एतद्वयमपि नैषधे । एतेन क्षीरार्णवे ऐरावणोच्चैश्रवमा बाहुल्य प्रतिपादितम् ।
ततोऽत्राप्यैरावतोच्चैश्रवसश्चेत्युक्ते न कोऽपि दोषः । तैरन्विता कलिताम् । पुन कि-
भूताम् । सुवया पक्वचूर्णकलेपेन अमृतेन च शालते गोभते इत्येवशीलाम् । पुन
किभूताम् । जिनैर्विविधप्रतिमारूपतीर्थकृद्भिः अथ वा जिनेन मूलनायकभूतेन ऋषभ-
देवेन कृष्णेन तस्य समुद्रशायित्वेन पवित्रित पावनीकृतम् । अथ वा पवि वज्र त्रायते
पाणौ लालयति रक्षतीति पवित्र शक्र तीर्थे कदाचिद्वन्दनागत , अथ च कदाचिदनुज-
मिलनागत पुरदर विष्णुशक्रौ सजातौ सम्यक् प्रादुर्भूतौ अस्मिन् तादृशमन्तर
मध्य यस्या ॥

कुक्षिसात्कृतमवेक्ष्य सिंहिकासूनुना स्वपतिशीतदीधितिम् ।

चैत्यकैतववतीव कौमुदी तद्भयादिह समेत्य तस्थुषी ॥ ८८ ॥

चैत्य विमलवसतिरेव कतव कपट विद्यते यस्या सा चैत्यकैतववती कामुदी चन्द्र-
ज्योत्स्ना तस्य स्वभर्तृराहोर्भयादिहार्वुदगिरौ समेत्यागत्य तस्थुषी स्थितवतीव । कि
कृत्वा । स्वस्यात्मन पति शीतदीधिति चन्द्रमस सिंहिकासूनुना केसरिणा स्वर्मानुना
वा कुक्षिसात्कृत भक्षित गिलित वा अवेक्ष्य दृष्ट्वा ॥

चैत्यमूर्धविधुकान्तनिष्पतत्पाथसि प्रतिमितेनिभाद्विधुः ।

लक्ष्मपङ्कमपनेतुमात्मनः स्नाति दुग्धजलधेर्धिया किमु ॥ ८९ ॥

विधुश्चन्द्रमा दुग्धजलधे क्षीरसमुद्रस्य धिया बुद्ध्या । भ्रमेणेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—

आत्मन स्वस्य मण्डलहृदयवातिन लक्ष्म लाञ्छनमेव पङ्क्तु कदर्भमपनेतु क्षालयितु किमु
क्षाति स्नान करोतीव । कस्मात् । चैत्यस्य विमलवसतेर्मूर्धनि शिखरोपरितनभागे सदृब्धेभ्यः
सकल्पितेभ्यो विबुक्तान्तेभ्यश्चन्द्रकान्तरत्नेभ्यो निष्पतति चन्द्रकिरणसंपर्काद्विनि सरति
पाथसि पयःपूरे प्रतिमितेः प्रतिबिम्बस्य निभाद्याजात् ॥

यन्मणीमयशिखासु बिम्बितं बिम्बमम्बरमणिर्वहन्व्यभात् ।

ईयिवानयमियत्तया श्रियः कौतुकादनुमिमीषयास्य किम् ॥ ९० ॥

यस्या विमलवसतेर्मणीमयशिखासु रत्नराशिरचितशिखरेषु बिम्बित प्रतिबिम्बमत्य-
च्छतया सक्रान्त बिम्ब स्वमण्डल वहन्नम्बरमणिर्गगनरत्न भास्करो व्यभाद्भासते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—कौतुकात्कुतूहलादस्य मूलप्रासादस्य श्रियो लक्ष्म्या इयत्तया एतावत्प्रमाणत्वे-
नानुमिमीषया अनुमातु प्रमाणीकर्तुमिच्छया अथ भास्वानीयिवान्कि चैत्ये समेत इव ॥

इह जिनालयवज्रविनिर्मिताम्बरविलम्बिशिखाग्रनिघर्षणात् ।

उरसि रन्ध्रमजायत यामिनीप्रणयिनः कपटादिव लक्ष्मणः ॥ ९१ ॥

यामिनीप्रणयिनो निशाप्राणनाथस्योरसि वक्ष स्थले । उत्प्रेक्ष्यते—लक्ष्मणो लाञ्छनस्य
कपटाद्रन्ध्र छिद्रमजायत जातमिव । कस्मात् । इहार्बुदपर्वते जिनालयस्य भगवद्गृहस्य
वज्ररत्नैर्हीरकमणिभिर्निर्मिताया रचितायास्तथा अम्बरमाकाशमालम्बते आश्रयते इत्ये-
वशीलाया शिखाया शिखरस्य अग्रे उपरितनभागेऽतिघर्षणात् नितरा घृष्टे ॥

अभितः सितयद्वसतेर्विशदः शुशुभे लघुदेवगृहप्रकरः ।

उडुयौवतमेतदिहोपगतं शशिना सह रन्तुमिवाम्बरतः ॥ ९२ ॥

सिताया श्वेतोपलमयत्वादुज्ज्वलाया अथ वा सुधाधवलितत्वेन विशदाया यद्वसते-
र्मूलप्रासादस्य अभितश्चतुर्ध्वपि दिक्षु पार्श्वेषु वा विशद आरासोपलमयत्वादत्यवदातः
लघुर्मूलप्रासादापेक्षया स्वल्पप्रमाणोच्चैस्तर देवगृहाणा देवकुलिकाना प्रकर समूह
शुशुभे भासते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—शशिना स्वभर्त्रा विबुना सह रन्तु विविवविलास वि-
वातुमम्बरत आकाशादिह रसिकदम्पतीना क्रीडोचिते अर्बुदाचले उपगत आयातमुडव-
स्तारा एव यौवत चन्द्रनितम्बिनीनिवह इव ॥

निर्ग्रन्थपृथिवीनाथश्चैत्यं विमलमन्त्रिणः ।

वैजयन्तमिव प्रीत्या प्राविशन्निदशेश्वरः ॥ ९३ ॥

निर्ग्रन्थनामनराणा पृथिवीनाथो राजा सूरिन्द्र प्रीत्या प्रमोदेन विमलनाम्नो मन्त्रिण
सचिवस्य चैत्य प्रासाद प्राविशत् विमलवसतिमध्ये प्रविशति स्म । क इव । त्रिदशा-
नामीश्वरो नायक शक्र यथा वैजयन्त वैजयन्तीनाम्नी पताका अस्त्यस्मिन्निति वैज-
यन्त त प्रासाद प्रविशति ॥ इति विमलवसतिवर्णनम् ॥

वप्ताब्धिर्मथितोऽनवाप्तपदवत्कुत्रापि बन्धुर्विधुः

शून्ये व्योमनि बम्भ्रमीति विपिनेऽप्यन्यः स्थितः स्वप्नरुः ।

क्षिप्तैका तु जनार्दनेन सद्ने पुंसा पुराणेन मे

जामिः श्रीरपरा सुधापि च सुरैः पानेन निष्ठाप्यते ॥ ९४ ॥

दुःखं कामगवी परा चरति च प्रोत्तानयानाम्बरे

धत्ते कौशिकपत्यगोत्रदमनो मन्मूर्ध्नि पादं पुनः ।

इत्याद्यर्तिमधीश भिन्धि किमिदं वक्तुं जिन सप्रजः

स्वर्दन्तीव समागतो गजगणस्तेनालुलोके पुरः ॥ ९५ ॥ (युग्मम्)

तेन हीरसूरिणा पुरोऽग्रे विमलवसतिप्रदेशे प्रथममेव गजाना श्वेतोपलनिर्मिताना हस्तिना गणो ब्रज आलुलोके दृष्टः । उत्प्रेक्ष्यते—जिन वृषभतीर्थकर विश्वस्यादिमृष्टि-
करमथ वा जगत्पालकत्वेन जिन ब्रह्मरूपेण विश्वं सृजति नारायणरूपेण पालयति ईश्व-
ररूपेण च सहरतीति । ‘एकमूर्तिस्त्रयो देवा’ इति परसमये । इदं वक्ष्यमाणं वक्तुं कथ-
यितुं सप्रजः ससत्तानः । ‘तोकापत्यप्रसूतयः । तुक्प्रजा’ इति हैम्याम् । स्वर्दन्ती किमै-
रावण इव समागत इह सप्राप्तः । इदं किम् । हे अधीश हे जगत्प्रभो, त्वं मे मम
इति पूर्वोक्तप्रकारा काव्यस्यादौ वर्तमाना आदौ यस्यास्तादृशीमर्तिमानसीं चिन्तामर्त्यु-
द्धृता पीडा शारीरिकी व्यथा वा भिन्धि निवारय मूलादुन्मूलय । इति किं तानेव
प्रकारान्प्रदर्शयति—मे मम वप्ता पिता अब्धि क्षीरसमुद्रः अर्थादेव लभ्यते । चतुर्द-
शानामपि रत्नानां क्षीरनीरनिर्वायः समुत्पन्नत्वेन तज्जनक एव गीयते । स मथितो हरिणा
सुराभ्यर्थितसुधारसकृते भुजगराज नेत्रीकृत्य मन्दरगिरि च मन्यानक विवाय विलो-
डितः । बन्धुः पुनर्मम सहोदरो विबुधश्चन्द्रमाः कुत्रापि नगरग्रामादिस्थाने अनवाप्तमलब्ध
पदवासस्थानं येन तद्वत् शून्ये निर्मानुषे व्योमनि आकाशभागे बम्भ्रमीति अतिशयेन
पर्यटति । अपि पुनरन्यो बन्धुः स्वप्नरुः कल्पद्रुमः कुत्रापि जनसङ्गते पुरादौ प्रदेशे
अप्राप्तावस्थितिरिव विपिने कानने स्थितो गत्वा उषितः । तु पुनरेका मे जामिर्भगिनी
श्रीलक्ष्मीर्जनार्दनेन लोकपीडाकारकेण पुराणेन जीणेन वृद्धेन पुसा पुरुषेण । कृष्णेने-
त्यर्थः । सद्ने स्वमन्दिरे क्षिप्ता रक्षिता । अपि च पुनरपरान्या द्वितीया स्वसा सुवा
पीयूषरूपा सुरैर्देवैः पानैवातिभिः कृत्वा निष्ठाप्यते क्षयनीयते । च पुनरितरा तृतीया
मम भगिनी कामगवी सुरसुरभी दुःखमहाकष्टप्रोत्तानमूर्ध्वपादा अवो वपुरिति व्यव-
स्थया यानगमनं यस्यास्तादृशी सती अम्बरे आकाशादव्याचरति गोचरं कुरुते
गच्छति वा । ‘चर गतिभक्षणयो’ इति वात्वर्थ्यात् । तथा ‘कस्या नोत्तानगाया दिवि
सुरसुरभेरास्यदेशगतात्रे’ इति नैपथ्ये । पुनर्गोत्राणां वशानां कुलस्य वा जगद्गो-
त्राणां यावत्पर्वतानां च दमनो ध्वंसकृत्पक्षच्छेत्ता च तथा कौशिक उत्कृष्टः शक्रश्च म-

न्मूत्रि मम मस्तके पाद चरण धत्ते । कुत्रापि जनपदे यदा कस्यचित्तिरस्काररूपनिकृष्ट-
वचन प्रोच्यते तदा अरे उल्लूक इति कथ्यते । तच्च लाभपुरसत्कपञ्जालमेवातमण्डलादा-
वधुना प्रसिद्ध वर्तते । तस्मात्स निन्द्य इत्याद्यतिं निवारय ॥ युग्मम् ॥

विमलाभिधधीसखः पुरो ददृशे तेन हयं विभूषयन् ।

किमु सार्थनिनसया शतक्रतुरुच्चैःश्रवसं समीयिवान् ॥ ९६ ॥

तेन मुनीन्द्रेण विमल इत्यभिधा नाम यस्य तादृशो वीर्बुद्धिरेव सखा सहायो मित्र
वा यस्य स धीमखश्चतुर्बुद्धिनिवान प्रवान ददृशे दृग्गोचरीकृत । किं कुर्वन् । हय
श्वेताश्मत्तुरङ्गम विभूषयन् आरोहणेन शोभा लम्भयन् । उत्प्रेक्ष्यते—उच्चैः श्रवोनामान
निजवाजिनमारुह्य सार्थस्यार्बुदाचलाधिष्ठायिवृषभ-वजजिनस्य निनसया नन्तुमिच्छया
समीयिवानागत शतक्रतुरिन्द्र इव ॥

प्रभुतोपगतः प्रभुभक्तिभरैः स्पृहयन्निव सिद्धिपदाय पुनः ।

विमलः सचिवोऽञ्जलिशालिशयद्वितयः स्थितवान्भगवत्पुरतः ॥ ९७ ॥

अञ्जलिना ललाटपट्टे मुकुलीकरणेन योजनेन वा शालि शोभनशील शयद्वितय
पाणियुगल यस्य तादृशो विमलनामा सचिव प्रवान भगवत्पुरत युगादिजिनपते
पुरस्तादग्रे समुख स्थितवान् तिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभोर्भगवतो भक्तीना प्राग्ज-
न्मजनितसेवासक्तीना भरैरतिशयै प्रभुता रोमदेशावीशद्वादशपतिसाहिप्रमुखानेक-
राजकपराजयनपूर्वक भूलोकाविपत्यमुपगत सप्राप्तोऽपि पुन सिद्धिपदाय अष्टमहा-
सिद्धिप्रधानस्थानाय मोक्षनगराय वा स्पृहयन् कामयमान इव वाञ्छन्निव । ‘स्पृहेरी-
प्सित । स्पृहेरिष्ट सप्रदानसज्ञ’ स्यात् । हरये स्पृहयति । वेति केचित् । गोपी हरि
स्पृहयति । ईप्सित इति किम् । पुष्पेभ्यो वन स्पृहयति’ इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

हरिन्मणीनिर्मितसनिधिद्वया सिताश्मसोपानततिर्व्यलोक्यत ।

उपान्तविस्मेरवनीव जाह्नवी जिनं भजन्ती विजिता समज्ञया ॥ ९८ ॥

हरिन्मणीभिर्मरकतरत्नैर्निर्मित रचित सनिविद्वय पार्श्वयोर्द्वय यस्यास्तादृशी सिता-
श्मना स्फाटिकोपलाना सोपानततिरारोहणश्रणी तेन गुरुणा व्यलोक्यत ददृशे ।
उत्प्रेक्ष्यते—समज्ञया स्वकीर्त्या येन विजिता पराभूता सती जिन मारुदेव भगवन्त
भजन्ती सेवमाना जाह्नवी गङ्गेव । किंभूता जाह्नवी । उपान्तयोर्द्वयो समीपपार्श्वयो
विस्मेरा विनिद्रा वनी कानन यस्या । ‘स्ववनीसप्रवदन्पिकापि का’ इति नैषधे ॥

व्रतीश्वरेणैक्ष्यत तोरणावली जिनालयद्वारि शुभस्य शशिनी ।

जिनाधिभर्तुः किमु मुक्तिकन्यया कृतेयमुद्गाहविधौ विरञ्चिना ॥ ९९ ॥

व्रतीश्वरेण वाचयमविभुना सूरिणा जिनालयस्य विमलवसतेर्द्वारि द्वारदेशे तोरणावली
वन्दनमालिकामाला ऐक्ष्यत निरीक्षिता । किंभूता । शुभस्य शशिनी प्रेक्षकाणा कल्याण-

कारिणी । अथ वा शुभानि सद्गुणानि जन्मनि कथ्यन्ति इत्येवगीला दृष्टमात्राप्यहं कल्याणानि करोमीति कथयित्रीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—जिनादिभर्तुर्युगादिदेवस्य मुक्तिकन्यया सिद्धिकुमार्या सहोद्वाहविद्यां पाणिग्रहणकरणसमये विरञ्जिता विश्वसृजा किमिदं कृता एषा तोरणवोरणां विनिर्भित्तैव ॥

श्रीभिर्जगन्मूर्धविधूननीभिश्चेत्येऽत्र वैचित्र्यदिदृक्षयेव ।

रूप्याचलोऽनल्पतनुः समीयिवास्तेनैक्ष्यत स्तम्भततिः सिताश्मनाम् १००

तेन सूरिणा सिताश्मना श्वेतोपलनिर्मितानां स्तम्भानां ततिः पङ्क्तिर्देक्ष्यतालोकिना । उत्प्रेक्ष्यते—अनल्पा बहव्यस्तनवो मूर्तयो यस्य तादृश्रूपो रूप्याचलः कैलासः समीयिवानिव किं समेत । ‘रजनाद्रिस्तु कैलासः’ इति हेम्याम् । कथा । जगतां त्रिभुवनानां तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशे सुरासुरनराणां मूर्त्तां मस्तकानां विधूननीभिः आश्चर्यातिरेकात्कम्पयित्रीभिः । ‘अद्भुतकरी परमूर्धविधूननी—’ इति नेपथे । श्रीभिः शोभाभिः कृत्वा अत्र चेत्ये अस्मिन्विमलमन्त्रिनिर्मापितप्रामादं वैचित्र्यस्य विचित्रतायां अथ वा विशिष्टानां जवाजनाश्चर्यविवायिनां चित्राणां पाञ्चालिकाप्रमुखाणां नानास्वरूपाणामाश्चर्याणामालेख्यानां वा दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया दृग्गोचरीकरणाकाङ्क्षया ॥

महाव्रतिप्राप्तमृतिं निजं पतिं समीक्ष्य कामं श्वशुरं जिनं श्रितः ।

स्मरावरोधः किमु यत्र पुत्रिकाचयोऽमुना लोचनगोचरीकृतः ॥१०१॥

अमुना वाचयमचक्रिणा यत्र विमलवसतां पुत्रिकाणां पाञ्चालिकानां प्रचयो व्रजो लोचनयोश्चक्षुषोगोचरीकृतः लक्ष्यो विहितः । दृष्ट इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—जिनं नारायणं श्वशुरं स्वभर्तुं पितरं श्रितं सेवमानं पार्श्वे स्थितं स्मरावरोधं मदनान्तं पुरं किमु । अथ च विववकुसुमवजयुवतीव्रजः स्वस्यात्मनो जिनभक्तत्वात् श्राद्धत्वान्नस्य सुरमोक्षलक्षणाभीष्टदायकं देव जिनं तीर्थंकरं श्रितं । ‘स्मरावरोधभ्रममुद्वहन्ती’ इति नेपथे । किं कृत्वा । महाव्रती शम्भुः तस्मात्प्राप्ता अविगता मृतिर्मरणं येन तादृशं निजमात्मायं पतिं भर्तारं कामं कदर्पं समीक्ष्य । अथ च महाव्रती जिनं स चास्मद्भर्तृघातकस्तद्वरान्तद्वयूजनं मामपि हन्यादतो जिनं स्मरावरोधं सेवते । ‘नाश्रितं वरिणमपि हिनस्ति महान्’ इति श्रुतिः ॥

ताण्डवतन्वतीर्विभ्रमैर्हस्तकान्दर्शयन्तीरिहानेकपाञ्चालिका ।

पाणिमुत्तम्य शम्भुः प्रणन्तु जनानाहयन्तीरिवामौ ददर्श प्रभुः १०२

असा प्रभुः सूरिरनेका विविधजातीया गतशः पाञ्चालिका पुत्रिका ददर्श दृष्टवान् । अथ पुत्रिकाणां विविधसंस्थानान्याह—किं कुर्वती । ताण्डवकाश्चिन्नृत्यतन्वती कुर्वती । पुनः किमता । विभ्रमवेलाने कृत्वा हस्तकान् हस्तविक्षेपान् दर्शयन्ती । पुनः किमूता । पाणिः काश्चिन्निजहस्तमुत्तम्य ऊर्ध्वाकृत्य शम्भुः नाभिनन्द

प्रणन्तु नमस्कर्तुं जनान् लोकान् । उत्प्रेक्ष्यते—इहार्बुदाचले इह विमलवसता वा आ-
ह्वयन्तीराकारयन्तीरिव ॥

यत्र पाञ्चालिकाशिल्पं निरूप्य सुरसुभ्रुवः ।

मेनिरे पद्मजन्मानं स्वभूषापरिमोषिणम् ॥ १०३ ॥

यत्र प्रासादे पाञ्चालिकानां पुत्रिकाणां शिल्पं जगच्चेतश्चमत्कारकारि रचनाचातुर्यं
निरूप्य सम्यगालोक्य सुरसुभ्रुवः त्रिदशसुदृशः पद्मजन्मानं विधातारं स्वस्या आत्मनो
भूषाया वपुः प्रियरूपकस्य परिमोषिणं तस्करं मेनिरे जानन्ति स्म । यदस्याकं समग्रा-
मपि रूपलक्ष्मीमपहत्य प्रयत्नेन विधिना एतां शालभञ्जीर्विनिर्मिता ॥

चण्डरुक्मिरणमण्डलस्मयं खण्डयन्समवलोकितं सूरिणा ।

मण्डपो विमलकीर्तिनर्तकीनर्तनाय नवरङ्गभूरिव ॥ १०४ ॥

सूरिणा मण्डपोऽर्थाच्चैत्यमध्यवर्ती बहुजनाश्रयः समवलोकितं सम्यगवयानदानपूर्वकं
वीक्षितं । देवभवनवैचित्र्यवीक्षणे सयमिनामपि न कश्चिद्दोषः । यतस्तत्र वर्मबुद्धेरुद्धो-
धात् । मण्डपः किं कुर्वन् । चण्डरुक् सूर्यस्य किरणै रश्मिभिर्मण्डितस्य मण्डलस्य
बिम्बस्य स्मयमहकारं खण्डयन् शकलीकुर्वन् । उत्प्रेक्ष्यते—विमलमन्त्रिणः कीर्तिरेव
नर्तकी नृत्यकारिका पात्रं तस्या नर्तनाय ताण्डवविवानाय नवा नवीना । अथ
वा 'णु स्तुतौ' । नवन नव नवस्य स्तुतेर्योग्या मध्यपदलोपे रङ्गभूमिर्नर्तन-
स्थानक्षोणिरिव ॥

वैजयन्तं विजेतुं विभूषाभरैर्वज्ररोचिःस्फुरच्चापचक्रायुधः ।

यः स्वशृङ्गेण गर्वादिवो गाहिना गन्तुमुच्चैर्व्यवस्यन्निवोर्जस्वलः ॥ १०५ ॥

यो मण्डपो विभूषाभरैः स्वशोभातिशयैः वैजयन्तमिन्द्रप्रासादं विजेतुं पराभवितुं
दिवो गगनमार्गस्य गाहिना अवगाहनशीलेन । अभ्रलिहेनेत्यर्थः । स्वशृङ्गेण निजशिखरेण
गर्वादहकारादुच्चरुध्वं स्वलोके गन्तुं प्रयातुं व्यवस्यन्व्यवसायमुद्योगं कुर्वन्निव । किंभूतो
मण्डपः । ऊर्जस्वलः स्फूर्तिमान् प्रबलबलवान्वा । पुनः किंभूतः । वज्राणां वज्रमणीनां
रोचिर्भिः कान्तिभिः कृत्वा स्फुरत्प्रकटीभवद्यच्चापचक्रं धनुर्मण्डलं तदेवायुधं प्रहरणं
यस्य । अथ च वज्रमिन्द्रायुधं तथा रोचिषा कान्त्या स्फुरद्दीप्यमानं चापयुक्तमिन्द्र-
धनुः कलितं चक्रं रथाङ्गं तथा आयुवान्यपराणि खड्गकुन्तमिन्द्रमालक्षुरिकायमद-
ष्ट्राप्रमुखानि शस्त्राणि यस्य । परोऽपि सुभटः स्वप्रतिद्वन्दिना समं योद्धुं गच्छन् संपू-
र्णानि शस्त्राणि गृह्णाति ॥

आलुलोकेऽमुना गर्भगेहः पुना राजधानीव धर्मावनीभास्वतः ।

चित्रितामर्त्यमर्त्योर्गणां निभाद्भूर्भुवःस्वस्त्रयेणेव संसेवितः ॥ १०६ ॥

अमुना मुनीन्द्रेण गर्भगेहो गर्भागारो आलुलोके 'गभारो' इति लोके प्रसिद्धो दृष्टः ।

उत्प्रेक्ष्यते—वर्म एवावनेर्भमेर्भास्वान् विश्वत्रयातिशायितेजस्तया भास्कर एतावता राजाधिराज । ‘पाण्डोरवनिमार्तण्डस्यावदानान् गुणान् गृह’ इति पाण्डवचरित्रे । राज्ञो भूमीभास्कर इति नामापि । तस्य राजवार्ता समुत्पन्ननिवामनगरीव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—चित्रितानामालेख्यभाव प्रापितानाममर्त्याना देवाना मर्त्याना मनुष्याणामुरगाणा नागानाम् । उपलक्षणादसुरादीना परिग्रह । तत्साहचर्यादेव दानवमानवाना पत्न्योऽपि गृह्यन्ते । तन्निभात्कपटान् भूर्भुव स्वस्त्रयेण पातालभूमण्डलस्वर्गलोकत्रिकेण सम्यक् सेवित इवोपासितः ॥

चैत्यस्य परितो देवकुलिका. पश्यति स्म सः ।

अर्बुदाद्रिश्रियाश्चूडामरणस्येव मुक्तिका. ॥ १०७ ॥

स सूरिश्चैत्यस्य विमलवसते परितश्चतुर्दिक्षु सर्वतो वा देवकुलिका लघुदेवगृहान् पश्यति स्म प्रदक्षिणाप्रदानावसरे दृष्टवानित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—अर्बुदनान्नोऽद्रे पर्वतस्य श्रिया लम्ब्याश्चूडाया शिखाया आभरणस्य विभूषणस्य । चूडामणेरित्यर्थः । लोके ‘वाक’ इति प्रसिद्धस्य मुक्तिका लघुमुक्ताफलानीव । ‘सिता वमन्त खलु कीर्तिमुक्तिका’ इति नैपवे । ‘मुक्तिका लघूनि मौक्तिकानि’ इति तद्वृत्तिः ॥

चैत्यं प्रदक्षिणीचक्रे सम संघेन स प्रभुः ।

ज्योतिषा मण्डलेनेव मन्दर कौमुदीपतिः ॥ १०८ ॥

स प्रभुर्हीरविजयमूर्तिः संघेन साधुसाध्वीश्राद्धश्राद्धीवर्गेण सम सार्व चैत्य मूलप्रासाद प्रदक्षिणीचक्रे । त्रिवार प्रदक्षिणा प्रददिवानित्यर्थः । कौमुदीपतिरिव यथा चन्द्रमा ज्योतिषा ग्रहनक्षत्रतारकाणा मण्डलेन कदम्बकेन साक मन्दर मेरुपर्वत प्रदक्षिणयति । जैनमते मन्दरो मेरु । यदुक्तं त्नातस्यास्तुतौ—‘येषा मन्दररत्नशैलशिखरे जन्माभिपेक कृत’ इति । सवेषा तीर्थकृता जन्माभिपेकस्थान मेरुरेवातोऽत्र मन्दर सुवर्णाचलः । आगमेऽपि ‘मन्दरस्स पर्वयस्स’ इत्यादि । परशामने कविसमये च मन्दर इन्द्रकीलपर्वत मेरो पृथक् दृश्यते, पर त्वत्र जैनमतानुसायेव मन्दरो मेरुरिति वचनम् ॥ इति विमलवसतिमध्यवर्णनम् ॥

विवेश वशिनामीशो गर्भगेहे जिनौकसः ।

स्तम्बेरमीविवोदेव गह्वरे विन्ध्यभूभृतः ॥ १०९ ॥

वशिना जितेन्द्रियाणा योगिना साधूनामीशो नायक सूरिजिनौकसः तृप्रभदेवगृहस्य । प्रासादस्येत्यर्थः । गर्भगेहे गर्भागारे विवेश प्रविशति स्म । क इव । स्तम्बेरमीविवोदेव । यथा स्तम्बेरम्या हस्तिन्या विवोटा पतिर्हस्ती । ‘विवोटा रमणो भोक्ता’ इति हैम्याम् । विन्ध्यभूभृतो जलबालकाचलस्य गह्वरे विविजजातिनिविटविनिद्रद्रुमलोणीदुःप्रवेशविपिने प्रविशति । ‘गारीगुरोर्गह्वरमावित्रश’ इति रघा । ‘बहुश्लाघन वन गह्वरम्’ इति तद्वृत्तिः । तथा ‘गह्वरो विलदम्भयो । कुञ्जेऽय’ इत्यनेकार्थः ॥

जातोऽक्षलक्ष्मा भगवानदर्शि सूरिन्दुना संमदमेदुरेण ।

जगन्महानन्दपद निनीषु स्वय ततः कि कृपयावतीर्णः ॥ ११० ॥

समदैस्तीर्थारोहणचैत्यप्रतिमानिरीक्षणोद्भूतामन्दानन्दैर्मेदुरेण पुष्टाङ्गेन सूरिन्दुना मुनीन्द्रचन्द्रेण जातोऽक्षलक्ष्मा वृषभलाञ्छनो भगवान् श्रीवृषभदेव अदर्शि नयनविषय नीत । निरीक्षित इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—जगद्विश्वजगज्जनमित्यर्थः । महान् सर्वोत्कृष्टतम आनन्दः प्रमोदो यत्रेति कृत्वा मोक्षस्तस्य पद स्थानम् । मुक्तिनगरीमित्यर्थः । निनीषु प्रापयितुमिच्छु । ततो महानन्दपदात्स्वयमात्मना कृपया ससारासारवासेऽतिसीदता भविकलोकानामुपर्यनुकम्पया अवतीर्ण इहागत इव ॥

अपि प्रपन्नो भुवने धुरीणता पुनस्तदीयस्पृहयेव निर्वृतौ ।

शीलन्तमङ्गच्छलतः क्रमाम्बुजं जिनस्य जातोक्षमवैक्षत प्रभुः ॥ १११ ॥

प्रभु सूरिर्जातोक्ष ककुब्धन्त वृषभमवैक्षत । कि कुर्वन्तम् । अङ्गस्य लाञ्छनस्य छलत कपटात् जिनस्यार्थादादिदेवस्य क्रमाम्बुज चरणारविन्द शीलन्त सेवमानम् । उत्प्रेक्ष्यते—भुवने भूमीलोके धुरीणता दुरवरत्व प्रपन्न प्राप्तोऽपि स्वर्गपातालयोर्लोकयोदेवदानवेषु सुरद्रुमै सुवाभिश्च कृत्वा तृप्ति विदवानेषु यत स्वर्गे कल्पवृक्षा सुवा च पाताले च नव सुधाकुण्डानि । यदुक्त पञ्चमीस्तुतौ—‘यात्वा देवाविदेवागमदशमसुधाकुण्डमानन्दहेतु —’ इति । दशमसुधाकुण्ड जैनागम इत्यर्थः । नव तु पातालस्थानि । तत क्षेत्राणा कृपीणा चाभावाद्वृषभाणामप्यभावः । तत पुनर्निर्वृतौ मोक्षक्षेत्रे । यदुक्त जिनशतके—‘मोक्षक्षेत्राभिकाङ्क्षाक्षपितशुभशताक्षेमविक्षेपदक्षा ’ इति । मोक्षरूप यत्क्षेत्र तत्र धुरीणताया धौरेयभावस्य स्पृहया वाञ्छयेव ॥

पाय पाय विभोर्वक्त्रविधौ लवणिमामृतम् ।

तदुद्गारैरिवास्तावि स स्तवैरिति सूरिणा ॥ ११२ ॥

सूरिणा इत्यमुना प्रकारेण अग्रे वक्ष्यमाणेन स आदिदेव स्तवैर्नवस्तुतिभि अस्तावि सस्तूयते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—तस्यामृतम्योद्गारैरिव । कि कृत्वा । विभो ऋषभदेवस्य वक्त्रविधौ वदनचन्द्रे लवणिमा लावण्य सुषमामेवामृत सुवारसमतिशायिभक्तिमत्तया पाय पाय वार वार पीत्वा पीत्वा आस्वाद्य । सादरमवलोकयेत्यर्थः । ‘पौन पुन्ये णम्पद द्विश्च’ इति सूत्रेण णमुल्प्रत्ययः । प्रत्ययसहितस्येव वातोर्द्विर्भानश्चेति पाय पाय सिद्धम् ॥

अथ स्तुति —

जय त्रिजगदीहिताभरतरो सरोजानन

प्रसूनविशिखासनद्विरदभेदपञ्चानन ।

जय त्रिदशसुन्दरीविकचनेत्रनीलोत्पलै-

र्निपीतमुखशीतरुग्लवणिमैकपीयूष हे ॥ ११३ ॥

हे इति सवोवने । यदुक्तं साग्न्यतव्याकरणे—‘आभिमुख्याभिव्यक्तये हेगब्दस्य प्राक्प्रयोगः’ इति । त्रिजगता त्रयाणां भुवनानां त्रीणि च नानि जगन्ति च । त्रिजगज्जनानामित्यर्थः । सुरासुरनराणाम् । अथ च त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत् तेषां तस्य वा यानीहितानि कामितानि तेषां पूरणे प्रदानविद्या अमरुतरो कल्पवृक्ष इति सवोवनम् । तथा हे सरोजानन हे विकृन्तिनकमलवदन । हे प्रसून कुसुममेव विगिखा शरा अस्यन्ते क्षिप्यन्तेऽनेनेति विशिखामन वनुर्यस्य स स्मर स एव द्विरदो मदोन्मत्तहस्ती तस्य भेदे विदारणे पञ्चानन केसरिन् । त्वं जय चिरं सवोन्कपेण प्रवर्तस्व । तथा हे त्रिदशाना सुन्दर्य कामिन्य तासां विकचानि विनिद्राणि नेत्राणि नयनान्येव नीलोत्पलानि इन्दीवराणि कुवलयानि वा तेर्निपीत सादरमवलोकितमास्वादित वा मुखवदनमेव शीतरुक्चन्द्रमास्तस्य लवणिमा लावण्य शोभातिशय एकमद्वितीयं न केनापि समानं पीयूषं सुगारसो यस्य तत्सवोवनं पुनस्त्वं जय ॥

जय प्रणतपूर्वदिक्प्रणयिमौलिमालागल-

न्मरन्दकणधोरणीस्तपितपादपद्मद्वय ।

जय त्रिभुवनेन्दिराभरणं नाभिभूमीधना-

न्ववायगगनाङ्गणाम्बरमणे महोक्षध्वज ॥ ११४ ॥

हे प्रणत प्रणामप्रतीभूत पूर्वदिशः प्राचीहरित प्रणयी पुरंदर उपलक्षणाच्चतुःपष्टिरपीन्द्रा तेषां मौलयो मुकुटास्तेषां माला पुष्पदामानि तेषां गलन्तो नि सरन्तो ये मरन्दा कुसुमरसास्तेषां कणानां बिन्दूनां धोरण्य श्रेणयस्ताभिः क्षपितं कारितन्त्रानं प्रक्षालितं वा पादपद्मयोश्चरणारविन्दयोर्द्वयं द्वन्द्वं यस्य तत्सबुद्धौ । अथ वा केवलमेक एव शक्रोऽपि वाच्यः । त्वं जय विजयस्व । हे त्रिभुवनस्य त्रिलोक्यस्य या इन्दिरा लक्ष्मोस्तस्या आभरणं अलंकारभूतं । पुनर्हे नाभिनाम्नो भूमीधनस्य राज्ञोऽन्ववायो वशः स एव गगनाङ्गणं व्योमाजिरं तत्राम्बरमणिं प्रकाशकत्वात्सूर्यं तत्सबुद्धौ । पुनर्ह महोक्षं ककुब्जान् ध्वजे लाञ्छने यस्य त्वं जय ॥

जय त्रिभुवनाशिवप्रशमनात्मगम्भीरिमा-

पहस्तिततरङ्गिणीप्रियतमावलेप प्रभो ।

महोदयपयोरुहोदरविनोदपुष्पव्रता-

म्बुजासन इव स्फुटीकृतविशिष्टसृष्टिक्रम ॥ ११५ ॥

हे त्रिभुवनस्य त्रिजगतः अशिवम्योपद्रवस्य अरिष्टस्य वा प्रशमनं निर्णान्(र्नां)शकः । पुनर्हे आत्मनः स्वस्य गम्भीरिण्या गम्भीयेण अपहन्तितो निराकृतो निर्घाटित तरङ्गिणी सरिता प्रियतमस्य भर्तुः समुद्रस्य अवलेपोऽहंकारो येन । ‘तुलेऽवलेपं च हसे वृथैव’ इति प्रतिक्रमसूत्रवृत्तौ । पुनर्हे प्रभो स्वामिन्, त्वं जय । हे महाननन्तज्ञानदर्शन-

जातोऽक्षलक्ष्मा भगवानदर्शि सूरीन्दुना संमदमेदुरेण ।

जगन्महानन्दपद निनीषु स्वय ततः किं कृपयावतीर्णः ॥ ११० ॥

समदैस्तीर्यारोहणचैत्यप्रतिमानिरीक्षणोद्धृतामन्दानन्दैर्मेदुरेण पुष्टाङ्गेन सूरीन्दुना मुनीन्द्रचन्द्रेण जातोऽक्षलक्ष्मा वृषभलाञ्छनो भगवान् श्रीवृषभदेव अदर्शि नयनविषय नीत । निरीक्षित इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—जगद्विश्वजगज्जनमित्यर्थः । महान् सर्वोत्कृष्टतम आनन्द प्रमोदो यत्रेति कृत्वा मोक्षस्तस्य पद स्थानम् । मुक्तिनगरीमित्यर्थः । निनीषु प्रापयितुमिच्छु । ततो महानन्दपदात्स्वयमात्मना कृपया ससारासारवासेऽतिसीदता भविकलोकानामुपर्यनुकम्पया अवतीर्ण इहागत इव ॥

अपि प्रपन्नो भुवने धुरीणता पुनस्तदीयस्पृहयेव निर्वृतौ ।

शीलन्तमङ्गच्छलतः क्रमाम्बुजं जिनस्य जातोक्षमवैक्षत प्रभुः ॥ १११ ॥

प्रभु सूरिर्जातोक्ष ककुब्धन्त वृषभमवैक्षत । किं कुर्वन्तम् । अङ्गस्य लाञ्छनस्य छलत कपटात् जिनस्यार्थादादिदेवस्य क्रमाम्बुज चरणारविन्द शीलन्त सेवमानम् । उत्प्रेक्ष्यते—भुवने भूमीलोके धुरीणता बुरवरत्व प्रपन्न प्राप्तोऽपि स्वर्गपाताललोकयोर्देवदानवेषु सुरद्रुमै सुधाभिश्च कृत्वा तृप्तिं विदवानेषु यत स्वर्गे कल्पवृक्षा सुधा च पाताले च नव सुवाकुण्डानि । यदुक्त पञ्चमीस्तुतौ—‘यात्वा देवाविदेवागमदशमसुवाकुण्डमानन्दहेतु —’ इति । दशमसुवाकुण्ड जैनागम इत्यर्थः । नव तु पातालस्थानि । तत क्षेत्राणां कृपीणा चाभावाद्वृषभाणामप्यभावः । तत पुनर्निर्वृतौ मोक्षक्षेत्रे । यदुक्त जिनशतके—‘मोक्षक्षेत्राभिकाङ्क्षाक्षपितशुभशताक्षेमविक्षेपदक्षा ’ इति । मोक्षरूप यत्क्षेत्रं तत्र धुरीणताया वीरेयभावस्य स्पृहया वाञ्छयेव ॥

पाय पाय विभोर्वक्त्रविधौ लवणिमामृतम् ।

तदुद्गारैरिवास्तावि स स्तवैरिति सूरिणा ॥ ११२ ॥

सूरिणा इत्यमुना प्रकारेण अग्रे वक्ष्यमाणेन स आदिदेव स्तवैर्नवस्तुतिभिः अस्तावि सस्तूयते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—तस्यामृतम्योद्गारैरिव । किं कृत्वा । विभो ऋषभदेवस्य वक्त्रविधौ वदनचन्द्रे लवणिमा लावण्यं सुषमामेवामृतं सुवारसमतिशायिभक्तिमत्तया पाय पाय वार वार पीत्वा पीत्वा आस्वाद्य । सादरमवलोकयेत्यर्थः । ‘पौन पुन्ये णम्पद द्विश्च’ इति सूत्रेण णमुल्प्रत्ययः । प्रत्ययसहितस्यैव वातोर्द्विर्भातश्चेति पाय पाय सिद्धम् ॥

अथ स्तुति —

जय त्रिजगदीहिताभरतरो सरोजानन

प्रसूनविशिखासनद्विरदभेदपञ्चानन ।

जय त्रिदशसुन्दरीविकचनेत्रनीलोत्पलै-

र्निपीतमुखशीतरुगलवणिमैकपीयूष हे ॥ ११३ ॥

हे इति सवोवने । यदुक्त सारम्बतव्याकरणे—‘आभिमुख्याभिव्यक्तये हेशब्दस्य प्राक्प्रयोगः’ इति । त्रिजगता त्रयाणां भुवनानां त्रीणि च तानि जगन्ति च । त्रिजगन्नानामित्यर्थः । सुरासुरनराणाम् । अथ च त्रयाणां जगतां समाहारः त्रिजगत् तेषां तस्य वा यानीहितानि कामितानि तेषां पूरणे प्रदानविधा अमरतरो कल्पवृक्ष इति सवोवनम् । तथा हे सरोजानन हे विरुम्भितकमलवदन । हे प्रमूढ कुमुदमेव विशिखा शरा अस्यन्ते क्षिप्यन्तेऽनेनेति विशिखासन वनुर्यस्य स स्मर स एव द्विरदो मदोन्मत्तहस्ती तस्य भेदे विदारणे पद्मानन केसरिन् । त्वं जय चिर सवान्कपेण प्रवर्तस्व । तथा हे त्रिदशाना सुन्दर्य कामिन्य तासां विकचानि विनिद्राणि नेत्राणि नयनान्येव नीलोत्पलानि इन्दीवराणि कुवलयानि वा तैर्निपीत सादरमवलोकितमास्वादित वा मुखवदनमेव शीतरुक्चन्द्रमाम्भस्य लवणिमा लावण्य शोभातिशय एकमद्वितीयं न केनापि समान पीयूष सुवारसो यस्य तत्सवोवनं पुनस्त्वं जय ॥

जय प्रणतपूर्वदिक्प्रणयिमौलिमालागल-

न्मरन्दकणधोरणीन्निपितपादपद्मद्वय ।

जय त्रिभुवनेन्दिराभरण नाभिभूमीधना-

न्ववायगगनाङ्गणाम्बरमणे महोक्षध्वज ॥ ११४ ॥

हे प्रणत प्रणामप्रतीभूत पूर्वदिशः प्राचीहरित प्रणयी पुरदर उपलक्षणाच्चतुषष्टिरपीन्द्रा तेषां मौलयो मुकुटास्तेषां माला पुष्पदामानि तेषां गलन्तो नि सरन्तो ये मरन्दा कुसुमरसास्तेषां कणानां विन्दूनां धोरण्य श्रेणयस्ताभिः निपित कारितत्त्वानां प्रक्षालित वा पादपद्मयोश्चरणारविन्दयोर्द्वयं द्वन्द्वं यस्य तत्सबुद्धौ । अथ वा केवलमेक एव शक्रोऽपि वाच्यः । त्वं जय विजयस्व । हे त्रिभुवनस्य त्रिलोक्यस्य या इन्दिरा लक्ष्मीस्तस्या आभरण अलङ्कारभूत । पुनर्हे नाभिनाम्नो भूमीधनस्य राज्ञोऽन्ववायो वनं स एव गगनाङ्गणं व्योमाजिरं तत्राम्बरमणिः प्रकाशकत्वात्सूर्यं तत्सबुद्धौ । पुनर्हे महोक्षः ककुब्जान् त्वजे लाञ्छने यस्य त्वं जय ॥

जय त्रिभुवनाशिवप्रशमनात्मगम्भीरिमा-

पहस्तिततरङ्गिणीप्रियतमावलेप प्रभो ।

महोदयपयोरुहोदरविनोदपुष्पव्रता-

म्बुजामन इव स्फुटीकृतविशिष्टसृष्टिक्रम ॥ ११५ ॥

हे त्रिभुवनस्य त्रिजगतः अशिवस्योपद्रवस्य अरिष्टस्य वा प्रशमन निर्णान्(र्ना)शकः । पुनर्हे आत्मनः स्वस्य गम्भीरिण्या गम्भीर्येण अपहस्तितो निराकृतो निर्घाटित तरङ्गिणी सरिता प्रियतमस्य मर्तुः समुद्रस्य अवलेपोऽहकारो येन । ‘तुलेऽवलेपं च हसे वृथैव’ इति प्रतिक्रमसूत्रवृत्ता । पुनर्हे प्रभो स्वामिन्, त्वं जय । हे महाननन्तज्ञानदर्शन-

चरितसातानन्दादिप्राप्त्या अतिशायी सर्वोत्कृष्ट उदयो यत्र तादृशो मोक्ष स एव
पयोरुह पद्म तस्योदर मध्य तत्र विनोदो विलासस्तत्र पुष्पव्रतो भ्रमर तत्सबुद्धो ।
पुनरम्बुजासनो विधाता तद्वत्स्फुटीकृत प्रकटितो विशिष्टो मोक्षमार्गाव्यभिचारी सृष्टे
रचनाया क्रम परिपाटी येन तत्सबुद्धि ॥

जय प्रमथितान्तराहितपताकिनीनायको-

ल्लसत्कनककेतकीकमलगर्भगौरद्युते ।

भवाम्बुनिधिनिष्पतन्मनुजयानपात्रोच्छ्वस-

द्यशःसुमसुगन्धितत्रिभुवनात्र जीयाश्चिरम् ॥ ११६ ॥

हे प्रमथिता निर्दलिता आन्तरा अन्तर्भवा अन्तरङ्गा अहिता परमप्रत्यनीकभूता
कर्मादयो रागद्वेषकषायादयोऽष्टादश दोषा वा एव पताकिनीनायका सेनापतयो भूमी-
पाला वा येन तस्य सबुद्धि । तथा हे उल्लसतामुल्लास भजता विस्मेरीभवता कनकाना
काञ्चनसबन्धना स्वर्णमयाना केतकीना कमलाना च यो गर्भो मध्यभागस्तद्वद्गोरी
पीता । 'गौर श्वेतपीतयो' इत्यनेकार्थ । द्युति कान्तिर्यस्य तत्सबुद्धौ । त्व जय ।
पुनर्हे भव ससार स एव दुस्तरत्वादम्बुनिधि समुद्रस्तत्र निष्पतन्तो निरवलम्बत्वेन
नितरा मज्जन्तो ब्रून्तो ये मनुजा मानवास्तेषा त्राणार्थं यानपात्र प्रवहण । तथा उच्छ्व-
सत् विकसत् प्रकटीभवद्यश कीर्तिरेव सुम पुष्प तेन । तत्परिमलेनेत्यर्थ । सुगन्धित
वासित सुरभीकृत त्रिभुवन विश्वत्रय येन तत्सबोवने । हे ऋषभदेव । अत्रार्बु-
दपर्वते भूषणीभवन् चिर विगलितावधिसमय जीया विजयी भूयास्त्वम् ॥ चतुर्भि-
कुलकम् ॥ इति ऋषभदेवस्तुति ॥

कैलासलक्ष्मीतिलकायमानमिवेन्द्रभूतिव्रतिना बिडौजा ।

तमित्यभिष्टुत्य मुदं दधानः प्रणेमिवान्प्राञ्जलिरादिदेवम् ॥ ११७ ॥

व्रतिना मुनीना बिडौजा पुरहृत सूरि प्रकृष्टोऽञ्जलिर्भालस्थलमिलित पाणिपद्मद्वय
यस्य स आदिदेवमृषभस्वामिन प्रणेमिवान् नमस्करोति स्म । कि कुर्वाण । मुद प्र-
मोद दधान बिभ्राण । कि कृत्वा । तमादिदेवमिति पूर्वोक्तप्रकारेणाभिष्टुत्य स्तुत्वा ।
क इव । इन्द्रभूतिरिव । यया गौतमस्वामी कैलासलक्ष्म्या अष्टापदश्रियास्तिलकायमान
ललामवदाचरितमाचरन्त वा नाभेय जगच्चिन्तामण्यादिस्तुतिभि अभिनोनूय प्राञ्जलि
प्रणमति स्म ॥

आनन्दवृन्दारकनिर्झरिण्या निमज्ज्य जम्भद्विषतः करीव ।

निरस्तनिःशेषरजा. स सूरिर्निरीयिवाञ्जश्रीजिनराजधाम्नः ॥ ११८ ॥

स सूरि श्रिया जगदद्वैतशोभया युक्ताजिनराजस्यादिनाथस्य वान्न सौधात् विमल-
वसतेर्निरीयिवान् निर्जगाम । किलक्षण । निरस्त क्षिप्त दूरीकृत नि शेष समस्त र-

जोऽशुभकर्म येन । बहुवचन वा वाच्यम् । किं कृत्वा । आनन्दो भगवदृशनोद्वृत्ता-
ह्लाद स एव वृन्दारकनिर्झरिणी सुरसरिद्रुहा तस्या विषये निमज्ज्य न्नान कृत्वा । क
इव । जम्भद्विषत करीव । यथा जम्भनान्नो दानवेन्द्रस्य द्विषतः शत्रोरिन्द्रस्य करो
ऐरावण सुरसिन्धो निमज्ज्य यथेच्छ जलक्रीडादि निर्माय स्वशरीरादपास्त च प्राधा-
तादिना विलग्न रजो येन तादृग्विद्यो गद्गाप्रवाहाद्बहिर्निरेति । देवगजाना तु रजोलगमा-
वान् वैरिदमनत्वाजम्भद्विषतुल्यो राजा । 'भूस्तम्भभिद' इति पाठो वा । भूमेरि-
न्द्रस्तस्य पट्टहस्ती मन्दाकिन्या क्रीडित्वा स्वपुर्विलग्न रजोऽपास्य बहिर्विनि सरतीत्यर्थः ॥

पिण्डीभवद्भूभृति वस्तुपालयशः किमालोक्य परं विहारम् ।

तस्मिन्नलीव स्मितपुण्डरीके श्रेयोरसं संस्पृहयन्विवेश ॥ ११९ ॥

सूरिस्तस्मिन्विहारे विवेश प्रविष्टः । क इव । अलीव । यथा भ्रमरो विशिष्टे श्वेत-
सरोजे मध्ये प्रविशति । किं कुर्वन् सूरि । संस्पृहयन् वाञ्छन् । कम् । श्रेयो मोक्षस्तस्य
रसमास्वादम् । 'रस स्वादे जले वीये शृङ्गारादौ विषे हृदे । बोले रागे देहवार्ता ति-
क्तादा पारदेऽपि च ॥' इत्यनेकार्थः । भृङ्गोऽपि स्वश्रेयःकारिण पुष्टिविवायिन स्वशरीरो-
पचये परम मद्गलमेव । 'मकरन्द रसो मधु । मकरन्दोऽमरन्दश्च' इति हैम्याम् । काङ्क्षन् ।
किं कृत्वा परमन्य विमलवसतेरपेक्षया विहार जिनसद्य आलोक्य समीक्ष्य । उत्प्रे-
क्ष्यते—भूभृति अर्बुदाचले पिण्डीभवत्पिण्डाकार सपद्यमान वस्तुपालनान्नो मन्त्रिणो
यश किं मूर्तिमती कीर्तिरिव ॥

चुचुम्बेऽम्बरं यन्महामण्डपेन जगन्नेत्रजैवात्रिकेणात्ममूर्ध्ना ।

किमु स्नातुमाकाङ्क्षता स्वर्वहायाः प्रवाहे विहायोमणीतापितेन ॥ १२० ॥

यस्या वस्तुपालवसतेर्महान् सर्वातिशायी यो मण्डपस्तेनात्ममूर्ध्ना स्वमस्तकेन कृत्वा
अम्बरमाकाश चुचुम्बे परपृशे । आलिङ्गति स्नेत्यर्थः । किंभूतेन । जगता जगजनाना
नेत्राणामाह्लादकरणविधौ जैवात्रिकेण चन्द्रेण । उत्प्रेक्ष्यते—विहायसो व्योम्नो मणी
रत्न भाखान् तेन तापितेन तप्तीकृतसर्वाङ्गेण सता स्वर्वहाया गगनगङ्गाया प्रवाहे पय-
पूरे स्नातुमाप्नुवितुमाकाङ्क्षता किमु वाञ्छतेव ॥

विभाव्य यत्राद्भुतशालिभञ्जीराजीस्त्रिलोकीयुवतीर्जयन्तीः ।

सुरैर्मरुद्यौवतरूपशिल्पी स्म कल्प्यते कारुरिवानधीति ॥ १२१ ॥

यत्र वस्तुपालवसतौ सुरैर्देवैर्मरुता त्रिदशाना यौवतस्य युवतीसमूहस्य । देवाङ्गनागण-
स्नेत्यर्थः । रूपस्य वपूरामणीयकस्य शिल्पी रचनाकारक न विद्यते सम्यक् शिल्पक-
लाया अवीतिरव्ययन यस्य सोऽनधीति कारु नीचजातिशिल्पी निकृष्टशिल्पी च
कल्प्यते स्म विचार्यते स्म । किं कृत्वा । यत्र वस्तुपालवसतौ त्रिलोक्या भुवनत्रयस्य
युवतीस्तरुणीर्जयन्ती पराभवन्ती अद्भुता अतिप्रकृष्टा जगदाश्चर्यकारिणीर्वा शालिभ-
ञ्जीराजी पाञ्चालिकामालिका विभाव्य व्यालोक्य ॥

असूयता शुभ्रिमविभ्रमाय युयुत्सु यच्चैत्यमचण्डभासा ।

विभर्ति विद्वेषिजिगीषयैताममोघशक्ति किमु दण्डदम्भात् ॥ १२२ ॥

यच्चैत्य वस्तुपालकारितप्रासाद विद्वेषिणा वैभवेन स्वस्पर्विना जिगीषया पराभवितु-
मिच्छया । उत्प्रेक्ष्यते—दण्डस्य ध्वजनियन्त्रणयष्टेर्दम्भात्कपटात् एता प्रत्यक्षाममोघा
क्वापि न निष्फलीभवन्ती शक्तिमायुधविशेष लोहमयी 'सागि'नाम्ना प्रसिद्धा विभर्ति
दधतीव । किं कर्तुमिच्छु । चैत्य युयुत्सु योद्धुमिच्छु । केन । अचण्डभासा चन्द्रभासा
सम किं कुर्वता चन्द्रेण । असूयता ईर्ष्या कुर्वता । केन । शुभ्रिमविभ्रमाय स्वश्वैत्यशो-
भायै । 'क्रुवद्गुहेर्ष्यासूयार्थानां य प्रति कोप । क्रुवाद्यर्थानां योगे य प्रति कोप स
सप्रदानसज्ञ । इति चतुर्थी विभ्रमायेत्यत्र' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

यच्चान्द्रचैत्योपरि शातकौम्भः कुम्भो विभूषा विभरावभूव ।

सुधासरःसंभ्रमतः समेतो रथाङ्गनामा किमु रन्तुकामः ॥ १२३ ॥

यदेव चन्द्रकान्तमणीप्रणीतप्रासादस्तत्तुल्यो विहारस्तस्य शातकौम्भ स्वर्णमय
कुम्भ कलशो विभूषा शोभा विभरावभूव । उत्प्रेक्ष्यते—सुधासरस पीयूषपूर्णपद्माकरस्य
संभ्रमतो विया समेत समागत रन्तु जलादिक्रीडा कर्तुं कामोऽभिलाषो यस्य तादृशो
रथाङ्गनामा चक्रवाक इव ॥

यद्वैजयन्त्या सितिमश्रिया स्वःपाथोधिपत्नी गमिता विगानम् ।

निम्न व्रजन्ती त्रपयासिताब्जैः श्यामीकृतास्येव जडाशयासीत् ॥ १२४ ॥

यस्या वस्तुपालवसतेर्वैजयन्त्या पताकया कत्र्या सितिमश्रिया स्वश्वैत्यस्य लक्ष्म्या
सावनेन कृत्वा स्व स्वर्गस्य पाथोधे समुद्रस्य पत्नी जाया एतावता स्वर्गगङ्गा सा
विगान वचनीयता विकारभाव गमिता सप्रापिता सती । उत्प्रेक्ष्यते—जडाशया कि-
कर्तव्यताया विमूढमानसा आसीद्वभूवुरिव । किं कुर्वन्ती । त्रपया स्वहृदयान्तरुदमन्दाक्षेण
निम्न नीचैर्मन्द मन्द वा व्रजन्ती गच्छन्ती । पुन किंभूता । असिताब्जै नीलोत्पलै
कृत्वा श्यामीकृतास्या कृष्ण विहित मुख यया । यो लजित कश्चित्स्यात्स निम्न मन्द
प्रचलति । श्यामाननं किं कर्तव्यानभिज्ञ स्यादेव ॥

तं रैवतोर्वीधरवत्पवित्रीचिकीर्षयेवार्बुदमभ्युपेतम् ।

निरीक्ष्य तस्मिन्नयनाभिराम ननाम शैवैयजिन यतीन्द्रः ॥ १२५ ॥

यतीन्द्र सूरिस्तस्मिन् वस्तुपालविहारे शिवाया समुद्रविजयराजपत्न्या अपत्य
पुत्रः शैवेय स चासौ जिनश्च तीर्थकरस्त श्रीनेमिनाथ ननाम प्रणमति स्म । किं कृत्वा ।
निरीक्ष्य स्वलोचनगोचरीकृत्य अर्थान्नेमिनाथम् । किंभूतम् । नयनयोरभिराम हृदयनय-
नयोर्हारिणम् । पुन किलक्षण तम् । व्यावर्णितस्वरूपमर्बुदमर्बुदाचलमभ्युपेत समागतम् ।
उत्प्रेक्ष्यते—पवित्रीचिकीर्षया पावनीकर्तुमिच्छयेव । किवत् । रैवतोर्वीधरवत् ।
यथा उज्जयन्तपर्वतः पूर्वं पावनीकृतस्तथैनमपीत्यर्थः ॥ इति वस्तुपालवसतिवर्णनम् ॥

नमनेन मुनीशिता परेष्वपि चेत्येषु जिनेन्द्रसंतते ।

धनकामयितेव समद दधते स्माधिगमेन शेषधे ॥ १२६ ॥

मुनीना यतीनामीशिता पति सूरि परेष्वपि देवलपाटकवर्तिष्वपि अन्येषु ग्रामा-
 देषु जिनेन्द्रसंतते भगवत्प्रतिमापङ्केनमनेन प्रणामकरणेन समद ह्य दधते विधत्ते स्म ।
 'दधि धारणे' केवलमात्मनेपदी धातु । क इव । धनकामयितेव यथा द्रव्याभिलाषुक
 पुमान् शेषधेनिधानस्याधिगमेन प्राप्त्या प्रसाद दधाति ॥

चौलुक्यचैत्य विधृतामृतश्रि धर्मप्रपास्थानमिवैष मार्गः ।

नत्वा मुनीन्द्रोऽचलदुर्गमध्ये चतुर्मुखे नाभिसुत व्यनसीत् ॥ १२७ ॥

एष मुनीन्द्र । अचलो नामा यो दुर्ग कोट्यन्तस्य मध्ये चतुर्मुखे ग्रामादे नाभिसुतम्
 ऋषभदेव व्यनसीत् विशेषेण नव्यस्तुतिपञ्चाङ्गीभूलगनपूर्वक नमति स्म । किं कृत्वा ।
 देवलपाटकादलदुर्गागमनाध्वनि चौलुक्यस्य कुमारपालभूपालस्य चैत्य प्रासाद नत्वा
 अर्थात्तत्रार्हन्त प्रणम्य । उत्प्रेक्ष्यते—चौलुक्यचैत्य धर्मप्रपास्थानमिव धर्मस्य पानीय-
 शालागृहमिव । लौकिके व्यवहारे धर्मार्थमार्गश्रमश्रान्तपिपासिपयिकनिर्वृत्यर्थ मार्गे
 प्रपा कार्यते । किलक्षणेन । विधृता आश्रिता अमृतवदुज्ज्वला श्रीः शोभा येन । अथ-
 वा विधृता स्वस्मिन्नानीय रक्षिता अमृतश्रीमोक्षलक्ष्मीयेन । प्रपापि धृता आलम्बिता
 अमृताना कुसुमलाकर्पूरादिवासितजलाना प्रागुक्तसलिलैर्वा श्री सुयमा येन ॥

दिनानि कतिचित्सूरिर्गिरीन्द्रतनुजे गिरौ ।

स्थितोऽर्हद्भ्यानिध्यानश्चारणश्रमणेन्द्रवत् ॥ १२८ ॥

सूरिगिरीन्द्रस्य हेमाद्रेस्तनुजे नन्दने गिरौ पर्वते अर्बुदाचले कतिचिद्दिनानि कियतो
 वासरान् यावत्स्थित अर्हद्दर्शनादिलोभेन तत्र तस्थिवान् । किभूत । अर्हतो भगवतो
 ध्यानेन प्रणिधानेन चित्तेकाग्र्येण कृत्वा निध्यानमवलोकन यस्य । योगिनो हि स्वहृद-
 यकमले परमात्मान साक्षात्समीक्ष्य ध्यानाद्विरमन्ति इति कुमारसभवे पार्वतीपाणिग्रह-
 णात्पूर्वसमये ध्यानव्यतिकरे । अथ वा अर्हता सर्वतीर्थकृता ध्यान हृद्गोचरीकरण स्म-
 रण वा पौन पुन्येन । वारवारमित्यर्थ । दर्शन चैत्यगमनादिना यस्य । किवत् । चारण-
 श्रमणेन्द्रवत् । यथा जङ्घाचारणविद्याचारणादिर्यतिपुगवा यात्रार्थं गता कापि शत्रुज-
 यादितीर्थपर्वते कानिचिद्विवसानि तिष्ठन्ति । दिनदिवसवासरा पुनपुसकलिङ्गे ।
 श्रयते तज्जनपदलोकवृत्त्या पूर्वमष्टाशीतिऋषय अत्र स्थाने तप कुर्वाणा आसन् । तेषा
 च होमादिसावनमेका कामधेनुश्चरन्ती सती महागर्तान्तं पपात । ततन्ता निष्काश-
 यितुमशक्ता ऋषयो गत्वा हिमाचलं याचित्वा तत्पुत्रमर्बुदनामानं महामहीवरमत्रानैषु ।
 तावतासौ कामगवी स्वपयोभिस्ता गर्तामापूर्य तीर्त्वा च वहिनि सरति स्म । तत
 पुनर्मास्या येनोरेतद्गर्ताया पातो भवतु इत्याशङ्क्य ऋषिभिस्तद्गर्तामायमर्बुदाद्रिणा

पूर्यते स्म । तैः स्थापितस्तत्रैव स्थितः सोऽयमर्बुदो हिमाद्रिपुत्र इति तत्पारिपार्श्वकशै-
वलोकस्य प्रवृत्तिः प्रसिद्धिश्च । तथा वस्तुपालवसतिप्रशस्तावपि 'गौरीवरश्चशुरभूधर-
सभवोऽयमस्त्यर्बुदः ककुदमद्रिकदम्बकस्य । मन्दाकिनीघनजटे दधदुत्तमाङ्गे यः शालक
शशभृतोऽभिनयः करोति ॥' इति दृश्यते ॥

उदयशिखरिणीव श्रीमदम्भोजबन्धु-

विषमविशिखवैरी स्फाटिकोर्वीभृतीव ।

त्रिदशपतिरिव स्वर्भूधरे सूरिसिंहो

हिमशिखरिसुतेऽस्मिन्कांचनाभा बभार ॥ १२९ ॥

सूरिसिंहो हीरविजयनामा सूरिशार्दूल अस्मिन्नर्बुदाचलाभिवाने हिमशिखरिसुते
तुहिनाचलनन्दने काचन अनिर्वचनीयामाभा शोभा बभार दधाति स्म । क इव । श्रीम-
दम्भोजबन्धुरिव । यथा श्रीमान् सर्वज्योतिश्चक्रज्योतिः पराभवनप्रवणप्रतापलक्ष्मीवान्
अम्भोजबन्धुर्मानुमान् उदयशिखरिणि पूर्वपर्वते अद्वैता शोभा बिभर्ति । पुनः क इव ।
विषमविशिखवैरीव । यथा विषमा सोढुमशक्या अथ वा समेतरे पञ्चत्वाद्विशिखा
बाणा यस्य स स्मरस्तस्य वैरी प्रतिपक्षः पार्वतीपतिः ईश्वरः स्फटिकस्यायः स्फाटिक-
स्तादृश उर्वीभृत्पर्वतः एतावता स्फटिकाचले कैलासे । पुनः क इव । त्रिदशपतिरिव ।
यथा सुरेन्द्रः स्वर्भूधरे मेरुगिरौ असाधारणा भूषा बिभर्ति । 'जाम्बूनदोर्वीधरसार्वभौम'
इतीन्द्राभिधानः नैषधे ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाहीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गोऽभवद्वादशः ॥ १३० ॥

इति पण्डितदेवविमलगणिव्यावर्णिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये हीरविजयसूरि-
चरिते द्वादशानां सख्यापूरणो द्वादशः सर्गः अभवद्बभूव ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि
महाकाव्ये अकसिपुरप्रस्थानविजयसेनसूरिसमुखागमनपत्तनपादावधारणसमवसरणवन्दन-
पुरप्रस्थानासिद्धपुरागमनविजयसेनसूरिपश्चाद्वलनमार्गोल्लङ्घनार्जुनपत्नीपतिपत्नीवन्दनार्बु-
दाचलाविरोहणविमलवस्तुपालवसतिप्रमुखजिनस्तवनादिवर्णनो नाम द्वादशः सर्गः ॥

त्रयोदशः सर्गः ।

अथार्बुदाद्रेरवतीर्य भूमीं विभूषयामास स सूरिभूमान् ।

वचस्तरङ्गैस्त्रिजगत्पुनानो रयो हिमाद्रेरिव देवनद्याः ॥ १ ॥

अथार्बुदाचलतीर्थकृन्नमनानन्तर सूरिभूमान् सूरिराजोऽर्बुदाद्रेर्हिमाद्रिनन्दनावनीध-
रादवतीर्थं अवरुह्य उपत्यकामागत्य भूमीं पृथिवीपीठं विभूषयामास शोभयति स्म ।
किं कुर्वाणः । वचसा वचनानां तरङ्गेरस्वलिनप्रचारनिःसरद्वाक्कलोलैस्त्रिजगन्निभुवनजनं
पुनानं पवित्रीकुर्वाणः । क इव । रय इव । यथा देवनद्याः गङ्गायाः प्रवाहो हिमाद्रे-
स्तुहिनाचलादवतीर्थं अधः समेत्य भूमीं पुनार्ते । सोऽपि अस्वलितकलोलैस्त्रिजगन्निभोत-
स्त्वात्रिभुवनं पावनं कुर्वाणः ॥

यस्यां द्विपेन्द्रैः स्वमदप्रवाहैरारामिकौघैरिव वारिपूरैः ।

वृक्षा अवर्ध्यन्त विभुर्व्यहार्षीत्तत्रार्बुदाभ्यर्णवसुंधरायाम् ॥ २ ॥

विभुः सूरिस्तत्र तस्यार्बुदाद्रेरभ्यर्णे समीपे या वसुंधरा भूमिस्तस्या व्यहार्षीत् वि-
हरति स्म । तस्या कस्याम् । यस्यामर्बुदाभ्यर्णभूमौ द्विपेन्द्रैर्मत्तगजराजे स्वेषामात्मना
मदानां दानवारीणां प्रवाहैरर्थात्कणोलेभ्यो निःसृत्य पृथिवीपीठे पतद्भिः वृक्षाः द्रुमाः अ-
वर्ध्यन्त सिक्ताः सन्त वृद्धिं नीयन्ते स्म । कैरिव । आरामिकौघैरिव । यथा वनपालवृन्दै-
र्वारिपूरैरभिषिञ्चनजलप्लवैः पादपा वृद्धिं प्राप्यन्ते ॥

मित्रं महिम्ना किमनुव्रजन्तं स्वदीर्घभावेन सहायवत्तम् ।

इवाचल शैवलिनीप्रवाहः क्रमान्मुनीन्द्रोऽर्बुदमुल्लङ्घ्ये ॥ ३ ॥

मुनीन्द्रः सूरिः क्रमाद्विहारपरिपाठ्या अर्बुदं पर्वतमुल्लङ्घ्ये अतिक्रान्तवान् । क
इव । शैवलिनीप्रवाह इव । यथा शैवलान्यनवरतप्रवलप्रसरत्पयः प्रवाहत्वात्प्रादुर्भूतप्रचुर-
बहलसेवालजालानि यस्यां सा शैवलिनी नदी तस्यां प्रवाहः पयः पूरः अचलमार्गा-
गतगिरिमुल्लङ्घ्यते । अर्बुदमुत्प्रेक्ष्यते—महिम्ना माहात्म्येन गुरुतया किं मित्रं सहाय-
मिव । अत एवोत्प्रेक्ष्यते—सहायवत् अभिजनमिव । स्वस्यात्मनो दीर्घभावेन अत्या-
यामतयातिलम्बतया अनुव्रजन्तमिव पृष्ठे समायान्तमिव । यथा सहायोऽपि प्र-
स्थितपुंसोऽनुयाति । अत्र किमिति लालाघण्टान्यायेन उभयत्रापि योज्यते । द्वयो-
रप्युत्प्रेक्षयोः संयोजनीयमिति ॥

प्रतिष्ठमानः पुरतो व्रतीन्दुर्भूषामनैषीच्छिवपूःसमीपम् ।

स्वपादसंस्पर्शनतः पयोजकुञ्जं यथा पङ्कजिनीविवोढा ॥ ४ ॥

पुरतोऽग्रतः प्रतिष्ठमानः प्रचलन् व्रतीन्दुः मुनिचन्द्रः सूरिः स्वस्यात्मनः पादयोश्चर-
णयोः संस्पर्शनतः शिवपुरं श्रीरोहिण्यां नगर्यां समीपं पार्श्वप्रदेशं भूषां शोभामनै-
षीत् प्रापयामास । क इव । पङ्कजिनीविवोढेव । अत्र यथा इवार्थः । यथा कमलिनी-
रमणो भानुमान् स्वेषां पादानां किरणानां संस्पर्शनतः सपर्कात् सश्लेषात्पयोजानां क-
मलानां कुञ्जं काननं भूषां लम्बयति विकाशलक्ष्मीं नयति ॥

जनारवैरागमनं मुनीन्द्रोस्ततः सुरत्राणनृपो निपीय ।

कलापिकेकाभिरिवाम्बुदस्य नभोम्बुपः समदमेदुरोऽभूत् ॥ ५ ॥

ततः शिवपुरीसमागमनानन्तरं सुरत्राणनामा नृप शिवपुरीमण्डलस्वामी देवढाभि-
धानानां राजपुत्राणां राजा जनानां शिवपुरीवासिनां लोकानामारवै शब्दैः । वार्ताभि-
रित्यर्थः । मुनीन्द्रो सूरैरागमनं समवसरणम् । पादावधारणमित्यर्थः । निपीय सादरं श्रुत्वा
समवेदनानन्देन मेदुरः पुष्टः अभूद्वभूव । क इव । नभोम्बुप इव । यथा चातकं कला-
पिना मयूराणां केकाभिः केकाभिधानध्वनिभिः । मयूरवाक् केका इत्युच्यते । अम्बुदस्य
मेघस्य आगमनं श्रुत्वा प्रमोदोपचिततनुर्भवति ॥

भक्त्या सुरत्राणनृपोऽभिगम्य वेत्रीव दण्डं दधदग्रगामी ।

प्रवेशयामास पुरीं स सूरिं पुराङ्गनागीतयशःप्रशस्तिम् ॥ ६ ॥

स पूर्ववृत्तप्रोक्तं सुरत्राणाभिधानो नृपोऽर्बुदचलाधिपतिर्भक्त्या सेवासक्त्या अभि-
गम्य समुखमागत्य सूरिं पुरीं श्रीरोहिणी नगरीं प्रवेशयामास । शिवपुरीमध्ये आनिना-
येत्यर्थः । ण्यन्तत्वात्कर्मद्वयम् । किंभूतः स । पुरः सूरैरग्रे गच्छतीति इत्येवशीलः ।
पुनः किं कुर्वन् । दण्डं वेत्रं दधद्विभ्राणः । क इव । वेत्रीव । यथा दौवारिकं प्रती-
हारं वेत्रयष्टिं करे दधानं पुरो गच्छति । किंभूतः सूरिः । पुराङ्गनाभिः श्रीरोहि-
णीनगरीनागरीभिर्गीता गानगोचरीकृता यशसा कीर्तनां प्रशस्तयो विविधा अव-
दाता यस्य ॥

आलेख्यशेषीकृतकामदस्योरुपास्यमानस्य महीमहेन्द्रैः ।

चक्रीव चक्रस्य पुरे पुरीन्द्रो महामहं कारयति स्म सूरिः ॥ ७ ॥

पुरीन्द्रः श्रीरोहिणीपुरीपुरदरं सुरत्राणनामां भूमान् पुरे स्वश्रीरोहिणीनगरे हीरवि-
जयव्रतीन्द्रस्य महामहं प्रतिगृहापणादिषु ध्वजबन्धनादिममतिशायिनमुत्सवं कारयति
स्म । क इव । चक्रीव । यथा चक्रवर्ती प्रथमोत्पन्नस्य चक्रस्य रथाङ्गरत्नस्य महोत्सवं
निर्मापयति । किंभूतस्य सूरेश्चक्रस्य च । आलेख्यं चित्रं शेषमवशिष्टं यस्य तादृशं कृतं
निहितं कामः कदर्परूपो दस्युः शत्रुर्येन । पक्षे नामशेषीकृता व्यापादिता काम-
मतिशयेन शिरश्छेदादिना वैरिणो येन । पुनः किंभूतस्य । महीमहेन्द्रैः पृथ्वीपुरदरैः
महाराजैर्भाविनि भूतोपचारे उपास्यमानस्य चक्रप्रभावादेव चक्री सेव्यते । अतो मुख्य-
वृत्त्या चक्रमेव सेव्यम् ॥

दिदृक्षुरेतन्महिमानमभ्रसरित्सहस्रं दधतीं मुखानाम् ।

यत्रागता किं सितकेतुकाया पुरी स ता सूरिरलंचकार ॥ ८ ॥

सूरिस्ता सुरत्राणनृपनिर्मापितानेकमहोत्सवबहला शिवपुरीनाम्नी नगरीमलचकार
विभूषयामास । ता काम् । यत्र श्रीरोहिण्यामेतस्य जगज्जनमानस्य हीरविजयसूरैर्महि-
मानं स्वाभाविकमाहात्म्यम् । अथ वा सुरत्राणधरित्रीसुत्रामनिर्मापितानन्यमहोत्सवा-
दिगरीमाणं दिदृक्षुर्दृष्टुमिच्छुर्विलोकयितुमाकाङ्क्षन्ती सती । अत एव मुखानां पयः-
प्रवाहरूपवक्त्राणां सहस्रं दशशतीं दधतीं बिभ्रती । सहस्रमुखी गङ्गेति जनप्रसिद्धे ।

उत्प्रेक्ष्यते—सितानामुज्ज्वलानां केतूनां ध्वजानां कायाः शरीराणि यस्यास्तादृशी
अभ्रसरिद्रगनापगा समागता ॥

द्वितीयराशौ शतमन्युसूरिरिव क्रमेणोपगतः स तस्याम् ।

प्रकाशयन्बोधिनिधीन्विदग्धान्महोदयस्याभिमुखीचकार ॥ ९ ॥

स सूरिः क्रमेण प्रवेशपरिपाठ्या तस्या शिवपुर्यामुपगतः समायातवान् सन् विद-
ग्धान् कोविदान् छेकाञ्जनान् महान्मुरनराभ्युदयेभ्योऽतिशायी उदयो यत्र तादृशो
मोक्षस्तस्याभिमुखीचकार । धर्मोपदेशश्रवणातदेकाग्र्याराधनमनस्त्वेन सिद्धिगामिनो
विदधाति स्म । किं कुर्वन् सूरिः । बोधेरनेकभेदभिन्नसम्यक्त्वरूपात् निधीन्निवानानि
प्रकाशयन् प्रकटीकुर्वन् । क इव । शतमन्युसूरिरिव । यथा शतमन्यो शतक्रतो
पुरंदरस्य सूरिराचार्योऽध्यापयिता बृहस्पतिः । यदुक्तं नैषधे—‘ईदृशीं गिरमुदीर्य वि-
डौजा जोषमासनविशिष्य बभाषे । नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावविगुरुर्गुरुरस्य ॥’
इति । यस्य कस्यचिद्भाग्यवतः पुत्रः स्वराशितो द्वितीयो राशिस्तत्र समेत सन् निधा-
नद्रव्याणि प्रकाशानि विदवान् महोदयस्य राज्यमन्त्रिश्रेष्ठिपदादिरूपस्य महोदयस्या-
त्यभ्यधिकाभ्युदयस्य समुखीकरोति । यदुक्तं ज्योतिर्विद्धि—‘द्वितीये नवमे राशौ
बृहस्पतिरुपागतः । कुर्यान्महोदयः पुत्रगोत्रवृद्धिं धनं पुनः ॥’ इति वचनात् ॥ इति
शिवपुर्यां प्रभो पादावधारणं तन्महवर्णनं च ॥

स प्रस्थितस्तत्पुरतः पुरस्तात्स्मितप्रसूनादिव चिञ्चिरीकः ।

गण्डे गजस्येव विलङ्घ्य मार्गं स सादडीनाम्नि पुरे जगाम ॥ १० ॥

स सूरिस्तत्तत्पुरतः सीरोहीनगरात्पुरस्तादग्रे प्रस्थितः प्रचलितः सन् मार्गं पन्थानं
विलङ्घ्यातिक्रम्य सादडीनाम्नि पुरे जगाम गतवान् । क इव । चिञ्चिरीक इव । यथा
भ्रमरः स्मिताद्विकसितात्प्रसूनात्कुसुमात्प्रचलितः सन् मार्गमुलङ्घ्य गजस्य गन्धसिन्धु-
रस्य गण्डे कपोलस्थले गच्छति । ‘कटेषु करिणां पेतुः पुनागेभ्यः शिलीमुखाः’ इति
रघुवशे । प्रसूनानि त्यक्त्वा भृङ्गा गजेन्द्रगण्डस्थलगलद्धानवारि पातुः समायान्ति ॥

प्राग्वागडावन्तिविराटखानमहादिराष्ट्रापरमण्डलेषु ।

सार्थाधिपेनेव सुतेन सात विहृत्य लाभाश्च बहूनुपार्ज्य ॥ ११ ॥

कल्याणराजद्विजयाभिधानोपाध्यायचन्द्रेण समेत्य तत्र ।

क्रमादविच्छिन्नतमैः प्रयाणैः श्रीतातपादाः प्रणताः प्रमोदात् ॥ १२ ॥ (युग्मम्)

कल्याण इति पदेन राजद्वीप्यमानं विजय इत्यभिधानं नाम यस्य तादृशेनोपाध्यायेषु
वाचकेषु चन्द्रेण जनाह्लादकत्वेन विद्युना । एतावता कल्याणविजयोपाध्यायेनेत्यर्थः ।
अविच्छिन्नतमैरतिशयेन खण्डितैः त्वरितत्वरितैः प्रयाणैः प्रतिदिनं पथि प्रस्थानकैः
क्रमात् खानलाटगुर्जरार्बुदाद्रिपरिसरदेशोलङ्घनपरिपाठ्या समेत्य सादडीपुरे समागत्य

भगवन्त स्वतातमेवोद्दिश्य निर्मापित । अथ च परसमयानुसारितया वृषाङ्कस्येश्वरस्य मन्दिरमेवोत्तीर्ण शभो कैलासवासित्वादित्यप्यर्थवनि । किभूतम् । पाञ्चालिकानां विविधरचनाचारिमापूर्वपुत्रिकाणां प्रौढानां प्रगल्भानां सुरासुरनरोरगगणमनोहारिणां विलासानां विभ्रमाणां वीक्षया दर्शनेनैव हणीयमानो लज्जां प्राप्नुवन् । 'त्वयानपत्या धरणी हणीयते' इति नैषधे । 'हणीक् लजायाम्' कण्डादिधातु । युधवानां सर्वेषामपीन्द्राणामवरोधा अन्तःपुराणि यत्र यस्माद्वा ॥

ध्रुवं दधानं चतुराननीं च हिरण्यगर्भं भवसूदनं च ।

पद्मासनं स्वःसदुपास्यमानं पतिं प्रजानामपरं किमुर्व्याम् ॥ २० ॥

चैत्यमुत्प्रेक्ष्यते—उर्व्यां भूमीभुवने अपरमेकः ब्रह्मलोके सृष्टिकर्तास्ति अन्य प्रजानां पतिं धातारम् । किभूतं प्रजानां पतिम् । ध्रुवं नित्यस्थायुकं स्थिरं च । पुनः किं कुर्वाणम् । दधानं धारयन्तम् । काम् । चतुराननीम् । चतुर्णां पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरदिग्बर्तिनामाननाना वक्राणां समाहारश्चतुराननीं तां चत्वारि मुखानि विभ्राणम् । चतुर्मुखत्वात् । पुनः किभूतम् । हिरण्यं स्वर्णं गर्भे मध्ये यस्य । प्रायः प्रासादसरोवापीकूपादौ जीर्णोद्धारार्थं तत्स्वामिनो निधीन्क्षिपन्तीति स्थितिः । यदुक्तं चम्पूकथायाम्—'कुपितकपिकुलाकुलितलङ्केश्वरकिकरा इव भग्नकुम्भकर्णघनस्त्रापा कूपा' । 'भग्ना कुम्भानां घटानां कर्णा काना इति प्रसिद्धा यत्र । तथा घना प्रचुराः स्वा स्वकीया पातालमूलोत्था न तु प्रवाहादिना प्रविष्टा आपः पानीयानि येषु । अथ च घनस्त्रा बहुद्रव्या आपो जलानि येषु । प्रायो वापीकूपादौ जीर्णोद्धारार्थं निधिं क्षिपन्तीति स्थितिः । पक्षे भग्नः कुम्भकर्णस्य रावणानुजस्य घनस्त्रापो घोरनिद्रा यैः' इति चम्पूटिप्पनके । च पुनः किभूतम् । भवस्य ससारस्य सूदनं निर्नाशकम् । पद्मानां मण्डपान्तराले अन्यत्र वा आकृतयः पूजादिभिर्वा आसनं स्थानम् । पुनः किभूतम् । स्वःसद्भिः अधिष्ठातृदेवैर्नमनक्रीडागतैर्वा सुरैरुपास्यमानं सेव्यमानम् । पक्षे ध्रुवनामा । चतुर्भिर्मुखैर्युक्तं हिरण्यगर्भनामा भवान्तकृदभिवानं पद्ममरविन्दमासने पीठे यस्य । सुरश्रेष्ठत्वाद्देवसेव्यं ब्रह्म ॥ इति सप्तभिरादिकुलकम् ॥

चातुर्गतीयार्तिमहान्धकूपोद्दिधीर्षयाशेषशरीरभाजाम् ।

मूर्तीश्चतस्रः कलयन्निवासिन्मुनीन्दुनादर्शि युगादिदेवः ॥ २१ ॥

मुनीन्दुना सूरिणा अस्मिन् धरणसघपतिप्रासादे युगादिदेवः श्रीआदिनाथः अदर्शि लोचनगोचरीकृतः । किं कुर्वन् । चतस्रः चतुःसख्याका मूर्ती प्रतिमा कलयन् दधत् । उत्प्रेक्ष्यते—चातुर्गतीयाश्चतस्रस्तिर्यङ्मुरकमनुजनिर्जराणां गतयः उत्पत्तिस्थानानि तत्सबन्धिन्यो या अर्तयः शारीरिकयो मानस्यो वा पीडास्ता एव महान्तोऽगाधा अन्धकूपास्तपोनिचिता अवटस्तेभ्य उद्दिधीर्षया उद्धर्तुमिच्छया इव । केषाम् । अशेषाणां समस्तानामपि शरीरभाजामर्थादज्ञानादन्धकूपान्तं पतता भविकजनानाम् ॥

निःश्रेयसस्येव सुखं जिनेन्द्र प्रदक्षिणीकृत्य पतिर्यतीनाम् ।

सुधासनाभीभवदुक्तियुक्तेर्भक्तेः स्तुतेर्गोचरयाचकार ॥ २२ ॥

यतीना पतिर्निर्ग्रन्थनाथो हीरसूरि जिनेन्द्र श्रीऋषभदेव भक्ते सेवामक्तिवशात् सुधाया पीयूषस्य सनाभीभवन्त्य सगोत्राः सजायमाना उक्तीना वाक्याना वचनप्र-
पञ्चाना युक्तयो रचना यस्या तादृश्या स्तुते स्तोत्रस्य गोचरयाचकार । तुष्टावेत्यर्थः ।
'गोचरयन्ति न वाचो यच्चरित चन्द्रिकारुचिरम् । वाचस्पतेर्वचस्वी को वान्यो वर्णयेन्म-
नुज ॥' इति हस्तिमतीनगरीचैत्यप्रशस्तौ । किं कृत्वा । प्रभु वृषभस्वामिन प्रदक्षिणीकृत्य
युगादिदेवस्य तिस्रः प्रदक्षिणा प्रदाय । उत्प्रेक्ष्यते—नि श्रेयसस्य निश्चित श्रेयो नि-
श्रेयस मोक्षस्तस्य सुख सातमेव प्रकर्षेणानुकूलीकृत्य आत्मायत्तीकृत्य । 'दाक्षिण्यमनुकू-
लता' इति हैम्याम् । दक्षिणोऽप्यनुकूल इति ॥

संप्राप्तयोर्निर्जरनागधाम्नोरिवान्तिकेऽर्हत्क्रमसेवनाय ।

शिरोगृहक्षमागृहयोः प्रणम्य जिनान्मुनीन्दुः स ततः प्रतस्थे ॥ २३ ॥

स मुनीन्दुर्हीरसूरिस्ततो राणपुरादग्रे प्रतस्थे प्रचञ्चल । किं कृत्वा । शिरोगृहयोरु-
परितनयोर्द्वयोर्भूमिकयोस्तथा क्षमागृहाणि भूमिगृहाणि बहूनि चतुर्मुखसत्कान्यपरचैत्य-
स्थानानि च तेषु जिनान् भगवत्प्रतिमा प्रणम्य नमस्कृत्य । उत्प्रेक्ष्यते—अर्हतो मुख्य-
तथैव युगादिदेवस्य क्रमयोश्चरणयो सेवनाय उपास्तिकृत अन्तिके समीपे संप्राप्तयो
समागतयो निर्जराणां सुराणा नागाना धाम्नोर्मन्दिरयोरिव । स्वर्लोकपाताललोकयो-
रिव ॥ इति राणपुरयात्रा ॥

आउआपुरेशो जगद्धुः किमन्यस्ताल्हाभिधः साधुरनन्यदानैः ।

पीरोजिकाभिः स्वपुरप्रवेशे प्रभावनाद्युत्सवमस्य चक्रे ॥ २४ ॥

आउआ इति नाम्न पुरस्य ईशः । तदायत्तत्वात्तनाम्नैव वसतेरभिधानात् 'ताल्लामा-
नीवसही' इति लोकप्रसिद्ध्या च तत्स्वामी तात्हो इति अभिधा नाम यस्य तादृशः
साधुर्वणिक् । व्यवहारीत्यर्थः । वणिजा 'साह' इति नामोच्यते । ज्ञाता अज्ञाता अपि सर्वे
नगमा साहा एव प्रतिपाद्यन्ते । तस्य साहस्य साधुरिति पर्यायो दृश्यते श्रीमु-
निसाधुसूरिकृतसोमसौभाग्यकाव्यादिषु । उत्प्रेक्ष्यते—अनन्यदानैरसाधारणविश्राणनै
कृत्वा अन्यो द्वितीय किं जगद्धुः । प्रतिग्रामपुरदेशशत्रूपकारकरणेन जगदुद्धर्ता एकस्तु
भद्रेश्वरपुरवास्तव्य आसीत्, अपरस्तु सौजात । सोऽस्य हीरसूरे यत् आउआभिधान
पुर तस्मिन् प्रवेशे पादावधारणप्रस्तावे पीरोजिकाभि पीरोजपातिसाहिना खनात्रा
कारिताभिः पीरोजिका इति नामनाणकविशेषै प्रभावना लघुवृद्धप्रतिजनप्रदान
सैवादौ वुरि यस्य तादृशमुत्सव चक्रे कृतवान् । मरुदेशेष्वेव प्रसिद्धा पीरोजिकास्ता
ददावित्यर्थः ॥

प्राप्यानुशास्ति प्रभुतौऽशुलक्ष्मी पर्वत्ययाच्चन्द्रमसेव भानोः ।

कल्याणचञ्चद्विजयाभिधानोपाध्यायचन्द्रेण ततो न्यवर्ति ॥ २५ ॥

कल्याणेन चञ्चद्राजमान विजय इत्यभिधान यस्य तादृशेनोपाध्यायेषु शक्रेण पुरद-
रेण तत आउआग्रामान्यवर्ति पश्चाद्वलितम् । कल्याणविजयोपाध्याय पश्चाद्वलते
स्मेत्यर्थः । किं कृत्वा । प्रभुतः श्रीहीरसूरेरनुशास्तिमाज्ञा शिक्षा च प्राप्य लब्ध्वा ।
केनेव । चन्द्रमसेव । यथा चन्द्रेण भानोर्भास्करात्सकाशादशुलक्ष्मी ज्योति श्रियः स-
प्राप्य पर्वत्ययादमावास्याविरामान्निवृत्त्यते ॥

ग्रामक्षमाभृद्वनदेशदुर्गानुलङ्घ्य दुर्लङ्घ्यभुवो बभाज ।

स मेदिनीनाम पुरं यतीनां पतियथा तक्षशिला वृषाङ्कः ॥ २६ ॥

स यतीनां पतिः स्वामी सूरिः मेदिनीनाम पुरं मेडताख्यनगरं बभाजः शिश्रायः ।
किं कृत्वा । ग्रामा लघुपुराणि सनिवेशा वा, क्षमाभृतः पर्वता वेलकसत्कगिरयः । तत्र हि
सर्वेषां शैलानां 'वलो' इति नाम प्रसिद्धम् । वनानि काननानि, देशाः सामन्तानां
राजा मण्डलाः, दुर्गा विषमभूमयः कोट्या वा, तानुलङ्घ्यातिक्रम्य । किभूतान् । दुर्लङ्घ्या
दुःखेन लङ्घयितुं शक्या भुवो भूमयो येषाम् । क इव । वृषाङ्क इव । यथा ऋषभदेवो
ग्रामाद्यानुलङ्घ्य तक्षशिला बाहुबलिनगरीं भजति स्म । अयुना तु म्लेच्छाश्रितत्वेन
तस्या 'मक्का' इति नाम प्रसिद्धं श्रूयते ॥

मरुस्थलीविक्रमनागपूर्वपुरीयभव्यैर्भगवानिहैत्य ।

वैताढ्यशैलोत्तरदक्षिणाख्यश्रेणीनभोगैरिव स प्रणेमे ॥ २७ ॥

मरुषु सा स्थली वालुकाशैलमालाकुलस्थलप्रदेशे यद्विक्रमनगरं 'वीकानेर' इति
नाम पुरम्, तथा नागमिति पदपूर्वं यत्र तादृक्पुरं 'नागौर' इति प्रसिद्धम्, तयोर्विक्रमपुर-
नागपुरयोः सवन्निविर्भव्ये सधैरिह मेडतानगरे एत्यागत्य भगवान् सूरिः प्रणेमे
नमश्चक्रे । केरिव । नभोगैरिव । यथा भरतार्धविभजनजनकवैताळानाम् शैलस्य दश
योजनानि भूमेः पूर्व गमने दशदश योजनपृथुला प्रथममेखला तस्यामुत्तरा तथा द-
क्षिणा इति नाम्नी ययोस्तादृशे श्रेण्यो तयोर्दक्षिणश्रेण्योर्नभसि गगनमण्डले विद्या-
बलेन गच्छन्ति प्रचलन्तीति नभोगा विद्यावरखेचरास्तैर्भगवास्तीर्थकरः प्रणम्यते ॥

तं सादिमाद्यः सुरताननामाभ्युपेत्य भूपो बहु मन्यते स्म ।

मणिः सुराणां गुणगौरवेण कुत्रार्चनागोचरता न गच्छेत् ॥ २८ ॥

सादिमा इति पदमाद्यः प्रथमभवः अत्र तादृशः सुरतान इति नामा । सादिमासुल-
ताननामा भूपो सुद्वलेन्द्रः मेदिनीपुराविषः अभ्युपेत्य सूरिन्दोः समुखमागत्य तं हीरसूरिं
बहु मन्यते स्म बहुमानं प्रदत्ते स्म । तत्र दृष्टान्तमाचष्टे—गुणानां दानाभिलषितमाना-
दीनां गौरवेण माहात्म्येन सुराणां मणिश्चिन्तारत्नं कुत्र क्व क्व स्थाने अर्चनाया

पूजाया गोचरता योग्यतां न गच्छेन्न प्रयायात् । अपि तु सर्वत्रापि पूजा प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

पुरं पुनानेऽम्बरवन्मुनीन्द्रे महामहोऽभूदिह दानवानाम् ।

तदास्यलावण्यसुधाधयानां ज्योत्स्नाप्रियाणामिव रोहिणीशे ॥ २९ ॥

मुनीन्द्रे हीरसूरिवासवे अम्बरवद्गनाङ्गणमिव पुर मेडताख्यनगर पुनाने पवित्री-
कुर्वाणे सति तदा सूरिसमागमनावसरे आस्ये सूरिवदने यल्लावण्य सौन्दर्यं लवणिमैव सुवा-
ममृतरसं धयन्ति पिबन्तीति तेषां तादृशानां मानवानां मेडतापुरवासिभविकजनानां
महामहोऽत्युत्सवोऽभूत्सजायते स्म । केषामिव । ज्योत्स्नाप्रियाणामिव । यथा चन्द्रोऽमृ-
तपायिना चकोराणामम्बरमाकाशं पुनाने रोहिणीशे चन्द्रमसि नहोत्सवो भवेत् ॥

एकोऽहमेव त्रिजगज्जनानां पिपमि कामानपरानपेक्षः ।

इति स्मयावेशवशादिवान्तः परानपास्य स्थितमेकमेव ॥ ३० ॥

मरौ सुराणामिव शाखिनः स प्रणेमिवाञ्श्रीफलवर्धिपार्श्वम् ।

अवग्रहो वृष्टिमिवेष्टसिद्धिं बध्नाति तीर्थव्यतिलङ्घनं यत् ॥ ३१ ॥ (युग्मम्)

स हीरसूरि श्रिया जनादतिशायिमाहात्म्यलक्ष्म्या कलित फलवर्धिनामानं पार्श्वं
श्रीपार्श्वनाथं प्रणेमिवान् नमस्करोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मरौ वन्वमण्डले सुराणां शा-
खिनः कल्पवृक्षमिव । किलक्षणम् । परानन्याङ्गिनविम्बानपास्य विमुच्य एकमेव स्वयं-
मेव स्थितः स्वप्रासादे प्रवसन्तम् । श्रूयते हि तत्पार्श्वे परा कपि जिनप्रतिमापि
स्थातुं न शक्नोति अतश्चैकाग्र्येव तिष्ठति । किंचेदमस्माभिरपि श्रुतचरं दृष्टचरं च, यत्
फलवर्धिपार्श्वनाथप्रासादद्वारि कपाटौ न तिष्ठतः । कदाचित्कश्चिदानीयं योजयति तदा प्रा-
तः समये प्रासादात्क्रोशद्वयोपरि पतितौ दृश्येते, न द्वारि स्थितौ । अपि चान्यां जिनप्र-
तिमापि स्थापितापि पार्श्वे न तिष्ठतीति । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण स्मयावेशो वा-
टोपः तस्य वशादायत्तत्वादिव । इति किम् । परानन्यान्नापेक्षते न काङ्क्षति । अयं वा
परेषां न अपेक्षा यस्य स परानपेक्षस्तादृशोऽहमेक एव त्रिजगज्जनानां त्रैलोक्यलोकानां
कामान्मनोरथान् पिपमि पूरयामि इत्येको हेतुः ॥ युग्मम् ॥

प्रस्थापितः

....

... ..

..

॥ ३२ ॥

विमल इति पदमादौ यस्य तादृशो हर्षः स एवोपाध्यायंषु मिह पञ्चाननं तस्मि-
न्मेदिनीपुरे मिमेल मिलति स्म । अर्थादस्य सूरः । किवत् । ग्रहवत् । यथा बुधग्रहो दिवि
गगने इन्दोर्मिलति । विमलहर्षः किलक्षणः । सिद्धपुरात्पूर्वं सिद्धपुरनगरात्पुरोऽग्रे प्रस्थापि-
तोऽपि । कथा । साहेरकब्बरपातिसाहेर्हृदयवती य आशयः अभिप्रायः तस्य बुभुत्सया
बोद्धुमिच्छया । ज्ञातुमित्यर्थः ॥

भट्टारकेन्द्रो..... ।

..... ॥ ३३ ॥

..... ।

..... ॥ ३४ ॥ (युग्मम्)

असौ भट्टारकाणामिन्द्र पुनर्द्वितीयवार पूर्वप्रस्थापनापेक्षया तूर्णं शीघ्रममुष्मान्मे-
दिनीपुराभिधानान्नगरादेत पूर्वोक्त वाचकवासव विमलहर्षोपाध्याय पुरोऽग्रे प्रैषीत्
प्रहिणोति स्म । किं कर्तुम् । क्षितीन्द्रमकब्बरराजमपि पुनरात्मना स्वेन तदीयाशय
साहेर्निजस्याकारणाभिप्राय किमर्थमहमाकारितोऽस्मीति साहिमन परिणाम ज्ञातुम-
वबोद्धुम् । किलक्षणम् । वाचकवासवम् । श्रिया शोभया कलितो योऽसौ सीहस्तेनादिपद-
भूतेन राजन्ती शोभमाना विमल इत्याह्वा नाम यस्य तादृशेन विज्ञेषु विद्वत्सु उत्तसेन
शेखरेण श्रीसीहविमलप्रज्ञाशेन युक्त सहितम् । उत्प्रेक्ष्यते—साक्षात्प्रज्ञाप्रागल्भ्याद्गुरुणा
बृहस्पतिनेव शक्रोऽपि तावद्वाचस्पतिना सयुक्त एव स्यादिति । अथोपाध्यायस्योत्प्रेक्षा
उत्प्रेक्ष्यते—प्रज्ञा स्वप्रतिभा सैवात्मदर्शो दर्पण तत्र प्रतिबिम्बति सक्रामतीत्येवशीला
विश्वे समस्ता विश्वेषा वा त्रयाणा जगता पदार्थाना सार्था समूहा यस्य तादृशं स्व-
मात्मीय प्रधानमिव मन्त्रिणमिव ॥ युग्मम् ॥ इति मेदिनीपुरागमनफलपार्श्वनाथयात्रा-
वाचकप्रस्थापन च ॥

प्रतिष्ठमानस्य ततो व्रतीन्दोः पदे पदे पौरपरम्पराभिः ।

महामहश्रीः समतानि भानोरहःसमूहैरिव शारदीनैः ॥ ३५ ॥

ततो मेडतानगरात्प्रतिष्ठमानस्य प्रस्थान कुर्वत । प्रचलत इत्यर्थः । व्रतीन्दो सूर्ये
पदे पदे स्थाने पुरनगरग्रामादौ पौराणा नागरिकाणा परम्पराभिर्धोरणीभि महामह-
श्रीरतिमहीयसी उत्सवाना शोभा समतानि निर्मिता । कस्येव । भानोरिव । यथा शार-
दीनै शरत्कालसवन्धिभि अह समूहैर्दिनवृन्दै सूर्यस्य पदे पदे गरीयसी महसा
किरणाना श्री सतन्यते । मह किरणवाची शब्दप्रभेदे नाममालायामकारान्तो-
ऽप्यस्ति । यथा—‘मह तु महसा साकम्’ इति । तथा सकारान्तोऽप्युत्सववाची श-
ब्दोऽस्ति । यथा नेषधे—‘एन महस्विनमुपैहि सदारुणोच्चै’ इति । ‘महस्विनमुत्सवव-
न्तम् । महस्शब्द सकारान्तोऽप्यस्ति’ इति तद्वृत्तिः । तेजस्विन वा ॥

फतेपुर सागरमेखलाया वस्वोकसारामिव गन्तुमिच्छुः ।

यावत्स साज्ञा नगरं पवित्रीकरोति वाचंयमचक्रवर्ती ॥ ३६ ॥

भूपं प्रति प्राक्प्रहितोऽथ तावच्छ्रीवाचकेन्द्रो विमलादिहर्षः ।

सैन्येन सैन्येश इवानुयातो विदग्धवृन्देन फतेपुरेऽगात् ॥ ३७ ॥ (युग्मम्)

अथेत्यपरप्रारम्भे मेदिनीपुरात्प्रभोः प्रस्थानात्प्राक् पूर्वं भूप्रति प्रहितं प्रेषितो विमल इति पदमादौ यस्य तादृग्विधो हर्ष इति नामा श्रियोपाध्यायपदशोभया सहितो वाचकेन्द्र एतावता विमलहर्षोपाध्याय तावत्समय एव फतेपुरे अगाद्रच्छति स्म । जगामेत्यर्थः । किलक्षणः । विदग्धवृन्देन पण्डितमण्डलेनानुयातः । अनुगम्यमान इत्यर्थः । क इव । सैन्येश इव । यथा चक्रवर्तिना स्वमित्रमिलनार्थं कश्चित्सैन्येन कटकेनानुगतः प्रहितः सेनापतिश्चक्रिमित्रनगरे गच्छति । तावत्कुत्र । यावद्वाचयमाना मुनिना सार्वभौमश्चक्रवर्ती यावता समयेन साङ्गा नगरं पवित्रीकरोति पुनाति । किं कर्तुमिच्छुः । फतेपुरं गन्तुमिच्छुः श्रीकरीनगरीं यातुकामः । उत्प्रेक्ष्यते—सागरमेखलायाः समुद्रपर्यन्तभूमे वस्त्रोकसारामिव वनदनगरीमिव ॥ युग्मम् ॥

संस्निह्यतश्चक्षुरिव प्रियं स्वं श्रीपातिसाहि मिलति स्म पूर्वम् ।

गोष्ठीमनुष्ठाय पुनः सधर्म्या प्रामोदयत्प्रीतमना महीन्द्रम् ॥ ३८ ॥

स विमलहर्षोपाध्यायः पूर्वं सूरिमिलनात्प्राक् साहिमकब्बरपातिसाहिं मिलति स्म । किमिव । चक्षुरिव । यथा संस्निह्यत स्नेहातिशयं विभ्राणस्य नयनं स्वप्रियं निजमनोरुचितं प्रति गत्वा तदङ्गसंगमात्पूर्वमेव मिलति, पुनर्मिलित्वा अनन्तरं धर्म्या धर्मसंबन्धिनी गोष्ठीं मिथो वार्तामनुष्ठाय कृत्वा प्रीतमना स्वयं हृष्टमानसः सन् महीन्द्रं पातिसाहिं प्रामोदयत्प्रह्लादयामास ॥

कल्याणवान्कुत्र कियच्च दूरे कदायियासुः पुनरस्ति सूरिः ।

साहिस्तदोदन्तममुं मुनीन्दोः स प्राश्नयत्सख्युरिवातिहृष्यन् ॥ ३९ ॥

तदा वाचकमिलनव्यतिकरे हृष्यन् मनसि प्रमोदं प्राप्नुवन् साहिरकब्बरो मुनीन्दोर्हीरसूरेरमुमिहैव वृत्ते कथ्यमानमुदन्तं समाचारं प्राश्नयत्पृच्छति स्म । कस्येव । सख्युरिव । यथा कश्चित्सखा स्वमित्रस्योदन्तं प्रश्नयति । तमेवोदन्तप्रश्नमाह—स सूरिः कल्याणवान् कुशलीवर्तते । पुनः सूरिः कुत्र स्थाने पुरे ग्रामे वा अस्ति । पुनः कियच्च दूरे विप्रकृष्टे स्थाने वर्तते । पुनः कदा कस्मिन्काले मासे दिने अवसरे वा आयियासुरत्रागन्तुमिच्छुरस्ति ॥

प्रभुः शुभयुर्वरिवर्ति नीतिशालीव साङ्गानगरं पुनानः ।

वितिष्ठते वर्त्मनि नातिदूरे विभूषितो वर्ध्मणि वार्धकेन ॥ ४० ॥

शनैः शनैः ।

. ॥ ४१ ॥

स साहिर्वाचकेन्द्रं विससर्ज पश्चात्प्रेषयति स्म । किं कुर्वाणः । प्रभो सूरैरागमं स्वपुरे पादावधारणं समीहमानो वाञ्छन् । पुनः किंभूतः । तेनोपाध्यायेनेत्यमुना प्रकारेणोक्तो दत्तोत्तरः । इति किम् । हे साहे, प्रभुर्हीरविजयसूरिर्नीत्या न्यायेन शीलते शोभते इ-

श्रीतातपादा श्रीहीरविजयसूरिचरणारविन्दा पितृपादाश्च प्रमोदादानन्दोदयात्प्रणता नमस्कृता । किं कृत्वा । सार्थाधिपेनेव सार्थपतीभूतेन सुतेनेव पुत्रेणेव प्राक् पूर्वं गुर्जर-मालवाना मध्ये वर्तमाना वागडा । एतावता गुर्जरकच्छमध्यवर्तिनो वागडा निषिद्धा । तथा अवन्तयो मालवाः, विराटा. मालवदक्षिणान्तरालशालिनो 'वइराड' इति प्रसिद्धा, तथा खाना लाटदक्षिणवर्तिन, तथा महा इति पदमादौ येषा तादृग्विवा राष्ट्रा । महाराष्ट्रा इत्यर्थः । 'मरहड' इति प्रसिद्धा । इत्यादिष्वपरेषु गुर्जरापेक्षया अन्येष्वपि मण्डलेषु देशेषु सात सुख यथा स्यात्तथा विहृत्य विहारं कृत्वा द्रव्योपार्जनकृते बहुषु जनपदेषु व्यापारार्थं भ्रान्त्वा च पुनर्बहूननेकान् लाभान्पुण्यान्यनेकवनानि चोपार्ज्य अर्जयित्वा । गृहीत्वेत्यर्थः ॥ युग्मम् ॥

विभूषयद्विन्ध्यधराभृतोऽष्टापदस्य साकेतमिवोपकण्ठम् ।

स वाचकेन्द्रानुगतस्ततः श्रीव्रतीश्वरो राणपुरं बभाज ॥ १३ ॥

ततो वाचकागमनानन्तरं वाचकेन्द्रेण कल्याणविजयोपाध्यायेनानुगतः श्रिया भट्टारकलक्ष्म्या कलितो व्रतीश्वरः सूरिः राणपुरं नगरं बभाज श्रितवान् । पुरं किं कुर्वत् । विन्ध्यधराभृतो विन्ध्याचलस्योपकण्ठं समीपं विभूषयदलकुर्वाणम् । किमिव । साकेतमिव । यथा अष्टापदस्य कैलाशशैलस्य समीपमयोध्या अलकुरुते ॥

अथ वरणविहार —

विन्ध्याचलं तुङ्गतया वयस्यभावं भजन्तं प्रविभाव्य विद्मः ।

गिरीशशैलं मिलितुं समेतं स प्रैक्षतासिन्धरणस्य चैत्यम् ॥ १४ ॥

स सूरिरस्मिन् राणपुरे धरणनामव्यवहारिणः चैत्यं प्रासादं प्रैक्षतः व्यालोकते स्म । अत्रार्थे वयमेव विद्मः जानीमः । तुङ्गतया अत्युच्चैस्तरत्वेन वयस्यभावमित्रतां भजन्तमाश्रयन्तः विन्ध्याचलं प्रविभाव्य विलोक्य । विज्ञायेत्यर्थः । मिलितुं समेतमागतं समीपे समेतं गिरीशशैलं कैलाशपर्वतमिव । अत्र विद्म इवार्थः ॥

विनिद्रनीलाञ्जनिकानमेरुवनीविनीलालकशालमाने ।

मौलौ प्रणीतं द्रुहिणेन चान्द्रचूडामणी किं धरणीन्दिरायाः ॥ १५ ॥

चैत्यं पुनरुत्प्रेक्ष्यते—वरणीन्दिरायां भूमीमण्डललक्ष्म्या मौलौ मस्तके द्रुहिणेन विश्वसृजा प्रणीतं विरचितं चान्द्राणां चन्द्रकान्तरत्नानां चूडामणीमिव शिखारत्नमिव । किंभूते मौलौ । विनिद्रा विस्मेरा या नीलाञ्जनिकास्तमालतरवः । 'नीलाञ्जनिकाकुसुमकान्तिनि तमसि' । तथा 'नीलाञ्जनिकाकुसुमकान्तयः किरातयुवतयः' इतीदं द्वयमपि चम्पूकथायाम् । 'नीलाञ्जनिकास्तमाला' इति तद्विष्णुनके । कृष्णकान्तिवृक्षविशेषास्तेषां वनी काननं तद्वत्ते एव नीला अलका केशास्तैः कृत्वा शालमाने शोभमाने ॥

भूमीन्द्रकुम्भाभिधराणकस्य स्तम्भान्दधानं निजमण्डपान्तः ।

अनेकपस्फूर्तिभुवः समज्ञास्तम्भानिवैताञ्छिवगोत्रजैत्रान् ॥ १६ ॥

पुनश्चैत्य किं कुर्वाणम् । निजस्यात्मनो मण्डपान्तं खलामण्डपमये मेदपाट-
मण्डलाविपस्य भूमाविन्द्रोपमस्य कुम्भो इत्यभिधा नाम यस्य तादृशस्य राणकस्य । केषा-
चिदपि राजन्यानां राणो इत्यभिधा प्रोच्यते । तत् कुम्भोराणो इति प्रसिद्धस्य । राज्ञः
पञ्चशतीसुवर्णकानां समर्पणेन स्वनाम्ना कारितान् स्तम्भान् सप्तसख्याकान् मण्डपावा-
ष्टम्भस्थूणाविशेषान्दधानं विभ्राणम् । किभूतान् स्तम्भान् । अनेकपानां करिणा
स्फूर्तीनां विलसितानां भुवः स्थानानि । उत्प्रेक्ष्यते—शिवस्य शमोगोत्रस्य शैलस्य
शुभ्रश्रिया कैलाशस्य जैत्राञ्जनशीलान् एतान्प्रत्यक्षान् समज्ञायां कीर्ते स्तम्भानिव ।
किभूतान् । अनेकाञ्जनान् व्यापदुद्धरणव्यसननिराकरणद्रविणवितरणशरणरक्षणादिभिः
पातीति रक्षतीति कृत्वा अनेकपस्तत्त्वेन स्फूर्तयः प्रसिद्धयस्तासां भुवः आस्पदाः ॥

स्वतुङ्गिमाधःकृतरत्नसानुं विगाहमानं शिखरैर्विहायः ।

प्रगल्भमानं वपुषैव तेनाश्रितानिव प्रापयितुं द्युलोकम् ॥ १७ ॥

चैत्य किं कुर्वाणम् । शिखरैः स्वशृङ्गैर्विहायो गगनाङ्गणं विगाहमानं सस्पृशत्
कषट्वा । पुनः किभूतम् । स्वतुङ्गिमा स्वकीयोच्चैस्तरत्वेन अधः कृतो हीनो विहितो
रत्नसानुः सुवर्णशिखरी येन । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—आश्रितानागत्य स्वः सेवमानान् अर्थात्
निजनायकजिनभक्तिपरायणान् जनान् तेनैव वपुषा मानुषेनैव द्युलोकं स्वर्गभुवनं
प्रापयितुं प्रगल्भमानमुद्यमं कुर्वाणमिव ॥

चेतश्चमत्कारकरील्लोक्या लक्ष्मीः समालोक्य रसातिरेकात् ।

संस्तम्भिताङ्गीभिरिवामरीभिः पाञ्चालिकाभिः प्रविभासमानम् ॥ १८ ॥

पुनः किं कुर्वाणम् । प्रविभासमानं प्रकर्षेण दीप्यमानम् । अतिशायिशोभा दधानमि-
त्यर्थः । काभिः । पाञ्चालिकाभिः शालभञ्जीभिः । उत्प्रेक्ष्यते—त्रिलोक्या भुवनत्रितयस्य
चेतसामन्तकरणानां चमत्कारमाश्चर्यरसातिशयं करोतीति तादृशीलक्ष्मीरतिशायि-
शोभा समालोक्य सम्यक् सर्वाङ्गीणतया निर्वर्ण्य । रसातिरेकात्केवलं दर्शनेन विस्म-
याद्वैततया संस्तम्भिताङ्गीभिर्निश्चलीभूततनूलताभिरिव । अथ वा विमुक्तगमागमस्फुर-
णवार्तान्योन्यावलोकनावशेषपरशरीरव्यापाराभिरमरीभिर्देवाङ्गनाभिरिव ॥

पाञ्चालिकाप्रौढविलासवीक्षाहणीयमानद्युधवावरोधम् ।

अष्टापदोत्तीर्णवृषाङ्कगेहमसासहीवाद्रिनिवासजातिम् ॥ १९ ॥

चैत्यमुत्प्रेक्ष्यते—अद्रो पर्वते । शैलशिखरं इत्यर्थः । यो निवासो नित्यनिवसनत-
स्माज्जाता या अर्तिः पीडा चिन्ता शारीरिकी मानसी च तामसासहिः सोढुमशक्तम् ।
'अहिर्महीगौरवसासहिर्य' इति नैषधे । अष्टापदात्स्फटिकपर्वतादुत्तीर्णं भूमीठेऽभ्युपेतं
वृषाङ्कस्यादिदेवस्य गेहं सिंहनिष्पद्या नाम चैत्यमिव । यद्यपि चतुर्विंशतितीर्थकृतामपि
प्रासादोऽस्ति तथा मुख्यवृत्त्या ऋषभदेवस्यैव । यतो भरतचक्रिणा ऋषभदेवसमये

भगवन्त स्वतातमेवोद्दिश्य निर्मापित । अथ च परसमयानुसारितया वृषाङ्गस्येश्वरस्य मन्दिरमेवोत्तीर्ण शभोः कैलासवासित्वादित्यप्यर्थवनि । किभूतम् । पाञ्चालिकाना विविधरचनाचारिमापूर्वपुत्रिकाणा प्रौढाना प्रगल्भाना सुरासुरनरोरगगणमनोहारिणा विलासाना विभ्रमाणा वीक्षया दर्शनेनैव हणीयमानो लज्जा प्राप्नुवन् । 'त्वयानपत्या धरणी हणीयते' इति नैषधे । 'हणीक् लजायाम्' कण्डादिधातु । युधवाना सर्वेषामपीन्द्राणामवरोवा अन्तःपुराणि यत्र यस्माद्वा ॥

ध्रुवं दधानं चतुराननी च हिरण्यगर्भं भवसूदनं च ।

पद्मासनं स्वसदुपास्यमानं पति प्रजानामपरं किमुर्व्याम् ॥ २० ॥

चैत्यमुत्प्रेक्ष्यते—उर्व्या भूमीभुवने अपरमेकः ब्रह्मलोके सृष्टिकर्तास्ति अन्य प्रजाना पति धातारम् । किभूत प्रजाना पतिम् । ध्रुव नित्यस्थायुक स्थिर च । पुन कि कुर्वाणम् । दधान धारयन्तम् । काम् । चतुराननीम् । चतुर्णा पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरदिग्वर्तिनामाननाना वक्राणा समाहारश्चतुराननी ता चत्वारि मुखानि विभ्राणम् । चतुर्मुखत्वात् । पुनः किभूतम् । हिरण्य स्वर्ण गर्भे मध्ये यस्य । प्राय प्रासादसरोवापीकूपादौ जीर्णोद्धारार्थं तत्स्वामिनो निधीन्क्षिपन्तीति स्थितिः । यदुक्त चम्पूकथायाम्—'कुपि तपिकुलाकुलितलङ्केश्वरकिकरा इव भग्नकुम्भकर्णघनखापा कूपा' । 'भग्नाः कुम्भाना घटाना कर्णाः काना इति प्रसिद्धा यत्र । तथा घना प्रचुराः स्वा स्वकीया पातालमूलोत्था न तु प्रवाहादिना प्रविष्टा आपः पानीयानि येषु । अथ च घनस्वा बहुद्रव्या आपो जलानि येषु । प्रायो वापीकूपादौ जीर्णोद्धारार्थं निधि क्षिपन्तीति स्थिति । पक्षे भग्नः कुम्भकर्णस्य रावणानुजस्य घनखापो घोरनिद्रा यैः' इति चम्पूटिप्पनके । च पुनः किभूतम् । भवस्य ससारस्य सूदन निर्नाशकम् । पद्माना मण्डपान्तराले अन्यत्र वा आकृतय पूजादिभिर्वा आसन स्थानम् । पुन किभूतम् । स्व सद्भि अधिष्ठातृदेवैर्नमनक्रीडागतैर्वा सुरैरुपास्यमान सेव्यमानम् । पक्षे ध्रुवनामा । चतुर्भिर्मुखैर्युक्त हिरण्यगर्भनामा भवान्तकृदभिवान पद्मरविन्दमासने पीठे यस्य । सुरश्रेष्ठत्वादेवसेव्य ब्रह्म ॥ इति सप्तभिरादिकुलकम् ॥

चातुर्गतीयार्तिमहान्धकूपोद्दिधीर्षयाशेषशरीरभाजाम् ।

मूर्तीश्चतस्रः कलयन्निवास्मिन्मुनीन्दुनादर्शि युगादिदेवः ॥ २१ ॥

मुनीन्दुना सूरिणा अस्मिन् धरणसधपतिप्रासादे युगादिदेव श्रीआदिनाथ अदर्शि लोचनगोचरीकृत । कि कुर्वन् । चतस्र चतुःसख्याका मूर्ती प्रतिमा कलयन् दधत् । उत्प्रेक्ष्यते—चातुर्गतीयाश्चतस्रस्तिर्यङ्गरकमनुजनिर्जराणा गतय उत्पत्तिस्थानानि तत्सबन्धिन्यो या अर्तयः शारीरिक्यो मानस्यो वा पीडास्ता एव महान्तोऽगाधा अन्धकूपास्तपोनिचिता अवटास्तेभ्य उद्दिधीर्षया उद्धर्तुमिच्छया इव । केषाम् । अशेषाणा समस्तानामपि शरीरभाजामर्थादज्ञानादन्धकूपान्त पतता भविकजनानाम् ॥

निःश्रेयसस्येव सुखं जिनेन्द्र प्रदक्षिणीकृत्य पतिर्यतीनाम् ।

सुधासनाभीभवदुक्तियुक्तेर्भक्तेः स्तुतेर्गोचरयांचकार ॥ २२ ॥

यतीना पतिर्निर्ग्रन्थनायो हीरसूरि जिनेन्द्र श्रीकृष्णभदेव भक्ते सेवामक्तिवशात् सुधायाः पीयूषस्य सनाभीभवन्त्य सगोत्रा सजायमाना उक्तीना वाक्याना वचनप्र-
पञ्चाना युक्तयो रचना यस्या तादृश्या स्तुते स्तोत्रस्य गोचरयाचकार । तुष्टावेत्यर्थः ।
'गोचरयन्ति न वाचो यच्चरित चन्द्रिकारुचिरम् । वाचस्पतेर्वचस्वी को वान्यो वर्णयेन्म-
नुज ॥' इति हस्तिमतीनगरीचैत्यप्रशस्तौ । किं कृत्वा । प्रभु वृषभस्वामिन प्रदक्षिणीकृत्य
युगादिदेवस्य तिस्रः प्रदक्षिणा प्रदाय । उत्प्रेक्ष्यते—नि श्रेयसस्य निश्चित श्रेयो नि-
श्रेयस मोक्षस्तस्य सुख सातमेव प्रकर्षेणानुकूलीकृत्य आत्मायत्तीकृत्य । 'दाक्षिण्यमनुकू-
लता' इति हैम्याम् । दक्षिणोऽप्यनुकूल इति ॥

संप्राप्तयोर्निर्जरनागधाम्नोरिवान्तिकेऽर्हत्क्रमसेवनाय ।

शिरोगृहक्षमागृहयोः प्रणम्य जिनान्मुनीन्दुः स ततः प्रतस्थे ॥ २३ ॥

स मुनीन्दुर्हीरसूरिस्ततो राणपुरादग्रे प्रतस्थे प्रचचाल । किं कृत्वा । शिरोगृहयोरु-
परितनयोर्द्वयोर्भूमिकयोस्तथा क्षमागृहाणि भूमिगृहाणि बहूनि चतुर्मुखसत्कान्यपरचैत्य-
स्थानानि च तेषु जिनान् भगवत्प्रतिमा प्रणम्य नमस्कृत्य । उत्प्रेक्ष्यते—अर्हतो मुख्य-
तथैव युगादिदेवस्य क्रमयोश्चरणयो सेवनाय उपास्तिकृत अन्तिके समीपे संप्राप्तयो
समागतयो निर्जराणां सुराणा नागाना धाम्नोर्मन्दिरयोरिव । स्वर्लोकपाताललोकयो-
रिव ॥ इति राणपुरयात्रा ॥

आउआपुरेशो जगद्धूः किमन्यस्ताल्हाभिधः साधुरनन्यदानैः ।

पीरोजिकाभिः स्वपुरप्रवेशे प्रभावनाद्युत्सवमस्य चक्रे ॥ २४ ॥

आउआ इति नाम्न पुरस्य ईशः तदायत्तत्वात्तनामैव वसुतेरभिधानात् 'ताल्लामा-
नीवसही' इति लोकप्रसिद्ध्या च तत्स्वामी तात्हो इति अभिवा नाम यस्य तादृश
साधुर्वणिक् । व्यवहारीत्यर्थः । वणिजा 'साह' इति नामोच्यते । ज्ञाता अज्ञाता अपि सर्वे
नैगमा साहा एव प्रतिपाद्यन्ते । तस्य साहस्य साधुरिति पर्यायो दृश्यते श्रीसु-
मुनिसाधुसूरिकृतसोमसौभाग्यकाव्यादिषु । उत्प्रेक्ष्यते—अनन्यदानैरसाधारणविश्राणनै
कृत्वा अन्यो द्वितीय किं जगद्धू । प्रतिग्रामपुरदेशशत्रूपकारकरणेन जगदुद्धर्ता एकस्तु
भद्रेश्वरपुरवास्तव्य आसीत्, अपरस्तु सौजात । सोऽस्य हीरसूरे यत् आउआभिधान
पुर तस्मिन् प्रवेशे पादावधारणप्रस्तावे पीरोजिकाभि पीरोजपातिसाहिना स्वनाम्ना
कारिताभिः पीरोजिका इति नामनाणकविशेषैः प्रभावना लघुवृद्धप्रतिजनप्रदान
सैवादौ बुरि यस्य तादृशमुत्सव चक्रे कृतवान् । मरुदेशेष्वेव प्रसिद्धाः पीरोजिकास्ता
ददावित्यर्थः ॥

प्राप्यानुशास्ति प्रभुतौऽशुलक्ष्मी पर्वत्ययाच्चन्द्रमसेव भानोः ।

कल्याणचञ्चद्विजयाभिधानोपाध्यायचन्द्रेण ततो न्यवर्ति ॥ २५ ॥

कल्याणेन चञ्चद्राजमान विजय इत्यभिधान यस्य तादृशेनोपाध्यायेषु शक्रेण पुरदरेण तत आउआग्रामान्यवर्ति पश्चाद्वलितम् । कल्याणविजयोपाध्याय पश्चाद्वलते स्मेत्यर्थः । किं कृत्वा । प्रभुतः श्रीहीरसूरेरनुशास्तिमाणा शिक्षा च प्राप्य लब्ध्वा । केनेव । चन्द्रमसेव । यथा चन्द्रेण भानोर्भास्करात्सकाशादशुलक्ष्मी ज्योतिः प्रियः स-प्राप्य पर्वत्ययादमावास्याविरामान्निवृत्यते ॥

ग्रामक्षमाभृद्वनदेशदुर्गानुलङ्घ्य दुर्लङ्घ्यभुवो बभाज ।

स मेदिनीनाम पुर यतीनां पतियथा तक्षशिलां वृषाङ्क ॥ २६ ॥

स यतीनां पतिः स्वामी सूरिः मेदिनीनाम पुर मेडताख्यनगरं बभाजः शिश्रायः । किं कृत्वा । ग्रामा लघुपुराणि सनिवेशा वा, क्षमाभृतः पर्वता वेलकसत्कगिरयः । तत्र हि सर्वेषां शैलानां 'वलो' इति नाम प्रसिद्धम् । वनानि काननानि, देगा सामन्तानां राज्ञा मण्डला, दुर्गा विषमभूमयः कोटा वा, तानुलङ्घ्यातिक्रम्य । किंभूतान् । दुर्लङ्घ्या दुःखेन लङ्घयितुं शक्या भुवो भूमयो येषाम् । क इव । वृषाङ्क इव । यथा ऋषभदेवो ग्रामाद्यानुलङ्घ्य तक्षशिलां बाहुबलिनगरीं भजति स्म । अबुना तु म्लेच्छाश्रितत्वेन तस्या 'मक्का' इति नाम प्रसिद्धं श्रूयते ॥

मरुस्थलीविक्रमनागपूर्वपुरीयभव्यैर्भगवानिहैत्य ।

वैताढ्यशैलोत्तरदक्षिणाख्यश्रेणीनभोगैरिव स प्रणेमे ॥ २७ ॥

मरुपु मा स्थली वालुकाशैलमालाकुलस्थलप्रदेशे यद्विक्रमनगरं 'वीकानेर' इति नाम पुरम्, तथा नागमिति पदपूर्वं यत्र तादृकपुरं 'नागोर' इति प्रसिद्धम्, तयोर्विक्रमपुर-नागपुरयोः सबन्धिभिर्भव्यैः सधैरिह मेडतानगरे एत्यागत्य भगवान् सूरिः प्रणेमे नमश्चक्रे । कैरिव । नभोगैरिव । यथा भरतार्धविभजनजनकवैताळानाम् शैलस्य दशयोजनानि नूमेरुर्व गमने दशदशयोजनपृथुला प्रथममेखला तस्यामुत्तरा तथा दक्षिणा इति नाम्नी ययोस्तादृशे श्रेण्या तयोरुत्तरदक्षिणश्रेण्योर्नभसि गगनमण्डले विद्यावलेन गच्छन्ति प्रचलन्तीति नभोगा विद्यावरखेचरास्तैर्भगवास्तीर्थकरः प्रणम्यते ॥

तं सादिमाद्यः सुरताननामाभ्युपेत्य भूपो बहु मन्यते स्म ।

मणि सुराणां गुणगौरवेण कुत्रार्चनागोचरता न गच्छेत् ॥ २८ ॥

सादिमा इति पदमाद्यः प्रथमभवः यत्र तादृशः सुरतान इति नामा । सादिमासुलताननामा भूपो सुद्वलेन्द्र मेदिनीपुराविषः अभ्युपेत्य सूरिन्दोः समुखमागत्य तं हीरसूरिं बहु मन्यते स्म बहुमानं प्रदत्ते स्म । तत्र दृष्टान्तमाचष्टे—गुणानां दानाभिलषितमानादीनां गौरवेण माहात्म्येन सुराणां मणिश्चिन्तारत्नं कुत्र क्व क्व स्थाने अर्चनाया

पूनाया गोचरता योग्यतां न गच्छेन्न प्रयायात् । अपि तु सर्वत्रापि पूजा प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

पुरं पुनानेऽम्बरवन्मुनीन्द्रे महामहोऽभूदिह दानवानाम् ।

तदास्यलावण्यसुधाधयाना ज्योत्स्नाप्रियाणामिव रोहिणीशे ॥ २९ ॥

मुनीन्द्रे हीरसूरिवासवे अम्बरवद्गनाङ्गणमिव पुर मेडताख्यनगर पुनाने पवित्री-
कुर्वाणे सति तदा सूरिसमागमनावसरे आस्ये सूरिवदने यल्लावण्य सौन्दर्यं लवणिमैव सुधा-
ममृतरसं धयन्ति पिबन्तीति तेषां तादृशानां मानवानां मेडतापुरवासिभविकजनानां
महामहोऽत्युत्सवोऽभूत्सजायते स्म । केषामिव । ज्योत्स्नाप्रियाणामिव । यथा चन्द्रोऽमृ-
तपायिना चकोराणामम्बरमाकाशं पुनाने रोहिणीशे चन्द्रमसि नहोत्सवो भवेत् ॥

एकोऽहमेव त्रिजगज्जनानां पिपमि कामानपरानपेक्षः ।

इति स्मयावेशवशादिवान्तं परानपास्य स्थितमेकमेव ॥ ३० ॥

मरौ सुराणामिव शाखिनः स प्रणेमिवाञ्श्रीफलवर्धिपार्श्वम् ।

अवग्रहो वृष्टिमिवेष्टसिद्धिं बध्नाति तीर्थव्यतिलङ्घनं यत् ॥ ३१ ॥ (युग्मम्)

स हीरसूरि श्रिया जनादतिशायिमाहात्म्यलक्ष्म्या कलितं फलवर्धिनामानं पार्श्वं
श्रीपार्श्वनाथं प्रणेमिवान् नमस्करोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मरौ वन्वमण्डले सुराणां शा-
खिनः कल्पवृक्षमिव । किलक्षणम् । परानन्यात्रिनविम्बानपास्य विमुच्य एकमेव स्वयं
मेव स्थितं स्वप्रासादे प्रवसन्तम् । श्रूयते हि तत्पार्श्वे परा कापि जिनप्रतिमापि
स्थातुं न शक्नोति अतश्चैकाक्येव तिष्ठति । किंचेदमस्माभिरपि श्रुतचरं दृष्टचरं च, यत्
फलवर्धिपार्श्वनाथप्रासादद्वारि कपाटौ न तिष्ठतः । कदाचित्कश्चिदानीयं योजयति तदा प्रा-
तः समये प्रासादात्क्रोशद्वयोपरि पतितौ दृश्येते, न द्वारि स्थितौ । अपि चान्या जिनप्र-
तिमापि स्थापितापि पार्श्वे न तिष्ठतीति । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण स्मयावेशो वा-
टोपः तस्य वशादायत्तत्वादिव । इति किम् । परानन्यान्नापेक्षते न काङ्क्षति । अथ वा
परेषां न अपेक्षा यस्य स परानपेक्षस्तादृशोऽहमेक एव त्रिजगज्जनानां त्रिलोक्यलोकानां
कामान्मनोरथान् पिपमि पूरयामि इत्येको हेतुः ॥ युग्मम् ॥

प्रस्थापित

...

।

.....

.....

॥ ३२ ॥

विमल इति पदमादौ यस्य तादृशो हर्षः स एवोपाध्यायेषु सिंहं पञ्चाननं तस्मि-
न्मेदिनीपुरे मिमेल मिलति स्म । अर्थादस्य सूरः । किवत् । ग्रहवत् । यथा बुधग्रहो दिवि
गगने इन्दोर्मिलति । विमलहर्षः किलक्षणः । सिद्धपुरात्पूर्वं सिद्धपुरनगरात्पुरोऽग्रे प्रस्थापि-
तोऽपि । कथा । साहेरकब्बरपातिसाहेहदयवती य आशयः अभिप्रायः तस्य बुभुत्सया
बोद्धुमिच्छया । ज्ञातुमित्यर्थः ॥

भट्टारकेन्द्रो..... ।

॥ ३३ ॥

..... ॥ ३४ ॥ (युग्मम्)

असौ भट्टारकाणामिन्द्र पुनर्द्वितीयवार पूर्वप्रस्थापनापेक्षया तूर्णं शीघ्रममुष्मान्मेदिनीपुराभिधानान्नगरादेत पूर्वोक्त वाचकवासव विमलहर्षोपाध्याय पुरोऽग्रे प्रैषीत् प्रहिणोति स्म । किं कर्तुम् । क्षितीन्द्रमकब्बरराजमपि पुनरात्मना स्वेन तदीयाशय साहेर्निजस्याकारणाभिप्राय किमर्थमहमाकारितोऽस्मीति साहिमन परिणाम ज्ञातुमवबोद्धुम् । किंलक्षणम् । वाचकवासवम् । श्रिया शोभया कलितो योऽसौ सीहस्तेनादिपद्भूतेन राजन्ती शोभमाना विमल इत्याह्वा नाम यस्य तादृशेन विज्ञेषु विद्वत्सु उत्तसेन शेखरेण श्रीसीहविमलप्रज्ञाशेन युक्त सहितम् । उत्प्रेक्ष्यते—साक्षात्प्रज्ञाप्रागल्भ्याद्गुरुणा बृहस्पतिनेव शक्रोऽपि तावद्वाचस्पतिना सयुक्त एव स्यादिति । अथोपाध्यायस्योत्प्रेक्षा उत्प्रेक्ष्यते—प्रज्ञा स्वप्रतिभा सैवात्मदर्शो दर्पण तत्र प्रतिबिम्बति सक्रामतीत्येवशीला विश्वे समस्ता विश्वेषा वा त्रयाणा जगता पदार्थाना सार्या. समूहा यस्य तादृश स्वमात्मीय प्रधानमिव मन्त्रिणमिव ॥ युग्मम् ॥ इति मेदिनीपुरागमनफलपार्श्वनाथयात्रावाचकप्रस्थापन च ॥

प्रतिष्ठमानस्य ततो व्रतीन्दोः पदे पदे पौरपरम्पराभिः ।

महामहश्रीः समतानि भानोरहःसमूहैरिव शारदीनैः ॥ ३५ ॥

ततो मेडतानगरात्प्रतिष्ठमानस्य प्रस्थान कुर्वत । प्रचलत इत्यर्थः । व्रतीन्दो सूर्ये पदे पदे स्थाने पुरनगरग्रामादौ पौराणा नागरिकाणा परम्पराभिर्धोरणीभि महामहश्रीरतिमहीयसी उत्सवाना शोभा समतानि निर्मिता । कस्येव । भानोरिव । यथा शारदीनै शरत्कालसवन्धिभि अह समूहैर्दिनवृन्दै सूर्यस्य पदे पदे गरीयसी महसा किरणाना श्री सतन्यते । मह किरणवाची शब्दप्रभेदे नाममालायामकारान्तोऽप्यस्ति । यथा—‘मह तु महसा साकम्’ इति । तथा सकारान्तोऽप्युत्सववाची शब्दोऽस्ति । यथा नेषधे—‘एन महस्विनमुपैहि सदारुणोच्चै’ इति । ‘महस्विनमुत्सववन्तम् । महस्शब्द सकारान्तोऽप्यस्ति’ इति तद्वृत्तिः । तेजस्विन वा ॥

फतेपुरं सागरमेखलाया वस्वोकसारामिव गन्तुमिच्छुः ।

यावत्स साक्षा नगरं पवित्रीकरोति वाचयमचक्रवर्ती ॥ ३६ ॥

भूपं प्रति प्राक्प्रहितोऽथ तावच्छ्रीवाचकेन्द्रो विमलादिहर्षः ।

सैन्येन सैन्येश इवानुयातो विदग्धवृन्देन फतेपुरेऽगात् ॥ ३७ ॥ (युग्मम्)

अथेत्यपरप्रारम्भे मेदिनीपुरात्प्रभो प्रस्थानात्प्राक् पूर्वं भूप प्रति प्रहितं प्रेषितो विमल इति पदमादौ यस्य तादृग्विधो हर्ष इति नामा श्रियोपाध्यायपदशोभया सहितो वाचकेन्द्र एतावता विमलहर्षोपाध्याय तावत्समय एव फतेपुरे अगाद्रच्छति स्म । जगामेत्यर्थः । किलक्षणः । विदग्धवृन्देन पण्डितमण्डलेनानुयातः । अनुगम्यमान इत्यर्थः । क इव । सैन्येश इव । यथा चक्रवर्तिना स्वमित्रमिलनार्थं कश्चित्सैन्येन कटकेनानुगतः प्रहितः सेनापतिश्चक्रिमित्रनगरे गच्छति । तावत्कुत्र । यावद्वाचयमाना मुनिना सार्वभौमश्चक्रवर्ती यावता समयेन साङ्गा नगरं पवित्रीकरोति पुनाति । किं कर्तुमिच्छुः । फतेपुरं गन्तुमिच्छुः श्रीकरीनगरीं यातुकामः । उत्प्रेक्ष्यते—सागरमेखलायाः समुद्रपर्यन्तभूमे वस्त्रोकसारामिव वनदनगरीमिव ॥ युग्मम् ॥

संस्निह्यतश्चक्षुरिव प्रियं स्वं श्रीपातिसाहि मिलति स्म पूर्वम् ।

गोष्ठीमनुष्ठाय पुनः सधर्म्या प्रामोदयत्प्रीतमना महीन्द्रम् ॥ ३८ ॥

स विमलहर्षोपाध्यायः पूर्वं सूरिमिलनात्प्राक् साहिमकब्बरपातिसाहिं मिलति स्म । किमिव । चक्षुरिव । यथा संस्निह्यतः स्नेहातिशयं विभ्राणस्य नयनं स्वप्रियं निजमनोरुचितं प्रति गत्वा तदङ्गसंगमात्पूर्वमेव मिलति, पुनर्मिलित्वा अनन्तरं धर्म्या धर्मसंबन्धिनीं गोष्ठीं मिथो वार्तामनुष्ठाय कृत्वा प्रीतमना स्वयं हृष्टमानसः सन् महीन्द्रं पातिसाहिं प्रामोदयत्प्रह्लादयामास ॥

कल्याणवान्कुत्र कियच्च दूरे कदायियासुः पुनरस्ति सूरिः ।

साहिस्तदोदन्तममुं मुनीन्दोः स प्राश्नयत्सख्युरिवातिहृष्यन् ॥ ३९ ॥

तदा वाचकमिलनव्यतिकरे हृष्यन् मनसि प्रमोदं प्राप्नुवन् साहिरकब्बरो मुनीन्दोर्हीरसूरेरमुमिहैव वृत्ते कथ्यमानमुदन्तं समाचारं प्राश्नयत्प्रच्छति स्म । कस्येव । सख्युरिव । यथा कश्चित्सखा स्वमित्रस्योदन्तं प्रश्नयति । तमेवोदन्तप्रश्नमाह—स सूरिः कल्याणवान् कुशलीवर्तते । पुनः सूरिः कुत्र स्थाने पुरे ग्रामे वा अस्ति । पुनः कियच्च दूरे विप्रकृष्टे स्थाने वर्तते । पुनः कदा कस्मिन्काले मासे दिने अवसरे वा आयियासुरत्रागन्तुमिच्छुरस्ति ॥

प्रभुः शुभयुर्वरिवर्ति नीतिशालीव साङ्गानगरं पुनानः ।

वितिष्ठते वर्त्मनि नातिदूरे विभूषितो वर्ष्मणि वार्धकेन ॥ ४० ॥

शनैः शनैः... .. ।

... .. ॥ ४१ ॥

स साहिर्वाचकेन्द्रं विससर्ज पश्चात्प्रेषयति स्म । किं कुर्वाणः । प्रभो सूरैरागमं स्वपुरे पादावधारणं समीहमानो वाञ्छन् । पुनः किंभूतः । तेनोपाध्यायेनेत्यमुना प्रकारेणोक्तो दत्तोत्तरः । इति किम् । हे साहे, प्रभुहीरविजयसूरिर्नीत्या न्यायेन शीलते शोभते इ-

त्येवशीलस्तादृक् राजेव शुभयु शुभसयुक्त कल्याणवान् वरिवर्ति अतिशयेन कुशली वर्तते । पुनरबुना साङ्गानगरं सागानेरनाम पुर पुनान पवित्रीकुर्वाणोऽस्ति । हे साहे, नातिदूरे नेदीयस्येव वर्त्मनि मार्गे वितिष्ठन्ते । पुन वर्ष्मणि स्वशरीरे वार्धकेन वृद्धावस्थया विभूषित शोभित । यदुक्तम्—‘अलकरोति हि जरा राजामात्यभिषग्यतीन्’ इति सूक्ते । तत्तस्माद्वार्धककारणात् पथि मार्गे मन्द मन्द शनैः शनैः सचरिष्णु सचरणशीलोऽस्ति । तथा स्वल्पैरेव वासरैः स्तोकैरेव दिनैः समेता श्रीमत्पार्श्वे समायास्यति ॥ इति विमलहर्षोपाध्यायस्य साहिना मिलनगोष्ठीपश्चादागमनानि ॥

तद्वाचकेन्द्रादधिगत्य वार्ता श्राद्धैर्निनसोत्सुकितैः प्रमोदात् ।

अभ्येत्य भव्यैरिव तुङ्गिकायाः पुरो जिनेन्द्रः स ततः प्रणमे ॥ ४२ ॥

ततोऽकब्बरपार्श्वोपाध्यायस्य गमनानन्तरं स चासौ वाचकश्च तद्वाचकस्तस्माद्विमलहर्षोपाध्यायसकाशात् साहिप्रोक्ता वार्तामधिगत्य सम्यक् ज्ञात्वा निनसया सूरि नन्तु-मिच्छया उत्सुकितैस्तत्कण्ठितैः श्राद्धैः श्रीकरीश्राद्धजनैरभ्येत्य साङ्गानगरं यावत्समुखमागत्य पुरं फतेपुरसंघस्य प्रथमतः प्रमोदादानन्दात् स सूरिः प्रणमे नमश्चक्रे । केरिव । भव्यैरिव । यथा तुङ्गिकायास्तुङ्गियानाया नगर्या भविकैः श्रावकैः अभ्येत्य जिनेन्द्रो महावीरः प्रणमते स्म ॥

दत्तां सुरेभ्यो हरिणाम्बुनाथमाधेऽधिगत्येव सुधा सुरेन्द्रः ।

प्रीतेभ्य एभ्यः प्रभुरप्यवेत्योदन्त तमन्तर्मुदमादधार ॥ ४३ ॥

प्रभुहीरसूरिरपि प्रीतेभ्यो हृष्टेभ्य एभ्यः समुखागतश्रावकजनेभ्यस्त विमलहर्षोपाध्यायसत्कमुदन्त साहिमिलनादिवृत्तान्तमवेत्य ज्ञात्वा अन्तश्चित्तमध्ये मुदं हर्षमादवारं बिभर्ति स्म । क इव । सुरेन्द्र इव । यथा पुरदरं शक्रं अम्बुनाथस्य जलपते समुद्रस्य । ‘याद स्रोतोवार्नेदीश’ इति हैम्याम् । माधे मधनसमयावसाने हरिणा नारायणेन दत्ता विश्राणिताम् अत एव प्रीतेभ्यः यदर्थं समेता सा सिद्धिः सुराणां समजनि ततः प्रीतिं प्राप्तेभ्यः सुवाममृतमधिगत्य प्राप्य मनसि मोदमावत्तं ददौ ॥

पवित्रयंस्तीर्थं इवाध्वजन्तून्पुरेऽभिरामादिमवाटनाम्नि ।

यावत्समेतः प्रभुरेत्य तावद्वाग्वाचकेन्द्रेण नतः स तावत् ॥ ४४ ॥

स प्रभुहीरसूरिस्तावत्तस्मिन्नेव समये द्राक् शीघ्रमागत्य फतेपुरादभ्येत्य विमलहर्षोपाध्यायेन नतो नमस्कृतः । कदा । यावद्यस्मिन्नेव समये अभिरामा इति पदमादिमं यत्र तादृग्वाद इति नाम यस्य तादृशे पुरे एतावता अभिरामवादनगरे समेतः सम्यक् सुखेन आयातः । किं कुर्वन् । तीर्थं इव । तीर्थशब्दः पुनपुनः । ‘प्रस्थं तीर्थं प्रोथमलिन्द’ इति लिङ्गानुशासने । शत्रुजयादिरिव अध्वजन्तून्मार्गवासिनो मनुष्यान् पवित्रयन् पावनीकुर्वन् । तीर्थमपि अध्वना मार्गेण कृत्वा समायातान्यात्रिकाल्लोकान्पुनाति ॥

मधोः पिकीकान्त इवैष युष्मत्समागम काङ्क्षति भूमिकान्त ।

तद्वाचकेनेत्युदितो व्रतीन्द्रः फतेपुरोपान्तभुवं बभाज ॥ ४५ ॥

व्रतीन्द्रो हीरसूरि फतेपुरस्योपान्तभुव समीपक्षोणी बभाज शिश्राय । श्रीकरीपाश्वे समेत इत्यर्थ । किलक्षण । तद्वाचकेन स चासौ य साहिपाश्वे गत्वागतो वाचकश्च तेन इत्यमुना प्रकारेण उदित कथित । विज्ञप्त इत्यर्थ । इति किम् । हे प्रभो, एषोऽक-
ब्बरनामा भूमिकान्त पृथ्वीपति. युष्माक समागममागमन काङ्क्षति वाञ्छति । क इव ।
पिकीकान्त इव । यथा कोकिलावल्लभो मयोर्वसन्तसमयस्य समागम कामयते ॥ इति
फतेपुरसमीपे प्रभोरागम ॥

अश्रावि संघेन ततः प्रवृत्तिर्जनाननात्सूरिसमागमस्य ।

द्वीपान्तरोपागतपण्यपूर्णपोतव्रजस्य व्यवहारिणेव ॥ ४६ ॥

ततः सूरि फतेपुरसमीपागमनानन्तर संघेन श्रीकरीश्राद्धवगेण जनाना वर्धापनिका-
दायकानामाननान्मुखात्सूरि समागमस्य प्रभो पादावधारणस्य प्रवृत्तिर्वार्ता अश्रावि
श्रूयते स्म । केनेव । व्यवहारिणेव । यथा व्यापारिणा द्वीपान्तरेभ्यः अन्योन्यद्वीपेभ्यः
उपागताना तथा पण्यै क्रयाणकै पूर्णाना भृतमध्याना पोताना यानपात्राणा गणस्य
समूहस्य समागमवार्ता श्रूयते ॥

उपायनीकृत्य नृपैरिवैतन्महीमघोनः कनकाशुकादि ।

तदागमोऽभाष्यत थानसिहामीपालमानूमुखसंघमुख्यैः ॥ ४७ ॥

थानसिहो गमाङ्गजसाहिसेवक , तथा अमीपालोऽपि साहे प्रतिदिननालिकेरढाकन-
कृत् , तथा मानूमुखा आद्या येषु तादृशै सघै श्राद्धवैग मुख्यै प्रकृष्टै श्राद्धै एत-
न्महीमघोन अकब्बरसाहेस्तदागम सूरैरागमनमभाष्यत प्रोच्यते स्म । किं कृत्वा ।
नृपैरन्यभूपालैरिव कनक स्वर्णमशुकानि वस्त्राणि आदौ यस्य तादृग्वस्तुजातमुपायनी-
कृत्य ढाकयित्वा ॥

आज्ञा तवासाद्य समग्रभूमीपालाङ्कपङ्केरुहभृङ्गिताङ्घ्रैः ।

कुर्मो जिनस्येव वय प्रवेशमहं मुनीन्दोर्महनीयकीर्तेः ॥ ४८ ॥

समग्रा समस्ता ये भूमिपाला राजानस्तेषामङ्क उत्सङ्ग स एव पङ्केरुह पद्म तत्र
भृङ्गितौ भ्रमराविवाचरितौ अङ्गी चरणौ यस्य तत्सबोवनम् । हे साहे, तवाज्ञामादंश-
मासाद्य सप्राप्य वय त्वदीया महाजनजना श्रावकाश्च महनीया जगजनश्लाघ्या कीर्ति-
र्यशो यस्य तादृशस्य तीर्थकरस्येव मुनीन्दो श्रीमदाहूतश्रीहीरविजयसूरि प्रवेशस्य
फतेपुरमध्ये समागमनस्य महमुत्सव कुर्म ॥

प्रभोर्निपीयोपगमं प्रमोदप्रोत्फुल्लवक्त्राम्बुरुहो महीन्द्रः ।

सुधा स्वगाम्भीर्यजिताब्धिनेवोपदीकृतामुच्चरति स्म वाचम् ॥ ४९ ॥

महीन्द्र साहिर्वाणीमुच्चरति स्म बभाषे । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनो गाम्भीर्येण ग-
म्भीरतया जितेनाब्धिना समुद्रेण उपदीकृता सुधामिव । किंभूतं महीन्द्र । प्रमोदेना-
ल्हादेन उत्फुल्ल विकसित वक्र मुखमेवाम्बुरुह कमल यस्य । किं कृत्वा । प्रभो सूर-
रूपगम पादावधारण निपीय सादर श्रुत्वा ॥

यस्मिन्महाश्र्वर्यरसे निमग्नीभूता त्रिलोकीजनता यथा स्यात् ।

विनिर्मिमीध्व तमिह प्रवेशमहं महीयांसमहो मुनीन्दोः ॥ ५० ॥

अहो इति संबोधने । हे श्राद्धा , इह मत्फतेपुरमध्ये मुनीन्दो सूरिराजस्य त जगति
विख्यातिभाज महीयास बहुद्रविणवितरणविविधविचित्ररचनाकरणादिभिरतिमहान्त
प्रवेशस्य महमुत्सव तथा तेन प्रकारेण निर्मिमीध्व कुरुध्वम् । तथा कथं तं कच । यथा
येन प्रकारेण त्रिलोकीजनता त्रैलोक्यलोकनिकर यस्मिन्प्रवेशमहोत्सवे महानतिशायी
य आश्र्वर्यरसं विस्मयातिरेकरसस्तस्मिन्निमग्नीभूता निलीयस्थीयमाना ब्रूडितेव स्यात् ।
अत्र गर्भितोत्प्रेक्षासौ ॥

गिरं धरेन्दोर्हृदये निधाय नालीकनेत्रामिव नैगमास्ते ।

वाचस्पतेर्गोचरयन्ति वाचो न यां कदाचिन्मुदमादधुस्ताम् ॥ ५१ ॥

ते नैगमा वणिज श्राद्धास्तामसावारणा मुदं प्रमोदं दधुर्धारयन्ति स्म । या मुदं
वाचस्पते सुराचार्यस्यापि वाचो वचनरचनां कदाचित्कस्मिन्नपि प्रस्तावे गोचरयन्ति
विषयीकुर्वन्ति । गुरुगिरोऽपि या वक्तुं न प्रभवन्तीत्यर्थः । किं कृत्वा । नालीकनेत्रा
प्रफुल्लत्कमललोचनामिव धरेन्दोरकब्बरस्य वसुधाविधोर्गिरं वाणी हृदये निधाय हृदय
मनो वक्षश्च तस्मिन् स्थापयित्वा वक्षसि वनिता निधीयते मनसि वागवधार्यते च ॥
इति सूरः प्रवेशोत्सवकरणार्थं साहेर्विज्ञप्तिस्तदादेशप्राप्तिश्च ॥

निवृत्य पृथ्वीपुरद्वतपार्श्वात्सघस्य चाथाकथयन्नुदन्तम् ।

सोऽपि प्रसर्पत्प्रमदामृताब्धौ मराललीलायितमाततान ॥ ५२ ॥

अथ साहिनाज्ञाप्रदानानन्तरं स्थानसिंहादयः श्राद्धा पृथिवीपुरद्वतस्य साहे पा-
र्श्वान्निवृत्य पश्चाद्वलयित्वा सघस्य समग्रश्राद्धश्रीद्वाराजनवर्गस्य उदन्तं भूपतिसबन्धिन
वृत्तान्तमकथयन्निवेदयन्ति स्म । पुनः सघोऽपि । श्रुत्वेत्यव्याहार्यम् । प्रसर्पन्वर्धमानो यः
प्रमोदो हर्षः स एवामृताब्धिं क्षीरसमुद्रस्तस्मिन्मराललीलायितं राजहसविलसितमा-
ततानं कुरुते स्म । 'हसासाहतपद्मरेणुकपिशक्षीरार्णवाम्भोभृतैः' इति स्नातस्यास्तुतौ ।
परमानन्दमेदुरीभावबभारेत्यर्थः ॥

अथ फतेपुरसघस्य समुखगमनारम्भः —

संघः प्रतस्थेऽभिमुखं मुनीन्दोरुत्कण्ठितामाकलयन्नकुण्ठाम् ।

कूलंकषाकान्त इव प्रवृद्धकल्लोलशाली रजनीश्वरस्य ॥ ५३ ॥

सद्य आगराफतेपुरश्राद्धसमुदायो मुनीन्दोर्हीरविजयसूरेरभिमुख प्रतस्थे प्रचलति स्म । किं कुर्वन् । अकुण्ठामत्यभ्यधिकामुत्कण्ठामौत्सुक्यमस्यास्तीत्युत्कण्ठी तस्य भाव उत्कण्ठिता तामाकलयन्दधत् । क इव । कूलकषाकान्त इव । यथा कूल मर्यादाभूर्मा कषन्ति विलिखन्ति पातयन्तीति कूलकषा नद्यस्तासा कान्तो भर्ता समुद्रो वृद्धा वृद्धि प्राप्ता उपचिता ये कल्लोलास्तरङ्गास्तै शालते शोभते इत्येवशील सन् रजनीश्वरस्य विधोरभिमुख प्रतिष्ठते ॥

सुवर्णकायानतिवातवेगान्वीङ्क्षाविशेषैः क्षितिमस्पृशन्तः ।

कृष्णा इवाध्यारुरुहुर्वहन्तः श्रियं हरीन्केचन चक्रहस्ताः ॥ ५४ ॥

केचन जनाः हरीनश्वानारुरुहुः अध्यासामासु । के इव । कृष्णा इव । यथा नारायणा हरी-
न् गरुडानारोहन्ति । किं कुर्वन्तो जना नारायणाश्च । वहन्तो धारयन्त । काम् । श्रियम्,
विविधवस्त्राभरणादिशोभा लक्ष्मी च । उभयेऽपि कमला कलयन्तो वा । पुन किभूता ।
चक्र रथाङ्गमाकृत्या मूर्तिमद्रा सुदर्शन हस्ते पाणौ येषाम् । किलक्षणान् हरीन् । सुशो-
भनो वर्णो रक्तपीतश्वेतादिको येषाम् । यदुक्त हैम्याम्—‘सिते तु तत्र कोकाहौ
खोद्गाह श्वेतपिङ्गले । पीयूषवर्णे सेराह पीते तु हरयो हये ॥ कृष्णवर्णे तु खुद्गाह कि-
याहो लोहितो हय । आनीलस्तु नीलकोऽत्र त्रियूह कपिलो हय ॥’ इत्यादिवचनात् ।
पक्षे । स्वर्णकायास्तन्मयत्वात् । यदुक्त हैम्याम्—‘पक्षिस्वामी काश्यपी स्वर्णकाय’
इति । पुन किभूता । अतिक्रान्ता वाताना पवनाना वेगो यैर्द्वयेऽपि । पुन किभूताः ।
वीङ्क्षाना धौरित-वल्गित प्लुति-उत्तेजित-उत्तरिताभिधानाना वारागतीना विशेषैरतिशयै-
र्विविधप्रकारैर्वा । ‘धौरित वल्गित प्लुत्युत्तेजितोत्तरितानिव । गतय पञ्च धाराख्यास्तरङ्गाणा
क्रमादिमा ॥’ इति हैम्याम् । क्षिति क्षोणीमण्डलमस्पृशन्त पादैर्न सद्यद्व्यन्तः शीघ्रगामि-
तया । अथ वा उत्तालफालललितैर्भूमी स्पृशन्तोऽपि न दृश्यन्ते । यदुक्त नैषधे—‘दृ-
ग्ज्ञेयकेवलनभ क्रमणप्रवाहैर्वाहैरलुयत सहस्रद्वगर्वगर्व’ इति । पक्षे खगतया ॥

बभुर्विभूषांशुतडिद्वितानानार्जोर्जितस्पन्दिमदाम्बुधारान् ।

शक्रेण कायाः कुतुकात्कृताः किं यानाम्बुदान्केचिदिभान्भजन्तः ॥ ५५ ॥

केचिजना बभु शुशुभिरे । किं कुर्वन्त । इभान् हस्तिनो भजन्तोऽध्यारोहन्त ।
उत्प्रेक्ष्यते—कुतुकात्कौतूहलात् शक्रेण काया स्वशरीराणि किं कृता । किं कुर्वन्त
काया । यानानि वाहनीभूतानम्बुदान्मेघानाश्रयन्त । ‘सक्रन्दनाखण्डलमेघवाहना’ इति
हैम्याम् । इभानम्बुदाश्च किलक्षणान् । विशिष्टा भूषा आभरणानि तेषामश्व किरणा
एव तडिता विद्युता वितान वृन्द येषा तान् । ‘विनैव भूषामवधि श्रियामसौ’ इति
नैषधे । ‘भूषा आभरणानि’ इति तद्वृत्ति । विशिष्टा शोभा येषा तादृशा अशवो यासा
तादृग्विवाना सौदामिनीना मण्डल येषु । गर्जाभिर्गर्जारवै कृत्वा उभयेऽप्युर्जिता प्र-
वला. स्पन्दन्ति क्षरन्ति इत्येवशीला मदा दानानि त एवाम्बूनि जलानि तेषा वारा

प्रवाहा येषु स्पन्दन्ति निष्पतन्ति इत्येवशीला मदेनाहकारेण एकैके+योऽ+यधिका+न्य-
धिका । अथ वा ग्रीष्मतप्तीभूत भूलोक निर्वापयिष्याम शीतलीकरिष्याम इति मदेन
हर्षेण युक्ता पयसा धारा येषाम् । 'मदो रेतस्यहकारे मद्ये हर्षेभदानयो' । कस्तूरि-
काया क्षेप्ये च' इत्यनेकार्थः । पश्चात्कर्मवारयः ॥

रथ्यैः सनाथान्मणिशातकुम्भसंदर्भगर्भान् रथिकैः श्रिताङ्गान् ।

मरुद्रथान्स्वःसदना इवात्र व्यभूषयन्केऽपि पुनः शताङ्गान् ॥ ५६ ॥

अत्र समुखागमनोत्सवे पुनः केऽपि जनाः शताङ्गान् रथान् व्यभूषयन् अलकुर्वन्ति
स्म । किभूतान् । रथ्यैरथैर्वृषभैर्वा सनाथान् सहितान् । पुनः किभूतान् । मणीना
नानाविधरत्नानां शातकुम्भानां स्वर्णानां सदर्भो रचना गर्भे मध्ये येषाम् । पुनः किभू-
तान् । रथिकै रथारोहिभिः श्रितः सेवितः अङ्ग उत्सङ्गो येषाम् । के इव । स्व सदना
इव । यथा देवा मरुद्रथान् दिव्यस्यन्दनान् विभूषयन्ति ॥

स्थलप्रफुल्लवहैमपद्मलेखाविभूषामिव लम्भयन्तः ।

क्रमद्वयीचङ्क्रमणक्रमेणालंचक्रिरे केचन वार्धिकाञ्चीम् ॥ ५७ ॥

केचन जना क्रमयोश्चरणयोर्द्वयी तथा यच्चङ्क्रमण प्रचलन तस्य क्रमेण परिपाठ्या
वार्धिकाञ्ची भूमीमलचक्रिरे भूषयन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्थले जलातिरिक्तप्रदेशे प्रफु-
ल्लन्ति विजृम्भमाणानि नवानि प्रथमप्ररूढानि हैमानि कनकसबन्धीनि पद्मानि कमलानि
तेषां लेखा श्रेणयस्तासां विभूषा शोभा लम्भयन्तः प्रापयन्त इव । उत्फुल्लस्थलपद्माभ-
भवच्चरणभूषिता' इति चम्पूकथायाम् ॥

दधुस्तदा जन्मजुषो विभूषां भूषाविशेषान्वपुषा वहन्तः ।

श्रिया जितेनामरसद्वनेवोपदीकृताः स्वीयसुरा नगर्याः ॥ ५८ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे जन्मजुषो मनुष्या विभूषामलकारादिक दधुर्वारयन्ति स्म । कि
कुर्वन्तः । वपुषा शरीरेण भूषाणां शोभानां विशेषानतिशयान् वहन्तः दधतः । उत्प्रे-
क्ष्यते—श्रिया लक्ष्म्या कृत्वा जितेनाभिभूतेन अमरसद्वना स्वर्गेण नगर्याः श्रीकर्याः
स्वीया आत्मीया सुरा देवा उपदीकृता ढौकिता इव ॥

आरुह्य वाहं पितुरिन्द्रसूनुः स्निग्धैर्निखेलन्किमनेकमूर्ति ।

पर्याणितप्रौढहयाधिरूढाः शृङ्गारिता भान्ति तदा कुमाराः ॥ ५९ ॥

तदा तस्मिन्प्रस्तावे शृङ्गारो वस्त्रालकारादिवेष सजात एषामिति शृङ्गारिता । अथ
वा शृङ्गारसहितान्कुर्वन्तीति शृङ्गारयन्ति शृङ्गार्यन्ते स्मेति शृङ्गारिता कुमारा भान्ति
शोभन्ते । किलक्षणा । पर्याण पल्ययन जातमेषामिति पर्याणिता । पर्याणयुक्त कुर्व-
न्तीति पर्याणयन्ति पर्याण्यन्ते स्मेति पर्याणिता वा तथा प्रौढाः प्रगल्भा पुरुषप्रमाणा
वा हया अश्वास्तानधिरूढाः । 'जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम्' इति नैषधे ।

उत्प्रेक्ष्यते—पितुरिन्द्रस्य वाहमुच्चैः श्रवसमारुह्याध्यास्य अनेका शतशो मूर्तयो देहा यस्य । वाहा अपि अनेका इन्द्रस्य विद्यन्ते । यदुक्तं रघुवशे—‘शतैस्तमक्षणामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः’ इति वाजिबाहुल्यम् । एतावता श्वेतनीलवर्णानामुपलक्षणादन्यवर्णसबन्धिनोऽपि सभाव्यन्ते । अथ च जातिवाचित्वादेकवचनम् । अनेकमूर्तित्वेन जयन्तस्यारोहणाश्वा अप्यनेके जाता एव । अथ च त्रिगधैर्मित्रैः सम निखेलन् क्रीडन् । मित्रा अप्यनेकवर्णाश्वाधिरूढाश्च सभाव्यन्ते । तादृश इन्द्रसूनुर्जयदत्ततामेव ॥

तदा कुमारीभिरभासि भास्वन्मुक्तामणीस्वर्णविभूषणाभिः ।

इवानुजाभिः सुरराजसूनो रिरंसयोर्वीतलशालिनीभिः ॥ ६० ॥

तदा तस्मिन्व्यतिकरे भास्वन्ति दीप्यमानानि मुक्तानां लघुस्थूलप्रमाणादीनां मुक्ताफलानां मणीनां करतलपद्मरागेन्द्रनीलहीरकमुख्यानां रत्नानां स्वर्णानां श्वेतरक्तपीतवर्णकनकानां विभूषणान्याभरणानि यासां तादृशीभिः कुमारीभिरनूढाष्टनवदशवर्षदेशीयबालिकाभिरभासि शुशुभे । उत्प्रेक्ष्यते—रिरंसया चलवयस्त्वेन क्रीडा कर्तुमिच्छया उर्वीतलभूमण्डलं शालन्ति सेवन्ते इत्येवशीलाभिः सुरराजसूनोर्जयन्तस्यानुजाभिर्लघुभगिनीभिरिव । स्वसुहृद्भिः समं क्रीडा कर्तुं कौतुकात्कृतानेकमूर्तिं भ्रातरं जयन्तं विभाव्य तद्दर्शनोत्पन्नाद्वैतात्मकौतूहलाकलितरसिकमानसतया जयन्तलघुभगिन्या जयन्त्या अपि कृताभिः अनेकाभिर्मूर्तिभिरिवेत्यर्थः । अत एता सर्वा अपि लघुभगिन्य एव ॥

परम्पराभिः पुरसुन्दरीणां राज्ञी जनानामनुगम्यते स्म ।

महे मुनीन्दोः शरदीव राजमरालमाला कलहसिकाभिः ॥ ६१ ॥

मुनीन्दोः सुरेर्महे प्रवेशोत्सवे जनानामागराफतेपुरादिनगरनागराणां राज्ञी श्रेणी पुरसुन्दरीणां परम्पराभिः मेवातमण्डलनागराणां पङ्क्तिभिः अनुगम्यते स्म । नराणामनुचार्योऽपि प्रचेलुरित्यर्थः । काभिरिव । कलहसिकाभिरिव । यथा शरदि घनात्यये राजमरालमाला राजहसावली राजहसीभिरनुगम्यते ॥

भूषामणिद्योतितदिङ्मुखाभिश्चापल्यचञ्चत्कुलबालिकाभिः ।

बभेऽभ्रखेदाद्भुवमीयुषीभिरिवार्भकाभिर्जलबालकाभिः ॥ ६२ ॥

भूषाणामलकाराणां मणिभिर्मणिक्वयैः । रत्नकान्तिभिरित्यर्थः । द्योतितानि प्रकाशितानि दिशा दशानामपि हरिता मुखानि याभिस्तादृशीभिः । तथा चापल्येन चञ्चलतया चञ्चन्तीभिः कुलबालिकाभिः सुजातकुमारिकाभिः बभे दीप्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अग्रे आकाशमार्गे चिरविलसनेन बहुकालं विलासकरणेनोद्भूतखेदानि प्रकटीभवन्निर्वेदाद्भुवः भूमण्डलं प्रति द्रैयुषीभिरागताभिर्बालिकाभिर्लघ्वीभिर्जलबालिकाभिर्विद्युद्भिरिव ॥

सगर्भभावं विधुना दधानाः सारस्वता मर्त्यनिषेव्यमानाः ।

तदा स्म रङ्गन्ति पुरस्तुरङ्गाः क्षमायामिवोच्चैः श्रवसोऽनुबिम्बाः ॥ ६३ ॥

तदा तस्मिन्नुत्सवे पुर पुरस्तात्सघाग्रे तुरङ्गा अश्वा रङ्गन्ति स्म । सौवर्णपर्याणादिभि
गृङ्गारिता अनधिरूढनरा लोके 'जलमतीघोडा' इति प्रसिद्धा । ते पुरतः प्रचेलु ।
उच्चै श्रवस इन्द्राश्वस्य अनुबिम्बा. प्रतिकृतय इव । कि कुर्वाणा । विधुना चन्द्रेण सह
सगर्भभाव आतृत्वम् । 'सगर्भसहजा अपि' इति हैम्याम् । तुल्यवर्णेन समुद्रोत्पन्नत्वेन च
चन्द्रोच्चै श्रवसो तथा । पुन किभूता । सारस्वता काश्मीरदेशोद्भवा । तथा मर्त्ये
सम्यगलक्षणयुक्तत्वेन मनुष्यैर्निषेव्या उपास्यमाना । पक्षे सरस्वति समुद्रे । 'याद-
स्रोतो वार्नदीश सरस्वान्' इति हैम्याम् । भव सारस्वत । तथा अमर्त्ये. इन्द्राश्वत्वात्सुरै.
ससेव्यमानै । ततोऽत्र कर्मवारय ॥

यस्मिञ्जयन्त्य कलकण्ठकण्ठाञ्जगु. समुत्कण्ठितकम्बुकण्ठ्यः ।

सिद्धाङ्गना. स्वर्गिगिरेर्धराया गुणान्गणीन्दोरिव गातुमेताः ॥ ६४ ॥

यस्मिन्महोत्सवे समुत्कण्ठिता. गुरुगुणान् गातु सम्यक् त्रिधाप्युत्कण्ठा औत्सुक्य
जातमासामिति समुत्कण्ठिता कम्बुकण्ठ्य सलक्षणलक्ष्मीवन्मृगाक्ष्यः जगुर्मधुर गायन्ति
स्म । कि कुर्वन्त्य । कलकण्ठाना कोकिलाना कण्ठान् ध्वनीन् जयन्त्य । 'कण्ठो
ध्वनौ सनिधाने श्रीवाया मदनद्रुमे' इत्यनेकार्थः । उत्प्रेक्ष्यते—गणीना साङ्गप्रवचने-
ऽधीतानामिन्दोश्चन्द्रस्य सूरिन्द्रस्य गुणान् गातु गानगोचरीकर्तु स्वर्गिगिरेमेरुपर्वतादेता
आगता सिद्धा देवविशेषास्तेषामङ्गना स्त्रिय इव । कि च किनरसिद्धाङ्गना एव गीतौ
प्रसिद्धिभाज । यदुक्त भोजप्रबन्धे—'देव त्व जय कासि लुब्धकवधूर्हस्ते किमेतत्पल
क्षाम कि सहज ब्रवीमि नृपते यद्यस्ति ते कौतुकम् । गायन्ति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनीती-
रेषु सिद्धाङ्गना गीतान्वा न तृण चरन्ति हरिणास्तेनामिष दुर्बलम् ॥' इति । तथा च
'यस्मिन्नासन्नसारङ्गा सार गायति किनरी' इति चम्पूकथायाम् । कि च । मेरु सुरावास
सर्वेषामपि देवाना साधारणवासत्वात्सिद्धानामप्यावास । ततस्तत आगमन युक्तमेव ॥

द्विपैर्व्यतायन्त पटिष्ठघण्टाटङ्कारवाव्याहतबृहितानि ।

महीतलोद्वासितदुर्नयस्य प्रस्थानढक्काकणितानि मन्ये ॥ ६५ ॥

द्विपैर्वारणैरतिशयेन पट्टनि पटिष्ठानि तथा घण्टानामन्तर्लम्बितायतदृढलालाभिवा-
द्यमानवाद्यविशेषाणा देवगृहादौ गजघण्टादिषु च प्रसिद्धाना टङ्कारवैष्टणत्कृतिकृतिकृ
द्वनिविशेषैरव्याहतानि अनिहुतानि बहुलीकृतानि बृहितानि गजगर्जारवा व्यतायन्त
विस्तार्यन्ते स्म । गजशब्दा बृहितान्युच्यन्ते । यदुक्त हैम्याम्—'गजाना गर्जबृहिते'
इति । उत्प्रेक्ष्यते—महीतलाद्भूमीमण्डलादुद्वासितस्य निष्कासितस्य दुर्नयस्यान्यायस्य
प्रस्थाने प्रचलने ढक्का पटह । 'ढक्का भेरी दुन्दुभिरानक' इति हैम्याम् । तस्य कणितानि
प्रयाणपटहध्वनय इव ॥

भाकारिभेरीनिनदन्नफेरीर्नादैर्दिगन्तानपि पूरयन्तीः ।

कर्णातिथीकृत्य कुपक्षलक्षैर्निर्घोषिवर्षाशरभीवभूवे ॥ ६६ ॥

भामिति शब्द कुर्वन्तीति भाकारिण्यस्तादृश्यो भेर्यो दुन्दुभय अतिलम्बास्ताम्रमया तद्युक्ता या निनदन्य. शब्दायमाना नफेर्य पित्तलमया विचित्ररचनावत्य सुख-
वाद्या वादित्रविशेषास्ता कर्णातिथीकृत्य स्वश्रवणाना प्राधुणी प्रणीय । श्रुत्वेत्यर्थ ।
कुत्सित सिद्धान्तविरुद्ध पक्ष स्वीकारो येषामेतावता कुमतभाजाम् अथवा मिथ्या-
दृशां लक्षैः परोलक्षैः निर्घोषो नितरा घोष कटत्कार भयानकगर्जित विद्या तथा
सुता निर्घोषिण्य ताश्च ता वर्षाश्च प्राशृष तासाम् । वर्षाशब्दस्य बहुवचनान्तत्वात् ।
शरभीवभूवे । अष्टापदीभाव भेजे । वर्षासु मेघगर्जित निशम्य शरभा उत्पत्योत्पत्य
भूमौ पतित्वा म्रियन्ते । तथा भेरीनफेरीशब्दानाकर्ण्य कुपाक्षिका अपि मृतप्राया इव
जायन्ते स्म । किं कुर्वती नफेरी । नादैः स्वाद्वैतशब्दैर्दिगन्तानपि निखिलहरिताम-
वसानगह्वराण्यपि पूरयन्तीनिर्भर भरन्ती ॥

संध्याद्रुहः केऽप्यवहन्विहायोलिहः शयाम्भोरुहि वैजयन्तीः ।

प्रकाशयन्तः प्रति मुक्तकान्तं मूर्तानुरागानिव रन्तुकामाः ॥ ६७ ॥

केऽपि भव्या अनुचरा वा शयाम्भोरुहि करकमले । एकवचन जातिवाचित्वात् । पाणि-
पद्मेष्वित्यर्थ । वैजयन्ती पताका अवहन् वारयन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—रन्तुकामाः
क्रीडितुमिच्छन् सन्त मुक्तकान्त सिद्धवधू प्रति मूर्तानुरागानिव प्रकाशयन्तः
प्रकटीकुर्वन्त इव । किंभूता वैजयन्ती । संध्या संध्यारागश्रिय रक्ततया द्रुहन्तीस्तस्य
स्पर्धिनी । पुनः किंभूता । विहाय आकाश लिहन्ति स्पृशन्ति इति गगनमण्डलो-
ल्लेखिनी । अतितुङ्गा इत्यर्थ ॥

मृगीदृशः काचन शातकौम्भान्कुम्भाञ्जिशरोभिर्विभरावभूवुः ।

प्राक्स्वगृहीता सुषमा स्तनेभ्यः पश्चाज्जिघृक्षूनुपजग्मुषः किम् ॥ ६८ ॥

काचन मृगीदृशः सधववध्व शिरोभिरुत्तमाङ्गैः कृत्वा शातकौम्भान् स्वर्णमयान्कु-
म्भान् कलशान्बिभरावभूवुः बिभ्रति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—प्राक् पूर्व स्वामात्मीया गृहीता
पराभूयोपात्ता सुषमा सातिशायिनी स्तनेभ्यः युवतीप्रौढपयोवरेभ्यः सकाशात्कथ-
चनानुनयादिना पश्चाज्जिघृक्षून् ग्रहीतुमिच्छून् । किंभूतान् । उपजग्मुष आगतानिव ॥

रौप्यानिपा नीलकजापिधाना मूर्धस्वधीयन्त तदा पराभिः ।

महामह तं कचनाप्यदृष्ट द्रष्टुं मृगाङ्गाः किमुपेयिवासः ॥ ६९ ॥

तदा तस्मिन्प्रभुप्रवेशोत्सवे पराभिरन्याभिः पद्मवदनाभिः रौप्या रजतनिर्मिता
निपा कलशा मूर्धसु मस्तकेष्वधीयन्त द्रियन्ते स्म । किलक्षणा । नीलकजस्य इन्दी-
वरस्य अपिधानमाच्छादन येषु । ‘वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो’ अस्मादत्र
विकल्पो ग्राह्यः । तेनावगाहो वगाहश्च, अपिधान पिधान चेति । तदेव नैषधे-
ऽप्याह—‘व्रजति कुमुदे दृष्ट्वा मोह दशोरपिवायके’ इति । उत्प्रेक्ष्यते—कचनापि कुत्रापि
स्थाने अदृष्टं न नयनाभ्या निभालितं तं जगद्वैतमहामहमतिशायिनमुत्सव द्रष्टुं

साक्षाच्चक्षुर्लक्षीकर्तुमुपेयिवास समागता । किभूता । मृगाङ्गा सलक्ष्माणश्चन्द्रा इव ।
'राकामृगाङ्गा ससूय विभान्ति शरणागता' इति पाण्डवचरित्रे पूर्णेन्दुबाहुल्यम् ॥

पुरश्चरन्तः पथि हर्षहेषामिषात्तदा वलिगतवेल्लिताङ्गाः ।

गायन्ति गन्धर्वगणा गणेन्द्रगुणान्वितन्वन्त इवाङ्गहारम् ॥ ७० ॥

पथि मार्गे पुर फतेपुरसघस्य पुरस्ताच्चरन्तो गन्धर्वाणा वाजिना देवगायनाना च
गणाः हर्षेण युक्ता हेषा हयध्वनय । 'हेषा हेषा तुरङ्गाणाम्' इति हैम्याम् । तासा
मिषात्कपटात् गणेन्द्रस्य गच्छपुरदरस्य हीरसूरेर्गुणान् गायन्ति । किलक्षणाः । वलिगतै-
द्वितीयगतिविशेषै कृत्वा वेल्लितमन्दोलित चञ्चलीकृतमङ्ग कायो येस्ते । तत्राप्यु-
त्प्रेक्ष्यते—अङ्गहारमङ्गविक्षेप नृत्याङ्गविशेष वितन्वन्तो विस्तारयन्त इव ॥

व्यसीसृपच्छ्रोत्रसुधायमानगाना तदा वैणिकपङ्क्तिरग्रे ।

किमागतामिन्द्रपुरी पुरी ता रसादिदक्षुस्तुरगास्यसंसत् ॥ ७१ ॥

तदा तत्र प्रक्रमे वैणिकाना पङ्क्तिवारणी अग्रे सघस्य पुरस्ताद्व्यसीसृपद्विसर्पति स्म
प्रचचाल । 'गच्छति विसर्पत्ययत्ययते' इति क्रियाकलापे । किभूता । श्रोत्रयो-
श्रोतृश्रवणयो सुधायमानममृतमिवाचरत् गान गीत यस्या । उत्प्रेक्ष्यते—अतिक्रान्ता
स्ववैभवै पराभूता इन्द्रपुरी अमरावती यया तस्या सर्वनगरीभ्योऽतिशायित्वात्
तादृशीं श्रीकरी नाम नगरी रसादाश्चर्यौत्सुक्यादिदक्षुर्दृष्टुमिच्छुरागता समेता तुरगा-
स्याना किनराणा ससत्सभा इव समूह इव । 'उडुपरिषद कि नार्हन्ती निश किम-
नौचिती' इति नैषधे । 'उडुपरिषद तारासमूहस्य' इति तद्वृत्तौ ॥

नि.स्वानवृन्दे प्रददुः प्रहारान्केचिद्विपक्षत्रजवक्षसीव ।

अताडयन्केऽपि पुनर्मृदङ्गानमी सरन्ध्रा द्विमुखा इतीव ॥ ७२ ॥

केऽपि नि स्वानवादका जना नि स्वानाना राजवाद्याना 'दामामा' इति प्रसिद्धाना
वृन्दे प्रकरे प्रहारान् दण्डमहती ददु । वादयन्ति स्मेत्यर्थः । विपक्षाना जिनशास-
नप्रत्यनीकाना व्रजाना समुदायाना वक्षसि हृदये इव प्रहारान्ददते । दुर्वादिहृदयानीव
ताडयन्ति । पुन केऽपि मार्दङ्गिका 'मादलिया' इति प्रसिद्धा मृदङ्गान्मुरजानताड-
यन् वोवो दोदो वा इति शब्द कारयन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोस्ताडयन्ति ।
इति किम् । यदमी यत्कारणादेते सह रन्ध्रैर्दोषैश्छिद्रैर्वा वर्तन्ते इति सरन्ध्रा सापगुणा
तथा द्विमुखा कर्णेजपवद्वे मुखे येषा ते । एकत्र पृथक् वदन्ति, अपरत्र च भिन्न वद-
न्तीति द्विमुखत्वम् । मृदङ्गास्तु नरमादलक्षणत्वे द्वयो पार्श्वयो शब्दायन्ते ॥

वनप्रदेशा इव केऽप्यलाबूव्यालम्बिवंशा सविरावितालाः ।

केचिन्मुकुन्दा इव कम्बुहस्ता वीणाकराः केऽपि गणा इवासन् ॥ ७३ ॥

केऽपि जनास्तत्समये वनप्रदेशा विपिनभूमिभागा इव अलावू तुम्बिनीलतां तुम्बक
न विशेषेणालम्बन्ते आश्रयन्ते इत्येवशीला वशा वेणवो येषा येषु वा अमृतीयुक्ता
केवलतुम्बकेन तन्त्रीवादका वा आसन् । तथा केचिज्जनास्तालधरा विशिष्ट रवन्ति
ध्वनन्तीत्येवशीला विराविणस्तादृशास्ताला व्यवपुटा सशब्दतालद्रुमा वा येषा येषु वा ।
'अभ्यभूयत वाहाना चरतां गात्रशिञ्जितै । मर्मर पवनोद्भूतराजतालीवनध्वनिः ॥'
इति रघौ । इदानीमपि शुष्कपत्रास्तालतरव सशब्दा दृश्यन्ते च । केचिज्जना मुकुन्दाः
कृष्णा इव कम्बु सामान्य शङ्ख पाञ्चजन्यश्च हस्ते पाणौ येषा तादृग्विधा बभूवुः ।
तथा केचित्पुरुषा गणा ईश्वरसेवकदेवविशेषा । 'प्रमथाः पार्षदा गणा' इति हैम्याम् ।
ते इव वीणा विपञ्ची । तथा 'गणना तु प्रभावती' इति हैमीवचनात् प्रभावतीनाम्नी
वल्लकी करे हस्ते येषा तादृशा आसन्नभूवन् ॥

अपूरयन्केऽपि तदा त्रिरेखान्हंसायमानान्मुखपङ्कजाङ्के ।

विघ्नाधिपं किं विधृतावधानं जिघासया विघ्नततेः सृजन्तः ॥ ७४ ॥

केऽपि शाङ्खिका शङ्खवादका तदा तस्मिन्व्यतिकरे त्रिरेखान्कम्बूनपूरयन् प्राणवातै
पूरयन्ति स्म वादयामासुः । किभूतान् । मुखमेव पङ्कज कमल तस्याङ्के उत्सङ्गे हसा-
यमानान् मरालानिवाचरत । उत्प्रेक्ष्यते—विघ्नानां प्रत्यूहानां ततेवोरण्या जिघासया
हन्तुमिच्छया विघ्नाधिपं विनायकं विधृतावधानं दत्तज्ञानोपयोगम् । सावधानमित्यर्थः ।
किभूता । सृजन्तः कुर्वन्त इव ॥

गीति जगुः केचन रासकांश्च सूरैर्यशः केऽपि जयारवाश्च ।

कैश्चिन्मुदानर्तिं तमोऽप्यकर्तिं प्रावर्तिं पुण्ये कुपथान्न्यवर्तिं ॥ ७५ ॥

केचन जना गान्धर्विका गीतिं मधुरध्वनिं गानं जगुर्गायन्ति स्म । केचन रासकगा-
यका रासकान् जन्मदिनादारभ्य सूरिपदैश्वर्यपर्यन्तान् रासान् प्राकृतभाषया चरित्र-
प्रबन्वान् विविधपूर्वपुरुषावदातान्वा जगुः । 'कै गै रै' शब्दे' इति वातो । कथयन्ति
स्म गायन्ति इव । केचित्स्तुतिव्रता पुरुषा सूरैर्भट्टारकस्य यशं जगज्जनजेगीयमाना
कीर्तिं गायन्ति स्म । केऽपि मङ्गलपाठका जयारवान् जयजयेति शब्दानुदीरयन्ति
स्म । पुनः कैश्चिन्नर्तकैः अनर्तिं नृत्यं चक्रे । कथा । मुदा प्रमोदाविक्रयेन । अपि पुनस्तम
स्वाज्ञानं निजपापं वा अकर्तिं मूलाच्छेदितम् । पुनः कैश्चिद्भविके । पुण्ये इदं सर्वमप्यु-
त्सवादिकं पुण्याधीनं तदैहिकामुष्मिककामिवत्तत्तदेव कुर्म इति पुण्यविषये प्रावर्तिं
प्रवर्तितम् । अत एव कुपथादुन्मार्गान्न्यवर्तिं गुरुभक्तीभूतमन्यैर्वा तन्माहात्म्यावलोक-
नान्मिथ्यादृशा कुपक्षाणां वा मार्गान्मताद्वातिवर्तितम् ॥

खुरैरखानि प्रचलत्तुरङ्गैर्धात्री खनित्रैः खनकैरिवात्र ।

गलन्मदाम्भोभिरिभैरिवाम्भोधरैर्धरा पङ्किलयाबभूवे ॥ ७६ ॥

अत्र गुरुमहोत्सवे प्रचलद्भिर्गुरुसमुख गच्छद्भिस्तुरङ्गैरश्वैर्धात्री धरित्री अखानि क्षोदिता । कै । खुरै स्वचरणनखशिखाभिः । कैरिव । खनकैरिव । यथा पूर्तकृद्भि 'उड' इति भूर्मा प्रसिद्धै खनित्रैरिति भूमिखननोपकरणै खनित्रै 'कुदाला' इति प्रसिद्धैस्तै कृत्वा धरणी खन्यते । पुन इमै सिन्धुरैः गलद्भि कपोलस्थलेभ्यो नि सरद्भि मशम्भोभिः दानवारिप्रवाहैर्धरा पृथिवी पङ्किलयावभूवे जम्बालजालकलिता कृता । कैरिव । अम्भोवरैरिव । यथा मेघै पय प्रवाहै भूर्जम्बालजालाकुला क्रियते ॥

संख्यातिगैस्तद्गजवाजिपत्तिशताङ्गभारोद्वहनाप्रभूष्णम् ।

धात्रा कृता धारयितुं धरित्री स्तम्भा इवाहीन्द्रफणाः सहस्रम् ॥ ७७ ॥

धात्रा जगत्सृजा धरित्री क्षोणी धारयितुमतिभारासहितया पातालमूल यान्ती रक्षितुम् । उत्प्रेक्ष्यते—सहस्र दशशतीमिता अहीन्द्रस्य नागराजस्य फणा विस्तृतशि-
रासि एव स्तम्भा स्थूणा कृता प्रणीता इव । किभूता धरित्रीम् । संख्या गणनाम-
तिगच्छन्त्यतिक्रामन्तीति संख्यातिगा गणनातीता ये एतस्य सूरैः समुख प्रस्थितस्य
सघस्य गजा कुञ्जरा वाजिनो विविधजनपदजन्माश्वा पत्तयोऽनेकजातिपादचारिभृत्या
मनुष्या परे वा शताङ्गास्तुरङ्गवृषभरथ्यसनाथरथास्तेषा भारोऽतीववीधव तस्योद्वहने
उद्धरणे अप्रभूष्णमसमर्था शक्तिरहिताम् ॥

तद्धास्तिकाश्वीयरथोद्धृताभिर्धूलीभिरस्तारिषताखिलाशाः ।

क्षिप्तैर्दिगीशैरिव दिग्वधूभिः क्रीडद्भिरद्वैतरसेन चूर्णैः ॥ ७८ ॥

तस्य सघस्य हास्तिकेन गजगणेन तथा अश्वीयेन वाजिब्रजेन तथा रथैः स्यन्दनैरुद्धृता-
भिरुत्खाताभिर्धूलीभिः रजोभिरखिलाः समस्ता अपि आशा दिशः अस्तारिषत । 'स्तृप्
आच्छादने' अय धातु । आच्छादिता । उत्प्रेक्ष्यते—दिग्वधूभिः स्वहरिन्महिलाभिः
सह क्रीडा रह समये स्वतन्त्र कामपि कामलीला वसन्तसमय इव सृजद्भिः कुर्वद्भि-
र्दिगीशैः दिक्पतिभिरद्वैतेनासाधारणेन रसेन शृङ्गारविलासविनोदेन क्षिप्तैः परस्परो-
द्भायितैश्चूर्णैर्वासयोगैरिव । 'वासयोगस्तु चूर्ण स्यात्' इति हैम्याम् । 'अबीर' इति
प्रसिद्धै ॥ 'क्रीडा सृजद्भिर्हरिता महेन्द्रैः क्षिप्तैरिवाद्वैतरसेन चूर्णे' इत्यपि पाठः ।
तस्यार्थः—क्रीडामन्योन्य नर्म सृजद्भिर्निर्ममाणैर्हरिता महेन्द्रैर्दिक्पालैः अद्वैतानन्यसा-
मान्येन रसेन शृङ्गारविनोदेन दिग्वधूः स्वकीयस्वकीयदिक्कान्ताः प्रति क्षिप्तैः प्रेरितैः
चूर्णैर्वासयोगैरिव ॥

चलद्बलाकं कलधौतकुम्भैः कल्याणकुम्भैः सतडिद्विलासम् ।

रजोभिरभ्राङ्गमुदीतगर्ज तूरस्वरैरभ्रमिव ब्रुवे तम् ॥ ७९ ॥

अहं कविस्त महोत्सवमभ्र सजातोन्नततोयदमिव ब्रुवे कथयामि । किलक्षणम् ।
कलधौताना रजताना कुम्भैः कलशैः कृत्वा चलन्त्य उड्डीयमाना गगने विलसन्त्यो वा ।
'गर्भाधानक्षणपरिचयात्' इति मेघदूतकाव्ये । बलाका बकाङ्गना यत्र । तथा कल्याण-

कुम्भैः कनककलशैः सह तडिता विद्युतां विलासेन विलसितेन लीलया वा वर्तते यत्तम् । पुनः किभूतम् । रजोभिरुद्धीनधूलीभिरभ्राणि वार्दलकानि 'आभला' इति प्रसिद्धान्यङ्के कोडे मध्ये यस्य तम् । पुनः किभूतम् । तूराणां विविधवादित्राणां स्वरैर्नि-
स्वनैरुदिता प्रकटीभूता गर्जा गजित गम्भीरध्वनिर्यत्र ॥

उद्धर्षनिध्यानधृतावधानसौधाग्रजाग्रत्पुरसुन्दरीणाम् ।

वीथी दिवो वक्रसहस्रपत्रैः सहस्रचन्द्रेव तदा दिदीपे ॥ ८० ॥

तदा तस्मिन्नुत्सवसमये उद्धर्षस्य प्रभुप्रवेशमहोत्सवस्य । 'क्षणोत्सवोद्धवोद्धर्षम्' इति हैम्याम् । निध्याने निरीक्षणे वृत स्थापितमववान मनोऽध्यानं वा याभिस्तथा सौधानां स्वस्वगृहाणामग्रे शिखरे उपरि जाग्रतीनां सावधानतयोपविष्टानां स्थितानां वा पुरसुन्दरीणां श्राद्धव्यतिरिक्तनगरनारीणां वक्रसहस्रपत्रैः वदनकमलैः कृत्वा दिवो वीथीं गगन-
पद्मति सहस्र दशशतीसख्याका सहस्रशो वा चन्द्रा इन्दवो यस्यां तादृशीव दिदीपे शोभते स्म ॥

असर्जिं सृष्टिर्विधिना नवा किं गर्भाद्भुवो वा किममी निरीयुः ।

सम निपेतुः किमुताम्बराद्वा विज्ञैर्जनान्वीक्ष्य तदेत्यतर्कि ॥ ८१ ॥

तदा तस्मिन् सद्यस्य सूरिसमुखसमागमनसमये प्रमाणातीतान् जनान् लोकान् वीक्ष्यावालोक्ष्य विज्ञैर्विशेषेण विचारचतुरैः इत्यमुना प्रकारेण अतर्किं विचार्यते स्म । इति किम् । विधिना सृष्टिकर्त्रा किं नवा अपरा नवीना सृष्टिर्विश्वनिर्मिति कृता । वाथ वा अमी जना भुवो भूमेर्गर्भान्मध्यात्किं निरीयुः निर्गता । उताथ वा अम्बरादाकाशा-
त् सम एककालमेतावन्तो निपेतु निपतिता ॥

नभोम्बुपानब्द इवानधीतार्थनान्सृजन्नर्थिजनान्परेषु ।

स्वगौरवौर्वीवहनप्रणीतसंशीतिशेषः स चचाल संघः ॥ ८२ ॥

स फतेपुरसत्क सद्यो जनसमुदायः । 'सद्यसार्थो तु देहिनाम्' । चचाल सूरिसमुख प्रतिष्ठते स्म । किभूतः । स्वस्यात्मनो गौरवेण हास्तिकाश्वीयरथकड्यादिजनितातिभारेण युक्ताया उर्व्या भूमेर्वहने वारणे प्रणीता विहिता संशीति संशयो येन । हा मया अतिभारवतीय जगती कथं हविष्यते इति संशीति तादृश शेषो नागाविराजो यत्र । सद्यः किं कुर्वन् । परेष्वन्यवदान्यजनेषु विषये न अधीता पठिता अभ्यस्ता वा अर्थ-
ना याचना यैः तादृशानर्थिजनान् याचकलोकान् सृजन् कुर्वन् । क इव । अब्द इव । यथा वारिदो नभोम्बुपान् नभस्तो वर्षद्वारिदात्पतत्प्रोच्चैः कृत प्रसारित चञ्चुपुटान्तरा-
यातमम्बु पिबन्तीति नभोम्बुपान् वप्पीहान् । तत एवोक्तम्—'एक एव खगो मानी चिर जीवतु चातकः । पिपासितो वा म्रियते याचते वा पुरदरम् ॥ इति । परेषु व्यतिरिक्तजनाशयेषु विषये निर्मुक्तार्थनान्करोति ॥

धात्रीपवित्रीकृतये प्रणीतजनिं पुनः किं वसुभूतिपुत्रम् ।

संघो मुनीनां मघवानमेनं स्वचक्षुषोर्गोचरयांचकार ॥ ८३ ॥

सद्य एन पातिसाहिसबहुमानाह्वानायात मुनीना साधूना मघवान पुरहूत श्रीहीर-
विजयसूरीश्वर स्वस्यात्मनश्चक्षुषोर्लोचनयोगोचरयाचकार । विलोकते स्मेत्यर्थः । उत्प्रे-
क्ष्यते—धात्र्या भरतक्षेत्रक्षोण्या पवित्रीकृतये पाचनीकरणाय पुनर्द्वितीयवार प्रणीता
स्वयमेव कृता जनिः स्वोत्पत्तिर्येन तादृशम् । किंवत् । वसुभूतिपुत्र गौतमस्वामिनमिव ।
'श्रीइन्द्रभूति वसुभूतिपुत्रपृथ्वीभव गौतमगोत्ररत्नम्' इति पूर्वाचार्यस्तुतौ ॥ इति पुरसं-
घकृतहीरसूरिसमुखकरणोत्सव ॥

प्रक्षाल्य दुग्धाम्बुधिना पयोभिः कृतं निरङ्क तनुजन्ममोहात् ।

पुरीदिदक्षोपगतं मृगाङ्गमिवैनमन्विष्य तुतोष संघः ॥ ८४ ॥

सद्य एन सूरिमन्विष्य विलोक्य तुतोष जहर्ष । उत्प्रेक्ष्यते—पुरीदिदक्षया श्रीकरी-
नगरीलक्ष्मीसमीक्षणकाङ्क्षया उपगतमायातम् । 'आगमने गमनार्था समभ्युपाङ्भ्य
परा कथिता' इति क्रियाकलापे । मृगाङ्ग चन्द्रमसमिव । किभूतम् । दुग्धाम्बुधिना
क्षीरसमुद्रेण तनुजन्मना स्वपुत्रस्य मोहात्स्नेहात् चन्द्रस्य क्षीरसमुद्रोत्पन्नत्वेन द्वयोर्जन्य-
जनकभावसबन्धः । पयोभिः स्वक्षीरैः कृत्वा प्रक्षाल्य वावयित्वा निरङ्क निर्गतकलङ्क-
मलिनिमान कृतं निर्मितम् ॥

स्वाहान्वितं वह्निमिवोपयन्ता श्रीसंघलोकः सुमुखीसखस्तम् ।

प्रदक्षिणीकृत्य समाधिपद्मानुषङ्गभाजं प्रणनाम भक्त्या ॥ ८५ ॥

श्रिया महर्ष्या युक्त सद्यस्त गुरु भक्त्या प्रणनाम नमस्करोति स्म । तं किभूतम् ।
समाधिपद्माविशिष्टतमध्यानलक्ष्मा सहालिङ्गनैकतानाद्यनुषङ्गो मिथःसश्लेषसबन्धस्त
भजतीति । सद्य किभूत । सुमुख्य स्त्रिय सखायो यस्य । किं कृत्वा । प्रदक्षिणीकृत्य
तिस्रः प्रदक्षिणा दत्वा । क इव । उपयन्तेव । यथा नरवाढयोषित्सख परिणेतो स्वाहया
स्वपत्न्या अन्वित सहितम् । 'स्वाहाग्राहीप्रियस्य च' इति हैम्याम् । वह्निं प्रदक्षिणीकृत्य
प्रणमति । 'अन्वासितमरुन्वत्या स्वाहयेव हविर्भुजम्' इति रघुवशे । तथा 'हा स्वा-
हाप्रिय धूममङ्गजमसु सूत्वा न किं दूयसे' इति सूक्तोक्ते ॥

रेणुर्जिघासुर्लघिमानमेतत्क्रमौ किमाश्लिष्य वितिष्ठमानम् ।

प्रणेमुषा जन्मजुषामलीकललामलीलाश्रियमश्नुते स्म ॥ ८६ ॥

रेणु प्रभुपदाम्बुजरज प्रणेमुषा प्रणताना जन्मजुषा प्राणिनामलीके भालस्थले
ललामलीलायास्तिलकविलासस्य श्रिय शोभामश्नुते स्म व्याप्नोति स्म । लेभे इत्यर्थः ।
किभूतः रेणु । एतत्क्रमौ सूरिपादौ आश्लिष्यालिङ्ग्य वितिष्ठमानो वसन् । उत्प्रेक्ष्यते—
लघिमान निजलघुभाव जिघासुर्हन्तुमिच्छुरिव । 'ये जात्या लघव सदैव गणना

प्राप्ता न ये कुत्रचित्पद्मयामेव विवर्जिता प्रतिदिन भूमौ विलीनाश्चिरम् । उत्क्षिप्ताश्चप-
लाशयेन मरुता पश्यान्तरिक्षे सखे तुङ्गानामुपरिस्थितिं क्षितिभृता कुर्वन्त्यमी पासव ॥
इति सूक्तोक्तेर्लघिमा रेणूनाम् ॥

नम्राङ्गभाजा भगवन्नखेषु दृग्दन्तपङ्क्तिस्मितबिम्बितानि ।

बालेन्दुबिम्बेषु चकोरताराचन्द्रातपा. कि मिलिता विभान्ति ॥ ८७ ॥

भगवन्नखेषु सूरेंद्रचरणकामाङ्कुशेषु नम्राणा नमनशीलानामङ्गभाजा प्राणिना दृशो
नेत्राणि, तथा दन्तपङ्क्ति प्रमोदवशाद्विकसितवदनारविन्दाना दशनश्रेणी, स्मित हसित
तेषा प्रतिबिम्बितानि विभान्ति । उत्प्रेक्ष्यते—बालान्युदयमानानि इन्दूना चन्द्राणा
बिम्बानि मण्डलानि तेषु मिलिता. स्नेहेन एकत्रभूता चकोरा ज्योत्स्नाप्रियास्तथा तार-
काश्चन्द्रकान्ताश्चन्द्रातपाश्चन्द्रिका किम् ॥

प्रभोर्नखैर्नम्रनितम्बिनीना कचच्छटाना प्रतिमा ध्रियन्ते ।

स्वर्माणुविद्वेषिजिगीषयार्भमार्तण्डबिम्बैरिव मण्डलाग्राः ॥ ८८ ॥

प्रभोर्हीरसूरैर्नखैः क्रमकामाङ्कुशैर्नम्राणा भक्तिप्रह्वत्वेन नमस्करणशीलाना नितम्बि-
नीना वनिताना कचच्छटाना केशपाशाना प्रतिमा प्रतिबिम्बानि ध्रियन्ते आश्रीयन्ते ।
उत्प्रेक्ष्यते—स्वर्माणुर्विवृतुद स एव विद्वेषी प्रतिपक्षस्तस्य जिगीषया जेतुमिच्छया
हन्तु वाञ्छया वा अर्भा उदयमाना ये मार्तण्डा भास्करास्तेषा बिम्बैर्मण्डलाग्रास्तरवा-
रय इव धार्यन्ते ध्रियन्ते इव ॥

जहेषिरेऽश्वाश्च गजा जगर्जुर्निध्यानतः साधुसुधामरीचेः ।

जम्भद्विषद्वाजिगजानिवात्मगोत्रेषु वृद्धान्पवितुं ह्वयन्तः ॥ ८९ ॥

साधुसुधामरीचे वाचयमामृतकिरणस्य सूरैर्निध्यानत दर्शनादेव । 'निध्यानमवलोक-
नम् । दर्शनम्' इति हैम्याम् । अश्वा प्रमोदाजहेषिरे हेषारव विदवते स्म । च पुन-
र्गजा हस्तिन जगर्जु सजलजलवररावानुयायि गर्जारव विदविरे । उत्प्रेक्ष्यते—आ-
त्मन स्वस्य गोत्रेषु वशेषु वृद्धान्प्रजानाद्यान्वा जम्भद्विषत' पुरदरस्य वाजिनो वाहा
गजा द्विरदा । उच्चैः श्रवसा ऐरावणो गज समुत्पन्नस्तत्सतानानि परेऽश्वा गजाश्च ।
यथा चम्पूकथायाम्—'किलक्षण । सकलसुरासुरकरपरिघपरिवर्त्यमानमन्दरमन्थानकम-
थितदुग्धाम्भोनिधेरजनि जनितजगद्विस्मया स्मरजननी लक्ष्मीमृगाङ्कसुरतरुवन्वन्तरिकौ-
स्तुभोच्चैः श्रवसा सहभू शशवरकान्तिरैरावतस्तत्प्रसूतिरियमशेषवनान्यलकरोति ।
यथैव ऐरावतस्य तथैवोच्चैः श्रवसोऽपि प्रसूतिरिति ॥

उत्कण्ठुलास्तन्दुललाजमुक्तापङ्क्त्या प्रमोदात्पथि पौरकन्या. ।

अवाकिरंस्तं पृषतैः प्रवृद्धपयोधिवेला इव शर्वरीशम् ॥ ९० ॥

उत्कण्ठुला सोत्कण्ठा । 'उद. कण्ठादुलो मत्वर्थे उत्कण्ठुल' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ।

तथा—‘स सूर्योदयादर्वाक् नलिनीगुल्मविमानगमनार्थमुत्कण्ठुलं सयमप्रतिपत्तये प्रहर्षकः’ इत्याचारप्रदीपे श्रीरत्नशेखरसूरिकृते । पौरकन्या नागरिककुमारिका पयि मार्गे प्रमोदादानन्दात्त गुरु तन्दुलाश्चोक्षा अखण्डा तुषकलकलमास्तथा लाजा भ्रष्टा यवा । लाजैर्वर्धापन शास्त्रेषु दृश्यते । यथा—‘अवाकिरन्वयोवृद्धास्त लाजै पौरयोषित ’ इति रघौ । तथा मुक्ताफलानि तासा पङ्क्त्या श्रेण्या अवाकिरन् वर्वापयन्ति स्म । का इव । प्रवृद्धपयोधिवेला इव । यथा चन्द्रचन्द्रिकालिङ्गनप्रवर्धमानपयस पयोधे समुद्रस्य वेला जलवृद्धि । ‘वेला स्यावृद्धिरम्भस ’ इति हैम्याम् । पृषतै पयोबिन्दुभि कृत्वा शर्वरीश रजनीनायकं चन्द्रमवकिरति वर्धापयति ॥ इति गुरुवन्दनाविकार ॥

विशां दृशः प्रीणति शक्रकेताविव क्षणेऽस्मिन्बहलीभविष्णौ ।

निशम्यता वर्त्मनि पौरवृद्धाविश्वस्तकान्ताशुभशंसितानि ॥ ९१ ॥

एकत्र जाग्रत्रिजगद्विभूतिदिदृक्षयात्रोपगता प्रभेव ।

शनैः शनैः संचरताथ तेन फतेपुरस्योपपुर प्रपेदे ॥ ९२ ॥ (युग्मम्)

अथ सधस्य समुखागमवन्दनानन्तर शनै शनैर्मन्द मन्द संचरता युगप्रमाणक्षोणीसमीक्षणक्रमेण प्रचलता सूरिणा फतेपुरस्य साहिराजधान्या उपपुर शाखापुर प्रपेदे सश्रिते । तत्राजगामेत्यर्थ । उत्प्रेक्ष्यते—एकत्र एकस्मिन्नेव श्रीकरीलक्षणस्थाने जाग्रत्या स्फुरन्त्या वसन्त्या त्रिजगता त्रयाणा भुवनानामपि विभूतेर्लक्ष्म्या दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया अत्र फतेपुरसमीपे उपगता समेता प्रभा अलका धनदनगरीव । ‘पुरी प्रभा । अलका वस्त्रोकसारा’ इति हैम्याम् । तेन कि कुर्वता । वर्त्मनि मार्गे पौरेषु नागरिकेषु वृद्धा मुख्यास्तेषामविश्वस्तानामविधवानाम् । सुवासिनीनामित्यर्थ । ‘विश्वस्ता विववा समे’ इति हैम्याम् । तादृशीना कान्ताना सामान्यत स्त्रीणाम् । अथ वा पुरे भवा पौर्य पौर्यश्च ता वृद्धा पौरवृद्धा नगरसबन्धिन्यस्तथा महत्य तथा अविश्वस्ता सधवास्तादृशीना वशाना शुभशंसितानि आशीर्वचनानि निशम्यता नृण्वता पेञ्चविषयीकुर्वता । कस्मिन् सति । शक्रकेतौ इन्द्रध्वज इव अस्मिन्प्रभुप्रवेशे समुखकरणलक्षणे क्षणे बहलीभविष्णौ दृढीभवनशीले बहुतमे जायमाने सति विशा जगजनाना दृशो लोचनानि प्रीणति प्रह्लादयति । सर्वनेत्रानन्ददायित्वात् । ‘पुरदूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तय इति रघौ ॥ युग्मम् ॥

स श्रीकरी गन्तुमपीहमानः शाखापुरं भूषयति स्म सूरिः ।

आश्लेषितुं केवलपद्मवासा श्रेणीमिवात्मा क्षपकाभिधानाम् ॥ ९३ ॥

स सूरि श्रीकरी साहिनालकृता नगरीं गन्तु प्रयातुमीहमानोऽपि शाखापुर फतेपुरस्योपपुरं भूषयति स्म अलचकार । क इव । आत्मेव यथा भवश्चरमशरीरी जीव केवलपद्मवासा केवलज्ञानरूपामरविन्दमन्दिरा लक्ष्मीमाश्लेषितुमालिङ्गितु प्राप्तुमीहमा-

नोऽपि पूर्वं प्रथम क्षपक इत्यभिधानं नाम यस्यास्तादृशी श्रेणीमलकुरुते प्रथम क्षपक-
श्रेणीमाश्रयति ॥

विधातृपुत्रीतनयैरिवाय तोस्तूयमानोऽनुपदं कवीन्द्रैः ।

तत्रापि निर्वन्धवशाद्वशीन्द्र सामन्तभूभृद्भवने न्यवात्सीत् ॥ ९४ ॥

अयं वशीन्द्र जितेन्द्रियाणां मध्ये वासवो हीरसूरिस्तत्रापि शाखापुरेऽपि निर्वन्ध-
वशादत्याग्रहानुरोधात् सामन्तभूभृद्भवने सामन्त स्वत्पजनपदग्रामनगराधिप स एव
भूभृत् पृथिवीपति तस्य भवने । जगन्मल्लनामा कच्छवाह इति केपाचिद्राजन्यानां
जातिर्विशेषा एतावता जगमालकच्छवाहा तस्य गृहे न्यवात्सीत् निवसति स्म । किं
क्रियमाणं । अनुपदपदे पदे स्थाने स्थाने कवीन्द्रैः पण्डितमण्डलाखण्डलैः तोस्तूयमानं
अतिशयेन काव्यादिभिर्वर्ण्यमानं । उत्प्रेक्ष्यते—विधातुर्ब्रह्मण पुत्र्या नन्दिन्या । ‘दशम
ब्रह्मण सुता’ इति सरस्वतीनद्या अप्यभिधानम् । ‘ब्रह्मपुत्री सरस्वती’ इति हैम्याम् ।
वाग्देवताया तनयैः पुत्रैरङ्गैरिव सारस्वतकुमारैरिव ॥

पचेलिमान्प्राक्तनकर्मरोगान् रसायनं दिव्यमिवापनेतुम् ।

तत्रापि शक्रः शमिना सदस्यानुद्दिश्य धर्मं कथयावभूव ॥ ९५ ॥

तत्रापि जगन्मल्लभूभृद्भवनेऽपि शमिनामुपशमवता साधूना शक्र पुरंदरस्तन्मध्ये
वा वासव । सर्वोत्कृष्टशान्तरसवत्त्वात् । सूरिः सदस्यान् सम्यानुद्दिश्य अङ्गीकृत्य । अथ
वा सभासदामायतिहितहेतवे धर्मं भगवद्भाषितमुत्कृष्टमङ्गलमशेषसंपदुपादानं धर्मदे-
शना कथयावभूव दिशति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पचेलिमान् परिपाकमुदयावलिका प्रपेदा-
नान् प्राक्तनान् पूर्वजन्मनिर्मितान् कर्माणि ज्ञानावरणीयादिकान्यष्टौ तान्येव रोगान्
दानाशयितुं अपनेतुं निवारयितुं दिव्यं देवसबन्धि रसायनमौषधविशेष इव पापग-
महामयान् सुवारसमिव ॥

निपीयमाना श्रवणाञ्जलिभ्यां तद्देशनासारसुधावुधानाम् ।

दन्ताशुमिश्रस्मितमूर्तिरन्तरमान्त्युपेयाय बहिः किमेषा ॥ ९६ ॥

श्रवणौ कर्णावेवाञ्जली योजितप्रसृतपाणी ताभ्यां कृत्वा निपीयमाना सादर श्रूय-
माणा तस्य सूर्यदेशना व्याख्यानरूपा सारा प्रकृष्टा सकलपदार्थावबोधकारकत्वात् स्वर्गा-
पवर्गाविसर्ववैभवदायकत्वाच्च सारत्वम् सैव सुधा पीयूषम् । अथ वा देशनैवासारो
वेगवती वृष्टिर्यस्या तादृशी सुधा अमृतरसो वा बुधानां सकर्णानां श्रोतृणामन्तर्हृदय-
मध्ये अमान्ती अखण्डितप्रवाह आगच्छदमृतबाहुल्येन श्यातुमशक्नुवन्ती सती ।
उत्प्रेक्ष्यते—दन्तानां दशनानामशुभिः किरणैर्मिश्रं व्याप्तं यत्स्मितं प्रमोदोदयादीपद्व-
सितं तदेव मूर्तिर्देहो यस्या एषा प्रत्यक्षलक्ष्या बहिस्तादृह्यस्थानकमुपेयाय समागतेव ॥

निशम्य वाचं यमवासवस्य ता देशना स्त्रैणसखा मनुष्या ।

परस्परस्पर्धितया ववर्षुर्दानैरमानैरिव वारणेन्द्राः ॥ ९७ ॥

वाचयमानां वाक्सुमतिभाजां यतीना वासवस्य इन्द्रस्य ता धर्मदेशनां निशम्य श्रवणपारणां प्रणीय स्त्रैणसखा स्त्रीसमूहा सखायो येषाम् । स्त्रीभिः सहिता इत्यर्थः । परस्परमन्योन्य स्पर्धितया सहर्षशीलभावेन अमानैर्मानातीतैर्दानैर्द्रविणविश्राणनैर्ववर्षुः वर्षन्ति स्म । क इव । वारणेन्द्रा इव । यथा कुञ्जरराजा गन्धसिन्धुरा अमानैः कपोललोचनमेढूगुदकरलक्षणसप्तसु स्थानकेषु अविरलनिर्गलनतया मानातीतैर्दानैर्मदवारिभिर्वर्षन्ति ॥

वदान्यविश्राणनमीक्षमाणो मालिन्यमालम्बत राजराजः ।

अन्वर्थनामा प्रथितस्त्रिलोक्यां कुबेर इत्येष तदादि विद्मः ॥ ९८ ॥

तदेत्यध्याहारस्तत्समये वदान्याना दानशौण्डाना विश्राणन विविधाशुकरजतसुवर्णाभरणादिप्रदानमीक्षमाणः स्वलोचनाभ्या साक्षाद्विभावयन् धनेश्वरत्वेन पुष्पकविमानाविरोहणभुवनविलोककत्वेन च साक्षाद्वीक्षणं राजराज राज्ञामपि राजा चक्रवर्ती यक्षेश्वरश्च धनदः । 'यक्षः पुण्यजनो राजा गुह्यको वटवास्यपि' इति हैम्याम् । तथा 'कैलासौका यक्षवननिविकिपुरुषेश्वरः' इत्यपि हैम्याम् । मालिन्यं यद्यप्यहं दानशूरोऽस्मि तथाप्येतेषां गणनातिगकामिताविकदानाग्रे वदान्यगणनायामहं न किञ्चिदपीति विच्छाद्यतामालम्बतः श्रयते स्म । तत्र मालिन्ये वयमेव विद्मः । तदादि तद्दिनादारभ्य एष राजराजः कुत्सितः विच्छाद्यीभवनादनीदृशं वैरं शरीरं यस्य स कुबेर इत्यमुना प्रकारेण अनुगतः सदृशीभूतोऽर्थो यत्र तदन्वर्थम् । सत्यार्थमित्यर्थः । नामाभिधानं यस्य तादृशस्त्रिलोक्या जगत्रयेऽपि प्रथितो विख्यातिं प्राप्तवानिव ॥

तदार्थिवाञ्छावचनानुरूपं विहापितं सप्तहयोऽवसायः ।

करान्सहस्रं प्रविसार्य वाहमिवाष्टमं तत्पुरतो वृणीते ॥ ९९ ॥

तदा तस्या दानवेलायां सप्तहयः सूर्यः सहस्रं दशशतीं करान् सहस्रसख्याकान् हस्तान् विसार्य करा किरणा हस्ताश्च । अष्टमं वाहं तुरङ्गं तेषां वदान्यानां पुरतोऽग्रे वृणीते याचतीव । किं कृत्वा । अर्थिना याचकानां वाञ्छायां मनसोऽभिलषितस्य वचनस्य याचनारूपवाक्यस्य चानुरूपं तुल्यं योग्यं वा विहापितं वितरणम् । दानमित्यर्थः । अवसायं विज्ञाय ॥ इति सूरिदेशनानन्तरं श्राद्धदानम् ॥

अथ वर्षागमनारम्भः —

हन्तुं तपतीरिव तापमुर्व्यास्तदाम्बरेऽम्भोधर उल्लासः ।

पुरंदरः सूरिपुरदरस्य विवन्दिषुः पत्कजमागतः किम् ॥ १०० ॥

यदा यस्मिन्नेव दिवसे श्रीहीरविजयसूरयो जगन्मल्लकच्छवाहगृहे समेतास्तदा तस्मिन्नेव वासरापराह्णसमये अम्बरे आकाशेऽम्भोधरः सजलजलवाहः उल्लासः उन्नम्ययायाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—उर्व्यां पृथिव्यास्तपतीर्ग्रीष्मकालस्य । निदाघसमयजनितमित्यर्थः । तापः सज्वरः तप्तिबाहुल्यं हन्तुं व्यापादयितुमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—सूरिपुरद-

रस्य हीरसूरिवासवस्य अथ च सूरे स्त्रीयाचार्यस्य वाचस्पते पुरंदरस्य स्वामिन
पत्कज चरणारविन्द विवन्दिषुर्नमस्कर्तुकाम पुरदरः शक्र किमागत । पुरदरशब्देन
शक्रो मेघश्च प्रोच्यते । यदुक्तम्—‘याचते वा पुरदरम्’ । पूर्व लिखितमस्येतत् । अथ
वा मेघवाहनत्वात्पुरहृतोऽपि । अथ वा मेघोऽपि दिव्यस्वरूपस्तेन तस्य वन्दनमपि
युक्तम् । यदुक्त मेघदूते काव्ये—‘जानामि त्वा प्रकृतिपुरुष कामरूप मघोन ’ इति ।
इन्द्रस्य तु नमस्करण प्रसिद्धमेवेति ॥

प्रवासिहृद्धारिधिमाथमन्थाचलोपम वारिधरो जगर्ज ।

वीरावतंसालससूनशस्त्रं प्रोत्साहयन्विश्वजिगीषयेव ॥ १०१ ॥

प्रवासिना पान्थजनाना निजयुवतीजनवियोगव्याकुलीभवत् हृत् हृदयमेव वारिधि
समुद्रस्तस्य माथे मन्थन मास्थस्तस्मिन् मन्थाचलो मन्दराद्रिस्तस्योपमा सादृश्य यस्य ।
‘विरहिमनस्तुदि’ इति चम्पूकथायाम् । तादृशो वारिधरो मेघो जगर्ज गर्जारव कुरुते
स्म । उत्प्रेक्ष्यते—वीरावतस सर्वसुभटाना मध्ये शेखरायमाण निदाघे दाघबाहुल्येन
जगद्युवजनविजयक्रियाविधाचलसमालस्यभाज तादृश सूनानि कुसुमान्येव शस्त्राणि
प्रहरणानि यस्य स कुसुमायुव कामस्त विश्वेषा त्रिभुवनजन्मभाजा सुरासुरन-
राणा जिगीषया स्ववशीचिकीर्षया प्रोत्साहयन् महोद्यमयुक्त कुर्वन्निव प्रगल्भभावो-
पगत विदधान इव ॥

पौष्पेण चापेन जये त्रिलोक्याः स्मरेण दुःखीभवतार्थितेन ।

अमोघमम्भोजभुवेव चक्रे तदर्थमाखण्डलचापचक्रम् ॥ १०२ ॥

अम्भोजभुवा जगत्सृष्टिकर्त्रा तदर्थं कदर्पकृते । उत्प्रेक्ष्यते—अमोघ देवदानवमा-
नवलोकेषु सर्वत्राप्यस्खलितमाखण्डलचापचक्र शक्रकोदण्डमण्डल चक्रे कृतमिव । कि-
लक्षणेन अम्भोजभुवा । पौष्पेण कुसुमसबन्धिना प्रसूनमयेन चापेन शरासनेन कृत्वा
त्रिलोक्या जये त्रिभुवनवशीकरणे दुःखीभवता कष्ट प्राप्नुवता स्मरेण मनोभवेन अ-
र्थितेन याचितेन ॥

विश्लेषियोषाविरहोष्मशुष्यत्तनूनिहन्तुं दयितेन रत्याः ।

कार्शानव शस्त्रमिव प्रयुक्त व्यलीलसद्योम्नि तडिद्वितानम् ॥ १०३ ॥

व्योम्नि गगनाङ्गणे तडिता विद्युता वितानम् । वृन्दमित्यर्थः । व्यलीलसद्दीप्यते स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—रत्या दयितेन भर्त्रा स्मरेण प्रयुक्त प्रेरितम् । मुक्तमित्यर्थः । कार्शानव
कृशानुसबन्धिव दह्निमय शस्त्रमिव । किं कर्तुम् । विश्लेषो निजवल्लभैर्वियोगो विद्यते यासा
ता विश्लेषिण्यो विरहिण्यस्तादृश्यो योषा कामिन्य तासा विरहोष्मणा प्रबलप्रियवि-
योगतापेन शुष्यन्ती शोष प्राप्नुवन्ती । कृशीभवन्तीरित्यर्थः । तनू शरीराणि निहन्तु
ज्वालयितुमिव ॥

आक्रम्य दैत्यारिपदं स्थितस्याम्भोदस्य माहात्म्यमुदीर्यते किम् ।

कृतान्ततातो दशदिक्प्रसारिकरोऽपि येनाधरितो महस्वी ॥ १०४ ॥

दैत्याना दानवानामरेर्निषूदनस्यापि पद स्थान राज्य वाचरण च विष्णुपदमाक्रम्य स्थितस्याभिव्याप्य वसत अम्भोदस्य मेघस्य माहात्म्य महिमा कि उदीर्यते वर्ण्यते कथ्यते । येन कारणेन अम्भोदेन महस्वी प्रतापवान् तथा दशसु दिक्षु व्याप्नुवन्तीत्येवशीलाकरा राजदेयाशा किरणाश्च यस्य तादृक्ष । तथा कृतान्तस्य सकलसुरासुरनरलोकसहर्तुरपि तात पिता अवरितस्तिरस्कृत । आच्छादित इत्यर्थः । 'कर प्रत्यायशुम्भयो । रश्मौ वर्षोपले पाणौ' इत्यनेकार्थः । 'प्रत्यायो राजग्राह्यो भाग इत्यर्थः' इति तदवचूर्णि । मेघे समुन्नते रवि कस्य स्वास्य न दर्शयतीत्यधरीकरणमेव ॥

प्राप्ते प्रियेऽब्देऽजनि भूजनीयं वप्पीहरावैः कृतचाटुकेव ।

प्रोद्भिन्नकन्दैः पुलकाङ्कितेवारब्धाङ्गहारेव कलापिलास्यैः ॥ १०५ ॥

प्रिये प्राणनाथे अब्दे मेघे प्राप्ते समागते सति भूजनी वसुवाववू वप्पीहाना सारङ्गाणां रावै प्रिय प्रिय इति शब्दै कृत्वा कृत विनिमित्त चाटु प्रियप्राय वाक्य यया सा कृतचाटुका तादृशीवाजनि जाता । प्रोद्भिन्नै प्रकटीभूतै कन्दै कन्दलै पुलकेन रोमाञ्चेन अङ्किता कलितेवाजनि । तथा कलापिना मयूराणां लास्यैर्नृत्यै आरब्ध कृत अङ्गहारोऽङ्गविक्षेप ताण्डवविशेषो यया तादृशीवासीत् ॥

प्रेक्ष्य क्षणं कामरसोन्मदिष्णूर्धनानुषङ्गेण तरङ्गिताङ्गी ।

पुत्रीः स्रवन्तीः पितरो गिरीन्द्राः प्रस्थापयन्तीव पति पयोधिम् ॥ १०६ ॥

पितरो जनिकर्तार ततो गिरीन्द्रा महाशैला हिमाचलाद्या पुत्रीरङ्गजाताः पर्वतोत्पन्नत्वात् स्रवन्तीर्नदी । उत्प्रेक्ष्यते—पति भर्तार पयोधि समुद्र प्रति समुद्रस्य नदीपतित्वात्प्रस्थापयन्ति प्रेषयन्तीव । कि कृत्वा । क्षण क्षणमात्र काममतिशयेन रसं पय पूरै उन्मदिष्णूरुन्मत्ता रङ्गतरङ्गैस्तरीतुमशक्या तटस्थितशाखिनिषूदिनीर्वा । तथा घनाना वारिवाहानामनुपङ्गेण सगमेन तरङ्गा कल्लोला सजाता अस्मिस्तादृशमङ्ग शरीर यासा तादृशी प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । अन्येऽपि पितर मुहूर्तं कदर्परसेन उन्मत्ता घनैरुपपतिभिः सम सगमेन तरङ्गितमुपचितमङ्ग कायो यासा तादृशी स्वपुत्री प्रेक्ष्य भर्तुं पाश्व प्रस्थापयन्ति ॥

स्वय धरित्रीधरताभिषेकोत्सवे प्रयुक्तान्कजजन्मनेव ।

तदोन्नमन्नीरदमुक्तधारापयःप्रवाहानवहन्महीधराः ॥ १०७ ॥

तदा तस्मिन्वर्षाकाले उन्नमन्तो नीरभारैर्नम्रीभवन्तो भूमण्डलमम्बरतल वार्त्सवर्दलकेरेकीकुर्वन्तो वा ये नीरदा घनास्तैर्मुक्ताया धारा वारिवृष्टिलेखास्तासां पयसा पानीयानां प्रवाहान् महीधरा गिरयः शैला अवहन्वारयन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कजजन्मना ब्रह्मणा

स्वयमात्मनैव धरित्रीधरताया राजन्वत्वस्य भूमीभारोद्धृताया वा अभिषेकः पट्टाभिषेक-
करण तस्योत्सवे प्रयुक्तान्प्रेरितानिव ॥

किमम्बुमुक्चक्रिणमैक्ष्य वातचमूपतिक्रान्तदिगन्तचक्रम् ।

तदा मुधाभूतनिजप्रयत्ना विशश्रमुर्जिष्णुनृपाः प्रयाणात् ॥ १०८ ॥

तदा तस्मिन्मेघागमसमये जिष्णुनृपा जयनशीला राजान परराजजनपदजयोद्यता
भूपाला प्रयाणादभिषेकनाद्विशश्रमुर्विश्रान्ता स्थिताः । किभूता । मुधाभूता विफला
जाता निजा आत्मीया प्रयत्ना व्यवसाया येषाम् । अविरलसलिलपूरपूरितपृथिवीतलग-
मनागमनसामर्थ्याभावाद्भग्नोद्यमा । उत्प्रेक्ष्यते—अम्बुमुक् मेघ स एव चक्री सार्वभौ-
मस्त किमैक्ष्य दृष्ट्वा । किलक्षणम् । वात उत्तराहपवननाम्ना चमूपतिना सेनान्या
आक्रान्त स्वायत्तीकृत स्वामिजीमूतनूतनाभ्रकाशावृत कृत दिशामन्तानामवसानाना
चक्र मण्डल येन ॥

अम्भोभृताभ्रभ्रमदभ्रलेखा विभूषयन्ति स्म सुपर्ववीथीम् ।

शङ्के त्रिलोकीजयजागरूकसूनध्वजोर्वीधवगन्धनागाः ॥ १०९ ॥

अम्भोभि पानीयैर्भृतानि चान्यभ्राणि पयोवाहास्तेषा भ्रमता प्रतिदिश पर्यटताम-
भ्राणाम् 'आभला' इति प्रसिद्धाना लेखा श्रेणय सुपर्ववीथी सुधाशनपद्धतिं गगना-
ङ्गण विभूषयन्ति स्म । तत्राहमेव शङ्के वितर्कयामि । शङ्के इवार्थे वा । उत्प्रेक्ष्यते—
त्रिलोक्यास्त्रिभुवनस्य जये विजयकरणव्यवसाये जागरूकस्य जागरशीलस्य सोत्साह
विहिताभियोगस्य सूनध्वजो मदन स एव उर्वीधवो भूपतिस्तस्य गन्धनागा सप्तधा-
प्रस्रवत्प्रबलमदजलसुगन्धितबन्धुरसिन्धुरा इव । राज्ञा हि हस्तिभिर्भाव्यम् । चण्ड-
प्रद्योतस्येव ॥

नभःस्थलीसंवलिताम्बुवाहान्समीक्ष्य रासा ददिरे प्रमोदात् ।

कुटुम्बिनीभिः किमु शूरराजाभिभूतिजायास्तदुपज्ञकीर्तेः ॥ ११० ॥

नभ स्थल्या गगनमण्डले संवलितान्बहलीभूतानम्बुवाहान् वारिधरान् समीक्ष्य
सोत्कण्ठ विलोचनगोचरीकृत्य कुटुम्बिनीभिः कुटुम्बिकघनस्तनीभिः प्रमोदात् हर्षाति-
रेकात् रासा रासका ददिरे दत्ता । यदुक्त चम्पूकथायाम्—'कलापोच्चमुखमण्डला'
इति । 'काय जलवरपानीयाय लापा' शब्दा कुटुम्बिनीजनजेगीयमानमेघरासकास्तै-
कृत्वा उच्च मेघागमनावलोकनायोर्ध्वीकृत मुखमानन यैस्तादृशा मण्डला देशा यासु'
इति तद्विप्पनके । इति मेघागमे कुटुम्बिनीना रासकप्रदानम् । उत्प्रेक्ष्यते—शूराणा
शतसहस्रलक्षकोटियोधिना सुभटाना भास्कराणा च तथा राज्ञा सामन्तनृपाणा मूर्वा-
भिषिक्ताना सम्राजा चन्द्राणा चाभिभूतै पराभवनाज्जायते इति शूरराजाभिभूतिजा
तस्यास्तदुपज्ञः स मेघ एव उपज्ञा आव्य ज्ञान यस्या सा चासौ कीर्तिश्च तस्या इव
सुभटराजजयोपार्जिताया मेघस्य कीर्तिरिव रासका इत्यर्थः ॥

तदा वराणा द्विजवत्कनीना गर्जात्तवेदध्वनिरम्बुवाहः ।

शाखाकरैर्ग्राहयति स्म भूमीरुहां प्रवालाग्रकरांलतानाम् ॥ १११ ॥

तदा तत्र प्रावृद्धप्रथमसमये अवनिवनाना नवपल्लवीभवनानन्तरमम्बुवाहो मेघो भूमीरुहा पादपाना शाखा एव करा पाणयस्तैः कृत्वा लताना प्रवाला पल्लवा एवाग्रकरा हस्ताग्राणि तान् ग्राहयति स्म । किवत् । द्विजवत् यथा ब्राह्मणो वराणा परिणेतृणा शाखावलम्बमानैः करैः । अत्र स्कन्धादारभ्याङ्गुली यावत्पाणिरेव विवक्षितः । कनीना कुमारिकाणा प्रवालवदयान्प्रकृष्टान् शोणिमसौकुमार्ययुक्तान् हस्तान् ग्राहयति । तत्र तावद्वेदपाठोच्चारो भवति । तमेवाह—किलक्षणोऽम्बुधर । गर्जा स्तनितान्येव आत्ता गृहीता वेदध्वनयो विवाहोचितोच्चरिता वेदकृचा शब्दा येन ॥

अभ्रैरनीकैरिव दिग्विभागानाक्रामतश्छिन्नतपर्तुदस्योः ।

केकारवैः किं क्रियतेऽम्बुदस्य जयध्वनिश्चन्द्रकिबन्दिवृन्दैः ॥ ११२ ॥

अम्बुदस्य जलधरस्य चन्द्रकिनो मयूरा । ‘अच्छाच्छैः’ शुकपिच्छगुच्छहरितैः शिञ्जना वनान्तास्तृणैः सेव्याः सप्रति सान्द्रचन्द्रकिकुलैरुत्ताण्डवैर्मण्डिता’ इति चम्पूकथायाम् । त एव बन्दिवृन्दानि मङ्गलपाठकपटलानि तैः केकारवैः केका इति शब्दैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—जय जय इति ध्वनिः क्रियते किं विधीयत इव । ‘सरूपाणामेकशेष’ इति एकपञ्चजयशब्दोऽवशिष्टः । अम्बुदस्य किं कुर्वत । अनीकैः कटकैरिवाभ्रैर्वदलकैः कृत्वा दिग्विभागान् समस्तानां हरिता प्रदेशानाक्रामतो व्याप्नुवतः स्वायत्तान्वा सृजतः । पुनः किंभूतस्य । छिन्नो मूलादुन्मूलितस्तपर्तुर्निंदाघसमय एव दस्युः शत्रुर्येन ॥

विषप्रदोऽस्थासु जडाशयश्चेत्यपाचिकीर्षुः स्वमिवापवादम् ।

तदाम्बुदस्तं ककुदं मुनीनामुपासनागोचरता निनाय ॥ ११३ ॥

तदा प्रावृट्काले अम्बुदो घनाघनः त मुनीनां श्रमणानां मध्ये ककुदः श्रेष्ठः मुख्यः सूरिम् । ‘ककुदः तु प्रवानेऽसे वृषाङ्के राजलक्ष्मणि’ इत्यनेकार्थतिलके । उपासनायाः सेवायाः गोचरता निनाय प्रापयति स्म । सेवते स्मेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण स्वमात्मीयमपवादमयशो जनमध्ये निन्दामपाचिकीर्षुर्निराकर्तुमिच्छुरिव । इति किम् । यदयं मेघः विषः कालकूटः प्रददातीति । तत्त्वतस्तु जलदः । ‘विषः क्ष्वेडे जले च’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘विषः क्ष्वेडो रसस्तीक्ष्णः गरलौघः’ इति हैम्याम् । तथा व्यासपञ्चिकमध्ये—‘देवराजो मया दृष्टो वारिवारणमस्तके । भक्षयन्नर्कपत्राणि विषं पीत्वा क्षयः गतः ॥’ तत्त्वार्थो यथा—हे देवर, मया वारिणा वारणं तटाकपालिस्तस्य मस्तके उपरि अजो मेषो वात्कटः दृष्टः । किं कुर्वन् । अर्कस्य अर्कतः ‘आकडो’ इति प्रसिद्धस्य पत्राणि पर्णान् भक्षयन् खादन् । ततो विषः तटाकजलं पीत्वा क्षयः गृहः गतः इति ।

ततो मेघोऽपि विष गरल जल च प्रकर्षेणातिशयेन ददातीति विषप्रदः । तथा अस्थानु
नाप्येकत्र स्थातु शक्त प्रतिनगरग्रामारामसीमभीमकान्ताराकूपारान् पर्यटनशील । अत
एवोक्तम्—‘क्षारो वारिनिवि. कलङ्ककलितश्चन्द्रो रविस्तापकृतपर्जन्यश्चपलाशय ’ । तथा
जडाशयो डलयोरैक्यात् जडो मन्दो मूर्ख प्रज्ञाहीनो निर्बुद्धिराशयोऽभिप्रायश्चेतो
यस्य । पक्षे जलमय आशयो मय यस्य जलानामाश्रयो वा । ‘आशय आश्रयेऽभि-
प्रायपनसयोरपि’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यर-
सापगा गिर ’ इति नैषधे । ‘कृपापारावारे नलहृदये’ इति तद्वृत्तिः । अतो मनोऽपि एता-
वता पशुवदज्ञान पश्चात्कर्मधारयः ॥

निजौजसैवोन्मदयन्मनासि यो योगिना यौवनवत्पयोदः ।

अहो व्यनंसीत्स्तनितैः स्तवौघैरिव स्तुवन्सोऽप्यनगारशक्रम् ॥ ११४ ॥

यः पयोदो वारावर निजस्यात्मन ओजसा प्रतापेनैव बलेनैव । माहात्म्येनैवेत्यर्थः ।
योगिना वशिना शमिनामपि मनासि चित्तान्यमदयन्मदयुक्तानि कृतवान् । किंवत् । यौ-
वनवत् । तथा तारुण्य सयमिनामपि नन्दिषेणार्द्रकुमाररथनेमिप्रमुखाणामपि मानसगानि
समदानि सकन्दर्पाणि करोति स्म । यदुक्तम्—‘यौवने विकिरत्येव मनः सयमिनामपि ।
राजमार्गे प्ररोहन्ते वर्षाकाले किलाङ्कुराः ॥’ इति । अहो इति आश्चर्ये । सोऽपि कन्दर्प-
दर्पोत्पादयितापि पयोदः तमनगारशक्र मुनीन्द्र व्यनसीत् उन्नमैनागमनमिषाद्विशेषेण
नमति स्म । उन्नमय्यागतत्वान्नमस्कृतिर्लक्ष्यते । किं कुर्वन् । स्तवौघैः स्तोत्रप्रकरैरिव ।
उत्प्रेक्ष्यते—स्तनितैर्गर्जितैः कृत्वा स्तुवन्निव स्तुति कुर्वन्निव । अन्योऽपि स्तुवन्नेव
प्रणमति ॥ इति मेघागमनम् ॥

भोगीव योगी स तदा शमश्रीसङ्गी प्रविश्य प्रणिधानसौधम् ।

दिनं तदर्हद्गुणकीर्तनेन व्यतीत्य साध्य विधिमन्वतिष्ठत् ॥ ११५ ॥

तदा तस्मिन् बहलीभूतनूतनजीमूतसमये स हीरसूरियोङ्गी मनोवचनकाययोगवान्,
अथ वाष्ठाङ्गयोगयुक्तः । अर्हतामतीतानागतवर्तमानतीर्थकृता गुणानां कीर्तनेन स्तवनेन
कृत्वा तज्जगन्मल्लमन्दिरस्वमागननीरदागमनसबन्धिः दिनं वासरं व्यतीत्यातिक्रम्य
साध्य दिवसावसानसत्क विधिं प्रतिक्रमणादिकृत्यमन्वतिष्ठत्करोति स्म । किं कृत्वा ।
दिनं व्यतीत्य । प्रणिधानं ध्यानमेव सौख्यं विलाससङ्गं प्रविश्यान्तर्निर्लीयः । क्लिप्तक्षणाः ।
शमश्रिया सङ्गो मिथः परिरम्भोऽस्त्यस्य स उपशमकमलानुषङ्गी । क इव । भोगीव ।
यथा भोगभाक् पुमान् कामिनीगाढालिङ्गनरङ्गवान् प्रावृषिः क्रीडामन्दिरे प्रविश्य सघनं
दिनं व्यत्येति ॥

प्राग्भूमिभृत्स्वाभ्युदयाभिलाषी द्वीपे परस्मिन्निव रश्मिमाली ।

निजाननन्यकृतशीतकान्तिस्तस्मिन्नशेषाः स उषामनैषीत् ॥ ११६ ॥

स सूरिस्तस्मिन् जगमल्लकच्छवाहकसामन्तमन्दिरे अशेषा समस्तामपि उषा रज-
नीमनैषीदतिक्रामति स्म । क इव । रश्मिमालीव । यथा भानुमान् परस्मिन्नन्यत्र द्वीपे
अखिला निशामतिवाहयति । किलक्षण सूरि भास्वाश्च । प्राग्भूमिभृत प्राचीनभूपा-
लात् । यद्यपि चतसृणामपि दिशां पतिस्तथापि गुरुणा प्रायो गुर्जरस्थितिमत्तया
गुर्जरापेक्षया च पूर्वदिशि स्थितत्वेन प्राचीपतिरेवोक्त । तस्मादकब्बरसाहे सकाशात्
स्वस्यात्मन आत्मीयजिनशासनस्य वाभ्युदयमुन्नतिमभिलषति काङ्क्षति इत्येवशील ।
सूर्यपक्षे पूर्वपर्वतादुद्गमनमिच्छतीत्येवशील । 'उदय. पर्वतोन्नत्यो' इत्यनेकार्थ ।
पुन. किभूत. । निजस्य स्वस्य आननेन वदनेन आगमनावसरेण अरुणोदयेन वा न्यकृ-
तस्तिरस्कृत । विच्छायाकृत इत्यर्थ । शीतकान्तिश्चन्द्रो येन ॥

प्राभातिकं कृत्यमथ प्रणीय तृणीकृताहा विशदाशयश्च ।

फतेपुरं प्रत्यचलद्गतीन्द्र इवाम्बुधि सिद्धधुनीप्रवाहः ॥ ११७ ॥

अथ रात्रिविरामानन्तर सूरि फतेपुर प्रत्यचलत् प्रतिष्ठते स्म । किं कृत्वा । प्राभा-
तिक प्रभातकालसबन्धि कृत्यमावश्यकदिक करणीय प्रणीय निर्माय । क इव । सिद्ध-
धुनीप्रवाह इव । यथा गङ्गाया पय पूर अम्बुधि समुद्र प्रति प्रचलति । किभूत सूरि
प्रवाहश्च । तृणीकृत तिरस्कृत निवारितमह पाप येन । पुन किंभूत । विशदो निर्मलो
निष्पाप उज्ज्वलश्चाशयो मनो मध्य च यस्य ॥

स श्रीकरी कैरविणीशकीर्तिः प्रावीविशद्विश्वजनीनमूर्तिः ।

महःसमूहोऽम्बुजबान्धवस्य विभावरीवल्लभमण्डलीवत् ॥ ११८ ॥

स सूरि श्रीकरी पातिसाहिपुरी प्रावीविशत् प्रविशति स्म । किवत् । विभावरीवल्ल-
भमण्डलीवत् । यथा अम्बुजबान्धवस्य भानोर्मह समूह किरणकलाप चन्द्रबिम्ब
प्रविशति । अमावास्याया हि चन्द्र सूर्यसमीपे गत्वा किरणगण मार्गयित्वा तेनाभ्युदय
लभते । यथा रघुवशे—'पुपोष वृद्धि हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा' इति ।
किभूत सूरिश्चन्द्रश्च । कैरविणीश शारदचन्द्र तद्वद्विशदा कीर्तिर्यस्य । कैरविणीना
कुमुद्वतीनामीशत्वेन पतितया कीर्तिं ख्यातिर्यस्य । अथ वा । कैरविणी श्वेतकमलिनी
तथा ईश ईश्वरस्तद्वदुज्जला कीर्तिर्विस्तार करप्रसार सान्द्रचन्द्रिका यस्य । अथ वा
जैनमतानुसारेण कुमुदिनीशकरवद्विशदा कीर्तिं प्रासाद स्फाटिकचैत्य वा यस्मिश्चन्द्र-
मण्डले । 'कीर्तिर्यशसि विस्तारे प्रासादिकर्दमेऽपि च' इत्यनेकार्थ । पुन किभूत ।
विश्वजनेभ्यो हिता विश्वजनीनी । 'तत्र सावौ हिते च य' इति । भुवनजनवत्सला
प्रबोधकारित्वान्मूर्तिर्यस्य । चन्द्रस्तु औषधीपतित्वादमृतमयत्वात् शैत्यकारित्वाच्चन्द्र-
कापतित्वाच्चाह्लादकारिणी हितकारिका च मूर्तिर्बिम्ब यस्य ॥

मुमुक्षुशक्रः सदसत्समीक्षाहल्लेखिताशेषजनप्रदीपः ।

मनोरथः सिद्धिमिवावनीपप्रवेशनक्षोणिमलंचकार ॥ ११९ ॥

मुमुक्षुशक्र श्रमणेन्द्रः अवनी भूमीं पाति पालयति रक्षतीत्यवनीपः अकब्बरसा-
हिस्तस्य प्रवेशन सिंहद्वार तस्य क्षोणिं भुव ब्रह्मप्रदेशमलचकार भूषयति स्म । क
इव । मनोरथ इव । यथा मनोरथ कार्यकरणाभिलाष सिद्धि कार्यनिष्पत्तिमलकुरुते ।
किभूत सूरि । सन् सम्यक् मार्ग असन् विरुद्ध पन्था तयो सदसतो शुद्धाशुद्धयो
मार्गयोः समीक्षा दर्शन सम्यग्ज्ञान तत्र हल्लेख औत्सुक्य सजातमेषामिति हल्लेखिता ।
जातार्थे इतच्प्रत्यय । उत्कण्ठिता ये अशेषा समस्ता जना लोकास्तेषामज्ञाना तमो-
ऽन्वकार तत्र प्रदीप इव प्रदीपो मन्दिरमणि सर्वेषा पदार्थानां प्रकाशकारित्वात्
ससारासन्मार्गदर्शक स्वर्गापवर्गोत्तममार्गप्रकाशकश्च । ततो दीपोपम ॥

समस्ति शेखोऽबलफैजनामा तुरुष्कशास्त्राम्बुधिपारदृश्वा ।

हमाउंसूनो. क्षितिशीतभानोर्दृष्टिस्तृतीयेव परिस्फुरन्ती ॥ १२० ॥

अबलफैज इति नामाभिवान यस्य तादृशो यवनानां गुरुत्वेन माननीय प्रमु-
समस्ति विद्यते । किभूतः । तुरुष्काणां यवनानां शास्त्राण्यागमा सफाराकुरानां शा-
स्त्राणि तान्येवाम्बुधिर्बहुत्वात्समुद्रस्तस्य पार दृष्टवान् इति पारदृश्वा यवनानेकसूनो-
ध्येता पारगामी । उत्प्रेक्ष्यते—क्षितिशीतभानोर्वसुधासुधाकिरणस्य राज्ञ हमाङ्गाभ्यां
रकब्बरपातिसाहे परिस्फुरन्ती सामस्त्ये देदीप्यमाना तृतीया वदनवर्तिनीभ्यां
दृग्भ्यामधिका दृष्टिर्नेत्रमिव । यतोऽसौ साहे सर्वशास्त्ररहस्यकथयितान्याग्राण्याथ
पादृष्टा वातस्तृतीया दृक् ॥

सहस्ररश्मेरिव सोमजन्मा समेत्य शेखस्य सवेशदेशे ।

तत्रेयिवासं व्रतिनामधीशं तं स्थानसिंहो वदति स्म तस्मै ॥ १२१ ॥

स्थानसिंहाभिवान श्राद्ध साहे सामन्तसमानस्तत्र राजद्वारे इयिवास समागत त
हीरविजयनामान व्रतिना साधूनामधीश सूरि तस्मै शेषाय वदति स्म निवेदयामास ।
किं कृत्वा । शेखस्याबलफैजस्य सवेशदेशे समीपभूभागे स्थाने समेत्यागत्य । क इव ।
सोमजन्मेव । यथा सोमाच्चन्द्राज्जन्मोद्भवो यस्य स चन्द्राङ्गजो बुध सहस्ररश्मे
सूर्यस्य सनिधौ भैरव्यालोके च भानोश्छत्रवरो बुध इत्युच्यते । तच्चावारवशाद्वासमेति ॥

स श्रेणिकायाभयवन्मृगारिध्वजस्य शेखोऽपि सभा समेत्य ।

अकब्बरोर्वीरमणस्य सिंहद्वारे विभोरागमन जगाद ॥ १२२ ॥

स स्थानसिंह निवेदितावधारितगुर्वागमन शेखोऽपि अकब्बरनामा य उर्वीरमणो
भूमिभर्ता तस्य सिंहद्वारे विभो सूरैरागमन जगाद भाषते स्म । किं कृत्वा । सभा
साहेरास्थान समेत्य । किवत् । अभयवत् । यथा अभयकुमारो मृगारिध्वजस्य महा-
वीरदेवस्य राजद्वारे राजगृहनगरबहिर्द्वारस्थगुणशिलाचैत्यस्थाने श्रेणिकनृपाय निग-
दति स्म ॥

अर्घ्यं मुदास्राम्बुभिरुल्लसद्भिस्तनूरुहैर्गौरवमादधानः ।

पैङ्गुषयोः प्राघुणकीं प्रणीय वाचं बभाषे पुनरेष शेखम् ॥ १२३ ॥

एष पातिसाहि शेख अबलफैजनामान बभाषे वक्ति स्म । किं कृत्वा । वाचं सूरिसमागमनसूचकशेखवाणीं पैङ्गुषयो कर्णयोः प्राघुणकीमभ्यागता प्रणीय कृत्वा । अथातिथेरातिथेयीकृता विलोक्यते । तामेवाह—मुदा सूरिसमागमश्रवणोद्भूतप्रमोदेन अस्त्राणि बाष्पाणि तेषां अम्बुभिः जलैरर्घ्यं पादधावनजलमादधानः कुर्वाणः । ददान इत्यर्थः । पुनरुल्लसद्भिस्तनूरुहैः रोमभिः । ‘लोमरोमतनूरुहम्’ इति हैम्याम् । कृत्वा गौरवमभ्युत्थानादिक्रियामादवान् सृजन् ॥

ऋतौ वसन्तेऽवनिजन्मनेव समीयुषि श्रीश्रमणावतंसे ।

मनोरथेनाद्य मम प्रवीणचूडामणे पल्लवयांबभूवे ॥ १२४ ॥

हे प्रवीणाना निपुणाना विदग्धाना मध्ये चूडामणे कोटीरहीरायमाण, श्रीमति श्रमणाना मध्येऽवतसे शेखरे श्रीहीरविजयसूरीन्द्रे समीयुषि पादाववारिते सति अद्य साप्रतीने वर्तमाने वासरे मम मनोरथेनाभिलाषेण पल्लवयांबभूवे सफलीभूयते स्म । केनेव । अवनिजन्मनेव । यथा वसन्ते ऋतौ मधुसमये सप्राप्ते सति अवनिजन्मना । जात्रिश्चाचित्वादेकवचनम् । समस्ततरुसमुदायेन पल्लवकलितेन उपलक्षणात् प्रवालैः कुसुमैः फलैश्च सयुक्तैर्जायते ॥

द्रक्ष्यामि दिक्ष्याद्य मुनीन्द्रचन्द्रमिवानुबिम्बं परमेश्वरस्य ।

शेखाधुनाह नियतेर्वशेन किं चास्मि कार्यान्तरचुम्बिचेताः ॥ १२५ ॥

हे शेख, दिक्ष्या भाग्येन कृत्वा अद्य विद्यमाने अस्मिन् वासरे एव मुनीन्द्रेषु सर्वेषु सूरिष्वाह्लादकत्वेन चन्द्रमिव चन्द्रम् । अथ वा स्वस्वशाखासिङ्घाटकानां स्वामिनो रत्नाविका मुनीन्द्रास्तेषां मध्ये अधिकं दीप्यमानत्वात् ज्योतिषामिव स्वामित्वाद्वा तेषां चन्द्र इवेति वा तं द्रक्ष्यामि दृग्गोचरीकरिष्यामि । उत्प्रेक्ष्यते—परमेश्वरस्य परमात्मनो बिम्बं प्रतिबिम्बं मूर्तिरिव । जैनमते तु बिम्बशब्देन भगवत्प्रतिमा प्रोच्यते । अथ वा साक्षात्परमेशितुर्बिम्बमिव मूर्तिरिव । तथा ‘ससारसिन्ध्यावनुबिम्बमात्रं जागर्ति जाने तव वैरसेनि । बिम्बानुबिम्बौ तु विहाय धातुर्न जातु दृष्टातिसरूपसृष्टिः ॥’ इति नैषधे । परं किं चायं विशेषोऽस्ति । हे शेष, अधुना इदानीतनसमये अहं नियतेर्दैवस्य वशेनायत्तत्वेन कार्यान्तरं किञ्चित्कृत्यविशेषं चुम्बत्यालिङ्गतीत्येवशीलं चेतो मानसं यस्य कार्यान्तरेण व्यग्रमना अस्मि । एतत्कथनं त्वप्रतिबुद्धत्वेन अज्ञाततत्त्वभावेन म्लेच्छत्वेन वा । यद्यास्तिकं स्यात्तदा तु सर्वमपि त्यक्त्वा वन्दत एवेति ॥

अमन्तुजन्तुव्ययपातकेनास्पृश्या प्रणीता धरणी स्वधाम्नः ।

शेख क्षणं तेन पवित्रय त्वं गुरोः पदाम्भोजरजोमृतेन ॥ १२६ ॥

हे शेख, तेन कारणेन येनाह कार्यान्तरेण गृहान्तर्जिगमिषामि ततोऽधुना तदाकारणानवसर तेन हेतुना त्व क्षण क्षणमात्र मुहूर्तं यावद्गुरोर्हारसूरे. पदाम्भोजयोश्चरणारविन्दयोर्यद्रज परागस्तदेवामृत सुधारस* । 'त्वत्पादपङ्कजरजोमृतदिग्धदेहा' इति भक्तामरस्तववचनात् । अथ वा अमृत पानीय तेन कृत्वा स्वस्यात्मनो धान्नो वासगृहस्य धरणीं भूमीं पवित्रय पावनीकुरु । पावित्र्य प्रक्षालनात् । प्रक्षालनं तु पानीयेनैव स्यात् इति । किलक्षणा धरणीम् । अमन्तूना निरपराधाना जन्तूना प्राणिना व्यथो विनाशो घातस्तस्य पातकेन पापेन कृत्वा अस्पृश्या स्पृष्टुमप्ययोग्या प्रणीता कृताम् । अथ च योऽस्पृश्य कथञ्चिज्जात स लोकव्यवहाराद्वारिप्रक्षालनादेव स्पृश्यो भवेदिति रीतिः । इति गर्भोत्प्रेक्षा ॥

इदं निगद्याब्धिगभीरघोषं जोषं मुखे भूमिधवो विधाय ।

जगाम गेहं गृहिणीसनाथं विद्युद्विलासीव गभस्तिरभ्रम् ॥ १२७ ॥

भूमिधव पृथ्वीपति अकब्बरपातिसाहि* गृहिणीभि* स्वकलत्रै सनाथ सयुक्त गृह स्वसौध जगाम गतवान् । क इव । गभस्तिरिव । यथा भानुमान् विद्युद्भि सौदामिनीभिर्विलसति शोभते इत्येवशीलमभ्र वर्दलक 'वादलु' इति प्रसिद्ध मेघ वा गच्छति । किं कृत्वा । इदं पूर्वप्रोक्तं शेखपुरो निगद्यालप्य । कथम् । अबिववत् समुद्र इव गभीरो मन्द्रो घोषो ध्वनिर्यत्रैवविध यथा स्यात्तथा । अकब्बरसाहे. शब्दस्तु नवहस्तकव्या घ्रवद्गुञ्जारव कुर्वन्नासीत् ततो घोष इत्युक्तिः । पुनर्मुखे निजवदने जोष मौन विधाय कृत्वा । 'तूष्णीं तूष्णीका जोष च' इति हैम्याम् । तथा 'जोषमासनविशिष्य बभाषे' इति नैषधे ॥ इति सूरिसमागमस्य साहेर्निवेदनम् ॥

घनादधीतामिव शेखशक्रो वाणी समाकर्ण्य हमाउंसूनोः ।

निरीय तस्याः सदसो बभाज भुव व्रतीन्द्रेण विभूष्यमाणाम् ॥ १२८ ॥

शेखेषु सकलतुरुष्कगुरुषु शक्र इन्द्र साहि । मान्यत्वादिन्द्रत्वम् । तस्या सदसोऽकब्बरसभाया निरीय बहिर्निर्गत्य व्रतीन्द्रेण सूरिणा विभूष्यमाणामलक्रियमाणा भुव भूमीभाग बभाज । सूरिसमीपे समीचिवानित्यर्थः । किं कृत्वा । हमाउसूनोर्हमाउनामा पातिसाहिस्तस्य सूनो पुत्रस्याकब्बरसाहेर्वाणी समाकर्ण्य सम्यक् सादर श्रुत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—गभीरधीरत्वात् घनात् नभस्य सजलजलवरात्सकाशात् अधीता पठितामिव ॥

भक्त्या नताङ्गो बहुमन्यमानः स्वमन्दिरं सूरिपुरदरं सः ।

निनीषति स्माखिलशेखपूषा नाशसते निर्जरशाखिनं क* ॥ १२९ ॥

अखिलेषु शेखेषु म्लेच्छजातिमान्येषु तज्जातीयेषु वा पूषा महत्वादीप्यमानत्वाद्भास्कर अवलफैजशेख सूरिपुरदर हीरविजयसूरीन्द्र स्वमन्दिर निजनिवाससदन निनीषति स्म नेतुमिच्छति स्म । किंभूत । भक्त्या दर्शनादुद्धूतपरमप्रीत्या कृत्वा

नताङ्ग प्रणमनेन नम्रीकृततनु । पुन कि कुर्वाण । बहुमन्यमान बहुबहुमान ददान । युक्तोऽयमर्थः । निर्जरशाखिन कल्पपादप को नाशसते समीहते । अपि तु सर्वोऽपि इच्छेत् । 'शस इच्छायाम्' । उभयपदी । 'आशसते धनायति समीहते तद्वदाशास्ते' इति क्रियाकलापे ॥

अथो पृथिव्या उशना इवासौ निःशेषशास्त्रोपनिषद्यधीती ।

अस्पृष्टशिष्टेतरवृत्ति तस्मै न्यजीगदत्तनिखिलं निगाद्यम् ॥ १३० ॥

अथो सूरिसमीपागमनानन्तर शेखस्तत्साहिकथित निखिल समग्रमपि निगाद्य वाच्य न्यजीगदत्कथयति स्म । कथम् । अस्पृष्टा अनाश्रिता अनादृता वा शिष्टात्साधोरितरा अन्या दौर्जनी वृत्तिर्व्यापारो यत्रैव यथा स्यात्तथा । शेख किभूत । नि शेषाणा सर्वेषा शास्त्राणा कुरानादियवनागमानामुपनिषदि रहस्ये अधीतमध्ययनमस्यास्तीति । उत्प्रेक्ष्यते— पृथिव्या भूमेरुशना शुक्र इव । तस्य असुराणा गुरुत्वादियमुत्प्रेक्षा । इदानी च लोकभाषया यवना असूरा उच्यन्ते । यदुक्त दोषके—'सुदरसरअसुराहदलजलपीधु-वयणेहि । अमरनरिदकढाविउतिहानारीनयणेहि' ॥

तदुक्तियुक्तौ सनिदर्शनाया शेखं निरस्तप्रतिबन्धभावम् ।

श्रुतौ प्रबन्धारमिव प्रवीणधुरीणमेनं बुबुधे बुधेन्द्रः ॥ १३१ ॥

बुधाना विपश्चितां सर्वशास्त्राधीतिना मध्ये इन्द्र सूरिः सनिदर्शनाया दृष्टान्तकलि-तायाम् । 'स्मरात्परासोरनिमेषदर्शनाद्विभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा । जनेन यून स्रवता तदास्पदे निदर्शन नैषधमभ्यषेचयत् ॥' इति नैषधे । तस्य साहेरुक्तीना युक्तौ योजनाया चातुर्यौदाररचनायामेन शेख प्रबन्धार प्रबन्धो विस्तार तस्य कर्तार बुबुधे विवेद जानीते स्म । एन किभूतम् । निरस्तो निवारितो मुक्त प्रतिबन्धभाव प्रतिबन्ध-कतादूषकत्वम् । 'विहगमद्भाषितसूत्रपद्धतौ प्रबन्धतास्तु प्रतिबन्धता न ते' इत्यपि नैषधे । कमिव । प्रवीणधुरीणमिव । यथा विद्वद्वृन्दारक सनिदर्शनाया श्रुतौ शास्त्रे निरस्तम् इदं च शास्त्रविरुद्धम् । इदं तु दूषणमित्यादिप्रतिबन्धककर्तृत्व दूषणोद्भावकत्व विरोधभाषित्व येन तादृश प्रबन्धार दूषणनिराकरणनानार्थयुक्तिविशेषोल्लेखप्रकाशकारिण कश्चिद्वि-पश्चिद्भूयते ॥

निशम्य तद्भाषितमेष धात्रीसहस्रनेत्रस्य ततो व्रतीन्द्रः ।

इयेष शेखस्य गृहे प्रयातुं सुरेन्द्रधाम्नीव सुपर्वसूरिः ॥ १३२ ॥

तत शेखवाक्यश्रवणानन्तरमेष हीरविजयनामा व्रतीन्द्र श्रमणशक्र सूरि शेख-स्य गृहे मन्दिरे प्रयातु गन्तुमियेष वाञ्छति स्म । किं कृत्वा । धात्रीसहस्रनेत्रस्य पृथि-वीपुरदरस्याकब्बरस्य तत्पूर्वोक्त भाषित कथितम् । वचनमित्यर्थः । निशम्याकर्ण्य । क इव कस्मिन् गन्तुम् । सुपर्वसूरिरिव । यथा सुपर्वणा देवाना सूरिराचार्यः पाठयिता वाच-स्पतिः सुरेन्द्रस्य नाकिनायकस्य धाम्नि वैजयन्तनामनि प्रासादे गन्तुमिच्छति ॥

शुश्रूषमाणस्य विशिष्य शिष्यस्येवास्य शेखस्य वृषा मुनीनाम् ।

गेहं महीपालगृहोपकण्ठे पवित्रयामास पदारविन्दैः ॥ १३३ ॥

मुनीनां वृषा वासव सूरिर्महीपालस्य पतिसाहेर्गृहस्य प्रासादस्योपकण्ठे सनिवाने अस्याबलफैजनाम् शेखस्य गेहं भवनं पदारविन्दैश्चरणकमलैः । पूज्यत्वाद्वहुवचनम् । पवित्रयामास पावनीकुरुते स्म । अस्य किं चिकीर्षमाणस्य । शुश्रूषमाणस्य सूरिसेवा विधातुमीहमानस्य । कथम् । विशिष्य विशेषप्रकारेण स्वसेव्याधिक्येन । कस्येव । शिष्यस्येव । यथा विनेयक गुरोः स्वस्याचार्यस्योपाध्यायस्य य रत्नाविकस्य वा विशिष्य सर्वान्तेवासिवर्गेभ्योऽत्यभ्यविका परिचर्यां विवित्सति स्वयं सुशिष्यत्वात्स्वर्गापवर्गादिसुखसाधकत्वाच्च ॥ इति साहिसदिष्टवचनश्रवणपूर्वं शेषगृहगमनम् ॥

संदेहसंदोहमहाम्बुवाहमहाबलेन व्रतिवासवेन ।

बोद्धा श्रुते श्राद्ध इव स्वधाम्नि धर्म्यां स गोष्ठीमनुतिष्ठति स्म ॥ १३४ ॥

स शेख स्वधाम्नि निजनिकेतने व्रतिना महाव्रतभृता यतीनां वासवेन मधोना सह धर्म्यां धर्मसबन्धिनीं गोष्ठीं वार्तामनुतिष्ठति स्म कृतवान् । किंभूतेन व्रतिवासवेन । संदेहा सशया शास्त्रविचारणोद्भवा मानसिका वा तेषां संदोहा समूहा एव महान्तो धोराज्ञानान्धकर्तारं अम्बुवाहा घनाघना तेषां विध्वसने मूलोन्मूलने नामशेखीकरणे महाबलं प्रलयपवनस्तेन । क्लिप्तक्षणे शेख । श्रुते शास्त्रस्य बोद्धा अवगन्ता प्रवीण । यदुक्तम्—‘पात्रे त्यागी गुणे रागी भोगी परिजनैः समम् । शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा पञ्चाङ्गं पुरुषः स्मृतः ॥’ इति सूक्ते । क इव । श्राद्ध इव । यथा कश्चिदागमावबोधक उपासकः केनापि सूरिणा समं धर्म्यां गोष्ठीं विधत्ते ॥

हिंसादये निर्दिशती विरोधिधर्मे मिथः स्वीयतदीयशास्त्रे ।

क्षीराम्भसोर्हसमिवाधिगत्य तयोर्विवेक्तारमसौ पुनस्तम् ॥ १३५ ॥

पुपोष भाषा स्वमुखेन शेखः पुरो विनेयायितवृत्तिरस्य ।

नति दधानो विनयादधीता पाणौ प्रणीतात्सुगुणादिवास्त्रात् ॥ १३६ ॥

असौ स्वसन्नानि सूरैरानेता शेखः अस्य हीरसूरे पुरोऽग्रे स्वमुखेन निजवदनेन कृत्वा भाषां वाणीं पुपोष पुष्पाति स्म पुष्टा चकार । उवाचेत्यर्थः । किंभूतः । विनेयायिता विनेयोऽन्तेवासी शिष्यस्तद्वदाचरिता वृत्तिर्मनोवाक्कायव्यापारो यस्य । अत एव किं कुर्वाणः । नति नम्रता विनयनेन प्रह्वीभावः दधानो बिभ्राणः । उत्प्रेक्ष्यते—पाणौ रणशूरतया स्वहस्ते प्रणीतात्कृतात् । गृहीतादित्यर्थः । तथा सुगुणात् सुशोभना जगज्जनननोरञ्जका वैयौदार्यगाम्भीर्यार्जवमार्दवादिमा गुणा मनोज्ञो ढकारववित्रासितानेकशात्रवो गुणो मौर्वी च यस्मिन् तादृशादस्त्रात्कोदण्डात् । ‘धनुश्चापोऽस्त्रमिष्वासः कोदण्डः धन्वः कार्मुकम्’ इति हैम्याम् । अधीता पठितामिव । यदुक्तम्—‘नमणी खमणी बहुगुणी

विहुपखिवशविशुद्ध । पुण्यविना न विपामिह करिधणुहीधरिभज ॥' इति सूक्ते । तथा 'शश्वद्वाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा । धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रञ्जितो जन ॥' इति चम्पूकथायामपि । किं कृत्वा । मिथः परस्पर विरुध्येते इत्येवशीलौ वमौ स्वभावौ ययो । 'वमौ यमोपमापुण्यस्वभावाचारधन्वसु । ससर्गेऽर्हत्यहिंसादौ न्यायोपनिषदोरपि ॥' इत्यनेकार्थः । तथा हिंसा निर्मेन्तुजन्तुव्यापादन तथा दया जगजीवाना स्वप्राणवद्रक्षण ते निर्दिशती प्ररूपयति स्वीय यवनजातिसबन्धि तथा तदीय सूरिशासनसबन्धि च उभे शास्त्रे अधिगत्य विदित्वा । पुनरपरार्थान्तरे । पुनर्द्वितीयवारमुच्यते । वा इति पुन शब्दार्थः । क्षीराम्भसोर्दुग्धजलयोर्हस सितच्छदमिव तयोर्हिंसादयाशास्त्रयोर्विवेक्तारम् इदं सम्यक्प्ररूपणमिदमसमीचीनं प्ररूपणं च, अयं स्वर्गोपवर्गसाधकः पन्थाः अयं च दुर्गदुर्गतिमार्गः, इयं च निःस्पृहाणामुक्ति एषा च रसनादिरसलम्पटानामुक्तिरित्यादि विवेचनकर्तारं तं वशीन्द्र जितेन्द्रियाणां पुरंदरं च अधिगत्य विश्राम्य मनसि निश्चित्य ॥

अथ स्वमतानुशिष्टिपृच्छा—

पैगम्बरैर्नः समयेषु सूरैः पुरातनैर्व्याहृतमेतदास्ते ।

निक्षिप्यते न्यास इव क्षमायां यमातिथिर्यो यवनस्य वंश्यः ॥१३७॥

खुदाह्वयश्रीपरमेश्वरस्यास्थानी स्थितस्याधिपतेरिवोर्व्याः ।

उत्थाय पृथ्व्याः परिवर्तकाले गन्ता समग्रोऽपि जनः पुरस्तात् ॥१३८॥

हे सूरैः, नोऽस्माकं पुरातनैः प्राचीनैः पैगम्बरैः । केचनास्मन्मार्गप्रवर्तकाः विशिष्ट-सिद्धिबुद्धिभाजो महापुरुषा अभूवन्, तेऽस्मन्मते पैगम्बर इति सज्ञका प्रोच्यन्ते । तैस्तत्कृतेषु समयेषु शास्त्रेषु मध्ये एतन्मया श्रीमत्पुरो निवेद्यमानं व्याहृतं भाषितमास्ते । एतत्किम् । यः कश्चन यमस्य कृतान्तस्य अतिथिं प्राप्नुयान् । मृत इत्यर्थः । यवनस्य । जातावेकवचनम् । तुरुष्कस्य वंश्यो गोत्रजन्मा तुरुष्को न्यासो निक्षेप इव स्थापनिके च क्षमायां भूमध्ये निक्षिप्यते स्थाप्यते । स क्षोणीनिक्षिप्तः समग्रः समस्तोऽपि यवनवंश्यः तुरुष्कजातीयः परिवर्तकाले कल्पान्तकाले पृथ्व्या भूगर्भादुत्थाय बहिर्निर्गत्य स्वस्वस्वरूपेण खुदा इत्यस्मत्परपरायां नाम यस्य तादृशस्य श्रिया समग्रलक्ष्म्या युक्तस्य परमेश्वरस्य समग्रहिन्दुवर्गैर्व्याप्यमानस्य जगदीश्वरस्य पुरस्तादग्रे गन्ता गमिष्यति । किंभूतस्य खुदाह्वयश्रीपरमेश्वरस्य । आस्थानी स्वास्थानसभामागत्य स्थितस्य उपविष्टस्य । कस्येव । अधिपतेरिव सभामासीनस्य उर्व्या भूमेर्भर्तुर्नृपस्याग्रे समस्तोऽपि जनः समायाति स्वस्वन्यायनिर्माणार्थम् ॥

आदर्शिकायामिव पुण्यपापे संक्राम्य संशुद्धनिजोपलब्धौ ।

विधास्यते साधुः स तत्र तस्य न्यायं निरस्य स्वपरानुरोधम् ॥ १३९ ॥

हे सूर, खुदाख्य परमेशिता तत्र सभामध्ये सर्वस्य पूर्वोक्तस्य यवनजनस्य साधु सम्यक्प्रकारेण यथा स्यात्तथा न्याय सदसद्यवहारविचार विवास्यते स्वयमेव करिष्यते । किं कृत्वा । अयं स्व स्वकीयो मदीय, अयं च पर परकीय न मत्पक्षाश्रितः, इति यज्ज्ञानं स तु सासारिकव्यवहारं तयोः स्वपरयोरनुरोधो बह्वाग्रहोऽथ वा तयोरेव बोधो ज्ञानं तं निरस्य त्यक्त्वा । यदुक्तम्—‘अयं निजं परो वेति गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥’ इति । पुनरपि किं कृत्वा । आदर्शिका हस्तकनिर्मुक्ता पृष्ठे च ग्रहणार्हा केवला दर्पणिका । मेवातमण्डलादौ आदर्शिकेत्युच्यते । तस्यामिव सम्यक्प्रकारेण शुद्धा निर्मला निष्पापा वा स्वपरव्यवसायविरहिता निजस्यात्मन उपलब्धिर्मतिर्ज्ञानम् । ‘प्रेक्षाप्रतिपत्प्रज्ञाप्रेक्षाचिदुपलब्धयः’ इति हैम्याम् । तस्या पुण्यपापे अर्थयवनजनस्य सुकृतदुष्कृते संक्राम्य स्वहृदये प्रतिबिम्बयित्वा । विचायेत्यर्थः ॥

विमृश्य विश्राणयिता फलं स श्रेयोहसोस्तस्य ततोऽनुरूपम् ।

मसूरगोधूमयवादिधान्यबीजस्य सस्योत्करमुर्वरेव ॥ १४० ॥

ततस्तत्सदसज्ज्ञानानन्तरं स खुदाभिव परमेश्वर विमृश्य अनेनैव विविधं कर्म विनिर्मितम् अत एतस्य ईदृशमेव फलं प्रदत्तं विलोक्यते इति स्वमानसे विचार्य । यदुक्तम्—‘यद्यावद्यादृशं येन कृतं कर्म शुभाशुभम् । तत्तावत्तादृशं तस्य फलमीशं प्रयच्छति ॥’ इति चम्पूकथायाम् । एतद्वचनात् तस्य यावद्यवनजनस्य श्रेयोहसोः पुण्यपापयोरनुरूपमुचितं फलं सुखदुःखानुभवनरूपं विश्राणयिता स्वस्तनीप्रयोगः प्रदास्यति । केव । उर्वरेव । यथा सर्वसस्या यत्रोप्तमात्राणि सर्वाण्यपि धान्यानि सम्यक् निष्पद्यन्ते सोर्वरेत्यभिधीयते । तादृशी वरित्री । मसूरा मालवमण्डले बहुप्रसिद्धा, गोधूमा सर्वत्रापि ख्याता, तथा यवा अर्बुदपरिसरे अतिशयेन प्रथिताः प्रायशस्तु सर्वत्रापि विश्रुता, एते त्रयोऽप्यादौ येषां तेषामपरेषामपि धान्यानां बीजं योनिनिबन्धस्य योग्यं सस्योत्करनिवहं विश्राणयति प्रदत्ते । सर्वसस्यायां भूमौ यादृशं धान्यमुप्यते तादृशमेव लूयते इत्यर्थः ॥

नावोऽम्बुधेः कूलमिवानुकूलवातेन भिस्तिं गमिता अनेन ।

भोक्ष्यन्ति भोग्याद्भुतभोगभङ्गीतरङ्गिताः केऽपि ततः सुखानि ॥ १४१ ॥

ततः पुण्यफलदानादनेन खुदासज्ञेन परमेश्वरेण केऽपि पुण्यभाजिनो यवना भिस्तिं स्वर्गं गमिता प्रापिता सन्तो भोग्या भोक्तुं योग्या अथ वा भुज्यन्ते निरन्तरं सततं यैस्तानि भोग्यानि तैः पुण्यपरिकैः कृत्वा अद्भुताभिराश्चर्यकारिणीभिर्भोगानां विविधसुखानां नानाप्रकारहृदयगमाभ्यवहाराणामाभरणवस्त्रागणितमणिमौक्तिकस्वर्णादिधनानामथवा इह लोके राज्यादिलक्ष्मीणां भङ्गीभिः रचनाभिः तरङ्गिता प्रमोदमेदस्विता गता सन्तः । ‘भोगस्तु राज्ये वेद्याभृतौ सुखे । यनेऽहिकायफणयोः पातालाभ्यवहारयोः ॥’

इत्यनेकार्थः । सुखानि शर्माणि भोक्ष्यन्ति । का इव । नाव इव । यथा यानपात्राणि ता-
त्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति न्यायान्नौजना अनुकूलेन स्वाभिलषितस्थानप्राप्तिकारिणा वातेन
अम्बुवे समुद्रस्य कूल तट वेलाकूल वा लम्बिता सन्त सुख सासारिक सात
भुञ्जन्ति ॥

श्येनैः शकुन्ता इव पीड्यमानाः कुम्भाः कुलालैरिव पच्यमानाः ।

तद्गोमृभिर्दोयकिमेनसान्ये प्राप्स्यन्ति दुःखान्यपि तेन नीताः ॥ १४२ ॥

अपि पुनस्तेन खुदाख्यपरमेष्ठिना अन्ये कुकर्मकारिणो यवनजना एनसा पचेलि-
मेन पापेन कृत्वा दोयकि नरक नीता सप्रापिता सन्तो दुःखानि महाकष्टानि प्रा-
प्स्यन्ति लप्स्यन्ते । किं क्रियमाणाः । श्येनैः शशादनैः सिञ्चानकैः । 'श्येनः पत्नी शशा-
दना' इति हैम्याम् । शकुन्ता विहगमा इव तद्गोमृभिः तस्य नरकस्य गोमृभिः गोपाय-
न्तीति गोप्तास्तेन नरकपालकैः । 'नरयस्सरकेपाला केहि परिवेया अच्छि । तदुत्तरे
नरकर केहि—' इति विदग्धमुखमण्डने । पीड्यमानाः खादनाक्षिकर्षणमारणादिप्रकारैः
सतत सताप्यमाना । पुनः किं क्रियमाणा । कुलालैः कुम्भकारैः कुम्भा कलशा इव
इष्टिकावत्पाचनकटाहोष्णतैलाद्युत्कालनाग्निक्षेपणतप्तत्रपुमानादिना निरन्तर पच्यमानाः
पचिक्रिया पक्ता भ्रष्टा नीयमानास्तद्गोमृभिरेव ॥

कुरानवाक्य किमिदं यथार्थं महात्मना वाक्यमिवास्ति सूरः ।

इव प्रसूने गगनस्य तस्मिन्नुताभ्युदेति व्यभिचारिभावः ॥ १४३ ॥

हे सूरः, महात्मनामवितथवाचामुत्तमाना भाषित वचनमिव यवनानां किं यच्छास्त्र
कुरानमित्युच्यते इदं यन्मया श्रीमत्पुरस्तात्पूर्वं प्रतिपादितं कुरानस्य यवनशास्त्रविशेषस्य
वाक्यं वचनम् । किमिति प्रश्ने । यथार्थं सत्यमस्ति । उताथ वा गगनस्य प्रसूने आकाशकुसुम
इव तस्मिन् कुरानवाक्ये व्यभिचारिभावोऽसत्यत्वमभ्युदेति प्रकटीभवति । इदं सत्य-
मसत्यं वा तत्सम्यक् निश्चित्य वाच्यमित्यर्थः ॥ इति शेषस्य स्वशास्त्रानुसारिप्रश्नः ॥

इदं निगद्य व्यरमत्स तस्य बुभुत्सया वाङ्मयवेदितायाः ।

ततो बिडौजा यतिनामिवैकधुरा सिताया भणति स्म वाणीम् ॥ १४४ ॥

स प्रश्नकर्ता शेष इदं पूर्वोक्तं निगद्य कथयित्वा व्यरमद्विरराम । मौनं कृत्वा स्थित
इत्यर्थः । कया । तस्य साहिना वर्मगोष्ठीमनुष्ठातुमाहूतस्य हीरसूरिवाङ्मयानां स्वपरसमय-
शास्त्राणां वेत्ति सम्यग् जानातीत्येवशीलो वेदी तस्य भावो वेदिता तस्या ज्ञातृताया
बुभुत्सया बोद्धुमिच्छया । ततः शेषे मुखे जोषे कृते सति शेषप्रश्नानन्तरं वा यतिना
साधूनाम् । 'ब्रह्मशर्मभरचारु यतीव' इति नैषधे । मत्वर्थी यन्प्रत्ययः । बिडौजा इन्द्रः
सूरिर्वाणी भणति स्म । उवाचेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—सिताया शर्कराया एकधुरामिव
एका धुरं वहतीत्येकधुरा सदृशाम् । 'एकधुरीणैकधुरावुभावेकधुरावहौ' इति हैम्याम् ॥

निरञ्जनः कम्बुरिव व्यपास्तनिःशेषदोषः पुनरर्थमेव ।

ज्योतिर्मयो वह्निरिवास्तमूर्तिर्मनीनाङ्कवद्यः परमेशितास्ते ॥ १४५ ॥

य परमेशिता कम्बु शङ्ख इव निर्गतमञ्जन रज आदिल्लेपो यस्य निरञ्जन कर्म-
मललेपरहितः । 'सङ्खो इव निरञ्जणे' इति कल्पसूत्रोक्ते । पुनरर्थ अर्थमेव भास्वानिव
व्यपास्ता निर्मूलमुच्छेदिता निःशेषा समस्ता दोषा अपगुणा रात्रयश्च येन । पुनर्यो
वह्निरग्निरिव ज्योतिर्मय परमतेज स्वरूपः । यदुक्तम्—'तेजोमयोऽपि पूज्योऽपि
वातुना नीचजातिना । सगत सहते वह्निर्घनघातजयातनाम् ॥' इति । पुनर्मनीनाङ्क इव
कदर्प इवास्ता त्यक्ता मूर्ति शरीर येन । स्मरस्यानङ्गत्वात् । आस्ते । 'सत्तायास्त-
स्त्यास्ते' इति क्रियाकलापे । तथा 'आसते शतमधिक्षिति भूपास्तोयराशिरसिते खलु
कूपा' इति नैषधे । आस्ते आसाते आसते इति बहुवचनम् ॥

भवभ्रमीभङ्गिभरो भवीव कि रूपमाधाय सभागमी सः ।

क्षेप्ता पुनर्दोयकिभिस्तिगत्योर्जनस्य कं हेतुमिह प्रतीत्य ॥ १४६ ॥

स परमेश्वर भवेषु ससारपरम्परासु भ्रमीणा भ्रमणीनाम् । 'अपि भ्रमीभङ्गिभिरा-
वृताङ्गम्' इति नैषधे । भङ्गयो रचना नरकतिर्यङ्गुरदेववैचित्र्यस्तासा भर समूहो यस्य
तादृशो भवी जीव । 'स पुनर्भवी जीव स्यादसुमान्' इति हैम्याम् । ससारपर्यटनशी-
लजन्तुरिव । यथा जीव ससारे बभ्रम्यमाण सन्नानारूपाण्यादत्ते तथा ससारी जीव
इव । कि कीदृग्जातीय रूप देवनरादिसबन्वि कीदृश शरीरमाधाय कृत्वा सभा परिषद
गमिष्यति उपवेक्ष्यति इति सभागमी । पुनः स खुदा इह जगति क हेतु रागद्वेषादिक
कारणम् । रागद्वेषौ विना शुभाशुभकारकत्व न स्यात् । तस्य तु तावेव न स्तः । तत
क हेतु प्रतीत्य समाश्रित्य जनस्य दोयकिभिस्तिनाभ्योर्नरकस्वर्गलक्षणयोर्गत्यो क्षेप्ता
क्षेप्यति । हेतुरत्र नास्त्येव । हेत्वभावात्तत्र क्षेपणमपि न घटते ॥

सुखासुखानि प्रभविष्णु दातु पचेलिम प्राक्तनमेव कर्म ।

तस्यैव तत्कारणतास्तु मञ्जागलस्तनेनेव किमत्र तेन ॥ १४७ ॥

हे शेष, सुखासुखानि सौख्यानि दुःखानि च दातु प्रभविष्णु समर्थ प्राक्तन पूर्वज-
न्माचीर्ण पचेलिम परिपाक प्राप्त कर्मैव नान्य कोऽपि तत्तस्मात्कारणात् तस्यैव कर्मण
एव कारणता जगत्कर्तृतास्तु । अत्र जगति मञ्जागलस्तनेनेव छागिकानिगरणजेन
प्रयोवरेणेव प्रायेणेव तेन केनचित्कल्पितेन जगत्कर्ता किमस्तु यदि अजाकण्ठोद्भूत-
स्तनाहुग्व प्रादुर्भवति तदा तस्मादपि विश्वसृष्टिर्घटते ॥ इति कर्मणो जगत्कर्तृत्व-
स्थापने सूरिप्रत्युत्तरम् ॥

इदं गदित्वा विरते व्रतीन्द्रे शेषः पुनर्वाचमिमामुवाच ।

विज्ञायते तद्बहुगर्ह्यवाचि वीचीव तथ्येतरता तदुक्तौ ॥ १४८ ॥

इदं पूर्वोक्तं गदित्वा प्रत्युत्तरं प्रदाय त्रतीन्द्रे विरते निवृत्ते सति शेखः पुनर्द्वितीय-
वारमिमामग्रे वक्ष्यमाणा वाचं वाणीमुवाच वक्ति स्म । तदेवाह—हे गुरो, तद्भवदुक्ति-
युक्तिकारणाद्बहुगह्वो वाचाटस्तस्य वाचि वचने इव तदुक्तौ कुरानवाक्ये तथ्येतरता
केवलं मृषाभाषितैव विज्ञायते ॥

बभाण भूयः प्रभुरेतमेतत्स्रष्टा जगत्पूर्वमिदं विधत्ते ।

तत्केतुवत्संहरते स पश्चात्ततोऽस्ति तस्याप्यसमश्रमोऽसौ ॥ १४९ ॥

भूयो द्वितीयवारं प्रभुः सूरिः । एतं शेखः प्रति एतदिहैव वृत्ते कथ्यमानं बभाण भ-
णति स्म । निजगदेत्यर्थः । तदेव निर्दिशति—हे शेख, यदि स स्रष्टा जगत्कर्ता इदं
सुरासुरनरनारकलक्षणं जगद्विश्वं विवत्ते निर्मिमीते प्रथमं सकलजगज्जनं निष्पादयति,
पश्चात्स एव स्रष्टा विधाता केतुवद्भूमकेतुरिव तत्त्वेनैव कृतं विश्वं सहरते क्षयं नयति ।
ततः कारणात् तस्यापि जगत्कर्तुरपि । अयमसमोऽसाधारणः श्रमः क्लेशोऽस्ति विद्यते,
न पुनः कदाचनापि स्वास्थ्यं यदेकं घटयति परं भनक्तीति ॥

कर्ता च हर्ता निजकर्मजन्यवैचित्र्यविश्वस्य न कश्चिदस्ति ।

वन्ध्यात्मजन्मेव तदस्तिभावोऽसन्नेव चित्ते प्रतिभासते तत् ॥ १५० ॥

हे शेख, निजस्यात्मनः कर्मणा स्वप्राचीनजन्माचीर्णसुकृतदुष्कृतरूपेण कर्मणा
जन्यमुत्पाद्य वैचित्र्यं रचनाया विचित्रत्वं नानात्वं यस्य तादृशस्य विश्वस्य जगतः
कश्चित्कर्ता निष्पादकः च पुनर्हर्ता सहारकः सर्वथा नास्त्येव । तत्कारणात्तस्य जगत्कर्तुर-
स्तिभावः सत्ता विद्यमानत्वमसन्नेव अविद्यमान एव प्रतिभासते मम चित्ते । मन्मन-
सीति भावः ॥

शेखं तमित्थं कृतपूर्वपक्षं सबोध्य सिद्धान्तवचोभिरेषः ।

धर्मं निधत्ते स तदीयचित्ते कृषीवलो बीजमिवोर्वरायाम् ॥ १५१ ॥

एष सूरिस्तदीये शेखसंबन्धिनि चित्ते मानसे दयारूपं धर्मं निधत्ते स स्थापयति
स्म । क इव । कृषीवल इव । यथा कर्षुक उर्वराया सर्वसस्याया क्षेत्रभूमौ बीजं वपनो-
चितधान्यं निधत्ते वपति । किं कृत्वा । इत्थममुना प्रकारेण कृतो विहितः पूर्वपक्षो विप्र-
तिपत्तिर्येन । सदिग्वोऽर्थः पूर्वपक्षः । तं शेखः सिद्धान्तवचोभिर्निःसपत्नबुद्धिनिश्चय-
सिद्धान्तस्तस्य वाक्यैर्वचनैस्तद्रूपैर्वा प्रत्युत्तरैः । सिद्धान्तावलम्बेन पूर्वपक्षप्रतिक्षेपो भ-
वति इति व्युत्पत्तिनैषधनरहस्याम् । सबोध्य बोधयित्वा ॥

बभूव बलभावसरोऽधुना तद्विधीयता काप्युचिते पदे सा ।

दत्त्वाल्पमङ्गाद्बहुं गृह्यते यद्धर्मादि पात्रादिव बुद्धिमद्भिः ॥ १५२ ॥

श्रुत्वेति शेखस्य वचो विधत्ते यावत्स बलभामुचितप्रदेशे ।

अभाजि भूजम्भभिदा सभाया मध्यं दिवो भानुमतेव तावत् ॥ १५३ ॥

तावत्तदैव तस्मिन्नेव काले भूजम्भभिदा पृथिवीपुरंदरेण अकब्बरसाहिसभायाः स्व-
 पर्षदो मध्यमुत्सङ्गोऽभाजि समाश्रीयते स्म । सभाया समागत इत्यर्थः । केनेव । भानुम-
 तेव । यथा भास्करेण तदैव तस्मिन्नेव वासरे दिवो व्योम्नो मध्यमाश्रितम् । एतावता
 मध्यदिनावसरोऽपि जात इत्यर्थः । तावत्किम् । यावद्यथा यस्मिन्नेव समये प्रस्तावे
 उचिते प्रदेशे कर्णराजन्यभवने स सूरिर्वल्भा भोजनमाचाम्ल विधत्ते करोति । कर्तुमुप-
 विशतीत्यर्थः । किं कृत्वा । इत्यमुना प्रकारेण शेखस्य वचो वाक्य श्रुत्वा आकर्ण्य ।
 इति किम् । हे गुरो, अधुना इदानीम् । युष्माकमित्यध्याह्नियते । वल्भाया अशनस्याव-
 सरं बभूव सपन्न । तत्कारणात् क्वापि कुत्रापि उचिते अस्माक यवनाना सन्नन्यनुचित
 हिन्दुवर्गगृहे श्रीमतामाहारकरणयोग्ये पदे स्थाने वसत्यादौ वा गत्वा सा वल्भा विधी-
 यता क्रियताम् । यत्कारणाद्बुद्धिमद्भिः पण्डितैः अल्पं स्तोकं भाटकमात्रं दत्त्वा अज्ञात्स्व-
 कायात्सकाशात् तपः क्रिया अनुष्ठानादिवर्मो गृह्यते । कथम् । बहु घनतमं यथा स्यात्तथा ।
 कस्मादिव । पात्रादिव । यथा सुपात्राय साधवे स्वल्पमात्रादिकं दत्त्वा तस्माद्बहुं स्वर्गोप-
 वर्गादिकमादीयते । यतः 'दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहिः कोटिगुणितं दिवि दायि'
 इति नैषधेऽपि ॥ युग्मम् ॥

धर्मोदयस्येव मुहूर्तमात्मगोष्ठीविधानावसरं विभाव्य ।

महीमहेन्द्रस्तमथाजुहाव मुनीन्द्रमिन्द्रावरजोर्जितश्रीः ॥ १५४ ॥

अथ स्वस्या सभायामागमनानन्तरं महीमहेन्द्रो भूमीन्द्रोऽकब्बरसाहिस्त स्वयं गुर्ज-
 रमण्डलादाहूत मुनीन्द्र सूरिराजमाजुहाव आकारयामास । स किलक्षणः । इन्द्रस्य पु-
 रंदरस्यावरजो लघुभ्राता कृष्णः । 'कानुजे मम निजे दनुजारौ जाग्रति स्वशरणे रण-
 चर्चा । यद्भुजाङ्गमुपवाय जयाङ्गं शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥' इति नैषधे । 'दासार्हं
 पुरुषोत्तमोऽब्विशयनोपेन्द्रावजेन्द्रानुजा' इति हैम्यामपि । तद्वद्भूर्जिता प्रबला श्रीर्ल-
 क्ष्मीर्यस्य । किं कृत्वाजुहाव । स्वस्यात्मनः अकब्बरसाहेरात्मनः गोष्ठीविधानस्य
 सूरिणा समं वर्म्यवार्ताकरणस्यावसरं समयं विभाव्य विलोक्य । विज्ञायेत्यर्थः । उत्प्रे-
 क्ष्यते—धर्मोदयस्य श्रीमजिनवर्मस्याभ्युदयस्य मुहूर्तं वेलामवसरमिव ॥

शेखस्ततः साधुविधुं विशुद्धधर्मोपदेष्टारमदःसमाजम् ।

स्वसाधकस्यान्तिकमिष्टदेव सिद्धिप्रदो मन्त्र इवानिनाय ॥ १५५ ॥

ततः साहेराकारणानन्तरं शेखोऽबलफैजः साधुविधुं वाचयन्मन्त्रमदःसमाजमक-
 ब्बरसभामानिनाय आनयति स्म । 'अदः समित्समुखवैरियौवत—' इति नैषधे । अदः-
 शब्दस्य समासविवानम् । किंभूतः साधुविधुम् । विशुद्धो निर्दोषो यो धर्मो दयामूल-
 जिनाज्ञापूर्वकस्तस्योपदेष्टारः सम्यक् विविच्य वक्तारम् । क इव । मन्त्र इव । यथा साध्य-
 सद्गुरुदत्तसंप्रत्ययमन्त्रः स्वस्यात्मनो मन्त्रस्यैव साधकस्याराधयितुं अन्तिकं समीप-
 मिष्टदेव मन्त्राविष्टायकसुरमानयति । किंभूतो मन्त्रः । सिद्धेरिष्टाभिलषितस्य प्रदो वि-
 श्राणयिता ॥

विश्वत्रयीमीक्षितुमुत्सुकेन त्रैरूप्यभाजेव शिवाङ्गजेन ।

शक्तित्रिकेणेव वपुष्मता वानुगम्यमानस्तनुजत्रिकेण ॥ १५६ ॥

विभाव्य विस्मेरविलोचनाम्भोरुहेण तं साहिजलालदीनः ।

ज्ञानेन शक्रः कतिचित्पदानि ज्ञाताङ्गजन्मानमिवाभ्यगच्छन् ॥ १५७ ॥

महता मुद्गलेन्द्राणां जलालदीन इति यवनभाषया प्रसिद्धं नामोच्यते । साहिजलालदीनः अकब्बरपातिसाहिपुगवः विस्मेरेण हर्षोत्फुल्लेन विलोचनाम्भोरुहेण नयनकमलेन विभाव्य दृग्गोचरीकृत्य कतिचित्कानिचनापि तदानीमभ्यगच्छन्समुखमागच्छन्ति स्म । क इव । शक्र इव । यथा सौधर्मेन्द्रो ज्ञानेनावेष्टययोगेन अवधिचक्षुषा ज्ञाताङ्गजन्मानं श्रीमन्महावीरदेव विलोक्य स्वर्गे स्वसभायामेव कतिचित्सप्ताष्टौ पदानि क्रमान्यावत्समुखं गच्छति स्म । साहि किं क्रियमाणः । आद्य एक शेखजी, द्वितीयः पाटी, तृतीयो दानीयार इति नाम्ना तनूजन्मना त्रिकेणानुगम्यमानः । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वत्रयी त्रैलोक्य ईक्षितुं द्रष्टुं विलोकयितुमुत्सुकेन उत्कण्ठितेन अत एव त्रयाणां रूपाणां भावस्त्रैरूप्यं तद्भजतीति त्रैरूप्यभाजा रूपत्रयीकलितेन शिवाया पार्वत्या अङ्गजेन नन्दनेनेव एतावता स्वाभिकार्तिकेनेव । अथ वा वपुष्मता शरीरमाश्रयता शक्तीनां प्रभुत्वोत्साहमन्त्रलक्षणानां त्रिकेणेव वा ॥ युग्मम् ॥

सूरि दयाधर्ममिवाङ्गिजातमवन्तमङ्गीकृतकाययष्टीम् ।

तं गोचरं लोचनयोः प्रणीय मीमांसते स्मेति हृदा महीमान् ॥ १५८ ॥

तं हीरविजयनामानं सूरिं भट्टारकं लोचनयोः स्वनयनयोगेर्गोचरं विषयं प्रणीय कृत्वा । विलोकयेत्यर्थः । महीमानकब्बरपातिसाहिर्हृदात्ममनसा इत्यमुना प्रकारेण मीमांसते स्म विचारयति स्म । ‘मीमांसा तु विचारणा’ इति हैम्याम् । सूरिस्तूत्प्रेक्ष्यते—अङ्गीकृता उपात्ता काययष्टी तनूलता येन तादृशमङ्गिजातं प्राणिगणमवन्तं स्वजीवमिव रक्षन्तं दया कृपा जगज्जन्तुषु कारुण्यं तद्रूपं वर्ममिव ॥

विपक्षभावः कलयन्तमुग्रं प्रिया स्वमृत्याममृता रति च ।

निर्णीय निर्विण्णमनास्तनूमास्तपः प्रपन्नं किमु शम्बरारिः ॥ १५९ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—अयं सूरिस्तपः सयमक्रियानुष्ठानोपवासादिकं प्रपन्नं अधिगतं कुर्वाणो वा शम्बरारिः स्मर इव । किंभूतः । तनूमान् विनाङ्गं तपोऽनुष्ठानादि कर्तुं न शक्नुयादित्यङ्गीकृतकाययष्टी । अथ वा पार्वतीपरिणयनप्रक्रमानन्तरं सर्वसुरासुरात्यर्थं भयर्थनाप्रसन्नीभूतभूतपतिना कायं प्रादायि इति कुमारसम्भवोक्तेस्तदादिशरीरं सजातमिति कायकलितश्च । किलक्षणः शम्बरारिः । तपः प्रतिपत्तौ कारणमाह—निर्विण्णं खेदखिन्नं मनश्चित्तं यस्य । किं कृत्वा । विपक्षभावः वैरिता कलयन्तं विभ्राणम् अग्रं महाक्रूरं निश्चिंशं वा तत्त्वतः शक्रम् । तथा स्वमृत्यावपि त्रिनेत्रनेत्रज्वलदनलज्वालाभस्मीभू-

तेऽपि स्वदेहे न मृता नानुविपन्ना रतिनार्त्नी स्वप्रियां प्रियवल्लभामपि निर्णीय नि-
श्चित्य विज्ञाय ॥

न कापि कामीव जहाति कान्तामकीर्तिमेतामपहर्तुकामः ।

किं वा पृथक्कृत्य निजाङ्गलम्नां शिवां शिवः साधितसाधुवृत्तिः ॥१६०॥

वाथवा निजस्यात्मीयस्य अङ्गे काये लम्ना स्यूतामिवार्धोभूताम् । अर्धशभुरिति
प्रसिद्धत्वेन अर्धं शभोरित्यर्धशभु । तथा 'प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशभु' इति नैषधे ।
तथा भोजप्रबन्धे च यथा—'अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृत राजन्वि-
श्वमनीश्वर समभवत्तत्तावदाकर्ण्यताम् । गङ्गा सागरमम्बर शशिकला नागाधिप. क्षमातल
सर्वज्ञत्वमपीश्वरत्वमभजत्वा मा च भिक्षाश्रिता ॥' इति । अत एवार्धोभूता शिवा पार्वती
पृथक्कृत्य स्वशरीराद्भिन्ना विवाय । पुनर्द्वितीयवारम् । एकवारं तु पूर्वपत्नीसतीविरहात्तप-
स्तप्त पूर्व पश्चात्सतीमेव पार्वतीभूता परिणीय गृहमेधितामनुभूय तदपेक्षया द्वितीयवारं
साविता आराधिता सावोर्मुनेर्वृत्तिरावरण येन तादृशं शिवं किम् ईश्वर इव । किं
कर्तुकामं अयं शिवः । कापि नक्तदिवा सुप्तौ जाग्रदवस्थायामेकीभूतो बहुमध्यगतो वा
गृहान्तः सभाया वा कुत्रापि स्थाने कान्ता प्रिया पार्वती न जहाति नैव त्यजति । क
इव । कामीव यथा प्रबलकदर्पवान् कापि कस्मिन्नपि समये प्रिया नोज्झति तत्सगत
एव तिष्ठति एता जगत्प्रसिद्धामपकीर्तिं निजापयशं अपहर्तुकामो निराकर्तुमिच्छुः ॥

प्रलम्बबर्हिर्मुखशाखिशखावाहः स्फुरत्काञ्चनचारिमश्रीः ।

उत्कंधरो भूमिधरः सुराणां किं वाञ्छुताद्भूतलसंचरिष्णुः ॥ १६१ ॥

किं वा अथ वा अद्भुतादाश्चर्यात् कौतुकौत्सुक्यात् भूतले क्षोणीमण्डले संचरिष्णु
सम्यग्रीत्या भ्रमणशील अयं प्रत्यक्षलक्ष्य सुराणां देवानां भूमिवरः पर्वतः सुमेरुरिव ।
किलक्षणः । प्रलम्बा अतिदीर्घा या बर्हिर्मुखशाखिनः सुरतरो शाखास्ता एव तद्वद्वा
वाहा भुजा यस्य । पुनः किंभूतः । स्फुरन्ती देदीप्यमाना काञ्चन सुवर्णं तस्य तद्वद्वा
चारिमश्रीं शरीररामणीयकलक्ष्मीर्यस्य । पुनः किंभूतः । उत्कंधरः प्रोचै शिरा माहा-
त्म्यवाश्च ॥

साम्राज्यमासाद्य दिवस्त्रिलोक्या आशंसमानः पुनराधिपत्यम् ।

तपस्तपस्यत्किमुत क्षमाया पुरंदरोपास्तपुरंध्रिपाशः ॥ १६२ ॥

उताथ वा पूर्वोक्तादपरार्थे अपास्तस्त्यक्त पुरंध्रीणां स्वस्त्रीणां पाशो बन्धनं येन ।
यदुक्तम्—'स्मितेन भावेन च लज्जया भिया पराङ्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षितैः । वचोभि-
रीर्ष्याकलहेन लीलया समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥' इति विमुक्तवनितानुषङ्ग
तादृशं क्षमाया जन्मभूमित्वेन सुरासुराङ्गनास्वर्द्धमादीनां स्नेहकारणत्वादिव स्वर्लोकं विहाय
भूमौ समेत्य तपस्तपस्यन् कुर्वाणः पुरंदरः शक्र इव । किं कुर्वाणः । दिवः स्वर्गलो-
कस्य साम्राज्यं समस्तविमानाधिपतिः देवेन्द्राणां स्वामित्वं द्वात्रिंशत्सहस्रदेशाधीश्वरमुकु-

टवद्धभूपानामिव सार्वभौमस्य तथा द्वात्रिंशलक्षविमानाधिपानां प्रभुत्वम् । अत एव साम्राज्यम् । 'सम्राट् तु शास्ति यो नृपान्' इति हैम्याम् । आसाद्याविगत्य । पुनर्त्रिलोक्या विश्वत्रयस्याधिपत्य भर्तृभावमाशसमान. काङ्क्षन् ॥ इति सूरिदर्शनात्साहि-
हृदयवितर्का ॥

यावद्वितर्कानिति तर्कशास्त्राधीतीव चित्ते कुरुते क्षितीन्द्रः ।

निर्ग्रन्थनाथं निजसंनिकर्षं विभूषयन्तं पिबति स्म तावत् ॥ १६३ ॥

क्षितीन्द्रोऽकब्बरसाहि इति पूर्वोक्तप्रकारेण यावद्यावता समयेन चित्ते स्वमनस्येव नात्मजनसमक्षवितर्कान्विचारान् कुरुते । क इव । तर्कशास्त्राधीतीव यथा तर्कशास्त्रेषु प्रमाणग्रन्थेषु अधीतमध्ययनं सम्यक् शास्त्रावबोधोऽस्यास्तीति तर्कभाषादिकचिन्तामणि-
प्रमुखप्रमाणाध्येता वितर्कान् विविधान् तर्कान् कुरुते तावन्निजस्यात्मनः सनिकर्षं समीपं विभूषयन्तमलकुर्वन्तम् । निर्ग्रन्थनाथं हीरविजयसूरिं पिबति स्म सादरमवलोकयति स्म । सादरावलोकनं पानमुच्यते ॥

सुत्रामगोत्राधिकगौरवेण मार्गे मया संभ्रमगामिनासौ ।

दुरूढभूर्भोगिविभुर्विषादी मा स्तादितीर्वात्वरया चरन्तम् ॥ १६४ ॥

सूरिं किं कुर्वन्तम् । अत्वरया न वेगेन मन्दमन्दचरन्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः । इति किम् । सुत्रामगोत्रान्मेरोरधिकगौरवगुरुतामाहात्म्ययस्य तादृशेन मार्गे पयि संभ्रमगामिना औत्सुक्यादिना त्वरितगमनशीलेन । 'आवेगस्तु त्वरिस्तूर्णि सवेगं संभ्रमस्त्वेव' इति हैम्याम् । मया दुःखेन कष्टेन ऊढा सहस्रफणामण्डलैर्विवृता भूर्येन तादृशो भोगिविभुः शेषनागो विषादोऽस्यास्तीति विषादी विषण्णचेता निवेदवान्वा मा स्तान्मा भवतादिति ॥

इमे चले मेचकिमाङ्किते च तदौचिती रोद्धुमदःप्रचारम् ।

नेत्रे क्षिपन्तं किमिति प्रमात युगधरायां पुरतो धरायाम् ॥ १६५ ॥

पुनः किं कुर्वन्तम् । पुरतः पुरस्तादग्रतः प्रमातः प्रमाणीकृतं युगवरकूबररथस्य वृषभस्य स्कन्धनिक्षेपणस्य योग्यकाष्ठविशेषवृसरमिति जने प्रसिद्धयस्या तादृश्या वराया पृथ्वीपीठे नेत्रे नयने क्षिपन्तं स्थापयन्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः किम् । इति किम् । इमे नेत्रे चले चञ्चलस्वभावे च पुनर्मेचकिमाङ्किते अन्तःश्यामताकलिते । मलिनाशये इत्यर्थः । तत्तस्मात्कारणात् अदःप्रचारमेतयोः प्रसाररोद्धुमौचिती योग्यता । उपचितमेवेत्यर्थः ॥

दण्डं स्वपाणौ दधतं स्वबाहाजितं भजन्तं किमु कल्पसालम् ।

कल्पं मुनीनामिव मूर्तिमन्तं कल्पं निजाङ्गे पुनरुद्धहन्तम् ॥ १६६ ॥

पुनः किं कुर्वन्तम् । स्वपाणौ निजवामहस्ते दण्डं यष्टीं दधत धारयन्तम् । उत्प्रे-

क्षयन्ते—स्वबाह्या निजभुजेन जित पराभूतम् अत एव भजन्त सेवमान यो येन जितः प्रायस्त स सेवते । कल्पसालमिव कल्पद्रुममिव । पुनः किं कुर्वन्तम् । निजाङ्गे आत्मीये शरीरे कल्प यतीना शरीरावरणयोग्यवस्त्रविशेष 'कल्पडो' इति प्रसिद्धः । उद्धहन्त बिभ्रतम् । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिमन्त शरीरशालिन मुनीना सुसाधूना कल्पमाचारमिव ॥

बुधैर्न दोषाकरवंशजातैर्मरालयानैर्न च नाभिजातैः ।

प्रत्यर्थिभिश्चित्तभुवो न रुद्रैर्निर्ग्रन्थनाथैरनुगम्यमानम् ॥ १६७ ॥

पुनः किं कियमाणम् । अनुगम्यमानम् अनु पश्चाद्गम्यमानम् । कैः । निर्ग्रन्थनाथै वा-
चकपण्डितगणिचरलक्षणश्रमणपुङ्गवैः । किभूतै । बुधैः रोहिणीनन्दनै पुनर्न दोषाकर-
वशजातै चन्द्रगोत्रजन्मभि । अयं तु विरोध —ये बुधास्ते तु दोषाकरवशजाता एव
स्युः । विरोधशान्तौ तु बुधा विद्वासस्तथा दोषाणामपगुणानामाकर खनिर्यो वशस्तत्र
जाता न तर्हि विशुद्धवशजन्मान । निर्दोषपितृपक्षा इत्यर्थः । पुनः किभूता । मरालो
राजहसस्तेन यान गमन येषां ते । हसवाहना च पुनर्न नाभिजाता न ब्राह्मणाः । अय-
मपि विरोध —ये मरालयानास्ते तु नाभेर्नारायणनाभिपुण्डरीकादेव जाताः । विरोध-
शान्तौ तु हसवन्मन्थरगमना । ईर्या शोवनात् । तथा द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयत । मौ-
लार्थं प्रापयत । तत न न अभिजाता कुलीना एव । अथ वा न अभिजाता न कु-
लीना । एव न द्वितीयेन नकारेण अकुलीनत्वनिषेधो निगद्यते । एव सति कौलीन्यमाया-
तम् । तैरेतावता विशुद्धमातृपक्षैरित्यर्थः । 'जाइ सपत्ना कुलसपत्ना' इति सिद्धान्तोक्तिः ।
पुनः किभूता । चित्तभुवः कदर्पस्य प्रत्यर्थिभिर्वैरिभिः पर न रुद्रैर्न भीमैरीश्वरैः । अयमपि
विरोध —ये कामरिपवस्ते तु रुद्रा शिवा एव स्युः । विरोधशान्तौ तु त्यक्तसर्वसासा-
रिककान्ताद्यनुषङ्गत्वान्मनोभवाभिरातिभिः शान्तरसतरङ्गिताङ्गितान्त करणत्वान्न रुद्रैः ।
सौम्यैरित्यर्थः ॥

एकं किमद्वैततया जगत्यां कुमुद्वतीकान्तमिव द्वितीयम् ।

तृतीयमक्षणोरिव चन्द्रचूडब्रह्माच्युतानामिव वा चतुर्थम् ॥ १६८ ॥

पुनः किंभूतम् । जगत्या भुवनमध्ये भरतक्षेत्रभूमौ वा अद्वैततया गुणैरसाधारणत्वेन
नास्त्यस्य तुल्य । तादृक्कोऽप्यन्यो नास्ति येन सा उपमीयते इति हेतुना एक किम् ।
'जगती मेदिनी रसा' इति हैम्याम् । 'भुवन जगती जगत्' इत्यपि हैम्याम् । तथा 'ज-
गती विश्वभूमयो' इत्यनेकार्थेऽपि । पुनर्द्वितीयः कुमुद्वतीकान्तः चन्द्रमिव जगदाह्लाद-
कत्वात् । च पुनरक्षणेर्नेत्रयोस्तृतीयम् । यथा जनानां नेत्राभ्यां भौमादिमार्गं प्रका-
श्यते तथा तेनापि नेत्रीभूतेन भविकानां स्वर्गापवर्गादिमार्गो ज्ञाप्यते इति तृतीय
नेत्रम् । वा पुनः चन्द्रचूडः शिवः, ब्रह्मा विवाता, अच्युतो नारायणः, तेषां मध्ये
चतुर्थमिव त्वपरतीर्थकैरेते त्रयो देवाः सेव्यन्ते, तथा अयमपि गुणबाहुल्यात्स्वपरतीर्थ-
कैरुपास्यते । अतस्तच्चतुर्थमिव ॥

चतुर्षु वेदेष्विव पञ्चमं वा षष्ठं द्रुमाणामिव निर्जराणाम् ।

किं सप्तमं मूर्तिमतामृतूनां स्रोतःपतीनां पुनरष्टमं वा ॥ १६९ ॥

च पुनश्चतुर्षु चतुःसख्येषु ऋक्-यजु-साम-अथर्वणलक्षणेषु लौकिकेषु मध्ये पञ्चम-मिव । एतस्य सत्यवादित्वाद्देवन्मान्यत्वेन पञ्चमम् । वा पुन निर्जराणां देवानां द्रुमाणां कल्प-पारिजात-मन्दार-हरिचन्दन-सतानलक्षणानां पञ्चानां कल्पवृक्षाणां मध्ये षष्ठ-मिवाखिलाभिलषितदायकत्वात् । तथा मूर्तिमता स्वीकृतकाययष्टीनां हिम-शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरलक्षणानां षण्णामृतूनां मध्ये सप्तममिव । सर्वेषामपि सेव्यत्वेन । वा पुनः स्रोतः पतीनां लवणोदधि-क्षीरोदधि-नीरोदधि-घृतोदधि-सुरोदधि-स्वादूदधि-इक्षूदधि-नाम्नां सप्तानां समुद्राणां मध्ये अष्टममिव अतिगम्भीरत्वात् गुणरत्नाकरत्वात् ॥

अधीश्वराणां नवमं दिशां वा कुण्डं सुधानां दशमं किमुर्व्याम् ।

एकादशं वा व्रतिनां वृषेषु किं द्वादशं श्रीगणपुंगवानाम् ॥ १७० ॥

च पुनर्दिशामष्टानां हरितामीश्वराणां स्वामिनाम् इन्द्र-अग्नि-यम-नैर्ऋत-वरुण-वायु-कुबेर-ईशानाभिधानामष्टसख्याकानां लोकपालानां मध्ये नवममिव । यथा दिक्पाला सर्वेषां मप्याराध्यास्तथायमपीति । वा पुनरुर्व्यां पृथिव्या वर्तमानं दशमं सुवाकुण्डमिव । यथा पाताले नवसख्याकानि कक्कोलादिपीयूषकुण्डानि विद्यन्ते, तथा भूमण्डले दशमं सुवाकुण्डमिव । अजरामरपददायकत्वात् । वा पुनर्व्रतिनां साधूनां वृषेषु धर्मेषु मध्ये । 'धर्मं पुण्यं वृषं श्रेयं' इति हैम्याम् । क्षान्ति-आर्जव-मार्दव-निर्लोभता-तप-सयम-सत्य-शौच-अकिञ्चनता-ब्रह्मचर्यमिति लक्षणेषु दशविधसाधुधर्मेषु मध्ये । यदुक्तम्—'स्वतीअजवमद्वमुत्तीतवसजमे अबोधव्वे । सव्व सोअ आकिञ्चणं च बभं च जइ धम्मो ॥' इति वचनात् । एकादशमेकादशसख्यापूरणं मूर्तं साधुधर्ममिव । वा पुनः श्रिया गणभृलक्ष्म्या शोभया वा युक्तानां गणपुंगवानां गणधारिणाम् इन्द्रभूति-अग्निभूति-वायुभूति-व्यक्त-सुधर्मस्वामि-मण्डित-मौर्यपुत्र-अकम्पित-अचलभ्राता-मेतार्य-प्रभासनामानां महावीरजिनैकादशगणधरास्तेषां मध्ये द्वादशमिव ॥

त्रयोदशं वाम्बुजबान्धवानां विश्वेषु देवेषु चतुर्दशं वा ।

रत्नेषु वै पञ्चदशं कलासु शरत्सुधाशोरिव षोडशं वा ॥ १७१ ॥

वा पुनरम्बुजबान्धवानाम् । धाता-अर्यमा-मित्र-वरुण-ईश-भग-इन्द्र-विवस्वत्-पूषा-पर्जन्य-त्वष्टा-विष्णु इति द्वादशसख्यानामर्काणां मध्ये त्रयोदशं भास्करमिव । प्रतापत्वात् । वैश्वदेवेषु मध्ये । 'विश्वदेवास्त्रयोदश' इति काव्यकल्पलतायाम्, सख्यानां ममालायां च । चतुर्दशं चतुर्दशसख्याकमिव । दिव्यरूपत्वात् । वा पुनश्चतुर्दशसु लक्ष्मी-कौस्तुभ-पारिजात-सुरा-धन्वन्तरि-चन्द्रमा-कामधेनु-ऐरावण-अप्सर-उच्चैःश्रवा-पीयूष-शार्ङ्गधनु-पाञ्चजन्यशङ्खः-कालकूटविषाभिधानां चतुर्दशप्रमाणानां रत्नानां

मध्ये पञ्चदश रत्नमिव । वा पुनः शरत्सुधाशो शारदीनचन्द्रमसः कलासु पञ्चदश-
कलासु मध्ये षोडशमिव । पञ्चदशसु तिथिषु पञ्चदशैव कला वर्धन्ते, षोडशी
कला तु शिवमस्तके अस्तीति श्रुति । अत एव नैषधे नलेन प्रोक्तम्—‘भीमजा च
हृदि मे परमास्ते जीवितादपि वनादपि शुवा । न स्वमेव मम सार्हति यस्याः षोडशा-
मपि कला किल नोर्वी ॥’ इति । तथा ‘परवार्मिकतिथयश्चन्द्रकला पञ्चदश भवन्तीह’
इति काव्यकल्पलतायाम् । तथा तत्रैवोदाहरणम् । ‘तिथिं तिथिं प्रति स्वर्गिभोग्यैकैक-
कलाधिका । कला यस्येशपूजासीदेक श्लाघ्य स चन्द्रमा ॥’ इत्युक्ते । चन्द्रे तु पञ्च-
दशैव कला ॥

किं राजधानी शममेदिनीन्दोर्धवं धुनीनामिव वा समाधेः ।

सकेतसन्नेव गुणावलीना धर्मस्य साम्राज्यमिवार्हतस्य ॥ १७२ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—शममेदिनीन्दो उपशमनाम्नो वसुधासुवारुचे राज्ञ राजधानी सुख-
वासनगरी च । ‘कुलक्रमायाता पुरी राजधानी’ इति हैम्याम् । वा पुन समाधेर्ध्यानस्य
विशेष्यैकलयनिष्ठत्वेन यद्व्यान समाविस्तस्य धुनीना नदीना धव भर्तार समुद्रमिव ।
पुनरुत्प्रेक्ष्यते—गुणानामावलीना श्रेणीना सकेतसन्नेव । यत्र कामुकैर्मिलितुमुत्सुकैरप-
रैर्वा मिलनार्थं सकेतस्तत्स्थान सकेतगृह प्रोच्यते । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—अर्हतामतीतानाग-
ततीर्यकृतामयमार्हत स चासौ धर्मश्च । जैनधर्मस्येत्यर्थः । साम्राज्यमिव । अनेकान्मू-
र्धाभिपिक्तान्नमयित्वा यत्रैश्वर्यं क्रियते तत्साम्राज्यम् । अत्र तु बहुसामन्तभूपनमन स्फु-
टमेवास्ते इति साम्राज्यमेव ॥

उरो मुरारेः सुभगत्वलक्ष्म्याः कृपामृतस्येव पति तमीनाम् ।

भाग्यस्य वा कोशमिवाक्षयन्तं क्षान्तिस्रवन्त्या इव सानुमन्तम् ॥ १७३ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—सुभगत्वलक्ष्म्या सौभाग्यश्रिया वासार्य मुरारेर्नारायणस्य उरो वक्ष-
स्थलमिव । यदुक्तं नैषधे—‘हित्वा दैत्यरिपोरुर स्वभवनं शून्यत्वदोषस्फुटा—’ इति
विष्णोर्वक्षो लक्ष्म्यावासमिति । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—कृपा सकलजन्तुजातेषु करुणा सैवा-
मृत सुवारसस्तस्य तमीना पति चन्द्रमण्डलमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—भाग्यस्य शुभकमोद-
यस्य अक्षयन्त सर्वथापि न व्ययीभाव भजन्त कोश भाण्डागारमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—
क्षान्ति क्षमा सैव स्रवन्ती नदी तस्या सानुमन्त पर्वतमिव । यतो भूभृतः सकाशा-
त्सरित प्रवहन्ति ॥

यशःसुमस्येव सुपर्वसालं किं ज्ञानभानोरुदयाचलं वा ।

सप्तर्षिपुत्र किमु चित्रवाचामिवाकरो लब्धिमणीगणानाम् ॥ १७४ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—यशः सर्वजगज्जनजेगीयमानस्फीतकीर्तिरेव सुम प्रसून तस्य सुपर्वसाल
कल्पद्रुममिव । सदा विकाशपरिमलादिबाहुल्यात्सुरतरुकुसुमकयनम् । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—

ज्ञानमेव भानुः सूर्यः तस्याभ्युदयार्थमुदयाचल पूर्वपर्वतमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—चित्राणां जगदाश्चर्यकारिणीना वाचा वचनवैचित्र्याणा सप्तर्षिपुत्र किमु बृहस्पतिमिव । ‘बृहस्पतिः सुराचार्यो जीवश्चित्रशिखण्डिजः’ इति हैम्याम् । पुनस्तत्रैव ‘सप्तर्षयश्चित्रशिखण्डिनः’ । तथा नैषधे—‘विचित्रवाक् चित्रशिखण्डिनन्दनः’ इति बृहस्पतेः सप्तर्षिपुत्राभिधानम् । यथा चित्रशिखण्डिनन्दनस्तथा सप्तर्षिसूनुरपीति । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—लब्धयस्तपःप्रादुर्भूत-शक्तिविशेषास्ता एव मणीनां गणास्तेषामाकर खानिमिव ॥ आदितस्त्रयोदशभिः कुल-कम् ॥ इति हीरविजयसूरिवर्णनम् ॥

तं व्याजहारेति महीमहेन्द्रो जागर्ति वार्तं खलु युष्मदङ्गे ।

हिमं सरःपद्ममिवाध्वजन्मा क्लमोऽपि नाक्रामति वः शरीरम् ॥ १७५ ॥

महीमहेन्द्र अकब्बरपातिसाहि त सूरिमित्यमुना प्रकारेण व्याजहार व्यक्ति स्म । इति किम् । हे सूर, खलु निश्चित युष्मदङ्गे श्रीमता देहे वार्तमनामय समाधिर्जागर्ति विद्यते । जागर्तीत्यत्र सत्तार्थः । यत —‘सत्तायामस्यास्ते जागर्तिर्विद्यते ध्रियते’ इति क्रियाकलापे । अपि पुनरध्वजन्मा दूरमार्गोल्लङ्घनोद्भूत क्लम परिश्रमो वो युष्माक शरीर नाक्रामति न बाधते । किमिव । हिममिव । यथा सर पद्म तटाकोत्पन्न कमलं तुहिन व्यथयति ॥ इति शारीरकसुखप्रश्नः ॥

तपासि वः सन्त्यनघानि कच्चिन्नास्ते समाधेः प्रतिबन्धकश्च ।

मनः प्रसन्नं पुनरस्ति नीर पद्माकरस्येव घनव्यपाये ॥ १७६ ॥

हे मुनीन्द्रो, पुनर्वो युष्माक तपासि अनघानि प्रशस्यानि असौ तपस्वी तीव्र तप-स्तप्त्वा मास्मद्राज्यादि वैभव गृहीतादिति भावाद्विघ्नकर्तृकाणामभावात् निरन्तरायानि सन्ति विद्यन्ते । पुनः कश्चन धर्मद्वेषी वो युष्माक समाधेर्व्यानस्य प्रतिबन्धको विघ्नवि-धाता नास्ते न वर्तते । पुनर्युष्माक मनः प्रसन्नमनाविलमस्ति । किमिव । नीरमिव । यथा घनव्यपाये गरत्समये पद्माकरस्य कमलकुलालकृतसरसो जलः प्रसन्नमतिस्वच्छः स्यात् ॥ इति सा-वाचारादिकुशलप्रश्नः ॥

का सा पुरी प्रापि दशा दमीशैर्वसन्तनिर्मुक्तवनानुरूपाम् ।

अहो अहोभिर्बहुभिः पयोदैरिवादिमैर्भूरियमन्वकम्पि ॥ १७७ ॥

अहो इति सबोवनप्रश्ने । हे सूर, सा का पुरी किनाम्री नगरी या पुरी दमिना त-प-क्रियादिकष्टैः स्वात्मदमनपराणा साधूनामीशैर्नायकैः श्रीमद्भिः वसन्तेन मधुसमयेन निर्मुक्तस्य फलपुष्पपल्लवदलादिविरहिततरुगणस्य वनस्यानुरूपा सदृशी दशमवस्था प्रापि लम्बिता । तदभिधानं भाषणीयमित्यर्थः । अहो सूरिन्द्रा, पुनरादिमैः प्रथमैः पुष्करावर्तनाभिः पयोदैर्मैर्धैरिव । इयमास्माकीना मेवातमण्डलसबन्धिनी वा भू-पृथिवी बहुभिरनल्पैः अहोभिर्दिवसैरन्वकम्पि अनुगृहीता पावनीकृता इत्यागमादि-प्रश्नः ॥ इति साहिकृतकुशलालापप्रश्नः ॥

इदं विनिर्दिश्य समुद्रकाञ्चीरुच्ये मुखे तन्वति मौनमुद्राम् ।

धर्मस्य धात्रीमिव वृत्रशत्रुर्वाचयमानां स उवाच वाचम् ॥ १७८ ॥

वाचयमाना सम्यग्वाग्गुप्तिमता वृत्रशत्रुर्यतीन्द्र स हीरविजयनामा सूरिर्वाच वा-
णीमुवाच वक्ति स्म । साहिप्रश्नानामुत्तर ददाति स्मेत्यर्थ । उत्प्रेक्ष्यते—सूरिवाणी ।
धर्मस्य सुकृतस्य धात्रीमुपमातरमिव वर्धयित्री भूमिमिव । स्थान वा । कस्मिन् सति ।
इदं पूर्वनिगदित कुशलादिप्रश्न विनिर्दिश्य कथयित्वा समुद्रकाञ्च्या जलनिधिमेखलाया
भूमिभामिन्या रुच्ये भर्तरे । ‘रुच्यो वरयिता धव’ इति हैम्याम् । अकब्बरपृथिवीपतौ
मुखे खवदने मौनमुद्रा जोषेण कृत्वा मुद्रणा तूष्णीका तन्वति कुर्वति सति ॥

क्षमाकान्तकोटीरमणीमरीचिमधुव्रतापीतपदारविन्द ।

अवेहि वार्त द्युसदामिवाप्तवचःसुधापानविधायिनां नः ॥ १७९ ॥

क्षमाकान्ता भूमीवल्लभा अन्ये राजानस्तेषा कोटीरा मौलिमुकुटास्तेषा मणीना विवि-
धरत्नाना मरीचय कान्तय एव मधुव्रता भ्रमरास्तैरा सामस्त्येन पीते चुम्बिते सेविते
वा पदारविन्दे चरणकमले यस्य तस्य संबोवने । यदुक्तम्—‘अवताद्वो हयग्रीव
कमलाकर ईश्वर । सुरासुरनराकारमबुपापीतपत्कज ॥’ इति सारस्वतव्याकरणप्रान्तनम-
स्कृतौ आपीत इति । हे नृप, न अस्माक वार्तमनामयमवेहि जानीहि । केषामिव ।
यथा द्युसदा सुराणा देवानामनामय भवेत् । तत्र हेतुमाह—आप्तानां तीर्थकृताम् । ‘पुरु-
षोत्तमवीतरागाप्ता’ इति हैम्याम् । वचासि वाक्यानि आगमा वा । ‘आप्तोक्ति सम-
यागमौ’ इति हैम्याम् । तानि त एव वा सुधा अमृतरसास्तेषा पान विदधे इत्येवशीला-
स्तेषाम् । ‘आप्तो लब्धे च सत्ये च’ इत्यनेकार्थ । ‘सत्ये अविसवादके बान्धवेऽप्याप्त’
इति चूर्णि । तथा ‘आप्तप्रत्ययितौ समौ’ इति हैम्याम् । आप्तस्य पालकत्वेन विष्णो
स्वामित्वेनेन्द्रस्य वा वचसा सुधापान कुर्वते इत्येवशीलाना सुराणा तदेवाप्तत्वमुच्यते ।
सृष्टिप्रारम्भे ब्रह्मणा सुरा नराश्च विदविरे, तदर्थं भोज्यकृते वान्य सृष्ट नरैरङ्गीकृतम्,
तदनिच्छद्भिर्देवैर्ब्रह्मणा प्रहितैः सृष्टिपालकत्वेन विष्णुर्याचित, ततो विज्ञाय कृष्णे-
नापि मन्याचलेन पाथोर्वि निर्मथ्य पीयूषमुत्पाद्य तेषा पाणौ निजाग्रजन्मने आप्ताय
शक्राय प्रहितम्, ततो निजनायकत्वेनाप्तीभूतस्य तस्येन्द्रस्य वचसा सुधाहारा आसन्—
इति वैष्णवी श्रुति । तेन द्वयोरपि सुधापानविधायिता ॥

अश्वानिवाक्षाणि निरीहभावै रश्मिब्रजैर्यत्रयता स्वयं नः ।

तपासि निर्विघ्नतया शताङ्गा इव प्रवर्तन्त उदारकान्ते ॥ १८० ॥

उदारा अतिशायिनी स्फारा वा कान्तिर्दीप्ति शोभा वा यस्य महती इच्छा वा ।
‘कान्ति शोभाकामनयो दीप्तौ च’ इत्यनेकार्थ । तस्य संबोधने हे साहे, नोऽस्माक
शताङ्गा रथा इव तपासि नियमविशेषा निर्विघ्नतया निरन्तरायत्वेन प्रवर्तन्ते प्रचलन्ति

च । अस्माकं किं कुर्वताम् । रश्मिब्रजै रज्जुत्कैस्तुरगानश्वानिव निरीहभावैर्निर्गता ईहा स्त्रीपुत्रमित्रविभवादिषु सासारिकेषु सर्वेष्वपि पदार्थेषु वाञ्छा येषां ते निरीहास्तेषां भावास्तै कृत्वा नि स्पृहताभिरक्षाणि समनस्कानि पञ्चानीन्द्रियाणि स्वयमात्मना सार-
थिभावेन यन्त्रयता दमयता वशीकुर्वताम् ॥

प्रत्यूहकृत्कोऽपि न नः समाधेः कुतोऽशिवं स्याद्भुवि यत्त्वयीशे ।

गृहाङ्गणस्थायिनि कल्पशाखिन्युपद्रवेत्किं नु दरिद्रभावः ॥ १८१ ॥

हे साहे, नोऽस्माकं समाधेर्मनः स्वास्थ्यस्य ध्यानस्य वा कोऽपि कश्चिदपि प्रत्यू-
हकृद्विघ्नविवाता नास्ति, यद्यस्मात्कारणात्त्वयि ईशे स्वामिनि अवनीनेतरि समर्थे अशि-
वोपशमके सति भुवि पृथिव्यामशिवमर्थात् त्वद्देशवासिनामकल्याणं कुतो भवेत् । अपि
तु न स्यादेव । युक्तोऽयमर्थः । नु इति परिप्रश्ने । गृहस्याङ्गणे अजिरे तिष्ठतीत्येवशील-
स्तस्मिन् गृहाङ्गणस्थायिनि कल्पशाखिनि सुरद्रुमे दरिद्रभावो दारिद्र्यं किमुपद्रवेत् । अपि
तु न दारिद्र्यलेशोऽपि स्यादिति ॥

अनित्यताभावनया पदार्थसार्थस्य विश्वस्य मनः पुनर्नः ।

क्षोदैरिवाम्भः कतकस्य शश्वत्प्रसन्नमास्ते वसुधासुधांशो ॥ १८२ ॥

हे वसुधासुधांशो सकलावनीरजनीपते भूपते, विश्वस्य जगतः पदार्थसार्थस्य वस्तुब्र-
जस्य अनित्यता अशाश्वतत्वम् । यत — ‘ही ससारसहावो सुचरियनेहाणुरायरत्तावि ।
जे पुव्वन्नेदीष्ठा अवरन्ने ते न दीसति ॥’ तथा ‘सञ्जरागजलबुच्चुउव्वमे जीविताण्यजल-
बिदुच्चचले । जुव्वणेयनइवेगसनिभे पावजीवकिमय न बुज्झसि ॥’, ‘अनित्यानि शरीराणि
विभवो नैव शाश्वतः । नित्यं सनिहितो मृत्युः कर्तव्यो वर्मसग्रहः ॥’ ‘यदि जन्म-
जरामरणं न भवेद्यदि चेष्टवियोगमयं न भवेत् । यदि सर्वमनित्यमिदं न भवेदिह
जन्मनि कस्य रतिर्न भवेत् ॥’ इति वचनात्सर्वमनित्यं वर्म एव नित्यं कार्यं इति भाव-
नया वासनया कृत्वा पुनर्नोऽस्माकं मनश्चित्तं प्रसन्नं वर्मकर्मणि निर्मलमेवास्ते । किमिव ।
अम्भ इव । यथा कतकस्य कतकनाम्नः फलस्य क्षोदैश्चूर्णैर्जलं प्रसन्नं स्वच्छं स्यात् ।
तथा यदुक्तम् — ‘विमलस्वामिनो वाचः कतकक्षोदसोदरा । जयन्ति त्रिजगच्चेतो जल-
नैर्मल्यहेतवः ॥’ इति सकलार्हत्प्रतिष्ठाने ॥

गोशीर्षसौरभ्यमिवानिलेन संदेशहारिद्वितयेन हूतः ।

गन्धारनाम्नो नगरान्महीन्दो शनैः शनैर्वृद्धतया समागाम् ॥ १८३ ॥

हे महीन्दो साहे, गन्धार इति नामाभिवान यस्य तादृशान्नगरात्समागाम् श्रीमत्पार्श्वे
समेतः । कथम् । शनैः शनैर्मन्दं मन्दम् । कया । वृद्धतया स्थविरत्वेन । किलक्षणं अहम् ।
संदेशहारिणोर्दूतयोः । ‘शासनहारिणा हरे’ इति रघौ । यथा शासनहारी तथा संदेश-
हारीति । तथा ‘दूतं संदेशहारकं’ इति हैम्याम् । द्वितयेन द्वन्द्वेन हूतः आकारितः ।

‘आकारण हवो हूति’ इति हैम्याम् । किमिव । गोशीर्षसौरभ्यमिव । यथा चन्दनद्रु-
मस्य परिमलो अनिलेन वायुना हूयते भूमण्डलान्तरमानीयते ॥ इति साहिकृतकुशला-
गमादिप्रश्नप्रत्युत्तराणि ॥

भूमानथाभाषत दूरदेशाद्ययं समेताः कथमेकपद्याम् ।

महेन्द्रवन्मत्तमतङ्गजेन रथेन पाथोरुहबन्धुवद्वा ॥ १८४ ॥

रेवन्तवद्वा तुरगेण दिव्ययानेन वृन्दारकवृन्दवद्वा ।

स प्रोचिवानुज्झितयानमत्र चरन्क्रमाभ्यामहमाजगाम ॥ १८५ ॥

अथ कुशलागमादिकथनानन्तरं भूमान्पृथ्वीपतिरभाषत वदति स्म । हे सूरिन्द्रा, यूयमेकपद्या मार्गे । ‘पदव्येकपदी पद्या पद्धतिर्वैर्तम’ इति हैम्याम् । कथं केन प्रकारेण समे-
ता दूरदेशात् अत्रागता । तानेव प्रकारान्दर्शयति—किं मत्तो मदोदयो यो मतङ्गजो
गजेन्द्रो गजराजः प्रशस्तहस्ती तेन समेता । किवत् । महेन्द्रवत् । यथा पुरदरो मत्तम-
तङ्गजेन ऐरावणेन समेति । वाथवा किं रथेन स्यन्दनेन ‘वहल’ इति प्रसिद्धेन अध्वनि
समेता । किवत् । पाथोरुहबन्धुवत् । यथा कमलसुहृद्भास्करो रथेन मरुद्रथेन समाग-
च्छति । वाथवा तुरगेन प्रवरवाजिना कृत्वा समायाता । किवत् । रेवन्तवत् । यथा
रेवन्तः अर्करेतोऽजस्तुरगेण समायाति तस्य हयवाहनत्वेन । ‘रेवन्तस्त्वर्करेतोऽजः
प्लवगो हयवाहनः’ इति हैम्याम् । वाथवा दिव्येन मनोरमेण यानेन शिबिकादिना वाहनेन
समीयिवास । किवत् । वृन्दारकवृन्दवत् । यथा वृन्दारकाणां निर्जराणां वृन्दः समुदायः
दिव्येन देवसबन्विना विमानेन समेति । इत्युक्तेऽनन्तरं स सूरिः प्रोचिवान् कथयति स्म ।
हे साहे, अहमत्र श्रीमता समीपे उज्झितः सत्यक्तं यानं तुरगवाहनादिकं येन तादृश-
क्रमाभ्यां चरणाभ्यां चरन् प्रचरन् आजगाम आगतवान् ॥ युग्मम् ॥

भूपोऽप्युवाचेति न साहिबाख्यखानेन युष्मभ्यमदायि किञ्चित् ।

तुरङ्गमस्यन्दनदन्तियानजाम्बूनदाद्यं दृढमुष्टिनेव ॥ १८६ ॥

अपि पुनर्भूष पातिसाहि इत्यमुना प्रकारेण प्रोवाच जगाद । पृच्छति स्मेत्यर्थः ।
इति किम् । हे सूरिन्द्रा, दृढमुष्टिना कृपणेनेव साहिब इत्याख्या नाम यस्य तादृशेन
खानेन मम उम्बरकेण सामन्तेन तुरङ्गमा अश्वा, स्यन्दना रथा, दन्तिनो गजा,
यानानि शिबिकादीनि, जाम्बूनदः सुवर्णम्, उपलक्षणाद्रूप्यादिसंग्रहः, अमूनि वरतूनि
आद्यानि प्रथमानि मुख्यानि वा यत्र तादृशं किञ्चित्किमपि वस्तु युष्मभ्यं नादायि न
दत्तम् ॥ इत्याक्षेपप्रश्नवाक्यम् ॥

गुरुर्जगौ बह्वदिशत्स मह्यं त्वया नियुक्तो हरिणेव मेघः ।

पुनर्न किञ्चिन्निखिलानुषङ्गमुवा मयाग्राहि महीमहेन्द्र ॥ १८७ ॥

ततः साहिप्रश्नानन्तरं गुरुर्हीरसूरिर्जगौ भाषते स्म । हे साहे हे महीमहेन्द्र पृथिवी-

पुरंदर, त्वया श्रीमता नियुक्तः प्रसादितानुशिष्टिः स साहिबखानो मद्य बहु धनमर्दिशत्
यच्छन्नासीत् । क इव । मेघ इव । यथा हरिणा वासवेन वर्षितु समादिष्टा घनाघना
बहु प्रचुरतर नीर दिशन्ति प्रददते । जनेभ्य इति शेषः । 'जानामि त्वा प्रवरपुरुष
कामरूप मघोन ' इति मेघदूते । 'इन्द्रादिष्टा हि मेघा भूमौ वर्षन्ति' इति श्रुतिः ।
परमय विशेषः । निखिल समस्तमनुषङ्ग रामाद्रविणादिसङ्ग मुञ्चति दूर त्यजति तादृशेन
मया किञ्चित्किमपि दीयमान नाग्राहि नादायि न गृह्यते स्म ॥

अहो निरीहैर्महतां वतंसैर्भूभिषितामीभिरिवांशुभिर्घौः ।

तज्जन्मभिः पङ्कमिवारविन्दैर्भवं परित्यज्य पृथग्भवद्भिः ॥ १८८ ॥

अहो इत्याश्चर्ये । सदस्या लोका वा । पश्यत कौतुक परैरदीयमानमपि जगति के
नाद्रियन्ते । एते तु बह्नागृहीता अपि सर्वेषामभिलषणीयानामपि स्वर्णाश्वगजादि नाददते
तस्मादमीभिः सूरिन्द्रैः कृत्वा भूरशेषापि क्षोणी विभूषिता अलकृता पवित्रिता वा ।
कैरिव । अंशुभिरिव । यथा अंशुभिः सहस्ररश्मिभिः । 'आदित्य सवितार्यमा खरसहस्रो-
ष्णाशू रवि ' इति हैम्याम् । द्यौर्गगनवीथी शोभिता । किभूतैः अमीभिः । निर्गता ज-
गज्जन्मकलत्रपुत्रद्रविणराज्यादियावत्पदार्थसार्थेषु ईहा वाञ्छा येषाम् । नि स्पृहैरित्यर्थः ।
पुनः किभूतैः । महता समस्तसाधुजनोत्तमाङ्गेषु अवतसैः शेखरायमाणैः । पुनः किभूतैः ।
भवः ससार परित्यज्य निर्मुच्य पृथग्भिन्नैर्भवद्भिः । कैरिव । अरविन्दैरिव । यथा पद्मैः
पङ्कजम्बाल परित्यज्य पृथग्भूयते । किभूतैः अमीभिः अरविन्दैश्च । तज्जन्मभिः तत्र
भवे पङ्के वा भवित्वात्पङ्कजत्वाज्जन्म उत्पत्तिर्येषां तैः ॥

चित्ते दधच्चित्रमिति क्षितीन्द्रः पुनर्युनक्ति स्म मुखं स वाचा ।

सौरभ्यविभ्राजिविजृम्भिताब्ज घनात्ययो हंसमृगीदृशेव ॥ १८९ ॥

स क्षितीन्द्रः पातिसाहिः पुनर्वाचा वाण्या मुखं स्ववदनं युनक्ति स्म सयोजयामास ।
किं कुर्वन् । इत्यमुना प्रकारेण चित्ते स्वमानसे चित्रमाश्चर्यं दद्वारयन् मुखं वाचा
युयोज । क इव । घनात्यय इव । यथा शरत्काले सौरभ्येन सौगन्ध्येन विभ्रा-
जते शोभते इत्येवशीलं तथा विजृम्भितं विकस्वरमब्जं कमलं हंसमृगीदृशा राजमराल-
महिलया युनक्ति ॥

ग्रीष्मागमेनेव मयाध्वगाना वृथा व्यथा वः पथिजा व्यसर्जि ।

एतत्पुनर्गोधनवन्न किञ्चिच्चक्रे स्वहृद्गोचरसंचरिष्णुः ॥ १९० ॥

हे सूरय, वो युष्माकं मया वृथा मिथ्यैव पथिजा मार्गजनिता व्यथा शीतातपल-
काकण्टककृमादिका पीडा व्यसर्जि विश्राणिता । दत्तेत्यर्थः । केनेव । ग्रीष्मागमेनेव यथा
निदाघसमयप्रादुर्भावेन अध्वगाना पान्थाना व्यथा तापतृषादिका विसृज्यते दीयते ।
पुनरेतच्चङ्क्रमकादिकं किञ्चित्किमपि मया स्वस्यात्मनः हृदो मानसस्य गोचरे विषये
संचरिष्णुः संचरणशीलं हृदये वर्तमानं न चक्रे न कृतम् । किवत् । गोधनवत् । यथा

गोकुल खहदा निजमनसा । स्वेच्छयेत्यर्थः । गोचरे गवां चरणोचिताचलायां सम्यक् स्वरचित यथा तथा चरणशील भक्षणस्वभाव क्रियते । अथ वा स्व मदीय धन भूमिः नृपस्य भूवनत्वात् । 'स्वात्पालवनभुग्नेतृपतिमन्वर्थकादयः' इति हैमीवचनात् । तस्या हृदि मध्ये यो गोचरो गवा चरणस्थान तत्र सचरणशीलमित्यर्थः ॥

विघ्नाय जज्ञे भगवत्समाधेरहं पयोवाह इवांशुभासाम् ।

युष्माकमाकस्मिकदुःखजन्मा तत्प्रत्यवायोऽजनि मे महीयान् ॥१९१॥

हे सूरय , अहं भगवता पूज्याना ज्ञानमाहात्म्यादिगुणगणवता युष्माक समाधे. स्वास्थ्यस्य ध्यानस्य वा विघ्नाय अन्तरायकृते जज्ञे सजातोऽस्मि । क इव । पयोवाह इव । यथा जलवाहो मेघ अशुभासा सूर्यकिरणानां विघ्नाय प्रचारप्रत्यूहाय । आवरणा- येत्यर्थः । जायते तत्कारणायुष्माक श्रीमतामकस्मादज्ञात भवमाकस्मिकमतर्कितोपपन्न वा यद्दुःखमसात तस्माज्जन्मोत्पत्तिर्यस्य तादृशो महीयानतिगुरुर्मम प्रत्यवायोऽपराध- पाप वा अजनि सजायते स्म ॥ इत्याकारणाद्यपराधोद्भावनम् ॥

क्ष्माचक्रचक्रीत्यथ थानसिहमुद्दिश्य जग्राह वचो वचस्वी ।

हितैषिणा कल्प इवादसीयः पन्थाः कथं नो कथितः पुरो मे ॥१९२॥

अथ गुरो स्वप्रत्यवायोद्भावनानन्तरं वचस्वी वाचोयुक्तिमान् क्ष्माचक्रस्य निखिल- भूमीमण्डलस्य चक्री सार्वभौमोऽकब्बरसाहि थानसिहमुद्दिश्य समुखमालोक्य इत्य- मुना प्रकारेण वचो वाग्विलास जग्राह । वदति स्मेत्यर्थः । हे स्थानसिंह, त्वया भवता मे मम पुरोऽग्रे एषामयमदसीय एतत्सबन्धी । 'नासादसीया तिलपुष्पतूणम्' इति नैषधे । एकाशनपादचारादिको मार्ग साध्वाचारो वा कथं कुत कारणात् नो कथितो न निवेदितः । केनेव । हितैषिणेव । यथा हित स्वस्य परस्य वा जनस्य इष्टापत्तिमिच्छ- त्यभिलषतीत्येवशीलेन महात्मना पुसा कल्पः सम्यक्प्रवृत्तिरूप आचारः कथ्यते ॥

इत्यप्यवक्त्रि न पदप्रचारैः प्राप्स्यन्ति दुःख यदिहाजिहाना ।

निगद्य भूमानिति शारदीनसारङ्गवन्मौनमधत्त वक्त्रे ॥ १९३ ॥

अपि पुनस्त्वमित्यप्येतदपि किं केन प्रकारेण नावक्त्रि न कथितवान् । इति किम् । यदेते सूरिन्द्रा इह दूरदेशे वर्तिनि मेवातमण्डलालकारहारसकलकमलासकेतनिकेतफ- तेपुरमाश्रयता श्रीमता सनिधानि पादप्रचारैः स्वचरणचङ्क्रमणैः आजिहाना आगच्छन्तः । 'स्वयं वरस्याजिनमाजिहानाम्' इति नैषधे । 'अजिनमागच्छन्तीम्' इति तद्भृत्यैः । 'आगमने गमनार्थां समभ्युपाङ्म्य परा कथिता' इति क्रियाकलापे । 'ओहाङ् गतौ' इत्यस्य आनश्प्रत्यये जिहाना आङ्योगे आजिहाना आगमनार्थः इति । दुःखमसात प्राप्स्यन्ति लप्स्यन्ते । एतन्मया प्रोच्यमानं मम कथं न स्मारितम् । भूमानि यमुना प्रकारेण निगद्य कथयित्वा वक्त्रे स्वमुखे मौनं तूष्णीभावमधत्त ददौ । किवत् । शारदीन-

सारङ्गवत् यथा शरत्कालसबन्धी बप्पीहो मौन वत्ते । वर्षासु तृषाक्रान्ततया जलपा-
नार्थमुन्नमन्नीरदपुरस्ताद्वह्नालप्यालप्य शरदि जलवराभावात्तूष्णीं विवत्ते ॥

किमुत्तरं स्यादिह मन्दधीवन्मीमासते यावदसौ हृदीति ।

स दीर्घदर्शीव शशी रसायास्तं संशयानं प्रतिशंसति स्म ॥ १९४ ॥

मन्दा कुण्ठा धीर्बुद्धिर्यस्य सोऽल्पमेवा इव यावदसौ स्थानसिंहो हृदि निजमनसि
इति मीमासते विचारयति । इति किम् । यदिह साहिनिगदितवाक्ये किमुत्तरप्रतिवच
स्यात् । तावद्दूरादग्रे स्वपरेषा भावि हिताहित पश्येत् स्वमनीषया विचार्य जानी-
यात्स दीर्घदर्शी तद्वत् रसाया शशी क्षोणीक्षणदापतिरकब्बरसाहिः । संशयान सदेह
विदवान् स्थानसिंह प्रतिशंसति प्रश्रयित्वा स्वयमेवोत्तरयाचकार ॥

एतद्वयं मानसमानसाङ्गे वलक्षपक्षीकरवाम कामम् ।

इदं त्वयाचिन्त्यत पुण्यलक्ष्मीमाकाङ्क्षता क्षीरविशायिनेव ॥ १९५ ॥

हे स्थानसिंह, काममत्यर्थं वयमेतदग्रे वक्ष्यमाण भवन्मनसि वर्तमान वा मानस
मदीयमनसस्तदेव मानस नाम सरस्तस्याङ्गे क्रोडे वलक्षपक्षीकरवाम हसायमान विद-
धाम इत्याशीः प्रेरणयोरुत्तमपुरुषबहुवचनम् । यदुक्तम्—‘कान्तारे निर्गतासि प्रिय-
सखि पदवी विस्मृता किं तु मुग्ध मा रोदीरेहि यामेत्युपहतवचसो निन्युरेना वयस्य’
इति नैषधे । यामेत्याशीरुत्तमपुरुषबहुवचनमपि । वयमेव हृदि विन्न इत्यर्थः । हे
स्थानसिंह, त्वया भवता इदं मयोच्यमानमचिन्त्यत ध्यात हृदि विचारितम् । त्वया किं
कुर्वता । पुण्यलक्ष्मी धर्मश्रियमाकाङ्क्षता वाञ्छता । केनेव । क्षीरविशायिनेव । यथा
दुग्धवाधौ शेते स्वपित्येवशीलेन कृष्णेन पुण्या पतिव्रतात्वेन पवित्रा श्री काङ्क्षते ॥

स्वमण्डले भूतलशीतभासानीयन्त एते यदि सूरिशक्राः ।

सुधाशनाम्भोनिधिवल्लभाया भगीरथेनेव पयःप्रवाहाः ॥ १९६ ॥

यदि एते सूरिशक्रा हीरसूरीन्द्रा भूतलशीतभासा साहिना । ‘इदं तमुर्वीतलशीतल-
द्युतिम्’ इति नैषधे । स्वमण्डले निजजनपदे आनीयन्ते आकार्यन्ते । केनेव । भगीर-
थेनेव । यथा सुधाशनानां देवानामम्भोनिधिवल्लभा समुद्रपत्नी नदी सुरसरिर्द्रुता तस्या
पयःप्रवाहा जलप्लवा भगीरथनाम्ना भूमीन्दुना भूपालेन स्वदेशे समानीयन्ते । ‘गङ्गा
भगीरथेनेव पूर्वेणा पावनक्षमा । इच्छता सतति तेन न्यस्ता मन्त्रिषु कोशला ॥’ इति
रघौ । तथा ‘गङ्गामिव क्षितितल रघुवशदीप’ इति नैषधेऽपि ॥

सुधारसं प्रीतिभरेण पायं पायं प्रभोर्दर्शननामधेयम् ।

तदा भजामो वयमप्यमर्त्या इव स्वभावादजरामरत्वम् ॥ १९७ ॥

तदा वयं मेवातमण्डलश्राद्धवर्गा अपि अमर्त्या देवा इव स्वभावात्सहजेनेव अजरा-
मरत्व जरामरणराहित्यम् । अजरामरभावमित्यर्थः । भजाम आश्रयाम । किं कृत्वा ।

प्रीतिभरेण प्रेमातिशयेन मनोहार्देन वा प्रभोगुरोर्दर्शनमालोकन तदेव नामधेयमभिवा-
यस्य । 'नामरूपभागाङ्गय—'इति हैमीवृत्तौ । ततो नामधेयरूपधेयभागधेयानि इति
प्रयोगः । तादृश सुवारसममृतनिस्यन्द पाय पाय पीत्वा पीत्वा । 'पौन पुन्ये णम्पद
द्विश्च, पाय पाय भोज भोज व्रजति' इति सारस्वतव्याकरणे ॥

पुरो न मे किञ्चन तेन वृत्त त्वया गुरुणा प्रतिपाद्यते स्म ।

यतः स्वसद्भाभिमुखीभविष्णुमुपेक्षते कः सुरसौरभेयीम् ॥ १९८ ॥

हे स्थानसिंह, तेन कारणेन गुरुणा तव धर्माचार्याणां हीरसूरीणां वृत्त साधवाचारा-
दिकमाचरण मे मत्पुरोऽग्रे त्वया किञ्चन किञ्चिदपि न प्रतिपाद्यते स्म न प्रोक्तम् ।
युक्तोऽयमर्थः । यत कारणात् स्वस्यात्मन गृहस्याभिमुखीभविष्णु सन्नन समुखभवन-
शीला मन्दिरे समागच्छती सुरसौरभेयी कामधेनु को जन उपेक्षते । अपि तु न
कोऽपि । सर्वोऽप्यायान्ती समीहते ॥

रामाङ्गजो मध्यमलोकपालवक्त्रादिदं वाङ्मयमभ्युदीतम् ।

निपीय भृङ्गो मकरन्दमम्भोरुहादिवामोदभरं बभार ॥ १९९ ॥

स्वर्गपातालयोरपेक्षया मध्यम अव पातालमुपरि च स्वर्ग तयोर्मध्यवर्ती मध्ये-
वर्ती मध्येभवो मध्यमस्तादृशो लोको विश्वभुवन तस्य पालयिता अकञ्चरस्तस्य
वक्त्राद्वदनादभ्युदीत प्रकटीभूत वाङ्मय वाक्प्रपञ्चम् । वचनरचनानामित्यर्थः । 'इतीदृशैस्त
विरचय्य वाङ्मयै' इति नैषधे । 'एवविधै वच प्रपञ्चै.' इति तद्वृत्तिः । रामाङ्गज
स्थानसिंहो निपीय सादरमाकर्ण्य आमोदभर प्रमोदातिशय बभार । क इव । भृङ्ग इव ।
यथा भ्रमर अम्भोरुहात् पद्मादुदीत मकरन्द निपीयास्वाद्य आमोदभर परिमलातिरे-
कप्रमोदाविक्रय वत्ते ॥ इति स्थानस्य साहे प्रश्नोत्तरम् ॥

शशंस सभ्यानथ पार्थिवेन्दुरानेतुमेतानिह केन जग्मे ।

तेऽप्यूचुरुर्वीन्द्रमजय्यवीर्यमिवावतीर्णं भुवि कार्तवीर्यम् ॥ २०० ॥

अथ स्थानसिंहस्य कथनानन्तर पार्थिवेन्दु राजराज सभ्यान् स्वसभासद पुरुषान्
प्रति शशंस कथयति स्म । किं शशंस तदेवाह—एतान् सूरीन्द्रानिह मत्पात्रे आनेतु-
माकारयितु केन जग्मे गतम् । तत ते सभ्या अपि उर्वीन्द्र वसुवावासवम् ऊचुर्वभा-
षिरे । उत्प्रेक्ष्यते—भुवि पृथिव्यामवतीर्णमुत्पन्न तथा अजय्य परैर्जेतुमशक्य वीर्य
पराक्रमो यस्य तादृश कार्तवीर्य बाहुसहस्रार्जुनमिव अजय्यबलत्वे । 'कारागृहे निर्जित-
वासवेन लङ्केश्वरेणोषितमा प्रसादात्' । तस्य सादृश्य वीर्यातिशयात् ॥

मौन्दीकमालाविति नामधेयौ निदेशत शासनहारिणौ वः ।

इतोऽजिहातामिव मूर्तिमन्तौ लेखौ वलेखाविव कामचारौ ॥ २०१ ॥

हे प्रभव, वो युष्माकं निदेशत आदेशमङ्गीकृत्य एको मौन्दी अपर कमाल इति

नामधेयावभिधानौ शासनहारिणौ दूतौ यवनमुद्रलजातिषु मध्ये मेवडा इति सज्ञकौ
इतो युष्माक समीपादजिहाताम् गतवन्तावास्ताम् । उत्प्रेक्ष्यते—मूर्तिमन्तौ मनुष्यव-
पुर्भाजौ लेखौ काङ्गलौ स्फुरन्माने इव पुनरुत्प्रेक्ष्यते । मूर्तिमन्तौ लेखौ देवाविव देवा
हि न केनचिच्चक्षुषा लक्ष्यन्ते । अत पार्थिवशरीरभाक्त्वाद्विलोचनगोचरौ । किलक्षणौ ।
काम स्वेच्छया अतिशयेन च दिव्यया देवगत्या चरण व्रजन चारौ गमन ययोस्तौ ॥

तैः शासितुः शासनतः पृथिव्या हूतौ पुरस्तादुपसेदतुस्तौ ।

वसुंधराशेषविशेषवृत्ति चिद्गोचरीकर्तुमिवास्य नेत्रे ॥ २०२ ॥

तौ दूतौ पुरस्तात्साहेरग्रे उपसेदतु आगतवन्तौ । किभूतौ । पृथिव्या भूमे शा-
सितुः पालयितु पातिसाहे शासनत आदेशात्तैः सभ्यै सभासद्भि हूतावाकारितौ ।
उत्प्रेक्ष्यते—वसुंधराया समस्तक्षितिमण्डलस्याशेषा समग्रा विशेषवृत्ति न्यायान्यायका-
रिशिष्टाशिष्टमित्रामित्रस्वभावोदन्तसूचयित्री वार्ता चिद्गोचरीकर्तु ज्ञानविषयता विधातुम् ।
ज्ञातुमित्यर्थ । अस्याकब्बरसाहेर्नेत्रे नयने इव । यथा नेत्राभ्या कृत्वा जनेन सर्वम-
प्यालोक्यते तथा दूताभ्या राज्ञा परमण्डलोदन्ताद्यखिल विज्ञायते । ‘चरलोचना हि
राजान’ इति श्रुति । यदुक्तम्—‘चरैः पश्यन्ति राजान सुहृदा व्यवहारिण । देवा
पश्यन्ति ज्ञानेन सर्वेऽन्ये चर्मचक्षुषा ॥’ ‘वणिकुत्रैर्महेश्वरा’ इति पाठ । अथ
वा प्रतिभाविषय विधातु चिच्छब्देन बुद्धिरपि । ‘प्रेक्षाचिदुपलब्धय’ इति हैम्याम् ॥

मुखं मृगाङ्गं मिलितु स्वबन्धोर्लब्धोदय वारिरुहे इवैते ।

पाणी प्रणीय प्रणयेन मध्येगोधीति धात्रीशमवोचता तौ ॥ २०३ ॥

तौ दूतौ धात्रीश साहि प्रति इत्यमुना प्रकारेण अवोचता वदत स्म । कि कृत्वा ।
प्रणयेन स्वस्वामित्वादिसबन्धस्नेहेन । भक्तेनेत्यर्थ । अथ वा आदेशयाचनार्थम् ।
‘प्रणयः स्नेहयाच्चञयो’ इत्यनेकार्थ । मध्येगोवि भालान्तराले पाणी हस्तौ प्रणीय कृत्वा ।
ललाटेऽञ्जलि विवायेत्यर्थ । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनो बन्धो सकाशालब्ध सप्राप्त
उदयो येन । सूर्यज्योतिरविगत्य चन्द्रोऽभ्युदयतीति कविसमय । यथा रघुका-
व्ये—‘पुपोष वृद्धि हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा’ इति । तादृश मुख मृ-
गाङ्ग वदनमेव चन्द्र मिलीतुमेते समायाते वारिरुहे पद्मे इव ॥

आदिश्यता देव निदेश्यमित्थ निर्दिश्य तौ सश्रयतः स्म तूष्णीम् ।

धाराधरस्येव ऋतोर्विरामे नभोम्बुपाम्भोदसुहृच्छकुन्तौ ॥ २०४ ॥

हे देव, निदेश्य कथनार्हं वक्तव्यमादिश्यता प्रसाद्यताम् । इत्यमुना प्रकारेण नि-
र्दिश्य विज्ञाप्य तौ दूतौ तूष्णीं मौन सश्रयत भेजाते । काविव । नभोम्बुपाम्भोदसु-
हृच्छकुन्तौ यथा धाराधरस्य ऋतोर्विर्भाकालस्य विरामे व्यपाये । शरत्समये इत्यर्थ ।
चातकमयूरविहगमौ मौनमाश्रयेते ॥

भूमानिमावित्यवदत्ततोऽमी कथं समीयुः पथि कीदृशाश्च ।

तावप्यवक्तां तमुपागतं स्वर्बलिद्विषो हन्तुमिवाब्जनाभम् ॥ २०५ ॥

ततो दूतोक्तेरनन्तरं भूमानकब्बरसाहिरिमौ दूतौ प्रतीत्यमुना प्रकारेण अवदद्व-
भाषे । इति किम् । हे मौन्दीकमालौ, अमी सूरय पथि मार्गे कथं केन प्रकारेण स-
मीयुः समागता । मुद्गलम्लेच्छजातित्वाजैनमार्गानभिज्ञत्वादयः प्रश्नः । च पुनः । की-
दृशा किमाचाराश्च वर्तन्ते । अपि पुनस्तौ दूतौ तं भूपः प्रति अवक्ता कथयत स्म ।
तमुत्प्रेक्ष्यते—बलिनः पराक्रमचतुरङ्गचक्रादिकं बलं भुजवीर्यं चमूश्च विद्यते येषां ते
बलवन्तो ये द्विषो वैरिणः तथा बलिनामा पातालाधिपः सुरासुरसेव्यमानो वदान्यमौलिः ।
यन्नान्ना पातालं बलिसन्नेति प्रसिद्धम् । स एव रिपुर्दानवेन्द्रत्वात् तास्तं वा हन्तुं यमा-
तिथीकर्तुं स्वर्गादुपेतं देवलोकान्द्रूमावागतम् । यदुक्तं चम्पूकथायाम्—‘कथं च स देशः
स्वर्गान्नं विशिष्यते । यत्र गृहे गृहे गौर्यं स्त्रियः महेश्वरो लोकः । सश्रीका हरयः’
इति । ‘गौराङ्गयः पार्वती च । महेश्वरः शिवश्च । शोभायुक्तो हस्तश्च । लक्ष्मीयुक्तः
कृष्णः’ इति तद्वृत्तिः । अतः स्वर्गस्थत्वम् । अब्जनाभः नारायणमिव । अब्जवन्नाभि-
र्यस्य । पक्षे अब्जनाभौ यस्येति व्युत्पत्तिमात्रम् । तत्त्वतस्त्वभिधानमेव ॥

चूर्णैरिव स्वक्रमपद्मपासुभिः प्राचीनसूरिप्रकरैः प्रतिष्ठिताम् ।

सभाजयन्तः प्रतिमामिव क्षमा क्रमाम्बुजाभ्यां पथि संचरन्त्यमी २०६

हे देव, अमी सूरय स्वाभ्यां क्रमाम्बुजाभ्यां पथि चरणकमलाभ्यां मार्गे संचरन्ति
सम्यगरीत्या प्रचलन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—प्रतिमा परमेश्वरमूर्तिमिव क्षमा क्षोणीं सभाज-
यन्तः पूजयन्त इव । सभाजनशब्दः पूजार्थेऽपि । यथा नैषधे—‘सभाजनं तत्र स-
सर्जं तेषां सभाजने पश्यति विस्मिते सा’ इति । ‘सभाजनं पूजाम्’ इति तद्वृत्तिः ।
तथा क्रियाकलापेऽपि—‘सभाजनार्थं सभाजयति’ । प्रतिमा किंभूताम् । प्राचीनसूरि-
प्रकरैः पूर्वाचार्यनिचयैः स्वक्रमपद्मानामात्मना पादारविन्दानां पासुभिः रजोभिः कृत्वा
प्रतिष्ठिताम् । उत्प्रेक्ष्यते—चूर्णैर्वासयोगैरिव पूज्यतया स्थापिताम् ॥

श्रेणी सतामिव विमुक्तसमग्रदोषां

वल्लभाममी विदधते सकृदेव देव ।

आराधयन्ति विधिवद्विधृतावधाना

योगं विधूतवनिताद्यखिलानुषङ्गम् ॥ २०७ ॥

हे देव, अमी गुरवः सकृदेव एकवारमेव वल्लभामाहारं विदधते कुर्वन्ति । किलक्ष-
णाम् । सतामुत्तमानाः श्रेणीमिव । विमुक्तसमग्रदोषा लयक्ताः सर्वेऽप्याध्यकर्मिकाः
सप्तचत्वारिंशन्मिताः अज्ञानदोषा एतावता नवकोटिभिर्विशुद्धाः नवकोटयः उच्यन्ते ।
स्वयं न कुर्वन्ति परैर्न कारयन्ति परं कुर्वन्तः नानुमोदयन्ति इति नवकोट्यस्ताभि-

निंदोषा तथा अपगुणाय याताम् । पुनरमी विधृतो दूर निरस्तो वनिता नारी आदौ
यस्य तादृशोऽखिलः समस्तोऽप्यनुषङ्ग सङ्गः परिचयो यत्रैव स्यात्तथा विधिवदागमोक्तेन
विधिना योग यमाद्यष्टप्रकारसगतमवध्यानविशेष मनोवाक्कायादीना स्वस्वव्यापारेभ्यो
नियमनरूप वा योगमाराधयन्ति । किभूता अमी । विधृत योगे एव निहितम् अथ
वा विशेषेण धृत ससारानित्यतायामवधान ध्यान मनो वा ये ॥

विश्वे वेश्मनि तारमौक्तिकनभश्चन्द्रोदयभ्राजिनि

ज्योतिस्तैलभृतौषधीप्रियतमे स्नेहप्रियोद्भासिनि ।

आश्लिष्योपशमश्रिय निजभुजागण्डोपधानाङ्किते

पर्यङ्के जगतीतले सुखममी भूमीशवच्छेरते ॥ २०८ ॥

हे साहे, अमी सूरय भूमीशवद्रूपाला इव विश्वे वेश्मनि जगन्नाम्नि निकेतने भु-
वने एव भवने वा जगतीतले भूमेरुसङ्गरूपे पर्यङ्के पल्यङ्के शय्यायामुपशमनाम्नी श्रिय
लक्ष्मी नामाङ्गनामाश्लिष्य गाढमालिङ्गय सुख निर्भय मन स्वास्थ्ययुत यथा स्यात्तथा
शेरते स्वपन्ति निद्रासुखमनुभवन्ति । पर्यङ्के किभूते । निजभुजा स्वबाहुरिव गण्डोप-
धान गल्लमसूरक तेनाङ्किते कलिते । किभूते वेश्मनि । तारास्तारका उपलक्षणात् ग्रहन-
क्षत्राणि एव मौक्तिकानि यत्र तादृश नभ आकाशमेव चन्द्रोदय उल्लोचस्तेन भ्राजते
इत्येवशीले । पुन किभूते । कान्तिज्योतिरेव तैल स्नेहस्तेन भृत पूरित य औषधी-
प्रियतम चन्द्र । 'नवोदय नाथमिवौषधीनाम्' इति रघौ । स एव स्नेहप्रिय दीप-
स्तेनोत्प्राबल्येन भासते दीप्यते सहोद्योतेन शालते इत्येवशीले ॥

बाह्याबाह्यजिघासुघातुकतपस्तेजोभिरेभिर्भुवो

जम्भारे गगनार्धगोगणधरैर्धिकारता लम्बितः ।

शत्रून्प्रत्यपकर्तुमम्बुविशयं संशीलतीवानिश

यायादेष कुतः सरस्वति न चेदेणाङ्कयोषामुखे ॥ २०९ ॥

हे भुवो जम्भारे क्षोणीन्द्र, एभिर्गणधरैर्हीरविजयसूरिभिर्बाह्या बहिर्भवा कुट्टकप्र-
मुखा अबाह्या अन्तरङ्गा रागद्वेषकषादयो जिघासवो द्वेषिणस्तेषा घातुकानि हिसनशी-
लानि यानि षष्ठाष्टमादिविकृष्टतपासि तेषा तेजासि प्रतापास्तै सावनै कृत्वा । तेज -
शब्देन प्रतापोऽप्युच्यते । यथा नैषधे—'एतस्योत्तरमद्य न समजनि उत्तेजसा लङ्घने'
इति । 'तव प्रतापानामतिक्रमणे' इति तद्वृत्ति । धिकारता पराभवभाव लम्बित
प्रापित सन् गगनाध्वग सूर्य । उत्प्रेक्ष्यते—शत्रून् सूरिप्रतापरूपान्निजविजयित्वात्
स्ववैरिण प्रत्यपकर्तुं पराभव विधातुमम्बुविशय समुद्रशे(शयि)तार विष्णुमनिश निर-
न्तर शीलतीव सेवते इव । य शत्रूभूय पर पराभवति स तेन दैत्य एवोच्यते ।
ततो विष्णोर्दैत्यनिषूदनत्वेन तत्सेवन युक्तमेव । एव चेन्न तर्हि एष भानुरेणाङ्कस्य

चन्द्रस्य योषा कान्ता रात्रिस्तस्या मुखे प्रारम्भे संध्यासमये । 'रजनी वसति-
श्यामा वासतेयी तमस्विनी । उषा दोषेन्दुकान्ता' इति, तथा 'प्रदोषो यामि-
नीमुखम्' इति हैम्याम् । सरस्वति समुद्रे कुत कारणाद्यायाद्गच्छेत् । तत्र गमनकारण
तु दैत्यारिसेवनैव ॥

कामचापभ्रुवः स्फारशृङ्गारिणी कुम्भिकुम्भप्रगल्भस्तनीः स्रग्विणीः ।

स्वर्वशाः किं प्रणश्यत्पृषच्चक्षुषः सुभ्रुवोऽमी तृणं मन्यते क्षमापते २१०

हे क्षमापते भूमीनायक, अमी सूरय सुभ्रुवो नारीस्तृणं मन्यते तृणप्राया गणयन्ति
जानन्ति । किभूता सुभ्रुव । कामस्य मदनस्य चाप कोदण्ड. तद्वद्भ्रुवो यासाम् । पुनः
किभूता । स्फारो विश्वचेतश्चमत्कारकारी मनोहारी च शृङ्गारो वस्त्राभरणाद्याडम्ब-
रोऽस्ति आसाम् । पुनः किभूता । कुम्भिना गजेन्द्राणां कुम्भौ शिरसः पिण्डौ तद्वत्
प्रगल्भौ तुङ्गौ पीनौ च स्तनौ कुचौ यासाम् । पुनः किभूताः । स्रजः स्वर्णरत्नमुक्तादीनां
रक्तसुमादीनां माला सन्त्यासाम् । 'अस्मायामेधास्रग्भ्योऽस्त्यर्थे विनिर्वक्तव्यः' इति
सारस्वते । पुनः किभूताः । प्रणश्यन्तो भयपलायमाना ये पृषतो मृगविशेषा तेषां
चञ्चललोचने इव चक्षुषी यासाम् । उत्प्रेक्ष्यते—किं साक्षात्स्वर्वशा अप्सरस इव ।
सुराङ्गनासदृशा अपि वशा एते तृणाय मन्यन्ते । व्यञ्जनान्तोऽपि पृषच्छब्दो मृगवाची
दृश्यते । यथा नैषधे—'पृषत्किशोरी कुरुतामसगतम्' इति ॥

विरागे नानुरागे न तोषे दोषे न भूविभो ।

मुक्तौ न सुभ्रुवां भुक्तौ चेतश्चिन्वन्त्यमी क्वचित् ॥ २११ ॥

हे भूविभो, अमी सूरय विरागे वैराग्ये सर्वससारासारतापरिज्ञानादनित्यभावनायां
चेतः स्वमनश्चिन्वन्ति पुष्टं कुर्वन्ति, परं नानुरागे क्वचित्कुत्राप्यवस्थायां न पुनः
पुत्रकलत्रमित्रद्रविणाद्यनुरक्तौ आजन्म यावद्वैराग्यरङ्गतरङ्गितमानसा एव वर्तन्ते । तोषे
निर्लोभतालक्षणे सतोषे । 'सनिधौ निधयस्तस्य कामगव्यनुगामिनी । अमरा किकरायन्ते
सतोषो यस्य भूषणम् ॥' इत्युक्तेः स्वास्थ्ये चेतश्चिन्वन्ति, न पुनः क्वचित्कस्मिन्नपि
दोषे अपगुणे रागद्वेषकषायादौ च । पुनर्मुक्तौ कदा अनादिससारपरम्परालता मूलादु-
च्छिद्य मोक्षे यास्याम इत्याशये, न पुनः क्वचिद्देवनरादिकानां कलत्राणां भुक्तौ भोगे वि-
लासे राज्यादिसुखलीलाभुक्तौ वा । 'जिनेति जिनभद्रेति वा स्मरन् । नरो न लुप्यते
पापे मुक्ति मुक्ति च विन्दति ॥' इति जिनकवचनस्तोत्रे । चेतश्चिन्वन्ति ॥

भूलोके भोगिलोके च स्वर्लोके स न कश्चन ।

आवाभ्यामुपमीयेत योगिना मौलिनामुना ॥ २१२ ॥

हे प्रभो, भूलोके निखिलविपुलामण्डले च पुनर्भोगिना भुजगमाना लोके भुवने पा-
ताले च पुनः स्वर्लोके देवमन्दिरे कश्चन कोऽपि स वशीन्द्रो नास्ति यो योगीन्द्रः योगि-

नामष्टाङ्गयोगभाजा मनोवाक्काययोगवता वा मध्ये मौलिना मुकुटेन शेखरेणामुना
सममावाभ्यामुपमीयेत उपमानीक्रियेत ॥

नमश्चिकीर्षयामीषां तीर्थानामिव सर्वतः ।

परोलक्षा मृगाक्षीभिः सममायान्ति मानवाः ॥ २१३ ॥

हे प्रभो, शत्रुजयोज्जयन्तगङ्गाप्रयागादितीर्थानामिवामीषा सूरीणा नमश्चिकीर्षया
नमस्कर्तुमिच्छया सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः मृगाक्षीभिः स्वस्वस्त्रीभिः समः सार्धं लक्षा-
त्परे परोलक्षाः सहस्रशः मानवाः समायान्ति समागच्छन्ति ॥

दूतास्यपद्महृदनिर्गतेति व्रतीशितुः कीर्तिसुरस्रवन्ती ।

कूलंकषानामिव कामुकेन महीमघोना हृदये न्यधायि ॥ २१४ ॥

इति पूर्वव्यावर्णितस्वरूपयोर्दूतयोः सदेशहारिणोरास्य वदनमेव पद्महृदश्चुल्लहिमव-
च्छिखरिमध्यगतसहस्रयोजनविष्कम्भपञ्चशतयोजनायामो लक्ष्मीदेवतानिवासस्थान प-
द्मानामाहदो हृदस्तस्मान्निर्गता प्रवर्तिता या व्रतीशितुर्हीरविजयसूरे कीर्तिरेवाति-
विशदत्वात् सुरस्रवन्ती देवनदी गङ्गा सा कूलंकषाना सर्वसरिता कामुकेन अभिलाषु-
केण भर्त्रा इव समुद्रेणैव महीमघोना वसुधावासवेन अकब्बरसाहिना हृदय मनो वक्षश्च
तस्मिन् समुद्रेण वक्षसि साहिना च स्वमनसि न्यधायि स्थापिता । अवधारितेत्यर्थः ॥
इति मौन्दीकमालमेवाडावर्णितसूरिगुणाः ॥

येनाकरा रोहणवन्मणीनाममी गुणानां गणिरोहिणीशाः ।

हृतास्ततोऽस्माभिरिहेत्युदित्वा न्यवीवृतनीरधिनेमिनाथः ॥ २१५ ॥

हे दूतौ, येन कारणेन अमी साङ्गप्रवचनाधीतिष्वनूचानेषु गणिषु रोहिणीशाश्चन्द्राः
सूरीन्द्रा गुणानां शमदमसयमादीनामाकरा खनय सन्ति । किवत् । रोहणवद्रत्नाचल
इव । यथा रोहणनामा पर्वतो मणीनामनेकेषा रत्नानामुत्पत्तिस्थानम् । ततः कारणादमी
अस्माभिरिह मेवातमण्डले फलेपुरे अस्मत्समीपे वा आहूता आकारिता नीरधिनेमेः
पृथिव्या नाथः स्वामी पातिसाहिः इत्यमुना प्रकारेणोदित्वा कथयित्वा न्यवीवृतत् नि-
वर्ततो मौनमाश्रितवान् ॥ इति दूतौ प्रति साहे सूरैराकारणागमनहेतूक्तिः ॥

द्वाराणीव महानन्दनगर्याः साधुसिन्धुराः ।

कानि वः सन्ति तीर्थानि नृपः पप्रच्छ तानिति ॥ २१६ ॥

नृपोऽकब्बरस्तान् सूरीन् इत्यमुना प्रकारेण पप्रच्छ प्रश्नयामास । इति किम् । हे
साधुसिन्धुराः, वो युष्माक कानि किनामानि तीर्थानि सन्ति वर्तन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—म-
हानन्दनगर्याः सिद्धिपुर्या द्वाराणि गोपुराणि प्रतोत्य इव ॥

पतिर्यतीनां जगदुत्तमाङ्गोत्तंसायमानक्रमपद्मयुग्मः ।

अर्थेन काव्यं कवितेव वक्त्रं संयोजयामास स भाषितेन ॥ २१७ ॥

यतीना पतिर्हीरसूरिर्भाषितेन वचसा साक वक्त्रं मुखं संयोजयामास युनक्ति स्म संगमयति । क इव । कवितेव । यथा काव्यकर्ता अर्थेन समं काव्यं योजयति । ‘भवद्वृत्तं स्तोतुर्मदुपहितकण्ठस्य कवितुः’ इति नैषधे कवितृशब्दः कवेर्नामापरपर्यायः । किंभूतः सूरिः । जगता जगज्जनानामुत्तमाङ्गानि शिरसि तेषूत्तसायमानं शेखरायमाणं क्रमौ चरणावेव पद्मौ कमलौ द्वावपि पुनपुसकलिद्वयोर्युग्मं युगलं यस्य ॥

अथ सूरिः साहिपुरः कानिचित्तीर्थानि कथयति—

राजन्यत्र पतिवरेव वृणुते कैवल्यलक्ष्मीः स्वयं

संघाखण्डलमूर्ध्नि वर्षति पयोऽब्दालीव राजादनी ।

यस्मिन्पङ्क इव प्रयाति वृजिनं मार्तण्डकुण्डाम्भसा

तत्तीर्थं विमलाचलो विजयते सौराष्ट्रचूडामणिः ॥ २१८ ॥

हे राजन् पातिसाहे, जगत्रयीप्रसिद्धं पापापायव्यपायक्षेत्रं विमल इति नामाचलः पर्वतः विमलाचलोऽधुना शत्रुजय इति नाम तीर्थं विजयते सर्वोत्कृष्टत्वेन वर्तते । किंभूतः । सौराष्ट्राणां यात्रागतशत्रुजयोज्ज्वलन्तपर्वतरूपतीर्थद्वयविलोकनात्प्रमुदितभरतचक्रवर्तिप्रदत्तदेवदेशाभिधानानां चूडामणिः शिखामणिसदृश इव । तत्किम् । यत्र विमलाचले पतिवरा स्वयवरा कन्येव कैवल्यलक्ष्मीः मुक्तिश्रीः स्वयमात्मनैव वृणुते वरयति । पुनर्यत्र राजादनी प्रियालङ्घनम् । ‘नवनवतिपूर्ववारान्यस्मिन्समवासरयुगादिजिनः । राजादनीतरुतले विमलगिरिरयं जयति तीर्थम् ॥’ इति पूर्वाचार्यकृतशत्रुजयस्तुतौ । अब्दालीव कादम्बिनीव सघस्य श्राद्धवर्गस्याखण्डल इन्द्रः सघपतिस्तस्य मूर्ध्नि मस्तकोपरि पयो दुग्धपानीयं च वर्षति । पुनर्यस्मिन्विमलाचले मार्तण्डकुण्डाम्भसा सूर्यकुण्डजलेन पङ्कः कर्दम इव वृजिनं पापं प्रयाति दूरे गच्छति ॥

आस्तेऽभ्रलिहरैवताद्रिरपरः स्वस्याः पवित्रीकृते

जाने सानुनिभेन सप्तजगतीयं सेवतेऽहर्निशम् ।

शंभोश्चन्द्रकलेव मूर्धनि पुनर्भाति स्म यस्याम्बिका

यस्मिन्नेमिजिनस्तथा गजपदं कुण्डं पुनीते जगत् ॥ २१९ ॥

हे नृप, अपरोऽन्यः अभ्रलिहः अम्बरचुम्बी रैवत इति नामा अद्रिः पर्वतः आस्ते अहमेव जाने अवगच्छामि । सप्तजगती सप्तसख्यया युक्ता जगती । सप्त भुवनानीत्यर्थः । ‘त्रिजगतीं पुनती कविसेविता’ इति ऋषभनम्रस्तवे । यथा त्रिजगती स्वस्या आत्मनः पवित्रीकृते पावनीकरणाय सानुनिभेन सप्तशिखरकपटेन अहर्निशं दिवारात्रौ यं गिरिनारगिरिं सेवते भजतीव । पुनर्यस्य रैवताद्रेर्मूर्धनि शिरसि शिखरे अम्बिका

श्रीनेमिनाथशासनाधिष्ठायिका देवता भाति स्म शुशुभे । केव । चन्द्रकलेव । यथा शभो-
रीश्वरस्य मूर्ध्नि मस्तके शशिकला भाति । पुनर्यस्मिन् गिरौ नेमिनामा जिनो द्वाविंश-
तितमस्तीर्थनाथोऽधिपति श्रीनेमिनाथस्तथा गजपद श्रीनेमिनाथवन्दनागतसौधमेन्द्रेण
निजगजरत्नैरावणहस्तिपार्श्वप्रदापितपदातिभारपूर्वक कारित सर्वतीर्थावतार गजपद
नाम कुण्ड प्रसिद्ध जगद्विश्वत्रयमपि पुनीते पवित्रीकरोति । यदुक्त नगरपुराणे—‘दृष्ट्वा
शत्रुजय तीर्थं स्पृष्ट्वा रैवतकाचलम् । स्नात्वा गजपदे कुण्डे पुनर्जन्म न विद्यते ॥’ इति ॥

अस्त्यद्रिप्रभुनन्दनोऽर्बुदगिरिर्यस्मिन्वसत्यात्मना

स्थाणुक्षोणिभृतीव कल्पितशिवाश्लेषो वृषाङ्कः प्रभुः ।

निर्जेतुं दशमौलिवत्क्षितिभृतः किं सांयुगीनान्भुजा-

न्स्तूपान्विशतिरर्हतां वहति यः समेतभूभृत्परः ॥ २२० ॥

हे नृप साहे, पर अर्बुदनामा गिरि अस्ति तीर्थत्वेन प्रसिद्धो विद्यते । किभूत ।
अद्रिप्रभोर्हिमाचलस्य । ‘हिमालयो नाम नगाधिराजः’ इति कुमारसभवे । पर्वताना प-
तिस्तस्य नन्दनस्तनय । ‘गौरीगुरुस्वशुरभूधरसभवोऽयमस्त्यर्बुद ककुदमद्रिकदम्बकस्य’
इति वस्तुपालवसतिप्रशस्तौ अर्बुदाचले एव । यस्मिन्नर्बुदगिरौ वृषाङ्कः प्रभुः ऋषभदेव
स्वामी स्वयमात्मना वसति । पूर्वं तु भरतादिसधपतिभिः स्वस्वोद्धारकरणसमये ऋषभा-
दितीर्थकृतप्रतिमा स्थापिता अभूवन्, परमिदानीतनसमये पञ्चमे अरके विमलम-
न्त्रिणा सर्वप्रासादनिर्माणपूर्वं स्वकारितविमलवसतौ ऋषभस्वामी वर्तते । कस्मि-
न्निव । स्थाणुक्षोणिभृतीव । यथा अष्टापदपर्वते सतीष्वपि त्रयोविंशतितीर्थकृतप्रतिमासु
भरतकारितत्वात्स्वतातत्वाच्च मुख्यतया ऋषभदेव एव स्वामी । अथ च वृषाङ्क श-
भुरचलेश्वरो यत्र परशासनदेवो विद्यते । सोऽपि कस्मिन्निव स्थाणुक्षोणिभृतीव ।
यथा कैलासेऽपि परशासनरीत्या ईश्वरो विद्यते । किभूतौ द्वावपि । वृषो वृषभोऽङ्को
वामोरुचिह्न यस्य । शभोर्वाहनत्वे यस्य । ‘रुद्रोऽङ्गीशो वामदेवो वृषाङ्कः’ इति हैम्याम् ।
पुनः किभूतौ । प्रभुः स्वामी सर्वादिभूतत्वात्प्रथमराजत्वात्सर्वसृष्टिकारणत्वाच्च शभुरपि
प्रभुः समर्थः । सृष्टिसहरणकारकत्वात् विश्वं ब्रह्मरूपेण सृजति विष्णुरूपेण पालयति
शिवरूपेण सहरति । अत एवोक्तम्—‘एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा । स-
मग्रसर्गनिर्माणपालनक्षयकारिणः ॥’ इति । तथा नैषवेऽप्युक्तम्—‘क्षये जगज्जीवपिब
शिव वदन्’ इति । पुनः किभूतौ । कल्पितं कृतं शिवस्य मुक्तिलक्ष्म्या शिवाया,
पार्वत्या आश्लेष आलिङ्गनं येन । किं च नहि गुणरूपाया मुक्तेराश्लेषो युज्यते, परमेतत्तु
कविसमयानुसारि वचः ‘नभः परीरम्भणलोलुभेन’ इत्यादिवत्तात्किकमतात्कवीनां समयो
वर्मश्च पृथगेवेति नात्र वितर्कः । पार्वत्या परीरम्भस्तु पतित्वादधार्तत्वाच्च युक्त एव
परोऽन्यः स विंशतितीर्थकृता निर्वाणकल्याणकत्वेन विख्यातः समेतनामा भूभृत् शैलो-
ऽस्ति । स कः समेताचलः । अर्हता जिनेन्द्राणाम् अजित-शभव-अभिनन्दन-सुमति-

पद्मप्रभ-सुपार्श्व-चन्द्रप्रभ-सुविधि-शीतल-श्रेयास-विमल-अनन्त-धर्म-शान्ति- कु-
न्थि-मल्लि-मुनिसुव्रत-शान्ति-नेमि-पार्श्वजिनचन्द्राणा विशतिर्विंशतिसंख्याकान् स्तू-
पान् स्थूलस्तम्भाकृतिविशेषान्वहति विभर्ति । यत्र तीर्थकृतां चित्याया शरीरसंस्कारो
भवति तत्रेन्द्राः स्तूपान्कारयन्तीति स्थिति । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—क्षितिभृत श्रिया स्वस्प-
र्धिर्न सर्वपर्वतान् नृपाश्च निर्जेतु पराभवितु दशमौलिवद्रावण इव । संयुगे संग्रामे
साधवः सायुगीनास्तान् रणधुरीणान् संग्रामशौण्डान् विशतिर्भुजान्बाहूनिव विभर्ति ।
जैत्रराजस्यापि परराजजेतृत्वं युक्तमेव । ‘करशाखा. श्रीभर्तुर्विशोपका’ सकलज-
ननखाङ्गुल्यः । दशकधरनेत्रभुजा सख्यया विशतिर्वाच्या ’ ॥ इति काव्यकल्पलतायाम् ॥

यो लक्ष्म्येव जिताः कुलावनिभृतः सोपानकायाश्रिताः

जहुर्यत्परिखीचकार खधुनी सोऽष्टापदः पर्वतः ।

तेजः सर्वसुपर्वणां परिभवन्भानुर्ग्रहाणां यथा

नाथो यत्र फणिध्वजः समभवत्काशीति तीर्थं पुनः ॥ २२१ ॥

स ईश्वरवैश्रवणनिवासतया प्रथितः अष्टापदनामा पर्वतः स्फटिकाचलाख्यस्तीर्थं
मुक्तिक्षेत्रं योऽष्टापदे स्वशक्त्यासह्य देवान्वदते स च तद्भव एव मोक्षं गन्तेति कृत्वा
सिद्धिस्थानं वर्तते । स क । लक्ष्म्या निविपतिनिवासित्वान्निधिश्रिया रजतस्फटिकमयत्वेन
गौरिमशोभया वा जिताः पराभूताः सन्तोऽष्टसंख्याकाः कुलावनिभृतः हिमाद्रि-कौञ्च-
मलय-मन्दर-विन्ध्य-माल्यवत्-सह्य-इन्द्रकीलाख्या कुलपर्वता सोपानान्यारोहणा-
न्येव काया शरीराणि येषां तादृशा ये अष्टापदाद्रिश्रिता आगत्य सेवन्ते इव । पुनर्जह्नुनामा
नृप खधुनी गङ्गा परिखीचकार यत्परितः खानिकां कुरुते स्म । श्रूयते हि—पुरा श्रीमद-
जिततीर्थकृत्पितृव्यजभ्रातुः सगरचक्रिणो जह्नुप्रमुखैः षष्टिसहस्रसख्यैः पुत्रैः पुत्रप्रेम्णा च
पितृप्रदत्तस्त्रीरत्नवर्जत्रयोदशरत्नैः समयात्रार्थमागतैरष्टापदपर्वते निजपूर्वजभरतका-
रितसिंहनिषद्या प्रासादे चतुर्विंशतिजिनान्नमस्कृत्य प्रमुदितैः पतितप्रायसोपानानि स-
जीकृत्य तदद्रिरक्षाकृते पूर्वं पर्वतपरितो दण्डरत्नेन सहस्रयोजनो द्वेधा परिखा कृता
पुनर्दण्डरत्नानीतमन्दाकिनीपयप्रवाहेण पूरिता च—इति पुरातनी वृत्तिः । विशेषवि-
स्तरस्तु शत्रुजयमाहात्म्यादिभ्यो ग्रन्थेभ्योऽवसेयः इति । पुनः काशी वाराणसी इति
नाम्ना तीर्थं वर्तते । परशासने तु ‘वाराणसीमरणान्मुक्तिः’ इति श्रूयते । यत्र काश्या
फणी नागराजो ध्वजश्चिह्नं यस्य स नाथो योगक्षेमकरः स्वामी । अलब्धस्य लब्धि-
र्योगः, लब्धस्य परिपालनक्षेमः, तयोः कर्ता । श्रीपार्श्वनाथ इत्यर्थः । समभवत्समु-
त्पन्नः । किं कुर्वन् । सर्वसुपर्वणां लौकिकानां हरिहरयक्षादीनां समस्तानां देवानां तेजः
प्रतापं परिभवन् अपहरन् तिरस्कुर्वन् वा । क इव । भानुरिव । अत्र यथा इवार्थः । यथा
भास्वान् सर्वेषां ग्रहाणामुपलक्षणाद्ग्रहनक्षत्रतारकचन्द्राणां तेजो ज्योतिरपहरति जग्रे
ज्योतिः सजातः ॥

सूरिपुरंदरगदितानिति तीर्थान्मेदिनीसुनासीरः ।

श्रवणाभरणानीव व्यधित निजश्रोत्रपत्रयुगे ॥ २२२ ॥

इत्यमुना प्रकारेण सूरिपुरंदरेण हीरविजयसूरिराजेन गदितान् साहिपुरकथितान् तीर्थान् शत्रुजयादिपुण्यस्थानानि । तीर्थशब्द पुनपुसके । ‘प्रस्थ तीर्थ प्रोद्यमलिन्दः’ इति लिङ्गानुशासनपुनपुसके । मेदिनीसुनासीरो भूमीजम्भारातिः निजस्यात्मन श्रोत्रपत्रे कर्णपालौ श्रवणाभरणानि कर्णपूरानिव व्यधित चकार । ‘श्रवणपूरितमालदलाङ्कुरः’ इति नैषधे । सम्यक् शुश्रावेत्यर्थः ॥

अपि यतिपर्जन्योदिततीर्थततिश्रुतिसुधारसःप्रसरन् ।

अविशन्मानसमुर्वीभर्तुः कर्णप्रणालिकया ॥ २२३ ॥

साहिर्न केवल तीर्थानि श्रवणगोचरमात्राणि कुरुते स्म, किं तु सम्यङ्ज्ञानस्यवधारयामास । तदेवाह—अपि पुन यतिना मध्ये पर्जन्येन वासवेनोदितानि निवेदितानि कथितानि यानि तीर्थानि तेषां ततिः श्रेणिस्तस्या श्रुति श्रवण सैव सुधारसः अमृतनिस्पन्दः स प्रसरन् प्रवर्धमानः कर्णं श्रवणमेव प्रणालिका जलागमननिर्गमनमार्गं तया कृत्वा उर्वीभर्तुं नृपस्य मानसं मनः अविशत् प्रविवेश । अथ वा उर्वीभृत्पर्वतः, प्रस्तावात् हिमाचलः । हिमाद्रौ मानसं सरोऽस्तीति कविसमयः । तथा ‘सदा हसाकुल बिभ्रन्मानसं प्रचलज्जलम् । भूभृन्नाथोऽपि नायाति यस्य साम्यं हिमाचलः ॥’ इति चम्पूकथायाम् । ततः पर्जन्याज्जलवरात्प्रादुर्भूतः प्रबलवृष्ट्या समुत्पन्नः प्रवर्धमानः पदे पदे अपरापरस्रोतः प्रवेशाद्बद्धिं प्राप्नुवन् पयःप्रवाहः हिमाचलस्य मानसं सरनीरागमनस्य ‘घडनाला’ इति लोके ख्यातस्य मार्गेण प्रविशति ॥ इति सूरिकथितानि तीर्थानि साहिना श्रुत्वावधारितानि ॥

शेखूजी इत्येकः पाटी अपरश्च दानियार इति ।

तिष्ठन्ति साहिजाता अमी कुमारा इव द्युसदाम् ॥ २२४ ॥

हे सूरय, अमी पुरस्थायुका साहिजाता पातिसाहितनया लोके ‘साहिजादा’ इति प्रसिद्धा तिष्ठन्ति उर्वीभूय स्थिताः सन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—द्युसदा देवानां कुमारा इव । अमी के । तान्नामग्राहं निवेदयति दर्शयति च—एकं त्रयाणां मध्ये एकोऽयं शेखूजी इति नामास्ते । च पुनरपरो द्वितीयोऽयं पाटी इति नाम्ना अस्ति । च पुनरपरोऽयं तृतीयः कनिष्ठो दानियार इत्यभिवानो वर्तते ॥

एषामाशिषमखिलश्रीणां संकेतसदनमिव ददत ।

— सारिण्या शिखरिण इव यथानयामी विवर्धन्ते ॥ २२५ ॥

हे सूरयः, यूयमेषां मन्त्रन्दनानामखिलानां सर्वप्रकाराणां श्रीणां लक्ष्मीणां संकेत-

सदन मिलनसंदेशगृहं मिथः प्रीतिभाजामेकान्ते सगमनगेहमिव । आशिष मङ्गलश-
सन ददत विश्राणयत । यथा येन प्रकारेण अनया श्रीमदाशिषा अमी त्रयोऽपि
साहिजाता विवर्धन्ते वृद्धिं प्राप्नुवन्ति । क इव । शिखरिण इव । यथा सारिण्या कुल्यया
डुमा विवर्धन्ते ॥

इति नृपमणिवाणीं कर्णपेयां प्रणीय

व्यतरदयममीभ्यो धर्मलाभाशिषं सः ।

अपि निजकरकृत्ताशेषराज्या इवैते-

ऽसमप्रमदसुधाब्धौ राजहंसीबभूवुः ॥ १२६ ॥

अथ मुनीन्द्र सूरिरमीभ्यः पातिसाहिपुत्रेभ्यः धर्मलाभ इति नाम्नीमाशिष व्यतर-
ददाति स्म । किं कृत्वा । इति पूर्वोक्तप्रकारेण नृपमणेः समस्तराजसुररत्नस्य साहेवर्णी
कर्णयो सादर श्रोतु योग्या प्रणीय कृत्वा । श्रुत्वेत्यर्थः । अपि पुनरेते साहिपुत्रा अपि
निजकरे स्वपाणौ कृत् कृतमागतमशेष समग्र राज्य मेदिनीमण्डलाविपत्य यैस्तादृशा
इव । असमोऽसाधारण यः प्रमोदः । अत्र प्रमदशब्दगतो रेलो न यतिभङ्गाय सभवेत् ।
तथा 'बहुलभ्रामरमेचकतामसे' इत्यस्मिन्काव्ये हियादयोऽपि सन्तीति काव्यकल्पलता-
वृत्तरत्नाकरवृत्त्यादौ कथनात् स एव सुवाब्धि क्षीरसमुद्रः तत्र राजहंसीभूता सि-
तच्छदा जाता ॥ इति साहिजातानामाशीर्वाददानम् ॥

यं प्रासूत शिवाह्वसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिंहसीहविमलान्तेवासिनामादिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलेनानन्दतो निर्मिते

वृत्ते हीरगुरोस्त्रयोदशमितः सर्गो बभूवानसौ ॥ १२७ ॥

इति हीरसूरिचरित्रहीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये असौ त्रयोदश इति सख्यया
मितः प्रमाणीकृतः सर्गो बभूवान् सजात इति ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिताया स्त्रोपज्ञहीरसौभा-
ग्यनाममहाकाव्यवृत्तौ शिवपुरीपादावधारणसुरवाणमहोत्सवकरणराणपुरयात्राआयुआपुरे-
शप्रजाप्रभावनाकरणमेडजागमननागपुरविक्रमपुरीयसघमहोत्सवकरणफलवर्धिकाकरणो-
पाध्यायविमलहर्षपुरप्रेषणसाहिमिलनतदुदन्ताकर्णनफतेपुरागमनसघसमुखागमनशेषणे-
ऽब्ध्यनन्तसाहिमिलनकुशलप्रश्नालापदूतोक्तसूरिगुणाकर्णनतीर्कथनसाहिजाताशीर्वाद-
प्रदानादिवर्णनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥

सूरिपुरंदरगदितानिति तीर्थान्मेदिनीसुनासीरः ।

श्रवणाभरणानीव व्यधित निजश्रोत्रपत्रयुगे ॥ २२२ ॥

इत्यमुना प्रकारेण सूरिपुरंदरेण हीरविजयसूरिराजेन गदितान् साहिपुरकथितान् तीर्थान् शत्रुजयादिपुण्यस्थानानि । तीर्थशब्दः पुनपुसके । ‘प्रस्थ तीर्थं प्रोद्यमलिन्दः’ इति लिङ्गानुशासनपुनपुसके । मेदिनीसुनासीरो भूमीजम्भाराति निजस्यात्मनः श्रोत्रपत्रे कर्णपालौ श्रवणाभरणानि कर्णपूरानिव व्यधित चकार । ‘श्रवणपूरितमालदलाङ्कुरः’ इति नैषधे । सम्यक् शुश्रावेत्यर्थः ॥

अपि यतिपर्जन्योदिततीर्थततिश्रुतिसुधारसःप्रसरन् ।

अविशन्मानसमुर्वीभर्तुः कर्णप्रणालिकया ॥ २२३ ॥

साहिर्न केवल तीर्थानि श्रवणगोचरमात्राणि कुरुते स्म, किं तु सम्यङ्जनस्यवधारयामास । तदेवाह—अपि पुनः यतिना मध्ये पर्जन्येन वासवेनोदितानि निवेदितानि कथितानि यानि तीर्थानि तेषां ततिः श्रेणिस्तस्या श्रुति श्रवणसैव सुधारसः अमृतनिस्पन्दः स प्रसरन् प्रवर्धमानः कर्णं श्रवणमेव प्रणालिका जलागमननिर्गमनमार्गं तथा कृत्वा उर्वीभर्तुं नृपस्य मानसं मनः अविशत् प्रविवेश । अथ वा उर्वीभृत्पर्वतः, प्रस्तावात् हिमाचलः । हिमाद्रौ मानसं सरोऽस्तीति कविसमयः । तथा ‘सदा हसाकुलं विभ्रन्मानसं प्रचलज्जलम् । भूभृन्नाथोऽपि नायाति यस्य साम्यं हिमाचलः ॥’ इति चम्पूकथायाम् । ततः पर्जन्याज्जलवरात्प्रादुर्भूतः प्रबलवृष्ट्या समुत्पन्नः प्रवर्धमानः पदे पदे अपरापरस्रोतः प्रवेशाद्वृद्धिं प्राप्नुवन् पयःप्रवाहः हिमाचलस्य मानसं सरनीरागमनस्य ‘घडनाला’ इति लोके ख्यातस्य मार्गेण प्रविशति ॥ इति सूरिकथितानि तीर्थानि साहिना श्रुत्वावधारितानि ॥

शेखूजी इत्येकः पाटी अपरश्च दानियार इति ।

तिष्ठन्ति साहिजाता अमी कुमारा इव द्युसदाम् ॥ २२४ ॥

हे सूरय, अमी पुरस्थायुका साहिजाता पातिसाहितनया लोके ‘साहिजादा’ इति प्रसिद्धा तिष्ठन्ति उर्वीभूयःस्थिताः सन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—द्युसदा देवानां कुमारा इव । अमी के । तान्नामग्राहं निवेदयति दर्शयति च—एकं त्रयाणां मध्ये एकोऽयं शेखूजी इति नामास्ते । च पुनरपरो द्वितीयोऽयं पाटी इति नाम्ना अस्ति । च पुनरपरोऽयं तृतीयः कनिष्ठो दानियार इत्यभिवानो वर्तते ॥

एषामाशिषमखिलश्रीणां संकेतसदनमिव ददत ।

— सारिण्या शिखरिण इव यथानयामी विवर्धन्ते ॥ २२५ ॥

हे सूरयः, यूयमेषां मन्त्रन्दनानामखिलानां सर्वप्रकाराणां श्रीणां लक्ष्मीणां संकेत-

सदन मिलनसंदेशगृहं मिथः प्रीतिभाजामेकान्ते संगमनगेहमिव । आशिष मङ्गलश-
सन ददत विश्राणयत । यथा येन प्रकारेण अनया श्रीमदाशिषा अमी त्रयोऽपि
साहिजाता विवर्धन्ते वृद्धिं प्राप्नुवन्ति । क इव । शिखरिण इव । यथा सारिण्या कुल्यया
डुमा विवर्धन्ते ॥

इति नृपमणिवाणीं कर्णपेयां प्रणीय

व्यतरदयममीभ्यो धर्मलाभाशिषं सः ।

अपि निजकरकृत्ताशेषराज्या इवैते-

ऽसमप्रमदसुधाब्धौ राजहंसीवभूवुः ॥ १२६ ॥

अयं मुनीन्द्र सूरिरमीभ्यः पातिसाहिपुत्रेभ्यः धर्मलाभ इति नाम्नीमाशिषः व्यतर-
ददाति स्म । किं कृत्वा । इति पूर्वोक्तप्रकारेण नृपमणे समस्तराजसुररत्नस्य साहेवाणी
कर्णयोः सादर श्रोतुं योग्यां प्रणीय कृत्वा । श्रुत्वेत्यर्थः । अपि पुनरेते साहिपुत्रा अपि
निजकरे स्वपाणौ कृत्वा कृतमागतमशेषं समग्रं राज्यं मेदिनीमण्डलाधिपत्यं यैस्तादृशा
इव । असमोऽसाधारणः यः प्रमोदः । अत्र प्रमदशब्दगतो रेलो न यतिभङ्गाय सम्भवेत् ।
तथा 'बहुलभ्रामरमेचकतामसे' इत्यस्मिन्काव्ये हियादयोऽपि सन्तीति काव्यकल्पलता-
वृत्तरत्नाकरवृत्त्यादौ कथनात् स एव सुवाब्धिः क्षीरसमुद्रः तत्र राजहंसीभूता सि-
तच्छदा जाताः ॥ इति साहिजातानामाशीर्वाददानम् ॥

यं प्रासूत शिवाह्वसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिहसीहविमलान्तेवासिनामादिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलेनानन्दतो निर्मिते

वृत्ते हीरगुरोस्त्रयोदशमितः सर्गो बभूवानसौ ॥ १२७ ॥

इति हीरसूरिचरित्रहीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये असौ त्रयोदश इति सख्यया
मितं प्रमाणीकृतं सर्गो बभूवान् सजात इति ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायां खोपज्ञहीरसौभा-
ग्यनाममहाकाव्यवृत्तौ शिवपुरीपादावधारणसुरवाणमहोत्सवकरणराणपुरयात्राआयुआपुरे-
शप्रजाप्रभावनाकरणमेडजागमननागपुरविक्रमपुरीयसघमहोत्सवकरणफलवर्धियाकरणो-
पाध्यायविमलहर्षपुरप्रेषणसाहिमिलनतदुदन्ताकर्णनफतेपुरागमनसघसमुखागमनशेषणे-
ऽब्ध्यनन्तसाहिमिलनकुशलप्रश्नालापदूतोक्तसूरिगुणाकर्णनतीर्कथनसाहिजाताशीर्वाद-
प्रदानादिवर्णनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥

चतुर्दशः सर्गः ।

अथ प्रदेशीव स केशिनामुना विधातुकामः सुकृतस्य संकथाम् ।

इदं महीन्दुर्मुनिचन्द्रमब्रवीत्पुनन्तु पूज्या मम चित्रशालिकाम् ॥ १ ॥

अथ साहिजातानामाशीर्वाददानानन्तरं स महीन्दुर्वसुधासुधाशुरकब्बरसाहिर्मुनि-
चन्द्र हीरविजयसूरिं प्रति इदमेतदग्रे वक्ष्यमाणमब्रवीद्वभाषे । किभूत स । अमुना
सूरिणा सम सुकृतस्य धर्मस्य सकथां वार्ताम् । धर्मगोष्ठीमित्यर्थः । विधातुकामः कर्तुमि-
च्छन् । क इव । प्रदेशीव । यथा प्रदेशी नामा राजा केशिना श्रीपार्श्वनाथापत्यकेशिग-
णधरेण सार्धं धर्मसकथां कर्तुकाम आसीत् । इदं किम् । हे पूज्या जगन्मान्या भग-
वन्तः, मम चित्रशालिका पुनन्तु पवित्रीकुर्वन्तु ॥

ततः ककुद्भानिव भूमिमानसौ तमित्युदीर्य क्रमचर्ययाचरत् ।

सहामुना सूरिरपि व्यसीसृपद्विडौजसा सूरिरिवामृतान्धसाम् ॥ २ ॥

ततः सूरेश्चित्रशालिकायामाकरणानन्तरं त सूरिमिति पूर्वोक्तमाकारणलक्षणमुदीर्य
कथयित्वा ककुद्भान्मत्तवृषभ इवासावकब्बरो भूमिमान् क्षितिपतिः क्रमचर्यया चरणच-
ङ्क्रमणेन अचल(र)त्पुरं प्रस्थितः । अपि पुनः सूरिर्गुरुरपि अमुना साहिना सह सम
व्यसीसृपद्विसर्पति स्म जगाम । क इव । सूरिरिव । यथा अमृतान्धसा सुवाशनाना
देवानामाचार्य उपलक्षणादिन्द्रस्यापि । यदुक्तं नैषधे—‘ईदृशीं गिरमुदीर्य विडौजा
जोषमासनविशिष्य बभाषे । नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधिगुरुर्गुरुरस्य ॥’ इति
बृहस्पतेरिन्द्रस्याचार्यत्वम् । सूरिः कलाचार्यो वाचस्पतिर्विडौजसा शक्रेण सम कार्यव-
शात्प्रचलति ॥

धरातुराषाट् शमिना शशी पुनः पथि प्रयान्तौ श्रयतः परां श्रियम् ।

कथंचिदुर्व्यामिव केलिशालिनौ विभावरीवल्लभभानुमालिनौ ॥ ३ ॥

धरातुराषाट् भूमीन्द्रः । ‘धरातुरासाहि मदर्थयाच्चा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते’
इति नैषधे । पुनः शमिना शशी साधूना सुधाकर सूरिः । द्वावपि पथि चित्रशालिका-
वर्त्मनि प्रयान्तौ गच्छन्तौ सन्तौ परा प्रकृष्टा श्रिय शोभा श्रयतो लभेते । उत्प्रेक्ष्यते—
कथंचित्केनापि कुतूहलादिना प्रकारेण एकत्र मिलित्वा उर्व्या भूमण्डले केलिभिः
क्रीडाभिः शालते शोभते इत्येवशीलौ विभावरीवल्लभभानुमालिनौ चन्द्रसूर्याविव ।
तस्मिन् समये सूरिदर्शनादतीव शान्तीभूत साहिश्चन्द्रतुल्यः, सूरिस्तु पुण्यप्रतापा-
त्तदाविक दीप्यमानत्वाद्भानूपमो दृश्यते ॥

विभुज्य कण्ठं क्षितिपाकशासनो दृश दिदेश द्विरदद्विषन्निव ।

तथा स्थितानेष गवेषयंस्ततोऽनगारपारीन्द्रमुनीनजूहवत् ॥ ४ ॥

क्षितिपाकशासनो धात्रीसुत्रामा साहिः कण्ठं ग्रीवा विभुज्य चक्रीकृत्य पश्चाद्बाल-

यित्वा दृष्टि दृश दिदेश दत्तवान् । क इव । द्विरदद्विषन्निव । यथा दन्तिनां प्रतिपक्षः सिंहः कण्ठ विभुज्य दृश दत्ते । केसरी अग्रे गच्छन् पश्चाद्विलोकयतीति तत्स्वभाव एव । 'गिरा विभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम्' इति नैषधे । ततोऽग्रे कियदागत्य पश्चात् दृष्टि-दानानन्तरमेष साहिरनगारपारीन्द्रस्य साधुसिन्धुराराते सूरौ । अथ वा अनगारेषु मु-निषु पारीन्द्रा दुर्वादिवारणवित्रासकत्वेन कण्ठीरवा । अथ वा यतिषु मुख्या । 'स्यु-रुत्तरपदे व्याघ्रपुगवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्दूलनागाद्या पुसि श्रेष्ठार्थगोचरा ॥' इति हैम्या-मुक्तत्वात् । तादृशान् मुनीन् श्रमणानजूहवदाकारयामास । एष किं कुर्वन् । यत्र सूरिणा सार्धं मिलितास्तत्रैव स्थितास्तिष्ठतः अथ वा तत्रैवावीभूय स्थितिं कुर्वतो गवेषयन्पश्यन् ॥

सुरैरिवेन्द्रः कलभैरिव द्विपो ग्रहैरिवार्कश्च शशीव तारकैः ।

अदिद्युतद्वर्त्मनि सूरिवासवोऽनुगम्यमानो मुनिपुगवैस्ततः ॥ ५ ॥

ततस्तेषां साहिनाकारणानन्तरं मुनिपुगवैर्वाचयमवृषभैरनुगम्यमानो वर्त्मनि त-स्मिन्नेव चित्रशालिकाध्वनिं सूरिवासवः अदिद्युतत् । क इव । सुरैर्वृन्दारकैः इन्द्रः पुरंदर इव । पुनः क इव । कलभैः त्रिशद्वर्षीयस्तम्बेरमौर्द्विपः षष्टिहायनयूथनाथ इव गजेन्द्र इव । पुनः क इव । ग्रहैर्मङ्गलादिभिरर्को भास्वानिव ग्रहपतित्वात् । 'ग्रहाब्जि-नीगोद्युपतिर्विकर्तन' इति हैम्याम् । तथा जीवाभिगमसूत्रवृत्तौ—'यावान् चन्द्रपरि-वारस्तावान् सूर्यस्यापि परिवारः । परमतितेजस्त्वाद्भास्वत्पार्श्वं न च दृश्यते ।' पुनः क इव । तारकैर्ज्यौतिर्भिः शशी चन्द्र इव अनुगम्यमानो दीप्यते ॥

अथाधिरुह्योर्ध्वधरां स किञ्चनात्मना न्यगादीत्पृथिवीपुरंदरः ।

दुलीचकाख्यास्तरणं व्रतीश्वराः पुनन्तु भूपीठमिव क्रमाम्बुजैः ॥ ६ ॥

अथ साव्र्णा सूरिसनिवावाहानानन्तरमात्मना स्वेन किञ्चन स्तोकमात्रा सोपान-त्रयमयीमुच्चैरुर्ध्वधरा सोपानत्रिकेणैव कृत्वा उच्चैर्भूमीमधिरुह्य अध्यास्याश्रित्य वा स पृथिवीपुरंदरो भूपो न्यगादीद्वभाषे । तदेवाह—हे व्रतीश्वरा सूरय, राज्ञामुपवेश-नोचितं विचित्रचित्ररचनाचञ्चुरमणीयं लोकप्रसिद्धया दुलीचा इत्याख्या नाम यस्य । स्वार्थे क । दुलीचकाख्यमस्मत्सभागमनागमनभूमे आस्तरणमाच्छादनं क्रमाम्बुजैर्नि-जचरणकमलन्यासैः पुनन्तु पवित्रीकुर्वन्तु । किमिव । भूपीठमिव । यथा क्षोणीमण्डलं स्वपादपद्मं पवित्र्यते ॥

गुरुर्जगादेति कदापि कीटिका भवेदधोऽस्मिन्नपदं दधे ततः ।

नृपोऽभ्यधादत्र न कश्चनासुमान्भवेत्सुराणामिव मन्दिरे नरः ॥ ७ ॥

गुरुः सूरिरित्यग्रे वक्ष्यमाणं जगाद वदति स्म । इति किम् । हे साहे, अवो दु-लीचकस्याधस्तात् भूप्रदेशे कदाचिदपि दैवयोगात्कीटिकापि चरन्ती तिष्ठन्ती वा भ-वेत् । ततो जन्तुजातपालनादिहेतोरहमस्मिन्दुलीचके एतावता दुलीचकास्तरणोपरि कदापि कस्मिन्नपि प्रस्तावे पदं चरणं न दधे न मुञ्चामि । चञ्चुरदृष्टभूमौ कथमपि क्रम

न निक्षिपामीत्यर्थः । ततः सूरिकथनानन्तरं साहिरभ्यधाद्वक्ति स्म । हे सूरयः, अत्र मच्चित्रशालिकाया दुलीचकाच्छादिताया च भूमौ कदापि कस्मिन्नपि समये वर्षाग्रीष्मा-
दावपि कश्चन कोऽपि कीटकादिरसुमान् जीवो न भवेत् नैव स्यात् । क इव । यथा सुराणा मन्दिरे देवगृहे स्वर्गे भूचरो नरो मनुजो न स्यात् ॥

गुरुर्जगावाचरणं तथाप्यदः पदं निभाल्यैव ददे परत्र नो ।

यतः स्वकीयाचरणं मुमुक्षुणा प्रयत्नतो रक्ष्यममर्त्यरत्नवत् ॥ ८ ॥

गुरुः सूरि पुनर्जगौ जल्पति स्म—हे साहे, यद्यपि श्रीमच्चित्रशालिकाया रचना-
चारिमदुलीचकस्य अध उपरि वा सर्वथापि कीटिकादिजन्तुर्न स्यात्, तथापि जीवाभावे
सत्यपि ममाद् एतदाचरणमाचारो वर्तते यदह निभाल्य अग्रेतना युगप्रमाणा भूमिकां
नेत्राभ्या विलोक्यैव पद ददे स्थापयामि, न परत्र चक्षुरनवेक्षिते स्थाने सर्वथापि
क्रम न मुञ्चामि । ‘दृष्टिपूत न्यसेत्पाद वस्त्रपूत पिबेजलम् । सत्यपूत वदेद्वाक्य मन पूत
समाचरेत् ॥’ इति नीतिशास्त्रेऽपि । हे साहे, यत कारणान्मुमुक्षुणा ससारकारागारात्स्व
मोचयितुमिच्छता यतिना स्वकीयाचरण निजस्याचारः प्रयत्नतः प्रमादनिद्राकषाया-
दीना निराकरणाद्रक्ष्य सम्यक्परिपालनीयम् । किवत् । अमर्त्यरत्नवत् । यथा सतुष्टेन
केनचिद्देवेन दत्त चिन्तामणि सम्यक्प्रयत्नेन कृत्वा रक्ष्यते ॥

ततः स यावत्कुरुते तदुच्चकैर्बभूव तावत्प्रकटैव कीटिका ।

व्रतिप्रभोरप्रतिमा कृपालुता पुरः क्षितीन्दोर्गदितु किमात्मना ॥ ९ ॥

ततो गुरुगदितानन्तर सोऽकब्बरो यावदुलीचक करे गृहीत्वा पश्चादुच्चकै करोति
ऊर्ध्वमुत्पाटयति, तावत्तत्र प्रदेशे कीटिकैव प्रकटा साहिलोचनगोचरा बभूव सजाता
नृपेण स्वदृष्ट्या दृष्टा । उत्प्रेक्ष्यते—क्षितीन्दो पुरो राज्ञोऽग्रे व्रतिप्रभो सूरि अप्रतिमा-
मसाधारणा कृपालुता दयावत्तामात्मनेव स्वेन गदितु कथयितुमिव प्रकटीकर्तुमिव ॥

ततः क्षितौ स्वस्य यथैकभूपता गुरोस्तथाद्वैतदयाधिनाथताम् ।

अवेत्य चित्तेऽतिचमत्कृति वहन्मुहुर्मुहुस्त प्रशशस भूमिमान् ॥ १० ॥

तत कीटिकादर्शनानन्तर स भूमिमानकब्बरसाहिर्मुहुर्मुहुर्वारवार त सूरिन्द्र प्रशशस
श्लाघते स्म । कि कुर्वन् । चित्ते मनस्यतिचमत्कृतिमतिशयेनाश्चर्य वहन् ददत् । कि
कृत्वा । क्षितौ क्षितिमण्डले स्वस्यात्मनो यथा येन प्रकारेण अन्यराजसु तादृक्स्फूर्तिमा-
हात्म्याद्यभावात् स्वस्यैव तदद्वैतत्वेन एकभूपतामद्वैतपातिसाहिता तथा तेन प्रकारेण
गुरोरद्वैतामनन्यसामान्या दयाया कृपाया अधिनाथता स्वामित्वम् । कृपालुतामित्यर्थः ।
चित्ते स्वमानसे अवेत्य ज्ञात्वा । चित्ते इत्युभयत्रापि योजनीयम् ॥

कृपालुतां वः किमहो महीयसीमुत स्तुवे स्वाचरणप्रवीणताम् ।

पयोदवत्कि तु परोपकारितां निरूपकं वा भवतां शुचेः पथः ॥ ११ ॥

अहो सूरयः, अह वो युष्माक महीयसीमतिगुर्वी विश्वप्रशस्यां कृपालुता सर्वजग-
ज्जन्तुषु कृपावत्ता किमिति प्रश्ने स्तुवे श्लाघाविषयं नयामि । उताथ वा वो युष्माक
स्वाचरणे निजाचारविधिमार्गपालने प्रवीणता नैपुण्यं सुशिक्षितता किं स्तुवे प्रशंसामि ।
पुनरह पयोदवद्वार्षिकघनाघन इव परोपकारिता परेषां नि शेषालघुलघुप्राणिनामुपकर्तृत्वं
स्तुवे कवयामि । वाथ वा भवता शुचे पवित्रस्य विशुद्धस्य वा पथो मार्गस्य सद्धर्मा-
चरणस्य वा निरूपकमुपदेष्टार कथयितार वा स्तुवे स्तुतिविषयीकरोमि । क क स्तुवे
श्लाघे, सर्वमपि प्रशंसापरमास्पदमिति ॥

जगत्यसाधारणता व्यतर्कि वः क्षणादनेनाचरणेन शासने ।

सुधाभुजा भूमिरुहीव कामितप्रदातृभावेन मुमुक्षुपुंगवाः ॥ १२ ॥

हे मुमुक्षुपुंगवाः सूरेश्वरा, अनेन समग्रजगज्जन्तुजातपालनलक्षणेन आचरणेन
सदाचरणविधानेन कृत्वा क्षणादल्पकालात्तत्कालमेव मया वो युष्माक शासने जैनदर्शने
जगति विश्वे असाधारणता सर्वेभ्योऽद्वैतता एतावता पञ्चभ्यो दर्शनेभ्यो युष्माक जैनशास-
नमसाधारणमेवेति व्यतर्कि मया विचारितम् । ज्ञातमित्यर्थः । कस्मिन्निव । भूमिरुहीव । यथा
कामितानामैहिकाशेषमनोभिलषितानां प्रकर्षेण दातृभावेन दायकत्वेन सुधाभुजाममृताश-
नाना पादपे असाधारणता वितर्क्यते, एतावता यथा सर्ववृक्षजातिभ्यः कल्प-
द्रुमा विशेषास्तथान्यशासनेभ्यः श्रीमच्छासनमिति ॥ इति सूरिन्द्रकृपालुताजैनशा-
सनयोः प्रशंसा ॥

कथीपकस्यास्तरणं ततः करद्वयेन दूरीकृतवान्स्वयं नृपः ।

मुनीन्द्रसङ्गादिव पापमात्मनः प्रभुः पुनाति स्म पुनः स तां क्षितिम् १३

ततः प्रभुकृपालुतावगमनप्रणीतप्रशंसानन्तरं नृपोऽकब्बर स्वयं तत्रान्यसेवकाभा-
वादात्मनैव करद्वयेन पाणिपद्मद्वन्द्वेन कथीपक इति नाम्नः परदेशोत्पन्नजातिविशेषपट्ट-
सूत्रमयवस्त्रस्यास्तरणं दुलीचकापराभिवान् दूरीकृतवानपसारयति स्म । पश्चात्कृत
इत्यर्थः । पृथक्चक्रे । उत्प्रेक्ष्यते—मुनीन्द्रस्य हीरसूरे सङ्गादात्मनः स्वस्य पापमिव
दूरीचकार । तस्य दूरीकरणात्प्रभुः सूरिस्तामास्तरणरहिता क्षितिः पुनाति स्म पवित्र-
यामासिवान् । ऊर्ध्वं धरामारुरोहेत्यर्थः । चित्रशालिकात्रिसोपानभूमौ चढित इत्यर्थः ॥

धरेशधामाधरिताद्रिसूदनोपदीकृतास्थामिव चित्रशालिकाम् ।

विभूषयाचक्रतुरुर्वरावरानगाररात्रीरमणौ क्रमेण तौ ॥ १४ ॥

उर्वराया सर्वसस्याया भूमे वर स्वामी वनवान्यमणिप्रसवित्र्या वरित्र्या पतिः ।
यदुक्तम्—‘शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् । सुवर्णपुष्पा पृथिवी चिन्वन्तु पुरु-
षास्त्रयः ॥’ इति । तथा रघुवशेऽपि—‘क्षितिः रिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्न्यपौ-
रुषम् । प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वारमजीजनत्सुतम् ॥’ इति । तथा अनगाररात्रीरमण
श्रमणचन्द्रः सूरिस्तौ क्रमेण चित्रशालिका विभूषयाचक्रतुः अलकुर्वाते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—

धरेशेन भूमिपतिना धाम्ना तेजसा बलेन वा अधरीकृतेन हीनीकृतेन । अभिभूयेति शेषः । अद्रिसूदनेन मघोना उपदीकृता ढौकितामास्था स्वीया सौधमी सभामिव ॥

अवग्रहं प्राप्य महीहिमांशोर्निषेदुषस्तत्र यतिक्षितिक्षितः ।

जलालदीनोऽपि पुरोऽभजद्भुवं सुहस्तिनः संप्रतिभूगभस्तिवत् ॥ १५ ॥

जलालदीनो यवनमुद्रलप्रसिद्धमिदं विशेषनाम साहिरपि यतिक्षितिक्षितः सूरिराजस्य । ‘महीक्षित्पार्थिवो मूर्धाभिषिक्तो भूप्रजानृपः’ इति हैम्याम् । पुरोऽग्नेतना भुवक्षोणी अभजत् बभाज । भूमावेवोपविष्टो नासने । सूरः किंचकुष किलक्षणस्य वा । निषेदुष उपविष्टस्य । किं कृत्वा । महीहिमत्विषो भूमीसोमस्य अवग्रहमुपवेशनार्थमादेशः प्राप्याधिगत्य । किवत् । संप्रतिभूगभस्तिवत् । यथा संप्रतेरनुज्ञामवाप्य निषण्णस्य सुहस्तिनस्य पुरस्तात्स प्रतिनामा भूगभस्तिर्भूमीभास्वान् उपविशति स्म । ‘मध्यदिनावधि विधेर्वसुधाविवस्वान्’ इति नैषधे ॥ इति चित्रशालिकायामागत्य सूरिनृपावुपविष्टौ ॥

अथ धर्मकथारम्भ —

स धर्मकिर्मीरितसकथास्वथो मिथः प्रवृत्तासु तमित्यचीकथत् ।

धराविधो बीजमिवावनीरुहा वृषोऽस्त्युपादानमशेषसंपदाम् ॥ १६ ॥

अथो चित्रशालाया द्वयोरुपवेशानन्तरं स सूरिस्तमकब्बरसाहिमित्यमुना प्रकारेणाचीकथत् कथयति स्म । कासु सतीषु । धर्मेण पुण्यप्रकाशनेन किमारितासु मिश्रासु सकथासु वार्तासु मिथः सूरिभूपयो परस्परं प्रवृत्तासु प्रारब्धासु । इति किम् । हे धराविधो पृथिव्या निष्कलङ्क चन्द्र हे साहे, अशेषाणां सर्वासामपि संपदा लक्ष्मीणामुपादानमूलकारणं वृषो धर्म एवास्ते विद्यते । किमिव । बीजमिव । यथा अवनीरुहाणां वृक्षाणामुपादानं तत्तज्जातिजं बीजं योनेनिबन्धनम् ॥

अनक्षिलक्ष्यापि यथानुमीयते पयोदवृष्टिस्तटिनीपयः प्लवैः ।

विचक्षणैश्चेतसि तर्क्यते तथा विभूतिभिः प्राक्सुकृतं पचेलिमम् ॥ १७ ॥

हे साहे, यथा येन प्रकारेण तटिन्या नद्या पयः प्लवः पानीयपूरः । आगतैरित्यव्याहारः । अनक्षिलक्ष्या लक्षितुं द्रष्टुं योग्या लक्ष्या । ‘लक्षं दर्शनाद्गनयो’ इत्यस्य धातोः प्रयोगः । अक्ष्णोर्लक्ष्या अक्षिलक्ष्या, न अक्षिलक्ष्या अनक्षिलक्ष्या, अदृग्गोचरा । अदृष्टापीत्यर्थः । पयोदानां घनानां वृष्टिर्विचक्षणैर्निपुणैरनुमीयते अनुमानविषयीक्रियते, तथा तेनैव प्रकारेण पण्डितैर्विभूतिभिर्विभवैः कृत्वा अदृष्टिविषयीकृतमपि पचेलिमं परिपाकं प्राप्योदयमागतं प्राक्सुकृतं पूर्वजन्मोपार्जितं पुण्यं तर्क्यते विचार्यते विज्ञायते वा ॥

अभङ्गभोगाम्बुधिशंखरीयतां धरेश धर्मेण विना जनुष्मताम् ।

अपार्थतामुद्रहते परं जनुर्विना फलौघैरवकेशिनामिव ॥ १८ ॥

हे धरेश क्षितिपते, धर्मेण सुकृताचरणेन विना जनुष्मता प्राणिनां परं केवल ज-
नुर्जन्म अपार्थता निरर्थकत्वम् अपगतोऽर्थं धर्मप्रयोजन यस्य । यदुक्तम्—‘जे जि-
णधम्मबाहिरा ते जाणे वाचारि । उग्या उरहिष्ययगया ससारिया ससारि ॥’ इति ।
तस्य भावस्तत्ताम् । ‘अर्थो हेतौ प्रयोजने । निवृत्तौ विषये वाच्ये प्रकारे द्रव्यवस्तुषु ॥’
इत्यनेकार्थः । एवोद्वहते विभर्ति । तथा ‘यस्य युधिष्ठिर इव न कचिदपार्थो वचनक्रमः’
इति चम्पूकथायाम् । जनुष्मतां किमाचरताम् । अभङ्गा अनवच्छिन्नाः सततप्रवृत्ता ये
भोगा विभववनिताराज्यादिसुखास्वादास्त एवाम्बुधिः समुद्र तत्र शबरीयतां मीनाना-
मिवाचरताम् । ‘शबरो दानवान्तरे । मत्स्यैर्गिरिभेदेषु’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘शबरो-
ऽनिमिषस्तिमिः । मत्स्योऽवमीनः’ इति हैम्याम् ॥

कुरङ्गनाभीमपहाय भूषितुं स्ववर्ष्म गृह्णाति निषद्वरं करे ।

निकृत्य गेहोपवने प्ररोपितं सिताभ्रसालं वपतेऽर्कपादपम् ॥ १९ ॥

अपास्य पीयूषरसं जिजीविषुर्मुखादहीन्दोः स्वदते गरं पुनः ।

विमुच्य धर्मं नृप सार्वकामिकं विमुग्धधीर्यो विषयेऽनुरज्यते ॥ २० ॥

हे नृप, सर्वानैहिकामुष्मिकान् कामानभिलाषान् करोति पूरयतीति सार्वकामिकस्तम् ।
‘क्रतु विधत्ते यदि सार्वकामिकम्’ इति नैषधे । तादृश धर्मं विमुच्य त्यक्त्वा यो विशेषे-
षेण मुग्धा कृपा कृत्येष्वनभिज्ञा कार्याकार्यविचारविकला धीर्बुद्धिर्यस्यासावज्ञानो विषये
भोगसुखादावनुरज्यते अनुरक्तीभवति, स पुमान् कुरङ्गनाभीं कस्तूरिकाम् । मृगमदवाच्य-
पिनाभिश्चब्दो ह्रस्वो दीर्घोऽपि ‘मृगनाभिर्मृगमदः’ इत्यत्र हैम्या ह्रस्वः । तथा ‘गोरो-
चनाचन्दनकुङ्कुमैर्गणनाभीविलेपात्पुनरुक्तयन्ती’ इति नैषधे दीर्घोऽपि । अपहाय मुक्त्वा
स्ववर्ष्म निजशरीर मुखस्तनाद्यवयव स्त्रीमधिकृत्य पुनरर्थं केवल वपुरेव भूषितु वि-
लेपनादिना भाले तिलकादिना वा शोभा नेतुम् । यथा ‘शोभन्ते स्थितिसौष्ठवेन कति-
चित्कस्तूरिकाम्,’ ‘नेपालक्षितिपालभालफलके पङ्क न शङ्केत कः’ इति सूक्तपदद्वयी ।
निषद्वर पङ्क कचवरक करे हस्ते गृह्णाति । पुन गेहस्य स्वमन्दिरस्योपवने समीप-
वाटिकाया गृहारामे वा प्ररोपितं स्वयं पृथक् मनोरयैरुप्तं सिताभ्रसालं कर्पूरपादपम् ।
‘छित्त्वा कर्पूरखण्डान्वृत्तिमिह कुरुते कोद्रवाणा समन्तात्’ इति सिन्दूरप्रकरे । निकृत्य
छित्त्वा । ‘कृती छेदने’ अयं धातुः । अर्कपादपम् ‘आकडा’ इति लोकप्रसिद्धं नामेति
अर्कवृक्षम् । ‘अर्का किं फलसचयेन भवता किं वा प्रसूनैर्नवै’ इत्यपि सूक्तम् । वपते
प्ररोपयति । वप्वातुरुभयपदी । पुन स पीयूषरसं तुष्टसुरदत्ताजरामरकृदमृतं सत्यज्य
दूरे क्षिप्त्वा जीवितुमिच्छुजिजीविषु सन् अहीन्दो विषभाससहस्रभाजः शेषनागरा-
जस्य । ‘विषभारसहस्रेण वासुकिनैव गर्वितः । वृश्चिको विषमात्रेण स्वोर्ध्वं वहति कण्ट-
कम् ॥’ इति सूक्तम् । मुखाद्वदनाद्गरं गरलं स्वदते पिबति । ‘सगरं गरमिवाकलयन्ति’
इति नैषधे ॥ युग्मम् ॥

अनश्वरी श्रीर्युवता किमु ध्रुवा जरापि जीर्णा शमनः शशाम किम् ।

यदेष जन्तुर्विषयाभिलाषुको दधाति धर्मे न मनो मनागपि ॥ २१ ॥

हे नृप, श्रीलक्ष्मीरनश्वरी शाश्वती अस्थिरैव । यदुक्तम्—‘सायरवप्पमुरारिपिय चन्दसरीसा भाय । लच्छी हीडइ धरि धरि महिला एह सहाय ॥’ इति पुनर्युवता यौवन ध्रुवा नित्या कदापि न यास्यति । ‘यौवन जाइ वेगिनदीर्युजलहइ । इन्दुचन्दुनागिन्दु-कहो कुणथिररहइ ॥’ इत्युक्ते । पुनर्जरा विस्रसा यौवनवयोहानिलक्षणावस्था जीर्णा स्थविरीभूता स्थातुमुत्थातुमप्यशक्ता जाता किम् यज्जराशक्तभावान्नागमिष्यति । य-दुक्तम्—‘यौवनकेरेदीहडइ कीजइ मित्त दुच्चार । कालिज वडपण आवशइ को न विवार ॥’ इति । पुनः शमनो यमः शशाम शान्तीभूतः । किभूतः । यदथ कमपि न व्यापादयिष्यामि मृतो वा यत्कारणादेष जन्तुर्जीवो विषयानां कामभोगादिसुखानाम-भिलाषुक कामयिता कामुको लोलुप सन् धर्मे सुकृताचरणे मनागीषन्मात्रमपि मन-श्चित्तं न दधाति स्थापयति ॥

प्रसृत्वरः शंबरवैरिविक्रमोऽचिरात्सृजेद्विक्रमिणोऽप्यविक्रमान् ।

उदीयतेऽस्मादपि राजयक्ष्मणा तमोभरणेव तमस्विनीमुखात् ॥ २२ ॥

हे साहे, प्रसृत्वर प्रसरणशीलः प्रवर्धमान शबरनामा दैत्यविशेषस्तस्य वैरी दस्यु-र्हन्ता स्मरस्तस्य विक्रमो वीर्यं प्रतापः स्मरी अपस्मारप्रसारः । मदनोन्माद अचिराद-ल्पकालादेव विक्रमिणोऽपि महाशक्तिमतोऽपि अविक्रमान् निर्वीर्यान् अबलान् सृजेत् कुर्यात् अपि पुनरस्मान्मदातिरेकात् राजयक्ष्मणा क्षयरोगेण उदीयते प्रादुर्भूयते । केनेव । तमोभरणेव । यथा तमस्विनीमुखात्प्रदोषात्सध्यासमयादन्धकारेण स्फूर्यते ॥

मनोभुवा मोहयमानमानसो महाहसां संहतिमात्मनाचरन् ।

लभेत कश्चिन्नरकेषु कारणामिहैव शूलामिव पारिपन्थिकः ॥ २३ ॥

कश्चित्पापीयान् पुमान्नरकेषु कारणा सप्तस्वपि दुर्गतिषु परमाधार्मिकनिर्मिता क्षेत्रो-द्भूता महारोगशीतोष्णादिजनिता कासश्वासकठोदरादिका तीव्रवेदना लभेत प्राप्नुयात् । क इव । पारिपन्थिक इव । यथा परस्वाद्यपहर्ता तस्करो नरकेषु नारकित्वेन नरको-द्भूता महतीं पीडा लभते । कामिव । शूलामिव । यथा इह लोके च शूला मार्यमाणचौ-राधिरोपणतीक्ष्णतदादिका महतीं व्यथा प्राप्नोति । जन्तु किं कुर्वन् । मनोभुवा शत्रु-भूतेन कामेन मोहयमान मोहं मूर्छां सदसद्विवेचनचातुरीविकलता नीयमान मानस मनो यस्य तादृश सन्महाहसा प्रबलपापानां संहतिं श्रेणीमाचरन् । यदुक्तं नैषधे दमयन्त्याः पुरस्तात्—‘दधुना नल पापभीरुरपि त्वत्प्रापकात्रस्यति नैनसोऽपि’ इति ॥

दुरन्तदुःखाद्विषयात्तु विभ्यता विमुक्तसङ्गेन कृपानुषङ्गिना ।

वशेव सौभाग्यवता स्वकामुकीक्रियेत केनापि मरुद्गहेन्दिरा ॥ २४ ॥

तु पुन केनापि धार्मिकेण पुसा मरुदृहेन्दिरा स्वर्गलोकलक्ष्मीः स्वकामुकी स्वस्मिन्नि-
च्छा यस्या स्वाभिलाषिणी । 'इच्छायुक्ता तु कामुका' । च्विप्रत्यये कामुकीक्रियते । अथ
वा स्वस्यात्मन कामुकी लालसाकलिता क्रियते । 'वृषस्यन्ती कामुकी स्यात्' इति है-
म्याम् । केनेव । सौभाग्यवतेव । यथा 'सद्गमनसन्निरीक्षणसज्जल्पनमिति वदन्ति लावण्यम् ।
स्पृहणीयो रतिसुभग स्पर्शगुणो भवति सौभाग्यम् ॥' इदं च द्वयमपि स्त्रीपुरुषयो स्यात् ।
अत्र तु सुभगत्वभाजा वसुदेवेनेव सकलकामिनीजनकर्मणा वा पुरुषेण वशा वनिता
स्वकामुकीक्रियते । पुसा कि कुर्वता । दुर्दुष्टोऽन्तोऽवसान यस्य प्रान्ते कठिन वि-
पाको यस्य तादृश दुःख यस्मात्तद्विधाविषयाद्गोचरात् शब्द-रूप-गन्ध-रस-स्पर्शल-
क्षणपञ्चसख्यकात् गुणाद्विभ्यता ससारकारागारप्रपतनानन्तासातसहनादिमहाभीति बि-
भ्रता अत एव विगीतोऽपमानितो मुक्त सङ्गः पुत्रकलत्रधनादिक सकलससारिका-
नुषङ्ग ससारिकस्नेहो येन । पुनः किंभूतः । कृपानुषङ्गेन पृथ्वी-अप-तेजो-वायु-व-
नस्पत्-त्रसरूपाणा षण्णा कायानां रक्षणलक्षणकरुणाकलितेन षट्कायगोकुलपालकेन
समस्तयावज्जगच्चराचरजन्तुरक्षाक्षमेणेत्यर्थः ॥

क्रमादुपक्रम्य समाधिना भवी भवं स मुञ्चन्भजते महोदयम् ।

स्वलोहता सिद्धरसेन संत्यजन्सुवर्णतां धातुरिव प्रपद्यते ॥ २५ ॥

स विषयविमुखो भवी ससारी जीव क्रमात्परिपाटीत स्वर्गे गत्वा प्रशस्तमर्त्यजन्म
सप्राप्य उपक्रम्य चारित्रादिविशिष्टधर्माचरणोपक्रम कृत्वा समाधिना शुक्लध्यानयोगेन
भव ससारमुज्झन् मुञ्चन् सन् महोदय मोक्ष नि सीमानमभ्युदय भजते । ससारसागर
निस्तीर्य सिद्धो भवतीत्यर्थः । क इव । धातुरिव । यथा धातुर्लोहादि सिद्धरसेन रसकू-
पिकादिपानीयविशेषेण स्वलोहता कालायसभावं नीचधातुता सत्यजन् मुञ्चन् सुवर्णता
प्रपद्यते ॥ इति धर्मदेशना ॥

अभाजि युष्माभिरिवानुगामिभिर्महीमहेन्द्रः परमेशिता स कः ।

अवद्यवन्ध्या पदवी प्ररूपयन्नुपासनामर्हति कीदृशो गुरुः ॥ २६ ॥

सुधाब्धिवद्यो ददतेऽमृत पुनः स किविधो धर्म इदं वदन्तु मे ।

महीमहेलादयितोदितामिमा गिर निपीय प्रभुरप्यचीकथत् ॥ २७ ॥

इमा वृत्तापेक्षया पूर्वोक्ता मही भूमिरेव महेला कामिनी । 'यश्च परमहेलारतोऽप्य-
पारदारिक' इति चम्पूकथायाम् । तथा 'महिला स्यान्महेलया' इति शब्दप्रभेदे ।
तस्या दयितो भर्ता अकब्बर तेनोदिता कथिता वाणी निपीय सादर श्रुत्वा प्रभु सूरि-
न्द्रोऽप्यचीकथत् वदति स्म । इमा काम् । हे सूरिन्द्रा , इदं मयैव निगद्यमानं पृच्छ्य-
मानं मे मम वदन्तु कथयन्तु । इदं किम् । यः परमेशिता परमेश्वरो युष्माभिः श्रीम-
द्भिरभाजिः ससेव्यते स्म । कैरिव । अनुगामिभिरिव । यथा महीमहेन्द्रो नीतिमान् भूमान्
सेवकैः सेव्यते । सः कः परमेशी किनामा च पुनः किं गुणो गुरुरुपासनामर्हति सेवा

कर्तुं योग्यो भवति सेवनीयः स्यात् । गुरु किं कुर्वन् । अवद्येन पापेन वन्ध्याम् ।
 ‘अवद्यमुक्ते पथि यः प्रवर्तते’ इति सिन्दूरप्रकरे । सर्वथा पापनिर्मुक्ता पदवी मार्गं
 प्ररूपयन् । गुरोर्गुरुरिति विशेषणमपि तत्त्वोपदेशा हिताहितनिरूपकः । च पुनः सुधा-
 ब्धिवत्क्षीरसमुद्र इव अमृतं सुधा मोक्षं च ददते विश्राणयति । अयं ‘दद दाने’ धातु-
 रात्मनेपदी +वादिश्च । स वर्मः किविधः कीदृक्प्रकारः ॥ युग्मम् ॥ इति साहेदेवगुरु-
 न्प्रति देवगुरुवर्माणां प्रश्नः ॥

जगन्ति यस्यानुभवेऽनुबिम्बितामिवात्मदर्शे दधते धरापते ।

जिगाय चाष्टादशदोषविद्विषो नवद्वयद्वीपभुवो जयीव यः ॥ २८ ॥

तरङ्गिणीवेणिमिवाम्भसा प्रभुर्न चाङ्कपाली नयते नितम्बिनीम् ।

क्वचित्पुनर्यस्य न नर्मनर्मदाहृदावगाहे द्विरदायितं हृदा ॥ २९ ॥

बिभर्ति हेतीर्न तनूनपादिवाहितान्पुनर्यो न हिनस्ति हिंसवत् ।

भवं भिनत्ति स्म करीव पञ्जरं दधाति देवः स नमस्कियार्हतीम् ॥ ३० ॥

हे धरापते, स दीव्यति क्रीडति त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्म्या ब्रह्मश्रिया वा स देवः परमे-
 श्वरो निखिलनरसुरासुराणामपि नायकः नमस्कियाया नमस्कृतेरार्हतीमौचिती योग्यता
 दधाति बिभर्ति । ‘उडुपरिषदः किं नार्हन्ती निशः किमनौचिती’ इति नैषधे । अत्र नुम्-
 विकल्पत्वेन रूपद्वयी आर्हन्ती आर्हती च । अर्हतो भावः आर्हती । ‘अण्त्तृण ईप्’ इतीप्प्र-
 ल्ययः । इति सिद्धिरपि । स देवः प्रणामयोग्यः स्यात् । स कः । यस्य परमेशितुरनुभवे
 ज्ञाने जगन्ति त्रीणि—सप्त—चतुर्दश—एकविंशतिर्वा भुवनानि अनुबिम्बन्ति सक्रामन्तीत्ये-
 वशीलानि अनुबिम्बीनि अनुबिम्बिता भावोऽनुबिम्बिता प्रतिबिम्बशीलता दधते बिभ्रति ।
 कस्मिन्निव । आत्मदर्श इव । यथा निर्मलदर्पणमण्डले कापि भूधनवनिगृहचित्रशालिका-
 दिभित्त्यादौ चित्राकृतानि त्रीणि जगन्ति प्रतिफलन्ति । च पुनर्हे भूवल्लभ, यो
 देवो दीनान्तराय—लाभान्तराय—वीर्यान्तराय—भोगान्तराय—उपभोगान्तराय—हास्य-
 रति—अरति—भीति—जुगुप्सा—शोक—काम—मिथ्यात्व—अज्ञान—निद्रा—अविरति—राग—द्वे-
 षणामानोऽष्टादशसख्याका दोषा अपगुणास्त एव विद्विषो महावैरिणो जिगाय पराभू-
 तवान् । क इव । जयीव । यथा परराजजित्वरो राजा नवसख्याकानां द्वयं द्वन्द्वं नव-
 द्वयं नवद्वयं च ते द्वीपाश्च नवद्वयद्वीपा इति नैषधवृत्तिनरहरिकृतसमासः । तेषामष्टा-
 दशद्वीपानां भुवो भूमीप्रदेशान् जयति स्ववशीकुरुते । ‘नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्’
 इति नैषधे । तथा ‘अष्टादशद्वीपनिखातयूपः’ इति रघौ । च पुनर्यः परमेष्ठी नित-
 म्बिनी कान्तामङ्कपालीमालिङ्गनं न नयते न प्रापयति । ‘आलिङ्गनं परिष्वङ्गं सश्लेष
 उपगूहनम् । अङ्कपाली परीरम्भः’ इति हैम्याम् । क इव । प्रभुरिव । यथा अम्भसां
 पानीयानां स्वामी समुद्रस्तरङ्गिणीवेणिं नदीप्रवाहं नदीपूरं नदीनां स्वपत्नीत्वेनाश्लेषणं
 नयते लम्बयति । पुनर्यस्य परमात्मनो हृदा हृदयेन क्वचित्कुत्रापि समये प्रदेशे वा

रहसि वा प्रकट वा नर्म क्रीडा तदेव नर्मदा मेकलाचलजाता नदी नर्मदानाम्नी तस्या हृदो द्रहस्तस्यावगाहे विलोडने जलकेलिविवौ वा न द्विरदायित गजवदाचरितम् । प्रायो विन्ध्यपर्वतोत्पन्ना हस्तिनो विन्ध्योपकण्ठप्रवहन्नर्मदायामनिश स्वैर रमन्ते । यदुक्तम्—‘कौप वारि विलोक्य वारणपते कि विस्मितेनास्यते प्रायो भाजनमस्य सप्रति भवास्तत्पीयतामादरात् । उन्मज्जच्छफरीपुलिन्दललनापीनस्तनास्फालनस्फालीभूतमहोर्मिनिर्मलजला दूरे धुनी नर्मदा ॥’ इति गजाष्टके । पुनर्हे भूमण्डलाखण्डल, यो हेतीश्चापचक्रशूलगदाप्रमुखानि प्रहरणानि न विभर्ति । क इव । तनूनपादिव । यथा ‘वह्निर्हेती-ज्वाला धत्ते । ‘हेति प्रहरण शस्त्रम्’, तथा ‘हेति कीलाशिखा ज्वाला’ इति द्विक्रमपि हैम्याम् । पुनर्यं हिस्त्रवत् घातुक इव अहितान्वैरिणो न हिनस्ति न घातयति । पुनर्यं भव ससार भिनत्ति भनक्ति । क इव । करीव । यथा हस्ती पञ्जर काष्ठकोष्ठ भिनत्ति भेदयति । ‘जयकोईमणकमेलभसलभयपजरकुजर’ इत्यभयदेवसूरिकृतजयतिहुश्रणस्तोत्रे ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥ इति देवस्वरूपम् ॥

परिग्रहं यो जलमम्बुदाविलं मरालवन्मुञ्चति सन्न संसृतेः ।

प्रबोधशालीनिह यः प्ररोपयेत्कृपारसापूरितमानसावनौ ॥ ३१ ॥

प्रवर्तको यः सुगतेश्च दुर्गतेर्व्यनक्ति मार्गौ रविवच्छुभाशुभौ ।

भवात्तरन्स्वेन परांश्च तारयंस्तरीव वार्धौ गुरुरीदृशः स्मृतः ॥ ३२ ॥

हे साहे, य संसृतेः ससारस्य सन्न गृहभूत परिग्रह धन-वान्य-क्षेत्र-वस्तु-रूप्य-सुवर्ण-कुप्य-द्विपद-चतुष्पदरूप नवविधमपि स्वयमात्मना मुञ्चति जहाति । किवत् । मरालवत् । यथा राजहस अम्बुदेन प्रावृषेण्यप्रबलजलधरवारिवर्षणेन जम्बालजलप्लवागमनेनाविल पङ्किलीकृत जल सरसीसलिल त्यजति । ‘गङ्गानीरमपि त्यजन्ति कलुष ते राजहसा वयम्’ इति सूक्ते । पुनर्यं कृपारसेन कारुण्यामृतेन पूरिताया भरिताया पूर्णीकृताया वा मानस भविजनमन एवावनिर्भूमिस्तस्या प्रबोधा सम्यग्ज्ञानानि त एव शालयः कलमास्तान्प्ररोपयेत् वपेत् । जलभृतभूमौ हि शालय उप्यन्ते इति स्थिति । पुनर्यो रविवत्सूर्य इव शुभाशुभौ समीचीनासमीचीनौ मार्गौ पन्थानौ व्यनक्ति प्रकटयति । किंभूतौ मार्गौ । सुगते स्वर्गापवर्गस्य, तथा दुर्गतेर्नरकतिर्यक्त्वादिकुगते प्रवर्तक । हे साहे, ईदृश ईदृग्लक्षणो गृह्णाति तत्त्व सम्यग्मार्गं च स्वयं विज्ञाय भव्यजन्तूनुपदिशतीति गुरु स्मृत शास्त्रेषु कथित । किं कुर्वन् । भवात्ससारात् स्वेनात्मना तरन्पार प्राप्नुवन् च पुन परानन्यान् भविकास्तारयन्नुत्तारयन् परपार प्रापयन् । केव । तरीव । यथा नौवार्धौ समुद्रे स्वेन तरति पारे गच्छति परान् स्वाश्रितान् लोकाश्च तारयति परतीर लम्भयति ॥ युग्मम् ॥ इति गुरुस्वरूपम् ॥

जिनास्यपद्मे मकरन्दविभ्रमं दधद्विपत्पूषसुताप्रलम्बमित् ।

महोदयस्वर्गितरोरिवाङ्कुरः कृपापयोराशितमस्विनीपतिः ॥ ३३ ॥

नरोरगस्वर्गहसार्वभौमतादिमेन्दिरा यस्य वशंवदा सदा ।

पुनर्विधातेव भवान्तकारकः क्षितीन्द्र धर्मः पुनरीदृशः श्रिये ॥ ३४ ॥

हे क्षितीन्द्र धरित्रीसहस्रनेत्र, ईदृशो विश्वे ईदृगलक्षणः ससारसमुद्रमध्यमज्जत्समस्त-जनताना धारणादुद्धारणाद्धर्मः श्रिये मोक्षलक्ष्म्यै भवति । किं कुर्वन् । जिनस्य राग-द्वेषाद्यशेषविद्वेषितु परमेश्वरस्यास्यपद्मे वदनकमले मकरन्दविभ्रम मधुविलास दधद्वारयन् । सर्वज्ञप्रणीत इत्यर्थः । किलक्षण । विपदापद्रूपा या पूषसुता सूर्यपुत्री यमुना तद्भिदाया प्रलम्बभिद्वलभद्रोपम । 'रुक्मिप्रलम्बयमुनाभित्' इति हैम्याम् । आपद्र-ल्लोना मूलोन्मूलनकृदित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—महोदयो मोक्ष स एव स्वर्गितरु कल्पद्रुम-स्तस्याङ्कुर प्ररोह । यथाङ्कुरात्तरुर्जायते तथा धर्मादेव सर्वदुःखक्षयः स्यादिति । पुनः किभूत । कृपा जगज्जीवानुकम्पा सैव पयोराशिः समुद्रस्तद्वर्धने तमस्विनीपति विबुधः । यथा चन्द्रात्समुद्रो वर्धते, तथा धर्मादपि दयापि वर्धमाना भवति । जीवदयामय इत्यर्थः । पुनर्यस्य धर्मस्य नरा मनुष्या, उरगा नागा, स्वर्गहा पुरा, तेषां सार्वभौमाश्चक्रवर्तिनस्तेषां भावो नरोरगस्वर्गहसार्वभौमता नरेन्द्रता नागेन्द्रता असुरेन्द्रता देवेन्द्रता ता आदिमा यस्यास्तादृश्य इन्दिरा सर्वश्रियो लक्ष्म्यो यस्य सदा नित्य वशवदा आयत्ता य ददाति त श्रयन्ते पुनः विधाता ब्रह्मा इव भवस्य ससारस्यान्तकारकः घातुक विधातापि भवान्तकृन्नामा ॥ युग्मम् ॥ इति वर्मस्वरूपम् ॥

जनुष्मता शालिशया इवात्मनापुनर्भवोद्भावविधायिनोऽनिशम् ।

त्रयोऽप्यमी सन्ति समग्रमेदिनीधवावतंसीकृतपादपङ्कज ॥ ३५ ॥

समग्रा ये मेदिनीधवा पृथिवीपतयो राजानस्तैरवतसीकृत शिखरीप्रणीत पादपङ्कज यस्य स तस्य संबोधने । अमी देवो गुरुर्वर्मश्च त्रयोऽपि जनुष्मता जन्मभाजा भविकाना शालिशया शोभनशीला पाणय इव आत्मना स्वयमपुनर्भवस्य न विद्यते पुनस्ततोऽत्रागत्य द्वितीयवारं भव उत्पत्तिर्यस्मात्तादृशो मोक्ष तस्य तथा पुनर्भवानामुद्भावः प्रकटीभवनं तं विदवते कुर्वते इत्येवशीलाः मुक्तिकारिणो विद्यन्ते सन्ति ॥ इति सुवर्मदेवगुरुनिरूपणम् ॥

शिवस्त्रिनेत्रीमिव भूमिमानिव त्रिशक्ति विद्यात्रितयी सुधीरिव ।

अचालनीया सुरशैलवत्सुरैस्तदर्हदादित्रितयीमहं वहे ॥ ३६ ॥

हे साहे, अहं तत्पूर्वव्यावर्णितस्वरूपामर्हदादीनां जिनगुरुवर्माणां त्रितयीं वहे स्वेन धारयामि । किंभूताम् । सुरैर्देवैरप्याचालनीयां चालयितुमशक्याम् । किवत् । सुरशैलवद्यथा मेरुः केनापि न चाल्यते । अहं वहे । क इव । शिव इव । यथा ईश्वरस्त्रिनेत्री लोचनत्रितयं वहति । 'एकत्रिदृग्भालदृगेकपादः' इति हैम्याम् । यदुक्तं च—'गतियुगलकमेवोन्मत्तपुष्पोत्कराणां त्रिनयनतनुपूजा वाथ वा भूमिपातः' इति । पुनः क इव । भूमिमानिव । यथा राजा तिसृणां प्रभुत्व—उत्साह—मन्त्रलक्षणानां त्रिकसख्याकानां शक्तीनां

समाहारद्विशक्ति शक्तित्रिक धत्ते । 'शक्तयस्तिष्ठ प्रभुत्वोत्साहमन्त्रजा.' इति हैम्याम् ।
 'त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्' इति रघौ । पुन क इव । सुधीरिव । यथा विद्वान्
 विद्याना व्याकरण—साहित्य—तर्कलक्षणाना त्रितयी विभर्ति । भुवनवलिवहिविद्या सध्या-
 गजवाजिना भुवननेत्राणि' इति काव्यकल्पलतायाम् । त्रिसख्याकानि ॥ इति साहेः
 पुरः सूरिभि स्वस्य तत्त्वत्रयाराधन प्रोक्तम् ॥

कति व्रतानीह वहध्वमात्मना परेण शक्यानि न वोढुमद्रिवत् ।

इद नृपे पृच्छति भारती विभोर्मुखारविन्दे मधुपी बभूवुषी ॥ ३७ ॥

विभोर्हीरगुरोर्मुखारविन्दे वदनपद्मे भारती वाणी मधुपी बभूवुषी भ्रमरी सजायते
 स्म । प्रोवाचेत्यर्थ । कस्मिन् सति । नृपे अकब्बरे इद निगद्यमान पृच्छति प्रश्न कुर्वति
 सति । इद किम् । हे सूरय , इह जगति सयममार्गे वा यूयमात्मना स्वेन कति
 कियत्सख्याकानि व्रतानि नियमविशेषान् वहध्व वारयत पालयत वा यानि व्रतानि
 परेण असत्त्वेन क्लीबप्रायेण पुसा वोढु वारयितु न शक्यानि न समर्थानि । किवत् ।
 अद्रिवत् । यथा विष्णुव्यतिरेकेणेत्यध्याहार । पर्वतोऽन्येन केनचिद्वोढु न शक्यते ।
 'सोमसिन्धुर्जगन्नाथो गोवर्धनवरोऽपि च' इति विष्णुनामसु हैम्याम् ॥ इति सूरीणा
 कियद्रतवारणविषये साहे प्रश्न ॥

वसुधराभोग इवामराचलान्सुपर्वसालानिव काञ्चनाचलः ।

अहं वहे पञ्चमहाव्रतानमून्स्वविक्रमाधःकृतपाकशासन ॥ ३८ ॥

हे स्वविक्रमेण निजभुजवीर्येण कृत्वा अध कृतो हीनीकृतस्तिरस्कार नीतो वा पाक-
 शासनो वज्रपाणिर्येन तस्य सबोधनम् । अहममूनग्रे वक्ष्यमाणान्प्रोच्यमानान्पञ्चसख्या-
 कान्महाव्रतान् सर्वेभ्योऽप्यतिशायिनियमान्वहे विभर्ति । व्रतशब्द पुनपुसके ।
 'व्रतोपवीतौ पलिलिन्तौ वसन्त' इति लिङ्गानुशासने । क इव । वसुधराभोग इव । यथा
 वसुधराया सार्वद्वयद्वीपलक्षणमनुष्यक्षेत्रभूमेराभोगो विस्तार पञ्चामराचलान्मेरून्
 विभर्ति । एको जम्बूद्वीपे, द्वितीयो वातुकीखण्डपूर्वार्धे, तृतीयो वातुकीखण्डपश्चिमार्धे,
 चतुर्थ पुष्करार्धपूर्वार्धे, पञ्चम पुष्करार्धपश्चिमार्धे, एव पञ्च काञ्चनाचलान् वत्ते । पुनः
 क इव । काञ्चनाचल इव । यथा मेरु कल्प—पारिजात—मन्दार—हरिचन्दन—सताना-
 मिधानान्पञ्च सुपर्वसालान् सुरद्रुमान् कलयति ॥

क्षितीन्द्र तेषामिदमादिमं व्रतं समन्तवो मन्तुमुचोऽपि जन्तवः ।

न पञ्चतागोचरचारिणः कचित्रिधा क्रियन्ते निजनन्दना इव ॥ ३९ ॥

हे क्षितीन्द्र, तेषा पञ्चाना महाव्रताना मध्ये इदमुच्यमानमादिम प्रथम व्रत वर्तते ।
 तदेवाह—यत्कचित्प्रदेशे ग्रामे अरण्ये वा रहसि प्रकट वा प्रमोदेन दर्पेण सकल्पेन
 वा त्रिधा मनोवाक्यायै कृत्वा समन्तव सापराधा अपि पुन मन्तुमपराव मुञ्चन्ति

त्यजन्ति ते निरपराधा जन्तव प्राणिन पञ्चताया पञ्चत्वस्य मृतेर्गोचरे विषये
चरन्ति व्रजन्तीति एवशीला नैव क्रियन्ते सर्वथा नैव हन्यन्ते । के इव । निजन-
न्दना इव । यथा स्वपुत्राः पञ्चताया गोचरा केनचित्पित्रा न क्रियन्ते तथा सर्वेऽपि
जगज्जन्तवः पाल्यन्ते एव ॥

न देवदेवः परमेशितुः परः प्रतापवान्नापि पयोजिनीपते ।

गुरुर्ममेरुर्न मरुर्मणेर्मणिस्तथा न धर्मोऽस्ति दयाविधेः परः ॥ ४० ॥

हे देवशब्देन राजभट्टारकादिरुच्यते । ‘राजा भट्टारको देव प्रयोज्या पूज्यना-
मत ’ इति हैम्याम् । तथा ‘देव त्वद्भुजदण्डदर्पगरिमोद्गीर्णप्रतापानल-’, ‘देवे दिग्वि-
जयोद्यते’ इति खण्डप्रशस्तौ । तथा ‘देव त्व जय कासि लुब्धकवधूर्हस्ते किमेतत्प-
लम्’ इत्यादि भोजप्रबन्धादावपि । तथा ‘देवेन कि न श्रुतम्’ इति चम्पूकथायाम् ।
यथा परमेशितु परमेश्वरात्परो देवो नास्ति । अथ वा परमेश्वरादपर देवाना भवनप-
तिवानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकाना सुराणामपि देव पूज्य एतावता देवाविदेव ।
अपरे सर्वे हरिहरपुरदरादयो देवा , परमेश्वरस्तु देवदेवः, तथा यथा पयोजिनीपते.
सूर्यात्पर प्रतापवान्महस्वी तेजस्वी नास्ति । पुनर्यथा मेरोर्लक्षयोजनप्रमाणात्सुदर्शन-
नाम्न स्वर्णाचलात् कोऽपि गुरुर्महान्नास्ति । सर्वेऽप्यपरेऽत्युच्चाश्चतुरशीतियोजनमाना ,
अथ तु शतसहस्रयोजनोच्चैस्तर । पुनर्यथा मरुर्मणेश्चिन्तारत्नात्परो मणिर्नास्ति वज्रप-
द्मरागकर्केतनमरकतेन्द्रनीललोहिताक्षपुलिन्दाञ्जनहसगर्भादयोऽनेकेऽपि मणय सन्ति,
पर चिन्तामणि विना सर्वकामकर कोऽपि नास्ति । यथा दयानिधे कृपाकरादपरो
धर्मो न वर्तते । ‘नास्ति धर्मो दयापर ’ इति गीतायाम् ॥ इति प्रथम व्रतम् ॥

वदन्ति वाचंयमपुगवास्त्रिधा मृषा न भाषामपि जीवितव्यये ।

इय यदंहःपटलीव दुर्गतेर्विमानताया अतिशायि कारणम् ॥ ४१ ॥

हे साहे, वाचयमपुगवा साधुसिन्धुरा जीवितव्यये प्राणत्यागेऽपि त्रिधा मनोवचन-
कायै कृत्वा मृषा अलीका भाषा वाच न वदन्ति न ब्रुवन्ति । यत्कारणादिय मृषा
भाषा विमानताया अवगणनाया पदे पदे अपमानस्य अतिशयते सर्वेभ्योऽभ्यविकीभ-
वतीत्येवशीलमतिशायि कारण साधन वर्तते । मिथ्याभाषी सर्वत्राप्यपमान पराभव
च प्राप्नुयात् । केव । अह पटलीव । यथा अहसा दुष्कृताना पटली परम्परा दुर्गतेर-
तिशायि साधनमास्ते ॥

यशःसुधाशोरपिधायिका कुहूरिवादशालोलदृशः प्रियासखी ।

समूहनीवारजसामिवाङ्गिना गुणावलीनामनृता हि भारती ॥ ४२ ॥

हे साहे, निश्चितमनृता असत्या भारती वाणी मृषा भाषा कुहूरमावासेव यशः
जगत्प्रसारिकीर्तिकलाप स एव सुधाशुश्चन्द्रमास्तस्यापिधायिका । ‘व्रजति कुमुदे मोह
दृष्ट्वा दृशोरपिधायिका’ इति नैषधे । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—अत्र इवशब्दो घण्टालालान्यायेन

उभयत्र योज्यते । अदशा विरुद्धदशा । तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु नञ् वर्तते सारस्व-
तोक्ते । दुर्दशा सैव लोलहृक्कामिनी तस्या प्रियसखी इष्टवयसीव । च पुनरुत्प्रेक्ष्यते—
अङ्गिना प्राणिना गुणाना शीललज्जार्जवमार्दवादीनामावलीना धोरणीना समूहनी समा-
र्जनीव । लोके 'सारवणी' इति प्रसिद्धा । केषामिव । रजसामिव । यथा धूलीना गृहा-
दिकत्ववरकाणा प्रमार्जनकारिका । निष्काशयित्रीत्यर्थः ॥ इति द्वितीय व्रतम् ॥

तृणादि नोपाददते च किचनाप्यदीयमानं मुनयो महीमणे ।

पदं किलाविश्वसितेरिवैकदृक्ततेररिष्टः पृथिवीपुरंदर ॥ ४३ ॥

हे महीमणे भूमीरत्न, च पुनर्मुनय साधव तृणादि दन्तशोवनमात्रप्रमुख किञ्चि-
दपि वस्तु अदीयमान केनाप्यविश्राण्यमान नोपाददते नैव गृह्णन्ति । हे पृथिवीपुरंदर
मेदिनीमण्डलाखण्डल, किलेति निश्चित श्रूयते वा । हेतोर्वा । 'किल सभाव्यवार्तयो' ।
हेत्वरुच्योरलीके च' इत्यनेकार्थः । अस्माक तु सर्वथापि तत्कारणाभावात् लोके जने
एवाकर्ण्यते । अदत्तादान वस्तु स्वामिना कथमप्यदीयमानवस्तुनो ग्रहणमविश्वसितेरवि-
श्वासस्य पद स्थानमास्ते । क इव । अरिष्ट इव । यथा निम्बतरु । 'निम्बोऽरिष्ट पित्तु-
मन्द' इति हैम्याम् । एकदृक्तते काकश्रेण्या निवासस्थान स्यात् ॥

अदत्तमादत्त न यस्त्रिधापि तं वृणोति विद्येव विनीतमिन्दिरा ।

मृगी मृगेन्द्रादिव दुर्गतिस्ततः प्रयाति दूरादवनीनभोमणे ॥ ४४ ॥

हे अवनीनभोमणे प्रतापवत्त्वाद्भूमीभानो, य पुमान् त्रिधापि मनोवचनतनुभिः
कृत्वा अदत्त वस्तु स्वामिना न विश्राणित यो नादत्त न जग्राह त पुमास इन्दिरा
लक्ष्मी स्वयमागत्य वृणोति वरयति । भजते इत्यर्थः । कमिव । विनीतमिव । यथा
विनयवन्त शिष्य विद्या निषेवते पुनस्ततस्तस्मान्नि स्पृहान्नरादुर्गतिर्नरकादिकुगतिर्दूरा-
त्प्रयाति पालयते । क इव । मृगीव । यथा मृगेन्द्रान्मृगी कुरङ्गी दूरात्प्रयाति ॥ इति
तृतीय व्रतम् ॥

पराङ्मुखी स्याद्विषयाद्भ्रतिव्रजो निकुञ्जवासीव तदेकभूमिषु ।

क्षमाधरो येन महोदयगमी वशास्वनीतिष्विव कोऽनुरज्यते ॥ ४५ ॥

हे साहे, व्रतिव्रजो मुनिगणो विषयात् शब्द-रूप-गन्ध-रस-स्पर्शलक्षणात्पञ्चप्रमा-
णाद्भोचरात्पराङ्मुखी स्यात् विमुखो विरक्तो भवेत् । क इव । निकुञ्जवासीव । यथा वने
एव वसनशीलो जन्तु श्वापदादिर्विषयाज्जनपदाद्विमुख स्यात्कदाचिन्नगरग्रामादिषु नाग-
च्छेत् । येन कारणेन क्षमाया क्षान्ते. क्षमाया उपशमस्य वा धरो धर्ता पुनर्महोदय
मोक्ष गमिष्यति यास्यतीत्येवशील साधुस्तदेकभूमिषु तेषा पञ्चानामपि विषयाणामेका
अद्वैता भूमयो वासवेश्मानि । नहि वाणिनी विना विषया सुखाय स्युः । तादृशीषु
वशासु स्त्रीषु न अनुरज्यते अनुरक्तीभवति । कास्त्रिव । अनीतिष्विव । यथा क्षमाधरो
युवराजपदवीं प्रापितः सर्वराज्यधुरवर पुनर्महान्त सर्वातिशायिनमुदय राज्यैश्वर्य

गमिष्यति लप्स्यते इत्येवशील । अथ वा क्षमावरो जनकेन निजनिजराज्ये स्था-
पित । पुनर्महान्त सार्वभौमतादिलक्षणमुदयमाधिपत्य प्राप्स्यते इत्येवशील ।
तादृश क । अनीतिष्वन्यायेषु अनुरागवान् भवेत् । उदयाभिलाषी सर्वोऽपि न्यायेष्वे-
वानुरज्यते । यदुक्तम्—‘न निमित्तद्विषा क्षेम नायुर्वैद्यकविद्विषाम् । न श्रीर्नीतिद्विषा-
मेतत्रय धर्मद्विषा नहि ॥’ इति ॥

यतः स शूरः सुदृशां भ्रुवं धनुः कटाक्षबाणान्कवरीकृपाणभृत् ।

नितम्बचक्रं भुजपाशमुत्कटं पुनर्वहन्येन जितः स्मरप्रभुः ॥ ४६ ॥

हे मुद्गलेन्द्र, स एव पुमान् शूर सुभट । कथ्यते इति शेष । येन पुसा स्मर एव
प्रभु त्रिजगज्जेतृत्वात्समर्थो राजा इन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्राणामपि स्वसेवकीकरणाद्राजा जितो
वशीकृतो हतो वा । किं कुर्वन् । सुदृशा चारुलोचनाना भ्रुवमेव धनु कोदण्डम्, पुन
कटाक्षानपाङ्गदर्शनान्यक्षिविकूणितानि एव बाणान्नाराचान्, पुनर्नितम्बमारोह स्त्रीकटीप-
श्चात्प्रदेशम् । येन कृत्वा नितम्बिनीत्यभिधानेन प्रसिद्धा । तदेव चक्र रथाङ्गायुवम् ।
पुनरुत्कट केनापि छेत्तुमशक्य भुजौ बाहू एव पाश द्विषद्वन्वनार्थं वज्ररज्जुमयग्रन्थि
वहन् वारयन् । किंभूत । कवरी वेणीमेव कृपाण चन्द्रहास बिभर्तीति भृत् । प्रभु
सकलसुरासुरोरगनरनायकनिर्जयेन सामर्थ्यवानिति साभिप्राय प्रभुरिति पदम् ॥

स भद्रवांस्त्रैणकुचाचलान्तिकप्ररूढरोमावलिसालगह्वरे ।

न दस्युवद्यस्य मनोभुवा शमश्रियो ह्रियन्ते शिवमार्गगामिनः ॥ ४७ ॥

हे साहे, स नरो भद्रवान् कुशली । स क । शिवे निरुपद्रवे मार्गे पथि मोक्षमार्गे वा
गच्छतीत्येवशीलस्य यस्य महात्मनो दस्युवत्तत्स्करेणेव । ‘दस्युस्तस्करविद्विषो’ इत्यने-
कार्थः । मनोभुवा मदनेन शमश्रिय प्रशमविभवा न ह्रियन्ते नाच्छिद्य गृह्यन्ते ।
कस्मिन्निषये । त्रैणस्य स्त्रीसमूहस्य कुचा प्रोत्तङ्गपीनपयोधरास्त एवाचला पर्वतास्तेषा-
मन्तिके समीपे प्ररूढा उद्गता या रोमावल्यो लोमलेखास्ता एव साला विविधविटपवृ-
क्षास्तेषा गह्वरे घननिकुञ्जे तस्करश्वापदादिभयकरकानने ॥

यशस्त्रियामादयिते कलङ्कति द्विपेन्द्रति क्षीरधिसूनुवीरुधि ।

शमारविन्दे तुहिनोदवृन्दति व्रताम्बुवाहेष्वपि गन्धवाहति ॥ ४८ ॥

निदाघति व्रीडवहा पयःप्लवे महत्त्वगोत्रे च सहस्रनेत्रति ।

गुणद्रुमद्रोणिषु मन्त्रजिह्वति क्षितीश शील पुरुषेण खण्डितम् ॥ ४९ ॥

हे क्षितीश भूपते, पुरुषेण उपलक्षणाद्विशेषेण स्त्रिया वा शील ब्रह्मचर्यं स्वदारसतो-
षलक्षण परपुरुषत्यागलक्षण यावजीवनियमपालनविव वा खण्डितं त्यक्तं भग्नं सत् ।
तस्येति शेषः । यश कीर्तिरेव त्रियामादयित शारदीनचन्द्रस्तस्मिन्कलङ्कति लाञ्छ-
नमिवाचरति । सकलङ्क स्वयशो मलिनीकरोति । पुन क्षीरधेः क्षीरसमुद्रस्य सूनु

हते । ‘फुफुमात्रिसदङ्गारी’ इति वचनात् । धारयतीति । किवत् । वनीवत् । यथा कान्तारं मदननामान द्रुमम् । ‘मीढुल’ इति प्रसिद्ध लोके । अवगाहते बिभर्तीति । ‘स्ववनी-सप्रवदत्पिकापि का’ इति नैषधे । पुन किभूता । जिह्वागामिनी जिह्वा वक्र गच्छतीत्येवशीला । केव । महेलेव । यथा अहेर्भुजगमस्य महेला वनिता भुजगी कुटिलचारिणी भवेत् । पुन किभूता । निम्न नीचैर्हीनतमकर्मभिर्गच्छति विचरतीत्येवशीला । अथ वा निम्नेषु नीचजातिषु गच्छन्ति सङ्ग कुर्वन्तीत्येवशीला । ‘कामिन्यो नीचगामिन्य’ इति वचनात् । नीचसक्ता प्राय स्युः । केव । वधूरिव । यथा पयोधे समुद्रस्य वधू पत्नी नदी निम्नगा नीचैर्वहा जलस्य निम्नगतित्वान्नान्नापि च । पुन किभूता । अथै पापकर्मभि कृत्वा भवपद्धते ससाररचनाया अथ वा ससारपरम्पराया ससारमार्गस्य वा । ‘पद्धति पथि पक्तौ च’ इत्यनेकार्थं । एतेषा समीचीना पद्धतिरित्यपि रूढ्या दृश्यते । पद्धतिराचरणं रचनापीति । तस्या विवर्धिनी विशेषेण वृद्धिकरणशीला च तत्र विवर्धिनी । केव । मेघमालिकेव । यथा कादम्बिनी जलै पानीयै वहाया नद्या वृद्धिकारिणी । यदुक्तम्—‘वर्षानदीना पतिरङ्गनानामर्थो नराणामृतुराट् तरुणाम् । स वर्मचारी नृपति प्रजाना लोकागत यौवनमानयन्ति ॥’ इति ॥ युग्मम् ॥

पुर,सरास्तस्य सुरा मरुद्गवी गृहाङ्गणे पाणितले मरुन्मणि ।

पुरः सुरद्रुर्निकटे मरुद्धटः स्वयंवराः स्युर्भुवनत्रयीश्रियः ॥ ५२ ॥

प्रदक्षिणो दक्षिणवारिजः पुनः खलाः सखायः सविधे च शेवधिः ।

न चित्रकृच्चित्रलता च सिद्धयः करेऽदधाद्योऽसिशिखोपम व्रतम् ॥ ५३ ॥

हे साहे, यः पुमानसिशिखाया खङ्गधाराया उपमा सादृश्य यस्य तादृश व्रत ब्रह्मचर्यमदधाद्वारयति स्म तस्य पुसः सुरा देवा पुर सरा अग्रगामिनस्तदग्रे पदातिवद्गच्छन्ति । पुनर्मरुद्गवी कामधेनु गृहप्रसूता क्रीतगृहीता वा गौरिव गृहाङ्गणे तिष्ठेत् । मरुन्मणिश्चिन्तारत्न तस्य पाणितले करक्रोडे हस्तेलिकायामेव वसेत् । पुन सुरद्रुम कल्पवृक्ष पुर पुरस्तात् च्छायाकारक इव तिष्ठेत् । पुन मरुद्धट कामकुम्भ निकटे समीपप्रदेशे पानीयपायक इव तिष्ठेत् । पार्श्ववर्तीव वा स्यात् । पुनर्भुवनत्रयीश्रिय त्रैलोक्यलक्ष्म्य स्वयंवरा आत्मभिरेवागत्य त वृण्वते । पुनर्दक्षिणोऽपसव्यप्रदेशे आवर्तो यस्य स चासौ वारिजश्च । मध्यमपदलोपी समास । दक्षिणावर्तशङ्ख प्रदक्षिणोऽनुकूल मार्गित विनैव सर्व समीहित पूरयति । ‘कम्बुस्तु वारिजः’ इति हैम्याम् । खला द्विजिह्वा दुर्जना सखायो मित्राणि भवन्ति । च पुन शेवधिर्निधान सविधे पृष्ठे अनुलग्नमिवायाति च । पुनश्चित्रलता चित्रकवल्ली न चित्रकृत् । अद्रष्टीणामाश्चर्यकारिणी स्यात्तस्य तु पदे पदे तत्प्राप्तित्वेन न विस्मयविधायिनी । तद्गृह एवोद्गमनत्वेन वा भवेत् । च पुन सिद्धय लघिमा-वशिता-ऐश्वर्य-प्राकाम्य-महिमा-अणिमा-यत्र कामावसायित्वम्-प्राप्तिः-इत्यैश्वर्यम् । अष्टावपि सासारिका महासिद्धयः । करे हस्ते

मनोनुगामिन्यः हस्ततलस्थायिन्यो वा । महत्त्वाद्बहुवचनम् । सिद्धयो मुक्तयोऽपि हस्ते ॥ युग्मम् ॥

गजोऽप्यजो गोष्पदमम्बुधिर्मृगो मृगाधिपः स्रग्भुजगस्तमी दिनम् ।

रणः क्षणश्चाल्पगिरिर्मरुद्गिरिस्त्रिधापि यो ब्रह्म बिभर्ति भूपते ॥ ५४ ॥

हे भूपते, य पुमान् महिला वा त्रिधापि मनोवाक्कायैर्ब्रह्म शीलव्रत परनारीसहो-
दरता बिभर्ति धत्ते, तस्य पुसस्तस्या स्त्रियो वा गजो मदोद्गुरसिन्धुरोऽपि अजश्छाग-
प्रायः स्यात् । पुनरम्बुधिः समुद्रोऽपि गोष्पद गोखुरोत्खातभूमिस्थजलमिव तेन तथा
बोल्लङ्घ्यते । पुनर्मृगाधिप पञ्चाननोऽपि मृगो हरिण इव तस्या दूरं पलायते । पुनर्भुजगो
विषधरोऽपि तेन स्रगिव कुसुममालिकेव तथा चाकरे गृह्यते । तमी सान्धकारा रात्रि-
दिनमिव तस्य तस्या वा जायते । रणो घोरोऽपि सग्राम क्षण उत्सव इव बिभर्ति । पुन-
र्मरुद्गिरिः सुराचलोऽपि अल्पगिरिः किञ्चिदुच्चपाषाणभूमिरिवावरुह्यते ॥ इति चतुर्थ
ब्रह्मव्रतम् ॥

परिग्रहः सयमिनापवादवन्निधापि नाङ्गीक्रियते कदाचन ।

तमस्तमीनामुदयादिवोरगाद्विषं यतो दोषभरः परिस्फुरेत् ॥ ५५ ॥

हे भूपते, सयमिना चारित्रवता साधुना त्रिधापि मनोवचनतनुभिरपि अपवा-
दोऽपयश इव । कदाचन कस्मिन्नपि प्रस्तावे सुखे दुःखे वा सुकाले दुःकाले वा सुखा-
जीविकाया कष्टाजीविकाया वा परिग्रहो धनधान्यक्षेत्रवस्तुसुवर्णरूप्यकुप्यद्विपदच-
तुष्पदलक्षणो नाङ्गीक्रियते नाद्रियते । यतो यस्मात्परिग्रहादोषाणा निकेतानि दाक्षि-
ण्यलोभाद्यपगुणाना भरो गणः परिस्फुरेत् । किमिव । तम इव । यथा तमीना कृष्ण-
पक्षक्षपाणामुदयात्प्रकटीभावात्परिभावाद्वा तमो घोरोऽन्धकार स्फुरेत् । परि समन्तात्स-
र्वविश्वान्तः स्फूर्तिमत्पृथात् विश्वव्यापिस्फूर्तिमद्भवेत् । पुनः किमिव । विषमिव । यथा
उरगाद्भुजगमाद्भ्रूलमाविर्भवेत् ॥

गिरीन्द्रमारोहति लङ्घतेऽम्बुधीन्प्रयाति जन्यं गहनं च गाहते ।

असूस्तृणानीव सृजेन्निजाञ्जनस्तदुल्लसल्लोभविजृम्भित विभो ॥ ५६ ॥

हे विभो हे साहे, यज्जनो लोकः गिरीन्द्र तुङ्गशैलमारोहति पर्वतोपरितलशिखर-
शिखाया चढति, पुनर्यदम्बुधीन् समुद्रान् लङ्घते यानपात्रादिभिः कथं कथंचिदति-
क्रामति अपार पारावार प्रतीर्य पारपार याति । पुनर्यज्जन्य दुराकलनीयरणाङ्गण
प्रयाति प्रविशति । च पुनर्गहन भयानक कानन कान्तार गाहते सर्वतः परिभ्राम्यति ।
पुनर्जनो निजानात्मीयानसून्प्राणान् तृणानीव तृणप्रायान् सृजेत् कुर्यात् । हे राजन्, तत्
पूर्वोक्तं सर्वमपि उल्लसन् वर्धमान प्रकटीभवन् वा यो लोभस्तृष्णा तस्य विजृम्भित
विस्फूर्जित प्रभावः ॥ इति पञ्चम व्रतम् ॥

वहन्ति पञ्च व्रतिनो महाव्रतान्यमूनि वक्राणि मृगाङ्गमौलिवत् ।

भजन्ति दन्तद्वितयीं गजा इवापरामिमा देव पुनर्व्रतद्वयीम् ॥ ९७ ॥

हे साहे, व्रतिनो नियमवन्तः साधवः अमूनि प्राणातिपातविरमण—मृषावादविरमण—
अदत्तादानविरमण—विषयभोगविरमण—परिग्रहविरमणलक्षणानि पञ्चसख्याकानि महा-
व्रतानि मेरुवटुरुद्धराण्यतिशायिनो नियमान् वहन्ति धारयन्ति । किवत् । मृगाङ्गमौलि-
वत् । यथा चन्द्रशेखरः शिवः पञ्चप्रमाणानि वक्राणि वदनानि बिभर्ति । ‘पञ्चमुखोऽष्टमूर्तिः’
इति हैम्याम् । अथ वा ‘महामृगारिवत्’ इति पाठः । यथा मृगाणां हस्तिनामरयः केस-
रिणः पञ्चवक्राणि बिभ्रति । ‘पञ्चास्यो नखरायुधः’ इति हैम्याम् । हे देव, पुनः साधवः
इमामग्रे वक्ष्यमाणामपरा पञ्चमहाव्रतानि उपरितनी व्रतद्वयीं भजन्ति श्रयन्ते । के इव ।
गजा इव । यथा हस्तिनो दन्तद्वितयी दन्तकोशयुगलं दधते ॥ इति पञ्चमहाव्रतस्वरूपम् ॥

निशाशनं नीतिजुषा निषिध्यते परिप्लुतापानमिवावनीपते ।

निशाशनेभ्योऽपि वरविहंगमा निशि त्यजन्तो यतिवज्जलाशने ॥ ९८ ॥

हे अवनीपते, नीतिजुषा न्यायधर्मवता धर्मे सुनिष्ठावता पुरुषेण परिप्लुतापानमदिरा-
पानमिव । ‘गन्धोत्तमाकल्पमिरापरिप्लुता’ इति हैम्याम् । निशाशनं रात्रिभोजनं निषि-
ध्यते निवार्यते स्वयं नाद्रियते । हे नृपते, निशाया रात्रावशनं भोजनं येषां ते निशा-
शना रात्रिभोजनास्तेभ्यो जनेभ्यः सकाशात् विहंगमा पक्षिणोऽपि वरसमीचीनाः ।
वरमिति समीचीनाथेऽपि दृश्यते । यथा सिन्दूरप्रकरे—‘वरक्षिप्तो हस्तः कुपितफ-
णिनो वक्रकुहरे वरझम्पापातो ज्वलदनलकुण्डे विरचितः । वरप्रासप्रान्तं सपदि
जठरान्तर्विरचितो न जन्यदौर्जन्यं तदपि विपदा सद्यः विदुषाम् ॥’ इति । किं
कुर्वन्तः । यतिवन्मुनय इव । निशि रात्रौ जलाशने पानीयान्ने त्यजन्तो मुञ्चन्तः न
भुजन्तः पिबन्तश्च ॥

गवामधीश भुवनोपकारिणं महस्विनं श्रीजिनपादसेवितम् ।

अवेत्यमित्रं विधुरं विधीयतेऽशनादि यत्सा कथमौचिती सताम् ॥ ९९ ॥

हे साहे, गवामधीश राजानपति भास्कर धेनूनामधीश कृष्णनन्दगोपाङ्गजत्वाद्गो-
कुलवासित्वाद्भजनाथत्वाच्च गवावाचामधीश वागीशत्वाद्गुरुवाचस्पतिमध्येतारवि-
धुरमस्तप्राप्तमृतम् । ‘दिष्टान्तोऽस्तकालवर्मः’ इति हैम्याम् । अवेत्यज्ञात्वा यदशना-
दिभोजनप्रमुखरङ्गसुखकारणं विधीयते क्रियते, सा सतामुत्तमाना कथमौचिती केन
प्रकारेण योग्यता । अपि तु नैव । किंभूतस्य । भुवनोपकारिणः । जगतो भूलोकस्य पाल-
नादुपकारको राजा द्यावापृथिव्योरुद्द्योतकर्तृत्वात्सदसन्मार्गप्रकाशत्वान्मित्रत्वाच्चोपकर्ता
भास्वान् जगदुपद्रवकृद्दैत्यनिवारकत्वात्पालकत्वात्सष्टेरुपकर्ता कृष्णः अज्ञानान्धकार-
च्छेदत्वात् ज्ञानविवेकदायकत्वाद्गुरुः । पुनः किंभूतम् । महस्विनः प्रतापवन्तः नृपकि-
रणमालिनः भानुमुत्सववन्तः कृष्णविद्यावत्त्वात्सर्वदाप्युत्सववत्त्वाद्गुरुः । अद्याप्युत्सवाना

जायमानत्वेन विष्णो । 'एन महस्विनमुपैहि सदारुणोच्चैः' इति नैषधे । महस्शब्दः सकारान्तोऽप्युत्सववाची वर्तते । 'महस्तेज उत्सवश्च' इति तद्वृत्तिः । पुन किभूतः । श्रिया चतुस्त्रिंशदतिशयलक्ष्म्या तस्या कादाचित्कत्वेन सदा केवलोत्पत्ति मर्यादीकृत्य महानन्दनगरावाप्तिपर्यन्तमष्टमहाप्रातिहार्यलक्ष्म्या युक्तो जिनस्तीर्थकृदन्यतरः श्राद्धत्वेन त सेवते इत्येवशील नृप , तथा श्रिया पाथोधिपुत्र्या युक्तस्तस्याः पतित्वाल्लक्ष्मीयुक्तत्वं जिनो विष्णुस्तत्पदसेवित विष्णुपदे व्योम्नि स्थितिमत्त्वेन भानु कमलाकलितकुण्ठवासिनः समुद्रशायिनो जिनस्य वैकुण्ठस्य पादमश शीलत्येवशील कृष्णस्याशावतारत्वेन न सर्वावतारित्व किं तु दशानामप्यशावतारित्वमेव । गुरोर्बृहस्पते स्वर्गस्थायुकत्वेन निजकृष्णस्य सेवन सुकरमेव । गुरोस्त्वन्यतर कश्चिज्जिनो बौद्धो विष्णुरर्हन्वा एतेषामन्यतरशासनस्थत्वात् । पुन किभूतम् । मित्र सखाय राजन्यपि कुत्रचित्सेवकादौ हितान्वेषित्वेन मैत्र्य सभाव्यते न सर्वेऽपि नृपा कृतघ्ना । यदुक्तम्—'सुहृदि निरन्तरचित्ते गुणवति भृत्ये प्रियासु नारीषु । स्वामिनि सौहृदयुक्ते निवेद्य दुःख सुखीभवति ॥' इति सूत्रोक्तत्वात् । तथा भास्वान्मित्रनामा कुमोदत्वात् मित्रवत्सर्वजनानां दैत्याद्युपद्रवनिराकरणेनानन्दोत्पादत्वाद्विष्णोर्गुरोस्तु । 'प्राप्ते षोडशमे वर्षे पुत्र मित्रमिवाचरेत् ।' पुत्रमिव शिष्यमपीति । तत्त्वतस्तु सूर्यमेव विधुर कष्टभाजमस्तगत मरणावस्था प्रपन्न सूर्यस्य वैधुर्यमस्तादेव ॥ इति षष्ठ रात्रिभोजनम् ॥

कदापि नैमित्तिकवत्तपस्विनो निमित्तमेते ब्रुवते न किञ्चन ।

यतश्चरित्रेण निमित्तभाषणात्तमिस्रपक्षाद्विधुनेव हीयते ॥ ६० ॥

हे साहे, एते पूर्वोक्तषड्व्रतपालका प्रत्यक्षा वा श्रीमदाकारितागता पुर उपविष्टास्तपस्विन साधव कदापि कस्मिन्नपि व्यतिकरे नैमित्तिकवन्निमित्तज्ञा इव किञ्चन अङ्ग-स्वप्न-स्वर-भौम-व्यञ्जन-लक्षण-उत्पात-अस्तरिष्टम् एतेष्वष्टसु निमित्तेषु किमपि निमित्तं ग्रहवाराङ्गस्फुरणशकुनस्वरादिकं न ब्रुवते न कथयन्ति । अथ वा ज्यौतिषिका इव किमपि शुभाशुभादिग्रहविचारं न भाषन्ते । यतः कारणात्तस्य निमित्तस्य अष्टाङ्गनिमित्तानां वा ज्यौतिष्कादेर्वा भाषणात्कथनाच्चारित्रेण सयमेन हीयते क्षीयते । केनेव । विधुनेव । यथा तमिस्रा कृष्णात्पक्षात् विधुना चन्द्रेण क्षयः प्राप्यते क्षीणीभूयते । यदुक्तमुराध्ययने—'जेलकेण च सुविण च अगविज्ज च जेपउ जति न हुते समणावुच्चति । एवमायरियेहि अकोपम् ।' इति ॥ इति सप्तम निमित्ताद्यभाषणव्रतम् ॥

इति व्रतान्सप्त विभर्ति संयतव्रजः शिवश्रीपरिरम्भलोलुपः ।

वसुधराभोग इवाम्भसा प्रभूञ्छिखाः शिखीव द्युमणिर्हयानिव ॥ ६१ ॥

हे साहे, सयताना सर्वविरतिभाजा साधूना व्रज समुदाय इत्यमुना प्रकारेण पूर्वव्यावर्णितस्वरूपान् सप्तसख्याकान् व्रतान्नियमविशेषान् विभर्ति वत्ते । किभूतः । शिवश्रिया मोक्षलक्ष्म्या परिरम्भे आलिङ्गने लोलुपः लालसः । क इव विभर्ति । वसुधरा-

भोग इव । यथा सप्तद्वीपाया वसुधराया आभोगो विस्तारः । 'प्रपञ्चाभोगविस्तार' इति हैम्याम् । सप्त लवण-क्षीर-दधि-घृत-सुरा-इक्षु-वारिनाम्नः अम्भसा प्रभून् समुद्रान् । 'याद स्रोतोवार्नदीशः सरस्वान्' इति हैम्याम् । धत्ते । पुनः क इव । शिखीव । यथा वह्निः सप्त शिखा ज्वाला धत्ते । 'विभावसु सप्तोदधिः स्वाहाग्राही' इति हैम्याम् । पुनः क इव । घुमणिरिव । यथा नभोरत्न सहस्ररश्मिः सप्त हयान् स्वरथे सप्ताश्वान् धारयति ॥

पुरातनैराचरितानि सूरिभिर्यथा तथा धर्तुमहं न तान्यलम् ।

मतङ्गजप्रक्षरधारणक्षमा मतङ्गजा एव न यत्तुरङ्गमाः ॥ ६२ ॥

हे नृपते, अहं स्वल्पमन कायबलाकलितकलिकालोत्पन्नजन तथा तेन प्रकारेण तानि सप्त व्रतानि धर्तुं धारयितुं नालं न समर्थोऽस्मि । तथा कथम् । यथा येन प्रकारेण स-पूर्णाद्वैतमनोवाक्कायबलशालिभिः सिद्धिसंप्राप्त्युचितं चारुसहनैः सुषमासमयसंप्राप्ता-वतारैः पुरातनैः प्राचीनैः सूरिभिराचार्यैरुपलक्षणादुपाध्यायगणान्वच्छेदकसाधुभिरप्या-चारितानि सम्यक्पालितानि यद्यस्मात्कारणान्मतङ्गजानां सनाह्यानां समरोचितानां दन्तिना प्रक्षराणां 'पाखर' इति लोकप्रसिद्धानां धारणे उद्वहने परिधाने वा मतङ्गजा एव क्षमा समर्थाः स्युः न पुनस्तुरङ्गमाः स्वयोग्यप्रक्षरधारणे समर्था अप्यश्वाः किं गजानामतिशायिभारदुर्वहा प्रक्षरा धारयन्ति । अपि तु न तथा । अहमपि पूर्वाचार्यानुष्ठितोत्कृष्टानुष्ठानं विधातुं समर्थोऽपि देशकालस्वमनोवपुर्वलानुरूपमनुष्ठानमाचराभिलोकोक्त्या खरग्रहणं निन्द्यम् । किं च तस्य मूलत एव प्रक्षरैव न भाति तद्वहणमयुक्तमेव यानेषु रत्नत्वात्प्रक्षरधारित्वाच्च अश्वाभिधानं न्याय्यमेव ॥

श्रुतोक्त्यावद्व्रतपालने यदाप्यलं न किञ्चित्तु तथापि शक्तितः ।

विधि विभर्म्येष तेरन्न तारको नदीमपीशस्तरणेऽम्बुधेर्न यः ॥ ६३ ॥

हे नरेन्द्र, श्रुते शास्त्रे उक्तं प्ररूपितं कथितं यावान् समग्रं यावत्परिमाणमस्येति यावान् । 'यावज्जनरञ्जनव्रती' इति नैषधे । 'समग्रलोकानां रञ्जने प्रीणने व्रतमस्यास्तीति' इति तद्वृत्तिः । विधिः कर्तव्यार्थोपदेश आचारो वा तस्य पालने आचरणे यदापि यद्यपि नालं नाहं प्रभुः, तथापि तर्हि एषा शक्तितः स्वसामर्थ्यानुसारात् यादृशी व्रतपालनशक्तिस्तादृशमित्यर्थः । तु पुनः किञ्चित्किमपि अल्पमात्रं देशकालानुरूपमाचारमाचरामि पालयामि । युक्तोऽयमर्थः । यस्तारकः स्वकलया जलातिक्रामकः अम्बुधेः समुद्रस्य तरणे भुजाभ्यामुत्तरणे नेशः प्रभुर्न स्यात् स तारकः नदीः समुद्रापेक्षया स्वल्पपरिमित-सलिला सरितः किं न तरेन्नोल्लङ्घयेत् परपारं न यायात् । अपि तु तरेदेव ॥ इति स्वस्य व्रतपालनसामर्थ्यमुक्तम् ॥

इदं निशम्य प्रमदं दधन्नृपः प्रणीय गोष्ठीमितरा च तात्त्विकीम् ।

परीक्षितुं रत्नपरीक्षको मणीनिवेहमानः पुनरित्यवोचत ॥ ६४ ॥

नृपो राजा विभु सूरि परीक्षितु गुरो पूर्वोक्तव्रताना परीक्षा कर्तुमीहमानो निजहृदि वाञ्छन् पुनर्व्याधुष्य इत्यग्रे वक्ष्यमाणप्रकारेणावोचत वदति । परीक्षितु क इव । रत्नपरीक्षक इव । यथा माणिक्यपरीक्षाकारक 'जवहरी' इति लोके प्रसिद्धं । स मणीन् परीक्षते रत्नगुणान् परीक्षयति । अल्पानल्प वा तन्मूल्य विधत्ते । नृप किं कुर्वन् । इदं सूरिनिगदितव्रतस्वरूप निशम्य आकर्ष्य प्रमदमानन्द दधद्विभ्रत् । किं कृत्वा । इतरा एतस्या वार्ताया पृथग्वर्तिनी तार्विकीं धर्मतत्त्वसबन्धिनी गोष्ठीं प्रणीय कृत्वा ॥

पुरेऽनयीवावनिमानुपेयिवान्य एष मीने तरणेस्तनूरुहः ।

स मत्सरीवापकरिष्यति प्रभो क्षितेः पतीनामुत नीवृतां किमु ॥६५॥

हे सूरि, यः कृष्णविक्रमार्कादीना सतापकारक एष प्रत्यक्षतया लोकैर्दुष्टाशय इत्युच्यमानः मद्वादशराशौ समेतो वा तरणेर्भास्करस्य तनूरुहः पुत्रः शनैश्चरो मीने मीनराशौ उपेयिवानागतोऽस्ति । क इव । अवनिमानिव । यथा अनयी अन्यायकारको भूपतिः पुरे नगरे उपैति । हे प्रभो, स शनिर्मत्सरीवः अमर्षयुक्त इव पिशुन इव वा । 'पिशुनः सूचको नीचो द्विजिह्वो मत्सरी खलः' इति हैम्याम् । किमु क्षितेः पतीना राज्ञा-मुताथ वा किमु निवृता देशानाम्, देशग्रहणेन देशवासिजनानां दुर्भिक्षदमरमरक-परचक्रादिकोपद्रवकरणादिना अपकरिष्यति दुष्टं विधास्यति । 'वितर्के किं किमूत च' इति हैम्याम् ॥

गुरुर्जगौ ज्यौतिषिका विदन्त्यदो न धार्मिकादन्यदवैमि वाङ्मयात् ।

यतः प्रवृत्तिर्गृहमेधिनामियं न मुक्तिमार्गे पथिकीबभूवुषाम् ॥ ६६ ॥

गुरुर्हीरसूरिर्जगौ पातिसाहिं प्रत्युवाच । अद एतत् श्रीमत्पृच्छ्यमानः ग्रहादीनां चारशुभाशुभपरिज्ञानं ज्यौतिषिका ज्योतिःशास्त्रविदो विदन्ति जानन्ति । पुनरहं धार्मिकाद्धर्मसबन्धिनो वाङ्मयात् शास्त्रादन्यत्परं वाङ्मयं नावैमि न वेद्मि । यतः कारणादियं ग्रहादीनां शुभाशुभपरिणतिकथनादिका प्रवृत्तिः प्रवर्तनं व्यापारः प्रकर्षणं वृत्तिराजीविका वा गृहमेधिना गृहस्थानामास्ते । परं मुक्तिमार्गे मोक्षाध्वनिः पथिकीबभूवुषा पान्थीभूतानां मोक्षमार्गे प्रवृत्तानामियं प्रवृत्तिर्न स्यात् ॥ इति परीक्षार्थं साहिप्रश्ने गुरोर्निषेधवाक् ॥

निपीय स श्रोत्रपुटैः सुधाशनः सुधा सुधाशोरिव ता प्रभोर्गिरम् ।

पुनर्महीमण्डलमत्स्यलाञ्छनश्चकार वाणी वदनानुषङ्गिनीम् ॥ ६७ ॥

स साहि पुनर्महीमण्डलस्य क्षोणीचक्रस्य मत्स्यलाञ्छनः अतिशायिरूपवत्त्वेन रतिपतिः । 'निषधवसुवामीनाङ्कस्य प्रियाङ्गमुपेयुषः' इति नैषधे । स साहिर्वाणीं वाचं वदनानुषङ्गिनीं मुखपद्मसगतां चकार कृतवान् । उवाचेत्यर्थः । किं कृत्वा । श्रोत्रपुटे स्वकर्णरूपपत्रपुटकैः प्रभो सूरिः ताम् अहं वर्मशास्त्रादन्यत्र वेद्मीति लक्षणा गिरं वाणीं

निपीय सादरमाकर्ण्य पीत्वा च । क इव । सुधाशन इव । यथा अमृतपानकृद्देव सुधा-
शोश्चन्द्रमस सुधा निपीयते । ‘पीड् पाने’ दिवादिरात्मनेपदी च ॥

द्युतामिवार्काः पयसामिवार्णवा यतः श्रुतीना निधयः स्थ सूरयः ।

इदं न जानीथ ततः कथं भवेदगोचरः कश्चन सर्वविच्छिदाम् ॥ ६८ ॥

हे सूरयः, यतः कारणाद्यूय श्रुतीना सर्वशास्त्राणा निधय स्थ निवानानि वर्तध्वे ।
के इव । अर्का इव । कविसमयोक्तद्वादशानामपेक्षया बहुत्वम् । यथा भास्करा द्युता का-
न्तीना निधय । पुन क इव । अर्णवा इव । अत्रापि कविसमयानुसरणात्सप्तानामपेक्षया
बाहुल्यम् । यथा समुद्रा पयसा पानीयाना निधय सन्ति । जैनसमयानुसारेण त्व-
सख्यातास्तत्रापि बहुत्वमेव । ततस्तस्मात्कारणादिद मदुक्त शौरेर्मीनराशावागमनफलम-
न्यग्रहादिचारागमादिफल वा कथं केन प्रकारेण न जानीथ वित्थ । युक्तोऽयमर्थः ।
उक्तमर्थमर्थान्तरेण वा द्रढयति—कविः सर्व समस्तमतीतानागतवर्तमानरहोगतप्रकट-
भूत विदन्ति जानन्तीति सर्वज्ञास्तेषां चिदा ज्ञानानां कश्चन पदार्थोऽगोचर अविषय
अज्ञेय । अपि तु सर्वमपि सर्वज्ञज्ञानगोचर एव । तस्माद्यूय समस्त स्वपरशास्त्राणि
जानीथ एवेति सर्वज्ञज्ञानानां महत्त्वापेक्षया बहुत्वम् । अथ वा मतिश्रुतावविमन पर्य-
वकेवलाभिधानानां बहूना ज्ञानानामप्यपेक्षया बहुत्वम् ॥

प्रवृत्त्य वार्तास्वितरासु तत्फलं पुनः पुनः प्रश्नयति स्म भूधनः ।

यदा तदा स्यादपरं न धर्मतः शशाङ्कबिम्बादमृतादिवोदगात् ॥ ६९ ॥

भूधनोऽकब्बर पुनः पुनर्वारं वारं तत्फलं तस्य मीनराशिगतस्य छायासुतस्य
फलं प्रश्नयति स्म शुभाशुभविनिर्माणकारणं पृष्ठवान् । किं कृत्वा । इतरासु स्वद्वाद-
शराशिस्थमन्दफलप्रश्नादपरासु वार्तासु किवदन्तीषु प्रवृत्त्य प्रवृत्तिं कृत्वा मध्ये मध्ये
अन्या वार्ता विधाय । पुनर्मुहुस्तदेवानुयुनक्ति स्मेत्यर्थः । यदा यस्मिन्काले तदा स्यात्
सूरिवक्त्रात् वर्मत अपरमन्यन्नोदगात् न प्रकटीभूतम् । कस्मादिव । शशाङ्कबिम्बादिव ।
यथा चन्द्रमण्डलादमृतात्पीयूषादन्वन्नोद्गच्छति ॥

तदा मुदोर्वीवलयोर्वशीवशो विधाय शेख स्वसवेशदेशगम् ।

स बन्दिवृन्दारकवत्प्रणीतवान्पुरोऽस्य सद्भूतगुणस्तुति गुरोः ॥ ७० ॥

तदा तस्मिन् समये सूरिसम्यक्परीक्षाकरणानन्तरं प्रक्रमे स उर्वीवलयस्य मेदिनीम-
ण्डलस्य उर्वशीवशं पुरुरवाश्चक्रवर्ती । ‘तमेनमुर्वीवलयोर्वशीवशः’ इति नेषधे । तथा
‘पुरुरवा बालऐल उर्वशीरमणश्च सः’ इति हैम्याम् । अकब्बरो मुदा हर्षेण कृत्वा अस्य
शेखस्य यवनजातिगुरुप्रायस्य पुरोऽग्रे गुरोः सूरिन्दो सद्भूतानां सता वर्णनीयानां
भूतानां विद्यमानानाम् । ‘भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः’ इति भक्तामरस्तवे । स्तुति-
वर्णनां प्रणीतवान् चकार । किवत् । बन्दिवृन्दारकवत् । यथा मङ्गलपाठकपुगवो गुणानां
स्तुतिं प्रणयति । वृन्दारकशब्देन प्राधान्यमपि दृश्यते । यथा चम्पूकथायाम्—‘सोऽह

हसायितु मोहाद्वक् पञ्चुर्यथेच्छति । मन्दधीस्तद्वदिच्छामि कविवृन्दारकायितुम् ॥' इति ।
स्तुवति स्म । किं कृत्वा । शेखम् अबलफैजनामान निजसामन्तीभूत स्वस्यात्मनः
सवेशदेश समीपभूभाग गच्छतीति तादृश विधाय । स्वकीयसनिधावाकार्येत्यर्थः ॥

मया विशेषात्परदर्शनस्पृशो गवेषिताः शेख न तेषु कश्चन ।

व्यलोकि वाचंयमचक्रिणः सदृङ्मृगेषु कोऽप्यस्ति मृगेन्द्रसंनिभः ॥ ७१ ॥

पराण्यन्यानि बौद्ध-नैयायिक-सांख्य-वैशेषिक-नास्तिक-जैमिनीयादीनि दर्शनानि
स्पृशन्त्यनुभवन्त्याद्रियन्ते इति परदर्शनस्पृश परपाक्षिका मया विशेषात् स्वप्रागल्भ्यप्रक-
ल्पितानल्पप्रश्ननिर्वाहकरणाप्रावीण्यप्रगुणीभवद्भूरितममन्दाक्षविलक्षीभवनपरिज्ञानाद्गवे-
षिता दृष्टा पर तेषु तत्तद्दर्शनेषु कश्चन वाचयमचक्रिणः हीरसूरे सदृक् तुल्यो न व्य-
लोकि न निरीक्षित । युक्तोऽयमर्थः । मृगेषु हरिणेषु मध्ये कोऽपि कश्चिदपि मृगेन्द्रस्य
केसरिण संनिभ साधारणोऽस्ति । अपि तु न कोऽपि ॥

स्ववासयोग्या वसति न कुत्रचिन्निरीक्ष्यमाणैरवसादिभिर्गुणैः ।

स्वयंभुवाभ्यर्थ्य निवस्तुमात्मनां मणिर्मुनीना किमकारि मन्दिरम् ॥ ७२ ॥

हे शेख, गुणैः शमदमार्जवमार्दवादिभिरभ्यर्थ्य बह्वी प्रार्थना कृत्वा आत्मना स्वेषां
निवस्तु नितरा समकाल सर्वैरेकत्र सभूय वास विधातु स्थातु स्वयंभुवा ब्रह्मणा कर्त्रा
पार्श्वे । उत्प्रेक्ष्यते—मुनीना मणिः सूरिरत्न मन्दिर वसति किमकारि निर्मापितेव ।
गुणैः किं कुर्वाणैः । कुत्रचित्कस्मिन्नपि स्थाने स्वेषामात्मना वासस्य निवसनस्य
योग्यामुचिता वसति वासवेश्म नैव निरीक्ष्यमाणैरपश्यद्भिः अत एव वासादिभिरेव
मेदस्त्रिभिः ॥

असौ मुहुर्मीनभुजः शनेः फलं मयानुयुक्तोऽपि न किञ्चिदूचिवान् ।

यतः कचिद्भृङ्गुरसगरो महान्भवेत्सुराणामचलोऽपि चाचलिः ॥ ७३ ॥

हे शेख, असौ हीरसूरिर्मया चतुर्दिक्चक्रचक्रिणा मुहुर्वारं वारं मीनभुजो मीनराशे-
र्भोक्तुः शनेः शनैश्चरस्य फलं भूपजनपदद्विपदचतुष्पदादीना क्षमाक्षेमनिर्माणलक्ष-
णमनुयुक्तोऽपि पृष्ठोऽपि सन् किञ्चित्किमप्यशमात्रमपि नोचिवान्न बभाषे । यतः का-
रणान्महानुत्तमजनः क्वचित् क्वाप्येकान्ते पर्षदि वा भृङ्गुरसगरो भजनशीलप्रतिज्ञा
निर्मुक्ताङ्गीकारः स्यात् । 'प्रतिज्ञागूश्च सगरः' इति हैम्याम् । एतेन प्रागुक्तं यदहं
ज्योतिर्निमित्तादि न वच्मि तत्परीक्षार्थमेव केवलं मया स्वमाहात्म्यभयाद्यपि दर्शयि-
त्वा पृष्ठम् । पुनरेतेन सत्त्वमात्ममार्गं चानुसृत्य शनिफलं किमपि नोचे । इदं सत्यम् । सु-
राणामचल मेरुः कचिच्चाचलिरतिशयेन चञ्चलः स्यात्, अपि तु न कदाचिदपि । न कम्पते
चलनशीलश्चाचलिः । 'चलिपतिवदिसाहिभ्य इणिर्द्वित्वं च, पापतिः वावदिश्चाचलि
सासहि इति चत्वारः प्रयोगाः' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् ॥

यथा सुधाब्धेरपरो न वारिधिर्न सिद्धसिन्धोरपरा तरङ्गिणी ।

न पादपः कश्चन कल्पपादपात्परो नृपः कोऽपि न चक्रवर्तिनः ॥७४॥

न धेनुरन्या सुरभेः सुधाभुजां पदं न चान्यत्परमेष्ठिनः पदात् ।

परो न धर्मः करुणाविधेर्यथा तथास्ति कश्चिन्न वशी विभोः परः ॥७५॥

हे शेख, तथा तेन प्रकारेण विभोरस्मात्सूरे परोऽन्य. कश्चिद्वशी जितेन्द्रियमना कथनकरणयो सदृक्षो निजाङ्गीकृतप्रतिज्ञानिर्वाहको नास्त्येव । तथा कथम् । यथा सुधा-
ब्धेर्यस्मिन् पीयूषप्रमुखचतुर्दशरत्नान्युत्पाद्यन्ते तस्मात्क्षीरसमुद्रादपर क श्लाघ्यो
वारिधिरस्ति । न कश्चिदपि । यथा सिद्धसिन्धोर्गङ्गाया अपरा इतरा जगत्या चित्रकारिका
त्रैलोक्येऽपि त्रिभिः प्रवाहैः वाहिनी निर्मलजला च तरङ्गिणी नास्ति । यथा कल्पपाद-
पात्सुरतरो. पर. कश्चन कामदायक पादपो नास्ति । पुनर्यथा चक्रवर्तिनः षट्खण्डपृ-
थिवीपतिरन्य. कश्चिन्नृपो नास्ति । पुनर्यथा सुधाभुजा निर्जराणां सुरभे. कामधेनोरपरा
कामदुधा सकलकामप्रदा धेनुर्न विद्यते । पुनर्यथा परमेष्ठिनो जगन्नाथस्य पदात्पदव्या अन्यत्
अपर पदं न वर्तते । यत्र त्रैलोक्यैश्वर्यम्, यत्र च शिविकावाहकाश्चतुःषष्टिः सुरासुरेन्द्रा-
श्चतुस्त्रिंशदतिशयाष्टमहाप्रातिहार्यादिलक्ष्मीस्तत्पदादपर किमपि पत् । अपि तु न । अथ
वा परमेष्ठिनः स्थानान्मोक्षादपर पदमनन्तसुखानन्दज्ञानात्मक परमपदमित्युच्यमान
निवर्तते । पुनर्यथा करुणाविधेर्दयापालनात्परो वर्मो नास्ति । यदुक्तम्—‘नास्ति धर्मो
दयापरः’ इति ॥ युग्मम् ॥

श्रवःपथातिथ्यमनायि यादृशो वशी दृशा दृश्यत एव तादृशः ।

इदंगुणौघान्गणयञ्जगद्गिरामगोचरान्किं स्थविरोऽभवद्विधिः ॥ ७६ ॥

हे शेख, यादृशो यादृक्प्रकारो मत्स्यदस्यै सम्यक् वर्ण्यमान असौ वशी पञ्चेन्द्रि-
याणि मनश्च वशे स्वाधीनप्रचाराणि सन्त्यस्येति योगीन्द्र श्रव पथस्य श्रवणमार्गस्य
आतिथ्यमातिथेयीं प्राघुणता वा अनायि मया नीत । श्रुत इत्यर्थः । तादृशस्तादृग्गुणप्र-
कार एव दृशा लोचनेन दृश्यते विलोक्यते । हे अबलफैज शेख, जगता विश्वजनानां
गिरा वाचामगोचरान् अविषयान् सुरासुरनरैरपि सस्तोतुमशक्यान् कथयितुं वा इद-
गुणौघान् अस्य सूरैर्गुणगणान् गणयन् सख्या प्रापयन् । उत्प्रेक्ष्यते—विधिर्विधाता
स्थविरो वृद्ध किमभवत्सजात इव तन्नामापि ॥

दधाति धाता गिरिशश्च शक्तिभृच्चतुर्मुखी पञ्चमुखी च षण्मुखीम् ।

भुजंगराजो द्विसहस्रजिह्वां विभर्ति संस्तोतुमिवोत्सुकीभवन् ॥ ७७ ॥

हे शेख, यः सूरिराजः संस्तोतुं वर्णयितुम् । उत्प्रेक्ष्यते—उत्सुकीभवन्नृत्कण्ठता धारयन्
सन् धाता जगत्कर्ता चतुर्णां मुखानां समाहारश्चतुर्मुखीमिव दधाति धत्ते । पुनर्गिरिश-
शकरः पञ्चमुखी पञ्चवक्त्राणीव दधाति विभर्ति । पुनः शक्तिभृत्स्वामिकार्तिक. षण्मुखी

षड् वदनानीव कलयति । पुनर्भुजगराजो नागेन्द्रः शेषनागो द्विसहस्रजिह्वा द्वे सहस्रे जिह्वा रसनाव्विसहस्रमिता वा जिह्वा रसज्ञा यस्य तस्य भाव जिह्वाना विशति-शतीं बिभर्ति धारयति । 'प्रजापतिर्ब्रह्म चतुर्मुखो भवान्,' तथा 'मृत्युजयः पञ्चमुखोऽष्टमूर्तिः,' तथा 'कुमार' इति द्वैम्या त्रयमपि । तथा 'यस्यास्मिन्नुरगप्रभोरिव भवे-जिह्वासह स्रव्यम्' इति चम्पूकथायाम् ॥

कलिं कृतीकर्तुमयं स्वयं वपुर्दधाति धर्मः किमिदं निभाद्भुवि ।

गुणान्निशम्येति गुरोर्नृपस्तुताश्चमत्कृतः स स्वपदं मुदागतः ॥ ७८ ॥

हे शेख, भुवि पृथिव्यामिदं निभादस्य सूर्यव्याजात् अथ प्रत्यक्षलक्ष्यं स्वयमात्मना धर्मो दयारूपः । उत्प्रेक्ष्यते—किम् । वपुः शरीरं दधाति । किं कर्तुम् । कलिं कलिनामानं युगं कृतीकर्तुं कृतयुगं विधातुं कृतयुगतां प्रापयितुं वा । स शेख अबलफैजनामा इति पूर्वोक्तप्रकारे नृपस्तुतानकब्बरपातिसाहिना स्वमुखेन वर्णितान् गुरोर्हीरविजयसूरेर्गुणान्निशम्य नितरां सोत्कण्ठं सरोमाञ्च कञ्चुकं श्रुत्वा चमत्कृतो निजहृदये विस्मयं प्राप्तं सन्मुदा प्रमोदेन स्वपदं साहिसभायां मध्ये यत्र सर्वेऽपि सामन्तभूपाला ऊर्ध्वं दमीभूयावतिष्ठन्ते, यत्र च स्वेनाप्यूर्ध्वोभूय स्थीयते तस्मिन् स्थाने जग्मिवान् ॥ इति शेखपुरः साहिवर्णिता गुरोर्गुणा ॥

पिबन्मुनीन्द्रस्य शमामृतं दृशा मुदश्चुदम्भेन तदुद्गिरन्निव ।

अकब्बरो बब्बरवंशमौक्तिकं पुनः पुरस्तस्य गिरं गृहीतवान् ॥ ७९ ॥

अकब्बरसाहिस्तस्य सूर्ये पुरोऽग्रे पुनः पुनरपि गिरं वाणीं गृहीतवाङ्मग्राहः । उवाचेत्यर्थः । किंभूतः अकब्बरः । बब्बरोऽस्य पूर्वजः पातिसाहिस्तस्य वंशे गोत्रे वेणौ च मौक्तिकं मुक्ताफलोपमः । यदुक्तम्—'समुद्रस्ताम्रपर्णीं च वंशं करिशिरस्तथा । उत्पद्यन्ते मौक्तिकानि प्रायोऽमीषु परत्र न ॥' इति वचनप्रामाण्यतः । किं कुर्वन्नकब्बरः । दृशा स्वनयनेन कृत्वा मुनीन्द्रस्य हीरसूरे शमामृतं शान्ततासुधारसं पिबन्नास्वादयन् हृदये एव स्वचमत्कारं वर्णयन् सादरं मुहुः पश्यन् । उत्प्रेक्ष्यते—तच्छमामृतपानं मुदश्चुदम्भेन प्रबलप्रादुर्भवदप्रतिमोदोदीतनयनबाष्पव्याजेन उद्गिरन्वमन्निव अतितृप्ततया बह्ममृतपानं हृदयान्तराद्बहिरुद्गिरन्निव ॥

स्फुरन्ति शिष्याः कति वो व्रतीश्वराश्चरित्रदुग्धाम्बुधिनन्दना वराः ।

इभप्रभूणां कलभा इवावनीरुहां सुमानीव करा विवस्वताम् ॥ ८० ॥

हे व्रतीश्वरा सूरयः, वो युष्माकं चरित्रं सदाचरणमूलसयमस्तदेव दुग्धाम्बुधिनन्दना क्षीरसमुद्रतनया लक्ष्मी । 'सायमित्थमथ भीमनन्दनाम्' इति नैषधे । नन्दना नन्दिनी आकारेकारान्तौ द्वावपि शब्दौ दृश्येते । ते तस्या वरा भर्तारः सयमिनः । अथ वा तया लक्ष्म्या कृत्वा वरा श्रेष्ठा व्यवहारिणश्चारित्रिणः कति कियत्सख्याकाः शिष्या विनेया स्फुरन्ति वर्तन्ते । केषामिव । इभप्रभूणामिव यूथनाथगजराजानामिव । महत्त्वाद्बहुत्वाद्वा

बहुत्वम् । कलभास्त्रिशदब्ददेशीयाः सिन्धुरा भवेयुः । पुनः केषामिव । अवनीरुहामिव ।
‘रुटरुहजन्मजै’ इति हैम्याम् । यथा वृक्षाणां सुमानि पुष्पाणीव भवेयुः । पुनः
केषामिव । विवस्वतामिव । यथा मार्तण्डानां कराः किरणाः स्युः ॥ इति साहे.
गुरुन्प्रति शिष्यप्रश्नः ॥

नृपं प्रति व्याहृतवानिति व्रतीशिता कियन्तो मम सन्ति भूपते ।

इदं मुनीन्द्राननपद्मसंभवं स भृङ्गवद्वाङ्मकरन्दमापपौ ॥ ८१ ॥

ततो व्रतीशिता सूरिर्नृपमकब्बर प्रति इत्यमुना प्रकारेण व्याहृतवान् भाषते स्म ।
हे भूपते, मम शिष्या कियन्तः कतिचिद्वर्तन्ते । परं सख्या नाख्यायि । यतः सन्तः
उत्तमा निजगौरव स्वमुखेनैव न ख्यापयन्ति । यदुक्तम्—‘न सौख्यसौभाग्यकरा नृणां
गुणा स्वयं गृहीता युवतीस्तना इव । परैर्गृहीता द्वितय वितन्वते न तेन गृह्णाति निज
गुणं महान् ॥’ इति । ततोऽनन्तरं स भूमान् इदं स्वमदपरिहारद्वारा शिष्यसख्याकथन-
रूपं मुनीन्द्रस्य सूरैराननं मुखमेव पद्मं कमलं तस्मात्संभव उत्पत्तिर्यस्य तादृशं वाक्
वचनमेव मकरन्दं मधु आपपौ सादरं शृणोति स्म । किवत् । भृङ्गवत् । यथा भ्रमरकः
कमलोद्भव मकरन्दमापिब्रति । ‘सुरासुरनराकारमधुपापीतपत्कज’ इति सारस्वतव्याक-
रणग्रन्थे आपीत इति प्रयोगो दृश्यते ॥

जगाद गाजी गणपुगवं पुनः पुरा मयेति श्रुतिगोचरीकृतम् ।

विलोचनानामिव भोगिना विभोः सहस्रयुग्मं शमिना समस्ति वः ॥ ८२ ॥

मुद्रलजनपदप्रसिद्धं महत्त्वख्यापकं यवनज्ञातेरभिधानं गाजीति । स गाजी अकब्बर-
साहि गणपुगवं तपागच्छवृषभं मुख्यं वा प्रति जगाद गदति स्म । हे व्रतीश्वरा, पुरा
पूर्वं मया जनवार्तया इति श्रुत्योः श्रवणयोगोचरीकृतं विषये विहितमास्ते वर्तते ।
इति किम् । वो युष्माकं शमिना शिष्यीभूतानां साधूनां सहस्रस्य युग्मं युगलद्विसहस्री ।
सम्यक् विद्यते इति समस्ति । केषामिव । विलोचनानामिव । यथा भोगिना भुजगमानां
विभो स्वामिनः शेषनागराजस्य नेत्राणां नयनानां सहस्रद्वयी आस्ते । ‘शेषो नागाधि-
पोऽनन्तो द्विसहस्राक्ष आलोकः’ इति हैम्याम् । सहस्रफणामण्डलैर्वरणीधारकत्वात् सह-
स्रफणानां सहस्रनेत्रद्वयभावात् ॥ इति साहिना स्वयमेवोक्तसूरिशिष्यसख्या ॥

ततः क्षितीन्द्रः ।

..... ॥ ८३ ॥

ततः स्वयं सूरिशिष्यकथनानन्तरं क्षितीन्द्रः साहिः व्रतीश्वर सूरि प्रति समीपं भग-
वत्सन्निधानं भजन्ति इति तत्समयसूरिसमीपस्थायुकानां व्रतिनां साधूनामभिधानामानि
पृच्छति स्म । ततस्तस्य नृपस्य पुरोऽग्रे परस्परमन्योन्यं तद्विदो व्रतिनामज्ञास्त एव
व्रतिनो गीतार्था एव तां पण्डितनामाभिधा अभिधानानि अवदन्कथयति स्म । के-

षामिव । महामणीनामिव । यथा तद्विदो महामणीगुणवेत्तारः परीक्षका महामणीमभिवा
वज्रमरकतवैडूर्यपद्मरागादिनामानि कथयति ॥ इति यतिना परस्पराभिधाननिवेदनम् ॥

गृहादथानायितमङ्गजन्मना स खानखानेन च मुक्तमग्रतः ।

महीमरुत्त्वान्प्रमदादिवोपदा मुनीशितुर्ढौकयति स्म पुस्तकम् ॥ ८४ ॥

अथ गुरो शिष्यानां नामावधारणानन्तरं महीमरुत्त्वान् भूमीन्द्र । 'पृतनाषाडुग्र-
धन्वा मरुत्त्वान्मघवा' इति हैम्याम् । प्रमदादानन्दात् उपदा प्राभृतमिव मुनीशितुः
सूरे पुरोऽग्रे पुस्तकं ढौकयति स्म । किभूत पुस्तकम् । अङ्गजन्मना शेखूजीनाम्ना
बृद्धपुत्रेण गृहात्स्वभवनमध्यादानायित लोके 'अणाव्यु' इति प्रसिद्धं च पुन खानखानेन
मीयाखाननाम्ना साहिसामन्तेन साहेराप्तेन ततः सग्रामे गूर्जरपातिसाहिविजयविधान-
समये श्रीमदकब्बरपातिसाहिना स्वयं खानखान इति दत्तविरुदेन अग्रतो नृपपुरस्तात्
आनीय मुक्त साहिप्रतिशिष्टशेखूजीसूनुना मन्दिरमञ्जूषाभ्यो निष्काश्य मीयाखानस्य
हस्ते प्रदत्तं तेन च नृपाग्रे पुञ्जीकृतम् ॥

ततस्तदुन्मुद्य पुरो धराविधोरवाचि वाचंयमपुंगवैर्गुरोः ।

रहस्यमेतस्य पुनर्न्यगादि तैरमुष्य सख्युः सखिवत्स्वचेतसः ॥ ८५ ॥

तत आनयनानन्तरं प्रभोः सूरे वाचयमपुगवैर्यतिकुञ्जरैः पण्डिताखण्डलैः तत्पुस्त-
कमुन्मुद्य समस्ता पुस्तिकाश्छोढयित्वा धराविधोर्मैदिनीन्दो. पुरोऽग्रे अवाचि वाच्यते
स्म । पुनस्तैर्गीताथैरेतस्य साहे पुरोऽमुष्य पुस्तकस्य मध्ये लिखितस्य शास्त्रस्य रहस्यम्
इदं पुस्तकमेतन्नाम शास्त्रमत्र चैतद्वाच्यमित्यादि हार्दं न्यगादि कथितम् । किवत् । सखि-
वत् । यथा सखिभिर्मित्रैः सख्युः स्वकीयनिरन्तरमनसः सख्युः पुनः स्वचेतसो निजहृद-
यस्य रहस्यं गुह्यं हार्दं निगद्यते प्रोच्यते ॥

उदीतमङ्गैरिह रुद्रविग्रहैरिवास्तपुष्पध्वजकालकेलिभिः ।

पुनस्तमस्तोमभिदाविदावरैः परैरुपाङ्गैरिव पद्मिनीवरैः ॥ ८६ ॥

इह पुस्तकगञ्जकमध्ये रुद्रा एकादश तेषां विग्रहैरङ्गैरिव एकादशसख्याकैः आचा-
राङ्ग-सूत्रकृदङ्ग-स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग-विवाहप्रज्ञप्ती-ज्ञातावर्मकथाङ्ग-अन्तकृद्दशान्त-
उपासकदशाङ्ग-अणुत्तरोपपातिकादशाङ्ग-प्रश्नव्याकरणाङ्ग-विपाकश्रुताङ्गलक्षणैरङ्गैरुदीत
प्रादुर्भूतम् । किं लक्षणैः अङ्गैः रुद्रविग्रहैश्च । अस्त क्षिप्तो विनाशितः पुष्पध्वजः कदर्प-
स्तथा कालः कलिकालो दैत्यविशेषस्तयोः केलिविलासो यैः । 'उदीतमातङ्कितवानशङ्कत'
इति नैषधे । पुनरिह पुस्तके पद्मिनीवरैर्नलिनीनाथैर्भास्करैरिव परैरङ्गैर्भ्योऽन्यैर्द्वादशभिः
उपपत्तिका-राजप्रश्नीय-जीवाभिगमप्रज्ञापना-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिका-चन्द्रप्रज्ञप्तिका-सूर्य-
प्रज्ञप्तिका-निरयावलिका-कल्पिका-कत्पावतसिका-पुष्पिता-पुष्पचूलिका-वृष्णिदशा-
इति द्वादशसख्याकैरङ्गानामेव वाच्यसूचकैरुपाङ्गैरुदीये । किभूतैः उपाङ्गैः सूर्यैश्च ।

तमसामज्ञानानां दुष्कृतानां वा अन्धकाराणां स्तोमस्य समूहस्य भिदाया विदारणे विदां-
वरैः कुशलैः वेत्तृषु मुख्यैः ॥

प्रकीर्णकैर्धर्मधरापतेरिव प्रकीर्णकैः प्रादुरभावि तत्र च ।

परश्वधैश्छेदकरैर्धरारुहामिवांहसा छेदवरागमैस्तथा ॥ ८७ ॥

चतुःप्रमाणैरपि मूलवाङ्मयैश्चतुर्गतीनां प्रतिषेधकैरिव ।

युगेन वा नन्द्यनुयोगशास्त्रयोर्दृशोरिव श्रीजिनशासनश्रिया ॥ ८८ ॥

च पुनस्तत्र पुस्तके चतुःशरण-आतुरप्रत्याख्यान-महाप्रत्याख्यान-भक्तपरिज्ञान-
तेदुलवैकालिक-चन्द्राविध्वज-गणिविद्या-मरणविभक्ति-देवेन्द्रस्तव-सस्तारकप्रकीर्ण-
क-इति नामभिर्दशप्रकीर्णकैः प्रादुरभावि प्रकटीभूतम् । उत्प्रेक्ष्यते—धर्मधरापते
धर्मनाम्नो राज्ञः प्रकीर्णकैश्चामरैरिव । तथा पुनः निशीथ-महानिशीथ-व्यवहार-दशा-
श्रुतस्कन्ध-पञ्चकल्प-जीमूतकल्प-बृहत्कल्पनामभिः छेद इति सज्ञया वरैः प्रधानैः
आगमैः सिद्धान्तैः आविर्भूयते स्म । किभूतैः । अहसा पापानां छेदकरैः खण्डशः का-
रिभिः । कैरिव । परश्वधैरिव । यथा कुठारैः वरारुहा वृक्षाणां शतसहस्रलक्षशः शकल-
कारकैः भूयते । अपि पुनश्चत्वारि प्रमाणानि येषां तैश्चतुःप्रमाणैः मूलवाङ्मयैः आवश्य-
कदशवैकालिक-उत्तरायन-पिण्डनिर्युक्ति-रितिमूलाभिधानैराद्धान्तैराविरभावि । उत्प्रे-
क्ष्यते—चतुःप्रमाणत्वेन चतुर्णां नरक-तिर्यङ्-मानव-दानवाहितानां दुष्टानां निकृष्टानां
भवभ्रमणहेतूनां नीचजातीनां वा गतीनां प्रतिषेधकैर्निवारकैरिव । वा पुनः नन्दी तथा
अनुयोग इति नाम ययोस्तादृशयोः शास्त्रयोर्युगेन द्वन्द्वेन प्रकटीभूतम् । उत्प्रेक्ष्यते—
श्रीजिनशासनश्रिया श्रीमन्महावीरार्हन्मतलक्ष्म्या दृशोर्द्वयं नयनयोर्यामलम् किमेतावता
पञ्चचत्वारिंशदागमाः सजाताः ॥ युग्मम् ॥

अलंकृतिज्यौतिषकाव्यनाटकप्रमाणवेदान्तसलक्षणागमान् ।

अदर्शयन्साधुसुधांशुसाधवो नृपस्य भावानिव भानुभानवः ॥ ८९ ॥

अथापरशासनसत्करशास्त्राणां नामान्याह—अलंकृतिः वाग्भटालकार-काव्यानुशा-
सन-छन्दोनुशासन-वृत्तरत्नाकरादयोऽलंकारग्रन्थाः, ज्यौतिषाणि नारचन्द्र-आरम्भसि-
द्धि-वाराहीसहिता-खण्डखाद्य-कर्णकुतूहलादीनि ज्योतिःशास्त्राणि, काव्यानि रघु-
वश-मेघदूत-कुमारसम्भव-किरात-माघ-नैषध-चम्पू-कादम्बरी-पद्मानन्द-यदुसुन्द-
राद्यानि, नाटकानि पिङ्गलभरतादीनि तथा हनूमत्-दूताङ्गद-रघुभीमनाटकादीनि च
नाटकशास्त्राणि, तथा प्रमाणं तर्कपरिभाषा-सप्तपदार्थी-मितभाषिणी-प्रमाणमञ्जरी-
शशधरचरदराजी-मणिकण्ठवर्धमान-प्रशस्तपदभाष्य-वर्धमानेन्दु-किरणावली-चिन्ता-
मणि-खण्डन-पूर्वमीमांसा-पञ्चाध्यायी-जैनप्रमाण-प्रमाणमञ्जरी-स्याद्वादमञ्जरी-रत्ना-
करावतारिका-समिति-स्याद्वादरत्नाकरादीनि प्रमाणशास्त्राणि, वेदान्त उपनिषद्-ऋग्-
यजुः-साम-अथर्वणाभिधवेदानां वृत्तिर्वा, सहलक्षणे इन्द्र-चन्द्र-काशकृत्स्न-आपि-

शली-शाकटायन-पाणिनि-अमरचन्द्रजिनेन्द्रौ इत्यष्टौ व्याकरणानि । अथ वा ऐन्द्र-पाणिनि-जिनेन्द्र-शाकटायन-वायने-चान्द्र सरस्वतीकण्ठाभरण बुद्धिसागरं विश्रान्तविद्याधर च भीमासनकलापक मुष्टिव्याकरण शैव गौड नन्दिजयोत्पल-‘सारस्वत सिद्ध-हैम जयहैम तथापरम् । इति व्याकरण प्रोक्त सिद्धप्राभृतसम्भवम् ॥’ इत्यष्टादशव्याकरणैः सह वर्तन्ते ये ते तादृशा आगमाः सिद्धान्ता अङ्गोपाङ्गनिर्युक्तिचूर्णिभाष्यादयः सर्वेऽपि तत्पुस्तकान्तर्वर्तमाना ग्रन्थास्तान् साधुसुवाशो सूरिन्द्रस्य साधवो गीतार्था नृपस्यादर्शयन् नामग्राह दर्शयन्ति स्म । के इव । भानुभानव इव । यथा दिनकरकिरणा भावान् जगत्पदार्थसार्थान् दर्शयन्ति प्रकाशयन्ति ॥

निभाल्य निःशेषमिदं स्वचक्षुषा हृदा दधत्प्रीतिमिवेन्दिरात्मजः ।

बभाण भूमीद्युमणिर्गणीश्वर तृणीकृतानेकनरेन्द्रविक्रमः ॥ ९० ॥

भूमीद्युमणि क्षोणीसहस्रकिरण पातिसाहि । ‘मध्यदिनावधिविधेर्वसुधाविवस्वान्’ इति नैषधे । गणीश्वरमनूचानचक्रिण प्रति बभाण वदति स्म । किंभूत । तृणीकृत अधरितस्तिरस्कृत तृणप्रायो गणितः अनेकेषा परोलक्षाणा नरेन्द्राणा क्षोणीपालाना विक्रमो वीर्य येन । किं कुर्वन् । हृदा हृदयेन प्रीति प्रमोद स्नेह च दधत् । क इव । इन्दिरात्मज इव । यथा कमलानन्दनो हृदा वक्षसा कृत्वा । ‘ममासनावे भव मण्डन ननु प्रिये मदुत्सङ्गविभूषण भव । भ्रमाद्भ्रमादालपमद्गमृष्यता विना ममोर कररत्नवासनम् ॥’ इति नैषधे । प्रीति प्रीत्या स्वपत्नी वत्ते । किं कृत्वा । स्वचक्षुषा निजनेत्रेण नि शेष समस्तमपि तत्पुस्तक निभाल्य विलोकयित्वा ॥ इति यतिप्रोक्तपुस्तकरहस्यावबोध ॥

पुराभवत्प्रीतिपदं वयस्यवद्विशारदेन्दुर्मम पद्मसुन्दरः ।

न येन सेहेऽम्बुरुहामिवावली हिमर्तुना पण्डितराजगर्विताम् ॥ ९१ ॥

हे सूर, पुरा पूर्व मम वयस्यवन्मित्रमिव प्रीतिपद स्नेहभाजन पद्मसुन्दर इति नामा विशारदेन्दु विचक्षणचन्द्रमा. अभवद्बभूव । येन पद्मसुन्दरेण पण्डितराजस्य कस्यचिद्वाराणसीत पठित्वा समेतस्य स्वगुरुणाप्यजेयता स्वस्य प्रख्यापयत पण्डितविशेषविप्रस्य पण्डितराजेत्यभिधान प्रकटयत गर्विता स्वचित्तकल्पितानल्पाहकारित्व न सेहे न सोढा । वादेनि(वि)र्जित्य सभासमक्ष तद्गर्व निर्वासयामासेत्यर्थः । केनेव । हिमर्तुनेव । यथा हेमन्तकालेन अम्बुरुहा पद्मानामावलिर्न सहायते । हिमपातेन पद्मानि कोमलत्वाद्विलित्वा यान्ति ॥

जगाम स स्वर्गिमृगीदृशा दृशामथातिथेयी परिणामतो विधेः ।

मुहुर्मयाशोचि स वातपातिताजिरप्ररूढामरसालवद्विभो ॥ ९२ ॥

हे विभो हे सूर, अथ पश्चात्क्रियता कालेन स पद्मसुन्दरो विधेदैवस्य परिणामतो वशतः स्वर्गिणा स्वर्गजन्मना देवाना मृगीदृशा सन्नस्तहरिणनेत्राणामङ्गनाना दृशा लोचनानामातिथेयी प्राद्युणीभाव जगाम सप्राप । ततस्तस्य स्वर्गे गमनानन्तर स मय

मुहुर्वारवारमशोचि शोचित शोकगोचरता प्रापितः । किवत् । वातेन प्रचण्डपवनेन पातितो मूलादुन्मूल्य निक्षिप्त अजिरे स्वगृहाङ्गणे प्ररूढ उद्गतः अमरसालवत्कल्पवृक्ष इव । यथा निजगृहाजिरोद्गतवातनिष्पातितरुः शोच्यते तथा मयासौ मुद्गलः शोच्यते इत्यर्थः ॥

अमुष्य शिष्येषु गवेषयन्नहं न साधिमानं बहुपात्फलैष्विव ।

चकार तत्पुस्तकमात्मसात्ततो यदिन्दिरा नीतिमुचं विमुञ्चति ॥ ९३ ॥

हे सूर, ततः पद्मसुन्दरस्य स्वर्गगमनानन्तरं तस्य मद्रयस्यस्य पुस्तकं लिपीकृतसर्वशास्त्रचक्रमात्मसान्मया दत्तं चकार । उत्तमपुरुषैकवचनं णप् । मद्रूहे एवाह रक्षितवानित्यर्थः । अहं किं कुर्वन् । अमुष्य मम सख्युः पद्मसुन्दरस्य शिष्येषु विनेयेषु साधोर्भावसाधिमानसाधवाचारताश्रीसमीचीनभावम् । ‘त्वयादत्तं किं नरसाधिमभ्रम्’ इति नैषधे । न गवेषयन् अपश्यन् । केष्विव । बहुपात्फलैष्विव । यथा न्यग्रोधपादपफलेषु साधिमाचारता न गवेष्यते गृहीतम् । कुतः । यतः कारणात् नीतिमुचं न्यायत्यागिनस्वाचारहीननरमिन्दिराश्रीर्विमुञ्चति जहाति । यदुक्तम्—‘सत्यपि सुकृते कर्मणि दुर्नीतिरपान्तरे श्रियं हरति । तैलेऽनुपभुक्तेऽपि हि दीपशिखा किमु न वाताली ॥’ इति । यस्तु सदाचारवास्तमेवागत्य लक्ष्मीं श्रयते ॥

दिनान्तसंध्यासमयस्वधाशनाम्बुजाननाकोशमिवाखिलागमम् ।

इमं प्रदास्याम्यहमत्र कस्यचिन्महानुभावस्य हृदेत्यचिन्तयम् ॥ ९४ ॥

हे सूर, अहं तत्समस्तपुस्तकं स्वसात्कृत्वा हृदि निजमनसि इत्यमुना प्रकारेणाचिन्तयं विचारितवान् । इति किम् । यदहमत्र जगति मम मण्डले परजनपदे वा वासिनः कस्यचिदसाधारणाचारवत्तया सकलमहीमण्डलाखण्डविख्यातिभाजं महानुभावस्य साधोर्वा इमं पद्मसुन्दरसंबन्धिनमखिलागमं सर्वशास्त्रं प्रदास्यामि । उत्प्रेक्ष्यते—दिनान्तस्य संध्यासमयस्य पितृसूकालस्य स्वधा आहुतिविशेषः अशनं भोजनं यस्य स स्वधाशनस्तस्य अम्बुजानना पद्मवदना । सरस्वती देवतेत्यर्थः । ‘दिनान्तसंध्यासमयस्य देवता’ इति नैषधे । तस्यां कोशभाण्डागारपुस्तकमिव । श्रूयते हि—नवव्याकरणचिकीर्षता हैमाचार्येण सिद्धराजजयसिंहदेवजना स्वकीयश्राद्धाश्च काश्मीरे प्रेषिताः । ते च वाग्देवीवसतिं गत्वा ब्राह्मीं संपूज्यागुरुक्षेपपूर्वं व्याकरणपुस्तकं याचन्ते स्म । तदैव तथा साक्षाद्भूय सन्मूर्तिरेका त्वत्पार्श्वे हैमाचार्यरूपास्तीति राज्ञो वाचिककथनपूर्वं व्याकरणपुस्तकानि समर्पितानि । अन्येषां पूजामार्गणादिविधिना प्रातः पुस्तकं दृश्यते न वाग्देवी । ततः काश्मीरे ब्राह्म्या भाण्डागारोऽस्तीति । तेषु सर्वाणि पुस्तकान्यपि सन्तीति ॥

ततो गुणागण्यमणीमहार्णवा न वीक्षिताः केऽपि दृशा भवादृशाः ।

पदे पदे स्युः किमु निर्जरार्जुनीमणीमहीजन्मनिपावनीधराः ॥ ९५ ॥

हे सूर, ततस्तत्पुस्तकप्रदानयोग्यापरपात्रानवेक्षणरक्षणकारणाद्गुणा एव गणयितुं प्र-
माणीकर्तुमशक्या गणनार्हा गण्या न गण्या अगण्या वा मण्यो रत्नानि तेषा महा-
र्णवा क्षीरनीराशया रत्नाकरत्वात् भवादृशा श्रीमत्सदृशा केऽपि परे दृशा मया
लोचनेन न वीक्षिता दृष्टा । युक्तोऽयमर्थः । हे गुरो, निर्जराणामर्जुनी सुरगवी काम-
धेनु, मणी सुरमाणिक्य चिन्तारत्नम्, महीजन्मान सुरतरव कल्पद्रुमा, निपा सुर-
कलशाः कामकुम्भा, अवनीधरा सुरगिरय मेरुपर्वता । किमु इति प्रश्ने । पदे पदे
स्थाने स्थाने किं स्युः । अपि तु न भवेयुः । निर्जरशब्दादग्रे अर्जुन्यादयः शब्दा यो-
ज्याः । तत कामधेन्वादीनि नामानि भवन्ति । यथा श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथस्तोत्रे—
'गीर्वाणद्रुमकुम्भधेनुमणयस्तस्याङ्गैरिङ्गिणः' इति ॥

इदं तदादत्तसमस्तपुस्तकं मुनीश्वरा मामनुगृह्य शिष्यवत् ।

यदत्र पात्रप्रतिपादनं नृणां भवाम्बुराशौ कलशीसुतीयते ॥ ९६ ॥

हे मुनीश्वरा सूरय, तदुत्तमपात्रत्वादिकारणात् शिष्यवन्निजविनेयमिव स्वभक्त-
मिव वा मामनुगृह्य ममोपरि अनुग्रह प्रसाद विधाय इदं पद्मसुन्दरसत्क श्रीमत्पुरो
मया दौकित समस्तमपि पुस्तकं लिपीकृतशास्त्रजातमादत्तं गृहीतम् । यतो हेतोरत्र
जगति पात्रप्रतिपादनं साधुदानं नृणां भव्यजनानां भवाम्बुराशौ ससारसमुद्रे कलशी-
सुतीयते अगस्तमि(स्तिरि)वाचरति । भवसागरं निष्ठापयति । घटं कुम्भं कलशं
त्रयोऽपि पुष्पिलिङ्गे ॥

मति श्रुतिक्षीरधिपारदृश्वरीं यतो वहन्तः स्थ तपस्विशेखराः ।

इमं ततोऽलंकुरुता मरालवद्विरञ्चिपुञ्ज्या इव वः कराम्बुजम् ॥ ९७ ॥

हे तपस्विशेखरा, तपोरूपं स्वस्वापतेयमस्त्येषामिति तपस्विनः । 'अस्य स्व तपो-
योगसमाधयः' इति हैम्याम् । एतावता श्रमणावतसा श्राम्यन्ति तपसा इति श्रमणा
इति भगवद्विशेषणेन सार्थकं पूर्वोक्तं नाम । यतः कारणात् श्रुतयः शास्त्राणि ता एव
क्षीरधिर्दुग्धाम्भोनिधिस्तस्य पारं दृष्टवतीति पारगामिनी मतिर्बुद्धिर्बहन्तो धारयन्तः
स्थवर्तध्वे । ततोऽद्वैतबुद्धिमत्त्वहेतोरिदं पुस्तकं विरञ्चिपुञ्ज्या 'दशम ब्रह्मण सुता'
इत्युक्तत्वात् विधातुर्नन्दिन्या सरस्वत्या इव वो युष्माकं कराम्बुजपाणिपद्ममलक-
रोतु । किवत् । मरालवत् । यथा राजहंस करतुला रक्तत्वेन कोकनदमलकुरुते । वि-
रञ्चिपुञ्ज्या अपि करकमले पुस्तकमास्ते । 'पुस्तकव्यग्रहस्ता च' इति स्तोत्रे ॥ इति पुस्त-
कोत्पत्तितत्प्रदानकथनम् ॥

इदं तदाकर्ण्य स कर्णकेसरी गिरं न्यगादीत्तमसामवावरीम् ।

अवाप्ततृप्तेरशनैरिवामुना न कृत्यमास्ते बहुधीवरीवर ॥ ९८ ॥

स कर्णकेसरी पण्डितपञ्चाननः सूरिस्तदा पुस्तकदर्शनसमये इदं पुस्तकं यूयं गृहीत इति नृपतिनिगदितमाकर्ण्य श्रुत्वा तमसामज्ञानानां पाप्मना वा अवावरीमपनेत्रीम् । 'ओण् अपनयने' ओण् धातुः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वनिप्रत्ययः । 'णोन्ता-द्वातो ङीप्' इति केचिदिति वन्प्रत्ययस्य ङीप् आगमो नकारस्य राकारादेशः । 'विङ्गनोरनुनासिकस्य' इति सूत्रेण धातोर्णकारस्याकारादेशः । ओकारस्यावादेशः । अवावरी इति सिद्धम्—इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । दुरितहन्त्रीं गिरं वाणीं न्यगादीन् बभाषे । किमुवाच—बहवो धीमन्तो बुद्धिमन्तो वर्तन्ते यस्यां सा बहुधीवरी नगरी श्रीकरी तस्यां वरं पतिस्तस्यां वरं श्रेष्ठं सर्ववेतृत्वात् सर्वाधिपतित्वात्तस्य संबोधनम् । बहुव्रीहौ वा ततो बहुधीवरी बहुधीवा इति प्रयोगद्वयं स्यात् । 'वनोर च' वनन्तात्त्रिया ङीप् रश्चान्तादेशादि सर्वं पूर्ववत् । अयमपि प्रयोगः प्रक्रियायामेव । पुस्तकेन कृत्वा मम किमपि कृत्यं कार्यं नास्ति न विद्यते । कस्येव । अवाप्ततृप्तेरिव । यथा अवाप्ता लब्धा तृप्तिः साहित्यं येन । एतावता आकण्ठमिच्छापूर्णापर्यन्तं भुक्त्वोत्थितस्य पुंसः अशने भोजने कृत्वा किमपि कार्यं न स्यात् ॥

नरेन्द्र यावद्भ्रतिना विलोक्यते तदस्त्यमीषां क्रियतेऽधिकेन किम् ।

विभोरिमां दामवदुद्वहन्हृदा गिरं पुनः क्षोणिपुरंदरोऽवदत् ॥ ९९ ॥

हे नराणां मध्ये इन्द्र सहस्रलोचन साहे, भ्रतिना सर्वविरतिवतामनगाराणां यावत्प्रमाणमध्येतु वाचयितुं विलोकयितुं विलोक्यते तावत्प्रमाणं पुस्तकममीषां यति(ती)नामस्ति विद्यते तर्हि मूर्च्छाकारिणा अधिकेन बहुना किं क्रियते । न किमपीत्यर्थः । पुनः क्षोणिपुरंदरो नृपोऽवदत् जगाद । किं कुर्वन् । विभो सूरेरिमां यावत्पुस्तकं विलोक्यते तावन्मात्रं तत्पुस्तकं वर्तते । साधूनामधिकेनाधिकरणभूतेन पुस्तकेन किं विधीयते न किञ्चिद्विधेयमित्यादिका गिरं वाणीं हृदा मनसा उद्वहन् । किवत् । दामवत् । यथा कश्चिद्भोगी पुमान् हृदा वक्षसा कुसुममालिकामुद्वहते धारयति ॥

ब्रवीमि किं वो बहु येन निःस्पृहा महीधनाकिञ्चनतुल्यचक्षुषः ।

तथापि मन्त्राहुतिसिद्धदेववत्प्रसाद्य मे पिप्रतु यूयमीहितम् ॥ १०० ॥

हे सूरयः, वो युष्मान् प्रति बहु पुनः पुनरधिकं वा किं ब्रवीमि कथयामि । येन कारणेन यूयम् । बहुशब्द उभयत्रापि योज्यते । बहु अत्यधिकं निःस्पृहा कुत्रापि सर्वैरप्यभिलषणीये रमणीयेऽपि वस्तुनि वाञ्छारहिता । पुनः किंभूता । महीधना भूपतयः तथा अकिञ्चना दरिद्राः तेषु लक्षणात्तृणे द्वैणे च अहौ हारे च दृषदि रत्ने च तुल्यविशेषममत्वरहितं चक्षुर्येषाम् । यद्यप्येवविधा स्थ यूयम्, तथापि प्रसाद्य मयि प्रसादं कृत्वा मे मम ईहितं पुस्तकादानलक्षणमभिलषितं यूयं पिप्रतु पूरयन्तु । किवत् । मन्त्राहुतिसिद्धदेववत् । यथा प्रणवमायाबीजवाग्बीजकामबीजादियुक्तेन कृतपूर्वसेवोत्तरसेवाविधिना मन्त्रेण आहुत्या गुग्गुलागुरुफलावलीपञ्चामृतादिह वनः तेन च सिद्धः

प्रसन्नीभूत प्रत्यक्षीभूतश्च देवो मन्त्राविष्ठाता सुसाधकस्य मनोवाञ्छित पूरयति ॥
इति साहे पुस्तकदानाग्रह सूरैर्निषेधवच ॥

यदाददे नैष मुहुर्बहूदितस्तदा हृदा भूपतिनेत्यचिन्त्यत ।

विधीयते किं बहुनिःस्पृहा अमी इवानुरागा न च विक्रमोचिताः॥१०१॥

यदा एष सूरि भूपतिना मुहुर्वारवार बहु अत्यभ्यविकमुदितो विज्ञप्तोऽपि नाददे साहिपुस्तक न गृहीतवान्, तदा भूपतिना अकब्बरेण हृदा मनसा इत्यग्रे वक्ष्यमाण-मचिन्त्यत विचारितम् । अहो किं विधीयते क्रियते । अमी सूरयो नि स्पृहा निरीहा महानुभावा मुक्तिं विना कापि वस्तुनि न साभिलाषा च पुनर्महत्त्वेन विक्रमस्य बला-त्कारस्यापि नोचिता नार्हा । क इव । अनुरागा इव । यथा आदिरागा बलयोग्या न भवन्ति । यत सूक्तम्—‘कविता वनिता गीति स्वयमेवागता वरम् । बलादाकृष्यमा-णापि सरसा विरसा भवेत् ॥’, तथा—‘जरा यौवनस्यु प्राणन होइ जातइ प्राणइ प्राणन होइ । प्राणनाथस्यु प्राणन होइ कीर्तिप्रीतिस्यु प्राणन होइ ॥’ इत्युक्ते । नात्र बलदर्शनमुचितम् ॥

अमीभिरुक्तिर्मम मन्यते न चेत्ततोऽन्तरा कश्चन संधिकर्तृवत् ।

विधीयते यद्विविधोक्तिभिः प्रभूनुरीकृति स्वेन स एव कारयेत् ॥१०२॥

चेद्यदि अभीभिः सूरैर्भिर्मोक्ति मत्कथित न मन्यते नाङ्गीक्रियते तत कारणात् सविकर्तृवत् सविकारक इव कश्चन शेखप्रमुख कोऽपि अन्तरा ममैतेषां च साध्ये विधीयते यत्कारणात्स मध्यविहित एव प्रभून् सूरीन् विविधा नानाप्रकारा या उक्तय अनुनयविनयमत्सामर्थ्यस्वभावजातिप्रकटीकारकाणि वाक्यानि वचनचातुरीविशेषा-स्ताभिः कृत्वा उरीकृति स्वीकार कारयेत् । यतो महत्सु विक्रमो नौचितीमञ्चति किं तु विजसिरेव विवेया, यद्वा कमप्यन्तरा विवायानुनत्या प्रणत्या कथमपि कार्यं कार्य-मिति नीतिः ॥

इमं विकल्पं परिकल्प्य चेतसा विभूषयन्भागमितं क्षितेः परम् ।

मुधारुचेश्वारवशात्सवेशगो ग्रहः पदव्या इव मन्युभोजिनाम् ॥१०३॥

महीमरुत्त्वानथ शेखशेखर प्रतापदेवीतनय तथाह्वयत् ।

ततः सृजन्तौ प्रणतिं ग्रहेशितुर्ग्रहाविवास्यान्तिकमागतावुभौ ॥१०४॥

अथ विचारकरणानन्तरमपरप्रदेशागमनानन्तरं च महीमरुत्त्वान् वरित्रीसुधाशमी शेखेषु यवनानां मान्येषु शेखरमवतसं मुकुटं वा अवलफैजं तथा पुनः प्रतापदेव्यं रामासाधुतृतीयलघुपत्न्यास्तनयं नन्दनं थानसिंहाह्वयं चाह्वयदाकारयामास । किं कुर्वन् । इमं पूर्वोक्तं मनसैव विचारितं विकल्प्य विचारं चेतसा चित्तेन परिकल्प्य कल्पयित्वा इतः सूरिपार्श्वोत्परमन्यं क्षितेर्भूमेर्भागं प्रदेशं म्यानं विभूषयन् सेवालकुर्वन् । क इव ।

ग्रह इव । यथा भौमादिग्रहः चारवशाद्गतिविशेषायत्तत्वात् सवेशग समीपप्राप्तः सुवारुचेश्चन्द्रस्य पार्श्वात्पर मन्यु यज्ञाश भुञ्जते इत्येवशीला देवास्तेषां पदव्या मार्गस्य गगनस्य भागमन्य प्रदेश भूषयति । तत साहिना आकारणानन्तरमुभौ शेखथानसिंहौ प्रणति 'पातिसाहिसलामत' इत्युक्त्वा भूमौ हस्त दत्त्वा पुनर्भाले ददतौ पुनस्तदेव वदन्तौ तथैव विदवातौ च इति सलाममिति यवनजातिषु नमस्कृतेरभिधानं तामेव सृजन्तौ कुर्वाणौ सन्तौ अस्य साहेरन्तिक सनिधानमागतौ । काविव । ग्रहाविव । यथा कौचिच्चारवशाद्ग्रहेषितु सूर्यस्य पार्श्वे आगच्छत ॥ युग्मम् ॥

अमी न गृह्णन्ति मदीयपुस्तकं निरीहभावेन बहूदिता अपि ।

ततो युवा ग्राहयता कथंचनाप्यमून्यशो मूर्तमिवेन्दुसुन्दरम् ॥ १०५ ॥

हे शेखथानसिंहौ, अमी सूरयो मया बहूदिता वारवार विज्ञप्ता अपि निरीहभावेन नि स्पृहत्वेन मदीय मम सबन्धि अथ वा पद्मसुन्दरसत्कमपि मदधीनत्वान्मदीयमेव मदत्त पुस्तकं न गृह्णन्ति नाददते, तत कारणाद्युवा भवन्तौ सूरिपार्श्वे गत्वा बहु बहु उक्त्वा कथंचन केनचित्प्रकारेणापि विज्ञप्त्यनुनयमत्सामर्थ्यान्वयप्रकटनप्रकारेणापि अमून् सूरिन्प्रति इन्दुसुन्दर चन्द्रोज्ज्वल मूर्तं प्रत्यक्ष यज्ञ कीर्तिमिव मदीयपुस्तकं ग्राहयता आदापयताम् । स्वीकारयतामित्यर्थः ॥

इदं गदित्वान्तरिते स्थिते नृपेऽशुमालिनीवाभ्रकशालिनि क्षणात् ।

उपेत्य तावूचतुरित्यमून्प्रति प्रणीततत्पदकजरेणुचित्रकौ ॥ १०६ ॥

उपेत्य प्रभुपार्श्वे समेत्य तौ शेखथानसिंहौ अमूनेतान्सूरीन्प्रति इत्यग्रे वक्ष्यमाण ऊचतु कथयतः स्म । किभूतौ । प्रणीतं विहितं तत्पदकजरेणुभिर्नमस्करणसमये सूरिचरणारविन्दरजोभिश्चित्रकं भालस्थले तिलकं याम्या तौ । कस्मिन् सति । इदं पूर्वोक्तं गदित्वा भाषित्वा अभ्रके मध्ये मध्ये शालते शोभते इत्येवशीले अभ्रकेणादृश्यमाने अशुमालिनि भास्करे इव अन्तरिते व्यवहिते नृपे राज्ञि स्थिते सति । सूरैरदृग्गोचरे नृपो जात इत्यर्थः ॥

इदं व्रतीन्द्राः क्षितिशीतदीधितेर्गृहीतवत्तिष्ठति धाम्नि पुस्तकम् ।

दधाति खेदं पतितं यतः क्षिते रजःस्थितं रत्नमिवात्र गृह्यताम् ॥ १०७ ॥

हे व्रतीन्द्रा सूरय, इदं पुस्तकं गृहीतवद्वृन्दीकृतमिव क्षितिशीतदीधितेरकब्बरस्य धाम्नि तिष्ठति स्थितिमाधत्ते । यत कारणादत्र साहिगृहे पतितं खेदं विषादम् । तयोर्भाषया 'अदाबम्' इत्युच्यते । दधाति वत्ते । किमिव । रत्नमिव । यथा क्षिते पृथिव्या रजःस्थितं धूलीभिः स्थगितं छादितं भाणिक्यं खेदं बिभर्ति म्लेच्छमुद्गलगृहत्वादृज इत्युक्तं पुस्तकं वन्दिमोचनकारणवच्छ्रीमद्भिः गृह्यताम् ॥

हमाउंसूः सोमयशोऽङ्गजन्मवद्ददाति पात्रं गुरवो युगादिवत् ।

रसो यथेक्षोरपि वस्तु पुस्तकं कथं न गृह्णीथ तदर्हमात्मनः ॥ १०८ ॥

हे सूरय , हमाउसूरकब्बरपातिसाहि सोमयशसो बाहुबलेर्बृहत्पुत्रस्य यन्नामा चन्द्रवशोऽजनि तस्याङ्गजन्मा पुत्र श्रेयासस्तद्वददाति । आवश्यकवृत्त्यनुसारेण बाहुबलिसुत सोमप्रभस्तस्य पुत्रो युवराज श्रेयास । आवश्यकचूर्णौ तु 'भरहस्स पुत्रो सेजसो अन्ने भणति । बाहुबलिस्स पुत्तो सोमप्पभोसे असो अत्ति तत्त्व केवल्लिगम्यम् ॥' पुनर्युगादिवत् वृषभजिनेन्द्रा इव । गुरवो यूय पात्र सम्यक् श्रेयो बुद्ध्या दानोचितं स्थानमपि तु पुनर्यथा इक्षो रसालस्य रस स्यन्द तत्राभूत् । तथा अत्र पुस्तक दातव्यवस्तु । 'अथेक्षु स्याद्रसालोऽपि पत्रक' इति हैम्याम् । तथा 'रसाल इक्षौ दूते च' इत्यनेकार्थः । ततो दातृपात्रसुवस्तुत्रयाणामप्यत्र सयोगो वर्तते, तत्कारणादात्मनः स्वस्यार्हमुचितं ग्रहीतु योग्य यूय कथं केन प्रकारेण न गृह्णीथ ग्रहयन्वे । अवश्य गृह्यतामेवेति थानसिहोक्तिः ॥

अमुं च जानीथ न मुद्गलेश्वर निदेशशूरं द्विषतां निषूदनम् ।

दिगीश्वरा यच्चकिता इवाखिलास्त्यजन्ति नाद्यापि दिगन्तवासिताम् ॥

हे प्रभव , च पुनरमुमकब्बर परेषा मुत् हर्षो गलति द्रवीभवति । यातीत्यर्थः । येभ्यस्ते मुद्गलास्तेषामपीश्वर पराभवनकरणे समर्थ स्वामिन च ऐन्द युगीनचक्रवर्तिन न जानीथ सम्यक् हृदये न वित्थ नावधारयत । निदेशे आज्ञाया शूरमतिकठिनं य आज्ञा न मन्यते त स्वशासनोलङ्घिनमवश्यमेव निगृह्णाति । पुन किभूतम् । द्विषता वैरिणा निषूदन मूलादुन्मूलनकारकम् । हे प्रभव , अखिला समस्ता अपि दिगीश्वरा दिक्पाला । उत्प्रेक्ष्यते—यच्चकिता यस्माद्भयभ्रान्ताः सन्त इव दिशामाशानामन्तेऽवसाने सन्तीत्येवशीलास्तेषां भाव दिशा प्रान्तेषु दूरे निवसनशीलतामद्यापि एतद्दिनं यावन्न त्यजन्ति ॥

निजानुकूलीभवता तनूमता सुधालतेव व्रतिचक्रवर्तिनः ।

प्रविभ्रता स्वप्रतिकूलता पुनर्विषस्य शाखीव समुन्मिषत्यसौ ॥ ११० ॥

हे व्रतिचक्रवर्तिन , असावकब्बरो निजस्यात्मनोऽनुकूलीभवता सेवाहेवाकिभाव भजता तनूमता नराणां राजसामन्तादयः सर्वेऽपि तनूमन्त एवेति । सुधालता अमृतवल्लिरिव समुन्मिषति जीवातुरिवोदेति । पुनरसौ साहि स्वस्यात्मनः प्रतिकूलता विलोमभाव प्रद्विष्टभाव प्रविभ्रता विद्विषता विषस्य क्ष्वेडस्य कालकूटस्य शाखी वृक्षः किपाकतरुः समुन्मिषत्युद्गच्छति ॥

यदात्मनोर्व्या परमेश्वरा इवागताः स्थ साक्षादुपकर्तुमङ्गिनाम् ।

इदं विदन्त्येव मुनीन्दवो हृदा द्विरुक्तितुल्यं पुनरावयोर्वचः ॥ १११ ॥

हे मुनीन्दव , यत्कारणाव्यूयमुर्व्यामस्मिन् भूमीलोके अङ्गिना साक्षात्प्रत्यक्षीभूय प्रकटमुपकारं कर्तुं विधातु साक्षात्स्वरूपेण । उत्प्रेक्ष्यते—परमेश्वरा इवागता जगन्नाथा इव स्वयं समायाताः स्थ वर्तन्ध्वे । ततः कारणादिदमस्मदुक्तं साहिस्वभावादिकं सर्वं

हृदा स्वमनसा कृत्वा हृदि सम्यग्विमृश्य सर्वं च श्रीमन्तो विदन्त्येव । यतः परमेश्वरत्वं
ततः सर्वज्ञत्वमप्यास्ते तेन जानन्त्येव । पुनरावयोर्वचः साहिस्वरूपनिरूपणवचन द्विरु-
क्तितुल्य पुनर्भाषणसाधारण केवल पिष्टपेषणमेव ॥

स्ववत्तदादत्त समस्तपुस्तकं स्थितौ गदित्वेति पुरः प्रभोरुभौ ।

ततो विनेया अपि तद्वभाषिरे निवार्यते कैः स्वयमागतेन्दिरा ॥११२॥

उभौ शेखथानसिंहौ प्रभोर्हीरसूरे. पुरोऽग्रे इत्यमुना प्रकारेण गदित्वा स्थितौ तूष्णीं
कृतवन्तौ इति पूर्वोक्तकारणात्स्ववदात्मीयमिव समस्तपुस्तकमादत्त ग्रहयताम् । ततस्त-
योरुक्तेरनु पश्चात् विनेया हीरसूरिशिष्याः वाचकविचक्षणगणिप्रमुखा गीतार्था अपि
शेखथानसिंहकथित स्वीकारयोग्यमास्ते तद्गृह्यतामिति तत्तदुक्तमेव बभाषिरे प्रोचुः ।
युक्तोऽयमर्थः । स्वयमात्मनैवागता सप्राप्ता इन्दिरा लक्ष्मी कैर्मूर्खैर्निवार्यते निषिध्यते ।
अपि तु न कैश्चिदपि ॥

अवेत्य चेतस्यमुना समुन्नति स्वशासने पुस्तकसंग्रहेण सः ।

मुदामिवौङ्कार इदंक्षितिक्षितस्तथेति वाचंयमवासवोऽवदत् ॥ ११३ ॥

वाचयमवासव यतिजम्भाराति तथेति एवमस्तु मया साहिप्रदत्त पुस्तकं ग्रहीष्यते
इत्यवदत् भाषते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इदक्षितिक्षित अस्याकब्बरपातिसाहेर्मुदा परमा-
नन्दानामोङ्कार आदिरिव । किं कृत्वा अवदत् । इत्यमुना मुद्गलाखण्डलेन चतुर्दिग-
धिपतिना पातिसाहिना स्वयमत्यागृह्य प्रदत्तानामेतत्पुस्तकानां संग्राहणं कृत्वा स्व-
शासने जैनमते तपागच्छे वा समुन्नति दीप्तिमुद्द्योत वा प्रभावानां चेतसि स्वहृदये
अवेत्य विज्ञाय ॥

उपेत्य ताभ्यां तदभाषि भूपतेस्तदेष निश्चेतुमपृच्छदात्मना ।

मुदं प्रणेतुं द्विगुणामिवावनीमणेर्गणेन्द्रोऽप्यवदत्तथैव तम् ॥ ११४ ॥

ताभ्यां शेखथानसिंहाभ्यामुपेत्य पातिसाहिसमीपे समागत्य भूपतेरकब्बरस्य
तत्सूरिकथितपुस्तकस्वीकारवचं अभाषि प्रतिपादितम् । पुनः साहिस्तयोस्तद्वचो
निश्चेतुं सत्यतया ज्ञातुमात्मना स्वेन स्वयं वा तानपृच्छत् प्रश्रयति स्म श्रीमद्भिर्मदीय
पुस्तकं गृहीतं न वेति स्वयं पुनः पृष्ठवान् । अपि पुनर्गणेन्द्रो गच्छनायकोऽपि तं भू-
पतिं तथेति मया श्रीमत्पुस्तकं गृहीष्यते गृहीतं वा इत्येवमवदत् जगाद । उत्प्रेक्ष्यते—
अवनीमणेरकब्बरस्य मुदमानन्द द्विगुणां प्रणेतुं विवातुमिव ॥ इति शेखथानसिंहवि-
ज्ञपनात्साहिपुस्तकग्रहणम् ॥

दयान्वितं धर्ममवाप्य सद्गुरोरिवार्णवात्कृष्णलताङ्गविद्रुमम् ।

स थानसिंहं यवनावनीधनस्ततः समाहूय गिर गृहीतवान् ॥ ११५ ॥

सूरिणा ततः पुस्तकादानस्वीकारकथनश्रवणानन्तरं वा योऽकब्बरसाहि यवनास्तु-

रुष्का प्रस्थानालाभपुरीयादयस्तथा मुद्रला काबिलखुरासानादिजनपदजन्मानो म्लेच्छास्तेषामवनीधनो राजा थानसिह समाहूय आकार्य गिर वाणी गृहीतवान् जल्पति स्म । किं कृत्वा । सद्गुरो श्रीहीरविजयसूरिसकाशाद्यान्वित कृपाकलित धर्ममवाप्य लब्ध्वा । कमिव । कृष्णलताङ्गविद्रुममिव । यथा कश्चिदर्णवाज्जलनिधे कृष्णलता 'कालीवेलि' इति लोके प्रसिद्धा । सा अङ्गे हृदये मध्ये यस्य तादृश प्रवाल लभते ॥

मदीयतूर्यादिनिनादसादरं जगज्जनानन्दिमहेन मेदुरम् ।

त्वमालय लम्भय साधुसिन्धुरं तटं शशीवामृतवाहिनीवरम् ॥ ११६ ॥

हे थानसिह, त्व साधुसिन्धुर श्रीगुरु मदीयानि तूर्याणि मम सबन्धीनि वादित्राणि तेषा निनादैर्घोषै सहादैरैर्वर्तन्ते एव स्यात्तथा आलय स्वावासमुपाश्रय वा लम्भय प्रापय । क इव । शशीव । यथा चन्द्रमा अमृतवाहिनीवर सुधासिन्धुधव क्षीरसमुद्र तट वेलावनी लम्भयति । प्यन्तात्कर्मद्वयम् । पुन कथम् । जगता भुवनाना जनान् सुरासुरनरानानन्दयति प्रमोदयतीत्येवशीलेन महेनोत्सवेन कृत्वा मेदुर स्यादेवम् ॥

प्रमाणमाज्ञा जगतीवसन्तिका सृजामि निःशेषमिद नियोगिवत् ।

पुरा मदीहा पुनरीशशासनं पयस्तदेतत्सितया करम्बितम् ॥ ११७ ॥

हे प्रभो, जगतीवसन्तिका समस्तक्षोणीचक्रशिर शेखरायमाणा । 'आपीडशेखरोत्तसा वतसा शिरस सृजि' इति हैम्याम् । 'विदर्भसुभ्रूथ्रवणावतसिका' इति नैषधे । आज्ञा श्रीमदादेश प्रमाण शिरस्यारोपयामि । हे स्वामिन्, इद श्रीमत्प्रसादित नि शेष समस्तमपि सृजामि करोमि । किवत् । नियोगिवत् । य कश्चित्स्वस्य सुकरे दुष्करेऽपि कार्य आप्रयुक्त स वनिजजीवमपि दुःखात्कृत्यकृत्य कुरुते स नियोगी सेवक इव । यद्यप्यह श्रीमत्सेवकोऽस्मि पर नियोगिवत्कार्यकर्ता नास्मि केवल सेवाकायेव । यथा परे नियोगिन आश्रवा श्रीमद्वार्ताकारका श्रीमन्निर्दिष्ट कार्य कुर्वन्ति तथाहमपि करोमीत्यर्थ । पुनर्हे प्रभो, पुरा पूर्व मदीहा मम वाञ्छा आसीत् । यदेतान्महामहेन खालय नयामि । पुनस्तदुपरि ईशस्य पृथ्वीनाथस्य पातिसाहे शासन आदेश तदेतत्सितया शर्करया करम्बित मिश्रित पयो दुग्ध दुग्धपानमिव सजातमिति ॥

अथैनमापृच्छ च स भूमिभूषणं प्रदाय धर्माशिषमात्मना पुनः ।

सहानगारैर्निरगात्समाजतः शशीव तारैः शरदभ्रगर्भतः ॥ ११८ ॥

अथ थानसिहस्य साहेस्तूर्यदानाद्यादेशानन्तर स सूरिरनगारै सहागतसाधुभि सह समाजत सभामध्यान्निरगात् निर्जगाम । क इव । शशीव । यथा कौमुदीपतिस्तारे-स्तारकैरुपलक्षाद्बहुभि । 'प्रथममुपहत्यार्य तारैरखण्डिततन्दुलिः' इति नैषधे । तार-शब्दोऽकारान्त । सर्वज्योतिर्भि सार्व शरदभ्रस्य शारदीनघनाघनस्य गर्भत उदरात् निर्गच्छति । कि कृत्वा निर्गत । एनमकब्बर भूमिभूषण क्षोणीमण्डलमार्तण्डमापृच्छ च

वय वसतो व्रजाम इत्युक्त्वा पुनरस्य साहेरात्मना स्वेन धर्माशिष धर्मलाभ प्रदाय दत्त्वा ॥ इति साहिना गोष्ठीकरणानन्तर सभावहि पादावधारण प्रभो. ॥

तदा चकोरायितमर्णवायितं रथाङ्गितं कैश्चन कैरवायितम् ।

स्रवन्मुदसैश्च विधूपलायितं विलोक्य यद्वक्त्रमृगाङ्गमङ्गिभिः ॥ ११९ ॥

तदा तस्मिन्नकब्बरसभाया बहिः प्रभोरागमनावसरे यस्य गुरोर्वक्त्र मुखमेव मृगाङ्ग चन्द्र विलोक्य कैश्चनाङ्गिभिर्जनैश्चकोरायित सूरिमुखलावण्यामृतपानकारिभिर्ज्योत्स्ना-प्रियैरिवाचरितम् । पुन कैश्चनार्णवायित प्रोलसितप्रह्लादकल्लोलपटलीप्रवर्धमानाङ्ग-रोमाञ्चचञ्चलशालिशफरितसमुद्रैरिवाचरितम् । समुद्रा हि चन्द्रमालोक्य प्रवर्धन्ते इति जगत्स्वभाव । कल्पसूत्रेऽपि क्षीरसमुद्रे कल्लोलोर्मयोऽपि दृश्यन्ते । तथा 'वेलावनीव-नततिप्रतिबिम्बचुम्बिकिर्मीरितोर्मिचयचारिमचापलाभ्याम्' इति नैषधे क्षीरसमुद्रवर्णने । पुन कैश्चन रथाङ्गितम् । तादृश जगज्जनैरभिनन्द्यमान प्रभुहृदयमालोक्य । हृदयेऽभ्य-सूयाद्वैतदु ख दवानै कुपाक्षिकै चक्रवाकैरिवाचरितम् । चन्द्रोदये हि चक्रवाकाना दु खमित्यपि जगत्स्वभाव । यदुक्तम्—'कथय किमपि दृष्ट स्थानमत्र श्रुत वा व्रजति दिनकरोऽय यत्र नास्त कदाचित् । इति विहगसमूह नित्यमापृच्छयमानो रजनिविरह-भीतश्चक्रवाको वराक ॥' इति चक्रवाकाष्टके । पुन कैश्चित्कैरवायित विकसितनयनै कुमुदैरिवाचरितम् । पुन कैश्चन । स्रवन्ति नि सरन्ति यानि हर्षाश्रूणि प्रमोदबाष्पाणि तै कृत्वा विधूपलायित चन्द्रकान्तरत्नैरिवाचरितम् । चन्द्रोदये हि चन्द्रकान्तमणयो हि अमृत क्षीरं वमन्तीति लोकरूढि कविसमयश्च । तथा 'यदगारघटादृकुट्टिमस्रवदिन्दू-पलतुन्दिलापया' इति नैषधेऽपि ॥

तदाभवद्भूमिनभःप्रचारिणा जयारवो भूपुरहूतवर्मनोः ।

समीक्ष्य सूरैर्महिमानमुत्तम हृदा दधाने इव रोदसी स्तुतः ॥ १२० ॥

तदा तस्मिन्नवसरे भूर्भूमी पुरहूतवर्म नभोज्ञः । 'बहुवगाढसुरेश्वराध्व' इति नै-षधे । 'सुरेश्वरस्य शक्रस्य अन्वा मार्ग' इति तदर्थः । तयोर्विषये भूमिनभ प्रचारिणा भूचराणा समस्तमानवाना खेचराणामदृश्यान्तरिक्षचारिणा सिद्धगन्धर्वविद्यावराणा जिनशासनाविष्टायकसुराणा वा यानाना विविधगजवाजिशिबिकासुखासनस्पन्दानाम् । उपर्यारोहकत्वेनान्तरिक्षचारिता । तेषामुच्चै स्थितत्वेन खेचराणा नराणा जयारव जयजयेति निनाद अभवत्सजायते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सूरैर्मुनीन्दोर्महिमान मा-हात्म्य समीक्ष्य सम्यगवलोक्य हृदा मानसेन कृत्वा अद्भुतमाश्चर्यं दधाने विभ्राणे रोदसी भूमीनभसी दिवस्पृथिव्यौ वा स्तुत स्तुति कुरुतः ॥

मिलत्पयोवाहपयोधिगर्जितैरिवाहतातोद्यनिनादसान्द्रितैः ।

प्रमोदमाद्यत्तुमुलैस्तनूमां जगत्तदा शब्दमयं स्म जायते ॥ १२१ ॥

तदा तस्मिन्वसतिसमागमनसमये तनूमता भविकजनानां प्रमोदेन प्रोल्लसत्प्रबलप्र-
ह्लादेन माद्यन्तो बहुलीभवन्तो ये तुमुला व्याकुलशब्दा 'अव धावत यात मुञ्चत पुर
पन्थानम्' इत्यादिकोलाहलास्तै कृत्वा जगद्विश्व शब्दमय केवल नादस्वरूप जायते
स्म । किभूतै तुमुलै । आहतानि हस्तदण्डादिभिस्ताडितानि उपलक्षणान्मुखैर्वादितानि
च परस्पर दण्डैर्वा घर्षितानि आतोद्यानि नानाविधानि वादित्राणि तेषा निनादैर्निर्घोषै-
सान्द्रितैर्नोरन्ध्रीभूतै । उत्प्रेक्ष्यते—मिलन्त श्लिष्यन्त दिग्दिग्भ्य आगत्य एकीभ-
वन्तो वा अविरलसलिलपटलै पर्युन्नमन्तो वा पयोवाहाः प्रबलजलभृतगर्भधना यत्र
तादृशस्य पयोधेर्गर्जितैर्गम्भीरधीरारवैरिव ॥

कुलाङ्गनाभिः प्रभुमूर्ध्नि हैमनप्रसूनमुक्ताफललाजराजिभिः ।

ववर्षिरे प्रावृषि मेघपङ्क्तिभिस्तदाम्बुधारा शिखरे गिरेरिव ॥ १२२ ॥

तदा तस्मिन्व्यतिकरे प्रभुमूर्ध्नि हीरसूरेर्मस्तकोपरि कुलाङ्गनाभिः सुकुलोद्भवसधवव-
धूभिर्हैमनानि हेमनामिमानि सुवर्णसबन्धीनि । 'हीराङ्कुरश्चारुणि हैमनीव' इति नैषधे ।
'हैम अकारान्त पुनपुसके नकारान्तस्तु नपुसके एव' इति लिङ्गानुशासनावचूर्णौ । प्रसू-
नानि कुसुमानि । उपलक्षणात् रूप्यपुष्पाणि च । तथा मुक्ताफलानि मौक्तिकानि ।
तथा लाजा अक्षता उपलक्षणादक्षततन्दुलाश्च तेषा राजय श्रेणयो ववर्षिरे वृष्टाः ।
काभिरिव । मेघपङ्क्तिभिरिव । यथा प्रावृषि वर्षाकाले वाराधरवोरणीभिर्गिरे पर्वतस्य
शिखरे शृङ्गोपरि अम्बुधारा पय प्रवाहा वर्ष्यन्ते । 'वर्ष वर्षणे' वातु । यदु-
क्तम्—'गर्जति शरदि न वर्षति वर्षति वर्षासु नि स्वनो मेघ' इति वचनात् ॥

पराध्यसंख्यैः पुरुषै परिष्कृतः प्रभुर्महे बिभ्रति मेदसा भरम् ।

चतुर्निकायप्रभवैरिवामरैः प्रतिष्ठते स्म त्रिजगत्पुरंदरः ॥ १२३ ॥

प्रभुर्हीरसूरि प्रतिष्ठते स्म । राजद्वाराद्वसतिं प्रति प्रचलति स्म । कस्मिन् सति । महे
यानसिंहादिश्राद्धजननिमित्तमहोत्सवे मेदसा पुष्टीना भरमतिशय बिभ्रति वारयति
सति । 'तपर्तुपूर्तावपि मेदसा भरा विभावरीभिर्बिभराबभूविरे' इति नैषधे । किभूतै
पुरुषै । पराट्या सर्वोत्कृष्टा लौकिकसख्या । यथा 'एक दश शत सहस्रमयुत लक्ष
प्रयुत कोटी अर्वमब्ज खर्व निखर्व महाम्बुज शङ्कु वार्विरन्त्य मध्य पराध्यमेतत्प्रमा-
णैर्गणनातीतैर्मनुष्यै प्रकृष्टा वा सख्या प्रमाणमुत्तमो विचारो वर्मतत्त्वादिको वितर्को
येषाम् । 'सख्यैकादौ विचारे च' इत्यनेकार्थ । 'पराध्य च प्रकृष्टे स्यात्सख्यायामपि' इति
अनेकार्थ । परिष्कृत परीत परिवृत । क इव प्रतस्थे । त्रिजगत्पुरंदर इव । यथा
जगत्रयीनायकस्तीर्थकर चत्वारो निकाया नराणि भवनानि ज्योतिर्विमानानि कल्पवि-
मानानि च गृहाणि येषा चत्वारो निकाया सघा समुदाया वा येषाम् । अथ वा
व्यन्तरभवनपतिज्योतिष्कवेमानिकलक्षणा निकाया वैक्रियशक्तिकामचारिदेवत्वेन स-
मानधर्मिकजातिप्रभवै । 'निकायस्तु सधर्मिणाम्' इति हैम्याम् । 'निकाय सन्नस-

ययोः । परमात्मनि लक्ष्ये च' इत्यनेकार्थं । तादृशैरमरै । 'चतुर्विधामर्त्यनिकायकोटिर्ज-
घन्यभावादपि पार्श्वदेशे' इति हैम्याम् । परिवारित प्रतिष्ठते । पथीत्यध्याहार ॥

निपीयमानो नयनैर्मृगीदृशामिवार्च्यमानो विकचाम्बुजन्मभिः ।

प्रणूयमानः कविभिर्नवस्तवैर्जगत्पृणन्वीर्यगुणैश्च वास्तवैः ॥ १२४ ॥

मृगारिरद्रेरिव कदरोदरे कृशोदरीणां मनसीव मन्मथः ।

अमर्त्यदन्ती चतुरे हरेरिव व्रतिक्षितीन्द्रो वसतौ विवेश ॥ १२५ ॥

स व्रतिक्षितीन्द्र हीरविजयसूरिराजो वसतो उपाश्रये विवेश प्रविष्टवान् । क इव ।
मृगारिरिव । यथा कण्ठीरव अद्रे पर्वतस्य कदरोदरे गुहामध्ये प्रविशति । पुन क इव ।
मन्मथ इव । यथा मनोभव कृशोदरीणा तरुणीना मनसि चित्ते प्रविशति । पुन क
इव । अमर्त्यदन्तीव । यथा सुरगज ऐरावणगज. हरेरिन्द्रस्य चतुरे हस्तिशालाया
प्रविशति । 'हस्तिशाला तु चत्वरम्', 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इति हैम्याम् । स कि क्रिय-
माणः । मृगीदृशा सारङ्गीलोचनानाम् । 'सारङ्गी सिंहशाव स्पृशति सुतविया नन्दिनी
व्याघ्रपोतम्' इत्यादि समवसरणवर्णने । नयनैर्नैत्रैर्निपीयमान सादर निरीक्ष्यमाण ।
उत्प्रेक्ष्यते—विकचाम्बुजन्मभिरुन्निद्रन्नीलोत्पत्तिरिवार्च्यमान पूज्यमान इव । पुन कि
क्रियमाण । कविभि काव्यकर्तृभि. पण्डितैर्वा नवस्तवै सद्यस्कै काव्यै स्तुतिभिर्वा
प्रणूयमानो वर्ण्यमान स्तूयमान । स कि कुर्वन् । वास्तवै । स्वाभाविकै जिनवज्जन्मका-
लोत्पन्नैः स्वीयगुणै कृत्वा जगद्विश्वलोक पृणन आनन्दयन् ॥ इति सूरै समह
वसतावागमनम् ॥

प्रतापदेवीतनयस्तदुत्सवे समर्थयन्नार्थिततेर्मनोरथान् ।

दरिद्रमुद्रामभिनत्तमां तटी प्रवाहवत्प्रावृषि वार्धियोषितः ॥ १२६ ॥

तस्मिन् सूरैरुपाश्रयसमागमनमहामहे प्रतापदेवीतनय स्थानसिंह अर्थिततेर्याचकश्च
णेर्मनोरथानभिलाषान् समर्थयन् दरिद्रमुद्रा दु खवस्थामभिनत्तमामतिशयेन भिनत्ति स्म ।
किवत् । प्रवाहवत् । यथा प्रावृषि बहुसलिलभरनिर्भरातिसमुन्नमननिरन्तरनिष्पतन्नीर-
धाराधोरणीबन्धुरवारावरसमये वार्धियोषित समुद्रमहिलाया नद्या प्रवाह पानीयपूर
तटीं सरिदुभयसमीपोच्चभूमीम् । तीरभित्तिमित्यर्थः । भिनत्ति पाटयति ॥

तडिद्वता तस्य निजातिपातुका समीक्ष्य सर्वार्थिषु कामवर्षिताम् ।

शितीकृतास्येन पदं मुरद्विषो निषेव्यते तत्तुलनाकृते किमु ॥ १२७ ॥

तडिद्वता विद्युद्वनितानुषङ्गभाजा मेघेन तत्तुलनाकृते तदवसरदानशौण्डीभवत्स्थान-
सिंहसमानताप्राप्तये । उत्प्रेक्ष्यते—मुरद्विष पद निषेव्यते विष्णुपद व्योम समुपास्यते
इव । किभूतेन तडिद्वता । शितीकृत कृष्ण विहितमास्य वदन येन । कि कृत्वा । तस्य
थानसिंहस्य निजमात्मानमतिपतति अतिक्रामतीत्येवशीला निजातिपातुका काम-

मतिशयेन कामानभिलाषान् वर्षति संपूरयति इत्येवशीलः कामवर्षी तस्य भावस्तत्तां समीक्ष्य दृष्ट्वा । ‘सरूपाणामेकशेष -’ इत्येककामशब्दलोपः ॥ इति थानसिंहकृतसूरिसमागममहोत्सवः ॥

स्वकोशरक्षाधिकृतस्य भूमिमानिवाखिलक्षोणिजयार्जितैर्धनैः ।

विधाय कोशं नृपदत्तपुस्तकैः स स्थानसिंहस्य वशंवदं व्यधात् ॥१२८॥

स हीरविजयसूरि नृपेणाकब्बरसाहिना दत्तैरुपदीकृतैः पुस्तकैः कोशं भाण्डागारं विधाय स्वयं निष्पाद्य स्थानसिंहस्य वशवदमायत्तं व्यधाच्छक्रे । क इव । भूमिमानिव । यथा पृथ्वीपालः अखिलाया समस्ताया क्षोणे पृथिव्या जयेन स्वायत्तीकरणेनार्जितैः संचितैर्धनैः द्रविणैः । इदं तु सावितत्रिखण्डवसुवामण्डलस्यैव मण्डलीकस्य राजाधिराजस्य घटते । कोशं निर्माय स्वस्यात्मनः कोशस्य भाण्डागारस्य रक्षायामधिकृतस्यादत्तस्य सम्यग् नीतिमत्सत्यवाक् स्वामिभक्ततया अङ्गीकृतस्य भाण्डागारिणो वशं विधत्ते ॥ इति पुस्तककोशः ॥

क्रमान्महादेशमिवावनीशितुर्निदेशमासाद्य पयोधरोदये ।

फतेपुरात्स प्रभुरागरापुरं पवित्रयामास पदाम्बुजन्मभिः ॥ १२९ ॥

स प्रभुः सूरिः पयोधरोदये वर्षाकालप्रारम्भे क्रमादनुक्रमतः फतेपुरात् श्रीकरीनगरात् उग्रसेनपुरापरपर्यायमागरा इति नाम पुरं पदाम्बुजन्मभिः चरणकमलैः कृत्वा पवित्रयामास पावनीकरोति स्म । किं कृत्वा । क्रमात्क्रियद्भिर्वासरैरवनीशितुरकब्बरसाहे-निदेशमाज्ञामासाद्य प्राप्य । कमिव । महादेशमिव । यथा कश्चिद्राजरञ्जक राज्ञः सकाशान्महान्तं जनपदमासादयति लभते ॥ इत्यागरानगरे गमनम् ॥

न राजहसान्क्वचनं प्रवासयन्वियोगिनोऽपि प्रणयश्च निर्वृतान् ।

न दुर्दिनं कापि सृजंस्तमोद्विषं न च द्विषन्निर्दलयञ्जलोदयम् ॥ १३० ॥

मनोभवः वाभिभवङ्गुरोर्महो न निह्रुवानः स्थिरता पुनर्वहन् ।

अभूदपूर्वं प्रभुरम्बुदः पुरे जिनक्रमोपासनकृद्दिवानिशम् ॥ १३१ ॥

प्रभुर्हीरसूरिः पुरे तत्रागरानगरे अपूर्वोऽसावारणोऽम्बुदो मेघोऽभूद्भूवः । किं कुर्वन् । राजसु नृपेषु हसा प्रधानास्तान्नं प्रवासयन् न पीडयन् । आनन्दयन्नित्यर्थः । ‘सहरति निर्दलयति निर्वासयति प्रवासयति’ इति क्रियाकलापे हिंसार्था क्रिया । यदि वा नृपश्रेष्ठान् प्रकर्षेणातिशयेन वासयन् दयादिधर्मतत्त्वे स्थापयन् वासं कारयन् । अथ वा कृपाधर्मसुगन्धवस्तुसौरभेण न सुगन्धीकुर्वन्नपि वासयन्नेव । नकारः काक्कर्त्तृवाची । मेघस्तु वर्षाकाले हसान्मानसं प्रति प्रस्थापयति । यथा—‘प्रोषितकलह-सवयसि’ इति चम्पूकथायाम् । ‘प्रोषिता मानसं प्रस्थापिता हसपक्षिणो येन’ इति तट्टित्तिः । पुनः किविशिष्टः । विशिष्टः मनोवाक्कायसबन्धी अथ वा यमाद्यङ्गयुक्तः प्रश-

स्तोऽन्यो वा योग एषामस्तीति । यदि वा सर्वसांसारिकसङ्गाद्वियोगो विरह पृथ-
ग्भावो विद्यते येषां ते वियोगिनः संयमिनस्तेषां निवृत्तिर्भोक्ष प्रणयन् कुर्वन् ।
विरहिणामपि प्राचीनाचीर्णकर्मपरिणतिप्रकटनपूर्वं ससारानित्यता प्रकटयन् धर्मोपदेश-
प्रदानादिना सुखयन् । मेघस्तु वियोगिनो व्यथयति । पुनः किंभूतः । कापि कुत्रापि
स्थाने दुर्दिनं दुष्टं दिवसं न सृजन् । अपि तु प्रतिबोवप्रदानेन धर्ममाहात्म्यात्सुदिवसानेव
कुर्वन् । मेघस्तु दुर्दिनं घनघटासघटप्रकटीभवद्विकटान्धकारं करोति । च पुनस्त-
मसामज्ञानानां पाप्मना वा द्विष भेदकज्ञानिनसाधु वा न द्विषन्नसतापयन् प्रत्युत
प्रीणयन् । मेघस्तु तमोद्विषभास्करचन्द्रवा द्वेष्टि आवृणोति । पुनः किंभूतः । डल-
योरैक्यात् भावप्रवाननिर्देशाच्च जडत्वस्य जाड्यस्योदयमज्ञानप्रादुर्भावनिर्दलयन्
व्यापादयन् । मेघस्तु जलोदयवर्धते । च पुनर्मनोभवकाममभिभवन् पराजयमानः ।
मेघस्तु मदनमदयति । पुनः किं कुर्वाणः । गुरोस्वधर्माचार्यस्य विजयदानसूरेर्मह-
प्रतापतेजो वा न निहुवानप्रकटीकुर्वाणः । मेघस्तु बृहस्पतितारकतेजो निहुते
विलुम्पति । पुनः किं कुर्वन् । स्थिरतासयमधर्मादिषु साहसिक्यात्स्थैर्यं वहन् ।
मेघस्तु चपलाशयत्वान्नैकत्र कुत्रचित्तिष्ठति । पुनः किंभूतः । दिवानिशदिवसे निशाया
च जिनानां तीर्थकृता क्रमाणां पादारविन्दानामुपासनास्तुतिध्यानप्रणामादिभिः सेवा
करोति । मेघस्तु जिनक्रमस्य विष्णुपदस्य सेवा वर्षास्वेव तत्रापि कदाचिन्नयावद्धर्म-
कालमत एव गुरोर्मेघादसाधारणता ॥ युग्मम् ॥

क्रमाच्चतुर्मासकवासरान्पयोधरे दधाने बहलीभविष्णुताम् ।

निनाय तस्मिन्परिवर्ततां धुनीं धवेऽब्धिशायीव गणेन्दिरावरः ॥ १३२ ॥

गणेन्दिरावरस्तपागच्छलक्ष्मीपतिस्तस्मिन्नागरानगरे क्रमात्पर्युषणादिपरिपाट्या चतु-
र्मासकवासरान् वर्षाशरदृतुदिनान् परिवर्तता क्षयभावनिनाय अतिक्रामति स्म । ‘क-
ल्पो युगान्तकल्पान्तसंहारप्रलयक्षयः । सवर्तपरिवर्तश्च’ इति हेम्याम् । सपूर्णता
प्रापयामास । कस्मिन्सति । पयोधरे जलवाहे घने बहलीभविष्णुता दशभ्योऽपि दिग्भ्यो-
ऽभ्येत्यसमुन्नम्य समुन्नम्य अखण्डवारिधारावर्षणशीलता दधाने सति । क इव । अब्धि-
शायीव । यथा समुद्रशयनशीलो विष्णुर्वर्षासु नारायणशेषशय्यायां समुद्रे शेते इति
लोकलुढि । यदुक्तचम्पूकथायां वर्षावर्णने—‘क्षीरसमुद्रनिद्राणबाणबाहुच्छिदि’ इति ।
वारिधौ वर्षां वासरान्परिवर्तता लम्भयति ॥ इत्यागरानगरे चातुर्मासकरणम् ॥

ततोऽल्पकर्मा तपसेव संसृतिं प्रतीर्य पोतेन पतङ्गनन्दनाम् ।

अरिष्टनेमेर्जनुषा पवित्रितं प्रतस्थिवाञ्छौर्यपुरं प्रति प्रभुः ॥ १३३ ॥

ततश्चतुर्मास्या अनन्तरं प्रभुः सूरिः शौर्यपुरं प्रति प्रतस्थिवान् प्रचलितः । किंभूतः
शौर्यपुरम् । अरिष्टनेमेर्द्वाविंशतितीर्थकृन्नेमिनाथस्य जनुषा जन्मना पवित्रितपाव-
नीभूतम् । किं कृत्वा । पोतेन यानपात्रेण कृत्वा पतङ्गनन्दना सूर्यपुत्रीं यमुनां प्रतीर्य

तीर्त्वा समुलङ्घय । क इव । अल्पकर्मैव । यथा लघुकर्मा आसन्नसिद्धिः बहुक्षीणकर्म-
प्रकृतिर्जन्तुस्तपसा संसृतिं संसारं प्रतरति । पाठान्तरे तर्था नावा कृत्वा अर्यम्णो भानो-
नन्दना पुत्री नदी यमुना प्रतीर्य । क इव । भवीव । यथा भव्यजीवो भरतादिवद्भावनाया
शुभाध्यवसायेन संसृतिं प्रतरति ॥

यमीसमीपे रपडीपुरे क्रमात्स संघलोकेन समं समीयिवान् ।

मनोरथाकृष्टमिवागतं पुरो व्यलोकयच्छौर्यपुरं पुरस्ततः ॥ १३४ ॥

स सूरिः क्रमात्प्रयाणपरिपाटीतः यस्या यमुनानद्या समीपे पार्श्ववतिनि रपडीनाम्नि
पुरे समीयिवान् समागतः । कथम् । समं सार्धम् । केन । संघलोकेन आगराप्रमुखनगरश्राद्ध-
समुदायेन । श्राद्धानामनु श्राद्धयोऽपि समेता एव । ततः रपडी आगमनानन्तरं पुरो-
ऽग्रे शौर्यपुरं नाम नगरं 'सोरीपुर' इत्यधुना प्रसिद्धं व्यलोकयत्पश्यति स्म । उत्प्रे-
क्ष्यते—मनोरथेन सूरीशितुरभिलाषेणाकृष्टमाकृष्ट्यानीतमिव प्रभुपुरं प्रादुर्भूतम् ॥

प्रभुः प्रियस्येव सधर्मचारिणीमहर्निशं शौर्यपुराङ्गचारिणीम् ।

च्युतोत्तरीयां कवरीमिवार्णवाम्बरेन्दिराया नवभङ्गसङ्गिनीम् ॥ १३५ ॥

सबन्वस्त्वग्रे वक्ष्यते । केवलं कालिन्द्येव वर्ण्यते—यमुना किभूताम् शौर्यपुरः सो-
रीपुरस्य अङ्के समीपे । 'अङ्कः स्थाने क्रोडेऽन्तिकागसोः' इत्याद्यनेकार्थः । चरति वहती-
त्येवशीलाम् । कथम् । अहर्निशं निरन्तरम् । कामिव । सधर्मचारिणीमिव । यथा प्रियस्य स्व-
वल्लभस्य समानेन वर्मेण चरणशीला पतिव्रता पत्नी नक्तं दिनमङ्के उत्सङ्गे क्रोडे वा समीपे वा
चरति प्रवर्तते इत्येवशीला स्यात्सति व्यतिकरे भर्तुस्तसङ्गे उपविशति । यदुक्तं नेमि-
चरित्रे—'अनुज्ञाप्य स्वपितरो देवदन्तीमुपेयुषीम् । रथमारोपयामास नलोऽङ्के च न्य-
वीविशत् ॥' इत्युत्सङ्गारोपणम् । तथा 'विना ममोर कतरत्तवासनम्' इति नैषधे । इति
क्रोडे । 'अथ सधर्मिणी । पत्नी सहचरी' इति हैम्याम् । सहचरत्वेन समीपचारिणी ।
उत्प्रेक्ष्यते—अर्णवाम्बरेन्दिराया समुद्रवसनालक्ष्म्या क्षोणीश्रियः कवरीं वेणीमिव ।
किभूता कवरीम् । च्युत शिरस्तं स्वस्तमुत्तरीयमुपर्याच्छादनवसनं यस्याः । पुनः किभू-
ताम् । नवा सद्यस्का भङ्गास्तरङ्गा रचनाश्च विद्यन्ते यस्याम् ॥

व्यवस्यमानामिव जेतुमम्बरापगां तरङ्गैर्गगनावगाहिभिः ।

प्रियेण चाणूरभिदा वियोगिनी निषेवमानामिव तीर्थमेदिनीम् ॥ १३६ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—गगनावगाहिभिर्नभोङ्गणालिङ्गनशीलैस्तरङ्गैः कल्लोलैः कृत्वा अम्बरापगा
स्वर्गगङ्गा जेतुं श्रिया पराभवितुं व्यवस्यमानामुद्यमं कुर्वाणामिव । 'प्रगल्भमानाम्' इति
पाठो वा । अर्थः पूर्वोक्त एव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—चाणूरनामानं मल्लं भिनत्ति स्मेति
चाणूरभित्तेन विष्णुना भर्त्रा समं वियोगिनीं विरहिणीम् । अत एव वैराग्याद्बुद्धो-
त्थित्यै वा । 'जन्मन्तरे न विहङ्गइ उत्तममहिलाणजं किञ्च पितृम् । कालिन्दिक्कन्ह-
विरहे अज्जवि कालं जलं वहइ ॥' इति वचनात्कृष्णेन कान्तेन वियोगिनीं वियोगवतीम् ।

वियोगिनां वैराग्यं दुःखोच्छेदकरण युक्तमेव । तीर्थमेदिनी श्रीमन्नेमिनाथजन्मकल्याणकभूमी निषेवमानां भजन्तीमिव ॥

जलावगाहागतदन्तिपङ्क्तिभिर्निलीनशैलाब्धितुलावहामिव ।

भुजामिवाम्भोजमुखी मृणालिकां हिरण्यबाहुं दधतीं च नाभिवत् १३७

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—जलावगाहार्थं सूर्यातपातितप्तवपुस्तथा वा सातेन वा तरुणकरिणीभिः सम सलिलकेलिकरणायागताभिः समेताभिर्दन्तिपङ्क्तिभिर्गजराजीभिः कृत्वा निलीना वज्रपाणिभयात्प्रणश्यात्यगाधपानीयप्रविष्टाः शैलाः पर्वता यत्र तादृशस्याब्धेः समुद्रस्य तुलायाः साम्यस्य बहा धारिणीमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—किं कुर्वतीम् । दधती बिभ्रतीम् । काम् । मृणालिकां पद्मनालिकाम् । कामिव । अम्भोजमुखीमिव । यथा पद्मवदना स्त्री कोमला भुजा बाहुलता धत्ते । च पुनः स्त्रीनाभिवत्तुन्दकुपिकामिव हिरण्यबाहु शोण हृदं दधतीम् । अथ चन्द्रमा । अम्भोज कमलमेव मुखं वदनं यस्याः ॥

अमुं नमन्तीमिव वीचिसंचयैर्विभावयन्तीं शफरीक्षणैरिव ।

अभिष्टुवन्तीमिव विष्किरकणैर्लुलत्कजैर्नृत्यमिव प्रकुर्वतीम् ॥ १३८ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—वीचिसंचयैः उन्नमन्नमद्भिः परिस्फुरत्तरङ्गणैः कृत्वा अमुं सूरिन्द्रं नमन्तीमिव कल्लोलमालानामुन्नम्य नम्रीभवनेन प्रणामं सृजन्तीमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—शफर्यो मत्स्या एव ईक्षणानि । अथ वा ‘मीनलोचनैः’ इति पाठे मीना एव लोचनानि नयनानि तैर्विभावयन्तीमिव । सूरिन्द्रं निर्निमेषं निरीक्ष्यमाणामिव । तथा ‘विस्फुरच्छफरीनेत्रा तत्रापि रणसाक्षिणी । अस्ति ज्योत्स्नासपत्न्याम्बुरियमेव सरस्वती ॥’ इति पाण्डवचरित्रे । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—विष्किराणां जलचारिणां हससारसकौञ्चादीनां पानीयपानागतानामपरेषां वा पक्षिणां कणैः शब्दैः कृत्वा मुनीन्द्रममुमभिष्टुवन्तीमिव सूरिः स्तुतिं विदधतीमिव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—लुलन्ति प्रचलत्कल्लोलैस्तरलीभवन्ति यानि कजानि कमलानि तैरस्य पुरो नृत्यं ताण्डवं कुर्वतीमिव ॥

निखेलियोषास्तनचन्दनद्रवैः सरिद्वरासंवलितप्लवामिव ।

क्रमात्स तत्राप्यवतीर्य सूर्यजां न्यभालयन्नेमिनिकेतनं पुर ॥ १३९ ॥

पुनरुत्प्रेक्ष्यते—नितरां स्वस्वकान्तेः समं सखीभिः सार्वं वा खेलन्ति जलक्रीडां कुर्वन्तीत्येवशीला निखेलिन्यो या योषा विविधभूचरखेचरचञ्चललोचनास्तासां स्तनानां कुचान्तरकुचोपरिविरचितविचित्रपत्रवल्लीविलेपनादिसत्कसलिलसयोगगलच्चन्दनद्रवैः श्रीखण्डवर्चारसैः कृत्वा सरिद्वरया गङ्गायाः संवलितो मिश्रीभूतः प्लवः पयः पुरो यस्यास्तादृशीमिव । तत्रापि गङ्गायमुनाप्रवाहद्वयकलितामिव स प्रभुहारसूरिः क्रमात्संघलोकशिष्याद्युत्तरणानुपूर्व्यां रपडीपार्श्वे पूर्वव्यावर्णितस्वरूपा सूर्यजा मार्तण्डनन्दना यमुनामवतीर्योल्लङ्घ्य पुरोऽग्रे नेमिनिकेतनम् । लोकरुह्या यत्र स्थाने श्रीनेमेर्जन्मकल्याणकमजायत तस्मिन्नेव पुण्यपृथ्वीप्रदेशे प्रासादः कारितोऽस्तीति श्रूयते । पश्चाजिनो वेद

त नेमिनाथप्रासाद न्यभालयद्विलोकते स्म ॥ पञ्चभिः कुलकम् ॥ यमुनावर्णनम् । इति
सूरेः शौर्यपुरागमनम् ॥

स तूररावैः कुलशैलकंदरोदरप्रसर्पत्प्रतिनादमेदुरैः ।

निनाय नेमेर्वसतिं प्रदक्षिणा महोदयाम्भोनिधिनन्दनामिव ॥ १४० ॥

स हीरसूरि तूररावैरनेकवादित्रनिर्घोषैः सार्धं नेमे श्रीअरिष्टनेमिनाथस्य वसति
प्रासाद त्रिवार भ्रमणीरूपा परितः प्रदक्षिणा निनाय प्रापयति स्म । त्रि प्रदक्षिणीक-
रोति स्मेत्यर्थः । किभूतैः तूररावैः । कुलशैलाः मन्दरमेरुकैलासहिमाचलप्रमुखाः सप्त
कुलपर्वतास्तेषां कदराणां गुहानामुदरेषु मध्येषु प्रसर्पन्तः प्रवर्तमानाः प्रसरन्तो वा
ये प्रतिनादा प्रतिशब्दा 'पडच्छन्दा' इति प्रसिद्धा तैर्मेदुरैः सान्द्रैः पुष्टीभूतैः ।
उत्प्रेक्ष्यते—महोदयो महानतिशायी अभ्युदयो विशिष्टवैभवप्रारम्भः स एवाम्भोनिधि-
नन्दना लक्ष्मी प्रदक्षिणा प्रकर्षेणातिशयेन दक्षिणा स्वानुकूला निजानुरागिणीमिव
निनाय कृतवान् ॥

निजा तनूजां धरिणीप्रचारिणीमिवाभ्रकेतौ मिलितुं समीयुषि ।

विवेश तस्मिञ्छमिनां शतक्रतुः शिवासुतस्यायतने हिरण्मये ॥ १४१ ॥

शमिनां शतक्रतुर्वाचयमवासव तस्मिन् प्रह्लादपूर्वं पूर्वमेव दृष्टे शिवायाः समुद्रवि-
जयराजजायाया सुतस्य नेमिनाथस्य आयतने प्रासादे विवेश प्रविष्टवान् । किभूते ।
हिरण्मये स्वर्णनिर्मिते सुवर्णप्रदाने । उत्प्रेक्ष्यते—वरिण्या भूमीमण्डले प्रकर्षेण चरति
प्रसरति इत्येवशीला निजामात्मीया तनूजा पुत्री यमुनानाम्नी मिलितुं सुतात्वेन स्नेह-
सवन्वान्मिलनार्थं समागते गगनाङ्गणात्क्षोणीचक्रे सप्राप्ते अभ्रकेतौ नभाष्कतेन सूर्य
इव । 'हरि शुचीनौ गगनाध्वगाध्वगौ' इति हैम्याम् ॥

जनार्दनान्दोलनकेलयेऽभवत्प्रलम्बदोलेव यदीयदोर्लता ।

य उग्रसेनस्य सुतां प्रभुर्जहौ पतिस्तमीनामरविन्दिनीमिव ॥ १४२ ॥

प्रभुर्हीरसूरि नेमिं ददर्श इत्यग्रे वक्ष्यते । इति सबन्धः । यच्छब्देन तद्वर्णन-
माह—यदीयदोर्लता श्रीनेमिनाथसबन्धिनी दक्षिणबाहुवल्ली जनार्दनस्य नारायणस्य
आन्दोलनस्य प्रेङ्खोलनस्य केलये क्रीडायै प्रलम्बा अतिव्यायता दोला प्रेङ्खा इवाभवत् ।
पुनर्यो भगवान् उग्रसेनस्य भोजकवृष्णे सुतस्योग्रसेननृपते सुता नन्दना राजीमती
जहौ तत्याज न परिणिन्ये । क इव । पतिरिव । यथा तमीना पति रजनीदयितश्चन्द्रमा
अरविन्दिनी कमलिनी जहाति ॥

तनुश्रिया येन निजौजसा पुनर्जितो हियानङ्ग इवाङ्गजोऽजनि ।

यदङ्गरुद्धिर्जितनीलनीरजैरभाजि दुःखादिव पुष्करे तपः ॥ १४३ ॥

पुनर्येन नेमिनाथेन तनुश्रिया शरीरशोभया पुनर्निजौजसा स्वबलेन आत्मीयप्रता-

पेन वा जितोऽभिभूतः अङ्गज कदर्पः । ‘अङ्गज पुत्रकामयो’ इत्यनेकार्थः । तथा ‘कमन कलाकेलिरनन्यजोऽङ्गजः’ इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—ह्रिया मन्दाक्षेणेव अनङ्गो मुक्तकाययष्टिरजनि संजात इव । पुनर्यस्य परमेष्ठिन अङ्गरुचा शरीरस्य मरकतमणिमसृणकान्त्या निर्जितैः परिभूतैः नीलनीरजैरिन्दीवरैः दुःखात्पुष्करे तीर्थविशेषजले च । ‘पुष्करं तु जले व्योम्नि तीर्थे कुण्डे च’ इत्यनेकार्थः । तपः अभाजि तपस्तप्यते इव । निर्जितो हि द्विधा तपस्यति पराभवदुःखोद्विग्नो वा तत्तुल्यतायाप्तये वा ॥

रवेण वाह्याहितजित्त्वरं तरोऽप्यभिप्रपन्नः पुनरान्तरद्विषाम् ।

विघातशक्तिं स्पृहयन्त यत्पदं हरेस्त्रिरेखोऽङ्गमिषान्निषेवते ॥ १४४ ॥

हरेर्विष्णोस्त्रिरेख पाञ्चजन्यनामा शङ्खः अङ्गमिषाल्लाञ्छनच्छलात् यत्पदं नेमिनाथचरण निषेवते । उत्प्रेक्ष्यते—रवेण निजशब्देन वाह्या भूमिनभ सचारिण प्रत्यक्षा ये अहिता प्रतिपक्षास्तेषां जित्त्वरं जयनशीलतरो बल अभिप्रपन्नः सप्राप्तोऽपि । यदुक्तम्—‘अम्भोधेरेव जाता जगति कति न ते हन्त सन्तीह शङ्खा यान्निभ्राणा भ्रमन्ति प्रतिभवनममी भिक्षवो जीवनाय । एकः श्रीपाञ्चजन्यो हरिकरकमलक्रोडहसायमानो यस्य ध्वानैरमानैरसुरसुरवधूवर्गगर्भा गलन्ति ॥’ इति । पुनरान्तराणामन्तरङ्गानामनन्तकालादात्मना प्रतिबद्धानां द्विषां कर्मशत्रूणां विघातशक्तेर्व्यापादनसामर्थ्यस्य स्पृहया वाञ्छयेव सेवते ॥

अशीलि शीलेन जितेन येन किं ह्रिया कुमारेण गिरेरधित्यका ।

प्रभुर्जिनं तं यदुवंशभास्करोदयोदयक्षोणिधर दृशा पपौ ॥ १४५ ॥

येन भगवता शीलेन स्वब्रह्मचर्येण जितेन तिरस्कृतेन कुमारेण स्वामिकार्तिकेन । ‘षाण्मातुरो ब्रह्मचारी गङ्गोमाकृतिकासुतः’ इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—ह्रिया लज्जया गिरेर्गन्धमादनाभिवानभूधरस्याधित्यका ऊर्ध्वभूमि शृङ्गमशीलि सेवितम् । तत्र गत्वा स्थित इत्यर्थः । ‘सुगन्धिगन्धमादनाविवासिनः स्कन्ददेवस्य दर्शनार्थमिति गतवानस्मि’ इति चम्पूकथायाम् । तथा पित्रोरपेक्षया तु कैलासाचलचूलिकायाः स्थानम् । तथा ‘स्कन्दो मन्दमतिश्चकार न करस्पर्शं श्रिया शङ्कितः’ इति खण्डप्रशस्तौ । प्रभुः सूरिस्तु पूर्वव्यावर्णितं जिनं नेमिनाथं दृशा नेत्रेण पपौ सादरं पश्यति स्म । किंभूतः । यदूनायादवानां वशोऽन्ववायः स एव भास्करः सूर्यस्तस्योदयार्थमुद्गमनाय उदयक्षोणिधरः । पूर्वपर्वत इत्यर्थः ॥ चतुर्भिः कलापकम् । नेमिनाथवर्णनम् ॥

जय त्रिलोकीजनकल्पपादप पुनर्भवश्रीपरिरम्भलोलुपः ।

जय प्रमोदाङ्कुरकोटिवारिमुक् जय प्रभाभर्तिसतनीलरत्नरुक् ॥ १४६ ॥

१ ‘विघातशक्तेः स्पृहया वाञ्छयेव सेवते’ इति टीकादर्शनात् ‘विघातशक्तेः स्पृहयेव यत्पदम्’ इति पाठो भवेत्

तरीव वार्धौ तमसीव शारदारविन्दिनीशः सरसीव धन्वनि ।

दरिद्रतायामिव शेवधिर्मया कलौ जिनेन्दो त्वमलम्भि दुर्लभः ॥ १४७ ॥

हे त्रिलोक्या जयत्रयस्य जनाना सुरासुरनराणा कामिताना मनोभिलाषाणा पूरणे प्रदाने कल्पपादप सुरतरो । पुनर्हे पुनर्भवश्रिया मोक्षलक्ष्म्या सार्धं परिरम्भे गाढा-
लिङ्गने लोलुप अतिशयेन लोल चञ्चल हे नेम, त्व जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । पुनर्हे प्रमो-
दा आनन्दा. । यद्दर्शनात्पुत्रकलत्रमित्रधनधान्यराज्यैश्वर्यादय सर्वेऽप्यानन्दकारिण-
पदार्था प्रादुर्भवेयु, तस्मात्तेऽपि प्रमोदा एवोच्यन्ते । तत्र च बहुत्वम् । प्रमोदा
एवाङ्कुरा प्ररोहास्तेषा कोटयस्तेषा वृद्धिकरणे इत्यर्थः । वारिमुक् वार्षिकवारिवाह ।
पुनर्हे प्रमया नीलोत्पलदलश्यामलदेहदीप्त्या भर्त्सिता तिरस्कृता नीलरत्नाना हरिन्म-
णीना रुक्कान्तिर्येन तादृक् शिवानन्दन, त्व जय । हे जिनेन्दो हे नेमिनाथ, मया कलौ
कलियुगे पञ्चमे अरके दु खेन महाकष्टेन कृत्वा लभ्यते इति दुर्लभः दु प्रापस्त्वमल-
म्भि प्राप्त । केव । तरीव । यथा प्रलयकालोद्दामदावानलज्वालायमाना माननिदाघसम-
योद्भवन्म-यदिनदीप्तदिनकरघोरघर्मरुचिचयसतापितालानीभूतसिकतभूमण्डलमरुस्थले
सच्छायपत्रच्छन्नानेककारस्वरकोटिशिशिरीकृतसलिलशालिमहापद्मसरोवर लभ्यते ।
पुन क इव । शेवधिरिव । यथा दु खावस्थाया निधानमासाद्यते ॥

तमित्यभिष्टुत्य हृदा दधन्मुद चकार पञ्चाङ्गनति यतीशिता ।

विचक्षुरेतत्किमु पञ्चमी गति दिश प्रभो पञ्चमकेरकेऽपि मे ॥ १४८ ॥

यतीशिता सूरि त नेमिनाथमिति पूर्वोक्तप्रकारेणाभिष्टुत्य स्तुत्वा हृदा मनसा
कृत्वा मुदमाह्लाद दधद्धारयन् सन् पञ्च अङ्गानि प्रकृतानि यत्र सा पञ्चाङ्गा । पञ्चानाम-
ङ्गाना समाहारो वा इति पञ्चाङ्गी । द्वौ जानू द्वौ करौ एक शिर इति पञ्चाङ्गी । तथा भू
स्पृश्यते इति पञ्चाङ्गनति चकार कृतवान् । उत्प्रेक्ष्यते—एतदुच्यमान जिनने-
मिनाथ प्रति विवक्षु किमु वक्तुमिच्छुरिव । एतत्किम् । हे प्रभो, मे मम पञ्चमकेरके
कलिकालेऽपि पञ्चमी नरकतिर्यङ्गनुष्यदेवगतिभ्य उपरितनी मुक्तिलक्षणा पञ्चाना
सख्यापूरणी गति दिश प्रदेहि । चतुर्थारके तु तव मुक्तिदातृत्वमस्त्येव । पर पञ्चमे
त्वरके मुक्तिप्राप्तेरभावात्तस्या प्रार्थनाया उत्प्रेक्षा ॥

मुनीन्दुना शौर्यपुरे पदाम्बुजैर्विभूष्य दृष्टी इव तत्पुरश्रिया ।

वृषाङ्कनेमिप्रतिमे पुरातने प्रतिष्ठते तत्र सनेमिपादुके ॥ १४९ ॥

मुनीन्दुना हीरसूरिचन्द्रेण तत्र शौर्यपुरे पुरातने जीर्णे पूर्वं केनापि कारिते न पर
प्रतिष्ठापिते कथञ्चिदप्रतिष्ठिते एव स्थिते वृषाङ्कस्य श्रीऋषभदेवस्य नेमेरिष्ठनेमिनाथस्य
प्रतिमे मूर्तीं प्रतिष्ठते अञ्जनशलाक्यादिकरणेन स्थापिते । किं च श्रीहीरसीहविमलग-
णिपितामहसोहिलसघपतिकारिते इति मूलशौर्यपुरलोके किवदन्ती इति । उत्प्रेक्ष्यते—
तत्पुरश्रिया शौर्यपुरलक्ष्म्या दृष्टी नेत्रे इव । किंभूते प्रतिमे । सहनेमे. शैवेयस्य पादुकाभ्यां

पदद्वन्द्वप्रतिबिम्बाभ्या वर्तेते ये । किं कृत्वा । पदाम्बुजै । पूज्यत्वाद्बहुवचनम् । चरण-
कमलैर्जीर्णं शौर्यपुरं विभूष्यालकृत्य ॥

दिनद्वयीं तद्यदुवंशबाहुजव्रजान्कृपाधर्मधियो विधाय सः ।

ततो मुनिक्षोणिमणिर्न्यवीवृतत्तटात्पयःपूर इवापगापतेः ॥ १९० ॥

स मुनिक्षोणिमणिर्हीरविजयनामा साधुवसुधारल सूरिन्द्र ततः शौर्यपुराण्यवीवृ-
तत् निवर्तते स्म पश्चाद्बले । क इव । पयः पूर इव । यथा आपगापतेर्नदीनाथस्य
समुद्रस्य पानीयप्लवः तटात्तीरान्निवर्तते । 'जयी महीमानिव वार्विरोवस' । क इव ।
महीमानिव । यथा दिग्जैत्रयात्रासु अप्रतिहतशक्तित्वेन जयी राजा अर्थाच्चतस्रो दिशो
विजित्य वार्विरोवस पयोनिधिप्रतीरान्निवर्तते । किं कृत्वा । दिनद्वयीं वासरयुगलम् ।
यावत्कालाध्वनोनैरन्तर्ये द्वितीयावत् । तस्मिन् शौर्यपुरे यदुवश्यान्यादवकुलोत्पन्नान्
बाहुजाना राजपुत्रसुभटानां व्रजान् गणान् । 'राजन्यो बाहुसभव' इति हैम्याम् ।
'सध्याधियेवास्त यान्ति समस्तबाहुजभुजातेज सहस्राशव' इति नैषधे । कृपा जीवाहिंसा
सैव धर्मस्तत्र वीर्बुद्धि परिणामो येषां तादृशान् विधाय कृत्वा ॥

गते प्रिये कापि निजे जनार्दने किमेत्य नेमिप्रभुदेवरान्तिके ।

स्थिता समुत्तीर्य यमी शमीश्वरः पुर प्रयातः पुनरागराभिधम् ॥ १९१ ॥

शमीश्वरो मुनिनायकः सूरिः पुनर्व्याघुष्य आगरा इत्यभिवा नाम यस्य तादृश पुर
नगरं प्रयातो गतवान् । किं कृत्वा । यमी यमुना समुत्तीर्य नावा लङ्घयित्वा । किंभूता
यमीम् । उत्प्रेक्ष्यते—निजे आत्मीये प्रिये भर्तरि जनार्दने कृष्णे कापि कुत्रापि निजा-
भिलषिते स्थाने गते प्रयाते सति नेमिप्रभु अरिष्टनेमिनाथ स एव देवरो निजभ-
र्तुर्लघुभ्राता तस्यान्तिके पार्श्वे किमेत्य स्थित वसन्तीमिव ॥

मणि सुराणां तनुमत्समीहितं प्रदित्सयेव त्रिदिवादुपागतम् ।

स तत्र चिन्तामणिपार्श्वतीर्थं महामहेन प्रतितस्थिवान्प्रभुः ॥ १९२ ॥

स प्रभुर्हीरविजयसूरिस्तत्रागरानगरे चिन्तामणि इति नामान पार्श्व एव तीर्थपस्तीर्य-
नाथस्त महामहेनाधिकोत्सवेन प्रतितस्थिवान् । उत्प्रेक्ष्यते—तनुमता जगज्जनानां
समीहितानां मनसा सम्यक्कामितानां प्रदित्सया प्रदातुमिच्छया त्रिदिवादेवलोकादिह
भूमण्डले उपागत संप्राप्त सुराणां मणिं चिन्तारत्नमिव ॥

स उग्रसेनाद्यपुरात्फतेपुरं यशस्करं स्वस्य विभुर्व्यभूषयत् ।

इवान्यराशेः शशिसौधमुच्चतापदप्रदं चित्रशिखण्डिनन्दनः ॥ १९३ ॥

स विभुर्हीरसूरिः स्वस्यात्मनो यशस्करं कीर्तिविधायकं पुनरित्यध्याहार्यम् । उग्रसेन
इति पदमाद्य प्रथमं यस्य तादृशात्पुरात् । आगरादित्यर्थः । फतेपुरं साहिनगरं व्यभूषय-
दलकरोति स्म । श्रीकर्या जग्मिवानित्यर्थः । क इव । चित्रशिखण्डिनन्दन इव । यथा बृह-

स्पतिः स्वस्यात्मन उच्चताया उच्चत्वस्य पद स्थानं प्रददातीति प्रदम् अन्यराशेः पूर्व-
स्मान्मिथुनराशे शशिन शशाङ्कस्य सौध गृह कर्कराशिम् । 'प्रोक्तं कर्कस्य चन्द्रमा' इति
वचनात् । विभूषयति । कर्कराशिगतो गुरुश्च प्रतिपाद्यते ॥ इति पुन फतेपुरागमनम् ॥

महीहिमज्योतिरियेष खञ्जनो घनात्ययस्येव तदास्य दर्शनम् ।

अमुं स गोष्ठीप्रविधित्सया पुनर्निकेतने शेखमणेरजूहवत् ॥ १९४ ॥

तदा तस्मिन् सूरः फतेपुरे समागमावसरे महीहिमज्योतिरकब्बरसाहिः अस्य हीर-
सूरेर्दर्शनमित्येष अभिलषति स्म । क इव । खञ्जन इव । यथा खञ्जरीटो घनात्ययस्य
शरत्कालस्य दर्शनमिच्छति । पुनर्दर्शनेच्छानन्तरं द्वितीयवारममुं सूरिं शेखमणेरब-
लफैजनान्नो यवनगुरुरत्नस्य निकेतने भवने अजूहवत् आकारयामास । कया । गोष्ठी-
प्रविधित्सया धर्मवार्तां कर्तुं काङ्क्षया ॥

क्रमेण वाचयमयामिनीमणिर्विभूष्य शेखप्रमुखस्य मन्दिरम् ।

शिरोगृहं तस्य पुनः पवित्रयाचकार जम्भारिरिव त्रिविष्टपम् ॥ १९५ ॥

वाचयमयामिनीमणिं श्रमणशर्वरीरत्न सूरिः पुनर्गृहागमनादनु शेखगृहस्य शिरो-
गृहं चन्द्रशालामुपरितनपिष्टनिका पवित्रयाचकार पावनीकृतवान् । किं कृत्वा । क्रमेण
आगमनाकब्बराकारणपरिपाद्या तस्याबलफैजनान्न शेखप्रमुखस्य यवनगुरुमुख्यस्य
मन्दिरं निवाससौधं विभूष्यालकृत्य । यत्र पूर्वं साहिमिलनसमये समेत्य गोष्ठी अनुष्ठिता
आसीत्, तदलकृत्य तस्य सद्मन चन्द्रशालामलकरोति स्म । क इव । जम्भारिरिव ।
यथा पुरंदरं कुत्रचिद्वत्वा गतः सन् त्रिविष्टपं स्वर्गं पवित्रयति ॥ इति पुनर्गुरो शेख-
गृहागमनम् ॥

अथात्मधाम्नीव स शेखमन्दिरे समेत्य भूमीतलशीतलद्युतिः ।

इवाङ्कुरान्कल्पतरोर्मुनीशितुर्मुनीनिह प्रेक्ष्य हृदा मुदं दधौ ॥ १९६ ॥

अथ सूरः शेखमन्दिरे समागमनानन्तरमकब्बरनामा भूमीतलशीतलद्युतिं मेदि-
नीमण्डलशीतकान्तिं राजा पातिसाहि इह शेखमन्दिरे कल्पतरो सुरद्रुमस्य अङ्कुरा-
न्प्ररोहानिव मुनीशितुः सूरः मुनीन् वाचयमानप्रेक्ष्य विलोचनगोचरीकृत्य हृदा हृदयेन
मनसा कृत्वा मुदमानन्दं दधौ । किं कृत्वा । शेखस्य मन्दिरे सद्मनि समेत्यागत्य ।
कस्मिन्निव । आत्मधाम्नीव निजवेश्मनीव ॥

क्रमादमीषामभिधाः सुधारसद्रवानिवापृच्छ्य पिवञ्छूवःपुटैः ।

प्रमोदवांस्तद्रुहचित्रशालिकां ततः स्वयं क्षमारमणोऽधिरूढवान् ॥ १९७ ॥

ततः सूरिसुवाशुसाधूना पृथङ्नामप्रश्नतदाकर्णनानन्तरं स्वयमात्मना क्षमारमणो
भूमीवल्लभः तद्रुहस्य शेखसौधस्य चन्द्रशालिकामुपरितनी भूमिकामारूढवान् अधि-
रोहति स्म । किंभूतः क्षमारमणः । प्रमोदवानानन्दकलितः । किं कुर्वन् । क्रमाद्गुरुलघुप-
रिपाद्या अमीषा सूरिसाधूनामभिधा नामानि आपृच्छ्य पृथक् पृथक् दृष्ट्वा ततः

सुधारसद्रवानमृतनिःस्पन्दान् च श्रवःपुटैः कर्णपुटकैः श्रवणनामदुन्दुकैः पिबन्नास्वादयन् सादर शृण्वन् ॥

मघाभुवेवासुरशीतभानुना विधाय गोष्ठीं सदसद्विचारणा ।

मुनीश्वरेणाम्बुधिनेमिभानुना स्थिरीकृतार्हन्मतसंप्रधारणा ॥ १९८ ॥

मुनीश्वरेण सूरिन्द्रेण सच्च असच्च सदसती तयोर्विचारणा इदं सत् इदमागमविरुद्ध-
मिदं च लोकविरुद्धमिदमुभयाभिमतमिति विमर्शो यस्या तादृशी अर्हन्मतसंप्रधारणा
जिनशासनसमर्थना सर्वेष्वपि शासनेषु विचार्यमाण सर्वकोटिविशुद्ध जिनशासनमेव
दृश्यते इति संप्रधारणा स्थिरीकृता । सत्या चक्रे इत्यर्थः । किं कृत्वा । मघाभुवेव
भार्गवेनेव असुरशीतभानुना दैत्येन्द्रेणेव अम्बुधिनेमिभानुना जलधिमेखलाभास्करेण
साहिना सार्धं गोष्ठीं धर्मतत्त्वविचारवार्तां विधाय कृत्वा ॥

तदिष्टगोष्ठीसमये महीहरेर्हृदन्तरानन्दरसः स कोऽप्यभूत् ।

गिरां हि पारेऽजनि यो गिरां पतेर्न यत्र काव्यं न च काव्यचातुरी १९९

सैव साहिसूरिद्वन्द्वसबन्धिनी इष्टा मनसोऽभिप्रेता साहिहृदयगमा गोष्ठी स्वतन्त्रवार्ता
तस्या समये प्रस्तावे स कोऽप्यद्वैताश्चर्यकारी वाचामगोचरो महीहरेर्भूमीन्द्रस्य हृद-
न्तरा मनोमध्ये आनन्दरस प्रह्लादास्वाद । 'रस स्वादे जले वीर्ये शृङ्गारादौ' इत्यने-
कार्थः । अभूद्भूव । य आनन्दरसो गिरा पते सुराचार्यस्य हि निश्चित गिरा पारे
वाचा परतीरवर्ती वक्तुमशक्योऽजनि सजायते स्म । 'गिरा हि पारे निषधेन्द्रवैभवम्'
इति नैषधे । च पुनर्यत्रानन्दरसे काव्यस्य शुक्रस्य काव्यानां कवित्वानां चातुरी नाजनि
वाचस्पतिर्वाचा वक्तुं न शक्नोति । शुक्रोऽपि काव्यरचना रचयितुं नालं भवतीत्यर्थः ॥
इति सूरिणा सम साहोर्द्वितीयवार गोष्ठी ॥

ततः प्रदित्सुर्गुरवे स किचनात्मनो घनो भूभवनाय नीरवत् ।

प्रणीतवान्सप्रणयं गिरां गृह मुखारविन्द वसुधावधूवरः ॥ १९० ॥

ततो गोष्ठीकरणोद्भूतानन्दरसानन्तरं सोऽकब्बर एव वसुधावधूवरः भूमीभामिनी-
भर्ता सप्रणय सस्नेह याच्नासहितः वा । 'प्रणय स्नेहयाच्चयः' इत्यनेकार्थः । यथा स्या-
त्तथा मुखारविन्द वदनकमल गिरा वाचां गृह वासस्थानं प्रणीतवान् चकार । नृप
किं कर्तुमिच्छुः । गुरवे हीरविजयसूरये आत्मनः स्वस्य किञ्चन आत्मीय वस्तु किमपि
प्रदित्सु प्रदातुमिच्छुः । किवत् । नीरवत् । यथा घनो धाराधरो भूभवनाय पृथ्वी-
लोकाय जलं दातुमिच्छति तथा अकब्बरोऽपि प्रभवे वाजिवारणादि दातुमुत्कण्ठितो
बभूवेत्यर्थः ॥

परश्शताः कौतुकिना पयोनिधिं प्रमथ्य कृष्टा इव जडुना पुनः ।

स्फुरन्ति तेऽमी मम मत्तकुम्भिनः प्रभोऽभ्रमूवल्लभलक्ष्मिन्मिनः १९१

हे प्रभो, ते प्रसिद्धाः प्रबलप्रत्यर्थिपृथिवीपालदलविदलनोपार्जितानेकबिरुदा मदो-
द्धता मे मम अभ्रमूः नामा हस्तिनी तस्या बल्लभ ऐरावणः । 'अभ्रमूवल्लभारूढं निशः
शेषे कदाचन । स्वप्ने महेन्द्रमद्राक्षीत्पृथा पृथुमनोरथा ॥' इति पाण्डवचरित्रे । तथा 'गजा-
नामभ्रमूपतिः' इति काव्यकल्पलतायां च । तस्य लक्ष्मीं शोभा लभन्ते इत्येवशीला ।
'लक्ष्मिलक्ष्मी हरे स्त्रियाम्' इति । तथा 'चरणलक्ष्मिकरग्रहणोत्सवे' इति जिनप्रभसू-
रिकृतकृष्णभनम्रस्तवेऽपि च । तथा 'स्वस्थानात्पदमात्रमप्यचलतो विन्ध्यस्य चानेकशो
जायन्ते मदपालित श्रीलम्भिन कुम्भिन' इति सूक्ते लम्भितः 'लभेर्धातो-
सार्वधातुकपरोक्षार्थवर्जं यथाप्रयोगं नुम् इत्यनुस्वारः' इति प्रक्रियायाम् । गजा हस्तिनः
स्फुरन्ति स्फूर्तिं दधते । उत्प्रेक्ष्यते—कौतुकिना कुतूहलाकलितेन जह्नुना नारायणेन
चतुर्दशरत्नकर्षणालब्धास्वादतया पुनर्द्वितीयवारं पयोनिधिं समुद्रं प्रमथ्य विलोडयित्वा
परश्शतांशतात्परे सहस्रशः कृष्टा निष्काशिता इव ऐरावतभ्रातरः ॥

यतीन्द्र यत्पञ्चमचङ्क्रमोपमामवाप्तुकामेन महीविहायसोः ।

भ्रमी समीरेण किमु प्रणीयते तिरस्कृतोच्चैःश्रवसश्च ते हयाः ॥१६२॥

हे यतीन्द्र, तिरस्कृतः स्वशोभया धिकृतः उच्चैः श्रवा इन्द्राश्वो यैस्ते विविधजातीया
मम हयास्तुरङ्गाः सन्ति । ते के । येषां हयानां पञ्चमचङ्क्रमस्य उत्तेरितनाम्न्या पञ्चम्या गतेः
उपमानं साम्यमवाप्तुकामिना लब्धुमिच्छता । शिक्षितुं काङ्क्षतेत्यर्थः । समीरेण वायुना
महीविहायसोर्भ्रमी भ्रमणं प्रणीयते किमु । 'अपि भ्रमी भङ्गिभिरावृताङ्गम्' इति नैषधे ॥

रथाः सरथ्या मम कामगामिनो मुमुक्षुमार्तण्ड मरुद्रथा इव ।

पुनः कृतारातिचमूविपत्तयः कृतान्तदूता इव सन्ति पत्तयः ॥ १६३ ॥

हे मुमुक्षुमार्तण्ड सूर, मम रथाः शताङ्गाः सन्ति । किभूताः । सह रथ्यै रथधुराधु-
रीणैर्वृषभैस्तुरगैर्वा वर्तन्ते ये ते । पुनः किभूता । कामगामिनः काममतिशयेन इच्छया
वा गच्छन्तीत्येवशीला । के इव । मरुद्रथा इव । यथा सुरस्यन्दना देवानामिच्छयैव
गमनशीला भवेयुः । पुनरर्थान्तरन्यासे । पुनर्मम पत्तयः सन्ति । किभूता । कृता नि-
ष्पादिता अरातिचमूना वैरिसैन्यानां विपत्तयो भङ्गमारणादि नानानिष्ठानि यैस्ते । उत्प्रे-
क्ष्यते—कृतान्तदूता इव चण्डमहाचण्डाद्या यमस्य किकरा इव ॥

जनार्दनस्येव ममेयमिन्दिरा सुरेश्वरस्येव च राज्यमूजितम् ।

इदं तथान्यद्यदभीप्सितं हृदो मुनीन्द्र तन्मामनुगृह्य गृह्यताम् १६४

हे मुनीन्द्र, इयं मम गृहे इन्दिरा धनरत्नस्वर्णरूप्यादिलक्ष्मीर्वर्तते । कस्येव । जना-
र्दनस्येव । यथा नारायणस्य मन्दिरे प्रत्यक्षा लक्ष्मीरस्ति । च पुनः ऊर्जितं प्रबलं
राज्यं हस्त्यश्वरथराष्ट्रदुर्गबलरूपं वर्तते । कस्येव । सुरेन्द्रस्येव । यथा पुरंदरस्य प्रबलं
राज्यं वर्तते । हे प्रभो, इदं यन्मया विज्ञप्तं गजाश्वादिकं तथा अन्यत्परमपि यद्युष्माकं

हृदो मनसोऽभीप्सित वाञ्छित भवेत् तद्वस्तु मामनुगृह्य ममोपरि अनुग्रहं कृत्वा गृह्यता स्वीक्रियताम् ॥

स्वचेतसो गोचरयन्नपि क्षमाक्षपापतिर्निःस्पृहतां मुनीशितुः ।

इवान्यपुष्टः सहकारकोरकैः प्रवर्तितो भक्तिभरैरदोऽवदत् ॥ १६५ ॥

क्षमाक्षपापतिः अवनीरजनीनायक अकब्बरसाहिर्मुनीशितुः सूरैर्निःस्पृहता निरीहभाव स्वचेतसो निजहृदयस्य गोचरयन् गोचरीकुर्वन् । मनसि जानन्नपीत्यर्थः । भक्तेर्भरैरतिशयैः प्रवर्तित प्रेरित सन्नदो गजाश्वादि गृह्यतामिति अवदद्बभाषे । क इव । अन्यपुष्ट इव । यथा कोकिल सहकारकोरकैः आम्रतरोः कलिकाभि मञ्जुमञ्जरीव्रजास्वादैः प्रवर्तित शब्दायते मधुरध्वनिं विधत्ते । 'प्रेरण प्रवर्तनमिति आशी प्रेरणयोः' इत्यर्थः सारस्वतव्याकरणे ॥ इति सूरीणा गजाश्वादिप्रदाने साहिविशिष्टिः ॥

निशम्य सूरिर्नृपतेरिमां गिरं न किञ्चिदेभिर्मम कृत्यमित्यवक् ।

मदोद्धता दुर्नृपवद्गजा अमी वशास्पृशः प्रौढकरप्रवृत्तयः ॥ १६६ ॥

नृपतेरकब्बरस्य इमा पूर्वोक्ता गिर वाणीं निशम्याकर्ण्य सूरिर्मुनीन्द्र इत्यमुना प्रकारेणावक् वदति स्म । इति किम् । हे साहे, एभिः श्रीमत्प्रदीयमानकरितुरगादिभिर्मम किञ्चित्किमपि कृत्य कार्य नास्ते । यत्कारणादमी गजा दुर्नृपवदुष्टभूपतय इव । मानदाहकारेण क्षीबतया वा मदेन मद्यपानेन च राज्यमान्यताकृते हस्तिपालका मदिरापानकारयित्वोन्मदीकुर्वन्तीति स्थितिः । तत्त्वतस्तु मदेन दानप्रवाहेण उद्धता उत्कटाः सचिवादीनामप्यकथितकारिणो दुर्नराधिपाः । करिणस्तु महामात्राणामवशा सर्वेऽपि कृत्याकृत्यविचारणान्वबधिराश्च । वशा करिण्यः । 'इभः करेणुर्गजोऽस्य स्त्री धेनुका वशापि च' इति हैम्याम् । अथ च वशा द्वियः अर्थात्परदारास्ताः स्पृशन्ति स्पर्शख्यकामगुणैर्वशीकृता सन्त आश्लिष्यन्तीति वशास्पृशः । तथा प्रौढा अतिशायिनः प्रबला करा राजदेयाशा शुण्डादण्डास्तेषां प्रवृत्तिः प्रवर्तनं येषु । पक्षे प्रौढा पर्वतप्राया अथ वा प्रौढोऽतिलम्बः करः शुण्डादण्डः । तथा प्रौढा अतिशायिनी प्रकर्षेणोढा तादृशी प्रवृत्तिर्दानवारिधारा येषाम् । 'मदो दान प्रवृत्तिश्च' इति हैम्याम् । कलियुगदुष्टनृपतुल्यत्वमर्थात् ॥

अतिप्रमाणा नृप जिह्मगामिनोऽप्यमर्षणाः सुप्तभृतश्च सप्तयः ।

रथाश्च खिन्ना इव कामचारिणः स्ववाहिनीबन्धविधायिनः पुनः ॥ १६७ ॥

हे नृप, च पुनरमी सप्तयस्तुरङ्गा अतिप्रमाणा अतिक्रान्त भावप्रधाननिर्देशात्प्रामाण्यमादेयता यैस्ते सर्वत्राप्यप्रमाणा न क्वचिदपि मान्या वर्तन्ते । तत्त्वतस्तु अतिक्रान्त प्रमाणपुरुषमानयैरत्युच्चत्वात् । यदुक्तं नैषधे—'जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम्' इति । पुनः जिह्मवक्त्रं गच्छन्तीति । यदुक्तम्—'कुटिलगतिः कुटिलात्मा कुटिलशीलसपन्नः' इति मौलार्थे । कुटिल चङ्क्रमणा । यदुक्तम्—'जउकिम्मेकम्महवसइ खलसपयपामति । त

चतुरग तुरगजिम वकापायठवंति ॥' इति । जात्यश्वा हि सदश्ववारे समारूढे अतिचञ्चलकुटिलगामिनो भवन्तीति ख्याति । पुनः किभूताः । अमर्षणाः कोपनाः । कस्यापि वचनमात्रमपि न सहन्ते । अमर्षभाजः परोपरीर्ष्याजुषः । तत्त्वार्थे कोपकलिताः । यदुक्तम्—'दुब्बलकन्नावकमुह बहुभोअणा सरोस । जेता तुरिया होइ गुण ते ता नरवइ दोस ॥' इत्युक्तेः । सुप्त निद्रा प्रमादमज्ञान परोपकारादिकरणे निद्रा बिभ्रतीति । तत्त्वार्थे बहुप्रमिला रणतूररावाकर्णने जाग्रतीति जनप्रसिद्धिः । अतः कारणात्खलोपमा सन्ति । च पुनः रथाः कामचारिणः अतिशयेन वाताधिकवेगेन चरन्ति प्रचलन्तीत्येवशीला । के इव । खिन्ना इव । यथा विटा काम स्वेच्छया अथ वा कामेन कदर्पचेष्टया मदविह्वलत्वेन वा चरन्ति व्यवहरन्तीत्येवशीला भवन्ति । पुनः किभूताः । स्वमात्मान वहन्ति शुभस्थान सुमार्गं वा नयन्तीति स्ववाहिनो वृषभास्तेषा बन्धविधायिन योक्तृ(ग्य)बन्धकारिण । तथा खिन्ना स्ववाहिनीमाजीविकादिकारिणा कुकर्मरतत्वेन बन्धबधाद्यवस्थाया स्वदानादिना मोचयितृणामपि ऋणप्रत्यर्पणानध्यवसायेन कथंचिदभ्याख्यानप्रदानादिना अनार्यत्वात्तेषा साधूनामुपकारिणामपि नियन्त्रणा निर्मापयन्तीत्येवशीलाः ॥

अमी नृशंसाः परघातिनः क्षितेः शतक्रतो शल्यजुषः पदातयः ।

इयं च लक्ष्मीः करिकर्णतालवच्चलानिलान्दोलितकेतुवत्पुनः ॥ १६८ ॥

हे क्षिते शतक्रतो भूजम्भारे, अमी पदातयो नृशंसा कूरा । तथा परान् शत्रून् स्वव्यतिरिक्तानन्यान्वा घातयन्तीत्येवशीला । शल्यानि शस्त्राणि कुन्तान्वा । 'परस्पोल्लासितशल्यपल्लवे । मृषा मृध सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतु ॥' इति नैषधे । 'शल्य शस्त्र कुन्तश्च' इति तद्रृत्ति । तथा समरावसरे शरीरान्त प्रविष्टानि लोहशल्यानि वा । तथा रागद्वेषद्रोहादिशल्यानि वा जुषन्ते भजन्तीति शल्यजुषो वर्तन्ते । च पुनरिय लक्ष्मी चला चपला वर्तते । किवत् । करिणा दन्तिना कर्णतालवत् । पुनरनिलेन प्रबलपवमानेनान्दोलितो वेल्लितस्तरलीकृतो य केतु प्रासादशिर शिखरस्थायुकध्वजस्तद्वत् ॥

इदं च राज्यं नरकप्रतिश्रुतेः सुभूमभूमर्तुरिवास्ति लग्नम् ।

परं पुनः कारणमस्ति संसृतेर्नभोम्बुदाम्भोऽङ्कुरसंततेरिव ॥ १६९ ॥

हे नृप, च पुनरिदं श्रीमदादिमहामण्डलीकैः सम्राड्भिः भुज्यमानं राज्यं समग्रदिगन्तभूमण्डलप्रभुता सुभूमनाम्नो भूमर्तुर्भूमीसार्वभौमस्य चक्रवर्तिन इव नरकस्य सप्तमदुर्गते प्रतिश्रुतेरङ्गीकारस्य लग्नं प्रतिभूसाक्षिकमिवास्ति । च पुनरिदं राज्यं राज्ञो भावो राज्यभूपतित्वं सृष्टे ससारस्य परं प्रकृष्टं कारणं हेतुरस्ति । किमिव । नभोम्बुदाम्भ इव । यथा श्रवणवारि अङ्कुरसंततेर्धान्यतृणादिप्ररोहपरम्परायाः परमं कारणं विद्यते ॥

भवन्ति योग्या विभवा भवादृशां न काबिलक्ष्माधव मादृशा पुनः ।

यदन्तरायं प्रणयन्ति मुक्तिपूःप्रयायिना दुःशकुना इवाङ्गिनाम् १७०

हे काविलनाम्नो मुद्गलमण्डलस्य श्रीमज्जन्मजनपदस्य क्षमाधव चक्रवर्तिन्, अमी विभवा विशिष्टराज्यादिलाभाकलिता भवा उत्पत्तय इत्यर्थध्वनिरपि । विभवा विभूतय धनधान्यद्विपदचतुष्पदसपदः भवादृशां सासारिकसुखाभिलाषिणां युष्मादृशमेव योग्या उचिता । न पुनर्मादृशां विमुक्तसर्वसङ्गाना निवृत्तिनितम्बिनीविनिर्मिताविरलविलासास्वादरसिकायितमनसां साधूनाम् । यत्कारणादमी विभवा विशिष्टा विरुद्धा वा भवा जन्मपरम्पराः अथ वा धनधान्याद्युपरि अतिमूर्छावत्तया विशेषेण सूक्ष्मवादरादिभेदभिन्नपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिनिगोदाधिक्येन भव संसारो येभ्यस्ते विभवा मुक्तिपुरि सिद्धिनगर्या प्रयान्ति गच्छन्तीत्येवशीलानामङ्गिना भविकजनाना दुःशकुना इव प्रतिकूलविहगा इव विघ्नमन्तराय कुर्वन्ति । यतः सग्रन्थाः मोक्ष गन्तुमशक्तास्ततो निर्ग्रन्थत्वमेव वर शिवपदप्राप्तिसाधनम् ॥

शिखामणेस्तस्य निरीहताजुषां बलाहकस्येव निशम्य निःस्वनम् ।

मुदाविरासीदवनीशमानसे विदूरभूमाविव बालवायुजम् ॥ १७१ ॥

अवनीशस्य विश्वभराभर्तुरकब्बरसाहेर्मानसे हृदये मुत् प्रमोद आविरासीत्प्रकटीभवति स्म । किमिव । बालवायुजमिव । यथा विदूरनाम्नो भूवरस्य भूमौ रत्नोत्पत्तिपृथिव्या बालवायुज वैदूर्यरत्नमाविर्भवति । किं कृत्वा । निरीहताजुषा निर्गता ईहा सर्वेष्वपि पुत्रकलत्रधनप्रमुखसासारिकानुषङ्गेषु स्पृहा वाञ्छा येषां ते निरीहास्तेषां भाव जुषन्ते सेवन्ते इति निरीहताजुषस्तेषां नि स्पृहत्वभाजा वशिना शिखामणेः चूडामणे शिरोरत्नस्य सूरैर्निःस्वन पूर्वोक्तवस्तूपादाननिषेधसूचकवाच निशम्य श्रुत्वा । कस्येव । बलाहकस्येव । यथा मेघस्य निःस्वन बालवायुज शृणोति । वर्षाकाले हि सजलजलदगजितमाकर्ण्य विदूरपर्वतक्षितौ वैदूर्यरत्नशलाका प्रादुर्भवन्तीति ख्यातिः । अधुनापि यथा अर्बुदाद्यचलवशभूमीषु प्रथमवृष्टिजलक्लिन्नमेदिनीषु वशाङ्कुरा भुव निर्भिद्य निर्गच्छन्त श्रूयन्ते दृश्यन्ते च कैश्चित्तद्वदिति ॥ इति साहिदीयमानवस्त्वनुपादाने सूरिप्रत्युत्तरवच ॥

शशंस सूरिं कमिता ततः क्षितेः किमप्युपादाय कृतार्थ्यतामहम् ।

न यत्करः पात्रकरोपरि स्म भूत्स मोघजन्मा विपिनप्रसूनवत् ॥ १७२ ॥

ततो मुदाविर्भवानन्तर क्षिते कमिता भूमीकामुको वसुधाधवोऽकब्बर । 'इत्यमी वसुमतीकमितार' इति नैषधे । सूरि प्रति शशंस शसति स्म वभाषे । किमुवाच । हे प्रभो, किमपि किञ्चिदपि मदीय मामकीन वस्तु पदार्थमुपादाय गृहीत्वा प्रभुणाह कृतः सिद्धोऽर्थः कार्यं यस्य स कृतार्थ कृतकृत्य कृतार्थ करोतीति कृतार्थयति ततः कमोक्तौ कृतार्थ्यता सफलं क्रियताम् । हि यस्मात्कारणात् यत्करो यस्य पाणिः पात्रस्य साधो-

दानार्हस्य दानावसरे करस्य हस्तस्योपरिष्ठान्न स्म भूत् नाजनि न सजातः । स पुमान् विपिनप्रसूनवत्कान्तारकुसुममिव मोघजन्मा निष्फलावतारो जातः ॥

नवोद्धृतं दध्न इवाम्बुधेः सुधां मृदश्च हेमोपकृतिस्तनोरिव ।

श्रियस्तथा सारमिदं मुनीन्द्र यत्क्रियेत सा पात्रकराब्जसङ्गिनी ॥१७३॥

हे मुनीन्द्र, तथा तेन प्रकारेण श्रियः लक्ष्म्या इदमेतत्सार वर्तते । यत्सा श्री पात्रस्य साधोः कराब्जस्य पाणिपद्मस्य सङ्गोऽस्ति अस्याः इति पात्रकराब्जसङ्गिनी क्रियेत विधीयेत । तथा कथम् । यथा दध्न पयःसुतस्य सादर नवोद्धृत नवनीत म्रक्षणमास्ते । पुनर्यथा अम्बुधेः क्षीरसमुद्रस्य सार सुधां पीयूषम् । नवीनसृष्टिनिर्माणमनुजायवहारेषु धान्येषु जुगुप्सा कुर्वाणैर्गीर्वाणैः स्वाशनार्थमभ्यर्थितो मधुमथनः प्रथमतः पीयूषार्थमेव पयोनिर्वि मथितवानिति श्रुतिः । पुनर्यथा मृदो धातुमृत्तिकायाः सारं हेम स्वर्णम् । पुनर्यथा तनोः शरीरस्य सारमुपकृतिरुपकारः । यदुक्तम्—‘दानवित्तादृत वाचः कीर्तिधर्मौ तथायुषः । परोपकरणं कायादसारात्सारमुद्धरेत् ॥’ इत्युक्तेः ॥ इति गुरोर्दानाय पुनराग्रहः ॥

ततो बभाण प्रभुरब्धिनन्दना स्वतन्त्रचारा व्यभिचारिणीव या ।

श्रयेत तां गन्धकलीमलीव को वृणोमि किं चान्यदहं महीमणे १७४

ततो नृपवाक्यानन्तरं प्रभुर्हीरसूरिर्बभाण भाषते स्म । हे महीमणे रत्नगर्भारत्न, या अब्धिनन्दना क्षीरनीरनिधितनया श्रीर्व्यभिचारिणीवासतीव स्वतन्त्रं स्वेच्छया चरति भ्राम्यतीत्येवशीला स्वतन्त्रं चारो विचरणं भ्रमणं यस्याः सा स्वतन्त्रचारा आस्ते । ततः कारणात् ता पासुलामिव श्रियः को महात्मा उत्तमः पुमान् श्रयेत भजेत । अपि तु न कोऽपि । कामिव । गन्धकलीमिव । यथा अली भृङ्गो अमरः गन्धकलीं चम्पककलिकां नाश्रयेत् । ‘न षट्पदो गन्धकलीमजिघ्रत’ इति सूक्तेः । किं च मत्कथितमवधार्यताम् । एतेषु भवत्कथितपदार्थेषु मम प्रयोजनं नास्ति । अहं किञ्चिदन्यत् वृणोमि भवत्पार्श्वे याचे ॥

निवेशिता ये नरकेषु नारका इवाङ्गिनो गुप्तिषु सन्ति ते विभो ।

विमुञ्च तानित्थमुदीर्य तस्थुषि व्रतीश्वरेऽभाषत भूवृषा पुनः ॥ १७५ ॥

पुनः प्रभुयाच्चोपरि भूवृषा भूमीन्द्रोऽभाषत । कस्मिन् सति । इत्थममुना प्रकारेण उदीर्य उक्त्वा याचनां कृत्वा व्रतीश्वरे सूरिन्द्रे तस्थुषि स्थिते सति मौनमवलम्बमाने सति । इत्थं कथम् । हे साहे, नरकेषु दुर्गतिषु नारका इव ते तव गुप्तिषु कारागारेषु ये अङ्गिनः प्राणिनो जना निवेशिताः क्षिप्ताः सन्ति तान् विमुञ्च स्वैरचारिणो मुक्तकलान् कुरु ॥ इति गुरोर्बन्दिमोचनार्थं याचना ॥

पृषत्सपत्नैरिव वन्यजन्तवः शकुन्तपोता इव वा शशादनैः ।

विसारवारा इव देव धीवरैरमीभिरुद्वेगमवापिता जनाः ॥ १७६ ॥

हे देव भट्टारक, अमीभिः कारागारवासिभिः अन्यायाजन्यकारिभिः नृशसैर्जनाः प्रजा लोका उद्वेग सतापमकराकरदण्डादिकरणैर्महोपद्रवमवापिता लम्बिताः । कैरिव । पृषत्सपत्नैरिव । यथा पृषता मृगविशेषाणा सपत्नै प्रत्यर्थिभिः केसरिभिः । ‘पृषत्कि-
शोरी कुरुतामसगतम्’ इति नैषधे । वन्या वने भवा मृगशशशम्बरादयो जन्तवः प्राणिनः काननसत्त्वाः सताप्यन्ते । पुनः कैरिव । शशादनैरिव । यथा श्येनैः शकु-
न्तानां विहगमाना पोता बालाः शकुन्ता पोताश्च लघुवृद्धपक्षिण उद्विज्यन्ते । ‘श्येन
पत्नी शशादनः’ इति हैम्याम् । तथा च—‘नभसि महसा ध्वान्तध्वाङ्गप्रमापणपत्रिणामिह
विहरणैः श्येता पाता रवेरथ धारयन् । शशविशशनत्रासादाशामयाच्चरमा शशी तद-
धिगमनात्तारापारापतैरुदडीयत ॥’ इति नैषधे । पुनः धीवरैरिव । यथा कैवर्तकैर्विसार-
वारा मत्स्यगणा उद्वेग प्राप्यन्ते । ‘विसारः शकली शक्ली शम्बरोऽनिमिषस्तिमि’ इति
हैम्या मीननामानि ॥

अमी प्रजाम्भोजरमा हिमागमा मुनीन्द्र नीतेः परिपन्थिका इव ।

पचेलिमेनेव निजांहसा मया निगृह्य तच्चारकगोचरीकृताः ॥ १७७ ॥

हे मुनीन्द्र, यत्कारणादमी बन्दिजनाः नीतेर्न्यायस्य शिष्टाचारस्य परिपन्थिका
प्रतिपक्षा इव वर्तन्ते । किलक्षणा । प्रजा प्रकृतयः नगरग्रामजनपदादिवासिजना ए-
वाम्भोजानि पद्मानि सुकुमारत्वात्कमलतुल्यास्तेषां रमा लक्ष्म्य तासु हिमागमाः हेम-
न्तशिशिरसदृशाः । यथा हिमागमेन लक्ष्मीरादाय । विच्छायाकृत्येत्यर्थः । कमलानि
गाल्यन्ते, तथा एभिरपि श्रीणां ग्रहणे कथैव का जीवा अभिगृह्यन्ते जनानां तस्मा-
त्कारणानीतिविदा न्यायनिष्ठेन मया निगृह्य निग्रहं कृत्वा निगडयित्वा च चारकगोचरी-
कृताः कारागारनिवासिनो विहिताः । उत्प्रेक्ष्यते—पचेलिमेन परिपाकं प्राप्तेनोदयाव-
निकायामागतेन निजांहसा स्वकीयपापेनेव । ‘अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमाप्यते’
इति वचनात् ॥

अगण्यपुण्यादिव पक्त्रिमान्निजात्तथापि वाक्याद्यतिजम्भविद्विषाम् ।

समुद्धृता दुःखमहान्धकूपतो यदृच्छयामी विचरन्तु बन्दिनः ॥ १७८ ॥

हे प्रभो, अमी बन्दिनो बन्दिजनाः कारागारीभूता अपि यदृच्छया स्वतन्त्रं वि-
चरन्तु स्वस्वस्थाने गत्वा स्वैर क्रीडन्तु । किंभूता । यद्यप्यमी हिंसा इवानेकसत्त्वोद्वे-
जका सन्ति, तथापि यतिजम्भविद्विषा वाचयमवासवानां तत्रभवता भवता वाक्या-
न्मदनुग्रहकारिवचनात् दुःखमेव महानतिगुरुः पातालविवरोपमो योऽन्वकूपो घोरा-
न्धकारनिचितावटस्तस्मादुद्धृता अर्थात्तत्र पूर्वं पतिताः पश्चान्निष्काशिताः । उत्प्रेक्ष्यते—
निजादात्मनैव प्राचीनजन्मन्याचीर्णादत एव स्वकीयात्तथा पक्त्रिमात्परिपाकभावः प्राप्ता-
दुदयावलिकायामायातात् तथा अगण्याद्गणयितुमशक्यादतिबहुलात्पुण्यात्सुकृतादिव ॥
इति सूरिवाक्याद्बन्दिमोचनम् ॥

इयं तु पूज्येषु परोपकारिता प्रसादनीयं निजकार्यमप्यथ ।

तमूचिवानेष यदङ्गिनोऽखिलानसूनिवावैमि ततः परोऽस्तु कः॥१७९॥

हे सूरय । तु इति विशेषद्योतकम् । अवधारयन्तु वा । 'तु विशेषेऽवधारणे' इत्यनेकार्थः । इयं बन्दिजनमोचनलक्षणा पूज्येषु भुवनजनाभ्यर्चनीयेषु श्रीमत्सु केवलं परोपकारिता परेषु आत्मव्यतिरिक्तेषु जीवेषु उपकारिता उपकारकरणशीलता परोपकर्तृत्वमेव । अपि पुनर्निजकार्यं स्वकृत्यमपि प्रसादनीयं प्रसाद्य सद्योवाच्यम् अथ इत्युक्तेरनन्तरमेष सूरिस्तमकब्बर प्रति ऊचिवान् कथयति स्म । हे साहे, अहमखिलान् समस्तानपि अङ्गिनो जन्तून् असून् स्वप्राणानिवावैमि निजजीववज्जानामि । तत तर्हि परः कोऽस्तु । न कोऽपीत्यर्थः ॥

सुखं निखेलन्तु विलासविष्किरास्त्वया विमुक्ता निजपञ्जरात्पुनः ।

निरोधदुःखं स्वगृहैर्वियोगिनस्तुदत्यमून्यत्तुहिनं तरूनिव ॥ १८० ॥

हे साहे, निजपञ्जरात्स्वकीयकाष्ठकोष्ठात्स्वया विमुक्ता श्रीमता निष्कास्य रोधान्मुत्कला मुक्ता स्वेच्छाचारिण कृता विलासविष्किरा क्रीडाविहगमाः पुन पूर्ववत्सुखं सुखेन निखेलन्तु रमन्ताम् । यत्कारणात्स्वेषामात्मना गृहैर्दारैर्वियोगो विरहोऽस्त्येषामिति वियोगिनस्तानमून्विहगान्निरोधो निरुध्य रक्षणं पञ्जरक्षेपणं च तस्य दुःखमसातं तुदति पीडयति । किमिव । तुहिनमिव । यथा तुहिनं हिमं हिमानीव तरून्पीडयति दहति ॥

नभश्चराम्भश्चरभूमिचारिणा वपुष्मतां स्वैरसुखप्रचारिणाम् ।

निभालयन्तीतिदृशा चराचर भवानिश साधुरिवाभयप्रदः ॥ १८१ ॥

हे साहे, नभस्याकाशे चरन्तीति नभश्चरा पक्षिणः, तथा अम्भसि पानीये चरन्तीति अम्भश्चारिणो मत्स्या मकरादयः, तथा भूमौ पृथिव्या चरन्तीत्येवशीला भूमिचारिणः शशशम्बरवराहहरिणादयो वन्या गोमहिषपक्षेडकादयो ग्रामीणास्तेषां वपुष्मता देहिना जन्तूनां त्वं नीतिदृशा न्यायचक्षुषा चराचरं स्थावरजङ्गमरूपं जगन्निभालयन् स्वात्मवत्सर्वेऽपि सत्त्वा पालनीया इति बुद्ध्या पश्यन्ननिशं निरन्तरं साधुरिव पृथिवीजलानलवायुवनस्पतित्रिसाभिधानानां पण्णां कायानां पालयितेव अभयं जीवितदानं प्रददातीत्यभयप्रदो भव एवेति । किं च । वपुष्मता स्वैरस्वेच्छया सुखेन मनसा तेन च प्रचरन्तीत्येवशीलास्तेषाम् ॥ इति पञ्जरपक्षिमोचनमार्गणम् ॥

इति निशम्य दयोदयगर्भितं क्षितिपतिर्यतिशीतरुचेर्वच ।

कवितृकाव्यमिवाप्रतिमं गुणैर्मनसि तं प्रशशंस चमत्कृतः ॥ १८२ ॥

क्षितिपतिरकब्बरसाहि चमत्कृत आश्चर्यं प्राप्तं सन् मनसि चित्ते एव गुणैः शमदमकृपासत्त्वादिभिरप्रतिममसाधारणं तं सूरिः प्रशशंस श्लाघते स्म । किं कृत्वा । य-

तिशीतरुचेर्मुनिमृगाङ्गस्य इत्यमुना बन्दिविहगादिमोचनद्वारा दयाया यावज्जगजन्तूपरि
कृपाया उदय प्रादुर्भाव गर्भे मध्ये जातोऽस्येति तद्वयोदयगर्भित करुणाकलित वचो
विभुवाक्य निशम्य श्रुत्वा । वचोऽपि किंभूतम् । गुणैर्नि स्पृहताशान्तरसादियुक्त-
तापरोपकारितादिभिरप्रतिममनुपमम् । किमिव । कवितृकाव्यमिव । यथा कवितु कवे
काव्य कवित्व गुणैरुपमोत्प्रेक्षाप्रसादकान्तिश्लेषालकारादिभिरप्रतिम न विद्यते प्रतिमा
प्रतिबिम्ब यस्य तादृश स्यात् ॥

मनसा साहि कि प्रशशस । तदेवाह—

प्रावीण्यमन्यहितकर्मणि पश्यतैषा

तथ्यं यतो व्यवसितिर्महतां परार्था ।

विश्व शशीव धवलत्यखिलं कलाभि-

रम्भोभरैर्जलधरोऽपि धरा धिनोति ॥ १८३ ॥

मूर्ध्ना दधाति वसुधां भुजगाधिराजो

नैःस्थ्य निहन्ति मणिरध्वरभागभाजाम् ।

आमोदयन्ति हरितो हरिचन्दनानि

मिन्दन्ति संतमसमम्बरकेतवोऽपि ॥ १८४ ॥

साला दिशन्ति च फलानि पचेलिमानि

वार्धेर्वशा अपि वहन्ति पयःप्रवाहान् ।

विश्वोपकारकरणैकनिबद्धकक्षै-

रेभिर्बभूव वसुधा किमु रत्नगर्भा ॥ १८५ ॥

एषाममीषा सूरीणामन्येषा स्वव्यतिरेक्ताना जन्तूना हितकर्मणि इष्टनिर्माणे प्रा-
वीण्य चातुर्यं पश्यत भो लोका , विलोकयत । यत कारणान्महतामुत्तमाना व्यवसिति-
व्यापार प्रयत्नो वा परेषामेवार्थं प्रयोजन यस्यास्तादृश्य इति । तथा सत्या तदेव दर्श-
यति—शशी चन्द्रमा कलाभिश्चन्द्रिकाभि कृत्वा विश्व जगद्वलत्युज्ज्वली करोति ।
किंभूत विश्वम् । अखिल समस्तमपि । अपि पुनर्जलधरो मेघोऽपि अम्भोभरैर्वृष्टिरूपे पय-
समूहै कृत्वा वरा वसुधा भूमी विनोति निदाघदाघनिवारणनवादुरनिकुरम्बकरणादिना
प्रीणयति । पुनर्भुजगाधिराज शेषनागेन्द्रो मूर्ध्ना मस्तकेन वसुधा दधाति विभति । पुन-
रध्वरभागभाजामध्वराणा यज्ञाना भागमश भजन्तीति देवा क्रतुभुक्त्वात् । ‘स्वाहा-
स्वधाक्रतुसुधाभुज आदितेया ’ इति हैम्याम् । ‘मखाशभाजा प्रथमो निगद्यसे’ इति
रघौ । ‘मुख मखाखादविदा वदन्ति’ इति नैषधे । मखाखादविदा देवाना मुख व-
हिरित्यर्थः । ‘बर्हिर्मुखा निमिषदेवतनाकिलेखा ’ इति हैम्याम् । तेषा सुराणा मणि-

श्चिन्तारत्नम् । नैःस्थ्य दारिद्र्य निहन्ति नाशयति । पुनर्हरिचन्दनानि श्रीखण्डपादपाः
हरितो दिश आमोदयन्ति सौरभयन्ति सुरभीकुर्वाणा सन्त आमोदयन्ति सप्रमोदान्
कुर्वन्ति हर्षयन्ति पुनरम्बरकेतवो भास्करा सतमसमन्धकारं भिन्दन्ति निर्दलयन्ति ।
च पुन साला सर्वजातीया पादपा पचेलिमानि फलानि दिशन्ति यच्छन्ति । तथा
वाधे समुद्रस्य वशा पत्न्यो नद्योऽपि पय प्रवाहान् पानीयपूरान् वहन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—
विश्वेषा जगता समस्तजन्तुजाताना वा य उपकार समीहितकरण तत्र एका अ-
द्वितीया निबद्धा रचिता कक्षा स्वीकारो यैस्तादृशैरेभिश्चन्द्रादिपदाथैः सूरिभिर्वा वसुधा
एषा विश्वभरा रत्नगर्भा बभूव रत्नानि मणयो रत्नपुरुषा वा गर्भे मध्ये यस्याः तादृशी
जातेव । रत्नगर्भेत्यभिधानमेभिर्भूमेरभूदिव ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

शशंस साहिर्जनयन्ति मन्मनोविनोदमेते विबुधा इव प्रभो ।

अमून्परं नाहमवैमि बिभ्रतः शमीद्रुमान्वह्निमिवार्तिमन्तरा ॥ १८६ ॥

साहिरकब्बर शशंस कथयति स्म । हे प्रभो, एते विहगमा मन्मनोविनोद मम
मनसश्चित्तस्य विनोद क्रीडा जनयन्ति । के इव । विबुधा इव । यथा पण्डिता विवि-
धशास्त्रगोष्ठीकाव्यादिरसै मनोविनोदमुत्पादयन्ति । यदुक्तम्—‘गीतशास्त्रविनोदेन
कालो गच्छति धीमताम्’ इति । पर पुनरहममून् विहगान् अन्तरा मनोमध्ये अर्तिं
पीडाञ्चिता वा बिभ्रतो धारयतो नावैमि न जाने । कानिव । शमीद्रुमानिव । यथा श-
मीवृक्षा ‘खेजडी’ इति प्रसिद्धा अन्तरा मध्ये वह्निमनल बिभ्रति । ‘शमीमिवान्यन्तर-
लीनपावकाम्’ इति रघुवशे ॥

शापेन कस्यापि मुनेरिवानिश निरुध्यमाना विविधा. खगा मया ।

निर्मुक्तिभाजो भवदीयभाषितैरेते स्वतन्त्र विचरन्तु सत्वरम् ॥ १८७ ॥

हे प्रभो, एते विविधा नानाजातीया अनेकजातिजन्मानो मयूरशुकसारिकाकाकपि-
कचकोरप्रमुखा खगा विहगमा भवदीयै श्रीमत्सबन्धिभि भाषितै कथितै निर्मुक्ति
बन्धन परेभ्यो मोक्ष भजन्तीति निर्मुक्तिभाज मया विमुक्ता सन्त सत्वर शीघ्र
स्वतन्त्र स्वेच्छया विचरन्तु सुख स्वैरमितस्ततो व्रजन्तु विशिष्टा मनोभिलषिता वा
चूणि कुर्वन्तु । खगा कि क्रियमाणा । मया अनिश निरन्तर निरुध्यमाना पञ्ज-
रादिषु प्रक्षिप्य सरक्ष्यमाणा रोव प्राप्यमाना । उत्प्रेक्ष्यते—कस्यापि कोपनस्य
दुर्वास प्रमुखस्य कस्यचिदनिर्दिष्टनाम्नो मुनेस्तापसस्य आक्रोशवाक्येनेव अनिष्टवद्भवेत् ॥

भास्वत्करा इव सुदूरभुवः समेता

गृहीत दन्तिहयहेममुख न किञ्चित् ।

तेन प्रसाद्य किमपि स्वविधेयमेष

प्राप्यः कृतार्थपदवीमिति भूभुजोचे ॥ १८८ ॥

भूभुजा साहिना इत्यमुना प्रकारेण ऊचे कथ्यते स्म । इति किम् । हे श्रीसूरयः, यूयं सु अतिशयेन दूरभुवः दविष्ठस्थानाद्गन्धारपुरान्मदाकरणवशात्समेता इह पादा-
वधारिता । के इव । भास्वत्करा इव । यथा सूर्यकिरणा अतिदूराद्दशाविकाष्टयोजनश-
तस्थायुकार्कमण्डलादायान्ति । अथ वा गमनानन्तरं मया प्रदीयमानं दन्तिनो मदो-
द्गुरगन्धसिन्धुरा, हया जात्यानेकजातीयोत्तुङ्गतुरगमा, हेम स्वर्णम्, तत्प्रमुखं तदादिकं
किञ्चिन्नं गृहीतं नादध्वम् । तेन कारणेन किमपि स्वविधेयमात्मीयकार्यं प्रसाद्य प्रसन्नी-
भूय कथयित्वा एषोऽहं कृतार्थपदवीं कृतकृत्यतां प्राप्यो लम्भयितव्यः ॥

सम्यग्विमृश्य गुरुणा निजभूमिभर्तु-

रामुष्मिकैहिकसुखप्रतिभूभविष्णुः ।

क्षीराब्धिसूनुरिव पर्युषणाष्टसंख्य-

घस्त्रेष्वमारिमवनीरमणाद्ययाचे ॥ १८९ ॥

गुरुणा हीरविजयसूरेणा सम्यक् चित्तावधानदानपूर्वकं विचारयित्वा अवनीरमणा-
दकब्बरसाहिपार्श्वोत्पर्युषणाया सावत्सरिकपर्वणं वसुमिता अष्टसख्या प्रमाणं येषां
तेऽष्टसख्या घस्त्रा वासरास्तेषु अमारिजगजीवाभयप्रदानं ययाचे अर्थयामासे । का
इव । क्षीराब्धिसूनुरिव । यथा केनचित्पुसा वदान्यनृपपार्श्वोत्पाथोधिनिन्दना श्रीर्याच्यते ।
किं लक्षणममारिम् । निजस्य सूरेरात्मनः भूमिभर्तुरकब्बरस्यात्मनश्च आमुष्मिकं स्व-
र्गपवर्गभवतया ऐहिकं पुत्रकलत्रधनधान्यमाण्डलीकसार्वभौमादिपदवीसम्भवं च य-
त्सुखे साते तयोः प्रतिभूभविष्णुः साक्षिणीभवनशीला ॥

उद्वेलिताखिलशरीरि कृपापयोधी-

न्प्रेक्ष्य प्रभून्हृदि चमत्कृतिमादधानः ।

चत्वार्यहान्युपरि सन्तु भवद्वृताना

चूलावदत्र मम तं नृप इत्यवादीत् ॥ १९० ॥

नृप साहिस्तसूरिं प्रति इत्यवादीत् इदं वदति स्म । इति किम् । हे प्रभो, भव-
द्विर्वृतानां श्रीमद्याचितानां पर्युषणाष्टदिनानामुपरि अधिकानि मम पुण्यार्थं चत्वारि
अहानि दिनानि सन्तु भवन्तु । किवत् । चूलावत् । यथा दशवैकालिकादिकानां केषा-
चिच्छास्त्राणामुपरि चूला भवति, यथा वा सप्तदशसहस्रयोजनप्रमाणलवणसमुद्रजला-
नामुपरिष्ठाजलशिखा जायते, तथैवैते वासरा श्रीमद्वृत्तेभ्यो दिवसेभ्योऽन्यधिका
भूयासु । नृप किं कुर्वाण । वेला कूलभूमीमतिक्रान्तं उद्वेल उत्कण्ठ । उद्वेलता
सजाता अस्मिन्नित्युद्वेलित । अखिलानां समग्राणां शरीरिणा जलस्थलाम्बरचारिणा
प्राणिनामुपरि कृपा दयोदयं तद्रूपं पयोधिं समुद्रो येषां तादृशान्प्रभून् हीरसूरीन्प्रेक्ष्य
दृष्ट्वा चमत्कृतिं यत्र तत्राप्येतेषां केवलं सर्वप्राणिषु करुणापरिणाम एव तदहो

महानुभावा एवेत्याश्चर्यम् । आ सामस्त्येन सर्वाङ्गीणोल्लसद्रोमाञ्चकञ्चुकत्वेन दधान
बिभ्राण ॥

प्रारभ्यमेव कनभोदशमीं शमीश

यावन्नभस्य बहुलेतरषष्टिका स्यात् ।

तावच्चरन्तु सुखमङ्गिगणास्त्रिलोकी-

जीवातुनेव भवता वचसेत्युदित्वा ॥ १९१ ॥

स्वाह्वाङ्कितं कजसुहृन्मितवासराणा

बिभ्रद्विचित्ररुचिकाञ्चनचारिमाणम् ।

अम्भोनभोवनतनूमदमारिसत्कं

प्रादायि तेन गुरवे फुरमानषट्कम् ॥ १९२ ॥

तेनाकब्बरसाहिना स्वाह्वाङ्कित निजनामकलितम्, तथा कजसुहृद कमलबान्धवा
सूर्या तैर्मिताना प्रमाणीकृताना द्वादशसख्याकाना वासराणा दिवसानाम्, तथा अम्भसा
पानीयानाम्, तथा नभसाम् । वियच्चराणामित्यर्थः । तथा वनानामुपलक्षणाज्जनपदनगरपु-
रग्रामाणा ये तनूमन्त अम्भश्चरा मत्स्यकच्छपादय नभश्चरा मयूरशुककलिविङ्कादयः
वनचरा शशशम्बरहरिणादय ग्रामादीना महिषमेषादय एतेषा जीवानाममारि-
जीववत्पालनदया तत्सत्क तत्सबन्धि स्फुरन्मानाना साहिनाममुद्राङ्कितलेखविशेषाणा
षट्क गुरवे हीरविजयसूरये प्रादायि प्रदत्तम् । किं कुर्वत् । विशिष्टानि विचित्राण्याले-
ख्यानि यत्र रुच्या स्फुरज्ज्योतिषा युक्तस्य काञ्चनस्य । अथ वा विशिष्टा मनोज्ञा चित्रा
विस्मयकारिणी । अथ वा विचित्रा नानाप्रकारा रुचि कान्तिर्यस्य तादृशस्य काञ्चनस्य
कनकस्य चारिमाण मनोहरता बिभ्रद्वारयत् । दत्त किं कृत्वा । इत्यमुना प्रकारेणो-
दित्वा कथयित्वा । इति किम् । त्रिलोक्यास्त्रिभुवनस्य जीवातुना जीवनौषधिनेव । आका-
शेन खला ऊर्ध्वलोक , बिलादिना अधोलोक , भूमिर्मध्यमलोक , इति त्रिलोकी जाता ।
भवता श्रीपूज्यानां वचसा अङ्गिगणा जन्तुव्रजा तावत्तावन्त समय सुख सातेन चरन्तु
पर्यटयन्तु भक्षयन्तु वा यदृच्छया । 'चर गतिभक्षणयो' अर्थत्वात् । किं यावत् हे
शमीश उपशमवतामवतस, मेचकनभोदशमीमारभ्य श्रावणबहुलदशमीदिनमादौ कृत्वा
इदं तु गुर्जरमण्डलानुगत वच अन्यदेशापेक्षया तु भाद्रपदकृष्णदशमी स्यादिति
श्रावणकृष्णदशमी प्रथमं सस्थाप्य यावत् यावता कालेन नभस्य भाद्रपदमासस्य
बहुलेतरा शुक्ला अथ वा बहुल. कृष्णपक्ष तस्मादितरोऽन्य शुक्लपक्षस्तस्य षष्टिका
षष्ठी तिथि स्याद्भवेत् ॥ युगलम् ॥

व्यक्तिर्यथा प्रथममार्प्यत गुर्जराणा

सौराष्ट्रमण्डलफतेपुरदिल्लिकानाम् ।

द्वैतीयिकं सदजमेरुकृते तृतीयं

तुर्यं पुनर्निखिलमालवमण्डलस्य ॥ १९३ ॥

....

..... |

.....

.... ॥ १९४ ॥

तेषा षण्णामपि फुरमानाना व्यक्ति पृथक् पृथक् कथन यथेति ग्रन्थकृता प्रोच्यते । प्रथम फुरमान ग्रामनाम्नो सस्काराभाव । क्वचित्क्रियते क्वचनापि न । तेनात्रापि सस्कारो न कृतः । इति गुर्जराणा धरित्रीमण्डलस्य । सु शोभनो भरतसार्वभौमप्रदत्त-देवदेशनामत्वात् राष्ट्रं सुराष्ट्रं, सुराष्ट्रं एव सौराष्ट्रं इति सौराष्ट्रं एव मण्डल । अथ वा सौराष्ट्रनाम्नो युगादिदेवनन्दनस्य मण्डलो देश सौराष्ट्रमण्डल । तथा फतेपुर साहिराजधानी तदाश्रयेण मेवातमण्डलमागतम् । तथा दिल्ली दिल्लीनामनगरी तत्कथनेन तत्पार्श्ववर्तिनोऽन्येऽपि मण्डला समायाता । एतेषा मण्डलाना द्वितीयमेव द्वैतीयिकम् । स्वार्थे इकण् । तथा सन् प्रवानो योऽजमेरुदेश तेन वनवकोटीकामरु-स्थलीनागपुरादिदेशा लभ्यन्ते । तत्कृते तदर्थं तृतीयम् । पुनर्निखिल समग्रोऽपि मालवमण्डलोऽवन्तिदेशस्तस्य । तद्ब्रह्मेण निखिलापि दक्षिणदिक् तुर्यं चतुर्थम् । तथा श्रिया लक्ष्म्या लाभ प्राप्तिर्यत्र तादृशेन लाभपुरेण लाभपुरदेशेन पञ्जापनाम्ना । मण्ड-लेनेत्यर्थः । तत्समीपस्था अपि तद्ब्रह्मेण ज्ञेया । युनक्तीति तादृक् मुलताननामा नीवृजनपद तयोर्द्वयमुच्चमुलतानादिभेदाद्युगम तस्य कुसुमाशुग स्मरस्तस्य बाणा शरास्तेषा सख्या यस्य । पञ्चममित्यर्थः । पुन सावुषु मुनिषु सिन्धु समुद्र स एव रसना मेखला यस्या सा पृथ्वी तस्या रजनीश्वरश्चन्द्र तस्य । एतावता यतिराजस्य हीरसूरेः स्वस्यात्मन सवेशदेशे समीपे रक्षणकृते कदाचित्कस्याप्याकस्मिकागतस्य प्रत्य-यकृते दर्शनार्थं स्वपार्श्वे स्थापनार्थं षष्ठं स्फुरमानमार्प्यत अर्पितम् ॥ युगमम् ॥ इति पर्युषणाद्वादशदिनामारिफुरमानप्रदानम् ॥

नैकक्रोशमितं न दृग्विषयभावपार पयोराशिव-

त्कीडत्कुञ्जरवाजिराजिवनितामर्त्यव्रजभ्राजितम् ।

नानानीडजमीननीरभरितं तड्डामराख्य सर-

स्तेभ्योऽदत्त निषिद्धमीननिधनं तद्विज्ञवाग्भिर्नृपः ॥ १९५ ॥

नृपोऽकब्बरस्तेषा सूरीणा विज्ञा पण्डितशान्तिचन्द्रगणयस्तेषा वाग्भि डाम-रसरो मत्सीविज्ञस्त्युपदर्शकश्लोकोक्तियुक्तिभि निषिद्ध निवारित मीनाना मत्स्याना निधन वधो यत्रैवविध तत्स्वय साहिना खानितत्वान्महत्तया प्रसिद्ध डामर इत्याख्या

नाम यस्य तादृश सरो महातटाक तेभ्यो हीरविजयसूरिभ्यः अदत्त ददिवान् । कि-
भूतम् । नैके बहव कोशा गव्यूतानि तैर्मीयते स्म प्रमाणीक्रियते स्मेति द्वादशक्रो-
शप्रमाणम् । पुन किभूतम् । दृशा चक्षुषा विषय गोचरीं भजतीति तादृक् पारं पर-
तट यस्यैवविव न । अदृग्गोचरपारमित्यर्थः । किवत् । पयोराशिवत् समुद्रमिव ज्ञायते ।
पुन किभूतम् । क्रीडन्तो जलकेली कुर्वाणा ये कुञ्जरा हस्तिनस्तथा वाजिनस्तुरङ्गमा-
स्तेषा राजय श्रेणयस्तथा वनिता युवतयस्ताभिर्युक्ता मर्त्या मानवा सतरुणीका-
तरुणास्तेषा व्रजा गणास्तैर्भ्राजित भूषितम् । पुन किभूतम् । नाना विविधजातिज-
न्मानो ये नीडजा पक्षिण तथा मीना मत्स्या जातयो यत्र तादृशेन नीरेण भरित
सपूर्णम् ॥ इति डामरतटाकार्पणम् ॥

भूजानिरित्यालपति स्म सूरयः श्रीमद्गिरा मे न्यवसद्वया हृदि ।

हंसी पयोदध्वनिनैव मानसे पृच्छामि किं त्वेतदहं गुरुन्प्रति ॥ १९६ ॥

भूर्भूमी जाया यस्यासौ भूजानि पृथ्वीपतिरित्यग्रे वक्ष्यमाणमालपति स्म कथया-
मास । हे सूरय , श्रीमद्गिरा युष्माक वाचा मे मम हृदि हृदये दया सर्वसत्त्वोपरि कृपा
न्यवसन्निवास कृतवती । केव । हसीव यथा पयोदध्वनिना पर्जन्यगर्जारवेण मराली
मानससरसि निवसति । मेघागमे हि राजहसा कलुषजलत्वादितो मानससरसि यान्तीति
कविसमयः । चम्पूकथायामपि 'प्रोषितकलहसवयसि' । 'वर्षावर्णने प्रोषिता मानस प्रति
प्रस्थापिता हसपक्षिणो येन' इति तद्वृत्तिः । किं तु परं विशेषः प्रश्नो विद्यते । अहं
गुरुन् युष्मान्प्रति पृच्छामि ॥

क प्रश्नस्तमेवाह—

अनेहसीव युग्मिना न कोऽपि कं हनिष्यति ।

कदाचिदीदृशं दिनं समेष्यति क्षितौ प्रभो ॥ १९७ ॥

हे प्रभो, कदाचित् कस्मिन्नपि प्रस्तावे क्षितौ पृथिव्यामीदृशं दिनमेवविधो वासरः समे-
ष्यति समायास्यति । यस्मिन् समये दिवसे वा कोऽपि लघुवृद्धोऽपि सिंहव्याघ्रादिहि-
सकोऽपि कमुत्तुङ्गमपि जन्तुः न हनिष्यति नैव व्यापादयिष्यति । कस्मिन्निव । अनेह-
सीव । यथा युग्मिना युगलिकानां समरे अवसर्पिण्या प्रथमद्वितीयतृतीयारकलक्षणे
काले कोऽपि न हन्ति ॥ इति सर्वजगज्जन्तुकृपाविषयः प्रश्नः ॥

कलौ युगे पाप्मपूर्णे दुर्लभं दिनमीदृशम् ।

इत्युक्ते गुरुणा किञ्चिद्विचिन्त्येत्यब्रवीन्नृपः ॥ १९८ ॥

पाप्मभिर्दुष्कृतैः पूर्णे भरिते कलौ ईदृशं श्रीमदुक्तं जगज्जन्तुहितावहमहो दुर्लभं
दुःप्राप्यम् । गुरुणा इत्युक्ते कथिते सति किञ्चिद्विचिन्त्यं विचारयित्वा नृप इत्यग्रे
वक्ष्यमाणमब्रवीज्जगाद ॥

पलाशतां विभ्रति यातुधाना इवाखिला अप्यनुगामिनो मे ।

अमारिरेषा न च रोचते क्वचिन्मलिम्लुचानामिव चन्द्रचन्द्रिका १९९

हे गुरो, मे मम अखिला समस्ता अपि अनुगामिन सेवका । 'सहायोऽभिजनोऽश्व-
जीविगामिचरप्लवा । सेवकोऽथ' इति हैम्याम् । मुद्गलप्रस्थानादयो यवना पलाशता
पल मासमश्नन्ति खादन्तीति पलाशास्तेषा भाव मासभुक्त्व विभ्रति । मासाशिन
सन्तीत्यर्थ । के इव । यातुधाना इव । यथा राक्षसा पलादता दवते । च पुनरत
एव कारणादेषामनुचराणा यावद्यवनानाममारिर्जीवदया न रोचते न खदते ।
लुब्धकानिवैतान् जीवानुकम्पा न प्रीणाति इत्यर्थ । केव । चन्द्रचन्द्रिकेव । यथा
चान्द्रस्य सुधारुचेश्चन्द्रिका कौमुदी मलिम्लुचाना चौराणां न रोचते । दन्तानामपि च-
न्द्रिका स्यात् । यथा 'दशनचन्द्रिकया व्यवभासितम्' इति रघौ प्रोक्तमास्ते । तन्निरा-
सार्थ चन्द्रेचन्द्रिकेति ग्रहणमत्र ॥

शनैः शनैस्तेन मया विमृश्य प्रदास्यमानामथ सर्वथैव ।

दत्तामिवैतामवयान्तु यूयममारिमन्तर्महतेव कन्या ॥ २०० ॥

हे पूज्या, यस्माजीवदया मुद्गलाना म्लेच्छाना न रोचते तेन कारणेन त्रिकरण-
शुद्धयैव दानाभिप्रायेण विमृश्य अमारिप्रदानयोग्यदिवसादीना विचार विधाय शनै
शनैर्मन्द मन्द मस्तकैरिव दिनैः प्रदास्यमानामेता श्रीमदुक्ताममारि जीवपालनरूपा
सर्वथा सर्वप्रकारेणैव यूयमन्तश्चित्ते दत्तामेवावयान्तु जानन्तु । कामिव । कन्यामिव ।
यथा महता उत्तमेन । 'अमोघा महता वाणी' इति वचनात् । तथा च 'कूर्मकुलाचलफ-
णिपतिविधृतापि चलति वसुधेयम् । प्रतिपन्नमचलमनसां न चलपुसा युगान्तेऽपि ॥'
इत्यपि वचनाच्च प्रदास्यमाना स्वय मनसि कल्पिता कथिता वा दत्तामिव ज्ञायते-
ऽवश्यम् ॥ इति गुरो पुर इत्यग्रे जीवामारिप्रदावकथनम् ॥

प्राग्वत्कदाचिन्मृगया न जीवहिंसा विधास्ये न पुनर्भवद्वत् ।

सर्वेऽपि सत्त्वाः सुखिनो वसन्तु स्वैर रमन्ता च चरन्तु मद्वत् ॥ २०१ ॥

हे गुरो, अह कदाचित् कस्मिन्नपि समये मृगयामाखेटक न विधास्ये । किवत् । प्राग्वत् ।
यथा पूर्वं श्रीमन्मिलनात्प्रथम मृगया कुर्वाणोऽभव तद्वत्पुनर्मृगया विनापि जीवहिंसा
निरपराधवन्त्यग्राम्यजन्तूना वध न करिष्ये । किवत् । भवद्वत् । यथा भवन्त कदाचिन्मृ-
गया न कुर्वन्ति, अथ सर्वप्राणातिपातविरतत्वात्सापराधनिरपराधजीववध सर्वथा न
विदधते, अह तु गृहमेधित्वाद्धरणीधरत्वेन दुष्टादुष्टनिग्रहपालनधर्मत्वान्निरपराधजीववध
न निर्मास्ये । अथ मृगयान्यसत्त्ववधनिषेधानन्तर सर्वे समस्ता अपि जलजा स्थलजा
वनजा नगरग्रामजाश्च मत्स्यादयो मृगादय श्वापदा गोमहिषमेषादयश्च सत्त्वाः प्राणिनः
सुखिनः सौख्यभाज वसन्तु भवन्तु । पुन स्वैरस्वेच्छया रमन्ता क्रीडन्तु । स्त्रीभि सम

न पुनः स्वैर चरन्तु भक्षणसंचरणादि कुर्वन्तु । त्रिष्वप्युक्तिषु मद्वत् । यथाह सुखी
वर्ते स्वैर रमे स्वेच्छया चाग्निं चरामि विलसामि च ॥ इति मृगयानिषेवः ॥

प्रागागमे प्राभृतवत्किमेषा कार्यं मया चिन्तयतेति चित्ते ।

प्रवर्तितासौ नवरोजघसामारिः क्षितौ खेलनकौतुकेन ॥ २०२ ॥

हे सूरय, क्षितौ पृथिव्या खेलनकौतुकेन क्रीडाकुतूहलेन कृत्वा असौ सर्वजनसाक्षा-
त्कारिणी प्रत्यक्षा वा श्रीमदुचिता श्रीमन्निमित्तप्राभृतरूपा मया नवरोजनान्ना घस्राणा
दिनविशेषाणाममारि कोटिकाद्यानामपि जीवाना वधनिषेव. प्रवर्तिता मया कृता
मत्सेवकैश्च कारिता प्रकटीकृता वा । मया किं कुर्वता । एषा जगन्मान्याना षट्काय-
गोपालाना सूरिणामागमे आगमने मन्त्रगरसमीपे समवसरणे प्राभृतवत् ढौकनमिव
प्राक् पूर्वं किं कार्यं विधेयम् । कर्तव्यमित्यर्थ । इत्यमुना प्रकारेण चित्ते स्वमनसि चिन्त-
यता विचारयता ॥ इति नवरोजनानामारिप्रदान गुरो ॥

आघाटनगरक्षोणीशक्रेणैव तपा इति ।

द्वादशाब्दाचाम्लकर्तुर्जगच्चन्द्रव्रतीशितुः ॥ २०३ ॥

यथा दफरखानेन स्तम्भतीर्थे प्रमोदतः ।

मुनिसुन्दरसूरीन्दोर्वादिगोकुलसंकटः ॥ २०४ ॥

गुणश्रेणीमणीसिन्धोः श्रीहीरविजयप्रभोः ।

जगद्गुरुरिदं तेन विरुद प्रददे तदा ॥ २०५ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे तेन प्रमुदितेनाकब्बरसाहिना शमदमार्जवमार्दवादीना गुणाना
श्रेष्ठ एव मण्यो रत्नानि तेषां सिन्धोः समुद्रस्य श्रीहीरविजयाभिधानस्य प्रभोः सूरी-
न्द्रस्य अयं जगद्गुरुरिदं विरुद प्रसिद्धिकृन्नामविशेष प्रददे दीयते स्म दत्तम् । केनेव ।
आघाटनगरक्षोणीशक्रेणैव । यथायुना 'आहड' इति प्रसिद्धस्य मेदपाटमण्डलमण्डन-
स्याघाटनगरस्य क्षोणीशक्रेण भूमीन्द्रेण राणकेन द्वादशसख्याकानि वत्सराणि यावत्
आचाम्लाना तपोविशेषाणां कर्तुं कारकस्य जगच्चन्द्रनाम्नो व्रतीशितुः सूरिराजस्य
तपा इति विरुद ददे । पुनः केनेव । दफरखानेनेव । यथा स्तम्भतीर्थे तन्नगरनायकेन
दफरनाम्ना खानेन यवनाधिपतिना प्रमोदतो हर्षातिशयतः सहस्रावधानिनो मुनि-
सुन्दरनाम्न सूरीन्दोराचार्यचन्द्रस्य वादिगोकुलसंकट इति विरुद दत्तम् ॥ त्रिभिर्विशे-
षकम् ॥ इति जगद्गुरुविरुदम् ॥

नीत्वास्तोकान्बन्दीलोकाञ्छ्रीमत्सूरेः पादोपान्ते ।

प्रोज्झाचक्रे क्षोणीशक्रो देहीवाहोव्यूहांस्तीर्थे ॥ २०६ ॥

क्षोणीशक्रोऽकब्बरसाहि. श्रीमान् साहिविहितसंमानदानकुललक्ष्मीकलितो हीर-

विजयनामा सूरिस्तस्य पादोपान्ते चरणसमीपे नीत्वा आनीय अस्तोकान् बहून् बन्दी-
लोकान् कारागारनिक्षिप्तजनान् प्रोज्झाचक्रे बन्दीतो निष्करदण्डान् कृत्वा मुत्कलान्
मुञ्चति स्म । क इव । देहीव यथा भव्यजीवस्तीर्थे श्रीशत्रुजये अन्यतीर्थे वा अहोव्यूहा-
न्निजदुरितसंघातान्मुञ्चति निष्पापो भवेत् ॥

प्रणम्य ते प्रभोः पदानवीवदन्निदं मुदा ।

मुनीन्द्र नन्दताच्चिरं सुवर्णसानुमानिव ॥ २०७ ॥

ते बन्दीलोका प्रभोर्हीरसूरे पदान् । पूज्यत्वाद्बहुवचनम् । चरणान्प्रणम्य स्वस्वशि-
रसा सस्पृष्ट्वा मुदा प्रमोदेन कृत्वा इदमेवविधमवीवदन् अतिशयेन बाढस्वरेण वा
वदन्ति स्म । इदं किम् । हे मुनीन्द्र चिरादस्माकं कारागारनरकुहकनिपातिनामुद्धार-
कारक त्व गुरो, चिर गलितावधिसमय यावन्नन्दतात् समृद्धिमान् भव जीव चिरस्थायी
भव । क इव । सुवर्णसानुमानिव । यथा मेरुगिरि कल्पवृक्षादिसमृद्धिमास्तथा शाश्वत-
स्थायुकोऽस्ति तथा त्वमपि भूया ॥ इति बन्दीमोचनम् ॥

उत्थाय निशीथिन्या प्रभुपार्श्वात्पक्षिणा विमुक्तिकृते ।

डावरसरसि स गतवान्धनविजयं सार्धमादाय ॥ २०८ ॥

सोऽकब्बरसाहि प्रभुपार्श्वात् श्रीहीरविजयसूरीन्द्रस्य सनिवानादुत्थाय पक्षिणा
केलिकुतूहलकृते स्वयरक्षिताना विविधविहगमाना विमुक्तिकृते स्वयमेव विमोचनार्थं
धनविजयनामान सूरिसचिव सार्धं स्वेन सममादाय सूरीणा बिम्बार्थं गृहीत्वा डावर-
नाम्नि सरसि तटाके गतवान् जगाम ॥

पक्षिणस्तत्क्षणात्क्षोणिचक्रेन्दुना पञ्जरेभ्यो विमुक्ताः समस्ता अपि ।

प्राप्तवन्तः स्वनीडद्रुमान्धन्विना कार्मुकेभ्यः शरव्य पृषत्का इव २०९

क्षोणिचक्रेन्दुना मेदिनीमण्डलचन्द्रेण पञ्जरेभ्यः पक्षिरक्षणकाष्ठमयादिम्यानकेभ्यः
तत्क्षणात्सरोगमनानन्तरकाल निशीथिन्या वा विमुक्ता मोक्ष प्रापिता सन्त मुकुली-
कृताः सन्तः समस्ता सर्वेऽपि पक्षिणो नैकजातिशकुन्ता स्वनीडद्रुमान् निजालयकु-
लायस्थानद्रुमान् प्राप्तवन्तः समाश्रितान् केषाचित्स्थानतरव परेषा तु भाविन भाविनि
भूतोपचारस्तु वर्तते एव । के इव । पृषत्का इव । यथा धन्विना धनुर्वरेण कार्मुकेभ्यः
कोदण्डेभ्यः पृषत्का शरा क्षिप्ता सन्त शरव्य लक्ष्य वेध्य प्राप्तवन्ति ॥

तेऽपि पत्नीपरीरम्भिणो भाषितैर्विभ्रतः संमदं सूरिमित्यूचिरे ।

त्वद्गिरास्माभिरापे यथा निर्वृतिस्त्व लभस्वाशिषा नस्तथा निर्वृतिम् २१०

पत्नी स्वजाया पक्षिणीं परीरम्भन्ते आलिङ्गन्ति इत्येवशीलास्ते पक्षिणोऽपि समद
बन्धनागमनात्परमानन्द विभ्रतो हृदि धारयन्तः सन्त भाषितैः स्वस्वभाषाभिः सूरि-
हीरविजययतीन्द्रमित्यमुना प्रकारेण ऊचिरे प्रोक्तवन्तः । इति किम् । हे प्रभो, यथा

येन प्रकारेण त्वद्गिरा श्रीमदीयया वाचा वचनेन अस्माभिर्निर्वृति स्खैर संचारितारूप सुखमापे प्राप्त लब्धम् । तथा तेन प्रकारेण अस्माकमाशिषा मङ्गलशसकवाचा त्व निर्वृति मानसिक सौख्य मुक्तिसुख च लभस्व प्राप्नुहि । प्रायोऽव्यक्तानामाशीर्वाक् फलेग्रहिर्भवेत्तेनावश्य त्व निर्वृति लप्स्यसे ॥ इति पक्षिमोचनम् ॥

त्रिजगज्जनगीयमानयानुगतोऽद्वैतयशःश्रियालये ।

भरतावनिभृज्जयश्रिया पुरि चक्रीव ततः स जग्मिवान् ॥ २११ ॥

ततो बन्दीमोचनानन्तरं स हीरविजयसूरिः आलये वसतौ उपाश्रये जग्मिवान् गच्छति स्म । किभूत । त्रिजगजनै सुरासुरनरनिकरैर्गीयमानया गानगोचरं नीयमानया अद्वैतया न विद्यते द्वैत युगल सदृशोपमान यस्याः सा तथा असाधारणया यशःश्रिया कीर्तिलक्ष्म्या अनुगत सहित । क इव । चक्रीव । यथा भरतक्षेत्रस्य अवनिभृता द्वात्रिंशत्सहस्रपार्थिवाना जयश्रियानुगत ग्रन्थकर्तुर्भरतक्षेत्रस्थायुकत्वेन भरतक्षेत्रस्यैव नामानीतम् । चक्री चक्रवर्ती भरतादिसार्वभौम पुरि स्वराजवानीनगरे गच्छति । अत्रापर पाठान्तरमपि—‘त्रिजगज्जनगीयमानयानुगत सूरिशशी यशःश्रिया । वसति सुदृशा नवोढया परिणीतेव ततो व्यभूषयत् ॥’ त्रैलोक्यलोकगीयमानया यशःश्रिया सहित सूरिशशी वसतिमालय व्यभूषयदलकरोति स्म । यथा परिणेता पाणिग्रहणकर्ता नवोढया तत्कालपरिणीतया सुदृशा मृगलोचनया सहितो वसति वाससौव विभूषयति ॥

अथामारिप्रवर्तनम्—

प्रावर्तयत्पुनर्भुवो भास्वानमारिमङ्गिनाम् ।

मूर्धाभिषिक्तवन्निजामाज्ञामशेषमण्डले ॥ २१२ ॥

भुवो भास्वान् अत्युत्कटप्रतापवत्त्वेन प्रतिपक्षक्षोणीक्षिप्तक्षणा कल्पान्तकालोद्दण्डचण्डमार्तण्डमण्डलवद्दु सहोऽकम्बरसाहि पुनर्हीरविजयसूरेरालये पादावधारणानन्तर स्वयं च अशेषमण्डले स्वायत्तीकृतसमस्तजनपदव्रजे अशेषाश्च ते मण्डलाश्चाशेषमण्डलाः, अशेषमण्डलानां मण्डलमशेषमण्डलम् । ‘सरूपाणामेकशेषः’, सरूपाणां सदृशानां शब्दानां मध्ये एक एव शिष्यते रक्ष्यते नान्य इति एकमण्डलशब्दस्य लोपः । अथ वा मध्यमपदलोपी समासः शाकपार्थिवादिवत् । अङ्गिना प्राणिनाममारि वधनिषेधं प्रावर्तयत् प्रवर्तयति स्म । किवत् । मूर्धाभिषिक्तवत् । यथा श्रेष्ठिसेनापतिसचिवपुरोहितसामन्तादिभिरभिषिक्तः सप्ताङ्गराज्याधिपतिबलन्यायशक्तिकलितः पृथ्वीपतिरशेषमण्डले निजामात्मीयपितृप्रदत्ते निखिले देशे आज्ञां प्रवर्तयति ॥

तत्र च व्यतिकरेऽटवीवियद्वारिचारियुवजानिजन्मिनाम् ।

संकथा विरहदाववारिमुग्मालिका इव मिथोऽत्र जज्ञिरे ॥ २१३ ॥

च पुनरमारिः प्रवर्तिता, अथ च सकलसत्त्वाना मिथश्च वार्ता प्रवृत्ता इति चशब्दार्थः । तत्र च व्यतिकरे तस्मिन्नेवामारिप्रवर्तनसमये अत्राकब्बरभूमण्डले जगति वा अटव्यामरण्ये । उपलक्षणाद्वनग्रामादिसंग्रहः । तथा वियति आकाशे, तथा वारिणि सलिले चरन्ति पर्यटन्ति इत्येवशीला एतावता वनचारिणो मृगादयः श्वापदा । यदुक्तं पाण्डवचरित्रे—‘कान्तारेऽत्र कृतान्तोऽपि श्वापदानामनापदाम् । त्वत्पुत्रभीतो नैतेषा प्रभवत्यपमृत्यवे ॥’ इति । यद्यपि हैम्याम् ‘पशुस्तिर्यक्चरे हिस्त्रेऽस्मिन्व्यालः श्वापदोऽपि’ इत्युक्तम्, तथापि अन्यत्र वन्यजीवा सर्वेऽपि श्वापदा एवोच्यन्ते इति । वियचारिणो मयूरादयः पक्षिणः, तथा जलचारिणो मीनादयः, तथा युवतिस्तरुणी जाया पत्नी येषाम् । ‘जायाया निङ्’ । जायाशब्दस्य निङ्प्रत्ययः । तथा ‘लोपो व्योर्वलि’ इति सूत्रेण यकारस्य लोपः । पुवद्भावः स्त्रीप्रत्ययस्य तेलोपः । युवजानयः तरुणीस्त्रीका तादृशा ये जन्मिनो जीवा अधिकारात्पुमांसः तेषां मिथः परस्परं स्त्रीभिः सार्धं सकथा वार्ता । ‘त्वत्सकथापि जगता दुरितानि हन्ति’ इति भक्तामरस्तवे । ‘सकथा वार्ता’ इति तद्वृत्तिः । जज्ञिरे जाताः प्रवृत्ताः । उत्प्रेक्ष्यते—विरहः स्त्रीभर्त्रोः इतरेतरं वियोगः स एव दावो दावानलः तत्र वारिमुच्चा मेघानां मालिका वोरणयः कादम्बिन्य इव ॥

अथ प्रथमं वनचारिणा वार्ता—

काप्याचख्यौ प्रियमिति करिणी किं मत्तो मद्यप इव रमसे ।

नो जानीषे मृगयुमिव नृपं हन्तारं तद्वज्रं गज गहनम् ॥ २१४ ॥

कापि अनिर्दिष्टनामा करिणी हस्तिनी प्रिय करिणमित्यमुना प्रकारेण आचख्यौ वदति स्म । किमाचख्यौ तदेवाह—हे प्रिय हस्तिन्, मद्यपो मदिरापायीव मत्तोऽतिक्षीब सन् रमसे मया सह क्रीडसि यद्यस्मात्कारणात् त्वं मृगयुमिव प्रबलाखेटककारिणममुं नृपमकब्बरसाहि ते तव हन्तारं घातकं नो जानीषे नो वेत्सि काकूत्तया । तत्तस्मात्कारणात् हे गज ‘जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्’ इति वचनात् गहनं गिरिगह्वरं प्रति व्रजं मारणभयात्प्रणश्य याहि ॥

सोऽप्यवक्करिणि मा बिभीहि नः सूरिशासनवशान्न हन्ति सः ।

किं त्वनेकपतयो रणेषु मद्गोत्रिणामुपकृतिस्मृतेरिव ॥ २१५ ॥

सोऽपि गजोऽपि अवक्क् व्याचष्टे आख्यातवान् । हे करिणि, भीरुत्वात् भीरुकस्वभावत्वात् च मा बिभीहि मनसि भयं मा नय । स अकब्बरः सूरैर्हीनविजयगुरो शासनस्योपदेशस्य वशादायत्तत्वान्नोऽस्मान्न नैव हन्ति व्यापादयति । उत्प्रेक्ष्यते—अनेकान् बहून् पाति रक्षतीत्यनेकपस्तत्त्वेनेव उताथ वा रणेषु संग्रामाङ्गणेषु मद्गोत्रिणामद्वश्यानां मदेकवशानां वा गजानामुपकृते परदलविदलनाद्युपकारस्य स्मृते सस्मरणादिव ॥ इति गजमिथुनालापः ॥

इति काचिदुवाच हयद्विषती प्रमदं प्रिय मुञ्च सचिन्त इव ।

भुजमूर्धविरोधितयेव यतः प्रणिहन्तुमना अयमेति नृपः ॥ २१६ ॥

काचित् हयद्विषती वनखण्डमहिषी । 'महिषो यमवाहनः । रजस्वलो वाहरिपुः' इति हैम्याम् । इत्यमुना प्रकारेण उवाच भाषते स्म । इति किम् । हे महिष प्रिय, सचिन्त इवात्यार्तियुक्त इव प्रमदमानन्द मुञ्च त्यज । यत कारणात् प्रणिहन्तुमना त्वा घातयितुकाम अयमतिभयात्प्रत्यक्ष इव लक्ष्यते साक्षादकब्बर नृपो राजा समेत्यायाति । उत्प्रेक्ष्यते—भुजमूर्धविरोधितया स्कन्धश्रीस्पर्धोद्भूतवैरित्वेनेव । 'स्कन्धर्यो वृषरक्ताक्ष-स्कन्धोपम' इति काव्यकल्पलतायाम् ॥

इत्यवक्सोऽपि कान्तेऽवृति भूपतेर्मा कृथा यन्निदेशेन सूरीशितुः ।

सोऽप्यवद्येन नश्चक्षुषा नेक्षते यानभावेन बिभ्यत्कृतान्तादिव ॥ २१७ ॥

सोऽपि हयद्विषन् महिषोऽपि इत्यमुना प्रकारेण अवक् जगाद । हे कान्ते सैरभि, भूपतेरकब्बरात्सकाशादवृतिमस्वास्थ्यम् । भीतिमित्यर्थः । मा कृथा मा कुर्या । 'माडि लुङ्,' माङ्योगे लुङ् स्यात् । 'मा कार्षीत् । लुङ्शब्देन भूते सि' इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । तथा च हेमचन्द्र — 'मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भू कोऽपि दुःखित' इति वचनाद्भविष्यदर्थे भूते सिप्रयोगः । यत् यस्मात्कारणात् सूरीशितु हीरविजयसूरीन्द्रस्य निदेशेनानुशिष्टया नोऽस्मानवद्येन पापेनासमीचीनेन चक्षुषा नेत्रेण नेक्षते न पश्यति कि पुनर्वधेच्छया तन्मा शङ्कस्व । उत्प्रेक्ष्यते—यानभावेन वाहनत्वेन कृतान्ताद्विभ्यदिव । स्ववाहनपरिभव विभाव्य ममोपरि मा कुप्यादित्यन्तकाद्भय प्राप्तुवन्निव ॥ इति महिषमिथुनालापः ॥

कापि प्रिय वदति वारणवैरिणीति

शेषे सुख कथमहो गिरिगह्वरेषु ।

हन्ता नृपस्तव कलत्रकलतृलक्ष्मी-

स्पर्धाक्रुधा निजगजारितयाथ वा किम् ॥ २१८ ॥

कापि वारणवैरिणी गजद्वेषिणी सिद्धी प्रिय स्वभर्तार पञ्चानन प्रति इति वदति । इति किम् । अहो कान्त केसरिन्, गिरिगह्वरेषु भूधराणा कदरेषु घननिकुञ्जेषु वा यथा स्यात्तथा कथं केन प्रकारेण शेषे स्वपिषि । यस्मादित्यधिकारात्प्राक्तनमेव सर्वत्र गृह्यते । कारणानृपोऽकब्बरो मृगयारसिकतया तव भवतो हन्ता घातको व्यापादयिता वर्तते । उत्प्रेक्ष्यते—कलत्राणां स्वपत्नीनां कलत्रलक्ष्म्या कटितटीश्रिया 'सह स्पर्धा सघर्षस्तस्यास्तया वा या क्रुध् कोपस्तेन किम् अथ वा निजा आत्मीया ये गजा रणकरणधुरीणा वारणास्तेषामरित्वेन किं शत्रुभावेनेव ॥

सिंहोऽप्याख्यत्कुरु मा भीरु भीति नायं हन्ति त्रतिशार्दूलशास्त्या ।

यद्वा शौर्यादलितद्वेषिनागान्हन्यादुच्चैःशिरसः संश्रितान्कः ॥ २१९ ॥

सिंहः कण्ठीरवोऽपि आख्यद्वभाषे । हे भीरु हे कान्ते केसरिणि, त्व भीतिमातङ्क मा कुरु । 'पिब वोदच चारुलोचने यदतीत वरगात्रि तद्गतम् । न हि भीरु गत निवर्तते समुदायमात्रमिदं कलेवरम्^(१) ॥' इत्युत्तराध्ययनवृत्तौ । यस्माद्धेतोर्व्रतिशार्दूलस्य मुनिपञ्चाननस्य हीरगुरो शास्त्या आज्ञया शिक्षया वा अयं साहि अस्मान्न हन्ति न घातयति । यद्वा अथ वा वधविधानाभावे हेतुमप्याह—शौर्यान्निजशूरत्वेन दलिता व्यापादिता द्वेषिषु विपक्षेषु नागा मुख्या ये द्वेषिणो निजनिवृत्तनजनितामितद्वेषित्वेन वैरिणो नागा हस्तिनो यैस्तान् तथा उच्चैः शिरसो महात्मनो महधिकान्वा पर्वताश्च तुङ्गशृङ्गान् शैलाश्च संश्रितान् पृष्ठलग्नान् सेवमानान् वा को हन्यात्कोऽपि व्यापादयेत् । अपि न कोऽपि । यदुक्तं भक्तामरस्तवे—'हरिणाधिपोऽपि नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रित ते' ॥

वपुषा कुरुषे किमभ्यसूयां स्मयमानासनशाखिशखया त्वम् ।

किमवैषि न भूवृषैति हन्तुं दयितं द्वीपिनमित्युवाच काचित् ॥ २२० ॥

काचिद्याघ्री दयितं स्वभर्तारं द्वीपिनं व्याघ्रमित्युवाच इति जजल्प । इति किम् । हे नाथ द्वीपिन्, स्मयमाना विकसन्तो ये असनशाखिन पीतसाला 'वीउ' इति नाम्ना सिद्धास्तरवस्तेषां शाखया सह वपुषा स्वशरीरेण किमभ्यसूयामीष्यां कुरुषे । असनशाखानां व्याघ्रस्य तुल्यत्वेनोपमानं दृश्यते । यथा रघुवशे—'व्याघ्रानभी० । फुल्लासनाग्रविटपानिव' इति । किमिति प्रश्ने । हे द्वीपिन्, त्वं किं नावैषि न जानासि । यत्कारणणाद्भूवृषा पृथ्वीपुरदरं साहिस्त्वा हन्तुमेत्यागच्छति ॥

रमस्व ससुखं योषे यदस्मान्न हन्ति यतिजम्भारेर्गिरा सः ।

मुदा पिबति यन्मा पुण्डरीकं सुदृष्टिरिव शैलं पुण्डरीकम् ॥ २२१ ॥

व्याघ्रीपतिरपि स्वा द्वीपिनीं प्रियां प्रत्युवाचेति सबन्धः । हे योषे द्वीपिनि व्याघ्रि, सह सुखेन वर्तते यत्तत्ससुखं सौख्यसहितं यथा स्यात्तथा रमस्व स्वेच्छया मया सह विलासं विधेहि । यत्कारणात्सोऽकब्बरसाहि यतिजम्भारेर्मुनिमघोन गिरा वाचा अस्मानात्मना यावज्जातीर्न हन्ति न हिनस्ति । हे व्याघ्रि कान्ते, असौ क्षोणीन्द्रः तत्सूरिवाक्प्रपञ्चैककारणान्मा पुण्डरीकं मुदा हर्षेण मच्चेष्टाशौर्याद्यवेक्षणोद्भूतप्रमोदेन पिबति । अथ वा गर्भितोपमा । पुण्डरीकमिव सिताम्भोजमिव अग्निदिग्गजमिव स्मितसहकारमिव वा इक्षुविशेषमिव वा ऋषभस्वामिप्रथमगणधरमिव वा भव्यं सादरं पश्यति । 'पुण्डरीकं सिताम्बुजे सितच्छत्रे च भेषजे ।' 'पुण्डरीकोऽग्निदिग्गजे सहकारेण धरे राजलाहौ जगत्स्वरे गजज्वरेऽपि प्रत्यन्तरे' इत्यवचूर्णौ । 'कौशिकान्तरे व्याघ्रे'

इत्यनेकार्थं । क इव । सुदृष्टिरिव । यथा सम्यग्दर्शवान् श्राद्धं पुण्डरीक शैल शत्रुजयं पर्वतं ग्रीत्या पिबति गच्छन्नागच्छन् वलितग्रीव मुहुर्मुहुरतृप्त इव प्रेक्षते । चैत्रपूर्णं माया पञ्चकोटीमुनिपरिवृतपुण्डरीकगणधरस्य मोक्षगमनात् । पुण्डरीक इति नामाद्रिरप्यासीत् । तथा च हैमनाममालायाम्—‘अथ व्याघ्रो द्वीपी शार्दूलचित्रकौ । चित्रकायं पुण्डरीक ’ इत्येकार्थान्येव नामानि दृश्यन्ते । वृत्तावपि तथैव व्याख्यानात् । तथा च शत्रुजयकल्पे शत्रुजयनामसु—‘विमलगिरिमुत्तनिलउसित्तुजोसिद्धखित्तपुण्डरिउ’ इति ॥ इति व्याघ्रमिथुनालापः ॥

पोत्रिणी वदति काचन दयितं किं निखेलसि निषद्वर सुखितः ।

रुद्र एष निहनिष्यति मखवत्त्वां विचिन्तय तदायतिकुशलम् ॥२२२॥

काचन पोत्रिणी काननसूकरी दयित वनसूकर प्रति वदति । किं वक्ति तदेवाह—हे वराह निषद्वर जम्बाल, सुखित सौख्ययुक्तं सन् कथं निखेलसि मया समं स्वैरं क्रीडा कुरुषे । यत्कारणादेष प्रत्यक्ष प्रत्यहमाखेटकागमनेन स्मृतिगोचरीकरणात्प्रत्यक्ष एव लक्ष्यते । आगतोऽकब्बर रुद्रश्चण्डस्त्वा सुखनिखेलिन भवन्त निहनिष्यति नितरा घातयिष्यति मृगयाक्रीडारसावेशात्किमप्यगणयन्प्रमथयिष्यति । किवत् । मखवत् । यथा रुद्रेण शम्भुना मखो नाम देवविशेषो निहतः । तत्तस्मात्कारणात् त्वमायतिकुशलमुत्तरकाले दीर्घदर्शितामाश्रित्याग्रे आत्मन कुशलं चिरजीविता निर्विघ्नता विचिन्तय विमृश ॥

पातालावटकोटरान्तरपतत्पाथोधिनेमिर्मया

दंष्ट्राया यदधारि धेनुकभिदो भागीभवद्वर्ष्मणा ।

भूभृत्त्वादिव गोत्रिण न मिनुयाद्धानीधरः पोत्रिणि

श्रीमत्सूरिगिरा शुभयुरिव तत्स्वैर चरेत्याह सः ॥ २२३ ॥

स पोत्री पोत्रिणीमित्याह ब्रूते स्म । इति किम् । हे पोत्रिणि वराहि तत्कारणात् शुभयु शुभसयुक्ता कल्याणवती त्वं स्वैर स्वेच्छया चर सचर । इतस्ततो याहि कदान्मुस्ताश्च खाद भक्षय । यद्यस्मात्कारणात् हे पोत्रिणि सूकरि, श्रीमत्सूरिगिरा श्रीहीरविजयसूरिवाचा धात्रीवरोऽकब्बरो मान मिनुयान्न घातयेत् । उत्प्रेक्ष्यते—भूभृत्त्वात् वरणीधारकत्वात् गोत्रिण स्वजनमिव । यतो महात्मा सर्वथा स्वशक्त्या स्वजन रक्षतीति रीतिः । अथ भूभृत्वमेव दर्शयति—यत्कारणात् पातालमधोलोकं स एवावटं कूपं तस्य कोटरोऽधोभागवतीं महागर्तस्तस्यान्तरे मध्ये पतन्ती यान्ती पाथोधिनेमिरासमुद्रान्तक्षितिर्धेनुकभिदो विष्णोर्भागीभवत् अशरूपेण जायमानं वर्ष्मं शरीरं यस्य तादृशेन मया महीवराहरूपेण दंष्ट्राया दाढामध्ये अधारि । श्रूयते च शास्त्रे—पुरा पातालं प्रविशन्ती क्षितिर्विष्णुना वराहरूपेण स्वदंष्ट्राया वृता इति ॥ इति वराहमिथुनालापः ॥

इति पृषती शंसति दयितं स्वं किमु जितकासीव विगतभीतिः ।

स्वयुवतिजङ्घाप्रतिभटभावादिव तव हन्ता यदवनिकान्तः ॥ २२४ ॥

पृषती मृगीविशेषा स्व दयित प्रेयासमात्मीय पृषत प्रति शंसति कथयति । इति किम् । हे प्रिय, त्वं जितकासीव जिताहवः विजयीव किमु कथं विगतभीतिर्निर्मुक्तभयो वर्तसे । यत्कारणादवनिकान्तोऽकब्बरसाहि तव भवतो हन्ता व्यापादयितास्ते । मृगयुत्वेन त्वां हनिष्यतीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनो युवतीना तरुणीना स्त्रीणां जङ्घानां प्रतिभटभावाद्वैरवैरित्वादिव । जङ्घयो मृगजङ्घोपमा योगशास्त्रवृत्त्यादिष्वास्ते अतस्तदुत्प्रेक्षा । ‘पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे’ इति नैषधे ॥

पृषदिति कान्तां निगदति भूभृद्रतिविभुवाचा व्यथयति नास्मान् ।

निजकजनेत्रानयनसखित्वाच्छरणगतत्वादुत किमु राज्ञः ॥ २२५ ॥

पृषन्मृगविशेषः कान्ता स्वप्रिया पृषतीं प्रति इति निगदति जल्पति । पृषवत्पृषच्छब्दोऽपि यथा जलबिन्दुवाची ‘पृषत्पृषतविपुषः बिन्दौ’ इति, तथा मृगवाच्यपि दृश्यते । यथा ‘पृषत्किशोरी कुरुतामसगतम्’ इत्यपि नैषधे । इति किम् । हे प्रिये पृषति, प्रतिविभोर्मुनीन्द्रस्य वाचा वाण्या कृत्वा भूभृद्राजा अस्मान्मृगजातीरपि न व्यथयति नैव पीडयति । उत्प्रेक्ष्यते । निजकजनेत्राणामात्मीयानां कमलदललोचनानां तरुणीनां नयनकर्णान्तायतानां सखित्वान्मित्रत्वादिव । अतश्च वा राज्ञः चन्द्रस्य शरणगतत्वात्किमु राज्ञोऽङ्गस्थायुकत्वादिव ॥ इति मृगमिथुनालापः । इति वनचरा ॥

कापि मयूरी लपति पति किं केकाङ्कितताण्डवकेलीम् ।

व्यातनुषे मनुषे नो मानुषपूषणमेनं स्वासहजम् ॥ २२६ ॥

काप्यज्ञाताभिधाना मयूरी केकिनी पति स्वभर्तारं प्रति वदति । हे केकिन् प्रिय, केकया शिखण्डिसबन्धिशब्दविशेषेणाङ्किता कलिता ताण्डवकेली नृत्यविलास किं कथं व्यातनुषे विस्तारयसि । हे नाथ, एनं मानुषपूषणं मनुजेषु प्रतापवत्त्वेन विभाकरं स्वस्यात्मनोऽसहजं परिपन्थिनं नो मनुषे न जानासि इति काकूक्तिः । अपि तु जानीहि ॥

विष्टपजीवनवारिधेरिव मैत्र्याद्वा शितिकण्ठतया ।

सूरिगिरा न निहन्ति नृपोऽस्मान्मेचकिनौच्यत कान्तेति ॥ २२७ ॥

मेचकिना मयूरेण कान्ता स्वप्रेयसी मयूरी इत्यौच्यत इदं निगद्यते स्म । हे कान्ते हे शिखिनि, सूरिगिरा विजयगुरोर्गिरा दयोपदेशवाचा नृप पातिसाहिरस्मान्न निहन्ति नैव यमातिथीकरोति । उत्प्रेक्ष्यते—विष्टपानां जगज्जन्तूनां जीवनैर्जीवितव्यहेतुभिर्वारिधेरैर्मैत्र्यैः सह मैत्र्यात्सौहार्दादिव । अथ वा शितिकण्ठतया नीलकण्ठत्वेनैवैश्वरतया इव ॥ इति मयूरमिथुनालापः ॥

ऊचे कापि पिकं पिकीति विरहिव्यामोहजेनाहसा

प्रादुर्भूतमिवावयासि दमन न क्षोणिसंक्रन्दनम् ।

स स्माहेति गुरोर्गिरा द्विजतयेवासौ स्वलीलावती-

लीलापञ्चमगीतिपाठकतया वास्मान्न हन्ति प्रिये ॥ २२८ ॥

कापि पिकी कोकिला पिक स्वक्रान्त कलकण्ठमित्यूचे भाषितवती । हे जीवितनायक पिक, क्षोणिसक्रन्दन भूमिजम्भारारातिमकब्बर दमनमात्मना निवर्हयितार प्रादुर्भूत प्रकट जात नावयासि न वेत्सि । उत्प्रेक्ष्यते—विरहिणा वियोगिनामत्यनुरक्तात्मयुवतीभि सम विश्लेषवता प्रवासिना जनानाम् । अथ वा प्रवासिप्रियापासुलामहिलालोकाना वा व्यामोहजेन विरहोत्पादनोद्भूतातुच्छमूर्छासतापजनितेनाहसा । यदुक्तम्—‘कोइलिमधुरीभाषिअ ववनि कुहु कुहइ । जसकापिउ परदेसकिहि यडाडहकि हइ ॥ भरभादुकीरातिनयनझरलइ तुहइ । दाधाउपरिलूणववीहादे तुहइ ॥’ इत्युक्ते । पापेने-वागत नो जानीषे । यत्स्वैर भक्तो मया रमसे इति प्रागुक्तादध्याहार्यं तत इत्युक्तेरनन्तरं स वनप्रिय आह स्म अब्रवीत् । हे प्रिये, असौ साहिर्गुरोर्हीरमूरेर्गिरा वाचा अस्मान्न हन्ति न प्रमापयति । उत्प्रेक्ष्यते—द्विजतया ब्राह्मणत्वेनेव । ब्राह्मणो हि लोकेष्ववध्य । चतसृषु हत्यासु प्रथमहत्यात्वेनेति । ‘द्विज पक्षी ब्राह्मणश्च’ इत्यनेकार्थः । वाय वा स्वस्यात्मनो लीलावतीना विलासिनीनां लीलया विलासेन कलित यत्पञ्चमरागोपचितगान पञ्चमध्वनित तस्य पाठकतया अध्यापकत्वेनेव वा साहिहरिणीदृश पञ्जरान्तरस्थायुककेलीपिकनिकरमाकन्दमञ्जुमञ्जरीत्रजास्वादोद्धृष्टाकुण्ठकण्ठकुहरसमुच्चरचारुपञ्चमकूजिताकर्णनात्तदनुगुण गायन्तीत्यर्थः ॥ इति कोकिलमिथुनालापः ॥

स्वा पत्नीं ताम्रचूडो दरतरलदृश हन्तुमभ्येति भूमी-

भास्वास्त्वा मामपीति प्रकटितवचस धीरयन्नित्यवादीत् ।

मा भूस्त्व भूरिभीतेर्भवनमिह जगद्धोधकर्तृत्वशक्ति-

व्यक्तिप्रेमातिरेकादिव विभुवचसा ध्वंसते नायमस्मान् ॥ २२९ ॥

ताम्रचूड कुक्कुट स्वा स्वकीया पत्नी कुक्कुटा कान्ता वीरयन्नाश्वासयन् सन्नित्यवादीत् निगदितवान् । किभूता पत्नीम् । हे प्राणेश्वर हे ताम्रचूड, भूमीभास्वानकब्बर-साहि त्वामपि पुनर्मामपि हन्तु कीनाशराकाश नेतुमभ्येति आगच्छति इत्यमुना प्रकारेण प्रकटितवचस उदीरित भर्तुं पुर कथित दीनवचनं यया । अत एव पुनः किभूताम् । दरेण कृतान्तनिकेतातिथीभवनभयेन तरले चपले दृशौ यस्यास्तादृशम् । धीरा करोति धीरयति इति धीरयन् निर्भया कुर्वन् । तत्कथं तदेवाह—इति किम् । हे प्राणप्रिये हे कुक्कुटि, त्वं भूरिभीते प्रवलतमभयस्य भवनस्थानं मा भूर्भव । यतो विभुवचसा जीवदयोपदेशादयं भूमान्नास्मान् ध्वंसते न घातयति । उत्प्रेक्ष्यते—

इह भूमिभुवने जगतां विश्वजनाना यो बोध प्रतिबोधन सुप्तोत्थापन प्रतिबोधदान
जागरण सत्पथस्थापन वा तस्य कर्तृत्व तस्य शक्ति सामर्थ्य तस्या व्यक्ति प्रकटता । अथ
वा शक्त्या कृत्वा व्यक्त्या स्फुटतया य प्रेमातिरेक स्नेहातिशयस्तस्मादिव ॥ इति
कुक्कुटमिथुनालाप ॥

ऊचे हंसीति हसं किमु तव नृपतेभीतिरभ्येति नान्त-

हन्ता ते यन्मृगाक्षीललितगतिपरिस्पर्धिभावादिव असौ ।

सोऽपि स्मिन्वा शशस श्रुतसुरसुदृशो विश्वकर्तुश्च जाने

यानत्वान्मा न कश्चिद्भ्रतिपतिवचनादीश्वरः स्यान्निहन्तुम् ॥२३०॥

हसी मराली हस सितच्छदमित्यूचे भाषितवती । इति किम् । हे हस प्रियतम
मानसवासिन्, तव भवतोऽन्तर्हृदयमध्ये नृपते सकाशात् भीतिर्भयमपि नाभ्येति नो-
देति । यत्कारणात् असौ साहिस्त्व हन्ता प्रमापयितास्ते । उत्प्रेक्ष्यते—मृगाक्षीणा
स्वसारङ्गनयनाना स्त्रीणा लीलाललिताभिर्मन्थरभावमञ्जुलाभिर्गतिभिर्गमनै सह परिस्पर्धि-
भावात्सघषित्वात् इव । तत स हस स्मिन्वा किमपि हसित्वा स्वसहचरी चक्राङ्गी
प्रति शशस अवदत् । हे वारले, व्रतिपते सूरीन्द्रस्य वचनाद्वाक्यान्मा प्रति कश्चि-
न्निहन्तु घातयितु न ईश्वर स्यात् न समर्थो भवेत् । उत्प्रेक्ष्यते—श्रुतसुरसुदृश-
सरस्वत्याश्च पुनर्विश्वकर्तुर्ब्रह्मणोऽपि यानत्वाद्वाहनभावादिव । अत्र जाने इवार्थे ॥
इति हसमिथुनालाप ॥

रथाङ्गी रथाङ्ग जगादेति दूरात्प्रयाहि प्रियास्माद्विषत्कालरात्रे ।

यतो राजविद्वेषितोदीतकोपातिरेकादसौ त्वा हनिष्यत्यवश्यम् ॥२३१॥

रथाङ्गी चक्रवाकी रथाङ्ग स्वसहचारिण कोकमिति जगाद कथितवती । इति किम् ।
हे द्वन्द्वचर प्राणनाथ द्विषता वैरिणा कालरात्रे कल्पान्तकालान्त्यनिशासदृशात् ।
यस्या निशाया सुरासुरनरादय सर्वेऽपि क्षय यास्यन्ति न कोऽपि चराचरेषु स्याता
इति शैवमते । जैनमते तु निखिला भरतभूर्मनुष्यरिक्ता भाविनी षष्ठारके सर्वेऽपि मनु-
ष्यचतुष्पदपक्षिणस्तु बिलवासिन इति बहिर्भुवोऽनुसारिण्यपि कालरात्रिरेवंति । ततो
बहुद्विपदचतुष्पदपक्षिणयकरादस्मान्नृपतेस्त्व दूरात् दूर विप्रकृष्टभूभागे प्रयाहि । स्वप्रा-
णवारणायेत्यध्याहार । गच्छ । यत् कारणात् राज्ञा स्वय राजत्वात् स्वेन चन्द्रेण च
सह या विद्वेषिता वैरिभावस्तस्या सकाशादुदीत प्रादुर्भूतो य कोपातिरेक कोधाति-
शयस्तस्मादिव त्वा राजविरोधिन भवन्त अवश्य निश्चित हनिष्यति ॥

प्राहेत्यसौ मा स नृप. कृपावान्न हन्ति जाने निजयौवतस्य ।

रतोत्सवोच्छ्वासितकञ्चुकेषु कुचेषु सचारितचित्तवृत्तिः ॥ २३२ ॥

असौ चक्रवाक स्वा प्रेयसी प्रति निरातङ्ग सन् प्राह बभाण । इति किम् । हे

जीवितवल्लभे द्वन्द्वचारि चक्रवाकि, कृपावान् श्रीहीरसूरीन्द्रधर्मोपदेशश्रवणात् कृपाक-
लितचेतोभूतः स नृपोऽकब्बरसाहि मा नैव हन्ति निशुम्भति । अहमेव जाने वेद्मि ।
उत्प्रेक्ष्यते—इत्यर्थे जाने । निजयौवतस्य स्वतरुणरमणीगणस्य रतस्य सभोगस्यानन्द-
मयसमयत्वादुत्सव इवोत्सवः तत्रोच्छ्वासित उच्चैः कृतो हृदयादुत्तार्यान्यत्र क्षिप्तो वा
कञ्चुको निचोलो येभ्यस्तादृशेषु कुचेषु पीनप्रोत्तङ्गपयोधरेषु सचारिता सक्रामिता चित्त-
वृत्तिरन्तःकरणव्यापारो वर्तनः वा येन तादृश इव । विगलन्निचोलचारुलोचनोच्चकुच-
कलशस्मरणात्तत्तुल्यत्वेनास्मान्नाय निहन्तीत्यर्थः । जाने ज्ञानार्थे इवार्थे वा ॥ इति
चक्रवाकमिथुनालापः ॥

प्रियाश्चकोरानपि खञ्जरीटान्वदन्त्यदस्तिष्ठथ किं सुखेन ।

पुरा हि बध्नाति बधूविलोचनश्रियोऽधमर्णान्भवतो यतो नृपः ॥ २३३ ॥

चकोरान् ज्योत्स्नाप्रियान् खञ्जरीटान् खञ्जनान् प्रति प्रियास्तेषामङ्गना चकोर्य तथा
खञ्जरीटचटुललोचना अद एतद्वदन्ति निर्दिशन्ति कथयन्ति । तदेवाह—हे प्रिया, सुखेन
शर्मणा निश्चिन्ततया वा किं कथं प्रश्ने तिष्ठथ वसथ वा स्थिता वा । यतः कारणाद्व-
धूना निजयुवतीनां विलोचनानां चारुचञ्चलविचित्रनेत्राणां श्रियो लक्ष्म्या अधमर्णान्
ग्राहकान् भवतो युष्मान् नीतिनिपुणो नृपोऽसौ पुरा बध्नाति वन्तस्यति बन्धं प्राप-
यिष्यति गृहीतं पश्चादददानोऽधमर्णं समर्थेन उत्तमर्णेनावश्यं निगृह्यते इति लो-
कव्यवहारः ॥

इत्थममी प्रति दयिताः प्रोचुर्मां स्म भयं मनसापि जिहीध्वम् ।

येन सपक्षतयेव न पश्येत्सूरिगिराभिमुखं नृपतिर्नः ॥ २३४ ॥

अमी चकोरखञ्जरीटा पतत्रिण दयिता स्वस्वप्रिया प्रति इत्थममुना प्रकारेण प्रो-
चुर्व्याचक्षते स्म । इत्यं कथम् । हे कान्ता, यूयं मनसापि स्वचित्तेनाशमात्रमपि भयं
साध्वस मां स्म जिहीध्व मां गच्छत । येन कारणेन सूरिगिरा गुरोर्दयोपदेशप्रदान-
श्रवणेन नृपतिर्नास्माकमभिमुखं कुदृष्ट्या घातवार्तां तु दूरे तिष्ठतु विरुद्धदृशापि समुखं
पश्येन्नावलोकयेत् । उत्प्रेक्ष्यते—सपक्षतयेव सह पक्षेण परिवारेण वर्तन्ते ये ते सप-
क्षास्तत्तथा । ‘जे परिवारइ अगला ते गज्जणा न जाइ’ इति वचनात् । पक्षः पक्षक-
क्षाकारिभिर्मित्रादिभिर्वा वर्तन्ते ये अथवा समान पक्षो गोत्र येषां ते सगोत्रा । ‘पक्षो
गोत्रे परिवारे पक्षतौ च’ इत्यनेकार्थः । तेषां भावः सपक्षता तथा पक्षयुक्तत्वेन एक-
गोत्रत्वेन वा । बहुपक्षो हन्तुमशक्यः एकपक्षश्च हन्तुमयुक्तः ॥ इति चकोरखञ्जनमिथु-
नालापाः । इति खचराः ॥

न्यगददनिमिषीनं मीनमेतत्किमु रमसे रमणीसखः सुखेन ।

अनय नयपयोधिपारदृश्या किमु कुलवैरितया हनिष्यति त्वाम् ॥ २३५ ॥

अनिमिषी मत्स्यी इन स्वकान्त मीन मत्स्यमिति न्यगददाचख्यौ । हे मीन, रमणी-
सख बहुस्त्रीकत्वेन स्वान्यनारीकलित किमु कथं रमसे सलिले रवेच्छया क्रीडसि बहु-
मत्स्यीभिः सार्व विलससि । केन । सुखेन शर्मणा । निरपाय क्रीडानिपेवहेतुमाह—हे
अनय, न विद्यते नयो निजकुलक्षयकारित्वेन न्यायो यस्मिन् । ‘मत्स्यगलागलिन्याय
जेह जेह नइ पहुचइ ते हनइ खाय’ इति लोकवार्ता । तथा न्याय एवागाधत्वात्पयोवि
समुद्रस्तस्य पारदृश्या पारगामी नीतिभिः रामचन्द्रो भूपतिस्त्वा भवन्त हनिष्यति कृ-
तान्तनिकेतनातिधेयी ग्राहयिष्यति । उत्प्रेक्ष्यते—कुलस्य स्ववशस्य वैरितया सहार-
कत्वेन किमु यः कुलसहारकृतसोऽवश्य स्वाहसैव निहन्यते । तथा चोक्त नैषधे—‘अ-
बलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिनः खगान् । अनवद्यतृणार्दिनो मृगान्मृगया-
घायनभूभृता घ्नताम्’ इति शैवपुरोहितमन्त्रिवचसा नृपस्त्रयाणामपि मृगया करोति ॥

तिमिरिति कान्ता मदनविनोदी वदति मुनीन्दोर्वचनविलासात् ।

अनिमिषभावादिव विनिहन्तु धरणिमुधाशुः प्रभवति नास्मान् ॥२३६॥

मदनेन कामेन मदनादनङ्गोदयाद्वा विनोदो विलास स्वेच्छया विविधचेष्टा काम-
क्रीडा सुरतादिर्वा अस्यास्तीति मदनविनोदी तिमिर्मत्स्य कान्ता स्वप्रेमवर्ता लीलावर्ता
मत्स्यी प्रति इति वदति जत्पति । हे प्रिये, मुनीन्दो साधुमुवाकरस्य वचनविलासा-
त्कृपाप्रपञ्चाञ्चितवाचा वैचित्र्यात् धरणिमुधाशुरचला चक्रचन्द्रमा साहिरस्मान्विनि-
हन्तु न प्रभवति न समर्थो भवति । धरणिशब्दो ह्रस्वोऽपि दृश्यते नाटकशास्त्रे । यथा—
‘प्राचीभागे धरणिविरहिणि क्रान्तमुद्रे समुद्रे’ इत्यादि । तथा च वाग्भट्टालङ्कारे—‘मुदा
यस्योद्गीत सह सहचरीभिर्वनचरैर्मुहुः श्रुत्वा हेलोद्भूतधरणिभार भुजवलम् । दरोद्ग-
च्छद्भर्माङ्कुरनिकरदम्भात्पुलकिताश्चमत्कारोद्रेकः कुलशिसरिणस्तेऽपि दविरे ॥’ इति ।
उत्प्रेक्ष्यते—अनिमिषभावाद्देवत्वादिव । ‘अनिमिषो देवमीनयो’ इत्यनेकार्थः । देव-
देव्यो हि मनुष्येण हन्तु न शक्यन्ते ॥ इति मत्स्यमिश्रुनालापः ॥

व्याधेन वेधीकृतकाययष्टी मृगीव तत्साध्वसधावमाना ।

त्रासातिमात्रास्थिरनेत्रपत्रा वादालबालेत्यलपत्प्रिय स्वम् ॥ २३७ ॥

वादाल सहस्रदृष्ट मत्स्यविशेषस्तस्य बाला स्त्री स्व प्रियमात्मीय वन्ममित्यलपन्नि-
गदति स्म । किभूता । व्याधमाना पलायमाना प्रणश्यन्ती । केन । तन्मात्रवसेन तन्मान्मृ-
गयो राज्ञो भयेन कीनाशदासीकरणातङ्गेन । पुनः किभूता । त्रामादाः स्मिन्मयादति-
मात्रमतिशयेनास्थिरे चञ्चलतमे नेत्रपत्रे विलोचनदले यस्याः । केव । मृगीव । यथा
व्याधेन लुब्धकेन वेधीकृता शरव्या विहिता । ‘रुपा शरव्याकरणे दिवोक्ताम्’ इति
नैषधे । यकारसहितस्यापि च्विप्रत्ययः । काययष्टी तनुलता यस्याः तादृशी मृगी सारङ्गी
व्याधस्य भयेन प्रणश्यन्ती त्रामान्नितान्ततरललोचना स्यात् ॥

वादाली किमाललाप तदेवाह—

वादाल कुदालवदानने कि दंष्ट्राः स्फुटीकृत्य सुखेन शेषे ।

गम्भीरताभिश्चुलुकीकृताब्धेस्त्वद्भानुसूनुर्यदुपैति भूपः ॥ २३८ ॥

हे वल्लभ वादाल सहस्रदंष्ट्र, आनने स्वमुखे कुदालवद्भूखननोपकरणविशेषानिव । 'को-
दाला' इति लोके प्रसिद्धा । दंष्ट्रा दाढाः स्फुटीकृत्य विकारय सुखेन जलशयेन कि कथ
शेषे निद्रायमाणो वर्तसे । यत्कारणात् त्वद्भानुसूनु तव भवतो भानोरादित्यस्य सूनूर्न-
न्दनो धर्मराजो वर्तते त्वद्वक्त्रे अकब्बर उपैति समागच्छति । सोऽलपत्—भद्रे, अह
समुद्रमध्ये, तन्मा कथ मारयिष्यति । अत एव सा वक्ति । किभूत साहि । गम्भी-
रताभि स्वगाम्भीर्ये चुलुकीकृत गण्डूषमात्राम्भोविहितोऽब्धि समुद्रो येन । कुम्भो-
द्भववत्पीतपयोनिधिस्तत्कथमात्मान रक्षसि ॥ युग्म सगत्या न क्रियया ॥

स स्माहेति सहस्रदंष्ट्रमहिलामालिङ्ग्य लीलालसो

मा गाः साध्वसमध्वराशनपतेः पाथोधिनेमेरतः ।

श्रीमत्सूरिगिरा महाव्रतिवपुःपाथोनिशोपासना-

प्रोद्भूतप्रणयादिव प्रियतमे नास्मान्हिनस्ति प्रभुः ॥ २३९ ॥

लीलया विलासेन नर्मणा वा मन्थरोऽपरकर्मण्यलस सहस्रदंष्ट्रमहिला स्त्रां प्रिया
वादालीमालिङ्ग्य स्वहृदयेन दयिताहृदय गाढमाश्लिष्य स वादाल इति आह स्म ब्रूते स्म ।
हे प्राणितप्रियतमे भीरु, अतोऽस्मादकब्बरात् पाथोधिनेमेर्जलधिचक्रवालाया वसुधाया
अध्वराशनपतेर्यज्ञभोजनप्रभोरिन्द्रस्य अध्वरा यज्ञा अशन भोजन येषा तेषा देवाना
पति स्वामी तस्माद्भूमीन्द्रात् साध्वस भय मा गा मा व्रज । यस्मात् श्रीमत्सूरिगिरा
वाक्यात् स प्रभु साहिरस्मान्न हिनस्ति नालभते । उत्प्रेक्ष्यते—महान्ति सर्वोत्कृष्टानि
मेरुवद्धर्तुमशक्यानि यस्य तादृशस्य सूरैरन्यस्य कस्यापि साधोर्वा नाम्ना वशकरस्य
महाव्रतिनो वपु शरीर यत्पाथ पानीय तस्यानिश निरन्तर या उपासना सेवा तत्
प्रोद्भूतः प्रकटो जात प्रणय. स्नेह प्रेमातिरेकस्तस्मादिव ॥ इति वादालमिथुनालाप ॥

नक्राद्यानुपसृत्य तत्प्रियतमा इत्यूचुरातङ्किता

कीलालेष्विव लोलुपाशयतया हन्ता नृनेतात्मनाम् ।

तेऽप्याख्यन्निति वज्रबाहुनृपवद्गोपायति क्षमापति-

जन्तूञ्जन्तुपितामहः स करुणाकल्लोलिनीवल्लभः ॥ २४० ॥

नक्रा जलयादोविशेषा कुम्भीरा मत्स्यजातयस्ते आद्या आदिभूता येषा येषु वा
ते नक्रचक्रपाठीनकुम्भीरालस्यकुम्भीमहामुखप्रमुखानुपसृत्य समीपमागत्य आतङ्किता
भूपतेर्भीतिव्याकुलीभूतास्तेतिप्रियास्तेषा नक्रादीना पत्न्य इत्यमुना प्रकारेणोचु कथया-
चक्रु । इति किम् । हे प्राणवल्लभा, नृनेता नरपतिरकब्बर आत्मना यावदात्मजातिजन्तूना

हन्ता घातयिता[स्ते] विवृद्धव्यसनवशवदाना कृत्याकृत्यविवेको न भवत्येव । उत्प्रेक्ष्यते—
कीलालेषु रुधिरेषु लोलुपो लम्पटो लुब्ध आशयो मनो येषा तत्तयेव रुधिरपानलुब्धम-
नस्त्वेनेव । ‘कीलाल रुधिरे जले’ इत्यनेकार्थः । तत्त्वतस्तु जलचरत्वेन जले एव
लोलुपाशया । ततस्ते नक्राद्या जलयादोत्रजा अपि निजदयिता स्वस्वप्रिया प्रति
इत्याख्यन् इदमाचख्यु । हे प्रिया , स क्षमापतिर्नृप जन्तूना प्राणभृता पितामहः
पितृपिता भवन् सन् जन्तून् सर्वसत्त्वान् नृमृवद्रोपायति रक्षति । किभूत । करुणा
जगज्जन्तूपरि कृपा तस्या कल्लोलिनीवल्लभो नदीनायक समुद्र । किवत् । वज्रबाहुनृपवत्
श्रीशान्तिनाथपूर्वजन्मवज्रबाहुमहीपतिरिव । पारापतप्रमुखाननेकसत्त्वान् । तथा सूरि-
गिरा इत्यध्याहारादयमासीदिति ॥ इति नक्रादिजलजन्तुमिथुनालाप । इति जलचरा ॥

चौलुक्यावनिजानिनेव निखिलेऽकूपारकाञ्चीतले

श्रुत्वा प्राणिगणैरमारिमवनीकान्तेन सकल्पिताम् ।

गर्जन्तीह गजा हसन्ति हरिणाः कूर्दन्त्यथो कासरा

हृष्यन्ति द्विरदद्विषः सुखमधुर्वाघ्रीणसद्वीपिनः ॥ २४१ ॥

केकायन्ते कलितललनाकेलयो नीलकण्ठा

माकन्दस्था विदधति पिकाः पञ्चमालापलीलाम् ।

शब्दायन्ते शिखरिशिखरस्थायुकास्ताम्रचूडा-

कीरा धीरा इव तरुशिरस्यन्वतिष्ठश्च गोष्ठी ॥ २४२ ॥

प्रीतिप्रह्ला रमयति रहः स्वा चकोरी चकोर-

श्चरुः स्वैर गृहबलिभुजः खञ्जनाः खे विलेसु ।

लीलायन्ते धवलगरुतः प्रोच्छलन्ति स्म मत्स्या

विश्वस्यासन्निव सुखमया वासरास्ते तदानीम् ॥ २४३ ॥

चालुक्यावनिजानिना कुमारपालभूपालेनेव निखिले समग्रे अकूपार समुद्र स एव
काञ्ची मेखला यस्यास्तस्या तले । भूमण्डले इत्यर्थः । अवनीकान्तेनाकृब्धरेण सकल्पिता
प्रवर्तिताममारिं जीवदया श्रुत्वा निशम्य इह जगति गजा सर्वेऽपि वन्यचारिण
गर्जन्ति सजलजलवरवद्गम्भीरधीरगर्जारिव कुर्वन्ति । पुनर्हरिणा हर्षेण हसन्ति मियो
हास्य कुर्वन्ति । अथ पुन कासरा महिषा कूर्दन्ति नभसि फाला ददते । च पुनर्द्विर-
दद्विष केसरिण हृष्यन्ति उद्धुषितकेसरसटाटोप प्रमोदमेदुरी । पुनर्वाघ्रीणसा
खङ्गिणो ‘गाडा सावज’ इति प्रसिद्धा । तथा द्वीपिनो व्याघ्रा चित्रकाया वा । तथा
गिरिनारिगिरिगहने व्याघ्रीचित्रकचित्रकीव्याघ्राणा च सयोगे जायमानास्तत्र ‘दीपडा.’
इति प्रसिद्धा सुख सातमधुर्विभ्रति स्म । सातेन शेरते इत्यर्थः । पुन कलिता निर्मिता

ललनाभिर्मयूरीभि सम केलयो विलासा यैस्तादृशा नीलकण्ठाः केकायन्ते सताण्डवा-
डम्बर केकारव कुर्वते । पुनर्माकन्दस्था स्मितसहकारशाखिशखास्थायुकास्तत्कलिकाकद-
म्बकास्वादसुन्दरीभूतनूतनाकुण्ठकण्ठा पञ्चमनाम्नो रागस्य आलापस्य आलपनस्य घोल-
नाया लीला विनोद विदवति । तथा शिखरिणा पत्रलपादपाना शिखरेषु तिष्ठन्तीत्येव-
शीला स्थायुका स्थायिन सन्तस्ताम्रचूडा कुकुटा शब्दायन्ते जगत्प्रबोध विदवति ।
पुनर्धोरा पण्डिता इव । यथा हैम्याम्—‘ज्ञ प्राप्त्यरूपकृतिकृष्यानिरूपवीरा ’ इति ।
कीरा शुकास्तरूणा पुष्पितफलितद्रुमाणा शिरसि शिखरे उपरिशखाया गोष्ठी परस्पर-
वार्ता अन्वतिष्ठन् चक्र । पुनश्चकोरो ज्योत्स्नाप्रिय प्रीत्या स्नेहेन कृत्वा प्रह्ला नम्रीभूता
स्वामात्मीया चकोरी रह एकान्ते रमयति । पुनर्गृहबलिभुजश्चटका स्वैर स्वेच्छया चेरु
पर्यटन्ति स्म भक्षयन्ति स्म । च पुन खञ्जना आकाशे विलेसु विलसन्ति स्म चि-
क्रीडुर्वा । पुनर्धवलगरुतो राजहसा लीलायन्ते मन्थरगमनैर्विचरन्ति । पुनर्मत्स्या मीना
प्रोच्छलन्ति प्रकर्षेणोच्चैरुत्पतन्ति । साहेर्मृगयानियमनाकर्णनात्सर्वेऽपि प्रमोदभाजो
जन्तव स्वतन्त्र क्रीडन्ति तर्हि ते दिना [वसा] कीदृशा जाता तदानी तस्मिन्प्रस्तावे
तेऽमारिसत्का वासरा दिवसा विश्वस्य सर्वस्य जलस्थलवारिचरजन्तुवर्गस्य सुखमया
शर्मप्रचुरा । यदुक्त रघुवशे—‘क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्न तु लाभवानसौ’
इति । इति वचनात्परमानन्दमया इवासन् बभूवु । परममारिपटहोद्धोषणव्यतिकरे
इत्यर्थ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

मधुना मञ्जरीमालालकृताः फलदा इव ।

अमारिमण्डिताः सर्वे कृतास्तेनात्मनीवृतः ॥ २४४ ॥

तेनाकब्बरेणात्मनीवृत निजजनपदा अमारिमण्डिता जीवानुकम्पाविभूषिता
कृता निर्मिता । केनेव के । मधुना फलदा इव । यथा वसन्तेन सर्वे महीरहा मञ्ज-
रीणा कलिकाना उपलक्षणात्पल्लवपुष्पफलाना च मालाभिरावलीभिरलकृता क्रियन्ते ।
यदुक्तम्—‘अर्थो नराणा पतिरङ्गनाना वर्षा नदीनामृतराट् तरुणाम् । स वर्मचारी
नृपति प्रजाना गत गत यौवनमानयन्ति ॥’ इति ॥

प्राचीनापगुदीचीनप्रतीचीनावनीधना ।

साहिप्रवर्तितामारि शेषामिव शिरस्यधुः ॥ २४५ ॥

पूर्वेदिग्दक्षिणदिक्पश्चिमदिगुत्तरदिक्सबन्धिनो भूमीकान्ता राजानश्चतसृणामपि
दिशामवीशा उपलक्षणाद्विदिशामपीशास्ते कर्तार साहिना प्रवर्तिताममारि सकल-
जीवदया शेषा देवेन स्वामिना वा प्रदत्तप्रसादमिव शिरसि मस्तके अवुर्धारयन्ति
स्म । शेषा शीर्षा अपि । ‘सेस’ इति लोकप्रसिद्धा ॥ इति श्रीहीरविजयसूरिवचनादक-
ब्बरसाहिना निखिलमण्डलेष्वमारि प्रवर्तिता ॥

१. दिनशब्दस्य वस्तुतः पुरत्वाप्रसिद्धत्वेन चिन्त्योऽयं प्रयोगः, अर्थाद्यजन्त-
त्वात्पुस्त्व वा.

श्रीसूरीश्वरहीरहीरविजयैस्तैः स्थानसिहः स्वयं
निर्माप्यातिमहोत्सवेन भगवद्विम्बप्रतिष्ठामहम् ।

कल्याणश्रियमर्थिसार्थवशगां कुर्वन्नपि प्रीतिमा-

नेतच्चित्रममुत्र तन्निजवशां ता निर्मिमीते स्म यत् ॥ २४६ ॥

अमुत्रास्मिन् जगति तत्प्रसिद्धमेतदृश्यमान चित्रमाश्चर्यमास्ते । तत्किम् । थानसिहो यत्ता कल्याणश्रिय मुक्तिलक्ष्मी निजवशा स्वायत्ता निर्मिमीते स्म चकार । किंभूत । प्रीतिमान् मुक्तिलक्ष्मी प्रति स्नेहवान् । अन्यत्र प्रमोदमेदुरितादयष्टि । पुन किं कुर्वन् । कल्याणश्रियं सुवर्णविभूतिमर्थिना याचकाना सार्थस्य वर्गस्य वशगा वशवर्तिनी कुर्वन्नपि सृजन्नपि । किं कृत्वा । इह फतेपुरमध्ये तैरकब्बरसाहिविहितसन्मानै श्रिया शुद्धाचारत्वेन यशोलक्ष्म्या युक्ताना सूरीणामपरेषामनूचानाना मध्ये ईश्वरा अविपतय ज्ञानवर्गादिभिर्महीयासस्तेषु हीरैश्चूडामणिकल्पैर्हारविजयसूरिभि स्वयमात्मना अप्रतिमेनासाधारणेन उत्सवेन महेन भगवता तीर्थकृता बिम्बाना प्रतिमाना प्रतिष्ठा वा सक्षेपाञ्जनशलाकादिका निर्माप्य कारयित्वा ॥

श्रीमदुर्जरराजवीरधवलाधीशः समुत्कण्ठितः

स्वेन श्रीकरणाभिधानपदवी श्रीवस्तुपाल यथा ।

सूरिक्षोणिमहेन्द्रहीरविजयस्तस्मिन्महेऽस्याग्रहे-

णौपाध्यायपद निनाय विबुध शान्त्यादिचन्द्राभिधम् ॥२४७॥

स जगद्विख्याताकब्बरप्रतिबोवविवाता सूरिष्वनूचानेषु क्षोणिमहेन्द्र पृथिवीपाकशासनो राजा श्रीहीरविजयसूरिस्तस्मिन् प्रतिष्ठासबन्विनि महे महोत्सवे अस्य थानसिहस्याग्रहेण शान्तिरिति पदमादौ यस्य तादृशी चन्द्र इत्यभिवा नाम यस्य तादृग्विव विबुध प्रज्ञाशमुपाध्यायपद निनाय प्रापितवान् । शान्तिचन्द्रप्रज्ञाशस्योपाध्यायपद ददावित्यर्थ । तत्र दृष्टान्त वक्ति—यथा सम्यगुत्कण्ठा आत्मव्य जातमस्येति समुत्कण्ठितः श्रीमान्मण्डललक्ष्मीकलित गुर्जराणा राजा स्वामी वीरधवल इति नामाधीशः प्रभु स्वेनात्मना श्रिया भाग्यवैभवेन युक्त वस्तुपाल तेज पालज्येष्ठभ्रातर श्रीकरणनाम्नी पदवीमविकारविशेषम् । मित्रित्वमित्यर्थ ॥ इति थानसिहप्रतिष्ठाया शान्तिचन्द्रस्योपाध्यायपदम् ॥

दुर्जनमल्लो दुर्जनमल्ल इव गुणैर्महीपतेर्मान्यः ।

समह प्रत्यष्ठापयदर्हत्प्रतिमा मुनीन्द्रेण ॥ २४८ ॥

दुर्जनमल्लो नाम श्राद्धो मुनीन्द्रेण सूरिपार्थ्वे समह महामहकलित यथा स्यात्तथा अर्हत्प्रतिमा भगवद्विम्बानि प्रत्यष्ठापयत् प्रतिष्ठापयति स्म । किंभूतः । गुणैरौदार्यधैर्यम-

णिपरीक्षाकारकादिभिः कृत्वा महीपतेरकब्बरसाहेर्मान्यो बहुमाननीय । पुनः गुणैर्दुर्जनानां कर्णेजपानां खलानां वा मल इव मलः प्रतिपक्षः ॥

समहं मथुरापुर्या यात्रां पार्श्वसुपार्श्वयोः ।

प्रभुः परीतः पौरौघैश्चारणर्षिरिवाकरोत् ॥ २४९ ॥

प्रभुर्हीरविजयसूरि मथुरापुर्या मधूपन्ननगरे समह सोत्सव चारणर्षिर्विद्याजङ्घाचारणादिमुनिरिव पौरौघैर्नागरिकनिकरैः परीतः परिवृतः सधेन सहितः पार्श्वसुपार्श्वयोर्द्वयोर्विशतितमसप्तमजिनचन्द्रप्रतिमयोर्यात्रामकरोच्च कृतवान् ॥

जम्बूप्रभवमुख्यानां मुनीनामिह स प्रभुः ।

ससप्तविंशतिं पञ्चशतीं स्तूपान्प्रणेमिवान् ॥ २५० ॥

स प्रभुर्हीरसूरिरिहैव मथुरानगर्या जम्बूनाममहावीरदेवस्य द्वितीयपट्टधरः, चरमकेवली प्रभवनामा तृतीय पट्टधरः, तौ मुख्यौ प्रकृष्टावाद्यौ वा येषां तेषां मुनीनामुपलक्षणात्साध्वीनामपि पर तन्मध्यवर्तिनामेव सहसप्तविंशत्या वर्तते या तादृशीं पञ्चशतीं स्तूपान् प्रणेमिवान्नमति स्म । पञ्चशती प्रभवस्वामिसहिता चौरसाधूना जम्बूस्वामियुक्तानामष्टानां कनीनां नवानामपि मातृपितृणां नव त्रिभिर्गुणिता सप्तविंशतिर्जातः योक्तमानः सप्तविंशत्यधिका पञ्चशतीस्तूपाः सन्तीति ॥ मथुरायात्रा ॥

गोपालशैलेऽथ सुपर्वसद्भावष्टम्भनस्तम्भ इवाभ्युपेत्य ।

समं जनौघैर्जिनसार्वभौमं ककुब्जकेतुं नतवान्ब्रतीन्द्रः ॥ २५१ ॥

अथ मथुरायात्रानन्तरं ब्रतीन्द्रः सूरिः जनौघैर्भविकप्रकरैः समं सार्धमुपेत्यागत्य गोपालशैले 'ग्वालेरगढ' इति लोकोक्त्या तत्र ककुब्जान् वृषभं केतुश्चिह्नं यस्यैतावता ऋषभस्वामिनः जिना सामान्यकेवलिनः तेषु तेषां मध्ये वा सार्वभौमः चक्रवर्तिनः नतवान् प्रणमति स्म । किंभूते गोपालशैले । सुपर्वसद्भवनः स्वर्गस्यावष्टम्भनार्थमाधारकृते विविना विश्वसृजा कृते स्तम्भे स्थूणा वागिव ॥

द्वापञ्चाशद्भजमितवृषभप्रतिमा स सिद्धशैल इव ।

प्रभुरपरा अपि तस्मिन्मूर्तीर्जैनीरनंसीत्सः ॥ २५२ ॥

स प्रभुः सूरिः सिद्धशैले शत्रुजयपर्वते इव तस्मिन् गोपगिरौ द्वापञ्चाशतो गजा वज्रादिप्रमितिकरणार्थं वशमया काष्ठमया वा यष्टिविशेषास्तैर्द्विपञ्चाशद्भिर्मिता प्रमाणीकृता या वृषभस्यादिनाथस्य प्रतिमा मूर्तिस्तामाशा वरीयाकृतित्वाद्वासक्षेपपूर्वकमनसीत् प्रणतवान् । अपि पुनरपरा अन्या अपि जैनीर्जिनसबन्धिनीर्मूर्तीं प्रतिमा पञ्चाशच्चत्वारिंशत्पञ्चत्रिंशत्त्रिंशद्विंशत्यादिगजमानास्तथैव पूर्वप्रतिमावन्नेमिवान् ॥

यात्रां कृत्वात्र सुत्रामा यथा नन्दीश्वरे दिवम् ।

प्रभुर्विभूषयामास पुनरप्यागरापुरम् ॥ २९३ ॥

प्रभुः सूरिरत्र गोपगिरौ यात्रा जिनपादप्रणति कृत्वा भावविविपूर्वं विधाय पुनरपि व्याघ्रव्य तदेवागरानाम नगरं विभूषयामासालकृतवान् । दृष्टान्तमाचष्टे—यथा सुत्रामा सौधर्मेन्द्र नन्दीश्वरे जम्बूद्वीपादष्टमे द्वीपे भगवत्कल्याणकादिकाष्टाहिकादिषु यात्रा गीतनृत्यकारापणादिमहोत्सव निर्माप्य पुनरपि दिवं स्वर्लोकं भूषयति ॥ इति गो-पगिरियात्रा ॥

यः सेरद्विकखण्डलम्भनिकया ख्यातोऽखिले मण्डले

श्रद्धावानिह मेदिनीपुरसदारङ्गः प्रभोर्भक्तितः ।

सोऽदान्मूर्तमिवेन्द्रकुम्भिनमिभं लक्षप्रसाद पुन-

र्वाहाना नवति च काञ्चनमणीस्वर्णशुकाद्यर्थिनाम् ॥ २९४ ॥

तस्मिन्नवसरे इहागरानगरे स दानशक्त्या प्रसिद्धो मेदिनीपुरस्य मेडतानगरस्य वास्तव्य सदारङ्गनामा श्रद्धावान् श्रावक प्रभो सूरिन्दोरुपरि भक्तितः भक्तिवशाद्रागा-तिशयात् । अर्थिना याचकानामिति सर्वत्र योज्यम् । मूर्त मूर्तिमन्त भूमावागतमिन्द्रकु-म्भिनमैरावणमिव इभ गजोचितपरिकरादिकलितकरिणमदाद्दौ । पुनर्लक्षप्रसाद 'लक्षप्र-साद' इति जनप्रसिद्धि च पुनर्वाहाना जात्यतुरङ्गाणा नवति नवतिप्रमाणानश्वान् ददिवान् । पुन काञ्चनै सुवर्णैर्मणीभि रत्नै उपलक्षिता स्वर्ण मुद्रा अङ्गुलीयकानि । 'साक्षराङ्गुली मुद्रा' इति हैम्याम् । 'वेढवीटी' इति प्रसिद्धा । तथा अर्थिना अशुकानि नानाविधवस्त्राणि । आदिशब्दादुर्णायव 'सखलातपामरी' इति जनप्रसिद्धा । दत्ते स्म । श्रूयते हि—कस्मिन्नपि व्यतिकरे पातिसाहिमार्गणेन सूरिन्द्र करीन्द्रमज्ञानाद्याचित । तदवसरे च करिराजसमर्पक सकलसधमनुनीय सदारङ्गसाधु स्वयमेव श्रीहीरविजयसू-रीन्दोरुपरि न्युञ्छन् निर्माय तस्य साहिडुम्बकस्य सर्वगजोपकरणपरिकलित गज परस्य कस्यापि तादृशस्य लक्षप्रसादमन्येषा च नवति तुङ्गतुरङ्गमाना परेषा च वस्त्रस्वर्णमणिभू-षणौर्णायुप्रमुख प्रदत्तवानिति । स क । य सदारङ्गश्राद्ध सेरयोलोकप्रसिद्धयोर्मानविशे-षयोर्द्विक युगल तन्मिताना खण्डाना मधुधूलीना लम्भनिकया प्रतिमथनप्रदानेनाखिले मण्डले ख्यात प्रसिद्धिमान् जातोऽस्ति ॥ इति श्रीहीरविजयसूरिश्राद्धदानम् ॥

मुक्त्वामात्यमिवावनीशसविधे शान्त्यादिचन्द्राभिधो-

पाध्यायं प्रविधाय तत्र विषये वर्षाश्चतस्रः स्वयम् ।

श्रीकम्मातनयव्रतीन्द्रविलसत्संघाग्रहाद्गुर्जरा-

द्रुच्छन्नागपुरे स्म तिष्ठति चतुर्मासीं स नागेन्द्रवत् ॥ २९५ ॥

स सूरिर्नागपुरे नगरे प्रसिद्धे नगरे चतुर्मासीं वर्षासमय तिष्ठति स्म । किवत् । नागे-

न्द्रवत् । यथा नागानां राजा नागपुरे भोगवत्या नगर्या तिष्ठति । किं कुर्वन् । श्रिया-
आचार्यलक्ष्म्या कलितो यः कम्माख्यसाधोस्तनयः पुत्रो व्रतीन्द्र सूरिरेतावता विज-
यसेनसूरिस्तेन विलसन् शोभमानो यो गुर्जरदेशस्य साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूप-
समुदायस्तस्याग्रहात्पुरोधाद्गुर्जरानुधरित्रीपदं प्रति गच्छन् प्रतिष्ठमानः । किं कृत्वा ।
अमात्य सचिवमिव अवनीशस्याकब्बरपातिसाहे सविधे सनिधाने शान्तिरिति पदमादौ
यस्य तादृशं चन्द्रोपाध्यायम् । शान्तिचन्द्रवाचकमित्यर्थः । मुक्त्वा कार्यकरणार्थं संस्थाप्य
पुनस्तत्र मेवातनाम्नि विषये मण्डले स्वयमात्मना चतस्रश्चतुःसख्याका वर्षाः प्रावृट्का-
लप्रतिबद्धाश्चतुर्मासीः प्रविधाय कृत्वा । स्थित्वेत्यर्थः ॥ इति मेवातमण्डलादागत्य नागपुरे
चतुर्मासककरणम् ॥

तस्मिञ्जगन्मल्लमहीन्द्रमन्त्री मेहाजलो नाम वणिज्महेन्द्रः ।

भक्तिं व्यधात्कृत्तमहो मुनीन्दोः पद्मावतीकान्त इवाहिकेतोः ॥ २५६ ॥

तस्मिन्नागपुरे जगन्मल्लो जगमाल इति नाम्ना महीन्द्रो राजा तस्य मन्त्री प्रधानो
मेहाजल इति नाम वणिक्सु नैगमेषु महेन्द्र इन्द्रसदृशः मुनीन्दो सूरिन्द्रस्य भक्ति-
सेवा पर्युपासना व्यधात् चकार । किंभूतः । कृत्तो निष्पादितोऽखिलपुरजन्मार्यानार्य-
जनैर्महोत्सवो येन । क इव । पद्मावतीकान्त इव । यथा धरणेन्द्र अहिकेतोः श्री-
पार्श्वनाथस्य स्वस्य नागेन्द्रपदप्रदानप्रमोदेनान्यप्रकारेण वा महोत्सवः कुर्वन् भक्तिं
विवर्त्ते ॥

श्रीमज्जेसलमेरुनामनगरादागत्य संधान्वितः

कोष्ठागारिकमाण्डणो मुनिमणि सौवर्णटङ्कैर्मुदा ।

सिद्धौ स्वर्मणिवत्प्रपूज्य तृणयल्लक्ष्मीं पुनस्तत्पुरे

नानादानविधौचितीं प्रकटयाचक्रे यथा विक्रमः ॥ २५७ ॥

कोष्ठागारिक धान्यकोष्ठाध्यक्षः लोकप्रसिद्ध्या 'कोठारी' माण्डणः । 'ग्रामनाम्नो स-
स्काराभावः क्वचित्' इति वचनान्माण्डणः । सस्कारे तु मण्डन इति नाम्ना वणिक् श्राद्धः
तस्मिन्नागपुरे पुनरित्यन्यार्थे अन्यानां नानाविधानां दानानां स्वर्णरजताशुकोर्णायुखण्ड-
घृताद्यनेकप्रकाराणां विश्राणनाना विधा विधयः प्रकारा वा तेषामौचितीमुचिततामौ-
चित्यं प्रकटयाचक्रे प्रकाशयामास । दृष्टान्तमाचष्टे—यथा विक्रमो विक्रमादित्यः
नानादानविधौचितीं प्रकटीचक्रिवान् । माण्डणः किं कुर्वन् । तत्पुरे तस्मिन्नागपुरनगरे
स्वलक्ष्मीं निजविभवतृणयन् तृणमिव गणयन् । विविचलम्भनिकाभिर्याचकदानैश्चेत्य-
ध्याहारः । किं कृत्वा । मुदा हर्षेण सिद्धयै महानन्दप्राप्तये मुनिमणिं हीरविजयसूरिपु-
रंदरसौवर्णटङ्कैः 'सोनइयाइ' इति प्रसिद्धैः प्रपूज्यार्चयित्वा । किवत् । स्वर्मणिवत् । यथा
कोऽपि सिद्धयै स्वार्थसंप्राप्तये विभवार्थं चिन्तामणिं पूजयति । किं कृत्वा । श्रीमतो
लक्ष्मीः दुर्गादिशोभा वा विद्यते यस्मिंस्तादृशं यजेसलमेरुनामाभिधानं यस्य तादृशान्नग-

रात् । जेसलमेरुपुरादित्यर्थः । आगत्य । किंभूतो मण्डनः । संघेन । यद्यपि संघशब्देन चातुर्वर्ण्यं गृह्यते, तथाप्यत्राधिकारात् श्राद्धश्राद्धीसार्थेनान्वितः सहितः ॥

..... ।

..... ॥ २५८ ॥

परेऽपि अन्यान्यनगरसंबन्धिनः संघाः क्रमात्तत्र नागपुरे उपागत्य समेत्य विभोर्हो-
रसूरे. पादांश्चरणानभिवन्द्य नमस्कृत्य निज निजं स्व स्व स्थानं नगरग्रामादिकमास्पदं
ययुर्गताः । कानिव । अभिवन्द्य तीर्थानिव । यथा सघा विविधग्रामनगरजनपदसबन्धिनः
श्राद्धीसखश्राद्धसार्थाः शत्रुजयोज्जयन्तार्बुदाष्टापदसमेतशिखरादिषु विभोर्भगवतः पादान्
जिनबिम्बान् जिनपादुकान्वा अभिवन्द्य प्रणम्यार्चित्वा च निजनिजस्थानं यान्ति ॥

यदन्यनीवृत्ततिमुद्रिकाया विभर्ति माणिक्यमिवात्र लक्ष्मीम् ।

क्रमात्प्रतिक्रम्य स तत्पुरे चतुर्मासीं विहारं विदधे व्रतीश्वरः ॥ २५९ ॥

स सूरिः क्रमात्पर्युषणापरिपाठ्या तत्पुरे तस्मिन्नागोरनगरे चतुर्मासीं प्रतिक्रम्य
अथ वा कार्तिकचतुर्मासकं प्रतिक्रम्य व्रतीश्वरो यतिराजो हीरसूरिविहारं विदधे वि-
हितवान् प्रतिष्ठते स्म । तत्किम् । यत्पुरम् अन्येऽपरे ये नीवृतो जनपदास्तेषां तति
श्रोणिः सैव मुद्रिका अङ्गुलीयकं तस्या माणिक्यं महर्घ्यमणिरिवात्र भूमण्डले लक्ष्मी
शोभा विभर्ति धत्ते । 'और देस सब मुदडी उर नागोर नगीना' इति तत्रत्यजनैः
प्रसिद्धिरवयावत् श्रूयते ॥ इति नागपुरचतुर्मासकम् ॥

पीपाढिनाम्नि स्वपुरे प्रभोर्मरुत्पुरोपमे नागपुरादुपेयुषः ।

तालाहसाधुर्व्यधिताधिकोत्सवं तदा प्रदेशीव मुदान्तिमार्हतः ॥ २६० ॥

तदा तस्मिन्सूरिसमागमनावसरे पीपाढि इति नाम यस्य तस्मिन् पीपाढिनाम्नि
स्वपुरे आत्मीयनिवसननगरे ताला इत्याह्वा नाम यस्य तादृश साधुर्वणिक् । तालोसाह
इत्यर्थः । प्रभोर्हीरसूरेरधिकमतिशायिनमुत्सवं व्यधितं कृतवान् । प्रभो किं चक्रुषः ।
नागपुरादुपेयुषः आजगमुषः । किंभूते स्वपुरे । मरुत्पुरोपमे मरुतो देवास्तेषां पुरं पत्तन-
ममरावती तस्योपमा सादृश्यं यस्य तादृशे । क इव । प्रदेशीव । यथा केशीप्रतिबोधित-
प्रदेशी नामा नृपतिः अन्तिमार्हतश्चरमतीर्थकृतः श्रीमहावीरस्वामिनः छद्मस्थावयाम-
प्रतिबद्धं विहरतः स्वपुरं स्वकीयश्वेताम्बीनगर्यां समागतस्यात्यभ्यधिकमहोत्सवं विधत्ते
स्म । किं च श्रीसूरीणामागमनावसरे आउआपुरे तालाह आसीत् । तदवसरे तु पाति-
साहेरायत्तत्वात्पीपाढिनगरे निवसतीति तात्पर्यम् ॥

ग्रामाश्चद्विपताम्रखान्यधिपतिः सामन्तवद्योऽजनि

श्रीमालान्वयभारमल्लतनयः श्रीइन्द्रराजस्तदा ।

आह्वातुं सुगुरुन्स्वकीयसचिवास्तेनाथ संप्रेषिताः

प्रासादे निजकारिते भगवतां मूर्तिप्रतिष्ठाकृते ॥ २६१ ॥

तदा तस्मिन् पीपाढिपुरपादावधारणप्रस्तावे श्रिया युक्त इति नामा वणिक् वर्तते । किभूत । श्रीमाल इत्यन्वयो वशो यस्य तादृशो यो भारमल्लस्तस्य तनयः पुत्रः । पुनः किभूतः । ग्रामाणा पञ्चशतीजिनाना सनिवेशाना तथा अश्वानां तुरंगमाणा तथा द्वि-
पाना हस्तिना तथा ताम्राणा खानेराकरस्याधिपतिः स्वामी । किंवत् । सामन्तवत् । यथा सामन्तः सीमालभूपाल कतिचिद्रामपुराधिपति सामान्यनृप ग्रामाश्वद्विपखान्यधिपतिः स्यात् । राजन्याना तु 'वागिड' इति, यवनाना तु 'उवरो' इति प्रसिद्धस्तत्तुल्य इति । अथ प्रभोर्मरुदेशे समागमनानन्तर तेनेन्द्रराजेन सुगुरुन् हीरविजयसूरीन् आह्वातु स्वविराटनगरे आकारयितु स्वकीयसचिवा निजप्रधानपुरुषाः संप्रेषिताः प्रस्थापिता । किमर्थम् । निजेनात्मना कारिते निर्मापिते प्रासादे विहारे भगवता तीर्थकृता मूर्ति-
प्रतिष्ठाकृते प्रतिमा प्रतिष्ठापयितुम् ॥

ज्ञात्वा शक्ति.....

..... ।

.....

..... ॥ २६२ ॥

अथ विज्ञप्तेरनन्तर सूरिवर अभ्यर्णग समीपस्थायिन श्रीहर्षाङ्गजवाचक श्रिया वाचकलक्ष्म्या युक्त हर्षा इति नाम्नो वणिज अङ्गज नन्दन कल्याणविजयनामान वा-
चकेष्ववनिमणिमुपाध्यायराज प्रैषीत् तत्र प्रख्यापयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अपरामन्या स्वीयामात्मीया मूर्ति किं तनूमिव स्वप्रतिमामिव । किं कृत्वा । स्वामात्मीयामशक्ति शरीरासामर्थ्यं ज्ञात्वा अवधार्य । किं कर्तुम् । इतः पीपाढिपुरात् मेवातमण्डलस्थवि-
राटनगरे गन्तुं प्रयातुम् । ततः प्रेषणानन्तर सोऽपि वाचकेन्द्रोऽपि सपदि शीघ्रमन-
विच्छिन्नप्रयागैः क्रमाद्रामानुग्रामविहारपरिपाठ्या तत्पुर विराटनगरं प्राप्यासाद्य क्लृप्तै-
र्निर्मितैरसावारणैस्तस्य तेन च महामहैः प्रतिष्ठा विरचयाचक्रे कृतवान् ॥

रत्नस्वर्णसुवर्णकोपलमयाप्तार्चाप्रतिष्ठाक्षणे

हस्त्यश्वाशुकभूषणाशनमुखानेकप्रकारैस्तदा ।

भोजेनेव पुनर्गृहीतवपुषा विश्वार्थिदौस्थ्यच्छिदे

चत्वारिंशदनेन रूपकसहस्राणि व्ययीचक्रिरे ॥ २६३ ॥

तदा तस्मिन् रत्नानि स्फटिकादीनि स्वर्णं काञ्चन सुवर्णकं पित्तलम् । यदुक्तं है-
म्याम्—'रीरीरीरीवरीतिश्च पित्तलोहं सुवर्णकम्' इति । उपल. मम्माणीखनिजन्मा पाषाणस्त एव स्वरूपं यासां तादृशा आप्तानां जिनानामर्चा प्रतिमाः तासां प्रतिष्ठाक्षणे

स्थापनमहोत्सवे इन्द्रराजेन हस्तिनो गजा अश्वा वाजिन अशुकानि वस्त्राणि भूषणान्याभरणानि अशनानि जेमनवरा मुखानि आद्यानि येषु तादृशैरनेकैर्बहुविधै प्रकारै कृत्वा चत्वारिंशन्मितानि रूपकाणा रूप्यटङ्काना 'रूपया' इति प्रसिद्धाना सहस्राणि व्ययीचक्रिरे व्ययीकृतानि । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वेषा सर्वेषामर्थिना याचकाना दौस्थ्यच्छिदे दारिद्र्यच्छेदनाय पुनर्द्वितीयवारं गृहीतवपुषा उपात्तदेहेन भोजनेन धाराधिराजभोजदेवेनेव ॥ इति विराटनगरप्रतिष्ठा ॥

श्रीरोहिण्याः प्रतिष्ठायै संश्रुतायै स्वयं प्रभुः ।

ततः प्रतस्थे यत्साधोः स्थितिर्नैकत्र भृङ्गवत् ॥ २६४ ॥

प्रभुर्हीरसूरिस्ततः पीपाढिपुरतः प्रतस्थे प्रचलित । कस्येव । श्रीरोहिण्याः शिवपुर्या प्रतिष्ठायै शिवपुरीश्चाद्वकारितचतुर्मुखप्रासादतद्विम्बाना च प्रतिष्ठाकृते । किभूतायै प्रतिष्ठायै । संश्रुतायै इन्द्रराजसचिवागमनात्प्रथममङ्गीकृतायै स्वयमात्मनैव प्रस्थाने । युक्तोऽयमर्थः—यद्यस्मात्कारणात् साधो सयमिन स्थितिर्वास एकत्र न स्यात् एकस्मिन्नेव स्थाने न स्यादेव नैव भवेत् । किंवत् । भृङ्गवत् । यथा भ्रमरस्य एकत्र स्थितिर्न स्यात् । यत उक्तम्—'समणाण सउणाण भ्रमरकुलाण गोकुलाण च । अणियाउवसहीउसारयाण च मेहाणम् ॥' इति ॥

वरकाणकमागत्य पुरं सूरिपुरंदरः ।

वरकाणकपार्श्वेशं साक्षात्पार्श्वमिवानमत् ॥ २६५ ॥

सूरिपुरदरो हीरविजयसूरि वरकाणकनाम्ना पार्श्वयक्षस्य ईश स्वामिन पार्श्व एवेशो विश्वनायक तमनमन्नमस्करोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—साक्षात्प्रत्यक्ष स्वयमेवमुक्तेरत्रायात श्रीपार्श्वनाथमिव । किं कृत्वा । वरकाणकमित्यभिधानं पुरमागत्य समेत्य ग्रामनाम्नैव श्रीपार्श्वनाथाभिधानम् । श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथवत् ॥

आगादथाभिमुखमस्य पुरादमुष्मा-

दागच्छतो विजयसेनगुरुर्गणेन्दोः ।

विश्वोपकारकृतिनौ मिलितौ मिथस्तौ

तीर्थाधिभूगणधराविव दिद्युताते ॥ २६६ ॥

अथेत्यपराधिकारे अस्माद्वरकाणकपुरादागच्छत शिवपुर्या समवसरतः अस्य गणेन्दोर्हीरविजयसूरेर्विजयसेननामा गुरुराचार्य अभिमुख समुखमागादाययौ तथा तौ भट्टारकाचार्यौ मिथः परस्पर मिलितौ सगतौ दिद्युताते राजत । किभूतौ । विश्वेषा जगता समस्तभव्यजीवानां वा उपकारो बोधिबीजदानादिस्तत्र कृतिनौ चतुरौ । उत्प्रेक्ष्यते—तीर्थाधिभूस्तीर्थकरस्तथा गणधराविव ॥

उत्तंसैरिव पत्कजैः शिवपुरी संप्राप्य भूषां परां
प्रासादे च चतुर्मुखे ध्रुव इव श्रीमन्महोक्षध्वजम् ।

चैत्येऽन्यत्र पुनर्गजध्वजजिनं बिम्बैरनेकैः समं

प्रत्यस्थापयदासपालविलसन्नेताप्रणीतोत्सवैः ॥ २६७ ॥

स हीरसूरि ध्रुव इव ब्रह्मणीव चत्वारि मुखानि आननानि यस्य तादृशे प्रासादे विहारे श्रीमन्त त्रैलोक्यलक्ष्मीकलित महोक्षध्वज वृषभकेतनमादिनाथ पुनरन्यत्र चैत्ये जिनगृहे गजध्वज हस्तिलाञ्छनमजितनाथ जित तीर्थकर प्रत्यस्थापयत्प्रत्यतिष्ठिपत् । कथम् । सम सार्धम् । कै । अनेकैः शतसंख्यैर्बिम्बैर्जिनप्रतिमाभि । कैः । आसपालनाम्ना सघपतिना तथा विलसता शोभमानेन नेतानामसाधुना प्रणीतैः कृतैरुत्सवैः महामहैः । आसपालसघपतिना चतुर्मुखप्रासादे आदिनाथस्य प्रतिष्ठा कारिता, नेताकेन श्रीअजितनाथचैत्ये श्रीअजितनाथस्य प्रतिष्ठा निर्मिता इति तत्त्वम् । किं कृत्वा । उत्तसैः शेखरैः इव पत्कजैः चरणारविन्दैः शिवपुरीं श्रीरोहिणीनगरीं परा प्रकृष्टां भूषा शोभा संप्राप्य लम्भयित्वा । ण्यन्तत्वाद्विकर्मकत्वम् ॥

आरुह्यार्बुदभूधर जिनपतीन् नत्वा पुनर्गुर्जरा-

न्प्रस्थातुं स्पृहयन्महीपतिसुरत्राणेन मन्त्रीश्वरैः ।

आगृह्यायममारिनिर्मितिकरव्यामुक्तिपूर्वं समा-

हूतो भूषितवांस्ततः शिवपुरीं वर्षागमे सूरिराट् ॥ २६८ ॥

ततः प्रतिष्ठाकरणानन्तरमयः सूरिराट् हीरविजयसूरीन्द्रो वर्षागमे चतुर्मासके शिवपुरी पुनर्भूषितवानलकरोति स्म । किंभूत । महीपतिना सुरत्राणनाम्ना नृपेण मन्त्रीश्वरैः स्वमुख्यप्रधानपुरुषैः सकलेऽपि स्वमण्डले अमारिनिर्मितिर्जीवदयापालन तथा कराणां राजदेयाशाना जनदण्डानां च व्यामुक्तिर्मोचनं पूर्वं यथा स्यात्तथा । यावन्तः समयः श्रीपूज्या मन्त्रगरीमलकरिष्यन्ति तावत्कालं मदीयाखिलमण्डले अमारि तथा जनेषु करदण्डमोचनं करिष्यामीति वाग्बन्धपूर्वकमित्यर्थः । आगृह्याग्रहं कृत्वा मन्त्रीश्वरैः स्वप्रधानपुरुषैः समाहूतः सम्यक्प्रकारेण समानदानपूर्वकमाकारितः । सूरिराट् किं कुर्वन् । अर्बुदभूधरं हिमाद्रिनन्दनशैलावित्यकामारुह्याध्यास्य पुनर्जिनपतीन् चैत्येषु भगवत्प्रतिमां नत्वा प्रणम्य पुनर्गुर्जरान् गुर्जरजनपदं प्रति प्रस्थातुं स्पृहयन् । पुनः शब्दो घण्टालालान्यायेनोभयत्रापि योज्यते ॥ इति शिवपुर्यां प्रतिष्ठाद्वयपूर्वकं चतुर्मासकम् ॥

हेमसूरीश्वरेणेवाणहिल्लपुरपत्तनम् ।

क्रमाद्विहरता तेनालंचक्रे व्रतिचक्रिणा ॥ २६९ ॥

क्रमाच्चतुर्मासकप्रतिक्रमणानन्तरं पारणके विहरता क्रमाद्रामानुग्रामं सुखं सुखाद्वा

विहार कुर्वता तेन व्रतिचक्रिणा सूरीन्द्रेणाणहिल्लपुर नाम पत्तनमलंचके । केनेव । हेम-
सूरीश्वरेणेव । यथा हेमचन्द्रसूरिपुरदरेण पत्तनमलक्रियते ॥ इति गुर्जरदेशागमनम् ॥

निःशेषोचितकर्मकर्मठधियं वाचैव वाचस्पतिं

मुक्त्वा तत्र च भानुचन्द्रविबुधाधीशं गुरुणां गिरा ।

श्रीमद्वाचकशान्तिचन्द्रगणिनेत्याख्यायि साहेः पुरः

शिष्टिः स्याद्यदि वः प्रयामि तदहं नन्तुं गुरुनुत्सुकः ॥२७०॥

श्रीमान् शोभाकलितो वाचक उपाध्यायः शान्तिचन्द्रगणिना शान्तिचन्द्रोपाध्यायेन
साहेरकब्बरस्य पुरोऽग्रे इत्याख्यायि प्रोक्तम् । इति किम् । यदि वो युष्माक शिष्टिराज्ञा
स्यात् तदा उत्सुक उत्कण्ठितोऽहं गुरुन् हीरसूरीनन्तु नमस्कर्तुं गच्छामि । किं कृत्वा ।
गुरुणां सूरीणां गिरा शासनेन भानुचन्द्रनामान विबुधाधीश प्राज्ञपति तत्र फतेपुरे
साहिपार्श्वे वा मुक्त्वा सस्थाप्य । किंभूत भानुचन्द्रविबुधाधीशम् । नि शेषाणि सम-
स्तानि उचितानि साहिकथनयोग्यानि यानि कर्माणि कार्याणि तेषु कर्मठा कार्यशूरा
प्रतिभा प्रज्ञा मतिर्यस्य । पुन किंभूतम् । वाचा वाग्विलासेन कृत्वा वाचस्पति बृह-
स्पतिमिव ॥

प्रह्लादेन ततो गुरुन्प्रति निजात्पार्श्वार्त्स जेजीयका-

मारीणां फुरमानढौकनकरः संदेशवाचो वहन् ।

श्रीमत्सूरिसितांशुशासनकृपाकोशानिशश्रावण-

च्छेकः प्रैषि नृपेण वाचकवरः शान्त्यादिचन्द्राभिधः ॥२७१॥

तत आदेशमार्गणानन्तर नृपेणाकब्बरेण निजात्स्वकीयात्पार्श्वार्त्समीपात्प्रह्लादेन
शान्त्यादिचन्द्राभिध वाचकेषु विधु शान्तिचन्द्रोपाध्याय गुरुन् श्रीहीरविजयसूरी-
न्द्रान् प्रति प्रैषि प्रस्थापित । किंभूत । जेजीयकाख्यो गौर्जरकरविशेषस्तन्मोचन-
युक्तामारीणा फुरमान खनाममुद्राङ्कितलेख स एव ढौकन प्राभृत नृपोपदा करे हस्ते
यस्य । किं कुर्वन् । संदेशवाच साहिना सदिष्टान् कथितान् वाग्विलासान् वहन्
विभ्रत् । पुन किंभूत । सूरिसिताशोर्हीरविजयसूरिचन्द्रस्य शासनादादेशात्कृपारसकोश
स्वकृतकाव्यग्रन्थविशेषस्तस्यानिश निरन्तर श्रावण साहे कर्णप्राघुणकीकारकत्व तत्र
छेकश्चतुर ॥

हमाउंसूनोः फुरमानदानाद्युदन्तमुद्वेलकृपापयोधेः ।

प्रीत्या समेत्याप्त इवात्र सोऽपि न्यवेदयत्सूरिपुरंदरस्य ॥ २७२ ॥

सोऽपि शान्तिचन्द्रवाचकेन्द्रोऽपि अत्र गुर्जरमण्डले पत्तने वा समेत्यागत्य प्रीत्या
मुदा । 'मुत्प्रीत्यामोदसमद' इति हैम्याम् । हमाउसूनोरकब्बरपातिसाहे फुरमानस्य
स्वमुद्राङ्कितलेखस्य दान विश्राणनं गुरुन्प्रति प्रेषण यत्र तादृशमुदन्तं वृत्तान्त सूरिपुरं-

दराय न्यवेदयत्कथयाचकार । क इव । आस इव । यथा विश्वस्तः केनचित्कथितं सर्वं
वृत्तान्तं निवेदयति । किंभूतस्य हमाउसूनोः । उद्वेलो वेलामतिक्रान्तोऽतिप्रवृद्धः
कृपारूपं पयोधिं समुद्रो यस्य यस्मिन्वा ॥ इति शान्तिचन्द्रोपाध्यायगुर्जरागमनं फु-
रमानदानं च ॥

श्रीमत्पर्युषणादिना रविमिताः सर्वे रवेर्वासराः

सोफीयानदिना अपीददिवसाः संक्रान्तिघस्ताः पुनः ।

मासः स्वीयजनेर्दिनाश्च मिहिरस्यान्येऽपि भूमीन्दुना

हिन्दुम्लेच्छमहीषु तेन विहिताः कारुण्यपण्यापणाः ॥ २७३ ॥

तेन भूमीन्दुना वसुधासुधाशुना अकब्बरेण हिन्दुम्लेच्छमहीषु राजपुत्राणां यव-
नानां च भूमीषु आर्यानार्यदेशेष्वपि एते प्रोच्यमाना दिना कारुण्यपण्यानां कृपाक्रयाण-
काणामापणा विपणयो हृष्टा विहिता कृता । तानेव दिनान्दर्शयति—रविभिर्मिताः
सूर्यप्रमाणा द्वादश श्रीमत्या पर्युषणाया सावत्सरिकपर्वण । पुन सर्वे समस्ता अपि
रवेरादित्यस्य वासरा । द्वादशमाससबन्धिनो नि शेषा आदित्यवारा इत्यर्थः । अपि
पुन सोफीयानदिना यवनजातिप्रसिद्धा । अपि पुनरीदस्य दिनास्तेऽपि यवनेष्वेव
प्रसिद्धा । पुन संक्रान्तीना मेषादिकानां सूर्यसंक्रमणानां घस्ता दिवसाः । पुन स्वीय-
जने. स्वकीयजन्मन सबन्धी मासः । तथा मिहिरवासरास्तेऽपि यवनजातिष्वेव वि-
ख्याताः । अपि पुनरन्ये अपरेऽपि दिना वासराः ॥

तेन नवरोजदिवसास्तनुजजनू रजबमासदिवसाश्च ।

विहिता अमारिसहिताः सलतास्तरवो घनेनेव ॥ २७४ ॥

तेनाकब्बरेण नवरोजस्य क्रीडाविशेषस्य दिवसा , तथा तनुजानां पुत्राणां जनुषां
जन्मना मासा , तथा रजबमासस्य दिवसा । नवरोज रजबमासश्च यवनेष्वेव प्रसिद्धौ ।
अमारिसहिता विहिता जीवदयाकलिता कृता । केनेव । घनेनेव । यथा वार्षिकवा-
रिदेन तरवः पादपाः सलता वल्लीसमालिङ्गिता विधीयन्ते ॥

गुरुवचसा नृपदत्तासाधिकषण्मास्यमारिरभवदिति ।

तत्तनुजैरपि दत्ताधिकवृद्धिं व्रततिवद्भजे ॥ २७५ ॥

गुरोर्हीरविजयसूरेर्वचसा स्वर्गकुसुमापवर्गफलप्रदायिदयालताद्वैतमाहात्म्योपदेशक-
वाक्येन नृपेणाकब्बरेण दत्ता स्वदेशेषु च प्रवर्तिता साधिका षड्भिर्वासरैरविका षण्मासी
यावदमारिरिति दिनानुक्रमेणाभवद्भूषणी । अपि पुनस्तस्य तनुजैर्नन्दनैः सलेमसाहिमु-

१ दिनशब्दस्य नित्यनपुसकत्वेन पुस्त्वघटितोऽयं प्रयोगश्चिन्त्यः , अर्शाद्यजन्त-
त्वात्पुस्त्व वा कल्प्यम्

रादिसाहिप्रमुखैर्दत्ता स्वस्वजन्ममासादिका प्रवर्तिता व्रततिवद्वलीवाधिकवृद्धि भेजे ॥
इत्यमारिदिनव्यक्ति ॥

येनोद्वेगमवापितो जनपदः स्वक्षीणताकारिणा

तूर्णं त्याजयता निज पुरमपि प्राणित्रजान्यक्ष्मवत् ।

शंभोर्देशनया भवस्तनुमतेवाशंसुनां श्रेयसे

जेजीयाख्यकरो व्यमोचि च महीशक्रेण सूरैर्गिरा ॥ २७६ ॥

सूरैर्होरगुरोर्गिरा वाङ्मात्रेण स गुर्जरादिजनपदप्रसिद्धो जेजीया इत्याख्या यस्य तादृङ्गामा करो दण्ड एव महीशक्रेण भूमीन्द्रेण साहिना व्यमोचि सर्वेष्वेव निवारितः । केनेव । तनुमतेव । यथा शंभोस्तीर्थकरस्य देशनया व्याख्यानश्रवणेन प्राणिना भवः स-स्यारो मुच्यते त्यज्यते । नृपेण प्राणिना च क्लिप्तक्षणेन । श्रेयसे कल्याणाय मोक्षाय वाशंसुना अभिलाषुकेण । स क । येन जेजीयाभिधकरेण जनपदो गुर्जरमण्डलमुद्वेग क्लेशमवापितो नीतः । किभूतेन । स्वस्य देशस्यात्मन क्षीणताया दारिद्र्यस्य कारिणा करणशीलेन । पुन कि कुर्वता । प्राणित्रजान् जननिकरान्निजमपि पुर स्वकीयमपि निवासनगरं तूर्णं द्रविणाभावाद्वातुमशक्ततया शीघ्रं त्याजयता मोचयता । किवत् । यक्ष्मवत् । यथा राजयक्ष्मणा क्षयरोगेण जनपदो देश कदाचिद्बहुव्यापको भवेत् । अथ वा धर्मचारिनिष्पुत्रनृपाङ्गे भाविना देश उद्वेगमवाप्यते । किभूतस्य । स्वस्य रोगिण आत्मन शरीरस्य शनैः शनैः क्षीणता दुर्बलता करोतीत्येवशीलस्य । कि कुर्वता । तूर्णं रागोत्पत्तेरनन्तरं त्वरितमेव पुरं देहं त्याजयता । ‘यदा जठरे अश्वं पुमान् छत्रं सपूर्णता याति तदा देहं त्यजेज्जन्तु’ इति चिकित्सकशास्त्रे । ‘पुरं तु नगराद्वयो’ इत्यनेकार्थः ॥ इति जेजीयाकरविमुक्तिः ॥

कश्मीराध्वनि पल्वलो जयनलक्षोणीभृताखानि यः

संख्यातो दशयोजनैर्जयनलप्रोल्लासिलङ्काभिधः ।

यूथाधीश्वरसिन्धुराधिपतिवत्पोतव्रजैर्भ्राजित-

स्तं कौतूहलतो निरीक्षितुमिव प्राप्तं सरो मानसम् ॥ २७७ ॥

जयनल इति नाम्ना क्षोणीभृता राज्ञा कश्मीर इति नाम्नो देशस्याध्वनि मार्गे पल्वलस्तटाकं अखानि खानितः । किभूतः पल्वलः । जयनलेनाद्यभूतेन प्रोल्लासनशीला लङ्का इत्यभिधा नाम यस्य । जयनललङ्काभिधसर इत्यर्थः । पुन किभूतः । दशयोजनैश्चत्वारिंशत्क्रोशैः संख्यातः प्रमाणीकृतः । पुन किभूतः । पोतव्रजैर्भ्राजितः यानपात्रप्रकरैः शोभितः । किवत् । यूथाधीश्वरसिन्धुराधिपतिवत् । यथा यूथनाथगजेन्द्रः पोतानां दशवर्षदेशीयानां करिकिशोराणां व्रजैर्गणैः भूषितो भवेत् । ‘पञ्चवर्षो गजो बालः स्यात्पोतो दशवार्षिकः’ इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—कौतूहलतः कौतुकात् जयनलनृपः तदवसरे चाकल्बरसाहिमिव वा निरीक्षितुं द्रष्टुं प्राप्तः समागतः मानसः हसावासः सर इव ॥

प्रालेयेन खिलीकृते शिखरवत्प्रालेयभूमीभृतः

शीतार्तिं प्रविषह्य वस्त्रवियुजां संवर्तरात्रीमिव ।

क्षोणीपालनिभालिताखिलमहाभीलोपलम्भः पथि

श्रीवाचंयमशर्वरीवरयितुः संदेशवाक्प्रेरितः ॥ २७८ ॥

श्रीशत्रुञ्जयभूभृतस्तनुमतां यात्रां विनिर्मित्सतां

मूलान्मोचयितुं स्वयं करमथो श्रीभानुचन्द्रः सुधीः ।

तत्सारस्वतवर्त्मभूषणसरोवोहित्थसंस्थायिनो

विज्ञप्तिं कृतवानकब्बरधरापाथोजिनीप्रेयसः ॥ २७९ ॥

अथो सूरिसंदेशलेखागमनानन्तरं भानुचन्द्रनामा सुवीर्विद्वान् । भानुचन्द्रप्रज्ञाश इत्यर्थः । तत्पूर्वव्यावर्णितस्वरूपं यत्सारस्वतानां कश्मीराणां वर्त्मनो मार्गस्य भूषणमलकारभूतं सरो जयनललङ्काख्यस्तटाकं तत्र वोहित्थे वहने संस्थायिनः तिष्ठतीत्येवशीलस्याकब्बरनामधरापाथोजिनीप्रेयसः पृथिवीपद्मिनीपतेर्भूमीभानो विज्ञप्तिम् । यवनजातिं प्रसिद्धां अरजीमित्यर्थः । कृतवान् चकार । किं कर्तुम् । श्रीशत्रुञ्जयभूभृतो विमलाचलस्य यात्रां विनिर्मित्सतां कर्तुमिच्छता श्रीशत्रुञ्जयशैलमधिरुह्य ऋषभदेवं नन्तु पूजयितुं वा काङ्क्षता तनुमता भव्यजनानां करं राजदेयाशं मूलादादितः सर्वथैव स्वयमात्मनैव मोचयितुं त्याजयितुम् । किंभूतो भानुचन्द्रः । श्रीवाचयमानां मध्ये शर्वरीवरयितुं निशानाथस्य संदेशवाचा उदन्तप्रेषणेन प्रेरितः । पुनः किंभूतः । पथि मार्गे क्षोणीपालेन पृथिवीपतिना साहिना निभालितो दृष्टः अखिलं समस्तं महानतिशायी आभीलस्य पीडायां शीतव्यथायां उपलम्भः प्राप्तिर्यस्य अत एव पथि मार्गे शीतार्तिं शीतोद्भूता पीडा प्रविषह्य मर्षयित्वा । उत्प्रेक्ष्यते—वस्त्रैर्वसनैर्वियुञ्जन्ति पृथग्भवन्ति तेषां वस्त्ररहितानां संवर्तरात्री कालरात्रीमिव क्षयकारिणीम् । पथि किलक्षणे । प्रालेयेन हिमेन खिलीकृते विषमे निष्पादिते । किवत् । शिखरवत् । यथा प्रालेयभूमीभृतः तुहिनाचलस्य शिखरं शृङ्गं प्रालेयेन हिमेन स्थपुटीक्रियते विषमं विधीयते ॥ युग्मम् ॥

भूभृत्कूकुद एष जेजियकरव्यामुक्त्यलंकारिता

योऽमारि स्वकुमारिकामिव मुदा पूर्वं प्रदाय प्रभोः ।

निःशुल्का पृथिवी पुनर्जिनमतं निर्माय नित्योत्सव

श्रीमत्सिद्धधराधरं प्रददिवास्तद्यौतके युक्तकृत् ॥ २८० ॥

‘सत्कृत्यालकृता कन्या यो ददाति सः कूकुदः’ इति हैम्याम् । एष भूभृदकब्बर एव कूकुदः स्वस्यात्मनः कुमारिका कन्यामिवामारि जीवदया सूरिभिरमारिर्मार्गिता

नृपेण प्रदत्ता अत एव दान पूर्व प्रथमतः प्रभोर्होरसूरे प्रदाय दत्त्वा तद्यौतके तयो
सूरिजीवदययोर्वरवध्वोर्युवतयोर्देये दातव्ये श्रीमन्तमनेकरत्नखर्णरजतरचनाक महा-
नन्देन्दिरामन्दिर सिद्धवरावर शत्रुजयशैल प्रददिवान् निष्कर कृतवान् विश्राण-
यामास । किभूताममारिकुमारिकाम् । जेजीयाख्यो य करो जनदण्डस्तस्य या व्यासु-
क्तिर्मोचन सैवालकारो भूषणगण सजातोऽस्या । कि कृत्वा ददौ । पृथिवी स्वसा-
वितसर्ववसुधा नि शुल्का व्यापारादावपि प्रदेयद्रव्यरहिताम् । शुल्क लोकभाषया
'दाण' यवनभाषया तु 'जगाति' इत्युच्यते । पुनर्जिनमतमर्हच्छासन नित्योत्सव
निरन्तरमहामह विधाय । नृप किभूतः । युक्तमुचित वेत्तीति विदित्वा च करोतीति
युक्तकृत् । 'यौतक युतयोर्देयम्' इति हैम्याम् ॥

निजनामाङ्क कृत्वा फुरमानं प्राहिणोन्नृपः प्रभवे ।

इदमप्यलमकृत ततः करकमलं हंस इव सूरेः ॥ २८१ ॥

नृप पातिसाहिर्निजस्यात्मनो नामाङ्के उत्सङ्गे मध्ये यस्य तादृश फुरमान कृत्वा विधाय
प्रभवे सूरीन्द्राय प्राहिणोत्प्रेषयामास । ततः प्रेषणानन्तरमिदमपि फुरमान सूरे कर-
कमल पाणिपद्म हंस इवालमकृत भूषयति स्म ॥

यः पूर्व कलिकालकेलिकलनालीलालयश्रीजुषा

म्लेच्छक्षोणिभुजा वशंवदतया जज्ञे नृणा दुर्लभः ।

तिग्मज्योतिरखण्डचण्डिममहःसंदोहदूरीकृत-

ज्योत्स्नारम्भविभावरीशविभवः सौगन्धिकानामिव ॥ २८२ ॥

सौवर्णेन ततो बभूव भविकैर्लभ्योऽत्र गोशीर्षव-

ज्जातः साधिकरूपकेण तदनु प्राप्यः कथचिज्जनैः ।

साहिश्रीमदकब्बरेण यवनक्षोणीभुजा समदा-

त्सोऽपि श्रीविमलाचलो मुनिमणेश्चक्रे शयालुः शये ॥ २८३ ॥

यः श्रीशत्रुजयशैल पूर्व प्रथम म्लेच्छानामागमनसमये म्लेच्छक्षोणिभुजा यवन-
पातिसाहीना वशवदतया आयत्तत्वेनाधीनभावेन यात्रिकजनाना दुर्लभो दु प्रापो जज्ञे
जातः । पूर्व म्लेच्छा हि चढितु यात्रामपि कर्तुं न ददुः । किभूतानाम् । कलिकालस्य
कलियुगस्य केलिकलनायै क्रीडाकरणार्थं लीलालय क्रीडासदन तस्य श्रिय जुषन्ते
भजन्ते । केषामिव दुर्लभः । सौगन्धिकानामिव । यथा तिग्मज्योतिषो श्रीष्मभानोर-
खण्डोऽविच्छिन्नो निस्तुषो वा चण्डिमा अतितीव्रता यत्र तादृशेन महसा भूयसः
प्रतापाना सदोहेन समुदायेन दूरीकृतो निरस्तो ज्योत्स्नाना चन्द्रिकाणामारम्भोऽभ्यु-
दयो यस्य तादृशस्य विभावरीशस्य चन्द्रमसः विभवः शोभाभरोऽत्र कल्लाराणा दुर्ल-
भो भवेत् । कल्लार चन्द्रविकाशि । यथा नैषधे—'कल्लारमिन्दुकिरणा इव हासभासम्'

इति । 'सौगन्धिकं तु कल्लारम्' इति हैम्याम् । ततोऽप्राप्तेरनन्तरं कियता कालेनात्र काले भूमौ वा सौवर्णेन सुवर्णदण्डेन । सुवर्णविकारः सौवर्णं तेन 'सोठइयो' इति लोक-प्रसिद्धेन । 'दीनारेण' इति पाठो वा । भविकैर्यात्रिकजनैर्लभ्य प्राप्यो बभूव । किवत् । गोशीर्षवत् । यथा चन्दनं सौवर्णेन स्वर्णमूल्यानं लभ्यते, तदनु हेमदण्डेन प्राप्तेरनन्तरं पञ्चमुद्रिकाभिर्महामुदीभिः, तदनु च कथञ्चिन्महत्कष्टेन विज्ञप्तिभिः साधिकरूपकेण तिसृभिर्मुद्रिकाभिः कृत्वा कथञ्चिज्जनैः प्राप्योऽभूत् । सोऽप्येवविवदुष्प्रापोऽपि श्रीविमलाचलं श्रीशत्रुजयपर्वतं यवनक्षोणीभुजां मुद्गलभूमण्डलाखण्डलेन पातिसाहिना श्रीमता चतुर्दिक्चक्रलक्ष्मीवता अकम्बरेण मुनिमणे श्रीहीरविजयसूरे शये शयालुपाणौ स्थाता चक्रे । गुरुकरकमलवर्ताकृत इत्यर्थः । कस्मात् । समदाद्रुरूपरे गुरुप्रीत्या ॥

प्राचीनजैननरपतिवारक इव निष्करे विमलशैले ।

विदधुर्विधिना यात्रां तत्र मनुष्याः परोलक्षाः ॥ २८४ ॥

परोलक्षा लक्षसख्या मनुष्या यात्रिकास्तत्र विमलशैले शत्रुजयपर्वते विधिना शास्त्रोक्तप्रकारेण यथा 'एकाहारी भूमिसस्तारकारी पद्म्या चारी शुद्धसम्यक्त्वधारी । यात्राकाले सर्वसच्चित्तवारी पुण्यात्मा स्यात्सत्क्रियो ब्रह्मचारी ॥' इत्युक्तविधिना सद्यपतिभवनविधिना वा यात्रां विदधुः चक्रुः । किंभूते । विमलशैले निष्करे कररहिते । कस्मिन्निव । प्राचीनजैननरपतिवारके इव । यथा प्राचीना पूर्वकालोत्पन्नास्तथा जैना जिनशासनरञ्जितमनसः ये नरपतयो भरताद्या भूपालास्तेषां वारके । तद्राज्यसमये विमलाद्रिनिर्गतं करो यस्मात्तादृश आसीत् ॥ इति गुरोर्विमलाचलार्पणम् ॥

वर्षाकाले व्रतीन्द्रौ तौ राजधान्यपुरेऽन्यदा ।

जम्बूद्वीपे पयोजन्मबान्धवाविव तस्थतुः ॥ २८५ ॥

अन्यदा अन्यस्मिन् कस्मिंश्चिद्वर्षाकाले प्रावृट्समये चतुर्मासके तौ व्रतीन्द्रौ श्रीहीरविजयसूरिविजयसेनसूरी राजधान्यनाम्नि पुरे नगरे तस्थतुः स्थितौ । अर्थाच्चतुर्मासकम् । काविव । पयोजन्मबान्धवाविव । यथा जम्बूद्वीपे द्वौ भास्करौ तिष्ठतः ॥

श्रीमत्सूरिपतिः प्रसन्नहृदयः सन्भानुचन्द्राभिध-

प्राज्ञेन्दोरथ वाचकाह्वयपदं दत्ते स वाचैव सः ।

संस्थास्त्रोरतिदूरतोऽपि कुमुदा पङ्केरिव ज्योत्स्नया

प्रोद्यत्पार्वणशर्वरीवरयिता प्रोज्जृम्भतावैभवम् ॥ २८६ ॥

अथ राजधान्यपुरागमनचतुर्मासकस्थितिकरणानन्तरं प्रसन्नः शत्रुजयकरमुक्तिसत्कपातिसाहिपुरमानप्रेषणेन कृत्वा प्रसादोपेतं हृदयं मनो यस्य तादृशं स जगद्गुरुविरुदतया ख्यातः श्रीमत्सूरिपतिः श्रीहीरविजयसूरिरतिदूरतो लाभपुरे लाहोरनगरे

साहिपार्श्वे सस्थास्तो स्थितवतोऽपि भानुचन्द्र इत्यभिधा नाम यस्य तादृशस्य प्राज्ञेन्दो-
र्विबुधविधोः प्रज्ञाशस्य वाचक इत्याह्वय नाम यस्य तादृश पदम् । उपाध्यायपदमित्यर्थः ।
दत्ते स्म । कया । वाचा । कथमेव । वचनमात्रेणेव न तु वासक्षेमपूर्वमिति । क इव ।
प्रोद्यत्पार्वणशर्वरीवरयितेव । यथा उदय प्राप्नुवन् पूर्णिमासबन्धी शर्वर्या निशाया वरयिता
भर्ता अतिशयेन दूरतोऽपि भूमण्डलकमलाकरमध्ये गगनापेक्षया क्षोणी दूरस्थायिनी ।
कुमुदा कैरवाणा पङ्के श्रेण्या ज्योत्स्नया चन्द्रिकयेव प्रोज्जृम्भतावैभव विकाशभाव-
लक्ष्मी दत्ते ॥ इति भानुचन्द्रस्योपाध्यायपदम् ॥

विजयसेनविभोर्हृदि दर्शनं वसुमतीकमिता चकमे क्रमात् ।

विदलिताखिललोकतमस्ततेः शुचिरुचेश्चलचञ्चुरिवाचिरात् ॥ २८७ ॥

क्रमादनुक्रमेण हीरविजयसूरिभ्यां भानुचन्द्रस्य वाचकपदं प्रदत्तं तदाकर्णनानन्तरं
वसुमतीकमिता भूमीपतिरकब्बरसाहि हृदि मनोमध्ये विजयसेननाम्नो विभोर्गुरोर्दर्शनं
चकमे काङ्क्षति स्म । क इव । चलचञ्चुरिव । यथा चकोर शुचिरुचेश्चन्द्रमसो दर्शनं
कामयते । किभूतस्य विजयसेनविभो शुचिरुचेश्च । विदलितानि अखिललोकस्य सम-
स्तजगतः सर्वभविकानां च तमसामज्ञानानामन्धकाराणां च तति पङ्क्तियेन ॥

प्रेषीत्ततः प्रेष्ययुगं सलेखमानेतुमाचार्यसुधामरीचिम् ।

अकब्बरः सिन्धुमिवात्र चक्री सुमित्रभूः सुस्थितमादितेयम् ॥ २८८ ॥

ततो दर्शनाकाङ्क्षानन्तरं अकब्बरः पातिसाहि आचार्यसुधामरीचि विजयसेनसूरीन्दु-
मानेतु स्वदेशे समाकारयितुं सह लेखेन फुरमानेन वर्तते यत्तत्सलेखं प्रेष्ययुगं मेवडाद्वन्द्वं
प्रेषीत्प्रस्थापयति स्म । क इव । सुमित्रभूरिव । यथा सगरचक्रवर्ती सिन्धुः समुद्रमानेतुं
लवणसमुद्राधिष्ठायकः सुस्थितनामानमादितेयः देवः प्रेषयति स्म ॥

लेखं न्यासमिवार्पितं क्षितिपतेर्दूतद्वयेनादरा-

दादायाथ विभाव्य तस्य बुबुधे हार्दं मुनीन्द्रोऽखिलम् ।

द्रष्टुं काङ्क्षति मामिवैष कथमप्याचार्यमप्यात्मना

संतर्क्येति ततो न्यवेदयदनुचानाय सर्वं स तत् ॥ २८९ ॥

मुनीन्द्रो हीरविजयसूरिस्तस्य फुरमानरूपलेखस्य अखिलं समग्रं हार्दं रहस्यं बुबुधे
जानाति स्म । किं कृत्वा । विभाव्यावलोक्य । कथम् । अयं पश्चात् । किं कृत्वा । आदरा-
द्बहुमानादादाय गृहीत्वा । कम् । लेखं फुरमानम् । कमिव । न्यासमिव निक्षेपमिव । यथा
'पणि' इति लोकप्रसिद्ध्या । किभूतं लेखम् । क्षितिपतेरकब्बरसाहेर्दूतद्वयेन मेवडायाम-
लेन संदेशहारकयुगलेन अर्पितं स्वस्य प्रदत्तम् । ततो लेखादानवाचनरहस्यज्ञानानन्तरं
स सूरिस्तत्सर्वं भूपाकारणवाचिकमनुचानाय विजयसेनसूरये न्यवेदयत्कथयाचकार । किं
कृत्वा । इत्यमुना प्रकारेण संतर्क्यं विचार्यं । इति किम् । यदेष पातिसाहि कथमपि

केनापि प्रकारेण आत्मना स्वेन मामिव आचार्यमपि द्रष्टु विलोकयितु काङ्क्षति कामयते वाञ्छति ॥

गुरोरुपादाय रहस्यविद्यां शिक्षां च साक्षात्किमुदर्कसिद्धिम् ।

कम्माङ्गजातव्रतिचक्रवर्ती क्रमाच्चलंल्लामपुरं बभाज ॥ २९० ॥

कम्मानाम्न सावोरङ्गजातो नन्दन स एव व्रतिषु साधुषु मध्ये चक्रवर्ती सार्वभौमो विजयसेनसूरीन्द्र क्रमादनुक्रमेण ग्रामानुग्रामदेशानुदेशविहारपरिपाठ्या चलन् प्रतिष्ठमान लामपुर लाहोरनगर बभाज भजते स्म । लामपुरनगर गतवानित्यर्थः । किं कृत्वा । गुरोर्हीरविजयसूरे रहस्यस्योपनिषदो विद्या पराज्ञातजैनमन्त्रान् च पुन शिक्षा हितमिति । उत्प्रेक्ष्यते—साक्षात्प्रत्यक्षेण किमुदर्कसिद्धिमुत्तरकालोत्पन्नसिद्धिमिव ॥

निर्ग्रन्थनाथः स विधाय गोष्ठीं संप्रीणयामास महीमहेन्द्रम् ।

वाङ्मामपीयूषरसाभिवर्षी नाह्लादकः कस्य कुमुद्वतीशः ॥ २९१ ॥

स निर्ग्रन्थनाथो विजयसेनसूरी महीमहेन्द्रमकब्बरसंप्रीणयामास प्रह्लादयाचक्रिवान् समतोषयत् । ‘प्रीणाति प्रीणयति पृणातीति प्रीणनार्थाः स्युः’ इति क्रियाकलापे । समुपसर्गः । पञ्चमीस्तुतौ यथा—‘संप्रीणन्सच्चकोराञ्छिवतिलकसमः कौशिकानन्दिमूर्तिः’ इति । किं कृत्वा । गोष्ठीं धर्मतत्त्ववार्तां विधाय कृत्वा । किंभूतः स । वाग्वाण्येव नाम यस्य तादृशो यः पीयूषरसः सुधाद्रवजलं वा अभिवर्षतीत्येवशीलः । युक्तोऽयमर्थः । कुमुद्वतीशश्चन्द्रः कस्य नाह्लादकः स्यात् । अपि तु सर्वस्यापि प्रमोदकारी भवत्येव ॥

श्रीमत्सूरिवरो व्यधत्त वसुधावास्तोष्पतेराग्रहे-

णोपाध्यायपदस्य नन्दिमनघां श्रीभानुचन्द्रस्य सः ।

शेखो रूपकषट्शती व्यतिकरे तत्राश्वदानादिभि-

र्भक्तः श्राद्ध इवार्थिना प्रमुदितो विश्राणयामासिवान् ॥ २९२ ॥

स सूरिष्वाचार्येषु वरः प्रधानो विजयसेनसूरिर्वसुधावास्तोष्पतेर्महीन्द्रस्याग्रहेणोपरोधेन उपाध्यायपदस्य नन्दि विविविशेषं व्यवत्त चक्रे । तत्र व्यतिकरे तस्मिन्नन्दि विधानावसरे शेखः अबलफैजनामा रूपकाणां ‘रूपया’ इति प्रसिद्धानां षट्शतीं षट्शतानि रूप्यटङ्कानां प्रमुदितो हृष्टः परस्परमैत्र्यात् अश्वदानमादौ येषां तेऽश्वदानादयः प्रकारास्तैः कृत्वा अर्थिना याचकानां विश्राणयामासिवान् प्रददाति स्म । किंभूतः शेखः । भक्तः । कः इव । श्राद्ध इव । यथा भक्तश्राद्धोऽपि कस्यचित्खेटस्य योग्यस्य सावोरुपाध्यायपदतन्त्रान्दिकरणादिमहोत्सवे स्वधनमर्थिना विश्राणयति स्म ॥

साहेः पर्षदि शेखादिपार्षद्यजुषि स प्रभुः ।

अजैषीद्वादिनो वादे मुनिसुन्दरसूरिवत् ॥ २९३ ॥

प्रभुर्विजयसेनसूरिः साहेरकब्बरधरणीरमणस्य पर्षदि सभायाम् । किंभूताया पर्षदि ।

शेखः अबलफैजनामा साहिसामन्तः स एवादौ येषां तादृशान्पार्षद्यान् सभ्यान् जुषते भजते तद्विधाया वादिनस्त्रिषष्टिः त्रिशती ब्राह्मणान् वादविधायिन प्रतिवादीभूतान् सम-
स्तानपि अजैषीत् पराजयति स्म । उक्तियुक्तिप्रत्युक्तिभिर्निरुत्तरीकृतवानित्यर्थः ।
किवत् । मुनिसुन्दरसूरिवत् । यथा श्रीमुनिसुन्दरसूरिस्तैरभुक्तीय पण्डित शताष्ट-
केन कचिदष्टाधिकसहस्रेण वर्तुलिकावधानेन अजयत्पराबभूव ॥

साहिः सवाईविजयसेनसाधुविधोरिदम् ।

विरुदं हीरसूरीन्दोर्जगद्गुरुरिवाददात् ॥ २९४ ॥

साहिरकब्बरो विजयसेनसाधुविधो सूरीन्द्रस्य सवाईविजयसेनसूरेरिद विरुद-
मददादत्तवान् । कस्येव । हीरसूरीन्दोरिव । यथा श्रीहीरविजयसूरेर्जगद्गुरुरिद साहि-
प्रददौ ॥

वादिना विजयोदन्तं श्रुत्वा तं मुमुदे गुरुः ।

तस्य विष्णोरिवाशेषद्विषामानकदुन्दुभिः ॥ २९५ ॥

गुरुर्हीरविजयसूरिस्तस्य विजनसेनसूरेस्त वादिना विजयस्य निरुत्तरीकरणस्योदन्त
वृत्तान्तं श्रुत्वा मुमुदे जहर्ष । क इव । आनकदुन्दुभिरिव । यथा विद्यावरान्वशीकृत्य
वैताल्यादागतो वसुदेवो विष्णोर्नारायणस्य अशेषद्विषा समग्रशिशुपालजरासधप्रमुख-
विद्वेषिणा पराभवोदन्तमाकर्ण्य मोदते स्म ॥ इति विजयसेनसूरेर्वादे विजया स-
वाईविरुद च ॥

सूरिर्दीक्षयति स्म सक्षणमिहानेकान्महेभ्याङ्गजा-

न्मूर्तीना च सहस्रशो भगवता चक्रे प्रतिष्ठाः स्वयम् ।

एकच्छत्रमिव व्यधत्त भुवने स्वायंभुव शासन

प्रज्ञाधःकृतगीष्पतिः क्षितिपते राज्यं पुरोधा इव ॥ २९६ ॥

सूरिर्हीरविजयगुरुरिहास्मिन्महीमण्डले सक्षण समहोत्सव यथा स्यात्तथा अनेकान्
बहून् महेभ्याङ्गजान् व्यवहारिनन्दनान्दीक्षयति स्म प्रव्राजयामास । च पुन स्वय-
मात्मना सूरि सहस्रशो बहुसहस्रसख्याना भगवता तीर्थकृता मूर्तीना प्रतिमाना
प्रतिष्ठाश्चक्रे । पुनर्भुवने विश्वे स्वायंभुव जैन शासनमेकच्छत्रमद्वितीयातपत्रमिव व्यधत्त
विदधे । किभूत । प्रज्ञया स्वबुद्ध्या अध कृतस्तिरस्कृतो गीष्पतिर्वृहस्पतिर्येन । क
इव । पुरोधा इव । यथा पुरोहितो बुद्धिमत्तया मन्त्रविद्यादिशक्तिमान् क्षिते पते
स्वनृपस्य मन्त्रतन्त्रादिशक्त्या राज्यमेकच्छत्र विधत्ते सोऽपि प्रतिभापराभूतपुरुहू-
तसूरिः स्यात् ॥

सानन्दं ससुरासुरोरगनरव्रातैः स्वकान्तायुतैः

श्रोतृश्रोत्ररसायनैर्धनरवैर्जेगीयमानां रसात् ।

तद्विश्वत्रयचित्रकृद्गुणगणैरागत्य कर्णान्तिकं

गीतेर्गोचरताममेयसमयं नेतुं प्रणुनैरिव ॥ २९७ ॥

सूरेर्भूधनबोधनादिचरितप्रोद्भूतकीर्तिप्रथां

प्रीत्याकर्ण्य शिरोविघूर्णनपरे जातेऽखिले विष्टपे ।

श्रोतुं सोत्सुकमानसो दशशतीमक्षणामिवाखण्डलः

कर्णानाममरावतीविरचितावासाद्वृणीते विधेः ॥ २९८ ॥

आखण्डल पुरंदर अमरावत्या स्वनगर्या विरचितः कृत आवासो गृह येन तादृशा-
द्विधेर्विधातु सकाशात् कर्णानां श्रवणानां दशशतीं सहस्रं वृणीते याचतीव । केषामिव ।
अक्षणामिव । यथा मम नयनानां दशशती वर्तते तथा श्रुतीनामपि दशशतीं कुरु ।
कस्मिन् सति । सूरेर्हीरगुरोर्भूधनोऽकब्बरसाहिस्तस्य बोधनं प्रतिबोधविधानं तत्प्रमुखं
चरितं चरित्रं तस्मात्प्रोद्भूता प्रकटा जाता कीर्तिप्रथा यशोविस्तारं प्रीत्या प्रमोदेना-
कर्ण्य श्रुत्वा । अखिले समस्तेऽपि विष्टपे विश्वे शिरोविघूर्णनपरे चेतश्चमत्कारितया
स्वमूर्धविधूननतत्परे जाते सति । कीर्तिप्रथा किं क्रियमाणाम् । रसाद्रागात् । रसो रागे-
ऽनेकार्थ्याम् । स्वेषामात्मनां कान्ताभिः स्त्रीभिर्युतैः सहितैः सुरसहिता ये असुरा दानवा
उरगा नागा नरा मनुष्यास्तेषां व्रातैर्दृष्टैः सानन्दमानन्दकलितं यथा स्यात्तथा श्रोतृणां
श्रोत्रेषु कर्णेषु रसायनसदृशैर्धनैर्निबिडैस्तारतरैर्वा रवैर्जंगीयमानामतिशयेन गीता नर-
व्रातैः । उत्प्रेक्ष्यते—विश्वत्रयस्य त्रैलोक्यस्य चित्रकृद्भिरतिशयाश्चर्यविधायिभिर्गुणानां
गणैः कर्णान्तिकं आगत्य श्रवणसमीपे समेत्य मातु योग्यो मेयो न मेयोऽमेयो गलिता-
वधिसमयं यावद्गीतेर्गानस्य गोचरता नेतुं प्रापयितुं प्रणुनैरिव प्रेरितैरिव ॥ युग्मम् ॥

सूर्याचन्द्रमसौ पुनर्दिनतमीनिर्माणदम्भादिदं

शुश्रूषारसिकायितानिशमनोवृत्ती इव आम्यतः ।

भर्ता भोगभृता तदाश्रवभवन्निर्वेदमेदस्विह-

न्मन्द स्वश्रुतिनिर्मितावपि शतानन्दं निनिन्दात्मना ॥ २९९ ॥

पुनरपरार्थे सूर्याचन्द्रमसौ भानुविधू दिनानां तमीनां रात्रीणां निर्माणं करणम् । सूर्यो
दिनान् चन्द्रो रात्रीं कुरुते । तस्य दम्भात्कपटाद्भ्राम्यतः पर्यटतः । उत्प्रेक्ष्यते—इदं
शुश्रूषायां कीर्तिप्रथां श्रोतुमिच्छायां रसिकवदाचरिते अनिशं निरन्तरं मनसो वृत्तिर्व्या-
पारो ययोस्तादृशाविव । अपि पुनस्तदाश्रवणेन भवन्नुत्पद्यमानो यो निर्वेदः खेदस्तेन
मेदस्वि मेदुर पुष्टं भूतं हृत् हृदयं यस्य तादृशो भोगभृता नागानां भर्ता स्वामी ना-
गेन्द्रः स्वस्यात्मनः श्रुतीनां कर्णानां सहस्रफणत्वात्कर्णबाहुल्यस्य निर्मितौ विधाने
मन्दमलसं मूर्खं वा शतानन्दं जगत्कर्तारमात्मना स्वेनैव निनिन्दं पर्वदि गर्हणामकरोत् ॥

विद्मो मन्दरकंदरैः प्रतिरवैः प्रोत्साहिताः किनराः

यत्कीर्तिं युवतीकृतानुवदनाः प्रीतेरुपावीणयन् ।

सिद्धा रोधसि सिद्धसिन्धुसुदृशो योषानुषङ्गा जगू

रङ्गत्तुङ्गतरङ्गसङ्गजरवैः स्थानं ददत्या इव ॥ ३०० ॥

युवतीभिः स्वकान्ताभिः किनरीभिः कृतमनुवदनं समं गानं येषां तादृशाः किनराः पुरुषाः प्रीतेः स्वतन्त्रानन्दाद्यत्कीर्तिमुपावीणयन् वीणया वादनपूर्वकं गायन्ति स्म तत्र वयमेव विद्मो जानीमः । उत्प्रेक्ष्यते वा—मन्दरकंदरैर्मन्दरीभिः प्रतिरवैर्जगज्जन-गानतारतरध्वनिप्रतिध्वनितैः कृत्वा प्रोत्साहिता गातुमुत्कण्ठा प्रापिता इव । ‘मन्दर-कंदरासु शयितानुत्थापयन्किनरान्’ इति चम्पूकथायाम् । पुनः सिद्धा देवविशेषास्ते सिद्धानां सिन्धुसुदृशः समुद्रपत्न्या नद्या एतावता गङ्गायाः । ‘सिद्धस्वः स्वर्गिस्वापगा’ इति हैम्याम् । रोधसि तीरे जगुर्गायन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—रङ्गन्तश्चलन्तो ये तुङ्गा अत्युच्चतमास्तरङ्गा कल्लोलास्तेषां परस्परं सङ्गाज्जाता ये रवाः कोलाहलाकलितगम्भीर-धीरध्वनयस्तैः कृत्वा स्थानं ददत्या स्वरं पूरयन्त्या इव । जिगासता हि प्रथमं स्थानं दीयते, रागाद्यालापः वादित्रादिध्वनिश्च विधीयते, तत्स्थानम्, तदनु च गायनो गायति इति गीतिरीतिः । सिद्धाः किभूताः । योषानुषङ्गा स्त्रीणामनुषङ्गो येषाम् । सस्त्रीका इत्यर्थः ॥

तद्गङ्गागिरिराजयत्पिबजनानुव्याः स्तुवन्त्यो मुहुः-

स्वर्गे स्वर्गिमृगीदृशो निजजनि निन्दन्ति मन्दाशयाः ।

मोहात्प्राक्परिकल्पितप्रियतमार्धाङ्गानुषङ्गादिमा

श्रोतुं कापि न गन्तुमीश्वरतया स्वः शैलजाक्रोशति ॥ ३०१ ॥

सैव कीर्तिप्रथैव गङ्गा मन्दाकिनी तस्या गिरिराजो हिमाचल एवोत्पत्तिस्थानं यः सूरिस्तः पिबन्ति सादरं पश्यन्ति तादृशान् जनान् भूमण्डलजन्मनो लोकान् मुहुर्वारवारं स्तुवन्त्यः प्रशंसन्त्यः श्लाघमानाः स्वर्गिमृगीदृशः सुराङ्गनाः स्वर्गे देवलोके निजजनिं स्वावतारं निन्दन्ति तद्दर्शनाभावाद्गृह्णन्ति । किभूताः । मन्दाशयाः प्रभोरन्यभुवनस्यायुक्तत्वेन दर्शनमलभमाना अतः एव मन्दीभूतमनसो जडभावमुपगताः । तथा मोहादज्ञानात् । ‘सोऽहं हसायितुं मोहात्’ इति चम्पूकथायाम् । मोहशब्देनाज्ञानम् । अयं च मोहात्प्रेमातिरेकात्प्राक् प्रथमं परिकल्पितं कृतं प्रियतमस्य अतीष्टस्य भर्तुश्च हरस्यार्वाङ्गेन सामिश्ररीरेण सममनुषङ्गं सबन्धं तस्मात्स्वार्वाशरीरमीश्वराङ्गे स्यूतमतोऽर्वाङ्गी गौरीति प्रसिद्धिः । तत्कारणादिमा सूरिकीर्तिं कापि श्रोतुं कर्णगोचरीकर्तुं नेश्वरतया न समर्थत्वेन स्वमात्मानं शैलजा पार्वत्यपि स्वमोहमाक्रोशति धिक्कुरुते । हा मया अविचारचतुरया वृथैव हाराङ्गेन स्वाङ्गं स्यूतम्, गीतिप्रीतिमत्तापि कापि हरेण विना हन्तुं न शक्तेति ॥

यत्कीर्तिं नरनिर्जरोरगवधूप्रारब्धनूतस्तुतिं

श्रुत्वास्यामनुरागिता त्रिभुवने विभ्रत्यदभ्रा हृदा ।

शर्वाणीरमणस्तदश्रवणतो मूर्धस्थसिद्धापगां

कुर्वाणा बधिरत्वमुद्धररवैस्तारङ्गजैर्गर्हते ॥ ३०२ ॥

शर्वाणीरमण पार्वतीपतिर्हीरस्तस्या सूरिकीर्तेरश्रवणत अनाकर्णनात्तारङ्गजै तरङ्गाणा समूहास्तारङ्गा , तारङ्गेभ्यो जायन्ते स्मेति तारङ्गजास्तै । यथा पद्मसुन्दरकविकृत-भारतीस्तवे—‘वार वार तारतरस्वरनिर्जितगङ्गातारङ्गा ’ इति । उद्धररवैरत्युद्धरध्व-निभिर्बधिरत्व कर्णयोर्बाधिर्यं कुर्वाणा मूर्धस्थसिद्धापगा स्वमस्तकस्थायुकभागीरथी गर्हते । अस्या जडाशयाया प्रोल्लसत्कल्लोलकोलाहलपुर किमपि क्वापि श्रोतु न श-क्यते इति निन्दति । कस्मिन्सति । त्रिभुवने जगत्रये सति । किं कुर्वति त्रिभुवने । अस्या सूरिकीर्ते हृदा मानसेन कृत्वा अदभ्रामतिशायिनीमनुरागिता रागयुक्तवत्ता विभ्रति दधाने । किं कृत्वा । नरा नागरा , निर्जरा सुरा , उरगा नागा , तेषा वधूभि अङ्गनाभि प्रारब्धा प्रमोदादुपक्रान्ता । ‘प्रारम्भ प्रोपत क्रम ’ इति हैम्याम् । नूता अभिनवा स्तुतय स्तवनानि यस्या तादृशी यस्य हीरसूरे कीर्तिं श्रुत्वा श्रवणगो-चरीकृत्य ॥

नैता श्रोत्रवतंसिकां विरचयन्सृष्टेर्विनिर्माणतो

वैयग्र्येण कुलालमेव मनसा मेने निजं नाभिभू ।

त्रैलोक्यस्तुतिपारवर्तिविभवा संस्तोतुमेता गुरुः

सजज्ञे गतगौरवः कविरपि प्रापाकवित्वं पुनः ॥ ३०३ ॥

सृष्टेर्विश्वसर्गस्य निर्माणत करणाद्वैयग्र्येण व्यग्रभावेन एता सूरिकीर्तिं श्रोत्रयोरात्म-कर्णयोरवतसिका कर्णपूरताम् । ‘विदर्भसुभ्रूश्रवणावतसिका’ इति नैषधे । न विरचयन्न कुर्वाण । न शृण्वन्नित्यर्थः । नाभिभूर्ब्रह्मा निजमात्मानं कुलाल कुम्भकारमेव मेने । कुम्भकारो हि भाण्डकरणव्यग्रतया किमपि श्रोतु न शक्नोति । पुनत्रैलोक्यस्य त्रिभुव-नस्यापि स्तुते स्तवनस्य पारे अगोचरे वर्तते इत्येवशीलो विभवो यस्य । विश्वत्रयस्यापि स्तुतिगोचरामित्यर्थः । एता सूरिकीर्तिं संस्तोतु वर्णयितुं गुरुं बृहस्पतिर्गत गौरव माहात्म्य वाचस्पतिता वा यस्य तादृश सजज्ञे सजात । तथा कविः शुक्रोऽपि काव्यकर्तापि अकवित्वं मूर्खत्वं न काव्यकर्तृत्वं प्राप ॥

निर्विण्णा इव जज्ञिरेऽश्रवणतस्तस्या मदप्रोद्धुर-

स्वाशासिन्धुररुन्धनादहरहः स्वान्ते महेन्द्रा दिशाम् ।

निद्रामुद्रितलोचनं जलनिधौ निध्याय ताक्ष्यध्वज

स्वच्छन्देन्दुमुखीव ता प्रतिगृहं शुश्राव सिन्धोः सुता ॥ ३०४ ॥

दिशां महेन्द्रा दिक्पालाः । 'पति' प्रतीच्या इति दिङ्महेन्द्रै ' इति नैषधे । अहरह-
निरन्तरं मदेन प्रोद्धुराणा मदोन्मत्तानां स्वाशासिन्धुराणा निजनिजदिग्गजाना रुन्ध-
नात्स्वस्थीकरणादेकत्र स्थाने रक्षणाद्वा तस्या सूरिकीर्तेरश्रवणतोऽनाकर्णनात्स्वान्ते
मनसि निर्विण्णा खेदखिन्ना इव जज्ञिरे जाताः । पुनः सिन्धोः सुता समुद्रस्य
पुत्री लक्ष्मीस्ता कीर्तिं प्रतिगृह सर्वेष्वपि मन्दिरेषु शुश्राव शृणोति स्म । यदु-
क्तम्—'सायर वप्प मुरारिपिय चदसरीसा भाउ । लच्छी हींडइ घरघरि महिला
एह सहाउ ॥' केव । स्वच्छन्देन्दुमुखीव । यथा स्वच्छन्दचारिणी विलासिनी प्रतिगृह
वार्तादिक श्रुतिविषयीकुरुते । किं कृत्वा । जलनिधौ पारावारे निद्रया स्वापेन मुद्रिते
भीलिते लोचने नयने यस्य तादृश ताक्ष्यध्वज गरुडकेतु कृष्ण कान्त निध्याय दृष्ट्वा ॥

स्वच्छन्दं त्रिजगद्विलासरसिकां कीर्तिं व्रतिक्षमापतेः

सदृब्धोद्धुरतानगानवनितावक्रामृतार्चिःसुधाम् ।

सोत्कण्ठं पिबतामकुण्ठमनसां विश्वत्रयीजन्मिनां

प्राप्तानुत्तरसंमदा इव तदा संजज्ञिरे वासराः ॥ ३०९ ॥

तदा तस्मिन्नवसरे विश्वत्रयीजन्मिना स्वर्लोके पाताललोके भूर्लोके च जन्मास्त्ये-
षामिति विश्वत्रयीजन्मिना सुरासुरनराणा वासरा दिवसा प्राप्तो लब्धो न विद्यते
उत्तरोऽग्रेतन. पदार्थ कोऽपि यस्मादसाधारण समदो नन्दो येषु तादृशा इव संजज्ञिरे
सजाता । किभूतानां विश्वत्रयीजन्मिनाम् । अकुण्ठमनसा तदेकतानचित्ताना च ।
कि कुर्वताम् । व्रतिक्षमापते हीरविजयसूरिराजस्य कीर्तिमेव सदृब्धानि विरचितानि
उद्धुरानि अतिशायीनि तानानि आलापविशेषा येषु तादृशानि गानानि यासां तानयु-
क्तगानानि याभिर्वा तादृशीना वनिताना निजयुवतीना वक्राणि वदनानि एवामृतार्चिषा
चन्द्राणा सुधा पीयूषरस सोत्कण्ठ सह उत्कण्ठया वर्तते यत्तत् पिबतामास्वादयता सादर
शृण्वताम् । किभूता कीर्तिम् । स्वच्छन्द स्वेच्छया निरङ्कुश त्रिजगति त्रिभुवनमध्ये
यो विलासो विविधक्रीलाकरण तत्र रसिका सरसामुत्सुका वा ॥ इति सूरिकीर्तिवर्णनम् ॥

यं प्रासूत शिवाह्वसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

पुत्रं कोविदसीहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलेनानन्दतो निर्मिते

वृत्ते हीरगुरोश्चतुर्दशमितः सर्गो बभूवानसौ ॥ ३०६ ॥

पण्डितदेवविमलगणिना आनन्दत आह्लादान्निर्मिते विरचिते हीरगुरो श्रीहीरवि-
जयसूरेवृत्ते चरिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये असौ पूर्वव्यावर्णितस्वरूप एव चतुर्द-
शत्वेन चतुर्दशसख्यया वा मित प्रमाणता प्रापित गणित सर्ग. काव्यरचनमयाधिका-
रविशेषः बभूवान् । कसुप्रयोग. । सजात इति ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलविरचितायां स्वोपज्ञहीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्यवृत्तौ अकब्बरगोष्ठीबन्दिपञ्जरपक्षिमोचनमृगयानियमनसकलजन्तुजातसिद्धोभयनिर्भयकथनालापसुखानुभवनसोरीपुरमथुरागोपगिरियात्रानागपुरशिवपुरीप्रतिष्ठापूर्वकचतुर्मासककरणगुर्जरागमनजेजीयाकरमोचनामारिप्रवर्तनशत्रुजयपर्वतार्पणफुरमानादिप्रदानकीर्तिवर्णनादिवर्णनो नाम चतुर्दश सर्गः ॥

पञ्चदशः सर्गः ।

अथ सुहृद इव स्वं सारवस्तु प्रदत्तं
प्रमुदितहृदयेनाकब्बरोर्वीमघोना ।

श्रमणधरणिभृत्तल्लाभमादातुकामो

विमलशिखरिरत्नं प्रेक्षितुं काङ्क्षति स्म ॥ १ ॥

अथ शत्रुजयप्रदानस्फुरमानागमनानन्तर श्रमणवरणिभृत्सूरिराज विमलनामा श्रीशत्रुजयाभिधानः स एव शिखरिषु सर्वपर्वतेषु रत्न सकलतीर्थाधिराजत्वात् । यथा स्नातस्यास्तुतौ—‘मन्दररत्नशिखरे’ इति । प्रेक्षितुं दृग्गोचरीकर्तुं काङ्क्षति स्म वाञ्छति स्म । रत्नस्य हि प्रेक्षणं युक्तमेव । किं कर्तुकामः । तस्माद्विमलाचलात्सकाशाल्लाभमधिकफलयात्रया कृत्वा सुकृतोपार्जनात्कर्मक्षयाद्वा मोक्षप्राप्तिरूपं च आदातुकामो गृहीतुमनाः । किंभूतं विमलशिखरिरत्नम् । प्रमुदितहृदयेन हृष्टमानसेन अकब्बरोर्वीमघोना अकब्बरपातिसाहिना स्व स्वकीय तस्य सौराष्ट्राधिपतित्वात्सारवस्तु सम्यक्पदार्थं धनरूपं वा प्रदत्तमर्थात्सूरीन्द्राय विश्राणितम् । कस्येव । सुहृद इव । यथा केनापि सौहार्दभाजा सुहृद स्वमित्रस्य सारवस्तु प्रदीयते ॥

विदलयितुमिवान्तर्वैरिषड्वर्गमुच्चै-

र्विधिवदुपचरद्भिः षड्विधीन्ब्रह्ममुख्यान् ।

प्रतिविमलगिरीन्द्रं भव्यलोकैः परीतो

व्रतिपतिरथ यात्रां कर्तुकामः प्रतस्थे ॥ २ ॥

अथ दर्शनाकाङ्क्षानन्तर व्रतिपतिर्हीरविजयसूरि विमलगिरीन्द्रं प्रति श्रीशत्रुजयशिलोच्चयसमुखं प्रतस्थे प्रतिष्ठते स्म प्रचलति स्म । किंभूतः । भव्यलोकैः विमलाद्रियात्राभिलाषुकभविकजनैः परीतः परिवृतः परिवारितो वा । भव्यलोकैः किं कुर्वद्भिः । विधिवदागमोक्तप्रकारेण ब्रह्म शील मुख्य प्रकृष्टमादिर्वा येषु तादृशान् षट्सख्याकान् । ‘एकाहारी भूमिसस्तारकारी पद्भ्या चारी शुद्धसम्यक्त्वधारी । यात्राकाले सर्वसच्चित्तहारी पुण्यात्मा स्यात्सत्क्रियो ब्रह्मचारी ॥’ इति । विधीनाचारविशेषान् उपचरद्भिः सेवमानैः कुर्वद्भिर्वा । उत्प्रेक्ष्यते—उच्चैरतिशयेन । मूलादित्यर्थः । अन्तरित्यव्ययम् । मध्य-

स्थायुकानामन्तरङ्गाणामित्यर्थः । वैरिणा शत्रुभूतानां परमप्रत्यर्थिनामनर्थकारित्वात् । क्रोधमानमायालोभरागद्वेषरूपाणां षड्वर्गं षण्णां वर्गं देहिना महादुःखदायित्वात्सर्वेषामपि सादृश्यम् । ‘वर्गस्तु सदृशाम्’ इति हैमीवचनात् । विदलयितुमिव ॥

नगरनिगमदुर्गग्रामसारामसीमा-

गहनगुरुगिरीन्द्रालङ्घ्यमानः क्रमेण ।

किममृतकमलायाः केलिशैलं क्षमाया

श्रमणधरणिशक्रः सिद्धिशैलं ददर्श ॥ ३ ॥

श्रमणानां तपस्विना मध्ये धरणिशक्रो राजा । धरणिशब्दो दीर्घो ह्रस्वोऽप्यस्ति । पूर्वं लिखितोऽस्ति ग्रन्थोक्तेन । सूरिराजः सिद्धिशैलं शत्रुजयगिरिं ददर्श पश्यति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—क्षमाया भूमौ अमृतमुक्तिं सैव कमला लक्ष्मी तस्या केलिशैलं क्रीडाकरणार्थं पर्वतमिव । अत्र सिद्धिश्रीः स्वैर रमते । सूरिः किं कुर्वाणः । क्रमेण विहारपरिपाठ्या नगराणि महत्पुराणि देशेषु मुख्यपुराणि राजधानीरूपाणि वा, निगमा नगरस्थानविशेषा बृहद्वर्णिकस्थानकानि वा, दुर्गा दुःखेन गम्यन्ते अध्यास्यन्ते इति दुर्गाः कोट्य विषमस्थानानि वा, ग्रामा अल्पचातुर्याणि लघुपुराणि सनिवेशा वा, सहारामैः कृत्रिमवनैरुद्यानैरुपवनैर्वा वर्तन्ते यास्तादृश्यं सीमा पुरबाह्यपरिसरभूमयो नगर्यो विभागकृद्भुवो वा, गहनानि शैलसमीपविषमप्रदेशागतवनानि सकीर्णानेकपादपपटलशाखाविशेषा प्रविष्टार्ककिरणदुःसंचारकान्तारा वा, गुरवोऽतितुङ्गशृङ्गा गिरीन्द्रा महाशैलास्तालङ्घ्यमाना अतिक्रामन् ॥

अथ सिद्धिशैलं विशिनष्टि—

नयनपुटनिपेयामाश्रयन्काययष्टी

किमु सुकृतसमूहो भारतक्षेत्रभाजाम् ।

निखिलविषयभूषामोषिसौराष्ट्रलक्ष्म्या

यदवनिधरदम्भाच्चारुचूडामणिर्वा ॥ ४ ॥

उत्प्रेक्ष्यते—यदवनिधरदम्भावस्य श्रीशत्रुजयशैलस्य व्याजाद्भारतं नाम जम्बूद्वीपमध्यभागस्थमन्दरगिरिदक्षिणदिक्प्रान्तविभागवतिलवणाम्भोविसनिविवर्ति च क्षेत्रवर्षं भजन्ते जन्मना श्रयन्ते इति भरतक्षेत्रोत्पन्नानां नराणामित्यर्थः । सुकृतसमूहः किमु पुण्यराशिरिव । किभूतः सुकृतसमूहः । नयनानि भविकलोलोचनानि एव पुटानि । पर्णभाजनानि तैर्निरन्तरं पेया पातु सादरमवलोकयितुं योग्या काययष्टी तनुलताम् । ‘स्याहोर्भूय कणसमुचितं काययष्टीनिकाय’ इति नैषधे । आश्रयन् बिभ्रत् वा । अथ वा निखिला समस्ता ये विषया देशाः । ‘विषयस्तूपवर्तनम् । देशो जनपदो नीवृत्’ इति हैम्याम् । तेषां भूषा शोभा मुष्णाल्यपहरतीत्येवशीलं सौराष्ट्रनामा देशः शत्रुजय-

यात्रासमागतभरतचक्रवर्तिप्रदत्तापरनामधेयो देवदेश इति तस्य लक्ष्म्या श्रिय यद्वि-
मलशैलच्छलाच्चारुः सर्वालकारेभ्यो विशेषभूतश्रूडामणि शिर शिखामणिरिव ॥

अमितरजतरत्नस्वर्णशृङ्गैरसंख्या-

निमिषशिखरिखण्डैः स्वःसदां सन्नभिश्च ।

त्रिजगदुपरिभूमीलम्भना येन मेरु-

विजित इव बभूव व्रीडयानक्षिलक्ष्यः ॥ ५ ॥

येन शत्रुजयगिरिणा विजित पराभूत सन् । उत्प्रेक्ष्यते—मेरु सुवर्णाचलो व्री-
डया लज्जया कृत्वा न अक्ष्णोर्नयनयोर्लक्ष्यो निरीक्षितु योग्योऽनक्षिलक्ष्योऽदृश्यो बभूव
जायते स्म । क इव । येन । किभूतेन । त्रिजगता त्रयाणा पातालभूमिस्वर्गलक्षणाना
भुवनानामुपरिभूमी लोकाग्रवर्तिस्थान मुक्तिलक्षण लम्भयति प्रापयति इत्येवशीलस्तेन ।
'सर्वेषामपि शैलानामुन्नतो विमलाचल । यदारोहेण लोकाग्र प्राप्यते बालकैरपि ॥' इति
पूर्वाचार्यस्तुतिवचनात् । विजित । कैः कृत्वा । न मीयन्ते प्रमाणीक्रियन्ते स्वबुद्ध्या वि-
दग्वैरपीत्यमितानि । गणनातीतानीत्यर्थः । रजताना रूप्यरत्नाना विविधमणीना स्व-
र्णाना काञ्चनाना शृङ्गाणि शिखराणि तैः । पुनर्न विद्यते सख्या गणना मान येषा तान्य-
सख्यानि अनिमिषाणा देवाना शिखरिणा वृक्षाणा खण्डानि काननानि तैः । 'स्यात्ख-
ण्ड कानन वनम्' इति हैम्याम् । पुन स्व सदा सुराणा सन्नभिर्नगरैर्मन्दिरैश्च । 'गौ-
द्विदिवमूर्धलोकः सुरालय' इति हैम्याम् । मेरुस्तु स्वप्रमाणोच्चप्रदेशे प्रापयति नोप-
रितनविभागे । तथा मितान्येव शृङ्गाणि बिभर्ति तान्यपि रत्नानामेव रत्नसानुत्वात् ।
तथा भद्रसालनन्दनसौमनसपाङ्कनामानि चत्वार्येव वनानि वत्ते । तथा एकमेव सुरगृह
कलयति । यदुक्तम्—'दिवमङ्गादमराद्रिरागताम्' इति नैषधे । अधः शत्रुजयाद्रिणा
स्वाभ्यविकवैभवेन मेरुर्निर्जितस्तद्युक्तमेव ॥

शिखरिमणिविनिर्यज्ज्योतिरुज्जृम्भमाणा-

अनविपिनविनीले व्योम्नि यस्यावभासे ।

अतुलचटुलभावं स्वं परित्यज्य नित्य

तडिदिव निवसन्ती वल्लभाम्भोधराङ्गे ॥ ६ ॥

उज्जृम्भमाणा पुष्पपल्लवादिभिर्विकसितभाव भजन्ते येऽञ्जना. अञ्जननामानो वृक्षवि-
शेषा । 'केचित्प्रभञ्जना इव पापार्धिकजना खण्डिताञ्जनावरप्रवाला' इति चम्पूकथा-
याम् । 'अञ्जना सुन्दरी पत्नी अञ्जनद्रुमश्च । अधरोष्ठपल्लव अवस्तनकिसलय च' इति
तद्वृत्तिः । तेषा विपिनानि तद्वद्विनीले अतिश्यामले व्योम्नि नभस्तले यस्य शत्रुजयाद्रे
शिखराणामुत्तुङ्गशृङ्गाणा मणिभ्यो रक्तपीतरत्नेभ्यो विनिर्यन्नि सरदृशदिगङ्गानि व्याप्नुव-
ज्ज्योतिः कान्तिरावभासे शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—स्वमात्मीयमतुलमतिशयितमतिघन

चटुलभाव चापल परित्यज्य विहाय वल्लभस्य स्वभर्तुः अम्भोधरस्य प्रावृषेण्यपयोदस्य
अङ्गे उत्सङ्गे । 'चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्र' इति मेघदूतकाव्यम् । विद्युतो मेघकल-
त्रत्वमुक्तम् । तथा 'प्रिये मदुत्सङ्गविभूषण भव' इति नैषधे । वल्लभाया वल्लभस्य क्रोडे
उपवेशन दृश्यते । निवसन्ती वाल्म्येन वितिष्ठमाना तडिद्विद्युदिव ॥

क्वचिदपि कलधौतप्रस्थसंस्थानगाहि-

प्रवहदविरलाम्भोनिर्झरस्फारधारा ।

तुहिनशिखरिशृङ्गोत्सङ्गरङ्गत्प्रवाह-

द्युसदधिपनदीवाद्वैतशोभां बभार ॥ ७ ॥

क्वचिदपि शत्रुजयशैलस्य कुत्रापि स्थानके कलधौतस्य रजतस्य प्रस्थ शिखर तदेव
संस्थान सम्यगाश्रयस्तदवगाहन्ते अवितिष्ठन्तीत्येवशीला , तथा प्रकर्षेण वहन्ति प्रस-
र्पन्ति, तथा अविरलानि अविच्छिन्नधाराधोरणानि अम्भांसि जलानि येषु तादृशाना
निर्झराणा स्फारा अत्युदारा दृश्यमाना नयनानन्ददायिन्यो धारा महत्प्रमाणाधोनिष्पत-
त्पयःप्रवाहा अद्वैतामसाधारणा शोभा बभार धत्ते स्म । केव । तुहिनशिखरिणो हि-
माचलस्य शृङ्गस्य शिखरस्य उत्सङ्गे क्रोडे मध्ये वा रङ्गन्प्रसर्पन् प्रवाहो निरन्तरपय पूरो
यस्यास्तादृशी । दिवि सीदन्त्यवतिष्ठन्ते इति द्युसदो देवास्तेषामधिप पुरंदरस्तस्य नदी
सरिद्रङ्गेव । यथा देवनदी तथा देवेन्द्रस्यापि नदी । यदुक्तम्—'सुरेन्द्रतटिनीतीरेषु
सिद्धाङ्गना' इति भोजप्रबन्धे ॥

जलधिभवनजम्भारातिसारङ्गचक्षु-

र्दिगवनिधरमूर्धालम्बिबिम्बौ दिनादौ ।

रजतकनकराजत्कर्णपूराविवैत-

द्विमलगिरिरमायाः पुष्पदन्तौ विभातः ॥ ८ ॥

जलधौ सागरे भवन गृह यस्य स वरुण । 'वरुणस्त्वर्णवमन्दिरप्रचेता' इति है-
म्याम् । जम्भस्य दानवविशेषस्य अराति शत्रुरिन्द्रस्तयो सारङ्गचक्षुषी प्रिये तादृश्यौ
दिशौ प्रतीचीप्राच्यौ । 'वरुणगृहिणीमाशामासादयन्तममु रुची-', तथा 'निजमुख-
मित स्मेर धत्ते हरेर्महिषी हरित्' इति पदद्वयमपि नैषधे । तयोर्दिशोरवनिधरौ प-
र्वतौ अस्ताचलोदयाद्री तयोर्मूर्धानौ मस्तकशिखरे आलम्बेते आश्रयेते तादृशौ बिम्बौ
मण्डलौ ययोस्तादृशौ पुष्पदन्तौ शशिभास्करो । 'पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोत्तया शशि-
भास्करो' इति हैम्याम् । दिनादौ पूर्णिमादिके कापि प्रातः काले विभातः । उत्प्रेक्ष्यते—
एतस्य विमलगिरे शत्रुजयाद्रे रमायाः लक्ष्म्या रजतेन रूप्येण तथा कनकेन काञ्चनेन
कृत्वा राजन्तौ रूप्यस्वर्णनिर्माणेन शोभमानौ दीप्यमानौ कर्णपूरौ श्रवणौ पूर्येते
आभ्यामिति कुण्डले इव ॥

निखिलभुवनभारोद्धारनिर्वेदभाजा

भुजगपरिवृढेनानेकविज्ञप्तिकाभिः ।

भरभरणधुरीणोऽशेषनीरेशनेमेः

किमयमिह महीध्रः कारितो विश्वकर्त्रा ॥ ९ ॥

भुजगाना नागाना परिवृढेन स्वामिना शेषनागेन अनेकाभिर्विविधप्रकाराभिर्विज्ञप्ति-
काभिरञ्चलप्रसारेण दीनतादर्शनमुखाङ्गुलीप्रेक्षणचटुभाषणप्रमुखविज्ञपनै कृत्वा । उत्प्रे-
क्ष्यते—विश्वकर्त्रा जगन्निष्पादकेन धात्रा पार्श्वे इह जगति पृथिव्या अय महीध्र एष
शत्रुजयाद्रि । कि कारित । निर्मापित इव । किभूतेन । निखिलस्य समग्रस्य भुवनस्य
भूलोकस्य भारो वीवधस्तस्योद्दारेणोद्बहनेन कृत्वा निर्वेद मनसि विपाद खेद वा भजतीति
तेन । अय किभूतः । अशेषायाः समस्ताया नीराणां जलानामीश स्वामी समुद्रः ।
'स्रोतोवार्नदीश सरस्वान्' इति हैम्याम् । नेमिश्वक्रधारावद्यस्या परिधीभूतो यस्या-
स्तादृश्याश्चतुरर्णवपर्यन्तपृथिव्या भरस्य भरणे धारणे । 'डुभृन् धारणपोषणयो' इत्यस्य
प्रयोगः । धुरीणौ वुर्यौ धौरेयः ॥

सुरपथपथिकैतत्प्रस्थसंस्थानभोगाः

शशभृदपरभागं प्रेक्ष्य साक्षान्निरङ्गम् ।

किमयमिदमुपास्ते नित्यमभ्येत्य कुर्व-

न्नजनि विगतलक्ष्मेत्यन्तरध्याहरन्ति ॥ १० ॥

सुरपथस्याकाशस्य पथिकेषु पान्थेषु । अभ्रकषेष्वित्यर्थः । एतस्य शत्रुजयाद्रेः प्रस्थेषु
शृङ्गेषु सतिष्ठन्ते इति संस्थाः । क्विबन्तः । तिष्ठन्तीत्यर्थः । नभस्याकाशे गच्छन्तीति
नभोगा सिद्धगन्धर्वविद्याधरसुराः अन्तश्चित्तमध्ये इत्यमुना प्रकारेणाध्याहरन्ति
विचारयन्ति । कि कृत्वा । निर्गतोऽङ्ग कलङ्को यस्मात्स निरङ्गस्त लाञ्छनरहित
शशभृतश्चन्द्रस्यापरभाग यस्मिन्नवस्तने भागे लाञ्छन लक्ष्यते तस्मादन्यम् । उपरित-
नभागमित्यर्थः । साक्षात्प्रत्यक्षेण प्रेक्ष्य व्यालोक्य । एतावता चन्द्रलोकादप्युच्चतमानि
शृङ्गाणि तेषूपविष्टा नभोगाश्चन्द्रस्योपरितन भाग दृशा व्यालोक्य वितर्कयन्ति । इति
किम् । यदय चन्द्रो नित्य सदा अभ्येत्यात्रागत्य इदमुपास्ते श्रीशत्रुजयाद्रेः सेवा कुर्वन्
सन् । उत्प्रेक्ष्यते—विगत प्रयात लक्ष्म लाञ्छन यस्य तादृश किमजनि सजात इव ॥

भुजगभवनमध्यं व्याप्नुवन्स्थूलमूलै-

र्दिवमपि शिखरैः स्वैर्भूवनेनापि भूमीम् ।

इति विमलमहीभृद्भूवःस्वस्त्रयी यो

हरिरिव निजपादैः स्वात्मनाक्रम्य तस्थौ ॥ ११ ॥

यो विमलनामा महीभृत् शत्रुजयाचलः स्वात्मना निजस्वरूपेण कृत्वा भूर्भुवःस्वस्त्रयी पातालभूमण्डलस्वर्गलोकत्रिकमाक्रम्याभिव्याप्य तस्थौ स्थितवानास्ते । क इव । हरिरिव । यथा नारायणो निजैः स्वकीयैः त्रिभिः पादैः क्रमैः कृत्वा त्रैलोक्यमाक्रम्य तिष्ठति स्म । बलिबन्धावसरे वामनरूपेण बले सकाशात्क्रमत्रिकमिता क्षिति याचितवान्, तस्मिन्व्यतिकरे अतिमहद्रूपमावाय क्रमत्रयेण त्रिजगदाक्रान्तम्, तदा बलिर्बद्धा पाताले क्षिप्तः । तदशो नैषधे यथा—‘हरेर्यदक्रामि पदैककेन ख पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य न । त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्वनम कृतक्रमैः ॥’ ‘यत्स्वमाकाश हरेरेककेन पदाङ्घ्रिणा अक्रामि तस्य नभसश्चतुर्भिः पदैराक्रमणे नोऽस्माक हरीणा त्रपा लज्जा इति नम्रित नीचैः कृतमानन यैस्तादृशैः । नामसादृश्यादुत्प्रेक्षा । हरिभिरश्वैरर्धा न सपूर्णा नभसि गगने कृताः क्रमाः फला यैर्न्यवर्ति । नभः क्रमणादित्यर्थः ।’ इति तद्वृत्तिः । यथैकेन क्रमेण खम्, तथा द्वितीयेन पदेन भू, तृतीयेनाङ्घ्रिणा पाताल चेति । अथ गिरेराक्रमण दर्शयति—यः किं कुर्वन् । स्थूलैरतिपुष्टैः पृथुलैर्वा मूलैरधोभागवर्तिस्वप्नदेशैः कृत्वा भुजगानां भवनं गृहं पाताल तस्य मध्यं पातालमूलम् । कैलाश इत्यभिधानत्वात् । अपि पुनर्दिवमाकाशं स्वर्गं वा स्वैरात्मीयैरभ्रलिहैः शिखरैः शृङ्गैः अपि पुनर्भूषणेन स्वशरीरबाहुल्येन देहस्थौल्येन पृथ्वी व्याप्नुवन् ॥

बहलसलिलपूर्णातूर्णयानाभ्रिकाभिः

स्फुरति शिखरमालालम्बिकादम्बिनीभिः ।

विधुमणिरविदीपाञ्जेतुमभ्यागतैर्यः

किमभिलषितदायी सेव्यमानस्तमोभिः ॥ १२ ॥

यो विमलाद्रिः शिखरमाला शृङ्गश्रेणीमालम्बन्ते समाश्रयन्ते इत्येवशीलाभिः कादम्बिनीभिर्घनघटाभिः कादम्बिनीमेघमालाभिर्बहल नीरन्ध्र सवेष्वपि वर्दलेषु विद्यमानत्वेनातिघनं यत्सलिलं पानीयं तेन पूर्णं निर्भरभृता अत एवातूर्णं मन्दसत्वरितं यानं गमनं यासां तादृशोऽभ्रिका वर्दलानि यासु ताभिः । उत्प्रेक्ष्यते—अभिलषितानि निजमनः कामितानि ददातीत्येवशीलो यः शैलो विधुश्चन्द्रो रविः सूर्यः मणयो रत्नानि कर्केतनादीनि प्रभकरादिमानि वा दीपास्तान् जेतुमर्थात्स्वप्रतिपक्षान् पराभवितुं यदेते तमसामुच्छेदविवायिनस्ततस्तेषामभिभवनमुचितमेव । अभ्यागतैर्महात्मनः समीपे समेतैस्तमोभिरन्वकारैरिव सेव्यमानः किमुपास्यमानः ॥

जडिमशितिमवर्षायुष्कलोलस्वभावो-

द्भुरसमिरविरोधोदन्वदभ्यर्थनाद्यम् ।

निजमखिलमसातं हातुमब्दैः समेत्या-

निशनिवसनदम्भात्किं तपस्तप्यतेऽस्मिन् ॥ १३ ॥

अब्दैर्मेघैः समेत्य अत्रागत्य अनिश निरन्तर यन्निवसन निवास स्थितिकरणम् । वर्षानन्तर हि वारिदा कापि गिरौ वसन्तीति कविसमयः । तस्य दम्भात्कपटात् । उत्प्रेक्ष्यते—अस्मिन् शत्रुजये तप उपवसनादि तप्यते किं क्रियत इव । किं कर्तुम् । निजमात्मीयमखिल समस्तमप्यसात दुःख हातुम् । ‘ओहाक् त्यागे’ इत्यस्य प्रयोगः । त्यक्तम् । किंभूतमसातम् । जडिमान जाड्यमज्ञान डलयोरैक्यात् जलमयतां जडा- शयताम्, तथा शितिमान निन्द्यकृष्णभावम्, तथा वर्षायुष्क वर्षाकाले यावज्जीवितव्य- ताम् । ‘शरद्वनात्यय’ इति वचनात् । तथा लोलस्वभावतामस्थिरत्व चञ्चलाशयत्वम् । यदुक्तम्—‘क्षारो वारिनिधि कलङ्ककलुषश्चन्द्रो रविस्तापकृत्पर्जन्यश्चपलाशय स्वयमिहा- दृश्य सुवर्णाचल । काष्ठ कल्पतरुर्दृष्टसुरमणि स्वर्धामधेनु पशु . . . त- त्केन साम्यं सताम् ॥’ इति लोकोक्ते । तथा उद्धुरा उत्कटा प्रबला ये समिरा पव- नास्तैः सह विरोधो वैरम् । यदुक्तम्—‘सज्जन सावन मेहज्यू उन्नहि ए गहगह । पिशु- नपवनभइसंचरे मारिकिएदहवट ॥’ इति । पुनरप्युक्तम्—‘विलपति कृषा सारङ्गोऽयं त्वमुन्नतिमानहो जलमपि च ते सयोगोऽयं कथंचिदुपस्थितः । उपकृतिकृते प्रह्वं चेत कुरुष्व यदग्रतो भ्रमति पवनं कस्त्व कोऽयं क्व ते जलबिन्दवः ॥’ तथा ‘अहह **समीरण दारुण किमिदमाचरितं चरितं त्वया । यदिह चातकचञ्चुपुटोदरे पतति वारि तदेव निवारितम् ॥’ इत्यपि सूक्तोक्ते । समुद्रात्सकाशादभ्यर्थना प्रतिवर्षपानीययाच्ञा परस्मा- दभ्यर्थदानम् । यदुक्तम्—‘अब्दैर्वारिजिघृक्षयार्णवगतैः साकं व्रजन्ती मुहुः’ इति खण्डप्रशस्तौ । तथा मेघा हि समुद्रात्सलिलं याचित्वा भूमण्डले वर्षन्तीति जनश्रुतिः । एते प्रकारा आद्या प्रथमा यत्र तत् ॥

त्रिदिवसदनमार्गोत्सङ्गरङ्गतरङ्गै-

र्मणिचितचयचञ्चद्रोचिषा सचयैर्यः ।

द्युनिशमिह निजाङ्कस्थायुकानां चिकीर्षुः

किमु शरणधुरीणः शाश्वतं सुप्रभातम् ॥ १४ ॥

यः शत्रुजयाद्रिर्मणिभिराभङ्गरप्रभङ्गरादिरत्नैश्चितो व्याप्तो रत्ननिर्मितो यश्च यो वप्र- प्राकारस्तस्य चञ्चता दीप्यमानानां रोचिषा कान्तीनां सचयैः सदोहैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते— इह विश्वे द्युनिशं नित्यं निजस्यात्मनः अङ्गे उत्सङ्गे स्वसमीपे वा स्थायुकानां निवसन- शीलानां स्वापत्यानामिव भविकजनानां शाश्वतमनश्चरं सुप्रभातं शोभनालोकं सिद्ध- शैलत्वाच्चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुरिव । किंभूतैः सचयैः । त्रिदिवे स्वर्गे सदनं गृहम्, अथ वा त्रिदिवं द्यौरेव सदनं येषां ते देवास्तेषां मार्गं पन्थां आकाशस्तस्योत्सङ्गे क्रोडे र-

ङ्गन्तः प्रसर्पन्तः तरङ्गाः प्रसारा येषां तैः । यः किभूतः । शरणे स्वसमीपागतरक्षणे
धुरीणो बलवान् वत्सल आश्रितपालक शरणागतवज्रपञ्जरो वा ॥

घनलसदुपकण्ठा रुक्मरूप्यद्विभागा

पतदुपरिझराम्भा भाति कुत्रापि भित्तिः ।

तनुरिव पुरदस्योः स्यूतशैलाङ्गजाङ्गा

श्रितशितिगलनाला स्वःस्रवन्ती श्रयन्ती ॥ १५ ॥

यत्र शत्रुजयाद्रौ कुत्रापि कस्मिंश्चित्प्रदेशे कौतुकाकलितशिल्पिकल्पिता भित्तिः
कुड्य भाति दीप्यते राजते वा । किभूता । घनेन मेघेन कृत्वा । 'गिरौ वर्षन्ति माधवाः'
इति वचनात् । लसत् शोभमानमुपकण्ठ कण्ठस्य समीपमुपकण्ठ समीप वा यस्याः ।
पुनः किभूता । रुक्म स्वर्ण रूप्य रजत तयोर्द्वौ पूर्वापरौ भागावशप्रदेशौ यस्याः ।
एकस्मिन् भागे स्वर्णेन, अपरस्मिन् भागे च रजतेन घटिता इत्यर्थः । पतन्निर्माणवि-
शेषादागच्छदुपरि शिरःप्रदेशे झरस्य शिखरनिर्झरस्य अम्भ पानीय यस्याः । केव
भाति । तनुरिव । यथा पुरदस्योरीश्वरस्य तनुः वपुर्यष्टी शोभते । किभूता । घनवन्मेघ
इव नीलत्वाल्लसत्कण्ठस्य समीप यस्याः । पुनः किभूता । स्यूत प्रोत्तम् अर्धाङ्गीकरणात्
शैलस्य हिमाद्रेरङ्गजायाः पार्वत्या अङ्ग शरीर यस्याम् । शकर श्वेतवर्णः, पार्वती तु कन-
ककेतकी पीतवर्णा । पुनः किभूता । श्रित शिति श्यामवर्ण गलनाल कण्ठपीठ यया ।
पुनः कि कुर्वन्ती । स्वःस्रवन्ती गगनगङ्गा श्रयन्ती शिरसि सिद्धदुनी दधती ॥

स्फटिकघटितशृङ्गोत्सङ्गसङ्गी तरङ्गी-

भवदलिकुलशाली चम्पकः पुष्पपीतः ।

दशशतनयनस्याध्याश्रितस्वःकरेणो.

कलितकनककान्तेः कान्तिमादान्मघोनः ॥ १६ ॥

यत्र शत्रुजये कचन प्रदेशे चम्पको हेमपुष्पक मघोन पुरदरस्य कान्ति शोभा-
मादाजग्राह । शक्रसदृशः सजायते स्मेत्यर्थः । 'कान्तिर्युतिभूषेच्छासु' इत्यनेकार्थः ।
किभूतश्चम्पकः । स्फटिकैः श्वेतरत्नैर्घटित निष्पादितमर्थाद्विरञ्चिना विरचित यच्छृङ्ग शि-
खर तस्योत्सङ्ग क्रोडो मध्य तत्र सङ्गोऽस्यास्तीति स्फटिककूटोपरिप्ररूढः । पुनः कि-
भूतः । तरङ्गीभवद्भिः अनेकश्रेणीबन्वागमनात्कल्लोललीला कलयद्भिरमन्दमकरन्दास्वादो-
न्मदिष्णुभाव विभ्रद्भिरलिना भ्रमराणां कुलैर्वृन्दैः शालते शोभते इत्येवशीलः ।
यद्यपि च लोकोक्त्या 'वहिरइनपुण्यो गीतभमरचपइनवइठो । सोलकलासपुन्नचन्दअ
धलइ न दिठो ॥' इत्यादि श्रूयते । तथापि 'विचिन्वती पान्थपतङ्गहिसनैरपुण्यकर्माण्यलि-
कजलच्छलात् । व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारैर्बलिदीपका इव' इति नैष-
धोक्त्या चम्पकेऽपि भृङ्गागमनसंभवो दृश्यते । पुनः किभूतः । पुष्पैर्विकसत्कुसुमैः पीतो

हारिद्रवर्णं । मघोनः किभूतस्य । दशशतानि सहस्र नयनानि नेत्राणि यस्य । पुनः किभूतस्य । अध्याश्रित स्वकीयारोहेण पृष्ठे प्रतिष्ठा प्रापित स्व.करेणुरैरावणो येन । एतावता अभ्रमूवल्लभारूढः । पुनः किभूतस्य । कलिता धृता कनकवत्स्वर्णस्येव कान्ति-
देहद्युतिः शोभा वा येन । 'चम्पकोऽस्मिन्सपुष्प' इति पाठे अस्मिन् शत्रुजये सपुष्पः
स्मेरत्प्रसूनपरिचितश्चम्पकद्रुमः ॥

अपि धृतसुरसिन्धुर्नागरङ्गी सदुर्गः

सवृषमुषितकालः केकियानं दधानः ।

धृतशशधरचूडो नीरमुड्डीलकण्ठः

शिव इव घनयानो भाति मृत्युंजयाद्रिः ॥ १७ ॥

अद्रिः शत्रुजयशैलः शिव ईश्वर इव भाति । किभूतः । धृता कलिता सुरा विवि-
धस्थानस्थातारोऽनेककपर्दियक्षप्रमुखा अधिष्ठातारो देवा, तथा सिन्धवः शत्रुजया-
ऐन्द्री-साभ्रमती-ब्राह्मी-प्रमुखाश्चतुर्दश महानद्यो येन । शिवस्तु श्रितदेवनदीको गङ्गाव-
रत्वात् । पुनः किभूतः । नागरङ्गा वृक्षविशेषा 'नारङ्गा' इति लोके प्रसिद्धा सन्त्यस्मिन् ।
पक्षे नागेषु भुजगमेषु विषये रङ्गः स्नेहोऽस्त्यस्येति । 'पाणौ फणीन् भजति कङ्कणभूय-
मैशे सोऽयं मनोहरमणीरमणीयमुच्चैः । कोटीरबन्धनवन्तुर्गुणयोगपट्टव्यापारपारगममु-
भज भूतभर्तुः ॥' इति नैषधे । पुनः किभूतः । सह दुर्गेर्विषमस्थानकैः कोट्यैर्वा वर्तते यः ।
पक्षे पार्वतीयुक्तः अर्वाङ्गत्वात् । पुनः किभूतः । सह वृषेण धर्मेण । 'पुण्यराशि श्रियः-'
इत्यभिधानत्वात् । पक्षे वृषभेण वाहनबलीवर्देन वर्तते यः । तथा मुषितो निर्दलित
कालः कलिर्यमो वा अजरामरपददायकत्वात् । पक्षे कालनामा दैत्यो येन । पुनः किभूतः ।
केकिना मयूराणां यानमितस्ततो गमनम् । पक्षे स्वामिकार्तिकं च दधानः । पुनः किभूतः ।
धृतः, कलितः शशधरश्चन्द्रो यया तादृशी चूडा शिखरशिखा अभ्रकषत्वात् म-
स्तकोपरितनभागश्च येन । पुनः किभूतः । नीरमुचा मेघेन तद्वच्च नीलः कृष्णः कण्ठः
कवरा गलनाल यस्य । 'दधदम्बुदनीलकण्ठताम्' इति नैषधे राजगृहवर्णनम् । अम्बु-
देन मेघेन नीलः कण्ठः उपत्यकाभागो ग्रीवा चेति उपत्यकायाः कधरेति प्रतिपादनम् ।
'यदनेककसौवकवराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव' इत्यपि नैषधे । पुनः किभूतः । घ-
नाना मेघानां यानानि गमनानि सचारा यत्र । पक्षे घनवाहन इत्यभिधानः । यानशब्दे-
न वाहनम् । पुनः किभूतः । मृत्यु मरणं यमः जयतीति मृत्युजयो जन्मजरामरणाप-
हारकः सिद्धिदातृत्वात् । पक्षे मृत्युजयो नाम्ना ॥

स्वकशिखरशिखाङ्गस्थायुकान्स्वैकताना-

न्कमलमृदुलदेहांस्तापितास्तापनेन ।

सुखयितुमिव शैत्यैः सिद्धशैलोऽङ्गभाजो

बहलजलमुचोच्चैरातपत्रं तनोति ॥ १८ ॥

सिद्धशैलः शत्रुजयाद्रिर्बहलेन नीरन्ध्रेण सान्द्रेण जलमुच्चा नीरदेन कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गभाजो यात्रिकजनान् शैल्यै शीतलताभि सुखयितु सुखीकर्तु शीतलान्विधातुमिवातपत्र मायूरपिच्छच्छत्र तनोति विस्तारयति । शिरसि धत्ते इत्यर्थः । किभूतानङ्गभाजः । स्वकान्यात्मीयानि शिखराणि शृङ्गाणि तेषां शिखानामग्राणामङ्के उत्सङ्गे स्थायुकान् सस्थायिन उपविशनशीलान् । पुन किभूतान् । स्वस्मिन्नात्मनि विषये एकतानानेकाग्रचित्तान् । पुन किभूतान् । कमलवन्मृदुल सुकुमारो देह शरीर येषाम् । पुन किभूतान् । तापनेन सूर्येण तापितान् सतप्तीकृतकायान् ॥

स्वभवविभवभूम्ना लम्बितेनाभिभूति

त्रिदशशिखरिमुख्याशेषशैलव्रजेन ।

किमु विमलगिरीन्दो रूप्यरत्नार्जुनाङ्गा

निजनिजशिखरौघाः प्रापिताः प्राभृतत्वम् ॥ १९ ॥

त्रिदशशिखरी मेरुमुख्यः प्रकृष्टो येषु तादृशा अशेषाः समस्ता ये शैला पर्वतास्तेषां व्रजेन समूहेन विमलगिरीन्दो श्रीशत्रुजयशैलशकस्य । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्य शिखरौघाः शृङ्गगणाः । ‘निजस्य तेजः शिखिनः परशता’ इति नैषधे । प्राभृतत्वमुपदाभावः प्रापिताः । ढौकिता इत्यर्थः । किभूताः । रूप्य रजत रत्नानि मणयः अर्जुनः स्वर्णं तेषामङ्गः शरीरं येषां ते । रजतरत्नहेममया इत्यर्थः । किभूतेन । त्रिदशशिखरिमुख्याशेषशैलव्रजेन । स्वस्माद्विमलशैलात्मनो भव उत्पत्तिर्येषां तादृशानां विभवानां शोभासपदा भूम्ना बाहुल्येन । अभिभूतिः पराभवः लम्बितेन प्रापितेन ॥

विमलशिखरिकुण्डा वल्लरीः शैवलाना-

मुपरि बहलितानामुद्वहन्तो विभान्ति ।

प्रवसितदयिताना कामिनीना कपोला

इव लुलदलकाङ्काः पाण्डिमान दधानाः ॥ २० ॥

विमलशिखरिणः श्रीशत्रुजयगिरेः कुण्डा जलस्थानानि विभान्ति शोभन्ते । किं कुर्वन्तः । उपरि स्वसलिलोर्ध्वभागे बहलिताना निच्छिद्रीभूताना सान्द्राणां शैवलानां शैवलानां वल्लरीर्मञ्जरीः । ‘मञ्जरी वल्लरीश्च सा’ इति हैम्याम् । उद्वहन्तो वारयन्तः । के इव । कपोला इव । यथा प्रवसिता पयिकीभूता परदेशं प्राप्ता वा दयिता भर्तारो यासां तादृशीनां कामिनीनां विरहविधुरवधूनां कपोला गण्डा गल्ला राजन्ते । किभूताः । लुलन्तः पतिव्रता व्रततया प्रियप्रवासवासरादारभ्य अबद्धत्वादुपरि पतन्तो गण्डस्थले मिलन्तः अलका केशा अङ्के उत्सङ्गे येषाम् । पुन किं कुर्वाणाः । पाण्डिमानः पाण्डुरभावः दधानाः । विरहे हि प्रायः पतिव्रतानां कपोला धवलीभवन्ति । यदुक्तं नैषधे—‘विरहपाण्डुकपोलतले विधुः’ इति ॥

विविधनवचिरत्नायत्नदत्तात्मरत्नै-

निखिलमपि निहत्याकिचनत्वं जनानाम् ।

मणिशिखरिणमद्रिर्दीनवाक्कारिणं यो

बहु तृणमिव चक्रे किपचानं वदान्यः ॥ २१ ॥

अद्रिः श्रीशत्रुजयपर्वत मणिशिखरिण रोहणाचलम् । ‘श्रेणीवर्जनदुर्यशोनिविशित-
ब्रीडस्तु रत्नाचलः’ इति नैषधे । तथा ‘ये रत्नाचलवासिनो हि मनुजास्तेषां न रत्नो-
द्यमः’ इति सूक्ते । यथा रत्नाचलस्तथा मणिशिखरी । तं बहु धनं यथा स्यात्तथा तृणं
तृणप्रायमकिचित्करमिव चक्रे कृतवान् । किं कृत्वा । जनानां स्वाश्रितभविकलोकानां
निखिलं समस्तमपि अकिचनत्वं दरिद्रभावं निहत्य मूलादुच्छेद्य । कैः कृत्वा । विवि-
धानि नानाप्रकाराणि ‘वज्र-वैडूर्य-लोहिताक्ष-मसारगल्ल-हसगर्भ-पुलक-सौगन्धिक-
ज्योतीश्वर-अञ्जन-अञ्जनपुलक-जातरूप-सुभग-अङ्ग-स्फटिक-कर्कत-मरकत-प्रवा-
ल-इन्द्रनील-चन्द्रप्रभ’ इति सिद्धान्तोक्तानि, ‘पद्मराग-गरुडोद्गार-राजपट्ट-चन्द्र-
कान्त-सूर्यकान्त-माणिक्याद्यानि नवानि नवीनोत्पन्नानि चिरत्नानि चिरकालोद्भू-
तानि । ‘चिरत्नरत्नाचितमञ्चितं चिरात्’ इति नैषधे । ‘चिरत्नानि चिरकालजातानि’
इति तद्वृत्तिः । अयत्नदत्तानि प्रयासं विनैव प्रकटस्थितत्वेन खननाद्युपक्रममन्तरेण वि-
श्राणितानि यान्यात्मनः स्वस्य स्वस्मिन्नुत्पन्नत्वेन निजस्यैव रत्नानि माणिक्यानि तैः ।
अद्रिः किंभूतः । वदान्यो दानशीलः । किंभूतः मणिशिखरिणम् । दीना कृपणाम् ।
‘कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि’ इति नैषधे । ‘कृपणे दीने’ इति तद्वृत्तिः । ‘कृपण-
कदर्ये दीने च’ इत्यनेकार्थः । हस्ताभ्यां भालमास्फाल्य हा तात हा मात इति वाच-
वाणी कारयतीत्येवशीलम् । यदुक्तम्—‘हा दैवेति वचो विना न ददते वज्राणि
वज्राकरा’ इति सूक्ते । तथा ‘दैवोक्त्या रोहणाद्रिः खरमुखरतरः पुष्करावर्तमेघाः’
इति सोमसुन्दरसूरिकृतऋषभदेवस्तवे । तथा ‘धिग्रोहणं गिरिः दीनदारिद्र्यव्रणरोहणम् ।
दत्ते हा दैवमित्युक्ते रत्नान्यर्थिजनाय यः ॥’ इति विक्रमादित्यादिभिरुक्ते । अत एव
पुनः किंभूतम् । किपचानं कदर्यम् ॥

विदलितदलमालाशालिलीलातमालः

कनकशिखरसंस्थस्तच्छविच्छन्नवर्ष्मा ।

मुररिपुरिव पीतस्फीतवासोवसानो

विहगविभुविहारी यत्र शत्रुजयेऽभात् ॥ २२ ॥

यत्र यस्मिन् श्रीशत्रुजयवात्रीधरे विदलिताभिर्विकसिताभिर्दलानां मरकतमणि-
गणाच्छिन्नच्छविच्छायाणां पत्राणां मालाभिः श्रेणीभिः शालते शोभते इत्येवशीलो
यो लीलातमालः विद्याभृद्भिर्मानवैर्वाडा(?)कृते रोपितस्तापिच्छतरुः । अथ वा स्वयमेव

कथंचिदुद्गतः विलासविधायकस्तमालद्रुम अभाद्रभौ । किभूतस्तमाल । कनकस्य का-
चनरचिते शिखरे शृङ्गे सतिष्ठते इति कनकशिखरस्थ । पुनः किभूतः । तस्य कनक-
शिखरस्य छविर्ज्योतिस्तया छन्न व्याप्त वर्ष्म शरीर यस्य । क इवाभात् । मुररिपुरिव ।
यथा नारायणो भासते । किभूतः । पीत हारिद्रवर्ण स्फीत मनोज्ञ वासो वस्त्र वसान-
परिदधानः । वस्ते इति वसानः । 'शुणिप्रायाणि वस्त्राणि भूषणानि तव प्रभो । वसानश्च
दधानश्च सत्कविर्द्वारि तिष्ठति ॥' इति भोजप्रबन्धे । पुनः किभूत । विहगाना पक्षिणा
विभुः स्वामी गरुडस्तेन विहरति विचरतीत्येवशील ॥

उपरिपरिसरद्भिः पद्मरागाश्मगर्भ-

स्फटिकघटितशृङ्गव्रातजातांशुपूरैः ।

अपि नभसि भुवीव ब्रह्मभूभानुपुत्री-

त्रिदशजलधिगानां यस्तनोतीव सङ्गम् ॥ २३ ॥

यः श्रीशत्रुजयशैल भुवि पृथिव्यामिव नभस्याकाशेऽपि ब्रह्मभू सरस्वती, भानुपुत्री
यमुना, त्रिदशजलधिगा गङ्गा, तासां सङ्ग संगमन मेलनम् । त्रिवेणीसङ्गमित्यर्थः । तनोति
करोतीव । कै कृत्वा । उपरि नभोज्जने परिसरद्भिः परि समन्तात्प्रसरद्भिः पद्मरागा रक्त-
मणयः, तथा अश्मगर्भा मरकतरत्नानि, तथा स्फटिकाः श्वेतमाणिक्यानि तै कृत्वा ।
'रत्न वसुमतीमाणिक्यमपि' इति हैमीवृत्तौ । घटिताना नाकिना शिपिना वा सक-
ल्पिताना शृङ्गाणा शिखराणा व्राताद्वृन्दाजाता प्रकटीभूता येऽंशुपूरा किरणगणास्तै-
कृत्वा । पद्मरागरुचिभिर्विरञ्चिसुता सरस्वती हि कविसमये किञ्चिदरुणा वर्ण्यते । रुवि-
रप्रवाहस्य त्वस्या उपमानत्वेन मरकतमणिकान्तिभिर्यमुना तस्या श्यामवर्णत्वेन स्फ-
टिकरत्नज्योतिषा गङ्गा तस्या उज्ज्वलत्वेन । इति त्रिवेणीसंगम ॥

कचिदपि मुचकुन्दोऽमन्दनिस्यन्दवृन्द-

स्मितसुमविशदश्री राजतप्रस्थसस्थः ।

समदसुरभिसूनोः पृष्ठचधिष्ठानभाजो

भसितलसितमूर्तेः प्राप शंभोर्विभूषाम् ॥ २४ ॥

कचिदपि श्रीशत्रुजयस्य कुत्रापि प्रदेशे मुचकुन्दो मुचकुन्दनामा पुष्पजातिवृक्ष-
विशेषः शंभोरीश्वरस्य विभूषा शोभा प्राप लेभे । किभूत । अमन्दा अतिप्रचुरा ये नि-
स्यन्दास्तेषां वृन्दानि पटलानि येषु तादृशानि स्मितानि विकसितानि सुमानि पुष्पाणि
तै विशदा उज्ज्वला श्री शोभा यस्य सः । पुनः किभूत । राजते रूप्यस्रवन्धिनि
प्रस्थे शिखरे संतिष्ठते इति सस्थ । शंभो. किभूतस्य । समदो मदमेदुरो यः सुरभि-
सूनुः अर्जुनीनन्दनो वृषभस्तस्य पृष्ठे 'पुठि' इति लोके प्रसिद्धा तत्राधिष्ठानमाश्रय भ-

जते । पृष्ठे चढितः । पुनः किंभूतः । भसितेर्भस्मभिलसिता मनोज्ञाभूता मूर्तिर्यस्य ।
यस्योद्धूतशालिनः ॥

अनणिममणिमालाशालिनी यस्य सिन्धुः

प्रतिफलितविवस्वदीप्तिदुःप्रेक्षणीया ।

सुकृतभरितजन्तोर्गर्भमन्तर्वहन्ती

युवतिमनुकरोति स्मेरदम्भोरुहास्या ॥ २५ ॥

यस्य श्रीशत्रुजयस्य सिन्धुः काचित्तरङ्गिणी युवतिं तरुणीमनुकरोति । युवतीसदृशी भवतीत्यर्थः । किंभूता सिन्धुः । न विद्यते मूल्यापेक्षया महिम्ना वा अणिमा लघिमा अल्पत्व येषु एतावता बहुमूल्यानामप्रतिमप्रभाप्रभाववता च मणीनां रत्नानां मालाभिः श्रेणीभिः शालते शोभते इत्येवशीला । गिरिनदीषु मणिसद्भावः किरातार्जुनकाव्ये कथितोऽस्ति । किंभूता । प्रतिफलितः अन्तर्जलः प्रतिबिम्बितो यो विवस्वान् सूर्यः तस्य दीप्त्या कान्त्या दुःखेन प्रेक्षितुं योग्या द्रष्टुमर्हा । किंभूता युवतीम् । सुकृतेन प्राचीनजन्माचीर्णेन पुण्येन भरितस्योपचितस्य पूर्णस्य जन्तोर्जीवस्य गर्भं दोहदलक्षणमन्तः कुक्षौ वहन्तीं धारयन्तीम् । पुनः किंभूता । स्मेरद्विनिद्रद्यदम्भोरुहः कमलतद्रूपः विकसितसरोजवद्वा आस्यः मुखः यस्याः । 'स्मेरदम्भोजखण्डाभिः' इति पाण्डवचरित्रे । तथा युवत्यपि पुण्यप्राग्वद्गर्भानुभावाद्दुःप्रेक्षणीया । यथा 'धामैकधाम गङ्गाया इव भास्करः गर्भमन्तर्दधाना वा दुरालोकमभूद्वपुः' इति पाण्डवचरित्रे ॥

वृषभजिनगुणौघान्गायतः स्वक्वणस्या-

नुगुणरणितवीणान्किनरेन्द्रान्गिरीन्द्रः ।

क्वचन विकचमोचाचारुपत्रैर्धवित्रै-

रिव पवनविलोलैर्वीजयामास मन्ये ॥ २६ ॥

गिरीन्द्रः शत्रुजयपर्वताधिपतिः क्वचन कस्मिन्नपि कदलीसदनलतामण्डपादौ प्रदेशे किनरेन्द्रान्किपुरुषराजान् । उत्प्रेक्ष्यते—अहमेव मन्ये वा । पवनविलोलैर्वातवेगान्दोलनचञ्चलीभूतैर्विकचानां विकसितानां मोचानां रम्भाद्गुमाणां चारुभिर्मनोहरैः पत्रैः महद्विलैर्वीजयामास निरन्तरगाढबहुलगीतिजनितश्रमापनोदार्थं वीजयति स्मेव । कैरिव । धवित्रैरिव । यथा मृगचर्मव्यजनैः कश्चित्पार्थिवादीन् ग्रीष्मसमये स्वेदबिन्दुकितकायान् वीजयति । 'व्यजनः तालवृन्तः धवित्रः मृगचर्मणि' इति हैम्याम् । किनरेन्द्रान् किं कुर्वत । वृषभजिनस्य विमलाचलकमलाशृङ्गारहारस्य युगादिदेवस्य गुणानामोघान् गणान् गायतो गीतिगोचरीकुर्वतः । पुनः किंभूतान् । स्वक्वणस्य निजमधुरध्वनेरनुगुणा अनुगतः सदृशीभूतो गुणो निःक्वणनरूपो यस्याः सा तादृशी रणिता वादिता वीणा विपञ्चिका यैस्तान् ॥

गलदमलमरन्दोन्मादिरोलम्बरावा-

कुलकलदलमालोन्निद्रसान्द्रद्रुमौघः ।

रणरणकितचेता वेश्मनीवात्र तस्थौ

मुदिर इव रिरंसुर्विद्युतात्मीयपत्न्या ॥ २७ ॥

गलद्भिः सर्वर्तुनिवासवत्त्वेन समकालविकसितसकलकुसुमसमूहेभ्यो नि'सरद्भि' अ-
मलैर्विशदै सुखादुभिर्मरन्दै' कुसुमरसैरुन्मादिना मकरन्दविन्दुपानोन्मत्तीभूतानां
रोलम्बाना मधुकराणा रावैर्गुञ्जारवैराकुला विहस्ता निर्झरभृता' शब्दायमाना । तथा
कलानां मनोज्ञाना दलाना पत्राणा मालाः श्रेणयो येषु तादृशास्तथोन्निद्रा विकसिता
पल्लवपत्रपुष्पफलकलिता जाता अत एव सान्द्रा' स्नेहलच्छाया ये द्रुमा वृक्षास्तेषामोघ-
समूहोऽत्र शत्रुजयाद्रौ तस्थौ स्थितिमातनुते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—मुदिरो मेघ इवागत्य
स्थितवान् । कुत्रात्र कस्मिन्निव । वेश्मनीव यथा कश्चिद्रूहे गत्वा तिष्ठति । मुदिर-
किभूत । रणरणकमौत्सुक्य जातमस्मिन्निति रणरणकित तादृश चेतो यस्य । अत
एव पुन कि कर्तुमिच्छु । रिरंसु रन्तुमिच्छु । कया । विद्युता सौदामिन्या । किल-
क्षणया । आत्मीयया निजसबन्धिन्या पत्न्या सहचर्या स्त्रिया । 'चिरविलसनात्खिन्नविद्यु-
त्कलत्र' इति मेघदूते ॥

मदमुदितमृगेन्द्रारब्धरावाः प्रतिश्रु-

न्मुखरितशिखरौघा मेघघोषं द्विषन्तः ।

विमलधरणिभर्तुर्विश्वतीर्थेश्वरत्वा-

युदितहृदवलेपैर्हुकृतानीव भान्ति ॥ २८ ॥

मदेन क्षीवतया मुदितै प्रहृष्टमनोभि मृगेन्द्रै कण्ठीरवै आरब्धा उपक्रान्ता
स्वेच्छया शयनसमये पार्श्वपरावर्तने विहिता रावा क्ष्वेडितानि सिंहनादा भान्ति
शोभन्ते । स्वतन्त्र निद्रा विरामे कृतत्वात् शोभन तेषाम् । किभूता । प्रतिश्रुति प्रतिशब्दे ।
'प्रतिश्रुत्तु प्रतिध्वनि.' इति हैम्याम् । मुखरिता वाचालीकृता शिखराणा शृङ्गाणा-
मोघा समूहा यैस्ते । पुन कि कुर्वन्त । मेघाना प्रबलजलधराणा घोष धीरगम्भीरग-
र्जारव प्रति द्विषन्त स्पर्धमानाः । उत्प्रेक्ष्यते—विमलधरणिभर्तुः श्रीशत्रुजयशैलस्य
तथा विमलनाम्नो राजविशेषस्य वा विश्वेषा समस्ताना जगता वा तीर्थाना मुक्ति-
स्थानाना मागधप्रसादादीनामीश्वरत्वेनाधिपत्येनाभ्युदिता प्रादुर्भूता ये हृदवलेपा अह-
कारास्तै कृत्वा हुकृतानीव हुकारशब्दा इव । चक्रवर्त्यादय केचिद्विश्वाधिपत्याहुकृते-
हुकृती कुर्वन्ते ॥

निकटविटपिपत्रिवातवातप्रपाति-

सितकिसलयपुष्पान्कृततल्पानिवात्र ।

सुखमनिमिषलेखाः संनिषण्णैणनाभी-

सुरभिमणिशिलाङ्कान्साङ्गनाः संश्रयन्ते ॥ २९ ॥

अनिमिषाणा देवाना लेखा पङ्क्तयः सुखं सात यथा स्यात्तथा अत्र शत्रुजयाद्रौ स-
निषण्णा सम्यगुपरि उपविष्टा ये एणा कस्तूरिकामृगास्तेषा नाभीभिस्तुन्दकूपिकाभिः
सुरभयः कस्तूरिकोत्पत्तिस्थानसंपर्कात्सुगन्धा या मणीना रत्नमया शिलास्तासामङ्का-
नुत्सङ्गान् संश्रयन्ते । किभूता । अनिमिषा साङ्गना स्वस्वयुवतीसखा । उत्प्रेक्ष्यते—
कृत्तान् रचितान् पुष्पपल्लवादिविच्छित्तिकलितान् तत्पान् पल्यङ्कानिव । किभूतान् ।
निकटयोरुभयो पार्श्वयोर्विंटपिनोर्विनिद्रद्भुमास्तेषु पत्रिणा विविधविहगमाना व्राता
प्रकारास्तेषा वाता उड्डयनोपवेशनगमनागमनसमयविधूतपक्षपवनैः प्रकर्षेण पतन्ती-
त्येवशीलानि । तथा स्मितानि विकसितानि किसलयानि पल्लवा पुष्पाणि कुसुमानि येषु
तान् । अन्येऽपि तरुणीसहितास्तरुणा पुष्पपल्लवरचनाञ्चिते पर्यङ्के सुखं भजन्ते ॥

क्वचिदपि सरिदम्भो गाहितुं साग्रहेण

द्विरदसमुदयेनोन्मादिनास्मिन्दिदीपे ।

कुलिशशयभयोर्वीनष्टवार्धिप्रविष्टा-

खिलशिखरिविभूषामिच्छताछेतुमूहे ॥ ३० ॥

अस्मिन् श्रीशत्रुजये क्वचिदपि कुत्रापि स्थाने द्विरदसमुदयेन विन्ध्यावत्तत्र कथ-
चिदुत्पन्नेन राजादीना स्वेच्छया चरणार्थं मुक्तेन वा गजयूथेन दिदीपे । किभूतेन ।
उन्मादिना मदोदयमत्तीभूतेन । पुनः किभूतेन । सरितः शत्रुजयाप्रमुखचतुर्दशमहान-
दीषु कस्याश्चिन्नया अम्भो जलं गाहितुं मध्ये प्रविश्य सलिलकेलिं कर्तुं साग्रहेण
सहठेन निर्वन्ववता । तत्राहमेवमूहे वितर्कयामि । कुलिशं वज्रं शये पाणौ यस्य स
शक्रस्तस्य भयेन भीतेर्वशेन उर्व्यां पृथिव्याः सकाशान्नष्टा पलायिता सन्तो वाधौ
स्वप्राणतादृगपरस्थानाभावात्तद्वातृसकललोकपालकपुरुषोत्तमनिवासस्थाननीरनिधिमध्ये
प्रणश्य प्रविष्टा अखिला समग्रा ये शिखरिणः शैलास्तेषां विभूषा शोभामाछेतुं हठा-
द्गृहीतुमिच्छता वाञ्छतेव ॥

क्वचिदुदरशयालून्प्रौढगर्भान्महेला

इव दधति वरेन्दोः कंदराः सिंहशावान् ।

अपि बभुरिह नागाः प्रेषिता यत्प्रसस्यै

निजगरिमजितेनेवाञ्जनेनात्मशृङ्गाः ॥ ३१ ॥

क्वचित्कुत्रापि प्रदेशे वरेन्दोः शत्रुजयशैलराजस्य कंदराः गुहाः सिंहशावान् केसरि-
किशोरान्दधति बिभ्रति । का इव । यथा वरेन्दोः पृथिवीनिशीथिनीनाथस्य महेला नित

म्बिन्यः उपलक्षणान्निखिला अपि योषितः प्रौढान् प्रगल्भान् संपूर्णनिष्पन्नान् गर्भान्
भ्रूणान् विभ्रति । किंभूतान् । उदरेषु कदरामध्येषु कुक्षिषु च शयालून् शयनशीलान्
निद्रामुद्रितलोचनान् स्थायुकाश्च । अपि पुनरिह श्रीशत्रुजयाचले नागाः गन्धसिन्धुराः
बभुर्भान्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्य विमलशैलात्मनो गरिम्णा गुरुतया तुङ्गत्वेन जिते-
नाभिभूतेनाञ्जनेनाञ्जननाम्ना पर्वतेन यस्य पुण्डरीकाद्रे प्रसृत्यै प्रसन्नीकरणार्थमनुकूली-
करणाय प्रेषिताः प्रस्थापिता आत्मनोऽञ्जनगिरिसंबन्धिनः शृङ्गा शिखराणीव ॥

क्वचन करिणि मग्ने केलिलोले हृदिन्यां
तदुपरिसरवेणाभ्राम्यत भ्रामरेण ।

क्व नु गत इह हस्ती(?)स्ताघ आस्ते नवान्त-
स्तमनु पुनरयेऽहं पृच्छतातीव सिन्धुम् ॥ ३२ ॥

हृदिन्यां नद्या क्वचन क्वापि स्थानके केल्यां जलक्रीडाया लोले चञ्चले करिणि कुञ्जरे
कपोलयुगलनिर्गलद्वहलमदजलप्रबलप्रवाहश्यामलीभूतभूयस्तरतरलजले दन्तावले मग्ने
जलमध्यप्रविष्टे सति तदुपरि गजमजनस्थाननीरोपरिष्ठात् सरवेण सशब्देन गुञ्जारव-
भाजा भ्रामरेण मधुकरनिकरेण । भ्रमराणां समूहो भ्रामरम् । यथा 'बहुलभ्रामरमेवक-
तामसे' इति वृत्तरत्नाकरवृत्तौ काव्यकल्पलताया च । अभ्राम्यत भ्रान्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—
सिन्धु नदीं प्रति इत्यमुना प्रकारेण अतीव पृच्छता प्रश्न कुर्वता इव । इति किम् । नु
प्रश्ने । हे सिन्धो, इहास्मिन्प्रदेशे मग्ने हस्ती महानृप क्व कुत्र स्थाने गतः प्रविष्टस्तिष्ठति
वा । पुनरिह त्वज(?)मध्ये स्ताघो गाधाम्बु खल्पजलमास्तेन वा अगाधोदक वर्तते ।
यद्यल्पपय स्यात्तदाह त हस्तिनमनु पृष्ठे अये गच्छामि मदपानार्थमिति शेषः ॥

किमखिलकुलशैलाञ्जेतुकामः स्वलक्ष्म्या
तरुण इव मृगाक्षीः किं दिशः प्रेक्षितुं वा ।
किमुत निखिललोकालोकनोत्कण्ठचेता
विमलवसुमतीभृत्प्रोन्नतिं संतनोति ॥ ३३ ॥

विमलनामा वसुमतीभृत्पर्वतः प्रकर्षेणोन्नतिमुच्चैस्तरत्वं संतनोति सम्यक्तया वृद्धिं
विदधाति किमु । उत्प्रेक्ष्यते—स्वलक्ष्म्या निजवैभवेन कृत्वा अखिलानष्टावपि कुलशैला-
न्मन्दरप्रमुखान् गिरीन् जेतुकामः किं पराभवितुमिच्छुरिव । वा अथ वा । उत्प्रेक्ष्यते—
दिशो दशापि हरितः प्रेक्षितुमिव । क इव । तरुण इव । यथा युवा मृगाक्षीः सारङ्गसु-
न्दरलोचनास्तरुणीः प्रेक्षितुमुन्नतीभवति । उताथ वा । उत्प्रेक्ष्यते—निखिलस्य समग्रस्य
सचराचरस्य लोकस्य त्रिभुवनस्यापि आलोकने दर्शने उत्कण्ठा भौत्सुक्यं विद्यते
यस्मिन् तादृशं चेतो मानसं यस्यैवविधं किमुच्चैस्तरं सजातम् ॥

उदयदरुणबिम्बेनैकतो नैशनिर्य-

तिमिरपरिकरेणाप्यन्यतः पर्वतेन ।

कलितनिलयरत्नः पृष्ठतिष्ठत्तमिस्रो

दिननिधननिकेतापातिलोकोऽनुचक्रे ॥ ३४ ॥

पर्वतेन श्रीशत्रुजयाद्रिणा दिनस्य वासरस्य निधन नाश एतावता संध्यासमयस्तस्मिन्निकेत निजवाससौधमापतत्यागच्छतीत्येवशीलो लोको जनो येनानुचक्रे अनुकृतस्वसदृशो विहितः । केन कस्मिन् । पूर्वदिग्विभागवर्तिपार्श्वप्रदेशे उदयदुर्गच्छदुदयाचलचूलिकामलकुर्वत् अरुणस्य भास्करस्य बिम्ब मण्डलं तेन । अपि पुन केन । अन्यतः अपरस्मिन् प्रतीचीदिग्वर्तमानपार्श्वे नैशाना निशासबन्धिना निर्यता स्वद्रोहिध्वान्तारातिभीतेर्नि सरता तिमिराणामन्धकाराणां परिकरेण परिवारेण । प्रकरेणेत्यर्थः । किंभूतो लोकः । कलित भूरितमानुच्छेद्यभूच्छायाच्छादितनिखिलपुरस्थपदार्थसार्थप्रकटीकरणप्रगुणघृणिगण स्वहस्ते गृहीत निलयरत्न प्रदीपो येन । पुन किंविशिष्टम् । पृष्ठे स्वनिर्मुक्तपश्चात्प्रदेशे तिष्ठद्वर्तमान तमिस्रमन्धकार यस्य ॥

क्वचिदपि कमलानामात्मनोऽक्षीणभावं

त्रिजगदनिशदानेनाप्ययाच्यत्वमन्यत् ।

किमु विवरिषुरेष प्रावृषेण्याम्बुवाहो

वशदविमलशैलं शीलति साञ्जनौघः ॥ ३५ ॥

अञ्जनानामञ्जनाभिधानातिनीलवर्णवृक्षविशेषाणामोघ समुदयः शत्रुजयशैल शीलति सेवते । निकुरम्बेण समुद्रता सन्तीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—एषः अञ्जनपादपवपु प्रत्यक्षलक्ष्यः प्रावृषेण्याम्बुवाह किमु वर्षाकालसबन्धी वारिवाह इव भजते । किं कर्तुमिच्छुः । त्रिजगता त्रयाणामपि भुवनानामनिश निरन्तरमविच्छेद दानेन विश्राणनेनापि स्वस्य कमलानां लक्ष्मीणां जलानां च क्वचिदपि कुत्रापि स्थाने क्षीणत्व न सर्वत्राप्यक्षीणभावः शाश्वतत्वम् अन्यत्पुन अयाच्यत्वमनर्थिभावम् । मेघा हि क्षीरसमुद्राद्याचित्वा जलमादाय वर्षन्ति इति कविसमयो लोकरूढिश्च । कस्यापि याच्ना न कुर्म इत्ययाच्यत्व किमु विवरिषुर्याचितुमिच्छुरिव । कम् । वशः कामित ददातीति । 'तृष्णा लिप्सा वश स्पृहा' इति हैम्याम् । वशदः समीहितदायक तादृश विमलशैल शीलति । किं चाक्षीणलक्ष्मीकस्य याचनीयमेव न भवेत्, तर्हि किमर्थमयाच्यत्वयाच्नायुक्तं पर किंचिद्वस्तु लक्ष्म्यापि दुःप्राप्य स्यात्, तथाच्चाया केनचित्कृताया तदपि अविद्यमानतया कुतोऽप्यानीयाभ्यर्थ्यादाय वा दातव्यं भवेत्, अत एव विश्वविश्वपदार्थेश्वरत्वमयाच्यत्वमिति ॥

असुरसुरनराणां श्रेणिभिः सप्रियाणां
 स शिखरिपृतनाषाड् भूष्यते निर्विशेषम् ।
 भुजगभवनदेवावासविश्वंभराणा
 सममखिलविभूषादित्सयेवोत्सुकाभिः ॥ ३६ ॥

स शत्रुजयः शिखरिणा समस्तपर्वताना पृतनाषाडिन्द्र सप्रियाणा साङ्गानामसुराणा दानवाना नागाना वा सुराणा देवाना नराणा मनुष्याणा श्रेणिभिर्धोरणीभिर्निर्गतो विशेष सेवाविधौ यत्र तथा भूष्यते अलक्रियते । उत्प्रेक्ष्यते—सममेककाल भुजग-भवन पाताललोकस्तथा देवावास स्वर्गलोक तथा विश्वभरा भूलोक. एतासाम् । त्रिजगतामित्यर्थः । अखिलाना समग्राणा विभूषाणा शोभानां दित्सया दातुमिच्छया उत्सुकाभिरुत्कण्ठिताभिरिव ॥

मरकतशिखराणां पद्मरागोदराणां
 दिशि दिशि जलधारोद्गारिनिर्यञ्जराणाम् ।
 कचिदुपरि नमन्तश्चञ्चलाकेलिमन्तो
 ध्वनिभिरिह पयोदा जज्ञिरे वृष्टिमन्तः ॥ ३७ ॥

इह शत्रुजये कचित्कुत्रापि स्थले मरकतशिखराणामश्मगर्भमणिमयशृङ्गाणामुपरि ऊर्ध्वशिर प्रदेशे नमन्त मिलित्वागस्त्य सस्पृशन्त पयोदा मेघा ध्वनिभिर्गजारवैरेव जज्ञिरे कथमपि ज्ञायन्ते स्म । शिखराणा किभूतानाम् । पद्मरागा लक्ष्मीपुष्पाणि रक्तमणय उदरे गर्भे मत्स्ये येषाम् । पुन किभूतानाम् । दिशि दिशि सर्वास्वपि दिक्षु । ‘दिशि दिशि किमिमानी प्रच्यवन्तेऽन्तरिक्षात्’ इति चम्पूकथायाम् । जलाना पानी-याना धाराणा वृष्टीरुद्गिरन्ति मुञ्चन्तीत्येवशील निर्यान्त शिखरमभ्यान्नि सरन्तो झरा निर्झरप्रवाहा येषु तेषाम् । किभूता पयोदा । चञ्चलाया विद्युत केलयो विलसनानि विद्यन्ते येषु । ‘चिरविलसनात्खिलविद्युत्कलत्र.’ इति मेघदूतकाव्ये । पुन. किभूता । वृष्टिमन्तो निष्पन्ननीरवारा ॥

कचिदवहदपाचीवीचिमालीव सेतुं
 कचिदपि वसुराजीमिभ्यधामेव धत्ते ।
 अपि दुरधिगमत्वं ब्रह्मवत्काप्यधत्त
 व्यधृत कनकसाल कापि लङ्केव शैलः ॥ ३८ ॥

शैल शत्रुजयाचल कचित्कचन प्रदेशे अपाच्या दक्षिणस्या दिशो वीचिमाली समुद्र इव सेतु पयामवहद्वहति स्म । रावणापहतसीताप्रत्यायनार्थं लङ्कागमनावसरे रामेण दक्षि-णार्णवे सेतुर्बद्ध इति श्रुति । ‘सेतुयेन महोदधौ विरचित कासौ दशास्यान्तक’ इति

भोजप्रबन्धे । क्वचित्कुत्र च स्थाने इन्धधाम व्यवहारिवेशमेव वसूना मणीनाम् । 'रत्न वसुमणि' इति हैम्याम् । स्वर्णानां च । 'स्वर्णं हेमहिरण्यहाटकवसून्यष्टापद काञ्चनम्' इत्यपि हैम्याम् । राज्ञीं श्रेणीं धत्ते दधाति । अपि पुनः कापि शिखरादिप्रदेशे ब्रह्म-
वन्मोक्ष इव दुःखेनाधिगम्यते इति दुरधिगम तस्य भावो दुरधिगमत्व दुरारोहतामधत्त-
विभर्ति स्म । पुनः कापि ऋषभकूटादौ लङ्केव दशकधरनगरीव कनकसाल काञ्चनप्रा-
कार व्यधृत धरति स्म ॥

स्फुटकटतटनिर्यद्दानपाथःप्रवाहैः

शिशुशिखरिसमूहान्सिञ्चदञ्चद्वनान्तः ।

क्वचिदपि करियूथ विन्ध्यधात्रीभृतीव

प्रणयति रतिकेली यत्र सत्रा कलत्रैः ॥ ३९ ॥

यत्र शत्रुजये क्वचिदपि कुत्रचनापि वनगह्वरप्रदेशे करियूथ गजवृन्द कलत्रैः स्व-
करिणीभिः सत्रा सार्धं रत्या मनस्तुष्ट्या रागेण च केलीं विविधक्रीडा सुरतविलास वा
प्रणयति करोति । कस्मिन्निव । विन्ध्यधात्रीभृतीव । यथा स्रोतपत्तिस्थाने विन्ध्यशैले
गजघटा स्ववशाभिः । 'गजोऽस्य स्त्री धेनुका वशापि च' इति हैम्याम् । स्वैर रमते ।
किं कुर्वन् । स्फुट प्रकट जननयनगोचर यथा स्यात्तथा कटतटाभ्यां कपोलस्थलाभ्यां
सकाशान्निर्यद्भिर्नि सरद्भिर्दानपाथसा मदोदकानां प्रवाहैर्धाराप्रवहणैः कृत्वा शिशूनां
बालानां नवप्ररूढानां शिखरिणा वृक्षाणां समूहान् गणान् सिञ्चत् पानीयं पायन् ।
पुनः किं कुर्वन् । वनान्तर्विपिनमध्ये अञ्चत् चरत् ॥

त्रिदिवसदनभूभृत्सार्वभौमाध्वरोधो-

द्भुरशिखरसहस्रैः पुण्डरीकावनीभृत् ।

धरणिमिव फणाभिश्चक्रिणां चक्रवर्ती

त्रिदिवमिव दिधीषुर्लक्षकैर्लक्ष्यते स्म ॥ ४० ॥

पुण्डरीकावनीभृद्विमलाचल त्रिदिव स्वर्गलोक दिधीषु धर्तुमिच्छुरिव लक्षकैर्दर्शयि-
तुभिरवलोककलोकैर्लक्ष्यते ज्ञायते । कैः । त्रिदिवे स्वर्गे सदन गृह येषां ते त्रिदिवसदना
देवास्तेषां भूभृत्पर्वतो मेरुः । 'स्व स्वर्गिकाञ्चनतोगिरि' इति हैम्याम् । सुराचलस्तस्य
सार्वभौमश्चक्रवर्ती शक्रः । 'जाम्बूनदोर्वीधरसार्वभौमः' इति नैषधे इन्द्राभिधानम् ।
तस्येन्द्रस्याध्वा मार्गो गगनम् । 'बहुविगाढसुरेश्वराध्वा' इति नैषधे च । तस्याध्वनो नभसो
रोधे रुन्धने उद्भुरैरुत्कटैः शिखराणां शृङ्गाणां सहस्रैर्भूयस्तरदशशतीभिः प्रमितैः । कृत्वा
इत्यर्थः । क इव । चक्रवर्तीव । यथा चक्रिणा नागानां सार्वभौमः शेषनागः सहस्रफणाभिः
कृत्वा वरणिं भूमिं धत्ते । 'धरणिविरहिणि क्लान्तमुद्रे समुद्रे' इति नाटकशास्त्रे धरणि-
शब्दो ह्रस्वोऽप्यस्ति । 'मुदा यस्योद्गीत सह सहचरीभिर्वनचरैर्मुहुः श्रुत्वा हेलोद्गतध-
रणिभारं भुजबलम्' इति वाग्भटालकारेऽपि ॥

विदलितदललीलाश्यामलीभूतभूमी-

रुहनिवहनितम्बालम्बिजाम्बूनदस्तुः ।

प्रसृतझरपयस्कः प्रावृषण्याम्बुवाष-

स्फुरदशनिपयोदं योऽनुयातीव कान्त्या ॥ ४१ ॥

यं शत्रुजयाद्रि प्रावृषेण्यं वर्षाकालसंबन्धिन अम्बु पानीय वर्षतीत्येवशीलं, तथा स्फुरन्ती विद्योतमाना प्रतिदिश चमत्कार कुर्वती वा अशनिर्विद्युद्यत्र तादृश पयोद मेघ कान्त्या शोभया कृत्वा अनुयातीव आत्मना अनुकरोतीव । यं किभूतं । विदलिताना विशेषेण विकाश प्राप्तानामुन्मिषितम् । 'विकसित दलित स्फुटित स्फुटम्' इति हैम्याम् । दलाना पत्राणा लीलया विलासेन श्यामलीभूताना कृष्णच्छवीभूताना भूमीरुहाणा द्रुमाणां निवहा समूहा यत्र तादृश नितम्बमालम्बते श्रयतीत्येवशीलम् । 'मेखलामध्यभागोऽद्रेर्नितम्ब कटकश्च स' इति हैम्याम् । जाम्बूनद काञ्चनमय स्तुं शिखरं यस्य । पुनः किलक्षण । प्रसृतानि दिशि दिशि विस्तार गतानि ऊढानि वा झराणा निर्झराणा पयांसि जलानि यस्मिन् स' । 'स्तुं प्रस्थ सानु' इति हैम्याम् ॥

क्वचिदपि लसदाभ्रस्फाटिकोत्तुङ्गशृङ्गा-

ङ्गणधरणिचरिष्णूः क्षमास्पृशा प्रेक्ष्य लक्षाः ।

इति मतिरुदयासीद्यन्नितम्बस्थितानां

किमिह चरति पङ्क्तिः स्वैरमेषा सुराणाम् ॥ ४२ ॥

यस्य शत्रुजयाद्रेर्नितम्बे मेखलाया स्थितानामुषिताना वा पुसामित्यमुना प्रकारेण मतिरुदयासीदाविर्भूता । इति किं का बुद्धिः । यदेषा प्रत्यक्षलक्ष्या सुराणा देवाना पङ्क्ति धोरणी इह विमलाचले स्वैर स्वेच्छया चरति विहरति भ्राम्यति वा । किं कृत्वा । क्वचिदपि कुत्रापि प्रदेशे विशेषे । 'लस श्लेषणक्रीडनयो' इति धातुः । लसता श्लिष्यतामर्थात्परस्पर शिखरापेक्षया आभ्रस्फाटिकानामाकाशस्फटिकरत्नानामिमानि आभ्रस्फाटिकानि । क्वचिद्वयोः पूर्वोत्तरपदयोर्वृद्धिर्भवति । 'आग्निमारुत कर्म सौहार्दम्' इति सारस्वतव्याकरणे, तद्वदत्राप्युभयत्र वृद्धिः । आकाशस्फटिकमयानि क्रीडया कुतूहलेन वा देवैर्विरचितानि स्वाभाविकानि वा तथा उत्तुङ्गानि गगनाङ्गणालिङ्गीनि शृङ्गाणि शिखराणि तेषामङ्गणान्यजिराणि अधिल्यका वा तेषा तासा वा धरणौ भूमौ चरिष्णूः सचरणशीला क्षमास्पृशा यात्रिकमानवानां लक्षाः शतसहस्राणि प्रेक्ष्य दृष्ट्वा दृग्गोचरी-कृत्य । आकाशस्फटिकमणीना चर्मचक्षुरलक्ष्यत्वात्सुराणा चाम्बरचारित्वाद्देवा घटना ॥

मलयगिरिरिवासौ कापि काकोदराली-

कलितमलयसालैर्निर्यदामोदिवातैः ।

गलदमलमदाम्भःपङ्क्तिससिक्तवृक्षैः

क्वचिदपि गजयूथैर्विन्ध्यवद्यो विभाति ॥ ४३ ॥

असौ शत्रुजयाचल कापि कुत्रचन प्रदेशे मलयगिरिरिव दक्षिणाचल इव विभाति । ‘अथ मलय आषाढो दक्षिणाचल’ इति मलयाद्रिनामानि हैम्याम् । कै । काकोदराणा भुजगानामालीभि राजीभि कलितैरामूलचूल वेष्टितैर्मलयसालैश्चन्दनद्रुमै । किभूतैः । निर्यान्तः श्रीखण्डवनखण्डेभ्यो निर्गच्छन्तः प्रसरन्तः आमोदाः परिमला विद्यन्ते येषु तादृशा वाता वायवो येभ्यस्तैः । अपि पुन क्वचित्कास्मिंश्चिदपि स्थाने गजयूथैर्मत्तगजपुञ्जै विन्ध्यवज्जलबालकशैल इव विभाति । किभूतैः गजयूथैः । गलन्तीभिः कपोलपालिभ्योऽविरलप्रवाहै निष्पतन्तीभिः अमलाभिः अनाविलाभिर्मदाम्भसा दानजलाना पङ्क्तिभिर्धोरणीभिः ससिक्ताः सम्यक्प्रकारेण उद्यानपालवत्सेकं सिञ्चन प्रापिता वृक्षा बालसाला प्रौढपादपा वा यैः ॥

करिकदनकपर्दक्रोडलीलायमान-

त्रिदिवसदनपाथोनाथपद्माननेव ।

क्वचन कनकशृङ्गोत्सङ्गरङ्गतरङ्गा-

वलिललितविलासा कापि कुल्योल्लास ॥ ४४ ॥

यत्र शत्रुजये काप्यनिर्दिष्टाभिधाना चतुर्दशसु नदीषु अन्यतमा कापि काचित्कुल्या कल्लोलिनी उल्लास शोभते स्म । किभूता कुल्या । कनकस्य काञ्चनमयस्य शृङ्गस्य शिखरस्योत्सङ्गे क्रोडे रङ्गन्ती प्रचलन्ती तरङ्गाणा कल्लोलानामावलि श्रेणि तथा ललितो मनोज्ञो विलासो विलसन यस्या सा । उत्प्रेक्ष्यते—करिणो गजासुरस्य कदन हनन यस्मादिति कृत्वा शकर । ‘गजपुष्पपुरानङ्गकालान्वकमखासुहृत् । हरः’, तथा ‘निग्रन्थन प्रमथन कदन निवर्हणम्’ इति हनननामानि । इदं द्वयमपि हैम्याम् । तस्य शिवस्य कपर्दो जटाजूट । ‘कपर्दस्तु जटाजूट ईश्वरस्य’ इत्यपि हैम्याम् । तस्य क्रोडेऽङ्गे लीलायमाना लीलया चलन्ती विलसन्ती वा त्रिदिवः स्वर्गस्तत्र तदेव वा सदनं गृहं येषां तादृशा देवास्तेषां पाथसा पानीयानां नाथः स्वामी । ‘यादः स्रोतोवार्नदीशः सरस्वान्’ इति हैम्याम् । समुद्रस्तस्य कमलमुखी पत्नी । ‘समुद्रदयिताऽनुन्यौ’ इत्यपि हैम्याम् । नदी । एतावता देवनदी गङ्गेव स्फुरति स्म ॥

क्वचन कनकरत्नाधित्यकादीप्रदीप्ति

दिनकरकरसङ्गाद्ग्राहमाना विहाय ।

सकलकुलगिरीन्द्रान्यः पराभूय भूत्या

कलयति किमु शैलः स्वेन मूर्तं प्रतापम् ॥ ४५ ॥

यो विमलाद्रि कचन क्वापि प्रदेशे कनकाना काञ्चनाना रत्नाना रक्तपीतमणीना वा अवित्यक्ता ऊर्ध्वभूमिस्तस्या दीप्रा दीपनशीला दीप्ति कान्ति कलयति धत्ते । किभूता दीप्तिम् । दिनकरस्य सूर्यस्य कराणा किरणाना सङ्गात्सपर्कादाश्लेषाद्विहाय आकाश गाहमानाना निर्भर भरन्तीनाम् । गगनमण्डल यावत् प्रसृमराणामित्यर्थ । उत्प्रेक्ष्यते—सकलान् समग्रान् कुलगिरीन्द्रान् भूत्या आत्मलक्ष्म्या पराभूय जित्वा शैलो विमलशैलो-च्चय स्वेनात्मना मूर्तं तनूमन्तं सकललोकलोचनगोचर तन्मन्दरमेरुकैलाशादिशैला-भिभवोद्भव प्रतापमिव बिभर्ति ॥

बलिनिलयनिकेतैरात्मनः स्थूलमूलै-

धरणिधरतया यो भूभृता सार्वभौमः ।

निखिलजलधिनेमीभारभुग्नाङ्गभाजो

दिशति किमु कृपालुर्विश्रम भोगिभर्तुः ॥ ४६ ॥

भूभृता समस्तपर्वताना सार्वभौमश्चक्रवर्ती नगाधिराजाभिधानत्वात् शत्रुजयाद्रि धरणिधरतया भूभृत्त्वेन । उत्प्रेक्ष्यते—भोगिभर्तु शेषनागस्य विश्रम प्रयासापनोद किमु दिशति ददातीव । कै । आत्मनः स्थूलमूलै पुष्टै पदै अध प्रविष्टप्रदेशै । कि-भूतै । बलिनिलये पाताले निकेतो निवासो येषाम् । 'पातालमूलकैलाश' इत्यभिधानत्वाच्च । किभूतस्य भोगिभर्तु । निखिला समग्रा या जलधिनेमि सप्तद्वीपसमुद्रपर्यन्ता पृथिवी तस्या भारो वीववस्तेन भुम्ब वक्रीभूतमङ्ग वपुर्भजतीति तस्य ॥

गगनगतयदग्रस्फारकासारफुल्ल-

त्कुमुदकुवल्याङ्गाद्भृङ्गरिञ्छोलिकाभिः ।

निशि शशिनमवेक्ष्याधावि मुग्धाभिरूर्ध्व

सुरसरिदलिलीलापुण्डरीकभ्रमेण ॥ ४७ ॥

भृङ्गाणा भ्रमराणा रिञ्छोलिकाभिदेशीभाषया श्रेणीभिर्निशि रात्रौ शशिन शशला-ञ्छन चन्द्रमवेक्ष्य दृष्ट्वा ऊर्ध्वमुच्चैर्गगन प्रत्यधावि उड्डीनम् । केन । सुराणा देवाना सरि-न्नदी गङ्गा तस्या अलिभिर्मधुपानागतमधुकरैर्युक्त यल्लीलापुण्डरीक क्रीडाकरणार्ह सिता-म्भोज तस्य भ्रमेण भ्रान्त्या । कस्मादधावि । गगने आकाशे गत प्राप्त यद्यस्य शत्रु-जयस्याग्रमुपरितनशिखर तस्मिन् स्फारो मनोज्ञ पानीयपूर्णो य कासार पञ्चवर्णच-न्द्रिकाविकाशिसूर्यविकाशिकमलाकरस्तडागस्तत्र फुल्लता निशाकरकरसपर्काद्विकस्वरीभ-वता कुमुदाना कैरवाणा कुवलयानामुत्पलानामङ्गात्कोडात् । किभूताभि भृङ्गरिञ्छो-लिकाभि । मुग्धाभि अज्ञानाभि सदसद्विवेकविकलाभिर्विचाराचतुराभि सार्धपशुभि-रिव । यदुक्तम्—'हे मालति म्लायसि कि यदेष चुचुम्ब तुम्बी कुसुम षडङ्घ्रि । प्राणी चतुर्भिश्चरणैः पशुश्चेत्स षड्भिरध्यर्धपशुर्न कि स्यात् ॥' इति ॥

विकसितकुसुमालीकर्णिकालीनपीन-

ध्वनदनयनपेयामेयरोलम्बरावः ।

क्वचन रजतशृङ्गे चम्पकद्रुश्चकासे

कविरिव कृतवेदोद्गारहसाधिरूढः ॥ ४८ ॥

क्वचन कुत्रापि शत्रुजयस्थानकविशेषे रजतशृङ्गे रूप्यशिखरे चम्पकद्रुर्हेमपुष्पपादप-
चकासे दिदीपे । किभूतश्चम्पकद्रु । विकसिताना विकाश प्राप्ताना कुसुमाना चम्पकपु-
ष्पाणामालीना श्रेणीना कर्णिकासु बीजकोशेषु लीना मकरन्दपानार्थं मध्ये प्रविश्य निश्च-
लीभूय स्थितास्तथा पीना यथेच्छाहारप्राप्त्या पुष्टास्तथा ध्वनन्त शब्दायमाना गुञ्जारवो-
र्जितास्तथा अनयनपेया कर्णिकासु प्रविष्टत्वेन लोचनाभ्या पातु योग्या । अदृश्या
इत्यर्थः । तथा अमेया प्रमाणातीता ये रोलम्बास्तेषा रावो गुमगुमायमानध्वनिर्यस्मिन्
स । क इव । कविरिव । यथा धाता चकास्ति । किभूतः । कृतो निर्मितो वेदाना-
मृक्सामयजुषामथर्वणानामुद्गार उद्गिरणमुच्चारो येन हसे सितच्छदे अधिरूढ अध्या-
श्रित राजमरालपृष्ठस्थायुकः ॥

स्वकशिखरसरःस्था भृङ्गरङ्गकटाक्षा

विदलितदलनेत्री रागमन्तर्दधानाम् ।

परमसुहृदिवाद्रिः पद्मिनी यो विविक्ते

समगमयदभीशुस्वामिना कामिनेव ॥ ४९ ॥

योऽद्रिः शत्रुजयगिरि परम सर्वोत्कृष्ट सुहृदिव मित्रमिव पद्मिनी पद्मपरिमला
कामिनी कमलिनी च कामिना कामुकेनेव अभीशुस्वामिना ज्योति पातिना भानुना
सम विविक्ते विजने एकान्ते समगमयत्सगम कारयति स्म । किभूता पद्मिनीम् ।
स्वकस्य शैलसबन्धिनः शिखर शृङ्ग निज वा कूट तत्र यत्सर पद्माकरस्तत्र तिष्ठतीति
तादृशीम् । 'शिर स्थाम्' इति पाठे शृङ्गमस्तके जलार्द्रप्रदेशे स्थायिनीम् । स्थलेऽपि
पद्मिन्याः संभवो दृश्यते । यथा नैषधे—'ददर्श दून स्थलपद्मिनी नल' इति । तथा
चम्पूकथायामपि 'उत्फुल्लस्थलपद्माभभवच्चरणभूषिता' इति । पुनः किभूताम् । भृङ्गा
भ्रमरा एव मधुकरैः कृत्वा रङ्गन्तः पति सूर्य तिर्यक्सर्पन्तः कटाक्षा अक्षिविकृणितानि
यस्याः सा । पुनः किभूताम् । विदलितानि दलानि पत्राण्येव नेत्रे नयने यस्याः । पुनः
कि कुर्वाणाम् । अन्तर्मध्ये मानसे च राग रक्तिमानमनुरति स्नेह च दवाना बिभ्राणाम् ॥

विलिखितगगनाङ्कप्रस्थकण्ठावलम्ब-

द्विजपरिवृढबिम्बालम्बिनक्षत्रमाला ।

तरलकलितमुक्तामालिकाशालिशोभा

प्रतिरजनि विधत्ते सिद्धभूभृन्मघोनः ॥ ५० ॥

विलिखितो निजाग्रेण धृतो गगनस्य नभस अङ्ग उत्सङ्गो येन तादृश प्रस्थ सानु
शिखर तस्य कण्ठोऽधित्यका तस्य समीप किञ्चन शिखाध प्रदेश उपकण्ठस्तत्रावलग्न
मिलित यद्विजपरिवृढस्य बिम्ब मण्डलमालम्बते आश्रयते इत्येवशीला नक्षत्राणामु-
पलक्षणाद्ब्रह्मनक्षत्रतारकाणां माला श्रेणी सिद्धनामा भूभृता पर्वताना पार्थिवाना च
मघोन पुरंदरस्य प्रतिरजनि निशा निशा प्रति तरलेन नायकेन हारमध्यमणिना क-
लिताया सहिताया मुक्तामालिकाया हारलताया शालिनी दीपनशीला शोभा विभूषा
विधत्ते करोति ॥

अविरलमणिशृङ्गैर्नैकनाकिद्रुमैश्च

त्रिदशमिथुनवृन्दैर्जातरूपश्रिया च ।

विविधसुरनिकुञ्जैः सिद्धसौधैर्नृणां यः

श्लथयति सुरशैलप्रेक्षणोत्कण्ठि चेतः ॥ ५१ ॥

यः शत्रुजयाद्रि नृणा भरतक्षेत्रभूचरनराणा सुरशैलस्य मेरो प्रेक्षणे विलोकने उ-
त्कठा औत्सुक्य विद्यते यस्मिन् तादृश चेतो मनः श्लथयति शिथिलयति मेरुदर्शनोत्कण्ठा
श्लथीकरोति । स्वर्णाचलविलोकनहृल्लेखविमुख मानस सृजतीत्यर्थ । कै कृत्वा । अवि-
रलान्यनेकानि मणीनाम् । रत्ननिर्मितानीत्यर्थ । शृङ्गाणि शिखराणि तै । च पुन कै ।
नैकैर्नानाप्रकारैर्लौकिकै कल्पपारिजातादिपञ्चप्रकारैर्जिनशासनोक्तमङ्गादिदशप्रकारैर्वा ना-
किभिर्देवै स्वक्रीडाकृते छायार्थ वा प्ररोपितै द्रुमैर्वृक्षै कल्पतरुभिर्वा । च पुन कै ।
त्रिदशाना चतुर्निकायसुराणा मिथुनाना यात्रार्थागतानामविष्ठातृतया वा स्यायुकाना
युगलाना दम्पतीरूपाणां वृन्दैः समूहै । च पुनर्जातया सम्यक्समुत्पन्नया रूपस्य स-
स्थानविशेषस्य स्वर्णस्य वा श्रिया शोभया लक्ष्म्या । च पुन कै । विविधा भवनपति-
व्यन्तरवैमानिका सुरा येषु तादृशैर्निकुञ्जै काननैरथ वा विविधा नानाप्रकारा सुरनि-
कुञ्जा नन्दनवनरूपा देवारामास्तै । पुन कै । सिद्धाना देवविशेषाणा गानरसिकाणा
सौवैर्गृहै सिद्धायतनैश्च ॥

क्वचन करटियाना मेखलाशालमाना.

कनककटकभाजो वारिमुक्केशपाशाः ।

विविधमणिविभूषा. पद्मिनीनालबाहाः

विकचकुसुमनेत्रा बिम्बदन्तच्छदाश्च ॥ ५२ ॥

बहलमलयजन्मामोदिता मञ्जुपादा

गुरुतरकुचकूटाः स्फारमुक्तावलीकाः ।

मदपटुपिकवाचश्चम्पकश्रेणिगौरा

युवतय इव यस्मिन्भूमयो विस्फुरन्ति ॥ ५३ ॥

यस्मिन् श्रीशत्रुजये युवतयस्तरुण्य स्त्रिय इव भूमय पृथिव्य कचन कापि प्रदेशे विस्फुरन्ति दीप्यन्ते । भूमयो युवतयश्च किभूता । कचन कुत्रापि स्थाने करटिना गलद्दानजलगजानामिव च यान गमन स्वेच्छया परिभ्रमण लीलामन्थरगतिश्च यासु यासा वा । पुन किभूता । मेखलया गिरिमध्यभागेन स्वर्णमणिवेचितकाञ्चया च कृत्वा शालमाना शोभमाना । पुन किभूता । कनकस्य स्वर्णमय काञ्चनखनीयुक्त वा कटक कमपि मध्यप्रदेशविशेष हेमवलय च भजन्तीति । पुन किभूता । वारिमुचा शिखरोपरिसचरज्जलदेन कृत्वा मेघवच्च केशपाश कुन्तलहस्तो यासाम् । पुन किभूता । विविधानामनेकप्रकाराणा मणीना कर्कतनचन्द्रकान्तादीना रत्नाना विभूषा शोभा विशिष्टा भूषा अलकारा यासु वा यासाम् । पुन किभूता । पद्मिनीना कमलाना नालानि मृणालान्येव तत्तुल्या बाहा भुजा यासाम् । 'पद्मिनी कमलिन्या कमले प्रवानस्त्रिया च' इत्यनेकार्थ । पुन किभूता । विकचानि विकसितानि कुसुमान्येव कुसुमतुल्यानि वा नेत्राणि नयनानि यासाम् । पुन किभूता । बिम्बानि पक्वगोलहकानि एव तद्वद्वा दन्तच्छदा अधरा यासाम् । पुन किभूता । बहला सान्द्रा दृढा वा ये मलयजन्मान् । श्रीखण्डतरवः तेषामामोदा परिमला सजाता आसु । पक्षे सान्द्रवदनविलेपनेन सुगन्धीभूता प्रमोदकलिता वा जाता । आमोद परिमल प्रमोदश्च । पुन किभूता । मञ्जवो मनोज्ञा पादाः पर्यन्तपर्वता स्त्रीयोग्यलक्षणोपेताश्वरणाश्च यासाम् । पुन किभूता । गुरुतराण्यभ्रलिहानि अत्युन्नतानि पर्वतलक्ष्म्या कुचरूपाणि स्तना एव वा कूटानि शिखराणि यासाम् । पुन किभूता । स्फाराः स्फुरन्त जनगणैः श्रवणैराकर्ष्यमाना मुक्ता अनेकानगारकोटीकलितपुण्डरीकगणिद्रविडवालिखिलरामशाम्बप्रद्युम्नपाण्डवादिका मुक्तात्मान सिद्धास्तेषामावल्य श्रेणयो यासु । मुक्ताशब्देन मुक्तात्मान प्रोच्यन्ते । यदुक्त चम्पूकथायाम्—'ता एव निर्वृतिस्थानमह मन्ये मृगेक्षणा । मुक्तानामास्पद येन तासामेव स्तनान्तरम् ॥' इति । 'निर्वृतिर्मोक्ष सुख च मुक्ताना मौक्तिकाना च' इति तट्टिप्पनके । अस्याद्रेरपि सिद्धक्षेत्राभिवानात् । 'कर्करकर्करेष्वनन्ताः सिद्धा' इति श्रुतेश्च । पक्षे दीप्यमानमौक्तिकमालाकलिता । पुन किभूता । मदेन क्षीबतया सुरखेचरप्रकरप्रकारोऽपि तत्सर्वतुल्यस्मितयत्सहकारसरसमञ्जरीपुञ्जास्वादोद्धटिताकुण्ठकण्ठकुहरोदितामन्दानन्दोन्मदतया वा पटव प्रगल्भा ये पिका कोकिलास्तेषा तद्वद्वाचो मयुरपञ्चमालापललितगिरो यासु यासा वा । पुन किभूता । चम्पकाना विकसितकुसुमपुञ्जपिञ्जरीभूतनूतनहेमपुष्पकतरुणा श्रेणीभिः पङ्क्तिवद्वा गौरा काञ्चनरुच । 'गौर तु पीतश्वेतयो' इत्यनेकार्थ । पीतवर्णा ॥ युग्मम् ॥

विकचकुसुमपीतस्फीतिमज्जातिजातो-

परिपरिमललुभ्यल्लोलमत्तालिमाला ।

खगपरिवृढपृष्ठाधिष्ठितारिष्टदस्यो-

रूपमितिमिह शैलाखण्डलेऽलवकार ॥ ५४ ॥

इहास्मिन् शत्रुजयनाम्नि शैलाखण्डले गिरीन्द्रे विकचानि विनिद्राणि कुसुमानि पुष्पाणि यस्मिन् तथा पीतत्वेन स्फीतिमद्दीप्यमानमथ वा पीत हारिद्रवर्णं काश्चिज्जातयश्वेता काश्चिच्च पीता अपि स्युरिति स्फीतिमत्प्रवर्धमान यज्जातीना मालतीना जात वृन्द तस्योपरि परिमले सुरभिताया लुभ्यता लोभ प्राप्नुवता लोलाना चञ्चलाना मत्ताना मकरन्दपानेनोत्कटानामलीना भ्रमराणा माला श्रेणी सा कर्त्री । खगाना परिवृढः पक्षिणा स्वामी नायको गरुडः स्वर्णकायस्तस्य पृष्ठं ततः पश्चिमो भागस्तमधिष्ठितस्य स्थितस्याध्यारूढस्य वा अरिष्टनामासुरस्तस्य दस्योर्वैरिण कृष्णस्य उपमितिमुपमानमलचकार भूषितवान् । विष्णोरुपमा प्राप्तवतीत्यर्थः ॥

लिखितसुरपथाङ्कप्रस्थपुञ्जप्ररोह-

न्मसृणसरसघासग्रासवृत्ति सृजन्तः ।

क्षुधितमृगतुरङ्गाः खेदयन्ति स्म नक्तं-

दिनमिदमुपरिष्ठात्संचरच्चन्द्रसूर्यौ ॥ ५५ ॥

क्षुधिता नक्तदिनाविश्रान्तिपरिभ्रमणप्रादुर्भवद्बुभुक्षाक्षामकुक्षय मृगश्चन्द्रोत्सङ्गगत-
कुरङ्गस्तुरङ्गा सूर्यरथरथ्याश्वा कर्तार नक्तदिन रात्रौ दिवा च इदमुपरिष्ठाद्विमलाच-
लोपरिप्रदेशे संचरन्तो प्रचलन्तौ चन्द्रसूर्यौ शशिभास्करो प्रति कर्मणी खेदयन्ति वि-
षादमापादयन्ति । दुःखीकुर्वन्तीत्यर्थः । किं कुर्वन्त । लिखितो निघृष्ट सुरपयस्याका-
शस्य अङ्कः क्रोडो हृदयं येन तादृशो यः प्रस्थाना सानूना पुञ्ज तत्र प्ररोहन्त्युद्गच्छ-
न्तस्तथा मसृणाश्चिकणा सुकुमारास्तथा सरसा सान्द्राः स्नेहला सुखादा वा ये घासा-
स्तृणानि तेषां ग्रासैः कवलनैर्वृत्तिमाजीविका प्राणावारं सृजन्तः कुर्वन्तः ॥

क्वचन कनकशृङ्गे रङ्गिभृङ्गानुषङ्गि-

क्षरदमितमरन्दस्पन्दसंदोहसान्द्रा ।

अलभत वयसीत्व जृम्भमाणा तमाला-

वलिरिह यमुनाया भास्वदङ्के स्थितायाः ॥ ५६ ॥

इह शत्रुजयाद्रौ क्वचन कुत्रचन स्थानके कस्मिन्नपि वा कनकशृङ्गे सुवर्णशिखरे जृ-
म्भमाणा विकसन्ती तमालानां तापिच्छद्रुमाणामावलि श्रेणी भास्वदङ्के सूर्योत्सङ्गे स्थि-
ताया पितुः सवितुरुत्सङ्गे खेलन्त्या यमुनाया यमभगिन्या नद्या वयसीत्व सखीभाव-
मलभत प्राप्नोति स्म । किंभूता । रङ्गो रङ्गणं पर्यटनम् । 'अगिरगिलगि गत्यर्था' इत्ययं
वातुः । तथा रञ्जनं रङ्गो रागः । 'रञ्ज रागे' इत्यस्य प्रयोगश्च विद्यते । येषां ते रङ्गिण-
स्तेषां भृङ्गाणां भ्रमराणामनुषङ्गः सङ्गो विद्यते येषु तादृशाः क्षरन्तो नि सरन्तोऽमिता
मानातीता ये मरन्दा मयूनि त एव रपन्दा रसास्तेषां सदोहा राशयस्तैः सान्द्रा
नीरन्ध्रा पूर्णा ॥

मरकतकटकाङ्कस्फाटिकानुच्चकूटो-

दरविदलितपुष्पप्रस्फुरच्चम्पकद्रुः ।

नरकदमननाभीपुण्डरीकाङ्कनिर्य-

ज्जलजतनुजलीलामाललम्बे कदम्बे ॥ ५७ ॥

कदम्बे शत्रुजयाचले मरकतानामश्मगर्भमणीना कटकस्य कापि नीलरत्ननिर्मितगिरि-
नितम्बस्याद्रिमध्यभागस्य अङ्कः क्रोडस्तत्र स्फाटिक स्फाटिकमणिसबन्धि यदनुच्च ना-
त्युन्नत नोत्तुङ्गम् । लघु इत्यर्थः । कूट शिखर किञ्चिदुच्चगिरिप्रदेशस्तस्योदरे मध्ये गर्भे वा
विदलितैर्विनिद्रीभूतैः पुष्पैः कुसुमैः प्रस्फुरद्दीप्यमानश्चम्पकद्रुर्ह्रस्वपुष्पकपादप कर्ता । नर-
कनाभोऽसुरस्य दमनो हन्ता नारायणस्तस्य नाभ्याः तुन्दकूपिकाया यत्पुण्डरीक श्वेता-
म्भोज तस्याङ्कात् हृदयात् । उदरादित्यर्थः । निर्यतो निर्गच्छतो जलजतनुजस्य कमलभुवो
ब्रह्मणो लीला विलासमाललम्बे आश्रयते स्म । इति गर्भितोपमा ॥

रसिककरिविलोलत्कर्णतालौघतूर-

ध्वनिमधुकरराजीगुञ्जितोदात्तगीतौ ।

कचिदिह गुरुणेव प्रेरिता मारुतेन

स्त्रिय इव वनवल्लयः पत्रहस्ता अनृत्यन् ॥ ५८ ॥

इह श्रीसिद्धशैले क्वचित् कुत्रापि प्रदेशे स्त्रियो नृत्यकृतकामिन्यो नर्तक्य इव वनवल्लयः
काननोद्गतलता अनृत्यन् नृत्यन्ति स्म । किभूता । मारुतेन वायुना प्रेरिताश्चपलीकृता ।
उत्प्रेक्ष्यते—गुरुणेव । यथा नाटकाचार्येण सूत्रधारेण प्रेरिता प्रवर्तितास्ताण्डवकारिका
पात्राणि नृत्यन्ति । किभूतानि । पत्राणि पर्णान्येव पवनचञ्चलत्वात् हस्तका पाणिर्विक्षे-
पा यासा ता । नृत्यन्ति कस्या सत्याम् । रसिका स्वैर स्ववशाभिर्वनद्रुमेषु सल्लकीकाननेषु
क्रीडारसकलोलितचेतसो ये करिणो गजेन्द्रा तेषां सशब्द चञ्चलीभवतामितस्ततः सजाय-
मानानां कर्णतालानां श्रोत्रपत्राणाम् । ‘उषसि गजयूयकर्णतालैः’ इति रघुवशे । ओघा
समूहास्त एव तूराणां वादित्राणां ध्वनयो निर्घोषास्तथा मधुकराणां विकसितकुसुमारवि-
न्दवृन्दमकरन्दबिन्दुमदोन्मदबन्धुरगन्धसिन्धुरकपोलस्थलगलन्मदोदकपानमेदुरीभूतानां
भ्रमराणां गुञ्जितानि गुञ्जारवा एव उदात्ता मनोज्ञा गीतिर्गानं तस्या सत्याम् ॥

ललितगगनगङ्गासीकरासारवन्तः

स्मिततरुवनमालामन्दमान्दोलयन्तः ।

विकचकुसुमपद्मामोदमेदस्विनो य

प्रभुमिव पवमानाः सेवकाः शीलयन्ति ॥ ५९ ॥

पवमाना मारुताः यः पुण्डरीकाचलः शीलयन्ति । के इव । सेवका इव । यथा अनु-

चरा प्रभु स्वामिन सेवन्ते । वायुस्त्रिधा वर्ण्यते । शीतो मन्दः सुरभिश्च । तदेव त्रै-
विध्यं दर्शयति—किभूताः पवमाना । ललिता पवनवेगेनान्दोलिता अतिचपलीकृता
या गगनस्य गगनवर्तिनी वा आकाशे प्रवहमाना भूमिगतवत् या गङ्गा सिद्धधुनी देवनदी
तस्या सीकराणां जलकणानामासारो वेगवती वृष्टिर्विद्यते येषु । इति शीतलत्वम् । पुनः
किभूताः । स्मिता विनिद्रास्तरवो द्रुमा येषु तादृशानि वनानि काननानि तेषां माला
श्रेणी मन्दं शनैः शनैरान्दोलयन्तस्तरलीकुर्वन्तः । इति मन्दत्वम् । पुनः किभूताः ।
विकचाना विकसिताना कुसुमाना विविधजातीयतरुपुष्पाणां तथा पद्माना कमलानां वा
मोदैः परिमलैः मेदस्विनः पुष्टाः । इति सुरभित्वम् ॥

प्रतिशिखरममुष्मिन्निःसरन्निर्झरौघा

असुरसुरपुरध्रीकेलिनीरन्ध्रनीराः ।

नभसि निरवलम्बप्रस्खलन्नाकिनद्याः

शतश इव भवन्तो वाःप्रवाहाः स्फुरन्ति ॥ ६० ॥

अमुष्मिन् सिद्धपर्वते प्रतिशिखरं निखिलशिखरेभ्यो नि सरन्तो निर्गच्छन्तो ये
निर्झराणामोघाः सघाताः स्फुरन्ति दीप्यन्ते । विभान्तीत्यर्थः । किभूताः । असुराणां
पातालवासिना सुराणां स्वर्गगेहानां पुरं यः कामिन्यस्ताभिः केलिभिः जलविलासैः
कृत्वा नीरन्ध्रनिर्भरभृतनीरपानीययेषु ते । उत्प्रेक्ष्यते—निर्गतं अवलम्बं
आश्रयणं यस्मात्तादृशे नभसि आकाशे निरावारत्वेन प्रस्खलन्त्या प्रकषेण स्खलित्वा
निष्पतत्या नाकिनद्याः स्वर्गिगङ्गायां शतशः शतसहस्रसख्याका भवन्तः वा प्रवाहा
पयः पूरा इव ॥

स्फटिकघटनमन्तः पद्मरागप्रगल्भ

मरकतमयशृङ्गं निर्झरैः राजमानम् ।

कलितकलबलाकाकालिकीवारिधार

ध्वनिजितमिव सार्वशीलदभ्रवभासे ॥ ६१ ॥

क्वचित्कस्मिन्नपि गिरेः प्रदेशे मरकतानि अश्मगर्भा नीलमणय एव रूपं यस्य
इन्द्रनीलरत्नघटितं शृङ्गशिखरवभासे शुशुभे । किभूतं शृङ्गम् । स्फटिकानां क्षीरतैल-
स्फटिकरत्नानां घटना रचना यत्र तत् । पुनः किभूतम् । अन्तर्मध्ये कापि स्थाने
पद्मरागा अरुणमणयस्तैः प्रगल्भा पटुशोभम् । पुनः किभूतम् । निर्झरेण सरन्नीरधा-
रावोरणीभी राजमानम् । उत्प्रेक्ष्यते—ध्वनिना गम्भीरशब्देन जितमभिभूतं सत्सार्व-
ऋषभदेवशीलत्वं सेवमानमभ्रमेघ इव । 'मेघगम्भीरघोषत्वम्' इति हैम्याम् । किभू-
तमभ्रम् । कलिता धृता कला मनोज्ञा बलाका बलाका गता । मेघसमये हि बलाकानां
गर्भाधानं जायते । अत एव मेघदूतकाव्ये प्रोक्तम्—'गर्भाधानक्षणपरिचयात्वे भवन्तः

बलाकाः सेविष्यन्ते' इति । तथा वर्षासु बका नीडवृक्षादावेवोपविश्य तिष्ठन्ति, बला-
काश्च तेषां भक्ष्यमानीय ददते । 'बगला पावसवइठा' इति लोकवृत्तावपि श्रूयते
प्रसिद्धिः । तस्माद्बलाकापदोपादानम् । तथा आकालिकी विद्युत् । तथा वारिधारा
जलवृष्टयो येन ॥

क्वचिदपि रुचिचञ्चत्पद्मरागप्रगल्भं

मरकतमणिचङ्गोत्तुङ्गशृङ्गं चकासे ।

विजितमृषभभर्त्रा धीरगम्भीररावै-

स्तप इव तनुतेऽसिस्तत्तुलाप्त्यै तडित्त्वान् ॥ ६२ ॥

क्वचिदपि कुत्रापि स्थाने शत्रुजयपर्वतोपरिभूमौ मरकतमणीनां महेन्द्रनीलरत्नानां
चङ्गं प्रधानं मरकतमणिकयैर्वा चङ्गं चारुं तथोत्तुङ्गमभ्रलिहं शृङ्गं चकासे दीप्यते
स्म । किभूतम् । रुचिभिर्निर्यज्ज्योतिः पुञ्जैश्चञ्चद्भिर्दीप्यमानैः पद्मरागैः लक्ष्मीपुष्परत्नैः
प्रगल्भं भ्राजमानम् । उत्प्रेक्ष्यते—ऋषभभर्त्रा विमलाचलकमलालकारहारेण श्रीवृषभ-
देवस्वामिना आदिनाथेन धीरैरभङ्गाघुर्धुरैः गम्भीरैर्मन्दैः मध्यमानपाथोनाथनिर्घोषानु-
कारिभिः रावैः स्वशब्दैः जितं पराभूतं सन् तडित्त्वान् विद्युद्बलयालकृतो जलधरस्ते-
षां जैनधीरगम्भीररावाणां तुलायां सादृश्यस्य आप्त्यै प्राप्त्यै किं तपस्तनुते उपवासादि-
कष्टं करोतीव ॥

चपलशफरनेत्रा बन्धुरावर्तनाभी

मधुपपटलकैश्या मानसावासहासाः ।

कनककमलगौर्यो वीचिमालावलीका

स्त्रिय इव रसभाजो भूभृतापो ध्रियन्ते ॥ ६३ ॥

भूभृता शत्रुजयाद्रिणा स्त्रियो बन्धव इव आपो जलानि ध्रियन्ते । किभूता आप-
स्त्रियश्च । चपलाश्चञ्चला शफरा मत्स्या एव तद्वद्वा नेत्राणि नयनानि यासाम् । तथा
बन्धुरो मनोज्ञा आवर्तो दक्षिणावर्तो भ्रमिविशेषः पयसा भ्रमो भ्रमणं यासां तादृश्यो
नाभ्यो मध्यं तुन्दकूपिकाश्च यासां तथा मधुपानां भ्रमराणां पटलानि मण्डलानि एव
तद्वद्वा कैश्या केशानां समूहो यासाम् । पश्चात्कर्मवारयः । पुनः किभूता । मानसा-
वासा हसास्त एव तद्वद्वा विशदो हासो यासाम् । पुनः किभूता । कनकस्य स्वर्णस्य
कमलानि तैस्तद्वद्वा गौर्यं गौराङ्ग्यं । पुनः किभूता । वीचीनां कल्लोलानां माला श्रेणी
सैव तद्वद्वा वली उदरे माससकोचलक्षणा यासाम् । पुनः किभूता । रसं जलं शृङ्गा-
रादिकं च भजन्ते इति रसभाजः ॥

क्वचन जिनगृहान्तर्दह्यमानागुरुभ्यः

प्रसरदमरमार्गप्रस्फुरद्वायुवाहम् ।

सजलजलदबुद्ध्या वीक्ष्य बप्पीहबालाः

कृतपटुचटुवाचो यत्र धावन्ति मुग्धाः ॥ ६४ ॥

यत्र शत्रुजये कचन कुत्रचन प्रदेशेषु मुग्धा अज्ञाना बप्पीहाना चातकानां बालाः शिशव अङ्गना वा सजलाना पानीयपूर्णाना जलदाना मेघाना बुद्ध्या धिया भ्रान्त्या वा धावन्ति समुख पार्श्वे वा यान्ति । किभूताः । कृता विहिता पटव प्रवणाश्चटव प्रियप्राया वाचो वाण्यो यैर्याभिर्वा । कि कृत्वा । जिनगृहाणा जैनप्रासादानामन्तर्मध्ये दह्यमाना भगवत्पुरो धूपोत्क्षेपणार्थं धूपाधानाग्नौ प्रज्वाल्यमाना । उत्क्षिप्यमाना इत्यर्थः । ये अगुरव काकतुण्डास्तेभ्यः प्रसरन्त विस्तरन्त तथा अमरमार्गे आकाशे प्रस्फुरन्तमितस्ततो भूत्वा दशदिग्गृहाङ्गणानि व्याप्नुवन्त वायुवाह धूम वीक्ष्य दृष्ट्वा ॥

स्वकरनिकरसङ्गश्चोतदिन्दूपलाम्भो-

भरमिदमचलोच्चैरत्नशृङ्गादृहीत्वा ।

स्वयममृतमरीचिर्मैत्र्यतः कैरवाणां

किमु दिशति तमेव प्रश्निपीयूषदम्भात् ॥ ६५ ॥

अमृतमरीचिश्चन्द्रः कैरवाणां स्वबन्धुकुमुदानां मैत्र्यतः परस्परसख्यात् प्रश्नीना पीयूषस्य कान्तिद्वारा अमृतस्य प्रश्निरूपस्य पीयूषस्य वा दम्भात्कपटात् तमेव चन्द्रकान्ताम्भोभरमेव स्वयमात्मना दिशति ददातीव । कि कृत्वा । इदमचलस्य अस्य शत्रुजयाद्रेरुच्चैः ऊर्ध्वमधिकाया यद्रत्नानां चन्द्रकान्तकर्केतनादिमणीनां शृङ्गा शिखरतस्मात्स्वस्य कराः किरणास्तेषां निकरो राशिस्तस्य सङ्गः सपर्कस्तेन श्वोतन्त क्षरन्तो गलन्तो ये इन्दूपलाश्चन्द्रकान्तमणयस्तेषामम्भोभर जलपटल गृहीत्वा आदाय ॥

यस्मिन्नुरोद्वयसनिःसृतसिन्धुरङ्क-

क्रीडन्सुरासुरपुरध्रिपयोधराणाम् ।

कस्तूरिकामलयजद्रवसान्द्रपूरा

रेजे यमीसलिलसवलितेव गङ्गा ॥ ६६ ॥

यस्मिन् शत्रुजयाद्रौ उरोद्वयसहृदयप्रमाणं निःसृता निर्गता सिन्धुर्नदी यस्या यमुनायाः सलिलैः सवलिता मिश्रितजला गङ्गेव रेजे विभाति स्म । किभूता सिन्धुः । अङ्गे जलोत्सङ्गे क्रीडन्तीनां जलकेलि कुर्वाणानां सुराणां देवानामसुराणां दानवानां पातालवासिनां प्रथमनिकायभवनयतिनिर्जराणां वा पुरध्रीणां वधूनां पयोधराणां विविधपत्रलताकलितस्तनकलशानां कस्तूरिकाणां गन्धधूलीनां मलयजन्मना चन्दनानां द्रवैः जम्बालिनीजलसङ्गात्पङ्क्तैः सान्द्र करम्बित पूर जलप्रवाहो यस्याः ॥

यत्रोन्मदैः परिणतैर्हरिता करीन्द्रै-

रुत्खातगैरिकभरैर्नभसि अमद्भिः ।

संध्याधियेव गलितावधिवेलमत्र

विश्रान्तिमाप न महानटनाट्यरङ्गः ॥ ६७ ॥

अत्र जगति महानटस्य शमोर्नाट्यरङ्गः नाटकस्य रङ्गः स्नेहक्रीडा गलितो निर्गतोऽवधिः सीमा यत्र तादृग्वेला वारः । काल इत्यर्थः । निरवधिसमय यावत् । ‘शमोर्मा बत साध्यवेलनटन भाजि व्रत वाक्’ इति नैषधे । विश्रान्ति विभ्रममाप लेभे । न नाटक-रङ्गाद्विररामेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—संध्याधिया पितृसूत्रमेणेव । कैः कृत्वा । यत्र शत्रुजये हरितां दिशा करीन्द्रैः गजराजैः । दिग्गजैरित्यर्थः । उत्खातैस्तटाघातक्रियाया दत्तमुस-लैरुत्पाद्य क्षिप्तैः गैरिकाना धातूनां भरैः प्रकरैः । किभूतैः करीन्द्रैः । उन्मदैः क्षीब-तयोद्धतीभूतैः । पुन किभूतैः । परिणतैस्तिर्यक्प्रवादिषु प्रदत्तप्रहारैः । भरैः कि कुर्वद्भिः । नभसि आकाशे भ्रमद्भिः पर्यटद्भिः । विस्तरद्भिरित्यर्थः ॥

यस्मिन्ननन्यमणिधोरणिक्लृप्ततुङ्गा

शृङ्गाङ्गणैर्दलितसंतमसप्रचारैः ।

पूषा मयूखमुषितोत्ससहस्रलक्ष्मीः

खद्योतपोत इव किञ्चिदधत्त शोभाम् ॥ ६८ ॥

यस्मिन् शत्रुजये विमलाचलोपरि वर्तमान पूषा सूर्यः खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः ‘खज्जऊ’ इति लोकप्रसिद्धः । तस्य पोतो बालकः खद्योत एव शिशुः तद्वर्तिकचित्किमपि स्वल्पमात्रा शोभामधत्त दधाति स्म । किभूतः । पूषा मुषिता आच्छिद्य गृहीता उस्त्राणा किरणाना सहस्र दशशती तस्य लक्ष्मी श्रीर्यस्य । कैः । अनन्याभिरसाधारणाभिः मणीना नानाविधरत्नाना धोरणीभिः श्रेणीभिः क्लृप्तानि घटितानि तथा तुङ्गान्यभ्रकषाणि शृङ्गाणि शिखराणि तेषामङ्गणैरजिरैः । सङ्गृहीतैरित्यर्थः । किभूतैः । दलितो व्यापादितः सतमसानामन्वकाराणा प्रचारः प्रसारो यैः ॥

अहोरात्रस्थासूदयदमितभास्वद्भ्रमकरिं

मणीशृङ्गश्रेणी हततमसमभ्राध्वपथिकीम् ।

विलोक्यैतत्पद्माकरकमलिनीराजिरनिश

गलन्निद्रामुद्रां कलयति समुद्धोधकमलाम् ॥ ६९ ॥

एतस्य शत्रुजयाद्रेः पद्माकराणा कमलमण्डलशालिसरसा कमलिनीनां राजीविनीनां राजिरनिश निरन्तर नक्तदिनमपि समुद्धोधस्य सम्यग्विकाशस्य कमला लक्ष्मी कलयति धत्ते । किभूता कमलाम् । गलन्ती निर्यान्ती निद्रासकोचलक्षणा तन्द्रा तस्या मुद्रा मुद्राण स्वापावस्था यस्या सा ताम् । कि कृत्वा । मणीनामाभकरप्रभकरादीना माणिक्यानाम् । देदीप्यमानमणिमयानामित्यर्थः । शृङ्गाणा शिखराणा श्रेणीं धोरणी विलोक्य दृष्ट्वा । किभूताम् । अहोरात्र दिवसे निशाया च निरवधिसमय यावन्नित्यं स्थासूना

वसनशीलानां तथा उदयतामभ्युद्गम भजता तथा अमितानां प्रमाणरहितानां संख्या-
तीताना भास्वता भास्कराणां भ्रमकरी भ्रान्तिविधायिकाम् । पुन किंभूताम् । हतानि
ध्वस्तानि गले गृहीत्वा निष्काशितानि तमासि ध्वान्तानि यथा ताम् । पुन किंभूताम् ।
अभ्राणां मेघानामध्वनो मार्गस्य गगनपद्धतेर्वा पथिकी पान्थीम् । अभ्रकषामित्यर्थः ।
'अभ्र व्योमपयोदयो ' इत्यनेकार्थः ॥

यस्मिन्नुद्वहता कनीमिव लतां यूनेव भूमीरुहा

स्वामोदैः स्वजनैरिव स्मितसुमैः पात्रैरिवोद्यन्मधु ।

प्रीत्या भोजयितुं वराशनमिवानेके द्विरेफाः समं

स्त्रीभिर्नागरिका इवोन्नततयामन्त्रयन्त मन्त्यामहे ॥ ७० ॥

यस्मिन् शत्रुजये यूनेव तरुणेनेव भूमीरुहा विनिद्रद्रुमेण अथ च भूमीजन्मनो-व्यव-
हारिणा नागरिका पौरजना इव अनेके बहवो द्विरेफा भ्रमरा भृङ्गा आमन्त्रयन्त आकार्य-
न्त । कथम् । सम सार्धम् । काभि । स्त्रीभि नागरीभिरिव भ्रमरीभि सह । कया । उन्नत-
तया महत्त्वेन उच्चै शिरस्त्वेन महातरुत्वेन अथ महाव्यवहारित्वेन चेत्यत्राय हेतु । कै-
कृत्वा आहूयन्ते स्म । आमोदै परिमलै । कैरिव । स्वजनैरिव स्वगोत्रजातैरिव । भूमीरुहा
कि कुर्वता । उद्वहता उत्प्राबल्येन वहता विभ्रता अङ्गीकुर्वता षण्णामपि ऋतूना सर्वदा
तत्राद्रौ स्थायुकत्वेन पाणिग्रहण कुर्वता च । काम् । लता वनवल्लीम् । कामिव । कनीमिव
कुमारिकामिव । किमर्थमामन्त्रयन्त । भोजयितु भोजन कारयितुम् । कया । प्रीत्या ।
स्वोत्सङ्गलेहेन स्थायुकत्वेन कि कर्मतापन्नम् । उद्यन्मधु प्रकटीभवन्मकरन्दम् । किमिव ।
वराशनमिव षड्ससरसीकृतप्रधानभोज्यास्वाद्यलेह्यचोष्यभोजनमिव । कै । स्मितै-
विकसितैः कुसुमैः पुष्पै । कैरिव । पात्रैरिव स्वर्णाद्यमन्त्रैरिव ॥

सिन्धूः सुता इव पिता त्वरमाणभावाः

प्रोत्कण्ठिताः प्रदधतीः सरसीजभूषाः ।

प्रास्थापयत्प्रति पति जलधि तरङ्गैः

सत्राङ्गरक्षकभटैरिव सिद्धशैलः ॥ ७१ ॥

सिद्धशैलः श्रीशत्रुजयाचल सिन्धूश्चतुर्दशापि महानदी सर्वतुल्यानत्वेन जलवरका-
लबहलीभवज्जलदजलप्राबल्यकल्लोलितकल्लोलिनी जलवि समुद्र भर्तार प्रति प्रास्थापय-
त्प्रेषयति स्म । कथम् । सत्रा सार्धम् । कै । तरङ्गै गगनाङ्गणालिङ्गनलोलकल्लोलै । कैरिव । अथ
वा उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गरक्षकभटैः शरीरयत्नविधायकवीरैरिव । क इव प्रास्थापयत् ।
पितेव । यथा जनकः स्वस्वतात सुता आत्मपुत्री पति पाणिगृहीतार प्रति प्रस्थापयति ।
किंभूता सिन्धूः सुताश्च । त्वरमाण शीघ्रतरो भावः । भूयते उत्पद्यते कर्मवशातया
भूयो भूयः ससार अनेनेति भाव आत्मा चित्ताभिप्रायश्च यासाम् । प्रायो वर्षाकाले

नयस्त्वरितं चलन्ति । स्त्रियोऽपि पतिमिलनार्थं त्वरिता अत्युत्सुकाश्च भवन्ति । पुनः किभूता । प्रोत्कण्ठिता प्रकर्षेण उत्कृष्ट कण्ठ उपकण्ठ सनिधान सजात आसाम् उभौ कण्ठौ पानीयपूर्णौ सजातावासामिति प्रोत्कण्ठिताः कण्ठादूर्ध्वमूढा वा । 'कण्ठो ध्वनौ सनिधाने ग्रीवाया मदनद्रुमे' इत्यनेकार्थः । तथा प्रकर्षेणोत्कण्ठा औत्सुक्य भर्तृसगमे जातमासाम् । पुनः कि कुर्वती । सरसीजानि विविधकमलानि तैः कृत्वा भूषा शोभा यासाम् । पक्षे पद्मानामुपलक्षणात्कुसुमानां भूषा हारादिमाभरणानि यासाम् । अथ वा कमलकुसुमानि हाररूपाणि तथा भूषा विविधाभरणानि यासाम् । 'भावोऽभिप्रायवस्तुनोः । स्वभावजन्मसत्तात्मक्रियालीलाविभूतिषु ॥ चेष्टायोन्योर्बुधे जन्तौ शृङ्गारादेश्च कारणे । शब्दवृत्तिहेतौ च' इत्यनेकार्थः ॥

शशाङ्ककरसंगमक्षरदमन्दपाथःप्लवैः

क्वचिद्विधुमणीमयः कलयति स्म सालः श्रियम् ।

प्रचण्डतरचण्डरुक्किरणतापसंतापितः

प्रतिक्षिपति वामृतैः प्रविदधन्निजेनाप्लवम् ॥ ७२ ॥

क्वचित्कुत्रापि शत्रुजये विधुमणीमयश्चन्द्रकान्तरत्नघटित साल प्राकारः श्रिय शोभा कलयति धत्ते । कैः । शशाङ्कस्य चन्द्रस्य कराणां किरणानां सगमेन सपर्केण क्षरता नि सरताममन्दानां भूयसा पाथसा पानीयानां प्लवैः पूरैः कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—प्रचण्डतरेण अतिशयेन तीव्रेण चण्डरुचः सूर्यस्य किरणानां ज्योतिषा तापेनोष्मणा संतापितो व्याकुलीकृतः सन् प्रतिक्षिप रात्री रात्रीं प्रति अमृतैर्नारैः कृत्वा निजेनात्मना आप्लव स्नानं प्रविदधत् कुर्वन्निव ॥

लीलायमानान्निजमौलिदेशे केशानिवोच्चैःप्रसरत्पयोदान् ।

धूपायतीवाप्तनिकेतधूपधूमैर्विलासीव स सिद्धशैलः ॥ ७३ ॥

स त्रिजगद्विख्यातः सिद्धशैलः शत्रुजयाद्रि निजस्यात्मनो मौलिदेशे शिरस्थानीयः शिखराग्रभागे लीलायमानान् लीलयाचरतो विभ्रमं भजन्तः क्रीडया आचरतो वा केशानिव कुन्तलानिव मस्तकोपरि शोभा बिभ्रत उच्चैरूर्ध्वं प्रसरतो विस्तारं प्राप्नुवतः पयोदान् जलधरान् । उत्प्रेक्ष्यते—आप्तानामर्हता निकेतेषु गृहेषु प्रासादेष्वित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यमानागुरुव्रातधूपानां धूमैः कृत्वा धूपायतीव । सुगन्धीकरोतीव । क इव । विलासीव । यथा ह्यादिभोगासक्तत्वेन विलासवान् पुमान् कृष्णागुरुप्रमुखधूपधूमैर्निजः केशान्सुरभयति ॥

अर्काशुसपर्किपतङ्गकान्ताभितोविनिष्पातिहुताशहेतिभिः ।

मणीविहाराः प्रणयन्ति यस्मिन्पञ्चाग्निकष्टं क्वचनापि योगिवत् ॥ ७४ ॥

यस्मिन्विमलाचले क्वचनापि कुत्रचिदपि प्रदेशे मणीनामन्तः सदृग्धार्ककान्तमा-

णिक्याना विहाराः प्रासादाः योगिवत्तापसा इव पञ्चाग्निकष्ट चतसृषु दिक्षु चत्वारः
प्रज्वालितकाष्ठाग्रयः पञ्चमो भास्वाश्चेति पञ्चाग्निसाधनं कृच्छ्रं प्रणयन्ति कुर्वते इति
गर्भितोत्प्रेक्षा । काभिः कृत्वा । अर्कस्य सूर्यस्याशुभिः किरणैः सम संपर्कः संयोगो-
ऽस्त्येषा तादृशा ये भास्करमणयस्तेभ्यः अभितश्चतुर्दिक्षु विशेषेण निष्पतनशीलाना
हुताशानामनुच्छिष्टवह्नीना हेतिभिर्ज्वालाभिः ॥

निर्गत्वरप्रसृमरद्युतिवारिपूर-

पूर्णान्तरस्फटिककल्पितकूटकोटीम् ।

जज्ञे किमु प्रतितटं तटिनी विपाशा

प्रेक्ष्येत्यबुध्यत विमुग्धजनेन यस्मिन् ॥ ७५ ॥

यस्मिन् शत्रुजये विमुग्धजनेनाज्ञानलोकेन इत्यमुना प्रकारेणाबुध्यत ज्ञातम् । विचा-
रितमित्यर्थः । किं कृत्वा । निर्गत्वरानि सरणशीला प्रसृमराद्युतयः किरणास्ता एव वारिणां
नीराणां पूरा प्लवा प्रवाहास्तैः पूर्णं संपूरितं भूतमन्तरं मध्यं यस्यास्तादृशीं स्फटिकै-
श्वेतोपलैः कल्पिता रचिता कूटानां शिखराणां कोटीं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा । इति किम् । प्रतितटं
शिखरं शिखरं प्रति विपाशा तटिनी अनुसर्पिणी नदी किमु जज्ञे सजाता । 'उत्सर्पिणी न
खलु तत्र तरङ्गिणी या त्वन्नेत्रयोरहह तत्र विपाशि जाता । नीराजनाय नवनीरजरा-
जिरास्तामत्राञ्जसानुरजराजनि राजमाने ॥' इति नैषधे । तत्र द्वीपे विपाट् नदी न प्रसर-
णशीला आविर्भवति किल तत्र जातत्वात् अन्यत्र द्वीपेषु यथा सरित्प्रसरन्ती दृश्यते
तथा तत्र विपाट् नेति पुराणप्रसिद्धिः । 'तत्र तस्या विपाशि जाता नवपद्मपङ्क्तिः त्वन्ने-
त्रयोर्नीराजनायास्ताम् । अहहेत्याश्चर्यं । अत्रास्मिन् राजनि साकल्येनानुरजः अनुरक्ता
भव । 'अञ्जेश्व' इत्यनुनासिकलोपः । 'विपाशा तु विपाट् स्त्रियाम्' इत्यमरः ।' इति
नैषधवृत्तौ ॥

गुहागृहशयानानां खगसारङ्गचक्षुषाम् ।

राजी जागरयन्तीव स्तनितैः स्तनयित्त्वः ॥ ७६ ॥

यत्र पुण्डरीकपर्वते स्तनयित्त्वो वारिवाहाः स्तनितैर्निजगर्जारवैः । 'जलदस्य तु ।
स्तनितं गर्जितं गर्जं स्वनितं रसितानि च ॥' इति हैम्याम् । मेघगर्जाभिधानानि
कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—गुहा शत्रुजयकदरा एव गृहा रमणीयत्वान्मणीगणसोद्योतत्वाच्चाल-
यतुल्यास्तेषु शयानानां बहुदेवगृहगमनसजातपरिश्रान्तिवशात्सुखसुप्तानां खगसार-
ङ्गचक्षुषा विद्याधरहरिणीनयनानां खे नभसि गच्छन्तीति खगा सुरास्तेषामपि मृगेक्षणा-
नाम् । देवीनामित्यर्थः । राजीं श्रेणीं जागरयन्तीव पुनर्देववन्दनपूजनार्थं प्रबोधयन्तीव ॥

स्वभक्तभव्यजन्तूनामन्तरङ्गविरोधिनाम् ।

योऽरुंतुदानां संदोहं स्पृहयन्हन्तुमात्मना ॥ ७७ ॥

नाराचोपचिता विश्वजैत्रीश्चापलता इव ।

भृङ्गालिसङ्गिनीर्धत्ते पद्मिनीः प्रतिपल्वलम् ॥ ७८ ॥

यः शत्रुजयाद्रिः प्रतिपल्वल पद्माकर पद्माकर प्रति भृङ्गाणा मधुकराणामालिभि
श्रेणीभि सह सङ्गोऽनुषङ्ग आसक्तिरस्त्यासा तादृशीः पद्मिनीः कमलिनीः कमलानि वा
धत्ते धारयति । उत्प्रेक्ष्यते—यः शैल विश्वाना जगता जैत्रीर्जयनशीलास्तथा नाराचै-
र्लोहमयबाणैः सर्वायसशरैरुपचिता सधानसहिता लता धत्ते इव धारयतीव । किं
कुर्वन् । हन्तु निहन्तु स्पृहयन् काङ्क्षन् । केन । आत्मना स्वयमेव स्वभक्तत्वप्रीत्या ।
कम् । सदोहम् । केषाम् । अन्तरङ्गा मध्ये वर्तमाना अष्ट कर्माण्येव अथ वा क्रोधमा-
नमायालोभरागद्वेषाख्या एव विरोधिन प्रतिपक्षास्तेषाम् । किभूतानाम् । अरुतुदानां
मर्मव्यथकानाम् । केषाम् । स्वस्मिन् स्वस्य वा भक्ता सेवासक्तास्तादृशा ये भव्याः
सिद्धिगमनयोग्या जन्तव प्राणिनस्तेषाम् ॥

स्वस्मिन्नम्बरचारिणां प्रतिपदं कृत्वैकतानं मनो

विद्याः साधयतां स्वपुण्यमिव यः सिद्धीर्विधत्ते धरः ।

यस्मिन्कापि च योगिनामहरहज्योतिः पर ध्यायतां

हृत्पद्मे परमात्मना प्रकटित पूष्णेव पूर्वाचले ॥ ७९ ॥

यो धरः शत्रुजयाद्रिः । 'ग्रावापर्वतभूध्रभूधरधरा' इति हैम्याम् । एकतानमेकाग्र
विद्याध्यानलीन मनो मानस कृत्वा विधाय प्रतिपद स्थाने स्थाने आत्मशिखरकदरा-
शिलातलोद्यानकुण्डतटभूमिपीठेषु स्वस्मिन्नात्मनि विषये विद्या गोचरीप्रज्ञप्तिप्रमुखा
विद्याधिष्ठायिका देवता मन्त्रान् साधयतामाराधन कुर्वतामम्बरचारिणा विद्याधराणा
सिद्धी कार्यनिष्पत्तीर्विधत्ते कुरुते । विद्यादेवतास्तत्प्रत्यक्षीकरोतीत्यर्थः । किमिव ।
स्वपुण्यमिव । यथा निजप्राचीनसुकृत सिद्धीर्दत्ते । च पुनर्यस्मिन्विमलाचले कापि
प्रदेशे अहरहः प्रतिवासरम् । नित्यमित्यर्थः । पर परममुत्कृष्ट ज्योतिर्ब्रह्म परमेष्ठिलक्षण
ध्यायता ध्यानगोचरीकुर्वता योगिना मनोवाक्काययोगवतामष्टाङ्गयोगभाजा वा योगी-
न्द्राणा हृत्पद्मे हृदयकमले परमात्मना ब्रह्मस्वरूपेण प्रकटित प्रादुर्भूतम् । योगिनो हि
ध्यान कुर्वाणा हृदयकमलकर्णिकाया परमात्मस्वरूपमालोक्य ध्यानाद्विरमन्तीति श्रुतिः ।
'योगात्स चान्त परमात्मसज्ञ दृष्ट्वा पर ज्योतिरुपारराम' इति कुमारसभवे । केनेव ।
पूष्णेव । यथा पूर्वाचले सहस्ररश्मिना प्रकटीभूयते ॥

तावल्लीलाविलासं कलयति मलयो विन्ध्यशैलोऽपि ताव-

द्धत्ते मत्तेभगर्वं तुहिनधराणिभृत्तावदेवाभिरामः ।

तावन्मेरुर्महत्त्वं वहति हरगिरिर्गाहते तावदाभा

यावत्तीर्थाधिराजो न नयनपुटैः पीयते पर्वतेन्द्रः ॥ ८० ॥

मलयो दक्षिणाचल गोशीर्षचन्दनोत्पत्तिस्थान मलयगिरिस्तावत्प्रमाणमस्येति सम-
यप्रमाण लीलया स्वरसेन स्थानवैशिष्ट्येन वा विलास विभ्रम कलयति विभर्ति । अपि
पुनर्विन्ध्यशैलो जलबालकाचल मत्तेभाना मदोदयोद्धताना मतङ्गजेन्द्राणा गर्वमहकारं
धत्ते धारयति । विन्ध्याद्रौ हि भद्रमन्दमृगमिश्रजातयो गजा उत्पद्यन्ते तदभिमान ।
पुनस्तुहिनधरणिभृत् हिमाचलस्तावदेवाभिराम कस्तूरिकामृगौषवीप्रस्थचमरगोप्रमुखै
र्मनोज्ञः । तथा मेरु सुपर्वपर्वत तावन्महत्त्व महिमान गरिमाण वहति । पुनर्ह-
रगिरि कैलाशस्तावन्त कालमाभा शोभा गाहते आलम्बते यावत् यावता समयेन स
त्रिभुवनप्रसिद्धः पर्वतेन्द्र शत्रुजयशैलाखण्डल नयनपुटै नेत्रपत्रामत्रैर्न पीयते सादर
स्वदृशा नावलोक्यते । किभूत । तीर्थाना पुण्यस्थानाना मोक्षगमनक्षेत्राणा वा अधिरा-
जश्चक्रवर्ती तीर्थाधिराज पर्वतेन्द्र । 'श्रिय पदम्' इति शत्रुजयमाहात्म्योक्ताभि-
धानत्वात् ॥

विविधकमलाकेलीगेहं क्षमाक्षणदापते-

गृहमिव महीकान्तारत्नावतसमिवोन्नतम् ।

सफलमखिलं कर्तुं काङ्क्षन्नुर्गिरियात्रया

व्रतिवसुमतीशक्रः शत्रुजयं स्वदृशा पपौ ॥ ८१ ॥

व्रतिना सयमिना मध्ये वसुमतीशक्रो राजा । 'राजा राट् पृथिवीशक्र' इति हैम्याम् ।
हीरविजयसूरीश्वर शत्रुजय विमलाचल स्वदृशा निजनयनेन पपौ सादरमवलोकयति
स्म । प्राक् सर्गस्य तृतीये 'सिद्धिशैल ददर्श' इत्युक्तमास्ते तत्र तु दूरत्वेन दृष्ट्वात्रावलोक-
नम् । इदानीं तु शनैः शनैः सनिधानागमनेन सम्यगवेक्षणत्वेन शिखरादिस्थानविशेष-
विभूषित पुण्डरीकपर्वत स्वलोचनाभ्यां सादर दृष्टवानिति विशेषः । किं कर्तुमिच्छन् ।
शत्रुजयशैलारोहणप्रासादप्रतिमादर्शनसर्वतः स्पर्शनादिभिरखिलमशेषमपि जनुर्जन्म
स्वावतार सफल फलेग्रहि कृतार्थं फलकलितं कर्तुं विधातुं काङ्क्षन् वाञ्छन् । किभूत
शत्रुजयम् । विविधानां कमलानां केलीगेहं क्रीडासदनम् । 'केलीभिरुद्वर कृशोदरि' इति
नैषवे । किमिव । गृहमिव । यथा क्षमाक्षणदापतेर्वसुवासुवाकरस्य आसमुद्रान्तभूमी-
भर्तुर्भवन भाण्डागारगेहमन्यद्वा सौव विविवश्रीणां स्थानं भवेत् । शत्रुजयमुत्प्रेक्षते—
महीकान्ताया भूमीभामिन्या रत्नावतस मणिमयशेखरमिव । किभूतम् । उन्नतं तुङ्गम् ॥

यः प्रासूत शिवाहसाधुमधवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलेनानन्दतो निर्मिते

वृत्ते पञ्चदशोऽत्र हीरचरिते सर्गो बभूवानसौ ॥ ८२ ॥

आनन्दतः सकलतीर्थाधिराजस्सरणवर्णनोद्भूतनूतप्रमोदाद्देवविमलेन निर्मिते विर-

चित्ते हीरस्य हीरविजयसूरेश्वरित यत्पावारादिना सिद्धिगमनादिक चरित्र यत्र तादृशे
वृत्ते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये असौ पूर्वोक्तलक्षणः पञ्चदश पञ्चदशानां सख्यापूरणः
अत्र हीरचरित्रे सर्गोऽविकारविशेष बभूवान् सजात ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचिताया स्वोपज्ञहीरसौ-
भाग्यमहाकाव्यवृत्तौ गुर्जरदेशात्प्रस्थानशत्रुजयसमीपागमनतद्दर्शनतद्व-
र्णनो नाम पञ्चदश सर्गः ।

षोडश सर्गः ।

समीपमुपजग्मिवानथ गिरीशितुः श्रीगुरुः

प्रभावमतिशायिनं त्रिभुवने समाकर्णयन् ।

सुरद्रुमसमुल्लसत्कनककान्तकायद्युति-

र्लघूकृततनुः समीक्षितुमिवोत्सुकः स्वर्गिरिः ॥ १ ॥

अथ दर्शनसम्यगवलोकनानन्तर श्रीगुरु हीरविजयसूरिर्गिरीशितु शत्रुजयशैलश-
कस्य समीप पार्श्वमुपजग्मिवान् समाजगाम । सप्तम्यर्थे द्वितीया । उत्प्रेक्ष्यते—समी-
क्षितु सम्यक्तया विलोकयितुमुत्सुक उत्कण्ठित स्वर्गिरिर्मेरुरिव समीपे समेत । कि
कुर्वन् । त्रिभुवने त्रैलोक्येऽपि अतिशायिनमत्यभ्यधिक प्रभावमर्थाद्विमलाद्रेर्माहात्म्य
समाकर्णयन् सम्यगेकाग्रमनसा शृण्वन् । महिमान् श्रुत्वा त द्रष्टुमागत इत्यर्थः । किभूत
श्रीगुरु स्वर्गिरिश्च । सुरद्रुमा पञ्चापि कल्पवृक्षा तद्वद्वाततया निरुपमरूपवत्तया च तैश्च
समुल्लसन्दीप्यमान । तथा कनक सुवर्णं तद्वद्वा तेन च कान्ता मनोज्ञा कायस्य शरीरस्य
द्युतिर्यस्य । पश्चात्कर्मवारय । किभूत स्वर्गिरि । लघूकृता खल्पा विहिता तनू शरीर येन ॥

तदद्रितलहट्टिकाप्रथितपादलिप्ताभिधं

पपौ पुरमपश्रमः श्रमणशर्वरीवल्लभः ।

उपेतमिह पूर्ववत्पुनरुपान्तमानन्दयु-

क्पुर प्रथमहार्दतः किमतिदूरभाव त्यजन् ॥ २ ॥

श्रमणशर्वरीवल्लभ तस्य शत्रुजयनान्नोऽद्रे पर्वतस्य तलहट्टिका परिसरभूमि 'तल-
हटी' इति प्रसिद्धा तस्या प्रथित भुवि विख्यात तथा पादलिप्तमित्यभिधा नाम
यस्य तादृश पुर नगर 'पालीताणु' इति लोके प्रसिद्ध पपौ सादरमवलोकितवान् ।
मार्गश्रान्तस्य नगरस्य प्रमोदकृदित्यादरपूर्वकप्रेक्षणम् । अत एव सूरि किभूत । अप-
गत श्रमो मार्गप्रयासखेदो यस्य सोऽपश्रम । उत्प्रेक्ष्यते—इह तलहट्टिकाया पूर्वव-
त्प्रथममिव पुनर्व्याघुष्य द्वितीयवारम् । पूर्वं भरतचक्रिणा शत्रुजयदर्शनादानन्दसमुत्पादा-
त्तलहट्टिकाया वासितमासीत्, बहुकालातिक्रमवशात्कालानुभावेन च गिरिघटनात्तदतिदू-
रीभूतम् । अत एव प्रथमहार्दत पूर्वस्नेहादुपान्ते शत्रुजयसमीपे उपेतमागतमानन्देन

युनक्तीत्यानन्दयुक् तादृश पुरम् । आनन्दपुरमित्यर्थ । तदायातमिव । किं कुर्वत् ।
अतिदूरभावमतिशयेनात्यन्त विप्रकृष्टता त्यजन् मुञ्चन् ॥

नभोगमनभेषजव्रजविधेरनुग्राहिणा

गुरोरभिधया पुरं गृहमिव त्रिलोकीश्रियाम् ।

सुवर्णरससिद्धिमान्विविधसिद्धविद्यान्वितः

स्म वासयति संनिधौ नगवरस्य नागार्जुनः ॥ ३ ॥

नागार्जुनो नाम योगीन्द्रः पादलिप्तसूरेरभिधया नाम्ना नगेषु सर्वपर्वतेषु वर सिद्धिदायकत्वात्प्रधानं शत्रुजयशैलेन्द्रस्य संनिधौ समीपे पुरं पादलिप्तनगरं वासयति स्म निवेशितवान् । उत्प्रेक्ष्यते—त्रिलोकीश्रिया त्रैलोक्ययावलक्ष्मीणां गृहं निवाससौवमिव । गुरोः किंभूतस्य । नभसि आकाशे गम्यते पादलेपप्रभाद्वद्भ्रम्यते अनेनेति नभोगमनं भेषजानां सप्रभावाणां सौषवानां व्रजं अष्टोत्तरशतसंख्यं समूहास्तस्य विधेः प्रकारस्यानुगृह्णाति स्वभक्तीभवनात्प्रसादं करोतीत्येवशीलस्य । किंभूतो नागार्जुनः । सुवर्णस्य सार्धपोडशवर्णिकाभाजो हेमः कोटीवेधीति नाम्नो रसस्य जलरूपस्य सर्वधातुभेत्तुं सिद्धिनिष्पादनं विद्यते अस्येति सुवर्णरससिद्धिमान् । नवीनं सुवर्णरसं स्वयं निष्पादयतीत्यर्थः । पुनः किंविशिष्टं । विविधा नानाप्रकारां सिद्धां परिपाकं प्राप्तां कार्यकारिणः । अथ वा प्रत्यक्षीभूततदधिष्ठायकदेवतास्तादृश्यो विद्या आम्नायमन्त्रास्ताभिरन्वितः । नागार्जुनयोगी श्रावकीभूय श्रीपादलिप्तसूरीशितुं सकाशात् गगनगमनदायकभेषजान्नायमग्रहीदिति श्रूयते ॥

यदीयविभवैर्जगत्रयपुरीपराभावुकै

पुरी त्रिदिवसन्नना परिभव भराल्लम्बिता ।

उपास्तिमतनोन्निजाश्रयजुषस्त्रिलोकीसृज

सरोजवसतेरिवाकलयितुं स्वयं तत्तुलाम् ॥ ४ ॥

त्रिदिवसन्नना देवानां पुरी नगरी अमरावती नाम्नी निजमात्मैवाश्रयं स्थानं जुषते भजते स्वस्याश्रये स्थानं सेवते वा तादृशस्य सरोजवसते । 'ताम्यस्तामरसान्तरालवसतिर्देवं स्वयंभूरभूत्' इति खण्डप्रशस्तौ । तथा 'नाभिपद्मात्मभूतिः' इति ह्येय्याम् । ब्रह्मणः । उत्प्रेक्ष्यते—उपास्तिं सेवामतनोच्चकारेव । किंभूतस्य सरोजवसते । त्रिलोकीसृजं जगतां त्रयीं सृजति करोतीति । किं कर्तुम् । स्वयमात्मना तस्य पादलिप्तपुरस्य तुलां साम्यमाकलयितुं प्राप्तुम् । किंभूता अमरावती । जगतां पातालभूमिस्वर्गाणां त्रयस्य । त्रिभुवनस्येत्यर्थः । पुरीणां समग्रसुरासुरनरनगरीणां पराभावुकैरभिभवनशीलैर्यदीयैः पादलिप्तपुरसंबन्धिभिर्विभवैः शोभातिशयैर्भरादाविक्रयात्परिभवमभिभूतिं लम्बिता प्रापिता ॥

सुरादिपरिवारिता किममरावती स्वर्गतः

क्षितौ किमुपजग्मुषी विमलशैलयात्राकृते ।

द्विजिह्वनिचिताश्रयं किमु विहाय गेहं बले-

रुतागतमिह श्रिया स्फुरति पादलिप्तं पुरम् ॥ ५ ॥

इह शत्रुजयशैलतलहट्टिकाया पादलिप्त पादलीताणाभिधान पुर श्रिया शोभया लक्ष्म्या वा स्फुरति दीप्यते । उत्प्रेक्ष्यते—विमलशैलस्य पुण्डरीकाद्रेर्यात्राकृते स्पर्शन-देवदर्शनपूजनाद्यर्थं स्वर्गतो देवलोकाक्षितौ पृथिव्यामर्थाद्विमलाचलसनिधौ सम्यक्प्रका-रेण महर्ष्या उपजग्मुषी समागता किममरावती इन्द्रनगरीव । किभूता । सुरा देवा । आदिशब्दादेव्य इन्द्राण्य मन्दिराणि कोट्वाप्य वनानि सरासि पुरीपरिकरादि सर्वमपि सगृह्यते । सुरादिभि परिवार सजातोऽस्या इति परिवारिता परिच्छदर्कलता । उताथ वा इह गिरेरुपान्ते आगत सप्राप्त बलेर्गेहमिव नागलोक इव । कि कृत्वा । द्विजिह्वै भुजगमै पिशुनैर्वा निचित व्याप्तमाश्रय स्वस्थान विहाय त्यक्त्वा । यदुक्तम्—‘शृङ्गिण दशभिर्हस्तै शतहस्तैर्हय त्यजेत् । गज हस्तसहस्रेण देशत्यागेन दुर्जनम् ॥’ इति ॥

भवाहितभिदोदयत्परमसातमाशंसता

पुरी निजनिवासिनामसुमता समूहानसौ ।

महोदयमहापुरं विमलशैलमूलाध्वना

निनीषुरमुना किमु स्थितवती समेत्यान्तिके ॥ ६ ॥

असौ पादलिप्ताभिधाना नगरी अन्तिके शत्रुजयाद्रिसमीपे समेत्यागत्य स्थितवती उवास स्थिति कृतवती । उत्प्रेक्ष्यते—निजनिवासिना स्वस्या नितरा सातेन वसनशी-लानाम् । ‘निजनिषेविनाम्’ इति पाठे तु निजमात्मान नितरामतिशयेन सेवन्ते इत्येवशी-लानामसुमता प्राणिना समूहान् गणान् अमुना प्रत्यक्षलक्ष्येण विमलशैलरूपो यो मूल अध्वरोऽवा मार्गस्तेन कृत्वा महोदयो मोक्ष अथ वा महानतिशायी उदय मानसस-मीहित सर्वसप्तप्राप्तिर्यस्मिन् तादृश महापुरमनन्तसुखविधायकत्वात्सर्वनगराभ्यधिक-पत्तन किमु निनीषुर्नेतुमिच्छुरिव । असुमता किं कुर्वताम् । भव ससार स एवाहित शत्रुर्न विद्यते हित शुभोदको यस्मात्सोऽहित केवलानिष्ठतरायतिफलप्रदस्तस्य भिदा व्यापादन तया कृत्वा उदयत्प्रकटीभवत्परममुत्कृष्ट सात शर्म आशसता काङ्क्षताम् ॥

विजित्य निजवैभवैः सुरनरोगस्वामिना

स्फुरत्पुरपरम्परा जगति पादलिप्त वरम् ।

परश्शतजिनेश्वराश्रयशिखाङ्गणालिङ्गिनी-

द्विषद्विजयबोधिका व्यधृत वैजयन्तीरिव ॥ ७ ॥

पादलिप्त पुर नाम नगरं द्विषता श्रिया कृत्वा स्वप्रतिमल्लाना विजयस्य पराभवस्य बोधिका कथयित्रीम् । 'निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—वैजयन्तीर्महापताका व्यधृत धारयति स्मेव । किभूता वैजयन्ती । परश्शता शतसहस्रसख्याका ये जिनेश्वराणा तीर्थकराणामाश्रया गेहा । प्रासादा इत्यर्थः । तेषां शिखाङ्गणानि शृङ्गाजिराणि आलिङ्गन्त्याश्लिष्यन्तीत्येवशीला । किं कृत्वा व्यधृत । जगति त्रैलोक्येऽपि सुरा देवा नरा मानवा उरगा असुरनागास्तेषां स्वामिना नायकानां सुरेन्द्रनरेन्द्रनागेन्द्राणां स्फुरता लक्ष्म्या दीप्यमानानां पुराणां नगराणां परम्परा श्रेणी-निजवैभवैः स्वकीयसमृद्धिशोभातिशयैर्विजित्य परिभूय ॥

नृशंसनिकषात्मजव्रजनिवासतो विभ्यती

पयःप्रकटसंकटाज्जलधिजाच्च निर्वेदभाक् ।

अपास्य पदमात्मनः किमियमत्र लङ्कागता

पुरी पुरजनोत्सवैरलमकारि सूरीन्दुना ॥ ८ ॥

सूरीन्दुना हीरविजयसूरिचन्द्रेण पुरजनानां नगरलोकानामुत्सवैर्महामहैर्जायमानैः सद्भिः पुरी पादलिप्तनाम्नी नगरी अलमकारि भूष्यते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अत्र शत्रुजयसमीपे तलहट्टिकाप्रदेशे आगता समागता लङ्का दशकधरनगरीव । किं कृत्वा । आत्मन स्वस्या पदं जलधिमध्यगतं स्थानमपास्य त्यक्त्वा । किभूता । नृशंसानां निर्दयानां निकषात्मजानां राक्षसानाम् । 'कीनाशरक्षोनिकषात्मजाश्च' इति हैम्याम् । व्रजानां कुलकलापानां निवासतोऽनिश स्वस्या निवसनं ततो विभ्यती भीतिं प्राप्नुवती । च पुनः किभूता । निर्वेदभाक् खेदोपगता । कस्मात् । जलधिजात्समुद्रोत्पन्नात् । परिखास्थाने परितः पयोधिमध्ये लङ्का तादृग्जलमध्यस्थितिलक्षणात्पयसा पानीयानां प्रकटादुल्बणात्संकटात्क्लेशात् । 'स्थानं त्रिकूटं परिखां समुद्रो रक्षासि योवा धनदा च वित्तम् । सजीविनी यस्य मुखे च विद्या सरावणो दैववशाद्विनष्टः ॥' इत्युक्तेः ॥ इति पादलिप्तपुरम् ॥

अशेषविषयान्तराद्यतिकरेऽत्र सघाधिपाः

समं मनुजराजिभिर्जयिमहीमहेन्द्रा इव ।

भगीरथगिरीश्वरं प्रति शताङ्गमातङ्गयु-

क्तुरङ्गशिबिकामुखप्रमुखयानभाजोऽव्रजन् ॥ ९ ॥

अत्र व्यतिकरे पादलिप्तपुरे सूरिसमागमनप्रस्तावे अशेषविषयान्तरात्समस्तजनपदमध्यात्सघाधिपा सघपतय मनुजानां मनुष्याणां राजिभिः श्रेणिभिः समं भगीरथगिरीश्वरं विमलाचलेन्द्रं प्रति अव्रजन् प्रतिष्ठन्ते स्म । 'बाहुबलिर्मेरुर्देवो भगीरथः सहस्रपत्रशतपत्रः' इति शत्रुजयकल्पे । के इव । जयिनो विजयकरणशीला महीमहेन्द्रा महामण्डलीकमहीपाला इव । तेऽपि मानवमण्डलीभिः प्रतिष्ठन्ते । अर्थात् दिग्विजयाय । किभूता सघाधिपाः नृपाश्च । शताङ्गा रथा मातङ्गा हस्तिन तैर्युञ्जन्ति युक्ता भवन्ति ।

तत्सहिता इत्यर्थः । तुरङ्गा अश्वास्तथा शिविका याप्ययानानि 'पालखी' इति प्रसिद्धा मुखानि येषु तादृशानि प्रमुखानि प्रकृष्टानि यानानि वाहनानि भजन्ते सश्रयन्ते इति ॥

अगाधभववारिधेरभिलषद्भिरेतुं बहिः

समुद्धरणधुर्यतां प्रदधदन्तरीपं किमु ।

व्रजद्भिरिह यात्रिकैः प्रति सहस्रपत्राचलं

तदा विदधिरेऽखिला अपि निजावशेषा दिशः ॥ १० ॥

तदा हीरविजयसूरियात्रासमये इह जगति सहस्रपत्राचलं शत्रुजयशैलोच्चयं प्रति व्रजद्भिः प्रतिष्ठमानैर्यात्रिकैर्यात्राकारकैर्लोकैरखिला समस्ता अपि दिशः हरितं निज आत्मा एव अवशेषोऽवशिष्टो यासां तादृश्यो विदधिरे विहिता । दिशः केवलं स्वयमेव स्थिता, जनास्तु सर्वेऽपि प्रस्थिता इत्यर्थः । यात्रिकैः किं कुर्वद्भिः । अगाधोऽलब्ध-मध्यपूर्वपरपारो यो भवः ससारः स एव वारिविः समुद्रस्तस्माद्बहिः पारे मोक्षलक्षणे बाह्यप्रदेशे एतुमागन्तुमभिलषद्भिर्वाञ्छद्भिः । अतः एवोत्प्रेक्ष्यते—समुद्धरणे भवसमुद्र-मध्ये मज्जता जन्तूनां सम्यगुद्धारकरणे धुर्यता प्रकृष्टधौरेयता प्रदधत् प्रकर्षेण वार-यत् । अतः एवान्तरीपं किमु अन्तर्जले तदमिव ॥

महोदयविधायिना विमलभूभृताहूतव-

त्स कोऽप्यजनि नो जनोऽगमि न येन यात्राकृते ।

न काचिदचलाभवत्पथि च या न तद्यात्रिकै-

रनीयत पवित्रतां त्रिपथगाप्रवाहैरिव ॥ ११ ॥

स कोऽपि तत्तदुत्तमजातिजनितः कश्चिदनिर्दिष्टनामा जनो लोको नाजनि नो सजा-तः । स कः । येन जनेन यात्राकृते शत्रुजययात्रार्थं नागमि नागतम् । किवत् । विमल-भूभृता शत्रुजयशैलेनाहूतवदाकारितेनेव । 'निहोत्रो' इति लोकप्रसिद्ध्या । यथा क-श्चित्समानपूर्वकमाकारित आगच्छति । किंभूतेन विमलाद्रिणा । महोदयो मोक्ष महान् त्रिभुवनजनतानिषेव्यलक्षणोऽभ्युदयस्त विदधाति करोतीत्येवशीलेन च पुनः सा का-चिदचला पृथिवी नाभवन्न बभूव । याचला पथि मार्गे तद्यात्रिकैः शत्रुजययात्राकारकैः पवित्रता पावनीभावः नानीयत न प्रापिता । कैरिव । त्रिपथगाप्रवाहैरिव । यथा गङ्गाया ओघैः सहस्रसख्याभिर्वेणिभिः पयः पूरैः पवित्रता नीयते प्राप्यते ॥

शिवश्रिय इवावनीवलयशालिलीलाचलं

जनैः प्रचलितैः समं परिजनेन शत्रुजयम् ।

स्ववर्तिविविधासुमत्प्रकरकीलनाविश्रमा-

द्धुः सुखमिहाखिला अपि दिशा प्रदेशास्तदा ॥ १२ ॥

तदा तस्मिन् सघप्रस्थानावसरे इह जगति अखिला समस्ता अपि दिशां हरिता प्रदेशा भूमिभागा सुख शर्मातिशय दधुर्धृतवन्त । कुत । स्वस्मिन्नात्मनि विषये वर्तन्ते तिष्ठन्तीत्येवशीलास्तथाविधा अनेकजातीया ये असुमन्त प्राणिन जना सखजनगजवाजिकरभमहिषवृषभप्रमुखास्तेषा प्रकरा. समुदायास्तै कृत्वा कीलनास्ताडना पीडा ताभ्यो विश्रम क्षणमात्र स्वस्थीभवन ताडनाद्विरमण तस्मात्सकाशात्कैर्विश्रमः शत्रुजयाचल प्रति परिजनेन स्वस्वसमस्तपरिवारेण सम प्रचलितै प्रस्थितैर्जनै धार्मिकलोकै । उत्प्रेक्ष्यते—शत्रुजयम् । शिवश्रियो मोक्षलक्ष्म्या अवनीवलये भूमीमण्डले शालते शोभते इत्येवशील लीलाचल क्रीडाकरणार्थ पर्वतमिव ॥

महेन्द्रमिहिराङ्गजाम्बुनिविधामपौलस्त्यदि-

क्पथेषु पृथु पप्रथे प्रथितजन्तुसार्थैस्तथा ।

तिलैर्न जगतीतलं क्वचिदलम्भि कीर्णैर्यथा-

वसानमिव मानसैर्जनमनोरथस्फूर्जितैः ॥ १३ ॥

प्रथितै सकर्तव्यै सद्गुणैर्वा जगति विख्यातिमद्भिर्जन्तूना भविकप्राणिना सार्थै । ‘सघ-सार्थै तु देहिनाम्’ इति हैम्याम् । वृन्दै ‘पान्थसार्थै’ इति पाठे तु पान्था विमलगिरिमार्ग प्रति स्थायुकास्तेषा प्रकरैरिति । महेन्द्र शक्र मिहिर सूर्य तस्याङ्गजो नन्दनो यमस्त-थाम्बुनिविधामा वरुणस्तथा पौलस्त्यो वनदस्तेषा दिशो हरित पूर्वा, पश्चिमा, दक्षिणा, उत्तरा, तासा पथेषु मार्गेषु पृथु विस्तीर्ण विपुल यथा स्यात्तथा तेन प्रकारेणातिबाहुल्येन पप्रथे विस्तृतम् । यथा येन प्रकारेण विकीर्णैर्विक्षिप्तस्तिलै स्नेहवारिधान्यविशेषै क्वचित्कु-त्रापि स्थाने जगतीतल भूमण्डल नालम्भि न प्राप्तम् भूमेरुत्सङ्गो न लेभे जनमस्तके-ष्वेवातिष्ठत् । विक्षिप्तास्तिला क्षितौ नापतन्नित्यर्थ । किमिव । अवसानमिव । यथा मानसैर्मन सबन्धिभिर्जनाना मनोरथानामभिलाषाणा स्फूर्जितैर्विलसितैरवसान प्रान्तो न प्राप्यते ससारिणा प्राणिनामवसानमेव नास्ति । ‘इच्छा हु आगाससमा अनन्तया’ इत्युत्तराध्ययनोक्ते ॥

चलत्सु विमलाचल निखिलयात्रिकेष्वोजसा

पुरस्त्वरितमैयरुः क्वचन केचिदुत्कण्ठिताः ।

गृहीतुमनस शिवश्रियमिवागमेनाग्रतः

स्वय प्रथमतः परेष्विव धनार्थिनोऽर्थप्रथाम् ॥ १४ ॥

क्वचन कुत्रचित्स्थाने उत्कण्ठिता श्रीशत्रुजययात्राजिनदर्शनोत्सुकितचेतस केचन पुरुषा ओजसा बलेन कृत्वा त्वरित शीघ्र पुर सघजनाग्रे केषाचिजनानामपेक्षया वा ऐयरु. आगता । केषु सत्सु । क्रमादनुक्रमेण श्रेण्यादिपरिपाठ्या निखिलेषु सर्वेषु या-त्रिकेषु जनेषु विमलाचल शत्रुजयशैल प्रति चलत्सु प्रतिष्ठमानेषु सत्सु । उत्प्रेक्ष्यते—

अग्रतः पुरस्तादागमेन आगमनेन कृत्वा प्रथमतः पूर्वमेव स्वयमात्मना शिवश्रियं
मुक्तिलक्ष्मीं गृहीतुमनस आदातुकामा इव । के इव । धनार्थिन इव । परेषु अन्येषु
द्रव्याभिलाषिषु विगतो भलः किञ्चो रत्नोत्पत्त्या यस्मात्तादृशमचलम् । रोहणाद्रिमित्यर्थः ।
परदेशं वा प्रति व्रजत्सु अत्यौत्सुक्यादतिशायितृष्णाभाजो धनार्थिनः बहुलाभाभिला-
षिणः अतिवनलुब्धा नि प्रत्यूहमाजन्मसुखकारकत्वेन शिवश्रियं कल्याणकृद्भक्तादिमस-
पदं गृहीतुकामा अग्रे गच्छन्ति ॥

पुरःप्रचलितैर्जनैर्धननिरुद्धवर्तमानैः

पुनः प्रणुदितस्तमा द्रुतमुपेत्य पश्चात्तनैः ।

अमन्यत तदा हृदा कचन यात्रिकैः स्वं भ्रम-

द्धरदृष्टितं क्षणं कणमिवातिसंघटितः ॥ १५ ॥

तदा सघप्रस्थानसमये कचन कुत्रचित्स्थानके कश्चिद्यात्रिकजनो भ्रमति भ्रमणीं
कुर्वाणे घरदृके कणचूर्णीकरणोपवृत्तपाषाणयुगलरूपे घटितं योजितं तदन्तर्निक्षिप्तं कणं
वान्यमिव क्षणं निमेषमात्रं हृदा स्वमनसा स्वमात्मानममन्यत जानाति स्म । किंभूतो
यात्रिकः । अत्यधिकं सघद्वितं बहुजनसमर्देन पश्चादागच्छद्भिः पुरश्चलद्भिश्च जनैरति-
सकीर्णतया निष्पीडितः । अत एव पुनः किंभूतः । पुरोऽग्रे प्रचलितैः क्रमाक्रमाभ्यां
प्रस्थितैर्जनैर्लोकैर्धनं बहु निविडं वा नीरन्ध्रमन्तरालरहितं वा निरुद्धमतिसकीर्णतया
कथमप्यग्रे गन्तुमशक्तीकृतं पुरस्तात्प्रचलल्लोकमध्ये प्रवेष्टुमशक्यं कृतं वर्त्मनो मार्गस्य
अन्तरं मध्यं यस्य वर्तमानं तत् अपरमार्गो वा यस्य सः । पुनः किंभूतैः । पश्चात्तनैः पृष्ठे
समागतैर्जनैर्द्रुतं शीघ्रमुपेत्यागत्य तमामतिशयेन प्रणुदितं अग्रे गमनाय प्रेरितं वा-
क्शरीरादिभिस्त्वरितीकृतं ॥

चतुर्जलधिमेखलावनिनिकेतलोकैस्ततः

समीपमवनीभूतः सममलम्भिः शोभां पराम् ।

पुरदरगिरेरिवाखिलचतुर्निकायामरै-

र्जिनेन्द्रजननाभिषिञ्चनमहोत्सवप्रक्रमे ॥ १६ ॥

ततः स्वस्वदिग्भ्यः प्रस्थितैरनन्तरं चत्वारः पूर्वापरदक्षिणोत्तरलक्षणाश्चतुः सख्याका
जलवयः समुद्रा एव मेखला काञ्ची यस्यास्तादृश्यामवनौ निकेतः गृहं येषां तादृशैर्लो-
कैर्यात्रिकजनैः सममेककालमवनीभूतः अर्थाविकाराद्यात्रासमत्वाच्च श्रीशत्रुजयगिरेः
समीपं तलहट्टिकारूपपार्श्वं परां प्रकृष्टां शोभामलम्भिः प्रापितम् । कैरिव । अखिलचतुर्नि-
कायामरैरिव । यथा जिनेन्द्रस्य तीर्थंकरस्य जननस्य जन्मनोऽभिषिञ्चनस्याभिषेकस्य ।
जन्माभिषेकस्येत्यर्थः । प्रक्रमे प्रस्तावे । 'वेलावाराववसरं प्रस्तावं प्रक्रमोऽन्तरम्' इति
हैम्याम् । अखिलैः समस्तैश्चत्वारो निकाया उत्पत्तिगतिसावर्भ्येण सादृश्यं येषां ते

‘निकायस्तु सवर्मिणाम्’ इति हैम्याम् । भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकलक्षणा-
श्वतुर्निकायास्तादृशा भमरा देवास्तै पुरदरगिरेर्मैरो समीप शोभा लभ्यते । यथा
सुरगिरिः तथा सुरेन्द्रगिरिरपि । यथा सुराचार्यस्तद्वत्पुरदरगुरुरपि । यथा नैषधे—‘शैश-
वाववि गुरुर्गुरुरस्य’ । अस्य शक्रस्य । तथा श्रीपालचरित्रे—‘सक्रगुरुचेवसक्रे इ’ इति ।
तथा नैषधे—‘जाम्बूनदार्थी धरसार्वभौम’ । यथा शक्रनामेद तथा शक्रस्यायमपि
शैल इति ॥

धराधिविबुधेरिता किमु सहैव संकेतभा-

क्लिमत्र सुकृतैरुत व्रतिपतेरिवाकर्षिता ।

शताङ्गमुखवाहनानुगतयौवतभ्राजिना

यदेकसमये ततिस्तनुमतामुपेता गिरौ ॥ १७ ॥

गुरौ शत्रुजयाचले तनुमता प्राणिना यात्रिकजनाना तति श्रेणी यद्यस्मात्कारणात्
एकसमये एकस्मिन्नेव प्रस्तावे उपेता समकाल समागता । किभूता । शताङ्गा स्यन्दना
रथा मुखे आदौ येषा तादृशानि वाहनानि यानानि तैरनुगताना युक्ताना यौवतैर्युवती-
समूहैर्भ्राजन्ते शोभन्ते इत्येवशीलास्तेषा द्वयोरपि कर्मवारय । तत्रोत्प्रेक्ष्यते—धरस्य
विमलाद्रेरधिविबुधैरविष्टायकसुरै ईरिता प्रणुना किमु । अथ वा सहैव एककालमे-
केन वारेणैव संकेत परस्परसगमस्थान भजतीति तादृशी किमु । उताथ वा व्रतिपते-
र्होर्विजयसूरे सुकृतै पुण्यैराकर्षिता अत्र शत्रुजये आकृष्यानीतेव वा कश्चिदाकर्ष-
यति । स्वार्थे निप्रत्यय । आकर्ष्यते स्मेत्याकर्षिता ॥

तुरङ्गममतङ्गजाग्रिमशताङ्गरङ्गन्मरु-

प्रियोक्षतरबेसरोत्करपुरःसरप्राञ्चिता ।

पुरीपरिसरावनी समजनिष्ट संघागमे

तदा विजयिमेदिनीरमणराजधानीव सा ॥ १८ ॥

तदा तस्मिन् यात्रिकजनव्रजागमनसमये पुर्या पादलिप्तनगर्या परिसरस्य समी-
पप्रदेशस्य अवनी भूमी कर्त्री विजयिनो विजयकरणशीलस्य मेदिनीरमणस्य राज्ञो
राजवानी स्कन्वावतार इव समजनिष्ट सजाता । किभूता । तुरङ्गमा अश्वा मतङ्गजा
हस्तिन तथा अग्रिमा प्रकृष्टा शताङ्गा रथास्तथा रङ्गन्तो मरुप्रिया करभाः तथा
उक्षतरा महोक्षा पुष्टबलीवर्दास्तथा बेसरा अश्वतरा लोके ‘खचर’ इति प्रसिद्धास्ते-
पामुत्करा समूहास्तथा पुर सरा पादचारिण तै प्राञ्चिता परिपूर्णा निभृत भृता ॥
इति संघागमनम् ॥

जडीकरणभीतितो हिमगिरे प्रणश्यागतं

सरः किमिह मानसं सकुलराजहंसाकुलम् ।

समग्रसुखसंपदभ्युदयसिद्धगोत्रान्तिके

व्यभूषि ललिताभिधं सर उपेत्य संघैः समम् ॥ १९ ॥

संघैर्यात्रिकपान्थसार्यैः उपेत्य समीपे आगत्य ललित इत्यभिधा नाम यस्य तादृश सरः । ललितसरोवरमित्यर्थः । समः समकाल व्यभूषि अलंकृतम् । उत्प्रेक्ष्यते—जडीकरणस्य । ‘जडो मूर्खे हिमाघाते मूकेऽपि च’ इत्यनेकार्थः । मूर्खीकरणस्य मूकीकरणस्य वा हिमाघ्रानीकरणस्य वा यो बहुना तुहिनेनाघ्रातो निबिडीभूतः स्यात्तस्य प्राणस्यापि सशयः स्यात्तथा मूर्खमूककरणादपि भीतिर्भयं ततः कारणात् हिमगिरेस्तुहिनाचलात्प्रणश्य प्रपलाय्य । नेष्ट्वेत्यर्थः । इहास्मिन् समग्राणां समस्तानामैहिकामुष्मिकाणां सुखानां शर्मणा संपदा विभूतीनां वा अभ्युदय आविर्भावो यस्मात्तादृशस्य सिद्धगोत्रस्य सिद्धाचलस्य शत्रुजयशैलस्य मन्त्रतन्त्रविद्यौषधीरसादिभिः सिद्धानां पुरुषाणां गोत्रस्य वशस्य अन्तिके यत्र गोत्रे सर्वेऽपि सिद्धतरास्तेषां सनिधौ आगतः मानसः नाम सरः पद्माकर इव । किभूतम् । सह कुलैः पुत्रपौत्रप्रपौत्रभ्रातृभ्रातृव्यस्वजनादिवशैर्वर्तते ये तादृशानां हंसानां सितच्छदानां मालाभिर्धोरणीभिराकुलः व्याप्तम् । हिमाचले मानसः सरोऽस्ति । यदुक्तं चम्पूकथायाम्—‘सदाहंसाकुलं विभ्रन्मानसं प्रचलज्जलम् । भूभृन्नाथोऽपि नायाति यस्य साम्यं हिमाचलः ॥’ इति । ततः आगमनं युक्तमेव ॥

गजा इव जनास्ततः सलिलकेलिमातन्वते

पिबन्ति च पिपासिताः सलिलमत्र पान्था इव ।

विजृम्भिजलजावलिं कुसुममालिकां मालिकां

इवावनिरुहे पुनः कचन केचिदुच्चिन्वते ॥ २० ॥

तरन्ति च सितच्छदा इव परे मृगाक्षीसखा

विशन्ति रसिकाः पुनस्तिमिगणा इवान्तर्जलम् ।

तपर्तुरवितापिता इव मुदा प्लवन्ते परे

चिरेण मिलितेष्टवज्जहति नास्य पार्श्वं पुनः ॥ २१ ॥

ततः ललितसरसमीपागमनोत्तरणानन्तरम् अत्र ललितसरोवरे केचित्केऽपि जना गजा हस्तिन इव सलिलकेलिं जलमज्जनादिकां क्रीडामातन्वते कुर्वते । च पुनरत्र सरसि पान्थास्तपागमतीव्रतपनतापसशुष्यद्रुतालुरसनोष्ठपुटसकटविधुरा पथिका इव पिपासितास्तृषातरलिताः सन्तः केचिज्जनाः सलिलं पानीयं पिबन्ति । पुनः कचन कुत्रापि सरप्रदेशे केचन जना विजृम्भिणीं विकसनशीलां जलजानां पद्मानामावलीं मालिकामुच्चिन्वते उच्चित्यं गृह्णन्ति । के इव । मालिका इव । यथा मालाकारिका अव-
निरुहे वृक्षे कुसुममालिका पुष्पपरपरामुच्चिन्वन्ति च । ‘मालतीषु कुसुमश्रद्धालवो मा

लिका' इति चम्पूकथायाम् । पुनः परे अन्ये जनाः सितच्छदा राजहसा इव तरन्ति । किभूता । मृगाक्ष्यो निजनिजयुवत्यः सखायो येषाम् । पुनः रसिका विविधजलकेलिकरणरसभाजो जनास्तिमिगणा मत्स्यव्रजा इवान्तर्जलपानीयमध्ये विशन्ति । 'डवकि' इति लोकप्रसिद्धा । परे जनास्तपतीर्ग्रीष्मकालस्य रविणा सूयेण तापितास्तीव्रतापेन क्लेशिताः सतापिता इव मुदा हर्षेण प्लवन्ते स्नान्ति स्नानं कुर्वन्ते । पुनः केचिदन्ये जनाश्चिरेण बहुकालेन मिलितः सगतो य इष्टः स्वमनसोऽतिवह्मस्तद्वत्तथेवास्य ललितसरोवरस्य पार्श्वं न जहति नो त्यजन्ति ॥ युग्मम् ॥ इति ललितसरोवरे यात्रिकजनविविधक्रीडा ॥

प्रमोदभरमेदुरः प्रथममेव संघस्तदा

स हीरविजयव्रतिक्षितिपतेः पदाम्भोरुहम् ।

अचुम्बदलिवन्महोदयमरन्दपानाभिको

गुरुक्रमविलङ्घनं यदुदयेत न श्रेयसे ॥ २२ ॥

तदा तस्मिन् पादलिप्तपुरे समागमनावसरे प्रमोदानां स्थावरजङ्गमतीर्थानमश्चिकीर्षाद्गतहर्षाणां भरेणातिशयेन मेदुरः पुष्टः स तत्तद्देशागतः सघो यात्रिकलोकप्रकरप्रथमं पूर्वं शत्रुजययात्रायां प्रागेव हीरविजयनाम्नो व्रतिना सावूना मन्ये क्षितिपते राज्ञः पदाम्भोरुहचरणारविन्दमचुम्बच्चुम्बति स्म । ववन्दे इत्यर्थः । किवत् । अलिवत् । यथा भ्रमरः कमलं चुम्बति । किभूतः सघः । महोदयो महानतिशायी उदयो जगदैश्वर्यलक्षणो मोक्षश्च स एव मरन्दो मधुः तस्य पाने अभिकः अभिलाषुकः । प्रथमवन्दने हेतुमाह—यद्यस्मात्कारणात् गुरुक्रमाणां पूज्यपादचरणानामतिक्रमणमर्हणोलङ्घनं श्रेयसे कल्याणाय नोदयेत नो जायेत । 'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः' इति रघुवशे ॥

वशारसिकगीतिभिर्विविधवाद्यमाद्यद्रवैः

रखण्डकृतताण्डवैविदुरबन्धिवृन्दस्तवैः ।

समं प्रमुदितैर्जनैः प्रभुरितः प्रतस्थे गिरि

सुरासुरनरोत्करैरिव जिनावनीवासवः ॥ २३ ॥

ततः इत्यव्याहार्यम् । समागमनान्तरं प्रभुर्हीरविजयसूरिरितः पादलिप्तपुरात् गिरिः शत्रुजयशैलं प्रति प्रतस्थेः प्रचलति स्म । कथम् । समं सार्वम् । कैः । प्रमुदितैरानन्दप्राप्तैर्जनैः सघलोके समम् । पुनः काभिः । वशानां तरुणीनां रसिकाभिः सरसाभिः श्रवणयोः सुवारसवर्षिणीभिः विविधरसललिताभिर्गीतिभिर्गानैः । पुनः कैः । विविधानि बहुप्रकाराणि वाद्यानि मृदङ्गमुरजपटहृत्तल्लरीनि स्वानभेरीनफेरीदुन्दुभिः ढक्कातालकसालवीणावशादिमवादित्राणि तेषां माद्यद्भिः सागरगिरिगह्वरादिषु प्रतिशब्देन मदमेदुरीभ-

वद्भि उद्भटै रवैर्निर्घोषैः शब्दै उद्भतध्वनिभि । पुन कै । अखण्ड विच्छेदविरहित
कृतै प्रारब्धैः विरचितैस्ताण्डवैर्नाटकै । पुन कै । प्रमुदिता अनर्गलदानप्राप्त्या प्रमो-
दकलिता जाता अथ वा विदुराः प्राज्ञा ये बन्दिनो मङ्गलपाठका मागधास्तेषा वृन्दानि
सदोहास्तेषा स्तवा स्तुतयस्तै । अमूनि सर्वाण्यपि विशेषणानि जनविशेषणीक्रियन्ते
वा बहुव्रीहिणा च योज्यन्ते । क इव । जिनावनीवासव इव महोक्षलक्ष्मेव वा । यथा
जिनराज अथ वा वृषभध्वजो युगादिदेव सुरा देवा असुरा दानवा नरा मनुष्या
तेषामुत्करैर्गणैः सार्धं शत्रुजय प्रति प्रतिष्ठते । त्रयोविंशतिरपि तीर्थकरा शत्रुजये
समवसृता , तेषु ऋषभदेवो नवनवतिपूर्ववारान्समागत । यदुक्तम्—‘नवनवतिपूर्ववा-
रान् यस्मिन् समवसद्युगादिजिन । राजादनीतरुतले विमलगिरिरय जयति तीर्थम् ॥’
इति पूर्वाचार्यस्तवे । तथा श्रीमन्नेमिनाथोऽपि शक्रस्तुतिमसहमानैः सुरैः परिक्षिप्तास्त-
दवसरागतपुरदरप्रार्थनाप्रक्रमे गृहमेधित्वे यावदेवेन्द्रो देवेन्द्रैः सम शत्रुजये समाज-
गाम-इति शत्रुजयमाहात्म्ये ॥

तदा मुदितमानसा निखिलयात्रिकाणा गणा

उपेत्य तलहट्टिका शिवपुरस्य सीमामिव ।

प्रसूनमणिमौक्तिकैर्धरमवर्धयन्विन्दुभि-

स्तटावनिधर पयोनिधिविवृद्धवेला इव ॥ २४ ॥

तदा हीरसूर्यात्राकृते श्रीशत्रुजयशैल प्रति प्रस्थानसमये निखिला समस्ता या-
त्रिकाणा विमलाचलरोहणार्थमागताना भविकाना गणा समूहा वरमर्थात्पुण्डरीकपर्वत
प्रसूनानि पुष्पाणि स्वर्णरूप्यमयानि स्थलजलजातानि कुसुमानि, मणयो रत्नानि, मौ-
क्तिकानि मुक्ताफलानि, तैः कृत्वा सममेककाल सर्वेऽप्यवर्धयन् वर्धापयन्ति स्म ।
किं कृत्वा । तलहट्टिकामर्थाद्विमलाचलोपान्तपृथिवीमुपत्यकामवोभागे उपेत्यागत्य ।
उत्प्रेक्ष्यते—शिवपुरस्य मुक्तिनगरस्य सीमामुपशत्यमिव परिसरभूमीमिव । किंभूता
गणा । मुदित यात्राचिकीर्षया शत्रुजयाभ्यर्णगमनेन हृष्ट मानस मनो येषां ते । अव-
र्धयन्क्रयम् । सममेकस्मिन्नेव समये यात्रिका वर विमलाद्रिमवर्धयन् । का इव । वेला
इव । यथा पयोनिवे समुद्रस्य विवृद्धा चन्द्रोदयदर्शनाद्भीष्मर्तुप्रादुर्भावाद्वा वृद्धि प्राप्ता
वेलास्तटावनीवर वेलातीरगिरि विन्दुभिर्जलकणैरवकिरन्ति ॥

निपीय नगपुगव विकचनेत्रपत्रैर्भव-

स्थितैर्भविककुञ्जरैरपि तनूलतालम्बिभिः ।

व्यपेतभवविग्रहैरिव समग्रलोकाग्रगै-

रलम्बि भुवि निर्वृतिर्यदिह तत्र चित्र महत् ॥ २५ ॥

इह तलहट्टिकायामुपत्यकाया वा विकचैर्गिरिगवेषणोद्भूषितहर्षप्रकर्षाद्विस्मेरैर्नेत्रपत्रै-

लोचनदलैर्नगपुगव समग्रगिरिगरीष्ठ शत्रुजय निपीय सादरमवलोक्य भविककुञ्जरैः
प्रवानभव्यजनैः भुवि पृथिव्या यन्निर्वृतिरलम्भि सप्राप्ता । किभूतैः । भवे ससारे
स्थितैर्वसद्भिरपि । ससारस्थैर्हि कदापि निर्वृतिर्नाप्यते । पुनः किभूतैः । तनूलता शरी-
रयष्टिमालम्बन्ते श्रयन्ते इत्येवशीलैरपि । शरीर बिभ्रद्भिरपि मुक्तिर्नो लभ्यते ।
कैरिव । व्यपेतभवविग्रहैरिव । यथा व्यपेतो निष्ठितो भव ससारः गतोभव शिवो वा
तथा विग्रह शरीर सग्रामो वा येभ्यस्तादृशैर्मिथ्यादृशा सिद्धेरभावः तथा समग्राणां
समस्तानां लोकानां त्रयाणां सप्तानां चतुर्दशानां वा भुवनानामग्रे उपरितनभागे
गच्छन्ति तिष्ठन्तीति कृत्वा तादृशैः । 'लो अगगमुवगगयाणम्' इति वचनात्सिद्धैरिव
निर्वृतिर्लब्धा । 'निर्वृतिः शिवशर्मणो' इत्यनेकार्थः । इति जगति तत्र निर्वृतिप्राप्ति-
प्रकारे महद्गुरु चित्रमाश्चर्यं वर्तते ॥

ततः श्रमणशर्वरीपतिरुपत्यकाया गिरे-

गिरीशसदनान्तरे सह महेश्वरैर्भावुकैः ।

चरन्नमृतपत्तनं किमतिदूरभावात्पथो

निशि न्यवसदन्तराप्रमितसार्थसार्थेशवत् ॥ २६ ॥

ततस्तलहट्टिकागमनानन्तरं श्रमणशर्वरीपतिः सावुसुधाशु सूरिन्द्रो गिरे शत्रु-
जयाद्रेरुपत्यकायामधोभूमिभागप्रदेशे अन्तरा पादलिप्तपुरशत्रुजयाद्रिमार्गमध्ये यद्भि-
रीशस्य शमो सदनं गृहं शिवप्रासादस्तस्यान्तरं मध्यं तत्र निशि रात्रौ न्यवसन्निवासं
कृतवान् वासकं वसति स्म । तिष्ठति स्मेत्यर्थः । कथम् । सह । कैः । महेश्वरैर्भावुकैर्महेश्वरैः
श्राद्धैः जिनश्रावकैः । अथ च शिवसदने महेश्वरजनैः कश्चिद्वसति । उत्प्रेक्ष्यते—अमृत-
पत्तनं मुक्तिनामपुटभेदनं प्रति चरन् गच्छन् पथो मार्गस्यातिशयेन दूरभावाद्वीयस्तथा
किमन्तरा निवसति स्म । किवत् । अप्रतिमसार्थसार्थेशवत् । यथा अप्रमितं प्रमाणर-
हितं सार्थं मनुष्यसंघो यस्य तादृशं सार्थपतिं किमपि नगरं गन्तुमिच्छन्मार्ग-
स्यातिदूरत्वेन अन्तरा मार्गमध्ये एव निशाया निवसति ॥

हरेर्मृगदृशामिवोत्पलदृशा लसद्गीतिभिः

पुनर्मुदितनाट्यकृद्धटितताण्डवाडम्बरैः ।

निनाय निखिला निशा वशिशशी स धर्मक्रिया-

विनिर्मितिभिराश्रये रजनिजानिचूडामणेः ॥ २७ ॥

स वशिशशी हीरविजयसूरिचन्द्र रजनी रात्री जाया पत्नी यस्य । 'जायाया निङ्'
इति निप्रत्ययः । 'लोपो व्योर्वलि' इति यकारस्य लोपः । रजनिजानिरिति सिद्धम् ।
रजनिजानिश्चन्द्र चूडामणि शिरोरत्नं यस्य । एतावता ईश्वरस्तस्याश्रये वसतौ शक-
रप्रासादे धर्मस्य स्वाचारलक्षणस्य क्रिया अनुष्ठानं सम्यक्तया प्रतिक्रमणादिकरणं तस्य

विनिर्मितिभिर्विधानै कृत्वा निखिला समस्ता चतुर्यामवती निशां रात्री निनायातिच-
काम । यथा स्वधर्मानुष्ठानैस्तथा । पुन काभि । लसन्तीभिश्चेतोहराभिर्गीतिभिर्गानैः ।
कासाम् । उत्पलदृशा कुवलयलोचनानां तरुणीनाम् । उत्प्रेक्ष्यते—हरेरिन्द्रस्य मृगदृशा-
मिन्द्राणीनामिव । पुन कै । मुदितैर्यथेप्सितदानाधिगमादानन्दमेदुरैर्नाट्यकृद्भिर्नर्तकैर्घ-
टितैर्निर्मितैस्ताण्डवाना नाटकानामाढम्बरैः ॥ इति शत्रुजयान्तिकशिवप्रासादे वासका-
वस्थानम् ॥

गते तमसि तद्गिरेरिव निरीक्षणात्तत्क्षणा-

त्स्वगैर्गुरुजयारवे किमु कृतेऽथ साराविणे ।

समीयुषि खरत्विषि द्विषि निशा नभोमण्डले

विधित्सति सहामुना विमलशैलयात्रामिव ॥ २८ ॥

सुधाशनपथातिथिं शिवनिकेतनिःश्रेणिका-

मिव व्रतिशतक्रतुर्विमलशैलपद्या ततः ।

सबालवरवर्णिनीनिवहनैकतौर्यत्रिका-

नुयातजनसंयुतः समधिरोढुमारब्धवान् ॥ २९ ॥

स व्रतिशतक्रतुर्हीरविजयसूरीन्द्र विमलशैलस्य शत्रुजयाद्रे पद्या सेतु लोकप्रसिद्ध्या
'पाज' इति समधिरोढुमारब्धवान् प्रारेभे । किभूतः स । सह बाला कुमारा कुमा-
रिकाश्च तैस्ताभिश्च । 'सरूपाणामेकशेषे' । वर्तन्ते यास्तादृश्यो वरवर्णिन्य प्रधानस्त्रियः ।
तीर्थयात्रादिवर्मकारकत्वात् प्राधान्यम् । अथवा उत्तमा स्त्री जात्या गुणैर्वा । 'उत्तमा
वरवर्णिनी' इत्यमर । तासा निवहा प्रकरा । तथा नैकानि बहूनि अनेकजातीयानि वा
तौर्यत्रिकाणि गीतनृत्यवाद्याना त्रिकाणि तैरनुयाता सहिता ये जना यात्रिकसघलोकास्तै
संयुतः परिकलितः । किभूता विमलाचलपद्याम् । सुधाशनाना देवाना पन्था मार्गो
गगन तस्यातिथि प्राघुणिकीम् । गगनावगाहिनीमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—शिवनिकेतनिःश्रे-
णिकामिव मोक्षप्रासादे अधिरोहणार्थमधिरोहणिकामिव 'नीसरणी' इति लोकप्रसि-
द्धाम् । कस्मिन् सति । तत्क्षणात्तत्कालात् शीघ्रमेव तमसि अन्धकारे गते सति
लोकानि सृते सति । उत्प्रेक्ष्यते—तद्गिरेः स चासौ विमलाचलनामा गिरि पर्वतश्च
तस्य निरीक्षणादर्शनादिव पापे याते । 'तमोऽज्ञानेऽन्धकारेऽधे' इत्यनेकार्थः । अथ
पश्चात्तमोगमनानन्तर खगौ प्रातःप्रबुद्धविहगमै साराविणे मिश्रास्पष्टशब्दे कृते सति ।
अथ वा समन्ताद्रवै । यदुक्त नैषधे—'तटतरुवेगश्रेणीसाराविणैरिव साप्रत सरसि
विगलन्निद्रामुद्राजनिष्ट सरोजिनी' इति । 'सपूर्वाद्रौतेरभिविधौ भावे इनुण् । तस्मा-
दिनुण साराविणानि तै' इति तद्वृत्तौ सावना । उत्प्रेक्ष्यते—गुरोर्हीरविजयसूरेर्जया-
रवे विहिते सति किमु पुनः कस्मिन् सति खरत्विषि भास्करे नभोमण्डले गगनाङ्गणे

समीयुषि सति सप्राप्तवति । किभूते । निशा रात्रीणा द्विषि वैरिणि तद्विनाशकत्वात् ।
उत्प्रेक्ष्यते—अमुना सूरिन्द्रेण सह सार्व विमलशैलस्य शत्रुजयाद्रेर्यात्रा विवित्सतीव ॥
युग्मम् ॥

क्रमादचलचक्रिणः श्रमणपुंगवः पद्यया

रुरोह भवसागरं किमु तितीर्षुभिः क्लृप्तया ।

निबद्धमिव शृङ्खलां हृदयदन्तिनो मेखला

सुपर्वतरुनन्दनामिव सुमेरुभूमीभृतः ॥ ३० ॥

श्रमणपुंगव सूरिन्द्र क्रमादनुक्रमेण पद्यया सेतुना प्रस्तरनिबद्धमार्गेण 'पाज'
इति प्रसिद्धेन कृत्वा अचलचक्रिणो गिरीन्द्रस्य । सर्वतीर्थाविराजत्वात्पर्वतसार्वभौमत्वम् ।
तथा जैनमते प्रातः प्रतिक्रमणप्रान्तप्रत्याख्यानकरणसमयादौ 'सकलतीर्थाधिराजश्री-
शत्रुजयाय नमः' इत्युच्चार्य प्रत्याख्यानं क्रियते इति । मेखला मध्यभागमारुरोहाध्या-
सामासः । किभूतया पद्यया । क्लृप्तया रचितया । उत्प्रेक्ष्यते—भवसागरः ससारसमुद्रः
तितीर्षुभिस्तरीतुमिच्छुभिरिव कृतया रामचन्द्रादिवत्सेतुना समुद्रः समुत्तीर्यते । किभूता
मेखलाम् । हृदयानि मनासि । 'हृच्छेतो हृदयं चित्तम्,' तथा 'स्तनान्तरं हृद्धृदयम्'
इति द्वयमपि हैम्याम् । अत एवानेकार्थं —'हृदयं मनो वक्षश्च' । तान्येवोन्मत्तत्वाद्दन्तिन-
करिणः तन्निबद्धं नियन्त्रयितुं शृङ्खला निगडमिव । शृङ्खलशब्दस्त्रिलिङ्गः । 'शृङ्खला
निगडोऽन्दुकः' इति हैम्याम् । तथा 'नालप्रणालपटलार्गलशृङ्खलकदला' इति लिङ्गा-
नुशासने स्वतस्त्रिलिङ्गे । तथा मेखला मुञ्जदोरिकामिव । दोरिकया हि करिणो निय-
न्त्रयन्ते । यया चम्पूकयायाम्—'ब्राह्मीव दौर्जनी समेखला समेमित्रे । अमित्रे च
समभावभाजि सावो विषये वेला मत्सरवती दौर्जनी श्रेणी ब्राह्मी तु सह मेखलया
मौञ्जीदोरिकया वर्तते या' इति चम्पूटिप्पनके । इति गर्भितोत्प्रेक्षा । पुनः किभूताम् ।
सुशोभनानि पर्वाणि शाखादिनिर्गमस्थानानि येषां येषु वा तादृगैर्वृक्षैस्तरुभिः नन्दयति
प्रीणाति समृद्धिं प्राप्नोतीति वा । उत्प्रेक्ष्यते—सुमेरुभूमीभृतो मन्दरमहीवरस्य मेखला
नितम्बमिव । किभूताम् । सुपर्वतरुभिः कटपवृक्षैर्नन्दयति समृद्धिं प्राप्नोति । अयं वा
कटपद्रुकलितनन्दनवती । एतावता प्रथममेखलामारुटवान् ॥ इति पद्यया प्रथममेख-
लारोहणम् ॥

प्रपासु गिरिपद्धतेरमृतपानवद्यात्रिकै-

रपीयत सितोपलाकलिततोयमातृप्तिः ।

पुनर्मुनिमहीन्दुनावनिधराधिरोहोदय-

त्प्रमोदरसमिश्रिता शमसुधा तदाखाद्यत ॥ ३१ ॥

तदा शत्रुजयप्रथममेखलाधिरोहणसमये गिरेर्विमलाचलस्य पद्धतेर्मार्गस्य पद्धतौ

मार्गे वा वर्तमाना या प्रपा पानीयशालास्तासु यात्रिकैः श्रीशत्रुजययात्राकारकैर्लो-
कैरमृतस्य पीयूषस्य पानवद्भीतिरिव । 'धीति पाने' इति हैम्याम् । 'धेष्ट पाने' । वयन
धीतिरिति व्युत्पत्तिः । अथ वा मुक्तिरसाखादवत् । 'अमृत मुक्तिपानीयपीयूषेषु'
इत्यनेकार्थः । आतृप्तिस्तृप्ति मर्यादीकृत्य । आडादियोगे पञ्चमी । सितोपलाभि
शर्कराभि कलित करम्बित बहुव्याप्त तोय पानीयमपीयत पीतम् । पुनर्हीरविजय-
सूरिणा तु शमसुधा उपशान्तरसनानी सुधा समास्वायत सम्यक् पीयते स्म । किभूता
शमसुधा । अवनिवरे शत्रुजयशैले यदधिरोहण चढन तेनोदयत्प्रकटीभवन् य प्रमो-
दाभिधरसो हर्षोत्कर्ष आनन्दातिरेकनिस्पन्दस्तेन मिश्रिता करम्बिता व्याप्ता ॥

स्फुरत्स्वरकरोद्भुरद्युतिवितानसतापिता-

ज्जनाञ्जनितनिर्झरोत्करजलाप्लवा वायवः ।

भवार्तिविधुरीकृतानिव महात्मना संगमाः

सृजन्ति शिशिरान्गिरौ क्षणमपास्य ताप तनौ ॥ ३२ ॥

गिरौ पुण्डरीकपर्वते वायवः पवना जनान्यात्रिकलोकान् क्षण क्षणमात्र शिशिरान्
शीतलान् सृजन्ति कुर्वन्ति । किं कृत्वा । निमेषमात्र च तनौ शरीरे ताप धर्ममपास्य
निवार्य । जनान् किभूतान् । स्फुरन्दीप्यमानस्तीव्र तपन्वा खरकरश्चण्डरश्मिः सूर्यस्त-
स्योद्भुराणामुत्कटानां द्युतीना कान्तीना वितानेन समूहेन सतापितान्पीडितान् अति-
तप्तीकृतान् । किभूता वायवः । जनितो निर्मितो निर्झराणां शिखरान्तरानि सरत्पय-
प्रवाहाणामुत्कराणां सदोहानां जलेषु पानीयेषु आप्तव स्नानं यैस्ते । के इव शिशिरय-
न्ति । संगमा इव । यथा महात्मना साधूनां संगतयः भवस्य ससारस्यार्तिर्विविधाविव्या-
विदुः खपीडा तथा ताभिर्बहुत्व वा विधुरीकृतान् व्याकुलान् विहितान् भविकान् ससा-
रासारतोद्भावनविविधमोषदेशप्रदानादिना शीतलयन्ति ॥

झरज्झरपयःप्लवप्रसरशीतलोर्वीतले

सहस्ररुचिसंचरद्रुचिचयस्य दुःसंचरे ।

विलासिकदलीगृहे भुजगगुल्मिनीमण्डपे

स्फुरद्विविधविष्टरे पृथुलशैलतल्पाङ्किते ॥ ३३ ॥

स्मितद्रुमगलन्मणीचकचयोपचाराञ्चिते

द्विरेफरवगानितानिललुलल्लताताण्डवे ।

जनान्भवनवद्वने श्रमनुदेऽतिघर्माम्बुभि

सविन्दुकितवक्षसो ह्वयति लोलशाखाशयैः ॥ ३४ ॥

शत्रुजयाचल जनान् यात्रार्थमवित्यकामविरोहते लोकान् लोलैश्चपलैः शाखारूपैः

शयै हस्तैर्वने स्वनिकुञ्जे ह्वयत्याकारयतीव । इति गर्भितोत्प्रेक्षा । किभूतान् जनान् । अतिघर्माम्बुभि अत्यभ्यविकप्रस्वेदसलिलैर्विन्दुकितवक्षस बिन्दुभि श्रमोदककणगणै-
र्युक्त जातम् । स्वार्थे के जातार्थे इतप्रत्यये । बिन्दुकित वक्षो हृदय येषाम् । अत एव कस्मै हेतवे । श्रमनुदे मार्गकृमापनोदाय । 'खेदविन्दुकितनासिकाशिखाम्' इति नैषधे ।
किवत् । भवनवत् । यथा कश्चित्सुजन कमपि मार्गकृमप्राप्त निजनिकेतने समाह्वयति ।
किभूते वने । झरन्तो निःसरन्तो ये झरा निर्झरास्तेषा पय प्लवाना वारिपूराणा प्रसरै-
र्विस्तारै कृत्वा शीतल शिशिरीभूतमुर्वीतल भूमीमध्य यस्य । पुन किंभूते । सहस्र-
रुचे सूर्यस्य सचरन्तीनामितस्ततो दशदिक्षु प्रसरन्तीना रुचीना कान्तीना वितान
समुदायस्तस्य दु खेन सचर प्रसरण प्रवेशो वा यत्र । पुन किंभूते । विलासिन-
शोभनशीला कदलीगृहा रम्भाभवनानि यस्मिन् । पुन किंभूते । भुजगगुल्मिनीना
नागवल्लीना ताम्बूलवल्लीनाम् । 'ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागपर्यायवह्यपि' इति हैम्याम् ।
मण्डपा यस्मिन् । पुन किंभूते । स्फुरन्तो विकसन्त प्रकटीभवन्तो वा दृश्यमाना वा
विविधा विष्टरा वृक्षा आसनानि वा यस्मिन् । 'क्षितिरुह कारस्करो विष्टर', तथा 'विष्टर
पीठमासनम्' इति द्वयमपि हैम्याम् । विष्टर पुंसि । पुन किंभूते । पृथुलानि विस्ती-
र्णानि शैलानि शिलासमूहा वा । यथा स्नातस्यास्तुतो 'मन्दररत्नशैलशिखरे' एतस्यार्थ-
द्वयम् । यथा मन्दरेषु पञ्चसु सुमेरुषु मध्ये रत्न श्रेष्ठो य सुदर्शनाख्यो मेरु
शैल पर्वतस्तस्य शिखरे शृङ्गे । अपरोऽप्यर्थ — यथा मन्दरस्य मेरो रत्नाना शैला-
शिलासमूहा यस्मिस्तादृशे इति । ततो पृथुलानि विपुलानि शैलानि एव तल्पानि पत्यङ्का
शय्यास्तैरङ्किते कलिते युक्ते । पुन किंभूते । स्मिता विकसिता ये द्रुमा वृक्षास्तेभ्यो गलन्ति
वातादिवशात्स्वभावपरिपाकाद्वा निष्पतन्ति यानि मणीचकानि कुसुमानि तेषामुपचार-
प्रकर 'पगर' इति लोकप्रसिद्ध रचनाविशेषस्तेनाश्रिते सहिते । पुन किंभूते ।
द्विरेफाणा भ्रमराणा रवा गुञ्जितानि त एव गानित गीतिर्जात यस्मिन् तादृशमनिलेन
पवमानेन लुलन्तीना चपलीभवन्तीना लताना विविधजातिवल्लीना ताण्डव नाटक
यस्मिन् । सर्वाण्यप्येतानि चित्रेषणानि भवनेष्वर्यात्सव्यन्ते । कि चात्र भवनशब्देन
राजमन्दिरादि ग्राह्यम् । तत्र सवेऽप्यर्था सभवन्त्येव दृश्यन्ते च । अय वा पुण्याढ्या-
नामाढ्यानामपि भवने भवन्ति शालिभद्रादिमन्दिरवत् इति ॥ युग्मम् ॥

कचिद्विकचकानने मधुपगीतिमिश्रा गिर

जगुर्मृदु फलादनाः श्रुतिसुखा विदग्धा इव ।

कचिच्च ननृतुर्नटा इव शिखण्डिना मण्डला

जगर्ज जलदः कचित्करिघटेव भूमीभृतः ॥ ३९ ॥

कचित्कुत्रापि शत्रुजयमेखलाशालिप्रदेशे विकचे विकसितकुसुमितसान्द्रद्रुमद्रोणीके
कानने वने फलादना शुका मधुपाना कुसुममकरन्दपानोन्मादमेदुरभ्रमराणा गीतिभि-

गुञ्जारवैर्मिश्रा करम्बीकृता गिर वाणीं मृदु सुकुमार मधुरमृतत्वेन श्रवणपुटकनिपी-
यमान यथा स्यात्तथा जगुर्वदन्ति स्म । के इव । विदग्धा इव । यथा छेका लोका
गीतिमिश्रा वाणीं वदन्ति । किभूताम् । श्रुत्यो श्रोतृश्रवणयो सुखा सातोत्पादकत्वेना-
मृतायमानाम् । च पुन क्वचिद्धनवने शिखण्डिना परिपूर्णकलापकलिताना मयूराणा
मण्डला संततयो ननृतुर्नृत्यन्ति स्म । च पुन क्वचित्प्रदेशे जलदो मेघो जगर्ज
गर्जति स्म । गिरौ मेघाना सद्भावो वर्ण्यते । उत्प्रेक्ष्यते—भूमीभृत शत्रुजयाद्रे राज्ञो
वा करिषटेव गजराजीव । ‘बहूना घटना घटा’ इति हैम्याम् ॥

मरुन्मिथुनमण्डिता खगविनोदसान्द्रीकृता

मरुत्तरुपरपरा विविधसिद्धसौधान्तरा ।

मणीशिखरशालिनी पुनरनिन्दिताष्टापदा

नितम्बविलसद्गुनी भगवतालुलोके गिरौ ॥ ३६ ॥

भगवता हीरसूरिणा गिरौ शत्रुजयशैले नितम्बे मेखलाया विलसन्ती स्फुरन्ती
शोभमाना वनी काननमालुलोके निरीक्षिता । तीर्थस्थान्यपि सर्वाणि स्थानानि पावनान्येव ।
वनीशब्दोऽन्यत्रापि दृश्यते । यथा ‘यवनी नवनीतकोमलाङ्गी शयनीय यदि पाव-
नीकरोति । अवनीतलमेव माननीय न पुनर्माघवनीवनीविनोद ॥’ इति कविकल्लोले ।
तथा ‘खवनी सप्रवदत्पिकापि का’ इति नैषधे । किभूता वनी । मरुता देवाना मिथुनानि
देवदेवीयुगलानि तैर्मण्डिता अलकृता । पुन किभूता । खगाना विविधजातीयविहग-
माना स्वकामिनीकलितविद्यावराणा वा विद्यासाधकखेचराणा वा विनोद क्रीडातिरेक
रसैर्विशिष्टैर्गुरुप्रमुखै साधनोपायकरणादिषु नोदै प्रेरणै सान्द्रीकृता स्नेहलीकृता निबिडा
विहिता वा । पुन किभूता । मरुद्भिर्यक्षादिदेवै अविष्टितानाम् । ‘गुह्यको वटवास्यपि’
इति हैम्याम् । तरुणा द्रुमाणा देवद्रुमाणा वा परपरा श्रेणयो यत्र । पुन किभूता । वि-
विधानि नानाप्रकाराणि स्वर्णरूप्यरत्नमयानि वा सिद्धानामर्हता पुण्डरीकादिमुनीनामेव
सिद्धाना वा सौधानि चैत्यानि सिद्धायतनानि । अथ वा विविधमन्त्रतन्त्रौषवीरससिद्धि-
भाजा सिद्धाना गृहाणि । तत्रस्था हि केचिन्मन्त्रादिसाधना विदवतो विविधौषधीजि-
घृक्षवोऽपि सौधमाधाय तिष्ठन्तीति तानि अन्तरे मध्ये यस्या सा । पुन किभूता ।
मणीना शिखरै शृङ्गै शालते इत्येवशीला । पुन किभूता । अनिन्दिता श्लाघनीयास्ती-
र्थानुभावेनाकूरत्वात्प्रशस्या अष्टापदा शरभा उपलक्षणादन्येऽपि श्वापदा अष्टापदानि
खानौ स्वर्णानि वा यस्याम् । अत्रापि मेरुमेखलाया अप्यर्थध्वनि , तत्रापि सुरयुग्मानि
खेचराणा विविधनिधुवनविनोदै सान्द्रीकृतकदरान्तरा कल्पद्रुमाश्च सिद्धायतनानि
रत्नशिखराणि स्वर्णमया च ॥

प्रभो. शिरसि भूरुहैर्विदधिरे छदैश्छायिका

निरुद्धरविरश्मिभिः सहचरैरिव स्वांशुकैः ।

अवीज्यत पुनर्जनः कचन तालवृन्तैरिव

प्रसारिझरसीकराकलितलोलरम्भादलैः ॥ ३७ ॥

कचन कुत्रापि गिरिमेखलायां भूरुहै सच्छायतरुभि कर्तृभि निरुद्धा पिहिता आच्छादिता रवेर्भानुमालिनो रश्मय किरणा यैस्तादृशैश्छदै स्वपणै साधनै कृत्वा प्रभो सूरिन्द्रस्य शिरसि मस्तके छायिका भास्करातपावृतय 'छाहडा' इति जनप्रसिद्धा विदधिरे कृता । कैरिव । सहचरैरिव । यथा सेवकलोकै प्रभो स्वस्वामिन शिरसि स्वाशुकै स्वकीयवसनै कृत्वा छायिका क्रियन्ते । पुन कचन कुत्रापि स्थाने प्रसारिभिर्विस्तरणशीलै झराणा शिखरान्तरानि सरत्पय प्रवाहाणा सीकरैर्वा तास्ता वारिबिन्दुभि कलितैर्मिश्रीभूतैस्तथा लोलै पवनान्दोलनचपलीभूतै रम्भाणा कदलीद्रुमाणादलै पृथुलपणै कृत्वा जन अवीज्यत । अर्थोद्गिरिणैव । कथम् । पुनर्वार वारम् । कैरिव । तालवृन्तैरिव । यथा व्यजनैर्वीज्यते ॥

विदग्धविहगा जयारवमुदीरयन्त्यध्वनि

स्तुतिव्रतजना इवान्तरभिमातिभेत्तुः प्रभोः ।

कचिन्निचितमारुतोपचितकीचकाना कणै-

गुरोर्गुणगण. पुनर्गिरिसुरैरिवोद्गीयते ॥ ३८ ॥

कचित्कापि प्रदेशे विदग्धा कौतुकक्रीडाकृते अत्याप्य पश्चात् श्रीभूतमहेभ्यै पञ्चरेभ्यो निजेच्छया गमनाय विमुक्ता । 'तदर्थमयाप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ता पटवस्तमस्तुवन्' इत्यपि नैषवादौ दर्शनादिदमपि युक्तिमदेवेति । तथा श्रावकसगत्या श्राद्धत्वं च प्रपन्ना । अत एव तीर्थाविराज स्वतिर्यक्तपयोहाय सेवमाना पण्डिता विहगा शुकसारिकादय पक्षिण अध्वनि शत्रुजयाचलारोहणमार्गे प्रभो सूरिन्द्रोर्जयारव जयजयेति शब्दमुदीरयन्ति कथयन्ति । किभूतस्य प्रभो । अन्तर्मन्ये स्वात्मनि वर्तमानानामभिमातीना रागद्वेषकपायादिविद्विषा भेत्तुर्हन्तु । के इव । स्तुतिव्रतजना इव । यथा स्वामी प्रमुखाणा पूर्वपुरुषकर्तव्यादिषु प्रवर्तमाननृपादिमाना वैरिजयवर्मकार्यदानप्रमुखे विधेये स्तवने व्रत नियमो येषा तादृशा जना वन्दिलोका वैरिविजेतु स्वामिनो मङ्गलपाठका जयजयारवमुदीरयन्ति । पुन कचिद्भूमिभागे निचितैरन्त प्रविष्टत्वा-न्निभृतैर्निर्वलीभूते अथ वा निभृत परिपूर्ण यथा स्यात्तथा मारुतै पवनेरुपचिता पुष्टा कृता । समस्तावयवेषु पूरिता इत्यर्थः । ये कीचका सकीचका सच्छिद्रवशा । 'स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रै' इति रघुवशे । तेषा कणै शब्दै कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—गिरिसुरै श्रीशत्रुजयाचलाधिष्ठायकदेवे कपर्दिचक्रेश्वरीगोमुखप्रमुखैर्गुरोर्होर्सुरैर्गुणाना शमदमसयमादीना गण समूह उद्गीयते उत्प्राबल्येन गानविषयीक्रियते इव ॥

स्वचैत्यचटुलध्वजोपधिकरैरिवाकारय-

न्प्रभञ्जननमद्भूमैः किमतिगौरवं कल्पयन् ।

मनीषिशुकभाषितैरिव सुखागमं प्रश्नय-

ञ्झरञ्झरमुदश्रुभागिरिरभूदुरोरागमे ॥ ३९ ॥

गुरो सूरीन्द्रस्य आगमे गिरिर्विमलाचल अद्वैतमोदप्रादुर्भावादेवविधः अभूद्भूव । किभूत । झरन्तो निष्पतन्तो ये झरा निर्झरवारिधारास्त एव मुदश्रूणि हर्षबाष्पान् भजतीति । उत्प्रेक्ष्यते—स्वस्यात्मनश्चैत्याना परमेश्वरप्रासादाना चटुला पवनान्दोलनविलोला ये ध्वजा वैजयन्त्यस्त एवोपविः कपट येषा तादृशैः करैर्हस्तैः किमाकारयन्नाह्वयन्निव । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—प्रभञ्जनेन वायुवेगेन नमन्तो नम्रीभवन्तो ये द्रुमाः पादपास्तैः कृत्वा अतिगौरवमतिशायिनी भक्ति नमनचरणलगनलक्षणा कल्पयन् कुर्वन्निव । ‘अनुतिष्ठति विदधाति रचयति कल्पयति चेति करणार्थे’ इति क्रियाकलापे । पुनरुत्प्रेक्ष्यते—मनीषिणा विविधशास्त्राभ्येतृणा शुकाना कीराणा भाषितैरुक्तिभिर्वचनचातुरीभिः कृत्वा । सुखागम यूयमत्र सुखेन समाधिना चागता इत्यादि स्वागतप्रश्नयन्निव पृच्छन्निव । अन्यो महात्मा कमपि स्वाभीष्टमभ्यागच्छन्त विभाव्य चञ्चलकरैराकारयति । तथा नमनपदलगनादिभिर्गौरव कल्पयति । तथा मधुरया गिरा सुखागमनप्रश्न कुरुते । तथा हर्षाश्रूण्यपि भजते ॥ इति गुरोर्विमलाचलपट्यारोहणे गिरिमेखलावर्णनम् ॥

क्रमेण धरणीभृतः समधिगत्य सोऽधित्यका

ददर्श वशिना शशी चरणमम्बरालम्बिनम् ।

धृतं विमलभूभृतोद्भटभवाभिमातेर्भया-

ज्जनं स्वशरणागत किमिह रक्षितु काङ्क्षता ॥ ४० ॥

स वशिना वशात्मना जितेन्द्रियाणा मध्ये शमाभृतैरतिशीतलत्वेन विश्वाह्लादकत्वेन च शशी । अत्र षष्ठ्या अलुक्समासे एकमपि पद प्रणीयते वा । सूरीन्द्र अम्बरमाकाशमालम्बते सश्रयत्यालिङ्गति इत्येवशील वरणप्राकार बाह्यसाल ददर्श पश्यति स्म । किं कृत्वा । क्रमेण प्रथमद्वितीयतृतीयादिमेखलारोहणपरिपाट्या धरणीभृत श्रीशत्रुजयाद्रेरधित्यकामूर्ध्वभूमी समधिगत्य प्राप्य । ‘अधिगत्य जगत्यधीश्वरादय मुक्ति पुरुषोत्तमात्तत’ इति नैषधे । ‘अधिगत्य आसाद्य’ इति तद्वृत्तिः । उत्प्रेक्ष्यते—उद्भटः अत्युत्कटो वारयितुमशक्यो यो भव ससार स एवाभिमाति शत्रुस्तस्य भयाद्भीते स्वस्यात्मन शरणे आगत सप्राप्त जन भविकलोक रक्षितु त्रातु पालयितु निर्भय कर्तु काङ्क्षता वाञ्छता विमलभूभृता शत्रुजयाद्रिणा किमु धृतं कृतं वा ॥

विवेश वशिशर्वरीवरयिता नृणा श्रेणिभिः

समं वरणगोपुरं पुरमिवावनीवासवः ।

स धर्मधरणीपतेरिव निवासवेशमावलीं

व्यलोकत पुरःस्फुरज्जिननिकेतपङ्क्तिं पुनः ॥ ४१ ॥

स वशिना सयमिना मध्ये शर्वर्या निशाया वरयिता भर्ता चन्द्रो हीरविजयसूरिर्नृणा यात्रिकसघलोकाना श्रेणिभिः सम वरण शत्रुजयशिखरबाह्यप्राकारस्तस्य गोपुर प्रतोलीं विवेश प्रविष्टवान् । क इव । अवनीवासव इव । यथा विजयी राजा दिग्जैत्रयात्रा प्रणीय पुर स्वा राजधानी नगरी प्रविशति । पुनरन्याथोपन्यासे । स हीरसूरिः पुरोऽग्रे वरणप्रवेशानन्तरमेवाग्रत एव स्फुरन्ती प्रकटीभवन्ती दीप्यमाना वा जिनाना तीर्थ-कृता निकेताना मन्दिराणाम् । प्रासादानामित्यर्थः । पङ्क्तिं मालिका व्यलोकत निरीक्षते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—धर्मनामा यो धरणीपतिस्तस्य निवासार्थं वासकृते वेशमावली भवन-राजीमिव ॥ इति शत्रुजयतीर्थे प्रथमप्राकारे प्रवेशः ॥

मृगेन्द्रशरभाङ्कुशा परिभवन्ति मा निर्दया

इमा जहि जगत्पतेर्जननि दुःखितामुल्बणाम् ।

इतीव गदितुं गजो भजति यानदम्भेन या

वृषध्वजजिनप्रसूः प्रथममेव नेमेऽमुना ॥ ४२ ॥

अमुना सूरिचन्द्रेण प्रथमप्राकारप्रवेशे पूर्वमेव सातात्कालिकोत्पन्नकेवलज्ञानेन चतुर्निर्मितसमवसरणमत्ये सिंहासनमवितस्थुषा चतुर्विधसघस्थापनकृते भरतभूपागमन प्रतीक्षमाणेन श्रीऋषभदेवेन तीर्थस्थापनसमयात्प्राक् सिद्धिगामुकत्वेन अतीर्थसिद्धत्वेन च अस्यामवसर्पिण्या भरतक्षेत्रे प्रथमसिद्धत्वेन वा प्रसिद्धा वृषो वृषभो ध्वजश्चिह्नमूरुलाञ्छन यस्य स युगादिदेव स एव जिनः प्रथमतीर्थकृत्तस्य प्रसूर्माता मरुदेवा नेमे नमस्कृता प्रणता । सा का । या मरुदेवी यानदम्भेन वाहनच्छलेन गजो हस्ती भजते सेवते । उत्प्रेक्ष्यते—इति गदितुं कथयितुमिव । इति किम् । हे जगत्पतेस्त्रेलोक्यनायकस्य जननिर्माता निर्दया निर्याता दया करुणा येभ्यस्तादृशा मृगेन्द्रा केसरिण तथा शरभा अष्टापदा । ‘हर्यक्ष केसरी इभारिः’ तथा ‘शरभ कुञ्जराराति’ इदं द्वयमपि हेम्याम् । तथा शिरसि घातदायकत्वादङ्कुशा सृणय एतत्प्रमुखा मृगयाविधायिव्या-वभूपादिका मा परिभवन्ति यावद्भजजातिमपि निघ्नन्ति । इमामुल्बणामुत्कटा घातन-लक्षणा दुःखिता दुःखिनो भावः जहि विनाशय निवारय । हन्तेर्धातोर्हि विषये जहि-रादेशः । यदुक्तं सारस्वते—‘जह्येधिशधि, हन्तेर्जहिशब्दोऽस्तेरेधि शास्ते शाधि-शब्दो निपात्यते हि विषये’ इति वक्तुमिव ॥

यदीक्षणजितो मृगः श्रित इवाङ्ककायः क्रमं
 मृगध्वजजिनं ततः प्रमुदितः स तं नेमिवान् ।
 जिनेन्द्रमजितं पुनर्नजितमान्तरैर्वैरिभिः
 कदाचिदपि पद्मिनीप्रियतमस्तमिश्रैरिव ॥ ४३ ॥

स सूरिस्ततो मरुदेवीनमस्कृतेरनन्तरं तं शान्तिकारकत्वेन सर्वत्रापि प्रसिद्धं मृगो हरिणो ध्वजश्चिह्नं यस्य तादृशं जिनं षोडशतीर्थनाथं श्रीशान्तिनाथं नेमिवान् प्रणमति स्म । अयं क्रसो प्रत्ययस्य प्रयोगः । स च णवादिवत् ज्ञेयः । किंभूतः सूरिः । प्रमुदितो हृष्टमानसः । यत्तदो नित्यसंबन्धात् यस्य श्रीशान्तिनाथस्य क्रमचरणमृगः सारङ्गश्चित्तसमेत्यसेवते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—यदीक्षणाभ्यां यस्य नयनाभ्यां जितः श्रिया पराभूत इव अङ्गोऽभिज्ञानमेव कायो वपुर्यस्य तादृशः सन् श्रित इव । पुनरपरविहारे अजितं द्वितीयं जिनेन्द्रं परमेष्ठिनं नेमिवान् प्रणमामः । किंभूतम् । नेति निषेधे । जितं पराभूतं न जितमजितम् । कैः । आन्तरैरन्तरङ्गैः कर्माद्यैर्भाववैरिभिः । कथम् । कदाचिदपि कस्मिन्नपि काले प्रस्तावे । कैरिव । तमिश्रैरिव । यथा अन्धकारैः कदाचिदपि पद्मिनीप्रियतमो भानुमान् जीयते ॥

स सिद्धगृहवज्जिनं प्रणमति स्म पृथ्वीधर-
 प्रणीतजिनमन्दिरे मुनिपुरंदरः संमदात् ।
 प्रधान इव पर्षदं क्षितिपतिः स छीपाभिधा
 समेत्य वसति पुनर्जिनसुधांशुमाराधयत् ॥ ४४ ॥

शत्रुजयोजयन्तादितीर्थानां करमोचयिता मुनीनां तपागच्छश्रमणानां पुरंदरः अतिशायिलक्ष्मीवत्त्वेन वासवसदृशः सूरिः संमदादानन्दात् पृथ्वीधराभिधेन मण्डपाचलपातिसाहिमन्त्रिणा पेशडदेसायुना निर्मापिते जिनमन्दिरे प्रासादे जिनभगवन्तं प्रणमति स्म । किवत् । सिद्धगृहवत् । यथा कश्चिद्विद्याधरो लब्धिमान्वा साधु सिद्धायतने शाश्वततीर्थं करनमस्करोति । पुनस्तस्मादन्यत्र स्थाने छीपा इत्यभिधा नाम यस्य तादृशी वसतिम् । अत्र तीर्थदौ वसतिशब्देन केवलचैत्यमेव प्रतिपाद्यते न गृहादिप्रासादसमेत्यजिनां सुधांशुर्महद्भट्टारकमाराधयत् भजते स्म । ‘वरिवस्यत्यन्वास्ते जुषते शुश्रूषतेऽनुकूलयति । आराध्नोत्याराध्यत्याराधयतीति सेवायाम् ॥’ इति क्रियाकलापः । क इव । प्रधान इव । यथा सचिवः पर्षदसभासमागत्य क्षितिपतिं स्वस्वामिनृपतिमाराधयति ॥

अवन्दतः स टोटराभिधविहारतीर्थेश्वरः
 पुनः प्रभुमबीभजद्वसतिमेत्यमौलहाभिधाम् ।

विलोक्य च कपर्दिनं सकलसघविघ्नच्छिदं

परगिरिमिवार्षुदादिमविभु स्तवैरस्तवीत् ॥ ४५ ॥

स सूरिः टोटरा इत्यभिधा नाम यस्य तादृशे विहारे प्रासादे तीर्थेश्वर जिनमवन्दत नमस्कुरुते स्म । पुनरन्यत्र प्रदेशे मौल्हा इत्यभिधा नाम यस्यास्तादृशीं वसति चैत्य समेत्य प्रभु परमेश्वरमबीभजदुपास्ते स्म । च पुन स सूरि । उत्प्रेक्ष्यते—परमन्य गिरि पर्वतमिव तादृशमर्षुदनामानमादिमविभुमादिनाथ स्तवै स्तोत्रै कृत्वा अस्तवीत् स्तौति स्म । किं कृत्वा । सकलानां विविधदेशागतत्वेन बाहुल्यात्समस्तानां सघानां यात्रिकलो-
कानां विघ्नानामन्तरायाणां छिद विघातक कपर्दिनामान शत्रुजयस्यादिदेवस्य चाधि-
ष्टायक यक्ष विलोक्य दृग्गोचरीकृत्य ॥ इति बाह्यप्राकारप्रासादेषु सकलजिनप्रणमनम् ॥
इति मरुदेवीशिखरवर्णनम् ॥

सरस्यनुपमाभिधे शिखरिशेखरे मानसा-

ह्वये तुहिनमेदिनीधर इव क्षिपन्नक्षिणी ।

तत समधिरूढवान्स शिखर स्वरारोहणा-

भिध धृतमिवामुना स्वरधिरोहणायाङ्गिनाम् ॥ ४६ ॥

ततो मरुदेवीशिखरादवतरणानन्तर सूरिराजहस स्वरविरोहणाभिवमर्यात्स्वर्गा-
रोहण नाम । अथ वा अक्षरच्युतकप्रदानालकारेणाविकारोऽपनीयते गकारश्च प्रदीयते
तदा च स्वर्गारोहणाभिवान ऋद्ध समधिरूढवान् चढति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अङ्गिना
भविकानां स्वरविरोहणाय स्वर्गे अविरोहणार्थममुना शत्रुजयगिरिणा धृतमिव । सूरि
किं कुर्वन् । शिखरिणा सर्वपर्वतानां शेखरे अवतसभूते शिखरिणो विमलाद्रे शेखरे
वा तेज पालपत्न्या अनुपमदेव्या खानिते कारिते तदभिवेये वा उपमनाम्नि सरसि तटाके
अक्षिणी निजनयने क्षिपन् किरन् । पश्यन्नित्यर्थः । कस्मिन्निव । मानसाद्वये इव । यथा
तुहिनभूवरे हिमाचले किमपि शिखरमारोहन् हसो मानसमित्यादय नाम यस्येतावता
मानसनाम्नि सरसि तटाके दृशो क्षिपति । हिमाचलोपरि मानसमरस सद्भाव प्रो-
क्तोऽस्ति । यथा चम्पूकथायाम्—‘मदा हसाकुलम्’ इति प्राक् प्रोक्तमस्ति ॥

समेत्य मणिसेतुना वृषभकूटमभ्रकष

विवेश वरणान्तरे किमपवर्गपूर्गोपुरे ।

विलोक्य स तदन्तिके सचिववस्तुपालेन चो-

ज्जयन्तमवतारितं प्रणमति स्म तत्राहृतः ॥ ४७ ॥

स हीरसूरि वरणस्यान्तरे मध्यतनप्राकारमध्ये विवेश प्रविष्टवान् । उत्प्रेक्ष्यते—
अपवर्गो मोक्षः स एव पूर्णगरी तस्या गोपुर प्रतोलीमिव प्रविशति स्म । किं कृत्वा ।
मणिसेतुना विविधरत्ननिर्मापितपथया अभ्रकष गगनमुल्लिखत् वृषभकूट मूलप्रासादस-

बन्धि शिखर समेत्य समागत्य । च पुनस्तस्य चरणस्यान्तिके सचिवो वीरधवलधरा-
धवप्रधानो यो वस्तुपालस्तेनावतारित रचनया नवीन निष्पादितमुज्जयन्त गिरिनारि-
गिरिप्रपञ्च विलोक्य । 'प्रणीय नयनातिथि स च कुमारदेवीभुवा' इत्यपि पाठः । तत्र च
पुन कुमारदेवीसाधो रासराजस्य पत्नी तस्या भूहृत्पत्तिर्यस्य तादृशेन वस्तुपालेनाव-
तारित प्रतिरूप कृतमुज्जयन्त रैवताचल नयनयोरतिथि प्राधुनिक प्रणीय विवाय ।
लोचनगोचरीकृत्येत्यर्थः । स सूरिस्तत्रोजयन्तावतारे वस्तुपालविहारे अर्हत श्रीनेमि-
नाथप्रमुखान् जिनेन्द्रान्नमति स्म ॥

ततः खरहताभिधा वसतिमभ्युपेत्य प्रभुः

स्ववासत इवागत रचनयात्र नन्दीश्वरम् ।

सराजिमतिका स्फुरच्चतुरिका पुनर्नेमिनो

निभाल्य जिनपुंगवानिह तमामनंसीन्मुदा ॥ ४८ ॥

प्रभुर्हीरसूरि इह खरहतवसतौ मुदा हर्षेण जिनपुंगवान् तमामतिशयेन पञ्चाङ्गप्र-
णतिनमस्तवादिना अनसीन्नतवान् । किं कृत्वा । ततो रैवतावतार-वस्तुपालवसति-जिन-
पति-नमनानन्तर खरहत इत्यभिधा यस्यास्तादृशी वसति खरहतनाम्ना व्यवहारिणा
स्वनान्नैव कारितप्रासादमभ्युपेत्यागत्य । पुन किं कृत्वा । नन्दीश्वरमभ्युपेत्य । उत्प्रे-
क्ष्यते—रचनया शिल्पघटनाविशेषेण कृत्वा इह शिखरवसतौ स्ववासतो निजवसन-
स्थानात् अष्टमद्वीपभूमेरागत सप्राप्त नन्दीश्वरमष्टमद्वीपलक्षण द्विप वा सत्प्रसादलक्षण-
मिव । पुन किं कृत्वा । अत्र खरहतवसतौ नेमिनो द्वाविंशतितमतीर्थकृत्नेमिनाथस्य
स्फुरन्ती रचनाचातुर्येण शोभमाना चतुरिका 'चउरी' इति लोकप्रसिद्धा पाणिग्रहण-
स्थान निभाल्य दृष्ट्वा । किंभूता चतुरिकाम् । सराजिमतिका सह राजीमत्या वर्तते या
सा सराजिमतिका । राजिमतीत्यत्र जिकारो ह्रस्वोऽपि दृश्यते श्रेण्यामिव राजि
राजी । तथा च 'स्वामिन्मामुग्रसेनक्षितिपकुलभवा सानुरागा सुरूपा बाला त्यक्त्वा
कथं त्वं बहुमनुजरता मुक्तिनारीमरूपाम् । वृद्धा मूकामकुल्या करपदरहितामीहसेऽशे-
षविच्छागित्युक्तो राजिमत्या यदुकुलतिलकं श्रेयसे सोऽस्तु नेमि ॥' इति पूर्वसूरिप्र-
णीतस्तवे । तथा 'काप्यत' इति सारस्वतसूत्रेण कापि परे ह्रस्वे राजिमतिका ॥

स घोटकचतुष्किकादिमगवाक्षजैनालये

चकार च नमस्कृति चरणयोजिनोर्वीभृताम् ।

गिरेरिव विशेषके तिलकतोरणे श्रीजिना-

न्पुनर्मुनिमतङ्गजो नवनवैः स्तवैरस्तवीत् ॥ ४९ ॥

स सूरिर्घोटकचतुष्किका इति आदौ नवमादिम पदं यत्र तादृशो गवाक्ष इत्यभि-
धानो 'घोडाचोकी गउख' इति नाम्नि जैनालये तीर्थकृत्सबन्धिविनि मन्दिरे । प्रासादे

इत्यर्थः । च पुनर्जिनोर्वीभृता जिनराजाना चरणयोः पादयोः नमस्कृति प्रणाम
चकार । पुनरपि मुनिमतङ्गज साधुसिन्धुरः तिलकतोरणे 'तिलकुतोरण' इति
नाम्नि विहारे श्रीजिनान् श्रीमत्तीर्थकृतो नवनवैर्नूतनैर्नूतनैः तात्कालिकैः स्वकृतैः
स्तवैः स्तोत्रैः अस्तवीत्तुष्टाव । उत्प्रेक्ष्यते—गिरे श्रीशत्रुजयाद्रेस्तिलके विशेषके इव ॥

जिनाधिपसभाजनाप्लवविधानबद्धादरा-

रविन्दनयनाजनैः सममलंकृत सर्वतः ।

जलाधिसुरयौवतैः प्रभुनिनंसयेव स्फुटी-

भवद्भिरमुना न्यभाल्यत पतङ्गकुण्डं ततः ॥ ९० ॥

ततस्तत्र तिलकतोरणे जिननमनानन्तरममुना सूरीन्द्रेण पतङ्गकुण्डं सूर्यकुण्डम् ।
कुण्डशब्दस्त्रिलिङ्गः । 'पेटो मठ कुण्डनीड—' इति लिङ्गानुशासने । न्यभाल्यत ददृशे ।
किभूतम् । सर्वतः सर्वेष्वपि प्रदेशेषु सममेव एककालं समलंकृतं सम्यक्प्रकारेण
शोभितम् । कैः । जिनाधिपानामृषभदेवतीर्थकृतां सभाजनार्थं पूजाकृते । 'सभाजने प-
श्यति विस्मिते सा सभाजन तत्र ससर्ज तेषाम्' इति नैषधे । 'तेषां देवानां सभाजन
पूजा ससर्ज चकार' इति तद्वृत्तिः । यः आप्लव स्नानम् । 'स्नानं सवनमाप्लव' इति
हैम्याम् । तस्य विधाने करणे बद्ध आदरो बहुमानः यैस्तादृशैररविन्दनयनारूपैर्जनैः ।
स्त्रीसमूहैरित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभोर्हीरविजयसूरेर्निनंसयानन्तुमिच्छया स्फुटीभवद्भिः
प्रकटैर्जायमानैः जलाधिसुराणां सलिलाधिष्ठायकदेवानां जलदेवतानां यौवतैर्युवतीसमू-
हैरिव ॥ इति द्वितीयप्राकारप्रासादेषु देववन्दनम् ॥

विजित्य कलिना सम दुरितदुर्धरद्वेषिण

सुखं स्थितिमुपेयुषः शिखरिमण्डलाखण्डले ।

ससालमणिमन्दिर किमिह धर्मभूमीभुजो

न्यभालयदयं पुरं प्रवरवप्रवेशमार्हत ॥ ९१ ॥

अयं हीरविजयसुरि पुरोऽग्रतः अर्हतः ऋषभदेवतीर्थकृतः सत्कः प्रवरः प्रकृष्ट-
वप्रः प्राकारो यत्र तादृग्वेश्म भवनं ससालं युगादिजिनविहारं न्यभालयत्पश्यति स्म ।
उत्प्रेक्ष्यते—इहास्मिन् शिखरिणा सर्वपर्वतानां मण्डलानां समूहानां मध्ये आखण्डल-
शक इवाखण्डले मुखं सात यथा स्यात्तथा स्थितिः निवासलक्षणामुपेयुषः प्राप्तवतो
वर्मनाम्नो भूमिभुजः भूपालस्य सह सालेन प्राकारेण वर्तते यत्तत्ससालं तादृशं मणिम-
न्दिरं किं रत्नगेहमिव सुखं स्थितस्य । किं कृत्वा । कलिना कलिकालेन समं सार्वं दुरितानि
पापान्येव दुर्धरानुत्कटान् दुष्टत्वात् द्वेषिणः सपत्नान् विजित्य सर्वात्मना पराभूय ॥

स्फुरत्करतरङ्गिता स्फटिककल्पितारोहणा-

वलीमयममार्गयद्वरणगोपुराभ्यन्तरे ।

विमुच्य मृडमद्रिजापरिभवेन सापत्न्यतः

किमम्बरतरङ्गिणीं विदधतीं विरक्तेस्तपः ॥ ५२ ॥

मलीमसजनाप्लवैर्निजमपावनीभावुकं

पवित्रयितुमीयुषी किमथ वात्र शत्रुंजये ।

मुरारिमथनोदितस्वतनुजादिविश्लेषजा

सुखादुत सुधाम्बुधिः किमु तनोति तीर्थे तपः ॥ ५३ ॥

अथ सूरिर्वरणस्य प्राकारस्य गोपुर प्रतोली तस्याभ्यन्तरे मध्ये स्फुरद्भि करैः किरणैः कृत्वा तरङ्गाः कल्लोलाः सजाता अस्यामिति तरङ्गिता तादृशी तथा स्फटिकैः श्वेतरत्नैः कल्पिता निर्मितामारोहणाना सोपानानामावलीं श्रेणीममार्गयत्पश्यति स्म । 'मार्गयति मृगयतेऽपि च मार्गति चेत्याहुरीक्षार्थे' इति क्रियाकलापे । उत्प्रेक्ष्यते—समान एकः पतिर्यस्या सापत्नी तस्या भाव सापत्न्य ततः कारणादद्रिजायाः पार्वत्या परिभवेन सतापेन । उद्विग्नैत्यध्याहार्यम् । मृडमीश्वर विमुच्य त्यक्त्वा विरक्तेर्वैराग्यात्तपो विदधती तीर्थे तपस्यन्तीमम्बरतरङ्गिणीं गङ्गामिव । अथ वा पुनरुत्प्रेक्ष्यते—मलीमसा जाल्या अनल्यजाः कर्मणा महाक्रूरकर्माणो जीवादिघातनान्महापापिनो मलिनजनास्तेषामाप्लवैः स्नानकरणादिभिः कृत्वा अपावनीभावुकमपवित्रीभवनशील निजमात्मान पवित्रयितु पावनीः कर्तुम् । तीर्थसेवया इत्यध्याहार्यम् । अस्मिन् सर्वतीर्थाविराजे सौराष्ट्रमण्डलकमलाचूडाः मणौ श्रीशत्रुजये ईयुषी समागतवती किमु । अर्थात्पूर्वप्रतिपादिता गङ्गेव वा । उताथ वा मुरारिणा नारायणेन यन्मथन मन्दरगिरिणा कृत्वा आमूलाद्विलोडन तस्मादुदित प्रादुर्भूतो यः स्वस्य क्षीरसमुद्रस्यात्मन तनुजाना 'लक्ष्मी कौस्तुभपारिजातकसुरा वन्वन्तरिश्चन्द्रमा धेनु कामदुधा सुरेश्वरगजो रम्भादिदेवाङ्गना । अश्वः सप्तमुखोऽमृत हरिधनुः शङ्खो विष चाम्बुधे रत्नानीति चतुर्दशापि कविभिः सकीर्तितानि स्फुटम् ॥' एषां चतुर्दशानां मध्ये केचित्पुत्रा आदिशब्दात्काश्चित्पुत्र्यस्तासां विश्लेषो वियोगः तस्माज्जात यदसुख सुखादन्यत् विरुद्धं वा सुखस्याभावो वासुखम् । 'तदन्यत्तद्विरुद्ध-तदभावेषु नजो वर्तमानत्वात् त्रयोऽप्यर्थाः सगच्छन्ते' इति सारस्वतव्याकरणानुसारिवचः । एतावता दुःखं तस्मात्कारणात्सुधाम्बुधिः क्षीरसमुद्रो महानन्दपदप्रापकास्पदेऽत्र शत्रुजयतीर्थे तपस्तनोति किमु । अशनादित्यागलक्षणं नियमविशेषं करोतीव ॥ युग्मम् ॥ इति सर्वाभ्यन्तरप्राकारप्रतोलीसोपानानि ॥

स हीरविजयप्रभुर्वरणगोपुरं प्राविश-

त्प्रवेशनमिवर्षभध्वजजिनावनीवज्रिणः ।

सुराम्बुधिवधूप्लवेऽम्बुजपरागपिङ्गीभव-

त्सितच्छद इव व्यभासत ततोऽस्य सोपानके ॥ ५४ ॥

अकञ्जरसाहिसमानितो हीरविजयनामा प्रभुस्तपागणश्रमणस्वामी अर्थात्सूरिः वर-
णस्य मूलप्रासादप्राकारस्य गोपुर प्रतली प्राविशत् प्रविशति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—ऋषभो
वृषभो ध्वजश्चिह्नमूरुविषयलाञ्छन यस्य युगादिरेव जिनाना सामान्यकेवल्लिना मध्ये
अवन्या भूमेर्वज्जिण पुरदरस्य । राज्ञ इत्यर्थः । प्रवेशन सिंहद्वारमिव । ततो गोपुरप्रवे-
शानन्तरमस्य सर्वाभ्यन्तरवरणगोपुरस्य सोपानके आरोहणगणे सोपानाना समूह
सोपानक तस्मिन् । समूहार्थे कप्रत्ययः । हास्तिकादिवत् । सूरिव्यभासत सशोभते स्म ।
क इव । सुराणा देवानामम्बुधे समुद्रस्य वधू पत्नी एतावता देवनदी तस्या प्लवे पूरे
गङ्गाप्रवाहे । स्वभावेन पद्मानि पीतकमलानि इत्युच्यन्ते । यथा स्नातस्यास्तुतौ—‘हसासा-
हतपद्मरेणुकपिशक्षीरार्णवाम्भोभृतैः’ इति । तानि च हेमसूरिणा नामग्राह हैम्यामा-
नीतानि न सन्ति, यथा पराणि वर्णभेदोच्चारणप्रोक्तानि । यथा—‘रक्तोत्पल कोकनद
श्वेते तु तत्र कुमुद नीले तु स्यादिन्दीवरम् । श्यामे तूत्पल स्यात्कुवलयम्’ इति । तस्मा-
त्तेषा स्वभावात्पीतिमैवावसीयते । ततोऽत्रापि अम्बुजानि पीतपद्मानि अथ वा
कनकमयानीत्यध्याहार्यम् । तेषा पराणा रजासि तैस्तत्सगमान्पिङ्गीभवन्पीतो जायमान
सितच्छदो राजहस इव ॥

चतुष्कमधिरोहणात्क्रमविहारयोरन्तरा

व्यलोकत समाजवत्सुकृतभूमिभर्तुः प्रभुः ।

पुनर्मणिहिरण्मय जिननिकेतनं तत्पुरः

सुधाशवसुधाधरोल्लसितचूलिकाचैत्यवत् ॥ ५५ ॥

प्रभुर्हीरविजयसूरि अविरोहणादवस्तनसोपानात्क्रमादुपरितनसोपानागमनात् सोपा-
नक एव स्थितः । यत्र विहारयोर्मूलप्रासादप्राकारयोरन्तरा मध्ये चतुष्क ‘चौक’ इति
प्रसिद्धम् । प्रासादाङ्गणभूमिमित्यर्थः । व्यलोकत दृष्टवान् । किवत् । समाजवत् । उत्प्रेक्ष्यते—
सुकृतभूमिभर्तुः वर्माभिवानपार्थिवस्य समाज सभामिव । पुनरन्यत्तत्पुरः तस्य चतु-
ष्कस्याग्रे मणयः कर्कतचन्द्रकान्तादिकास्तैर्युक्तः हिरण्मयः स्वर्णप्रवानः रक्तकाञ्चनरचितः
जिननिकेतनमृषभदेवप्रासादः व्यलोकतः ददर्श । किवत् । सुवाममृतमश्नन्तीति सुधाशा
देवास्तेषा वसुधावरः पर्वतो मेरुगिरिस्तस्योल्लसिता उल्लासः प्राप्ता शोभासयुक्ता जाता
या चूलिका शिखा अधिल्यका वा तस्याश्चैत्यवत्सिद्धायतनमिव ॥

अथैकविशतिकाव्यैर्मूलप्रासादवर्णनम्—

तमीश इव तारकैर्ग्रहपतिर्ग्रहौघैरिवा-

सुरेश्वर इवासुरैरिव सुरैः सुरेशः पुनः ।

नरेन्द्र इव मानवैर्वृषभकेतनार्हद्रुहं

गृहैर्लघुभिरर्हता स्फुरति सर्वतोऽलंकृतम् ॥ ५६ ॥

सर्वतः सर्वास्वपि दिक्षु अर्हतां भगवता लघुभिरल्पप्रमाणैर्गृहैर्देवकुलिकाभिरलकृत
शोभित वृषभकेतनार्हत वृषभदेवस्य गृह चैत्य स्फुरति दीप्यते । कै क इव ।
तारकैर्ज्योतिर्भिस्तमीशश्चन्द्र इव । पुनर्ग्रहाणां मङ्गलादीनामोघै समूहैर्ग्रहपति सूर्य इव ।
पुनरसुरैः दानवैरसुरेश्वरो दानवेन्द्रवत् । पुन सुरैर्देवैः सुरेशो देवेन्द्र इव । पुनर्मानवै-
र्मनुष्यैः नरेन्द्रो राजेव ॥

क्षय प्रलयकालज निजमवेक्ष्य साक्षान्मरु-

त्सरिज्जलरयैरिवाक्षयपदोदयाकाङ्क्षया ।

उपासितुमुपागतैरिह पदारविन्द प्रभो-

र्व्यलासि सदने वृषध्वजजिनस्य सोपानकैः ॥ ५७ ॥

वृषध्वजजिनस्य युगादिदेवस्य सदने गृहे मूलप्रासादे प्रवेशनमार्गे सोपानकैरारो-
हणैर्व्यलासि शुशुभे । अत्र क स्वार्थे । उत्प्रेक्ष्यते—न विद्यते क्षयो विनाशो यत्र
तादृशस्य पदस्य स्थानस्य सपदो वा उदय आविर्भाव तस्याकाङ्क्षया वाञ्छया इह
शत्रुजये प्रभो ऋषभस्य युगादिदेवस्य पदारविन्द चरणकमलमुपासितु सेवितुमुपागतै
समीपे समेतैर्मस्तसरितो गङ्गाया जलरयै पय प्रवाहैरिव । किं कृत्वा उपागतैः । प्रलय-
कालः कल्पान्तषष्ठारकलक्षण तस्माज्जात निजमात्मीय स्वसबन्धिन क्षय विनाश षष्ठा-
रके क्रमाद्विशुष्यजला रयचक्रमार्गमात्रप्रवाहा गङ्गा भविष्यतीति श्रुतिः । सार्धद्विषष्टि-
योजनमानजलप्लवो विशोध्य द्विहस्तप्रमाणप्रवाहो भविता इति । अल्पशब्दस्याभाववा-
चित्वात्क्षय एव साक्षादागमोक्तवाक्यात्प्रत्यक्षेणैवावेक्ष्य दृष्ट्वा । ज्ञात्वा इत्यर्थः ॥

इमा अनिशनिम्नगा बत जडाशया वक्रता

वहन्त्यहरहस्तथा सप्रतिकूलवृत्तिप्रथा ।

श्रितोत्पलमधुव्रतान्कृतकुलक्षयैराश्रिता

धरन्ति च पदे पदे भुवनभङ्गरङ्ग पुनः ॥ ५८ ॥

नमन्निकटवर्तिनामवनिजन्मना घातुकाः

स्वकीयवचनीयतामिति जिघासुभिः सिन्धुभिः ।

निषेवितुमिव प्रभोः पुर उपागताभिर्बभे

यदाप्तसदनाग्रतो विविधरत्नसोपानकैः ॥ ५९ ॥

यस्य श्रीशत्रुजयसबन्धिन आप्तसदनस्य मूलजिनगृहस्याग्रतः पुरस्ताद्विविधाना ना-
नाप्रकाराणा रत्नाना मणीना सोपानकैः । स्वार्थे कप्रत्यय । आरोहणैर्वा बभे शुशुभे । उत्प्रे-
क्ष्यते—निषेवितुमर्थात् युगादिजिनमुपासितु प्रभो ऋषभदेवस्य पुरोऽग्रे उपागताभि
सप्राप्ताभि सिन्धुभिर्नदीभिरिव । किं कर्तुकामाभि । इत्यमुना प्रकारेण स्वकीयामा-

त्मीया वचनीयतामपवाद जननिन्दा जिघासुभिर्हन्तुमिच्छुभिरिव । इति किम् । यत्
 इमां सिन्धव अनिश निरन्तर निम्नगा नीचगामिन्य । बत इति खेदे । पुनर्जडाशया
 मन्दमनस्का जडिमाञ्चितचित्ता डलयोरैक्याज्जलभूता । तथा अहरहः प्रतिवासर वक्रता
 कुटिलभाव वहन्ति धारयन्ति । तथा पुनरर्थे सप्रतिकूलवृत्तिप्रथा सह प्रतिकूलवृत्तेः प्रति
 लोमवर्तनस्य प्रथया विस्तारेण वर्तन्ते या । तत्त्वतस्तु कूल कूल प्रति मर्यादामेदिनी
 प्रवृत्तेः प्रवर्तनस्य पयः प्रवहणस्य प्रथाभिः सह वर्तन्ते । द्वादिसयोगे क्वचिल्लघुरेव
 गण्यते । यथा—‘बहुलभ्रामरमेचकतामसे’ इति वृत्तरत्नाकरवृत्तौ काव्यकल्पलताया
 च । इति न दोषः । पुनरिमा श्रितमङ्गीकृतमुत्कृष्ट पलमास यैस्तादृशान्मासखादकान्
 मधुमयमेव व्रतमद्य विना वय नान्यत्पिबाम इति नियमो येषां तान् । तत्त्वतस्तु से-
 वितकुवलयान् भ्रमरान् । पुनः कृतो विहित कुलानां खान्वयानां क्षयो विनाशो यैस्तै-
 र्मेत्स्यैराश्रिताः । पुनरिमा पदे पदे स्थाने स्थाने भुवनानां जगतां भङ्गे विनाशे रङ्ग राग
 श्रयन्ति । तत्त्वतस्तु भुवनानां पानीयानाम् । ‘नीर वारि जल दल कमुदक पानीयमम्भ-
 कुश तोय जीवनजीवनीयसलिलार्णस्यम्बु वाः शबरम् । क्षीर पुष्करमेघपुष्पकमला-
 न्यायः पयः पाथसी कीलाल भुवन वन घनरसो यादोनिवासोऽमृतम्’ ॥ इति हैम्याम् ।
 भङ्गा कल्लोला । ‘तरङ्गे भङ्गवीच्युर्मि’ इत्यपि हैम्याम् । तैरङ्ग श्रयन्ति । पुनरिमा न-
 मन्तो नम्रीभवन्त पादयोर्लगन्त तथा निकटे समीपे वर्तन्ते आजीविका कुर्वन्तीत्येव-
 शीलास्तादृशानामवनिजन्मनामवन्या भूमावेव जन्मावतारो येषां त्रसानां द्वित्रिचतुःपञ्चे-
 न्द्रियाणां तिरश्चा तथा । खेचरजलचरभूचराणामवन्यामेवोत्पत्तिर्न तु देवगृहादौ, स्थाव-
 राणां तूभयत्रापि दृश्यमानत्वात्त्रसानामुपादानम् । तत्त्वतस्तु अवनिजन्मना वृक्षाणाम् । घा-
 तुका हननशीला इति श्वापद निराकर्तुकामाभिः ॥ युगमम् ॥ इति मूलप्रासादसोपानानि ॥

जिनेन्द्रसदनग्रतोऽद्युतदनल्पशिल्पोल्लस-

त्सुवर्णमणितोरणं शिवसुधाब्धिजाकर्मणम् ।

निबद्धमपवर्गपू प्रथमसाधनप्रक्रमे

जिनावनिबिडौजसः किमिह मुक्तिगेहे गिरौ ॥ ६० ॥

जिनेन्द्रस्य ऋषभस्वामिनः सदनस्य प्रासादस्याग्रतः पुरस्तात् द्वाराग्रे अनल्पैर्बहुभिर-
 नेकजातीयैः शिल्पैर्विज्ञानैः रचनाविशेषैरुल्लसद्दीप्यमानं सुवर्णानां मणीनां सुवर्णमणिभिर्वा
 घटितं स्वर्णमाणिक्यमयं वा तोरणमद्युतत् द्योतते स्म दिदीपे । किंभूतं तोरणम् ।
 शिवमुक्तिरेव सुधाब्धिजा क्षीरसमुद्रपुत्री लक्ष्मीस्तस्याः कर्मणः सवननम् । वशिक्रिया-
 करणमित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इहास्मिन्मुक्तिगेहे गिरौ शत्रुजयशैले ‘विमलगिरिमुक्ति-
 निलउ’ इति शत्रुजयकल्पे । तथा ‘मुक्तिगेहं श्रियं पदम्’ इति शत्रुजयमाहात्म्ये ।
 जिनावनिबिडौजसः श्रीजिनराजस्य अपवर्गो मोक्षः स एव पूर्णगरी तस्याः प्रथममादित
 एव सावनं स्वायत्तीकरणं तस्य प्रक्रमे प्रारम्भे निबद्धं रचितमिव । राज्ञा हि नवीननग-
 रग्रहणे पूर्वं तत्र तोरणं बध्यते इति रीतिः ॥

निजस्य बहलीभवत्यपि महोत्सवे द्वारि मां

जना असहजा इव प्रतिपदं निबध्नन्त्यमी ।

जहीति मम दुःखिता किमिति वक्तुकामं प्रभोः

पुरः स्थितमुपेत्य यज्जिननिकेतने तोरणम् ॥ ६१ ॥

यद्यस्मिन् जिनस्यार्हतो निकेतने गृहे मूलविहारे उपेत्य कुतश्चिदागत्य तोरण स्थित तिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभो ऋषभदेवस्य पुर इत्यमुना प्रकारेण वक्तुकाम कथयितुमीहमान किं स्थितमिव । इति किम् । हे प्रभो, निजस्यात्मन निजस्यात्मीयस्य वा कस्यचिन्महोत्सवे अतिशायिनि महे बहलीभवति सान्द्रे निबिडे निरन्तर जायमाने सति असहजा वैरिण इवामी भूमीलोकवर्तिनो लोका मा तोरण प्रतिपद स्थाने स्थाने गृहद्वारि बहिस्तान्मार्गे वा निबध्नन्ति इत्यमुना प्रकारेण विद्यमाना मम दुःखमस्यास्तीति दुःखी दुःखिनो भावो दुःखिता तामसुखवत्तां जहि व्यापादय । निवारयेति यावत् ॥ इति तोरणम् ॥

यदीयविभवैः पराजितजगत्रयस्पर्धिभिः

स्वकीयमुपदीकृतं विजितवैजयन्तेन किम् ।

दधार मणिमण्डप किरणखण्डिताखण्डरु-

क्वचण्डरविमण्डलं वृषभतीर्थकृन्मन्दिरे ॥ ६२ ॥

वृषभतीर्थकृतो युगादिदेवस्य मन्दिर कर्तुः किरणै प्रतिदिश प्रसरज्जोतिर्दण्डैः खण्डित तिरस्कृतमखण्डाभिरक्षताभिः क्वचिदप्यप्रतिहताभिः रुग्णिभ प्रचण्ड दुरालोक रवेर्भास्करस्य मण्डल बिम्ब येन तादृश मणिमण्डप विविधरत्नघटितजनाश्रय दधार वत्ते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—पराजिता पराभव लम्बिता जगत्रयस्पर्धिलोक्यस्य त्रिभुवनस-बन्धिनः स्पर्धिनस्तुल्यविभवत्वेन सघर्षणशीला यैस्तादृशैर्यदीयविभवैः ऋषभदेवप्रासादसबन्धिभिर्विभ्रमैः शोभातिशयैर्विजितेन परिभव नीतेन वैजयन्तेन इन्द्रप्रासादेन उपदीकृतं ढौकितं स्वकीयमात्मसबन्धिनमर्थार्थं किं मणिमण्डपमिव ॥

अनन्यशिवकन्यका मनसि धर्मभूमीभृता

प्रदातुमिह काङ्क्षतोचितवराय कस्मैचन ।

स्वयंवरणमण्डपं मणिसुवर्णचित्रश्रिया-

ञ्चितः किमु विधापितः स्फुरति यन्महामण्डप ॥ ६३ ॥

यस्य मूलप्रासादस्य महान् गगनाङ्गणालिङ्गी मण्डप स्फुरति शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—अनन्यामसाधारणी सर्वातिशायिनी शिवकन्यका मुक्तिकुमारिका कस्मैचनानिर्दिष्टनाम्ने उचिताय भव्यादिसामग्रीभृते योग्याय वराय प्रधानाय परिणयनकामाय पुरुषाय इह

सिद्धशैले प्रदातुमिच्छता पाणि ग्राहयितु वाञ्छता धर्मनाम्ना भूमीभृता राज्ञा भूषणीना
रत्नाना चन्द्रकान्तादीनामुपलक्षणात्कर्केतनादीना सुवर्णाना काञ्चनाना चित्राण्यालेख्यानि
तेषा श्रिया अथ वा चित्रकारिण्या आश्चर्यविवायिन्या शोभयाञ्चितः कलित स्वय-
वरणमण्डप स्वय स्वेच्छया, न तु पित्रादिपारतन्त्र्यात्, वरणमर्थात्स्वाभीप्सितवरयितु
कण्ठपीठे वरमालाक्षेपणेन स्वीकरण यत्र तादृशो विधापित किमु शिल्पिना निर्मा-
पित इव ॥

अवेत्य कलितौकसं नभसि सिहिकानन्दनं
वनान्मिलितुमागताः किमिह गोत्रहार्दादमी ।

यदाप्तगृहकंधरास्फुरदमानपञ्चानना

परा श्रियमशिश्रियन्नमृतकान्तिकान्तद्विषः ॥ ६४ ॥

यस्य विमलाचलशिखरिशेखरस्याप्तगृहस्य जैनप्रासादस्य कधराया शिखरोपत्यकाया
स्फुरन्तो दृश्यमाना शोभमाना वा अमाना प्रमाणातीता अतिबहवो ये पञ्चानना
मृगेन्द्रा । ‘यदनेककसौवकधराहरिभि कुक्षिगतीकृता इव’ इति नैषधेऽपि । परा प्रकृष्टा
श्रिय शोभामशिश्रियन् लभन्ते स्म । किभूता । अमृतकान्तिकान्ताश्चन्द्रमणयस्तेषा द्विष
श्वेतमविभ्रमवैरिण । उत्प्रेक्ष्यते—नभसि आकाशे कलितौकस निर्मितनिकेतनम् ।
गगनम्यायिनमित्यर्थ । सिहिकानन्दन स्वर्भाणु केसरिण वा अवेत्य ज्ञात्वा गोत्रस्य
ज्ञातेर्हार्दात् । स्नेहला हि स्वजना स्वजन प्रस्तावे मिलितुमायान्त्येवेति प्रथमव्यवहारत
वनात्स्वकाननात्सकाशात् अमी प्रत्यक्षलक्ष्या पारीन्द्रा मिलितु मिलनार्थमिह प्रासा-
दोपरितनप्रदेशे आगता समेता इव ॥

वने वसतिरेकिका जनुषि न प्रसूतिः परि-

च्छदो न कदन सदा पुनरनेकपाना हहा ।

जहीत्यसुखमाशु नः किमिति भाषितु नाभिजं

भजन्ति गृहकधरागतमृगेश्वराः श्रीजिनम् ॥ ६५ ॥

गृहकधरायामर्याजिनसदनशिखरोपत्यकाया गता शिल्पेन स्थिता मृगेश्वरा केस-
रिण नाभेर्नाम्नो नृपाज्जायते स्म इति नाभिज अथ च नाभेस्तुन्दकूपिकाया जायते
स्मेति नारायणनाभिपुण्डरीकोत्पन्न ब्रह्माण श्रिया अतिशयलक्ष्म्या युक्तो जिनस्तीर्थकृत्त
तथा श्रिया समुद्रनन्दिन्या युतो जिनो नारायणस्त भजन्ते सेवन्ते । इत्यमुना प्रकारेण
नोऽस्माकमसुख दुःख जहि घातय । इति किम् । हे जगन्नाथ, नोऽस्माक वसति-
र्वासो वने न च नगरादौ । पुनर्जनुषि अखिलेऽप्यवतारे एकैव प्रसूति सतानमेकमेव
नान्यत् । ‘एकेनापि सुपुत्रेण सिद्धी स्वपिति निर्भयम्’ इति वचनात् । पुन परिच्छद
परिवारोऽपि न स्ववपु सहायत्वमेव । पुनर्हहा इति खेदे । सदा सर्वकालमपि अनेका-

न्बहून् लोकान् पान्ति आजीविकाभिः रक्षयन्ति पालयन्तीत्यनेकपा । ‘बन्धनस्थोऽपि मातङ्ग परेषा मरणक्षम’ इति सूक्तवचनात् । सन्तो हस्तिनश्च तेषा कदन व्यापादन मारणम् । ‘निर्ग्रन्थन प्रमथन कदन निवर्हणम्’ इति हैम्याम् । घातनाभिधानानि ॥ इति चैत्यकधरामृगेन्द्रा ॥

युगादिजिनमन्दिरे शिखरभम्बराडम्बरं

विडम्बयति चण्डरुक्किरणमण्डलं वैभवैः ।

पुनर्निजसपक्षतामिव समीहमानो जिनं

भजन्नमरभूधरो भुवनकामितस्वस्तरुम् ॥ ६६ ॥

युगादिजिन प्रथमतीर्थकरस्तस्य मन्दिर गृह प्रासादस्तत्राम्बरे आकाशे आडम्बरः शोभातिशयो यस्य तादृश शिखर शृङ्ग वैभवै सुषमाभि कृत्वा चण्डरुच सूर्यस्य किरणमण्डल ज्योति पुञ्ज विडम्बयति धिक्करोति अनुकरोति वा । यदुक्तम्—‘विकलयति कलाकुशल हसति शुचि पण्डित विडम्बयति । अवरयति धीरपुरुष क्षणेन मकरध्वजो देव. ॥’ इति चम्पूकथाया विडम्बनार्थः । ‘पुण्डरीकातपत्रस्त विकसत्कासचामर । ऋतुर्विडम्बयामास न पुन प्राप तच्छ्रयम् ॥’ इति रघौ । अनुकरणार्थोऽत्र । इत्यर्थद्वयमपि । उत्प्रेक्ष्यते—पुनर्द्वितीयवारमिन्द्रेण छिन्नपक्षत्वात् अपरवेलाया निजस्यात्मनः सपक्षता पक्षयुक्तत्वम् । पूर्वं सर्वेऽपि पर्वता सपक्षा आसन् । तत स्वेच्छयोद्गीयोद्गीय यत्र तत्रायकाण्ड एवातर्किता आगत्य पतन्त सन्तः पृथिवीमतीव व्याकुलीकुर्वन्ति स्म । तत पृथिवी स्वर्लोके पुरदरपुरो गत्वा मुत्करोति स्म । तदनु दम्भोलिपाणिना सादर सस्नेह पृष्टा सती लोचनयुगलगलद्वाष्पपय प्लवा सगद्गदस्वर कथकथमपि कथयामास । यत् ‘मध्यमलोके समग्रा अपि गिरय सपक्षत्वाद्यथाकाममुत्पत्योत्पत्य स्वरचितस्थाने निपतन्तो मामतिभारभङ्गुरगात्री कुर्वाणा खेदखिन्नमनस्का विदवते । तस्मादह तदतिगरिमोद्गारिरफारभारासासहितया पातालमूल प्रवेक्ष्यामि ।’ इति वसुधावचनश्रवणानन्तर सजातातिकोपेन पुरहूतेन स्वपाणिप्रज्वलज्जोतिर्ज्वालाकरालदम्भोलिना कृत्वा सर्वेषामपि पर्वताना पक्षा क्षणाच्छेदिता—इति पुराणोक्ति श्रूयते । अथ पुन पक्षाभ्या सहितत्व समीहमानो वाञ्छन् भुवनाना तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशात्रिभुवनजनाना सुरासुरनराणा कामिते वाञ्छितप्रदाने स्वस्तरु कल्पवृक्ष तादृश नाभेय देव भजन् सेवमान अमरभूधरो मेरुरिव ॥

अवेत्य जगदीहितं प्रददतं कदम्बाचलं

द्विधापि वसुधातलेऽखिलमहाभयालम्बिनम् ।

दरेण धरवैरिणः किमु भजन्ति यं भूधरा

यदल्पशिखरच्छलाल्पिततनूलतालम्बिनः ॥ ६७ ॥

यस्य प्रासादस्य अल्पानि मूलशिखरापेक्षया लघूनि यानि शिखराणि शृङ्गाणि तेषां छलेन कपटेन अल्पिता अल्पा कुर्वन्तीति अल्पयन्ति अल्पयन्ते स्मेत्यल्पिता अल्पा कृता । 'मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रता नृप' इति नैषधे । यास्तनूलता शरीरयष्टीरालम्बन्ते आश्रयन्ते इत्येवशीला भूधरा पर्वता कदम्बाचल शत्रुजयशैलम् । 'लोहिव्वड तालज्झड कयवुत्ति' इति शत्रुजयकल्पे कदम्ब इत्यभिधानम्, तथा एकचत्वारिंशदभिधानेष्वपि कदम्बाभिधास्तीति । य कदम्बाचल भजन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—धराणा गिरीणां वैरिणः शत्रोरिन्द्रस्य दरेण किमु भयेनेव । किं कृत्वा । वसुधातले भूमण्डले द्विधापि द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् ऐहिकामुष्मिकभेदात् जगता भुवनानामीहितमभीप्सित प्रददत प्रकर्षेण सर्वोत्कृष्टतया विश्राणयन्तम् । अर्थात्स्वसेवाकारिण शत्रुजयाद्रिमवेत्य ज्ञात्वा । तथा अखिलानां समस्तानां महाभयानां रोगगज-मृगेन्द्रदवानलविषधरसयामसमुद्रवैरशत्रुप्रभृतीनां प्रबलभीतीनामालम्भो व्यापादनमस्यास्तीति अर्थात्स्वाश्रितानां तादृश वयमवेत्य शास्त्रवचसा लोकपरपरया वा ज्ञात्वा ॥

जगद्गिरिविजित्त्वरं महिमभिर्महीभृद्भरै-

रवेत्य भुवि भूधराभिनवसार्वभौमं नगम् ।

स्वबालशिखरैरमुं किमु न सेवितुं प्रेषितैः

कुमारशिखरैर्बभे यदतितुङ्गशृङ्गाश्रयैः ॥ ६८ ॥

यदतितुङ्गे यस्य प्रासादस्य अतिशयेन गगनालिङ्गित्वेन अत्युच्चैस्तरे महति शृङ्गे मूलशिखरे आश्रयो निवासो येषाम् । मूलशृङ्गे लगन्ति अनेकानि अन्यानि अल्पानि शिखराणि भवन्तीति प्रत्यक्षमपि लक्ष्यते । तादृशैः कुमारशिखरैर्लघुशृङ्गैर्बभे शुशुभे । कुमारशब्दोऽत्र केवल लघुत्वमेव वक्ति । यथा नैषधे—'रचयति रुचि शोणीमेता कुमारितरा रवे' । अत्र तु कुमारितरा रवे । कुमारितरा प्रथमनिर्गतत्वेन लघ्वी रुचि कान्ति । तथात्रापि महच्छिखरापेक्षया लघूनि अत एव कुमाराणि शृङ्गाणि इति । उत्प्रेक्ष्यते—महीभृता भरैर्गिरीणां गणैः राज्ञा चक्रैश्च भुवि पृथिव्या भूधराणां शैलानां भूपतीनां च मध्ये अभिनव नवीन प्रादुर्भूत सार्वभौम चक्रवर्तिनममुं नगं शत्रुजयाचलमवेत्य विज्ञाय तं सेवितुमुपासितुं प्रेषितैः स्वबालशिखरैः किमु निजनिजडिम्भशृङ्गैरिव । राजानो हि चतुर्दशस्वस्तसूचितनवीनोत्पन्नचक्रवर्तिनं विज्ञाय स्वस्वकुमारनन्दनास्तत्सेवार्थं प्रेषयन्तीति स्थितिः । यथा कल्पसूत्रव्याख्याने महावीरचरित्रे—'गजवृषभपञ्चाननादिमचतुर्दशस्वस्तसूचितमहावीरदेवजन्म ज्ञात्वा श्रेणिकचण्डप्रद्योतादयः कुमारां सेवार्थं स्वपितृभिः प्रहिताः । इति किम् । नगं महिमभिस्तुङ्गताभिः । यदुक्तम्—'सर्वेषामपि शैलानामुन्नतो विमलाचलः । यदारोहेण लोकाग्रं प्राप्यते बालकैरपि ॥' इति वचनात्तुङ्गिमा । माहात्म्यमस्य तु सर्वेभ्योऽभ्यधिकं प्रसिद्धमेवास्ति । जगत्सु विश्वेषु ये गिरयः पर्वताः पर्वतप्रायाः उच्चैस्तरत्वेनाभिमानितया वा तुङ्गाः । यथा—'तं मानतु-

ङ्गमवशात्समुपैति लक्ष्मीः” इति भक्तामरस्तवे । तेषां विजित्वरं जयनशीलम् ॥ इति शिखरम् ॥

धनादि जगदीहितं प्रभवितासि दातुं पुनः

शिवादिकमलाकरं प्रणय मां प्रभो त्वामिव ।

इतीव जगदीश्वरं गदितुमुत्सुकीभावुकः

समेत्य सुमनोनिपो भजति चैत्यशृङ्गे स्थितः ॥ ६९ ॥

सुमनोनिपः कामकुम्भः समेत्य स्वर्गादागत्य चैत्यशृङ्गे प्रासादशिखरे स्थितस्तिष्ठन् सन् जगदीश्वरं त्रिभुवननायक श्रीऋषभदेव भजति उपास्ते । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण गदितुं कथयितुमुत्सुकीभावुक उत्कण्ठीभवनशीलः सन्निव । इति किम् । हे प्रभो त्रैलोक्यनाथ, अहं धनादि द्रव्यभोज्यवस्त्राभरणादिकं जगदीहितं जनमनःकामितं दातुं प्रभवितासि समर्था भवामि । पुनस्त्व मां शिवादिकमलाकरं स्वर्गापवर्गप्रमुखलक्ष्मीकारकं प्रणय कुरु । कमिव । त्वामिव । यथा त्वां स्व सिद्धिकमलाकारिणं निगदन्ति ॥

विधास्यति विभोरहर्निशमुपास्तिमभ्येत्य यः

स मद्बद्धमृतस्फुरन्नुपरिसंस्थितिं लप्स्यते ।

विसृत्वरविनिःसरत्करभरैरिदं प्राणिना

पुरः प्रवदतीव यत्कनककृत्तकुम्भः स्वयम् ॥ ७० ॥

यस्य चैत्यस्य कनकेन काञ्चनेन कुप्तो रचितः कुम्भः कलशः विसृत्वरैः प्रसरणशीले विनिःसरद्भिर्बहिर्निर्गच्छद्भिः करभरैः किरणसमूहैः हस्तसघातैश्च कृत्वा स्वयमात्मना प्राणिना सर्वेषां जगज्जन्तूनां पुरः पुरस्तात् इदमेतस्मिन्नेव काव्ये कथ्यमानं प्रवदति प्रकर्षेण कथयतीव । इदं किम् । हे प्राणिन, यो जनः अभ्येत्य भगवत्पाश्वे समागत्य अहर्निशमहोरात्रं विभो ऋषभदेवस्योपास्तिं सेवां विधास्यति करिष्यति स पुमान् अमृते मोक्षे स्फुरन् कर्मराहित्याब्ज्योतिर्मयत्वादीप्यमानः सन् उपरि त्रिभुवनस्याप्युपरितनप्रदेशे लोकाग्रे संस्थितिं निवासं लप्स्यते प्राप्स्यति । किवत् । मद्बद्धम् । यथाह पार्थिवः कलशोऽहर्निशं विभुं सेवमानं अमृतेन पानीयेन स्फुरन् पूर्णत्वेन प्रकटीभवन् सर्वेषामपि चक्षुर्लक्ष्यं सपद्यमानं सन् उपरि जनमस्तकोपरि संस्थितिं लभे प्राप्नोमि ॥ इति चैत्यकलशः ॥

विभाव्य भुवनत्रये स्वविभवाङ्गकारव्रजा-

न्विजेतुमनसामुना किमु जिनेशितुः सन्नना ।

सपत्ननिवहस्सयाम्बुनिधिमाथमन्थाचल

शिरःशिखरसस्फुरन्निविडदण्डरत्नं दवे ॥ ७१ ॥

चैत्यशिखरे दण्डो भातीति सबन्ध । उत्प्रेक्ष्यते—अमुना ऋषभकूटकमलामौलिचू-
डामणिना जिनेशितुर्वृषभदेवस्वामिनः सद्मना मन्दिरेण ऋषभचैत्येन शिरशिखरे
उपरितनशृङ्गे सस्फुरत् वज्ररत्ननिर्मितत्वात् दीप्यमान दृश्यमान वा निबिड दृढमभेद्य
दण्डरत्न दधे किमु धृतमिव । किभूतम् । सपत्नाना वैरिणा निवहस्य गणस्य य स्मय
अहकार स एवाम्बुनिधि समुद्र तस्य माथे मथनेमन्थाचल क्षुब्धपर्वत मन्दरगिरिम् ।
'पाथोधिमाथसमयोत्थितसिन्धुपुत्रीपत्पङ्कजार्पणम्' इति, तथा 'मन्थानग स भुजगप्रभु-
वेष्टिवृष्टिः' इति द्वयमपि नैषधे । किभूतेन सद्मना । विजेतुमनसा पराभवितुकामेन ।
अर्थात्स्वस्पर्धितभुवनत्रये नाकिनागगेहमहीत्रितये स्वेषामात्मीयाना विभवाना शोभा-
तिशयानामङ्गकाराणा जैत्रप्रतिमल्लाना व्रजान् समूहान्विभाव्य विलोक्य विज्ञाय वा ।
'दूर गौरगणैरहकृतिभृता जैशङ्गकारे चरत्' इति नैषधे ॥

निभाल्य नलिनीधवं स्वविभवेन संस्पर्धिता

दधानमधिकं क्रुधोद्धुषितवर्ष्मणार्चिर्मिषात् ।

जिनाधिपतिवेश्मना सुरपथे स्वदण्डस्फुर-

त्करः परिवुभूषया द्विष इवैष ऊर्ध्वीकृतः ॥ ७२ ॥

निभाल्य नलिनीधवं दण्डो दीप्यते । जिनाधिपतेर्वृषभस्वामिनो वेश्मना मन्दिरेण
विहारेण एष सर्वजनप्रत्यक्ष स्वस्यात्मनो यो दण्ड स एव स्फुरन् प्रकटीभवन्करो
हस्त द्विषो भास्वलक्षणवैरिण परिवुभूषया चपेटामुष्टिप्रहारादिभिः पराभवितुमिच्छया
सुरपथे आकाशे ऊर्ध्वीकृत उन्नतो विहित इव । किभूतेन वेश्मना । अर्चिर्मिषात्सर्वत
स्फुरत्कान्तिकपटात् अधिक यथा स्यात्तथा क्रुधा कोपेन कृत्वा उद्धुषितमुत्कण्ठकित
प्रोच्चैर्भूतरोमराजि वर्ष्म शरीर यस्य । कि कृत्वा । स्वेनात्मीयेन विभवेन शोभासमुदायेन
सार्व सस्पर्धिता सम्यक् मनसा वचसा कायेन च स्पर्धनशीलता दवान विभ्राण नलि-
नीधवम् । 'नलिनीप्रेमनिबद्धो मानसगमनाय सत्त्वरो हस । न च गच्छति न च तिष्ठति
उभयरसव्याकुलीभूत ॥' भास्कर निभाल्य दृष्ट्वा ॥ इति चैत्यशृङ्गदण्ड ॥

विजित्वरविभूतिभिः प्रतिपदं परिस्पर्धिनो

विजित्य जिनसद्मना जगति वैजयन्तादिकान् ।

द्विषद्विजयबोधिकाध्रियत मूर्ध्नि मन्येऽमुना

विहारशिखरे मरुत्तरलवैजयन्ती व्यभात् ॥ ७३ ॥

विहारस्य ऋषभचैत्यस्य शिखरे उच्चशृङ्गे मरुता पवनवेगेन तरला चञ्चला अन्दो-
लायमाना वैजयन्ती महापताका व्यभाद्भासते स्म । तत्राहमेव मन्ये विचारयामि ।
उत्प्रेक्ष्यते वा—अमुना सर्वप्रासादमूलभूतेन जिनगृहेण युगादिजिनचैत्येन प्रतिपद
पाताललोके स्वर्लोके भूलोके च स्थाने स्थाने क्रम क्रम वा । निजेनात्मना सह स्पर्धिन

स्पर्धाविधायिन विरोधिनो वा जगति विश्वे वैजयन्त इन्द्रप्रासाद आदौ येषां ते । स्वार्थे
के । आदिकास्तान्विजित्वरीभिः प्रतिस्पर्धिना विशेषेण जयनशीलाभिः पुवद्भावे विभू-
तिभिः स्वश्रीभिर्विजित्य पराभूय द्विषता सर्ववैरिणा विजयस्य पराभवनस्य बोधिका
ज्ञापयित्री परेषां कथनशीला मूर्ध्नि निजमस्तके वैजयन्ती ध्वजोऽधियत वृतेव ॥

दिनं दिनमुदीत्वरद्युमणिचण्डिमाडम्बरो-

दुरप्रसृमरप्रभाप्रकरतापसंतापितः ।

रसं रसितुमम्बराम्बुधिवधूप्रवाहान्तरे

दिवि प्रकटितो ध्वजः स्वरसनेव जैनौकसा ॥ ७४ ॥

ध्वजो राजते इति सबन्धः । जैनौकसा अर्हत्प्रासादेन भगवत्सबन्धिविहारेण
अम्बरस्याकाशस्य या अम्बुधेः समुद्रस्य वधूः पत्नी नदी एतावता गगनापगा स्वर्गङ्गा
तस्याः प्रवाहस्य पयः पूरस्यान्तरे मध्ये रसं पानीयं रसितुं पातुम् । 'क्षारं जलं जलनिधे
रसितुं क इच्छेत्' इति भक्त्यामरस्तोत्रे । दिवि आकाशे । उच्चैरित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—
प्रकटिता स्फुटीकृता वक्राद्वहिर्विहिता ध्वजरूपा पताका काया स्वरसना आत्मजिह्वेव ।
कुतः कारणात् । दिनं दिनम् । अत्र प्रातरध्याहारः कार्यः । प्रतिवासरम् । 'दिनेश्वरश्रीरुदय
दिने दिने' । अत्रापि सप्तमी वा । उदीत्वरस्योदयनशीलस्य द्युमणेर्भास्करस्य चण्डि-
मस्तीव्रताया आडम्बर आटोपो बाहुल्यं तेनोद्धरा असह्यास्तथा प्रसृमरा प्रसरणशीला
या प्रभा कान्तयस्तासां प्रकरं सहस्रसंख्यत्वेन समूहस्तस्य तापः सज्वरः ऊष्मा-
तिरेकः तेन संतापितः ॥ इति पताका ॥

न कश्चिदुपलब्धिमान्न जनसंशयच्छेदक-

न्न कोऽपि च शिवगमी जगति पूर्ववदृश्यते ।

महोदयविधायकोऽर्हति निषेव्यता सांप्रतं

मही महिमसंपदा तदयमेक एवाचलः ॥ ७५ ॥

सदाकृतिवपुः पदं परिचरामि यस्य प्रभोः

प्रकाशितमिदं स्वयं जगति तेन मत्स्वामिना ।

पटुः प्रकटयाम्यहं गणिवदस्य तीर्थस्य त-

त्प्रभावमतिशायिनं त्रिभुवनाद्विचिन्त्येति किम् ॥ ७६ ॥

जिनेन्द्रसदनाम्बरान्तरनुषङ्गिशृङ्गाङ्गणा-

निलप्रचलकेतनस्फुरदकुण्ठकण्ठीरवः ।

पुरस्त्रिजगदङ्गिनामिति निजान्तिकावासभा-

ग्रणज्झणिति किङ्किणीकणमिषेण किं भाषते ॥ ७७ ॥

च चन्द्रेण काञ्चनेन । 'तपनीयचामीकरचन्द्रभर्म' इति हैम्याम् । तथा 'चन्द्रोऽम्बुका-
म्ययो । स्वर्णे सुधाशौ कर्पूरे कपिले मेचकेऽपि च ॥' इत्यनेकार्थः । अञ्चिता सहिता
भूमिका अजनि भवति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विकचचम्पकैर्विकचचम्पककुसुमोपचारैः
परिचिता सहितेव ॥ इति शिखरपार्श्वप्रदेशा ॥

सुरासुरनरस्फुरन्मिथुनचारुचित्रव्रजः

पुपोष सुषमां जिनावसथमण्डपस्यान्तरे ।

जगत्रयमिवागतं विमलशैलयात्राकृते

स्थित किमतिभावतः पुनरिहार्हतः संनिधौ ॥ ८१ ॥

जिनावसथस्य ऋषभचैत्यस्य मण्डपस्य रङ्गमण्डपस्यान्तरे मध्ये सुरासुरनराणां देव-
दानवमानवानां स्फुरता शोभा लभमानानां मिथुनानां दम्पतीसबन्धियुगलानां चारुणि
विलोकमनोहराणि यानि चित्राणि आलेख्यानि तेषां व्रज सुषमा सातिशायिशोभा
पुपोष पुष्णाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—विमलशैलस्य श्रीशत्रुजयाद्रेर्यात्राकृते यात्राकरणार्थ-
मागतं स्वस्वस्थानात्समायातं सत् अतिभावतो वासनाधिक्यात्पुनरर्हतं श्रीऋषभदेवस्य
संनिधौ समीपे किमु स्थित निरन्तरमुषितं जगत्रयं त्रैलोक्यमिव ॥

वरीतुममृताह्वयामिह पतिवरा कन्यका

स्वयंवरणमण्डपे किमुपजग्मिवासः समम् ।

जिनेन्द्रगृहमण्डपे लसदनल्पशिल्पीकृताः

सुरासुरधरास्पृशा समुदया ददन्ते मुदम् ॥ ८२ ॥

जिनेन्द्रगृहस्य प्रासादस्य मण्डपे जनाश्रये लसन्ति परस्परं श्लिष्यन्ति क्रीडन्ति वा
शोभमानानि वा । 'लस श्लेषणक्रीडनयो' अयं वातु शोभार्थेऽपि दृश्यते । तथा अन-
ल्पानि बहूनि विविधजातीयानि वा शिल्पानि चित्रविज्ञानानि । त्रिष्वपि कर्मधारयः ।
लसदनल्पशिल्पानि कृता लसदनल्पशिल्पीकृता तादृशा सुरा देवा, असुरा दानवा,
धरास्पृशो मनुष्यास्तेषां समुदाया गणा मुदं प्रमोदं ददन्ते यच्छन्ति । आनन्दयतीत्यर्थः ।
'दद दाने' आत्मनेपदी । अत्र बहुवचनम् । उत्प्रेक्ष्यते—अमृतं मुक्तिस्तदेवाह्वयो नाम
यस्याः । 'अथाह्वयोऽभिवा गोत्रं सज्जानामधेया' इति हैम्याम् । तादृशीं पतिवरा
स्वेच्छया स्वाभिलषितयोग्यवरस्य वरयित्री स्वयंवरा कन्यका कुमारिकाम् । कन्यैव पतिं
वृणोति नान्येति रीतिनीतिवर्मा । इत्याशयाद्वरीतुं परिणेतुम् । अत्र तु मुक्तेः कनीत्व-
कविसमयानुसारेणैव । केवलं स्वयंवरणमण्डपे समं समकालमेकसमय एव देवदानवमा-
नवव्रजा किमुपजग्मिवासं समागता इव ॥

भवच्चरणसेवनैरधिगता द्युलोकेन्दिरा

विनैव नरजन्मना दिशं शिवश्रियं श्रीप्रभो ।

उपेत्य जिनमन्दिरान्तरमितीव विज्ञीप्सया

भजन्ति सुरसुभ्रुवः प्रभुमनन्यचित्रोपधेः ॥ ८३ ॥

जिनमन्दिरान्त श्रीकृष्णभक्त्यमध्ये उपेत्य अर्थात्स्वर्गलोकादागत्य अनन्यानामसाधारणानां चित्राणामुपधेशलेख्यानां छलात्सुरसुभ्रुव अप्सरस । 'स्व स्वर्गिवध्वोऽप्सरसः' इति हैम्याम् । प्रभु भगवन्त भजन्ति सेवन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण किं विज्ञीप्सया विज्ञप्तिं कर्तुमिच्छयेव । इति किम् । हे श्रिया चतुस्त्रिंशदुदयलक्ष्म्या त्रैलोक्याधिपत्यलक्ष्म्या वा लक्षितविभो स्वामिन् परमेष्ठिन्, भवचरणसेवनैः श्रीमत्पदपरिचरणैरस्माभिर्युलोकेन्दिरा स्वर्गलोकलक्ष्मीमधिगता प्राप्ता । अथ नरजन्म विना मनुष्यावतार विनैव नोऽस्माकं पुराङ्गनानां शिवश्रिय मोक्षलक्ष्मी सिद्धिसंपत्तिं दिशं प्रदेहि ॥

प्रयोजयति न. सदा स्वपदसामिलाषीभव-

तपस्वितपसां व्ययीकृतिविधौ विभो जम्भभित् ।

इमा जहि विडम्बनां किमिति भाषितुं मण्डपे-

ऽथ वाप्सरस आगताः परिचरन्ति चित्रोपधेः ॥ ८४ ॥

हे विभो स्वामिन्, स्वस्यात्मनः पदे स्थाने इन्द्रैश्वर्यप्राप्तौ सहाभिलाषेण कामेन वर्तन्ते ये तादृशा भवन्तः सपद्यमाना ये तपस्विनस्तापसास्तेषां तपसा घोरानुष्ठानोपवासादिकष्टानां व्ययीकृतिविधौ नाशनिर्माणप्रकारे जम्भभित्वासवः सदा चतुर्ध्वपि युगेषु न अस्मान् अप्सरसः प्रयोजयति प्रयुङ्क्ते प्रेषयति । तथा च इन्द्रपदप्राप्त्यभिलाषेण तपः कुर्वन्तस्तापसान् कष्टध्यानतपोभ्यः पातयितुं पुरदरेण प्रेषिता अप्सरसः प्रेक्ष्य तद्रूपलावण्यमोहिता विस्मृतस्वतपोध्यानानुष्ठानास्ते ता एव कामयमानास्तद्भोगासक्तिभाजो भूता सन्तस्ततः सर्वं स्वकीयं पुराचीर्णतपोमूलादेव हारयन्ति—इति परशासनकविसमयः । तत्कारणात् हे विभो त्रिभुवनजननाथ, त्वं नोऽस्माकमिति गम्यम् । इमा येषां तेषां बालयुववृद्धकृशाजातिजातिप्रमुखाणां तपसामङ्गसगमाख्यमिषादप्सरसः सर्ववनिता उर्वशीमेनकाघृताचीरम्भादिका प्रासादमण्डपे आगता सत्यं किमु प्रभु परिचरन्ति भजन्तीव ॥ इति मण्डपमध्यचित्राणि ॥

कुतूहलिकृतासितोपलतलोर्ध्वमध्या कचि-

न्महारजतनिर्मिता जिननिकेतनस्तम्भकाः ।

विचित्रसुरविभ्रमः प्रदधतः श्रियं विभ्रते

तलोपरि विचालभाग्वनभृतः किमु स्वर्नगाः ॥ ८५ ॥

कचित्कुत्रचित्प्रदेशे महारजतैः काञ्चनैर्निर्मिता विरचिता जिननिकेतनस्य मूलचैत्यस्य स्तम्भकाः । पादपूरणे स्वाथे कप्रत्ययः । स्तम्भा एव स्तम्भकाः प्रासादमण्डपाद्यावा-

रस्थूणाः श्रिय शोभा बिभ्रते कलयन्ति । किभूता । खर्णघटितत्वेऽपि विशेषमाह—कु-
तूहलिभिः कैश्चित्कौतुकवद्भि शिल्पिभि कृतानि असितोपलानामिन्द्रनीलमणीना तल
स्तम्भाधो विभाग. ऊर्ध्व स्तम्भोपरितनप्रदेश मध्ये स्तम्भान्तराले तत्र प्रदेशद्वये ।
कर्मधारये । मध्यानि येषा ते । कि कुर्वन्त । विशिष्टचित्ररूपा सुरा देवा अथ वा
विचित्रा विविधजातीयाश्चतुर्निकायिका देवतास्तेषा विभ्रममन्तःकल्पितशिल्पत्वेन
विलास विभूषा भ्रान्ति वा प्रदवतो धारयन्त । उत्प्रेक्ष्यते—तलमधोवर्ती भूमिभाग
भूमीप्रदेश एव विवक्षया न तु भूमव्यगो विभाग तथा उपरिशिखरोच्चचूलिका मध्ये
स्तम्भविलासे एतावता मध्ये भागद्वय तानि भजन्ति इति तलोपरि विचालभाञ्जि तादृ-
शानि वनानि अधोभूमौ भद्रसालवन शिखरचूलिकाया पाण्डुकवन विचालभागद्वये तु
नन्दन सौमनस चैत्याख्यानि चत्वारि काननानि बिभ्रतीति भृत तादृशा स्वर्नगा मेरु-
पर्वता इव । ‘रत्नसानुः सुमेरु स्व स्वर्गिकाञ्चनतो गिरि.’ इति हैम्याम् ॥

हरिर्य इह सेवकस्तव जिनेन्द्र सोऽस्माद्विष-

न्विधापय मिथस्ततस्त्वदमुना सम सौहृदम् ।

इतीव गदितु वृषध्वजजिनालयस्तम्भको-

पधेरखिलभूभृतः प्रभुमुपेत्य शीलन्त्यमी ॥ ८६ ॥

वृषो वृषभो ध्वजश्चिह्न लाञ्छन यस्य तादृशो जिनो युगादिदेवस्तस्यालय गृह ऋ-
षभविहारस्तस्य स्तम्भका आधारस्थूणास्तेषामुपधेर्व्याजादमी प्रत्यक्षलक्ष्या मन्दरादयः
अखिला समस्ता भूभृतः पर्वता उपेत्य अत्र प्रासादे समागत्य प्रभु श्रीऋषभस्वामिन
शीलन्ति भजन्ति । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण गदितु कथयितुमिव । इति किम् । हे
जिनेन्द्र युगादिप्रभो, इह जगति यो हरिरिन्द्रस्तव भवत सेवकस्त्वत्पादपद्मसेवाविधा-
तास्ते सोऽस्माक द्विषन् शत्रुः पक्षच्छेदकर्तृत्वेन प्रबलप्रतिपक्षो वर्तते ततस्तस्मात्कार-
णात् हे प्रभो, त्वदमुना त्वद्भक्तिभाजा हरिणा सममस्माक मिथ परस्पर सौहृद मैत्र्य
सखिभाव विधापय कारय । महात्मना प्रभुणा च स्वयमन्तरा भूय कृत सधि
कदाचिदपि न विघटते इति वक्तुमिव ॥ इति प्रासादमध्यस्तम्भा ॥

अनन्यगुणवाहिनीशितुरनन्तसातैकभू

कृते तव निरीक्षितात्मज मया शिवस्मैरदृक् ।

तदेहि वृणु ता कनीमिति समेत्य वक्तु पुरः

स्थितेव मरुदेव्यभात्करिवशासमासेदुषी ॥ ८७ ॥

यस्मिन् प्रासादे करिणो हस्तिनो वशा पत्नी हस्तिनी । यद्यपि वशाशब्देन करिणी
कथ्यते । ‘इभ करेणुर्गजोऽस्य स्त्री धेनुका वशापि च’ इति हैमीवचनात् । तथापि
वशाशब्दो नार्यामेव प्रायो वर्तते । तत्कारणादेव मनुष्यजातिस्त्रीभ्रमनिवारणार्थं च क-

रिवशेति प्रतिपादितम् । तस्या अस स्कन्धमासेदुषी आश्रितवती मरुदेवी नातिनृप-
पत्नी ऋषभदेवजननी अभाद्वभौ । उत्प्रेक्ष्यते—इति वक्तु निवेदयितु समेत्य कुतश्चि-
त्स्थानादागत्य पुरो युगादिदेवस्याग्रे तिष्ठति स्मेव । इति किम् । हे आत्मज औरसपुत्र,
अनन्यानामसाधारणाना गुणाना शौयौदार्यधैर्यगाम्भीर्यशौण्डीर्यार्जवमार्दवादीनामीशि-
तुर्भर्तु समुद्रस्य तव भवत कृते अर्थाय अनन्ताना प्रमाणातीताना ज्ञातिवचनगोचरा-
तिक्रान्तावसानाना साताना महासुखानामेका अद्वितीया भू स्थान शिवस्मेरदृक् मुक्ति-
रूपा कामिनी । पाणिग्रहणकरणौत्सुक्याद्रुच्यरुच्याध्वान विलोकयतीत्यत एव स्मेरदृक्त्व
प्रोक्तम् । मुक्तिमानिनी मया तज्जनन्या निरीक्षिता नितरा सर्वगुणावारतया प्रथिता
विलोकितास्ति । तत्तस्मात्कारणात् त्व वृषभ, एहि त्वरितमागच्छ । आगत्य च ता निर्वृ-
तिनाम्नी कनीम् अष्टादशकोटाकोटीसागरोपमप्रमितकालोऽभूत् कोऽपि भारतीयक्षेत्र-
सत्कपुमान् वृतो नास्ति, अत एव प्रौढा कुमारिका वृणु वरय परिणयेति ॥

अय श्रयति मा सदा तनय वाहनव्याजत-

स्तदुद्धरतमाममुं श्रितहितो महान्यद्भवेत् ।

इतीव गदितु मुदा भगवतः पुरस्तस्थुषी

समेत्य मरुदेव्यसौ गजपतेरुतासासिता ॥ ८८ ॥

अंसौ मूलप्रासादगर्भाग्रे दृश्यमाना मरुदेवी भगवन्माता उत गजपतेर्द्विपराजस्य असे
स्कन्धे आसिता उपविष्टा सती समेत्य ऋषभान्यर्णेऽभ्यागत्य मुदा हर्षेण भगवत
स्वपुत्रस्य परमेष्ठिन पुरोऽग्रे पुरस्तात् तस्थुषी स्थितवती । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण
गदितु कथयितुमिव । इति किम् । हे तनय ऋषभदेव, अय द्विपपतिर्गजेन्द्रो वाहनव्या-
जतो याननिभात्सदा सर्वदापि मा तव मातर मरुदेवी श्रयति सेवते । तत्तस्मात्कार-
णादमु करीन्द्र जगदुद्धरणधीर, उद्धरतमा सर्वथा सर्वप्रकारेण तिर्यक्त्वदूषितात्ससारा-
न्मोचय । यद्यस्मात्कारणान्महानुत्तम पुरुष श्रिते स्वभक्तीभूते हितो वत्सलो भवेत् ।
निजस्य पुस समीहितमवश्य करोत्येव । यदुक्तम्—‘विहल जो अवलबइ आवय पडिय
च जो समुद्धरइ । सरणागय च रक्खइ तिसु तैहि अलकिया पुहवी ॥’ तथा—‘म-
रुदेवा मरुदेव्यपि’ इति आकारान्तमीकारान्त च नामद्वय हेमनाममालावृत्तौ । तथा
केचित्करिणीस्कन्वारूढा केचिच्च गजराजासाध्याश्रितेति च प्रतिपादयन्ति । ततो द्वे
अपि पृथगुत्प्रेक्षे इत्युतशब्द ॥ इति गजस्कन्वाविरूढा मरुदेवी ॥

महोदयमृगीदृशा सह विनोदनिर्मित्सया

विलासमणिमन्दिरं विमलशैलचूलोपरि ।

अकारि वृषकेतुना स्वयमिवात्र नाभीभुवा

युगादिजिनसद्मनि श्रयति गर्भगेहः श्रियम् ॥ ८९ ॥

युगादिजिनसद्गानि विमलाचलमूलप्रासादे गर्भगेह गर्भागारः श्रियं शोभा श्रयति ।
उत्प्रेक्ष्यते—वृषकेतुना जातोक्षध्वजेन ऋषभदेवेन कर्त्रा स्वयमात्मना अत्र विमलशैलस्य
शत्रुजयाद्रेशूलिकायां पर्वतोपरिविभागे अधित्यकोर्ध्वप्रदेशे नाभीभुवा सृष्टिकर्त्रा । वि-
धातु पार्श्वे इत्यर्थः । विलासार्थं क्रीडाकृते मणिमय मन्दिर रत्नमन्दिरमकारि कारि-
तमिति । ण्यन्तप्रयोगः । कया । महोदयनाम्न्या मृगीदृशा सिद्धिवध्वा सह सार्धं विनो-
दस्य विविधविलासस्य निर्मित्तया निर्मातु काङ्क्षया ॥

अनेकनरनिर्जरोरगपुरंदरोपासितं

सदःसदनमुन्नये विमलशैलभूमीभुजः ।

वृषाङ्गजिनवासवौकसि विचित्रतौर्यत्रिक-

प्रपञ्चपटुमण्डपे श्रियमुवाह गर्भालयः ॥ ९० ॥

वृषाङ्गो युगादिदेव स एव जिनाना सामान्यकेवलिना मध्ये वासवः । पुरंदरस्तस्यौको
मन्दिर तस्मिन् गर्भालयो गर्भागारः श्रिय लक्ष्मी शोभामुवाह धारयति स्म । किंभूते
ओकसि । विशिष्टानि चित्राण्यालेख्यानि येषां विविधप्रकाराणि वा विशेषाश्चर्यकार-
काणि वा तौर्यत्रिकाणि गीतनृत्यवादित्राणां त्रयाणि त्रित्वसख्याकानि तेषां प्रपञ्चो वि-
स्तारस्तेन पटु प्रकट स्पष्टभूतो मण्डपो यत्र तत् । तत्र गर्भागारवर्णने अहमेवमुन्नये
विचारयामि । 'वितर्कं स्यादुन्नयनम्' इति हैम्याम् । विमलशैल श्रीशत्रुजयाद्रि स
एव भूमीभुक् राजा अथवा विमलनाम्न शैलानां सर्वपर्वतानां भूमीभुजो राज्ञः सद-
सदनं सभागृहमिव । 'नृपस्य नातिप्रमना सदोदृहम्' इति रघुवशे । किंभूतं सद-
नम् । अनेके बहवो ये नराणां मनुष्याणां निर्जराणां देवानामुरगाणां नागानामुपल-
क्षणादसुराणां पुरंदरा इन्द्रास्तैरुपासितं सेवितम् ॥ इति गर्भागारः ॥

सुरासुरनरेन्दिरादिमसमग्रकामप्रदा

कृताम्बुजभुवा लता ऋतुभुजामपूर्वा किमु ।

रसायनमिवान्तरामयजुषा च सम्यग्दृशा

दृशां किममृताञ्जनं वृषभमूर्तिरत्रावभौ ॥ ९१ ॥

अत्र मूलप्रासादगर्भागारे वृषभमूर्तिर्युगादिजिनप्रतिमा आवभौ शोभते स्म । उ-
त्प्रेक्ष्यते—अम्बुजभुवा पद्मजन्मना जगत्सृष्टिविधायिना विविना सुरासुरनराणां देवदा-
नवमानवानामिन्दिरा आधिपत्यलक्ष्मीः आदौ प्रथमं येषां ते समग्रा सर्वेऽपि कामा
मनसामभिलषितानि तान्प्रकर्षेणातिशयेन ददातीति तादृशी । अतः एवापूर्वा नान्यस-
दृशी कित्वसाधारणा ऋतुभुजा देवानां लता वीरुत् कल्पवल्लीव कृता किमु निर्मितेव ।
च पुनः आन्तरामयान् अन्तरा अष्टकर्माण्येव रोगास्तान् जुषन्ते भजन्ते तादृशानां पु-
रुषाणामन्तरङ्गरोगोच्छेदनाय रसायनं पारदरजतस्वर्णाद्यौषधपाचितं महाभेषजमिव

विधिना विहितम् । अथवा सम्यग्दृशा सुदृष्टीना भव्याना दृशा नेत्राणा शीतलताकृते
अमृताञ्जन सुधासबन्धि कज्जलमिव वेधसा सृष्टम् ॥

युगादिसमये यथा भुवनमुद्धृतं संसृते-

स्तथैव पुनरुद्धराम्यहमवद्यकाले कलौ ।

विचिन्त्य किमिदं हृदा वृषभकेतुरत्रात्मना-

वतीर्य कुरुते स्थिति स्थिरतयात्ममूर्तिच्छलात् ॥ ९२ ॥

वृषभकेतुर्युगादिदेव आत्मना स्वयमेवात्र शत्रुजयमूलविहारे अवतीर्य मोक्षादा
गत्य आत्मनो निजस्य वृषभस्यैव मूर्तेः प्रतिमायाश्छलात्कपटात् स्थिरतया अव्यग्रचित्त-
त्वेन न तु गमनौत्सुक्येन स्थिति निवास कुरुते । उत्प्रेक्ष्यते—हृदा स्वमनसा कृत्वा इदं
वक्ष्यमाणं किं विचिन्त्य विचार्येव । इति किम् । यथा युगस्य लक्षणया चतुर्थारकस्यादे-
स्तृतीयारकस्य पर्यन्तसमयस्तस्मिन्प्रस्तावे संसृतेः ससारात्सकाशाद्भुवनं विश्वमुद्धृतं
निस्तारितं पुनर्द्वितीयवारं तथा तेनैव प्रकारेणाहमृषभ अवद्यकाले प्रबलपापोपचितसमये
कलौ कलियुगे पञ्चमारकेऽपि भुवनं जगदुद्धरामि ससारकारागारादुद्धृत्य सुखेन म-
हानन्दपुरं प्रापयामीति ॥ इति ऋषभप्रतिमा ॥

चतुष्कपृथिवी ततः परिचरन्स विस्मेरिता-

रविन्दसवयोविलोचनयुगेन योगीश्वरः ।

जगद्विजयिनी जिनाधिपतिवेश्मलक्ष्मी पिव-

न्हृदा त्रिजगदिन्दिरा करगतामिवामन्यत ॥ ९३ ॥

योगिना मनोवचनकाययोगवता वशीकृतेन्द्रियाणां वा ईश्वरः स्वामी स हीरविज-
यसूरिः हृदा स्वमनसा कृत्वा त्रिजगदिन्दिरा त्रैलोक्यलक्ष्मीं करगतां हस्तप्राप्त्यामि-
वामन्यत जानाति स्म । यथा कश्चित्पुमान् जगदाधिपत्यं कथमप्यधिगत्य परमानन्दं
विन्दति तथा सूरिन्द्रोऽपि प्रासाददर्शनानन्तरमद्वैता मुदमालोकयाचकार । स किं
कुर्वन् । पिवन् सादरमवलोकयन् । काम् । जगद्विजयिनी त्रिभुवनप्रासादपरम्परावै-
भवपराभवित्री जिनाधिपतिवेश्मनः ऋषभचैत्यस्य लक्ष्मी शोभाम् । केन । विस्मेरत्वं
सजातमस्मिन्निति विस्मेरितं सूर्येण विकसितं यदरविन्द कमल तस्य सवयसा मित्रेण ।
तत्तुल्येनेत्यर्थः । विलोचनयोर्नयनयोर्युगेन द्वन्द्वेन कृत्वा । पुनः स किं कुर्वन् । ततः
प्राकारमध्ये आगमनानन्तरं चतुष्कपृथिवी प्रासादाग्रेतनभूमिकाम् 'चउक' इति लोकप्र-
सिद्धाम् । 'नारीमनासीव चतुष्कमन्त' इति रघुवशे । परिचरन् सेवमानः । प्रासादा-
ग्रचतुष्के समेत इत्यर्थः ॥

जिनेन्द्रभवनं शिखोदयनभःपरीरम्भण

व्रतिक्षितिशतक्रतुः स शमपद्मया सगतः ।

प्रदक्षिणयितु मुदारभत गीतिभिः सुभ्रुवा

सुमेरुमुडुमालयेव सममौषधीनायकः ॥ ९४ ॥

स व्रतिक्षितिशतक्रतु हीरविजयसूरिराज सुभ्रुवा स्त्रीणा गीतिभिर्मङ्गलगानै सम जिनेन्द्रभवन भगवत्प्रासाद मुदा हर्षेण प्रदक्षिणयितु त्रि प्रदक्षिणागोचरीकर्तुमारभत । प्रारब्धवानित्यर्थ । किभूतो व्रतिपति । शमः शान्तिर्नाम तस्य वा पद्मा लक्ष्मीस्तया सगत सहित । किभूत जिनेन्द्रभवनम् । शिखायाः शिखरस्य उदयेन उच्छ्रायेन । ‘उच्छेद उदयोच्छ्रायौ’ इति हैम्याम् । उच्चत्वेन कृत्वा नभ आकाश परीरम्भते आलिङ्गतीत्येवशीलम् । भवनशब्दः पुनपुसकलिङ्गे । ‘भवनभुवनयानोद्यानवातायनानि’ इति लिङ्गानुशासने । तेन पुलिङ्गविशेषणम् । क इव । औषधीना नायक इव । यथा औषधीनाथश्चन्द्र उडुमालया नक्षत्रश्रेण्या सम सुमेरु स्वर्णाचल प्रदक्षिणयति प्रदक्षिणीकृत्य भ्राम्यति दक्षिणपार्श्वे प्रणीय पर्यटति ॥

स देवकुलिकान्तरे जिनपुरंदरान्संमदा-

दवन्दत तदा जिनाधिपतिकेतनस्याभितः ।

मरुद्वसतिवत्ततः सुरपरम्परोपासिता

व्यलोकि विभुना पुरः प्रमुदितेन राजादनी ॥ ९५ ॥

तदा प्रदक्षिणादानन्दसरससूरिर्जिनाधिपतिकेतनस्य मूलचैत्यस्याभितः परितश्चतुर्दिक्षु देवकुलिकाना लघुदेवगृहाणा ‘देहरी’ इति प्रसिद्धानामन्तरे मध्ये जिनपुरंदरान् भगवत्प्रवरप्रतिमा समदादानन्दादवन्दत नमस्करोति स्म । ततः कतिचिद्देवकुलिकासु जिनबिम्बवन्दनानन्तरं प्रमुदितेन हृष्टमनसा विभुना गणस्वामिना गुरुणा पुरोऽग्रे राजादनी क्षीरिका ‘रायणि’ इति प्रसिद्धा । ‘नवनवति पूर्ववारान् यस्मिन्समवसरय-युगादिजिन । राजादनीतरुतले विमलगिरिरय जयति तीर्थम् ॥’ इति पूर्वसूरिकृत-स्तुतौ । व्यलोकि दृष्टा । किभूता । सुराणा चतुर्निकायिकदेवाना परम्पराभि श्रेणीभिरुपासिता सेविता । केव । मरुता भवनपतिव्यन्तरज्यौतिष्कविमानिकाना वसतिर्निवास स्थानमिव । यथा मरुद्वसतिः सुरालीभिः परिशीलिता आस्ते ॥

अवर्ध्यत स मौक्तिकै रजतहेमपुष्पव्रजै-

र्जगद्गुरुरिवाङ्गिभिः सुमनसा समूहै श्रिता ।

गिरेरिव घनागमोन्नमदमन्दकादम्बिनी

ववर्ष पयसा भरैः शिरसि संघमर्तुश्च या ॥ ९६ ॥

या राजादनी अङ्गिभिर्यात्रिकसघलोकैः सह मौक्तिकैर्मुक्ताफलैर्वर्तन्ते ये तादृशा रजताना रूप्यसबन्धिना हेम्ना सुवर्णसबन्धिना पुष्पाणि कुसुमानि अथ वा रजतानि

स्वर्णानि पुष्पाणि जलस्थलजातानि कमलमालतीप्रमुखाणि तेषां व्रजा. समूहा तैरव-
 धृत्यत वर्धिता । क इव । जगद्गुरुरिव । यथा तीर्थनाथ अङ्गिभिर्भव्यजनैः सुरासुरनरैर्मोक्ति-
 ककलितरजतमहारजतमयसुमैः स्वाभाविककुसुमैश्च वर्धते । किभूतानाम् । सुमनसा
 पुष्पाणां देवानां च । 'प्रतिशाख प्रतिपत्र प्रतिफल देवैरविष्टिता' इति शत्रुजयमाहात्म्ये ।
 समूहैः श्रिता । जगद्गुरुरपि समवसरणे जानुप्रमाणपुष्पैश्चतुर्निकायनाकिनिकरैश्च से-
 वितः स्यात् । च पुनर्या सघभर्तुं सघपते शिरसि मस्तके पयसा क्षीरवृक्षत्वात्क्षीराणां
 भरैर्धाराभिर्ववर्ष वृष्टिं कृतवती । केव । घनागमोन्नमदमन्दकादम्बिनीव । यथा घनानां
 मेघानामागमे प्रावट्समये । 'वर्षास्तपालय प्रावट्मेघात्कालागमौ क्षरि' इति हैम्याम् ।
 उन्नमन्ती जलभरैर्नम्रीभवन्ती तथा अमन्दा मिलददभ्राभ्रिकाभिर्बहला जायमाना .का-
 दम्बिनी मेघमाला गिरेः पर्वतस्य शिरसि शिखरे पानीयानां व्रजैर्वर्षति ॥

असावपि किमक्षयाजनि न सिद्धशैलाश्रया-

दनन्तयतिनः शिवश्रियमवापुरस्यास्तले ।

युगादिजिनपादुका किमधिदेवतास्या मरु-

द्वीव विहितेहिता श्रियमुवाह राजादनी ॥ ९७ ॥

मन्त्रतन्त्रयन्त्रविद्यानां विविधा सिद्धयो यस्य स सिद्ध उच्यते । तादृशश्चासौ शैलश्च
 शैलनामा कश्चित्सिद्धपुरुषः शत्रुजयपर्वतश्च तस्याश्रयो नित्याङ्गस्थायुकत्वेन सश्रयस्त-
 स्मात्कारणादसावपि राजादन्यपि । उत्प्रेक्ष्यते—अक्षया सर्वदैव विद्यमानत्वाद्वा क्षयर-
 हिता किमजनि जातेव । पुनरस्या राजादन्यास्तले मूलसनिधौ भूमिभागे अनन्ता
 अन्तातीता यतिनः साधवः । मत्वर्थीय इन्द्रप्रत्ययः । 'ब्रह्मशर्मभरचारुयतीव' इति नै-
 षधे । शिव मोक्षमवापुर्लेभिरे । पुनरस्यास्तले अधोभूमिभागे युगादिजिनपादुका ऋष-
 भदेवपादद्वन्द्वप्रतिमा आस्ते । उत्प्रेक्ष्यते—अस्या राजादन्या अधिदेवता किमधिष्ठात्री
 देवीव । पुनर्या विहित निष्पादितम् । पूरितमित्यर्थः । ऐहिकमिहलोकसबन्धि पुत्रकलत्रवै-
 भवादिकमामुष्मिक परलोकसबन्धि स्वर्गापवर्गादिमभीहितं यथा तादृशीव वर्तते । केव ।
 मरुद्वीव । यथा कामधेनु कृतजनाभिलषिता भवति तादृशी सा राजादनी शोभा-
 मुवाह वहते स्म ॥

विहारमिव संमदाद्भ्रतिवसुधरावासव

प्रदक्षिणयति स्म तत्प्रथमतीर्थकृत्पादुकाम् ।

जिनाधिपमिवाध्वनि द्रुमपरम्परा तं तदा

ननाम किमु भक्तितः फलभराच्च राजादनी ॥ ९८ ॥

व्रतिवसुधरावासवो मुनीनां मध्ये मेदिनीन्द्रो राजा हीरसूरिर्विहार जिनप्रासादमिव
 सा चासौ प्रथमतीर्थकृतो नाभेयदेवस्य पादुका च तत्पादप्रतिकृतिः प्रदक्षिणयति स्म

प्रदक्षिणीचकार । च पुनस्तदा तस्मिन् सुरे प्रदक्षिणादानावसरे फलानां सस्यानां भराद्भारादतिशयाद्वा राजादनीं ननाम नम्रीबभूव । उत्प्रेक्ष्यते—भक्तितो गुरौ सेवासक्तिवशादिव नमति स्म । केव । द्रुमपरम्परेव । यथा पादपाना पटली अध्वनि भगवति विहार कुर्वाणे सति मार्गे जिनाधिप नमति तीर्थनाथ प्रति प्रह्वीभवति ॥ इति राजादनी ॥

समीक्ष्य शिखिभोगिनौ स सखिवन्मिथः संगतौ

ततो यमिमतङ्गजो जिननिशीथिनीनायकान् ।

जसूप्रथमठकुरप्रवररामजीकारितो-

ल्लसज्जिनविहारयोस्त्रिचतुरास्ययोर्नेमिवान् ॥ ९९ ॥

ततो राजादनीं ऋषभपादुकाप्रदक्षिणाप्रणमनानन्तरं यमिमतङ्गजो वाचयमकुञ्जरः सूरिर्जिननिशीथिनीनायकान् जिनचन्द्रबिम्बान् नेमिवान् नतिगोचरीचक्रिवान् । कयोः । जसू इति शब्दः प्रथमं पूर्वं यत्र तादृशठकुरः एतावता लोकप्रसिद्ध्या जसूठार इत्यभिधानं , तथा प्रवरो धर्मकर्मदातृतादिगुणप्रधानो यो रामजी नामा व्यवहारी ताभ्यां कारितयोः शिल्पिभिर्निर्मापितयोः । तथा उल्लसतो विविवरचनाचारुशोभाभिः स्फुरतोस्तादृशयोजिनविहारयोस्तीर्थकृत्प्रासादयोः । किभूतयोः । त्रिचतुरास्ययोः त्रीणि तथा चत्वारि आस्थानि द्वाराणि ययोः । त्रिमुखचतुर्मुखयोरित्यर्थः । किं कृत्वा । समीक्ष्य दृग्गोचरीकृत्य । कौ शिखिभोगिनौ मयूरभुजगमौ । किभूतौ । मिथः परस्परं संगतौ मिलितौ । किवत् । सखिवत् सखायाविव मित्रे इव ॥

स भक्तमिव नाभिभूप्रभुपुरोऽनिशस्थायिन

प्रणम्य गणधारिणं तदनु पुण्डरीकाभिधम् ।

जिनेन्द्र इव देशनासदनमादिदेवालयं

समं मनुजराजिभिः श्रमणपुंगवः प्राविशत् ॥ १०० ॥

श्रमणेषु साधुषु पुगवः प्रधानं श्रेष्ठं । 'स्युरुत्तरपदे व्याघ्रपुगवर्षभकुञ्जरा' इति हेम्याम् । तथा 'पुगवो गवि भैषज्ये प्रवाने चोत्तरस्थित' इत्यनेकार्थः । अथ वा श्रमणानां मध्ये पुगवो वृषभो गणभारधुरवरत्वात् सूरिर्मनुजराजिभिः भव्यलोकमालिकाभिः सममादिदेवालयमृषभप्रासादं प्राविशत्प्रविशति स्म । क इव । जिनेन्द्र इव । यथा तीर्थं करं सुरासुरनरं सार्वं देशनासदनं समवसरणं प्रविशति । किं कृत्वा । तदनु जसूठार-रामजीसाहिविहारयोर्भगवद्विम्बप्रणमनादनु पश्चात्पुण्डरीक इत्यभिवा नाम तादृशं गणधारिणमृषभजिनप्रथमगणधरम् । यदुक्तम्—'ऊसप्पिणीणं पढमं सिद्धौ इह पढमं चक्किपढमसुउ । पढमजिणस्सपपढमो गणहीरीजच्छपुण्डरिउ ॥' इति शत्रुजल्पकल्पे । प्रणम्य नमस्कृत्य । किभूतम् । नाभिनाम्नः कुलकराद्भूरुत्पत्तिर्यस्य तादृशो मारुदेवदेवः स एव प्रभुः स्वामी जगन्नायकस्तस्य पुरोऽग्रे दृग्गोचरे अनिशमहोरात्रं तिष्ठतीत्येवशी-

लम् । कमिव । भक्तमिव । यथा सेवासक्त पुमान् स्वामिपुरस्तात्नात्यासन्ने नातिदूरे तिष्ठति ॥

प्रणम्य जननी जिनेशितुरिभांसमासेदुषी

स गर्भभवने पुनः किमु न देवयुक्छन्दके ।

जिनं स्वयमिव स्थित विकचनेत्रपत्रैः पिब-

नवाङ्गनसगोचरा मुदमविन्दत श्रीगुरुः ॥ १०१ ॥

स हीरविजयसूरिरिति नाम्ना प्रसिद्ध श्रिया गणभृलक्ष्म्या युक्तो गुरुस्तत्त्वज्ञ जैन-
श्राद्धाना वर्मोपदेष्टा जिन श्रीऋषभतीर्थकर विकचैर्विनिर्द्रैर्नेत्रपत्रैः । पूज्यत्वाद्बहुत्वम् ।
नयनकमलदलैः पिबन् सादरमवलोकयन् सन् अवाङ्गनसयोर्न वचनचेतसोर्गोचरं
विषयातीतम् । वाचा वक्तु न शक्यते चेतसा च ज्ञातु न पार्यते इत्यर्थः । तादृशी मुद-
मानन्दमविन्दत प्राप्नोति स्म । किभूत जिनम् । स्थित स्थिति कृतवन्तम् । उत्प्रेक्ष्यते—
स्वयमात्मनैव मोक्षादागत्यात्र तस्थिवासमिव । क स्थितम् । गर्भभवने भवनस्य गर्भो गर्भ-
भवन । ‘क्वचिदमायन्तस्य परत्वम्’ इति सूत्रेण भवनस्य परत्वम् । तस्मिन् गर्भागारे ।
उत्प्रेक्ष्यते—देवेत्यादिपदेन युनक्ति योग प्राप्नोति सबन्व लभते इति देवयुक् तादृश-
श्छन्दक । स्वार्थे क । एतावता देवच्छन्दकस्तस्मिन्निव । प्रागपि समवसरणे मध्ये
प्राकारान्तर्देवच्छन्दक आसीत्, तत्र च सुख तिष्ठन्नासमान शयान आसीत्तद्वत् । कि
कृत्वा मुदमविन्दत । जिनेशितु श्रीवृषभध्वजस्य जननी मातर प्रणम्य मरुदेवीं प्रणाम-
विषयीकृत्य । कि चक्रुषी । इभस्य गजराजस्य अस स्कन्वमासेदुषीमाश्रितवतीम् । आरूढा-
मित्यर्थः । यदुक्त स्थानाङ्गे चतुर्थस्थानकचतुरन्तक्रियाधिकारे—‘मरुदेवा हि स्थावर-
त्वेऽपि क्षीणप्रायकर्मत्वेनाल्पकर्मा अविद्यमानमानतपोवेदना च सिद्धा गजवराहरूढाया
एवायु समाप्तौ सिद्धत्वात् ।’ इति ॥

जिनानननिशीथिनीमणिनिरीक्षणप्रोलस-

द्धदन्तरमुदम्बुधिस्फुरदभङ्गभङ्गैरिव ।

स गौतमगणीन्द्रवच्चरममादिमं श्रीजिन

सुधामधुरिमाङ्कितैरभिनवैः स्तवैरस्तवीत् ॥ १०२ ॥

स सूरिरादिम प्रथम श्रीजिनमृषभ सुवावत् पीयूषैरिव मधुरिम्णा माधुर्येण अङ्कितै
कलितैस्तथा अभिनवैर्नवीनैः स्वय विहितैः स्तवैः स्तोत्रैः अस्तवीत् तुष्टुवे । ‘ष्टुप् स्तुतौ’
धातुरुभयपदी । किवत् । गौतमवद्गणीन्द्रवत् । यथा गौतमनामा गणिना साङ्गे प्रवचने
अधीताना मध्ये इन्द्रो गणधरश्चरम श्रीजिन महावीर भगवन्तम् अथ वा शत्रुजये
यात्रार्थं समेतो जगच्चिन्तामणि इति नमस्कारो नाभिनरिन्दमह्वार इति स्तवनमित्यादि
प्रघोषान् स्तवैश्च स्तौति स्म । अध स्तवैः । उत्प्रेक्ष्यते—जिनस्यादिदेवस्य आनन मुख

तदेव निशीथिनीमणिश्चन्द्र । 'निशारत्नकरौ च चन्द्र' इति हैम्याम् । तस्य निरीक्षणेन दर्शनेन प्रोलसन्नुद्वेलीभवन् यो हृदन्तरे मनोमध्ये मुदानन्दरूप एवाम्बुधि समुद्रस्तस्य स्फुरन्तो विस्तरन्तो ये अभङ्गा भङ्गा कल्लोलास्तैरिव ॥

जय त्रिदशशेखरोन्मिषितपुष्पमालागल-

न्मरन्दकणमण्डलीस्तपितपादपद्मद्वय ।

जयामृतनितम्बिनीहृदयतारहारो जग-

त्रयीजनसमीहितं त्रिदशसालवत्पूरयन् ॥ १०३ ॥

हे जिन, त्व जय विजयस्व सर्वोत्कर्षेण प्रवर्तस्व । हे त्रिदशा देवास्तेषा शेखरा अव-
तसा । 'आपीडशेखरोत्तसावतसा शिरस स्रजि' इति हैम्याम् । तेषामुन्मिषितानि
विकसितानि यानि पुष्पानि कुसुमानि तेषा माला माल्यानि श्रेणयो वा ताम्भ्यो गलन्तो
निष्पतन्तो ये मरन्दा पुष्परसा तेषा कणा बिन्दवस्तेषा मण्डलीभि स्तपित प्रक्षा-
लित धौत पादौ चरणावेव पद्मौ कमलौ तयोर्द्वय युगल यस्य स तस्य सबोधनम् ।
पुन हे जिन, त्व जय । त्व किभूत । अमृत महानन्दस्तदेव नितम्बिनी दुर्वरारोहा
महिला तस्या हृदये स्तनान्तरे उज्ज्वल । अथ वा ताराणा निर्मलमौक्तिकाना हारो
मुक्तावली । हारोपम इत्यर्थ । 'तारो निर्मलमौक्तिके' इत्यनेकार्थे । हे पूरयन् सपूर्णकु-
र्वन् हे विश्राणयन् । सबोधने 'शत्रानशौ' इति प्रक्रियासूत्रेण सबोधने शत्रुप्रत्ययः ।
तथा च 'गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्' इति नैषधे सबोधन पद वृत्तौ व्याख्यातमस्ति ।
किभूत । जगता विश्वेषा त्रयीना स्वर्गपातालभूमीना जनानामेतावता सुरासुरदानव-
मानवाना समीहित मनसामभिलषितम् । किवत् । त्रिदशसालवद्यथा कल्पद्रुम सर्वेषा
समीहित पूरयति ॥

जयोल्लसितकेवलामलतमात्मदर्शोदरा-

नुबिम्बितजगत्रयाखिलपदार्थसार्थ प्रभो ।

जय त्रिभुवनाद्भुतातिशयपद्मिनीसद्मना

विनिद्रवनवीरुधा विटपिवत्समालिङ्गित ॥ १०४ ॥

हे प्रभो स्वामिन्, हे उल्लसितमावरणापगमात्प्रकटीभाव प्राप्त यत्केवल लोकालोकप्र-
काशनप्रगुणपञ्चमज्ञानम् । 'केवल त्वेककृत्स्नयो । निणाते कुहने ज्ञाने' इत्यनेकार्थ । तदे-
वामलतम अतिशयेन विशुद्धो य आत्मदर्शो दर्पणस्तस्योदरे मध्ये अनुबिम्बिता प्रति-
बिम्बयुक्ता जाता सक्रान्ता नागलोकस्वर्लोकभूलोकाना त्रयस्याखिला समस्ता पदार्था
यावद्वस्तूनि तेषा सार्था समूहा यस्य तस्य सबोधने त्व जय । हे समालिङ्गित सम्य-
क्प्रकारेण कृताश्लेषक, या त्रिभुवने त्रैलोक्येऽपि अद्भुताश्चर्यकारिणी अतिशयरूपा
स्वाभाविका आजन्मजाताश्चत्वारस्तथा कर्मणा घाताजाता एकादश तथा देवनिर्मिता

एकोनविंशतिः एव चतुस्त्रिंशत्तदतिशयरूपा पद्मिनीसद्मा पद्मवासा लक्ष्मीः । पद्मिन्यां कमले सद्म गृह यस्या सा । एतावता । 'श्रीर्हरिप्रिया । पद्मवासा' इति हैम्याम् । तथा 'पद्मिनी योषिदन्तरे । अब्जेऽब्जिन्या सरस्या च' इत्यनेकार्थः । तथा । किंवत् । विटपिवत् । यथा विटपी पादप विनिद्रया विकसितया वनवीरुधा विपिनवल्लीया समालिङ्ग्यते ॥

जय प्रकटयन्पथो रविरिवाथ मथंस्तमः ।

कुट्टिभिरिव कौशिकैर्जगति दुर्निरीक्ष्यः पुनः ।

गजेन्द्र इव वज्रिणः स्फुरदखण्डशौण्डीरिमा

मृगारिरिव निर्भयः परिभवन्कुरङ्गान्पुनः ॥ १०५ ॥ •

हे ऋषभ, त्वं चिरं जय । किं कुर्वन् त्वम् । प्रकटयन् । कान् । पथो मार्गान् । धर्मकर्म-सबन्धिनः स्वर्गापवर्गनरकादिकान्वा । क इव । रविरिव भास्वानिव । यथा भास्करः पथो भुवो मार्गान् प्रकाशयति स्पष्टान् दर्शयति । अथ पुनः रविरिव तमोऽज्ञानपापवाधान्तं च मथं निर्दलयन् । पुनः रविरिव कौशिकैर्धूकैरिव जगति विश्वे कुट्टिभिः कुपाक्षिकैः दुःखेन कष्टेन निरीक्षितुं द्रष्टुं शक्यः । पुनर्वज्रिणो वासवस्य गजेन्द्र इव ऐरावण इव । स्फुरन् स्फूर्तिं प्राप्नुवन् अखण्डः परैः सुरासुरनरैरप्रतिहतः शौण्डीरिमा पराक्रमो यस्य । पुनर्मृगारिरिव निर्भयो देवमनुजतिर्यकृतोपसर्गपरिषहादिभ्यो भीतिरहितः । पुनः कुरङ्गः कुमतकुदर्शनमिथ्यात्वादिषु रङ्गो रागो वासना येषां तान् । 'रङ्गः स्यान्नृत्तयु-द्धवो । रागे' इत्यनेकार्थः । मृगाश्च परिभवन्मथत् ॥

जयानिमिषसानुमानिव सुजातरूपः पुनः ।

प्रभञ्जनभरैः कथंचन न कम्प्रभावं भजन् ।

सुधाशुरिव बोधयन्कुवलय विलासैर्गवा

समुल्लसितगौरिमा कलितशीतलेश्यः पुनः ॥ १०६ ॥

हे युगादिदेव, त्वं जय चिरं विजयवान् भव त्रिभुवनोपकारकुर्वाणः प्रवर्तस्व । किंभूतः । अनिमिषाणां देवानां सानुमानं शैलः सुमेरुरिव सुष्ठु शोभनः त्रैलोक्यातिशायि जातमुत्पन्नः प्रादुर्भूतः वा रूपं यस्य मेरौ तु प्रकृष्टजातरूपं स्वर्णं यस्मिन् । पुनः किंभूतः । प्रकर्षेणातिशयेन भजता उपमर्दनाव्याघातादिकारिणः उपसर्गः प्रतिकूलदेवादयो वा तेषां भरैर्गणैः कथंचन कम्प्रभावः कम्पनशीलता कातरतया भग्नपरिणामता न नैव भजन् । मेरुस्तु वातवेगैश्चाचलित्वं न भजते चालयितुमशक्यं । पुनः सुधाशुश्चन्द्र इव गवा विलासैः पञ्चत्रिंशद्गुणाकलितयोजनविस्तरद्वान्वा चातुरीभिश्चन्द्रिकाप्रचारैश्च कुवलयमेदिनीमण्डलं तत्र स्थायुकत्वेन उपलक्षणत्वाज्जगत्त्रयमपि उत्पलं च बोधयन् प्रतिबोधं प्रापयन् प्रतिबोधकलितं कुर्वन् विकाशयन् । पुनः किंभूतः । समुल्लसिता स्फूर्तिमत्ता प्राप्ता । चतुरलोचनपुटकपेयता प्राप्तो वा गौरिमेव विकचचम्पककाञ्चनवद्रुपीतिमा

श्वेतिमा च यस्य । 'गौर श्वेतपीतयो' इत्यनेकार्थः । पुन किंभूतः । कलिता वृता
शीतलेश्या शीतलता च येन ॥

जय प्रशमयन्मनोभवभटं महाबोधिव-

त्कुट्टकमलकाननोन्नमदकाण्डचण्डाम्बुदः ।

सलीलदलिताखिलप्रबलदोषदोषातमः-

स्फुरद्विमलकेवलाम्बुरुहबन्धुबिम्बोदयः ॥ १०७ ॥

हे नाभेय देव, त्व जय चिरकाल जीया. । कि कुर्वन् । प्रशमयन्निघ्नन् । 'प्रोज्जासन
प्रशमन प्रतिघातन वध' इति हैम्याम् । तथा 'वत्स्यति शमयति च दमयति च' इति क्रिया-
कलापे हिसाथे । कम् । मनोभव कदर्प स एव भट. वीरस्तम् । किवत् । महाबोधिवत् ।
यथा बुद्धः स्मरशूर प्रशमयामास । 'बोविसत्त्वो महाबोध', तथा 'मारलोकरवजित्'
इति हैम्याम् । द्विकमपि । पुन किंभूत । कुट्टक कुपाक्षिका अन्यदर्शनिन एव कमलकान-
नानि पद्मवनखण्डानि तेषु उन्नमन् साडम्बरीभवन् जलभरेण भवन् वा महीं स्पृशन्वा
अकाण्डे अप्रस्तावे प्रावृष विनैव चण्ड कठिन मुशलप्रमाणजलवारावर्षी अम्बुदो
मेघ । 'बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदय' इति रघौ । 'निद्राणपङ्कजसरसि जलदा-
नेहसि' इति चम्पूकथायाम् । पुन किंभूत । सलील लीलासहित यथा स्यात्तथा प्रयास
विनैव दलितानि विध्वस्तानि चूर्णीकृतानि अखिलानि समस्तान्यपि प्रबन्धप्रसवानि
अष्टादशसख्याका प्रबला अनुकूलबलत्वात्परैर्मोहमूढतया कातरीभूतैरन्यैर्भर्तुमशक्या
दोषा दानान्तराय-लाभान्तराय-वीर्यान्तराय-भोगान्तराय-उपभोगान्तराय-हास्य-रति-
अरति-भय-जुगुप्सा शोक काम-मिथ्यात्व-अज्ञान-निद्रा-अविरति-राग-द्वेषरूपा अपगुणा
एव दोषातमासि निशान्वकाराणि तै कृत्वा स्फुरन्दीप्यमानो विमलो हिमाम्बुदापग-
माद्विशद केवलमनन्यापेक्ष लोकालोकप्रकाशकारकमनुत्तर पञ्चमज्ञान तदेवाम्बुरुह-
बन्धो कमलसुहृदो दिनकरस्य बिम्बोदय प्रादुर्भावो यस्य ॥

जयामृतविभूतिभागधन इवातिधीरध्वनि-

निरञ्जनतयोदितो जलजवद्विशुद्धाशयः ।

सुधारस इव प्रभो सकलजन्तुजीवातुकौ

भवाद्भवभृतोऽम्बुधेर्जगति पोतवत्तारयन् ॥ १०८ ॥

हे मारुदेवदेव, त्व जय । त्व किंभूत । घन इव मेघवत् अमृत नि श्रेयस सलिल
च तस्य तेन वा विभूति सपत्ति शोभा वा भजतीति । चिणूप्रत्यये भाक् । तथा अ-
तिशयेन सर्वेभ्यश्चराचरेभ्योऽभ्यधिकतया वीरो देशनासमये गम्भीरो वा ध्वनिर्वाग्वि-
लासो गर्जित गर्जारवो यस्य । पुन किंभूत । जलजवत् शङ्ख इव । 'तत प्रियोपात्त-
रसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलज कुमार' इति रघुवशे । निर्गतमञ्जन रागद्वेषोपलेपो

रजोवगुण्ठन वा यस्माद्यस्य वा तत्त्वेनोदित कथित प्रादुर्भूतो वा । पुन किभूत ।
जलजवत् शङ्खवत्रिरेख इव विशुद्धो निष्पापो निर्मलश्च आशयो मनो मध्य च यस्य स ।
पुनः किभूत । सुधारस पीयूषमिव सकलाना त्रिभुवनभवनोदरवर्तिना जन्तूना प्राणिना
जीवातुको जीवनौपवम् । पुन किभूत । जगति विश्वे भवभृतो भविकजीवान् भ-
वात्ससारात्तारयन् ससारपरपारवर्तिमुक्तिनगरी प्रापयन् । किवत् । पोतवत् । यथा
पोतो यानपत्रमम्बुधे समुद्रमध्याज्जनान् सायात्रिकलोकान्निस्तारयति ॥

जयेश इव कालभिच्छ्रितशिवश्च मृत्युंजयो

वहन्निरवलम्बता गगनवत्पद ज्योतिषाम् ।

युगादिसमये पुनर्जगदशेषसृष्टिं सृज-

न्सरोजतनुजन्मवत्कलमराललीलागतिः ॥ १०९ ॥

हे सुरभीनन्दनकेतन जिन, त्व जय सर्वेभ्योऽप्युत्कृष्टतया प्रवर्तस्व । त्व किभूत ।
कालभित् काल कलियुग भिनत्तीति । किप्रत्यये । पुन किभूत । श्रित शिव कल्याण
महानन्दश्च । पुन किभूत । मृत्यु मरण जयतीति जरामरणरहितत्वात्सिद्धत्वाच्च । क
इव । ईश इव । यथा शंभुरपि कालनामान दानव भिनत्तीति । तथा श्रिता अर्धाङ्गीकृता
शिवा पार्वती येन । तथा मृत्युजयनाम लोके अनाद्यन्तत्वात् वर्तते । पुन कि
कुर्वन् । गगनवदाकाशवत् निर्गत अवलम्ब आधार आश्रयो वा यस्मात्तस्य भावस्तत्ता
वहन्वारयन् । पुनर्ज्योतिषा तेजसा पृष्ठवर्ति भामण्डलभावाद्ब्रह्मक्षत्रतारकाणा च पद
स्थानम् । पुन कि कुर्वन् । सृजन् विदधत् । काम् । जगदशेषसृष्टिं जगता भुवनजना-
नामशेषा समस्ता कुलशिल्पशिक्षकादिका सर्गरचनाम् । क । युगस्यादौ सर्वलौकिकव्यवहार-
प्रकटीकरणप्रथमसमये । पुन किभूत । कलो मनोज्ञो यो मरालो राजहसस्तद्वल्ली-
लया मन्थरत्वेन न त्वौत्सुक्येन त्वरिततया वा चापल्येन वा गतिर्गमन यस्य । किवत् ।
सरोजतनुजन्मवत् । यथा पद्माङ्गजन्मा विवाता । 'पद्मनन्दनसुतारिरंसुता' इति नैषधे ।
युगाना कृतद्वापरत्रेताकलिनान्ना कालविशेषाणामादिसमये जगता सुरासुरनरनारक-
तिरश्वा समग्रा गृहाद्वनगनगरादिका सृष्टिं सृजति स्म । कलमरालेन कृत्वा क्रीडया गमन
यस्य हसवाहनत्वात् ॥

शरत्समयपङ्कजाकर इव प्रसन्नाशयः

कुशेशयपलाशवन्निरुपलेपभाव भजन् ।

प्रमद्वरपद दधन्न च कदापि भारुण्डव-

द्विशेषक इवालिकं विमलभूधर भूषयन् ॥ ११० ॥

हे वृषभध्वज जिनेन्द्र, त्व जयेति सबन्ध । त्व किभूत । शरत्समयो जलवाहवि-
रामकालस्तस्य तस्मिन्वा य. पङ्कजाकरस्तटाक तद्वत् प्रसन्न. प्रसादोपेत अच्छोऽना-

विल आशयो हृदय मध्य यस्य । पुन कि कुर्वन् । कुशेशय कमल तस्य पलाश पत्र
तदिव निर्गत उपलेपः ससाराभिष्वङ्ग लिम्पन च यस्मात्तस्य भावस्तत्ताम् । निर्लेपतामि-
त्यर्थः । भजन्नाश्रयन् । च पुनः कदापि कस्मिन्नपि समये भारुण्डवद्भारुण्डपक्षीव प्र-
मद्वरपद प्रमादस्थानम् । प्रमत्ततामित्यर्थः । 'जनैव दधत् मा भू क्वापि प्रमद्वर' इति
पाण्डवचरित्रे । पुन किभूत । विमलभूधरं शत्रुजयशैल भूषयन्नलकुर्वन् । क इव ।
विशेषक इव । यथा तिलको ललाट भूषयति ॥ इति हीरसूरिकृता ऋषभदेवस्तुति ॥

इत्यभिष्टुत्य सूरेश्वरः श्रीजिनं भालविन्यस्तहस्तद्वयाम्भोरुहः ।

इष्यशाखी फलाप्तेरिवामोदवान्प्राणमद्भूतलालम्बिमौलिस्थलः ॥ १११ ॥

भूतल पृथ्वीपीठमालम्बते इत्येवशील मौलिस्थल मस्तक यस्य तादृश सन् सूरि-
श्वरो हीरविजयसूरिवासव श्रीजिनमृषभदेव प्राणमत्प्रणनाम नमस्करोति स्म । कि
कृत्वा । भाले ललाटे विन्यस्त स्थापित हस्तयोर्द्वय करयोर्युगलमेवाम्भोरुह कमल येन
तादृश सन् इति पूर्वोक्तकाव्यैरभिष्टुत्य स्तुति कृत्वा । किभूतः सूरि । फलाप्ते श्रीश-
त्रुजययात्राऋषभदेवदर्शनादिरूपफलस्य प्राप्ते सकाशादामोदवान् परमानन्दकन्द-
कन्दलितहृदय । क इव । इष्यशाखीव । यथा वसन्ततरुर्भूतले मेदिनीमण्डले मिलन्त्यो
मस्तकस्य शिखरस्य शाखा यस्य तादृश फलानामुपलक्षणात्पल्लवपत्रकुसुमाना च ला-
भादामोदवान्परिमलकलित प्रकर्षेण नमति ॥

निवृत्ते प्रमदेन्दिरयान्वितः स जिनगर्भगृहान्तरतस्ततः ।

चतुरिकोदरतोऽभिनवोढया वर इवामृतदीधितिक्त्रया ॥ ११२ ॥

ततो जिनस्तुतिनुतिकरणानन्तरं स सूरिर्जिनस्य ऋषभदेवस्य यो गर्भगृहो गर्भा-
गारस्तस्यान्तरतो मध्यान्निवृत्ते निवृत्त पश्चाद्वले । 'निवृत्ते स महार्णवरोधस'
इति रघौ । बहिराजगामेत्यर्थः । किलक्षण । प्रमदेन्दिरया प्रमोदलक्ष्म्या अन्वितो
युक्तः । क इव । वर इव । यथा वरयिता परिणेतुः अभिनवोढया तात्कालिकपरि-
णीतया अमृतदीधितिक्त्रया चन्द्रमुख्या आह्लादकृद्द्वदनया सहितः । चतुरिकोदरत
'चउरी' इति प्रसिद्धाया मध्यत गर्भान्निवर्तते बहिरागच्छति ॥

शाभवाद्बहिरुपेत्य सन्नन पर्षदो वसुमतीपतेरिव ।

द्वारि धीसख इव प्रवेशने धर्मकृत्यविधये स आसितः ॥ ११३ ॥

स हीरसूरि द्वारि प्रासादद्वारदेशे आसित उपविष्टः । कस्मै । धर्म्याणि धर्मसबन्धीनि
दीक्षोपस्थापनाव्रतोच्चारदीनि कृत्यानि कार्याणि तेषां विविः शास्त्रोक्तप्रकारेण करण
तदर्थम् । क इव । यथा सचिव प्रधान धर्म्याणां न्यायव्यवहारोपलक्षितकार्याणां राज-
प्रजासबन्धिना विधये प्रवेशने आसितो भवति । कि कृत्वा । शाभवात्तीर्थकरसब-
न्धिनः सन्ननः मन्दिराद्बहिर्बाह्यप्रदेशे उपेत्यागत्य । कस्या इव । पर्षद इव । यथा धी-
सखो वसुमतीपते पर्षद सभाया बहिरेत्यसिंहद्वारे राजप्रजाकार्यार्थमुपविशति ॥

अदीक्षयत्तत्र स काश्चिदिभ्यतनूभवान्गौतमवद्गणीन्द्रः ।

काश्चित्ककुश्रेष्ठिमुखाङ्गभाजस्तुर्यव्रतोच्चारमकारयच्च ॥ ११४ ॥

तत्र प्रासादद्वारे गणिनामनूचानानामिन्द्र पुरदरः गणनायको वा काश्चिदिभ्यतनू-
भवान् व्यवहारिनन्दनानदीक्षयत्प्रात्राजयदीक्षा ददाति स्म । किंवत् । गौतमवत् । यथा
गौतमस्वामी इभ्याद्यङ्गजान् दीक्षयति स्म । पुन काश्चित् अणहिल्लपाटकपत्तनसत्ककुनाम
श्रेष्ठी प्रमुखो मुख्यो येषा तादृशानङ्गभाजो भव्यास्तुर्यव्रत ब्रह्मचर्यं तस्योच्चार प्रत्या-
ख्यानमकारयत् ब्रह्मचर्यमुच्चारयति स्म ॥

पुण्डरीकान्तिकस्थासुरथोद्दिश्य वशीव सः ।

श्रीशत्रुंजयमाहात्म्यं वृषाङ्कवदभाषत ॥ ११५ ॥

अथ दीक्षादानानन्तर पुण्डरीकनामा ऋषभदेवप्रथमभृत्तन्मूर्तेरन्तिके समीपे तद्देवकु-
लिकामागत्य तत्पार्श्वे एव स्थास्तुस्तिष्ठतीति एवशील एतावता मूलप्रासादद्वारादुत्थाय
पुण्डरीकमूर्ते पार्श्वे आगत्योपविष्ट इत्यर्थः । तादृशो वशी जितेन्द्रियः सूरिर्विशो या-
त्रिकलोकानुद्दिश्य श्रीशत्रुजयमाहात्म्यं विमलाचलमहिमानमभाषत कथयति स्म । कि-
वत् । वृषाङ्कवत् । यथा ऋषभदेव पूर्व सिद्धशैलमाहात्म्यं भाषते स्म ॥

यत्तीर्थेऽन्यत्र शुद्धाध्यवसितिर्विशदध्यानतः पूर्वकोट्या

प्राणी बध्नाति पुण्यं भवति भवभृतां तत्क्षणेनाप्यमुष्मिन् ।

भेतव्यं पातकेभ्यो भुवि न भविजनैर्भेद्यनिर्भेददक्षे

क्षमाभृत्यस्मिञ्शरण्ये पुनरहिमरुचीवान्धकारोत्करेभ्यः ॥ ११६ ॥

अन्यत्र अपरस्मिन्तीर्थे शुद्धा निष्पापा या अध्यवसितिर्ध्यवसाय शुभपरिणामस्तेन
कृत्वा यद्विशद शुल्कध्यानं तस्मात्सप्ततिवर्षकोटिलक्षषट्पञ्चाशत्कोटिसहस्रवर्षमानपू-
र्वाणां कोट्या शतलक्षैः कृत्वा यत्पुण्यं शुभकर्म प्राणी बध्नाति जन्तुरुपार्जयति तत्पुण्यं
तावत्प्रमाणं सुकृतममुष्मिन् शत्रुजये तत्क्षणात्स एव क्षणस्तत्क्षणस्तस्मात् । तत्काल
एवेत्यर्थः । अष्टादशनिमेषैरेका काष्ठा, द्वाभ्यां काष्ठाभ्यामेको लवः, पञ्चदशभिर्लवैरेका
कला, द्वाभ्यां कलाभ्यामेको लेशः, पञ्चदशभिर्लेशैरेक क्षणः, षड्भिः क्षणैरेका घटिका,
द्वाभ्यां घटिकाभ्यां मुहूर्तम्, इत्यादिकालमानम् । भवभृता भविना भवति जायते ।
पुनर्भुवि पृथिव्या शरणागतवज्रपञ्जरे अस्मिन् शत्रुजयनाम्नि पर्वते पृथ्वीपतौ च सति
भविजनैर्भविकलोकैरनन्तदुःखदातृत्वाद्वैरिभूतेभ्यः पातकेभ्यः कथञ्चित्प्रमादात्पापानि
कृत्वा न नैव भेतव्यं न भयमानेयम् । किंभूते । भेद्यानि भेत्तु योग्यानि दुःकर्माणि तेषां
निर्भेदे घातने निवारणे दक्षे निपुणे । यदुक्तं शत्रुजयमाहात्म्ये—‘न भेतव्यं पातकेभ्यः
प्रमादिभिः । श्रयतामेकवेलं श्रीसिद्धक्षेत्रकथानकम् ॥’ कस्मिन्निव । अहिमरुचीव । यथा
अभ्युदिते सहस्रकिरणे अन्धकाराणां ध्वान्तानां भयं नानीयते । हिमादन्या अ-

हिमा उष्णा रुच किरणा यस्य । यदुक्त माघे—‘उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्त
कुमुदवनमपश्चि श्रीमदम्भोजखण्डम् । त्यजति मदमुल्लूक प्रीतिमाश्चक्रवाको हतविधि-
ललिताना ही दुरन्तो विपाक ॥’

अर्हद्देशनवेश्मनीव सततं संत्यज्यतेऽस्मिन्मिथः

पारीन्द्रद्विरदादिजन्मनिवहैराजन्मविद्वेषिता ।

राज्ये नीतिमतः क्षितेरधिपतेर्वाता इवोर्वीस्पृशा

सर्वे सन्त्यकुतोभया यदचलोत्सङ्गे पुनः स्थायुकाः ॥ ११७ ॥

भौ भव्या , अस्मिन् शत्रुजये सतत निरन्तर पारीन्द्रद्विरदादिभि सिंहहस्तिप्रमुखै ।
आदिशब्दाद्याघ्रधेनुचित्रमृगमार्जारमूषकमयूरनागाद्यै । अन्यैरपि बहुभिरङ्गिभि प्राणिग-
णैर्मिथ परस्पर जन्म मर्यादीकृत्याजन्म अवतारमुत्पत्तिमारभ्य । मरणान्त यावदित्यर्थ ।
आजन्मनो विद्वेषिता वैरिभाव सत्यज्यते मुच्यते । कस्मिन्निव । अर्हद्देशनवेश्मनीव ।
यथा जिनेन्द्रसमवसरणे सर्वे प्राणिभिर्मिथो वैर सत्यज्यते । यदुक्तम्—‘सारङ्गीं
सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोत मार्जारी हसबाल प्रणयपरवशा केकि-
कान्ता भुजङ्गम् । वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति श्रि-
त्वाश्याम्यैकरूढप्रशमितकलुष योगिन क्षीणमोहम् ॥’ पुनर्यदचलोत्सङ्गे यस्य शत्रुजयस्य
पर्वतस्योत्सङ्गे क्रोडे स्थायुका वसनशीला सर्वे स्वपरजातीया प्राणिन न विद्यते कुत-
श्चित्कस्माच्चनापि भय येषा ते अकुतोभया निर्भीका अज्ञातभयाह्वाना सन्ति विद्यन्ते ।
कस्मिन्निव । राज्य इव । यथा नीतिमतो न्यायवत् क्षितेरधिपते राज्ञो राज्ये उर्वीस्पृशा
मानवाना वाता समूहा अकुतोभया भवन्ति ॥

स्वर्णोदयार्बुदब्रह्मगिर्याद्यष्टशतोन्मितैः ।

सुतैरिवोत्तुङ्गशृङ्गैः परितः परिवारितः ॥ ११८ ॥

य श्रीशत्रुजयपर्वत उत्तुङ्गैर्गगनावगाहिभि शृङ्गै शिखरै परित सर्वतश्चतुर्दिक्षु
च परिवार परिच्छेद सजातोऽस्येति परिवारित । परिचारयुक्तो जात इत्यर्थ । कि-
भूतै शृङ्गै । स्वर्णगिरि -उदयगिरि -अर्बुदगिरि -ब्रह्मगिरि एते चत्वार शैला आदौ
प्रथम यस्य तादृशेन अष्टाभिरधिकेन शतेन उन्मितै प्रमाणीकृतै । उत्प्रेक्ष्यते—उच्चै-
शिरोभि अथ वा उत्प्राबल्येन तुङ्गैभ्योऽपि महद्भ्योऽपि तुङ्गैर्महद्भि । ‘त मानतुङ्गमवशा
समुपैति लक्ष्मी ’ इति भक्तामरस्तवे । मानेन तुङ्गो महान् इति मानतुङ्ग । सुतै
नन्दनैरिव परिवारकलित ॥

तीर्थमास्ते न विश्वेऽप्यदःसंनिभं विश्वकर्त्रेति रेखा किमेषा कृता ।

स्वर्गिणा निम्नगावत्पुनाना जनान्यत्र शत्रुजये भाति कल्लोलिनी ॥ ११९ ॥

यत्र शत्रुजये शैले शत्रुजयनाम्नी कल्लोलिनी भाति नदी शोभते । कि कुर्वाणा ।

जनान् भविकलोकान् पुनाना पवित्रीकुर्वाणा । किवत् । निम्नगावत् । यथा स्वर्गिणा देवाना निम्नगा गङ्गा परशासनलोकप्रसिद्ध्या लोकान्पुनीते । उत्प्रेक्ष्यते—त्रैलोक्येऽपि विश्वत्रयेऽपि अद सनिभम् अस्य विमलाद्रे सनिभ तुल्यमन्यतीर्थ नास्ते लोकान् जगजनानिति वक्तु वा विश्वकर्त्रा जगत्सृष्टिकारकेण विधिना एषा प्रत्यक्षलक्ष्या शत्रुजया नदी किमु रेखा कृता विहितेव ॥

केवलज्ञानितीर्थेशतीर्थे पुरा स्नात्रनिर्मित्सयेशानजम्भद्विषा ।

सिद्धसिन्धोर्मुदानायि यस्मिन्नसौ जह्नुनेव प्रवाहो नगेऽष्टापदे ॥ १२० ॥

पुरा पूर्व गतचतुर्विंशत्यास्तृतीयारकस्यादिसमये केवलज्ञानिनामा प्रथमतीर्थंकर-स्तस्य तीर्थे शासने वारके वा तस्मिन् जिते विद्यमाने वा यस्मिन् शत्रुजयनाम्नि नगे गिरौ प्रथमस्थापितप्रासादे स्नात्रनिर्मित्सया अर्थात्केवलज्ञानितीर्थकृन्मूर्तेरेव स्नात्रस्य कर्तुमिच्छया ईशाननाम्ना द्वितीयपदे लोकनायकेन जम्भद्विषा इन्द्रेण सिद्धसिन्धोर्वेताव्य-शैलान्तर्वर्तिन्या गङ्गाया मध्यादसौ शत्रुजयाभिधाना सिन्धुरा नायता आनीता वा इत्येषा कथा शत्रुजयमाहात्म्येऽस्तीति । केनेव । जह्नुनेव । यथा सगरचक्रिणः षष्टिसह-स्रसुतेषु ज्येष्ठेन नन्दनेन अष्टापदाभिवाने नगे भूधरे अर्थात्काञ्चनप्रासादमणिमयप्रति-मारक्षाकृते । दण्डरत्नकारितसहस्रयोजनोद्वेधकैलाशशैलपरित खातिकाखातपूरणार्थमि-त्यर्थः । सिद्धसिन्धो सनिधिवर्तिमन्दाकिन्या एव प्रवाहो दण्डरत्नेनैव पानीयोऽय आ-नायि इत्येषामपि कथा शत्रुजयमाहात्म्ये एवास्ते ॥

रसकूपीदिव्यौषधीसुवर्णमणिरत्नभूमिरेष गिरिः ।

शिव इव सकलाः सिद्धीः पुनर्दधानः श्रियं श्रयते ॥ १२१ ॥

एष शत्रुजयाख्यो गिरि पर्वत श्रियमद्वैतवैभवत्वेन शोभा श्रयते धत्ते । किभूत । रसकूपीना लोहताम्रादीना हेमविधायकै रसैः परिपूर्णाना लघुकूपाना तथा दिव्याना देवा-विष्ठातृत्वेन महाप्रभावाणामौषधीना सुवर्णरजतकारकाष्टमहाभयस्तम्भकरोगविनाशक-निविद्रव्यादिदर्शकाखिलकामितकारकादीना विविधजटिकाना सुवर्णानामुपलक्षणाद्रूप्यत्र-पुसीसकताम्रलोहादीना मणीना चन्द्रकान्तादीना रत्नाना कर्केतनप्रमुखाणा भूमिरर्थात्स्व-र्णादिखनीनामुत्पत्तिस्थानम् । पुन कि कुर्वाण । सकला सर्वजातीया सिद्धीर्दधानो वारयन् वत्ते । धारण तु युक्तमेव । यत स्वस्मिन् स्वस्य वा यद्भवति तत्परस्मै दीयते पर स्वस्मिन्नेव यन्न भवति तत्परस्मै कुतो दीयते । असौ तु एकतानो भवन्मानसानिशखारावकानामैहिकामुष्मिका सर्वा सिद्धी प्रदत्ते । क इव धत्ते । शिव इव । यथा ईश्वरोऽखिला लघिमा वशिता-ईशिता-प्राकाम्य-महिमा-अणिमा-यत्रकामाव-सायसायित्व-प्राप्ति इत्यष्टसिद्धीर्दधाति ॥

सूर्योद्धानं सुरेन्दोर्दिशि विपिनमिव स्वःसदा भाति यस्मि-

न्स्वर्गोद्धानं त्वपाच्या दिशि गिरिकमलानीलचेल किमेतत् ।

चन्द्रोद्यानं प्रतीच्या विविधसुमभरैर्भूषितं भूषणैः कि

लक्ष्मीलीलाविलासं धनददिशि पुनः कि तदीयं निकुञ्जम् ॥ १२२ ॥

यस्मिन् शत्रुजये सुरेन्दोरिन्द्रस्य दिशि पूर्वस्या सूर्योद्यान भाति । उत्प्रेक्ष्यते—स्व - सदा देवानां विपिन कानन नन्दनवनमिव । पुन अपाच्या दक्षिणस्या दिशि स्वर्गोद्यान राजते । उत्प्रेक्ष्यते—गिरिकमलाया विमलाचललक्ष्म्या नील मरकतच्छवि चेल वल्लमिव । पुन प्रतीच्या पश्चिमाया दिशि चन्द्रोद्यान आजते । किभूतम् । विविधानि नानाप्रकाराणि रक्तपीतनीलकृष्णश्वेतादिवर्णानि सुमानि पुष्पाणि तेषा भरै समूहैर्भूषित शोभितम् । उत्प्रेक्ष्यते—किभूतैः । भूषणैराभरणैरिवालकृतम् । पुनर्धनद- दिशि उत्तरस्या लक्ष्मीलीलाविलास नाम वन शोभते । उत्प्रेक्ष्यते—तदीयमुत्तरदिक्पते- र्वनदस्य सबन्धि निकुञ्जमुद्यान चैत्ररथ वनमिव । ‘विमान पुष्पक चैत्ररथ वन पुरी प्रभा’ इति हैम्याम् । निकुञ्जशब्द पुनपुसकलिङ्गयो । इद वर्णनमग्रेऽपि प्रोच्यमान शत्रुजयमाहात्म्यादितो ज्ञेयम् । अयुना तु तेषामलक्ष्यत्वेनेति ॥

राकामृगाङ्गा इव यत्र पद्माकरा रमा काचन चिन्वते स्म ।

कुण्डान्यखण्डान्यपि नागगेहात्पीयूषकुण्डानि किमुद्धृतानि ॥ १२३ ॥

यत्र शत्रुजये राकाणा यः सुपूर्ण षोडशकलाकलितश्चन्द्रो भवेत् । ‘राका पूर्णे निशाकरे’ इति हैम्याम् । पूर्णिमासीना मृगाङ्गाश्चन्द्रा इवामृतपूरिता पद्माकरास्तटाका काचन वचनविषयातीता रमा लक्ष्मी चिन्वते पुष्पान्ति । पुनर्यत्र गिरौ अखण्डानि अ भग्नानि अक्षतानि कुण्डानि हृदभेदा जलाशयविशेषा शोभन्ते । उत्प्रेक्ष्यते—नागगे- हात्पातालादुद्धृतानि गृहीत्वा आनीतानि कि पीयूषकुण्डानि अमृतकुण्डानीव । पाताले हि नव सुधाकुण्डानि सन्ति । यदुक्त पञ्चमीस्तुतौ—‘यात्वा देवाधिदेवागमदशमसु- धाकुण्डमानन्दहेतु ’ इत्यागमरूप दशम सुधाकुण्डम् । तथा नैषधवृत्तौ—‘क्षितिं फणाम- ण्डलै रक्षन्ति धारयन्तीति क्षितिरक्षिणो नागा । यथा यत्कथाश्रवणात् पूर्व फणिप्रभृ- तयो नवसुधाना कुण्डाना रक्षिता कुण्डानि नामृतरोऽभूवस्तथा रक्षयन्ति’ इति ॥

कलितललितरङ्गत्तुङ्गतारङ्गसङ्गी-

मिलदलिकुलकेलीस्मेरदम्भोजपुञ्ज ।

श्रियमयति तटाकश्चिल्लणाख्योऽत्र नन्दी-

सर इव दनुजारिश्रेणिभिः सेव्यमानम् ॥ १२४ ॥

अत्र शत्रुजयशैले चिल्लण इति आख्या नाम यस्य तादृश तटाक श्रिय शोभाम- यति गच्छति । प्राप्नोतीत्यर्थः । किभूत । कलित ललित गमनागमनादिविलासो यैस्ता- दृशा तथा रङ्गन्तश्चलन्तस्तुङ्गा उच्चैस्तरा गगनावगाहिनस्तारङ्गा कल्लोलसमूहा । अत्र समूहार्थेऽण्प्रत्ययः । तथा ‘वारवार तारतरस्वरनिर्जितगङ्गातारङ्गाम्’ इति पद्मसुन्दरक-

तभारतीस्तोत्रे । तेषा सङ्गोऽस्त्यस्यास्मिन्वा । पुन किभूत' । मिलन्तो मकरन्द-
पानार्थं लोलुपतया आगत्य एकत्रावस्थिति कुर्वन्तो ये अलिनो भ्रमरास्तेषा कुल
सजातीयवृन्दानि । 'कुल तेषा सजातीनाम्' इति हैम्याम् । तेषा केली क्रीडा यत्र
तादृश स्मेरन्विकाश प्राप्नुवन् । 'स्मेरदम्भोजखण्डाभि' इति पाण्डवचरित्रे ।
अम्भोजाना कमलाना पुञ्जो व्रजो यत्र । उत्प्रेक्ष्यते—नन्दीसर इव । यथा पूर्वोक्तवि-
शेषणविशिष्टमिन्द्रसरोवर श्रिय श्रयति । एतद्वयमपि किभूतम् । दनुजाना दान-
वानामरयो वैरिणो देवास्तेषा श्रेणिभिर्वोरणीभि सेव्यमानम् । मोक्षार्थं क्रीडार्थं च
चिह्नणनन्दीसरसोर्विशेषणम् ॥

कचिदुपरिकपर्दिप्राक्सरः पालिशालि

स्मितशिखरिशिखाग्रस्थायुकानेकपक्षि ।

विलसति विमलाद्रौ स्वा जडाधारभावा-

युदितजगदकीर्ति हन्तुमेत्य स्थितं किम् ॥ १२५ ॥

विमलाद्रौ शत्रुजयशैले क्वचित्कुत्रापि स्थानके उपरि अधित्यकाप्रदेशे कपर्दि इति
शब्द प्राक् पूर्व यस्य तादृश सरो विलसति शोभते । किभूतम् । पालौ सेतौ जलवा-
रणके शालन्ते शोभन्ते इत्येवशीला , तथा स्मिता विकसिता कुसुमिताश्च ये शिखरिण
पादपास्तेषा शिखानां शाखानामग्रेषु उपरितनप्रदेशेषु स्थायुका वसनशीलास्तिष्ठन्ती-
त्येवशीला उपविष्टा अनेके विविजजातीया पक्षिणो विहगमा यत्र तत् । उत्प्रेक्ष्यते—
स्वा स्वकीया डलयोरैक्याद्भावप्रवाननिर्देशाच्च जलाधारत्वेन अथ वा भावप्रवानत्वेन
विना जडानामाधारत्वेनायुदिता प्रकटीभूतामुत्पन्ना वा जगति विश्वे अकीर्तिमपयशो
हन्तु कि निवारयितुमिवैत्यागत्य स्थितम् ॥

स्फुटमिव घटिताना वेधसा स्फाटिकाना

क्वचन खनिरपूर्वा तण्डुलाना विभाति ।

उदयति किल दृष्टेः सादिमातुः पुरस्ता-

दिव शतधृतिपुत्र्याः केसराङ्गराजी ॥ १२६ ॥

शत्रुजये क्वचन बहि प्राकारप्रतोलीप्रवेशानन्तरमेव पुरो भूमौ स्फाटिकाना स्फटि-
कोपलमयाना तण्डुलाना चोक्षानामपूर्वा असावारणा खनिराकरो विभाति । उत्प्रेक्ष्यते—
वेधसा सृष्टिकर्त्रा घटितानामिव निष्पादितानामिव । कथम् । स्फुट प्रकट यथा स्यातथा ।
किलेति श्रूयते निश्चित वा । यदेतदित्यमेव दृश्यते च । सा चोक्षकखनिरादिमातु युगा-
दिदेवजनन्या लोकेऽप्यादिमाता देवीविशेषा सैव मरुदेवा तस्या दृष्टे पुरस्तादेवोद-
यति प्रादुर्भवति । केव । केसराङ्गराजीव । यथा शत धृतेर्ब्रह्मण. पुत्र्या नन्दिन्या सर-

स्वत्या दृष्टेरग्रे कुङ्कुमप्ररोहमण्डली प्रादुर्भवति । काश्मीरजनपदे सरस्वतीदृष्टे पुरो घुस-
णमुद्रच्छति, अन्यत्र कुसुम्भक इति श्रूयतेऽद्यापि ॥

हृदभिलषितसिद्धीरैहिकामुष्मिकाद्या-

स्त्रिजगति ददतो मे के पुरो यूयमाध्वे ।

इति किमु सुरवृक्षानैहिकार्थान्ददाना-

स्तृणयति खगरावैर्यद्वटः सिद्धनामा ॥ १२७ ॥

सिद्ध इति नाम यस्य तादृशो यो वट न्यग्रोध यस्य शत्रुजयस्य वटो यद्वट-
प्लक्ष । 'सिद्धवड' इति प्रसिद्ध । स खगाना पक्षिणा रावैर्विरुतैः इह लोके भवा ऐहिकास्ते
च ते अर्था अभिलाषास्तान्ददानान्पूरयत सुरवृक्षान् कल्पद्रुमान् तृणयति तृणप्रायान्
कुरुते । अवगणयतीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इति हेतोः किमु । इति किम् । त्रिजगति त्रैलो-
क्येऽपि । त्रिभुवनजनानामित्यर्थः । ऐहिका इहलोकसबन्धिनी आमुष्मिकाः परलोकस-
बन्धिनी हृदभिलषिता हृदयेन मनसा कामिता सिद्धीर्ददतो यच्छतो मे मम पुरोऽग्रे
भो कल्पवृक्षा यूय के वराका आध्वे वर्तध्वे । अकिञ्चित्करत्वेन न केऽपीत्यर्थः ॥

यस्मिन्नित्थमशापि पात्रसलिलक्षेपात्क्रुधा साधुना

काकः कोऽपि कदापि मास्त्वह नगे जातप्रवेशः क्वचित् ।

मातङ्गो महतामिवौकसि ततस्तत्राप्यभूदक्षयं

स्थाने तद्वचसाम्बु पद्मनदवद्विश्वैकमाहात्म्यभृत् ॥ १२८ ॥

यस्मिन्नगे विमलाद्रौ पात्रान्नालिकेरामत्रात् 'उलषो' इति प्रसिद्धात्सलिलस्य ज-
लस्य क्षेपात्क्षेपणाल्लोकोक्त्या ढोलणात् क्रुधा कोपेन केनापि अनिर्दिष्टनाम्ना साधुना
मुनिना कोऽपि स्वपात्रपानीयक्षेपक काक इत्थममुना प्रकारेणाशापि शप्त । इत्थं कथम् ।
यदिह नगे अस्मिन् शत्रुजये क्वचित्कुत्रापि शैलसबन्धिनि प्रदेशे स्थानके कदापि कस्मिन्नपि
प्रस्तावे कोऽपि कश्चिदपि त्वजातीय काको वायसो जातो भूत प्रवेश समागमो यस्य
तादृशो मा भूत् मास्ताम् । कोऽपि काको मात्रागच्छत्वित्यर्थः । क इव । मातङ्ग इव ।
यथा चाण्डालो महतामुत्तमजातीयानामौकसि गृहे जातप्रवेशो भवेत् । ततः शापदाना-
नन्तरं मध्यदिनदिनकरप्रसरत्करनिकरप्रबलतापोद्भूतप्रभूततृषाशुष्यन्मुखोष्ठतालुरसना-
त्याकुलबालवृद्धादिसघजनात्यर्थाभ्यर्थनोत्पन्नानुकम्पाद्भीभवन्मनस्तया तद्वचसा तस्यैव
साधोगिरा तत्रापि स्थाने तस्मिन्नेव पानीयक्षेपणप्रदेशे तीर्थातिशयप्रकटनार्थमक्षयं न
विद्यते क्षयो रिक्तीभावो यस्य तादृशमम्बु पानीयमभूत् जातः । अमुनाप्यक्षीणमेव
वारि वर्तते । 'उलखाक्षोल' इति नाम्ना प्रसिद्धमास्ते । क्वचित् अक्षीणम् । पद्मन-
दवत् । यथा पद्महृदे अक्षयमम्बु वर्तते । किभूतमम्बु । विश्वे त्रैलोक्येऽप्येकमद्वैत मा-
हात्म्यं महिमानं विभर्तीति ॥

महीपालभूभृन्मुखाणामिवैतन्नृणा कुष्टकष्टादिनिर्घातनिष्णम् ।

मरुल्लोलकल्लोललीलायमानारविन्दव्रजं सूर्यकुण्डं विभाति ॥ १२९ ॥

एतत्प्रत्यक्ष पार्श्ववर्ति सूर्यकुण्ड विभाति । किभूतम् । मरुता वायुवेगेन लोला-
श्चञ्चलीभूता ये कल्लोलास्तरङ्गास्तेषु लीलायमानो लीलया आचरन् अरविन्दाना कम-
लाना व्रजो यत्र । पुन किभूतम् । नृणा सर्वजनाना कुष्टान्यष्टादशजातीयमहारोगविशे-
षास्तेषा कष्टानि अङ्गादिगलनादिकृच्छ्राणि तान्यादौ प्रथम येषा तादृशानि शोकापत्प्रमु-
खदु खानि तेषा निर्घातो मूलोच्छेदन तत्र निष्ण निपुणम् । केषामिव । महीपालभूभृत्प्र-
मुखाणामिव । यथा साधिताप्रतिहतखङ्गायनेकविद्यासिद्धस्य स्वयवरपरिणीतगुणसुन्दरी-
भर्तु रोगाकुल्येऽपि विजितप्रतिपक्षक्षमाभृलक्षस्य महीपालनाम्नो राज्ञ कुष्टकष्टनि-
र्भेदकमासीत्तथा परेषामपीति बोध्यम् । महीपालकथा तु शत्रुजयमाहात्म्येऽस्तीति ॥

पुण्डरीकाचलोर्वीव महिमैकनिकेतनम् ।

राजादनी विभात्येषा मुषिताशेषकल्मषा ॥ १३० ॥

एषा प्रत्यक्षलक्ष्या राजादनी क्षारिका 'रायणि' इति प्रसिद्धा विभाति । कि-
भूता । मुषितानि मूलादुच्छिन्नानि अशेषाणि समस्तानि कल्मषाणि पापानि यया ।
पुनः किभूता । महिम्ना माहात्म्यानामेकमद्वैत निकेतनम् । केव । पुण्डरीकाचलस्य
शत्रुजयाद्रेरुर्वी भूमीव ॥

ऐहिकामुष्मिकानल्पसंकल्पितान्यङ्गभाजां सृजन्ती त्रिलोकीभुवाम् ।

वेधसा स्वर्गिणा गौरपूर्वेव या निर्मिता राजते यत्र राजादनी ॥ १३१ ॥

यत्र शत्रुजये राजादनी राजते । उत्प्रेक्ष्यते—या राजादनी वेधसा सृष्टिकर्त्री अ-
पूर्वान्याभ्य. कामवेनुभ्यो लक्षणैरसाधारणा गौर्धेनु कामदुघा निर्मिता निष्पादिता ।
कि कुर्वती । त्रिलोकीभुवा जगत्रितयजन्मना अङ्गभाजा देहभाजा सुरासुरनराणा प्रा-
णिनामैहिकानि इहलोकभवानि रोगापनयनसपत्करणादिमानि आमुष्मिकाणि परलोकभ-
वानि स्वर्गापवर्गादिकानि यान्यनल्पानि भूयासि । समस्तानीत्यर्थ । संकल्पितानि मन-
कामितानि । मनोरथानित्यर्थ । सृजन्ती कुर्वन्ती । संपूरयन्तीत्यर्थ ॥

वर्षत्यसौ शिरसि संघपतेः पयोभि-

जम्भारिराजिरिव जन्ममहे जिनेन्दोः ।

मुक्त्यङ्गना पुनरियं वयसीव रङ्गा-

त्पुंसानुषङ्गयति संगमकामुकेन ॥ १३२ ॥

असौ राजादनी संघपते संघनायकस्य 'संघवी' इति लोकप्रसिद्धस्य शिरसि मस्तके
क्षीरवत्त्वेन पयोभि क्षीरैर्वर्षति । जम्भारिराजिरिव । यथा जन्ममहे जननमहोत्सवे

जम्भारीणामिन्द्राणा राजि श्रेणी जिनेन्दो जिनचन्द्रस्य उत्तमाङ्गोपरि एककोटिषष्टि-
लक्षप्रमितपञ्चविंशयोजनोत्तुङ्गद्वादशयोजनपृथुलकलशयोजनोन्मितनालनिर्मुक्तविविधती-
र्थोदकैर्वर्षति । पुनरिय राजादनी सगमकामुकेन मिलनाभिलाषुकेण पुसा पुरुषेण
सार्धं मुक्त्यङ्गना सिद्धवधून्नुषङ्गयति सगम कारयति । केव । वयसीव । यथा प्रियसखी
सगम कर्तुं काङ्क्षता मनोभिलषितेन केनचित्तरुणेन सम तत्तरुणाङ्गसगमकृते सुचिरमु-
त्कण्ठिता स्वा सखीमनुषङ्गयति मेलयति ॥

संप्राप्तः पूर्ववारान्नवनवतिमितानादिदेवस्तलेऽस्या-

स्तत्राचवार्चनीयास्त्यसुरनरमरुत्पुंगवैः पादुकास्य ।

अश्यत्पर्णादिचूर्णैर्भुवनतनुभृता भूतवेतालरक्षो-

यक्षाद्याशेषदोषानपहरति पुनर्या च रोगान्सुधेव ॥ १३३ ॥

अस्या राजादन्यास्तले अध प्रदेशे मूलपार्श्वे छायाया वा नवनवत्या मितानेकोनश-
तप्रमाणीकृतान् पूर्ववारान् पूर्वाणा वर्षवासरसख्याका वेला आदिदेवो वृषभस्वामी
संप्राप्त समवसृत । यदुक्तम्—‘नवनवतिपूर्ववारान् यस्मिन् समवसरद्युगादिजिनः ।
राजादनीतरुतले विमिलगिरिरय जयति तीर्थम् ॥’ इति पूर्वाचार्यप्रणीतस्तवे । पुनस्तत्र
राजादन्यास्तले अर्चैव अर्हत्प्रतिमेव । अर्चाशब्देन पूर्वसूरिभि प्रतिमा प्रोक्तास्ति ।
यथा—‘अवनितलगताना कृत्रिमाकृत्रिमाणा वरभवनगताना दिव्यवैमानिकानाम् । इह
मनुजकृताना देवराजार्चिताना जिनवरभवनाना भावतोऽर्चा नमामि ॥’ इति । अस्या-
दिदेवस्य पादुका पदप्रतिमा । पदद्वन्द्वप्रतिकृतिरित्यर्थः । अस्ति वर्तते । किंभूता । अ-
सुरा दानवा नरा मानवास्तथा मरुतो देवास्तेषां पुगवै प्रयानैरिन्द्रादिभिरर्चनीया
पूजयितु योग्या पूजिता च । पुनर्भ्रश्यता स्वयं निपतता भूपीठे वातादिना न तु क-
राकर्षणादिना पर्णादीना पल्लवपुष्पपत्रकलिकाफलशाखाछल्लिप्रमुखाणां चूर्णैः क्षोदैः
कृत्वा भुवनतनुभृता जगज्जनाना भूतवेताला देवविशेषा रक्षांसि रात्रिचरा मनुष्या
सिद्धराक्षसादिविद्या देवजातीया वा इति द्विधा यक्षा वटवासिनस्ते आद्या प्रथमा
येषां ते पिशाचप्रेतव्यन्तरयोगिनीशाकिन्यादयस्तेषामशेषा समस्ता दोषा उपद्रवास्तान्
या अपहरति निर्णाशयति । च पुनर्या रोगान् समस्तानप्यामयानपाकरोति । केव ।
सुधेव । यथा पीयूषं देवभोज्यं पीतं सन्नि शेषान् गदानपनयति ॥

श्रीवाचयमपञ्चकोटिकलितः श्रीपुण्डरीको गणी

चैत्र्यामत्र दिने महीमिव जयी सिद्धिं मुदासाधयत् ।

यत्किंचित्क्रियते जनैरिह नगे दानोपवासादिकं

तत्स्यात्तेन दिनेऽत्र कोटिगुणितं दानं सुपात्रे यथा ॥ १३४ ॥

श्रीभिर्ज्ञानदर्शनचारित्रलक्ष्मीभिर्वृता वाचयमा महामुनयस्तेषां पञ्चसख्याकाभिः को-

टिभिः शतलक्षाभिः कलित सहित । तथा कोटिशब्दो द्वयः स्त्रीलिङ्गवाचिवदाकारान्तः । यदुक्तम्—‘कियती पञ्चसहस्री कियती लक्षा च कोटिरपि कीयती । औदार्योन्नतमनसा रत्नवती वसुमती कियती ॥’ इति सूक्ते लक्षाशब्दः । तथा लिङ्गानुशासने—‘मानो लक्ष माने वाच्य लक्षशब्दः स्त्रीलिङ्गवलिङ्गयो लक्ष लक्षा च’ इति लिङ्गानुशासने । श्रिया प्रथमचक्रिप्रथमपुत्रप्रथमतीर्थकृत्प्रथमगणभृलक्ष्म्या युत पुण्डरीकनामा गणी श्रीऋषभदेवचतुरशीतिगणभृत्सुमुख्यो गणवरः अत्र शत्रुजयाद्रौ चैत्र्याम् । चैत्रेण मासेन युक्ता पौर्णमासी चैत्रीत्युच्यते । चैत्रपौर्णमास्यामित्यर्थः । मुदा अनन्तानन्दसदोहमेदुरतया मोक्षमसाधयत्साधयामास । मुक्तिं जगामेत्यर्थः । क इव । जयीव । यथा जयनशीलो राजा प्रमोदेन महीमासमुद्रान्तमेदिनीं सावयति । तत इह नगे श्रीशत्रुजयपर्वते यत्किञ्चिद्दानोपवासादिकमत्र दिने अस्या चैत्र्या पूर्णिमाया जनैर्भविक्लोकैः क्रियते विधीयते । तत्साधुसाध्वीविश्राणनोपवसनादिकमत्र चैत्रपूर्णिमावासरे एकस्मिन्नेवाहनि पञ्चकोटिमुनीनां मुक्तिगमनकारणेन कोटिभिः शतलक्षाभिः गुण्यते इति कोटिगुणित स्यात् । किमिव । दानमिव । यथा सुपात्रे दानं कोटिगुणं भवेत् । यदुक्तम्—‘दानपात्रमधमर्णमिहैकग्राहिकोऽटिगुणितं दिवि दायि’ इति नैषधे ॥

शाश्वताद्रिरिवानन्तसमयस्थायुकोऽस्त्ययम् ।

कालक्रमात्पुनर्धत्ते शशीवोपचयक्षयौ ॥ १३५ ॥

अयं शत्रुजयाद्रिर्न विद्यते कदाप्यन्तोऽवसानं यस्य तावन्तं समयं कालं यावत्तिष्ठतीत्येवशीलं स्थायुकं । क इव । शाश्वताद्रिरिव । यथा अनश्वरो मेरुप्रमुखशैलः । जातिवाचित्वादेकवचनम् । अनन्तं कालं यावत्स्थानुरास्ते । परमस्मिन् शत्रुजये एकोऽयं विशेषः । कालक्रमादुत्सर्पिण्यवसर्पिणी समयपरिपाट्या उपचयक्षयौ वृद्धिक्षीणभावौ असौ धत्ते । क इव । शशीव । यथा चन्द्रः शुक्लकृष्णपक्षक्रमादुपचयक्षीणते धत्ते । यथा शशी शुक्ले पक्षे वर्धते कृष्णे च हीयते, तथा शत्रुजयोऽप्युत्सर्पिण्या वृद्धिं भजते अवसर्पिण्या क्षणं क्षयमयते । किं च यथा कलावान्कलामात्रमेवावशिष्यते तथा विमलाद्रिरपि सप्तहस्तप्रमाणो मुण्डकमानोऽवशिष्यते ॥

तालध्वजदङ्काभिधकदम्बलौहित्यरैवताद्यचलाः ।

विलसन्महिमानोऽमी यत्प्रतिकाया इवाभान्ति ॥ १३६ ॥

अमी प्रत्यक्षा सनिवौ निरीक्ष्यमाणा तालध्वजः, तथा दङ्क इत्यभिधा ययोस्तौ ‘तस्ताङ्गो ढको’ इति नाम्ना प्रसिद्धौ, तथा कदम्बः, तथा लौहित्यः, तथा रैवत्यः उज्जयन्तः कोलम्बो लोहिचो गिरिनारि इति नाम्ना लोकप्रसिद्धाः । एते पञ्चापि पर्वता आदौ कृत्वा येषां ते अचला ‘ढुक’ इति ख्याता पर्वता यत्प्रतिकाया यस्य शत्रुजयाद्रेः प्रतिबिम्बानीवाभान्ति आ सामस्त्येन शोभन्ते । किमूता । विलसन् त्रैलोक्ये स्फूर्तिमत्ता कलयन् महिमा माहात्म्यं येषामेते पञ्चापि गिरयः शत्रुजयाद्रेर्मुख्यशिखराणि विमलाचलतुल्यमाहात्म्यानि सन्ति ॥

माहात्म्यमेतस्य समग्रमेकैकस्यापि शृङ्गस्य कदापि वक्तुम् ।

प्रभुर्भवेत्कोऽपि तदाप्त एव तरीतुमब्धेरिव वारि पोतः ॥ १३७ ॥

एतस्य शत्रुजयस्य एकैकस्यापि शृङ्गस्य शिखरस्य समग्र समस्त माहात्म्य महिमान् वक्तुं कथयितुं यदि चेत्कदापि कस्मिन्नपि समये कोऽपि पुमान् प्रभु समर्थो भवेत्तदा स आप्त सर्वज्ञ एव नान्य सर्वज्ञ विना अस्य महिमान् भाषितुं कोऽपि नालम् । क इव । पोत इव । यथा अब्धेर्महार्णवस्य वारि पानीयं यदि कदाचित्कोऽपि तरीतुमलं तदा स पोतो यानपात्रमेव न तारकादि ॥

तदत्र प्राप्यतेऽनल्पं यद्वस्तु कापि नाप्यते ।

मेरौ न सन्त्यदभ्राः किं दुःप्रापाः स्वर्द्धुमा मरौ ॥ १३८ ॥

अत्र शत्रुजये तत्तत्प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा निविदर्शनकृतरजतकनककारिचित्रकमोहनवल्लीप्रमुखानेकौषधीरसकूपिकास्वर्णरत्नाकरादिकमनल्पं बहु । पदे पदे इत्यर्थः । वस्तु प्राप्यते लभ्यते भाग्यवद्भिः । अथ वा अत्र गिरौ बालवृद्धैरपि सिद्धिरासाद्यते । यदुक्तम्—‘सर्वेषामपि शैलानामुन्नतो विमलाचलः । यदारोहेण लोकाग्रं प्राप्यते बालकैरपि ॥’ इति पूर्वसूरिस्तवे । तत्किम् । यद्वस्तु अन्यत्रान्यस्मिन् स्थाने महायासोऽपि कापि कुत्रापि नाप्यते न लभ्यते । युक्तोऽयमर्थः—ये स्वर्द्धुमा कल्पवृक्षा मरौ मरुस्थल्या दुःप्रापाः । यदुक्तम्—‘पातु वाञ्छति चातकस्य रुदतो नेत्राम्बु यत्राम्बुदाश्रयामिच्छति निश्छदक्षितिरुहः प्रत्याशया वावताम् । अन्तर्गूढजलाशया श्रमजल नेतुं नदी काहति प्राप्तास्त मरुनीवृत वयमितो दूरेण वाराणसीम् ॥’ इति मरुमण्डललक्षणम् । तत्र ये दुर्लभास्ते कल्पशाखिनो मेरौ सुवर्णाचले अदभ्रा गणनातीताः किं न सन्ति न विद्यन्ते अपि त्वसख्या आसते ॥

षष्ठैः सप्तभिरष्टमाष्टमयुतैर्यस्मिन्कृतैर्निर्जलै-

स्तार्तीयिकतया मिते किल भवे प्राप्नोति सिद्धिं सुधीः ।

यस्मिन्नार्थभिकारिता मणिमयी मूर्ति जिनेन्दोर्नम-

स्कुर्वन्स्वर्णगुहागतामपि भवेदेकावतारी भवे ॥ १३९ ॥

किलेति पूर्वाचार्यपरम्परया श्रूयते बृहद्ग्रन्थेषु च दृश्यते । यस्मिन् शत्रुजये तृतीय एव तार्तीयिकः । ‘तीयादीकण् स्वार्थे वा वक्तव्यः’ । तस्य भावस्तार्तीयिकता तथा तार्तीयिकतया । यदुक्तम्—‘तार्तीयिकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महाकाव्ये चारुणि नैषवीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः’ इति नैषधे । मिते प्रमाणीकृते भवे जन्मनि सुधीर्वीमान् सिद्धिं मोक्षं प्राप्नोति । कैः । षष्ठैरुपवासद्वयमानैः ‘छठ्’ इति लोकप्रसिद्धैः । किभूतैः । सप्तभिः सप्तसख्याकैः मार्तण्डतुरगप्रमाणैः । पुनः किभूतैः । अष्टमेन अष्टमनाम्ना उपोषणत्रिकेण ‘अष्टम’संज्ञेन प्रसिद्धेन युतैः सहितैः । पुनः किभूतैः ।

कृतैर्विहितैः । कीदृशैः कृतैः । निर्जलैः पानीयरहितैः चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानरूपैः ।
अत्र ये निर्जलान् सप्तषष्ठानष्टम चाष्टम कुर्वन्तीति ते तृतीये भवे मोक्ष यान्तीत्यर्थः ।
अपि पुनर्यस्मिन् शत्रुजये आर्षभिणा ऋषभस्यापत्यमार्षभिर्भरतचक्रवर्ती तेन कारिता
वार्धकिना निर्मापिता जिनेन्दो स्वतातस्य ऋषभदेवस्यैव मूर्तिं प्रतिमा नमस्कुर्वन्
प्रत्यक्षलक्ष्यीकृत्य प्रणमन् सन् भवे ससारे एक एव नापरोऽवतारो जन्म अस्या-
स्तीति एकावतारी भवेत्स्यात् । मूर्तिं किभूताम् । मणिमयीं रत्नस्वरूपाम् । पुनः किं-
भूताम् । स्वर्णगुहागताम् ऋषभशिखरात्पश्चिमप्रदेशे स्वर्णनाम्न्या गुहाया कदराया गता
प्राप्ताम् । आगमिष्यन्मन्दकालवशाल्लोलुपलोककृताशातनाभयादिन्द्रवचसा सगरचक्रिणा
स्वर्णगुहाया स्वयं गुप्तीकृत्य स्थापितामित्यर्थः ॥

अत्रानन्तजिना अनन्तमुनिभिः सिद्धा विशुद्धाशया

ध्यानैर्वह्निभिरिन्धनप्रकरवन्निर्दह्य कर्मव्रजम् ।

सिद्धक्षेत्रमतो निगद्यत इदं चेदीहते मानसं

सिद्धिं वस्तदिह स्वयं वसति सा सत्संगमाकाङ्क्षिणी ॥ १४० ॥

अत्र शत्रुजये शैले न विद्यतेऽन्तोऽवसान येषां तादृशैर्मुनिभिः साधुभिः सार्वम-
नन्ता प्रान्तातीता कालस्यानन्याजिनास्तीर्थकरा सिद्धा मोक्षप्राप्ता । किभूता ।
विशुद्धो निर्मल आशयोऽध्यवसाय परिणामो येषां ते । किं कृत्वा । निर्दह्य नितरा
ज्वालयित्वा । कम् । कर्मणा ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय-अन्तराय-वेदनीय-
नाम-गोत्र-आयु-प्रमुखानामनेकजातीयानां प्राचीनाचीर्णशुभाशुभपरिणतीनां व्रज स-
मूहम् । कैः । ध्यानैः धर्मशुक्लप्रणिवानैः कृत्वा । किवत् । इन्धनप्रकरवत् । यथा वह्नि-
भिर्हुताशनैः काष्ठकलापो निर्दह्यते । अतः अनन्तानन्तभेदभिन्ना नगरे गणपरिकलि-
ततीर्थकृता सिद्धिगमनकारणादिदमपि तीर्थं सिद्धक्षेत्रं निगद्यते कथ्यते । ततो भो
भव्या, चेद्यदि वो युष्माकं मानसं मनः सिद्धिं समीहते, तत्तर्हि सा सिद्धिः स्वयमात्म-
नैव इह शत्रुजये वसति वासं विवर्त्ते । किभूता सा । सद्भिरुत्तमैः समं सगमं सयोगमा
सामस्येन काङ्क्षतीत्येवशीला ॥ इति शत्रुजयाद्रिमाहात्म्यवर्णनम् ॥

इत्यद्वैतप्रभावं विमलशिखरिणो भाषमाणो विशिष्य

श्रीमत्प्राचीनसूरीश्वर इव भगवानङ्गभाजा समाजे ।

सिद्धक्षेत्रेऽवतस्थे कतिचन दिवसान्किं न सिद्धो भविष्युः

स्वेन श्रीतीर्थभर्तुः पदपरिचरणानन्दसान्द्रो मुनीन्द्रः ॥ १४१ ॥

मुनीन्द्रो हीरविजयसूरिः कतिचन कियत्सख्याकान् दिवसान् यावत्सिद्धक्षेत्रे श्रीश-
त्रुजयशैलोपरि विमलगिरिम् । ‘उत्तिनिलउ सित्तुजो सिद्धखित्तपुडरीउ’ इति शत्रुजय-
कल्पेऽभिधानानि । अवतस्थे अवस्थितिं कृतवान् । वार्धकात्पुनः पुनश्चदितुमुत्तरीतु

शक्यभावात्तदधित्यकायामेव तस्थिवानित्यर्थ । उत्प्रेक्ष्यते—स्वेनात्मनापि सिद्धान् क्षेत्रत्वेन सिद्धो मुक्तात्मा भविष्णुर्न भवनशीलेन अपि तु काकूत्तया सिद्धो भवितैव अथ वा विद्यामन्त्रतन्त्रौषधीविविधसिद्धिभिः कृत्वा सिद्धपुरुषो बुभूषुर्न अपि तु सर्वसिद्धिमान् भवितुमिच्छुरेव । यद्यपि विद्यामन्त्रादीनां साधूनां प्रयोजनं नास्ति, तथापि कदाचिदपि समयानुसारेण प्रयोजनमपि भवेत् । अथ वा पूर्वादिषु सर्वस्यापि सद्भावात् ज्ञेयस्वरूपमपि सर्वं भवेत् । किलक्षणो मुनीन्द्र । श्रीभिस्त्रैलोक्यैश्चर्यलक्ष्मीभिः कलितस्य तीर्थभर्तुः ऋषभदेवस्य पदयोश्चरणयोः परिचरणा उपासना तथा हेतुभूतया च आनन्दः परमाह्लादस्तेन सान्द्रो मेदुर । स्निग्ध इत्यर्थः । किंभूतं पुनः । भगवान् जगत्पूज्यः । पुनः किं कुर्वाणः । श्रीमान् सातिशयज्ञानाश्चर्यकृल्लब्धिलक्ष्मीयुतः प्राचीनः प्राक्तनः सूरेश्वर इवाङ्गभाजा यात्रिकजनानां समाजे सभाया विमलशिखरिणः पुण्डरीकाद्रेरिति पूर्वव्यावर्णितप्रकारेण प्रभावमहिमानं विशिष्य विशेषप्रकारेण भाषमाणः प्रकाशयन् ॥

यं प्रासूत शिवाहसाधुमधवा सौभाग्यदेवी च यं
श्रीमत्कोविदसिहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्भास्वीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते हीरयु-

क्सौभाग्याभिधहीरसूरिचरिते सर्गोऽभवत्षोडशः ॥ १४२ ॥

पण्डितदेवविमलगणिविरचिते हीरसौभाग्यनाम्नि महाकाव्ये षोडशानां सख्यापूरणं द्विरष्टसख्यं सर्गोऽविकारविशेषः अभवत्सजातः ॥

इति पण्डितसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायाः स्वोपज्ञहीरसौभाग्यनाममहाकाव्यवृत्तौ सधागमनचैत्यपरिपाटीपूर्वकयात्राकरणप्रासादादिवर्णनशत्रुजयमाहात्म्यप्रकाशनो नाम षोडशः सर्गः ।

सप्तदशः सर्गः ।

अथ व्रतीन्द्रोऽभ्युदयं दधाने बिम्बे नभस्यम्बुजबान्धवस्य ।

मूर्ध्ना धृते पूर्वदिशेव भद्रकुम्भे स नाभेयजिनः ननाम ॥ १ ॥

अयं शत्रुजये यात्रा कृत्वा कतिचिद्दिनान्यधित्यकायामेव स्थितेरनन्तरं सोऽकञ्चरसाहिमाननीयो व्रतीन्द्रो हीरविजयसूरिः कदाचित्कस्मिन्नपि दिवसे गिरेरुत्तितीर्षु नाभेयजिनं श्रीऋषभतीर्थनाथं ननाम प्रणमति स्म । कस्मिन् सति । नभसि गगनमण्डले अम्बुजबान्धवस्य सूर्यस्य बिम्बे मण्डले अभ्युदयः समुखाद्गमनं दधाने बिभ्राणे सति । प्रातः काले सूर्योऽभ्युदिते सतीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—पूर्वदिशा प्राचीहरिता स्वमस्तकेन कृत्वा धृते अविरूपिते भद्रकुम्भे मङ्गलकलशे इव ॥

अन्याननन्यां मुदमादधानः पुनर्व्यनसीत्स जिनावनीन्द्रान् ।

शत्रुजयाद्रेरिव भूषणेषु शेषेषु चैत्येषु हिरण्मयेषु ॥ २ ॥

पुनरित्यपरार्थे । यथा ऋषभदेव प्रणतवास्तथैव अन्यानपरानपि जिनावनीन्द्रानर्ह-
द्भट्टारकान् स सूरिव्यनसीत् विशेषेण नमस्यति स्म । स किं कुर्वाण । अनन्या न
विद्यते अन्या अधिका अपरा अस्या सकाशादित्यनन्यामसाधारणीं मुद प्रीति प्रह्ला-
दमादधानः कुर्वाण । अथ वा आ सामस्येन मनोवाक्कायैर्दधानो विभ्राण । क्वचिच्च
कुमारसभवादिषु धरणार्थेऽप्यादधान इति दृश्यते । केषु । जिनराजान् व्यनसीत् । शेषेषु
मूलचैत्यव्यतिरिक्तावशिष्टेषु चैत्येषु प्रासादेषु । किभूतेषु चैत्येषु । हिरण्मयेषु काञ्चनर-
चितेषु । उत्प्रेक्ष्यते—शत्रुजयाद्रेर्विमलाचलस्य भूषणेष्विव सुवर्णवर्णाभरणेष्विव ॥

शत्रुजयोर्वीधरसार्वभौममौलेर्दधानो विशदाशयत्वम् ।

अवातरन्निर्जरनिर्झरिण्या इव प्रवाहो मिहिकाद्रिशृङ्गात् ॥ ३ ॥

स सूरि शत्रुजयनाम्न उर्वीवराणा सर्वपर्वताना सार्वभौमस्य चक्रवर्तिन मौलेर्म-
स्तकात् । अवित्यक्ताया सर्वोपरितनशिखरादित्यर्थः । अवातरत् उत्तरति स्म । क इव ।
प्रवाह इव । यथा निर्जराणा देवाना निर्झरिण्या नद्या गङ्गाया प्रवाह पयोधारा मिहि-
काद्रिशृङ्गात् तुहिनाचलशिखरात् हिममहीधरशृङ्गादवतरति । किभूत स प्रवाहश्च ।
विशद विमल निष्पापमुज्ज्वल च आशय मनोमध्य च दधानो विभ्राण । हिमा-
द्रिरप्यचलचक्री ॥

अलंकरोति स्म स पादलिप्तपुरं पुरध्रीगणगीयमानः ।

सहस्ररश्मेरिव रश्मिराशिरुदीयमानद्विजराजबिम्बम् ॥ ४ ॥

स हीरसूरि पादलिप्तपुरं कथचिद्गुरुवचनत श्रावकीभवनानन्तरमवाप्तगगनाङ्गणवि-
चरणप्रवणशक्तिप्रदायिपादलेपोऽष्टोत्तरशतभेषजसतुष्टचेतसा वसृतयारावितनागेन्द्रवि-
श्राणितवरप्रसादाविगतसततानेकजातीयौषधीसदोहमाहात्म्येन सिद्धसहस्रलक्षकोटिवेदि-
स्वर्णरसेन नागार्जुनयागिना उदयदतिभक्तिशक्तिवशवदीभवन्मानसेन स्वपादलिप्तगु-
रोर्नाम्ना वासित पादलिप्ताभिधान नगरम् अयुना तु 'पालीताणु' इति लोके प्रसि-
द्धम् अलंकरोति स्म भूषयामास । किभूतम् । पुरध्रीणा विविधजनपदागताना मृगाक्षी-
णाम् । पुरंध्रीशब्दो ह्रस्वो दीर्घोऽप्यस्ति । यथा नैषधे—'अखिलपुरपुरद्रीनेत्रनीलोत्प-
लानि' इति । गणैर्वृन्दैर्गायमान गानगोचरीक्रियमाण । क इव । रश्मिराशिरिव । यथा
सहस्ररश्मेर्दिनकरस्य किरणनिकर उदीयमानमभ्युदय गच्छत् द्विजराजबिम्ब चन्द्र-
मण्डलमलकुरुते । सहस्रकिरणात्किरणगणमादाय चन्द्रोऽभ्युदयतीति कविसमय ।
'पुपोष वृद्धि हरिदश्वदीवितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा' इति रघुवशे ॥

स प्रार्थितो द्वीपजनव्रजेन स्वपत्तनं पावयितुं व्रतीन्द्रः ।

चित्रादिना सारथिनेव केशी वशीशिता श्वेतविकाभिधानम् ॥ ५ ॥

स व्रतीन्द्रो हीरसूरिः द्वीपजनव्रजेन द्वीपबन्दिरसत्कसंघलोकनिकरेण स्वपत्तन सामान्यतो नगराभिधान पत्तनम् । यथा हैम्या समुदितान्येव नगरनामानि—‘नगरी पू पुरीद्रङ्ग पत्तन पुटभेदनम्’ इति । विशेषतस्तु ‘पत्तन रत्नयोनि’ इति द्वीपाभिधान निजनगर पावयितु पवित्रीकारयितु प्रार्थितो याचितः । आगृहीत इत्यर्थः । क इव । केशीव । यथा चित्रमिति पदमादौ धुरि यस्य तेन चित्रादिना सारथिना श्रावस्त्या नगर्या राजकार्यार्थं गतेन तस्यैवोपदेशात् श्राद्धीभूतेन चित्रसारथिना केशीनामा वशी- शिता मुनीन्द्रो गणधरः श्वेतविका इत्यभिधान नाम यस्य तादृश स्वपत्तन पावयितु पावन निर्मापयितु प्रार्थितः । आगृहीत इत्यर्थः ॥

निश्चिक्व चित्तेऽजयपार्श्वभर्तुर्यात्रां स शत्रुजयवद्भतीन्द्रः ।

कथंचिदप्याग्रहमस्य मेने सेनेशवत्सोऽपि ततः प्रतस्थे ॥ ६ ॥

स यतीन्द्रो हीरसूरिः कथंचिन्महता कष्टेन अस्य द्वीपबन्दिरस्य सघस्याग्रह मेने मानयति स्म । किं कृत्वा । अजयनाम्ना दशरथनृपित्रा राज्ञा स्थापितस्याजयनाम्ना अबुना ‘अज्ञारा’ इति प्रसिद्धस्य पार्श्वभर्तुः श्रीपार्श्वनाथस्य यात्रा प्रणमन चित्ते स्वमनसि निश्चिक्व अवश्य मया अजयपार्श्वनाथयात्रा कार्येति निश्चय कृत्वा । किंवत् । शत्रुजयवत् । यथा मया शत्रुजययात्रा कृता, तथा अज्ञारापार्श्वनाथस्य मया यात्रा कर्तव्येति विशेषः । अपि पुनः स सूरिरपि सेनेशवत्सेनापतिरिव राजेव वा ततः पादलिप्तपुरात्प्रतस्थे द्वीपबन्दिर प्रति प्रचलति स्म ॥ इति पादलिप्तपुरात् द्वीपबन्दिर प्रति प्रस्थानम् ॥

तत्प्रक्रमोपस्थितयात्रिकाणां तदावलीभिर्ववले गिरीन्द्रात् ।

अम्भोधिवेलाभिरिवोपकण्ठगिरेर्गभीरारवबन्धुराभिः ॥ ७ ॥

स चासौ प्रक्रमश्च प्रस्तावस्तत्प्रक्रमः शत्रुजयाद्रियात्राकरणसमयः । ‘वेला वाराववसर प्रस्ताव प्रक्रमान्तरम्’ इति हैम्याम् । तत्रोपस्थितानामागतानाम् । ‘उपस्थिता शोणितपारणा मे’ इति रघौ । तथा ‘आगमने गमनार्थां समभ्युपाङ्म्य परा कथिता । आपतति चोपतिष्ठत्युपनमति तथोपसीदति च ॥’ इति क्रियाकलापे । यात्रिकाणां शत्रुजययात्राकारकाणामावलीभिः श्रेणीभिस्तदा हीरसूरेद्वीपबन्दिर प्रति प्रस्थानावसरे गिरीन्द्राद्विमलाचलाद्ववले पश्चाद्वाघुटितम् । स्वस्वपुर प्रति प्रस्थितमित्यर्थः । काभिरिव । अम्भोधिवेलाभिरिव । यथा समुद्रस्य प्रवृद्धपय कल्लोलमालाभिरुपकण्ठगिरेः समीपपर्वतात्पश्चाद्वलित्वा गम्यते । किंभूतः । गभीरैर्मधुरैरारवैस्तरङ्गध्वनितैर्बन्धुराभिर्मनोज्ञाभिः यात्रिकश्रेणिभिरपि श्रीशत्रुजयाद्रिहीरसूरिमहिमगुणप्रशंसासस्तवनादिगम्भीरनिनादैरभिरामाभिः ॥

मुहुः प्रसर्पन्पथि कण्ठपीठं विभुज्य पारीन्द्र इवालुलोके ।

उवाह सौहित्यमसौ न दर्श दर्श पुनः सिद्धधराधरं तम् ॥ ८ ॥

असौ सूरि पथि श्रीशत्रुजयशैलसबन्धिवर्तिमार्गे प्रसर्पन् प्रचलन् मुहुर्वारंवार कण्ठपीठ गलकदल विभुज्य वकीकृत्य । 'गिरा विभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम्' इति नैषधे । आलुलोके । अर्थाद्विमलाचल विलोकयति स्म । क इव । पारीन्द्र इव । यथा केसरी अग्रे गच्छन् मुहुः पश्चात्कण्ठ वलयित्वा विलोकते । पुनरन्यार्थे असौ सूरिस्तत्रैवा लोक्येऽप्यद्वैततीर्थतया प्रख्यात पूर्वव्यावर्णित वा सिद्धधराधर शत्रुजयाद्रि दर्श दर्श पुनः पुनर्दृष्ट्वा दृष्ट्वा सौहित्य तृप्तिम् । 'तृप्तिः सौहित्यमाघ्राण' इति हैम्याम् । न उवाह न वहते स्म न प्राप । सराग सरणरणक च लोचनाभ्या सादरमवलोकयन्नेव तृप्तिं प्राप्नोति स्म ॥

षड्भि काव्यै क्रियापदेषु सत्स्वपि सूरैर्मानसविकल्पानामेकार्थनिष्ठतया कुलक्रमे-
वावधीयते—

एता धरित्रीं त्रिजगत्पवित्रीकर्त्रीं सवित्रीमिव शर्मदात्रीम् ।

स्वजन्मभूमीमिव भूस्पृशो मे मोक्तुं मनो नोत्सहते कथंचित् ॥ ९ ॥

एता श्रीशत्रुजयसबन्धिनी धरित्री पृथिवी मोक्तुं विहातु मे मम मनो मानस कथ-
चित्केनापि प्रकारेण महता कष्टेन वा नोत्सहते नोत्साहं कुरुते न प्रगल्भते । नोद्यम
निर्मातीत्यर्थः । 'उत्साहं प्रगल्भता । अभियोगोद्यमौ प्रौढि' इति हैम्याम् । इमा भूमी
मोक्तुं न शक्नोमीत्यर्थः । कामिव । स्वजन्मभूमीमिव । यथा भूस्पृशो मनुष्यस्य निजज-
न्मसबन्धिनीमवनी त्यक्तुं चेतो नोद्यच्छते । किभूता धरित्रीम् । त्रिजगता तात्स्थ्यात्त-
द्यपदेशात्रैलोक्यलोकानां पवित्रीकर्त्रीं पावनीकारिकाम् । पुनः किभूताम् । सवित्री जन-
नीमिव । शर्मणा निःशेषसुखानां दात्री दायिकाम् ॥

कदम्बलौहित्यकदङ्कतालध्वजादिकूटैः कटकैरिवैषः ।

सगर्वगन्धर्वगजेन्द्रगर्जैः श्रितोऽस्ति शत्रुजयभूधरेन्द्रः ॥ १० ॥

श्रीशत्रुजयनामा भूधराणां पर्वतानां भूपानामिन्द्र स्वामी त्रिभुवनभवनप्रवर्तमा-
नसमस्तप्रशस्तमहातीर्थाधिराजत्वाच्चक्रवर्तित्वाच्च अस्ति विद्यते । साक्षात्प्रकारेण
दृश्यते इत्यर्थः । किभूतः । सगर्वा अद्वैतगीतकलाभिः पवनातिपातिगतिवेगा-
तिशयवशेन साहकारा गन्धर्वा देवगायना । गन्धर्वजातिदेवविशेषा स्वर्णम-
णिमण्डितशिखरोदारकदरोदरनिषण्णा स्वशशिमुखीसखा हाहादयः पारवासुरा यदु-
णान् गायन्तीत्यर्थः । तथा गन्धर्वा वन्यवाजिनश्च येषु शिखरेषु तथा गजेन्द्रा
गन्धहस्तिनो भद्रादिजातिगजा वा तेषां गर्जा बृहितानि सजलजलदधीरगम्भीरवनयो
येषु तादृशैः कदम्बनामा तथा लौहित्याहस्तथा कदङ्गाख्यस्तथा तालध्वजाभिधाना शै-
लास्ते आदौ प्रथमं येषां तादृशैरष्टोत्तरशतमितैः कूटैः शिखरैः श्रितः सेवितः ।
उत्प्रेक्ष्यते—कटकैः सैन्यैरिव शत्रुजयाभिधानं सार्वभौमोऽपि बलैः कलितो भवेत् ।
सैन्यैरपि साभिमानं तुरङ्गमगजगर्जोर्जितैः भूयते अथ वा कटकैरिवेत्यभिधेयम् ॥

प्रपूज्य पुष्पैः किसलैः फलैश्च यो वृक्षलक्षैः क्षितिभृन्महेन्द्रः ।

उपास्यते त्यक्तुमिवात्मवानस्पत्य गतिं वल्गुमिवाधिगन्तुम् ॥ ११ ॥

यो विमलाभिधान क्षितिभृन्महेन्द्र गिरिराज वृक्षाणा द्रुमाणा लक्षै शतसहस्र-
सख्यै उपास्यते सेव्यते । किं कृत्वा । प्रपूज्य प्रकर्षेण भावशुद्ध्या पूजयित्वा । कै । पुष्पै.
स्वकीयकुसुमै । च पुन कै । किसलै पल्लवै । च पुन फलै आत्मीयशस्यै । स्वजा-
तीयप्रवालपत्रप्रसूनफलैरभ्यर्च्येत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—स्ववानस्पत्य निजा वनस्पतिता
स्वकीयतरुभावम् । काष्ठत्वमिति यावत् । त्यक्तुं विहातुमम् । अथ पुनरुत्प्रेक्ष्यते—वल्गु
मनोहरां स्वर्गादिका गतिमधिगन्तुं प्राप्नुमिव । ‘अधिगत्य जगत्पद्मेश्वरादथ मुक्तिं पुरु-
षोत्तमात्ततः’ इति नैषधे । ‘अधिगत्य प्राप्य’ इति तद्वृत्तौ ॥

एते मिथः प्रीतिपरीतचित्ताः सिंहेभमुख्या अपि मुक्तवैराः ।

तिर्यग्भवेऽपि स्पृहयेव सिद्धेः सिद्धाचलेन्द्रं परिशीलयन्ति ॥ १२ ॥

एते प्रत्यक्षसूरिणा दृग्गोचरीक्रियमाणा सिंहेभमुख्याः केसरिकुञ्जरादिका अर्था-
द्वनजीवा सिद्धाचलेन्द्रं परिशीलयन्ति सेवन्ते शत्रुजयपर्वतपुरदरं तथा सिद्धो मन्त्रत-
न्त्रादिसिद्धिमानचलेन्द्रनामा कोऽपि पुरुषस्तमपि सिद्धयभिलाषुका भजन्ते । किंभूताः ।
मिथः परस्परमाजन्मप्रतिबद्धमपि मुक्तं सर्वथापि मनोवाक्कायैस्त्यक्तं वैरं विरोधो यैः ।
अत एव पुनः किंभूता । मिथोऽन्योन्यं प्रीत्या स्नेहेन परीतं व्याप्तं चित्तं मनो येषाम् ।
सिद्धानां तपस्विनां च प्रभावादिदमपि घटते । यदुक्तम्—‘सिद्धीं सारङ्गशावः स्पृशति
सुतधिया द्वीपिनी तर्णकं गौर्माजरी मूषकार्भं रमयति नकुली व्यालबालं प्रमोदात् ।
मातङ्गी कुञ्जरारिं चटकशिशुमथो पत्रिणीं यत्र सत्त्वा आजन्मद्वेषिणोऽपि प्रदधति
सखिता तीर्थराजप्रभावात् ॥’ इति । उत्प्रेक्ष्यते—तिर्यग्भवेऽपि तिरश्चामप्यवतारं ज-
न्मनि सिद्धेर्मोक्षस्य स्पृहया वाञ्छयेव एवमन्यापि सेवनं सिद्धेः काङ्क्षया ॥

धात्रात्र विश्वाचलचारिमश्रीः पिण्डीकृतैकत्र दिदृक्षतेव ।

इत्यूहमानेन गिरीन्द्रलक्ष्मीं समीक्षमाणेन मुनीश्वरेण ॥ १३ ॥

शत्रुजयोर्वीधरसंनिधाने शत्रुजया शैवलिनी न्यभालि ।

पराहसा स्वमलिनं विभाव्य पुत्रीव जह्मोः पवितुं समेता ॥ १४ ॥

मुनीश्वरेण हीरसूरिणा शत्रुजयोर्वीधरस्य विमलाचलस्य संनिधाने समीपप्रदेशे
शत्रुजया नाम्नी शैवलिनी नदी न्यभालि विलोकिता दृष्टा । उत्प्रेक्ष्यते—पराहसा
समागतापरपापीयोजनसंगमाज्जातपापेन मलिनं पातककलुषीकृतम् । यदुक्तम्—
‘महापातककल्लोकैर्नित्यस्नानविधानतः । मुक्त्वा पापं गतैः स्थानं तदादि मलिनास्म्य-
हम् ॥’ तदुपरि च गङ्गोक्तश्लोकः—‘परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः । गङ्गाप्याह कदा-
भ्येत्यममयं पावयिष्यति ॥’ इति परसमयोक्तानुसारेण परपातकागमनाद्गङ्गाया अपि

मालिन्य प्रसिद्धमास्ते तदुपरीयमुत्प्रेक्षा । स्वमात्मान विभाव्य दृष्ट्वा । ज्ञात्वेत्यर्थः । त
पवितु पवित्रीकर्तुं समागता जहो पुत्री गङ्गेव । 'तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जहुकन्या-
सरयोः' इति रघुवशे । अथ वा 'मलिनीभविष्णु' इति पाठः । तत्र कल्मषेण कलु-
षीभवनशील स्वमात्मीयमात्मान पावनीकर्तुम् । मुनीश्वरेण किं कुर्वाणेन । समीक्षमाणेन
विलोकमानेन । काम् । गिरीन्द्रलक्ष्मीं वनकुण्डशिखराणां सुषमाम् । पुनः किं कुर्वाणेन । इत्य-
मुना प्रकारेण ऊहमानेन वितर्कं कुर्वता । इति किम् । धात्रा सृष्टिकर्त्रा अत्र सौराष्ट्रमण्डले
शत्रुजयमूलधरित्र्या वा विश्वेषा त्रयाणां सप्तानां चतुर्दशानां वा एकविंशतिसख्याकानां
वा जगताम् । 'भुवनानि निबध्नीयात्रीणि सप्तचतुर्दश' इति वाग्भटालङ्कारे । वृत्तौ एक-
विंशतिरपि । सर्वेषां वा चतुर्दशकोटीब्रह्माण्डाधिपतिः पार्वतीपति इति प्रसिद्धः । भव-
लानां पर्वतानां चारिमश्रीर्मनोज्ञत्वलक्ष्मीं पिण्डीकृता पुण्डरीकाचलरूपे पिण्डता प्रापिता ।
उत्प्रेक्ष्यते—सर्वपर्वतानां श्रियमेकत्र पृथक् पृथक् अवतिष्ठमानामेकस्मिन्नेव स्थाने
दिदक्षता द्रष्टुमिच्छतेव पिण्डीकृता ॥ युग्मान्तर्भूतषट्कुलकं तुल्यम् । शत्रुजयपर्वतात्प्र-
स्थानावसरे शत्रुजयस्वरूपविचारणम् ॥

पद्मानि यस्या व्यलसन्मुखानि पयःसुरीभिः प्रकटीकृतानि ।

अमानमाहात्म्यमहीधरेन्द्रदिदक्षयेव सितनेत्रपत्रैः ॥ १५ ॥

यस्या शत्रुजयाभिधानतरङ्गिण्या पद्मानि कमलानि व्यलसन् विभान्ति स्म । उत्प्रे-
क्ष्यते—अमानः प्रमाणातीतः माहात्म्यमहिमा यस्य तादृशस्य महीधरेन्द्रस्य शत्रुजयशै-
लराजस्य दिदक्षया द्रष्टुमिच्छयेव पयःसुरीभिः जलदेवताभिः प्रकटीकृतानि जनलोचन-
गोचराणि निर्मितानि स्मितानि विकसितानि नेत्राणि नयनान्येव पत्राणि दलानि येषु
तादृशानि खवदनानि निजमुखानीव ॥

नेदृक्परं तीर्थमुदेति मुक्तिक्षेत्रं त्रिलोक्यामपि तत्समीपे ।

शत्रुजयासिन्धुमिषेण रेखाचिरूयासयेतीव कृता विधात्रा ॥ १६ ॥

त्रिलोक्या जगत्रये ईदृक् ईदृशः शत्रुजयशैलसदृशः मुक्तिक्षेत्रं मोक्षगमनस्थानं ना-
माख्यानपूर्वकानन्तानन्तकोटिकोटिमिततीर्थकृद्गणधरसाधुगृहमेविना सिद्धिसाधनपदम्
अन्यतीर्थमतादृग्विधं नैवोदेति जागर्ति । विद्यते इत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेणा-
चिरूयासया अर्थाजगत्पुर आख्यातुमिच्छयेव विधात्रा विश्वसृष्टिकर्त्रा तस्य शत्रुजयस्य
समीपे पार्श्वप्रदेशे शत्रुजया नाम सिन्धुस्तस्या मिषेण कपटेन रेखा कृता चिह्नितेव ।
एतस्य तुल्यमपरं किमपि तीर्थं नास्तीत्यतोऽयमेव रेखाभाक् । तस्मादस्य पार्श्वे शत्रु-
जया सरिद्रूपा रेखा कृतास्तीत्यर्थः ॥

पयःप्लवक्रीडदनेकपौरपुरंध्रिपुञ्जः सरिति व्यराजत् ।

नमश्चिकीर्षुः श्रमणावनीन्दोः पादाम्बुजं वारिसुरीभरः किम् ॥ १७ ॥

सरिति शत्रुजयाया नद्या पयसा पानीयानां प्लवे पूरे क्रीडन्तीनां जलक्रीडा कुर्वा-

णानामनेकाना विविधजातीयाना बहूना वा पौराणा नागरिकलोकाना पुरंध्रीणां कामिनीना पुञ्जो व्रजो व्यराजद्भाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—श्रमणाना साधूनां मध्येऽवनीन्दो क्षोणीयचन्द्रस्य राज्ञः हीरसूरीश्वरस्य पादाम्बुज चरणारविन्द नमश्चिकीर्षुर्नमस्कर्तुमिच्छु । ‘तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षु ’ इन्द्र द्रष्टुमिच्छु. इति नैषधे । वारिसुरीभरः किं जलदेव-तासंदोह इव ॥

पतिव्रतापीश्वरवार्धिभर्तृद्वयेति कौलीनमपाचिकीर्षुः ।

शत्रुजयं सेवितुमात्मनागान्मिषेण यस्या हरशेखरेव ॥ १८ ॥

या सरित् भातीति सबन्धः । उत्प्रेक्ष्यते—यस्या शत्रुजयाया नद्या मिषेण कपटेन आत्मना स्वकीयरूपेणैव शत्रुजय महातीर्थाधिराज सेवितु हरशेखरा गङ्गा इवागादा-गता । किं कर्तुमिच्छु । इत्यमुना प्रकारेण कौलीन स्वकीयापवादम् । ‘जनप्रवादः कौलीन विगान वचनीयता’ इति हैम्याम् । अपाचिकीर्षु निराकर्तुमिच्छु । इति किम् । स्वकान्त विना पर पुमास मनसा वचसा कायेन स्वप्नेऽपि कदाचिदपि न कामयते इति सा पतिरेव व्रत सतीत्वव्यञ्जको नियम शील यस्या सा पतिव्रता सती ईदृश्यतोऽपि सार्धाङ्गहारिपार्वतीतोऽपि अतिप्रेमाधिक्येन स्वशिरस्यारोपितापि मन्दाकिनी ईश्वर शम्भु वार्ष्णि समुद्र एतल्लक्षण भर्तृद्वय वल्लभद्वन्द्व यस्या सा द्वयोः पुरुषयोः पार्श्वे या वनिता व्रजति सा असती व्यभिचारिण्येव भवति सा सती सर्वथापि नोच्यते । अथ ईश्वर भिक्षुक मुक्त्वा समुद्र रत्नाकर भजते । तदियं पुश्चली एव न पतिव्रता इति स्वनिन्दा निराकर्तुम् ॥

या शान्तनोर्वीमघवाङ्गजानां महामयापायवतां चतुर्णाम् ।

चिकित्सकीवात्र महीन्द्रमुक्तिश्रीसगमेऽपि प्रतिभूरिवाभूत् ॥ १९ ॥

या शत्रुजया नदी अत्र जगति महान्तः अतिशायिक्लेशापवादायशोविधायिनो ये आमया कुष्ठादिदुष्टरोगास्त एवापाया कष्टानि विद्यन्ते येषां ते महामयापायवन्तस्तेषां चतुर्णां चतुःसख्याकानां शान्तनुर्नामा इक्ष्वाकुवशीय उर्वीमघवा महीमहेन्द्रस्तस्याङ्ग-जाना पुत्राणां चिकित्सकीवागदकारिकेव अखिलव्याविमूलोच्छेदकारिणीवाभूत् जायते स्म । अपि पुनस्तेषां शान्तनुनन्दनानां महीन्द्रमुक्तिश्रीसगमे राज्यलक्ष्मीस्तथा मोक्ष-लक्ष्मीस्तयोः सगमे मिलने अङ्गीकरणे प्रतिभू साक्षिणीव सजाता । अयं सबन्धः शत्रुजयामाहात्म्ये सविस्तरोऽस्तीति ॥

तीर्थेषु पाथःप्रथितेषु गत्या पृथक्पृथक्स्विद्यति लोक एषः ।

शत्रुजयेतीव विचिन्त्य सर्वतीर्थावतारा विधिना व्यधायि ॥ २० ॥

सर्वेषां भूर्भुवःस्वप्नयीभवानां नदीनदीपतिकूपपुष्करिणीदीर्घिकाह्वदकुण्डतडागपुष्कर-प्रभृतीनां तीर्थानां पुण्यस्थानकानामवतारोऽवतरणमनुप्रवेशो यस्यां तादृशी शत्रुजया-नाम्नी निर्झरिणी विधिना प्रजापतिना व्यधायि विहिता । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यत्रैव वृत्ते

प्रोच्यमान विचिन्त्य प्रजापतित्वात्स्वप्रजायाः खेदकारण करुणया हृदये विचार्येव । इति किम् । यत्पाथसु तदीयकुण्डसरपुष्करप्रमुखेषु जलस्थानकेषु प्रथितेषु, तीर्थतया विख्याति प्राप्तेषु सिद्धिसावनस्थानकेषु लोकप्रसिद्धेषु पृथक् पृथक् गत्वा इतस्तत् पर्यटनेन भिन्नभिन्नप्रदेशपरिभ्रमणेन कृत्वा एष मदुपक्रमलोको मध्यमलोकसजातो जनः खिद्यति । पादचारित्वेन पर्यटने दुष्करदु खितया खेद प्राप्नोति इत्येष विमर्शः ॥

शत्रुजयाद्रेर्महिमैकसिन्धोः सानिध्यतोऽसावपि सिन्धुरासीत् ।

माहात्म्यभूमिः किमु किं न गङ्गासङ्गेन गङ्गीयति सिन्धुरन्या ॥२१॥

महिन्नामद्वैतमाहात्म्यानामेकस्याद्वितीयस्य सिन्धोः समुद्रस्य विमलाद्रेः पुण्डरीकगिरेः सानिध्यत सामीप्यात्पार्श्वे स्थित्या । उत्प्रेक्ष्यते—असौ शत्रुजया सरिदपि माहात्म्यानामसावारणप्रभावाणां भूमि स्थान किमु आसीज्जातेव । दृष्टान्तेनार्थं स्पष्टयति—युक्तोऽयमर्थो वा । गङ्गासङ्गेन मन्दाकिनीसपर्केण अन्या परा यमुनाप्रमुखा सिन्धुर्नदी किमिति वितर्के प्रश्ने वा नैव गङ्गीयति गङ्गेव नाचरति । अपि तु गङ्गेव भवति ॥

उत्तीर्णवांस्तां सरितं व्रतीन्दुः सिन्धुं सुराणामिव चक्रपाणिः ।

ईर्यापथिक्याश्च कृते तटे स्थाद्रष्टुं क्षणं तामिव कल्मषघ्नीम् ॥ २२ ॥

व्रतीन्दु साधुसुधाकरः सूरि ता शत्रुजयानाम्नी नदीमुत्तीर्णवान् 'एक पाद जले कृत्वा' इति सिद्धान्तोक्तविधिना उत्ततार । क इव । चक्रपाणिरिव । यथा नारायणो वातुकी-खण्डभरतक्षेत्रमण्डनामरकाभिधराजधानीनायक पाण्डुधात्रीपतिपुत्रकलत्रापहारकमर्ध-नरसिंहरूपेण पद्मोत्तरपृथिवीपति परिभूय द्रौपदी चादाय षड्भी रथै सुस्थितसुरानुभा-बालवणार्णवमप्यवगाह्य पूर्वोत्तीर्णपाण्डवाप्रतिहतवहनाभावात्सुराणां सिन्धु देवनदी गङ्गा स्वयमुत्तरति स्म । अत्रागमविधे किमपि प्रयोजनं न, किं तु केवलं नद्युत्तरणमेवोपमानम् । च पुनः सूरिरीर्यापथिक्या ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणस्य कृते कार्याय तटे शत्रु-जयसरितीरे क्षण क्षणमात्रं तिष्ठति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—कल्मषाणि पापानि हन्तीति कल्मषघ्नी शत्रुजया द्रष्टुं दृग्गोचरीकर्तुं क्षणं तस्थिवानिव । यतः सा पापहन्त्री ततस्तद्दर्शनमपवर्गजिगमिषया पापप्रहननोद्यतानां यतीनामप्युचितमेव दुरितघातसाधनत्वादिति ॥

पुंनागनारङ्गरसालसालप्रियालहन्तालतमालतालैः ।

कदम्बजम्बीरसनिम्बजम्बूसर्जार्जुनैरञ्जनवज्जुलैश्च ॥ २३ ॥

कङ्केलिभिर्भूषिततीरभूमिर्यावन्मनोभीप्सितदानदक्षा ।

स्वसालतायाः स्पृहयात्मनीव सर्वैर्द्रुमैः सिन्धुरुपास्यतेव ॥ २४ ॥

पुनागा सुरपर्णिका पादपविशेषा, नारङ्गाः प्रसिद्धा, रसाला सहकारा इक्ष-वोऽपि, साला असना, प्रियाला राजादना, हन्ताला नाम देशविशेषप्रसिद्धवृक्षाः,

तमालास्तापिच्छा*, येषा तमालपत्राणि भवन्ति यत्पत्राणि पूर्वदेशे दक्षिणदेशे कर्णाभ-
रणीभवन्ति वा । यदुक्त नैषधे—‘श्रवणतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि निक्षिप ।
किमपि तुन्दलितः स्थगयत्यमु स यदि तेन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥’ इति विरहा-
वस्थायां चन्द्रोदये दमयन्तीवाक्यम् । तालास्ताडतरवो गुर्जरेषु प्रसिद्धाः । दक्षिणदिशि
च राजताला अपि भवन्ति येषा पत्रै पुस्तकानि लिख्यन्ते तै । तथा कदम्बनीपा
धाराकदम्बा धूलीकदम्बा वा । द्वये अपि चम्पूटिप्पनके प्रोक्ताः सन्ति । जम्बीरा प्रसिद्धाः ।
सह निम्बेन पिचुमन्देन ‘नीबडा’ इति प्रसिद्धेन वर्तन्ते यास्तादृश्य , जम्बू श्यामफला*
प्रसिद्धा । अथ वा निम्बजम्बूभिः सहितै सर्जा देवदारव । अर्जुना शास्त्रे देवविशेषे
वार्बुदसमीपे च प्रसिद्धा तै , तथा अञ्जना वृक्षविशेषा*, वज्जुला वानीरा , तथा कङ्कलयः
अशोका केसरा नागकेसरा एतैर्वृक्षैर्या शत्रुजया सरित् उपास्यते सर्वकाल सेव्यते ।
किभूता । यावन्ति त्रैलोक्यलोकवर्तीनि सर्वजातीयानि वा मनसामभीप्सितानि कामि-
तानि तेषा दाने प्रपूरणे दक्षा कुशला । कामितकामधेनुरित्यर्थ* । उत्प्रेक्ष्यते—आत्मसुखेषु
विषये स्वःसालतायाः कल्पद्रुमभावस्य स्पृहया वाञ्छया वृक्षलक्षैः ससेव्यते । कामि-
तकामदुषां शत्रुजया सरित् ससेव्य वय कल्पवृक्षभाव भजाम इतीच्छयैव ॥ युग्मम् ॥

कदा पुनर्दर्शनमस्य भावि ध्यायन्निदं स्वीयहृदा मुनीन्दु* ।

तीर्थं स तीर्थेशमिव प्रणम्य पथि प्रतस्थे प्रथितावदात् ॥ २९ ॥

स मुनिर्हीरसूरीन्द्रस्तीर्थेश जिनमिव शत्रुजयाद्रि प्रणम्य ललाटघटितकुङ्कुलीकृत-
करकमलो नमस्कृत्य पथि द्वीपोन्नतपुरपद्धतौ प्रतस्थे प्रचंचाल । स किलक्षण । प्रथितो
जगद्विख्यातोऽवदात् अकम्बरसाहिप्रतिबोधनलक्षण चरित यस्य । स कि कुर्वन् । इ-
दमत्रैव वृत्ते प्रोच्यमानमेतत्स्वहृदा निजमनसा ध्यायन् चिन्तयन् । इदं किम् । यदस्य
तीर्थाधिराजस्य पुनर्द्वितीयवार कदा कस्मिन्काले मम दर्शनमवलोकनम् । यात्रा इत्यर्थ* ।
भावि भविष्यति ॥

मेरूनिव कापि सुवर्णवर्णान्कुत्रापि रौप्यानिव शर्वशैलान् ।

अप्याश्मगर्भानिव विन्ध्यभूध्रान्सिद्धाद्रिकूटान्पथि दृष्टवान्सः ॥ २६ ॥

पथि मार्गे सिद्धाद्रे पुण्डरीकपर्वतस्य कूटान् शिखराणि । कूटशब्द पुनपुसकलि-
ङ्गयो । यथा—‘ध्वजमलयजकूटा कालकूटारकूटौ’ इति लिङ्गानुशासने । दृष्टवान्प-
श्यति स्म । किभूतान् कूटान् । कापि कुत्रापि प्रदेशे सुवर्णैः शोभनवर्णैर्वर्णान् वर्णनी-
यान् । कानिव । मेरूनिव । मेरव किभूता । सुवर्णैः काञ्चनैः वर्णान् प्रशस्या । पुन-
कुत्रापि स्थाने रौप्यान् रूप्याणामिमे रौप्या । रजतमयानित्यर्थ* । कानिव । शर्वशैलानिव ।
यथा कैलाशा कलधौतस्वरूपा भवन्ति । ‘रजताद्रिस्तु कैलाश’ इति हैम्याम् । अपि
पुनः कचन भूभागे आश्मगर्भान् अश्मगर्भाणा हरिन्मणीनामिमे । मरकतमणिमयानि-
त्यर्थ* । कानिव । विन्ध्यभूध्रानिव । विन्ध्योपमान श्यामवर्णत्वात् । श्यामनीलवर्णयोः

शास्त्रेष्वैक्यमेव दृश्यते । यथा—‘नीली विनीलं नभः’ । तथा—‘जसतणुकतिकडप्प-
सिणिद्धउ । सोहइ फणमणिकिरणालिद्धउ नेत्रवजलहरतडिलयलछिउ ॥’ इति । अत्र पार्श्व-
नाथो मरकतवर्णः, जलधर श्यामवर्णः, अनयोरुपमेयोपमानता जाता इति ॥ इति
शत्रुजयपरिसरभुव विहायाग्रे प्रस्थानम् ॥

कुत्रापि बन्धूनिव नन्दनस्य निकुञ्जपुञ्जान्सुमनोभिरामान् ।

वेणीरिव व्योमपयोधिपत्न्याः कूलंकषाः कापि विशुद्धवारः ॥ २७ ॥

इवात्मदर्शान्धरणीन्दिरायाः क्वचित्तटाकांश्च पयःप्रपूर्णान् ।

मित्राणि सुत्रामपुरः किमत्र श्रीवासवेश्मानि पुनः पुराणि ॥ २८ ॥

हल्लेखितामाकलयद्भिरात्मावतंसतां नेतुमिदं पदाब्जम् ।

श्राद्धैरिवानेकजनैः प्रणम्यमानः स पश्यन्पुरतोऽजिहीत ॥ २९ ॥

स प्रभुः सूरि पुरतः शत्रुजयाद्रिकूटानि निर्मुच्याग्रेतनमार्गे अजिहीत । ‘ओहाइ
गतौ’ धातु । अद्यतनप्रयोगः । गच्छति स्म प्रचलितवान् । स किं क्रियमाणः । श्राद्धैः
श्रावकैरिवानेकैर्विविधजातीयैर्बहुभिर्वा जनैः सौराष्ट्राष्ट्रजन्मभिलोकैः प्रणम्यमानो न-
मस्कियमाणः । जनैः किं कुर्वद्भिः । हल्लेखा उत्कण्ठा अस्त्येषामिति हल्लेखिनः उत्कण्ठा-
वन्तस्तेषां भावो हल्लेखिता औत्सुक्यम् । ‘रणरणकोत्कण्ठे आयल्लकारतीहल्लेखोत्क-
लिके’ इति हैम्याम् । आकलयद्भिर्विभ्राणैः । किं कर्तुम् । इदं पदाब्जं सूरिचरणारवि-
न्दमात्मनः स्वस्य अर्थान्मस्तके अवतंसतां शेखरत्वं नेतुं प्रापयितुम् । पुनः स किं कुर्वन् ।
पश्यन्विलोकयन् । कान् । कुत्रापि प्रदेशे निकुञ्जपुञ्जान् वनप्रकरान् । उत्प्रेक्ष्यते—नन्दनस्य
मन्दराद्रिद्वितीयमेखलावर्तिवासववनस्य बन्धून् सोदरान् इव । तत्तुल्यानित्यर्थः । किं-
भूतान् । सुमनोभिर्विविधजातिकुसुमैरभिरामान् देवैश्च रमणीयान् । पुनः कापि भू-
मिभागे कूलकषा अभङ्गरङ्गत्तुङ्गतरङ्गसगमागाहप्रबलप्रसरत्पयः पूररहोनिष्पातिततटी-
स्तटिनी पश्यन् । उत्प्रेक्ष्यते—व्योमपयोधिपत्न्या गगनापगाया गङ्गाया वेणीः
प्रवाहानिव । ‘प्रवाहः पुनरोद्यः स्याद्वेणीधारारयश्च’ इति हैम्याम् । किंभूता । विशुद्ध-
वारः विशुद्धः निर्मलमुज्ज्वलः च वाः पानीयः यस्याम् । पुनः कान् । तटाकान् सरोवराणि
पश्यन् । उत्प्रेक्ष्यते—धरणीन्दिराया भूमिश्रिय आत्मदर्शान्दर्पणानिव । किंभूतान् ।
पयोभिः पानीयैः प्रकर्षेण कण्ठं यावत्पूर्णान् निर्भरभृतान् । पुनः कानि पुराणि नगराणि
पश्यन् । उत्प्रेक्ष्यते—अत्र मेदिनीमण्डले सौराष्ट्रमण्डले वा सुत्रामपुर इन्द्रनगरस्यामरा-
वत्या मित्राणीव । किंभूतानि पुराणि । श्रीवासवेश्मानि श्रीणा धनधान्यादिलक्ष्मीणां
श्रियो हरिप्रियाया वा वासार्थं निवसनकृते मन्दिराणीव ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥

क्रमद्वयीचङ्क्रमणक्रमेणातिक्रम्य शक्रो व्रतिना स मार्गम् ।

वस्वोकसारावरजामिवाभ्राजयाभिधानां पुरमामसाद ॥ ३० ॥

स व्रतिनां शक्रो मुनीन्द्रः हीरसूरि अजय इत्यभिधान यस्यास्तादृशी पुर नगरी-
माससाद प्रप । उत्प्रेक्ष्यते—अत्र द्वीपोन्नतनगरोपकण्ठे भूपीठे वस्त्रोक्तसाराया धनद-
नगर्या अवरजा लघुभगिनीमिव । किं कृत्वा । क्रमद्वयी चरणयुगली । ‘उच्चै राज्यप्रदाना-
त्कलिकलुषमलक्षालनात्, तामसानामुच्छेदात्, त्रिदशपतिकरस्पर्शनात्, दर्शनस्य ।
हेतुत्वात्, सस्य सूर्याद्युदयफलपदस्वर्जनज्ञानभूत्वात् धत्ते नाभेयदेवप्रभुपदयुगलीगौरव
गौरिवेह ॥’ इति श्रीसोमसुन्दरसूरिकृतस्तवे युगलीशब्दः । तथा यच्चङ्क्रमण चलन तस्य
क्रमेण परिपाठ्या मार्गे पन्थानमतिक्रम्योल्लङ्घ्य ॥ इति मार्गोल्लङ्घनम् ॥

तत्राजयोर्वीरमणस्य पिण्डीभवद्यशः किं शशित्वरश्रि ।

सूरीन्दुरालोकयति स्म चैत्यमचिन्त्यमाहात्म्यजिनाङ्किताङ्कम् ॥ ३१ ॥

सूरीन्दुर्हीरसूरिसोम तत्राजयपुरे चैत्य प्रासादमालोकयति स्म ददर्श । किंभूत
चैत्यम् । अचिन्त्य चिन्तयितुमशक्य विचारगोचरातीत माहात्म्य प्रभावो यस्य तादृ-
शेन जिनेनाजयपार्श्वनाथप्रतिमारूपेण अर्हता अङ्कित कलित उत्सङ्गो मध्य यस्य तत् ।
उत्प्रेक्ष्यते—चैत्यम् । अजयो नामा उर्वीरमणो राजा दशरथनृपस्य जनकस्तस्य । ‘अधु-
नाजयभूपालभाग्येन यमिहागता’ इति शत्रुजयमाहात्म्ये । पिण्डीभवत्पिण्डता प्राप्नु-
वद्यश किं कीर्तिरिव । किंभूत यशः । शशिनश्चन्द्रस्य जित्वरी जयनशीला श्रीः श्वेति-
मलक्ष्मीर्यस्य ॥

प्रीत्या प्रणत्याजयपार्श्वमत्राभिष्टुत्य वृत्रारिरिव व्रतीन्दुः ।

अकीर्तयत्काप्युपविश्य तस्य माहात्म्यमित्यङ्गभृतां पुरस्तात् ॥ ३२ ॥

व्रतीन्दुर्वाचयमचन्द्रमा सूरि कापि कुत्रापि स्थाने तद्देवगृहबहिर्धर्मशालायामुप-
विश्यासित्वा अङ्गभृता भविकजन्तूना पुरस्तादग्रे इत्यमुना प्रकारेणाग्रे वक्ष्यमाण तस्या-
जयपार्श्वनाथविम्बस्य माहात्म्य प्रभावमकीर्तयत् विस्तारयति स्म । ‘कीर्तणं यशसि वि-
स्तारे’ इति धातु । उक्तवान् । किं कृत्वा । अत्र प्रासादे प्रीत्या प्रमोदेन । ‘मुत्प्रीत्यामो-
दसमदा । आनन्दानन्दथू’ इति हैम्याम् । अजयपार्श्वमजयपार्श्वनाथप्रतिमा प्रणत्य
नमस्कृत्य । व्यवस्थितविकल्पत्वान्मितानिटा वा तुक् । ‘आगम्यागत्य प्रणम्य प्रणत्य’
इति प्रक्रियाकौमुद्याम् । च पुनः किं कृत्वा । अभिष्टुत्य स्तुत्वा । क इव । वृत्रारिरिव ।
यथा इन्द्र शक्र स्तवादिना जिन स्तौति ॥

कश्चिन्महेभ्यो व्यवहर्तुमब्धिमध्याध्वना प्रास्थित सागराह्वः ।

कास्त्यत्र पुत्री जलधेर्निभाल्य गृह्णाम्यहं तामिति किं वितर्क्य ॥ ३३ ॥

कश्चित्कोऽप्यज्ञातपूर्वस्वरूप सागर इत्याह्वा नाम यस्य तादृशो महेभ्य इमप्रमाण ध-
नमस्तीति इभ्यस्ततोऽप्यविकद्रव्यो महेभ्यो व्यवहारी व्यवहर्तुम् । ‘जहालहौतहालोहो
लहो लोहो पवट्टई’ इति वचनात् । अधिकधनाकाङ्क्षया व्यापार कर्तुमब्धिमध्याध्वना
समुद्रान्तरालयायिना मार्गेण प्रास्थित प्रस्थितवान् । समुद्रे यानपात्रे चढति स्मे-

त्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—इति किं वितर्क्य विचारयित्वेव । इति किम् । यदत्राम्भोधेर्जलधे-
र्वारिराशे पुत्री नन्दना लक्ष्मी. कास्ति कुत्र विद्यते निभाल्य सम्यङ्ङिरीक्ष्य ता समु-
द्रसुता श्रियमहं गृह्णामि ॥

दुर्देवयोगाज्जलधौ जजृम्भे तदा कुतश्चिज्जलदस्तमोवत् ।

चिखेल योषेव तडित्तदङ्गे जगर्ज मत्तेभ इवोत्कटं सः ॥ ३४ ॥

तदा तस्मिन् सागरव्यवहारिण वारिधिमध्यगमनसमये दुर्देवयोगादभाग्योदयात्
प्रभावाज्जलधौ पयोधेरुपरि गगनभागे जलदोऽतिप्रबलपयोधर. कुतश्चित्कस्माच्चन स्था-
नादागत्य जजृम्भे नभोमण्डले परितः प्रससार । किवत् । तमोवत् । यथान्धकार कुतश्चि-
द्विरिगह्वरादिभ्य आगत्य जृम्भति द्यावाभूम्यो प्रसरति । पुनस्तस्य जलदस्याङ्गे उत्सङ्गे ।
मध्ये इत्यर्थः । तडिद्विद्युच्चिखेल चिक्रीड चमत्कार कुरुते स्म । केव । योषेव । यथा
वाणिनी नायिका खनायकाङ्गे वैलायति । पुन. स जलदो मत्तेभ इव । वारुणीयायिमदो-
द्धतीभूतनूतगन्धसिन्धुर इव उत्कट कर्णकटुक यथा स्यात्तथा भैरव जगर्ज गर्जारव चकार ॥

ततोऽहिकान्तः परिवर्तवात इव प्रवृत्तः परितः पयोधौ ।

कपोतपोता इव तस्य पोता निपेतुरुत्पत्य नभस्यधस्तात् ॥ ३५ ॥

ततः प्रबलपयोविपटलप्रसरणानन्तर परिवर्तवात. कल्पान्तकालसबन्धी समीरण
इव । 'कल्पो युगान्त. कल्पान्तः सहार प्रलय. क्षय । सवर्त परिवर्तश्च' इति है-
म्याम् । अहिकान्तः प्रचण्डपवन. । 'वातोऽहिकान्तपवमानमरुत्प्रकम्पना.' इत्यपि
हैम्याम् । परितः समुद्रमध्ये सर्वत्र प्रवृत्तः प्रवर्तते स्म । प्रसरति स्मेत्यर्थः । ततः
पवनप्रवृत्तेरनन्तरं तस्य सागरव्यवहारिण पोता वहनानि नभसि उत्पत्य अत्युद्भटवि-
कटप्रभञ्जनवहिमरंह सदोहोच्छालितानि गगनाङ्गणान्तरुद्धीयोद्धीय अधस्तात्पुनः पयो-
विमध्ये निपेतु पतन्ति स्म । के इव । कपोतपोता इव । यथा पारावतपृथुका व्योमन्यु-
द्धीयाधस्ताद्वरणीपीठे निपतन्ति ॥

रङ्गत्तरङ्गावलिरम्बुराशेरालम्बमानाम्बरमम्बुपूरैः ।

राजी गिरीणामिव तुङ्गिमानमाविभ्रती प्रादुरभूत्तदानीम् ॥ ३६ ॥

तदानीं निखिलाम्बरमण्डलाखण्डाडम्बरितदुर्धरवारिधराविर्भवनादनुपरितः प्रवृत्त-
परिवर्तपवमानसमानामानाकाण्डप्रकटीभवत्प्रचण्डपवनप्रसरणसमये अम्बुराशे समुद्रस्य
रङ्गन्ती दशदिग्विभागेषु प्रचलन्ती तरङ्गाणां कलोलानामावलि श्रेणि. प्रादुरभवत्प्रकटी-
भवति स्म । किं कुर्वाणा । अम्बुपूरैः पयःप्लवैः । जलभरैरित्यर्थः । कृत्वा अम्बरमाकाश-
मालम्बमाना आश्रयन्ती । प्रौढा पवनप्रोच्छलज्जलकलोलैर्जलधिव्योममण्डलावेकीभूता-
विव लक्ष्येते । किं कुर्वती तरङ्गावलिः । गिरीणां राजि पर्वतानां पङ्क्तिरिव तुङ्गिमानम-
त्युच्चभावमाविभ्रती धारयन्ती ॥

पाठीनपीठाण्डजनक्रचक्रकुम्भीरपुञ्जैः प्रकटीभवद्भिः ।

वन्यैरिवारण्यमगण्यहिसैर्भयानकोऽम्भोधिरभूत्तदास्य ॥ ३७ ॥

तदा तस्मिन्मेघागमप्रक्रमे तस्य सागरमहेभ्यस्य अम्भोधिः समुद्रो भयानको भय-
करो बभूव । कै । प्रकटीभवद्भिः दृग्गोचरीभवद्भिः दृग्गोचरमागच्छद्भिः पाठीनपीठा-
मत्स्यविशेषा अण्डजाः सामान्यमत्स्या नक्राश्चक्रास्तथा कुम्भीराणां पुञ्जा व्रजा मकरजा-
तिविशेषास्तैः कृत्वा भीमम् । किमिव । अरण्यमिव । यथा वन्यैः काननजन्मभिः अग-
ण्यैर्गणयितुमशक्यैर्गणनातीतैर्हिसैः हिंसनशीलैः श्वापदैर्व्याघ्रसिहाष्टापदादिकैर्जन्तुघात-
कसंततिभिरटवी भयकारिणी भवेत् ॥ इति जलदोदयः ॥

क्रोधोद्धतं व्यालमिवोपयान्तं प्रकोपितं दुष्टमिवाथ चण्डम् ।

स सागरो भैरवसागरं तं द्रष्टुं न दृष्ट्यापि तदा शशाक ॥ ३८ ॥

स यानपात्रेण समुद्रमध्ये समेत सागरनामा व्यवहारी यदा यस्मिन् समये त स्फु-
रदमन्दमेदुरमुदिरमण्डलाकलितः प्रचण्डप्रभञ्जनप्रक्षुब्धत्पयः प्रसरत्प्रतिदिगन्ततुङ्गत-
द्भरं भैरव भयावहः सागरः समुद्रं दृष्ट्यापि लोचनेनापि द्रष्टुं विलोकयितुं न शशाक नैव
समर्थो बभूव । कमिव । व्यालमिव । यथा क्रोधेन कोपाटोपेन कृत्वा उद्धतमुत्कटः सुभटको-
व्यापि कलयितुमाक्रमितुमशक्यः तथा उपयान्तः समुखमागच्छन्तः व्यालः दुष्टगज-
'धुनी' इति प्रसिद्धम् । अथ वा पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टः गारुडिकैरपि कलयितुम-
शक्यः दुष्टसर्पमिव । अथ वा वन्यजीवैराक्रमितुमशक्यः श्वापदमिव । अथ वा
चित्रकव्याघ्रादिभिरनाक्रमणीयः कण्ठीरवमिव । अथ वा गन्धसिन्धुरादिभिरनाकलनीयः
शरभमिव । 'व्यालो दुष्टगजे सर्पे खले श्वापदसिंहयोः' इत्यनेकार्थः । अथ पुनः
कमिव । प्रकोपितः केनापि प्रकारेण प्रकोपितः महाकोपः प्रापितम् । तथा चण्डः दुष्टाशयः
दुर्दन्तिनः वा दुष्टः दुर्जनमिव ॥

संवर्तवत्तत्र तदा स्वपोतलोकक्षयं प्रेक्षितुमक्षमः सन् ।

विलासवाप्यामिव वार्धिमध्ये यावत्स झम्पा प्रगुणः प्रदत्ते ॥ ३९ ॥

स सागरश्रेष्ठी यावत् यावत्प्रमाणेन समयेन प्रगुणः उत्साहवान् सन् वस्त्राद्यञ्जलसव-
रणेन बद्धकच्छो वा वार्धिमध्ये समुद्रान्तः झम्पा सपातपाटवम् । जले निपतनमित्यर्थः ।
प्रदत्ते । कस्यामिव । विलासवाप्यामिव । यथा कश्चिज्जलकेलिकरणप्रवणः क्रीडादीर्घिकायाः
झम्पां दत्ते । किभूतः सन् समुद्रसलिले पतति । तदा तस्मिन्मेघोत्पातसमये तत्र
क्षुब्धपयोधिमध्ये संवर्तवत्कल्पान्तकालः इव स्वपोतलोकानां जिनयात्रारूढानेकसांया-
त्रिकजनानां क्षयः सहारं प्रेक्षितुं स्वयमालोकितुमक्षमः असमर्थः सन् । मया कथं
कथंचिन्मद्यानपात्रमध्येऽधिरोपिता एतावन्तो लोका एककालः प्रलयं लप्स्यन्ते । तदे-
तेषां मदाश्रितानां लोकानां क्षयमहमात्मदृष्ट्या द्रष्टुं नालमिति तत्प्रथममेव मर्तुकामो
यावज्जलधौ झम्पा प्रदत्ते इत्यर्थः ॥ इति सागरस्य सागरे पिपतिषा ॥

कृष्टेव तद्भाग्यभरैस्तदाविर्भूयाभ्रमार्गेऽब्धिगभीररावा ।

पद्मावती वाचमिमामुवाच मा वत्स कार्षीरिह साहसं त्वम् ॥ ४० ॥

तदा तस्मिन् सागरव्यवहारिण सागरमध्ये पतनसमये अभ्राणा मेघाना मार्गे वर्त्मनि अभ्र एव मार्गे गगनाध्वनि वा आविर्भूय प्रकटीभूत्वा पद्मावती पार्श्वनाथशासनाविष्ठायिका यक्षिणी धरणेन्द्राग्रमहिषी वा अनयोरन्यतरा वा इमा वक्ष्यमाणा वाच वाणीमुवाच वदति स्म । किभूता । अब्धिवज्रलविधीरध्वनितमिव गभीरो गम्भीरो रावो ध्वनिर्यस्या । उत्प्रेक्ष्यते—तद्भाग्यभरैः सागरव्यवहारिणा प्राचीनाचीर्णमहासुकृतसदोहैरिवाकृष्टो वा आकृष्यानीतेवात्र । इमा काम् । हे वत्स हे पुत्र सागरमहेभ्य, इहाग्राधपयोधिमध्ये साहस झम्पालक्षणम् अतलस्पृकृजलमध्यनिपतनरूप सत्त्व मा कार्षी । मा इति निषेधे । सर्वथा मा कुर्वीथा । चिरं जीव । ‘मा कार्षीत्कोऽपि पापानि मा च भूत्कोऽपि दुःखित ’ इति हेमाचार्यकृतयोगशास्त्रे ॥

मध्येऽम्बुधेरस्ति समस्तदुःखपाथोधिमन्थावनिभृत्प्रभावम् ।

निधानमम्भोनिधिमेखलाया इवान्तरे पार्श्वजिनेन्द्रबिम्बम् ॥ ४१ ॥

हे वत्स, मध्येऽम्बुधे समुद्रसलिलान्तराले पार्श्वजिनेन्द्रस्य बिम्ब मूर्तिरस्ति विद्यते । किमिव । निधानमिव । यथा अम्भोनिधिमेखलाया समुद्रः काञ्चीरूपो वृत्ताकार परितोवर्तित्वाद्यस्यास्तादृश्या क्षोण्या अन्तरे मध्ये रूच्यसुवर्णमणिमाणिक्यमण्डित निधानं भवति । किलक्षण बिम्ब निधान च । समस्तानि ऐहिकामुष्मिकाणि दुःखानि सकलानि दौस्थ्यभृत्यभावादीनि क्लेशानि । यदुक्तं भर्तृहरिकाव्ये—‘सेवाधर्मं परमगहनो योगिनामप्यगम्य ’ इति । परलोके देवादिषु परप्रेक्ष्यभावो महद्दुःख तान्येव बहुत्वात्पयोधिपारावारस्तस्य मन्थने विलोडने मन्थावनिभृत् मन्दरगिरिस्तत्तुल्य प्रभावो माहात्म्य यस्य तत् ॥

जलात्तदानाय्य जनैः प्रपूज्य संस्थापितं स्वे वहने धनेश ।

उत्तालवातूलमिवार्कतूलं विघ्नं पुरैतद्धरति त्वदीयम् ॥ ४२ ॥

हे धनेश धनपते व्यवहारिन्, जनैर्निजनाविकलोकैर्जलाजलधिसलिलात् आनाय्याकर्षयित्वा पुनः प्रपूज्य प्रकर्षेण चन्दनसुमकर्पूरागुरुभिरभ्यर्च्य तन्मयोक्तम् श्रीपार्श्वबिम्ब स्वे आत्मीये अर्थात्त्वत्सबन्धिनि वहने यानपात्रे संस्थापित सत् एतत्प्रत्यक्षमविरलजलदपटलप्रचण्डपवनवेगवहनोड्डयनप्रवर्तनरूप त्वदीय तव सबन्धिनं विघ्नप्रत्यूहव्यूहमनिसर्गोद्गतोपसर्गं पुरा हरति अवश्य हरिष्यतीति । ‘यावत्पुरानिपातयोर्योगे भविष्यदर्थे वर्तमाना’ इति सूत्रेणात्र पुरा हरति इति हरिष्यतीत्यर्थः प्रयोगः । तथा ‘पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पद किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया’ इति नैषधे । किमिव । अर्कतूलमिव । यथा उत्तालवातूल त्वरिततर प्रवर्तमान एव मानसमूहोऽर्कतूल हरति उड्डीय कचिदपि क्षिपति तथैतत्त्वद्विघ्नं हरिष्यति ॥

मोद्धाटयेः स्वस्तरुपत्रपेटां संप्रापयेद्वीपपुरं पुनस्ताम् ।

परस्य पृथ्व्या इव वासवस्य तत्राजयोर्वीशितुरर्पयेस्त्वम् ॥ ४३ ॥

हे वत्स हे सागरव्यवहारिन्, मयोक्ता पयोधिपयोमध्यवर्तिनी स्वस्तरोः कल्पद्रुमस्य पत्राणां दलानाम् । खर्दुमपणैर्निर्मितामित्यर्थः । पेटा मञ्जुषा मोद्धाटये त्व माविकाशी-
कुर्या । 'तु म उधाडीश' इति लोकभाषा । पुनस्तां कल्पपादपत्रपेटा द्वीपनाम्नि
पुरे नगरे संप्रापये अनुद्धाटितद्वारकपाटामेव एना द्वीपबन्दिरे त्व नये । गृहीत्वा यायाः
इत्यर्थः । पुनस्तत्र द्वीपपुरे अर्थाद्दिगजैत्रयात्रार्थं समेतस्याजयनाम्न उर्वीशितु पृथ्वीपते-
राज्ञ अर्पये विश्राणये दद्याः । उत्प्रेक्ष्यते—पृथ्व्या भूमे परस्य अन्यस्य वासवस्य
पुरदरस्येव एकः स्वर्गवासवो वर्तते अयमन्यो मेदिन्या वासव इव ॥

उद्धाट्य पेटां प्रकटां प्रणीय चित्रादिवल्लीमिव पार्श्वमूर्तिम् ।

छिनत्विदं स्नात्रजलाभिषेकाञ्शतं सप्तोत्तरमङ्गरोगान् ॥ ४४ ॥

हे सागरेभ्य, अजयो नाम राजा इदं स्नात्रस्य अस्या श्रीपार्श्वनाथमूर्ते स्नात्रस्य
स्नपनस्य जलस्य सलिलस्याभिषेकान्सिञ्चनान्सप्तसख्या उत्तरे अग्रे यस्य तादृशं शत-
मेतावता सप्तोत्तरं शतमङ्गरोगान् स्वशरीरामयान् छिनत्तु निराकरोतु । 'स दिशः
सकला जिष्णुर्जयन्प्राग्भावकर्मणा । सप्तोत्तरशतेनाथ व्याधिना परिपीडित ॥ आ-
क्रामन्निति भूपालान् बलात्सौराष्ट्रमण्डलम् । क्रमात्प्रापदखण्डाञ्छिखण्डावनिमण्डन ॥'
इति शत्रुजयमाहात्म्ये । किं कृत्वा । पेटा कल्पद्रुदलमण्डलघटिता मञ्जुषामुद्धाट्य द्वार-
द्वयं विकाशीकृत्य । अपावृतद्वारा विधायेत्यर्थः । पुनश्चित्रमिति पदमादौ यस्यास्तादृशीं
वल्लीमिव चित्रकवल्लीमिव 'चित्रावेलि' इति प्रसिद्धा द्रव्याद्यक्षयकारिका पार्श्वमूर्ति
श्रीपार्श्वनाथप्रतिमा प्रकटा लोचनगोचरा प्रणीय कृत्वा ॥ इति पद्मावत्यादेशः ॥

आसादितप्राणितवत्पुनः स्वं विदन्निशम्येति गिर त्रिदश्याः ।

आनाययन्नीरधिनीरमध्याज्जनैः स्वपोते जिनमूर्तिपेटाम् ॥ ४५ ॥

स सागरव्यवहारी जनैः स्वनाविकलोकैः नीरधिनीरमध्यात्समुद्रसलिलान्तरालाजिनमू-
र्तिपेटा त्रयोविंशतितमभगवत्प्रतिमापवित्रितमध्यमञ्जुषा स्वपोते स्वयानपात्रमध्ये आना-
ययत् । किं कृत्वा । निशम्य श्रुत्वा । काम् । त्रिदश्या पद्मावत्या देवताया गिर
वाणीम् । स सागरः किं कुर्वन् । पुनर्द्वितीयवारमासादितं संप्राप्तं प्राणितं जीवितव्यं येन
तद्वत्स्वमात्मानं विदन् जानन् ॥

क्षणाददृश्योऽभवदिन्द्रजालमिवोपसर्गोऽथ प्रभोः प्रभावात् ।

चमत्कृतस्तत्प्रविलोक्य पेटामभ्यर्च्य भोगादि पुरो व्यधत् ॥ ४६ ॥

अथ पोते पार्श्वनाथप्रतिमासमागमनानन्तरमुपसर्गो गजोर्जिततडिज्ज्ञात्कारितनू-
तजीमूतवातादिजनितोपद्रवः क्षणात्क्षणमात्राददृश्यो दृग्गोचरातीतः क्षणदृष्टनष्टः अज-

निष्ट । क्रमात्प्रभोः प्रभावात् श्रीमत्पार्श्वनाथमाहात्म्यातिशयात् । किमिव । इन्द्रजाल-
मिव । यथा कुहक क्षणाददृश्यीभाव भजेत् । 'इन्द्रजाल तु कुहकम्' इति हैम्याम् ।
स सागरधनी पेटा पार्श्वनाथप्रतिमासत्कमञ्जुषा चन्दनमृगमदघनसारादिभिरभ्यर्च्य
पूजयित्वा पुरः पेटाया अग्रे भोगादि कृष्णागुरुकुन्दरुष्कतुरुष्काद्युत्क्षेपणमादिशब्दाद्वलि-
वाकुलादिक च व्यधत्त विदधाति स्म । कृतवानित्यर्थ । स किलक्षणः । चमत्कृतः
जलदानिलाद्युपसर्गविलयादि विलोक्य स्वहृदये विस्मितः ॥ इत्यकाण्डोद्भूतोपसर्ग-
प्रशमनम् ॥

ततोऽनुकूलैः पवनैः पयोनिधौ प्रवर्तितस्तद्व्यवहारिपोतः ।

मत्तद्विपः सादिभिरध्वनीवालानं सुखं द्वीपपुरं प्रपेदे ॥ ४७ ॥

ततो विघ्नापगमनानन्तरं तद्व्यवहारिपोतः तस्य सागरनाम्नो व्यवहारिणो महेभ्यस्य
पोतो यानपात्रं सुखं यथा स्यात्तथा द्वीपपुरं द्वीपनाम नगरं प्रपेदे प्राप प्रातः द्वीपब-
न्दिरे सुखेनागतः । किलक्षणः पोतः । पयोनिधौ स्वस्थीभूते समुद्रे अनुकूलैः सुखप्रवृत्ति-
कारिभिः पवनैर्वानैः प्रवर्तितः प्रेरितः । 'प्रेरणं प्रवर्तनम् । तत्र तुवादयः' इति सारस्व-
तव्याकरणम् । क इव । मत्तद्विप इव । यथा मदोद्धतो हस्ती सादिभिराधोरणैः अध्वनि-
मार्गे प्रवर्तितः सुखमालानं प्रपद्यते ॥

उत्तीर्य तर्याश्च बलिं विकीर्याप्येतामुपादाय सुतामिवाब्धेः ।

इहाह्वयन्किं हरितां महेन्द्रान्पार्श्वं प्रणन्तुं घनतूररावैः ॥ ४८ ॥

भजनृपाभ्यर्णमथार्णवीयं वस्तूपदीकृत्य निवेद्य वृत्तम् ।

पेटा ङुढौके स पुरः क्षितीन्दोः रुजा चिकित्सामिव तां द्विधापि ॥ ४९ ॥

अथ द्वीपबन्दिरे समागमनानन्तरं स सागर आढ्यः क्षितीन्दोरजयगतीर-
जनिजाने पुरं पुरस्तादग्रे पेटा कल्पपादपपूर्णनिर्मिता मञ्जुषा ङुढौके प्राभृतीचकार ।
उत्प्रेक्ष्यते—द्विधापि द्वाभ्यां बाह्यान्तरङ्गलक्षणाभ्यामपि रुजामन्तरङ्गरोगाणामष्टकर्मणां
बाह्यरोगाणां ज्वरादीनां चिकित्सा रुक्प्रतिक्रियामिव रोगापहारिणी औषधादिविधा ।
किं कृत्वा ङुढौके । आर्णवीयमर्णवसबन्धि पयोविमध्यगतद्वीपोत्पन्नं वस्तु समुद्रान्तर्जातं
च वस्तु मुक्ताफलादिकमुपदीकृत्य ङौकयित्वा । च पुनः वृत्तं पद्मावतीप्रकाशितश्रीपार्श्व-
प्रतिमायां यानपात्रान्तरानयनानन्तरं स्वोपसर्गगमनादिचरित्रं निवेद्य कथयित्वा ।
सागरः किं कुर्वन् । नृपाभ्यर्णमजयराजसमीपं भजन्नाश्रयन् । कैः । घनतूररावैः घना-
नामनेकजातीयानां तूराणां वादित्राणां रावैः शब्दैः । अथ वा शब्दाद्वैतीभावविद-
धानैः सान्द्रैरातोयनादैः । उत्प्रेक्ष्यते—विविधवाचनादैरिह द्वीपबन्दिरे पार्श्वं प्रणन्तु
भविष्यदजयाभिधानपार्श्वनाथप्रतिमां नमस्कर्तुम् हरितां महेन्द्रान्दशदिक्पालकान् किमा-
ह्वयन्नाकारयन्निव नृपान्तिकं श्रयन् । किं कृत्वा । तर्या वेडाया उत्तीर्य स्वयानपात्रा-
दवरुह्य तीरभूमावागत्य । पुनर्बलिं दशदिक्षु कूरूपिकाचणककुल्माषादिकं विकीर्य

क्षिप्त्वा । अपि पुनरेतां पद्मावत्याः पूर्वं नृपार्थं प्रकाश्य प्रेषितां मञ्जूषामुपादाय गृहीत्वा ।
उत्प्रेक्ष्यते—अब्धे. समुद्रस्य सुतां नन्दिनी लक्ष्मीमिवादाय ॥

प्रणीय पूजां क्षितिपेन पूर्वं प्रोद्धाटितायाः प्रमदेन तस्याः ।

पार्श्वप्रभुः प्रादुरभूत्तमोभिद्भास्वानिव प्राग्विरिकंदरायाः ॥ ९० ॥

तस्याः पेटाया । पञ्चमीप्रयोग । मञ्जूषामध्यात्पार्श्वप्रभुः श्रीपार्श्वस्वामिनः प्रतिमा
प्रादुरभूत्प्रकटीभवति स्म । क इव । भास्वानिव । यथा प्राग्विरिकंदरायाः पूर्वपर्वतगुहा-
मध्यात् भास्करः प्रकटीभवति । किभूतः । तमोभित् तमोऽज्ञान पाप वा अन्धकार च
भिनन्ति विदारयति इति । तस्याः किभूताया । क्षितिपेनाजयपृथ्वीपतिना प्रमदेन रोग-
विनाशकोपायत्वाद्भाविभगवद्विम्बत्वान्महानन्दसदोहपुलकितकाययष्टिना प्रोद्धाटितायाः
स्वयमेव विकाशीकृतमनपिधान विहित वा द्वार कपाटो वा यस्याः । किं कृत्वा । पूर्वं
प्रथम स्वयमात्मना चन्दनकर्पूरकस्तूरिकाकुसुमादिभिः कृष्णागुरुप्रमुखसुगन्धद्रव्योत्क्षेप-
पूर्वं पूजामर्चा प्रणीय विधाय ॥

पार्श्वेशितुः स्नात्रजलाभिषेकाकृतोऽजयोर्वीन्द्रतनूलतायाः ।

महामयोत्थः प्रशशाम तापो भूमेरिव ग्रीष्मभवोऽब्दवर्षात् ॥ ९१ ॥

ततो मञ्जूषामध्यात् श्रीपार्श्वनाथप्रतिमाप्रकटीभवनानन्तर पार्श्वेशितु पार्श्वप्रभुप्रति-
माया स्नात्रजलस्य स्नपनसलिलस्य अभिषेकात्सिञ्चनात् अजयो नामा उर्वीन्द्र वसुधा-
सुधानाधीशः तस्य तनूलतायाः वपुर्यष्टेर्महान्तोऽत्युत्कृष्टा ये आमया कुष्ठज्वरादयो
रोगास्तेभ्य उत्था उत्थान यस्य तादृशस्तापो निदाघज्वर प्रशशाम शान्तिं प्राप्नोति
स्म । कस्या इव । भूमेरिव । यथा पृथिव्या ग्रीष्मान्निदाघऋतोर्भवो जनित सतापः
अब्दवर्षान्मेघवर्षणात्प्रशाम्यति ॥

महामहः कोऽपि महीहिमांशौ प्रावर्ततानामयतामवाप्ते ।

मेने जनो यत्र निजं प्रपन्नस्वःप्राज्यसाम्राज्यमिव प्रमोदात् ॥ ९२ ॥

महीहिमांशौ अजयाभिधानवसुवासुधाकरे अनामयतां नीरोगता समाधि अवाप्ते
प्राप्ते सति कोऽप्यद्भुतवैभवो महामह अर्थाजनानामत्युत्सव प्रावर्तत सजायते स्म ।
यत्र यस्मिन्नतिशायिनि उत्सवे प्रवर्तमाने सति जनस्तदजयराजपरिजनसेवकलोक प्रमो-
दान्निजमात्मानं प्रपन्नमासादित स्व स्वर्गस्य प्राज्य प्रभूत साम्राज्य मण्डलीकपदलक्षणा-
धिपत्य येन तादृश मेने मन्यते स्म जानीते स्म ॥

तदोपतापप्रकरैर्वियुक्तः साकेतनेताभ्यधिकं दिदीपे ।

घनात्ययन्यकृतनीरवाहोपरोधनिर्मुक्त इवामृतांशुः ॥ ९३ ॥

तदा न केवल सेवकलोकानां प्रमोदः समजनि, अपि पुनः पार्श्वनाथस्नात्रजलाभिषिञ्चना-
नन्तरमुपतापानां कुष्ठज्वरादिसप्तोत्तरशतरोगाणां प्रकरैर्वृन्दैः वियुक्तो विरहित । 'आम

आमय आकल्पमुपतापो गदः समा ' इति हैम्याम् । साकेतस्य कोशलानगर्या अयो-
ध्याराजधान्या नेता अविपतिरजयनृपोऽपि अधिकमतिशायितया दिदीपे शोभते स्म ।
क इव । अमृताशुरिव । यथा घनात्ययेन शरत्कालेन न्यकृतो विध्वस्तो निराकृतो निर्वा-
सितो यो नीरवाहो मेघस्तस्योपरोध सरोधन तस्मान्निर्मुक्तः पृथग्भूतश्चन्द्र आश्विनपू-
र्णिमाकौमुदीपतिरधिक दीप्यते ॥ इत्यजयराजस्य रोगोपशमः ॥

ततोऽजयाख्य नगरं निवास्य पुरीमयोध्यामपरामिवात्र ।

केनापि सिद्धायतनं सुरेण मुक्तं किमस्मिंश्च विधाप्य चैत्यम् ॥ ९४ ॥

संस्थाप्य त तत्र जिनेन्द्रबिम्ब सिद्धिश्रिया वोपयमं स्वकीयम् ।

काङ्क्षन्निव द्वादशसूर्यतेजा दत्त्वार्चितुं द्वादश शासनानि ॥ ९५ ॥

भूमीभुजां शेखरयज्जिशरःसु स्वाज्ञा सुमानामिव मालिका सः ।

स्वर्गीव नीरोगतनुः क्रमेण स्वा राजधानी पुनरध्युवास ॥ ९६ ॥

ततो रोगापगमनानन्तरं स अजयभूपाल पुनर्देशसाधनानन्तरं द्वितीयवारं स्वामा-
त्मीया तातसबन्धिनी राजधानीमयोध्यानाम्नी नगरीमध्युवास आश्रयति स्म । केन ।
क्रमेण पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरदिग्बर्तिदेशसाधनामनस्यपरिपाठ्या । स किंभूतः । स्वर्गी देव
इव नीरोगतनुर्विविधामयरहितशरीरः । स किं कुर्वन् । भूमीभुजा वैताढ्यभूधरपर्यन्त-
चतुर्दिग्भूपान्मलमण्डलानां शिरसु मौलिषु सुमाना मालिकामिव स्वा स्वकीयामाज्ञा
शासनं शेखरयन्नवतसीकुर्वन् मुकुटमिवापादयन् । 'आपीडशेखरोत्तसावतसा शिरसः
स्रजि' इति हैमीवचनात् । किं कृत्वा राजधानीमधिवसति स्म । अत्र रोगनिर्मुक्तिस्थाने
द्वीपसमीपे अजय इति स्वनामसमाना आख्या अभिधानं यस्य तादृशं नगरं महत्पुरं
निवास्य वासयित्वा संस्थाप्य । उत्प्रेक्ष्यते—अपरामन्या द्वितीयामयोध्या कोशलापुरीमिव
स्वकुलक्रमायाता साकेतनीनाम्नी राजधानीमिव । 'साकेत कोशलायोध्या' इति हैम्याम् ।
च पुनरस्मिन्नजयनामनगरे चैत्यं श्रीपार्श्वनाथप्रासादं विधाप्य शिल्पिभिर्निर्माप्य । उत्प्रे-
क्ष्यते—केनानिर्दिष्टनाम्ना सुरेण देवेन अस्मिन्नजयपुरे मुक्तं कुतश्चित्प्रदेशात्स्वयमानीय
संस्थापितं सिद्धायतनं शाश्वतजिनचैत्यमिव । पुनः किं कृत्वा । तत्र स्वनिर्मापितप्रासादे
तं पद्मावतीप्रकटितमाहात्म्यं सागरमहेभ्यमहामहानीतपार्श्वनाथं संस्थाप्योपवेशयित्वा ।
उत्प्रेक्ष्यते—सिद्धिश्रिया मोक्षलक्ष्म्या समं स्वकीयमात्मसबन्धिनमुपयमं विवाहमिव सं-
स्थाप्य स्थापयित्वा । 'पाणिग्रहणमुद्राह उपायामयमावपि' इति हैम्याम् । उपयाम
उपयमाविति शब्दद्वयं पुनरचितुं श्रीअजयपार्श्वनाथप्रतिमां पूजयितुं द्वादशसख्याकानि
शासनानि श्रीमान् दत्त्वा स्वेनार्पयित्वा । 'दीयतां दशलक्षाणि शासनानि चतुर्दश ।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोको यद्वा गच्छतु गच्छतु ॥' इति । अथ ब्रूतकेशागतसिद्धसेनदिवाक-
रागमनसमये एव अदृष्ट एवैकश्लोकप्रेषणे विक्रमार्कदानपत्रे दानश्लोके दानम् । तत्र दश-
सौवर्णकलक्षाणि शासनानि ग्रामाश्च दत्ताः । उत्प्रेक्ष्यते—द्वादशानां सूर्याणां तेजः प्रताप

काङ्क्षन् वाञ्छन्निव । तेजःशब्देन प्रतापोऽप्युच्यते । यथा नैषधे—‘एतस्योत्तरमद्य नः समजनि त्वत्तेजसा लङ्घने—’ ‘त्वत्प्रतापानामतिक्रमेण’ तद्वृत्तिः ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥ इत्यजयराजरोगापहारकाजयपार्श्वनाथप्रस्तावनम् ॥

नामैव तस्यावनिवल्लभस्य पार्श्वप्रभोस्तस्य बभूव नाम ।

तद्वासितस्येव पुरस्य वाराणस्या इवैतस्य निवासभूमेः ॥ ९७ ॥

तस्यावनिवल्लभस्य तस्य पूर्वकथितस्याजयस्य राज्ञो नामैवाभिधानेनैव पार्श्वप्रभोः श्रीपार्श्वनाथस्य नाम बभूव । अजयपार्श्वनाथ इति सजातम् । कस्येव । तेनाजयराजेन वासितस्य निवेशितस्य स्थापितस्य अजयपुरमिव । किभूतस्य पुरस्य । अजयपार्श्वनाथस्य निवासभूमे स्थितिस्थानकस्य । कस्या इव । वाराणस्या इव । यथा वाराणसी भगवत् श्री-पार्श्वनाथस्य जन्मभूमित्वाद्वासस्थानम् ॥ इति पाठान्तरम् ॥

ध्यातोऽधुनाप्येष पयोधिमध्ये प्रयाति वाते प्रतिकूलभावम् ।

निर्विघ्नयन्पोत इवाङ्गभाजः प्रभुः सुखं लम्भयति प्रतीरम् ॥ ९८ ॥

भो भव्या , अधुनापि पञ्चमारके अस्मिन्कलौ प्रवर्तमानेऽपि वा पयोधिमध्ये जलधि-जलान्तराले ध्यातोऽर्थाल्लोकैर्ध्यानगोचरीकृत स्मृतोऽपि वा वाते प्रचण्डपवने प्रतिकूलभाव प्रतिकूलता याति गच्छति सति एष प्रभुरजयपार्श्वनाथ अङ्गभाज पार्श्वनाथ-स्मरणप्रवणा, प्राणिन निर्गता विलय प्राप्ता विघ्ना प्रत्यूहा येभ्यस्ते निर्विघ्नान्करो-तीति । ‘तत्करोति तदाचष्टे’ इति प्रक्रियासूत्रेण जि । ‘जिर्दित्करणे’ इति सारस्वते इति सारस्वतसूत्रेण जिप्रत्यय । निर्विघ्नयति निर्विघ्नयतीति निर्विघ्नयन् । विघ्नरहितान्कुर्वन्नित्यर्थः । निरन्तरायान् सृजन् सुखं यथा स्यात्तथा कुशलेनेत्यर्थः । प्रतीरं तटभूमीं स्वस्ववेलाकूलावनी लम्भयति प्रापयति । क इव । पोत इव । यथा निर्वहनान्वोहित्थर-हितास्तथाम्भोधिमध्ये पतिताञ्जनान् यानपात्रे स्वस्मिन्नधिरोप्य सुखेन तीरं नयति ॥

बहूदितैः किं भवदीयभाग्यैरारोपितस्तेन महीधनेन ।

सुपर्वशाखीव समीहितानि यच्छंश्चिरं नन्दतु पार्श्वनाथः ॥ ९९ ॥

भो भव्या , किं बहूदितैः बहुभिरनल्पैरुदितैः कथितैः किमस्तु । एषोऽजयपार्श्वनाथो युष्माकं समीहितानि सम्यगैहिकानि पुत्रकलत्रद्रविणादीनि आमुष्मिकाणि स्वर्गापवर्गादिकानि कामितानि मनोरथान् यच्छन् पूरयन् चिरं बहुसमयमाकल्पान्तकालं यावन्नन्दतु विजयवान् प्रवर्तताम् । किभूतः । तेन महीधनेनाजयराजेन आरोपितः स्थापितः । उत्प्रेक्ष्यते—भवदीयभाग्यैः युष्मत्सबन्विभिः सुकृतैः सुपर्वशाखी कल्पवृक्ष इवारोपितः ॥ इत्यजयपार्श्वनाथप्रबन्धः । विस्तरतस्त्वेतद्व्यतिकरं शत्रुजयमाहात्म्यादवसेयम् ॥

तत्रोपदिश्येति जनान्मुमुक्षुक्षोणीऋभुक्षा क्षणमक्षिलक्ष्यम् ।

प्रणीय नत्वा च तमात्मना तत्पुरं पवित्रीकृतवान्स तद्वत् ॥ १० ॥

स हीरविजयनामा सुमुखूणा मुनीना मध्ये क्षोण्या भूमेः ऋभुक्षा इन्द्र । सूरिन्द्र इत्यर्थः । तद्वज्रपाश्वर्धनाथ इव तत्पुरमजयपुरमधुना तु अजयपुरम् ग्रामिनाम्ना च 'अज्ञारोपाश्वर्धनाथ' इति प्रसिद्धिः । आत्मना स्वेनैव पवित्रीकृतवान् पावनीचकार । किं कृत्वा । तत्र चैत्ये बहिः प्रदेशवर्तिन्या वर्मशालाया जनान् भविकलोकान् प्रति इति पूर्वोक्तप्रकारेण अजयपाश्वर्धनागमनादिवत्तमुपदिश्य उपदेश देशना दत्त्वा च पुनः क्षण क्षणमात्रं तं जिनमक्षणोर्दशोर्लक्ष्य गोचरं प्रणीय निर्माय पुनस्तं पार्श्वनाथं नत्वा प्रणम्य ॥

द्वीपस्य संघोऽप्यखिलो मुनीन्दोरभ्यागमत्तत्र सहाङ्गनाभिः ।

माहात्म्यमद्वैतमवेत्य तस्य शुश्रूषया लेखगणः किमेषः ॥ ६१ ॥

तत्राजयपुरे अङ्गनाभिः स्वकीयपरकीयपुरं पुरध्रीभिः सह सार्धमखिलोऽपि समस्तोऽपि द्वीपस्य द्वीपबन्धिरस्य संघः श्रावकसमुदायो मुनीन्दोर्हीरविजयसूरेरभ्यागमत्समुखमाजगाम । उत्प्रेक्ष्यते—तस्य सूरिशितुः अद्वैतमनन्यमसाधारणं माहात्म्यं वाङ्मनसगोचरातीतं महिमानमवेत्य विज्ञाय शुश्रूषया सेवां कर्तुमिच्छया एष सघरूपो लेखगणः सुरसमूहः समेतः समागत इव ॥

लोकं पृणान्वीक्ष्य गुणान्गणेन्दोः प्रीता प्रणीयागणितात्ममूर्तीः ।

नम्रागतस्त्रैणमिषेण लक्ष्मीर्नमस्यती स्तौति च गायतीव ॥ ६२ ॥

गणेन्दोः सूरैर्लोकपृणान्विश्वाह्लादकान् गुणान् शमदममार्दवार्जवसयमनिष्ठत्वादिकान् वीक्ष्य स्वदृग्गोचरीकृत्य प्रीताः सतुष्टचित्ताः सती नम्र नमनशील तथा आगतं भगवद्वन्दनार्थमायात यत्स्त्रैण स्त्रीणां समूहः सीमन्तिनीसमुदायस्तस्य मिषेण कपटेन अगणिता गणनातीता आत्मनः स्वस्य मूर्तीं शरीराणि प्रणीय लक्ष्मीर्जलधिनन्दना । उत्प्रेक्ष्यते—नमस्यतीव अर्थाद्गणधरं नमस्करोतीव । च पुनः स्तौतीव स्तुतिगोचरीकरोतीव । च पुनर्गायतीव गानविषयीकरोतीव । वार्धे सामीप्यात्तन्नन्दनाया आगमनमुचितमेव । पितुः पार्श्वे कदाचिदुत्कण्ठिता पुत्री मिलनार्थमागच्छतीति समुद्रे श्रिया सद्भावोऽप्युचित एव ॥ इति द्वीपबन्दिरे सघागमनम् ॥

ततः प्रतस्थे प्रभुरुन्नताख्यं पुरं प्रति प्रीतमना मुनीन्द्रः ।

मेघागमे मानसमभ्रमार्गवहाप्रवाहादिव राजहसः ॥ ६३ ॥

ततो द्वीपोन्नतदेवलपाटकसत्कसघसमागमनानन्तरं हीरविजयसूरिः ततोऽजयपुरादुन्नतमित्याख्या नाम यस्य तादृशं पुरं प्रति प्रतस्थे । उन्नतनगराभिमुखं प्रचलति स्म । किभूतः । प्रभुः सर्वधर्मकार्यकरणप्रवणः समर्थः । पुनः किभूतः । प्रीतमना श्रीपार्श्वनाथयात्रया कृत्वा हृष्टमानसः । क इव । राजहस इव । यथा मेघागमे अभ्रमार्गो मेघाध्वा गगनम् । 'सुराभ्रोडुमरुत्पथोऽम्बरम्,' तथा 'अभ्रधूमयोनिस्तनयित्नुमेघा' इति द्वयमपि हैम्याम् । तस्य वहा नदी । गङ्गैत्यर्थः । 'सिद्धस्वस्त्रिंखापगा' । ऋषिकुल्या हेमवती इत्यपि हैम्याम् । तथा 'सिन्धुः शैवलिनी वहा च हृदिनी स्रोतस्त्रिनी निम्नगा' इत्यपि

हैम्याम् । तस्याः प्रवाहाद्गङ्गापयः पूरान्मानसं नाम राजहसनिवाससरोवरं प्रति प्र-
तिष्ठते । 'यदुक्तम्—'मेघागमं दिवि विभाव्य परापगाम्भ पूरागमैर्जलमथाविलमभ्र-
सिन्धो । भातीति चेतसि विचिन्त्य च हसमालास्व मानसं प्रति ततस्त्वरितं प्रतस्थे ॥'
इति । तथा 'गङ्गानीरमपि त्यजन्ति कलुषं ते राजहसा वयम्' इत्यपि सूक्ते ॥

अथ द्वीपोन्नतपुरादिसघसमुखागमनवर्णनप्रस्तावः—

शिरोधृतश्वेतसुवर्णकुम्भाः काश्चिल्लसन्ति स्म विलासवत्यः ।

श्यामादिवालक्ष्म्य इवोद्वहत्यः संपूर्णचन्द्राम्बुजबन्धुबिम्बान् ॥ ६४ ॥

हीरसूरेः समुखागमने काश्चिदनिर्दिष्टनामान विलासवत्य विलासो हसहस्तिगम-
नादिकः शृङ्गारादिविभ्रमो वा विद्यते यासां ता लीलावत्यो वनिता लसन्ति शोभन्ते ।
किभूताः । शिरसि स्वमौलौ वृता आरोपिता श्वेता उज्ज्वलास्तथा सु शोभनो वर्णो ये-
षाम् । अथ वा श्वेतानां रूप्याणाम् । 'स्याद्रूप्यं कलधौतताररजतश्वेतानि' इति है-
म्याम् । तथा सुवर्णानां काञ्चनानां कुम्भाः कलशा याभिस्ताः । उत्प्रेक्ष्यते—श्यामादि-
वालक्ष्म्य इव रजनीदिवसस्य श्रिय इव । किं कुर्वत्य । उद्वहत्य विभ्रत्य । कान् ।
संपूर्णा अखण्डाश्चन्द्रास्तथा अम्बुजबन्धवो भास्करास्तेषां बिम्बान्मण्डलान् । अखण्ड-
चन्द्रमण्डलानादाय निशाश्रियं सूर्यमण्डलान् गृहीत्वा दिवसलक्ष्म्य इव भगवत्समुख
समेता इत्यर्थः ॥

अवाकिरन्काश्चन मुक्तिकाभिरभ्येत्य वाचयन्मसार्वभौमम् ।

क्षीरोर्मयो मेरुमिव प्रमाथकालोच्छलद्भूरिपयःपृषद्भिः ॥ ६५ ॥

अभ्येत्य समुखमागत्य काश्चन सघमध्यात्क्रियत्य त हीरविजयनामानं वाचयमानां
साधूनां सार्वभौमं चक्रवर्तिनं मुक्तिकाभिर्लघुमुक्ताफलैः । 'सिता वमन्त्य खलु कीर्ति-
मुक्तिकाः' इति नैषवे । का इव । क्षीरोर्मय इव । यथा क्षीरसमुद्रवीचयं प्रकर्षेण सुरासु-
रादिभिः सर्वोजसा माथस्य मथनस्य काले समये उच्छलद्भिः उच्चैरुत्पतद्भिः तथा भूरि-
भिरनल्पैः पयःपृषद्भिः जलकणैर्मैरु काञ्चनाचलम् । किं च परसमये मन्दरशब्देन
मेरुर्नोच्यते किं तु मन्दरशब्देन इन्द्रकीलनामा शैलः । जैनमते तु मन्दरो मेरुरेव ।
मन्दरनामगिरिर्वर्धयन्ति ॥

मुक्ताफलैः काश्चिदवाकिरंस्तं नवोपयन्तारमिवात्र लाजैः ।

सिद्धाद्रियात्रोद्भवपुण्यलक्ष्म्या नवोढयालंक्रियमाणपार्श्वः ॥ ६६ ॥

काश्चिदपरा सीमन्तिन्य त सूरिम् अत्र सघसमुखागमनसमये मुक्ताफलैर्मौक्तिकैः
अवाकिरन् वर्धयन्ति स्म । कसिव । नवोपयन्तारमिव । यथा अत्र भूमिभुवने देवलोके
नागलोके देवासुराणां परिणयनाभावाद्भुवो ग्रहणम् । सघस्कपरिणेतारं चारं पुमांसं का-
श्चित्तद्वर्गसबन्धिन्यो वर्णिन्य लाजैरक्षतैर्वर्धयन्ति । किभूत सूरिः वरश्च । सिद्धाद्रेः शत्रु-
जयशैलस्य यात्रायां दर्शनस्पर्शनभावार्चायां उद्भव उत्पत्तिर्यस्यास्तादृश्या पुण्यलक्ष्म्या

सुकृतश्रिया अलक्रियमाण भूष्यमाण पार्श्व जीवान्तिक यस्य । परिणेतपि तत्कालपरिणीयतया अलक्रियमाणवामाङ्गान्तिक ॥ इदं तु पाठान्तरम् ॥

गीति जगुर्नागरिकाः किरन्तीं सुधां सुधादीधितिमण्डलीवत् ।

यां श्रोत्रपत्रैर्विनिपीय चित्रार्पितैरिवाभूयत मार्गमार्गैः ॥ ६७ ॥

काश्चन नागरिका द्वीपोन्नतपुरपुरध्यो गीति सूरिगुणगान जगुर्गायन्ति स्म । किं कुर्वतीम् । गीति किरन्ती विस्तारयन्तीम् अर्थात्कर्णयोर्वर्षन्तीम् । काम् । सुधाममृतम् । किवत् । सुधादीधितिमण्डलीवत् । यथा आश्विनमाससबन्धिराकामृगाङ्गमण्डल्य पीयूष किरन्ति, तथा नागरिका कर्णामृतवर्षिणी गीति गायन्ति । या गीति श्रोत्रपत्रैः कर्णपणैः कृत्वा विनिपीय सादर निशम्य मार्गस्य अजयोन्नतपुरयोरन्तरालाध्वन मार्गैर्मृगगणैश्चित्रार्पितैरालेख्यस्थापितैर्लिखितैरिवाभूयत सजायते स्म ॥

गजाधिरूढा व्यरुचन्कुमारा विभूषिता भूषणधोरणीभिः ।

प्रवालपुष्पावलिशालमानाः प्रस्थप्ररूढा इव बालसाला ॥ ६८ ॥

भूषणानां मणिस्वर्णाभरणानां धोरणीभिः श्रेणीभिः विभूषिता अलकृताङ्गा । तथा गजाधिरूढाः सिन्धुरस्कन्वाध्यासिनः केचन कुमारा व्यरुचन् शुशुभिरे । उत्प्रेक्ष्यते—प्रवालानां पल्लवानां पुष्पाणां कुसुमानामावलीभिर्मालिकाभिः शालमानाः शोभमानाः प्रस्थेषु सानुषु प्ररूढा उद्गता बालसाला लघुपादपा इव ॥

काश्चित्कुमार्यः शिविका श्रयन्त्यो माणिक्यभूषा वपुषा वहन्त्यः ।

कुतूहलाद्भ्रूवलय भजन्त्यो विमानयाना इव नाकिकन्याः ॥ ६९ ॥

काश्चित्कुमार्यो लघुकन्यका भान्ति तदवसरे शोभन्ते । किं कुर्वन्त्यः । शिविका याप्ययान श्रयन्त्यः परिचरन्त्यः । शिविकाधिरूढा इत्यर्थः । पुनः किं कुर्वन्त्यः । माणिक्यानां रत्नविशेषाणां भूषा अलकारान् वपुषा स्वशरीरेण वहन्त्यो धारयन्त्यः । 'वृता विभूषामणिरश्मिकार्मुकैः' इति नैषधे । उत्प्रेक्ष्यते—कुतूहलात्कौतुकाद्भ्रूवलय मेदिनीमण्डलं भजन्त्यः सेवमाना आश्रयन्त्यः । विमानेन देवयानेन यानं गमनं यासां तादृश्यो नाकिकन्या देवकुमारिका इव । यथा इन्द्रस्य । 'तनयस्तु जयन्तः स्याज्जयदत्तो जयश्च सः । सुता जयन्ती तविषी ताविष्युच्चैः श्रवा हयः ॥' इति हैम्याम् ॥

गत्या जितोऽनेन किमभ्रकुम्भी द्रष्टुं तमीत्युत्सुकितोऽब्धिमध्यात् ।

किमीयिवानेष तदन्ववायः शृङ्गारितास्तत्र गजा विरेजुः ॥ ७० ॥

तत्र तस्मिन् समुखागमनसमये शृङ्गारिताश्च शृङ्गारभूषणतैलचामराद्याडम्बरैरलकृताः गजा हस्तिनो विरेजुः शोभन्ते स्म । उत्प्रेक्ष्यते—इत्यमुना प्रकारेण इति हेतोर्वा तं सूरिं द्रष्टुं प्रेक्षितुमुत्सुकितः उत्कण्ठितः सन् अब्धिमध्यात्समुद्रान्तरालादेष प्रत्यक्षं लक्ष्यमाणः तस्यैरावणस्य अन्ववायो गजघटारूपो वशः किमीयिवान् आगत इव ।

ऐरावणस्य समुद्रमध्यादुत्पन्नविनि स्रुतत्वेन तद्वशस्यापि सद्भाव सभाव्यते एव । यदुक्त नैषधेऽपि—‘पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन्’ इति । तथा समुद्रस्यापि अत्र सामीप्यादियमुत्प्रेक्षा घटत एव । अथ प्रस्तुतम् । इति किम् । यदनेन सूरिणा गत्या पुरतो युगप्रमाणा धरणीं चक्षुषा प्रेक्षमाणा । ईर्यासमिति पूर्वक मन्थर-गमनेन अभ्रकुम्भी ऐरावण । ‘ऐरावणोऽभ्रमातङ्गश्चतुर्दन्तार्कसोदरे’ इति हैम्याम् । किं कथं कया रीत्या जितोऽभिभूतः ॥

पर्याणितास्तत्र तुरङ्गमास्ते रेजुर्जवाधःकृतवातवेगाः ।

यैर्निर्जिता भानुमतस्तुरङ्गा द्वियेव नाद्यापि भुवं स्पृशन्ति ॥ ७१ ॥

तत्र समुखागमनसमये ते तादृशा ये अग्रे स्वगुणोत्कर्षैरुत्प्रेक्षा प्रापिता । अथ वा ते काम्बोजकामरूपकच्छसिन्धुदेशोद्भवा विविधजातीयाः प्रसिद्धास्तुरङ्गमा अश्वा । यदुक्त प्राकृतवाक्ये—‘ये गगाजलनीअडा हरिअडा कालाकिहाडापुरा साणीसिघल-सिधु आकलहला कस्मीरिया कुकुणा । टुकेकानि अनेकवानिपिहुला पीठे पगे नीसला ते हेण्यत्रियकु अरा जिमसुरा ते जीतुषारैवढा ॥’ इति । पर्याणिता पल्ययनकलिता कृता । ‘पर्याण तु पल्ययनः’ इति हैम्याम् । रेजुः विभान्ति स्म । किभूता । जवेन मानसातिपातिगतिरहसा अध कृतो निरस्तो वाताना पवनाना वेगो रयो यैस्ते । ते के । यैस्तुरङ्गमैर्भानुमतो भास्वतस्तुरङ्गा वाजिन निर्जिता गतिलराभि परा-भूता सन्त । उत्प्रेक्ष्यते—अद्याप्यद्यतन वर्तमान वासर प्रभृति यावन्मण्डयित्वा द्विया लज्जयेव कृत्वा भुव क्षोणी न स्पृशन्ति । लज्जिता हि स्व मुख दर्शयितुमनलभू-ष्णव पृथिव्या नायान्तीत्यर्थः ॥

रथाङ्गभाजस्त्वरमाणताक्षर्याः सुजातरूपा घननन्दकाश्च ।

अम्भोजनाभा इव कामरोमशोभाः शताङ्गाः शतशः प्रचेलुः ॥ ७२ ॥

शतशः शतसहस्रसख्याका शताङ्गा रथा । ‘शताङ्ग स्यन्दनो रथः’ इति हैम्याम् । प्रचेलुः सुरेरभिमुख प्रचलन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अम्भोजनाभा कृष्णा इव । किभूता रथा कृष्णाश्च । रथाङ्ग रथपाद चक्र ‘पङ्कज’ इति प्रसिद्ध सुदर्शन चक्र भजन्ति इति रथाङ्गभाज । पुनः किभूता । त्वरमाणा शीघ्रगामिनस्ताक्षर्यास्तुरङ्गमा गरुडाश्च येषां ते । च पुनः किभूता । शोभन जातरूप सुवर्ण काञ्चनजटितत्वेन । पक्षे जातमुत्पन्न रूपमति-शायिसुन्दरशरीराकारविशेषो येषाम् । पुनः किभूता । घनान्बहुजनान्नन्दयन्ति प्रह्लाद-यन्ति । तथा घनो निबिडोऽपराप्रतिहतो नन्दकनामा खड्गो येषां ते । च पुनः किभूता । काममतिशयेन रामा मनोज्ञा शोभा येषां ते । तथा काम प्रद्युम्नः रामो बलभद्र ताभ्यां शोभा येषां ते ॥

तूरस्वरैश्चित्कृतिभी रथानां हयालिहेषागजगार्जितैश्च ।

नृणां स्तवादिध्वनितैर्व्रतीन्दोः श्लोकैरिवापूरि समग्रलोकः ॥ ७३ ॥

तूरस्वरैर्विविधवादित्रनिर्घोषैश्च पुन रथाना स्यन्दनाना चित्कृतिभिस्त्वरितगमनावसरोद्भवचित्कृतिसंज्ञध्वनितविशेषै च पुनर्हयानामश्वानामालि श्रेणिस्तस्य हेषाभिर्हिंसारव इति प्रसिद्धै तथा गजाना मदोद्धतसिन्धुराणा गर्जितैर्बृहितैस्तथा नृणा श्राद्धभाटगायनादिजनाना स्तवादिध्वनितै स्तुतिच्छन्दोगानादिभणितिभि कृत्वा समग्रोऽपि दशदिक्पर्यन्त यावल्लोको भुवनमपूरि निर्भर भृत पूरित । कैरिव । श्लोकैरिव । यथा व्रतीन्दोर्हीरसूरैर्यशोभिः समग्रोऽपि लोक पूर्यते स्म । ‘श्लोक कीर्तिर्यशः’ इति हैम्याम् ॥

स्त्रीभ्यस्तदा तद्रुणगायनीभ्यः पैञ्ज्रूषपीयूषरसाभिषेकाम् ।

वाणीमधीत्याभ्यसितुं वनस्थाः शिष्या इवासन्कलकण्ठकान्ताः ॥ ७४ ॥

तस्य सूरैर्गुणान् गायन्तीत्येवशीलाभ्य स्त्रीभ्य पौरपुरधीभ्य सकाशात्तदा तस्मिन् सधागमनमहोत्सवव्यतिकरे पैञ्ज्रूषयो श्रोतृजनश्रवणयो पीयूषरसस्य सुधानिस्यन्दस्य अभिषेकोऽभिषिञ्चन तत्तुल्या वाणी वाग्विलासमवीत्य पठित्वा कलकण्ठकान्ता कोकिलकामिन्यः । उत्प्रेक्ष्यते—अभ्यसितु सम्यगभ्यास विवातुमिव वनस्था वनवासिन्य आसन्नव सजाता इव । का इव के इव वा । शिष्या इव । यथा विनेया कुतश्चिद्गुरो सकाशात्किमप्यधीत्य एकान्ते वनादिषु गत्वा स्थिता वा तदभ्यसन्ति ॥

ध्वनन्नफेरीसखभूरिभेरीभाङ्गाररावैः प्रतिशब्दितेन ।

नन्तुं सवेशाम्बुधिशायिशौरिः प्रबोध्यते सूरिसमागमे किम् ॥ ७५ ॥

ध्वनन्त्य शब्दायमाना नफेर्य पित्तलमय्य वदनेन वादनीया वाद्यविशेषा प्रसिद्धाश्च ता एव सख्य सहाया यासा तादृश्यो भूरय शतसख्याका भेर्यो दुन्दुभयस्तासा भाङ्गाररावै भाङ्गुतिध्वनिभि कर्तृभि प्रतिशब्दितेन अर्थात्सनिविवातिसागरमध्यप्रतिनादितेन । ‘पयोधिमध्यप्रतिनादमेदुर’ इति नैषधे । कृत्वा । उत्प्रेक्ष्यते—सवेशे समीपे योऽम्बुवि समुद्रस्तत्र तन्मये शेते इत्येवशीलो य शौरिर्नारायण स सूरैरुन्नतपुरप्रवेशोत्सवे नन्तुमर्थात्सूरीन्द्र नमस्कर्तु कि प्रबोध्यते निर्निद्रीक्रियते जागर्यते इव ॥

तदाद्रिमध्यप्रतिशब्दसान्द्रैः स्मरध्वजौघध्वनिपूर्यमाणैः ।

प्रमोदमाद्यत्तुमुलैर्जनाना व्योमेव भूः शब्दगुणा किमासीत् ॥ ७६ ॥

तदा तस्मिन् सूरिप्रवेशोत्सवे जनाना समुखागतसकललोकाना प्रमोदेन हर्षातिशयेन माद्यद्भिर्मद प्राप्नुवद्भिस्तुमुलैरतिबहुलव्याकुलताकलितकोलाहलैः । अयं वा ‘अव वावत यात मुञ्चत पुर पन्थानम्—’ एवविधचम्पूकयाकथितकेवलव्याकुलशब्दै कृत्वा व्योमेव गगनमिव भूरपि पृथिव्यपि शब्द एव गुणो यस्यास्तादृशी किमासीजातेव । किंभूता । तुमुलैरद्रीणा समीपभाजा नन्दीवेलकप्रमुखाणा स्वभावतस्तु शत्रुजयाचलशिखराणा पर कालानुभावाद्गिरिघटनाच्च दूरीभूताना पर्वताना मध्ये कदरोदरे प्रतिशब्दा प्रतिध्वनयस्तै सान्द्रैर्निबिडीभूतैः । पुन किंभूतैः । स्मरध्वजाना नानाविववाद्यानाम् ।

‘तूर्य तूर स्मरध्वज’ इति हैम्याम् । ओघा समूहास्तेषा ध्वनिभिर्नानाप्रकारप्रसरन्नि-
घोषैः पूर्यमाणैः बहलीक्रियमाणैः ॥ इति द्वीपोन्नतपुरसमुखागमनवर्णनम् ॥

तदुत्सवे मूर्च्छति भूर्भुवःस्वस्त्रयीप्रसत्तिं प्रदिशत्यपूर्वाम् ।

अलंचकार प्रभुरुन्नताख्यां पुरं हरिर्द्वारवतीमिवासौ ॥ ७७ ॥

प्रभुर्हीरर्विजयसूरिरुन्नतमिति आख्या नाम यस्यास्तादृशी पुरं नगरीमलचकार भूष-
यामास । क इव । हरिरिव । यथा नारायणो धनदनिर्मिता द्वारवतीं द्वारका नगरीमल-
करोति । कस्मिन् सति । तदुत्सवे स चासावुत्सवश्च तदुत्सव द्वीपोन्नतादिसद्यप्रारब्धसू-
रिप्रवेशमहामहस्तस्मिन्मूर्च्छति वृद्धिमतिशायिता श्रयति प्राप्नुवति सति । किं कु-
र्वति तदुत्सवे । भूर्भुवःस्वस्त्रय्या नागलोकनाकिलोकभूमिलोकानां त्रिकस्य अर्थात्रिजगज्ज-
नाना प्रसत्तिं मनःप्रसन्नता प्रमोदप्रकर्षं प्रदिशति प्रयच्छति ददति ॥

तस्मिन्नतेर्गोचरयांचकार चैत्येषु तीर्थाधिपति मुदा सः ।

कण्ठीरवः शैलगुहामिवाथानैषीद्विभूषां वसति व्रतीन्द्रः ॥ ७८ ॥

स हीरसूरिस्तस्मिन्नुन्नताभिधाननगरे चैत्येषु ऋषभदेवप्रमुखजिनप्रासादेषु तीर्था-
धिपति जिनाधिराजप्रतिमा मुदा हर्षेण नते प्रणामस्य गोचरयाचकार विषयीक-
रोति स्म । नमस्कृतवानित्यर्थः । अथानन्तरं देववदनात्पश्चात् व्रतीन्द्रः सूरि वसति-
मुपाश्रय विभूषा शोभामनैषीत्प्रापयति स्म । क इव । कण्ठीरव इव । यथा पारीन्द्रः
शैलगुहा गिरिकदरा विभूषा नयति ॥ इत्युपाश्रयागमनम् ॥

ततः समुद्दिश्य महेभ्यसभ्यान्धर्मोपदेशं स वशीं दिदेश ।

पीयूषवत्तेऽपि निपीय वत्सा इवावहन्संमदमेदुरत्वम् ॥ ७९ ॥

ततो वसतामुपाश्रये आगमनानन्तरं स वशीं जितेन्द्रिय सूरिर्महेभ्यां व्यवहारि-
णस्ते एव सभ्या सदस्या सभाजनास्तानुद्दिश्य उद्देशं कृत्वा धर्मोपदेशं धर्मदेशना
दिदेशं ददाति स्म । तेऽपि महेभ्यसभ्या पीयूषवत्सुवारसमिव निपीय पीत्वा तद्दे-
शना सादरं श्रुत्वा समदैरानन्दैः कृत्वा मेदुरत्वं पुष्टतामवहन् दधते स्म । के इव । वत्सा
इव । यथा गवा तर्णका पीयूषं स्वस्वमातुरूधोमध्यविनि सरदभिनव पयो दुग्धं पीत्वा
प्रमोदादास्वाद्य मेदुरत्वमुपचयभावं वहन्ते । ‘पीयूषोऽभिनव पयः । पीयूषमपि’ इति
हैमीश्वरवृत्त्या ॥

क्षेत्रेष्विवाम्बूनि नभोम्बुवाहा द्युम्नाशुकान्यर्थिषु ते ववर्षु ।

प्रभावना श्रीफलपूगपूगैश्चक्रुस्ततो रूपकनाणकैश्च ॥ ८० ॥

ते सभ्यजना अर्थिषु तत्समयागतानेकयाचकविषयेषु द्युम्नाशुकानि द्रव्यवस्त्रादीनि
ववर्षु । प्रददुरित्यर्थः । क इव । नभोम्बुवाहा इव । यथा श्रावणमेघा क्षेत्रेषु विषयेषु अम्बू-
नि पानीयानि वर्षन्ति । वर्षाऋतोरतिपूतत्वान्नभोमासोपादानम् । ततो याचकदानानन्तरं

श्रीफलानि नालिकेराणि तथा पूगानि क्रमुकाणि 'सोपारी' इति प्रसिद्धानि तेषां
पूगैः समूहैः कृत्वा प्रभावना समुखागतानामुपाश्रयागतानां च सकलबलवृद्धजनानां
नामनिवारितदानं ददते स्म । च पुन रूपकाणां नाणकैल्यारीमहमुदीप्रमुखैः प्र-
भावना व्यधु ॥

अन्येऽपि संघाः पुरपत्तनेभ्योऽभ्येत्याभजन्सूरिसहस्ररश्मिम् ।

अश्वादिदानानि ददुर्महेन्द्रा इव प्रमोदाद्वयवादसान्द्राः ॥ ८१ ॥

अन्ये परेऽपि पुरपत्तनेभ्यः नवीननगरजीर्णदुर्गमङ्गलपुरवेलाकुलदेवपत्तनप्रमुखेभ्यो
नगरेभ्यः संघाः श्राद्धवर्गा अभ्येत्यागत्य प्रमोदात्प्रभुपार्श्वे समेत्य सूरिषु सहस्ररश्मि-
दिवाकरमभजन्ससेवन्ते स्म । पुनर्महेन्द्रा नृपा इव ते अश्वास्तुरङ्गा आदौ येषां तानि
द्रव्याशुक्रादीनि दानानि ददुर्ददते स्म । किभूता । प्रमोदानामानन्दानामद्वयवादेन
असाधारणत्वेन सान्द्रा उपचिततनूलतिका ॥

आगृह्यतस्ताननुगृह्य लोकास्तत्राशुसंधौऽशुमतीव तिष्ठन् ।

पर्जन्यकालोऽभ्रमिवोन्नताख्यं व्यातन्तनीदुन्नतिमत्पुरं सः ॥ ८२ ॥

स सूरिरुन्नताख्य पुरम् उन्नानामनगरमुन्नतिमत् शोभासपन्मय व्यातन्तनीद्वितनोति
स्म विशेषेण कृतवान् । क इव । पर्जन्यकाल इव । यथा वर्षासमयः अभ्रमेघमुन्नतिम-
त्समुन्नत नीरभरैर्नम्रीभूत व्यातनुते । स किं कुर्वन् । तत्रोन्नतनगरे तिष्ठन् स्थिति
कुर्वन् । क इव । अशुसंघ इव । यथा किरणगणोऽशुमति भास्करे तिष्ठति । तत्र तिष्ठन् किं
कृत्वा । तान् द्वीपोन्नतनगरसबन्धिनो लोकान् श्राद्धजनाननुगृह्य तेषामुपरि अनुग्रह
कृत्वा । तान्किं कुर्वन् । आगृह्यत श्रीपूज्या अस्मदुपरि प्रसादं प्रणीय अत्रैव चतुर्मासी
कुर्वन्तु इत्यमाग्रहं कुर्वन्तः ॥ इत्युन्नतनगरे चतुर्मास्यवस्थानम् ॥

घोरामनुष्ठानविधा विधातुरुग्र तपस्तेज उदीयते स्म ।

दोषालिमालम्भयतो व्रतीन्दोरिवोत्तराशा भजतो गभस्तेः ॥ ८३ ॥

• व्रतीन्दोर्हीरसूरैरुग्र परपाक्षिकैरसह्य तपसा तेजो ज्योतिः प्रतापश्च उदीयते स्म
प्रकटीभवत् । किभूतस्य व्रतीन्दो । घोरामपरेषां मन्दसत्त्वानां भयकरामनुष्ठानविधा
क्रियाप्रकारं विधातुं विदधातीत्येवशीलस्य । शीले तृज् कतुर्वा तृबुणौ । किं कुर्वन् ।
दोषाणामपगुणानां दान-लाभ-वीर्य-भोग-उपभोगाख्यानां पञ्चान्तरायकर्माणि हास्य-
रति-अरति-भय-जुगुप्सा-शोक-काम-मिथ्याज्ञान-निद्रा-विरति-राग-द्वेषा इत्येतेषामष्टादश-
सख्याकानां दोषाणामालि पङ्क्तिमालम्भयतो मूलादुच्छिन्दतो निघ्नत । पुनः किभूतस्य ।
उत्तरामग्निमा मोक्षलक्षणामाशां वाञ्छां भजत श्रयत । तेजः कस्येव । गभस्तेरिव ।
यथा उत्तराशा कौबेरीं दिशः भजतः सेवमानस्य दिवसपतेरुग्र जनैरसह्य तपोवत्तेजः ।
अथ वा तपते सतापयति जनमथ ऊर्ध्वं चेति तपस्तादृशं तेजो ज्योतिः प्रतापो वा
उदीयते प्रकटीभवति । किभूतस्य । घोरा दैत्यैरसहनीयामनुष्ठीयते स्वबलवीर्यपुरुषाकारैः

क्रियते इत्यनुष्ठानं किञ्चिदधृष्यमनधृष्य वा कार्यादिनिर्माणं तस्य विधा प्रकारः एतावता मन्देहा नाम राक्षसास्तैः सार्धमुद्धतयुद्धक्रिया कर्म विदधाति करोतीत्येवशीलस्य । यदुक्तं नैषधे प्रातर्वर्णने—‘इह हि समयेषु व्रजन्त्युदवज्रतामभिरविमुपस्थानोत्क्षिप्ता जलाञ्जलयः किल’ अथ तद्वृत्तिः । अस्मिन्प्रातः समयेऽवसरे सूर्यमुद्दिश्य उपस्थानोत्क्षिप्ता उपासनायामुद्धृता जलाञ्जलयः उदवज्रता जलरूपाशनित्वं प्रपद्यन्ते । एतावता ‘आपो वज्रीभूत्वा तानि रक्षासि मन्देहान् अरुणद्विपे क्षिपन्ति’ इति श्रुतेः । ‘तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च मन्देहा नाम राक्षसाः । उदयन्तः सहस्राशुमभ्ययुध्यन्त ते सदा ॥’ इत्युक्तेः । अथ वा घोरा घूकान्धकारैः सोढुमशक्यामनुष्ठानविधा दिवसकिरणलक्षणा क्रिया कर्तुः । पुनः किं कुर्वत । दोषाणां रात्रीणां धोरणीं घातयतो निर्णाशयतः । ‘प्रवासनोद्वासनघातनिर्वासनानि सज्ञप्तिनिष्ठम्भहिसानिर्वापणालम्भनिसूदनानि’ इति हैम्याम् ॥

स्वश्राद्धसौधाहृतभक्तभोगाद्यभिग्रहान्साग्रहमग्रहीत्सः ।

श्रीबप्पभट्टिब्रतिशीतकान्तिरिव क्षितीन्द्रप्रतिबोधधुर्यः ॥ ८४ ॥

स सूरिः स्वश्राद्धानां निजश्रावकाणां तपापक्षीयगृहमेधिना सौधाद्रेहादाहृतस्यानीतस्य भक्तस्य आहारस्य भोगो भोजनमादिर्येषां तादृक्षानभिग्रहान्निषेधरूपान्नियमान् भक्तभक्तस्य नो कल्प्युत इत्यादिकान् प्रत्याख्यानविशेषान् साग्रहमपरैर्वाचकप्रज्ञाशसाधुभिरतिविज्ञप्तोऽपि निर्वन्वादग्रहीज्जग्राह । क इव । श्रीबप्पभट्टिब्रतिशीतकान्तिरिव । यथा श्रीआममहेन्द्रप्रतिबोधविधायकबप्पभट्टिसूरिः स्वश्रावकनिकेतनानीतभक्तभोगनिषेधादिकानभिग्रहान् गृहीतवान् । किंभूतः । क्षितीन्द्रोऽकब्बरपातिसाहिरामनृपश्च । तस्य प्रतिबोधे स्वभक्तीकरणे धुर्यो धुरीणः । प्रतिबोधविधातेत्यर्थः ॥

जिनं हृदम्भोजविलासराजहंसायमानं प्रणयन्कदाचित् ।

विधाय बाह्येन्द्रियमौनमुद्रां ध्यानं स योगीन्द्र इव व्यधत् ॥ ८५ ॥

स सूरिः कदाचित्कस्मिन्नपि समये योगीन्द्रो मनोवचनकाययोगानां निरोधो विद्यते येषाम् । अथ वा यम-नियमकरणप्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि-लक्षणनामभिरष्टभिरङ्गैर्योगोऽस्त्येषामिति वा योगिनस्तेषामिन्द्र सर्वोत्कृष्टयोगिराजस्तद्व्योगमार्गाविरूढवद्विधानं कस्मिन्नपि चेतश्चिन्तिते विषये एकप्रत्ययसततिकरणप्रणिधानं व्यधत् चकार । किं कृत्वा । बाह्यानां स्पर्शन-रसन-घ्राण-नयन-श्रवणाख्यानां पञ्चानामिन्द्रियाणां मौनेन स्वस्वव्यापारनिषेधेन मुद्रां चित्तैकाग्र्यं विधाय । किं कुर्वन् । हृदम्भोजे हृदयकमलकणिकायां विलासे क्रीडाकरणे राजहंसमिवाचरन्तः जिनो वीतरागः प्रणयन् कुर्वन् ॥

नीरन्ध्रपाथःपरिपूर्यमाणपर्जन्यपुञ्जोर्जितगर्जितं किम् ।

कदापि रुच्यश्चरणेन्दिरायाः स्वाध्यायसान्द्रध्वनितं दधार ॥ ८६ ॥

कदापि कस्मिन्नपि अवसरे अस्वाध्यायनिर्मुक्तविकालवेलारहितसमये वा चरणेन्द्रि-
रायाश्चारित्रलक्ष्म्या रुच्यो भर्ता । 'विवोढा रमणो भोक्ता रुच्यो वरयितः धवः' इति
हैम्याम् । स्वाध्यायस्य प्रोचै स्वरेण सिद्धान्तादिगणनरूपस्य सान्द्र धीरगम्भीर ध्वनित
दधार । ध्वनि विधत्ते स्मेत्यर्थः । 'ध्वनिमावभार' इत्यपि पाठः । बाढध्वनिना सिद्धा-
न्ताद्यगणयदित्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—नीरन्ध्र सर्वतोऽपि निर्गत रन्ध्र छिद्र रिक्तस्थान यथा
स्यात्तथा पाथोभिः पयोभिः परिपूर्यमाणस्य निर्भर भ्रियमाणस्य पर्जन्याना प्रावृषेण्यप-
योवाहाना पुञ्जस्य घटाया ऊर्जित प्रोद्दाम गर्जित कि गर्जरिव ॥ इत्यभिग्रहध्यान-
स्वाध्यायादि ॥

तत्र प्रतिष्ठात्रितयीमतुच्छोत्सवोच्छलच्छेकमनःप्रमोदाम् ।

चक्रे मुनीन्द्रो भुवनत्रयस्याधिपत्यलक्ष्मीं स्पृहयन्निवान्तः ॥ ८७ ॥

तत्रोन्नतनगरे मुनीन्द्रो हीरसूरि प्रतिष्ठात्रितयी शतसहस्रशो भगवत्प्रतिमाप्रति-
ष्ठापनरूपाणा प्रतिष्ठाना त्रिक चक्रे व्यधत्त । किभूताम् । अतुच्छोऽत्यभ्यधिको यत्र उ-
त्सवो महामहास्तेन उच्छलन्वर्धमान छेकाना विदग्धाना मनसि स्वान्ते प्रमोदो हर्षो
यस्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—अन्तः स्वचित्ते भुवनत्रयस्य त्रैलोक्यस्याधिपत्यलक्ष्मी राज्यश्रिय
स्पृहयन् वाञ्छन्निव ॥

उग्रं तपो धन्य इवानुतिष्ठन्नाद्यं चतुर्मासकमाततान ।

अपाटवार्तिकचन काययष्टेः पुनर्द्वितीयं कुरुते स्म तस्मिन् ॥ ८८ ॥

स सूरिस्तस्मिन्नन्नतनगरे आद्य विमलाचलयात्रा कृत्वा तत्र गमनानन्तर प्रथमं
चतुर्मासक वर्षारात्रमाततान करोति स्म । कि कुर्वन् । उग्रमत्युत्कट घोर षष्ठाष्टमादिम-
मतिशायि विकृष्ट तपोऽनुतिष्ठन् विदधत् । क इव । धन्य इव । यथा काकन्दीसत्को द्वात्रिंश-
त्कनकोटीकामिनी द्वात्रिंशद्भूमिकप्रासादमौक्ता धन्यनामानगारः । उग्र षष्ठाचामाम्लानि
अनुतिष्ठति स्म । पुनर्द्वितीयवार काययष्टे शरीरस्य किञ्चन किमपि अपाटवादपटुत्वा-
त्प्रबलरोगादिना मन्दत्वादिकारणात् द्वितीय द्वयोः सख्यापूरणम् । कम् । चतुर्मासक
तस्मिन्नेवोन्नतपुरे कुरुते स्म ॥

अथ सूरैर्दीक्षादानदिनादारभ्य यत्किञ्चित्तपो विहित तदुच्यते परिवारश्च—

अथ व्रतादानदिनात्तपो यत्तीव्रं व्रतीन्द्रेण विधीयते स्म ।

बभूव यस्तस्य परिच्छदश्च श्रीवीरवत्किञ्चिदिहोच्यते तत् ॥ ८९ ॥

अथेत्यधिकारान्तरकथनम् । तस्य व्रतस्य दीक्षाया आदान ग्रहण तस्य दिनाद्विवसादी-
क्षाग्रहणदिन मर्यादीकृत्य व्रतीन्द्रेण हीरसूरिणा यत्किञ्चिदल्पमनल्प वा तप एकाशनका-
दिक तथा तीव्र षष्ठाष्टमादिम घोर कठिन विधीयते स्म कृत च । पुनस्तस्य प्रभोर्यो
यावत्सख्याक परिच्छदः परिवारो बभूव सजातः । किवत् । श्रीवीरवत् श्रीमन्महावी-

रदेवस्येव तपस्तथानुष्ठानादिकमासीत् । तत्किंचिदिह ग्रन्थे देशमात्रं यथाश्रुतं मया ग्रन्थकर्त्रोच्यते कथ्यते ॥

सूरीन्दुरेकाशनकं न यावज्जीवं जहौ न्यायमिव क्षितीन्द्रः ।

पञ्चापि चासौ विकृतीरहासीद्गुणान्सरस्येव पराबुभूषुः ॥ ९० ॥

सूरीन्दुर्मुनिचन्द्रो यावदिति यावन्तं समयं जीव्यते प्राणा धार्यन्ते इति यावज्जीवं समयमजन्म मर्यादीकृत्य एकवारमशनमेकाशनं सकृद्भोजनं वा यत्र । एकाशनके स्वार्थे क । न नैव जहौ तस्याज । सकृदेव भुक्तवानित्यर्थः । क इव । क्षितीन्द्र इव । यथा धर्मप्रवानो राजा न्यायं नीतिं न जहाति । च पुनरसौ सूरिः दधिदुग्धपक्वान्नतैलगुडघृताभिधाना पञ्चसख्याका विक्रियते विकारयुक्तो जीवः क्रियते एभिरिति विकृतयः स्वा विकृतीरहासीदत्याक्षीन्मुञ्चति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—सरस्य कदर्पस्य पञ्चप्रमाणान् शब्दरूपगन्वरसस्पर्शाभिधान् गुणान् पराबुभूषु पराभवितुमिच्छुरिव ॥

द्रव्याणि वल्भावसरे व्रतीन्द्रः सदाददे द्वादश नाधिकानि ।

किं भावना पोषयितुं विशिष्य भवाब्धिपारप्रतिलम्भयित्रीः ॥ ९१ ॥

व्रतीन्द्रः सदा सर्वकालं सूरिपदप्राप्तिं मर्यादीकृत्य वल्भावसरे आहारकरणसमये द्वादश सूर्यसख्ययैव द्रव्याणि धान्यानां नामग्राहं विकृतेस्त्वेकैव शाकान्यपि नामग्राहं पानीयं च सर्वाण्यपि द्वादशान्तर्भावीनि आददे जग्राह नाधिकानि द्रव्याण्यग्रहीत् । कदाचिदपीत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्यते—अनित्यता—अशरणत्व—ससारत्व—एकत्व—अन्यत्व—अशुचित्व—आश्रय—सवर—निर्जरा—धर्म—लोक—बोधिसत्ता द्वादश भावना पोषयितुं पुष्टा कर्तुमिव । कथम् । विशिष्य विशेषप्रकारेण कृत्वा । किंभूता भावना । भवः ससारं स एवाब्धिः समुद्रस्तस्य पारस्य परतीरस्य मोक्षवेलाकूलस्य लम्भयित्री प्रापयित्री । ‘अन्यथा कथमदं प्रतिलम्भं’ इति नैषधे । ‘प्रतिलम्भं प्राप्तिः’ इति तद्वृत्तौ ॥

व्रतिक्षितीन्द्रेण स सप्तपञ्चत्रिंशन्मिताः कातरितान्यसत्त्वाः ।

आहारदोषाः कृतपापपोषा द्वेष्या इव द्वेषजुषा निषिद्धाः ॥ ९२ ॥

व्रतिक्षितीन्द्रेण सूरिराजेन सह सप्तभिर्वर्तते । सप्तयुक्ता इत्यर्थः । तादृशाः पञ्चत्रिंशत् तैर्मिता प्रमाणीकृता । एतावता सप्तान्विता पञ्चत्रिंशत् द्विचत्वारिंशद्भवन्ति । द्वाचत्वारिंशत्सख्याकाः । ‘सोलस उगमदोसा सोलस उपायणाय दोसाय । दस एसणाइ दोसा मिलीय सव्वे विवायाला ॥’ इति वचनात् । अथैतानेव पृथक् विवृणोति । श्राद्धश्राद्धीभ्यः षोडश दोषाः समुत्पद्यन्ते । तानेव दर्शयति—आध्यवर्त्मिक—औद्देशिक—पूतिकर्म—मिश्रकर्म—स्थापनाकर्म—प्राभृतिकर्म—प्रादु करण—क्रीतदोष—ग्रामित्य—परावृत्तत्व—अभ्याहत—उद्भिन्नक—मालापक—आच्छेद्यक—अनिष्ट—अध्यवपूरका । अथ साधुसाध्वीभ्यः षोडश दोषा जायन्ते । तानेव दर्शयति—वात्रीदोष—दूतीदोष—निमित्तदोष—आजीवक—वनोपक—चिकित्सा—क्रोधदोष—मान—माया—लोभ—पूर्वसस्तव—पश्चात्सस्तव—विद्यादोष—

मन्त्रदोष-चूर्णदोष-योगदोषाः । अथैषणादोषा दश साधुश्राद्धेभ्यः समुत्पद्यन्ते । तानपि दर्शयति—शङ्कितदोष-मर्क्षितदोष-बहिर्निक्षिप्त-पिहितदोष-सहतदोष-दम्यकदोष-उन्मिश्रदोष-अपरिणत-लिप्तदोष-छर्दितदोषा । तथा प्रभोजन कुर्वता साधूनां प्रसङ्गात्पञ्च दोषा भवेयुः । तेऽप्युच्यन्ते—सयोजन-अप्रमाण-इङ्गाल-धूमसामान्य-अकारणदोषाः । केचित्सप्तचत्वारिंशदपि दोषान्प्रतिपादयन्ति । तस्मात्तेऽपि प्रोक्ताः । पर मौलास्तु द्विचत्वारिंशत्सख्याका एव । आहारस्य भोजनस्य दोषा अपगुणास्ते निषिद्धा निवारिताः । एतावता सूरि(रयो) द्वाचत्वारिंशदोषनिर्मुक्तमाहारमभ्यवहरन्ति । किंभूता दोषा । कातर क्लीब ततः शुद्धिविमुख कुर्वन्तीति कातरयन्ति । कातरयन्ते स्मेति कातरिता । 'तत्करोति तदाचष्टे' इति प्रक्रियासूत्रेण जिप्स्ययः । 'जन्तन्तात् क्त' इति क्तप्रत्ययः । जिलोपे इट्प्रत्ययश्चेति सिद्धम् । उदाहरणं यथा नैषधे प्रथमकाव्ये—'नल किभूत । सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल पूर्वोक्तयुक्तिरेव । सितं च छत्रं च सितच्छत्रं करोतीति सितच्छत्रयति सितच्छत्र्यते स्मेति सितच्छत्रिता कीर्तिमण्डले देशे येन' इति नरहर्याम् । कातरीकृता हीनसत्त्वा विहिता अन्ये अपरे सत्त्वा कर्मपरिणतिवशाच्चारित्रपालनासमर्था प्राणिनो यैस्ते । पुनः किंभूताः । कृतं निर्मितं पापस्य दुःकृतस्य पोष पुष्टिर्नैव । पापोपचयकारिभिरित्यर्थः । केनेव निषिद्धा । द्वेषजुषेव । यथा विरोधवता अतीववैरभाजा भूभुजा द्वेष्याः स्ववैरिण पराक्रमेण निषिध्यन्ते मूलतोऽप्युच्छिद्यन्ते ॥

अंहोद्बुहामाभरणानि भिक्षोः किं द्वादशानां प्रतिमारमाणाम् ।

तपासि यो द्वादशभेदभिन्नान्यपूपुषत्कायमशूशुषच्च ॥ ९३ ॥

यो भगवान् अनशन-मूनोदरिका-वृत्तिसक्षेप-रसत्याग-कायक्लेश-सलीनता इति षड्विधं बाह्यं तपः । तथा प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-ध्यान-कायोत्सर्गाः इति षोढा आभ्यन्तरं तपः । षट् बाह्यानि षडाभ्यन्तराणीति द्वादशभिर्भेदैः प्रकारैः भिन्नानि पार्थक्यभाजि तपासि अपूपुषत् पुष्णाति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—भिक्षो सावोः प्रति अलेपाहारैकभक्तपानसत्का प्रथमा एकमासस्य, द्वितीया द्विमास्या, तृतीया त्रिमास्या, चतुर्थी चतुर्मास्या, पञ्चमी पञ्चमास्या, षष्ठी षण्मास्या, सप्तमी सप्तमास्या । पूर्वविवि सर्वास्वपि ग्राह्याः । अष्टमी सप्तरात्रिका । तत्र चतुर्विधाहारनिषेधकचतुर्थी । तथा ग्रामाद्बहिः कायोत्सर्गकरणम् । नवमी सप्तरात्रिकी । उत्कटिकासनेन दण्डासनेनेवास्थानम् । दशमी सप्तरात्रिकी । साष्टमभक्ता चतुर्विहारप्रत्याख्यानं च गोदुहिकासनेनावस्थानम् । एकादशी एकरात्रिकीत्युच्यते । परममष्टमभक्तेन पूर्यते चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानं च तृतीये दिने । ग्रामाद्बहिः कार्योत्सर्गकरणम् । द्वादश्यपि एकरात्रिकी । परं चतुर्विधाहारत्यागाष्टमभक्तेन पूर्यते तत्रानिमेषनेत्राभ्यां कायोत्सर्गकरणम् । इत्थं सूत्रोक्तविधिविधानात्प्रतिमाना द्वादशसख्याकानां प्रतिमारमाणा श्रमणानुष्ठानविशेषलक्ष्मीणामाभरणानीव भूषणानीवापूपुषत् । किंभूतानां प्रतिमारमाणाम् ।

अंहोद्गुहामंहसा दुरन्तदुरितानां दुर्हां द्रोहकारिकाणां मूलादुच्छेदविधायकानां च पुनर्यो मुनीन्द्र कायं स्वशरीरमशूषत् विकटोत्कटतपोभिः कृत्वा शोषयति स्म । कृशीकृतवानित्यर्थः ॥

गुरोः समीपे विजयादिदानवाचयमेन्दोर्विधिना व्रतीन्द्रः ।

आलोचनां द्विर्ग्रहयांबभूव लोकद्वयस्येव विशुद्धये सः ॥ ९४ ॥

व्रतीन्द्रो हीरसूरिर्गुरोः स्वधर्माचार्यस्य तपस्यादातुर्वा विजय इति पदमादौ यस्य तादृशस्य दाननाम्न एतावता विजयदानसज्ञस्य वाचयमेन्दोः सूरौ समीपे पार्श्वे विधिना शास्त्रोक्तप्रकारेण द्विर्वारद्वयमालोचनां निःशल्यत्वेन निजाशेषपापप्रकाशनपूर्वकप्रायश्चित्तविशेषं ग्रहयांबभूव गृह्णाति स्म । ‘गृह्णाति द्रहयते लाति’ इति क्रियाकलापे । उत्प्रेक्ष्यते—लोकयोरिहलोकपरलोकयोर्वर्तमानामुक्तभवयोर्द्वयस्य युगलस्य विशुद्धये निर्मलीकरणायैव ॥

उपोषणानां त्रिशतीं व्यतानीत्सूरीन्दुरालोचनयोर्द्वयोः सः ।

समीहमानो मनसाधिगन्तुं पदं त्रिलोकाग्रभवं किमेषः ॥ ९५ ॥

यः पातिसाहिसमानितः स जगद्विख्यात एष प्रत्यक्षलक्ष्योऽस्मदादीनां दृग्गोचरीभवन् सूरीन्दुर्हीरसूरिचन्द्रो द्वयोरुभयोरालोचनयोर्द्विर्वारविहितदुः कृतालोचनप्रायश्चित्तयोरुपोषणानामुपवसनानां त्रिशतीं त्रयाणां शतानां समाहारस्त्रिशती तां सर्वाग्नेयेति सभाव्यते । व्यतानीत्करोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—त्रिलोकस्य । ‘त्रिलोकनाथेन सता मखद्विष’ इति रघौ । ‘त्रिलोकनाथास्त्रिलोकपूज्यास्त्रिलोकेश्वरा इति बृहच्छान्तौ । त्रैलोक्यस्याग्नेः उपरितनप्रदेशे भवमुत्पन्नं यत्पदं यत्स्थानं मनसा अधिगन्तुं प्राप्नुमोक्षस्थानं लब्धुमधिगत्य प्राप्येत्यर्थः’ इति तद्वृत्तिः । मनसा स्वचित्तेन कृत्वा समीहमान एष वाञ्छन्निव ॥

षष्ठात्सपादा द्विशतीं शमीन्द्रो व्यातन्तनीति स्म स नीतिचन्द्रः ।

साग्रेऽपि गव्यूतिशतद्वये स्वमाहात्म्यमिच्छञ्जिनवत्किमुर्व्याम् ॥ ९६ ॥

शमीन्द्रः शमवता साधूनां मध्ये इन्द्रः पुरदरो द्वयोरलोचनयोस्तथा अन्येऽपि सर्वे भूपतयः सपादा द्विशती पञ्चविंशत्यधिकशतद्वयी षष्ठानामुपवासद्वयलक्षणानां व्यातन्तनीति स्म कृतवान् । स किलक्षणः । नीतौ न्याये चन्द्रः । अथ वा ‘सान्द्र’ इति पाठः । दृढः अतिशायिन्यायविधाता । तत्र विषये वयमेव विद्मः । उत्प्रेक्ष्यते वा—गव्यूतीनां क्रोशानां साग्रे पञ्चविंशत्यधिके शतद्वये । सपादक्रोशशतद्वयप्रमाणे इत्यर्थः । इति हैमनाममालानुगतव्याख्यानम् । ‘तस्या यथा साग्रे च गव्यूतिशतद्वये—’ इति । जिनवत्तीर्थंकरस्यैव स्वस्य माहात्म्यं निजस्य सप्तानामीतीनां प्रशमनरूपादिकं महिमानमुर्व्यां पृथिव्या किमिच्छन् काङ्क्षन्निव ॥

द्वासप्ततिं सूरिसहस्ररश्मिः स निर्मिमीते पुनरष्टमानाम् ।

विद्यश्चतुर्विंशतिकात्रिकस्य प्रसत्तिमाधातुमना जिनानाम् ॥ ९७ ॥

सूरिषु सहस्ररश्मिः अधिकप्रतापत्वेन भानुमाली पुनर्द्वयोरालोचनयोरन्येषा च अष्टमानामुपवासत्रिकलक्षणानां द्वासप्ततिं निर्मिमीते स कृतवान् । उत्प्रेक्ष्यते—चतुर्विंशतिकानामतीतानागतवर्तमानरूपाणां त्रिकस्य त्रितयस्य जिनानां तीर्थकृताम् । चतुर्विंशतिस्त्रिभिर्गुणिता सती द्विसप्ततिर्भवेत् । एतावता द्वासप्ततिमितार्हद्भृशरकाणाम् । केवल-ज्ञानि-निर्वाणि-सागर-महायशः-विमल-सर्वानुभूति-श्रीधर-दत्त-दामोदर-सुतेजः-स्वामि-मुनिसुव्रत-सुमति-शिवगति-अस्ताघ-नमि-अनिल-यशोधर-कृतार्थ-जिनेश्वर-शुद्धमति-विवेक-स्यन्दन-सप्रतिनामान् एतेऽतीतचतुर्विंशतिजिना । ऋषभ-अजित-शभव-अभिनन्दन-सुमति-पद्मप्रभ-सुपार्श्व-चन्द्रप्रभ-सुविधि-शीतल-श्रेयांस-वासुपूज्य-विमल-अनन्त-वर्म-शान्ति-कुन्धु-अर-मल्लि-मुनिसुव्रत-नमि-नेमि-पार्श्व-वर्धमानाभिवा एते वर्तमानचतुर्विंशतितीर्थकराः । पद्मनाथ-सुरदेव-सुपार्श्वक-स्वयप्रभ-सर्वानुभूति-देवश्रुत-उदय-पेढाल-पोटिल-शतकीर्ति-सुव्रत-असम-निष्कषाय-निष्पुलाक-निर्मम-चित्रगुप्त-समाधि-सवर-यशोधर-विजय-मल्ल-देव-अनन्तवीर्य-भद्रकृत्सज्ञा एते त्वनागतचतुर्विंशतिरहन्त । एतेषां चतुर्विंशतित्रितयजिनानां प्रसत्तिं स्वविषये प्रसन्नभावमाधातुमना कर्तुकाम इव विद्य इवार्थेऽत्र ॥

चक्रे य आचाम्लसहस्रयुग्मं स्वयं जिनं स्तोतुमवेक्षितुं वा ।

पृथक्सहस्रे रसनेक्षणानां विद्यः फणीन्दोरिव लिप्समानः ॥ ९८ ॥

यो भगवान् आचाम्लानां सहस्रस्य दशशत्या युग्मं द्वन्द्वं चक्रे विंशतिशतीं विधत्ते स तत्र विषये वयमेव विद्मो जानीम । उत्प्रेक्ष्यते वा—जिनं वीतरागं स्वयमात्मनैव स्तोतुं स्तवनगोचरीकर्तुं पुनरवेक्षितुं विलोचनविषयं विधातुं द्रष्टुं रसनेक्षणानां जिह्वानयनानां पृथक्पृथक् सहस्रे लिप्समानं काङ्क्षन्निव । भगवन्तं स्तोतुं रसनानां द्विसहस्रं तथा अनिमेषं विलोकयितुं लोचनानां विंशतिशतीमीहमानं इव । केषामिव । फणीन्दो रसनेक्षणानामिव । यथा शेषनागस्य रसनानां तथा ईक्षणानां सहस्रे स्त । तस्य नागराजस्य सहस्रफणत्वेन द्विजिह्वत्वेन द्विनेत्रत्वेन सहस्रफणेषु रसज्ञानां नयनानां च द्विसख्याभावत्वेन द्विसहस्री स्यात् । तथा चम्पूकथायाम्—‘यस्यास्मिन्नुरगप्रभोरिव भवेज्जिह्वासहस्रद्वयम्’ इति ॥

आचाम्लकैर्विंशतिसंमितानि यः स्थानकान्यातनुते स सूरिः ।

निजस्य विंशत्यसमाधिपूर्वस्थानान्यपाकर्तुमना इवैषः ॥ ९९ ॥

यः सूरिराचाम्लकैराचाम्लनामतपोविशेषैः कृत्वा विंशतिसंख्यया संमितानि प्रमाणीकृतानि स्थानकानि—‘अर्हति सिद्धे प्रवचनसूरि स्थविरेषु वाचके साधौ । ज्ञाने भक्तिर्दर्शनशुद्धिः सद्दिनयसपन्नाः ॥ सध्याद्वयेऽप्यवश्यावश्यककरणेन शुद्धचारित्रम् ।

ब्रह्मव्रतधारिवशः क्रियारताः पूर्णपौषधतः ॥ नवतपसा च तपस्वी सुसंविभागेन गोत-
मस्वामी । वैयावृत्येन जिना समताभावाच्च चारित्रम् ॥ ज्ञान नूतनपठनात्सघार्चाविर-
चितैः श्रुतज्ञानम् । जिनशासनोन्नतिकृतेस्तीर्थ त्वेभिभवेदर्हन् ॥' एतदभिधानानि विश-
तिस्थानकानि आतनुते स्म विदधे । उत्प्रेक्ष्यते—निजस्यात्मनः विशतिसंख्याकानि
असमाधिरिति पद पूर्व येषां तादृशानि स्थानानि । तानि यथा—अतित्वरितं प्रचलति,
अप्रमार्ज्यं स्थानकं कुरुते, दुःप्रमार्ज्यं स्थानकं कुरुते, अन्यजनैः सह नारदवत्क्लेशं का-
रयति, पीठशय्यापट्टकादीनि अधिकानि रक्षयति, आचार्योपाध्यायरत्नाधिकानां संमुखं
वक्ति, स्थविरादीन् घातयति, भूतानि विनाशयति, पुनः पुनः क्रोधं कुरुते, सदैव
क्रोधतमे भाषयितुमपि न शक्यते, पृष्ठे गुणवता विरुद्धं भाषते, मुहुर्मुहुर्निश्चयभाषा
भाषते, अविकरणान्युदीरयति, अकाले स्वाध्यायं कुरुते, अस्थण्डिलात्स्थण्डिलं गच्छन्
पादौ न प्रमार्जयति स्वयं च खण्डितहस्ताभ्यां विहरति, अकाले दीर्घं बाढस्वरेण
भाषते, स्वयं नि प्रयोजनं क्लेशं कुरुते, गच्छभेदं स्वयं करोति परांश्च कारयति
परैर्वा, यावद्भास्वानुदयस्त्यस्तमयति च तावद्भुङ्क्ते, अशुद्धमानमप्याहारं न मुञ्चति,
एवविधानि विशत्यसमाधिस्थानकानि अपाकर्तुमना निराकर्तुकाम इवैष ॥

चक्रे पुनर्निर्विकृतीः सहस्रे द्वे सूरिरद्वैतधृतिं दधानः ।

किं संसृतिं निर्विकृतिं विधातुं हृषीकपङ्क्तिं किमुत स्वकीयाम् ॥१००॥

सूरि पुनर्यथा चाम्लानि तथैव द्वे सहस्रे सहस्रयोर्द्वयीमेतावता विशतिशतीं दधि-
दुग्ध-पक्वान्न-तैल-गुड-घृतरूपषट् विकृतिपरित्यागरूपा निर्विकृतीस्तपोग्रहविशेषाश्चक्रे
कृतवान् । किलक्षणः । धृति रसनारसलाम्पव्यपरित्यागमयी सतोष दधानो बिभ्राण ।
उत्प्रेक्ष्यते—संसृतिं ससारं भूयो भूयो दोषोत्पादकत्वेन अनन्तजन्ममरणोपचयका-
रणलक्षणा विकृतिर्विकारस्तद्रहिताम् । विरलामित्यर्थः । कर्तुं विधातुमिव । उताथ वा
स्वकीया स्वात्मसबन्धिनी हृषीकपङ्क्तिमिन्द्रियश्रेणीम् । पञ्चाक्षीमित्यर्थः । निर्विकृति
विकारविकला स्पर्शन-रसन-घ्राण-नयन-श्रवणानामिन्द्रियाणां स्पर्श-रस-गन्ध-
रूप-शब्देषु प्रवृत्तिकरणलक्षणेषु तत्तद्व्यापारेषु मन्दीभवनान्निवृत्तिकारिका कर्तुमिव वा ॥

स एकदन्तिस्फुरदेकसिक्थमुखानि तीव्राणि तपासि चक्रे ।

प्रभुः प्रणेतुं स्पृहयन्निवैकभवामनन्तामपि संसृतिं स्वाम् ॥ १०१ ॥

स सूरिरेकदन्तिरेकस्मिन्वारके पात्रे । यत्रानवच्छिन्नं पानीयान्नादिकं पतेत्सा एकद-
न्तिरुच्यते । यस्मिंश्चैकमेव सिक्थं भुज्यते नान्यत्तदेकसिक्थमेकदन्त्या स्फुरद्दीप्यमानम् ।
युक्तमित्यर्थः । एकसिक्थं तत्प्रमुखमाद्यं येषु तादृशानि तीव्राणि अतिकठिनानि
तपासि चक्रे विनिर्मितवान् । उत्प्रेक्ष्यते—अनन्ता स्वभावपरिणामेन न विद्यते अन्तो-
ऽवसानं यस्यास्तादृशी स्वा स्वकीयां संसृतिं ससारमेक एव भवोऽवतारो यस्यास्तादृशी
प्रणेतुं निर्मातुं स्पृहयन्निव ॥

उपोषणानामपुषत्सहस्रत्रयं स तस्योपरि षट्शतीं च ।

सरोजजन्मा धरणीधरेन्द्रं सुधाशनानामिव चारुचूलाम् ॥ १०२ ॥

स सूरिरुपोषणानामुपवासाना सहस्राणां दशशतीना त्रय त्रिक त्रिसहस्रीमपूपुषत् पुष्पाति स्म । चकारेत्यर्थः । च पुनस्तस्य सहस्रत्रयस्य उपरि षट्शती षट्शतानि उपवासान् चकार । क इव । सरोजजन्मेव । यथा कमलभूर्ब्रह्मा सुधाशनाना देवाना धरणीधरेन्द्र मेरु व्यधात् । पुनस्तस्योपरि चारुं प्रकृष्टं चूला विवत्ते स्म । यद्यपि धरणी-धरेन्द्र इति नाम्ना मेरुरायातस्तथापि धरणीधरेन्द्रो हिमाद्रिरप्युच्यते । तस्यापि नगाधिराजत्व वर्तते । पर तस्मिन् चूला नास्ति, तन्निरासार्थं सुधाशनानामित्युक्तम् । सुराद्रिर्मेरुरेव नापर ॥

एकाशनाचाम्लयुतैर्यतीन्दुरुपोषणैर्निर्गलितान्तरायम् ।

त्रयोदश व्यातनुते स्म मासाञ्जि क्षामि वः स्वीयगुरोस्तपोऽसौ ॥ १०३ ॥

असौ यतीन्दु सूरि स्वीयगुरो विजयदानसूरे तपोऽनुष्ठानविशेष व्यातनुते स्म निर्ममे । कान् । मासान् । त्रिशद्वासरान्यावत् । किभूतान् मासान् । त्रयोदश विश्वेदेव-प्रमितान् त्रयोदशसख्याकान् । कथम् । निर्गलितान्तराय विगतविगतविघ्नम् । कैश्चक्रे । उपोषणैरुपवासैः । किभूतैः । एकाशनाचाम्लयुतैः प्रथममुपवास, तत एकाशनकमेकभ-क्तम्, तत आचाम्ल केवल जलेन रुक्षान्नाशनम्, पुनरुपवास, अनया रीत्या निर्विघ्न त्रयोदशमासी यावद्विजयदानसूरेस्तपो विदधे । उत्प्रेक्ष्यते—स्वीयगुरोरासेवनाग्रहणा-दिकां शिक्षामिवातनुते स्म ॥

त्रिधा समाराद्भुमनाः समग्रज्ञानानि चैकादशयुग्ममासान् ।

तपांसि तीव्राणि चकार योगैः परीषहाञ्जेतुमिवेहमानः ॥ १०४ ॥

स सूरिरेकादशाना युग्म येषु । एकादश द्वाभ्या गुणिता द्वाविंशतिर्जाता । तादृशान्मा-सान् द्वाविंशतिमासान्यावद्योगैरङ्गोपाङ्गादिसूत्राणा योगवहनैः कृत्वा तीव्राण्युपवासा चा-म्लादिरूपाणि तपांसि चकार कृतवान् । किं कर्तुमना । त्रिधा त्रिभिर्मनोवाक्यायलक्षणैः कृत्वा समग्राणि मतिश्रुतावधिमन पर्यवकेवललक्षणानि पञ्चापि ज्ञानानि समाराद्भुमना सम्यगाराधयितुकाम । उत्प्रेक्ष्यते—क्षुधा-तृषा-शीत-उष्ण-दंशमशक-अचेल-अरति-स्त्री-चर्या-निषद्या-शय्या-आक्रोश-वव-याचन-अलाभ-रोग-तृण-मल-स-त्कार-प्रज्ञा-अज्ञान-सम्यक्त्व रूपान् द्वाविंशतिसख्याकान् परीषहान् जेतुमीहमान इव ॥

उग्रैस्तपोभिर्द्युनिशं त्रिमासी यत्सूरिमन्त्र विधिनारराध ।

श्रीशासनाधिनिदशैर्वशीन्द्रः स्वयं स्वयंभूरिव सेव्यमानः ॥ १०५ ॥

यो वशीन्द्रो योगीश्वर उग्रैः पारणकेष्वाचाम्लयुक्तैश्चतुर्थषष्ठाष्टमादिरूपैस्तपोभिरभि-ग्रहविशेषैः कृत्वा त्रिमासी मासत्रयी यावत् द्युनिशमहोरात्र सूरिमन्त्रमाचार्यपद-

स्थापनगौतमविद्या विधिना सम्यक् तत्कल्पशास्त्रपूर्वाचार्यप्रोक्तप्रकारेणारराध साधयति स्म । किं क्रियमाण । स्वयम्भूजिनेन्द्र इव श्रिया युक्तैरनेकदेवदेवीवृन्दाधिपत्यकलितैः शासनस्य जिनमतस्याधिनिदशैरधिष्ठायिकैर्देवैर्वाग्वादिनी-त्रिभुवनस्वामिनी-श्रीदेवी-यक्षराज-गणिपिटकप्रमुखसुरासुरैः स्वयमात्मना सेव्यमान उपास्यमानः ॥

सूरीन्दुरेकाग्रमनाश्चतस्रः स्वाध्यायकोटीर्गणयांबभूव ।

निर्वेदिताशेषशरीरभाजा चतुर्गतानामिव जैत्रमन्त्रान् ॥ १०६ ॥

सूरीन्दुरेकाग्रमेकतान मनश्चेतो यस्या व्यग्रान्त करण सन् स्वाध्यायाना सिद्धान्तप्रकरण-परिवर्तन-गणन-चिन्तनरूपाणा चतस्र चतुःसख्याका कोटी शतीशतसहस्राणा गणयांबभूव गणयति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—निर्वेद खेद प्रापिता नीता अशेषाः ससारवर्तिनः समस्ता शरीरभाजा प्राणिनो याभिस्तादृशीना नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवलक्षणाना चतसृणा गतीना जैत्रान् जयनशीलान्मन्त्रानिव गणयांचकार ॥

ग्रन्थावली निर्मितवान्विशुद्धां निजा मनोवृत्तिमिव व्रतीन्द्रः ।

अदीक्षयद्यः शतशो वशीशः शिष्यान्स्वशिष्यीकृतशक्रसूरिः ॥ १०७ ॥

यो व्रतीन्द्रो ग्रन्थावलीं शास्त्रश्रेणीमशुद्धा विशुद्धा कूटवर्णविरहिता निर्मितवान् शोधयामास । कामिव । निजामात्मीया मनोवृत्तिमिव स्वान्तव्यापृतिमिव विशुद्धा निष्पापा निर्मितवान् । पुनर्यो वशीश जितेन्द्रियेन्द्र योगिजम्भाराति शतश शतसख्याकान् शिष्यान् विनेयान् अदीक्षयत् दीक्षा ग्राहयति स्म । किंभूत । शिष्यीकृतो बुद्ध्या शास्त्रपरिज्ञानेन च निजान्तेवासिविहित शक्रसूरि पुरदराचार्य बृहस्पतिर्येन । 'ईदृशी गिरमुदीर्य बिडौजा जोषमासनविशिष्य बभाषे । नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवाववि गुरुर्गुरुरस्य' ॥ इति सूरेरातपस्यासमय तप क्रियानुष्ठानादिवर्णनम् ॥

यत्पण्डिताः सार्धशतं बभूवुः संप्राप्तसिद्धान्तपयोधिपाराः ।

दिवेर्ष्ययैकं विषण दधत्या वागीश्वराः किं विधृता धरित्र्या ॥ १०८ ॥

यस्य सूरे पण्डिता प्रज्ञाशपदवारिणः सार्धशतमेकपञ्चाशदुत्तर शत सख्या येषां तादृशा बभूवुः सजाता । किंभूता । संप्राप्तोऽविगतः सिद्धान्तस्यागमस्य उपलक्षणात् स्वसमयपरसमयप्रवर्तमानशास्त्रसदोहस्वरूपस्य पयोधे समुद्रस्य पारो यैस्ते । उत्प्रेक्ष्यते—एकमेव विषण बृहस्पतिम् । 'वाचस्पतिर्द्वादशार्चिविषण फाल्गुनीभव' इति द्वैम्याम् । दधत्या धारयन्त्या दिवा स्वर्लोकेन अमरावत्या वा सममीर्ष्यया स्पर्षया धरित्र्या धरित्रीभुवा सार्धशत वागीश्वरा सुराचार्या विधृताः किं ध्रियन्ते स्म इव ॥

सप्ताभवन्वाचकवारणेन्द्रा यस्योल्लसद्वाग्लहरीविलासाः ।

गाम्भीर्यभाजो गुणरत्नपूर्णास्तरङ्गिणीनामिव जीवितेशाः ॥ १०९ ॥

यस्य भट्टारकस्य सप्तसख्याका वाचकेषु उपाध्यायेषु विषये कुमतिमतप्रबलबलवि-

दलनेन वारणेन्द्रा कुञ्जरराजा अभवन् सजायन्ते स्म । के इव । तरङ्गिणीनां जीवि-
तेशा इव । यथा नदीनां नाथा सप्तसख्याका भवन्ति । यदुक्त हैम्याम्—‘द्वीपा-
न्तररसख्यास्ते सप्तैवैते तु लौकिकाः’ इति द्वये अपि । किभूताः । उल्लसन्तः स्फुरन्तो
वाचो वाण्य एव लहर्यः कल्लोलास्तेषां विलासा विभ्रमा वैचित्र्यो येषु येषां वा । पुनः
किविशिष्टाः । गाम्भीर्यं गम्भीरिमाणमलब्धमध्यत्वं भजन्तीति । पुनः कथंभूताः । गुणा
एव रत्नानि मणयस्तैः पूर्णा निर्भरभृता ॥

क्षमा दधानस्य च गौरिमाणं पदाब्जभृङ्गायितचक्रिणश्च ।

द्वे यस्य जाते यतिनां सहस्रे विलोचनानामिव भोगिभर्तुः ॥ ११० ॥

यस्य सूर्ययतिनां साधूनाम् । ‘ब्रह्मशर्मभरचारुयतीव’ इति नैषधे । अतो यतिशब्द-
इकारान्तो नकारान्तश्च । द्वे सहस्रे विशतिशती जाते । कस्येव । भोगिभर्तुरिव । यथा
नागराजस्य विलोचनानां चक्षुषा द्वे सहस्रे स्तः सहस्रफणत्वात् । किभूतस्य यस्य भोगि-
भर्तुश्च । क्षमा क्षान्तिं सर्वसहता धरित्री दधानस्य विभ्राणस्य । च पुनर्गौरिमाणं सुवर्ण-
वर्णतां श्वेतिमानं च । ‘गौरः श्वेतपीतयोः’ इत्यनेकार्थः । पुनः किभूतस्य । पदाब्जयो-
श्चरणारविन्दयोः भृङ्गायिता भ्रमरवदाचरिताश्चक्रिणः चक्रवर्तिनो महाराजा नागाश्च
यस्य । ‘दर्वाकरः कञ्चुकिचक्रिगूढपात्’ इति हैम्या गुरुनागेन्द्रयोर्विशेषणानि ॥

शीलं परिष्कारमिवोद्वहन्त्यः सर्वानुवादा इव चन्दनायाः ।

यस्याप्तवाङ्मानसराजहंस्यः साध्व्यो बभूवुस्त्रिशतीमिताश्च ॥ १११ ॥

यस्य सूर्येन्द्रयाणां शतानां समाहारस्त्रिशती त्रीणि शतानि तथा मिताः प्रमाणीकृताः
साध्व्यो यतिन्यो बभूवुः सजाताः । किभूताः । आप्तानां तीर्थकृता वाग्वाणी सिद्धान्तः ।
‘आप्तोक्तिः समयागमौ’ इति हैमीवचनात् । सैव मानसः राजहसनिवाससरस्तत्र खेलने
राजहस्यः । सिद्धान्तस्वाध्यायध्यानपरा इत्यर्थः । किं कुर्वत्यः । उद्वहन्त्यः उत्प्राबल्येन
वहन्त्यो धारयन्त्यः । किम् । शीलं त्रिधापि ब्रह्मचर्यम् । कमिव । परिष्कारमिव आभ-
रणमिव । ‘परिष्काराभरणे च’ इति हैम्याम् । उत्प्रेक्ष्यते—चन्दनायाः चन्दनबालायाः
सर्वानुवादा इव सर्वशीलागमादिकमनुवदन्ति अनुकुर्वन्तीति । चन्दनातुल्या इत्यर्थः ॥

व्रजे यतीनां विजयाद्यसेनप्रभोर्ददौ सूरिपदं य एकम् ।

नक्षत्रताराग्रहमण्डलेऽपि वेधा यथा राजपदं सुधाशोः ॥ ११२ ॥

यः सूर्ययतीनां व्रजे श्रमणानां गणे सत्यपि विजय इति पदमाद्यः प्रथमं यत्र
तादृशं सेन एतावता विजयसेननामा प्रभुर्मुनिः स्वामी तस्य नान्यस्य एकसूरिपदमाचा-
र्यपदं ददौ दत्तवान् । यथा इवार्थः । क इव । वेधा इव । यथा ब्रह्मा जैनमते नक्षत्राणाम-
ष्टाविंशतिसख्यानां ताराणां षट्षष्टिसहस्रकोटिकोट्यस्तथा पञ्चसप्ततिकोट्य एतावत्प्रमा-
णानां तारकाणां तथा ग्रहाणामष्टाशीतिप्रमितानां कलिकालनानि पञ्चमारके नराणाम-

ल्पायुष्टान्नवानामेव सूर्यादिकाना मण्डले समूहे सत्यपि सुधाशोश्चन्द्रस्यैव एक राजपदं ददिवान् ॥ इति परिवार ॥

यस्योपदेशाद्बहवो विहाराः संजज्ञिरे मन्दिरचैत्ययुक्ताः ।

त्वष्ट्रा क्षितौ वस्तुमिवामृतस्वःश्रीभिर्व्यधाप्यन्त विलाससौधाः ॥ ११३ ॥

यस्य प्रभोरुपदेशाद्बहवोऽनल्पसख्याका विहारा जिनप्रासादा संजज्ञिरे । किंभूता । मन्दिरचैत्ययुक्ताः गृहदेवतावसरसहिता । 'देहरासर' इति प्रसिद्धिः । एतावता गृहचैत्यान्यप्येकान्यासन् । उत्प्रेक्ष्यते—अमृतस्वःश्रीभिरपवर्गस्वर्गलक्ष्मीभिः कर्त्रीभिः क्षितौ भूमण्डले वस्तु निवासं कर्तुं त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा कर्त्रा विलाससौधा लीलागृहा व्यधाप्यन्त कारिता इव ॥

पञ्चाशदर्हत्प्रतिमाप्रतिष्ठाः प्रभुः पृथिव्यामनुतिष्ठति स्म ।

दिशश्चतस्रोऽप्यपुनाद्विहारैः प्रभाप्रसारैरिव भानुमाली ॥ ११४ ॥

प्रभुः सूरिः अर्हत्प्रतिमाना शतसहस्रसख्याकाना जिनविम्बाना प्रतिष्ठा वासक्षेपाञ्जनशलाकादिकादिक्रियाभिः प्रतिष्ठापनानि पञ्चाशत्सख्याका पृथिव्या गुर्जरसौराष्ट्रमरुमेदपाटलाटमेवातकुशावर्तादि मण्डलभूमण्डलमध्ये अनुतिष्ठति स्म कृतवान् । पुनश्चतस्रश्चतुस्रसख्याकाः पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरसज्ञा दिशो हरितो विहारैः स्वविचरणैः कृत्वा अपुनात् पवित्रीचकार । क इव । भानुमालीव । यथा भास्वान् प्रभाप्रसारैः स्वकिरणविस्तारैः कृत्वा चतस्रोऽपि दिशः पुनीते ॥

यस्मिन्पुनाने भुवमर्बुदाद्रिसमेतसिद्धाचलरैवतेषु ।

संघाधिपाः पाण्डववच्छतानि त्रीणि त्रिकेणाभ्यधिकान्यभूवन् ॥ ११५ ॥

यस्मिन् सूरिशक्रे भुवः पृथिवीपीठं पुनाने पवित्रीकुर्वाणे सति अर्बुदाद्रि हिमाचलनन्दनगिरि वृषभदेववासुपूज्यारिष्टनेमिमहावीरवर्जं विशतितीर्थकृता निर्वाणभूमाकल्याणकपावनीकृतसमेताचलं शत्रुजयो विमलाचलं रैवतो गिरिनारगिरि एतत्प्रमुखेषु तीर्थेषु पाण्डववत्पाण्डुनन्दना इव त्रिकेण त्रयेणाविकानि त्र्युत्तराणि त्रीणि शतानि संघाधिपाः सघपतय अभूवन् समजायन्त ॥

आत्मा भृतो येन जिनेश्वराद्रितीर्थादियात्रोद्भवपूर्णपुण्यैः ।

प्राक्शृङ्गिशृङ्गागमनोद्भूताशुभारैरिवाम्भोरुहिणीवरेण ॥ ११६ ॥

येन भगवता जिनेश्वराद्रिः शत्रुजयशैलः । 'पञ्चाशदादौ किल मूलभूमेर्दशाध्वंभूमेरपि विस्तरोऽस्य । उच्चत्वमष्टैव तु योजनानि मानं वदन्तीह जिनेश्वराद्रेः ॥' इति नगरपुराणोक्तमन्तर्वाच्यान्तर्गतमत्र लिपीकृतमस्ति । स एव तीर्थं सिद्धिगमनस्थानम् । तीर्थशब्दः पुनपुनःकलिङ्गे । स एव तदेव वा आदौ येषां तेषां यात्रा दर्शनं स्पर्शनं तदर्थता द्रव्यभावस्तुवार्चनातपोविधानादिकाः क्रियास्ताभ्य उद्भव उत्पत्तिर्येषां तादृशैः पूर्णैरन्यूनैः

पुण्यैः सुकृतैः कृत्वा आत्मा स्वप्राणी भृतः सपूरितः । केनेव । अम्भोरुहिणीवरेणेव । यथा भानुमालिना प्राक्शृङ्गी पूर्वाचलः तस्य शृङ्गे शिखरे आगमनेनोपनमनेन उद्गताः प्रकटीभूता अशुभाराः किरणनिकरा सहस्रसख्यकरा ऋतुभरात्षोडशशतकरा अपि यैस्तैः आत्मा भ्रियते । उदयानन्तरमेव किरणबाहुल्यदर्शनादिशयमुत्प्रेक्षोपमा वा ॥

घात्रीं पवित्रा सृजतोऽस्य पादन्यासे दुकूलान्यध्रियन्त भव्यैः ।

तीर्थाधिराजस्य चतुर्निकायसुरैरिव स्वर्णसरोरुहाणि ॥ ११७ ॥

घात्री वसुधरा पवित्रा पावना सृजत कुर्वत पादचारेण चरत अस्य सूरैः पादन्यासे चरणयुगलस्थापनस्थाने प्रायो बाहुल्येन भव्यैः श्राद्धवर्गैः दुकूलानि क्षौभानि विविधदेशवासासि वा अध्रियन्त पादावः स्थाप्यन्ते स्म । कस्येव । तीर्थाधिराजस्येव । यथा धरित्री पवित्रा विदधानस्य भूमण्डले विहार कुर्वतः श्रीभगवतश्चतुर्निकायसुरैः भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-विमानवासि-देवैः स्वर्णसरोरुहाणि कनककमलानि पादन्यासे चरणारविन्दयोस्तले विधीयन्ते ॥

स्तम्भादितीर्थे जलदागमेऽस्मिन्स्थिते कदाचिद्भविकव्रजेन ।

कोटिर्व्ययेऽसृज्यत टङ्ककानां श्रीविक्रमाम्भोरुहबन्धुनेव ॥ ११८ ॥

कदाचित्कस्मिन्नपि जलदागमे वर्षाकाले स्तम्भ इति पदमादौ यस्य तादृशे तीर्थे स्तम्भतीर्थे 'खभाति' इति लोकप्रसिद्धनामनि अस्मिन् मुनीन्द्रे चतुर्मासीमासीने सति भविकव्रजेन अर्थात् स्तम्भतीर्थादिसघलोकनिकरेण टङ्ककानां गुर्जरजनपदप्रसिद्धानां नाणकविशेषाणां कोटिरेका कोटिर्व्यये दानेऽसृज्यत व्ययीक्रियते स्म । केनेव । श्रीविक्रमाम्भोरुहबन्धुनेव । यथा श्रीमद्विक्रमादित्येन एकस्मिन् वारके दाने वा कोटिः कनकटङ्ककानाम् । सुवर्णकानामित्यर्थः । दाने दीयमाना आसीत् । प्रतिश्लोक काव्य गाथा च प्रायो जनानां कोटिदातासीत्, न न्यूनमधिकं बहु ॥

प्रेक्ष्य प्रियं शक्रवशा अहिल्यासक्तं क्षितावक्षमया किमेताः ।

मृगीदृशो न्युञ्छनकानि यस्य प्रायो व्यधू रूपकनाणकेन ॥ ११९ ॥

मृगीदृशो निखिलमेदिनीमण्डलसम्यङ्मृगलोचनाः प्रायो बाहुल्येन यस्य प्रभोर्न्युञ्छनकानि निर्मित्सतानि रूपकनाणकेन । जातिवाचित्वेनैकवचनम् । रजतसबन्धिमहमुदील्यारिका-आसेरी-मुदफारिका-रूपकादिकेन उपलक्षणादभिरामिकासुवर्णकाद्येनापि व्यधुः कुर्वन्ति स्म । मृगीदृश उत्प्रेक्ष्यन्ते—प्रिय भर्तार शक्रमहिल्याया गौतमर्षिपत्न्या तपस्विन्यामासक्त भोगलम्पटीभूत प्रेक्ष्य दृग्गोचरीकृत्य अक्षमया अस्मात्सर्वोत्तमरूपलावण्यसौभाग्यवपुर्विभवशीलशालिनीर्विहाय वल्कलमुञ्जदोरिकाजटादिरूपविकराला तापसीमसौ सेवते इति भर्तरि विषये रुषा ईर्ष्याया क्षितौ क्षोण्या किमेता शक्रवशा इन्द्राण्य इवायाता ॥ इति माहात्म्यम् ॥

पुरीमपापामिव पञ्चवक्त्रध्वजो जिनेन्द्रः पुनरुन्नताह्वाम् ।

..... ॥ १२० ॥

स जिनेन्द्रः सूरिरन्तिममायुरपेक्षया चरमं चतुर्मासक तत्र चक्रे कृतवान् । किं कृत्वा । अजयपुरदेवलपाटकादिषु विहारैः कृत्वा । पुनरपरवारमुन्नत इत्याह्वा नाम यस्यास्तादृशी पुरीं नगरी चरणारविन्दैः निजपादपद्मैः पवित्रा पावनी कृत्वा । क इव । पञ्चवक्त्रध्वज इव । यथा केसरिकेतनो महावीरो जिनाना सामान्यकेवलिना मध्ये तीर्थाधिपत्वादिन्द्रः पुरदरः अपापा पुरीं स्वीयपदपङ्कजैः पवित्रीकृत्यान्तिम पश्चिम चतुर्मासक कृतवान् ॥

[वाचयमेन्दुर्निजमायुरल्पं] विदाचकाराथ हृदा तदानीम् ।

स्वेनोपचेतुं पुनरेष पुण्यमगण्यमैच्छद्भविणं धनीव ॥ १२१ ॥

अथ चतुर्मासकस्थितेरनन्तरं तदानीं तस्मिन् प्रस्तावे तच्चतुर्मासक एव वाचयमेन्दुर्हीरविजयसूरिः हृदा कुशाग्राग्रिममतज्ञानवता हृदयेन कृत्वा निजमात्मीयमायुर्जीवितकालमल्पं स्तोकं विदाचकार अज्ञासीत् ज्ञातवान् । पुनरित्यन्योक्तिः । एष सूरिः स्वेनात्मना अगण्यमपरिमितं स्वर्गापवर्गसाधकं पुण्यं सुकृतमुपचेतुं पुष्टं कर्तुमैच्छद्वाञ्छति स्म । क इव । धनीव । यथा व्यवहारी अगण्यं गणयितुमशक्यं गणितं भविष्यति धनमुपचेतुमिच्छति ॥

संलेखनां तत्र तपोविचित्रां स वृत्रशत्रुर्व्रतिनां वितेने ।

विधित्सयेवोत्सुकितोत्तरात्मशुद्धेर्बहिःस्नानमिवाङ्गशुद्धेः ॥ १२२ ॥

तत्रोन्नतनगरे स व्रतिना वृत्रशत्रुर्वाचयमवासवो हीरविजयसूरिस्तपोभिरेकाशननिर्विकृतिकाचाम्लचतुर्थषष्ठाष्टमादिभिः कृत्वा विचित्रा नानाविधा संलिख्यन्ते सतक्ष्यन्ते तुच्छीक्रियन्ते स्वकर्माण्यनयेति संलेखना तपोनुष्ठानविशेषस्ता वितेने करोति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—अन्तरात्मनो जीवस्य शुद्धेर्निर्मलतायाः कर्मराहित्यस्य विधित्सया कर्तुमिच्छया उत्सुकित उत्कण्ठित इव । किमिव । बहिः स्नानमिव । यथा कश्चिदङ्गस्य बाह्यशरीरस्य शुद्धेर्विशुद्धतायाः विधित्सया विधातुमिच्छयोत्सुकितो बहिः स्नानजलादिभिस्त्वङ्मालापहःसेवनं वितनुते ॥ इति संलेखना ॥

प्राचीनसूरीन्द्र इव प्रणीय संलेखनामेष विशिष्य सूरिः ।

आराधनां प्रारभतेति शान्तरसारविन्दैकविलासहंसः ॥ १२३ ॥

एष सूरिः इत्यग्रे वक्ष्यमाणप्रकारेण आराध्यन्ते सर्वव्यापारपरित्यागेन पुराकृतदुष्कृतमिथ्यादुष्कृतप्रदानेन च त्रिधापि अर्हदादयः सेव्यन्ते यस्यां सा आराधना ता प्रारभत प्रारब्धवान् । किंभूतः । शान्तनामा नवमो रस उपशमलक्षणः स एवारविन्दः विकसितकमलतत्रैकोऽद्वितीयो विलासः क्रीडा तत्राद्वैतखेलनविषये हसो राजमरालहसोपमः आराधना प्रारभत । किं कृत्वा । प्राचीनसूरीन्द्रो वज्रस्वामीप्रमुखपूर्वाचार्यः

इति विशेषप्रकारेण प्राकृतेभ्यस्तपोभ्योऽत्यभ्यधिकविषया दुष्करतपोविशेषरूपा सले-
खनां कृत्वा ॥

अम्भोजनाभा इव ये त्रिलोक्याः सिषेविरे नीरधिनन्दनाभिः ।

भूता भविष्यन्ति वसन्ति सार्वस्ते मे शरण्याः शरणीभवन्तु ॥१२४॥

ते सर्वे सार्वस्तीर्थकरा अशरणाः शरणा भवन्त्विति शरणीभवन्तु त्राणाय जाय-
न्ताम् । कस्य । मे मम ससारभीरु तस्य । किभूता । शरण्याः शरणागतवत्सलाः । पुनः
किभूता । अतीतायामुत्सर्पिण्या केवलज्ञानिप्रमुखा अथ वा अस्यामेवावसर्पिण्यामत्र भर-
तक्षेत्रे ऋषभदेवादिका पञ्चमारकापेक्षया चातुर्थारके पूर्वजातत्वादतीता एवोच्यन्ते ।
अनन्ता सजाता पुनर्ये भविष्यन्ति । अनागतकाले पद्मनाभादिमा उत्पत्स्यन्ते पुनर्ये
सन्ति सीमधरस्वामिप्रमुखा इदानीतने काले विहरमाना विद्यन्ते । यत्तदोर्नित्याभिसब-
न्धात्ते के । ये सार्वे अम्भोजनाभा नारायणा इव । 'यत्क्रमाश्चक्रिणो वा' इति जिनशतके
बहुत्वम् । त्रिलोक्या जगत्रयस्य नीरधिनन्दनाभिर्लक्ष्मीभिः सिषेविरे सेविता ॥

यैरन्तरे ध्यानधनंजयस्य प्रज्वाल्य दुःकर्ममलं विशुद्धः ।

असर्जि जाम्बूनदवन्निजात्मा ते सन्तु सिद्धाः शरणं शरण्याः ॥१२५॥

ते सिद्धा मुक्तात्मानो निर्वाण प्राप्ता सत्त्वाः शरणमर्थान्मम त्राणा सन्तु भवन्तु
ससाराद्रक्षका भवन्तु । किभूता । शरण्या शरणे सावव । 'तत्र साधौ हिते च य'
इति यप्रत्यय । ते के । ये सिद्धैर्ध्यानं तदेव वनजयो वह्निस्तस्यान्तरे मध्ये दुष्टानि
दुरन्ताधिव्याधिदुर्गतिरूपविपाककारित्वादशुभानि नृशस्त्रानि कर्माणि तान्येव मल किट्ट
त प्रज्वाल्य भस्मीकृत्य निजस्यात्मन आत्मा जीवो विशुद्धो निर्मलः कर्मरहित अ-
सर्जि सृष्ट कृतः । किवत् । जाम्बूनदवत् । यथा दृषदादेर्मल कृशानुना प्रज्वाल्य सुवर्ण
सृज्यते ॥

वितन्वते ये भ्रमरा इवात्मवृत्तिं स्मरं घ्नन्ति च शंभुवधे ।

ते साधवः स्युः शरणं तपस्याधुर धुरीणा इव धारयन्तः ॥ १२६ ॥

ते साधवः श्रमणा । ममेति शेषः । शरणं स्युर्भवेयुः । किभूता । धुरीणा धौरेयका
वृषभा इव । तपस्याधुर दीक्षायाः सर्वात्मना समग्र क्रियाकलापादिप्रकारकरणरूपधुर्वी
धारयन्तः बिभ्रतः । ये साधवो भ्रमरा मधुकरा इव आत्मवृत्तिं निजजीविका माधुकरी
वृत्तिं वितन्वते कुर्वते । च पुनर्ये शंभुवदीश्वर इव जगद्विडम्बकः स्मरं घ्नन्ति मदन
व्यापादयन्ति ॥

मज्जज्जनस्यास्ति करावलम्ब इवातिभीमे भववारिधौ यः ।

भूयात्स धर्मः शरणं सुधाशुः सुधामिवान्तः करुणां दधानः ॥ १२७ ॥

स धर्मः शरणं भवभीतस्य मम रक्षको भूयात् । किभूतः । अन्तर्मध्ये करुणा सर्व-

तत्त्वेषु कृपां दधानः । अजिनाज्ञापूर्वकदयामयो धर्म इत्यर्थः । क इव । सुधांशुरिव । यथा चन्द्रो मध्ये निजमण्डलान्तराले सुधाममृत धत्ते । यो धर्मः अतिभीमे अतिशयेन भीतिकारिणि भववारिधौ ससारसमुद्रे मज्जनस्य ब्रुडतो लोकस्य करावलम्बो हस्ता-वलम्बनमिवास्ति । हस्ते गृहीत्वा कर्षतीत्यर्थः । यथा कश्चिदगाधजलनिधिमज्जन्तः कचिज्जन्तु हस्ताभ्यां गाढमादाय बहिः कर्षति तद्वदास्ते ॥ इत्यर्हत्सिद्धसाधुधर्माणां चतुर्णां शरणम् ॥

ज्ञाने ममाष्टौ समयादिकातीचाराः प्रमादा इव शुद्धधर्मे ।

शङ्कादिका अष्ट च दर्शनेऽतीचारा मदा देहभृतीव जाताः ॥ १२८ ॥

कर्माणि जन्ताविव ये ममातीचाराः पुनर्मातृगताश्चरित्रे ।

मिथ्यासता ते बहुगर्ह्यवाचो व्याहारवन्मे निखिला इदानीम् ॥ १२९ ॥

ये ममाष्टौ अष्टसख्याकाः ज्ञाने ज्ञानाचारे अतीचारा सजाता । किभूता । समयः काल आदौ येषां कालविनयबहुमानोपधानहीननिद्वयव्यञ्जनार्थतदुभयहीना एतेऽष्ट ज्ञाना-तीचारा । के इव । प्रमादा इव । यथा शुद्धे जिनभाषिते धर्मे मद्य-विषय-क्रोध-मान-मा-या-लोभ-निद्रा-विकथानामानोऽष्टप्रमादा स्युर्वर्मविषयेऽमी प्रमादा भविना भवेयुः । च पुनर्ये मम दर्शने सम्यक्त्वे दर्शनाचारे शङ्का-आकाङ्क्षा-विचिकित्सा-मूढदृष्टता-अनुपम-बृहणा-अस्थिरीकरण-असाधर्मिकवात्सल्य-अप्रभावना इत्यभिधाना अष्टौ अष्टप्रमाणा अतीचारा सपन्नाः । के इव । यथा जने जाति-कुल-बल-ज्ञान-ऐश्वर्य-रूप-तपो-लब्धि-रूपा अष्टौ मदा भवन्ति । पुनर्ये चरित्रे चारित्राचारे अनिर्यासमिति-अभाषासमिति-अनेषणासमिति-अनादाननिक्षेपासमिति-अपारिष्टापनिकासमिति-अमानागुप्ति-अवच-नगुप्ति-अकायगुप्ति इति सज्ञा मातृगता अष्ट प्रवचनमातृसबन्धिनोऽतीचारा जाता । कानीव । कर्माणीव । यथा जन्तौ प्राणिनिविषये ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोह-नीय-वेदनीय-अन्तराय-नाम-गोत्र-आयुः इत्यष्टौ कर्माणि जायन्ते । सासारिके जीवे इति शेषः । ते निखिला सर्वेऽपि चतुर्विंशतिरतीचारा इदानीमस्मिन्नायुरन्तसमये मम ते ममातीचारा मिथ्या मृषा आसता भवन्तु । किवत् । व्याहारवत् । यथा बहुगर्ह्यवाचो वाचालस्य । 'स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इति हैम्याम् । व्याहारा वचासि मिथ्या जायन्ते । 'व्याहारो भाषित वच' इत्यपि हैम्याम् ॥ युग्मम् ॥

तपःसु ये द्वादशभेदभिन्नेष्वहर्मणीनामिव मण्डलेषु ।

वीर्येऽभवन्त्येऽत्र भवे ममातीचारप्रचाराश्च मृषासतां मे ॥ १३० ॥

द्वादशभिर्भेदैः प्रकारैः भिन्नेषु पृथक्पृथग्भूतेषु । अनशनम्, ऊनोदरिका, वृत्तिसक्षेपः, सत्यागः, कायक्लेशः, सलीनता, इति षड्विधं बाह्यतपः । तथा प्रायश्चित्तम्, विनयः, वैयावृत्यम्, स्वाध्यायः, ध्यानम्, कायोत्सर्गश्च इति षड्विधं बाह्यतपः । समूय द्वादशप्रकारेषु तपःसु तपआचारेषु समये अतीचाराणां प्रचारा विस्तारा लगनानि वा अभवन्

तपःसु । उत्प्रेक्ष्यते—द्वादशभेदभिन्नेषु द्वादशसख्येषु अहर्मणीनां सूर्याणां मण्डलेषु बिम्बे-
ष्विव । यथा भास्कराणां तेजो दुःसह तथैव तपसामपि । तथा च यथा कर्मणा प्रभा-
वस्तथा तपसामपीति । च पुनरत्र भवे अस्मिन् जन्मनि उपलक्षणादन्यस्मिन्नपि भवे ये
मम वीर्ये वीर्याचारविषये अतीचारा अभवन् ते अतीचारा मे मम मृषा मिथ्या आसता
भवन्तु । सर्वेषामप्यतीचाराणां मम मिथ्यादुःकृतमस्त्वित्यर्थः ॥ इति पञ्चज्ञानाचारादि-
पञ्चाचारातीचारालोचनम् ॥

एकेन्द्रिया भूजलवह्निवायुवनान्यहन्यन्त मयाङ्गिनो ये ।

बिभ्राम्यता भूरिभवेषु कर्मवशेन देशेष्विव दैशिकेन ॥ १३१ ॥

ये भुवः पृथिवीकायिका, जलान्यप्कायिका वह्नयस्तेजस्कायिका वायवो वायुका-
यिका वनानि वनस्पतिकायिका एक स्पर्शनं शरीरं तल्लक्षणमिन्द्रियम् हृषीक येषां ते
एकेन्द्रिया अङ्गिनः पूर्वोक्ताः पञ्च स्थावराः प्राणिनः मया अहन्यन्त हता । अत्र भवे
अन्यत्र भवे वा इति शेषः । मया किं कुर्वता । कर्मणां ज्ञानावरणीयादीनामष्टसख्याकानां
वशेनायत्तत्वेन भूरिष्वनन्तेषु भवेष्ववतारिषु बिभ्राम्यता विशेषेण एकद्वित्रिचतुःपञ्चे-
न्द्रियसङ्गसङ्गित्वेन चतुरशीतिलक्षजीवयोनिषु भ्रमणी कुर्वता । केनेव । दैशिकेनेव ।
यथा पान्थेन कर्मणा स्वपरकार्याणां वशेनाधीनतया देशेषु विविधजनपदेषु पर्यटनं
प्रणीयते ॥

संध्ये दिनानामिव जन्मिना द्वे येषां हृषीके भवतो हतास्ते ।

मया जलौकःकृमिशुक्तिशङ्खमुखाः प्रमादैकवशवदेन ॥ १३२ ॥

येषां जन्मिना जन्तूनां द्वे द्विसख्ये हृषीके स्पर्शनरसनलक्षणे शरीरजिह्वारूपे इन्द्रिये
भवतः । केषामिव । दिनानामिव । यथा दिवसानां द्वे संध्ये दिनानां दिवसावसानल-
क्षणे पितृस्त्रौ स्याताम् । 'सध्या तु पितृसू' इति हैम्याम् । ते जलौकसो जलसर्पिण्य
कृमयः कीटका गण्डोलका वा शुक्तयो मुक्तास्फोटा । 'मुक्तास्फोटोऽब्धिमण्डूकी ।
शुक्ति' इति हैम्याम् । मुक्ताफलोत्पत्तिभुवोऽन्या वा । शङ्खा कम्बवः ते मुखा मुखे
वा आदौ येषां तादृशा द्वीन्द्रिया जीवा मया हता विरोधिता । किभूतेन मया । प्रमा-
दोऽनवधानता तस्य एकमद्वितीयतया वशवदेनाधीनेन । प्रमादिना इत्यर्थः ॥

विशा वयासीव भवन्ति येषां त्रीणीन्द्रियाणीह शरीरभाजाम् ।

गोपालिकामत्कुणकीटिकाद्या व्यापादितास्ते तु मया कथंचित् १३३

येषां शरीरभाजा जीवानामिह ससारे जगति वा तिर्यग्गतौ वा त्रीणि स्पर्शनं
शरीरं रसनं जिह्वा घ्राणं नासिकालक्षणानि त्रिसख्याकानि इन्द्रियाणि करणानि भव-
न्ति । कानीव । वयासीव । यथा विशा मनुष्याणां त्रीणि बाल्ययौवनवार्धक्यलक्षणानि
वयास्यवस्थाविशेषाः स्युः । ते गोपालिका धनेडिकानि धान्यकीटका मत्कुणका, कीटि-

काश्च प्रसिद्धाः ते आद्याः पूर्वे येषां तादृशास्त्रीन्द्रिया जन्तवो देहिनो मया कथंचित्केन-
चन प्रकारेण ज्ञानता अज्ञानता वा प्रमादिना सता व्यापादिता ॥

चत्वारि येषा पुनरिन्द्रियाणि नाभीभवस्येव मुखानि सन्ति ।

ते मक्षिकाभृङ्गपतङ्गकर्णकीटोर्णनाभप्रमुखा हताश्च ॥ १३४ ॥

पुनर्येषामसुमता चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणनयनलक्षणानि शरीरजिह्वानासिकालोचन-
रूपाणि चतु सख्याकानि इन्द्रियाणि अक्षाणि सन्ति । कानीव । मुखानीव । यथा
नाभीभवस्य ब्रह्मणः । 'नाभीमथैष श्लथवाससोऽस्याः' इति नैषधे दीर्घोऽपि नाभिशब्दः ।
प्राची-अम्नाची-प्रतीची-उदीचीलक्षणचतुर्दिवसमुखानि वर्तन्ते । शक्रेण षष्टिसहस्रवर्ष-
कृततप प्रभावात्स्वपदाभिकवेधसस्तपोभ्रश विधातु ग्रहिताप्सरोभिश्चतुर्दिवप्रारब्धाखण्ड-
ताण्डवाडम्बरविलोकनकौतुकोत्कण्ठितचेताश्चतुर्दिक्षु चत्वारि वदनानि विदधाति स्मेति
शीलतरङ्गिण्याम् । ते मक्षिका मधुवननीलसामान्याः प्रसिद्धा । यदुक्तम्—'सरघा
मधुमक्षिका । वर्वणा मक्षिका नीली पुत्तिका च पतङ्गिका ॥ वनमक्षिका तु दशो दशी
तजातिरल्पिका । तैलाटी वरटी गन्धोली' इति हैम्याम् । भृङ्गा भ्रमरा, पतङ्गा
शलभा 'टील' इति लोके प्रसिद्धा, कर्णकीटा शतपद्य खर्जूरकाः, ऊर्णनाभा जाल-
कारका 'कालियावडा' इति प्रसिद्धा, ते प्रमुखा आदिमा येषु तादृशाश्चतुरिन्द्रियाः
पुनर्मया हता व्यापादिता ॥

महाव्रतानीव मुनीश्वराणा पञ्चेन्द्रियाणीह भवन्ति येषाम् ।

पापार्धिकेनेव महीचरास्ते संप्रापिताः प्रेतपतेर्निकेतम् ॥ १३५ ॥

इह जगति ससारे वा येषा जन्तूना पञ्च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रवणलक्षणानि श-
रीरजिह्वानासिकानयनकर्णरूपाणि पञ्चसख्याकानीन्द्रियाणि भवन्ति । कानीव । महाव्रता-
नीव । यथा मुनीश्वराणा सावुसिन्धुराणा महान्ति कातरैरल्पसत्त्वै सत्त्वै मेरुवदुद्धर्तुम-
शक्यानि सर्वप्राणातिपातविरमण-सर्वमृषावादविरमण-सर्वादत्तादानविरमण-सर्वमैथु-
नविरमण-सर्वपरिग्रहविरमणलक्षणानि व्रतानि नियमविशेषा पञ्च भवन्ति । ते च
पञ्चेन्द्रियास्त्रिविधा सन्ति । एके स्थलचरा, एके जलचरा, तृतीया खेचरा । तानेव
प्रतिपादयति—महीचरा गोमहिषाजमृगशशशम्बरादिका स्थलचरा पञ्चेन्द्रिया
जीवा मया भवान्तरे प्रेतपतेर्यमस्य निकेत मन्दिर संप्रापिता गमिता । केनेव ।
पापार्धिकेनेव । यथा आखेटिकेन लुब्धकेन मृगाद्या पञ्चेन्द्रिया सत्त्वा कृतान्तनिकेतन
नीयन्ते ॥

जीवान्तिकेनेव वियद्विहारा आलेख्यशेषत्वमवापितास्ते ।

कैवर्तकेनेव पयश्चरास्ते कथासु शेषत्वमवापिताश्च ॥ १३६ ॥

जीवान्तिक शाकुनिको विहगमघातुक तेनेव वियति आकाशे विहारो विहरण
गतिर्येषा ते खचराः । कलविङ्ककुर्कुटशुकसारिकाकाककपिञ्जलचापखञ्जनशिखण्डिकपो-

ताद्या. पञ्चेन्द्रिया जीवा आलेख्ये चित्रे शेषत्वमवशिष्टतां न तु प्राणेनतामवापिता मारिता । तथा कैवर्तकेनेव धीवरेणेव पयश्चरा जलचारिणो जीवास्ते पञ्चेन्द्रिया मत्स्य-
नक्रचक्रपाठीनपीठग्राहमकराद्या कथासु वार्तासु आख्यानसबन्धेषु शेषत्वमवशिष्टताम-
वापिता लम्बिता । निहता इत्यर्थः । हिंसाया सर्वत्र जन्मान्तरापादनम् । अस्मिन्
जन्मनि तु सयतत्वात्तदभाव एवेति तात्पर्यम् ॥

अर्हन्निदेशादितसान्द्रचन्द्रचन्द्रातपोद्वेलकृपापयोधौ ।

मीनायमानेन मुनीन्दुनेव स्वात्मेव नामानि गणोऽङ्गभाजाम् ॥ १३७ ॥

पुनर्मया अङ्गभाजा प्राणिना गण समूह स्वात्मेव निजजीव इव नामानि न गणितः ।
इदमपि प्राग्जन्मापेक्षयैव नास्मिञ्जन्मनीति शेषः । तदेव वक्ति—केनेव । मुनीन्दु-
नेव । यथा वैराग्यरङ्गतरङ्गितात्मना साधुसुधाकरेण अन्यतनूमन्निकर निजजीवसदृशो
गण्यते । किभूतेन । मुनीन्दुना अर्हता सर्वतीर्थकृता निदेश आज्ञा स एवोदित उदय
प्राप्त सान्द्रस्नेहलोऽमृतवर्षी आश्विनपूर्णिमासबन्धी चन्द्र अखण्डमण्डलेन्दुस्तस्य
चन्द्रातपश्चन्द्रिका तेनोद्वेलो वेलामुल्लङ्घ्य यात उद्वेल उत्कण्ठितो यः कृपारूप पयो-
धिस्तत्र मीनो मत्स्य इवाचरितस्तेन । दयार्द्रहृदयेनेत्यर्थः ॥ इति प्रथमव्रते प्राकृतजी-
वहिंसालोचनम् ॥

अमर्षणेनेव रुषा हसेन वैहासिकेनेव च भीरुणेव ।

भयेन लोभेन च गृध्रुनेव मया यदप्यल्पमजल्प्यलीकम् ॥ १३८ ॥

यन्मया इह भवे परभवे वा यदल्पं स्तोकमप्यलीकं मिथ्यावाक्यमजल्पि भाषितम् ।
कया । रुषा रोषेण । केनेव । अमर्षणेनेव क्रोधनेनेव । यथा क्रोधातुरेण क्रोधेनालीकं
जल्प्यते । पुनः केन । हसेन हास्येन । केनेव । वैहासिकेनेव । यथा स्वभावातिभीरुकेण
मृषा भाष्यते । च पुनः केन । लोभेन तृष्णया । केनेव । गृध्रुनेव । यथा लोलुभेन
लोभाभिभूतेनासत्यं निगद्यते ॥ इति द्वितीयव्रते मृषावादालोचनम् ॥

ऋक्थं परेषां परिमोषिणेव मया कथचिद्यददत्तमात्तम् ।

प्रयोजने सत्यपि यत्तृणाद्यं कचिद्विनादेशमुपाददे च ॥ १३९ ॥

यन्मया कथचित्केनापि प्रकारेण अदत्तं केनापि स्वामिना अविश्राणितं परेषामन्ये-
षामृक्थं द्रविणं वनमात्तं गृहीतम् । केनेव । परिमोषिणेव । यथा तस्करेणादत्तं परद्रव्यमा-
दीयते । च पुनः प्रयोजने कार्ये सत्यपि विद्यमानेऽपि कृत्ये आदेशः स्वाम्यस्वामिनोर्वा
अनुज्ञा विना तृणाद्यं तृणशलाकाप्रमुखं कचित्कुत्रापि स्थाने उपाददे जगृहे स्वयं स्वी-
कृतम् ॥ इति तृतीयव्रते अदत्तादानालोचनम् ॥

मरुन्मृगाक्ष्या मरुतेव दिव्यं नार्या नरेणेव च मानवीयम् ।

मया तिरश्चेव पुनस्तिरश्चा तैरश्चमाचर्यत मैथुनं यत् ॥ १४० ॥

मरुन्मृगाक्ष्या देवाङ्गनया सम दिव्य देवतासबन्धि यन्मया मैथुनमाचर्यत भोगः कृतः । केनेव । मरुतेव । यथा चतुर्निकायादिदेवेन देव्या सार्धं निधुवनं विधीयते । पुनर्नार्या मनुष्ययोषिता साकं मानवीय मानवसबन्धि मैथुनं कामकेलिराचर्यत आचीर्णा । केनेव । नरेणेव । यथा नरेण नार्या समं कन्दर्पक्रीडा क्रियते । पुनस्तिरश्चा तिर्यग्जातीयया स्त्रिया सत्रा तैरश्चय तिर्यक्सबन्धि मैथुनं ग्राम्यधर्मं आचर्यत विहितम् । केनेव । तिरश्चेव । यथा तिर्यग्जातीयेन पुरुषेण तिरश्चा समं मैथुनं पशुक्रिया क्रियते । सर्वत्र इह भवेऽन्ये भवेऽपीति योज्यम् ॥ इति चतुर्थव्रते मैथुनालोचनम् ॥

सखीमिव स्वःशिवपद्मधाम्नोर्निरीहतां मुग्धतया विहाय ।

दूतीमिवाहत्य च दुर्गतीनामृद्धिं मयादायि परिग्रहो यत् ॥ १४१ ॥

यन्मया परिग्रहो धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिक आदायि स्वीकृतः । किं कृत्वा । स्वःशिवपद्मधाम्नो स्वर्गापवर्गलक्ष्म्यो सखी वयसीमिव निरीहता निस्पृहभावः विहाय विमुच्य । कया । मुग्धतया मौग्ध्येनाज्ञानेन । च पुनर्दुर्गतीनां दुष्टानां महाधिव्याविविधात्रीणां नारकतिर्यकुदेवकुमनुजलक्षणानां गतीनां दूतीमाकारणसदेशहारिकामिव ऋद्धिं प्राप्ताप्राप्तेषु वस्तुषु सर्वेष्वैहलौकिकपदार्थेष्वसक्तिमादृत्याङ्गीकृत्य । तस्यामादरपरिभूयेत्यर्थः ॥ इति पञ्चमव्रते परिग्रहालोचनम् ॥

मरुद्भुमान्मेरुरिवेन्द्रियाणि प्राणीव बाणानिव पञ्चबाणः ।

मुखान्यथा पञ्चमुखश्च सम्यङ्नाधारयं पञ्चमहाव्रतान्यत् ॥ १४२ ॥

यदहं पञ्चमहाव्रतान् मेरूपमान्नियमविशेषान् । व्रतशब्दः पुनपुसके । सम्यक् त्रिकरणशुद्ध्या नाधारय न वृतवान् । क इव । मेरुरिव । यथा काञ्चनाचल कल्पपारिजातमन्दारहरिचन्दनसतानाभिधानान्पञ्चसख्याकान्मरुद्भुमान् कल्पवृक्षान् वारयति । पुनः क इव । प्राणीव । यथा जन्तुः शरीररसनानासिकानयनश्रवणलक्षणानि पञ्चेन्द्रियाणि धत्ते । पुनः क इव । पञ्चबाण इव । यथा मदनसमोहन-उन्माद-तापन-शोषण-मारण-इति नाम्नः । तथा क्वचित् 'दिद्वीहिं दिद्विपसरो दिद्विपसारणभावः अणुराओ । अणुराएण षिनेहो वाणा मयणस्स पञ्चेए ॥' एतेऽपि पञ्च बाणा प्रोच्यन्ते । पञ्चप्रमाणान्बाणान् सायकान्दधाति । पुनः क इव । पञ्चमुख इव । अत्र यथा इवार्थः । यथा नीलकण्ठः कण्ठीरवो वा पञ्चमुखान् धरति । मुखशब्दोऽपि पुनपुसके । एव यथा मेरुमनुष्यमदनपारीन्द्रपिनाकिनः कल्पद्रुमेन्द्रियमार्गणमुखानि धारयन्ति तथा अहं पञ्च महाव्रतान्नाधारयमित्यर्थः ॥ इति पञ्चव्रताधारणलोचनम् ॥

निशाचरेणेव निशाशनं यन्मया कथंचित्प्रविधीयते स्म ।

कौसीद्यमाद्यन्मनसेव किंचिच्छैथिल्यमालम्ब्यत यत्क्रियासु ॥ १४३ ॥

मया कथंचित्केनचिन्मिथ्याज्ञानमूढतादिप्रकारेण निशाचरेणेव राक्षसेनेव निशाशनं रात्रिभोजनं प्रविधीयते स्म । पुनर्यत्क्रियासु चारित्र्यानुष्ठानकरणेषु शैथिल्यं शिथि-

लता किञ्चित्कृत किञ्चिन्न कृत किञ्चिदिष्यते किञ्चिच्च क्रियते इत्याद्य श्लथत्वमालम्ब्यत । केनेव । कौसीयेनालस्येन माद्यदुन्मत्तीभवन्मनश्चेतो यस्य तादृशेन पुसेव । यथा अलसेन सर्वं कार्यं श्लथीक्रियते ॥ इति षष्ठव्रते रात्रिभोजनक्रियाशैथिल्यालोचनम् ॥

प्रमादभाजा नियमा मया ये बभञ्जिरे भ्रान्तिभृता भवेषु ।

छायाद्रुमं गण्डगलन्मदान्धं भविष्णुनेवोद्धुरसिन्धुरेण ॥ १४४ ॥

प्रमादमालस्य शिथिलता वा अनवधानता वा मन्दभाव वा भजतीति प्रमद्वरेण प्रमत्ततायुक्तेन मया नियमा अभिग्रहविशेषा बभञ्जिरे भग्ना गृहीत्वा मुक्ताः । किभूतेन मया । भवेषु कर्मवैचित्र्यान्नानाविधजन्मपरम्परासु भ्रान्तिं भ्रमणी विभर्तीति भ्राम्यतेत्यर्थः । केनेव । उद्धुरसिन्धुरेणेव । यथा गण्डयोः कपोलस्थलयोर्गलद्विरनवरतनिष्पतद्भिर्मदै दानवारिभिरन्ध्रं भविष्णुनागतनयनीभवनशीलेन विचेतनीभायुकेन मदुद्धुरसिन्धुरेण उन्मादोत्कटकरटिना गम्भीरवेदिद्विरदेन छायाया उपलक्षितास्तरवो येषां कदाचिदपि परावृत्तिं न भजते, पूर्वस्या पश्चिमाया दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च नायाति, यथास्थानमवस्थितैव तिष्ठति । अथ वा पल्लवपत्रपुष्पफलप्रमुखसुषमाविभूषितास्ते छायाद्रुमा भज्यन्ते ॥ इति सर्वनियमविरोधनालोचनम् ॥

अपेक्षया पञ्चमहाव्रतानां स्वर्भूधराणामिव भूधरेषु ।

अणुष्वहर्बन्धुमितव्रतेषु मया विराद्धं गृहमेधिना यत् ॥ १४५ ॥

गृहमेधिना गृहस्थेन सता मया यदहर्बन्धव सूर्या द्वादशादित्या तैर्मितानि प्रमाणीकृतानि व्रतानि द्वादशव्रतानि । स्थूलप्राणातिपातविरमणम्, स्थूलमृषावादविरमणम्, स्थूलादत्तादानविरमणम्, स्वदारसतोषपरस्त्रीविववावेश्याकन्याभिगमनादिविरमणम्, इच्छा-परिग्रह-परिमाणम्, सर्वदिग्गमनादिविरमणं प्रमाणं च, भोगोपभोगप्रमाणम्, अनर्थदण्डविरमणम्, सामायककरणम्, प्रतिदिनं निशा च देशावकासिक दिगवकाशकरणम्, पर्वादिषु पोषधौपवासविधानम्, अतिथिसविभागविधानम्, इत्यभिधानेषु गृहस्थानां पञ्चाणुव्रतानि । त्रीणि गुणव्रतानि । चत्वारि शिक्षाव्रतानि । इति द्वादशसु व्रतेषु यत्किञ्चिन्मया विराद्धम् अतिक्रम-व्यतिक्रम-अतीचार-अनाचाराचरणादिना विराधना कृता । किभूतानाम् । पञ्चानां महाव्रतानामपेक्षया । पञ्चमहाव्रतेषु हि सर्वथैव सर्वेभ्योऽपि प्रोक्तवस्तुभ्यो विरमणम् । द्वादशव्रतेषु तु देशत एव न सर्वतः । इत्यपेक्षया अणुषु हस्वेषु लघुषु । केष्विव । भूधरेष्विव । यथा स्वर्भूधराणां मेरूणां लक्ष्यो-जनप्रमाणत्वेन महत्त्वं महत्त्वाच्च बहुवचनम् । अपेक्षया अपरेषु भूधरेष्वणुत्वं लघुतास्ते सुदर्शनमेव विना केष्वपि गिरिषु लक्ष्यो-जनप्रमाणता नास्ति ॥

संसाधकेषु त्रिदिवापवर्गदुर्गस्य योगेष्विह योगिनेव ।

वीर्यं प्रयुक्तं न मया कथञ्चित्प्रमादमन्दीकृतमानसेन ॥ १४६ ॥

इह भवे मया योगेषु यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समा-
धिनामाष्टाङ्गवत्सु योगेषु । अथ वा मनोयोग-वचोयोग-काययोगलक्षणेषु विविधेषु । अथ
वा सत्यमनोयोग-असत्यमनोयोग-मिश्रमनोयोग-सत्यासत्यमनोयोग-सत्यवचनयोग-
असत्यवचने~~योग~~योग-मिश्रवचनयोग-सत्यासत्यवचनयोग-औदारिककाययोग-औदारि-
कमिश्रकाययोग-वाक्क्रयकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोग-आहारकाययोग-आहारमिश्र-
काययोग-कर्मणयोग इत्यपि मनोवाक्कायैः कृत्वा पञ्चदशधापि योगा योजनानि । युज्यन्ते
धावनवल्गनक्रियासु व्यापार्यतेऽसाविति वा युज्यन्ते सबध्यन्ते वल्गनक्रियया जीव ए-
भिरिति वा व्युत्पत्तिमात्र योगो वीर्यं शक्ति । उत्साह इति यावत् । योगेषु मोक्षप्राप्तिकर-
णीभूतेषु ध्यानविशेषेषु च मया वीर्यं पुरुषकारो न प्रयुक्तः सम्यगुद्यमो न विहितः । केनेव ।
योगिनेव । यथा योगभाजा आसन्नोत्पत्स्यमानकेवलज्ञानेन क्षपकश्रेणिमारूढेन योगेषु यत्नं
क्रियते । किंभूतेषु योगेषु । त्रिदिव स्वर्लोकस्तद्युक्तोऽपवर्गो मोक्षः स एव दुर्गः दुःखेन
गम्यते प्राप्यते गृह्यते वा पर्वतादिविषमस्थानस्थकोटस्तस्य ससाधकेषु आत्मायत्तीका-
रकेषु मया कथञ्चित् गुर्वादिप्रेरणया पञ्चेन्द्रियपाटवशरीरसामर्थ्यसहायकरणसामग्र्यापि
प्रमादेन अनवधानतया आलस्येन वा मन्दीकृत क्रियानुष्ठानकरणेषु कुण्ठीकृत मानस
मनो येन यस्य वा ॥

एतद्यदन्यच्च मयार्जि पापमसिन्भवेऽन्येषु पुनर्भवेषु ।

अधर्मिणानर्थ इव त्रिधापि निन्दामि सम्यक्तदहं समग्रम् ॥ १४७ ॥

अस्मिन् वर्तमाने भवे जन्मनि पुनरन्येष्वतिक्रान्तेष्वनन्तेषु भवेष्ववतारेषु मया
प्रान्तावस्थास्थायुकेन एतत्पूर्वोक्तमन्यदितरद्विस्मृतमविस्मृतं वा यत्पापं दुष्कृतमार्जि
उपार्जितं स्यात् । केनेव । अधर्मिणेव । यथा अधर्मकारिणा पापिना पुत्रा अनर्थं परघात-
परदारगमनपरद्रव्यापहारादिरुत्पातं क्रियते तत्समग्रं सर्वमपि पापं दुष्कृतं त्रिधापि
मनोवाक्कायैरपि त्रिकरणशुद्ध्या इदानीं निन्दामि आत्मसाक्षिकं गर्हामि देवगुरुसाक्षिकं
व्युत्सृजामि ॥ ‘एकेन्द्रिया —’ (१७।१३९) इत्यत आरभ्य ‘एतद्यत्—’ (१७।१४७) इति
पर्यन्तं निन्दनादिना सप्तदशभिः कुलकम् ॥

अष्टादशाब्रह्मवदंहसा तु स्थानानि यान्याचरितानि पूर्वम् ।

तान्यप्यशेषाणि मृषा भवन्तु क्षणाद्यथा द्यूतकृता वचांसि ॥ १४८ ॥

तु पुनरष्टादशसख्याकानि अहसा पापानां स्थानानि प्राणातिपात-मृषावाद-अद-
त्तादान-मैथुन-परिग्रह-क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-द्वेष-कलह-अत्याख्यान-पै-
शुन्य-रत्यरति-परपरीवाद-मायामृषा-मिथ्यात्वशल्य इत्यष्टादश पापस्थानानि । पूर्व-
मस्मात्प्रस्तावान्मयाचरितानि यानि स्वयंकृतानि परैर्वा कारितानि अष्टादशसख्याकानि ।
क्विवत् । अब्रह्मवत् । यथा मनसौदारिकाब्रह्मं न करोमि, वचसौदारिकाब्रह्मं न करोमि,
कायेनौदारिकाब्रह्मं न करोमि, मनसौदारिकाब्रह्मं न कारयामि, वचसौदारिकाब्रह्मं न कार-

यामि, कायेनौदारिकाब्रह्म न कारयामि, मनसौदारिकाब्रह्म नानुमोदे, वचसौदारिकाब्रह्म नानुमोदे, कायेनौदारिकाब्रह्म नानुमोदे, इत्यौदारिकेन मनोवाक्कायै. करुणकारणानुमो-
दनैर्नव भेदाः । तथैव वैक्रियेण सममनया रीत्या नव भेदा भवन्ति । संघीभूय सर्वेऽप्य-
ष्टादश जाता । एवमष्टादश ब्रह्मस्थानानि । अथ तान्यशेषाणि समस्तान्यपि अष्टादश
पापस्थानानि क्षणान्निमेषमात्रादपि मृषा मिथ्या भवन्तु । कानीव । वचांसीव । यथा
द्यूतकृता दौरोदरिकाणा वचनानि क्षणान्मिथ्या भवन्ति ॥

कोपं हृदः शल्यमिव प्रहाय सत्त्वानशेषान्क्षमयामि सम्यक् ।

मयार्दिताः प्रागिह वैरिणेव क्षाम्यन्तु ते मय्यनुदीतवैराः ॥ १४९ ॥

एतस्यामवस्थायामहमशेषान् समस्तान् सप्त लक्षा पृथ्वीकाययोनयः, सप्त
लक्षा अप्काययोनयः, सप्त लक्षा तेजस्काययोनयः, दश लक्षाः प्रत्येकवनस्पति-
काययोनयः, चतुर्दश लक्षाः अनन्तवनस्पतिकाययोनयः, द्वे लक्षे द्वीन्द्रियाणा योनयः,
द्वे लक्षे त्रीन्द्रिययोनयः, द्वे लक्षे चतुरिन्द्रिययोनयः, चतस्रो लक्षा पञ्चेन्द्रियतिरश्चा
योनयः, चतस्रो लक्षाः नारकाणा योनयः, चतस्रो लक्षा देवाना योनयः, चतुर्दश
लक्षा मनुष्याणा योनयः । एव सर्वा अपि समिलिता सन्त्यश्चतुरशीतिलक्षजीवयोनयो
भवन्ति । एताश्चतुरशीतिलक्षयोनिसत्कान् सत्त्वान् जीवान् सम्यक् मनोवाक्कायै कृत्वा
क्षमयामि पादयोर्लगित्वा ममापराध तितिक्षे विनयामि । किं कृत्वा । हृदो हृदया-
त्कोप क्रोध प्रहाय सत्यज्य । किमिव । शल्यमिव । यथा केनापि प्रकारेण केनचिद्वै-
रिणा परमवैरेण कृत्वा हृदि विषये निक्षिप्तमायसशस्त्र नाराच वा शङ्कु वा काष्ठघटित-
कीलिका वा उद्भ्रियते । तथा ये सत्त्वा मया प्राग्जन्मनि इहास्मिन् भवे वा वैरिणेव शत्रु-
णेव अर्दिताः पीडिता ते सर्वे मा क्षाम्यन्तु मयिविषये क्षमा कुर्वन्तु । उपशाम्यन्त्वित्यर्थः । किंभूता । अनुदीतवैराः मयि विषये अप्रकटितविरोधाः मुक्तविद्वेषा क्षाम्यन्तु ॥

मैत्री मम स्वेष्विव सर्वसत्त्वेष्वस्ता क्षितिस्वर्बलिवेश्मजेषु ।

धर्मोऽर्जितो वैभववन्मया यस्तं प्रीतचेता अनुमोदयामि ॥ १५० ॥

क्षितिः भूलोकः, स्वर्देवलोकः, बलिवेश्म पाताललोकः, तेषु जायन्ते स्मेति क्षितिस्व-
र्बलिवेश्मजास्तेषु त्रिजगज्जन्मसु सर्वतिर्यङ्मुरनागासुरव्यन्तर्ज्योतिर्वैमानिकनाकिनामसक-
लसत्त्वेषु समस्तजन्तुजातेषु विषये मम मैत्री सखिता आस्ताम् । केष्विव । स्वेष्विव । यथा
आत्मीयजनेषु सख्य स्यात् । अथवा 'मैत्री मम स्वैरिव सर्वसत्त्वैरास्ता क्षितिस्वर्बलिवेश्म-
जातैः' इति पाठः । तत्र स्वर्बलिवेश्मजातैः सर्वसत्त्वैः सार्धं स्वैरिव मम मैत्री अस्तु ।
पूर्वपाठस्तु 'मित्री मे सव्वभूएसु' इति प्रतिक्रमसूत्रानुसारेण । अथ पुनरर्थः — यो
मया वैभववत् सपत्तिरिव धर्मोऽर्जितः सचितः । प्रीतचेता हृष्टमनाः सन् तं धर्मं पुण्य
• सुकृतमनुमोदयामि प्रशंसामि ॥

वृन्दं द्रुमाणामिव पुष्पकालाद्यस्मादृतेऽन्यद्विफलं व्रतादि ।

शुभः स भावोऽस्तु ममापवर्गमार्गानुलम्नाङ्गभृतां सहायः ॥ १५१ ॥

यस्मात् शुभभावादृते विना अन्यदितरद्वतादि सर्वनियमचारित्रादिपालनप्रमुख सकलमपि विफल वन्ध्यमेव । किमिव । वृन्दमिव । यथा पुष्पकालाद्वसन्तसमयादृते समस्त द्रुमाणा पादपानां वृन्द कदम्बक निष्फल भवेत् । स शुभो भावो ममास्तु निर्मलपरिमाणो मम भवतु । किंभूत । अपवर्गो मोक्षः अर्थान्नगर तस्य मार्ग पन्थाः तत्रानुलम्ना स्तमनुप्रस्थिता येऽङ्गभृतो भव्यजनास्तेषां सहायः ॥

भुक्तेन येनात्र कदाचिदात्मा न दारुणा वह्निमिवाप तृप्तिम् ।

शिवंगमीव स्वजनानुषङ्गं कृत्स्नं तमाहारमहं जहामि ॥ १५२ ॥

अहं तं त्रिजगत्प्रसिद्धं यच्छब्दसंबद्धं च कृत्स्नम् अनशनपानखादिमखादिमरूप सर्वजातीयं चतुर्विधाहारं जहामि । अत्र पानशब्देनापरपानकादि गृह्यते । जलमुत्कल्यजामि । क इव । शिवंगमीव । यथा मोक्षं गमिष्यतीत्येवशीलो नीरागः पुमान् सर्वस्वजनानां निजकुटुम्बानामनुषङ्गं निजपरिजनवर्गस्य सबन्धं जहाति । स कः । अत्र जगति ससारे वा येनाहारेण भुक्तेन भक्षितेन कृत्वा कदाचित्कस्मिन्नप्यतीतानागतवर्तमानलक्षणे काले आत्मा जीवस्तृप्तिं सतोषं नाप न लेभे । क इव । वह्निरिव । यथा दारुणा काष्ठेन । जातावेकवचनम् । हुताशो न तृप्यति । यदुक्तम्—‘नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः’ इति ॥

सप्तास्ति यः पद्ममिवाष्टसिद्धिं श्रीणां जगत्कल्पितकल्पसालः ।

अलीव पद्मे रमतां मदीये चित्ते चिरं श्रीपरमेष्ठिमन्त्रः ॥ १५३ ॥

स श्रीपरमेष्ठिमन्त्रः श्रीमन्मस्कारश्चिरमाससारं यावन्मदीये चित्ते रमतां मम मानसे हसवत्खेलतु । क इव । अलीव । यथा भृङ्गो भ्रमरः पद्मे विकसितकमले सुचिरं रमते । स कः । यः श्रीमन्मस्कारः अष्टानाम् अणिमा-वशिता-ईशित्व-प्राकाम्य-महिमा-लघिमा-कामावसायित्व-प्राप्ति इत्यभिधानामपरासा वा मनः कल्पितानामष्टानां महासिद्धीनामेव श्रीणां लक्ष्मीणां पद्ममिव स्मेरत्कमलमिव सद्यः वाससौवमस्ति । पद्मवासेति लक्ष्म्या अभिवानत्वात् । परमेष्ठिमन्त्रो जगतां त्रिभुवनजनानां कल्पितेषु कामितेषु कल्पसालं वाञ्छितसंपूरणे कल्पद्रुमोऽस्ति ॥

वाध्रीणसस्येव विषाणमेको वर्तेत मे कश्चन वर्ततेऽन्यः ।

पुनर्धरित्र्या इव वृत्रशत्रुः कस्यापि न स्यामहमत्र विश्वे ॥ १५४ ॥

अत्र विश्वे अस्मिन्नगतिः अहमेको वर्तेत । किमिव । विषाणमिव । यथा वाध्रीणसस्य खड्गिनः गण्डको वन्यजीवविशेषजीवविशेषं तस्य विषाणं शृङ्गमेकमेव भवति । यदुक्तं कल्पसूत्रे—‘खगिसिगच्चएगगे’ इति । तथा मे मम कश्चन कोऽप्यन्यः परो न वर्ततेऽस्ति ।

पुनरत्र भुवने अहं कस्यापि न स्यां भवेयम् । अहं कस्यापि नास्मीत्यर्थः । क इव । वृत्र-
शत्रुरिव । यथा धरिण्या भूमे शक्रो राजा कस्यापि न स्यान्न भवेत् । 'काके शौक्य
धूतकारेषु सत्य सर्पे क्षान्ति स्त्रीषु कामोपशान्तिः । क्लीबे धैर्यं मयपे तत्त्वचिन्ता
राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ॥' इति वचनात् ॥

भवेन्मदीयेन्द्रियमन्दिरस्य यदि प्रमादोऽवसरेऽत्र दैवात् ।

त्रिधापि देहादिममात्मनाह परिग्रहं बाह्यमिव त्यजामि ॥ १९५ ॥

यदि अत्रावसरे अस्मिन् प्रस्तावे दैवात्कर्मयोगादायुः कर्मणस्त्रुटेः क्षयान्मदीयेन्द्रिय-
मन्दिरस्य मत्संबन्धिनः शरीरस्य । 'जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम्' इति नैषधे । प्रमादो
नाम जीवेन समं वियोगो भवेत् । मरणं स्यादित्यर्थः । तदाहमात्मना स्वयमेव देहादिम-
कायप्रमुखमन्तरङ्गपरिग्रहं क्रोधमानमायालोभादिपरीवारोपध्यादिकं सर्वमपि त्रिधा
मनोवाक्कायैः कृत्वा त्रिकरणशुद्धयैः त्यजामि मुञ्चामिव । कमिव । बाह्यमिव । यथा
बहिर्भावो बाह्यः स चासौ परिग्रहश्च पुत्रकलत्रभ्रातृवनधान्यादिपरिग्रहः सर्वस्यक्तो-
ऽस्ति, तथा वपुराद्यपि व्युत्सृजामीति ॥ इत्यारावनाविधानम् ॥

शमी शमीगर्भमिवैकतानमना दधानः प्रणिधानमन्तः ।

अर्हत्समक्षं दशमी दशम्या व्यधाद्विधिज्ञोऽनशनं शमीशः ॥ १९६ ॥

शमिना प्रशमवता योगिनामीशः स्वामी यतिपतिर्दशम्या तिथौ यावज्जीव त्रिविधा-
हारपरित्यागरूपमनशनं व्यधाच्चकार । कथम् । अर्हत्समक्षं भगवत्प्रत्यक्षं प्रति पुरस्तात्प्र-
त्याख्यानोच्चरत्पूर्वम् । दशमी वर्षीयान् प्रान्तावस्थावस्थितान् । 'निशि दशमितामालिङ्ग-
न्या विबोवविधित्सुभिः' इति नैषधे । निशाया अवसानसमये दशमितेति पदं दृश्यते ।
पुनः किंभूतं । विधिज्ञः शास्त्रोक्तप्रकारवेत्ता प्रान्तसमये अनशनं विहितं विलोक्यते इति
वा विधिः । किं कुर्वाणः । अन्तर्मनोमन्त्रे प्रणिधानं पञ्चपरमेष्ठिध्यानं दवानो विभ्राणः ।
किलक्षणं सन् । एकतानं लयानुगमनो मानसः यस्य तादृशः सन् । कमिव । शमीगर्भमिव ।
यथा शमीद्रुमः खेजडिकाभिधानपादपः शमीगर्भं पावकमन्तर्वर्त्ते । 'अर्चिः शमीगर्भत-
मोघ्नशुक्राः' इति हैम्यामग्निनामसु । तथा 'शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्' इति रघौ ॥

अथ सप्तभिः कुलकं प्रारभ्यते—

भोक्तुं भुवं दद्याच्च समं मघोनो द्वितीयरूपादिव विक्रमार्कात् ।

नेत्रत्रिनेत्राननकेकियानवक्रत्रियामापतिसंमितेऽब्दे ॥ १९७ ॥

तत्र पञ्चमीमक्षमाला गणयितुमारभतेति सबन्धः । आदित एव काव्यानि पृथक्
पृथक् व्याख्यायन्ते । नेत्रे द्वे चक्षुषी, त्रिनेत्रस्येश्वरस्याननानि मुखानि पञ्च । 'पञ्चमुखो-
ऽष्टमूर्तिः' इति हैमीवचनात् पञ्चसख्याकानि वदनानि, तथा केकियानस्य मयूरवाहनस्य
स्वामिकार्तिकस्य वदनानि वक्राणि षट् । षण्मुखत्वात् । तथा त्रियामापतिश्चन्द्रः एकः । एभिः
पदार्थैः संमिते सम्यक्प्रमाणीकृते अब्दे वर्षे । कस्मात् । विक्रमार्कात् विक्रमादित्यनाम्नो

नृपात् । उत्प्रेक्ष्यते—मघोन इन्द्रस्य द्वितीयरूपादिव अपरशरीरादिव । किं कर्तुम् । यां देवलोकं च पुनर्भुवं भूमण्डलं समं सार्वमेककालं भोक्तुं पालयितुं भुक्तिविषयीकर्तुं वा । एतावता विक्रमार्कात् द्विपञ्चाशदधिकषोडशशतप्रमाणे वर्षे सवत् १६५२ वर्षे इत्युक्तम् ॥

नभस्यमासस्य नमत्पयोदकदम्बकाडम्बरिणो नभोवत् ।

प्रभोः प्रभावादिव शुभ्रितायां तिथौ सुरद्वेषिनिषूदनस्य ॥ १५८ ॥

सुराणां देवानां द्वेषिणो वैरिणो दानवा । ‘असुरा दिनिदनुजा पाताललोकसुरारयः’ इति हैम्याम् । तेषां निषूदनस्य उच्छेदकस्य हरे । ‘दैत्यारिश्च पुराणयज्ञपुरुषस्ताक्षर्यध्वजः’ इति हैम्याम् । तिथौ दिवसे एकादशीदिने । किंभूतायां तिथौ । शुभ्रितायामुज्ज्वलीभूतायाम् । अर्थाच्चन्द्रमसश्चन्द्रिकाभिर्ववलितायाम् । तिथिशब्दः पुत्रीलिङ्गे । उत्प्रेक्ष्यते—प्रभोर्हीरविजयसूरे प्रभावान्महिम्नो माहात्म्यात् शुभ्रितायामिव । तिथिकस्य । नभस्यमासस्य नभस्यो भाद्रपदसंज्ञो मासस्तस्य । ‘श्रावणिको घनभस्यः प्रोष्ठभाद्रपदपदः’ इति हैम्याम् । किंभूतस्य । नमन्तः पयोभरैर्नम्रीभवन्तो भूमौ लगन्तो ये पयोदा मेघास्तेषां कदम्बकानि पटलानि तेषामाडम्बर आटोपः अस्त्यस्मिस्तस्य किवत् । नभोवत् श्रावणमासस्येव । श्रावणभाद्रपदमासौ वर्षा ऋतुः । यथा श्रावणे तथा भाद्रपदे यथा भाद्रपदे तथा श्रावणे मेघः स्यादिति । तथा ‘नभोनभस्यत्वमलम्भयदृशौ’ इति नैषधे । सेवनावसरे दमयन्त्याः स्वदृशौ श्रावणभाद्रपदीकृते । अयं तु वर्षाऋतुत्वान्मासस्वभावः । एकादशी तु स्वभावेनोज्ज्वला । तत्रेयमुत्प्रेक्षा । अथ वा नभोवद्गगनस्येव । यथा प्रावृद्धकाले नभो व्योम घनघनाघनमण्डलाडम्बरितं भवेत् ॥ एतावता भाद्रपदमाससितैकादशीतिथौ निशासमये ॥

कान्ते तमीनामुदिते मुनीन्दोस्तत्प्रक्रमे वक्रदिदृक्षयेव ।

स्फुरत्सु तारेषु गुरोः पथीव यातुर्दिव क्षिप्तसुमेषु देवैः ॥ १५९ ॥

पुनस्तमीनां रात्रीणां कान्ते बल्लभे चन्द्रे उदिते सति उदयप्राप्ते सति । उत्प्रेक्ष्यते—तत्प्रक्रमे तस्मिन्नवसरे अनशनिनो मुनीन्दोर्हीरविजयसूरेर्वक्रस्य वदनस्य दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छयेव । पुनस्तारेषु उपलक्षणाद्ग्रहनक्षत्रतारकेषु स्फुरत्सु दीप्यमानेषु जगज्ज्ञगिति कुर्वत्सु । उत्प्रेक्ष्यते—दिवः स्वर्गलोकं यास्यति गमिष्यतीत्येवशीलस्य यातुर्गुरोर्हीरसूरे पथि मार्गे देवैः क्षिप्तेषु विकीर्णेषु सुमेषु पुष्पेष्विव पुष्पप्रकरेष्विव ॥ घनोपरो वनिर्मुक्तग्रहनक्षत्रतारकलितकौमुदीकान्तोदये जाते ॥

महेभ्यवत्सनिधिशालमानानाकार्यं कार्यज्ञतयानगारान् ।

तदैहिकामुष्मिकसर्वशर्मनिर्माणदक्षाः प्रवितीर्य शिक्षाः ॥ १६० ॥

एवविधे व्यतिकरे सति । किं कृत्वा । कार्यं जातावसरे कृत्याकृत्यविविधं जानातीति कार्यज्ञस्तस्य भावस्तया शिक्षाप्रदानादिषु निपुणत्वेन सनिधौ समीपे शालमानान् शोभ-

मानान् । किवत् । महेभ्यवत् यथा महाव्यवहारिण सद्भिर्विद्यमानै रत्नादिभि शोभ-
मानैर्वा, निविभिर्निधानै शालन्ते राजन्ते तान् तादृशाननगारान् निजपारिपार्श्वका-
न्मुनीनाकार्याहूय पुनस्तेषामाकारितयतीनामैहिकानीहलोकसबन्धीनि आमुष्मिकाणि
परलोकसबन्धीनि सर्वाणि समस्तानि शर्माणि सुखानि तेषा निर्माणे करणे दक्षा. कु-
शला शिक्षा अनुशास्ती प्रवितीर्य दत्त्वा ॥

अहो युवाभ्यां विजयादिसेनव्रतिक्षितीन्द्रान्प्रति वाच्यमेतत् ।

युष्माकमङ्गेऽस्ति गणोऽखिलोऽपि स शासनीयः शिशुवत्स्वकीयः ॥ १६१ ॥

अहो इति संबोधने । विमलहर्षसोमवाचकौ युवाभ्यां सभूय विजय इति पदमादौ
यस्य तादृश सन् एतावता विजयसेननाम्न व्रतिक्षितीन्द्रान् साधुवसुवाधिपान् प्रति
एतदुच्यमान वाच्य कथनीयम् । तदेवोच्यते—अखिलोऽपि समस्तोऽपि गणस्तपागच्छो
युष्माक श्रीमतामङ्गे उत्सङ्गेऽस्ति वर्तते । स तपागच्छथ्रमणगण शासनीय सम्यक्
पालनीय । किवत् । शिशुवत् । यथा स्वकीयो बाल पाल्यते । गणः किंभूतः । स्व-
कीयो गुरुपरम्परया आगत । आत्मीय अथ श्रीमदीय ॥

श्रीवाचकेन्द्रौ विमलादिहर्षसोमादिराजद्विजयाभिधानौ ।

सदाश्रवौ स्वौ सचिवाविवाथ सयोज्य वाचेति निज मुखाब्जम् ॥ १६२ ॥

अथ पुन किं कृत्वा । विमल इति पदमादौ यस्य तादृशो हर्ष, तथा सोम इति
पदमादौ यस्य स सोमादि, तेन राजत् शोभमान विजय इति पद यस्य एतावता
विमलहर्ष-सोमविजय इत्यभिधाने ययोस्तौ । किंभूतौ । श्रीवाचकेन्द्रौ श्रीमदुपाध्यायावि-
राजौ प्रति इति पूर्वोक्तेन गणशासनलक्षणविजयसेनसूरिशिक्षाप्रदानरूपप्रकरणवाचा
वाण्यां सम निज मुखाब्ज वदनकमल सयोज्य योजयित्वा । उक्तत्वेत्यर्थः । उत्प्रेक्ष्येते—
वाचकौ स्वौ सचिवाविव आत्मीयामात्याविव । किंभूतौ । सदा सर्वदा कालमाश्रवौ
वचनस्थितौ निजकथनकारकौ ॥

प्रणीय पूर्णाश्चतुरक्षमालाश्चतुर्गतीनामिव वारयित्रीः ।

गन्तुं गति पञ्चमिकामिवाथो स पञ्चमी प्रारभताक्षमालाम् ॥ १६३ ॥

पुन किं कृत्वा । चतुरक्षमालाश्चतस्रो जपमालिका पूर्णा समाप्ति प्राप्ता सपूर्णा
सजाता प्रणीय कृत्वा आदितो गणयित्वा । उत्प्रेक्ष्येते—चतस्रणा नरकतिर्यङ्गुरसुरलक्ष-
णानां गतीनां कुत्सितानां स्थानकानां वारयित्रीनिषेधयित्रीनिषेधिका इव । अथो पुन स
सूरि पञ्चमी पञ्चानां सख्यापूरणीमक्षमाला प्रारभत । गणयितुमिति शेषः । उत्प्रेक्ष्येते—
पञ्चमिका पञ्चानां गतीनां पूरणी पूरका गतिमनन्तसुखावासलक्षणां गतिं गन्तुं यातु-
मिव ॥ सप्तभिः कुलकम् ॥

अथोन्नताख्यस्य पुरस्य पार्श्वे ग्रामे सपद्मे सरसीरुहीव ।

समुद्रशायीव युतोऽङ्गजेन द्विजाग्रणीः कोऽपि बभूव भट्टः ॥ १६४ ॥

अथापराधिकारे एतस्मिन् समये च कोऽपि कश्चिदनिर्दिष्टनामा भट्टः । स्वयमध्येतुः पराध्यापयितुश्च विद्वद्विजस्य भट्ट इति नामोच्यते । स भट्टो बभूव । किलक्षण । द्विजाग्रणीर्ब्राह्मणमुख्य । पुन किभूत । अङ्गजेन स्वनन्दनेन युतः । क इव । समुद्रशायीव । 'दासार्हं पुरुषोत्तमोऽब्धिशयन' इति हैम्याम् । यथा नारायणः अङ्गजेन लक्ष्मीतनुजेन प्रद्युम्नेन सहितः कमल । 'कलाकेलिरनन्यजोऽङ्गज' इत्यपि हैम्याम् । भट्ट कुत्रस्थाने । उन्नत इत्याख्या नाम यस्य तादृशस्य पुरस्य पार्श्वे समीपभाजि कापि सन्निविवर्तिनि ग्रामे । किभूते । सपत्ने सह पद्मया लक्ष्म्या वर्तते यः स । कस्मिन्निव । सरसीरुहीव । यथा कमल लक्ष्मीकलित भवेत् ॥

दिव्यं विमानं पवमानमार्गे नक्त दृशा बिम्बमिवैन्दवीयम् ।

सनन्दनो मन्दिरचन्द्रशालामालम्बमानः स विलोकते स्म ॥ १६५ ॥

स भट्टो नक्त प्रथमरात्रिसमये दृशा खलोचनेन पवमानमार्गे गगनाङ्गणे दिव्य देवतासबन्धिविमानं देवानां गमनगमनासनयानं विलोकते स्म दृष्टवान् । उत्प्रेक्ष्यते— ऐन्दवीयं चन्द्रसबन्धिविम्बमण्डलमिव । किभूतो भट्टः । सनन्दनः तत्रावसरे पुत्रयुक्तः स्वाङ्गजेन सहोपविष्टोऽस्ति । किं कुर्वाणः । मन्दिरस्य खगृहस्य चन्द्रशालाशिरोगृहमुपरितनभूमिकामालम्बमान आश्रयन् ॥

परस्परं वार्तयता सुराणां तदा नराणामिव देवमार्गे ।

इदं तदन्तर्ध्वनितं तमायां शुश्राव स श्रोत्रपुटेन भट्टः ॥ १६६ ॥

स पूर्वकथितो भट्टस्तमायां रजन्या श्रोत्रपुटेन निजश्रवणपुटकेन इदमग्रे प्रोच्यमानं तस्य विमानस्यान्तर्मध्ये ध्वनितं शब्दं शुश्राव आकर्णयामास । केषाम् । सुराणां देवानाम् । किं कुर्वताम् । परस्परं मिथो वार्तयतां किवदन्तीं कुर्वताम् । कः । देवमार्गे आकाशे । कदा । तदा सूरैर्निर्वाणसमये । केषामिव । नराणामिव । यथा मानवा अन्योन्यं वार्तयन्ति तथा वार्तयतां मनुष्याणां शब्दं श्रूयते ॥

सौमङ्गलाद्या इव नाभिसूनोर्वक्त्रं व्रतीन्दोरिह जीवतोऽस्य ।

विलोकयामश्च यथा कृतार्थाः स्यामः सुरास्तत्त्वरितं चरन्तु ॥ १६७ ॥

यद्यस्मात्कारणादिहोन्नतनगरे इह सूरिभवे वा जीवतः प्राणान्वारयतोऽस्य व्रतीन्दोरेतस्यैव हीरविजयसूरे वक्त्रं वदनं विलोकयामः पश्यामः । के इव । सौमङ्गलाद्या इव । यथा स्वनिर्वाणसमयमवसायानशनं निर्मातुमष्टापदपर्वते निवेदिते समवसृतस्य नाभिसूनोः श्रीऋषभदेवस्य अष्टापदाद्रिरक्षकैर्भरतचक्रिणः पुरस्तात्तदुदन्ते जीवतो भगवतः पितुः पितामहस्य स्वामिनो वदनारविन्दं विलोकयामः इति कृत्वा गलद्वहुलबाष्पप्लवप्लावितविलोचनयुगलाभरतचक्रितदङ्गजप्रमुखा इक्ष्वाकुवशोद्भवा बहवो जना ओजायमाना अष्टापदाचलं प्रचेष्टुः—इति शत्रुजयमाहात्म्ये विस्तारोऽस्ति । पुनर्यथा यिनः प्रका-

रेण सूरिवक्त्रवीक्षणविधिना कृतार्था कृतकृत्या स्यामो भवामः । तत्तस्मात्कारणात् हे भ्रातरुः सुरा देवा , त्वरित शीघ्रतर चरन्तु प्रचलन्तु ॥

एवं सुराणां वदतां तदानी क्षणाददृश्यं तदभूद्विमानम् ।

सौदामिनीमण्डलमम्बुदानामिवातिगर्जा सृजतां गभीराम् ॥ १६८ ॥

तदानी तस्मिन्नेव वार्ताकरणसमये एवममुना पूर्वोक्तप्रकारेण वदता परस्पर वार्तयता प्रवृत्ति विदयता सतां सुराणा देवाना तद्भट्टेन तत्स्वय दृष्ट्या दृष्ट विमान क्षणान्निमेष-
षमात्राददृश्य दृष्टेरगोचरमभूदजायत । किमिव । सौदामिनीमण्डलमिव । यथा गभीरा मन्द्रामतिशयेन गर्जारव सृजता कुर्वता सतामम्बुदाना जलदाना विद्युद्वितानक्षणाददृश्य दृग्गोचरातीत भवति ॥ इत्युन्नतपुरपार्श्वग्रामस्थभट्टस्य दिव्यविमानदर्शनम् ॥

सूरिस्ततः संश्रयति स्म शुक्लध्यानं दधानः स सुधाशसौधम् ।

काङ्क्षन्महानन्दपुरे प्रयातुं प्राक्तस्य मार्गस्य दिदृक्षयेव ॥ १६९ ॥

ततो विमानागमनानन्तर सूरिर्हीरविजयसूरि सुवाममृतमश्नन्ति भजन्तीति सु-
धाशा देवास्तेषा सौध गृहम् । देवलोकमित्यर्थ । संश्रयति स्म भजते स्म । स्वर्गं गत इत्यर्थ । किं कुर्वाण । शुक्लध्यानं दधानं वारयन् । ध्यायन्नित्यर्थ । उत्प्रेक्ष्यते—
महानन्दपुरे मोक्षनगरे प्रयातुं गन्तुं काङ्क्षन् सन् प्राक् पूर्वं तस्य मोक्षनगरस्य मार्गस्य समीचीनताशालितस्य मार्गस्य पथो दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया । अथ वा कीदृक् प्रध्वरो वा वक्रो वा समो वा विषमो वा, कथं कया रीत्या गन्तव्यमित्यादिदर्शनेच्छया इव ॥ इति हीरविजयसूरिगुरो स्वर्गमनम् ॥

अस्तं गभस्तेरिव कोकलोकः शोकाकुलो बाष्पजलाविलाक्षः ।

श्रुत्वा गुरोः स्वर्गमनं निशाया जनव्रजो द्वीपपुरादुपागात् ॥ १७० ॥

जनव्रजं श्राद्धवर्गं निशाया रजन्यामेव त्वरितं द्वीपपुराद्वीपबन्दिरादुपागादुन्नत-
पुरे समेत । किं कृत्वा । निशायामेकादशीरजन्या गुरो सूरौ स्वर्गमनं देवलोके पा-
दावधारणं श्रुत्वा आकर्ण्य । किलक्षणो जनः । बाष्पजलैरतिदुःखनिपतन्नयनाश्रुसलिलै-
राविले व्याप्ते अक्षिणी नेत्रे यस्य । पुनः किंभूतः । शोकेन खेदेन आकुल उत्पिञ्जलः ।
क इव । कोकलोक इव । यथा गभस्तेर्भास्करस्यास्त द्वीपान्तरगमनं श्रुत्वा चक्रवाकचक्र-
शोकाकुल बाष्पजलाविलाक्ष भवेत् । ‘आलोकतालोकमुल्लूकलोकः’ इति नैषवे । उल्लूक-
लोकस्तथा कोकलोकः । तथा ‘आकाशे सावकाशे तमसि सममिते कोकलोके सशोके’
इति नाटककाव्ये ॥

ल्यारीसहस्रद्वयसंगृहीतकथीपकारुण्यादिमदिव्यवस्त्रैः ।

श्राद्धा व्यधुर्मण्डपिका मुनीन्दोरिवाप्तभर्तुः शिविकां महेन्द्राः ॥ १७१ ॥

श्लोककाराणां द्विपुटीकृतानां कलवौतम्यानां ल्यारिका इति नाम्नां नाणकविशे-

षाणा सहस्रद्वयेन विशतिशत्या व्ययेन सगृहीतेरानीतै कथीपका इत्याख्या नामवि-
शेषा येषाम् । 'कथीपो' इति प्रसिद्धा । ते आदिमा प्रथमा येषा तादृशैर्दिव्येदेवदुकू-
लोपमैर्वै कृत्वा श्राद्धा द्वीपोन्नतपुरश्रावका मुनीन्दोर्हीरसूरेर्मण्डपिका 'माडवो'
इति प्रसिद्धा व्युश्चकिरे । के इव । महेन्द्रा इव । यथा पुरदरा आसुभर्तु तीर्थकरस्य
शिविका याप्ययान विदधते ॥

ते ल्यारिकाभिर्व्रतिपस्य सार्धसहस्रयुग्मप्रमिताभिरङ्गम् ।

अपूपुजन्भक्तिभरोल्लसन्तो जिनेशितुर्मूर्तिमिव प्रसूनैः ॥ १७२ ॥

ते श्राद्धा सहावर्णेन वर्तते तत्सार्धम्, सहस्रयोर्दशशत्योर्युग्म युगलम्, सार्धं च तत्सह-
स्रयुग्म च । तेन प्रमिताभि प्रमाण प्रापिताभि पञ्चविशतिशतप्रमाणाभिर्यारिकाभि
कृत्वा व्रतिपस्य सूरे अद्ग शरीरमपूपुजन्नर्चयन्ति स्म । कामिव । मूर्तिमिव । यथा श्राद्धा
जिनेशितुस्तीर्थकरस्य प्रतिमा प्रसूनै कुसुमै पूजयन्ति । किभूता । भक्ते सेवासक्ते.
भरेणातिशयेनोल्लसन्त रोमाञ्चकञ्चुकीभवन्त ॥

नभोनभस्याविव निःसरद्भिः पयःप्रवाहैर्नयने वितन्वन् ।

यावज्जनो मण्डपिकाममुष्यालंकारयामास शरीरयष्ट्या ॥ १७३ ॥

जन. श्राद्धलोक यावद्यावता समयेन अथवा यस्मिन् समये अमुष्य स्वर्गतस्य सूरे
शरीरयष्ट्या तनूलतया कृत्वा मण्डपिकामलंकारयामास भूषयति स्म । वसनाद्यैर्भूषि-
ताया मण्डपिकाया सूरिशरीर शाययति स्मेत्यर्थः । जन कि कुर्वन् । नयने स्वनेत्रे
नभोनभस्याविव श्रावणभाद्रपदाविव वितन्वन् विदधत् । कै । नि सरद्भिर्दु खप्रकर्षा-
विरलवारनिवहनि सरद्भिः पयः प्रवाहैर्वाष्पजलप्लवै ॥

विमानघण्टापटुनादसान्द्रध्वनत्सुधोषेव गभीररावा ।

घण्टावली तावददृश्यमानाप्यध्वानितादिध्वनदभ्रमार्गे ॥ १७४ ॥

तावता समयेन तस्मिन् समये वा अध्वानिता कैश्चनापि मानवेरवादिता कैरपि
जनमात्रैरताज्यमानापि स्वयमेवादृश्यमाना नापि केषाञ्चिच्चक्षुर्गोचरे भवन्ती तादृशी
घण्टानामत्र मण्डले देवगृहे वादनवाद्यविशेषाणा द्वीपबन्दिरादौ च घटिकायामादिमा
नविशेषकृत्ये वादनीयाना 'घाट' इति प्रसिद्धनाम्नाम् आवली श्रेणी अदिध्वनत् गाढ
शब्दायते स्म । क । अभ्रमार्गे मेघाध्वनि व्योमाङ्गणे । किभूता । गभीरो मन्द्रो रावो
ध्वनिर्यस्या । केव । विमानाना सौवर्मदेवलोकसबन्विना द्वात्रिंशलक्षैर्मिताना देवनिव-
सनकृते नगरूपाणा घण्टानामेकसमयदध्वनन्महद्वण्टिकाना पटुभिरतिपञ्चविषयसुखसं-
लीनतया किमप्यन्यत्कृत्याकृत्येष्वदत्तावधानाना देवाना स्वस्वामिकार्यनिर्माणप्रगुणीकार-
णप्रवणै नादै' नि क्वाणै प्रकटध्वनिभि' सान्द्रध्वनत् बहलीभूतशब्दायमाना सुधोषा
घण्टेव ॥ इति मण्डपिकाकरणसूरिशरीरशायनम् ॥

वाद्यौघमाद्यन्निनदैर्जिनस्येवामुष्य निर्वाणमहं प्रणेतुम् ।

किमाह्वयन्तस्त्रिदशानशेषानादाय ता श्राद्धजनाः प्रचेलुः ॥ १७५ ॥

श्राद्धजनाः श्रावकत्रजा ता मण्डपिकामादाय स्कन्धेषु समविरोप्य प्रचेलु संस्कारभूमिं प्रति प्रचलन्ति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—वाद्यौघानां वादित्रसदोहानां माद्यद्विर्बहली-
भवद्विर्निनदैः शब्दैः कृत्वा अशेषान् सर्वानपि महेन्द्रप्रमुखान् त्रिदशान् देवान् कि-
माह्वयन्त आकारयन्त इव । किं कर्तुम् । अमुष्य सूरैर्जिनस्य तीर्थकरस्येव निर्वाणमहं
परलोकगमनमहोत्सवं प्रणेतुं विधातुम् ॥

ध्वजव्रजैरुजितसाध्यरागोपयुक्तवद्विष्णुपदं सृजन्तः ।

आदाय ता मण्डपिकां मुनीन्दोः संस्कारभूमीमनयञ्जनास्ते ॥ १७६ ॥

ते जना द्वीपोन्नतनगरश्राद्धलोका मुनीन्दोर्हीरसूरैर्मण्डपिकामादाय गृहीत्वा संस्का-
रस्य परलोकोपगतशरीरिशरीरस्य कृशानुना संस्कृतिकरणस्य भूमीं स्थानकमगमन् गच्छ-
न्ति अनयन् प्रापयन्ति स्म वा । किं कुर्वन्त । सृजन्त विदधत । किम् । विष्णुपदं
हरिचरणमाकाशम् । किवत् । ऊर्जितेन प्रबलेन सव्याया दिवसावसाने भव साध्यः
स चासौ रागश्च सायतनसध्यासबन्धिरक्तिम्णा युक्तवत्कलितमिव । कैः । ध्वजव्रजैः
पताकाप्रकारैः । विविधवर्णवैजयन्तीराजिभिः सध्यायामनेके नीलपीतरक्तादिका रङ्गा
भवेयुः ॥

महीन्दिरायाः शिरसीव नीलमणीप्रणीतातपवारणस्य ।

रसालसालस्य तलेऽखिलास्ते स्वासस्थलान्मण्डपिकाममुञ्चन् ॥ १७७ ॥

अखिला समस्ता अपि श्राद्धजना द्वीपोन्नतपुरलोका स्वासस्थलान्निजस्कन्धदेशात् ।
आत्मीयस्कन्धेभ्य इत्यर्थः । रसालसालस्य सहकारमहीरुहस्य तले अव प्रदेशभूमौ मण्डपि-
काममुञ्चन् शुद्धवरणीमण्डले स्थापयन्ति स्म । कथंभूतस्य रसालसालस्य । नीलमणीप्रणीता-
तपवारणस्य । उत्प्रेक्ष्यते—महीन्दिरायाः ॥

अयोपस्कारमेलनम्—

संस्कारोपस्करमथ तत्रानिन्युर्जना गतोत्साहाः ।

चन्दनदलिकादिममिव गीर्वाणाः सार्वनिर्वाणे ॥ १७८ ॥

अयं संस्कारभूमौ मण्डपिकाया आनयनानन्तरं गतोत्साहाः शिथिलोद्यमा उद्यमर-
हिताः । ‘उत्साहः प्रगल्भता । अभियोगोद्यमौ प्रौढिः’ इति हैम्याम् । जनास्तत्र सं-
स्कारोचितसहकारतरुसमीपभूमौ संस्कारोपस्करं सूरिशरीरसंस्कारकरणसमुदायमानि-
न्युरानयन्ति स्म । संस्कारोपस्करं किंभूतम् । चन्दनदलिकादिमं श्रीखण्डकाष्ठप्रमुराम् ।
क इव । गीर्वाणा इव । यथा देवा विगतोद्यमा सन्त सार्वस्य जिनस्य निर्वाणे सिद्धिवि-
धाने तद्वर्तमानसंस्कारोपस्करं मेरुभूमेऽथ चन्दनादिकमानयन्ति ॥

व्यालानुषङ्गवशतो वसतेर्वनान्ते

• पुष्पश्रिया फलभरैरपि वन्ध्यभावात् ।

आगान्मुमूर्षुरतिदुःखगणेन गन्ध-

सारः किमत्र तिथिसंख्यमणप्रमाणः ॥ १७९ ॥

अत्र सस्कारभूमौ तिथीना पञ्चदशकर्मवादिना सख्या मान येषा तादृशाना चत्वारि-
शत्सेरप्रमाणाना मणाना मानविशेषाणा प्रमाण यस्य । पञ्चदशमणा इत्यर्थः । गन्धसारश्चन्दन
आगात् । उत्प्रेक्ष्यते—अतिदुःखगणेन अत्यभ्यविकाना हृदरुतुदाना दुःखानामसाताना
गणेन भरेण कृत्वा मुमूर्षुर्मर्तुमिच्छुरिव । दुःख कुत । व्यालाना दुष्टद्विजिह्वानामनुषङ्ग-
स्य सर्वदा सङ्गस्य वशत आयतत्वात् । पुन कस्य । वनानामन्ते काननानां प्रान्ते मध्ये
वा वसतेर्निवासात् च । अपि पुन पुष्पश्रिया कुसुमलक्ष्म्या अयं च पुष्पवद्दशदिक्षु वि-
कसन्त्या व्यापारव्यवहारैः सर्वत्र जनस्थलदेशेषु विस्तृतया इन्दिरया समृद्धया । अपि
पुन फलाना सस्याना पुत्रपौत्रादीना भरैर्द्वारिकाप्राप्तयादववशवद्वन्दैर्वन्ध्यभावान्मो-
घत्वात् । ‘यद्यपि चन्दनविटपी विधिना फलपुष्पवर्जितो विहित । निजवपुषैव परेषा
तथापि सतापमपनयति ॥’ इति सूक्तवचनात् । इत्यादिकारणात्सजातमुमूर्षा ॥

घृतमिव पितृनिधनभवोऽगुरुद्रवस्तत्र पञ्चसेरमितः ।

सुहृदिव सखेहोऽगुरुरप्यानीतो मणत्रितयः ॥ १८० ॥

तत्र सस्कारोपस्करे सस्कारभूमौ वा अगुरुद्रव ‘चूओ’ इति प्रसिद्धनामा पञ्चभि
सेरैर्मित प्रमाणीकृत पञ्चसेरानीत । किंभूत । पितुर्गुरोर्निवनात् मरणात् निदाघाद्भव
उत्पत्तिर्यस्य । किमिव । घृतमिव । यथा आज्य पितुर्दध्नो मथनान्नाशात् अथ वा म्रक्षणस्य
विनाशात्तापनगालनात्सजातम्, तथा चूआकोऽपि तातस्य कृष्णागुरोर्गालादुत्पन्न । अपि
पुन सुहृदिव सखेव सह स्नेहेन प्रेम्णा चूआनामतैलद्रवेण च युक्त कलित । मणाना
त्रितय त्रिक यस्य तादृशोऽगुरु काकतुण्ड समानीत ॥

श्यामत्वमात्मपितृघातजपातकं च

गौरीशविग्रहहुताशनसेवनाभिः ।

सारङ्गनाभिनिवहः प्रणिहन्तुकाम-

स्तत्राजगाम किमु सेरयुगप्रमाणः ॥ १८१ ॥

सारङ्गनाभिनिवह कस्तूरीप्रकर सेरयोर्युग द्वन्द्व प्रमाण यस्य स सेरयुगप्रमाण
तत्रोपस्करे सस्कारभूमौ वा आजगाम आगच्छति स्म । उत्प्रेक्ष्यते—श्यामत्वमात्मका-
लिमानं च पुन पितुः कस्तूरिकामृगस्य घातान्मारणाज्जातमुत्पन्न पातकं दुःकृतं गौरी-
शस्य पार्वतीभर्तुः शिवस्य विग्रहं शरीरं यो हुताशनं कृशानुस्तस्य सेवनाभिर्भक्तिभिः

परिचर्याभिः । 'क्षितिजलपवनहुताशनयजमानाकाशसोमसूर्याद्या । अष्टौ शिवमूर्तयः' इति वृचनात् वह्निसेवाभिरग्निमध्ये प्रवेशे प्रणिहन्तुकाम किमु निवारयितुमिच्छुरिव ॥

दिवं गतस्यापि विभोरमुष्य श्लोकस्त्रिलोक्यामपि पोस्फुरीति ।

विवक्षयेतीव पुरो नराणामागात्रिसेरीप्रमितः सिताभ्रः ॥ १८२ ॥

त्रयाणां सेराणां समाहारत्रिसेरी तथा प्रमितः प्रमाणीकृतः सेरत्रयमानः सिताभ्रः कर्पूरः समागात् । उत्प्रेक्ष्यते—नराणां समग्रजनानां पुरोऽग्रे इति विवक्षया वक्तुमिच्छ-
येव । इति किम् । दिव गतस्यापि स्वर्गं यातस्यापि अमुष्य विभो गुरोः श्लोको यश-
स्त्रिलोक्यामपि पोस्फुरीति जगत्रयेऽपि स्फूर्तिमियति इति हेतोस्त्रिसेरीमिह ॥ इति
संस्कारोपस्करमेलनमानयनं च ॥

ज्योतिःकुमारा इव तीर्थभर्तुः प्रज्वाल्य पूर्वं ज्वलनं चितायाम् ।

सूरेः शरीरस्य शरीरिणस्ते संस्कारमातन्वत चन्दनाद्यैः ॥ १८३ ॥

ते शरीरिणः श्राद्धजनाः सूरे शरीरस्य चन्दनाद्यैः श्रीखण्डागुरुचूआककर्पूरक-
स्तूरिकाभिः कृत्वा संस्कारं वह्निना संस्करणं भस्मसाद्विधानमातन्वत चक्रुः । किं
कृत्वा । पूर्वं प्रथमं चितायां ज्वलनमग्निं प्रज्वाल्य सधूष्योदीप्य वा । क इव । ज्योति-
कुमारा इव । यथा अग्निकुमारास्तीर्थभर्तुश्चितायां पुरं प्रदत्तादेशां नयननिपतद्ब्रह्म-
बाष्पप्लवा पूर्वंज्वलनं प्रज्वालयन्ति ॥

सप्तसहस्राः सर्वाः संभूय ल्यारिका इह व्ययिताः ।

सप्तापि दुर्गतीरिव निषेद्धुमेतैः समुत्सुकितैः ॥ १८४ ॥

तैः श्राद्धैः पूजादीनां वस्त्रादीनां सर्वां समस्ता अपि संभूय मेलयित्वा इह सूरि-
शरीरसंस्कारसमये सप्तसहस्रप्रमाणा ल्यारिका व्ययिता व्ययीकृता । उत्प्रेक्ष्यते—
सप्तसहस्रा अपि दुर्गती नरकान्निषेद्धुं निवारयितुं समुत्सुकितैरुत्कण्ठितैरिव ॥ इति सू-
रिशरीरसंस्कारकरणम् ॥

चैत्ये श्रीफलतन्दुलाञ्जिनपुरस्ते ढौकयित्वा ततः

सस्तुत्य प्रणिपत्य भक्तिभरिता जग्मुर्गृहानात्मनाम् ।

गीर्वाणा इव वासवप्रभृतयो नन्दीश्वरेऽष्टाहिका

निर्मायानुसमेतयौवतयुता निर्वाणकल्याणके ॥ १८५ ॥

ते समस्ता अपि संस्कारकारिणः उपलक्षणात्परेऽपि द्वीपोन्नतादिनगरश्रावकास्ततः
संस्कारकरणानन्तरं चैत्ये जिनप्रासादे श्रीजिनपुरस्तीर्थकृतप्रतिमानां पुरस्तात् श्रीफ-
लानि नालिकेराणि तथा तन्दुलाश्चोक्षा उपलक्षणादपरगोधूमयुगधरीप्रमुखधान्यश्रेणीं
ढौकयित्वा ततस्तदनन्तरं च सस्तुत्याष्टस्तुतिभिर्देववन्दना विवाय मध्ये अजितशान्ति-

स्तव प्रान्ते च बृहच्छान्तिप्रमुखस्तुति कृत्वा ततस्तस्मादनु पश्चात् प्रणिपत्य । प्रणामस्तु भक्तिसेवात् । अत एव कारणात्ते किभूता । भक्तिभरिता. सेवासक्या व्याप्ता सन्तो नमस्यित्वा आत्मनां स्वेषां स्वेषा गृहान् जग्मुर्गता । ते किभूता । अनु पश्चात् देव-गृहागमनानन्तर समेत समागत यद्यौवत युवतीसमूहस्तेन युता सहिताः । के इव । गीर्वाणा इव यथा वासवप्रभृतय पुरदरप्रमुखाश्चतुर्निकायामरा. निर्वाणनाम्नि तीर्थकृता मोक्षगमनाभिधाने कल्याणकसमये नन्दीश्वरेऽष्टमद्वीपे अष्टाहिका स्वस्वजनरतिकरदवि-मुखप्रमुखपर्वतप्रासादेष्वष्टाहिकामष्टवासरी यावन्महोत्सवमतिशायिन मह निर्माय आत्मना नगरभवनज्योतिर्विमानान् वानव्यन्तरभवनवासिज्योतिष्कविमानवासिनश्चतु-र्निकायिका न सर्वे सुरा गच्छन्ति । तेऽपि किविशिष्टाः । अनु पश्चात्पृष्ठे समेत समायात यद्यौवत स्वस्वनिकायकामिनीकदम्बक तेन कलिता ॥ इति सूरिनिर्वाणप्रस्तावनम् ॥

तस्मिन्नेव निशावसानसमये दिव्यश्रियं सश्रय-

न्साहिश्रीमदकब्बरावनिपतेः श्रीहीरसूरीश्वरः ।

प्राग्वाग्बद्ध इवाभ्युपेत्य सविधे प्राचीनरूपाञ्चितो

मित्रस्येव निज द्युलोकगमनं प्राक्स्नेहतः प्रोचिवान् ॥ १८६ ॥

श्रीपार्श्वदेवलोकलक्ष्म्या कलितो हीरविजयनामा सूरीणामाचार्यभट्टारकाणा मध्ये इष्टे इशिता ऐश्वर्यवान् भवतीति ईश्वर प्राक् स्नेहत प्राचीनमिलनसजातप्रीतिप्रकर्षात् पा-तिसाहे श्रीमतश्चतुर्दिगन्तदेशाविपत्यहस्यश्वरथपदातिपुरनगरग्रामकोटहेमरूप्यमणिमौ-क्तिकप्रमुखाशेषसपच्छालिन अकब्बरनाम्नोऽवनिपते राज्ञ निजमात्मीय द्युलोकगमन स्वर्लोके यान प्रोचिवान् । कस्येव । मित्रस्येव । यथा प्रियसुहृद् स्वेप्सितग्रामनगरादिगमन प्रोच्यते । कि कृत्वा । अभ्युपेत्य समेत्य । क । सविधे समीपे अर्थात् साहे पार्श्वे । क इव । प्राग्वाग्बद्ध इव । यथा कश्चित्सुर प्राक् पूर्वजन्मनि दत्तया वाचा बद्धो नियत्रित कस्य-चित्पार्श्वं समायाति । कदाभ्युपेत । तस्मिन्नेव निशावसानसमये । यस्या निशाया स्वर्लो-कमलकृतवान् तस्या एव निशाया अवसान प्रान्त स एव समय काल पाश्चात्यरात्रि-प्रस्तावे समेत्य । प्रोक्तवानित्यर्थ । किविशिष्ट सूरि । प्राचीनेन हीरसूरिसबन्धिनो रूपे-णाञ्चित वपुषा तत्स्वरूपेणैव वर्तमान दृश्यमान । च पुन किलक्षण । दिव्या दिवि-भवा देवतासबन्धिनी प्रिय वपु शोभा सश्रयन् भजन् ॥ इति पातिसाहे स्वप्ने स्वस्य स्वर्लोकगमनकथनम् ॥

तन्मूर्तिसंस्कृतिपदे सुरसृष्टनाट्य-

मालोक्य तीर्थ इव नागरनैगमेन ।

तत्संनिधिस्थकृषिरक्षणदीक्षितेन

प्रातः पुरीजनपुरस्तदुदीर्यते स्म ॥ १८७ ॥

नागरजातीयेन नैगमेन वणिजा प्रातस्त्रयोदशीवासरस्य विभात्ते दिवसप्रारम्भसमये पुरीजनानामुन्नतनगरलोकानां पुरोऽग्रे तन्नाटकदर्शनादिकमुदीर्यते स्म प्रोवाच । किं कृत्वा । तस्य सूरैर्मूर्ते शरीरस्य सस्कृतिपदे सस्कारकरणस्थानके नक्त सुरसृष्ट देवैर्निर्मित नाट्य नाटकमालोक्य दृष्ट्वा तस्मिन्निव तीर्थं इव । यथा शत्रुजयादितीर्थभूमौ सुरकृत ताण्डवम् । केनचिद्भाग्यवता इति शेषः । विलोक्यते । किंभूतेन नागरनैगमेन । तस्य सूरिशरीरसस्कारस्थानकस्य सनिधौ समीपे तिष्ठतीति तादृशी कृषि कर्पण तस्या रक्षणे पालने दीक्षितेन गृहीतप्रतिज्ञेन । नक्त कृषिरक्षकेणेत्यर्थः । स्वस्य वान्यस्य वा ॥ इति नागरनैगमस्य नक्त नाटकदर्शनकथनम् ॥

दिव्यविमानविलोकनवार्ता पुनरेत्य स त्यवाग्विप्रः ।

न्यगदन्नगरजनानां स्वप्नविदां स्वप्नमिव पुरतः ॥ १८८ ॥

सत्या अवितथा वाग्वाणी यस्य तादृशो विप्रः पूर्वप्रोक्तभट्टः पुनरेत्यागत्योन्नतनगरे समेत्य नगरजनानां पुरतः अग्रे दिव्यविमानविलोकनवार्ता यन्मया नक्त हीरविजयसूरिनिर्वाणगमनरजनीप्रथमचतुर्घटिकासमये दिव्यविमान देवतासबन्धिवान निजनयनाभ्यां दृष्ट तन्मध्ये च देवानां 'हीरविजयसूरिवदन विलोकयामस्त्वरित चलन्तु' इति वार्तापि श्रवणाभ्यां श्रुता चेति न्यगदद्वदति स्म । कमिव । स्वप्नमिव । यथा कोऽपि स्वप्नदृष्टा पुमान् स्वप्नविदा स्वप्नाध्यायपाठकानां पुरतः स्वप्नं निगदति ॥ इति विमानदर्शनवार्ताकथनम् ॥

तस्यामेव त्रियामायां स माकन्दो वसन्तवत् ।

पूर्वं मञ्जरितोऽनल्पैः फलैः संपूरितस्ततः ॥ १८९ ॥

यदधोभूमिभागे सूरिशरीरसस्कृतस एव माकन्दः सहकारतरुस्तस्यामेव गुरुगात्रसस्कारकरणदिवसस्यैव त्रियामाया विभावर्यामेव पूर्वं प्रथमसमये एव मञ्जरितः मञ्जरीभिः कलिकाभिः कलितो जातः ततो मञ्जरीणां 'मण्डर' इति प्रसिद्धानां पूरणानन्तरमनल्पैः सख्यातीत फलैराम्रसस्यैः संपूरितः पूरणीभूतः । यथा पत्राण्यपि चक्षुषा नेक्षन्ते तथा फलावलीभिरलकृतो जातः ॥

चित्रीयमाणैश्चित्तान्तर्यात्रायामिव यात्रिकैः ।

समाजग्मे सम तत्र नागरैर्नागरीसखैः ॥ १९० ॥

तत्र हीरसूरिशरीरसस्कारस्थाने सहकारसालसमीपे नागरीसखैः पारपुरध्रीपरपरापरीतेर्नागरैर्नगरलोकैः सममेककालं तदाम्रमञ्जरीसहकारिकाप्रादुर्भावश्रवणानन्तरमेवानुपश्चात्समाजग्मे समागतम् । कैरिव । यात्रिकैरिव । यथा यात्राकारकेल्लोकैः यात्रायां शत्रुजयादितीर्थयात्राकृते चैत्रीपूर्णिमादिवासरे । किंभूतैः । चित्तान्तर्मनोमध्ये चित्रीयमाणैः राश्वर्यं विस्मयं प्राप्नुवद्भिः । मञ्जरीफलदर्शनादिति शेषः ॥

शेषा इव त्रिभुवनाधिपतेः प्रमोदा-

लोकाः सहैव जगृहुः सहकारिकास्ताः ।

प्रास्थापयन्पुनरकब्बरपातिसाहे-

रद्वैतविस्मयकरीरुपदा इवैताः ॥ १९१ ॥

ते लोकाः श्रावका अपरेऽपि च नगरग्रामलोका यवनाश्च सहैव समकालमागत्य गुरु-
माहात्म्यादेककालोत्पन्नास्ता मञ्जरी सहकारिकाश्च 'कइरी' इति प्रसिद्धाः जगृहुर्गृह्णन्ति ।
कस्मात् । प्रमोदात् हर्षात् । का इव । शेषा इव । यथा त्रिभुवनाधिपतेः त्रैलोक्यना-
यकस्य परमेश्वरस्य शेषा 'सेख' इति प्रसिद्धाः गृह्यन्ते । पुनस्ते तन्नगराधिपयवना
अकब्बरपातिसाहेरेता सहकारिका प्रास्थापयन् प्रेषयामासु । किभूता । अद्वैत न
विद्यते द्वैत द्वितय यत्र तदद्वैतमसाधारण मनस्यसामान्य विस्मयमाश्चर्यं चित्र कुर्व-
न्तीति ता अद्वैतविस्मयकरीः । उत्प्रेक्ष्यते—उपदा ढौकनिका इव । अथ वोपमानम् ।
का इव । उपदा इव प्राभृतानीव । 'भेट' इति प्रसिद्धा ॥ इति माकन्दस्य फलन तत्फल-
ग्रहण साहे प्रेषण च ॥

लाडकीति प्रिया यस्य मूर्ता श्रीरिव वेश्मनि ।

स्वर्गवी किमुत स्वर्गाद्भूमण्डलमुपागता ॥ १९२ ॥

स द्वीपवन्दिरश्रेष्ठी मेघनामा परीक्षकः ।

आर्षभिर्वृषभस्येव सूरैः स्तूपमकारयत् ॥ १९३ ॥

मेघनामा परीक्षक मेघपारिखनामा सूरैर्हीरविजयवतीन्द्रस्य स्तूपमकारयत्कारया-
मास । क इव । आर्षभिरिव । यथा ऋषभस्यापत्य नन्दन आर्षभिर्भरतचक्री वृषभस्य ऋष-
भदेवस्य अष्टापदपर्वते ऋषभदेवदेहसंस्कारस्थाने स्तूप कारितवान्, तथा वृषभस्वा-
मिप्रतिमा च तथा भ्रातृणा नवनवतिप्रतिमा च आत्मप्रतिमा च स्तूपशत च मा
कश्चिदाक्रमण करिष्यतीति तत्रैक भगवतः स्तूप शेषाण्येकोनशतभ्रातृणाम्—इति
हारिभद्रा मलयगिर्या चावश्यवृत्तौ । किभूत । द्वीपवन्दिरस्य । यत्र द्वीपान्तरेभ्यो
यानपात्रा समायान्ति तेषु यान्ति च तद्वन्दिरमित्युच्यते । द्वीपनाम्नो नगरस्य श्रेष्ठी
नगरमध्ये मुख्यपदभाक् । स क । यस्य लाडकी नाम्नी प्रिया पत्नी वर्तते । उत्प्रेक्ष्यते—
वेश्मनि मेघपरीक्षकसौधे मूर्ता मूर्तिमती लाडकीशरीरिणी श्रीलक्ष्मीरिव । उताथवा
असौ लाडकीरूपा स्वर्गाद्देवलोकाद्भूमण्डले पृथिवीपीठे उपागता समायाता स्वर्गवी काम-
धेनुरिव ॥ युग्मम् ॥

आकृष्टा इव तिष्ठन्तः प्रभावैस्तत्प्रभोरिह ।

अर्हन्मूर्तेरिवैतस्य सुराः सांनिध्यमादधुः ॥ १९४ ॥

सुरा देवास्तस्य गुरुपादुकापवित्रीकृतस्तूपस्य सानिध्य सनिविता पार्श्ववर्तिकताम् ।
आराधकानां कामितपूरकतामिति यावत् । आदधुश्चक्रुः । लोकरक्षासम्प्रीहितपूरणादिक
सानिध्य विदधते । कस्या इव । अर्हन्मूर्तेरिव । यथा भगवत्प्रतिमाया सुरा सानिध्य
कुर्वते । सुरा किं कुर्वन्तः । तिष्ठन्त । कुत्र । इह सूरिस्तूपे । उत्प्रेक्ष्यते—तस्य प्रभो
हीरसूरेः प्रभावैर्माहात्म्यैराकृष्टा इव आकृष्यानीता इव ॥

तत्रार्चितुं स्तूपमकब्बरेण समीपभूमी कियती वितीर्णा ।

सिद्धाचले सिद्धनृपेण नाभिभवं यथा द्वादश संनिवेशाः ॥ १९५ ॥

तत्रोन्नतनगरसीमभूमीमण्डले स्तूप तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशात्सूरिपादुका गुरुपादुकाधि-
ष्ठानमचितु पूजयितुमकब्बरेण पातिसाहिना कियती कियत्प्रमाणा द्वाविंशतिबीघाप्र-
मिता । क्षेत्रादिषु मानविशेषे बीघा इत्युच्यन्ते । ते च सौराष्ट्रगुर्जरजनपदेषु प्रसिद्धा ।
समीपस्य अर्थात्सूपस्य पार्श्ववर्तिनी भूमी वितीर्णा प्रदत्ता । केनेव । सिद्धनृपेणेव । अत्र यथा
सिद्धाचले श्रीशत्रुजयपर्वते नाभिभव श्रीऋषभदेवमर्चितु सिद्धराजजयसिंहदेवेन समी-
पभूमौ विमलाचलसमीपवर्तिनो द्वादश संनिवेशा ग्रामा वितीर्यन्ते स्म । ‘देवकपत्तने
स्वनिर्मापितप्रासादपूर्णोभवनानन्तर सोमेश्वरयात्रानिमित्तप्रस्थितेनाध्वनि स्वसार्ध स-
मानीतमाननीयश्रीहेमचन्द्रसूरीन्द्रेणार्धमार्गागतान्तातीततीर्थकृन्मुनिजनसिद्धिगमनक्षेत्रा-
दिमाहात्म्यकथनादत्युन्नतरागेण प्रच्छन्नमागत्य विमलगिरियात्रां विवायादिदेवपूजाकृते
द्वादश ग्रामान्दत्त्वा स्वानीकमलकृतवान् ।’ इति कुमारपालप्रबन्धचरित्रादिषु
प्रोक्तमस्तीति ॥

माकन्दमोचाबकुलप्रियालकङ्कैलिकुन्दादितरूपयुक्तम् ।

तस्याभितोऽभूत्सुमनोद्रुमाङ्कं वनं सुमेरोरिव भद्रसालम् ॥ १९६ ॥

तस्य स्तूपस्याभित परितो वन काननमभूत् । किभूत वनम् । माकन्दा सहकारा ,
मोचा कदल्य , बकुला केसरा ‘बउलसिरी’ इति प्रसिद्धा , प्रियाला राजादना , कङ्कै-
ल्य अशोका , कुन्दा मुचकुन्दा , ते आदौ येषां तादृशैस्तरुभिर्द्रुमैः उपयुक्तम् । किमिव ।
भद्रसालमिव । यथा सुमेरो सुवर्णाचलस्याभित परितो भूमौ भद्रसाल नाम वनमभूत् ।
किभूतम् । सुमनोद्रुमा कल्पवृक्षा अङ्कैः उत्सङ्गे मध्ये यस्य । तथा माकन्दादिपादपैः
कलितं च । स्तूपवनं तु अर्थात्किभूतम् । सुमनोभिः कुसुमैरुपलक्षणात्पत्रपल्लवफलैर्ललिता
द्रुमाः पूर्वोक्ता इतरे च तरवः अङ्कैः मध्ये यस्य तत् ॥

अन्वतिष्ठंश्चतुर्दिग्विभागागता यात्रिकास्तत्र यात्रां जिनेन्द्राद्रिवत् ।

कामिकस्वर्गिणेवामुना कामितं पूर्यतेऽन्यच्च सेवासु हेवाकिनाम् ॥ १९७ ॥

चतसृणां चतुःसख्याकानां पूर्वा-दक्षिणा-पश्चिमा-उत्तरानाम्ना दिशा हरिता विभा-
गेभ्यः प्रदेशेभ्यः आगताः आयाता यात्रिका यात्राकारका जनास्तत्र स्तूपे यात्रा प्रभु-

पादुकाप्रणतिलक्षणामन्वतिष्ठन्कुर्वन्ति स्म । किवत् । जिनेन्द्राद्रिवत् । यथा शत्रुजयशैले
यात्रिकजनो यत्रा करोति । 'मान वदन्तीह जिनेश्वराद्रे' इदं काव्यं पूर्वलिखितमस्ति
पुराणान्तर्गतं च । पुनरन्यदपि अमुना गुरुपादुकाङ्कितस्तूपेन सेवासु स्वसेवनाकरणेषु
हेवाकिना हेवा स्वभावः स एव शीलमस्त्येषामिति हेवाकिनस्तेषां भक्तिभरनिर्भरभा-
वानां यात्रिकजनानां कामितं वाञ्छितं पूर्यते पूर्णक्रियते । केनेव । कामिकस्वर्गिणेव ।
यथा कामितपूरकेण गीर्वाणे भक्तकामितं पूर्यते ॥ इति स्तूपकरणतन्माहात्म्यं च ॥

तत्प्रक्रमे विजयसेनविभुर्हमांऊ-

सूनु पृणन्सदसि लाभपुरे बभूव ।

धर्मावनीप्रियतमं पुरि लक्षणाद्य-

वत्यामिव व्रतिपुरंदरबप्पभट्टिः ॥ १९८ ॥

तत्प्रक्रमे तस्मिन् हीरविजयसूरेरुन्नतनगरे द्वितीयचतुर्मासकरणावसरे विजयसेन-
नामा विभुर्गच्छपतिर्लाभपुरे 'लाहोर' इति प्रसिद्धे नगरे बभूव । किं कुर्वन् । सदसि
सभायां सर्वसामन्ताद्यनेकपार्षदभूषितपर्षन्मन्ये हमाऊसूनुमकब्बरपातिसाहि पृणन् सतु-
ष्टिमुत्पादयन् । क इव । बप्पभट्टिरिव । यथा व्रतिषु साधुषु पुरंदरो वासवो बप्पभट्टिनामा
सूरिः सदसि धर्मनामा अवनी गौडजनपदमेदिनी तस्यां प्रियतमं भर्तारं वर्मनृ-
पतिं प्रीणन् लक्षणा इति पदमाद्य यस्यां तादृशी वती एतावता लक्षणावती गौडमण्ड-
लमण्डनं नृपराजधान्या लक्षणावतीनामनगर्या भवति स्म ॥

वादे वादिगणान्विजित्य समरे दैत्यानिव श्रीपतिः

कीर्तिस्तम्भमिवात्मनो नृपपुरः संस्थाप्य धर्मं पुनः ।

श्यामीकृत्य मुखान्यशेषकुट्टशा पूषेव काकद्विषा

सूरिः कारयति स्म भूमिवलये स्वीया जयोद्धोषणाम् ॥ १९९ ॥

सूरिर्विजयसेनाचार्यं भूमिवलये अखिलक्षोणीमण्डले स्वीयामात्मीया जयोद्धोषणा
कारयति स्म सर्ववादिवृन्दविजयठक्का वादयति स्म । किं कृत्वा । नृपपुरं पातिसाहेरग्रे
आत्मनो निजस्य प्रत्यर्थिभूतानां वादिनां पण्डितमन्यानां गणान् वादे युक्तिप्रतियुक्ति-
स्थापनसमये विजित्य सर्वानपि पराभूय कैश्चित्कुमतिभिः कौशिकैरिव रवेस्तस्योदयम-
सहिष्णुभिः अतिद्विष्टतया बहुद्रविणप्रदानपूर्वकं विभेद्यातीव प्रेरितान् त्रिषष्ठ्यधिकत्रि-
शतीमितद्विजातीनिरुत्तरीकृत्य । क इव । श्रीपतिरिव । यथा कृष्णः समरे दैत्यान्दानवा-
न्विजयते स्म । पुनः किं कृत्वा । नृपपुरं पातिसाहे पुरस्तात् आत्मनो निजस्य धर्मं
निजकीयजैनधर्मं संस्थाप्य जगति जैन एव धर्मं सत्यो नान्य इति स्थापयित्वा । कमिव ।
कीर्तिस्तम्भमिव । यथा कश्चिद्विजयी राजा रिपून्निर्जित्य स्वकीर्तिस्तम्भं स्थापयति । पुनः
किं कृत्वा । अशेषकुट्टशां समस्तपरवादिनां मुखानि श्यामीकृत्य सकलकुपप्रशिकान्

कृष्णमुखान्निर्माय । क इव । पूषेव । यथा भानुमान् काकद्विषा कौशिकाना श्यामानि वक्राणि कुरुते ॥ इति वादे विजयसेनसूरिविजय ॥

तस्य स्फुरन्मानमकब्बरेण प्रीत्या स्फुरन्मानमिवार्पयित्वा ।

स बन्धुवत्स्वीयजनैरुपेतः संप्रेषितो हीरगुरोः समीपे ॥ २०० ॥

स विजयसेनसूरि बन्धुवत् आतेव स्वीयजनैरात्मीयमनुजैरुपेत सहित सन् गुरो स्वर्गगमनात्प्राक्समये हीरगुरो समीपे संप्रेषित पातिसाहिना प्रहित । किं कृत्वा । प्रस्थापित स्फुरद्दीप्यमान जगच्चेतश्चमत्कारकारि मान समानमिव स्फुरन्मानम् महिषी-महिषगोवृषभा एते चत्वारोऽपि कदापि केनापि न हन्तव्या तथा केनापि मदीज्ञावशव-र्तिना मत्सेवकेन जना बन्दीकर्तव्या न नैवावश्यम् इति स्वहस्तमुद्राङ्कितलेखमर्पयित्वा । कस्य । तस्य विजयसेनसूरे । कया । प्रीत्या स्नेहेन प्रमोदेन वा ॥ इति साहिना विजय-सेनसूरेर्गुरुसमीपे प्रेषणम् ॥

सोऽप्याकर्णितहीरसूरिमघवाङ्गापाटवः संचर-

न्यावद्गुर्जरदेशलक्ष्मितिलक संप्राप्तवान्पत्तनम् ।

संतप्तत्रपुराशिसिञ्चनमिव श्रुत्योरशर्मावहं

स्वर्लोकोपगम गुरोर्गणधरस्तावत्समाकर्णयत् ॥ २०१ ॥

सोऽपि विजयसेनसूरिरपि तावद्गुरो हीरसूरे स्वर्लोकोपगम देवल्लोके पादावधारण समाकर्णयत् सम्यक् सत्यत्वेन श्रुतवान् । स किंभूत । गणधरो गुरावुपरते स एव ग-च्छधारक । किम् । श्रुत्यो श्रवणयोर्वहुजनस्य मिथ्यादृशामपि अशर्मावह दु खविवाय-कम् । किमिव । सतप्तानामुष्णीकृताना रसीभूताना च त्रपुणा राशिर्वजस्तस्य सिञ्चन निर्भ-रतया मध्येऽभिषेचनमिव । तावत्किम् । यावत्सोऽपि सूरिरपि आकर्णित लोकप्रवृत्ति परम्परया लेखोदन्तावगमनेन श्रुत हीरसूरिमघोन श्रीहीरविजयसूरीन्द्रस्याङ्गे शरीरे अपाटव रोगादिभिरपटुतामसमावियेन । अत एव सचरन्ननवन्निष्ठप्रयाणैश्चतुर्मासकम-त्येऽपि त्वरिततर पयि प्रतिष्ठमान प्रचलन् सन् गुर्जरदेशस्य तिलके लक्ष्मितिलको-पमान पत्तनमणहिलपाटकपुटभेदन यावता कालेन यस्मिन् समये वा संप्राप्तवान् । यावता पत्तने समेत इत्यर्थः ॥

श्रुत्वा तद्वज्राहत इवाभवद्वाष्पपूर्णनयनयुगः ।

एष पुनर्दुःखादिदमजीगदद्गदध्वनितः ॥ २०२ ॥

एष विजयसेनसूरि. तद्गुरो स्वर्लोकगमन श्रुत्वाकर्ण्य वाष्पैरश्रुजलै पूर्ण निर्भर-भृत नयनयुग लोचनद्वन्द्व यस्य तादृश सन् वज्रेण पुरदरदम्भोलिना उरसि वक्षसि वां आहतस्ताडित इवाभवत्सजात । पुन श्रवणानन्तरमेष सूरि दु खादसातोदयाद्ग-

द्रदं अपटुरस्पष्टाक्षरमुपविष्टकण्ठपीठ वा यत्र तादृक् ध्वनित शब्दो यस्य तादृशं
सन्निदमग्रे वक्ष्यमाणमजीगदद्वदति स्म ॥

उच्छिन्नः सुरभूरुहोऽप्यपगता स्वर्धामधेनुः पुन-

भ्रमः कामघटो मणिः सुमनसा चूर्णीबभूव क्षणात् ।

दग्धा चित्रलता गतः शकलतां हा दक्षिणावर्तभृ-

त्कम्बुः स्वर्गिगृहं गते त्वयि गुरौ श्रीहीरसूरीश्वरः ॥ २०३ ॥

हे श्रिणा गणलक्ष्म्या शोभया वा युक्त हीरविजयसूरीश्वरगुरो, त्वयि श्रीमति स्व-
र्गिणा देवाना गृह गते देवलोक प्राप्ते सति अत्र जगति सुरभूरुह उच्छिन्न उच्छेद प्राप्त
पुनर्न भविता । हा इति खेदे । सर्वत्र योज्यम् । अपि पुन स्वर्धामानो देवास्तेषा धेनु
गौ । कामधेनुरित्यर्थः । अपगता मृता । 'व्यापन्नोऽपगतो मृत' इति हैम्याम् । हा इति
खेदे । कामघट कामकुम्भो भ्रमः विक्ररीभूत । पुनर्हा दक्षिणदेशे आवर्त वलयाकार
बिभर्तीति तादृश कम्बुः दक्षिणावर्तशङ्खः शकलता खण्डभाव गतः प्राप्तवान् ॥

हा हा भूधनबोधनैकविबुध श्रीसूरिचूडामणे

हा सिद्धान्तसमुद्रमन्दरगिरे हा शासनाहर्मणे ।

हा हा यौक्तिकवाक्पुरंदरगुरो वैराग्यवारानिधे

हा कारुण्यनिधे विधेर्वशतया त्व कुत्र यातः प्रभो ॥ २०४ ॥

हा हा इति पुन पुन खेदवाक्ये । यथा नाचराजकविकृताया भोजमुञ्जराजादिप्रतिमाना
पुरो दु खोद्गारस्तुतौ 'हा हा हालनितान्तकान्तकवितालकार हा मा क्षोणीनायक-
मुञ्जपुञ्जयशसा हा भोज भूवल्लभ' इत्यादि । हे भूवनस्य राज्ञ मुद्रलपातिसाहेरकब्बरस्य
बोवने प्रतिबोवविधाने एकविबुध अद्वैतनैपुण्यवान् । तथा श्रिया ज्ञानवैराग्यप्रतिरूपा-
दिलक्ष्मीकलिता ये सूरयो भट्टारकास्तेषा चूडामणे । हा इति दु खबाहुल्यात्पुनर्हाशब्दो-
च्चारणम् । हे सिद्धान्त समग्रजेनागम स एव दुरवगाहत्वाद्बहुत्वाच्च समुद्रस्तस्यावगा-
हने मध्यप्रवेशनागाधतापरिच्छेदपरिच्छेदरहस्यामृतग्रहणे मन्दरगिरे । पुनर्हा शासन
जैनदर्शन तत्राहर्मणे सहस्रकिरण । पुनर्हा इत्यनन्यसामान्यदु खशोके । यौक्तिका
सम्यक्सिद्धान्तानुगतकुमतनिराकरणादियुक्त्या उपेता । अथ वा परकृतपूर्वपक्षनिराक-
रणैकप्रगल्भा या सिद्धान्तरूपा सिद्धान्त उत्तरपक्षः प्रतिपक्षकृतपूर्वपक्षनिरुत्तरीकरण
सदेहनिराकरण च । यथा 'अनुरूपमिद निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् । युवसु
व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तविय न्यवेशयम् ॥' इति नैषधे । यौक्तिका चासौ वाक् तत्र
पुरंदरगुरो वाचस्पते । पाठान्तरे सैद्धान्तिकवाक् इति । तथा वैराग्य ससारविरक्तताया
वारानिधे समुद्र । हा इति शोचने । कारुण्यस्य कृपाया निधे निधान । एतन्नि सर्वा-

प्यपि सबोधनानि । विधेर्देवस्य वशतया आयत्तत्वात् हे प्रभो, त्व कुत्र कस्मिन् स्थाने ।
अस्मान्प्रियविनेयान्मुक्त्वेत्यध्याहार्यम् । यातोऽसि गतवानसि ॥

अद्यास्त गतवान्सहस्रकिरणश्चन्द्रोऽपि तन्द्रा गतः

शुष्कः क्षीरनिधिर्विधेर्विलसितैर्मैरुर्विलीनः पुनः ।

भूमौ श्रीजिनसार्वभौमविभवभ्राजिष्णुतां बिभ्रति

श्रीसूरीश्वरहीरहीरविजये गीर्वाणगेहं गते ॥ २०५ ॥

भूमौ निखिले मेदिनीमण्डले जिना सामान्यकेवलिनस्तेषा सार्वभौमाश्चक्रवर्तिनस्ती-
र्थकरास्तद्विभवो मतिमाहात्म्यलक्ष्मीस्तेन भ्राजिष्णुता शोभनशीलताम् । 'तिच्छयरस-
मोसूरी' इति वचनात् । बिभ्रति धारयति श्रिया सूरिलक्ष्म्या युक्ता ये सूरय आचार्या-
स्तेषामीश्वरा स्वामिन भट्टारका । एकेषा भट्टारकाणा बहव सूरिपदधारिणो भवेयुरिति
अतिशोभाभाजो वा भट्टारकास्तेषु हीरे रत्नमुख्यायमाने नायकमणौ 'नगीना' इति प्र-
सिद्धे हीरविजयसूरीन्द्रे गीर्वाणगेह स्वर्ग गते सति एवविव समयः सजात । अथ वा
एव ज्ञायते अस्मद्विधौ । अद्यैव सहस्रकिरण सूर्योऽस्त गतवान् जिनशासनदिवाकरो-
ऽस्तमित । तथा चन्द्रोऽपि सुवाकरोऽपि तन्द्रा निद्रा प्रमादम् । अत्र दीर्घनिद्रामित्यर्थः ।
गत । 'जइ मेहु जम्पमाऊ इमस्स देहस्स इमाइ रयणीए' इति सस्तारकविधिवचनात् । तथा
'तन्द्रा निद्राप्रमादयो' इत्यनेकार्थतिलके । सर्वेषामप्याह्लादकत्वेन जिनशासनचन्द्र काल-
धर्ममुपेत । पुनरद्य क्षीरनिधि दुग्धार्णव शुष्क शोष प्राप्त । असावारणसिद्धान्तरह-
स्यक्षीरसमुद्रो निनारीभूत । कै । विधेर्देवस्य विलसितैर्विजृम्भितैर्देवनिर्माणैः । एतत्पदमत्र
काव्ये चतुर्ष्वप्यर्थेषु योज्यम् । पुनर्मैरुर्लक्षयोजनमितो मन्दरगिरिर्विलीनो गलित्वा गतो
विलय क्षय वा प्राप्त । माहात्म्यमेरुपर्वतोऽपि विलीय गत ॥

गर्जन्ति प्रतिमन्दिर प्रमुदिता मिथ्यादृशः कौशिका

श्रीमत्सघसरोजकाननमिदं म्लानि च धत्तेऽधुना ।

सप्राप्तप्रसरा स्फुरन्ति परितो नक्तंचरा दुर्दृशो

यातेऽस्त गवि हीरसूरितरणौ स्फूर्तिं तमः शीलति ॥ २०६ ॥

गवि पृथिव्या गगने च हीरसूरिहारविजयसूरिरेव तरणि सहस्रकिरणस्तस्मिन्नस्त
निधन द्वीपान्तरच । यदुक्तं सूक्तम्—'तेजोवसाने व्रजति द्वीपान्तरमहर्मणि' इति । याते
प्राप्ते सति प्रतिमन्दिर गृह गृह प्रति प्रमुदिता प्रमोद प्राप्ता सन्त कौशिका घूका इवेति
गर्भितोपमा । उत्प्रेक्ष्यते वा—उलूका इव । मिथ्यादृशो मिथ्यात्वभाजो गर्जन्ति गर्जारव
कुर्वते । यदथास्मन्मतोच्छेदक कोऽपि नास्ति त्पु(१)नाट्यन्ति । च पुनरधुना इदानीत-
नसमये इदं प्रत्यक्ष श्रीमच्चरणारविन्दचञ्चरीकोपम श्रीमत्पञ्चमहाव्रताणुव्रतप्रमुखगुणल-

क्ष्मीकलित शोभायुक्त वा साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपचातुर्वर्ण्यसघः स एव सरोज-
कानन कमलवन मलानि संकोच धत्तेऽञ्चति विच्छायाभूतमास्ते । पुनः सप्राप्तप्रसरा आसा-
दितावकाशा लब्धप्रस्तावा नक्तचरा राक्षसा इव चौरा इव वा कदाचारा दुर्दृशो दुष्ट-
दर्शना कुपाक्षिकाः कुमतानि परितश्चतुर्दिक्षु प्रसरन्ति सर्वतो भ्राम्यन्ति । पुनस्तम
शोकोऽज्ञानपाप च । 'तमो गुणोऽपि ध्वान्त तम शोके तमिस्त्रे च । गुणभेदे विध्वान्त
पापे च' इत्यनेकार्थतिलके । स्फूर्तिं बलवत्ता प्रकटीभाव च शीलति भजते । रजनीवि-
लसितमासीदिति श्रीमत्सु सत्सु चतुर्थारक एव केवल सजातोऽभूत्, अधुना पुनः
पञ्चमारक प्रादुरासीदिति ॥ इति विजयसेनसूरेर्गुरौ दिव गते खेदवाक्यादि ॥

कातर्यमुत्सृज्य विधाय धैर्यं दुःखं तनूकृत्य स कृत्यविज्ञः ।

गण गणेन्द्रो गुणिनां वरेण्यः प्राचीनसूरीन्द्र इवावति स्म ॥ २०७ ॥

स गणेन्द्रो विजयसेनगणनायक प्राचीनसूरीन्द्र पूर्वाचार्य इव गण तपागच्छम्
अवति स्म पालयामास । किंभूत । गुणिना गुणवता वरेण्यः श्रेष्ठ । किं कृत्वा । कातर्यं
कातरत्वं श्रीगुरुविरहेण विधुरीभावमुत्सृज्य त्यक्त्वा । च पुनः किं कृत्वा । धैर्यं धीरभाव
विधाय आलम्ब्य । पुनर्दुःखं गुरुविरहासादितं तनूकृत्य स्वल्पं प्रणीय । किंभूतः । कृत्येषु
वर्मादिकार्येषु विज्ञश्चतुर ॥

श्रीसूरिहीरविजये भजति द्युलोक-

मभ्युद्गते विजयसेनगणावनीन्द्रे ।

प्रीतिं जना दधति शीतरुचौ प्रयाते

क्षेत्रान्तरं समुदितैः शुमतीव कोकाः ॥ २०८ ॥

श्रिया युक्तः सूरिर्हारविजय एतावता हीरविजयसूरिवरे द्युलोक स्वर्गं भजति तथा
विजयसेननाम्नि गणावनीन्द्रे गणनायके अभ्युद्गते उदयं भजमाने सति जना भविक-
लोका प्रीतिं वर्मस्नेह प्रमोदं वा दधति विभ्रति । के इव । यथा शीतरुचौ चन्द्रे क्षेत्रा-
न्तरमन्यक्षेत्रं पश्चिममहाविदेहक्षेत्रं प्रयाते । तथा अशुमति भानुमालिनि समुदिते
सति कोका चक्रवाका प्रीतिं परस्परवियोगापगमादानं दधते ॥

तत्पट्टोदयभूधरभास्वान् श्रीविजयदेवसूरीन्द्रः ।

भजते तपगणराज्यश्रियमुर्वीसार्वभौम इव ॥ २०९ ॥

तस्य विजयसेनसूरे पट्ट पदं स एवोदयभूधर उदयाचलस्तत्र भास्वान् सहस्रकि-
रण श्रिया तपागणलक्ष्म्यान्वितो विजयदेवसूरीन्द्रः अधुना इदानीतनसमये वृत्तिवि-
धानावसरे तपगणस्य तपागच्छस्य राज्यश्रियं भजते । क इव । उर्वीसार्वभौम इव ।
यथा चक्रवर्ती उर्वी भजते पालयति ॥

सीहगिरेरिव वज्रस्वामी तस्यैष पदपयोधिविधुः ।

श्रीविजयदेवसूरिक्षोणीन्द्रः पर्वतायुः स्यात् ॥ २१० ॥

श्रीसीहगिरिसूरेरिव श्रीमान् वज्रस्वामी तस्य विजयसेनसूरेः पद पट्टं स एव प-
योवि समुद्रं तदुल्लासविधाने विबुधं शारदीयशर्वरीवरयिता एष सकलकुवलयप्रतिबो-
धविधायकः श्रीमान् सर्वत्र शोभाविभ्राजिष्णुः विजयदेवसूरिः पर्वतायुः पर्वतानां
महागिरीणामिवासख्यवर्षायुस्तत्स्याद्भवतात् ॥

अथाशीर्वचनम्—

यावन्मार्तण्डमुख्यग्रहगणकलितो भूभृतां चक्रवर्ती

प्रीतिं पीयूषपूरैः सृजति जनदृशा शार्वरीसार्वभौमः ।

यावत्पाथोजपाणिर्हरिदलसदृशामास्यपद्मप्रकाशी

यावद्भूषीठभारं भजति निजफणामण्डलैः कुण्डलीन्द्रः ॥ २११ ॥

तावदिति काव्यसंबन्धोऽग्रे वक्ष्यते । यावन्तं समयं भूभृतां सर्वपर्वतानां सर्वोन्न-
तत्वात् लक्षयोजनमितत्वात्तीर्थकृता जन्माभिषेकस्थानत्वाच्च परशासनेऽपि 'दिवमङ्गा-
दमराद्रिरागताम्' इत्युक्तत्वेन स्वर्गाधारत्वाच्च चक्रवर्ती सुमेरुः । अथ वा 'सातकुम्भा-
नीभृत्' इति पाठः । सुवर्णाचलो वर्तते । किंभूतः । मार्तण्डो भास्करो मुख्योऽग्रणी
प्रधानो येषु तादृशा ग्रहाः सोममङ्गलाद्या अष्टाशीतिसख्या उपलक्षणान्नक्षत्रतारकास्तेषां
गणां समूहास्तैः कलितो युक्तः । तथा यावन्तमनेहस शर्वरीसार्वभौमश्चन्द्रमा । कि-
ंभूतः । जनदृशा लोकलोचनानां पीयूषपूरैः सुधारसप्रसरैः प्रीतिं सृजति । प्रीणातीत्यर्थः ।
तथा यावत्पाथोजपाणिः सहस्रकिरणो विद्यते । किंभूतः । हरितो दिश एवालसदृशो मृ-
गाक्षयस्तासामास्यानि मुखान्येव पद्मानि विकाशयतीत्येवशीलः । तथा यावत्कुण्डलीन्द्रो
नागराजः शेषनागः भूषीठभारं मेदिनीमण्डलभारं भजति । वहतीत्यर्थः । कैः । निजैरा-
त्मीयैः फणामण्डले सहस्रफणैः ॥

यावज्जम्भारिधूमध्वजजलजसुहृत्सूनुरक्षःस्रवन्ती-

कान्तावासाहिकान्तत्रिनयनसवयःपार्वतीशा दिगीशाः ।

यावत्पाथोधिपृथ्वीधरगुरुगुरुता विभ्रती रत्नगर्भा

जन्तून्यावत्पुनाति त्रिभुवनभवनान्भारती विश्वभर्तुः ॥ २१२ ॥

यावन्तं कालं जम्भारिः पुरदरः, धूमध्वजो वह्निः, जलजानां पद्मानां सुहृन्मित्र-
भाखान्, तस्य सूनुर्नन्दनो यमः, रक्षो नैर्ऋतिः, स्रवन्तीकान्तो नदीपतिः समुद्रः तत्र वासो
वेदमयस्य सोऽर्णवमन्दिरो वरुणः, अहिकान्तो वायुः, त्रिनयनस्य सवया मित्रमीशसखा
धनदः, पार्वत्या गौर्या ईशो वल्लभः शम्भुः । 'दण्डधरोऽर्कसूनुः', तथा 'वरुणस्त्वर्णवमन्दिर-

प्रचेता', तथा 'वातोऽहिकान्तपवमानमरुत्प्रकम्पना', तथा 'पशुप्रमथभूतोमापति', एतानि चत्वार्यप्युक्तपदानि हैम्याम् । एते सर्वेऽपि दिगीशा दिक्पाला वर्तन्ते । तथा यावद्रत्नगर्भा भूरास्ते । किं कुर्वती । पायोधीना सर्वसमुद्राणां तथा यावद्वसुधावलयवर्तिना पृथ्वीधराणां मेरुप्रमुखपर्वतानां च गुरुमतिशायिनी गुरुता गरिमाण भारभर बिभ्रती वारयन्ती । तथा यावद्विश्वभर्तुस्त्रैलोक्यनायकस्य तीर्थंकरस्य भारती सिद्धान्तरूपा वाणी त्रिभुवनभवान् स्वर्गपातालभूमिषु गृहाणि येषां तादृशान्नाकिनागनागराञ्जन्तून् प्राणिन पुनाति पवित्रयति तारयति ॥

स्थेमानं गाहमानो बलमथनपथे यावदौत्तानपादि-

यावत्कल्लोलमालाविलिखितदिविषत्पद्धतिः सिन्धुकान्तः ।

यावत्सिद्धस्रवन्तीतपनतनुरुहाभारतीसंगमश्च

श्रीमत्पार्श्वप्रसादाज्जगति विजयतां हीरसौभाग्यकाव्यम् ॥ २१३ ॥

यावत्समय बलमथनपथे गगनाङ्गणे उत्तानपादस्य राज्ञोऽपत्यमौत्तानपादि ध्रुव स्थेमानमतिशयेन स्थिरतां गाहते अवलम्बते । च पुनर्यावत् कल्लोलमालाभिस्तरङ्गराजीभिर्विलिखिता स्पृष्टा व्याप्ता दिविषदा देवानां पद्धतिर्मागो व्योम येन तादृशः सिन्धुकान्तः । तथा च पुनर्यावत्सिद्धस्रवन्ती गङ्गा, तथा तपनतनुरुहा सूर्यपुत्री यमुना, तथा भारती सरस्वती, तासां तिसृणां संगमो वर्तते । तावन्तं समयं श्रीमतस्त्रैलोक्यलक्ष्मीकलितस्य पार्श्वस्य श्रीपार्श्वनाथस्यार्थात् श्रीमच्चिन्तामणिपार्श्वनाथस्य प्रसादाज्जगति महीमण्डले इदं हीरसौभाग्य काव्यं विजयता सर्वोत्कृष्टत्वेन प्रवर्तताम् ॥ इति ग्रन्थावसाने श्रीमत्पार्श्व इति मङ्गलाभिवानम् ॥

यः प्रासूत शिवाहसाधुमघवा सौभाग्यदेवी पुनः

श्रीमत्कोविदसिहसीहविमलान्तेवासिनामग्रिमम् ।

तद्वाह्मीक्रमसेविदेवविमलव्यावर्णिते संमदा-

त्सर्गः सप्तदशो बभूव चरिते श्रीहीरसूरिप्रभो ॥ २१४ ॥

अत्र हीरसौभाग्यनामकाव्ये संमदादानन्दादेवविमलेन व्यावर्णिते श्रीहीरसूरिप्रभो श्रीहीरविजयसूरीश्वरस्य चरिते गुणोत्कीर्तनरूपे चरित्रे सप्तदशः सर्गो बभूव सजातः ॥

इति पण्डितश्रीसीहविमलगणिशिष्यपण्डितदेवविमलगणिविरचितायां स्वोपज्ञहीरसौभाग्यकाव्यवृत्तौ श्रीशत्रुजयोत्तरणप्रस्थानशत्रुजयासिन्धूत्तरणाजयपार्श्वनाथयात्राकरणतदागमागतमहिमवर्णनद्वीपसघसमुखागमनोन्नतनगरपवित्रीकरणसलेखनारावनाविरावनाविवाननशनपूर्वकस्वर्लोकगमनविजयसेनसूरिगणैश्वर्यकवनविजयदेवसूरिपुरदरसप्रतिराज्यप्रवर्तनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

प्रशस्तिसूत्रम् ।

श्रीपतिरिव संपद्भिः श्रीपतिनामा विशारदेन्दुरभूत् ।
 दिक्कुम्भवद्भूवुर्यस्याष्टौ पण्डितोत्तंसाः ॥ १ ॥
 वैराग्यैर्लब्धिभिरपि भाग्यैः सौभाग्यवैभवैरधिकैः ।
 यस्य समो न परोऽभूद्भानोरिव कोऽपि तेजोभिः ॥ २ ॥
 यन्मनुजशिष्यवृषभस्त्रिजगद्विद्वत्पुरंदरः समभूत् ।
 चतुरास्यः कविरगणितयद्गुणगणनाचिकीरासीत् ॥ ३ ॥
 श्रीमज्जगर्षिविबुधो जम्बुरिव शीललीलया जज्ञे ।
 यत्तपसस्तेजोरविरसासहिर्गगन इव गतवान् ॥ ४ ॥
 षट्पायानामिव यो विराधनाः प्रोज्झति स्म षड्विकृतीः ।
 निर्विकृतिकान्यशेषाण्यपि विजहौ दु कृतानीव ॥ ५ ॥
 यावज्जीव गौतम इव षष्ठैः पारणा विभुर्विदधे ।
 पुनरेकस्मिन्स्थाने भक्तजले विरचयांचक्रे ॥ ६ ॥
 लुम्पाकैर्लुण्टाकैरिव लुण्ठितनिखिलबोधिबीजधनम् ।
 व्याप्त तद्वर्गेण च तमोगुणेनेव भूतपतिम् ॥ ७ ॥
 सौराष्ट्रजनपदं यः प्रतिबोधितवाननन्यमहिमनिधिः ।
 वज्रस्वामी सौगतजनैर्यथा बौद्धधरणिधवम् ॥ ८ ॥ (युग्मम्)
 प्रस्रवणममृतमिव गदगणान्गुरोः शमयति स्म मूर्तिमताम् ।
 देवा अपि यत्सेवा भक्ता इव कुर्वते तपसा ॥ ९ ॥
 नृपमालदेवपृष्ठे प्रविष्टवान्यद्विवाददरितमनाः ।
 योधपुरे किल पाशादिनचन्द्रो वाचकः सुचिरम् ॥ १० ॥
 विष्णोः श्रीरिव हृदये रमते सैकादशाङ्कि(ङ्गि)कायस्य ।
 भेजुरनेके मुनयोऽप्युपकारिणमिव गणाधीशम् ॥ ११ ॥
 श्रीसीहविमलविबुधस्तस्य विनेयोऽजनिष्ट शिष्टबुधः ।
 यद्विषणाजितधिषणोऽध्येतुं दिवि कविसमीपेऽगात् ॥ १२ ॥

यो गौतमनामानं सभासमक्ष जिगाय वादीन्द्रम् ।
 - श्रीदेवसूरिरविरिव कुमुदादिमचन्द्रदिग्वसनम् ॥ १३ ॥
 नारायणदुर्गाद्या भूमीन्द्रा येन रञ्जिताः स्वर्गे ।
 राजसिंहदेवमुख्या हेमादिमचन्द्रगुरुणेव ॥ १४ ॥
 यश्चन्द्रभाणसंज्ञं कायस्थं मण्डलीकमिव भूमौ ।
 निजभक्तं शिष्यमिव प्रणीतवान्वचनचातुर्यात् ॥ १५ ॥
 मिथ्यात्व मनसो निरस्य विलसद्वाचां विलासैर्निजै-
 स्तस्मिन्स्थापयति स धर्ममनघं स्थानादिसिंहस्य यः ।
 दाघं घोरनिदाघधर्मघटितं प्रावृट्पयोदव्रजो
 दृष्टीनां पटलैरिवामृतरसं भूमण्डलस्यान्तरा ॥ १६ ॥
 जिनवृषभसमवसरणप्रकरं यः कारयाचकार जनैः ।
 सूर्याभदेव इव निजयज्ञाभ्यवहारनिवहेन ॥ १७ ॥
 योऽर्चा भागवतीया भविकप्रकरेण कारयांचक्रे ।
 आर्यसुहस्तिव्रतिपतिरिव संप्रति वसुमतीविधुना ॥ १८ ॥
 तच्चरणकमलमानससम्भोपमविबुधदेवविमलेन ।
 निरमायि काव्यमेतत्प्रमोदतो हीरसौभाग्यम् ॥ १९ ॥
 तस्य स एव व्यदधात्सुखावबोधाभिधां पुनर्वृत्तिम् ।
 श्रीहेमचन्द्रगुरुरिव निजनिर्मितनाममालायाः ॥ २० ॥
 कल्याणविजयवाचकवासवशिष्येण काव्यमिदमखिलम् ।
 समशोध्यत धनविजयाभिधवाचकवसुमतीपतिना ॥ २१ ॥
 यत्किञ्चिदप्यवद्य भवेदिहानुग्रह प्रणीय मयि ।
 सशोध्यं तद्विबुधैः साधिममुखगुणमणीनिधिभिः ॥ २२ ॥

इति ग्रन्थप्रशस्तिः ।

॥ शुभं भूयात् ॥

